

Reg. No. : N-1316/2014-15
Journal No. : 48796
UGC Approved

ISSN 2394-2207
May-October 2017
Vol. III, No. II, Part-I
IIJ Impact Factor : 2.011



सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

Reg. No. : N-1316/2014-15
Journal No. : 48796
UGC Approved

IJJ Impact Factor : 2.011
ISSN : 2394-2207



An International Half Yearly Refereed Research Journal (Art & Humanities)

Vol. : III

No. II, Part-I

May-October, 2017

सम्पादकद्वय
डॉ० राधेश्याम मौर्य
शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक
डॉ० मनोहर लाल

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

Ij{k&eMYk

M,0 pEik dekjh flg] प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
Mk0 ch0,u0 flg] पूर्व निदेशक, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०
M,0 gjh'kpUæ tk; lokYk] पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इविंग क्रिश्चियन महाविद्यालय, इलाहाबाद वि०वि०, उ०प्र०

IEiknd

M,0 jk/k';ke ek;] प्रवक्ता, जी०वी०आई०सी०, देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ०प्र०
f'koUn dekj ek;] शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Ig&IEiknd

Mk0 eukgj yky] असि० प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

{k=h; IEiknd

f'kojke ek;] हिन्दी विभाग, डॉ० हरि सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

vuokn Igk;d

Ieu yrk dekjh] शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ÁCU/k&IEiknd

Mk0 Ihrk jke flg] एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
गणपत सहाय पी०जी० कॉलेज, सुलतानपुर, उ०प्र०
M,0 fot ;] प्रवक्ता, जी०वी०आई०सी० देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ०प्र०

IEiknd&e.MYk

Mk0 d".k dekj dkf'kd % प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
Mk0 fgjk'kh I lkdh % एसो० प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ सोशल एजुकेशन, हिरोशिमा विश्वविद्यालय, जापान
M,0 Öj.YkkYk % एसो०प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०
Mk0 Iehj dekj ikBd % असि० प्रोफेसर, डी०ए०वी० पी०जी० कॉलेज, वाराणसी, उ०प्र०
M,0 ih;I'kdKUr 'kek % एसो० प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, एम०डी०पी०जी० कॉलेज, प्रतापगढ़, उ०प्र०
Mk0 vfuy dekj ek;I % असि० प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ०प्र०
M,0 vjfoUn dekj % असि० प्रोफेसर, डॉ० हरी सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश
I Ur""k dekj % विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जखिखनी, वाराणसी, उ०प्र०

i jke'k&e.My

डॉ० प्रकाश चन्द्र तिवारी, तोशिको ईदाका, डॉ० प्रचेतस, अशोक कुमार, अमित कुमार सिंह कुशवाहा, अंकिता चौधरी, सुशील कुमार

fof/k&i jke'k

Kku Ádk'k e0;I : पूर्व राज्य सूचनायुक्त, उ०प्र०
Mk0 vkn:k dekj : असि० प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
IEikndh; IEidI : जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, सी-23, आवास विकास कालोनी
प्रतापगढ़-230001 (उ०प्र०) भारत
मो०- 08004802456, 09415627372
वेब साइट: www.unmeshjournal.com
ई-मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrkr.maurya@gmail.com

idk'kd % tu lok ,o: 'kk/k f'k{kk I.LFkkU] प्रतापगढ़, उ०प्र०

eæd % jkt xkfQDI] बी०एच०यू० रोड, लंका, वाराणसी
ek0 % 09415842611@08081711954

u"V % सम्पादन, संचालन-पूर्णतः अवैतनिक/अव्यवसायिक/अनियतकालीन। उन्मेष में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं।
लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद के लिए लेखक की जिम्मेदारी स्वयं की होगी। सम्पादक, प्रकाशक एवं उन्मेष
परिवार के किसी भी सदस्य की जिम्मेदारी नहीं होगी। किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र प्रतापगढ़ होगा।



^M l rx# dh efgek vur**

छलछद्म और कपटपूर्ण समय में सतगुरु व पथ प्रदर्शक की पहचान बहुत मुश्किल है। इसमें गुरुजन का दोष नहीं है। यदि यह माना जाय कि सतगुरु के पहचान का संकट शिष्यों द्वारा पैदा किया हुआ है, तो ऐसे वे शिष्य कौन हैं? उनकी कोटियाँ क्या हैं? उनके शिष्यत्व की पात्रता क्या है? इसका बोध आवश्यक है। असल में इन प्रश्नों का उत्तर हमें अपनी परंपरा में ढूँढ़ना चाहिए, जहाँ गुरु और शिष्य के आदर्शात्मक रूप की उच्च मनोभूमि निर्मित है। हो सकता है गुरु व शिष्य के बीच पनप रही कड़वाहट और टकराहट का समाधान हमें वहाँ मिल सके। आज जो शिष्य अपने गुरु का अनादर कर रहे हैं क्या वे अपनी परम्परा को भूल गए हैं या कि वे अपनी परम्परा के अभागे शिष्य हैं। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिर्फ पठन-पाठन तक ही नहीं होता। हर शिष्य के लिए गुरु का ज्ञान उसकी संचित पूँजी होती है। जीवन भर खर्च करने के बाद भी वह समाप्त नहीं होती। गुरु की इस महत्ता से भली-भाँति अवगत होते हुए भी शिष्य अपने गुरु से कैसे बगावत कर जाते हैं? यह सोचने का विषय है।

गुरु आकाशधर्मा होता है। वह अपने शिष्यों पर समान दृष्टि रखता है, किंतु क्या प्राचीन काल से लेकर अब तक गुरुओं की यह तटस्थता बरकरार रही है। शायद इसका उत्तर नकार में ही मिले। आरम्भ से ही गुरु अपने शिष्यों के प्रति पक्षपाती रहे हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि इसके प्रमाण हैं, जो समय के साथ आज उठ खड़े हुए हैं। गुरुजनों के आदर्श और नियमों की चक्की में बहुत से शिष्य पिस चुके हैं। हमारी मानसिक चित्तवृत्तियों ने उन्हें अझेल भले बना दिया हो, किंतु समय और समाज की विसंगतियों को वे न झेल सके। यह सत्य है कि गुरु-शिष्य के आदर्श रूप द्रोणाचार्य और अर्जुन की आँच में एकलव्य और कर्ण जैसे शिष्यों को जलना ही पड़ा है। किंतु एक बात और है जिस सत्य से हम मुख नहीं मोड़ सकते, वह यह कि आज कितने विश्वामित्र गुरुओं ने राम जैसे शिष्य पैदा किए? बुद्ध, रैदास, कबीर और अम्बेडकर जैसे अध्येता इसी समाज की उपज हैं जिसे पचाने में बहुतों को बदहजमी हो रही है। शिक्षा जगत पर एकाधिपत्य जमाएँ एक विशेष वर्ग के गुरुओं का जब उन्मूलन होने लगा तब गुरु-शिष्य के सम्बन्ध स्वतः ही बदल गए। अधिकांशतः अब ये सम्बन्ध जातिवाद, वर्गवाद और क्षेत्रवाद की गिरत में आ चुके हैं। इसमें न तो शिष्य का दोष है और न ही गुरु का, पर उन सतगुरु महाराज का क्या दोष जिनकी पहचान को लोग धूमिल करने में लगे हुए हैं। कबीर ने जिसे कभी बड़ी शिद्दत से याद किया है—

l rx# dh efgek vur] vur fd;k mixkjA

ykpu vur m?kkfM; k] vur fn[kko.kgkjAA

इस बार का संपादकीय एक ऐसे आकाशधर्मा सतगुरु पर केन्द्रित है जिसने बिना किसी पक्षपात के अपने शिष्यों पर समान ज्ञान की वृष्टि की है। संयोग और सद्भाग्य है कि वे स्वयं इस उन्मेष (पत्रिका) के सम्पादक भी हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० राधेश्याम मौर्य इस समय जी०वी०आई०सी०, देल्हूपुर, प्रतापगढ़ में प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हैं। आपने अपने जीवन में सदैव संघर्षों का ही वरण किया है। यही सीख आप सदैव अपने शिष्यों को भी देते आये हैं। पठन-पाठन से आपका अटूट रिश्ता रहा है। पेशे से शिक्षक तथा सामाजिक कार्यकर्ता व पर्यावरणविद् के रूप में आपकी विशेष पहचान है। 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' आपके सम्पूर्ण जीवन में देखा जा सकता है। शिक्षा को समाज का महत्वपूर्ण अंग मानने व उसके प्रचार-प्रसार में आप सदैव रत रहे हैं जिसके कारण इस वर्ष आपको मानव संसाधन विकास मंत्रालय के 'स्कूल शिक्षा और साक्षरता विभाग' द्वारा egkefge jk"Vifr के हाथों ^jk"Vh; f'k{k d iijLdkj&2016* से नवाजा गया। राष्ट्रपति सम्मान के लिए आप जैसे सतगुरु का चयन हम सब के लिए केवल संतोषप्रद ही नहीं है, बल्कि नई ऊर्जा के संचार में काफी मददगार है। हम आपकी इस उपलब्धि पर 'उन्मेष' परिवार व अपनी ओर से हार्दिक बधाई व शुभकामनाएँ प्रेषित करते हैं। आपका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

uke % Mk0 jk/k';ke ek;!
 ekrk&firk % श्रीमती शिवपती मौर्य एवं श्री झुरई राम मौर्य
 f'kfk % एम0ए0—अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, हिन्दी
 एम0एस0सी0—रसायन विज्ञान
 पीएच0डी0— रसायन विज्ञान



i:dkf'kr iLrd: %

पर्यावरण रहस्य, जल और वायु प्रदूषण, प्रदूषण नियंत्रण और पर्यावरण योजना एवं प्रबंधन, जलवायु परिवर्तन तथा विलुप्तीकरण की चपेट में पृथ्वी, रासायनिक गणनाएं एवं प्रयोगिक रसायन, पर्यावरण एवं जैव संरक्षण, पर्यावरण अध्ययन, जल जीवन का वरदान, वृक्ष, आधुनिक रासायनिक गणनाएँ एवं प्रायोगिक रसायन जैसी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित।

IEiknu %

- ◆ उन्मेष (अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका)
- ◆ आलोक—पथ स्मारिका
- ◆ दामिनी स्मारिका

ijLdkj %

- ◆ महामहिम राष्ट्रपति द्वारा 'राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार-2016' से पुरस्कृत
- ◆ केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा कई बार पुरस्कृत
- ◆ आदर्श शिक्षक पुरस्कार (2004) जिलाधारी प्रतापगढ़ द्वारा पुरस्कृत
- ◆ भारतीय वाङ्मय पीठ साहित्य संस्कृति एवं कला को समर्पित साहित्यिक संस्था कोलकाता द्वारा 'कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर सारस्वत साहित्य सम्मान-2014'
- ◆ आई0एम0ए0, प्रतापगढ़ द्वारा उपजिलाधिकारी श्री जे0पी0 मिश्र के हाथों सम्मानित
- ◆ पर्यावरण मित्र सम्मान-2015
- ◆ शोहरतगढ़ इनवायरमेण्ट सोसाइटी सिद्धार्थनगर तथा 'बेल्हा लोक महोत्सव-2011' द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ अम्मा साहेब ट्रस्ट व देश शिल्पी विकास परिषद द्वारा सम्मानित
- ◆ सृजना साहित्य संस्था द्वारा 'प्रतापगढ़ गौरव सम्मान-2015'
- ◆ शिक्षाविद् सम्मान
- ◆ अवध साहित्यिक अकादमी करछना, इलाहाबाद द्वारा 'साहित्य गौरव सम्मान-2016'
- ◆ लखनऊ शिक्षक खण्ड के शिक्षक विधायक मा0 उमेश द्विवेदी द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ राज्य सूचना आयुक्त मा0 ज्ञान प्रकाश मौर्य द्वारा जनसूचना अधिकार के प्रचार-प्रसार के लिए प्रशस्ति-पत्र प्राप्त
- ◆ मा0 डॉ0आर0के0वर्मा (विधायक), मा0 रामसिंह (विधायक), मा0 नागेन्द्र सिंह यादव (विधायक), मा0 हरिप्रताप सिंह (नगर पालिका अध्यक्ष), मा0 प्रमोद कुमार मौर्य (जिला पंचायत अध्यक्ष), डॉ0 रेहाना सिद्दीकी (सदस्य राज्य महिला आयोग), मा0 मनभावती (ग्राम प्रधान देल्हूपुर) आदि द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ आकाशवाणी केन्द्र इलाहाबाद से विशेष जुड़ाव व कई बार वार्ता प्रसारित।
- ◆ स्वच्छ भारत अभियान, वृक्षारोपण कार्यक्रम, उ0प्र0 साक्षरता कार्यक्रम, पल्स पोलियो अभियान, पर्यावरण संरक्षण के लिए नेशनल साइकिलिंग अभियान, मतदान जागरूकता अभियान, आदि कार्यक्रमों में सक्रिय सहभागिता।
- ◆ राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों व कार्यशाला में प्रतिभागिता तथा शोध-पत्र प्रस्तुतीकरण।
- ◆ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शोध-आलेख प्रकाशित।

यह संक्षिप्त परिचय डॉ0 राधेश्याम मौर्य के बहुमुखी प्रतिभा को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। इस अंक के साथ ही 'उन्मेष' पत्रिका का तीन वर्ष भी पूर्ण हो रहा है। अपने तीन वर्षों के सफर में इस पत्रिका ने देश-विदेश के कई नामी विश्वविद्यालयों तक अपनी पकड़ व पहचान बनाई है। पत्रिका की गुणवत्ता के लिए सुधी पाठकों के सुझाव आमंत्रित हैं। आपके सुझावों से इसे और मजबूती मिलेगी। इस महनीय कार्य के लिए उन्मेष परिवार आपका सदा आभारी रहेगा। इसे सुव्यवस्थित प्रकाशित करने के लिए श्री राहुल मौर्य व श्री राजबाबू मौर्य का विशेष आभार।

f'koUn: dekj ek;!

■	vejdkr d: dFkk l kfgR; e: lkekft d&l kLÑfr d l nHk डॉ० सत्यवीर	1&4
■	LokrU<;kÜkj fgUnh miU;k l k e: efLye vkj r: मंजूषा	5&8
■	eukgj';ke tk'kh d: dFkk&l kfgR; e: ikfjokfjd ruko o fo?kVu अनिका सिंह, डॉ० मृदुल जोशी	9&12
■	ukxkt iu dh dgkfu; i e: f'kYixr of'k"V; विश्वमौलि	13&19
■	l kfgR; fo'o dY;k.k dh Hkkouk&Hkh"e l kguh d: l nHk e: रवि कुमार	20&22
■	e/;n'k dk dyk dUn: fofn'kk डॉ० कमलेश कुमार चौधरी	23&27
■	Lok/khurk vknkyu vkj jkgy l kdR;k;u शिखा सिंह	28&32
■	mn; idk'k dh dforkvk e: ekuoh; l onuk d: Loj माला यादव	33&37
■	okxFk % l e l kef; drk vkj dfoopu l /kk संध्या सिंह	38&43
■	xkj [kij d: ijEijkxr m kx % ,d v/; ;u अजय कुमार मिश्र	44&46
■	tk; l h d: l kfgR; e: of.kr l Ldfr vkj l ekt प्रगति मिश्रा	47&50
■	;kxn'ku ,o vU; Hkkj rh; n'kuka dk l EcU/k अमित सिंह	51&54
■	ukjh ifLFkfr % Hkkj rh; l ekt d: fo'k"k l nHk e: प्रशान्त सिंह	55&60
■	Hkkj rh; Je] v l x f Br Jfed vkj l eL;k; % ,d voykdu रमेश कुमार भारती	61&65
■	Jhyky 'kDy d: miU;k l k e: xobi ; FkkFk ,o 0; x; l f"V राकेश कुमार यादव	66&68
■	Hkkj rh; l LÑfr d: nkgj; ekunMk e: my>h L=h रेनू यादव	69&75
■	,Vhxuh % vuokn vkj i Lrfr डॉ. श्रीनिकेत कुमार मिश्र	76&83
■	ekjokMh l ekt e: L=h l i?k"k d: fofok : i प्रेमलता	84&86
■	jkepfjreku l % Yk" d e: 0; kflr नम्रता गुप्ता	87&89

-
- vkèkfud Hkkjrh; f'k{kk 0;oLFkk ij lLÑfr dk çHkko % ,d fo'y"kkRed vè; ;u 90&93
सुमित गंगवार
 - Hkkjrh; 'kkL=h; ioklu dk ,frgkfld vu|'khyu 94&97
डॉ० नरेन्द्र कुमार सिंह
 - Hkh"e lkguh dh dgkfu; k| ei ukjh di fofo/k : i 98&101
अरुण प्रताप यादव
 - *ft l ykgkj ub n[; k vk tUe; kb| ub* 102&106
ukVd ei of.kir foHkk tu =k lnh dk v/; ;u
कुसुम वर्मा
 - r lyhek uljhu dh vkRedFkk ei fpiru di ey ç'u 107&111
पूजा तिवारी
 - n/kukFk flg dk tUe] f'k{kk ,o| ookfgd thou 112&113
कंचन यादव
 - lkekftd tMrk dk rkMrk ^dfcj k [kMk cktkj e* 114&117
डॉ० निरंजन कुमार यादव
 - mifu"kn dkyhu f'k{kk dk vkn'k 118&124
सुरेन्द्र प्रताप
 - euoknh o.ki 0;oLFkk dk ifrdkj djrh % 125&127
Lokeh vNrkun ^gfjgj* dh dfork, i
डॉ. अरविन्द कुमार
 - f=ykpu di dk0; ei /kkfeid fpUru dk Lo: lk 128&130
डॉ० सुभाष चन्द्र पाण्डेय
 - ck) /kEe dk gkl % ,d fpiru 131&133
रमेश रोहित
 - l|ln l| lMd rd di dfo /kfey 134&136
मो० आसिम अन्सारी
 - ^fiNy| iUu| dh vkjrh* miU; k l ei fpf=r ukjh l?k"ki 137&139
सपना
 - j lLo: i| rnkLoknu| çfFkroknnk| 140&143
सौरभ दुबे
 - ^>Bk&l p* dk eY; kdu 144&146
सुकृति मिश्रा
 - leni ei [kk; k gvk vkneh & fuEue/; oxh; ifjokj dh d : .k xkFkk 147&149
अर्चना यादव
 - Ekfgyk l'kfDr dj.k FkjhxkFkk di fo'k"k lnhki ei 150&153
ज्योति मन्त्रेले
 - d#&d# Lokgk-----ei vfHk0; Dr frgj| pfj= dk uk; d 154&156
सूर्य नाथ सिंह
 - Lukrd Lrj di fo|kfFk; k| di l' tukRedrk ij ikfjokfjd okrk oj.k 157&160
iHkko dk v/; ;u
श्रवण कुमार

■	Role of Socio-Cultural Diversity in Tourism of India - A Case Study of Delhi	161-165
	<i>Avinash Chandra</i>	
■	Ritual Dance Form of Manipur: With Special Reference to Lai-haraoba Festival and Raas Leela	166-169
	<i>Surajit Debbarma</i>	
■	Need of Multicultural Education in India	170-172
	<i>Shabana Bibi</i>	
■	Advantages and Challenges of E-commerce Customers and Insurance Businesses: In Indian Perspective	173-177
	<i>Dr. Dheeraj Negi & Mr. Shubham Pagare</i>	
■	Biodiversity Conservation and Indian Judiciary	178-183
	<i>Satish Shukla</i>	
■	Need for a Uniform Civil Code in India	184-188
	<i>Amit Kumar Maurya</i>	
■	Human Environment: an overview of Climate Change and Global Warming	189-194
	<i>Jitendra Singh Yadav</i>	
■	India-Nepal Relationship: A Historical Overview	195-199
	<i>Sneha Patel</i>	
■	Of Homosexuals and Cultural Straightjackets	200-203
	<i>Dr. Shiv Prakash Singh</i>	

वेज्दकर दि दफ्क लफ्गर्; ऐ लकेफ्त द&लकल्लनफ्रद लनहक मको लर; ओज*

अमरकांत नई कहानी आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इनका रचना संसार छठे दशक से आज तक के युगीन सत्त्यों को अभिव्यक्त करता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से आम जनता में विकास और परिवर्तन की आशा जगी थी किन्तु बाद में यह स्थिति मोहभंग में परिवर्तित हो गई। आम आदमी को आर्थिक दबावों को झेलते हुए मानसिक संक्रास से गुजरना पड़ा। समाज की अधिसंख्य जनता निम्न- मध्यवर्ग से आती है। अमरकांत ने इसी वर्ग से कथावस्तु लेकर अपने विशाल कथा-संसार की रचना की, जिसमें उच्च वर्ग की शोषण-वृत्ति और निम्न-मध्यवर्ग की स्थिति का सटीक चित्रण देखने को मिलता है।

अमरकांत प्रेमचंद की परम्परा के कथाकार हैं। परम्परा का विकास करने वाला ही परम्परा का कथाकार कहा जाता है। परम्परा की पुनरावृत्ति परम्परा का विकास नहीं है। प्रेमचंद के कथा साहित्य की विषय-वस्तु विविधपूर्ण है जिसमें 'सारंगा सदावृक्ष' और 'आत्माराम' जैसी लोकवार्ता का आश्रय लेकर चलने वाली कहानियाँ, 'दिल की रानी' और 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी ऐतिहासिक कहानियाँ, 'दो बैलों की कथा' जैसी प्रतीकात्मक कहानियाँ, 'मोटे राम' और 'मोटर की छीटे' जैसी व्यंग्य प्रधान कहानियाँ, 'मैकू', 'इस्तीफा', 'बड़े घर की बेटी' जैसी हृदय परिवर्तन पर आधारित कहानियाँ, सामाजिक यथार्थ का निर्वाह करने वाली 'पूस की रात' और 'कफन' जैसी कहानियाँ सम्मिलित हैं।

अमरकांत ने अपनी कहानियों का सूत्र प्रेमचंद की इन्हीं परवर्ती कहानियों से पकड़ा है। प्रेमचंद ने जिस भूमि पर लाकर कहानी को छोड़ा, अमरकांत ने वहीं से कहानी को उठाया है। उनके कथा साहित्य में निम्न मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय पात्र प्रायः 'कफन' के घिसू-माधव के वंशज हैं। इन पात्रों का काइयाँपन इनके जीवित रहने का साधन है, अतः यह उनकी निरीहता में पर्यवसित होता है। अमरकांत के पात्र जैसे किसी मानवीय समाज के सदस्य नहीं बल्कि जंगल के प्राणी हैं जो उस जंगल से बाहर आने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं लेकिन जिनकी नियति थककर गैर जरूरी है, जहाँ श्रम और फल में कोई संगति नहीं। व्यक्ति वहाँ या तो भाग्यवादी और निष्क्रिय बन जाता है अथवा अराजक।

अमरकांत का कथा साहित्य मध्यवर्गीय परिवार के भीतरी तनाव की जटिलता के प्रति एक समझदार सवाल है। मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति आलोचनात्मक रुख ही अमरकांत के कथा साहित्य को समर्थ और सार्थक बनाता है। उनके कथा साहित्य का रचना संसार काफी विस्तृत और व्यापक है। अमरकांत का कथा साहित्य बहुत खूबसूरती के साथ इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि मौजूदा समाज व्यवस्था मानव मूल्यों को ध्वस्त नहीं होने देती, इनमें विपर्यय पैदा करती है। अमरकांत अपने समकालीन कथाकारों में धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, शिव प्रसाद सिंह, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, रांगेय राघव, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियवंदा, मोहन राकेश, भैरव प्रसाद गुप्त आदि के बीच विशेष रूप से इसलिए पहचाने जाते हैं कि उनके पात्रों में अपूर्व जिजीविषा है और सबसे बड़ी बात यह है कि एक ऐसा प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है जो जीवन से जूझने की एक नई-प्रेरणा देता है और विषमताओं में ऊपर उठने का आत्मविश्वास जनमानस के मस्तिष्क में भरता है।

अमरकांत के कथा साहित्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का फलक अत्यन्त विस्तृत है और वह कथाकार के परिवेश से गहरे रूप से जुड़ी हुई है। अमरकांत स्वयं मध्यवर्गीय समाज से जुड़े व्यक्ति थे। उन्होंने जिस परिवेश को भोगा, नजदीक से देखा और अनुभव किया उसी की सशक्त अभिव्यक्ति उनके कथा साहित्य में दिखाई पड़ता है। अमरकांत के कथा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता वातावरण

*पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

के निर्माण में उनकी समर्थता है। अपनी बात कहने के लिए जिस वातावरण का निर्माण वे करते हैं, उसमें इतनी स्वाभाविकता होती है कि कहीं कोई आरोपण प्रतीत नहीं होता। अमरकांत व्यक्ति की किसी भी समस्या को नकारते नहीं, शायद इसीलिए उन्होंने समाज की किसी भी विसंगति और समस्या को अछूता नहीं छोड़ा है। उस परिवेश में बैठकर ही उन्होंने जिन्दगी की अनगिनत समस्याओं की मुकम्मल जाँच-पड़ताल की है। अमरकांत ने अपने परिवेश की विसंगतियों को अत्यन्त पैनी दृष्टि से देखा और व्यंग्यधर्मी लहजे में उनकी अभिव्यक्ति की।

अमरकांत का अनुभव फलक अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है फिर भी उन्होंने अपनी कहानियों के कथ्य का चुनाव अपने जीवन के आस-पास के अनुभवों से ग्रहण किया है। अमरकांत की समस्त कहानियाँ प्रायः मध्यवर्ग विशेषतः इसी वर्ग के जीवनानुभवों और जिजीविषाओं का बेहद प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करती है। उनकी कहानियों में राष्ट्रीय जीवन का पूरी पहचान है। उनकी कहानियाँ न केवल इतिहास की विसंगतियों और असफलताओं पर चिन्ता व्यक्त करती है बल्कि यथास्थितिवाद का कोहरा हटाकर हमारे दृष्टिकोण को बदलती है और हमें मनुष्य के अधिक निकट ले जाती हैं। इन कहानियों में बदलाव की व्याकुलता है, प्रगतिशील जीवन-दृष्टि के प्रति आस्था है। अमरकांत भारतीय निम्न-मध्यवर्गीय मनुष्य की भावनाओं को जितना समझते हैं, उतना उसके अन्तर्विरोधों पर व्यंग्य भी करते हैं। अमरकांत का कथा साहित्य अत्यन्त विश्वसनीय है। उस विश्वसनीयता का कारण है स्थितियों का अचूक चित्रण जिसमें व्यंग्य और मार्मिकता निहित है।

अमरकांत को अपने समय और समाज की बुनियाद विसंगतियों का तीखा एहसास है, जिसके कारण वे रचना के भीतर एक संघर्ष खड़ा करते हैं। हालांकि सामाजिक रुपान्तर की प्रक्रिया के प्रति वे कोई आग्रही दृष्टि नहीं जीते, लेकिन कहानियों में उभरी विसंगत यथार्थ परिवेशजन्य विडम्बनायें गहरा उद्देलन पैदा करती है। साथ ही विसंगत यथार्थ को झेलते पात्र भले ही लड़ाकू न हो सीधे 'रिएक्ट' न करते हों पर अवशता, बेचारगी के भीतर से जन्मी पीड़ा को झेलते-टूटते हुए भी जीने के लिए अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष करते हैं। कठिन स्थितियों में लद्दोजहद करते हुए जीवनेच्छा को सहेजे रखना ही अमरकांत की समूची रचनाशीलता का मूल उत्स है।

'जिंदगी और जोंक', 'डिप्टी, कलक्टरी', 'दोपहर का भोजन', 'मूस', 'मकान', 'छपकली', 'असमर्थ', 'हिलता हाथ', 'हत्यारे', 'हँसी', 'बउरैया कोदो', 'तूफान', व्यंग्य, करुणा, हास्य मानवीय जीवन संघर्ष, बेबसी, रागरंग, जनतांत्रिक दायित्व आदि का सामंजस्यपूर्ण रूप देखने को मिलता है।

अमरकांत के उपन्यासों की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का स्वरूप इतना प्रखर विस्तृत एवं कलात्मक नहीं है जितना उनकी कहानियों का है। इनके 'आकाश पक्षी' जैसे कुछ प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेम की प्रधानता के कारण सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति आलोचनात्मक धरातल पर नहीं हुई है। उसकी अभिव्यक्ति औपन्यासिक पात्रों एवं लेखक के वक्तव्यों के रूप में हुई है। आकाश पक्षी उपन्यास में अमरकांत ने एक ऐसे राजपरिवार का वर्णन किया है जिसका सब कुछ छिन चुका है समाप्त हो चुका है। यदि कुछ बचा है तो मात्र उसका दंभ और अहंकार। अपने इसी दंभ अहंकार और बड़प्पन के प्रदर्शन में वह जीवित है। अपनी समस्त व्यवस्थाओं के बिखर जाने पर भी वह अपने को समाज का सबसे ऊँचा प्राणी समझता है। अपने बच्चों एवं परिवार को शेष समाज से अलग रहने में ही अपनी प्रतिष्ठा एवं श्रेष्ठता समझता है घर का मुखिया बड़े साहब किसी भी व्यक्ति को सामने देखकर अपनी मूर्छों पर ताव देता है—देखिए साहब हम लोगो के साथ जो अन्याय हुआ है उसका फल अच्छा न निकलेगा। इस दुनिया में क्षत्रिय ही शासन कर सकते हैं और कोई नहीं। राजनीति और शक्ति की बात और लोग नहीं समझ सकते।'।¹ बड़े साहब ऊँच-नीच तथा असमानता को ईश्वरीय विधान मानते हैं उसे समाज की शाश्वत व्यवस्था मानते हैं।— देखिए ऊँच-नीच का भेद भाव से इन्सान है तभी से है इसको कोई मिटा नहीं सकता। दुनियाँ में किस्म के लोग होते हैं। कोई ताकतवर होता है और कोई कमजोर। कोई रोगी होता है कोई स्वस्थ। कोई बुद्धिमान होता है और कोई बेवकूफ। सभी एक समान तो हो नहीं सकते।² यही दृष्टिकोण बड़े साहब की पत्नी का भी है—“गलत तो कहती ही है दुनियाँ में छोटे-बड़े बराबर कहाँ हो सकते हैं?

'ग्राम-सेविका' उपन्यास पूर्णतया आदर्श के धरातल पर रचित है। यह उपन्यास स्वतंत्रता के बाद का उपन्यास है जब अमरकांत पूर्णतः गाँधीवादी दर्शन के प्रभाव में थे और मार्क्सवाद से उनका परिचय

धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उनके इस उपन्यास के पात्र कहीं-कहीं ऐसा भाषण देते हैं मानो वे गाँधीवाद या मार्क्सवाद का प्रचार कर रहे हैं। वस्तुतः स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले अमरकांत ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की तरक्की एवं आदर्श का सपना देखा था और उस सपने के अनूकूल भी उन्होंने 'ग्राम सेविका' उपन्यास की रचना की। इसी कारण यह उपन्यास यथार्थ को लिए हुए आदर्श की ओर अग्रसर है। इस उपन्यास में प्रेमचंद के उपन्यासों के समान ही आदर्श और सुधार को बखूबी देखा जा सकता है। अमरकांत का यह स्वप्न शीघ्र ही टूटा और धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति में बदलाव आया और बाद में वे विद्रूप यथार्थ के द्रष्टा बने। अमरकांत अपने प्रारम्भिक उपन्यास 'सूखापत्ता' में तटस्थ होकर मध्यवर्गीय भारतीय मानस की कमजोरियों का चित्रण करते हैं। इस उपन्यास में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि होती है। इसी प्रकार 'काले उजले दिन' उपन्यास में मध्यवर्गीय परिवारों की विसंगतियों एवं विकृतियों का बेबाक चित्रण किया गया है। उपन्यास का नायक विसंगतियों एवं विकृतियों के जिन दलदलों से होकर गुजरता है उनसे मध्यवर्ग के अधिकांश नवयुवक गुजरते हैं। यदि अन्तर होता है तो मात्र परिस्थितियों का। ऐसे परिवारों के बच्चों में हीनता कहीं प्रेम के अभाव में उत्पन्न होती है तो कहीं अर्थ के अभाव में। हीनत्व बोध तो मध्यवर्ग की नियति है जिसके कारण उसका व्यक्तित्व साहसहीन पलायनवादी तथा संकल्पहीन है।

अमरकांत ने 'काले उजले दिन' उपन्यास के कथा नायक की दारुण स्थिति का बड़ा प्रभावकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। कथानायक बताता है कि "वह मुझसे सीधे मुँह बात ही नहीं करते और जब करते तो कटहा कुत्ते की तरह। मेरे लिए तो बेटा शब्द उनके शब्दकोश में था ही नहीं।"³ कटहा कुत्ते की तरह लगने वाले पिता और विमाता द्वारा दी गई यातना उस समय हद पार कर जाती है जब अपने ही घर में चोरी का झूठा आरोप लगाया जाता है, "कभी-कभी घर से समान गायब हो जाता तो माता जी तो नौकर चाकर रहने पर भी मुझी पर सन्देह करती। जब तक माता जी कुछ नहीं करती थी पिता जी चुप रहते थे, लेकिन जब माता जी के मुँह से कुछ भी मेरे खिलाफ निकल जाता था तो पिता जी गरजने-तड़पने लगते थे।"⁴ आश्चर्यजनक बात यह है कि हर प्रकार का जुल्म सहने के बावजूद कथानायक अपने पिता और विमाता का खुलकर विरोध नहीं कर पाता।

सम्पूर्ण उपन्यास में अमरकांत ने जहाँ अपनी आँखों देखे जीवन की संवेदनशील चेतना को दिखाया है, वहीं उन्होंने समस्याओं के निराकरण का संकेत भी किया है। यहाँ वे सामाजिक समस्याओं एवं विकृतियों के प्रति ही नहीं वरन् उसमें परिवर्तन के पक्षधर हैं। इनका उपन्यास 'सुन्नर पाण्डे की पतोह' अत्यन्त यथार्थपरक सशक्त उपन्यास है। इसकी सामाजिक चेतना का स्वरूप अत्यन्त पैना है और उसकी अभिव्यक्ति बेहद कलात्मक स्तर पर हुई है। यह उपन्यास एक साधारण ग्रामीण नारी की ऐसी गाथा है जो हमारे सामाजिक जीवन के विसंगतियों की विभिन्न परतों को बड़ी ईमानदारी से उद्घाटित करती है। सुन्नर पाण्डे की पतोह को उनके सहारे की जरूरत है। शायद ईश्वर को भी यही मंजूर है कि एक दुखिया औरत का जीवन वह पार-घाट लगा दे।"⁵ यह स्थिति तो सुन्नर पाण्डे की पतोह की रही पर घर में रहने वाली भारतीय नारियों पर भी पुरुषों का अत्याचार कम नहीं होता। वे अत्यन्त नारकीय स्थिति को ही भोगने के लिए विवश होती हैं। सुन्नर पाण्डे की पतोह ने समाज के सभी वर्ग के घरों में काम करते हुए यही देखा था— "अनेक तरह के लोगों के यहाँ उसने काम किया कोई नेता था, कोई अफसर, कोई व्यवसायी, कोई अध्यापक और कोई क्लर्क और हर जगह लगभग एक दृश्य था। जो कुछ ऊपर से दिखायी देता उसका दूसरा रूप भीतर देखने में आता। बाहर से जो सभ्य, प्रतिष्ठित और साफ-सुथरे नजर आते, वे भीतर से बेहद चीखते चिल्लाते थे। लगभग सभी अपनी सीधी-सादी आज्ञाकारी और दिन-रात खटने वाली बीबियों को चौबीस घंटे कोसते रहते, उन्हें अन्य तरीकों से प्रताड़ित करते और दूसरों की बहू-बेटियों को अपने जाल में फँसाने की चाले चलते। घरों के अन्दर औरतों की हालत दरबे में बंद मुर्गियों की तरह थी, जहाँ वे आपस में लड़ती, भुनभुनाती, खिजाती, रोती-कलपती और कराहती।"⁶ जीवन की विभिन्न समस्याओं को समेटे यह कृति पाठक के सामने यह सवाल उठाती है कि जो नारी समाज की महत्वपूर्ण ईकाई है, वह उसी समाज में अपनी निजी पहचान क्यों नहीं बना पाती? आखिर उसकी दुर्दशा का जिम्मेदार वह स्वयं है या उसका समाज है या दोनों हैं? ऐसी स्थितियों एवं प्रश्नों से जूझती यह कृति अपनी सरल और संवेदनशील भाषा, अनूठी शैली और गहरी अन्तर्दृष्टि के कारण अधिक दिलचस्प, मर्मस्पर्शी एवं स्मरणीय बन गयी है।

‘इन्हीं हथियारों से’ उपन्यास काफी वृहदकाय उपन्यास है। इस उपन्यास में कथाकार ने भारत छोड़ो आन्दोलन से लेकर देश के स्वतंत्र होने तक का वर्णन इमानदारी के साथ किया है। यह उपन्यास बहुत प्रसंशित उपन्यास है। कथाकार का विश्वास है कि सभी जातियों, धर्मों एवं क्षेत्रों की विकाशील एकता में ही हमारे देश का भविष्य सुरक्षित है। इन्हीं मूल्यों को आधार बनाकर हमने स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी और ये ही मूल्य हमारे देश को विकास के पथ पर अग्रसर कर सकते हैं।

‘इन्हीं हथियारों से’ उपन्यास द्वारा अमरकांत ने हिन्दी कथा साहित्य में अपनी लेखनीय क्षमता का लोहा मनवाया। इस उपन्यास में कथाकार ने अहिंसा रूपी हथियार को अपनाकर देश की स्वतंत्रता में भाग लेने वाली बलिया जनपद की यथार्थ कहानी का वर्णन किया है। स्वतंत्रता आन्दोलन में अमरकांत ने सक्रिय रूप से भाग लिया था। अपने इस उपन्यास में वे स्वयं नायक के रूप में अहम भूमिका निभा रहे थे।

इस विषय में उनकी तुलना हरिशंकर परसाई और कवि नागार्जुन से की जा सकती है। कथनी और करनी के अन्तर को चित्रित करने वाली निर्मम दृष्टि जब यथार्थ का चित्रण करती है तो व्यंग्य उत्पन्न हो जाता है। इस अमानवीय व्यवस्था में बेईमानों को सफल और ईमानदार को असफल होते हुए देखकर कथाकार के मन में जो भावना उत्पन्न होती है उस अनुभूति के साथ जब वह यथार्थ का चित्रण करते हैं तो उनके मन की यातना और आक्रोश व्यंग्य का रूप धारण कर लेती है। यह व्यंग्य करुणोन्मुख होता है। वह अपनी ईमानदारी के लिए असफल होने वालों अमानवीय जंगल से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करने वालों के लिए करुणा उत्पन्न करता है। अमरकांत की निर्ममता स्थिति की कठोरता से निर्मित हुई है। उनके मध्यवर्गीय असफल और शोषित पात्र प्रायः कार्टून या पशु लगते हैं। थोड़ी सी सफलता मिलने पर वे इतराने लगते हैं तो और भी हास्यास्पद लगते हैं और अंत में हृदयहीन स्थितियों की ऐसी चट्टान उनके सिर पर गिरती है कि वे अपनी सारी हास्यास्पदता के साथ चकनाचुर हो जाते हैं। ‘सप्ताहंस’ का रामसंजीवन हकलाता है। ‘मूस’ चार फुट का प्रेमी है। रजुआ सबसे पिटा हुआ भी पगली को भात खिलाता है लेकिन इन सब की सुखद स्थितियाँ केवल क्षणिक होती हैं। इस हास्यास्पद से विडम्बना निखरती है उसकी यातना और मार्मिक होती है और वे असमर्थ हास्यास्पद पात्र पाठकों की करुणा के भी आलंबन बनते हैं।

अमरकांत ने अपने कथा साहित्य में नारी पात्रों को विशेष सहानुभूति दी है। इनमें मुख्य हैं—‘दोपहर का भोजन’ की सिद्धेश्वरी, ‘पलाश के फूल’ की अंजोरिया, ‘हत्यारे’ की मजदूरिन, ‘विजेता’ की नीलिमा, काले उजले दिन की नायिका कांति, रजनी, सुनार पाण्डे की पतोह की राजलक्ष्मी और ‘आकाश पक्षी’ का हेमा। वे जानते हैं कि नारी का शोषण दोहरा होता है। वह सामाजिक विषमता के साथ-साथ अपनी शारीरिक भिन्नता के कारण भी शोषित होती है। अपने कथा साहित्य में अमरकांत ने इन शोषित नारी पात्रों को कर्मठता की राह पर चलते दिखाया है।

अमरकांत की भाषा मुख्यतः निम्नमध्यवर्ग की भाषा है। उनके द्वारा प्रयुक्त तद्भव और देशज शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है। इसी वर्ग द्वारा प्रयुक्त बहुप्रचलित अंग्रेजी अरबी व फारसी के सामान्य शब्दों का प्रयोग भी अमरकांत ने किया है। उनके यहाँ अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का प्रयोग तथाकथित सभ्य-शिक्षित पात्रों द्वारा हुआ है। निम्न-मध्य वर्ग द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग से अमरकांत ने अपनी भाषा को सहज तथा प्राणवान बनाया है। ध्वन्यार्थ शब्दों का प्रयोग अमरकांत ने भरपूर मात्रा में किया है। परस्पर-विरोधी शब्दों का प्रयोग अमरकांत के शब्द प्रयोग को विशिष्ट बनाता है। इसी प्रकार ‘सराहनीय’ और प्रशंसनीय विशेषणों का प्रयोग एक प्रकार की नाट्य दृश्यता की सृष्टि करता है।

I UnHk %

1. आकाशपक्षी : अमरकांत, पृ0-87
2. वही, पृ0-88
3. काले उजले दिन : अमरकांत, पृ0-11
4. वही, पृ0-11
5. सुन्नर पांडे की पतोह : अमरकांत, पृ0-131-132
6. वही, पृ0-148



LokrU«;kÜkj fgUnh miU;kIk e efLye vkjri

et"kk*

^t:lk lkpk feyrk g
mlh ei <y tkrh g
dHkh eke cudj
ei fi?kyrh g
rk dHkh fn, dh tkr
cudj tyrh gAA** & rjle dkj

स्त्री किसी भी समाज की धुरी है। उसके संस्कार तथा उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा को ग्रहण कर बालक समाज में प्रवेश करता है तथा सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करता है। परन्तु हमारे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सदैव अबला निरीह प्राणीमात्र ही रही है। वैदिक काल में कहा गया कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, तत्र रमन्ते देवता' परन्तु इसके साथ ही 'जिमि स्वतन्त्र होहिं बिगरहिं नारी' कहकर उसके आगे बढ़ते कदमों में बेड़ियाँ डाल दी गई। मध्यकाल में इस्लाम के भारत आगमन के पश्चात् स्त्री की स्थिति और भी दयनीय हो गई। सुरक्षा, विवाह तथा दहेज आदि के प्रश्नों ने कन्या जन्म को ही सामाजिक अप्रतिष्ठा का विषय बना दिया, जिससे समाज अभी भी ग्रसित है। स्वतन्त्रता के पश्चात् संवैधानिक अधिकारों के तहत स्त्री को स्वतन्त्रता और समानता के अवसर तो मिले परन्तु जमीनी स्तर पर परिस्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। "लड़कियों को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। शिक्षा से स्त्री के आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न हुआ है, परन्तु इस शिक्षा ने अच्छी हैसियत वाले घर तलाशने की सुविधा अधिक जुटाई है एवं आम भारतीय मध्यवर्ग ने आधुनिक स्त्री का पर्यवसन परम्परागत छवि वाली पत्नी में होते देखना चाहा।"¹

समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज का प्रभाव साहित्य पर तथा साहित्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। स्वतन्त्र भारत के छठवें दशक से पहले हिन्दी साहित्य में विशेषकर उपन्यास में मुस्लिम समाज के सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की कमी दिखाई पड़ती है परन्तु छठवें दशक में कुछ मुस्लिम लेखकों का आगमन होता है जिनमें शानी, राही मासूस रज़ा, बदीउज्जमा, अब्दुल बिस्मिल्लाह, नासिरा शर्मा असगर वज़ाहत इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। इन लेखकों की रचनाओं में मुस्लिम समाज की पीड़ा, त्रासदी, उनकी सामाजिक, राजनैतिक स्थिति, उनकी सांस्कृतिक, बौद्धिक परिस्थिति का सूक्ष्म अंकन हुआ है। निम्न तथा मध्यवर्ग के मुस्लिम जीवन का सजीव चित्रण इनके उपन्यासों में हुआ है। चूँकि स्त्री किसी भी समाज का अभिन्न अंग है, अतः समाज की सम्पूर्ण स्थिति के अवलोकन के लिए स्त्री की स्थिति को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इन मुस्लिम रचनाकारों के लेखन में स्त्री मुख्य चरित्र में उभरकर आई है। मुस्लिम समाज में स्त्री कितनी सशक्त हुई है, हुई भी है या नहीं इसका अवलोकन इनके उपन्यासों में किया जा सकता है।

मुस्लिम समाज में नारी की अपनी कोई पहचान नजर नहीं आती अपितु वे बस खिलौने के रूप में ही प्रयोग में लाई जाती रही हैं। उन्हें अपने निर्णय लेने का भी अधिकार नहीं। उनका शौहर यदि तीन बार तलाक कह दे तो उनका वैवाहिक जीवन क्षण भर में समाप्त हो जाता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में औरतों की इस स्थिति पर कटाक्ष करके लिखा गया है—“तलाक

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तो बिरादरी में आम बात हो गई है। औरत जात की आखिर हैसियत ही क्या है? जब चाहो चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो! औरत का और इस्तेमाल ही क्या है? कतान फेरे, हाड़ी-चूली करे, साथ में सोए, बच्चे जने और पाँव दबाए। इनमें से अगर किसी भी काम में हीला-हवाली करे तो कानून-इस्लाम का पालन करो और बोल दो कि मैं तुम्हें तलाक देता हूँ। तलाक! तलाक! तलाक!"²

मुस्लिम समाज वैसे तो औरत और मर्द की बराबरी की बात करता है और इसके लिए कुरान की कई आयतों की दुहाई भी देता है परन्तु जमीनी हकीकत कुछ और ही है। अन्य धर्मों की भाँति इस्लाम में भी स्त्री को दोगले दर्जे का नागरिक ही माना जाता है। असगर अली इन्जीनियर कहते हैं—“मुसलमान महिलाएँ आन्तरिक और वाह्य दोनों ओर से दमन की शिकार हैं। मुसलमान पुरुष इस्लाम के नाम पर अपनी महिलाओं को दबाते हैं और किसी परिवर्तन के बारे में सोचने तक को तैयार नहीं।”³ मुस्लिम महिलाओं की दयनीय स्थिति को चित्रांकित करता एक और महत्वपूर्ण उपन्यास असगर वजाहत का ‘सात आसमान’ है, जो कि सन् 1996 ई० में प्रकाशित हुआ। ‘सात आसमान’ में लेखक ने चार सौ वर्षों की कथा को एकसूत्र में पिरो दिया है, जो ईरान से शुरू होकर भारतीय मुस्लिम सामंती समाज तक आती है। इस उपन्यास में मुस्लिम समाज के उच्च और प्रतिष्ठित वर्ग का चित्रण किया गया है परन्तु यहाँ भी स्त्री की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता है। जिस प्रकार प्राचीन काल में राजा-महाराजा अनेक दासियों से सम्बन्ध रखते थे उसी प्रकार मुस्लिम जमींदार भी अपनी पत्नी के अलावा कई रखैल रखते थे। उनका चरित्र चाहे कितना भी गिरा हुआ क्यों न हो परन्तु शादी करने से पहले वे लड़की की पूरी तहकीकात कराते कि लड़की के चरित्र में कोई दोष तो नहीं, जैसा कि आज भी हो रहा है। ‘रेलवे में एक शिया सैयद बाबू काम करते थे। उन्होंने मुश्ताक की शादी करा देने का वायदा किया। अलीगढ़ के पास शियों का एक गाँव है। वहाँ दोनों गए। पता चला एक लड़की है। सूरत-शक्ल, हाथ-पैर की अच्छी है। मुश्ताक ने लड़की के बारे में तहकीकात कराई तो सबकुछ ठीक निकला।’⁴

स्त्री का प्राकृतिक गुण ही कहा जाएगा कि उसमें सबकुछ सहन करने का असीम धैर्य होता है। बिना कोई शिकायत किए वह अपने कर्तव्यों का निर्वहन करती रहती है। मुस्लिम समाज की औरतें भी अपने अधिकारों के हनन, अपनी छिनी हुई स्वतन्त्रता को अपनी नियति मान लेती हैं तथा घर-बिरादरी की इज्जत के लिए सबकुछ सहन करती हैं—“व्याहकर जो बहू घर आई उसे जल्दी ही पता चल गया कि उसका मियाँ दीवाना है। बहू ने उफ़ तक न की। न तो उसने ये बात अपने घरवालों को बताई और न अपने ससुरालवालों पर कोई इल्जाम धरा।”⁵ ‘सात आसमान’ में सामंती परिवारों में स्त्री की स्थिति को पूरी तरह उधेड़कर रख दिया गया है, जहाँ उसे एक भोग्या से अधिक कुछ नहीं समझा जाता।

हमारा भारतीय समाज कई प्रकार के अन्धविश्वासों से जकड़ा हुआ है। मुस्लिम समाज भी इनसे अछूता नहीं। ऐसे ही एक अन्धविश्वास का चित्रण नासिरा शर्मा के उपन्यास ‘ठीकरे की मँगनी’ में हुआ है। जब किसी परिवार के बच्चे पैदा होते ही मर जाते हैं तो ठीकरे पर एक चाँदी का सिक्का फेंका जाता है जिससे कि बच्चे बच जाएँ। उपन्यास की नायिका महरुख की शादी उसके पैदा होते ही तय कर दी जाती है। उसे सदा यही कहा जाता है कि उसका होने वाला शौहर उसका मजाजी खुदा है। “शौहर मजाजी खुदा होता है इसलिए शौहर की फ़रमरदारी करना हर औरत का फ़र्ज होता है। उसे भी आँख बन्द करके रफ़त भाई का कहना मानना पड़ेगा”⁶ ‘ठीकरे की मँगनी’ में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त अपमानजनक और बदतर दिखाई गई है। नारी आज हर जगह प्रताड़ना और शोषण का शिकार हो रही है। उसका कोई भी रूप चाहे वह माँ हो, पत्नी हो, बहन हो स्वतन्त्र न होकर दूसरों की इच्छाओं पर निर्भर है। मुस्लिम समाज और परिवेश पूर्णतः पितृसत्तात्मक है। इसलिए मुस्लिम परिवार में स्त्री शिक्षा का स्तर बहुत ही निम्न है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था पर जेंडर का विभेदीकरण दिखाई देता है उसी प्रकार मुस्लिम समाज की शिक्षा व्यवस्था पर भी पितृसत्तात्मक विचारधारा का पूरा प्रभाव बना हुआ है। भारतीय मुस्लिम समाज में पितृसत्ता, पर्दाप्रथा और धार्मिक कट्टरता के कारण मुस्लिम स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में बहुत विकास नहीं कर सकी हैं। परन्तु पढ़े-लिखे वर्ग ने अब स्त्री शिक्षा की आवश्यकता को समझना शुरू कर दिया है। ‘ठीकरे की मँगनी’ में भी मुस्लिम स्त्री शिक्षा की महत्ता पर बल दिया गया है। महरुख की अम्मी

कहती हैं—“मैं तो इतना जानती हूँ कि हम तब नहीं डरे लोगों की बोलियों—ठोलियों से तो अब क्या खाक डरेंगे? मैं औरत हूँ, खूब अच्छी तरह जानती हूँ कि इस नए दौर में औरत के लिए मजबूती क्या होनी चाहिए। जमाने के कहने से क्या हमने लड़कियाँ स्कूल में से निकाल ली थीं?.....लड़की को अच्छा—बुरा समझने की अवल तो तालीम ही दे सकती है।” कह सकते हैं कि शिक्षा की महत्ता को सभी स्वीकार करने लगे हैं। महरूख भी शिक्षा ग्रहण करके आत्मविश्वास पाती है तथा अपने जीवन के निर्णय स्वयं करती है। “महरूख जो जिन्दगी को अपने नजरिए से देखकर उसको एक पहचान एक अर्थ देती हुई जनसमुदाय की आवाज में उदय होती है।” नासिरा शर्मा ने स्त्रियों का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया है। उनके गुण—अवगुण, सुख—दुःख का स्वाभाविक चित्रण उपन्यास में है।

मेहरुन्निसा परवेज के उपन्यास ‘अकेला पलाश’ में भी प्रगतिशील विचारों वाले स्त्री पात्रों का चित्रण किया गया है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र तहमीना जो कि विवाहित है तथा एक बच्चे की माँ भी है परन्तु उसका शौहर उसे यौन संतुष्टि नहीं दे पाता इसी कारण वह तुषार से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। तहमीना पढ़ी—लिखी कामकाजी स्त्री है तथा अपने प्रेमी तुषार के साथ रहने के लिए समाज और परम्परा मर्यादा की तिलांजलि देने को तैयार है परन्तु निहायत कमजोर व्यक्तित्व वाला तुषार उसे धोखा देकर भाग जाता है। बाद में फिर वह तहमीना से मिलना चाहता है परन्तु वो इनकार कर देती है। स्पष्ट है कि पढ़ी—लिखी तहमीना पुरुष के हाथ का खिलौना बनना स्वीकार नहीं करती बल्कि अपने मन के मुताबिक निर्णय लेती है। मेहरुन्निसा परवेज ने भी अपने उपन्यासों में स्त्री स्वातन्त्र्य, उनकी शिक्षा का मुद्दा उठाया है तथा समाज के विकास में इसे महत्वपूर्ण माना है।

मुस्लिम समाज की त्रासदी का सजीव चित्रण करने वाला प्रमुख उपन्यास है मंजूर एहतेशाम का ‘सूखा बरगद’। इस उपन्यास में एक तरफ तो स्त्री के अबला, बेचारी रूप को दिखाया गया है तथा दूसरी तरफ बोल्ट और आधुनिक रूप में भी। इस उपन्यास में भी स्त्री की शिक्षा और स्वातन्त्र्य की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। यदि स्त्री शिक्षित है तो अपने निर्णय स्वयं ले सकती है तथा उसे समाज कास भय नहीं रहता परन्तु यदि वह शिक्षित नहीं है तब परम्पराओं की दुहाई देकर शोषित होती रहती है। उसका घर और समाज में कोई सम्मान नहीं होता तथा केवल नौकरानी बनकर रह जाती है। “सईदा आपा को घर का चूल्हा जलाए रखने के लिए जाने क्या—क्या करना पड़ता था। खानदान में अगर कहीं शादी है, तो बावर्चीखाने की जिम्मेदारी से लेकर, अगर किसी घर काम करने वाली बैठ गई है, तो झाड़ू—बरतन तक वह सब करती थी और खानदान वालों की उतरनें, अपने लड़कियों को पहनने के लिए, ज़कात—खैरात, बाकी खर्चा चलाने के लिए वह लेने पर मजबूर थीं।”⁸

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में पितृसत्तात्मक मुस्लिम समाज में स्वतन्त्रता के लिए तड़पती मुस्लिम नारियों का चित्रण तो है इसके साथ—साथ समय के साथ बदलती ऐसी नारियों का चित्रण भी है जिन्होंने अनेक प्रकार से विद्रोह अभिव्यक्त किया है। घर की चारदीवारी में कैद नारी, देहरी लॉघ अपनी पीड़ा को स्वयं सबके सामने प्रस्तुत करती है। ‘ठीकरे की मंगनी’ में महरूख विद्रोह का स्वर अपना लेती है। आत्मविश्वासी महरूख का यह परिवर्तित रूप मुस्लिम समाज के लिए अविश्वसनीय तथा स्वागतयोग्य कदम है। समाज में भी स्त्रियों की स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य दिख रहा है। मुस्लिम समाज शिक्षा के प्रति जागरूक हुआ है तथा स्त्रियों की शिक्षा का उतना विरोध नहीं है जितना पहले था। असगर अली इन्जीनियर कहते हैं—“पिछले कुछ समय से आ रहे सुखद परिवर्तनों में से एक यह है कि आज मुस्लिम अभिभावक अपनी लड़कियों को शिक्षित बनाने के उतने खिलाफ नहीं है जितने 20—25 वर्ष पहले थे। कई मामलों में तो मुस्लिम महिलाओं ने मुस्लिम पुरुषों को पढ़ाई—लिखाई में पीछे छोड़ दिया है। मुझे बताया गया है कि महाराष्ट्र के औद्योगिक नगर कोल्हापुर में लड़कों की तुलना में दुगुनी लड़कियाँ पोस्ट ग्रेजुएट हैं।”⁹

यह सत्य है कि यदि मुस्लिम समाज शिक्षित होगा तो उसका सामाजिक—आर्थिक जीवन भी परिवर्तित होगा, उनका जीवन—स्तर ऊपर उठेगा तथा स्त्रियों की स्थिति में भी सकारात्मक परिवर्तन आएगा। असगर अली इन्जीनियर के शब्दों में—“महिलों का दमन धर्म उतना नहीं करता है जितना कि

समाज। मुसलमान महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए मुसलमानों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुधारना आवश्यक है। अगर मुसलमान गरीब और अशिक्षित रहेंगे तो मुसलमान महिलाओं की स्थिति को सुधारना असम्भव होगा।¹⁰

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि मुस्लिम समाज की स्त्रियों का धर्म तथा परम्परा के नाम पर अत्यधिक दमन किया जाता रहा है तथा इसे साहित्य के माध्यम से शिक्षित समाज के सामने प्रस्तुत भी किया जा रहा है। अब समय आ गया है कि स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए लोग आगे आएँ तथा उन्हें भी शिक्षा, स्वतन्त्रता तथा समानता मिल सके।

^fey tkuh pkfg, vc efDr fL=;k dk
vkf[kj dc rd foe'k e: jgxl efDrA** –(नीलेश रघुवंशी)

I UnHk %

1. रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ0 83
2. अब्दुल बिस्मिल्लाह, झीनी झीनी बीनी चदरिया, पृ0 31
3. असगर अली इन्जीनियर, धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ0 220
4. असगर वजाहत, सात आसमान, पृ0 21
5. वही पृ0 64
6. नासिरा शर्मा, ठीकरे की मंगनी, पृ0 31
7. वही, पृ0 22
8. मंजूर एहतेशाम, सूखा बरगद, पृ0 28
9. असगर अली इन्जीनियर, धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ0 223
10. वही, पृ0 221



eukgj';ke tk'kh d dFkk&lkfgR; e ikfjokfjd ruko o fo?kVu

vfudk flg*
Mk0 eny tk'kh**

मनोहरश्याम जोशी जी उत्तर आधुनिक युग के ख्याति प्राप्त रचनाकार हैं। इनका कथा-साहित्य समकालीन साहित्य में विशेष स्थान रखता है। मनोहरश्याम जोशी जी की लेखन शैली उन्हें दूसरे साहित्यकारों से अलगती है।

उत्तर आधुनिक समय में कई तरह की विसंगतियों ने जन्म लिया है। इन विसंगतियों का समाज पर प्रभाव पड़ा है। विसंगतियों के प्रभाव पड़ने से व्यक्ति का जीवन पूरी तरह परिवर्तित हो गया है। अति आधुनिक समय के प्रभाव से व्यक्ति के आचार-विचार, नैतिक नियमों, वेशभूषा, संस्कृति में परिवर्तन हुआ है। इन परिवर्तनों से कई तरह की समस्याओं ने जन्म लिया है।

मनोहरश्याम जोशी समाज में व्याप्त इन सभी समस्याओं से मुखातिब हुए और उनको अपने तरीके से कथा-साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति दी। लेखक ने कथा-साहित्य में परिवार सम्बन्धी समस्या को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य जीवन-शैली के प्रभाव से पारिवारिक जीवन मूल्यों में परिवर्तन हुआ है।

परिवार समाज की वह महत्वपूर्ण संस्था है, जिसमें व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। भारतीय परिदृश्य में प्राचीन काल में संयुक्त परिवार प्रचलन में थे, जिनमें दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, माता-पिता, भाई-बहन आदि सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहते थे। वे एक साथ जीवन-यापन करते थे। संयुक्त परिवारों में किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान आसानी से बड़े-बुजुर्ग मिलकर कर लेते थे। इन परिवारों में एक मुखिया होता था। यह ज्यादातर पितृ सत्तात्मक परिवार होते थे। बड़े से लेकर छोटों को अपने मूल्यों का ज्ञान होता था।

पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते प्रभाव के कारण आज संयुक्त परिवार बिखर रहे हैं। आपसी सौहार्द सहयोग की भावना दिनों दिन समाप्त होती जा रही है। धैर्य, सहनशीलता, कर्तव्य की भावना आदि मानवीय गुण समाप्त हो रहे हैं। आचार-विचार में परिवर्तन होने से संयुक्त-परिवारों में विघटन हो रहा है। युवा पीढ़ी का रोजगार की तलाश में गाँवों से नगरों की ओर पलायन, परिवार के बड़े-बुजुर्गों से परायापन विघटन को बढ़ावा दे रहा है।

पहले गाँवों में कृषि करके जीवन-यापन किया जाता था, परन्तु तकनीकी व औद्योगिकीकरण के प्रभाव से ग्रामीण युवा वर्ग शहरों की ओर उन्मुख हुआ है। शहरी वातावरण में वे एक कमरे तक सीमित होकर रह जाते हैं। उनके अन्दर अजनबीपन, परायापन, अनास्था, अविश्वास, यौन सुख की प्रबल भावना जैसी कुरीतियाँ पनप रही हैं। इन्हीं कारणों से ही वह अपने परिवार में सामंजस्य नहीं बैठा पा रहे हैं।

मनोहरश्याम जोशी जी एक ऐसे साहित्यकार हैं, जो समकालीन परिस्थितियों को परख कर उन पर विचार-विमर्श करते हैं। जोशी जी का 'कसप' उपन्यास पारिवारिक विघटन की कहानी कहता है। शास्त्री जी का एक संयुक्त परिवार है, जिसमें उनकी धर्मपत्नी, उनके चार बेटे-पुत्र वधुएँ, पौत्र व एक अविवाहित बेटी है।

*शोध छात्रा, हिन्दी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

**शोध निर्देशिका, डॉ० मुदुल जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शास्त्री जी के खुशहाल और सम्पन्न परिवार में कोई कमी नहीं है, कमी है तो बस विचारों में सामंजस्य की और नैतिक मूल्यों की। मैत्रेयी के देवीदत्त (प्रेमी) के साथ प्रेमपाश में रत मिलने से शास्त्री परिवार में तनाव उत्पन्न हो जाता है।

पाश्चात्य मूल्यों के कारण नैतिकता का तो ह्रास हुआ ही है, जीवन-शैली में भी बदलाव आया है। जिसे लेखक ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—शास्त्री जी कुछ इस प्रकार सोचते हैं—“अटपटी लग रही है उन्हें काशी के पण्डितों के घर में भाई-बहन की यह धक्का-मुक्की, तू-तू मैं-मैं। वह समझ नहीं पा रहे हैं कि क्या हुआ है ? × × × × × × × × ×

शास्त्रानी जी माथा पीटे ले रही हैं। लन्दन से आया हुआ उनका दूसरा बेटा डॉक्टर मेधातिथि इस हाथ-तोबा से परेशान होकर अपने ‘अंग्रेज हो चुके’ बीबी-बच्चों के साथ रानीखेत चले जाने की तैयारी में है। तीसरा बेटा इंजीनियर श्री गोपाल भी बेबी पर चीख-चिल्ला रहा है।”¹

शास्त्रीजी को बेटी की चारित्रिक हीनता का पता लग जाता है, उसे सुनकर वे इतने स्तब्ध हो जाते हैं कि स्वयं के पैदा होने पर ही प्रश्न करने लग जाते हैं। शास्त्रानीजी अपनी लाड़ली बेटी पर पहली और अन्तिम बार हाथ उठा देती है। शास्त्री जी इस सामाजिक व नैतिक अपमान को सहन नहीं कर पाते हैं और अल्मोड़ा का मकान बेच बिनसर में बस जाना चाहते हैं और अपनी सम्पत्ति का बँटवारा कर देते हैं— “मैंने बिनसर में एक छोटा बँगला ले लिया है। मैं और कार्तिकेय की इजा वहीं वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करेंगे। मैत्रेयी लखनऊ जायेगी पढ़ने, जहाँ उसका छोटा ददा डॉक्टर है। वह उसके साथ नहीं, हॉस्टल में रहेगी। मैं बँटवारा कर रहा हूँ और मैत्रेयी के नाम भी कुछ अलग रखे दे रहा हूँ। वह चाहे जो करे। मेरा अब किसी से कोई मतलब नहीं।”²

इस प्रकार बच्चों के द्वारा परम्परागत मूल्यों की अवमानना माता-पिता को क्षुब्ध करती है। अन्ततः वे उनसे रिश्ता ही खत्म कर लेते हैं।

कभी-कभी चारित्रिक हीनता भी परिवार में तनाव उत्पन्न कर देती है। जोशी जी के ‘ट-टा प्रोफेसर’ उपन्यास में भाभी की चरित्र हीनता को दिखाया गया है देवर के लिए भाभी माँ के समान होती है। वही जब अपने पुत्र समान देवर के साथ अनैतिक यौन संबंध बनाती है तो परिवार में चारित्रिक, नैतिक मूल्यहीनता होती है—“और उसी रात एक सुदीर्घ चुम्बन बड़ी बोज्यू और छोटे लला की इस कहानी को ‘मेन प्वाइंट’ पर पहुँच गया × × × × × × × × जिससे उस समय चाँदनी रिस रही थी जिस समय लला ने यह जाना कि मुँह में आँचल ढँसकर अपनी परिपूर्ति की चीख घोंटती विधवा बोज्यू कुँवारी ही है।”³

मनोहरश्याम जोशी जी के ‘हमजाद’ उपन्यास में आर्थिक विपन्नता के कारण परिवार में बिखराव दिखाया गया है। आर्थिक रूप से कमजोरी कभी-कभी व्यक्ति को इतना मजबूर कर देती है कि वह अपने परिवार में कलह उत्पन्न कर देती है। तिलक के घर में टोपन के आने से तनाव उत्पन्न हो गया। टोपन उन पर कई तरह के अहसान करता है और इसी बहाने उनके घर में घुसकर उसकी बहनों को गन्दी निगाह से देखता है। लेकिन तिलक की माँ और बहन उसके इरादे नहीं जानती और उसे बड़े बेटे जैसा मानने लगी थी। टोपन की उसकी बहन के साथ अश्लील हरकतों से तिलक क्रोधित हो जाता है। उसका क्रोध कुछ इस प्रकार झलकता है—“मेरे सर से पाव तक आग लग जाती। और भाभी और स्नेहबई का बर्ताव इस आग में घी का काम करता। मेरे मौजूद रहते हुए भी वे टोपन को ‘सहारा देने वाले मर्द’ का ताज पहनाकर उसी से सलाह-मशावेरा करती रहतीं। यही नहीं, वे कनक पर ज़ोर डालतीं कि टोपन से बात करे। इसके चलते घर में जबरदस्त तनाव पैदा हो गया।”⁴

तिलक टोपन की हरकतों से परेशान होकर भाभी से स्वयं में और टोपन में किसी एक को चुनने को कहता है। तिलक की बात से नाराज भाभी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करती है—“भाभी की आवाज मेरा पीछा करती रही, “टोपन से कैसे नाता तोड़ दूँ, उसने मेरे बड़े बेटे का किरदार निभाया है। उसी के रहते यह घर चल सका है।”⁵

भाभी का किसी अजनबी पर जरूरत से ज्यादा विश्वास करने व तिलक की किसी भी बात का विश्वास न करने से तिलक के मन में जो विचार दमित हैं वे इस प्रकार व्यक्त होते हैं—“घर वह जगह है

जहाँ आप दूसरे इन्सानों से रिश्तेदारी के रस्से से बँधे होते हैं। हर कोई आपके अपनी निगाहों से देख रहा होता है और आपसे यह कह रहा होता है मुझे अपनी नहीं, मेरी निगाहों से देखो। × × × × × × × यो खून के रिश्ते पर मुटाती खुदगर्जी घर-घर में छोटे-छोटे नरक बसा देती है।”⁶

पारिवारिक विघटन में आर्थिक विपन्नता भी ऐसी परिस्थिति है जिससे परिवार में आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से तनाव उत्पन्न हो जाता है। सब एक-दूसरे का सम्मान करना भूल जाते हैं, उनके मन में सिर्फ स्वार्थ की भावना घर कर जाती है।

जोशी जी के ‘कौन हूँ मैं’ उपन्यास में भी पारिवारिक विघटन दिखाया गया है जो कथा के नायक रोमेन्द्र मेजोकुमार की मृत्यु से शुरू होता है। उपन्यास की नायिका विभावती पति रोमेन्द्र की अकाल मृत्यु के बाद द्वन्द्वात्मक स्थिति में फँसी है। ससुराल में अब उसका कोई सहारा नहीं है और मायके में जाने से भाई और भाभी के बीच तनाव बना हुआ है।

विभावती स्वयं को भाई-भाभी के परिवार में होने वाले कलह का कारण मानती है। वह इस प्रकार अभिव्यक्त करती है—“मेरे पति की अकाल मृत्यु के बाद पहले ससुराल में भयंकर कलह मची और जब मैं अपने को माँ की सच्ची अनुगामिनी सिद्ध करते हुए मायके लौट आई तो वहाँ दादा और बोरुदी की कलह जोर पकड़ने लगी।”⁷

विभावती का भाई उससे इतना लगाव करता था कि उसके विधवा हो जाने पर उसे अपने घर ले आता है और उसके लाड़-प्यार के चक्कर में अपनी नवविवाहिता पत्नी को भी भूल जाता है जो विभावती की भाभी को तनिक भी नहीं सुहाता। यहीं उनके परिवार में तनाव का कारण बन जाता है—“दादा विवाह करने के बाद मेरे दाम्पत्य जीवन को मधुर बनाने के प्रयासों में इतने लीन हो गए थे कि अपनी नवविवाहिता पत्नी की उपेक्षा कर बैठे थे। बोरुदी की यह धारणा बन गयी थी कि दादा ने रुग्णा माँ के आग्रह पर विवाह कर लिया है तो मात्र माँ की सेवा करने वाली बहू लाने के लिए × × × ×

हम भाई-बहन की इतनी घनिष्टता उन्हें आरम्भ से अखरती रही थी और जब मेरे विधवा हो जाने पर दादा मेरे निकट रह सकने के लिए कलकत्ता में अपनी जमी-जमाई गृहस्थी उखाड़कर सपरिवार ढाका आ बसे तो वह मुझसे और भी रूष्ट हो गयी।”⁸

इस प्रकार ‘कौन हूँ मैं’ उपन्यास में एक पति का अपनी पत्नी को पर्याप्त सम्मान व समय न दे पाना पारिवारिक कलह का कारण बना है। मनोहरश्याम जोशी जी ने उपन्यासों में तो पारिवारिक विघटन को स्पष्ट किया ही है साथ ही कहानियों में भी परिवार सम्बन्धी तनाव को दिखाया गया है।

लेखक ने अपनी प्रसिद्ध कहानी ‘सिल्वर-वेडिंग’ में पाश्चात्य प्रभाव के कारण प्राचीन मूल्यों को तहस-नहस होते दिखाया गया। ‘सिल्वर वेडिंग’ कहानी के प्रमुख पात्र यशोधर बाबू जो प्राचीन मूल्यों, परम्पराओं में विश्वास रखते हैं, वहीं उनके आधुनिक बच्चे पारम्परिक रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं करते। इसी कारण यशोधर बाबू के परिवार में तनाव बना रहता है क्योंकि उनके विचार अपने बच्चों से नहीं मिलते। यशोधर बाबू मॉड हो चुके अपने बीवी व बच्चों के कारण पारिवारिक तनाव से इस प्रकार जूझते हैं—सारा संयुक्त परिवार बिखर गया है। पत्नी और बच्चों की धारणा है कि इस बिखरे परिवार के प्रति यशोधर जी का एकतरफा लगाव आर्थिक दृष्टि से सर्वथा मूर्खतापूर्ण है। यशोधर जी खुशी-गुमी के हर मौके पर रिश्तेदारों के यहाँ आना जरूरी समझते हैं। वह चाहते हैं कि बच्चे भी पारिवारिकता के प्रति उत्साही हों। बच्चे क्रुद्ध ही होते हैं। अभी उस दिन हद हो गयी। कमाऊ बेटे ने यह कह दिया कि आपको बुआ को भेजने के लिए पैसे मैं तो नहीं दूँगा। यशोधर बाबू को कहना पड़ा कि अभी तुम्हारे बब्बा की इतनी साख है कि सौ रुपया उधार ले सकें।”⁹

इस कहानी में लेखक ने परस्पर सहयोग की भावना का धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी में समाप्त होना दिखाया है, वहीं आर्थिक कमजोरी को भी पारिवारिक विघटन का कारण बताया है।

जोशी जी की ‘जिन्दगी के चौराहे पर’ कहानी पारिवारिक टूटन को स्पष्ट रूप से दर्शाती है। इस कहानी का मुख्य पात्र महेश जो घर से दूर रहता है। शहर में मात्र वह रोजगार की तलाश में ही नहीं आया बल्कि परिवार के तनाव से परेशान होकर आया है। वह कभी-कभी घर जाने की सोचता है मगर

फिर से उसे वह पारिवारिक दंश झेलना पड़ेगा—“नहीं, वह गलत सोच रहा था, वह घर नहीं जा सकता। घर की कड़ियाँ टूट रही हैं। वह उस टूटन को नहीं देखना चाहता, वह नहीं देख सकता उन चटखटी कड़ियों को।”¹⁰

वह पाश्चात्य जीवन शैली का विरोध करता है। महेश के विचार से घर एक भावना है जो टूट रही है—“हाँ, घर एक भावना है—मगर वह भावना टूट रही है, घर टूट रहा है। वहाँ कोई किसी को नहीं समझ पाता। नयी चीजें तो जैसे उनके लिए ज़हर हैं। जलती हुई रस्सी को ऐंठ देने से दर्द होता है, झुंझलाहट होती है।”¹¹

इस प्रकार कहानी के माध्यम से लेखक ने अति आधुनिक समाज में जो विसंगतियाँ उपजी हैं उनको अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी दृष्टि में यहीं आज के समाज की सच्चाई है।

अन्ततः मनोहरश्याम जोशी जी एक ऐसे लेखक हैं। जिन्होंने समाज में उठ रही तमाम विसंगतियों को अपनी लेखनी से कलमबद्ध किया है और पाठकों के समक्ष चुनौती के रूप में पेश किया है। उत्तर आधुनिक युग में पारिवारिक विघटन एक ऐसी समस्या है जिसमें घर जैसा पवित्र मंदिर न जाने कितनी विसंगतियों का शिकार होता है।

लेखक के अनुसार—“घर एक भावना है। घर एक अदृश्य हल्का सा बन्धन है। एक सूत्र जिसमें कितने ही प्राण बँध जाते हैं, मिल जाते हैं।”¹² यही एक सूत्र आधुनिकीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण टूट रहा है। वर्तमान समय में परिवार में परस्पर सहयोग, सम्मान की भावना, नैतिक व चारित्रिक मूल्यों को संजोकर रखना इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि इनके बिना एक संयुक्त व आदर्श परिवार की कल्पना करना असम्भव है। लेखक की दृष्टि में पाश्चात्य जीवन शैली का इस कदर पीछा करना और अपने पारम्परिक मूल्यों को ही भूल जाना आधुनिक समाज का आइना बनता जा रहा है।

I UnHk §

1. मनोहरश्याम जोशी, कसप, पृ0-219, राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली
2. वही, पृ0-222
3. मनोहरश्याम जोशी, ट-टा प्रोफेसर, पृ0-67, राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली
4. मनोहरश्याम जोशी, हमज़ाद, पृ0-63-64, किताबघर प्रकाशन 4855-56/24, अन्सारी रोड़ दरियागंज नई दिल्ली
5. वही, पृ0-69
6. वही, पृ0-68
7. मनोहरश्याम जोशी, कौन हूँ मैं, पृ0-71, वाणी प्रकाशन 4695,21-ए दरियागंज नई दिल्ली-110002
8. वही, पृ0-71
9. मनोहरश्याम जोशी, मनोहरश्याम जोशी की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0-33, प्रथम संस्करण, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
10. वही, पृ0-105
11. वही, पृ0-106
12. वही, पृ0-104



ukxkt|u dh dgkfu; 'e f'kYixr of'k"V;

fo'oekfy*

प्रेमचंद के बाद की हिन्दी कहानी कथ्य और शिल्प-प्रयोग की दृष्टि से नवीनता लिए हुए है, लेकिन आजादी के बाद की हिन्दी कहानी विशेष रूप से नई कहानी ने सर्वप्रथम कथानक के परंपरागत ढाँचे को विशृंखलित कर दिया और शिल्प की दृष्टि से कई नए प्रयोग किए। कथ्य, विचार, संवेदना तथा शिल्प की दृष्टि से नई कहानी में नवीनता दृष्टिगोचर होती है। कहानी में कथानक के स्थान पर संवेदना की केंद्रीयता मिली और कहानी के अनिवार्य तत्व कथा को बाहर करने की कोशिशों की जाने लगीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि कहानी एक प्रसंग या संस्मरण मात्र बनकर रह गई, किन्तु कुछेक कहानीकार ऐसे भी थे जो सामाजिक अंतर्विरोधों को गहराई से पकड़ रहे थे और अपनी कहानियों में उन सामाजिक अंतर्विरोधों को प्रस्तुत कर रहे थे। प्रगतिशील चेतना संपन्न कथाकार नागार्जुन कविता और उपन्यास की भाँति कहानियों में समाज का व्यापक चित्रण नहीं कर सके हैं और न ही व्यापक स्तर पर सामाजिक विषमताओं—अंतर्विरोधों को ही अपनी कहानियों में अभिव्यक्त कर सके हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में मात्र जीवनाधारित प्रसंगों और स्थितियों को ही स्थान दिया है। उनकी कहानियों में केंद्रीय संवेदना का अभाव है जिसके फलस्वरूप वे पाठक पर व्यापक प्रभाव डालने में अक्षम सिद्ध हुई हैं। पर यह सही है कि नागार्जुन शिल्प के प्रति सचेत हैं और उनकी कहानियाँ शिल्प के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उनमें कथावस्तु नाम मात्र को ही है। अधिकांश कहानियाँ एक-एक जीवन प्रसंग को लेकर लिखी गई हैं, जब महत्वपूर्ण कथावस्तु ही कहानियों में नहीं रहेगी तो मात्र शिल्प-प्रयोग के द्वारा कहानी को प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता। शिल्प की दृष्टि से नागार्जुन की कहानी नई कहानी की सहवर्ती ठहरती है।

dFkkoLr| dh ; 't uk ॥ कथावस्तु कहानी का मुख्य तत्व है। इसी के ऊपर कहानी का संपूर्ण शिल्प खड़ा होता है। कहानी की विषयवस्तु के आधार पर ही कथानक की योजना की जाती है। यद्यपि, नागार्जुन एक सशक्त प्रगतिशील कवि और कथाकार रहे हैं, किन्तु व्यापक-स्तर पर सामाजिक अंतर्विरोध और विषमताएँ नहीं होने से कथावस्तु की दृष्टि से इनकी कहानियाँ कमजोर और साधारण हैं। समाज में हो रहे बदलाव और उनमें अंतर्निहित अंतर्विरोधों को व्यापकता और गहराई से वे नहीं दिखा पाए हैं। कुछ कहानियाँ सामाजिक समस्याओं का स्पर्श करके रह जाती हैं। न तो उनकी यथार्थ दृष्टि गहराई से पकड़ पाती हैं और न ही सही ढंग से उन सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत कर पाती हैं। कथावस्तु की योजना में नागार्जुन ने अपनी कहानियों में मात्र कुछ प्रसंगों को ही आधार बनाया है। नागार्जुन की पहली कहानी 'असमर्थ दाता' है, जिसकी केंद्रीय समस्या भिक्षावृत्ति की समस्या है। इसके कथानक में तीन स्थितियाँ हैं— पहली स्थिति में भीख माँगने वाली लड़की की स्थिति, दूसरी में उसकी माँ की स्थिति और तीसरी और अंतिम स्थिति में स्वयं कथाकार की स्थिति से परिचय करा दिया गया है। इन तीन स्थितियों के आधार पर कथाकार का ढाँचा खड़ा किया गया है। कथानक का प्रारंभ एक मैली-कुचैली नौ-दस साल की लड़की की आवाज से होता है— "बाबूजी, बाबूजी!" कथाकार जब पीछे मुड़कर देखता है तो पाता है कि वह लड़की उनके कुर्ते का पल्ला पकड़कर गिड़गिड़ा रही है— "बाबूजी एक पैसा! मेरी माँ अंधी....." यही वाक्य कथा का आधार निर्मित करता है। लेखक पहले तो पिंड छुड़ाने का बहाना ढूँढ़ता है किन्तु उनमें इतना साहस नहीं हुआ कि झकझोर कर आगे बढ़ जाए। कथाकार की यह भावुकता कथानक के आगे विकास में सहायता करती है। वह लड़की को पैसा देने की सोचता है, किन्तु जब पानवाला खुल्ले पैसे देने से मना करता है उसी समय माँगने वाली कुछ और लड़कियाँ एकत्र हो जाती हैं। यहाँ कथाकार अपने मनोविज्ञान का उपयोग करता है। वह लड़की

अपनी पाँच-सात सहचर-सहचरियों को देखकर- “अच्छा बाबूजी, फिर सही”² कहती हुई आगे बढ़ जाती है। वह यह जानती है कि इस समय उसे कुछ नहीं मिलने वाला है। लड़की पुनः लौटकर आती है। कथाकार उसे डाँटता है तो हाथ जोड़ देती है। उसकी कातर आँखें गीली-सी हो आती हैं। वह याचना भरे स्वर में कहती है- “मेरी माँ परसों से बीमार है, दुहाई बाबूजी की, एक पैसा सिर्फ एक पैसा।”³ इस प्रकार मानवीय गुणों से संपन्न कथाकार का हृदय पिघल जाता है और इकट्ठी उसके हाथ में रख देता है और “ले आइंदा तंग मत करना, मैं तो खुद गरीब हूँ” कहकर चल पड़ता है। इतना तो ठीक है कि विपत्ति में गरीब-गरीब की सहायता करता है। मगर कथाकार महोदय तो उससे भी आगे बढ़ गए हैं और उसके पीछे-पीछे उसकी झोंपड़ी में पहुँचते हैं। इन लोगों के जीवन का अनुभव करने ताकि उपन्यास के लिए एक कथा मिल सके- “बिना गाढ़ परिचय के ही, किसी के अंतःस्थल की झाँकी लेने के लिए उत्सुक हो जाना अनधिकार चेष्टा है, किंतु उस बेहयाई की याद अब मेरे रोंगटे खड़े कर देती है। भावुकता के प्रवाह में आत्मविस्मृत होकर उस अनाथ से कितनी दूर तक कौन-कौन सवाल करता रहा- और उसके अपने ‘असत्य अनाथ से कितनी हद तक बतलाए- जाने दीजिए, उनसे तो एक महान् उपन्यास की रचना हो सकती है।” लड़की की माँ की उस स्थिति को देखकर कथाकार स्वयं रो उठता है और रुमाल से अश्रुधारा पोंछता हुआ रुमाल में बँधी सारी पूँजी- एक रुपया चार आने उस लड़की के हाथ में रखकर बाहर निकल आता है। कथाकार आत्ममग्न करते हुए इस प्रकार की सहानुभूति जताने पर अपने आपको महान समझता है और अंत में अपनी स्थिति बयान करते हुए कहता है-

“और मैं! कर ही क्या सकता था मेरे पास है ही क्या?.....फटी हुई धोती, मसका हुआ कुर्ता..... और जब में? जब में यदि कुछ है तो वह यही है कि एक लब्धप्रतिष्ठ संपादक का धन्यवाद-पत्र, तीन पैसे की नोट-बुक, सादे कागज के कुछ टुकड़े.....! इसके अलावा.....?”⁴ भिक्षावृत्ति की समस्या मुख्य रूप से आर्थिक समस्या है। परंतु नागार्जुन इस प्रकार की कथावस्तु निर्मित नहीं कर पाए जिससे इसके आर्थिक पक्षों को उद्घाटित किया जा सके। इस कहानी में भिक्षावृत्ति जैसे इन लोगों की नियति बन गई है तभी तो लड़की की भिखारिन माँ के मुँह से ये शब्द निकलते हैं- “अभी तक तो इसने भीख माँगना भी नहीं सीखा है।”⁵ स्पष्ट है कि वह भिखारिन है और बीमार होने के कारण अपनी लड़की को भीख माँगने भेज दिया है। ऐसे लोगों को थोड़े से पैसे देकर समस्या समाधान करना केवल भावुकता है। “जिन लोगों की भीख माँगना प्रवृत्ति बन गई है उनको एकाध पैसा या रुपया देकर इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। यही कोरी भावुकता ही होगी। कहानी भावुकता की नहीं, बौद्धिकता की माँग करती है, संवेदनशील होने की माँग करती है, तभी कहानी मार्मिक और प्रभावशाली होती है, जब सामाजिक अंतर्विरोधी की पकड़ गहरी हो।”⁶

‘भूख मर गई थी’ कहानी की कथावस्तु में भी भिक्षावृत्ति की समस्या को आधार बनाया गया है। एक ओर जहाँ ‘असमर्थता दाता’ ने कहानी में भिक्षावृत्ति को एक प्रवृत्ति के रूप में दर्शाया है, वहीं ‘भूख मर गई थी’ में इसे तात्कालिक अनिवार्यता के रूप में प्रदर्शित किया। कथा का आरंभ कौतूहल से होता है- “इर्द-गिर्द भीड़ जमा हो आई थी।”⁷ चाय की दुकान के पास एक अर्द्धनग्न बूढ़ा बेहोश लेटा पड़ा है। बिल्कुल भिखारी लगता है। चारों ओर भीड़ जमा हो रही है। इसी घटना से कथानक का निर्माण हुआ है। उस बूढ़े की सेवा कर रहा धोती कुर्ता वाला व्यक्ति भी था तो रॉची के किसी कॉलेज का प्रिंसिपल किन्तु घर से गायब हो जाता था। ऐसा व्यक्ति उस बूढ़े की सहायता कर रहा है। बूढ़ा भिखारी नहीं है। उसकी भी एक कहानी है। वह स्वयं बताता है कि उसके पास दस बीघा खेत है, लेकिन इन 10-15 वर्षों में खेत बिकते गए हैं। उसका एक बेटा था पुलिस विभाग में। डाकुओं की मुठभेड़ में वह मारा गया। मजबूरियों में जमीन बेच-बेचकर खाते रहे और अंत में हालात यहाँ तक पहुँच गयी कि बेटे की बहू को पापाचार में ढकेलना पड़ा। बूढ़ा बताता है कि “बहू के बारे में क्या बताऊँ बाबूजी! मैंने ही उसे कुकर्म के लिए प्रेरित किया। हाँ, मैंने जान-बूझकर पड़ोस के एक युवक से उसका सम्पर्क बढ़ने दिया। बुभुक्षित: किं न करोति पापं! चार-चार पेटों में भट्टी सुलग रही थी। पड़ोसी युवक जमशेदपुर से पंद्रह दिनों की छुट्टी में गाँव आया था।...हमारी पुत्र-वधू और उसमें देवर-भाभी का रिश्ता तो था ही। मगर इस महँगाई और अकाल ने रिश्ते में गाढ़ा रंग घोल दिया। बेचारी अपनी इज्जत का सौदा करती रही, चार-चार मुँह के हवन-कुंड में जैसे-तैसे अनाज की समिधा डालती रही।”⁸ इस प्रकार कहानी आगे बढ़ती जाती है। होटल का असिस्टेंट मैनेजर नित्या मिसिर

अचानक बीच में आ जाता है और धोती कुर्ता वाले व्यक्ति के बारे में अटकलें लगाने लगता है। बूढ़ा दही-भात खाने को बेंच पर बैठता है और अंत में इन पंक्तियों के साथ कहानी समाप्त हो जाती है—

^Mvk[k ue FkĖA

pgjk Ōkjĥ FkĥA

cpkjĥ dh Ō[k ej xbi FkĥA**10

कहानी की कथावस्तु से स्पष्ट है कि इस बूढ़े व्यक्ति को भिखारी की हालत में पहुँचाने में उसकी आर्थिक परिस्थितियाँ ही प्रमुख कारण रही हैं। वह भीख नहीं माँग रहा है, बल्कि कुछ लोग सहानुभूतिपूर्वक उसकी सहायता कर रहे हैं— खाने-पीने की वस्तुएँ उपलब्ध करा रहे हैं। भीख माँगना उसकी प्रवृत्ति नहीं है। इस दृष्टि से यह कहानी पाठक पर मार्मिक प्रभाव डालती है और बूढ़े व्यक्ति के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करती है। यहाँ नागार्जुन ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है और कोरी भावुकता से अपने को बचाए रखा है।

नागार्जुन ने 'जेठा' और 'ममता' कहानी की कथावस्तु में मातृहीन बच्चों को विषय बनाया है। नागार्जुन स्वयं मातृहीन रहे हैं। बचपन में उनकी माँ की मृत्यु हो गयी थी और चाची के स्नेह से पले-बढ़े। अपने जीवनानुभवों के आधार पर कुछ प्रसंगों को लेकर नागार्जुन ने 'जेठा' और 'ममता' जैसी मातृविहीन बच्चों पर कहानियाँ लिखीं।

'जेठा' कहानी में कथाकार हैदराबाद (सिंध) में पंडित उदयभान के यहाँ ठहरता है। वह जेठानन्द को देखता है। यहीं से कथानक का विकास आरम्भ होता है। जेठानन्द अपने मौसा-मौसी के पास रहता है। चार साल का था तो बाप मर गया था वह मैट्रिक का विद्यार्थी है किंतु बहुत लापरवाह भी। सिनेमा का बेहद शौकीन है। पढ़ने में उसका मन नहीं लगता। उसकी माँ ने उसका जीवन बर्बाद कर दिया। उसने किसी एक बनिया को दूसरा पति बना लिया। इसलिए जेठा ने उसका परित्याग कर दिया। जेठा बताता है— "मेरे जीवन को धूल में मिला गई। राक्षसी..... चुड़ैल कहीं की....."¹¹ समाज उसकी मनःस्थिति को नहीं समझता है कि वह आखिर ऐसा व्यवहार क्यों करता है। क्यों नहीं पढ़ता है? यह तो वही जान सकता है जिसने मातृहीन के दुख को समझा हो। नागार्जुन ऐसे मातृहीन बच्चे के मनोविज्ञान को जानते हैं। जेठा स्वयं बताता है— "पिछले पंद्रह वर्षों का मेरा जीवन अपमान और लांछना, ग्लानि और विषाद का ही जीवन रहा। पता नहीं मैंने आत्महत्या क्यों नहीं कर ली! पागल क्यों नहीं हो गया! कड़वी वेदनाओं की मीठी मुस्कान के गुलाबी आवरण से ढाँकना न जाने कब किसने मुझे सिखला दिया! लोग समझते हैं— बड़ा विनोदी स्वभाव का है! सदाबहार! अंदर धू-धूकर के जो आग जल रही है, ओह, किसी को इसका भी पता होता।"¹² समाज पर करारी चोट की गई है। अपनी माँ के कुकर्म के कारण समाज में अपमान और ग्लानि का जीवन व्यतीत करने वाले लड़के को अपनी उस 'कुलटा' माँ के मरने का दुख नहीं होता। क्योंकि वह अपने लड़के की प्रगति के तमाम रास्तों को अब तक रोके बैठी थी। वह उसे माफ नहीं कर सकता— "अब तो उसके लिए क्षमा दंड सब बराबर है।..... अंत की घड़ी तक मुझे देखने को तरसती रह गई। उधर भी छः साल का लड़का है उसका। और इस बार भी गर्भ था, प्रसव के ही दर्द से मरी है।"¹³ इतना कहकर वह गंभीरता में डूब जाता है और उसके स्वर में नरमी आ जाती है, इन सबके बावजूद भी मनुष्य अमानवीय नहीं हो जाता है। मानवीयता मर नहीं जाती है। अंत में जेठा को पुनः हँसाता-खिलखिलाता हुआ दिखाया जाता है। जिजीविषा ही उसे जिंदा रखती है..... देखिए कैसे मुस्करा रहा है।"¹⁴

'विशाखा मृगारमाता' कहानी की कथावस्तु ऐतिहासिक घटना से ग्रहण की गयी है। कहानी साधारण ही है। बुद्धकालीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का हल्का-सा परिचय देती है। बुद्ध धर्म राज्याश्रय प्राप्त करके ही फैला है, यह निर्विवाद सत्य है। बुद्ध के समय राजशक्ति वणिक शक्ति पर निर्भर रही है। आज भी यह बात उतना ही सही है जितना उस समय था। "वेश्यावर्ग अपना हाथ पीछे खींच ले, तो तक्षशिला उजड़ जाए, वहाँ सियार भूकने लगें....."¹⁵

कहानी की नायिका विशाखा अपने जीवन की पुरानी घटना याद करती है और कथानक का विकास यहीं से शुरू हो जाता है— "अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है, वह है भागवत तथागत की अगवानी।"¹⁶ विशाखा बुद्ध से प्रभावित होती है। एक बुद्ध और कुछ भिक्षुओं को उसके ससुर ने भिक्षा नहीं दी तो वह अपने ससुर मृगार सेठ से कहती है— "भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत अनुरक्त कुल की मैं लड़की

ठहरी, हम तथागत के भिक्षु-संघ की सेवा-सुश्रूषा करने पाऊँ तो रहूँगी।¹⁷ मृगार सेठ यह शर्त ही नहीं मान लेता अपितु स्वयं बुद्ध की शरण में चला जाता है और विशाखा को अपनी माता भी मान लेता है। कहानी का नामकरण इसीलिए किया गया है। 'विशाख मृगारमाता'। विशाखा को बुद्ध की शरण में ही शांति मिलती है। वह बुद्ध और भिक्षु-संघ की सेवा करना ही अपना कर्तव्य समझती है और सभी तरह से उनकी सहायता करती है। "बीमार और उनके परिचायक भिक्षुओं के लिए अन्न-पेय, दवा-दारु या उपयोगी वस्तुओं की जिम्मेदारी भी मैंने ली। भिक्षुणियों के लिए भी अतिरिक्त साड़ियों का मैंने इंतजाम करवाया।"¹⁸ इस प्रकार का प्रभाव राजा-प्रजा दोनों पर व्यापक-स्तर पर पड़ता है, परंतु राजसत्ता का आश्रय पाकर ही वह संसार-भर में फला-फूला है। यही इस कहानी के कथानक का आधार है।

नागार्जुन एक ओर जहाँ 'विशाखा मृगारमाता' कहानी में लोगों की कोई सामाजिक-आर्थिक समस्या नहीं उठा पाए हैं वहीं दूसरी ऐतिहासिक कहानी 'हर्ष-चरित की पॉकेट एडीशन' में यह विश्वव्यापी संदेश देने में सफल हो गए हैं। इस कहानी में कथानक का आधार हर्षवर्धन के शासनकाल को बनाया है। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री अपने पति की मृत्यु के बाद राजकुमारी नहीं रह गई थी। उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। उसका आंतरिक-बाह्य चरित बदल गया था।¹⁹ राज्यश्री बुद्ध के सत्य-अहिंसा के विश्वव्यापी संदेश का प्रचार करती है। वह नहीं चाहती है कि उसके भाई हर्षवर्धन हिंसा करें और निर्दोष-निरपराध लोगों की हत्या करें। इसलिए वह अपने भाई के साथ रहती है- "यदि मैं साथ नहीं रहूँगी तो महाराज प्रतिहिंसा के मारे न केवल शत्रुओं और उनकी सेनाओं को ही बल्कि छोटे-बड़े बीसों जनपदों को खाक में मिला देंगे, निर्दोष-निरपराध जनता के खून से भूमि पंकिल हो जाएगी, अनाथ औरतों और बे-पनाह बच्चों की चीजें शून्य अंतरिक्ष को इस कदर आलोड़ित कर डालेंगी कि ग्रहमंडल गतिहीन होकर नीचे आ पड़ेंगे। आर्य, मैं अपने भाई के हाथों यह सब नहीं होने दूँगी। कभी नहीं, कभी नहीं!!"²⁰ बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद हिंसा नहीं, करुणा और मैत्री की आवश्यकता है। बौद्ध धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए राज्यश्री कहती है- "भूमि और वर्ण के भेदों की दीवार तोड़कर, बाहरी परिधियों को छिन्न-भिन्न करके प्राणों को विश्व चेतना से मिलाते हैं। संकीर्णताओं से मुक्त नेह-छोह एक ऐसा जादू है जिससे सृष्टि की जटिलता सरलता में बदल जाती है। व्यक्ति या समूह के प्रति अनायास उमड़ने वाला यह स्नेह ही महाकरुणा का बीज हुआ करता है बहन!"²¹ हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया है। वह हिंसा नहीं शांति चाहता है। इसलिए वह अपनी बहन राज्यश्री से कहता है- "मुझे राजाओं से घृणा है, राजा के रूप में तो मुझे अपने आप से घृणा है। साम्राज्य की तुच्छता प्रमाणित करने के लिए ही मैंने कन्नौज की मातहत की कबूल की।.....एक विधवा राजकुमारी का साम्राज्ञी पद पर अभिषेक करवाया है।.....फिर भी दृष्टि राजाओं को मेरी नीयत पर यकीन नहीं आता।"²² शांतिप्रिय हर्षवर्धन को मारने का षड्यंत्र उससे प्राप्त शशांक कर रहा है। गुप्तचरों से मालूम हुआ कि 'दो विष वैद्यों को भिक्षु की भूमिका में शशांक ने रवाना किया है। उन्हें काशी और प्रयाग के बीच गंगा के किनारे हमारे सैनिकों ने पकड़ लिया।'²³ हर्षवर्धन के विश्वासपात्र बाल सखा भंडि ने यह सूचना दी है। यह सूचना पाकर कि शशांक उनकी हत्या का षड्यंत्र रच रहा है, शांतिप्रिय हर्षवर्धन अपने राज्य और जनता की सुरक्षा के लिए युद्ध की तैयारी करने का आदेश देते हैं कि "अब शशांक के विषदंत तोड़कर हम दम लेंगे। अपनी इस बहन का माथा छूकर शपथ लेता हूँ कि गौड़ाधिप शशांक के राजनीतिक जीवन का अंत करके लौटूँगा। कूच की तैयारी करो मित्र!"²⁴ इस प्रकार शांतिप्रिय और समूची मानवता की कल्याणकारी भावना का प्रतीक हर्षवर्धन अपनी प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार कहानी का अंत होता है। इसमें नागार्जुन यह संदेश दे पाने में सफल हो पाए हैं कि शांति के साथ-साथ यदि आवश्यक हो तो युद्ध भी करना चाहिए। नागार्जुन इस ऐतिहासिक कथा को समकालीन संदर्भों से जोड़ देते हैं, यही इस कहानी की उपलब्धि और सार्थकता है।

f'KYi&fo/k ,o pfj= l?kVuk ॥ नागार्जुन ने वर्णनात्मक शिल्प-विधि एवं आत्मकथात्मक शिल्प-विधि दोनों का समुचित प्रयोग अपनी कहानियों में किया है। अधिकांश कहानियों में उन्होंने परंपरागत वर्णनात्मक शिल्प-विधि को ही अपनाया है और उसमें कई प्रयोग किए हैं। एकाध कहानी में उन्होंने नाटकीय शिल्प-विधि को भी अपनाया है।

vkRedFkkRed f'KYi&fof/k ॥ इस शिल्प-विधि के अंतर्गत 'असमर्थदाता', 'ताप-हारिणि', 'जेठा' तथा 'विशाख मृगारमाता' नामक कहानियाँ आती हैं। पहली कहानी 'असमर्थदाता' को लिया जा सकता है जिसमें

आत्मकथात्मक शिल्प-विधि का सफल प्रयोग हुआ। उत्तम पुरुष शैली में कथा कही गई है। कथानायक के पीछे पड़ गई है— 'मैं उसे डॉक्टर भगाना चाहता है परंतु उसकी दयनीय स्थिति को देखकर उसे सहानुभूति होता है, जबकि दोनों की स्थिति में कोई मौलिक अंतर नहीं है। कथाकार ने आरंभ में ही उस लड़की की स्थिति का चित्रण किया है कि 'एक नौ-दस साल की मैली-कुचैली लड़की मेरे कुर्ते का पिछला पल्ला पकड़ कर गिड़गिड़ा रही थी— बाबूजी एक पैसा! मेरी माँ अंधी.....' वह कहती जा रही थी और मैं उससे पिंड छुड़ाने के लिए कुछ बहाना—सा ढूँढ़ रहा था।'²⁵ कहानी के अंत में कहानीकार ने अपनी स्थिति का वास्तविक चित्रण किया है— 'मेरे पास में है ही क्या? दुर्भाग्य से कपड़े पुराने होते हुए भी साफ है— फटी हुई धोती, मसका हुआ कुर्ता, मटमैली टोपी और नंगे पैर, यही है मेरी हुलिया! और जेब में? जेब में यदि कुछ है तो.....सादे कागज के कुछ टुकड़े और काम चलाऊ जापानी पेंसिल। इसके अलावा.....'²⁶

'ताप-हारिणी' कहानी भी आत्मकथात्मक शिल्प-विधि में है। इसमें भी कथानायक 'मैं' है जिसके दृष्टि-बिंदु से कथा प्रस्तुत की गई है। यहाँ पर मात्र एक प्रसंग को कथा का आधार बनाया गया है। कथानायक अपनी पत्नी के साथ गंगाघाट पर मर्दों की जगह स्नान कर रहा है और वहाँ स्नान करने वाले अन्य व्यक्ति फटी आँखों से यह सब देख रहे हैं। उस समय कथानायक को यही लगा कि—

"इतने आदमियों के बीच एक तरुणी के आ जाने से सभी की मनसा चंचल हो उठी है। कोई कनखी से तो कोई सीधे ही, सभी उस कल्याणी के अर्द्धनग्न अवयवों की ओर, जो कभी जौवी के श्यामल-नील-सलिल में से झलक उठते थे, टकटकी लगाए हुए थे। तर्पण करने वाले उस श्रद्धालु कुलपुत्र ने इस संभ्रम में पड़कर दुबारा तर्पण आरंभ कर दिया।"²⁷

'मैं' की दृष्टि से यह कहानी प्रस्तुत करके लेखक ने अपनी और अन्य अनाम पाषों की स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने का प्रयास किया है। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से यह कहानी एकदम साधारण है। 'मैं' के दृष्टि-बिंदु से कथा प्रस्तुत करके कथाकार 'मैं' का आत्मचित्रण-विश्लेषण नहीं प्रस्तुत करता है, अपितु कथा के मुख्य पात्र की कथा कहता है। कहानी के आरंभ में ही मुख्य जेटानंद का परिचय इस प्रकार दिया गया है— 'वह चित्रित है, अद्भुत है। आप उसे पहचानना चाहेंगे हाँ? आइए मेरे साथ। शाम का ही तो वक्त है.....वह रहा, लीजिए वह जेटा। उसका मकान बड़ा बाजार से चार ही कदम पर तो है.....मुहल्ले का नाम मैं भूल रहा हूँ, माफ करें।'²⁸ यहाँ कथाकार सीधा संबोधनविधि अपनाता है और पाठकों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ता है। जेटा का चरित्र-चित्रण इस प्रकार करता है—

"लंबा कद हँसमुख चेहरा और बड़ी-बड़ी आँखें—सूरत जरा सी साँवली, शक्ल सुडौल.....उसे एक बार गौर से देख आइए। मुस्कराने की कला सीखने हो तो कोई उससे सीखे।"²⁹ इस उदाहरण से ऐसा लगता है जैसे कथाकार ने वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अपनाया हो उसी ढंग से उसका चरित्र-चित्रण किया गया है। कारण यही है कि कहानीकार अपनी आत्मकथा नहीं बल्कि जेटा की आत्मकथा उसी के द्वारा प्रस्तुत करवा रहा है। जैसे जेटानंद 'मैं' को बताता है कि "मेरी माँ मरी नहीं पंडित जी, वह जीती है..... एक बनिया को उसने दूसरा पति बना लिया है..... पिछले पंद्रह वर्षों का मेरा जीवन अपमान और लाँछना, ग्लानि और विषाद का ही जीवन रहा।..... हाँ मैं मुस्कुराता हूँ। हँसता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सारी दुनिया रोए और मैं ठठाकर हसूँ।"³⁰ फिर भी यह कहानी आत्मकथात्मक शिल्प-विधि में लिखी गई कहानी कहलाएगी।

वास्तविक अर्थों में 'विशाख मृगारमाता' ही आत्मकथात्मक शिल्प-विधि में लिखी गई है। कहानी के पहले वाक्य— "अपने जीवन की पहली घटना मुझे याद है, वह भगवान् तथागत की अगवानी" से ही विशाखा अपनी आत्मकथा प्रस्तुत करती चलती है— बचपन से लेकर बुद्ध और भिक्षु-संघ की सेवा उनके लिए मठ निर्माण तक। मैं छः या सात साल की थी। एक दिन दादा ने मुझसे कहा— "भद्रे, सबका भला चाहने वाले शाक्यसिंह गौतम बुद्ध आज हमारे नगर में पधार रहे हैं। अपनी सहेलियों के साथ जाओ तुम भी भगवान् शिव का स्वागत करो। फिर कहाँ मिलेगा ऐसा अवसर?"³¹ फिर वह अपने दादा के विषय में बताती है। अपनी शादी का सविस्तर वर्णन और अपने ससुर जेट मृगार को बुद्ध की शरण में लाती है और इस प्रकार 'विशाखा मृगारमाता' कहलाती है। आत्मकथात्मक शिल्प-विधि का संपूर्ण कहानी में सही निर्वाह किया गया है।

o.kukRed f'kYi&fof/k ॥ आत्मकथात्मक शिल्प-विधि के बजाय परंपरागत शिल्प-विधि— वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अधिकांश कथाकारों ने अपनाया है। इस विधि में लेखक को पूरी छूट होती है कि वह

कथानक को कैसे भी मोड़ दो। पात्रों की बागडोर भी लेखक के हाथों में होती है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि कथानक और पात्रों का स्वाभाविक विकास नहीं होता। लेखक सर्वज्ञाता होकर भी कथानक और पात्रों के स्वाभाविक विकास में बाधा उत्पन्न नहीं करता। नागार्जुन की अधिकांश कहानियाँ इसी शिल्प-विधि में हैं। यथा— 'कायापलट', 'ममता', 'विषमज्वर', 'हर्ष-चरित की पॉकेट एडीशन', 'आसमान में चंदा तेरे', 'भूख मर गई थी' तथा 'मनोरंजन टैक्स'।

नागार्जुन की 'कायापलट' कहानी आत्मकथनात्मक और वर्णात्मक दोनों शिल्प-विधियों का मिला-जुला रूप है। इसकी शुरुआत वर्णनात्मक विधि द्वारा होती है और अंत में 'मैं' उपस्थित हो जाता है। कहानी के प्रथम चार अध्यायों में बाबू भुवनेश्वर झा के दृष्टि-बिन्दु से कथा प्रस्तुत की गई है— "माँ मर गई तो गया इंजीनियर साहेब दूसरे दिन शाम को, घर पहुँच गए। सात लड़कियाँ, तीन लड़के, दो नौकर और दो प्राणी खुद, कुल मिलाकर चौदह जन थे। छितौनी गाँव के बाभनों को यह टोला एकाएक गुलजार हो उठा।"³² कहानी के अंतिम अध्याय में बाबू भुवनेश्वर झा के लड़कों द्वारा गाँव में किए गए कायापलट की कथा प्रस्तुत की गई है— आत्मकथानात्मक शिल्प-विधि में। "इसके बाद घूम-घूमकर रमेश बाबू ने मुझे वह सब दिखलाया। गायेँ काफी तंदुरुस्त थीं।..... दो कर्घे चल रहे थे, तीन कोल्हू। सीमित के भंडार में पहुँचकर देखा तो वह एक प्रदर्शनी—सा लगा।"³³

वर्णनात्मक शिल्प-विधि की विशेषता यह भी होती है कि लेखक को पूरी छूट होती है। वह किसी भी पात्र के दृष्टि-बिंदु में परिवर्तन करता चलता है। 'ममता', ऐसी ही कहानी है जिसमें दृष्टि-बिंदु में परिवर्तन होता रहता है। यहाँ पर ध्यान रखना आवश्यक है कि लेखक मुख्य पात्रों के दृष्टि-बिंदु से ही कथा प्रस्तुत करता है और इसमें परिवर्तन भी पात्र की कथा में महत्वपूर्ण भूमिका द्वारा संपन्न होता रहता है। इस कहानी में चाची के दृष्टि-बिंदु से कहानी आरंभ होती है— "चाची ने खीझकर दो चपतें लगाई तो 'बुलो' सीधे बैठक की ओर भागा, बाहर।"³⁴ कहानी के मध्य में 'बुलो' को उपस्थित करके उसके दृष्टि-बिंदु से कथा को आगे बढ़ाया गया है। "मन ही मन 'बुलो' ने सोचा— अब भी चाची की बात में टोक नहीं देगा। जैसी माँ, वैसी ही चाची।"³⁵ कहानी का अंत पुनः चाची की दृष्टि-बिंदु से होता है। "परम सुंदरी रसोई घर के ओसारे में गाल को हथेली का टेक दिए बैठी थी। बुलो को आते देखा तो हुलसकर बोली— "सूगा कहाँ लापता हो गया था? ढाई पहर बीता! अब तक भूख नहीं लगी तुझे?"³⁶

ukVdh; v0j o.kukRed f'kYi&fof/k dk feJ.k ॥ 'हीरक जयंती' कहानी नाटकीय और वर्णनात्मक शिल्प-विधि का सुंदर उदाहरण है। इसमें दोनों शिल्प-विधियों का अच्छा उपयोग किया है। वर्णनात्मकता के साथ नाटकीय तत्त्व से नागार्जुन इसमें दुगुना प्रभाव उत्पन्न कर सके हैं। समयों में कथा को विभाजित किया गया है। प्रातः आठ बजे से लेकर अगले दिन सायं चार बजे तक कथा का विस्तार हुआ है। कहानी का आरंभ दृश्य विधान से होता है—

^lekj" g lfe fr dh ehfvxA
pkYk lMd dk j" M&lkbMA v tirk jLrjk-----
u0 dfll; ; l f?kjh gb cMh&l h x"Yk etA d,Qh d: l; kY'A
r' rjh ei iku v0j t nKA x"YM QY'd dh fVuA ekfp lA**37

इसके तुरन्त बाद नागार्जुन नाटकीय विधान पर आ जाते हैं। आगे उपर्युक्त प्रसंग को नाटकीय तरीके से गतिवान किया गया है—

"पत्रकार (उलझे बालों में उँगलियाँ फेरता हुआ साहित्यकार से)—

vkt dk [kcj n[kk g\
l kfgR; dkj %f l xjV dk /kvk N"Mdj%& YkkbV 0h n:[kh g]
nhid 0h n[kk g %vk[; QYkk nrk g% [kc Y0'k djd: Nkik g-----**38

नाटकीय शिल्प-विधि के बाद जब नागार्जुन कथानक को गति देते हैं और मुख्य नायक का जीवन-चरित प्रस्तुत करना चाहते हैं तब तुरंत वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अपनाते हैं। "शाम को आज उनकी संवर्द्धना थी, बाबू साहब नरपति नारायण सिंह माननीय माल मंत्री महानुभाव अपनी इकसठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर पुराने एलबम देख रहे थे।"³⁹ कथा के पूर्व अंशों को प्रस्तुत करने के लिए वर्णनात्मक शिल्प—

विधि ही उपयुक्त हो सकती है। यहाँ लेखक पूर्वदीप्ति (लैश-बैक) पद्धति को अपनाता है। नरपत नारायण सिंह का पूर्व जीवन सामने आ जाता है—

“छियालीस वर्ष पहले मैट्रिक पास किया था, सेकेंड डिवीजन में।..... दादा की नीयत थी, बबन जिला अदालत में मुख्तारगिरी करे। बाबूजी की इच्छा थी, कलकत्ता में रहकर बबन बी०ए० कर ले और पीछे भगवान् की मर्जी होगी तो मुंसिफ या सदराला हो जाएगा।..... मगर बबन को तो जनता के जीवन में घुल-मिलकर अपना सर्वस्व देश माता के चरणों में अर्पित कर देना पड़ा, पराधीन भारत की दुर्दशा भला बबन से बर्दाश्त होगी?”⁴⁰ इस प्रकार नागार्जुन ने कथावस्तु की माँग के अनुसार ही वर्णनात्मक, नाटकीय और पूर्वदीप्ति शिल्प-विधि का सार्थक उपयोग किया है।

Ok"kk&'@Ykh ॥ भाषा-शैली की दृष्टि से नागार्जुन की कहानियाँ सहज और सरल हैं। भाषा संरचना जटिल और दुरुह नहीं है। भाषा का सहज और सरल रूप उनकी कहानियों की प्रमुख विशेषता है। अक्सर ही नागार्जुन भाषा को व्यंग्यात्मक बना देते हैं। व्यंग्य उनके समस्त साहित्य की अमूल्य निधि है। जब सामाजिक-राजनीतिक विषमताओं को उद्घाटित किया जाता है तब नागार्जुन की भाषा व्यंग्यात्मक और तीखी हो जाती है। उनकी कहानियों में भाषा के व्यंग्यात्मक स्वरूप को आसानी से पहचाना जा सकता है। नागार्जुन पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं। ‘असमर्थ दाता’ कहानी में भीख माँगने वालों की भाषा साधारण और उनकी स्थिति के अनुकूल-आम आदमी की भाषा में। “माँ, जरा मुँह तो निकाल देख कौन खड़े हैं! लड़की ने जोर से कहा। बिना मुँह निकाले ही वह उठ बैठी—कौन है? मानो चिथड़ो का ढेर बोल उठा हो।”⁴¹ शिक्षित वर्ग की भाषा उसकी स्थिति और चरित्र के अनुकूल है। नरपति नारायण सिंह बोले— “कभी किसी परीक्षा में जो फर्स्ट या सेकेंड नहीं आई, वही अब सरकारी गर्ल्स कॉलेज में हेड ऑफ डिपार्टमेंट है। रातों-रात मैं उसे प्रिंसिपल कैसे बना दूँ?”⁴² लेकिन कहीं-कहीं परिवेश के चित्रण में भाषा संस्कृतमय हो गई है।

यथा— “जहाँ ‘मर्द’ नामधारी जीव कलिमल हारिणी, भागीरथी का निर्द्वंद्व अवगाहन कर रहे थे।..... सभी उस कल्याणी के अर्द्धनग्न अवयवों की ओर, जो कभी जौवी के श्यामल-नील सलिल में से झलक उठते थे, टकटकी लगाए हुए थे। तर्पण करने वाला उस श्रद्धालु कुलपुत्र ने इस संभ्रम में पड़कर दुबारा आरंभ कर दिया।”⁴³ निष्कर्षतः नागार्जुन शिल्प के प्रति सजग और सचेत हैं। शिल्प की दृष्टि से उनकी कहानियाँ नवीनता लिए हुए हैं। उन्होंने नए प्रयोग भी किए हैं। यही कारण है कि शिल्प प्रयोग अपने आप में इतना महत्वपूर्ण नहीं हो सकता यदि विषयवस्तु की उपेक्षा कर दी जाए। जब विषयवस्तु ही किसी सामाजिक-आर्थिक अंतर्विरोधों और समस्याओं को प्रस्तुत नहीं करती तब मात्र शिल्प की नवीनता और प्रयोग के बल पर कहानियों को उत्कृष्ट और प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता है।

I UnHk ॥

1. आसमान में चंदा तेरे— नागार्जुन, पृ० 9	15. वही, पृ० 31	30. वही, पृ० 20
2. वही	16. वही, पृ० 30	31. वही, पृ० 30
3. वही, पृ० 10	17. वही, पृ० 39	32. वही, पृ० 22
4. वही, पृ० 12	18. वही, पृ० 40-41	33. वही, पृ० 28-29
5. वही, पृ० 13	19. वही, पृ० 88	34. वही, पृ० 42
6. वही, पृ० 12	20. वही, पृ० 89	35. वही, पृ० 47
7. नागार्जुन का कथा साहित्य— तेज सिंह, पृ० 180	21. वही	36. वही, पृ० 48
8. आसमान में चंदा तेरे— नागार्जुन, पृ० 109	22. वही, पृ० 93	37. वही, पृ० 57
9. वही, पृ० 116-117	23. वही, पृ० 94	38. वही
10. वही, पृ० 119	24. वही	39. वही, पृ० 61
11. वही, पृ० 19	25. वही, पृ० 9	40. वही, पृ० 81-82
12. वही, पृ० 20	26. वही, पृ० 13	41. वही, पृ० 11
13. वही, पृ० 21	27. वही, पृ० 15	42. वही, पृ० 68
14. वही	28. वही, पृ० 17	43. वही, पृ० 15
	29. वही	



लकृगR; fo'o dY;k.k dh Hkkouk&Hkh"e lkguh d lnhk e jfo dekj*

इसमें कोई दो राय नहीं कि साहित्य विश्व कल्याण के लिए सदैव ही हितकर साबित हुआ है। सही अर्थ में अगर देखें तो साहित्य का अर्थ ही होता है हित सहित की गई रचना। अब सवाल उठ सकता है कि हित किसका? जी हाँ निश्चित रूप से व्यक्ति का, समाज का, देश का और पूरी मानवता का। साहित्य के सिलसिले में प्रेमचंद जी ने कहा है कि “साहित्य तो वह कला है जो समाज में जागृति और स्फूर्ति लाये जो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले”¹ साहित्य किसी भी समय का हो या किसी भी दौर का हो वह अपने समय की तमाम सामाजिक जड़ताओं, आडम्बरों और पुरातनपंथी सोचों आदि के खिलाफ खड़ा होकर उनके बेनकाब मनसूबों से इनसानियत को रू-ब-रू करवाकर इनसान को उसके अतीत की दशा बताते हुए वर्तमान में जीने और भविष्य को जीने लायक रहने की दिशा प्रदान करता है। यहीं से शुरू होता है साहित्य और इंसान का आपसी मेल-मिलाप जिसके आधार पर विश्व कल्याण की संभावना की जा सकती है।

साहित्यकार भीष्म साहनी हिन्दी साहित्य के जाने-माने लेखक हैं, जिनका जन्म रावलपिंडी पाकिस्तान में 1915 में हुआ था और विभाजन के बाद उन्होंने अपनी बाकी की जिंदगी भारत में बसर की। भीष्म साहनी खास कर अपने उपन्यास ‘तमस’ के कारण जाने जाते हैं जो उन्होंने भारत विभाजन पर लिखा है। आज के समय में उपन्यास ‘तमस’ विभाजन और सांप्रदायिकता पर शोध करने वाले लोगों के लिए एक अनिवार्य कृति कहलाती है पर एक प्रमाणिक कृति के रूप से यह लेखक की चेतना पर पड़े यथार्थ घावों और मर्मभेदी अनुभवों का सशक्त दस्तावेज भी है। “इसमें 1947 ई. के मार्च-अप्रैल में हुए भीषण सांप्रदायिक दंगों की पाँच दिनों की कहानी इस रूप में प्रस्तुत गई है कि हम देश विभाजन के पूर्व की सामाजिक मानसिकता और उसकी अनिवार्य परिणति की विभीषिका से पूरी तरह परिचित हो जाएँ।”²

उपन्यास ‘तमस’ में सभी धर्मों के लोगों का चित्रण हुआ है। भीष्म साहनी इसमें स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार खोखली राजनीति और साम्प्रदायिक दंगों का प्रभाव सभी जगहों पर पड़ता है कितने ही लोग मारे जाते हैं, स्त्रियों की इज्जत लूटी जाती है घर जलाए जाते हैं, सम्पत्ति से हाथ धोने पड़ते हैं, लोगों की संस्कृति तक तहस-नहस हो जाती है। एक ही देश टुकड़ों में बंट जाता है और लोगों की भावनाएँ विचार तालमेल आपसी भाईचारे तक के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। सब-का-सब अविश्वास में बदल जाता है। समाज के सभी लोग शांति से जीवन व्यतीत करना चाहते हैं पर सत्ता संघर्ष और सत्ता नियंत्रण के प्रयासों में समाज की वो शांति भंग कर दी जाती है। साम्प्रदायिकता की आग में झुलसता समाज, तनाव एवं आतंकग्रस्त लोगों की विवशता का इसमें चित्रण है। धर्म, अर्थ और खोखली राजनीति के भीतर छिपी पशुवृत्तियों से यह उपन्यास पाठक को रू-ब-रू करवाता है और सांप्रदायिकता किस हद तक हानिकारक सिद्ध हो सकती है इससे भी समाज को सचेत करवाता है जो भविष्य में ऐसी आपदाओं से बचाने का सही साधन है।

अपनी आत्मकथा ‘आज के अतीत’ में भीष्म साहनी लिखते हैं “साहित्य जिन्दगी की काख में से निकलकर आए तभी विश्वसनीय हो पाता है। ऊपर से निष्कर्ष थोपने से न तो साहित्य सृजन होता है और न ही किसी विचारधारा का प्रचार-प्रसार होता है”³ भीष्म साहनी जन कल्याण के लेखक हैं जिनका सारा लेखन समाज को सही दिशा में लाने का लगातार प्रयास करता है। बात करें इनके नाटक ‘हानूश’

*शोध छात्र, हिन्दी, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

की जो एक ऐसे कलाकार की कहानी है जिसने अपनी पारिवारिक जिंदगी को ताक पर रखते हुए 17 वर्षों की लगन और मेहनत के बाद एक घड़ी बनाकर अपने राज्य का नाम रौशन किया। वही कलाकार उस समय के तीन प्रतिनिधि समूहों राजा, पादरी और व्यवसायी की आपसी खींचतान और षड़यंत्र का शिकार हो जाता है। इसी खींचतान के नतीजे में राजा, पादरियों और व्यापारियों पर अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए 'हानूश' की दोनों आँखें निकलवा देता है ताकि वह आगे कोई घड़ी न बना सके।

हनुश के साथ जो हुआ यह एक तरह से सृजनशील से उसकी सृजन शक्ति छीन लेने का अंधा फरमान है जो समय-समय पर हर समाज में रूप बदल-बदल कर दस्तक देता रहता है। इस नाटक के संदर्भ में अगर हम तत्कालीन समय को ध्यान में रखें तो यह वही समय है जब देश भर में इंदिरा गांधी ने आपातकाल लगा रखा था और जनता के अधिकार छीन लिए गए थे। शासन की आलोचना करने पर सज़ा मुकर्रर की जा रही थी और ऐसी किसी भी चीज के प्रदर्शन या प्रसारण पर रोक लगा दी गई थी जो कहीं से भी सत्ता की आलोचना करता दिखता हो। यही वह समय था जब भादतेंदु हरिश्चंद द्वारा लगभग सौ साल पूर्व लिखा गया चर्चित व्यंग्य नाटक अंधेर नगरी के प्रसारण पर ऑल इंडिया रेडियो द्वारा प्रतिबंध लगा दिया था; जो एक निरंकुश सत्ता की पोल खोलने वाला नाटक है। सत्ता के इस कदम से पता चलता है कि नाटक की शक्ति से वह कितना डरती है। आपातकाल के दौरान कवियों-लेखकों, पत्रकारों पर भी जुल्म ढाए जा रहे थे। इनसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छीन ली गई थी। ऐसी निरंकुश सत्ता और उसके द्वारा लोकतांत्रिक संस्थाओं, शक्तियों, व्यक्तियों और रचनाओं पर हमले के प्रतिपक्ष के तौर पर भीष्म साहनी ने इस नाटक की रचना की थी। इस नाटक की रचना भले ही यूरोप के एक शहर की पौराणिक कथा से जुड़ी है लेकिन उसकी घटनाएं इंदिरा गांधी द्वारा लगाए गए आपातकाल को निशाना बना रही थी जो समाज के लिए हितकर भी साबित हुई थी।

साहित्यकार अपने गहन चिंतन को साहित्य के माध्यम से समाज में लाता है जिसका अंतिम लक्ष्य मानव कल्याण होता है। भीष्म साहनी मानते हैं कि "कोई भी रचना विचार से शून्य नहीं होती। पर यदि विचार खप कर आए, उनका अभिन्न अंग बनकर आए तो वह विश्वसनीय होगी। रचना निश्चय ही विचार की वाहक होती है। हमें सोचने पर बाध्य करती है।"⁴ इसी संदर्भ में हम बात करते हैं भीष्म साहनी के नाटक "कबीरा खड़ा बाज़ार में" की। इस नाटक की रचना उस समय हुई जब 1980 में भारतीय जनता पार्टी का गठन हुआ और उसमें विश्व हिंदू परिषद के साथ मिलकर देश भर में राम-जन्मभूमि आंदोलन का सूत्रपात किया। इस आंदोलन ने देश भर में पहले से धार्मिक तौर पर बटे हिंदू और मुस्लिम आवादी को और भी बाटने का काम किया इसकी वजह से बाद में सांप्रदायिक ध्रुवीकरण बहुत तेजी से हुआ। ऐसे समय में कबीर हमारे समाज में एक ऐसे नायक की छवि रखते हैं जो दोनों धर्मों के बीच जा कर उन्हें सचेत कर सकते थे इसी हेतु इस नाटक की रचना हुई थी। ऐसे समय में एक ऐसे नायक की आवश्यकता थी जो दोनों धर्मों की मूढ़ताओं और रूढ़ियों पर एक साथ निशाना साध सके और वह था कबीर। इसके बाद 1993 में भीष्म साहनी का नाटक मुआवजे आया। यह नाटक बाबरी मस्जिद के ढाये जाने के बाद देश भर में फैले दंगों और उनकी आड़ में मुआवजे के बंटवारे के दुश्चक्र को सामने लाने का काम करता है। देश का हर प्रांत या शहर उस समय या तो दंगों की आग में जल रहा था या उसपर इसका छाया मंडरा रहा था। ऐसे में दंगों के बाद मुआवजों के बंदरबांट के माध्यम से जो व्यंग्य उन्होंने हमारे समाज के ऊपर किया है वह हमारे समाज, शासक वर्ग और अफसरशाही की संवेदनहीनता की पोल खोलकर रख देता है जो ऐसी जघन्य घटनाओं से भी फायदा उठाने की ताक में रहते हैं।

भीष्म साहनी यथार्थ के लेखक हैं। जिनका लेखन हमें सीधे समाज से जोड़ता है। ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पना का पुटदेकर एक चिंतन के रूप में उसे समाज के समक्ष रखते हैं जिससे पाठकों में सकारात्मक चिंतन की बढ़ोतरी होती है। भीष्म साहनी मानते हैं कि "दुनिया को बदलने का वीड़ा साहित्य ने कभी नहीं उठाया था। प्रेमचन्द भी इसी बात पर बल दे रहे थे कि लेखक की भूमिका सचेत करने की है, रास्ता दिखाने की है, जिन्दगी के यथार्थ की तस्वीर आपकी आँखों के सामने ले आने की है।"⁵ साहित्य की साकारात्मक सोच पाठक के मन को परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। एक अच्छा पाठक अपने

चारों और एक अच्छा माहौल बना सकता है और वो अच्छा माहौल एक अच्छे समाज नीव रख सकता है और एक अच्छे समाज से ही विश्व कल्याण संभव हो सकता है। साहित्य सीधा विश्व कल्याण नहीं कर सकता उसकी गति धीमी होती है जो कई इकाईयों से गुज़रने के पश्चात विश्व कल्याण की नीव रखती है।

I UnHk %

1. प्रेमचंद, हंस मासिक, सितंबर-1963
2. भीष्म साहनी, तमस, पृ. 44
3. भीष्म साहनी, आज के अतीत, पृ. 267
4. भीष्म साहनी, आज के अतीत, पृ. 265
5. भीष्म साहनी, हनूश, पृ. 127



e/;n'k dk dyk dUn fofn'kk

MkO dey'k dekj pk/kjh*

आधुनिक विदिशा, बेसनगर अक्षांश 23032' उत्तर, देशांतर 77088' पूर्व में स्थित है। यह बीना-भोपाल रेलवे लाइन पर बेतवा नदी के तट पर अवस्थित है।¹ यह मथुरा से प्रतिष्ठान को जाने वाले महापथ पर प्राचीन व्यापारिक केन्द्र था।²

विदिशा नगर का विवरण रामायण, महाभारत, पालि-ग्रन्थों, पुराणों तथा अन्य परवर्ती साहित्य में उल्लिखित है। प्राचीन साहित्य, पुरातात्विक उत्खनन तथा इतिहास में मध्यदेश का विदिशा नगर प्राचीन नगरों के साथ सम्बद्ध रहा है। विदिशा, उज्जयिनी, माहिष्मती, तीनों स्थलों का प्राचीन काल से पारस्परिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समन्वय प्राचीन साहित्य में वर्णित है।

मार्कण्डेय पुराण से ज्ञात होता है कि प्राचीन विदिशा नगर राजा “यदु” के वंशजों की राजधानी थी। पौराणिक सन्दर्भ के अनुसार विदिशा के राजा सगर और श्रीराम के समय वहां इक्ष्वाकु वंश के आधिपत्य का पता चलता है। परन्तु यादव जन ही अधिकांश समय तक विदिशा के शासक रहे। माहिष्मती का पतन होने पर विदिशा को पूर्वी मालवा की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। स्कंद पुराण में विदिशा नगर को तीर्थ-स्थल कहा गया है। गरुड़ पुराण के अनुसार विदिशा नगर की शोभा अन्वेक्षणीय थी। यह नगर विविध बहुमूल्य रत्नों से सम्पन्न था तथा इसमें अनेक प्रदेशों के निवासी रहते थे। यह नगर धर्म का केन्द्र स्थल था। इसके नागरिक ऐश्वर्य एवं विलास की सामग्री से सम्पन्न थे। पालि साहित्य में इसे “वेदिसनगर” कहा गया है। यह नगर दक्षिणपथ पर गोनर्द (आधुनिक गुना) और कौशांबी के बीच स्थित था।³

स्कंद पुराण में वैश्य नगर (बेस नगर) का उल्लेख मिलता है। यहीं पर बेतवा और बेस नदियों का संगम हुआ है। इस नगर में वैश्यों की अधिकता होने के कारण इसका नाम “वैश्यनगर” (बेसनगर) पड़ा होगा। इस प्रकार बेसनगर, वेसनगर, वैश्यनगर, विश्वनगर, बेदिशा आदि नाम इसी नगर के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सांची के स्तूप अभिलेखों में वेदिस (विदिशा) का नाम मिला है। प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में दशार्ण जनपद का उल्लेख मिलता है जिसकी राजधानी विदिशा थी। बाल्मीकि रामायण में ‘दशार्ण’ का नाम आया है। महाभारत, भागवत पुराण, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य तथा परवर्ती साहित्य एवं अभिलेखों में दशार्ण का उल्लेख मिलता है। महाकवि कालिदास ने दशार्ण का मनोरम चित्रण “मेघदूत” में किया है।

दशार्ण जनपद की वैभव सम्पन्न नगरी विदिशा उस महापथ पर पड़ती थी, जो पाटलिपुत्र से वाराणसी, कौशाम्बी, उज्जयिनी और प्रतिष्ठान होता हुआ भारुकच्छ (भड़ौच) के बन्दरगाह तक जाता था। इस मार्ग को “महाकांतार पथ” कहा जाता था। महात्मा बुद्ध के समय में अनेक व्यापारिक मार्गों से सार्थवाह विदिशा होकर ही जाते थे। मालवा प्रदेश की तत्कालीन सुप्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी से एक राजमार्ग विदिशा तक जाता था।

शुंग शासकों ने विदिशा को एक प्रमुख नगर के रूप में विकसित किया। सांची के तोरणों पर विदिशा “वेदिश” नाम का उल्लेख है। विदिशा में शुंगकालीन बौद्ध स्तूप की वेदिका तथा स्तम्भों पर मौर्य कालीन ब्राह्मी लिपि में अनेक लेख उत्कीर्ण मिले हैं, जिनकी भाषा प्राकृत है। इन पर दान-दाताओं के नाम भी उत्कीर्ण हैं। वेदिका के उष्णीषों पर भगवान बुद्ध के चिन्ह वज्रासन, बोधिवृक्ष तथा स्तूप बने हैं।

*प्रवक्ता, इतिहास, एस0यू0के0आई0सी0, बस्ती, उ0प्र0

गज—अश्वारोही तथा धार्मिक उत्सवों का भी सुरुचिपूर्ण अंकन दिखाई देता है। कुछ अवशेषों पर पुष्प लताओं तथा गीत—बाद्य के चित्र भी हैं।⁴

कालिदास द्वारा रचित “मालविकाग्निमित्र” से ज्ञात होता है कि पुष्पमित्र शुंग के बड़े पुत्र अग्निमित्र ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाई। ई0पू0 द्वितीय शती के मध्य में मित्र—शुंगों ने विदिशा के अतिरिक्त उत्तरी भारत के मथुरा, अयोध्या, अहिच्छत्रा तथा कौशांबी आदि केन्द्रों में राजधानियां स्थापित की। शुंग वंश की एक राजधानी विदिशा होने के फलस्वरूप पुष्पमित्र शुंग ने सांची में बौद्ध धर्म को विकसित करने में सहायता दी। भरहुत के कतिपय अभिलेखों (सुगनंरजे) से पुष्टि होती है कि विदिशा के सम्राट रेवतीमित्र तथा उसकी रानी ने भरहुत—स्तूप के निर्माण में सहायता दी थी। सांची के अभिलेखों में वर्णित विदिशा के शुंगकालीन शासकों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने सांची—स्तूप के निर्माण में प्रभूत योग दिया।

ईसवी पूर्व चौथी शती के अन्त में अथवा ई0पू0 तीसरी शती के आरम्भ में निर्मित विष्णु—मंदिर का उल्लेख नितान्त आवश्यक है। मध्यदेश के विदिशा नगर की गणना भारत के प्रमुख सांस्कृतिक नगरों में की जाती है। ईसवी पूर्व तीसरी शती में वहां भगवान विष्णु का मंदिर विद्यमान था। इस बात का पता केन्द्रीय पुरातत्व विभाग द्वारा वहां कराये गये उत्खनन से चला है।

शुंग शासक कौत्सीपुत्र भागभद्र के राज्यकाल में ई0पूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्द्ध में उक्त मंदिर के सामने एक ऊंचा गरुड़—ध्वज स्तम्भ बनवाया था। इस स्तम्भ (जिसे अब खामबाबा कहते हैं) पर खुदे हुए ब्राह्मी लेख से पता चला है कि उसे तक्षशिला के यूनानी राजा ऐंटिअल्काइडीज (अन्तलिकित) के राजदूत हेलियोडोरस ने बनवाया था। हेलियोडोरस ने अपने लेख के प्रारम्भ में देवताओं के देव “वासुदेव” का नाम दिया है।⁵

^no nol oklnol x:M/ot v; dkfjr**

हेलियोडोरस ने वासुदेव के प्रति भक्ति—भाव व्यक्त करने के लिए विष्णु—मंदिर के सामने गरुड़ध्वज स्थापित किया। हेलियोडोरस ने लेख में स्वयं अपने को “भागवत” (भगवान वासुदेव का भक्त) कहा है। यह स्तम्भ लेख वैष्णव धर्म के विकास और उद्गम की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस लेख में विदिशा नगरी की महत्ता के साथ यह भी ज्ञात हुआ है कि ईसवी पूर्व दूसरी शती में वहां वासुदेव की पूजा का एक प्रधान केन्द्र स्थापित हो गया था। यही वृष्णियों के अन्य चार प्रमुखों (बलराम, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध) की पूजा का भी केन्द्र था। विदिशा में श्रीकृष्ण के गरुड़ध्वज के अतिरिक्त ताड़ध्वज तथा मकरध्वज प्रतीक प्राप्त हुए हैं, जो क्रमशः बलराम तथा प्रद्युम्न के परिचायक प्रतीक हैं।

सर्वप्रथम, मेजर जनरल कनिंघम को 1878 ई0 में बेसनगर से गरुड़ध्वज स्तम्भ लेख मिला था, जिसे सर जॉन मार्शल द्वारा ई0 सन् 1908—09 में प्रकाशित कराया था। बेसनगर से शिला खण्डों के अनेक शीर्ष भाग प्राप्त हुए हैं, जिनके स्तम्भ नहीं मिल सके। ऐसे खण्डों का एक शीर्ष भाग पर “मकरध्वज” का नाम अंकित है।

बेसनगर खामबाबा स्तम्भ के समकालीन एक अन्य गरुड़ध्वज स्तम्भ विदिशा से भी मिला है, जिस पर निम्नांकित लेख अंकित हैं।⁶

^xkreh iru

Hkkxorü-----

Hkkxork i:lnkr

el x:M/ot-----dkfjr

}knl ol vfhkflr ,

Hkkxor: egkjt**

(गोमती के पुत्र भागवत ने यह गरुड़ध्वज स्तम्भ भगवत (वासुदेव) के मंदिर के लिए महाराज भागवत के शासनकाल के बारहवें वर्ष में बनवाया।)

उपरोक्त अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ईसवी पूर्व दूसरी शती में वेसनगर—विदिशा में भगवान विष्णु की उपासना की जाती थी। विष्णु की उपासना के अतिरिक्त उसकी प्रतीकात्मक उपासना भी प्रारम्भ हो गयी थी। अभिलेखीय प्रमाणों के अतिरिक्त भण्डारकर ने वेसनगर—उत्खनन का अध्ययन करते हुए अनुमान लगाया था कि खामबाबा स्तम्भ को किसी विष्णु—मन्दिर के आंगन में स्थापित किया गया था। श्री एम0डी0 खरे ने वेसनगर उत्खनन से वासुदेव मन्दिर की प्राचीर का पता लगाया है, जिससे इस कथन की पुष्टि हुई है कि विदिशा में विष्णु मत का एक प्राचीन प्रधान केन्द्र था।⁷

शुंग शासकों के बाद विदिशा पर सातवाहन तथा उसके बाद नागवंशी राजाओं का प्रभुत्व प्रायः ईसवी प्रथम से ईसवी चौथी शती के मध्य तक रहा प्रतीत होता है। नागों के बाद गुप्त शासनकाल ईसवी 300 से 600 तक विदिशा नगरी वैष्णव धर्म का केन्द्र बनी। विदिशा के निकट उदयगिरि की गुफाओं में बराह भगवान की मूर्ति गुप्तकाल की उल्लेखनीय कृति है। अन्य हिन्दू देवी देवताओं की अनके प्रतिमाएं गुप्तकाल में यहीं बनाई गई। गुप्तकालीन शासकों के अभिलेखों तथा सिक्कों की प्राप्ति विदिशा, बेसनगर, उदयगिरि तथा समीपवर्ती भू-भागों से हुई है, जिनमें उदयगिरि से चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल का गुप्त संवत् 82 का गुप्त लेख, जिसमें सनकानिक वंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त छगलग के पौत्र विष्णुदास के दान का उल्लेख है। गुप्त संवत् 106 का जैन गुफा—लेख, जिसमें गुप्त सम्राट कुमारगुप्त के शासनकाल में शंकर द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। अमृत गुहा में वि0सं0 1093 का स्तम्भ लेख, जिसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उल्लेख है। अभिलेख में कान्हा द्वारा विष्णु—मन्दिर के पुर्ननिर्माण का उल्लेख है, जो मूलतः चन्द्रगुप्त के शासनकाल में निर्मित किया गया प्रतीत होता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल का गुहालेख जिसमें शाव वीरसेन द्वारा शिव गुहा के निर्माण का उल्लेख है। गुफा क्रमांक—1 की छत पर उत्कीर्ण गुप्त लिपि में अभिलेख तथा गुफा क्रमांक—6 की छत पर गुप्त लिपि में अभिलेख, जिसमें कारीगर का नाम दिया है तथा शेष अस्पष्ट है, उल्लेखनीय है।⁸

बडोह (विदिशा) से गुप्त लिपि में खंडित शिलालेख, जिसमें महाराज “जयरसेन” का उल्लेख है। विदिशा में तीन जैन तीर्थकरों (चंद्रप्रभु—पुष्पदंत) की प्रतिमाओं पर लगभग ईसवी चौथी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि के लेख, जिनमें महाराजाधिराज रामगुप्त के शासनकाल में जैन तीर्थकरों की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय का भाई था। गुप्त लिपि में उत्कीर्ण शिलालेख, जिसमें किसी तालाब का वर्णन है जो अनेक वृक्षों से सुशोभित था।

ईसवी पांचवी शती के अन्त में पूर्वी मालवा क्षेत्र पर हूण शासक तोरमाण का आधिपत्य हो गया था। एरण से ज्ञात पशु वराह प्रतिमा के वक्ष—स्थल पर उत्कीर्ण हूण शासक महाराजाधिराज तोरमाण के लेख से इस कथन की पुष्टि होती है। ईसवी छठी शती के प्रारम्भ में तोरमाण के पश्चात उसका पुत्र मिहिरकुल शासक हुआ। कल्हण की राज—तरंगिणी से ज्ञात होता है कि मिहिर कुल अधिक प्रभावशाली शासक था। उसने कश्मीर से लेकर मालवा प्रदेश तक अपना राज्य विस्तृत कर लिया था। शक शासक श्रीधर वर्मा (ई0 510, गुप्त संवत् 191) के एरण अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रमुख गुप्त राजवंश के अन्तिम शासक भानुगुप्त के शासनकाल में प्रमुख सेनानायक गोपराज की मृत्यु युद्ध—क्षेत्र में हुई थी तथा गोपराज की पतिव्रता पत्नी ने अपने पति के साथ चिता में बैठकर आत्मदाह किया था। सम्भवतः गुप्त सम्राट भानुगुप्त हूणों के साथ युद्ध कर हूणों को पूर्वी मालवा क्षेत्र से भगाने में सफल हुआ। संभवतः यह युद्ध हूण शासक मिहिर—कुल के साथ हुआ था। परन्तु मालवा क्षेत्र पर हूणों के आक्रमण जारी रहे। अन्ततः मंदसौर के औलिकर वंश के शासक यशोधर्मन के हाथों हूण शासक मिहिरकुल की पराजय हुई और मालवा क्षेत्र पर औलिकर वंशी यशोधर्मन् का आधिपत्य हो गया।⁹

विदिशा क्षेत्र की वास्तु एवं मूर्तिकला का स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। शुंग—सातवाहन काल में जन्मी कला, गुप्त साम्राज्य का आश्रय प्राप्त कर परिष्कृत तथा परिवर्धित हुई। शुंग काल में वेसनगर स्थित हेलियोडोरस स्तम्भ, उत्खनन में मिले अण्डाकार विष्णु मंदिर, विन्यास के प्रमाण वास्तुकला के अप्रतिम उदाहरण हैं।¹⁰ खामबाबा स्थित टीले से जिसकी संज्ञा बी0एस0एन0—3 दी गयी है। इसके खड़े स्तम्भ पर महत्वपूर्ण लेख है जिनका धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व है। इसके अनुसार भागवत (वासुदेव) के श्रेष्ठ

मन्दिर के सम्मुख गरुडध्वज की स्थापना तथा तक्षशिला के दियोन पुत्र इलियोडोरस जो कि महाराजा अन्तलिकित के दूत द्वारा पांचवे शुंग शासक भागभद्र (भद्रक) जो कौत्सगोत्र के काल में की गयी।¹¹

इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख में गौतमी पुत्र भागभद्र द्वारा भागवत (वासुदेव) के सर्वोत्तम प्रासाद (मंदिर के लिए गरुडध्वजा) की स्थापना का उल्लेख है।¹² इस स्थान के महत्व को देखते हुए 1963-64, 1964-65 में इस टीले पर जो समुद्र सतह से 420 मी० तथा सामान्य धरातल से लगभग 5 मी० ऊंचा था, उत्खनन किया गया यद्यपि यह स्थल मलवे से भरा था किन्तु इससे यह लाभ हुआ कि प्राचीनतम देवालय के अवशेष भू-विन्यास के रूप में सुरक्षित प्राप्त हो गये। उत्खनन से बाढ़ के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। अतः रक्षा हेतु अनगढ़ पत्थरों का वर्गाकार 33ग33 मी० का घेरा जिसकी चौड़ाई 2.40 मी० का निर्माण किया गया।

उत्खनन से ज्ञात हुआ कि इस घेरे में काली पीली मिट्टी का भराव तथा बीच में गली ईंटों का फर्श जो काफी मुरी-मुरी थी प्राप्त हुआ। संभवतः ये किसी इमारत के अवशेष रहे होंगे। इस फर्श के नीचे लगभग 2.75 मी० की गहराई पर वृत्तायत भू-विन्यास जिसका गर्भ गृह 8.10ग3मी० प्रदक्षिणापथ 2.5 मी० चौड़ा, मण्डप 4ग4.85 मी० मिला। इसके अतिरिक्त कई स्थलगर्त चूने, गच्ची का ईंट निर्मित फर्श तथा छत लकड़ी की पृष्ठाकार रही होगी।¹³

इसके अतिरिक्त देवालय के सामने पूर्व में वर्तमान स्तम्भ के अतिरिक्त 7 अन्य स्तम्भों की नींवें तथा अवशेष प्राप्त हुए हैं। पवित्रवद्ध स्तम्भ उत्तर-दक्षिण में खड़े थे। बीच में शिला तथा उसके चारों ओर पत्थर की चीपें तथा लोहे की (पच्चड़) लगायी जाती थी ताकि स्तम्भ किसी प्रकार से झुक न सके।¹⁴

इस क्षेत्र से शीर्ष फलक प्राप्त हुए हैं जो राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में है। मकरमुख शीर्ष के साथ दो वृषभ शीर्ष भी प्राप्त हुए थे, जो अब विदिशा संग्रहालय में है।¹⁵

1963-64 के उत्खनन में शुंगकालीन स्तर से ब्राह्मी में "निकुंभ रागस्य" उत्कीर्ण मुद्रा प्राप्त हुई थी। संभवतः ये वे "निकुंभ" थे जो सूर्यवंशी निकुंभ के वंशज थे जो राजस्थान के अलवर क्षेत्र के थे।¹⁶ तथा पकी मिट्टी की मृणमूर्तियां, जो भण्डारकर तथा 1963-64 से प्रारम्भ होने वाली उत्खनन से मिली, की कुल संख्या 89 है जिनमें स्त्री पुरुषों के अतिरिक्त बत्तख, तोता, हाथी, वृषभ, घोड़ा, कछुआ, मछली आदि हैं।

इसके अतिरिक्त सुन्दर तथा अलंकृत कण-कुण्डल, हाथी दांत के आभूषण, श्रृंगार उपादान, सेलखड़ी की मंजूषायें, उत्कीर्ण डिजायनें मुख्य हैं।¹⁷

गुप्त सम्राटों के महान पराक्रम की साक्षी उदयगिरि की गुफाओं में उत्कीर्ण प्रतिमाएं हैं। जिनमें भू-देवी का उद्धार करते हुए नृ-वराह की प्रतीकात्मक प्रतिमा उल्लेखनीय है। बेसनगर से प्राप्त चारों ओर से कोरकर बनाई गई कुबेर आदि की उत्कृष्ट कलाकृतियां विदिशा के शासकीय पुरातत्व संग्रहालय में संरक्षित हैं।

यक्षी-प्रतिमा तथा कल्पवृक्ष अलंकरण (कलकत्ता संग्रहालय) शुंगकालीन प्रतीकात्मक कलावशेष तथा प्रतिमाएं (गूजरी महल संग्रहालय, ग्वालियर) आदि संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। विदिशा में शुंगकालीन बौद्ध-स्तूप के कतिपय कलावशेष सुरक्षित हैं। जनरल कनिंघम को 1884 में बौद्ध-वेदिका के कई टुकड़े मिले थे, उन्हें सिंह-शीर्ष सहित एक स्तम्भ भी प्राप्त हुआ था, जो मौर्यकालीन पालिश (ओप) युक्त था।¹⁸

गुप्तकाल में विदिशा से कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:-

विदिशा से एक प्रस्तर फलक पर उत्कीर्ण गंगा की सुन्दर मूर्ति मिली है। यह आजकल अमेरिका के बोस्टन संग्रहालय में है।¹⁹ यहीं से प्राप्त और राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में संरक्षित हरिहर मूर्ति में वामांग में विष्णु का अंकन हुआ है। विष्णु भाग में उनके आयुध हाथों में प्रदर्शित हैं। शिव भाग में मृगचर्म, जटाजूट, यज्ञोपवीत बना है।²⁰ मध्यदेश में विदिशा के समीप दुर्जनपुर से रामगुप्त के अभिलेख सहित तीन जैन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। ध्यानस्थ जिन का आसन चक्र और पार्श्ववर्ती सपक्षसिंह शीर्षों से सुशोभित हैं। उनके सिर के पीछे प्रभा मण्डल और दोनों ओर चामरधर हैं। श्री वत्स सुशोभित वक्ष स्वस्थ है। भुजाओं और कुहनी की विशिष्ट स्थिति मूर्ति को त्रिकोणीय आकार प्रदान करती है जो

पद्यस्थ योगी के लिए श्रेयस्कर अनुकृति है। एक मूर्ति में पार्श्व आकृति की शिरोभूषा कुषाण प्रभावित तथा दूसरी मूर्ति में वह शक प्रभावित है।²¹

इस प्रकार विदिशा वास्तु तथा मूर्तिकला का अप्रतिम केन्द्र था। शुंग, नाग तथा गुप्तकालीन वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध तथा जैन धर्मों का समन्वित स्वरूप परिलक्षित होता है।

I UnHk %

1. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, विदिशा का सांस्कृतिक इतिहास, प्राच्य प्रतिभा Vol XII, No.1-2, 1984, पृ0सं0-141
2. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ0 160
3. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव, पृ0 142
4. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव, पृ0 144
5. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव
6. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव, पृ0 145
7. तत्रैव
8. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव, पृ0 147
9. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव, पृ0 148
10. तत्रैव, पृ0 149
11. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर राज्य के अभिलेख
12. सरकार, सिलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, भाग-1, पृ0 88-89
13. खरे, महेश्वरी दयाल, "विदिशा", पृ0 88-89
14. चन्द्रभूषण द्विवेदी, विदिशा-पुरातत्व उल्खनन, प्राच्य प्रतिभा, Vol.XV, 1986, पृ0 83
15. तत्रैव
16. खरे, महेश्वरी दयाल, विदिशा, भोपाल, 1985, पृ0 106
17. खरे, महेश्वरी दयाल, तत्रैव
18. कृष्ण कुमार त्रिपाठी, तत्रैव, पृ0 149
19. शिव कुमार गुप्त, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला, पृ0 131
20. अरविन्द कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला, पृ0 83
21. अरविन्द कुमार सिंह, तत्रैव, पृ0 88



Lok/khurk vknkyu vkj jkgy lkdR;k;u

f'k[kk flg*

एक धर्म—प्रचारक, जिसमें उत्तरीय के सिवा धार्मिक परम्परा का कोई आडम्बर नहीं, ऐसा विद्वान, जिसने सारी विधाओं में डूब कर केवल नास्तिकता को ग्रहण किया हो; एक साधु, जिसे राह चलते अनावश्यक अवसरों पर भी ईश्वरों पर व्यंग्य, शास्त्रों की भर्त्सना और कुछ झिझक—सी लगे, युग—विधायक अनुसंधान करते हुए भी जिसे अपना श्रम व्यर्थ मालूम होता है; इतिहास को मुर्दों का क्षेत्र कह कर जो जिन्दों को बीच जीने की लालसा से रूस दौड़े और जिंदों के जीवन के मर्म पर व्याधात लेकर फिर मुर्दों के देश लौट आये, प्रकांड विद्वान, बहुत बड़ा स्वतंत्र विचारक, सांस्कृतिक क्रांति का उग्र नेता, क्रांतिदर्शी और विक्रान्त परिश्रमी, लेकिन अपनी पूरी शक्ति के उपयोग के योग्य निश्चित क्षेत्र के अभाव में अमूल्य विचारों का बहुत बड़ा बोझ ढोता—सा, संसार जिसे असाधारण एवं अज्ञेय रहस्य मानकर विस्मय करे, उसे साधारण अतिसाधारण मानकर उसकी खिल्ली उड़ाता—सा, देवताओं के सामने मनुष्य और स्वर्ग के सामने पृथ्वी को पूजनेवाला, जो अपने तर्क के तीखे बाणों से परम्परा, रूढ़ि और प्राचीन संस्कारों पर कुटिल व्यंग्य कसने का आदी हो, धुन का पक्का, लगन का कड़ा, सांप के फन पर जान—बूझकर पैर रखनेवाला, ऐसी विचित्रताओं का आगार है वह मनुष्य, जिसे हम राहुल सांकृत्यायन के नाम से अभिहित किया है।¹

राहुल जी के सम्पूर्ण जीवन और साहित्य में मानव—स्वातन्त्र्य की व्यापक चेतना है। वे जीवन और जगत् की स्वतन्त्र गतिशीलता में विश्वास रखते हैं। उनकी आस्थाएँ प्रत्यक्ष मानव—जीवन पर टिकी हैं। मानव और मानवता का नैसर्गिक विकास उन्हें इष्ट है। प्रत्यक्ष जीवन और जगत् के स्वतन्त्र विकास में उनकी आस्था इतनी गहरी है कि वे अप्रत्यक्ष जीवन से सम्बन्धित मनगढ़न्त और अटपटी कल्पनाओं को पूर्णतः निस्सार और निराधार घोषित करते चलते हैं। वे वस्तु—जगत् की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास रखते हैं और मानव को ही सृष्टि का सिरमौर मानते हैं। मानव मात्र की अन्तर्निहित शक्तियों का यथासम्भव अधिक से अधिक विकास हो, सभी को स्वतन्त्र रूप से विकास करने के लिये अनुकूल वातावरण सुलभ हो, यही उनकी आकांक्षा है। दार्शनिक दृष्टि से वे प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मान्य समझते हैं, अनुमान और प्राप्त प्रमाणों को निर्मूल मानते हैं। वे उन्हीं सत्त्यों को मानते हैं जिनकी सच्चाई का समर्थन प्रत्यक्ष जीवन अथवा वस्तु—जगत् द्वारा होता है। उनके चिन्तन के प्रेरक आधार हैं मार्क्सवाद तथा बौद्ध—दर्शन, जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानकर चलते हैं और परोक्ष की कपोल—कल्पनाओं का निराकरण करते हैं।

राहुल जी स्वतन्त्रता और विकासवाद के हामी हैं। उनके विचार से व्यक्ति तथा वस्तुजगत् की क्रिया—प्रतिक्रियाओं की सतत विकासोन्मुखी सम्बन्ध शृंखला ही सृष्टि का विकास—क्रम है। वे कहते हैं “मनुष्य के स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं यदि वह भी परिस्थिति में परिवर्तन करने का उसी तरह अधिकारी न हो, जिस तरह कि परिस्थिति उसे परिवर्तित करती है। इसके बारे में जब हम प्रकृति से पूछने जाते हैं, तो वह साफ कहती है कि परिस्थिति जिस तरह मनुष्य को बदलती है, उसी तरह मनुष्य ने भी परिस्थिति को बदला है और बदल देने में लगा हुआ है।”² इस प्रकार अपनी अन्तर्निहित मूल शक्तियों को निर्बाध रूप से विकसित एवं प्रकाशित करने में संघर्षरत मानव ही राहुल जी की दृष्टि में आदर्श मानव है। वे मानवीय गुणों शक्तियों और प्रगतियों के सबल समर्थक हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने युवा साधु राम उदार दास के रूप में सन् 1921 में राजनीति में भाग लेना शुरू किया। उस वक्त स्वाधीनता आंदोलन में नई तेजी आई थी। पहले विश्वयुद्ध ने

*शोध छात्रा, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

साम्राज्यवादी व्यवस्था पर जबर्दस्त प्रहार किया था और दुनिया के कई देशों में साम्राज्यवाद से मुक्ति का आन्दोलन उभर पड़ा था। सोवियत रूस की समाजवादी क्रांति ने पूरी दुनिया में एक नई लहर पैदा की, खासकर यूरोप और एशिया में इसका जबर्दस्त असर पड़ा था। सन् 1917-18 के बाद भारत की आजादी की लड़ाई चंद लोगों तक सीमित न रहकर व्यापक हो गई और एक नये तरह के जनआंदोलन और जागरण को आधार मिला। देश में कांग्रेस स्वाधीनता आंदोलन का मुख्य मंच थी और दक्षिण अफ्रीका से आये महात्मा गांधी राष्ट्रीय-नेतृत्व की अग्रिम पंक्ति में अपना स्थान बना चुके थे।

सन् 1919 में उठी आंदोलन की लहर लगातार बढ़ती गई और सन् 1921 में इसने एक राष्ट्रव्यापी जन-उभार का रूप ले लिया। यह आंदोलन गाँव-गाँव तक फैल गया और लोग ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने को आमादा हो गये। स्वयं गांधी जी भी इससे प्रभावित हुए और वे उत्साह और विश्वास से भर उठे। उन्होंने यह घोषणा तक कर डाली कि स्वराज्य बारह महीने के अंदर मिल जायेगा। बात यहाँ तक बढ़ गई कि सितम्बर 1921 में गांधी जी ने एक सम्मेलन में कह डाला : “साल खत्म होने के पहले-पहले स्वराज्य प्राप्त कर लेने का मुझे इतना पक्का विश्वास है कि बिना स्वराज्य लिए मैं 31 दिसम्बर के बाद जीवित रहने की कल्पना नहीं कर सकता।”³

इस आंदोलन को पूरे देश में भारी जन-समर्थन मिला। स्वतः स्फूर्त ढंग से आंदोलन नये क्षेत्रों में फैलता गया और फिर वहाँ संगठन भी बनते गये। युवा साधु रामउदार दास भी आंदोलन की इस लहर में कूद पड़े। कुर्ग वह सीधे छपरा आये। इस बारे में उन्होंने स्वयं ही लिखा है : “असहयोग आरम्भ होते समय मैं कुर्ग के पहाड़ों में था। मन चंचल तो हो गया, पर अभी-अभी जिम्मेदारी वहाँ ली थी, इसलिए जबतक वहीं रहना पड़ा। चलते समय एक पत्र जिला कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में छपरा भेज दिया और स्वयं जुलाई के आरम्भ में वहाँ पहुँच सका।”⁴

राजनीति में प्रवेश करने से पहले भी वे देश की हालत, ब्रिटिश हुकूमत की ज्यादतियों और किसानों की दुर्दशा को लेकर चिंतित रहते थे। जिन दिनों (सन् 1920-21) वह दक्षिण भारत में वेदांत और संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन कर रहे थे, उस वक्त भी राजनीतिक प्रश्नों पर मित्रों के बीच खुलकर चर्चा करते और आंदोलन में हिस्सा लेने का अपना इरादा जाहिर करते। उन्हीं दिनों उनके पिता की मृत्यु हुई। उसके कुछ की माह बाद युवा साधु रामउदार दास राजनीतिक समर में कूद पड़े थे। वह साधु थे पर देश-दुनिया में उनका गहरा लगाव था। जीवन के गंभीर प्रश्नों के समाधान में हमेशा लगे रहते। उनमें सत्य को जानने की उत्कट आकांक्षा भरी रहती थी। यही आकांक्षा उन्हें आर्य-समाज के नजदीक लाई फिर उसकी सीमाएँ भी नजर आईं। “आर्य समाज” के पास उनके बहुत सारे प्रश्नों का उत्तर नहीं था। फिर वे बौद्ध धर्म और दर्शन से जुड़े।

राहुल जी को ज्ञान की रोशनी किसी महाविद्यालय-विश्वविद्यालय से नहीं मिली। जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों में उन्होंने ज्ञान हासिल किया। वे हमेशा उस रोशनी की तलाश में थे, जो मनुष्य और समाज की बेहतरी का रास्ता दिखा सके। इसी तलाश में किशोर केदारनाथ वैष्णवी-संन्यासी बनकर देश भर घूमते रहे। फिर वह राम उदार दास बने। लेकिन मठों और महंतों में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो ज्ञान यात्रा पर निकले रामउदार दास को बहुत देर तक वहाँ टिकाये रखता। तब वे सन् 1930 में बौद्ध राहुल सांकृत्यायन बने और फिर मार्क्सवादी- समाजवादी।

उनकी ज्ञान-यात्राएँ समाज के लिए थीं। वह समाज से दूर जाने की कल्पना भी नहीं करते। सन् 1921 में स्वाधीनता आंदोलन के एक जमीनी-कार्यकर्ता और बौद्धिक सिपहसालार के रूप में वे सक्रिय रहे। स्वाधीनता आंदोलन के इस सिपाही से किसान संघर्षों में भाग लिया और कई स्थानों पर उनका नेतृत्व भी किया। आंदोलनकारी के रूप में वे सक्रिय रहे। स्वाधीनता आंदोलन के इस सिपाही ने किसान संघर्षों में भाग लिया और कई स्थानों पर उनका नेतृत्व भी किया। आंदोलनकारी के रूप में कई बारा जेल जाना पड़ा। ‘वोल्गा से गंगा’, ‘दर्शन दिग्दर्शन’ और ‘वैज्ञानिक भौतिकवाद’ जैसी ऐतिहासिक मूल्य की कृतियाँ जेल में ही लिखी गईं। आजादी की लड़ाई के दौरान जेल जाने वाले वह पहले बड़े हिन्दी लेखक थे। आंदोलन में शामिल होने के संदर्भ में उन्होंने स्वयं ही लिखा है : “उस वक्त तक असहयोग

आंदोलन कार्यरूप में परिणत हो चुका था। हजारों हजार विद्यार्थी कॉलेज स्कूल छोड़ चुके थे। कितने ही वकील, बैरिस्टर अपनी प्रैक्टिस बंद कर चुके थे। गांधी जी तिलक-स्वराज फंड के एक करोड़ रुपये जमा कर चुके थे। राजनीति में प्रवेश करना है यह तो तय कर लिया किन्तु 'कहाँ' का प्रश्न हल करने में दो-चार दिन लगे। आजमगढ़ में जा नहीं सकता था। बाकी स्थानों में जालौन जिला और छपरा दो ही मेरे सामने थे। मैंने छपरा के बारे में फैसला किया।⁵ उन्होंने छपरा जिले के विभिन्न गाँवों-कस्बों में संगठन का काम आगे बढ़ाया। स्वयं गाँव जाते और सभाएँ करते। ग्रामीण जनता इस तेजस्वी साधु को पूरे सम्मान के साथ सुनती। 31 जनवरी सन् 1922 को आजादी की लड़ाई के दौरान वह पहली बार जेल गये।

जेल जीवन राहुल जी के लिए सर्वथा नया अनुभव था। वहाँ पहले से भी कई आंदोलनकारी बंद थे। यहीं जेल में ही किसी ने उन्हें त्रोत्स्की की एक पुस्तक "बोलशेविज्म और विश्व क्रांति" पढ़ने को मिली। राहुल जी ने लिखा है कि किसी बोलशेविक ग्रंथकर्ता की यह पहली पुस्तक थी, जो उन्हें पढ़ने को मिली। जेल से निकलने के बाद उन्होंने राजनीतिक कामकाज और तेज कर दिया— एकता, परसा, मसरख, महाराजगंज, माँझी के विभिन्न इलाकों में उन्होंने दिन-रात मेहनत की और देशभक्त युवाओं और किसानों को संगठित किया। एक आंदोलनकारी के रूप में वे दूर-दूर तक लोकप्रिय हुए। जिस तरह अन्याय और अत्याचार को देखकर उनका मन खिन्न होता था, उसी तरह समाज की रूढ़ियों, लिंगभेद, वर्णवाद, जातिवाद और जमींदारी-प्रथा से उन्हें सख्त नफरत होती थी। वह खुलकर इनके खिलाफ आवाज उठाते। इस क्रम में उन्हें आर्य समाज की सीमाएँ नजर आईं तो कांग्रेस की भी, गांधी जी और पंडित नेहरू की भी।

'मेरी जीवनयात्रा' में उन्होंने महात्मा गांधी की छपरा-यात्रा का जिस तरह उल्लेख किया है, उससे लगता है कि वैचारिक स्तर पर वह गांधी से कभी भी गहरे स्तर पर प्रभावित नहीं थे। गांधी जी से उनकी जीरादेई में राजेन्द्र प्रसाद ने मुलाकात कराई लेकिन वह मुलाकात एक औपचारिकता भर थी। स्वयं राहुल जी के शब्दों में : "छपरा पहुँचकर (सन् 1927 ई0) सबसे जरूरी काम हमें करना था, गांधी जी के सारन के दौरे का प्रबंध करना। सार्वजनिक सभा के स्थानों में एकमा भी था। प्रबंध करनेवालों में मैं मुखिया था, किन्तु गांधी जी के साथ-साथ रहने की मुझे बिल्कुल इच्छा न थी। जिन्हें लोग बड़ा आदमी समझते हैं, उनके गिर्द एक प्रभामण्डल छा जाता है। उसमें रहते मुझे दम घुटता-सा मालूम होता है। जीरादेई में मुझे राजेन्द्र बाबू गांधी जी के पास ले गये, उस बार बस वही दो-एक मिनट मेरा उनके साथ साक्षात्कार हुआ।"⁶

सन् 1926 के कौंसिल चुनाव और 'गौहाटी कांग्रेस' के बाद उनका कांग्रेस से लगातार मोहभंग होता गया। इन चुनावों में जातिवाद और गिरोहवाद का नंगा नाच हुआ। जमींदारों की जोर-जबर्दस्ती के आगे नतमस्तक थी। एक तरह से जमींदार ही नेता बनकर उभर रहे थे। राहुल जी के लिए यह सब कुछ असहनीय थी। कांग्रेस से निराश हो रहे राहुल जी की यह पंक्तियाँ उस वक्त की उनकी मानसिकता को रेखांकित करती हैं : "कांग्रेस के सामने कोई नया कार्यक्रम न था। मेरे साम्यवादी विचार "बाईसवीं सदी" लिखकर रख लेने तक ही सीमित थे और उनके प्रचार के लिए साथी और अनुकूल वातावरण नहीं था। उधर बौद्ध धर्म के विशेष अध्ययन की मेरी इच्छा जो लद्दाख यात्रा से जग उठी थी, अब मुझ पर भारी जोर दे रही थी।"⁷

बौद्ध दर्शन से प्रभावित राहुल जी में अपने दैनन्दिन अनुभवों से उठते सवालों का हल खोजने के लिए एक विचारधारात्मक संघर्ष हमेशा जारी रहा। इसी क्रम में वह मार्क्सवाद से आकृष्ट हुए। शुरू में समाजवाद के बारे में उनकी सामान्य स्तर की समझदारी थी। उस वक्त अपने देश में मार्क्सवादी दर्शन और समाजवादी से सम्बन्धित पुस्तकों का प्रवेश पूरी तरह निषिद्ध था।

राहुल कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी में गये। उस वक्त कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में वामपंथी रुझान वाले असंख्य स्वाधीनता सेनानी सक्रिय थे। सन् 1930-34 के बीच उन्होंने इतिहास, राजनीति और दर्शन का गहरा अध्ययन किया। यूरोप की यात्राएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण साबित हुईं। सन् 1938 में तिब्बत से लौटकर फिर सक्रिय राजनीति में उतरे। इस बार वह गुणात्मक रूप में भिन्न विचार और दृष्टि के साथ

राजनीति में आये। 20 अक्टूबर, 1939 को जब बिहार में कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ तो वे इसके संस्थापक सदस्य बने। उनकी स्पष्ट धारणा थी, “साम्यवाद ही मानव जाति की सारी बीमारियों की एकमात्र रामबाण औषधि है, भारत का उद्धार भी उसी से है।”¹⁸ उनका मानना था कि भारत की वास्तविक आजादी का मतलब “आर्थिक और राजनीतिक आजादी” है, जो साम्राज्यवाद और सामंतवाद को पराजित करने से ही संभव होगी। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि ब्रिटिश हुकूमत भारत में देशी राजे-रजवाड़े और जमींदारों को अपने “राजनीतिक लठैत” के रूप में इस्तेमाल कर रही है। कांग्रेस से उनके मोहभंग की शुरुआत इसी मसले पर हुई। यह देखकर वे खिन्न हो उठते कि कांग्रेस ब्रिटिश हुकूमत से लड़ने की बात तो करती और आंदोलन भी संगठित करती पर वह जमींदारों और हुकूमत की मिलीभगत से किसानों और आम जनता पर ढाये जा रहे जुल्म पर खामोश हो जाती। इस दौर के एक प्रमुख किसान नेता स्वामी सहजानंद सरस्वती का भी लगभग इसी तरह कांग्रेस से मोहभंग हुआ।

यह महज संयोग नहीं कि राहुल जी और स्वामी सहजानंद सरस्वती एक मंच पर आये और बिहार प्रांतीय किसान सभा में दोनों का वर्षों तक साथ रहा। किसान सभा में कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और गैर वामपंथी सभी तरह के लोग सक्रिय थे। किसान सभा ने सन् 1936 में किसानों को उनकी जोत की जमीन से बेदखल करने की जमींदारों और सरकार की साजिश के विरुद्ध राज्य स्तर पर बड़ा आंदोलन शुरू किया। गया, पटना, शाहाबाद, मुंगेर, दरभंगा, चम्पारण और सारण इस आंदोलन के प्रमुख केन्द्र बन गये। सन् 1938-39 में, आंदोलन उग्र हो गया और उसने एक राज्य व्यापी आकार ग्रहण कर लिया। उनकी गिनती बड़े किसान नेताओं में होने लगी। गाँव-गाँव में उन्हें “राहुल बाबा” कहकर बड़े आदर से बुलाया जाता। वह जहाँ भी पहुँचते आंदोलन उग्र हो उठता। सन् 1939 में अमवारी के किसान संघर्षों का उन्होंने नेतृत्व किया। इस दौरान उन पर प्राणघातक हमला हुआ लेकिन राहुल जी अपने संकल्प पर दृढ़ रहे।

“दर्शन-दिग्दर्शन” जैसे गंभीर ग्रंथ के लेखक ने इसी देवली जेल में अट्ठारह दिनों की भूख हड़ताल की। हड़ताल में कई प्रमुख नेता शामिल थे। वही राहुल आंदोलन के एक कार्यकर्ता के रूप में बम्बई स्थित कम्युनिस्ट पार्टी के मुख्यालय में चटाई बिछाकर सोते थे और सुबह उठकर फिर अपने काम में जुट जाते थे। सन् 1943 के उनके कुछ माह यहीं बीते। फिर वह सोवियत रूस गये और सन् 1947 के उत्तरार्द्ध में स्वदेश लौटे।

राहुल जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वाधीनता आंदोलन को राष्ट्रवादी-प्रगतिशील धारा के वैचारिक और सांस्कृतिक आधार को मजबूत करने का प्रयास किया। कई पुस्तकों में आंदोलन के अपने अनुभवों का उन्होंने रचनात्मक उपयोग किया। “जीने के लिए”, “असहयोग के मेरे साथी”, “सरदार पृथ्वी सिंह” और “कप्तान लाल” जैसी पुस्तक इसी श्रेणी में आती है। “मानव समाज”, “वोल्गा से गंगा”, “वैज्ञानिक भौतिकवाद” और “भागो नहीं (दुनिया को) बदलो” जैसी पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने मनुष्य और समाज की विकास-यात्रा और उसके विभिन्न अंतर्विरोधों का विवेचन करते हुए अपनी विश्वदृष्टि का प्रतिपादन किया।

स्वाधीनता के बाद कैसा समाज हो, कैसा राज हो— राहुल जी के दिमाग में इसकी साफ तस्वीर थी। लेकिन उनका सपना पूरा नहीं हो सका। सन् 1948 में “हंस” के दमन विरोधी अंक में उन्होंने पंडित नेहरू के नाम एक खुला पत्र लिखा, जिसमें सरकार की निरंकुशता की आलोचना की और कांग्रेस के जनता से किये वायदों की याद दिलाई। राहुल जी जिस प्रकार की स्वतन्त्रता के हिमायती हैं, उसका स्वरूप क्या है? उनका कहना है, “व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता चाहिए, किन्तु वह स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाँधा पहुँचाने वाली न होनी चाहिये।” वे नियमहीनता और अव्यवस्था को स्वतन्त्रता के लिये घातक मानते हैं। स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं, “समाज के सभी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का ख्याल जिसमें रखा जाय वही स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता की भी सीमा और मर्यादा है।” यही कारण है कि राहुल जी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही सामाजिक समानता और स्वतन्त्रता का आधार मानते हैं और सभी प्रकार के जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग आदि के कुत्सित बखेड़ों और भेदभावों का मूलोच्छेदन अनिवार्य समझते हैं। उनके विचारों से इतिहास में किसी भी बड़े राष्ट्रीय पराभव का मूल कारण जाति-भेद

और वर्ग-वैषम्य ही रहा है। जब तक मानवता इस भयानक रोग से मुक्त नहीं होगी, तब तक उसके लिए स्वतन्त्रतत्पूर्वक साँस लेना असम्भव है। इसीलिए जीवन के एक क्षेत्र की परतन्त्रता और विषमता दूसरे क्षेत्रों में भी बुरा असर डालती है।

राहुल जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की मूल धुरी उनकी स्वातन्त्र्य-भावना ही है। उनकी आस्थाओं की बुनियादें मानव स्वतन्त्रता और मानव-महिमा में गहरी कड़ी हैं। कहीं-कहीं ये आस्थाएँ उग्रता, आग्रह और उपालम्भ का रूप धारण कर लेती हैं। वे अतीत से क्षुब्ध और वर्तमान से असन्तुष्ट होते हुए भी भविष्य के प्रति आशावान हैं। स्वतन्त्र मानव और मानवता के बहुमुखी विकास की अदम्य आकांक्षा उनके सारे साहित्य में गूँजती है। वे प्रगति के पुजारी हैं और मानव की प्रत्येक प्रगति के लिए विवेक-बुद्धि और सामर्थ्य अपेक्षित मानते हैं। जड़ता, अन्धश्रद्धा, गत्यवरोध और पराधीनता आदि जीवन-विरोधी तत्त्वों का वे डट कर प्रतिरोध करते हैं। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व गति, शक्ति, विवेक और विज्ञान से अनुप्राणित है और ये सब तत्त्व उनकी स्वातन्त्र्य भावना के आधार स्तम्भ हैं।

I UnHk §

1. गीतेश शर्मा, राहुल : मंथन एवं चिंतन, पृ० 33
2. डॉ० ब्रह्मानन्द, राहुल सांकृत्यायन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० 135
3. रजनी पी० दत्त, भारत : वर्तमान और भावी, पृ० 151
4. राहुल सांकृत्यायन, मेरे असहयोग के साथी, पृ० 3
5. राहुल सांकृत्यायन, मेरी जीवन यात्रा भाग-1, पृष्ठ 348
6. वही, पृ० 437
7. वही, पृ० 371
8. राहुल सांकृत्यायन, लेनिन (एक जीवनी), भूमिका से



mn; idk'k dh dforkvk e ekuoh; Ionuk d Loj Ekkyk ;kno*

प्रेम के बाद संवेदना ही मानव के अंतरतम की सर्वाधिक सत्य एवं पवित्र भावना है। सहानुभूति के दो शब्द किसी के दुख या कष्ट का निवारण करने में भले सक्षम न हों, पर उसके दिल को तसल्ली देने का कार्य पूरी सफलता से करते हैं। संवेदना मनुष्य को आत्मीयता के प्रगाढ़ बंधन में बाँधती है। यह हमें कोमल अनुभूतियों के उस भाव लोक में ले चलती है जहाँ कृतज्ञता की मौन स्वीकृति है भावात्मक एवं रागात्मक उष्मा का दिव्य संगीत है। यदि संवेदना न हो तो मनुष्य शिला बन जाएगा। दूसरों के सुख-दुःख को कोमलता से महसूस करने वाला हृदय ही न रहा तो मनुष्य के पास मनुष्य कहलाने के लिए बचेगा ही क्या? शायद इसीलिए किसी शायर को कहना पड़ा कि—

pb l 'kgj dh HkhM e pgj l kj vtuch]
jguek g gj dkb] ij jkLrk dkb ugh]
viuh&viuh fdLerk d ekj ;gk]
, d&nt l fd l h dk okLrk dkb ugh]
cl pyk tkrk ; gh ftUnxh dk dkjok]
;knk d VdM g cl nkLrk dkb ughAß

संवेदना शब्द साहित्य और मनोविज्ञान दोनों विषयों में ग्रहित है तथा विभिन्न अर्थों का द्योतक है। मनोविज्ञान के संदर्भ में संवेदना का अर्थ अंग्रेजी का पर्यायवाची शब्द sensation है और वहाँ इसका अर्थ ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है। साहित्य में इस शब्द का प्रयोग ऐसे सीमित अर्थ में नहीं किया गया है। विशेषतः जब हम मानवीय संवेदना की बात करते हैं तो उसका आशय मात्र ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव न रहकर मानव मन की अतल गहराईयों में छिपी करुणा, दया एवं सहानुभूति की उदात्त वृत्तियों तक हो जाता है। अपने व्यापक अर्थ में 'संवेदना' शब्द 'अनुभूती' का भी व्यंजक है। दूसरों के दुःख, कष्ट, पीड़ा, संत्रास की अनुभूति ही संवेदनशील प्राणी की पहचान है।

बीसवीं सदी के आठवें दशक में आयी कवियों की नयी पीढ़ी में उदय प्रकाश का नाम अग्रणी कवियों के तौर पर लिया जाता है। यह ऐसा दौर था जब मध्यवर्गीय लेखकों एवं कवियों का बड़ा हिस्सा नक्सलवाद से जुड़ गया था, लेकिन कवियों का ये वर्ग किसानों के वास्तविक संघर्ष और प्रतिरोध को अनदेखा कर तत्कालीन पूँजीपोषित समाचार पत्रों में छपी रिपोर्टों के आधार पर एवं उनसे प्रेरित होकर कविताओं में भी खूब मार-काट मचा रहे थे। ऐसी कविताओं की कोई विश्वसनीयता नहीं रह गयी थी। वहीं दूसरी तरफ आन्दोलित क्षेत्रों की प्रचलित भाषाओं एवं क्षेत्रीय बोलियों में मजदूर एवं किसान संघर्ष की सच्ची कविताएँ लिखी जा रही थीं, किन्तु इनकी पहुँच हिन्दी के पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय कवियों के संसार तक नहीं थी। इन कवियों ने स्वयं अपने तथा अपने समाज की पीड़ाओं को समझ कर उसकी सच्ची अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में की जिससे कविता की वह कलात्मक विश्वसनीयता काफी हद तक वापसी करने में सफल रही जिसे युवा आक्रोश वाली कविता ने खो दिया था।

आठवें दशक के कवियों में उदय प्रकाश ऐसे अकेले कवि हैं जिन्होंने कविता को एक नया आधार प्रदान किया साथ ही प्रतिरोध की मज़बूत विरासत को आगे बढ़ाया। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से किसान चेतना एवं मानवीय संवेदनाओं को एक ऐसा विस्तार दिया जिसने उन्हें मजदूरों और

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

किसानों से सहज रूप से जोड़ दिया। 'पश्यन्ती' के शुरुआती अंकों में छपी उनकी एक कविता 'मालिक आप नाहक नाराज हैं' दृष्टव्य है, इस कविता से ही उनकी पहचान बनी तथा इस कविता में उन्होंने प्रतिरोध का बिल्कुल ही नया आयाम विकसित किया—

pekfyd] vkf[kj gok rk vkid dgū l ugh pyr h]
/ki dk D;k djix vkī tk fxjxh gh
vkidh cjkfu; k e
vkid Āij p<dj Qndixh gh
jk'kuh dh uV[kV] pkidūh fxygfj; kAß¹

इस कविता में कवि ने अपने प्रतिरोध को व्यक्त करने के लिए प्रकृति को आधार बनाया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कविता को कहने वाला भले ही मध्यवर्गीय मनुष्य है, परन्तु फिर भी उसकी नज़र और उसकी संवेदना सामंती संरचना वाले ग्रामीण समाज में मालिकों एवं पूँजिपतियों द्वारा मज़दूरों एवं निचले तबकों के शोषित समाज पर किये जाने वाले अत्याचारों पर है। उदय प्रकाश इसी प्रकार के कवि हैं, मध्यवर्गीय समाज से ताल्लुक रखते हुए भी वे अपनी संवेदना के विस्तार में व्यापक समाज के दुःख दर्द को समेट लेते हैं। इस दृष्टि से उनकी कविताओं को कसौटी पर परखने के क्रम में हमें ऐसा महसूस होता है कि वे अपने समय एवं समाज की विद्रूपताओं और विडम्बनाओं को उजागर करते हुए बहुत कुछ नागार्जुन की परम्परा से जुड़े नज़र आते हैं। वे यह मानते हैं कि वही आदमी अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है जो सोचने और बोलने की हिम्मत रखता हो—

pdN ugh l kpu
vkj dN ugh ckyu ij
vkneh
ej tkrk gAß²

औद्योगीकरण के साथ भारत के किसानों और कारीगरों की स्थिति दूभर होने लगी थी। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप परम्परागत खेती, कुटीर उद्योग और कारीगरी का पतन आरम्भ हुआ। गाँवों की आत्मनिर्भरता नष्ट होने लगी, साथ ही साथ किसानों, कारीगरों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। आज़ादी के बाद जब लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना हुई तब भी उनकी स्थिति में परिवर्तन नहीं आया। आज़ादी के बाद भी विकास योजनाएँ उनके अनुकूल नहीं थीं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना के बावजूद मेहनतकश आम आदमी मौलिक अधिकार, विकास के अवसर, सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा, सुरक्षा इन सबसे वंचित ही रहा। उसकी मेहनत का मूल्य नहीं आँका गया। अब वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में भी विकास की योजनाएँ सीमित लोगों के हित में हैं। ऐसे में आम आदमी सुविधाओं से वंचित ही नहीं बल्कि उनके कारण त्रस्त भी है। पूँजीवाद पर अधिष्ठित विकास योजनाओं जैसे उदारीकरण, निजीकरण, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का गठन बाज़ारीकरण आदि ने किसानों, मज़दूरों एवं कारीगरों के अस्तित्व की समस्या को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। 'सुनो कारीगर' में कवि इन शोषितों के पक्ष में खड़े होकर उनके लिए संघर्ष करने के लिए तैयार नज़र आते हैं।

ppyu d i gy
, d ckj vkj idkj k e>
e l rEgkj l kFk
rEgkj h idkj dh mxfy; k Fk ked j
pyrk pyk tk Åxk
rEgkj i hN & i hN
viu fiNy v/kjk dk ikj djrkß³

यह विडम्बना ही है कि जिस कारीगर को मध्यकाल में शिल्पी के रूप में मान्यता प्राप्त थी वह आज के दौर में मज़दूर में बदल गयी। मार्क्सवाद और साम्यवाद के आगमन के बाद। हालाँकि इन

विचारधाराओं ने पूँजीवाद द्वारा उनको मात्र यन्त्र मानने और उनके श्रम के दोहन के प्रयास का विरोध किया। किन्तु इसके बावजूद इस नवपूँजीवादी दौर में उसकी हैसियत मात्र मशीन की है जिसे लाभ के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है और काम होने के बाद उपेक्षा भी। संग्रह के प्रथम खण्ड की 'सुराही', 'बढ़ई की लड़की', 'पिता', 'इमारत', 'डाकिया', 'अनुकपुर जंक्शन', 'हालचाल' जैसी कविताएँ इसी यथार्थ को उजागर करती हैं। 'सुराही' कविता बढ़ते बाज़ार के वर्चस्व के समय हास्यास्पद स्थिति में पहुँच गये कुम्हारों की वेदना को सामने लाती है। बाज़ारीकरण ने आज ऐसा जाल बिछाया है जो लोगों को महात्वाकांक्षी बना देता है साथ ही उन्हें उपभोक्ता बनने के लिए प्रेरित करता है। ऐसे बाज़ार में बढ़ई, कुम्हार आदि महात्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन बनते हैं और शोषण का शिकार भी। उनकी अपनी इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं रह जाता। उनसे कहा जाता है कि—

pck tkj di erkfd

rl; kj dj k l jkghAß

यह विडम्बना नहीं तो और क्या है कि जिन कुम्हारों की उँगलियों के बिना माटी, माटी ही रहती है घड़ा नहीं, उनकी उँगलियों का यानि उनके श्रम का कोई मूल्य नहीं आँका जाता है। इतने श्रम के बावजूद उन्हें अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तरसना पड़ता है। 'इमारत' कविता कारीगरों की निरन्तर उपेक्षा का साक्ष्य बन जाती है—

bugh t kurk b thfu; j

; k t kurk g fd bekjr fgy jgh g tkj tkj l

D; kfd rhu ehy nj

Xkko ei viu foyxh [kfV; i j

iMk gvk dkjhxj dki jgk g tkj tkj lAß⁴

यहाँ कवि की संवेदना उस कारीगर के साथ पूरी तरह जुड़ी हुई है। लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के बावजूद मेहनतकश आम आदमी सामाजिक न्याय से, विकास के अवसरों से पूर्णतः वंचित हैं। ये कविताएँ वास्तव में आम आदमी की वर्तमान स्थिति का ही बयान है। इन कविताओं में कवि अपने व्यापक सरोकारों को प्रस्तुत करते हैं। वे किसानों, मज़दूरों, कारीगरों को न तो युद्ध के लिए ललकार रहे थे, न ही सत्ता के आतंक का महिमा मण्डन करके डरा रहे थे, बल्कि उसके साथ चलने की अपनी प्रतिबद्धता दुहरा रहे थे। इस संग्रह में कई ऐसी कविताएँ हैं जो इस जनपक्षधर कवि की प्रतिबद्धता को नये सिरे से परिभाषित करती हैं। इस क्रम में नृशंस सत्ता के कई चेहरे होते हैं। क्रूरता भी होती है। उदय प्रकाश ने 'सुअर' के माध्यम से सत्ता के इस अपेक्षाकृत कम चर्चित चरित्र की विडम्बनाओं और विद्रूपताओं को गहराई से उकेरा है।

उदय प्रकाश का दूसरा संग्रह 'अबूतर—कबूतर'—1984 में प्रकाशित हुआ। जिसमें उनके काव्य संवेदना के विस्तार को सहज रूप में महसूस किया जा सकता है। इस संकलन की कविताएँ तीन खण्डों में विभाजित हैं। पहले खण्ड में हमें प्यार, अभाव और थकान जैसी भावनाओं को केन्द्र में रखकर लिखी कविताएँ मिलती हैं। इनमें हमें अभिव्यक्ति की नयी और अनूठी शैली देखने को मिलती है। नयेपन से तात्पर्य केवल भाषा और शैलीगत नवीनता से नहीं अपितु ये कविताएँ धरती पर एक नये मनुष्य के आगमन की सूचना देती है। नये विचार से तात्पर्य है, नये विचार और संवेदना के नये धरातल वाला मनुष्य। पहली कविता 'कुछ बन जाते हैं' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

pre feljh dh Myh cu tkvk

ei n/k cu tkrk g

re e>ei ?ky tkvkAß⁵

ऐसी कई सारी कविताएँ इस संग्रह में हैं जो अभिव्यक्ति के साथ— साथ अवधारणा के स्तर पर भी बदलाव लाने का प्रयास करती हैं। 'नींव की ईंट हो तुम दीदी' स्त्री के दुःख और संघर्ष के साथ—साथ शक्ति और सामर्थ्य को भी सामने लाती है।

pf<cjh Fkh nhnh rie
 gekj: cpiu dh
 vkpkj dk ryNV ry
 viuh dikl dh ckVh e: lk[kdj
 tyrh jghß

और—

ptyrh jgh re
 rEgkjk /k/vk lk[krh jgh
 ?kj dh xixh nhokj:
 Nlij di frud&frud:
 /k/ky: gkr: x, Aß⁶

एक स्त्री एक नहीं दो— दो घरों को सँवारती है, सजाती है, सजावटी दिवारों की तरह नहीं नींव की ईंट की तरह—
 pnlnh] vc viu nlij: ?kj dh

Ukho dh b.V gk reß⁷

उदय प्रकाश की कविताओं में निराशा और दुःख तो है लेकिन निराशावाद और दुःखवाद नहीं है। ऐसा संभव हो सका है उनकी परिवर्तन कामी विचारधारा के कारण। यह ऐसा समय है जब एक बीमार कामगार की त्रासदी कोई सुननेवाला नहीं है। सभी एक अन्धी दौड़ का हिस्सा हैं। किसी को किसी का हालचाल पूछने की फुरसत नहीं। इस संकलन में आदमी की असहायता और अकेलेपन का भयावह चित्र उपस्थित करने वाली कई कविताएँ हैं, लेकिन विसंगतियों को तोड़ने के संकेत भी अन्तर्निहित हैं। कई बार तो प्रश्नों में ही बेहतर विकल्प का इशारा है—

PHkkb: j:
 c?kjk cu
 fd cy\ß⁸

आम आदमी के छोटे-छोटे दुःख, छोटी-छोटी चाहतों और लड़ाईयों का दुर्लभ संकलन इन कविताओं में है। उनकी 'घर की दूरी' और 'मेरी बारी' जैसी कविताएँ साधारण जन के असाधारण दुःख को अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं।

'अबूतर— कबूतर' के दूसरे खण्ड में कुछ राजनीतिक कविताएँ हैं। इन कविताओं में सत्ता की क्रूरता और नृशंसता को उजागर करते हुए वे ऐसी शैली अपनाते हैं कि समाज में उसका आतंक स्थापित हुए बिना उसकी क्रूरता पूरी तरह उद्घाटित हो और उसकी विडम्बनाओं तथा विसंगतियों पर गहरी चोट लगे।

इस संग्रह के अन्त में एक लम्बी कविता है — 'बैरागी आया गाँव'। इसमें नक्सलवादी आन्दोलन का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। यह कविता किसानों और मजदूरों की चेतना में आ रहे परिवर्तन को सूक्ष्मता से रेखांकित करने का प्रयास करती है।

'रात में हारमोनियम'(सन् 1998 ई0) में संकलित 'औरतें' कविता में वे छोटे-छोटे ब्योरों के माध्यम से स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार का ऐसा भयावह चित्र उपस्थित करते हैं कि यह कविता एक बड़ी मर्मिक सभ्यता समीक्षा में बदल जाती है।

p, d vkjr dk dy:tk fNVddj ckj: ckgj fxj x; k g
 dgrk g& e> Qd dj fd lh uky: e: tYnh ykV tkuk
 cPpk dk Ldiy tku: di fy, txkuk g
 \$ \$ \$ \$ \$ \$ \$ \$ \$ \$
 jkt/kkuh di ify l Fkuu di xV ; k ,d nlij dk Nirh gb
 tehu ij cBh gi nk vkjr pipki
 yfdu lepi cãk.M e: xitrk gi mudk gkgdkjß⁹

इस संग्रह में 'मैं लौट आऊँगा', 'बचाओ', 'किताब', 'शरीर', 'पंचनामों में जो दर्ज नहीं', 'इस सदी में एक लड़की' इत्यादि जैसी मर्मिक कविताएँ भी हैं जो कवि के गहरे होते जन सरोकार एवं संवेदना की सूचक हैं। उदय प्रकाश में ज्ञान के साथ-साथ संवेदना का भी निरन्तर विस्तार होता गया है, जो दुर्लभ है।

उदय प्रकाश की कविताओं में जो संवेदना का स्तर है वह अपने समाज से व्यापक स्तर पर जुड़ने और समय के सवालों से टकराने के कारण पैदा हुआ है। यह कविता में आम जन के जीवन को पुनर्स्थापित करने का ऐसा उपक्रम है, जिसे अलग से रेखांकित करने की आवश्यकता है।

I UnHk §

1. सुनो कारीगर, उदय प्रकाश, प्रकाशन-वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-42।
2. वही, पृष्ठ संख्या- 93
3. वही, पृष्ठ संख्या- 10
4. वही, पृष्ठ संख्या- 19
5. अबूतर-कबूतर, उदय प्रकाश, प्रकाशन-वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-11
6. कविता कोश
7. वही
8. अबूतर-कबूतर, पृष्ठ संख्या-21
9. रात में हारमोनियम, उदय प्रकाश, प्रकाशन- वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-33



okxFk % l e l k e f ; d r k v k j d f o o p u l / k k

l / ; k f l g *

अगस्त 2017 को 'कविवचन सुधा' पत्रिका का 150 वर्ष पूरा होता है। इस अवसर पर भारतेन्दु और 'कविवचन सुधा' को याद किया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि रचनाकार और रचनाएं जिस प्रकार महत्वपूर्ण होती हैं उसी प्रकार पत्रिकाएं भी। रचनाकार अपने और आगे आने वाले समाज को रच रहा होता है, तो पत्रिकाएं उन्हें पाठक तक पहुँचाने वाली डाकिया का कार्य करती हैं। किसी भी पत्रिका का प्राण उसमें छप रही सामग्री होती है, जो आगे उसके मूल्यांकन में उसका स्वरूप निर्मित करती है, और उसका एक व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। पत्रिकाएं अपने समय की अभिव्यक्ति और तत्कालीन घटनाओं की गवाह होती हैं। वे साहित्य के विभिन्न पक्षों का स्पर्श पाकर पाठक को वर्तमान एवं भविष्य के प्रति सतर्क करती हैं। वागर्थ अंक 265 अगस्त 2017 को पढ़ते हुए कविवचन सुधा के माध्यम से वागर्थ को समझने का एवं वागर्थ के समय को समझने का प्रयास उसकी चयनित विषयवस्तु के अध्ययन विवेचन से करने लगी। इस अंक में कहानियाँ, उपन्यास अंश, आलेख, कविताएँ, विश्वदृष्टि, स्मृति, वातायन, समीक्षा, व्यंग्यकथा, सोशल मीडिया, विविध, बतरस और देश-देशान्तर शीर्षक हैं, जिसमें साहित्य की अलग-अलग विधाएं प्रकाशित होती हैं, किन्तु विधा अलग होने पर भी विश्व का समय तो एक ही है, इसलिए उनका सम्बन्ध एवं एक दूसरे पर प्रभाव होना स्वाभाविक है।

शंभुनाथ 'वागर्थ' पत्रिका के सम्पादक हैं। सम्पादकीय 'सूर्य का पता' नाम से लिखते समय वे कविवचन सुधा के माध्यम से उसके कठिन समय में संघर्ष को, स्पष्ट करते हैं, जिसमें ब्रिटिश शासन की कठोरता, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन, तत्कालीन सक्रिय संस्थाएँ और समाज की स्थापना और आवश्यकता शहरीकरण एवं औद्योगीकरण के विकास और विनाश, शोषण के स्वरूप एवं मानवता, राष्ट्रियता, आन्दोलन और शोषण के विरुद्ध आवाज को देखते हैं और उसकी प्रासंगिकता पर बल देते हैं। शंभुनाथ लेखकों और संपादकों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि— "साहित्यिक पत्रिकाओं के लेखकों सम्पादकों ने अपनी संवेदनशीलता, चिन्ताओं और फक्कड़पन के साथ साहित्य को अपनी सेवाएं दीं, वे अतुलनीय कही जानी चाहिए।...ये पत्रिकाएं वर्तमान दुस्समय है, मानों मनुष्यता के बचे-खुचे कारखाने हैं।"¹ वर्तमान दुस्समय में वाक्य वर्तमान की कलाई खोल देता है, कि अच्छे दिन आने वाले हैं। सम्पादक और लेखक में यदि संवेदनशीलता और फक्कड़पन होना आवश्यक गुण हैं, सब कुछ त्याग का सामर्थ्य नहीं होगा तो वे प्रतिष्ठा प्राप्ति की चिन्ता में डूबे रहेंगे। उनसे न तो समाज का कल्याण होगा और न ही मनुष्यता की रक्षा। लेखक और सम्पादक दोनों की निर्भीकता ही सत्ता और समाज की वास्तविक प्रगति और पतन दिखा सकता है। 'कविवचन सुधा' कठिन दौर की पत्रिका रही है, किन्तु सम्पादक शंभुनाथ अपने समय से जब उस समय की तुलना करता है तो पाता है कि आज संचार और सुविधाएं बढ़ी हैं, किन्तु "उस युग में सामाजिक विभाजन मिट रहा था और राष्ट्रीय एकता के मार्ग बन रहे थे, आज संस्कृति में बारूदी सुरंगें बिछाई जा रही हैं।"² भगवा और हरापन अलग किया जा रहा है, गायों की रक्षा और जुनैद की हत्या दोनों एक साथ हो रही है। भारतेन्दु ने कविवचन सुधा में अपनी मंशाएं एवं आकांक्षाएं स्पष्टतः व्यक्त की थीं। उनका मानना था कि सुधार आवश्यक है क्योंकि बिना सुधार एवं संशोधन के प्रथाएं अमानवीय रूप धारण कर लेती हैं, उनका क्षेत्र भी उतना ही स्पष्ट था वे धर्म में, परिवार में, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में, ऊँच-नीच में अमीर-गरीब में, शिष्टाचार-व्यवहार में इतना ही नहीं जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र में परिवर्तन चाहते थे।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतेन्दु अपने समय को स्पष्ट करते हुए और राजनैतिक एवं सत्ता के छलावा का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं— ‘अन्धेर नगरी है। व्यर्थ न्याय और आजादी देने का दावा है।’ (कविवचन सुधा, 1874)³ स्पष्ट कहा अन्धेर नगरी है, न कोई लाग—लपेट न घुमाकर कान पकड़ना। आज तो विषमताएं और बढ़ी हैं, आत्महत्याएं और ब्रिदोह का दमन शान्ति स्थापना और राष्ट्र की अखण्डता को बनाए रखने एवं सब का साथ सबका विकास के लिए सत्ताएं शक्ति प्रयोग में सफल हैं। ये हिंसा, अलगाव, नक्सलवाद, आन्दोलन बर्दाश्त नहीं करेंगी। मधु कांकरिया की कहानी ‘जंगली बिल्ली’ ऐसी ही सत्ता की शक्ति एवं उसके व्यवहार की वीरता की कहानी है। मधु कांकरिया मनुष्यता और सत्ता की इच्छा के बीच स्पष्ट रेखा खींचती हैं, जिसके पार व्यक्ति मनुष्य न होकर केवल फौज होता है, किन्तु इधर वह केवल मनुष्य। मनुष्य और फौज होना दो अलग—अलग स्थितियाँ हैं।

‘जंगली बिल्ली’ एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जिसने उग्रवाद का दमन किया है, मणिपुर, असम में शान्ति स्थापनाएं की हैं, उसके कार्य को देखते हुए उसे शौर्यचक्र पुरस्कार भी घोषित हुआ है, किन्तु कहानी अब आगे बढ़ती है जब उसे अपनी वीरता से नीड नहीं आती, वह जानता है कि वह वीरता नहीं थी वह कुछ और था, किन्तु तब तो वह कुछ सोचने एवं समझने को तैयार ही नहीं था, वह कहता है— “वह अपने को पूरी तरह भूल जाने की स्थिति थी। ऐसे में कुछ और सोचने की ताकत को ही दिमाग से बाहर कर दिया गया था। मैं वही सोच रहा था जो मेरी यूनिट मुझमें सोचवा रही थी।”⁴ मनुष्य यदि मनुष्य होकर सोचे तो वह दमन नहीं कर सकता, फौजें टूट जाएंगी, क्योंकि मनुष्य—मनुष्य का दुश्मन नहीं है। सोचवाना की एक लम्बी प्रक्रिया हमारे बीच चल रही है, सत्ता वही दिखाती एवं सुनवाती है जिसे वह चाहती है, वास्तविकता तो उलट है। उग्रवादियों की हत्या शौर्यचक्र प्रदान करती है, किन्तु उधर वे अपने समाज में पूजे जाते हैं, उनकी माँगें और उनका विरोध यदि अमानवीय है, आतंकवाद को बढ़ाने वाला है तो स्थानीय समाज उनका सहयोग क्यों करता है हजार किलोमीटर दूर का समाज उसे उग्रवाद, अलगाववाद या नक्सलवाद जो नाम पसन्द आये दे दे किन्तु वास्तविकता तो यही है कि वह सत्ता से संघर्ष करता समाज है, वह जनसमर्थन के साथ सशस्त्र विरोध करता है और दमन का शिकार है, सत्ता शान्तिप्रिय है, न कि हिंसा। वह स्वीकार करता है कि— “क्यों मैं अपने लिए कोई ऐसा तर्क दे सकता हूँ कि मैंने इंसान को नहीं, शैतान को मारा? मेरे लिए वे अलगाववादी थे, पर अपने विश्वास के अनुसार तो वे अपने पर हुए अन्याय का विरोध कर रहे थे।”⁵ सारा रहस्य खुल जाता है और पाठक वास्तविकता से परिचित होता है। यह है मधुकांकरिया की संवेदनशीलता और साहस। जो उन्हें वर्तमान से जोड़ता है और समाज के पक्ष एवं विपक्ष के चुनाव को स्पष्ट करती है। कहानी ‘जंगली बिल्ली’ पालतू से जंगली होने अर्थात् सहज, स्वाभाविक होने की कहानी है, कैप्टन के माध्यम से दूसरे पक्ष की कहानी है। विरोध और दमन की कहानी है। यह वागर्थ की पहली कहानी के रूप में रखी गयी है जिससे वागर्थ की रुचि और सम्पादक की आकांक्षा एवं साहस साफ है।

हम वैश्वीकरण युग में कदम रख चुके हैं, जहाँ भागमभाग और रोजगार का अभाव है। एक पद पर हजारों अभ्यर्थी आवेदन करते हैं ‘तीन बुलावें तेरह आवें’⁶ की स्थिति बढ़ती जा रही है। शिक्षा और स्वास्थ्य दोनों प्रभावित और रोजगारोन्मुख हैं। ममता कालिया का उपन्यास ‘दौड़’ तो इसी संवेदना को लेकर लिखा गया है, जहाँ रोजगार, स्वास्थ्य और परिवार सबको प्रभावित कर रहा है। उनके पात्रों को न खाने का समय है न सोने का, न परिवार के लिए न अपने लिए, समयाभाव ने उन्हें कृत्रिम बना दिया है। बाजार उनका इच्छानुसार शोषण करता है और असमर्थ पाकर किसी और की नियुक्ति बिना किसी संकोच के कर लेता है, और अगला व्यक्ति भी अवसर की तलाश में शोषित होने को तैयार है। इस बीच पल्लवी त्रिवेदी की कहानी ‘कन्फेशन’ महत्वपूर्ण लगती है, जहाँ रोजगार, धन लिप्सा, प्रतिष्ठा की चाह की जगह जीवन को महत्व दिया गया है।

‘कन्फेशन’ कहानी दो प्रेमियों की कहानी से अधिक उनके जीवन के दबे एवं छिपे हुए पलों की कहानी है जिसे व्यक्ति सदैव छिपाता या दबाता रहता है। वे प्रेमी युगल जीवनभर साथ रहने के इच्छुक हैं, किन्तु अपने होकर न कि अजनबी बनकर। अगर दो व्यक्तियों के मध्य सारी दीवारें ढह नहीं जायेंगी

तो सारी उम्र साथ रहने पर भी वे अजनबी ही रहते हैं, ऐसे क्षणों से गुजरने के लिए साहस चाहिए। लड़की अपनी बात और लड़का अपनी बात कह चुकने के बाद एक दूसरे से जानना चाहते हैं कि, इन बातों में सबसे अधिक शर्मिंदगी किस समय को याद करके होती है तो लड़की कहती है— “सिर्फ अपनी दोस्त के प्रति ईर्ष्या रखकर” उसके लिए और कुछ अस्वाभाविक नहीं था, किन्तु ईर्ष्या में किया गया काम आज भी उसे शर्मिंदगी का काम लगता है। लड़का कहता है— “उस महिला के साथ जानवराना व्यवहार करने की है।” वह जानता है कि जानवराना व्यवहार शर्मिंदगी का काम है, उसकी मानवीय दुर्बलता उसे सहज बना देती है और वह स्वीकार करने में समर्थ बनता है। इस कहानी में पल्लवी द्विवेदी ने पितृसत्ता के स्वरूप को तोड़ दिया है। यहाँ मनुष्य अपनी कमजोरियों एवं दुर्बलताओं के साथ जीवन को स्वीकार करता है, वह किसी भी प्रकार की शुचिता में स्त्री या पुरुष को नहीं बांधना चाहती वह देवता को नहीं मनुष्य को चित्रित कर रही हैं।

वागर्थ की अगली और तीसरी कहानी किसान जीवन की समस्याओं एवं उनकी संवेदनाओं को आधार बनाकर लिखी गयी है। सदानंद देशमुख मराठी भाषा के रचनाकार हैं, जिनकी कहानी ‘महालूट’ का हिन्दी में अनुवाद भगवान वैद्य ‘प्रखर’ ने किया। अनुवाद भी दूसरी भाषा-भाषी क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों को अन्य भाषा-भाषियों तक पहुंचाने का कार्य करते हैं। कहानी का पात्र किसान है और महीने भर से सर्द हवाओं को खा-खाकर ठठरी बना तुकाराम अपनी बीस बोरे जुआर बेचने का प्रयास कर रहा है। सरकारी दाम से व्यापारी 50 रु० कम पर जुआर खरीदना चाहते हैं। किन्तु तुकाराम सरकारी दाम पर ही जुआर बेचने पर डटा है, और महीने भर हो गये, तौल का नम्बर ही नहीं आता। साहब लोग और व्यापारी मिल गये हैं, उनके बोरे तुरन्त तौल दिए जाते हैं और तुकाराम, जैसे किसान ठठरी बने इंतजार कर रहे। तुकाराम कहता है— “सच कहो तो कभी-कभी ऐसा लगता है, जैसे अपने देश में अब नौकरशाही का ही राज है। जहाँ देखो वहाँ उनकी मनमानी चल रही है।...पूरे देश में कहीं भी जाओ। ये जोंक खून पीए जा रही है हम लोगों का। पुराने जमाने में साहूकार थे। जमींदार थे। सरकार ने कानून बनाकर उनकी मिट्टी पलीट कर दी। तो अब ये नए पैदा हो गए, कफनचोर!”⁹ अत्याचार एवं शोषण ने स्वरूप बदल लिया तो दमन ने भी। किसानों ने मिलकर साहब लोगों की पिटाई कर दी, और साहब फौज मंगवाने वाला है। दमन की प्रक्रिया प्रारम्भ, शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना है। किसानों का ज्वर एवं पेट में मरोड़ और उसकी आत्महत्याएं एक दिन के शोषण का परिणाम नहीं है, कि वह अपना धैर्य खो बैठा।

पंजाबी कहानीकार जगजीत बराड़ की कहानी ‘वापसी’ का अनुवाद योगेश्वर कौर ने हिन्दी में किया। यह वागर्थ की चौथी और अन्तिम कहानी है। पंजाब गेहूँ उत्पादन में अग्रणी होने के बावजूद यहाँ रोटी की कहानियाँ लिखी गयी। यह कहानी भूख के दर्द और पूंजीपति के शोषण की कहानी है जहाँ रोटी का आकार अंजील के आकार से बड़ी है, वह धर्म से पहले रोटी चाहता है, उसकी यात्रा-संघर्ष और वापसी धर्म एवं समाज के लिए न होकर रोटी के लिए है, जिसका चौथाई हिस्सा भी उसके बच्चे तक नहीं पहुंच पाता, वह वापस हताश अवस्था में आता है, किन्तु बच्चे ने जीने का और विरोध के रंग का तरीका खोज लिया है। उसने काले रंग से रोटी का निर्माण किया है, तो पिता ने न्यायाधीश की कुर्सी के सामने वाली दीवाल पर, पूर्वी हिस्से पर, तराजू की सुनहरी मूर्ति के एक पलड़े को भी उसने काला रंग दिया। एक समय में दो अलग-अलग जगहों पर रंगों का चुनाव समान हुआ, अर्थात् दोनों एक ही चेतनावर्ग के सदस्य हैं, और एक ही शोषण के शिकार कहानी के समाप्त होते ही पूरी यात्रा साफ और उद्देश्य प्रत्यक्ष हो जाता है।

उपन्यास अंश में भगवानदास मोरवाल उपन्यासकार का उपन्यास एक का अंश छपा है। जिसमें रागनी का परिवार से छिपा हुआ व्यक्तित्व सामने आता है और उसके पति का सहयोग उसे साहस बंधाता है। रागनी का डर पितृसत्ता में पली स्त्री का डर है, जिसने अभी तक अपने परिवार से अपने स्वरूप को छिपाए रखा। रागनी के पति डॉक्टर हैं, वे अत्यन्त खुले विचारों के इंसान और स्वतंत्रता पसन्द व्यक्ति हैं, उनके साथ ने रागनी को सम्मान दिलाया, जब कि रागनी की प्रतिभा उस सम्मान की पात्र स्वयं थी, किन्तु पितृसत्तावादी मानसिकता, रागनी को रागनी बनने से, मार्ग में सहयोग की जगह अवरोध ही उत्पन्न करती, का चित्र उपन्यास चित्रित करता है।

‘पितृसत्ता के चेहरे’ आलेख में श्रद्धांजलि सिंह पितृसत्ता के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं, और वर्तमान समय में उसे रेखांकित करती हैं। यह इतने सूक्ष्म ढंग से परिवार और समाज के बीच काम करती है कि आस्वाभाविक लगने का एहसास तक नहीं होता। बच्ची जब पैदा होती है, तब से लेकर, मृत्यु के पश्चात् कर्मकाण्ड तक पितृसत्ता उसे घेरे रहती है, जीवन का प्रत्येक पक्ष उससे प्रभावित रहता है। पितृसत्ता का विरोध सहजता की प्राप्ति का विरोध है, जो स्त्री को भी मनुष्य होने की मांग की आवाज है। आखिर उसका बोलना-चलना, उठना-बैठना, खाना-पहनना, सोना-जागना सब इतने नियंत्रित क्यों हैं। क्यों वह लज्जा को ग्रहण कर शर्माए जबकि तब वह जवाब भी दे सकती है। हो रहे अत्याचार का विरोध कर सकती है, वह पुरुष आकांक्षाओं के अनुसार धर्मानुसार आदर्श के नाम पर नियंत्रित जीवन क्यों जीए वह धर्म को अस्वीकार क्यों न कर दे जिसने पुरुषवादी मानसिकता का समर्थन किया। श्रद्धांजलि मानती हैं कि— “पितृसत्ता एक व्यापक सामाजिक प्रणाली है, जो पुरुष वर्चस्व और स्त्री की अधीनता का संस्थानीकरण करती है।”¹⁰ इस सामाजिक प्रणाली और संस्थानीकरण को समाज आकार देता है जिसमें स्त्री समाज स्वयं भागीदार होता है। मार्क्स ने स्त्री की पराधीनता का मुख्य कारण आर्थिक परतंत्रता को माना, फिर भी क्या आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियां इस घेरे से बाहर हो पायी हैं। जब तक स्त्री अपने निर्णय स्वयं नहीं लेंगी, उसके परिणाम झेलने को स्वयं तत्पर नहीं होगी तब तक वह इस दायरे को तोड़ नहीं सकती। विनोद राही का आलेख ‘अंध-राष्ट्रवाद की दुनिया’ में वर्तमान भारत की स्थिति क्या है, और उसके दुष्परिणामों पर लेखक का ध्यान जाता है। वह कहता है कि “अंधराष्ट्रवाद नस्लीय आधार वाली सत्ता के विस्तार की राह से यह काम करना चाहता है तो जनतंत्र की चेतना, पूंजी को आम लोगों के पक्ष में संगठित करने की बात कहती है। यह जनतांत्रिक सरोकारों के साथ यानी समानता, स्वतंत्रता और बंधुता के साथ साथ खड़ी दिखाई देती है।”¹¹ अंधराष्ट्रवाद को नस्लीय आधार वाली सत्ता की तलाश होती है जहाँ वह अपने स्वरूप का विकास, दूसरों का विनाश करके भी कर सके। आज सूचना प्रौद्योगिकी मानव जाति की स्वतंत्रता का पर्याय बन गए, निजता के संसार में यह राज्यसत्ता की घुसपैठ का मार्ग खोलती है। अब बाजार राजनीति को वाम और दक्षिण पंथ को अपने हितानुसार उपयोग करने लगा है। यह अविकसित एवं विकासशील देशों को अपने हाथ की कठपुतली बना देती है जिसके चंगुल से निकल पाना आसान नहीं है।

कविताएँ शीर्षक में अरुण कमल की कविताएं सबसे पहले रखी गयीं हैं जो अपने वर्तमान के स्वरूप और घटनाओं को व्यक्त करती हैं। ‘सबसे जरूरी सवाल’, ‘देश’, ‘एक वृद्ध की रात’, ‘योगफल’, ‘खुदरा’ समसामयिक की कविताएं हैं और प्रश्न करती हैं। “किसने मारा मेरे लाल जुनैद को”¹² उन्होंने जिन्होंने हथियार चलाये या उन्होंने जिन्होंने उस मानसिकता को उग्र किया, उसे बढ़ावा दिया। अरुण कमल को पता है कि अन्धेरी काली रात में भी “कभी भी बिल्कुल अंधेरा नहीं होता”¹³ तभी प्रत्यूष चन्द्र मिश्रा की कविता दिखाई देती है ‘दो’ × ‘तीन’ = ‘पाँच’ जिसमें वे कहते हैं— “हर घर पर अब इस नए समय की दस्तक है/ कोई व्यक्ति अब सुरक्षित नहीं/ कोई घर महफूज नहीं/”¹⁴ यह हमारा डिजिटलीकरण समाज की वास्तविकता है जहाँ बच्चे के गर्भ में आने से ही सूचनाएं सरकार को मिलने लगती हैं। जैसे हम सदैव कमरे की निगाह में हैं।

ऐसी आधुनिकता के समय में धीमा नरसंहार और शोषण भी बढ़ रहा है। अफ्रीका की त्रासदी है कि वह अपना स्वाभिमान यूरोप और अमेरिका के सामने खोता गया है। इस अंग में अफ्रीकी कविताएं मुख्यतः इस सवाल के सामने हैं— क्या अफ्रीका खुद सोच सकता है? अफ्रीका अपनी स्वतंत्रता और अस्मिता को तलाशने लगा है। न्यातेंगे माचेया लिखती हैं— “मेरी आवाज गूंजती है/ अलग-अलग जुबानों में/ बन जाती है मुक्ति की आवाज/ जिनकी अपनी कोई अपनी आवाज नहीं/”¹⁵ और बात स्पष्ट है। तो वहीं चीन प्रासंगिक हो उठता है, लियू जियायोबो की मृत्यु से 1 शान्ति नोबेल पुरस्कार पाने वाले लियू जियायोबो लीबर कैंसर से पीड़ित बिना दवा के ही 13 जुलाई 2017 को स्वर्गवासी हो जाते हैं। वर्षों कैद में रहने पर उन्हें चीन सरकार ने 26 जून 2017 को रिहा किया था। अभिव्यक्ति के लिए नहीं बल्कि मर जाने के लिए। उनके ऊपर आरोप था कि उन्होंने राज्य शक्ति के उच्छेद को उकसावा दिया, चीन का

दमन अभिव्यक्ति और मानवता का दमन, पाठक के सामने है। लियो ने कहा— “मैं उस सरकार का विरोध करता हूँ जो तानाशाही या एकाधिकारवादी हैं। ‘अभिव्यक्ति की आजादी मानवाधिकारों की बुनियाद है।’ ‘मेरा कोई शत्रु नहीं है।’ ‘मैं अपनी सजा एकमूर्त कारागार में काट रहा हूँ, जबकि तुम (पत्नी लियो जिया) हृदय के अमूर्त कारागार में प्रतीक्षा कर रही हो।’¹⁶ चीन सरकार एवं विश्व की दृष्टि अपने समय की तानाशाहिता का एहसास करवाती है, जहाँ नोबेल तो मिल सकता है, किन्तु दवा और आजादी नहीं।

विश्वनाथ तिवारी का लेख ‘तुलसी के राम’ वागर्थ स्मृति शीर्षक में रखता है। क्योंकि तुलसी और उनके राम को जानना आवश्यक है, राम को लेकर आज दुराचार भी फैल रहा है, उसकी चिकित्सा हेतु परिचय आवश्यक है। तो वहीं प्रो. अवधेश प्रधान भारतेन्दु की ‘कविवचन सुधा : 150 साल बाद’ उसको याद करते हुए उसकी विवेचना और स्थापना करते हैं वे कहते हैं कि— “कविवचन सुधा के उद्देश्यों में आधुनिक भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक सभी क्षेत्रों में पराधीनता के विरुद्ध स्वाधीनता की आकांक्षा व्यक्त हुई थी।”¹⁷ उस पत्रिका में “नारि नर सम होहि”¹⁸ की आकांक्षा बताती है कि स्वतंत्रता की मांग खोखली न होकर ठोस थी। स्त्रियों की पराधीनता राजनैतिक पराधीनता से भी अधिक अमानवीय और अकल्पनीय थी। प्रो0 अवधेश प्रधान भारतेन्दु के समय को वर्तमान समय से जोड़ते हुए कहते हैं कि— “अंग्रेजों ने अपने हिसाब से अच्छे दिन आने का वादा किया था, लेकिन देश की समृद्धि के बजाय गरीबी और मूर्खता बढ़ती गई।”¹⁹ आज भी ऐसे वादे किए गए और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के व्यापार हेतु दरवाजे खोल दिए गए, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कदम इतने तेज हैं कि छोटे व्यापारी, कारीगर और किसान तबाह होते जा रहे हैं। वे प्रश्न करते हुए कहते हैं कि— “150 साल बाद ‘कविवचन सुधा’ हमें नवजागरण और स्वाधीनता संग्राम के अधूरे सपनों की याद दिलाती है। हमारी आत्मा को कुरेद कर पूछती है, क्या आजादी के 70 साल बाद भी भारत को अपना खोया हुआ स्वत्व प्राप्त हुआ? क्या हमारी अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूँजी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की जकड़बंदी खत्म हुई? क्या हमारे देशी उद्योग—धंधे, छोटे व्यापारी और कारीगर खुशहाल हैं? क्या अत्याचार, साम्प्रदायिकता की भावना समाप्त हुई।”²⁰ इसका जवाब पाठक को एवं समय और सत्ता को देना होगा।

व्यंग्यकथा में अरिंदम का व्यंग्य ‘एक रात की कहानी’ में “रात थी पर सपने नहीं थे, सिर्फ बहुत तेज गति से कुछ दौड़ रहा था, वे अपनी रात को सफल मान रहे थे, क्योंकि वे इतने होश में नहीं थे कि वे आपस में क्या बातें कर रहे हैं नहीं जानते।”²¹ यह है भागती रातों और चमकदार जिन्दगी की वास्तविकता जहाँ नींद नहीं सपने नहीं। वह है तो चारों तरफ चका—चौंध। तो वहीं जीवन सन्देश खण्ड में “गलतियाँ करने में बिताई गई जिन्दगी न सिर्फ अधिक सम्माननीय है, बल्कि बिना कुछ किए बिताई गई जिन्दगी से अधिक उपयोगी है।”²² पाठक को प्रारम्भ करने की प्रेरणा और शक्ति देती है। इस प्रकार मैं ‘सूर्य का पता’ संपादकीय से ‘बतरस’ तक जाती हूँ तो लगता है कि मैं वागर्थ को नहीं अपने समय की आग को महसूस कर रही हूँ। मैं पढ़ते हुए विश्व भ्रमण पर निकल पड़ती हूँ। जहाँ भारत, अफ्रीका, अमेरिका, यूरोप एवं चीन मेरी आंखों के आगे से गुजरने लगता है। पत्रिकाएं अपने समय की यातनाओं और आग दोनों को अपने हृदय रूपी पन्नों में निर्भीकता के साथ जगह देती हैं, वे अपने समय का दहकता हुआ दस्तावेज और संवेदनशील समाज की पक्षधर एवं सहयोगी होती हैं। वागर्थ का यह अंक कविवचन सुधा के लिए और अपने लिए दोनों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और उपयोगी है, इसकी उपयोगिता इसकी सहजता, संवेदनशीलता और फक्कड़पन को ग्रहण करने और अभिव्यक्ति को मंच प्रदान करने से है।

I UnHk §

1. वागर्थ, अंक 265, अगस्त 2017, सम्पादक—शंभुनाथ, पृ0 5
2. वही, पृ0 5
3. वही, पृ0 6

4. वही, पृ० 14
5. वही, पृ० 17
6. वही, पृ० 61
7. वही, पृ० 19
8. वही, पृ० 22
9. वही, पृ० 25
10. वही, पृ० 47
11. वही, पृ० 54
12. वही, पृ० 60
13. वही, पृ० 6
14. वही, पृ० 64
15. वही, पृ० 74
16. वही, पृ० 82—83
17. वही, पृ० 9
18. वही, पृ० 90
19. वही, पृ० 92
20. वही, पृ० 96
21. वही, पृ० 107
22. वही, पृ० 110



xkj[kij d i jEijx r m|kx % ,d v/; ;u v t ; dek j feJ*

xkj[kij dk VjkdKvK gLr&f'kYi dyk& टेराकोटा 'इतालवी' मूल का शब्द है जिसका अर्थ है (पकी मिट्टी)। यह एक सिरैमिक है। इससे बर्तन, पाइप, सतह के अलंकरण आदि पर किया जाता है। टेराकोटा का रंग लाल और भूरा रंग का होता है।¹ टेराकोटा या मिट्टी की कला, एक ऐसी कृति है जो कि मिट्टी से बनी तथा पकाने पर चमक रहित होती है। यह कुम्हार के चाक की गति का उत्पादक कार्यों में प्रयोग करने की भाँति मानव सभ्यता का शिल्पकारी की दिशा में पहला कदम है। कुम्हार कला की प्राचीनता तो सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से प्रारम्भ है इस सभ्यता के एक स्थल मेहरगढ़ से चिन्ह मिले हैं। मिट्टी या टेराकोटा की बनी ऐसी अनेक लघु मूर्तियाँ वहाँ के अवशेषों में मिली हैं जिसमें गाय, कुत्ता, भालू, बन्दर आदि को सुन्दर रूप में गढ़ा गया है।² टेराकोटा का महत्व कपिलवस्तु के उत्खनन में भी स्पष्ट हुआ है।

भारत में टेराकोटा का काम यद्यपि कई राज्यों में किया जाता है जैसे गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र आंशिक रूप से बिहार परन्तु इसमें उत्तर प्रदेश का प्रमुख स्थान है। उत्तर प्रदेश का टेराकोटा कला उद्योग में महत्वपूर्ण स्थान है। खुर्जा, ग्लेज्ड मिट्टी की कृतियाँ नक्काशी के लिए तो आजमगढ़ की टेराकोटा, फूल-पत्तियों तथा ज्यामितीय रचनाओं के लिए तथा चिनहट की मृदा कला नीली एवं भूरे रंग के सफेद पृष्ठ भूमि के लिए प्रसिद्ध है।³

परन्तु गोरखपुर की टेराकोटा अपनी सांस्कृतिक पहचान लिये हुये सदियों से संग्रहित ज्ञान एवं परम्परा को संजोये हुए है। इस कला में हमें इतिहास की 'लिटिल ट्रेडिशन' (Little Tradition)⁴ की संकल्पना का लक्षण भी दिखाई पड़ जाता है। मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर हाथी के हौदों, घोड़े, मिट्टी की घण्टी, झालर, कलरा, गाय, ऊँट सहित, गणेश, बुद्ध, घोड़ा गाड़ी, मिट्टी के हल बैल, लैम्प रोड आदि को अत्यंत सुन्दर ढंग से सजाया सवॉरा व निर्मित किया जाता। गोरखपुर की यह टेरा कोटा भारत में ही नहीं अपनी विशेषता के लिए पूरे विश्व में प्रचलित है। गोरखपुर तथा आस-पास के क्षेत्रों में (गोरखपुर मण्डल) अपनी मान्यता पूरी होने पर लोग इस प्रकार की मूर्तियों की स्थापना ग्रामीण अंचल में कराते थे। धीरे-धीरे अपनी धार्मिक महत्ता में वृद्धि के साथ ही अपनी सुन्दर कलाकारी के लिए भी प्रसिद्ध हो गया। गोरखपुर में यह कला मुख्य रूप से औरंगाबाद (गोरखपुर, महाराजगंज रोड पर 10 किलोमीटर की दूरी पर) भरवलियाँ, सरैया, गुलहरिया बाजार, पादरी बाजार, अशरफपुर, हाफिज नगर, बेलवा, हसनगंज प्रचलित है। औरंगाबाद इसमें सार्वधिक प्रसिद्ध है। यहाँ के कुम्हारों जिसमें श्रीमति सुखराज –राष्ट्रीय पुरस्कार 1968, श्री शिवशंकर, राज्य मेरिट पुरस्कार 1978, श्री रामचन्द्र राज्य पुरस्कार 1979, श्री श्याम देव प्रजापति – राष्ट्रीय पुरस्कार 1980, श्री श्याम देव राज्य पुरस्कार 1980, श्री शिवनन्दन राज्य पुरस्कार 1981, श्री गब्बू लाल- राष्ट्र पुरस्कार 1983, श्री विनोद राज्य पुरस्कार 1992 ने अपने ग्राम का मान राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ाया।⁵ यहाँ के टेरा कोटा शिल्पी श्री गुलाब चन्द्र अपनी कला का प्रदर्शन इंग्लैण्ड, हालैण्ड जर्मनी जैसी विदेशी धरती पर कर चुके हैं।

xkj[kij dk gFkdj?kk m|kx &गोरखपुर में हथकरघा उद्योग का इतिहास हमें मध्य काल से ही दिखाई देने लगता है। जब गोरखपुर मुगलों के अधिकार में आया तब बुनकरों की संख्या में नगर में वृद्धि

*शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, उ०प्र०

हुई। जिससे यहाँ हथकरघा विकसित हुआ। हथकरघा की इस नगर में अपनी पहचान है। गोरखपुर नगर में चलने वाला हथकरघा उद्योग का इतिहास सैकड़ों वर्ष पुराना है। कृषि कार्यों से निवृत्त हो जाने के पश्चात् यहाँ का कृषक हथकरघा चला कर कपड़े बुनता था। इन कपड़ों की रंगाई के लिए प्राकृतिक रंगों का प्रयोग करता था, जिसे विविध प्रकार के पेड़ों की छालों पत्तियों, घासों एवं पौधों की जड़ों से निकलता था।⁶ अभी सुन्दर बुनाई के कारण यहाँ से बुने वस्त्र कलकत्ता, ढाका, वाराणसी, पाटन, व दक्षिण भारत के बाजारों में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित कर लिया था।⁷ पुराना गोरखपुर जो गोरखनाथ मन्दिर के आस पास स्थित था जिसमें वर्तमान रसूलपुर, हुमायूँपुर, कदलापुर, अलीनगर, पिपरापुर, बहरामपुर, इलाहीबाग, भरपुरवां, बाख्तियार मुहल्ला इस्माईलपुर, शेखपुर जैसे मुहल्लों में करघा उद्योग आज भी फल-फूल रहा है।⁸ इस कृषि मिश्रित हथकरघा उद्योग ने प्रारम्भिक काल से गंगा-जमुनी तहजीब की मिशाल नगर से प्रस्तुत किया है। नगर के बुनकर समाज का स्वतंत्रता आन्दोलन से गहरा सम्बन्ध रहा है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि भारत की आर्थिक व्यवस्था जो स्वयं आश्रित, स्वनिर्भर थी, को किस प्रकार बर्बाद कर दिया गया। जिस का सीधा प्रभाव नगर के हथकरघा उद्योग पर पड़ा। उपनिवेशवाद के प्रथम चरण वाणिज्यिक पूंजीवाद (1757 से 1813 ई0) के समय तो स्थिति अपेक्षाकृत थोड़ी बहुत अच्छी थी जब भारतीय वस्तुओं जिसमें सूती कपड़े प्रमुख थे को न्यूनतम मूल्य पर खरीदा जाता था यद्यपि इस चरण में भारत की खुली लूट प्रारम्भ हुई। परन्तु उपनिवेशवाद के द्वितीय चरण औद्योगिक पूंजीवाद (सन् 1813-1857 ई0)⁹ में तो भारत की खुली लूट से भी एक कदम आगे की शोषणकारी प्रवृत्तियाँ प्रभाव में आयी जो कालान्तर में सन् 1857 ई0 के महाविद्रोह का कारण बनी।¹⁰

करघों पर आश्रित परिवार इन परिस्थितियों में विद्रोह करने को विवश हो गया। और अपने प्राणों का उत्सर्ग करने से भी पीछे नहीं हटा। आधुनिक भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के समय 4 फरवरी सन् 1922 ई0 चौरी-चौरा में हुए गोली काण्ड में भी विरोध प्रदर्शन करते हुए 26 व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी जिनमें 6 बुनकर ही थे।¹¹ गोरखपुर के हथकरघा उद्योग के बारे में ब्रिटिश राज के दस्तावेजों से भी सूचना प्राप्त होती है। इसके अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय सन् 1801 ई0 में इस नगर का सीधा सम्बन्ध कलकत्ता के वाणिज्यिक जगत से था। सूती वस्त्र उद्योग प्रधान उद्योग था कई कारोबारी जो कलकत्ता से सीमेंट, नालीदार टीन की चादरें और विदेशी सामान यहाँ लाते थे, और यहाँ से हथकरघा पर तैयार सूती कपड़ों, गर्म कम्बल को कोलकाता भेजते थे।¹² सूती कपड़ों का केन्द्र गोरखपुर जबकि गरम कम्बल बॉसगाँव तहसील में तैयार होता था।¹³ प्रारम्भ में सूत आस के गाँवों से आता था परन्तु बाद में सूत मैनचेस्टर और लंका शायर के मिलों से तैयार होकर कलकत्ता होते हुए आने लगा। जिससे किसानों, बुनकरों की आर्थिक हालत खराब होने लगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय (1939-1945 ई0) यहाँ का हथकरघा उद्योग काफी व्यवस्थित ढंग से फला-फूला युद्ध के कारण ब्रिटेन की स्थिति दयनीय होने लगी और उसने भारत में सूती धागों का नियति ठीक ढंग से न कर पाने के कारण भारतीय सूती धागा एवं कपड़ा उद्योग को सहायता प्रदान किया। धीरे-धीरे यह उद्योग विकसित होता गया। आजादी के बाद भारत में विकसित हुए संगठित कपड़ा उद्योग का फायदा गोरखपुर के बुनकरों को भी मिला। महाराष्ट्र, गुजरात के मिलों से आसानी से सूत मिल जाने के कारण यहाँ हथकरघों की संख्या में वृद्धि हुई और यह बढ़कर 25 हजार तक हो गयी। साठ के दशक में सहकारिता आन्दोलन का यहाँ के बुनकरों को खूब लाभ हुआ। परन्तु सत्तर के दशक के बाद हथकरघा उद्योग में पर्याप्त गिरावट आयी भ्रष्टाचार नौकरशाही, लाल फीता शाही आदि ने बुनकरों की कमर तोड़ दी। जबरदस्त विरोध प्रदर्शन हुए और अन्ततः 1971 ई0 में यू0 पी0 हैण्डलूम कारपोरेशन का गठन हुआ।¹⁴ परन्तु इसके बावजूद इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ।

इस प्रकार गोरखपुर का हथकरघा उद्योग अपने लम्बे समय में बहुत उतार-चढ़ाव देखा। परन्तु आज भी यह उद्योग गोरखपुर में अपना अस्तित्व बचाने के लिए संघर्षरत है। और अपनी पहचान को संजोये रखने में कुछ हद तक सफल रही है।

गोरखपुर में उद्योगों की गोरखपुर में जूट उद्योग की स्थापना सन् 1935 ई० में सहजनवाँ ब्लाक (तहसील) में हुई। वर्तमान महाराजगंज जनपद के सिसवा बाजार के कमानी परिवार तथा पडरौना के केडिया परिवार ने जूट मिल की स्थापना किया मिल ने प्रत्यक्ष रूप से एक हजार एवं अप्रत्यक्ष रूप से पन्द्रह हजार परिवार को रोजगार देने का काम किया। परन्तु यह जूट मिल दुर्भाग्य से 1936 ई० तक आते-आते भारी घाटा होने के कारण बन्द हो गयी। पुनः इस मिल को शुरू कराने का श्रेय प्रवीण मसकरा परिवार को जाता है।¹⁵ प्रवीण मसकरा परिवार के भोलाराम मसकरा जी ने 1939 ई० में जूट मिल खरीद लिया जो पचपन एकड़ में फैला हुआ था, एक बार फिर जूट उत्पादन यहाँ से शुरू हुआ। इस मिल को जूट के लिए कच्चा माल बिहार एवं पश्चिम बंगाल से मिलता है जबकि तैयार माल पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान को भेजा जाता है।¹⁶ इस प्रकार विकट परिस्थितियों में भी अपना उत्पादन निरन्तर कर रही है। उत्तर प्रदेश में केवल दो जूट मिल ही कार्यरत हैं जिसमें प्रथम जे० के० जूट मिल, कानपुर तथा दूसरा महाबीर जूट मिल सहजनवाँ है। यह मिल जूट उद्योग के लिए पूर्वान्चल में अपनी पहचान बनाये हुए है।

फर्टिलाइजर कारपोरेशन आफ इण्डिया की स्थापना 1 जनवरी सन् 1961 ई० को हो जाने के पश्चात इसका पुनर्गठन 1, अप्रैल सन् 1978 ई० में हुआ। इस योजना के अन्तर्गत सिंदरी (झारखंड) तलचर (उड़ीसा) गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) रामागुण्डम (तेलंगाना) के चालू उर्वरक कारखाना, कोरवा (छत्तीसगढ़) तथा जोधपुर खनन संस्थान (राजस्थान) को सम्मिलित कर एफ० सी० आई० एल० का गठन हुआ।¹⁷ इस प्रकार गोरखपुर उर्वरक कारखाना सन् 1978 ई० में प्रारम्भ होकर उत्पादन शुरू किया। इस उर्वरक कारखाने की स्थिति ऐसी जगह पर थी जिसके पृष्ठ प्रदेश में कच्चे माल की अनुपलब्धता, सरकार की निष्क्रियता एवं प्रशासनिक तंत्र की विफलता के कारण यह उर्वरक कारखाना 30 जून सन् 1990 ई० में बन्द कर दिया गया। पुनः गोरखपुर उर्वरक संयंत्र के पुनर्उत्पाद का कार्य 22 जुलाई सन् 2016 ई० को भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी द्वारा छब्बीस वर्षों बाद किया गया। साथ ही साथ एक अन्य उर्वरक संयंत्र भी स्थापित करने की घोषणा की गई है।¹⁸

इसी प्रकार नगर में सरिया उद्योग, कपड़ा उद्योग, होटल उद्योग आदि का व्यापक विकास हुआ है। सन् 1989 ई० में गोरखपुर विकास प्राधिकरण की भी स्थापना हुई, जो नगर की आर्थिक गतिविधियों के अभिवृद्धि में सहायक बनी हुई है।

I UnHk §

1. श्रीवास्तव, के० एन० डिस्कवरी आफ कपिल वस्तु
2. पाण्डेय, जे० एन० पुरातत्व विमर्श
3. टेरा कोटा हस्त शिल्प विभाग के सहयोग मे
4. एन० सी० ई० आर० टी० XII पेज नं०- 141
5. चतुर्वेदी, अरुणेश, टेराकोटा: गोरखपुर जनपद का प्रसिद्ध हस्त शिल्प
6. चन्द्रा, सतीश, मध्य कालीन भारत
7. तारिखे गोरखपुरी
8. स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर
9. चन्द्रा विपिन, आधुनिक भारत, पेज -71
10. ग्रोवर, बी० एल०, आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली, 2000
11. पाणिक्कर, के० एम०, ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री
12. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, गोरखपुर पेज - 39
13. स्थानीय पत्रिका आकलन के एक लेख से सन्दर्भित
14. जायसवाल, रंजना, करघों से रिक्शों के हैंडिल तक
15. तत्रैव
16. सत्यवान सिंह एवं स्थानीय पत्रिकाओं से संकलित लेख के आधार पर
17. जूट मिल के कर्मचारी से विमर्श के आधार पर
18. Ferteorindia.nic.in



तक; लह दल कफगR; e of.kr lLdfr vkj lek

ixfr feJk*

किसी साहित्यकार के साहित्य का समग्र अनुशीलन करने के लिए सर्वप्रथम उस कवि के समय की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक स्थिति को जानना अनिवार्य होता है। कवि के द्वारा किया गया वर्णन महज कल्पना नहीं होती बल्कि वह उस समय, उस समाज की तत्कालीन स्थितियों का चित्रण भी होता है। जायसी का रचनाकाल लगभग 16वीं शताब्दी है। इस समय देश टुकड़ों में विभक्त था। गुजरात, जौनपुर, चुनार, चित्तौड़, सूरजगढ़, कालिंजर, गौण, रोहतास, कन्नौज, चौसा आदि प्रमुख राज्य और गढ़ थे।

सातवीं शती से लेकर सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध तक का समय भारतीय जनता के लिए बड़ा ही संघर्षपूर्ण था। अनेक ही महत्वपूर्ण घटनाओं के नाते सामाजिक संक्रमण एवं राजनीतिक उथल-पुथल इस युग में दिखाई देता है। बाह्याक्रमण के समय आने वाली विदेशी जातियाँ अंततः भारतीय समाज की प्रमुख अंग बन गयी। अरब तुर्क और मुगल आक्रमकों में से तुर्क और मुगल दोनों बड़े ही नृशंस एवं बर्बर सिद्ध हुए।¹ ये मुसलमान आक्रमणकारी जहाँ-जहाँ गए उन्होंने वहाँ की जनता के सामने तीन रास्ते रखे या तो कुरान लो और इस्लाम को कबूल करो या 'कर' दो और अधीनता स्वीकार करो अथवा दोनों में से कोई बात पसंद न हो तो तुम्हारे गले पर गिरने के लिए हमारी तलवार प्रस्तुत है।²

सूफी काव्य से भारत में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का सम्मिलित रूप प्रस्तुत हुआ। सूफियों ने भारतीय परिवेश में सूफी काव्य को एक नया देशी व्यक्तित्व दिया और सांस्कृतिक क्षेत्र में यह उनका महत्वपूर्ण प्रदेय है।³ जायसी सूफी प्रेमाख्यान लोककथा का आश्रय लेकर चले पर उसमें मसनवी पद्धति को अपनाया गया। शिल्प फारसी और कहानी भारतीय समाज में प्रचलित लोक-कथाएं थीं। जायसी ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। समाज के तीनों वर्गों का चित्रण जायसी ने बहुत ही कुशलता के साथ किया है। उस समय समाज उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग में बँटा था।

उच्चवर्गीय परिवार राजपरिवार से सम्बन्धित रहते थे, आमोद-प्रमोद, भोग-विलास, दास-दासियों को रखना उनकी आदत थी। उच्चवर्गीय परिवारों में सामंती प्रवृत्ति देखने को मिलती है। साथ ही मध्यवर्ग के लोग अपने कामों में व्यस्त थे। दिन भर कमाने खाने वाले लोग थे। निम्नवर्गीय लोगों की स्थिति दयनीय थी। उनका जीवन स्तर निम्न तथा दुःखमय था। ऐसे लोग सामंतों के यहां नौकर-चाकर थे। इनका शोषण पूर्णरूप से समाज में होता था। जायसी के काव्य में तत्कालीन समाज की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है। सूफी मुसलमान होने के कारण एक तो वे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित दिखाई देते थे, परन्तु भारतीय कथा को आधार बनाने के कारण एक ओर तो वे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित दिखाई देते थे, परन्तु भारतीय कथा को आधार बनाने के कारण तथा भारतीय जीवन का अधिकाधिक ज्ञान होने के कारण जायसी भारतीय संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति विशेषकर हिन्दू संस्कृति का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होता है।⁴

जायसी ने जन्म संस्कार से लेकर विवाह और मृत्यु तक होने वाले समस्त संस्कारों को बखूबी दिखाया है। जन्म के समय होने वाले समस्त विधि विधानों का जैसा वर्णन जायसी ने किया है वैसा अन्यत्र कहीं दुर्लभ है। जायसी धर्म से मुसलमान थे। लेकिन इसके बाद भी उन्हें हिन्दू जनमानस में व्याप्त समस्त लोकाचारों का वर्णन बहुत ही सुंदर ढंग से किया है। जन्म के समय पंडित जनों को बुलाकर पुत्र की राशि

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उसके भविष्य के बारे में गणना करवाना⁶, छठी, बरहव, इत्यादि संस्कारों का वर्णन दर्शनीय है। इसके साथ ही स्त्रियों द्वारा घरों में जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले मंगलगान गा रही हैं, छठी और बरही संस्कार के बाद पद्मावती को घर पर ही 'विद्याभ्यास' करवाया जाता है। रानी पद्मावती पांच वर्ष में ही समस्त विद्याएं सीख लेती हैं।

ikp cjl eg Hkb. l k ckjhA nhUg ijku i< c l k jhA
Hk ineofr ifMr xuhA pg [kM d jkt Ug l u hAA⁶

पद्मावती के विवाह को लेकर घर परिवार के लोग चिन्तित दिखाई देते हैं। इसके साथ ही विवाह संस्कार का वर्णन जायसी ने बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। विवाह सम्बन्धी लोकाचारों में निमंत्रण पत्र भेजना, राजमहल में मंगल वाद्यों के साथ आनंदोत्सव मनाना, चन्दन के खम्भों तथा मणियों के दीपक प्रज्ज्वलित करना भी वर्णित किया गया है।

ckjg cfjl ekg Hkb jkuhA jkt l uk l tkx l ; kuh
lkr [kM /kkjkjg rk lA infefu dg l k nhUg uok lA⁷

मध्यकालीन परिवार संयुक्त और पितृसत्तात्मक परिवार है जिसमें घर का मुखिया पिता या पुत्र होता है। वही घर की समस्त जिम्मेदारियों का निर्वहन करता है। प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुख का ध्यान रखता है। पुत्र या पुत्री के विवाह की जिम्मेदारी के मुखिया की होती है। पद्मावती जब 12 वर्ष की होती है तभी पिता को विवाह की चिन्ता सताने लगती है। विवाह प्राचीन हिन्दू समाज का सर्वाधिक प्राचीन संस्कार है जिसकी महत्ता आज भी विद्यमान है।

पारिवारिकजनों के विचार विमर्शोंपरांत जब वर के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाता है तब शुभ घड़ी का मुहुर्त देखकर ही बात आगे बढ़ाई जाती है। पद्मावती और रत्नसेन का विवाह तय होता है। बारात बहुत ही धूमधाम के साथ निकलती है। जहाँ सोने से सजी चित्रसारी थी वहाँ बारात आकर ठहरती है। सभी बारातियों का पान, फूल और सिन्दूर से स्वागत किया जाता है।

vkbl ctkor ifB cjrka iku Qy l n j l c jkrAA⁸

समस्त बारातियों को खाने के लिए बुलाया जाता है। कोई भी व्यंजन एक ही तरह का नहीं है उसे कई-कई विधियों से बनाया गया है। लचुई, पूरी, सोहासी, शरबत इसी तरह के छप्पन भोग परोसे जाते हैं। इसके उपरांत भांवर पड़ती है इसके अन्तर्गत वर और वधू का गठबंधन किया जाता है और दोनों ही अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। वर और वधू को एक दूसरे के प्रति कुछ वचन निभाने को कहा जाता है। ये कार्य पण्डित जन शास्त्रीय विधि से करते हैं—

xkfb nyg nyfgu d l tkjh A gvk t x r t k t k b u NkjhA
on eufg ifMr rfg BkAA dU; k r y k j k f' k y l u k AAA⁹

यहाँ एक बात की तरफ हमारा ध्यान और जाता है वह है समाज में प्रचलित रूढ़ियाँ और अंध विश्वास जिनका जायसी ने वर्णन किया है। बारात निकलते वक्त शुभ-अशुभ का ध्यान रखा जाता है। वैसे यह तथ्य सिर्फ बारात के बाहर निकलने से ही सम्बन्धित नहीं है, बल्कि हमारे भारतीय समाज में कहीं भी घर से बाहर निकलते वक्त इन शुभ-अशुभ प्रतीकों का ध्यान रखा जाता है। लोक जीवन में ऐसी बहुत सी रूढ़ियाँ प्रचलित हैं जैसे बिल्ली का रास्ता काटना, नेवले का रास्ता काटना, खाली मटका देखना, काने व्यक्ति को देख लेना, दाहिनी आंख का फड़कना इत्यादि प्रतीक अपशकुन माने जाते हैं। वहीं पानी से भरा मटका मिलना, सुहागन स्त्री का सामने आना, नीलकंठ, लोमड़ी, हिरण आदि का मिलना इत्यादि प्रतीक शुगन/शुभ माने जाते हैं। 'रत्नसेन' पद्मावती की तलाश में जब जोगी का वेश धारण करके घर से निकलता है तब सगुन विचारने वाले लोग सगुन देखते हैं। चाँदी के कण्डालों में दही और मछली भरी हुई आ रही थी, जल भरा कलश लेकर तरुणी चली आ रही थी, दही बेचने वाली ग्वालिन आवाज लगा रही थी। दाहिनी ओर एक हिरन दौड़ता हुआ दिखाई दिया इत्यादि।

vkx l xu l xfu; k r k d k A n f g m e P N : i l d j V k d k A A
Hk j d y l r : u h p f y v k b A n f g m y g l x o k f y u x k g j k b A A

ekfyfu vkm ekj y| xkFkA [ktu cB ukx d| ekFkAA
 nfgu| frfejx vkb xk ?kkbA i:rhgkj ckyk [kj ckbAA
 fc[k| l ofj; k nkfgu ckykA ck,| fnf l xknj ugh MkykAA
 ck,| vdk l h /kkfcfu vkbA ykok nj l u vkb n[kkbAA
 ck,| dijkjh nkfgu dpkA igpi Hkxfr t l eu #pkAAA
 t kdg gkfg l x u v l vk xou t f g v k l A
 vLVk egk l f) rfg t l dfc dgk fcvk l AA¹⁰

हम देखते हैं कि जायसी ने समाज में व्याप्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों का कितना सटीक वर्णन किया है। ये रूढ़ियाँ मध्यकाल में ही नहीं आज भी उतनी ही प्रचलित हैं।

विवाहोपरान्त विदाई की तैयारियाँ होती हैं। जिस दिन बारात कन्या पक्ष के यहाँ आती है उसके दूसरे दिन विदाई होती है। विदाई के समय कन्या को दान दहेज दिया जाता था। प्राचीनकाल में स्त्रियों को विवाह के समय राजवंशों और सम्पन्न परिवारों में वधू को कुछ उपहार देने के संदर्भ में अथर्ववेद और जातक कथाओं में है।¹¹ स्त्रियों को विवाह के समय आभूषणों और उपहार इत्यादि दिये जाने का संदर्भ है और विवाहित स्त्री के लिए यही स्त्रीधन माना जाता था। “लड़कियों के विवाह में दहेज देने की प्रथा थी जिसके अन्तर्गत माता-पिता गहने, कुर्सी-मेज, हाथी घोड़े विलास की वस्तु और नौकरानियाँ देते थे।”¹² कालान्तर में यही दहेज कहलाया। तेरहवीं और चौदहवीं सदी में दहेज की क्या स्थिति थी यह हम इन सूफी ग्रंथों में देख सकते हैं। मध्यकाल में दहेज की क्या स्थिति थी इसका वर्णन जायसी ने भी किया है। जायसी कहते हैं कि—

t k igpkb fQjk l c dkAA py l kFk x u v k x u n k m A A
 v k l x p y k x o u t i r l k t k A m g l n b i k j l v l x k t k A
 M k M h l g l p y h l x p j h A l c i n e u h f l g y d i j h A A
 H k y i V o U g [k j o k j l o k j A y k [k p k f j , d H k j i V k j A
 j r u i n k j F k e k u f d e k r h A d k f < H k M k j n h U g j F k t k r h A A
 i f j f [k l k j r u i k j f [k U g d g k A , d , d u x f l f L V f g c j y g k g f L r A A
 l g l i k f r r f j ; U g d l p y h A v k l l i k f r g f L r f l / k y h
 f y [k y k [k t k y [k k d g l u i k j f g t k f j
 v j c n [k j c n u h y l [k v k [k M i n e d j k f j A A¹³

दहेज जैसी कुप्रथाओं से ही आज स्त्रियों की स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है। मध्यकाल में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी जिसका जायसी ने अपने ग्रन्थ पद्मावत में जगह-जगह पर वर्णन किया है। हालांकि पद्मावत में कन्या के जन्म के अवसर पर दुःखी होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं लेकिन फिर भी पद्मावती के पिता को पद्मावती के विवाह की चिन्ता बहुत कम उम्र में ही सताने लगती है—

ckjg cfj l ekg Hkb jkuhA jkt l l u k l t k x l ; kuhA
 l k r [k M / k k j k g j r k l A i n f e f u d g l k n h U g u o k l A A¹⁴

खैर पद्मावती का विवाह रत्नसेन के साथ होता है। दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती एक साथ रहती है जिससे आपसी ईर्ष्या और द्वेष होना स्वाभाविक है। दोनों ही रानियाँ अपनी-अपनी जगह सही हैं किसी की कोई भी गलती नहीं है लेकिन फिर भी समाज में व्याप्त बहुपत्नी प्रथा की वजह से उन्हें ऐसी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है कि दोनों के बीच एक दूसरे से श्रेष्ठ होने की होड़ लगी हुई है।¹⁵

उच्चवर्ग अर्थात् राज परिवार की स्त्रियों की दशा निम्न वर्ग की स्त्रियों की दशा से अधिक अच्छी तो थी लेकिन वो अपने किसी भी निर्णय के लिए स्वतंत्र नहीं थी राघव चेतन को जब देश निकाला दिया जाता है तो पद्मावती इस बात को लेकर प्रसन्न नहीं होती वो इसे अनुचित मानती हैं। लेकिन वो इस विषय पर रत्नसेन से कोई भी संवाद करती हुई नहीं दिखती हैं और न ही कोई स्वतंत्र निर्णय लेते हुए

ही दिखती हैं। अर्थात् स्त्री की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है वह पूर्णतः पिता, पति, पुत्र पर आश्रित है। विवाह और परिवार जैसी संस्थाओं ने स्त्री की स्थिति को निम्न दर्जे तक पहुँचाने का काम किया, इसीलिए मध्यकाल में कन्या का जन्म अशुभ माना जाने लगा। “शम्भाजीराज अफीक ने फिरदौसी द्वारा वर्णित ईरानी परम्परा का उल्लेख किया है कि स्त्री और सर्प भयानक जीव हैं इन्हें मार डालना चाहिए।”¹⁶

कोई भी समाज एक सभ्य और विकसित समाज तभी कहा जायेगा जब उसमें समाज के हर वर्ग के लोगों को जीने का और आजादी का हक हो और साथ ही स्त्री और समाज के दबे-कुचले शोषित वर्ग के प्रति समाज का रवैया सकारात्मक हो। सूफी काव्यों में वर्णित सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि पहलुओं को देखने से तत्कालीन परिवेश की झलक मिलती है और साथ ही ये रचनाएँ उस समय और समाज से संवाद करते हुए कुछ सवाल भी उठाती हैं।

I UnHk §

1. आदिकालीन हिन्दी साहित्य, डा० शम्भूनाथ पाण्डेय, पृ० 401
2. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 223
3. भक्ति काव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना, प्रेमशंकर, पृ० 38
4. पद्मावत में काव्य संस्कृति और दर्शन : द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ० 381
5. पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, पद सं० 63
6. वही, पद सं० 53
7. वही, पद सं० 53
8. वही, पृ० 282
9. वही, पृ० 285
10. वही, पृ० 135
11. मध्ययुगीन भारतीय समाज और संस्कृति, पृ० 216
12. वही
13. पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, पद सं० 385
14. वही, पद सं० 54
15. मध्ययुगीन भारतीय समाज और संस्कृति, पृ० 439
16. वही, पृ० 62



;kxn'ku ,o vU; Hkkjrh; n'kuk dk IEcU/k

vfer flg*

भारतीय मनीषियों के उर्वर मस्तिष्क से जिस कर्म, ज्ञान और शक्तिमय त्रिपथगा का प्रवाह उद्भूत हुआ और जिसने न केवल भारत के अपितु सम्पूर्ण जगत् के कल्मष को दूर कर मानवता के विकास में योगदान दिया है, उसी विद्या को दर्शन के नाम से अभिहित किया जाता है। दर्शन शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दृशिर् प्रेक्षणे धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है।¹ यहाँ ल्युट् प्रत्यय का व्युत्पत्तिलभ्य अभिप्राय दृष्टि या देखना अथवा जिसके द्वारा देखा जाए या जिससे देखा जाए इत्यादि का द्योतक है।

समस्त सृष्टि में ईश्वर, जीव, जगत् ये तीन तत्त्व दुर्बोध, रहस्य एवं विलक्षण होते हैं, उन तीनों तत्त्वों के साक्षात्कार का साधन दर्शन है। इसी की सिद्धि हेतु ऋषियों के द्वारा अथक प्रयास के फलस्वरूप न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग एवं मीमांसा-वेदान्त इत्यादि दर्शनों का विकास हुआ।

भारतीय-दर्शन को दो विभागों में विभक्त किया गया है:- (1) आस्तिक (2) नास्तिक।

सामान्यतया “आस्तिक” शब्द का अर्थ ईश्वरवादी तथा “नास्तिक” का अनीश्वरवादी अर्थ प्रयुक्त होता है, किन्तु प्राचीनकाल से दार्शनिक क्षेत्र में ये दोनों शब्द भिन्न अर्थ के द्योतक हैं। आस्तिक शब्द वेद को प्रमाण मानने वालों के लिए स्वयं नास्तिक शब्द वेद-विरोधियों के लिए प्रयुक्त होता है। नास्तिको वेदनिन्दकः²

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आस्तिक-नास्तिक का प्रतिपादक सूत्र दिया है। अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः।³ वेद की प्रमाणिकता को मानने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। इन्हें ही षड्दर्शन की संज्ञा दी गयी है। वेद की प्रमाणिकता न स्वीकार करने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक कहलाते हैं।

योग सम्पूर्ण सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों के पश्चात् से शून्य सार्वभौम धर्म है, जो स्वयं अनुभव द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार करना सिखाकर मनुष्य को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है।⁴ “योगदर्शन” केवल विचारात्मक या कुछ सिद्धान्तों की विवेचना मात्र नहीं अपितु पूर्णतः क्रियात्मक है। इस प्रकार योग मुख्य रूप से उद्योग (अभ्यास) वियोग (वैराग्य) तथा संयोग (प्रणिधान) इन तीनों का सम्मिलन है।

योगदर्शन पतंजलि का दार्शनिक सिद्धान्त है। दर्शन की अन्य शाखाओं की तरह योग भी सूत्रों के रूप में मिलता है। यद्यपि योगशास्त्र में हिरण्यगर्भ को योग का आदि वक्ता माना गया है- ‘हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः’। फिर भी योग को सर्वांगपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि पतंजलि को जाता है। योग के स्वरूप के विषय में कहा जाता है कि योग शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है- (1) युज्-समाधौ,⁵ (2) युजिर्-योगे,⁶ (3) युज्-संयमने। संस्कृत वाङ्मय में समाधि, जोड़, संयमन इन तीन अर्थों में योग शब्द का प्रयोग होता है। “युजिर् योगे” का अभिप्राय दो पदार्थों का संयोग अर्थात् एक जीव और ईश्वर अथवा आत्मा और परमात्मा का संयोग है जिसके अनुसार दोनों की अद्वैत अनुभूति होती है। सामान्यतया योग का यही प्रचलित प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। दूसरे “युज् समाधौ” का व्युत्पत्ति अर्थ है- वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा चित्तवृत्तियों की एकाग्रता होती है जिसका चरम लक्ष्य समाधि है। भाष्यकार व्यास के अनुसार योग का अर्थ समाधि ही है। समाधि की अवस्था में सभी वृत्तियों का पूर्ण निरोध और परमात्मा से संयोग हो जाता है।

*शोधछात्र, डॉ० राम मनोहर लोहिया, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

;kx% lekf/k%⁷

;kx di fofHkUu vFk &

वर्तमान काल में योग अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है जिसका विवेचन इस प्रकार है—

1. जीवात्मा—परमात्मा का सम्पूर्ण रूप में मिलन अद्वैतानुभूति योग।
2. देहात्मबुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना भी योग है—^M;kxukUr: ruR; tkeA**
3. पातंजलि मतानुसार चित्तवृत्ति का निरोध करके स्वरूप प्रतिष्ठा होना योग है।^M;kxf' pUkofUkfujk/k%
rnk n"V% Lo: i: oLFkkueA**⁸
4. दुःख—सुख, पाप—पुण्य, शत्रु—मित्र, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर समत्व प्राप्त करना योग है।
^MleRo: ;kx mP; r**⁹

योग का अध्यात्म विद्या, ब्रह्मविद्या और योग का भारतीय परम्परा में वही स्थान है जो सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक विज्ञान का पश्चिमी आधुनिक संस्कृति में।

योग नाना मार्गों में 'एक मार्ग नहीं, सभी मार्गों की एक अन्तर्वर्ती प्रक्रिया है जो नाना क्रियाओं, प्रत्ययों और संकेतों के आरोपों के नीचे से आध्यात्मिक अनुसंधान के मर्म के रूप में चलती रहती है वही वास्तविक अर्थ में योग है। ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि की साधनाएँ भी योग के बिना जुड़ी नहीं रहती। योग की इस विशालता का स्वीकार जितना भगवद्गीता में है उतना ही स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, महर्षि पातंजलि एवं अन्य आधुनिक महर्षियों द्वारा गीता के सप्तम अध्याय में भगवान श्री कृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

e; ;k lDreuk% ikFk; ;kx; ;tUenkJ; %A

v l'k; ; lex: ek; Fkk KkL; fl rPN'.kAA¹⁰

अर्थात् हे पार्थ! तू मेरे में अनन्य प्रेम से आसक्त हुए मनवाला और मेरे परायण योग में लगा हुआ मुझको सम्पूर्ण विभूति बल ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त सबका आत्मस्वरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा वह सुनो।

अतः अनेक प्रकार से मन्थन करने पर सीधा सा अर्थ है कि योग अर्थात् जोड़ना, इस जगत् में इस शरीर को पंचभू बाध्य तत्त्वों एवं अन्तरात्मा में स्थित ब्रह्म से जोड़ने के क्रम में पशु, पक्षी, नाना जन्तुओं एवं वायुमण्डल के सभी अवयवों को ध्यान करके धीरे-धीरे शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और परमात्मा को जोड़ना।

योगदर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि चाहे न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम हो अथवा वेदान्त दर्शन के शंकराचार्य निस्सन्देह सभी ने योग को उपादेय स्वीकार किया है।

भारतीय दर्शन सर्वदा एक निश्चित पद्धति द्वारा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त होते हैं। भारतीय दर्शन की तत्त्व विषयक जिज्ञासा दुःखत्रयाभिघात से उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नामक तीनों दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति ही भारतीय दर्शन की प्रेरणा का कारण है।

भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति उदार, व्यापक एवं व्यावहारिक तथा विवेचनात्मक रही है। ईश्वर जैसे महान विषय को भी भारतीय दर्शनों ने स्वतन्त्रता पूर्वक तार्किक कसौटी पर परखने में संकोच नहीं किया।

t l u n'ku rFkk ;kx& चार्वाक दर्शन में तो योग के महत्त्व तो नहीं मिलता, लेकिन जैन दर्शन में इनकी सत्ता को स्वीकार करके, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग की साधना को अनिवार्य माना है। जैन दर्शन में पातंजल योग के पांच यम ही मुख्य साधन हैं, जिसको अणुव्रत कहते हैं। जैन ग्रन्थों में सम्यक् चरित्र हेतु यम नियम एवं ध्यान को उत्कृष्ट महत्त्व दिया गया है। पातंजल योगोक्त अहिंसा के महाव्रत से जैन सम्मत अहिंसा का स्वरूप बहुत मिलता है।

ck) n'ku ei ;kx & बौद्ध ग्रन्थों में भी योग का विशद वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त 'धर्म चक्र प्रवर्तन' सूत्र में हैं जिनमें अष्टांग योग भी है। बुद्ध ने योग निर्दिष्ट आसन प्राणायाम आदि पूर्वक समाधि साधन की थी, जिनमें समाधि को उन्होंने मोक्षोपयोगी सर्वोत्कृष्ट साधन माना है। काम, क्रोध, भय, निद्रा एवं श्वास आदि को निरोध करके ध्यानावस्थित होना सांख्य योग का मुक्ति साधन है और यह भगवान बुद्ध ने भी किया।

U;k; rFkk ;kxn'ku & न्याय दर्शन तथा योगदर्शन दोनों में अनेक स्थलों पर एकता दृष्टिगोचर होती है। प्रथमतः दोनों ही दर्शनों का प्रादुर्भाव दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए ही हुआ है। ek{kkiox% l pidfo'kfriHknfhkUuL; n%[kL;kR;furdh fuofr¹¹

दोनों ही दर्शन कार्यकारण के सिद्धान्त को मानते हैं। दोनों में ही विदेहमुक्ति और जीवमुक्ति की सत्ता स्वीकार की गई है।

;Ükkonij; fu%J; ; l rÜkRoKkukUrjeo HkofrA¹²

न्यादर्शन में ईश्वरेच्छा को सृष्टि का कारण स्वीकार किया गया है और योगदर्शन में ईश्वरेच्छा ही गुणों में आदि के पालन से आत्मसंस्कार तथा मलविक्षेप का वर्णन किया गया है।

rnFk; efu; ekHk; kekY; l lLdkjk; ;kxkPNk/; kRefr/; ik; %A¹³

चतुर्थवाद में ही योगाभ्यास के उपदेश के लिए उपयुक्त स्थानों का प्रतिपादन भी किया गया है।

vj.; egkifyukfn"q; ;kxkH; k l kin'k%A¹⁴

o'kf"kd rFkk ;kxn'ku% & वैसे तो न्याय-वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों में इतना साम्य है कि मैक्समूलर ने इन्हें "सिस्टर फिलासफीज" की संज्ञा दी है। परन्तु कुछ भिन्नता होने के कारण इसका पृथक्तः प्रतिपादन करना आवश्यक है। वैशेषिक दर्शन में अविद्या की सत्ता स्वीकार की गई है। योगदर्शन में अविद्या के पाँच भेद भी स्वीकार किए गए हैं। जबकि वैशेषिक दर्शन के चार न्यायदर्शन की भाँति वैशेषिक दर्शन में भी योगविषयक सूत्र उपलब्ध होता है। यथा-कणाद ने एक स्थान पर कहा है कि समाधि समाप्त कर चुके भुक्तयोगी अतीन्द्रिय द्रव्यों को बिना समाधि के ही प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

v lekfrkUr% dj.k vilgr lek/k; Lr"kk pA¹⁵

इसी प्रकार योगदर्शन की भाँति वैशेषिक दर्शन का प्रतिपाद्य विषय भी हेय, हेयहेतु, हान एवं हानोपाय प्रतिपादित किए गए हैं।

ehelk n'ku vkj ;kxn'ku ei lekurk & सांख्य योगदर्शन, का मुख्य वैशिष्ट्य दृश्यमान जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करना है। इस विषय में मीमांसक भी सहमत है। जिस रूप में जगत् दृष्टिगोचर होता है, मीमांसक उसी रूप में उसकी सत्यता स्वीकार करते हैं।

rLekn; n xg; r oLr ;u : il.k lonkA

rÜkFkokH; iir0; l lkekU; e/korj rAA¹⁶

योगदर्शन के समान ही मीमांसा दर्शन भी शब्द के नियत्व को स्वीकार करते हैं तथा योगाचार्यों के समान ही भट्ट मीमांसानुसार आत्माचित एवं आनन्दरहित है। वेदान्त दर्शन में ज्ञान के आन्तरिक साधन के रूप में योग सम्मत यम नियमादि का विधान है। यद्यपि उनके लक्षणों में योग दर्शन की अपेक्षा कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है।

vk l hu% l EHkokr /; kukPp---- bR; kfn¹⁷

मीमांसा दर्शन में कर्मकाण्ड का विशद वर्णन है। अग्निक्षेत्र दर्शपूर्णमासादि बाह्य यज्ञों का अन्तर्योग से भी सम्बन्ध है, जो गुरु परम्परा से ही ज्ञेय है। पूर्वमीमांसा के सूत्रकार महर्षि जैमिनी महान् योगी थे।

;kxn'ku ,o v}r onkUr% & अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक स्वामी शंकराचार्य स्वयं एक महान् योगी थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने केदारनाथ में जाकर समाधि लगायी। महर्षि पतंजलि चित्तवृत्ति निरोध को ही योग मानते हैं। चित्तवृत्ति का निरोध मात्र योगावलम्बी को ही आवश्यक नहीं है अपितु अद्वैतदर्शनावलम्बी के लिए भी अत्यधिक आवश्यक है।

वेदान्त और योग में बहुत समीपता है। ब्रह्म साक्षात्कार के लिए वेदान्त ने योग के यम निमयादि साधन और समाधि सबको स्वीकार किया है। यद्यपि उनके लक्षणों में कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है।
 Ik[; rFkk ;kxn'ku & सांख्य और योगदर्शन के एकत्व का प्रतिपादन प्राचीनकाल से ही किया जा रहा है। महाभारत में आत्मकाण्ड को सांख्य एवं साधनकाण्ड को योग माना गया है।

vkReKkuL; rRodk.Mi Ik[;e] Ik/kudk.Mk; kx%A¹⁸

श्रीमद्भगवद्गीता में तो सांख्य-योग को पृथक-पृथक मानने वाले व्यक्ति को मूढ़ कहा गया है। सांख्य-योग वस्तुतः परस्पर एक-दूसरे के पूरक है। सांख्यदर्शन तत्त्व-ज्ञान पर बल देते हुए तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार करता है। दूसरी ओर योगदर्शन एक नियम आदि योग की अष्टांग प्रक्रिया का निरूपण करते हुए इन प्रक्रियाओं द्वारा चित्तवृत्ति निरोध रूप मोक्ष स्वीकार करता है।

Ik[; ;kxk iFkDcyk ionfUr u if.Mrk%A
 ,dekI; kflFkr% IE; xHk; kfonUr: QyeAA¹⁹
 ;Rlk[; % ikl; r: L[kku: rFkkjfi xH; rA
 ,d: Ik[; ;p ;kx: p ; % i'; fr l i'; frAA²⁰

डा० रामचन्द्र के अनुसार योगदर्शन सांख्य का पूरक है। यह वहां आरम्भ होता है जहाँ सांख्य की समाप्ति होती है। सांख्य हमें लक्ष्य दिखाता है योग उस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग। अतः सांख्य को दर्शन एवं योग को धर्म, सांख्य को सिद्धान्त एवं योग को अभ्यास माना जा सकता है। किन्तु इन दोनों में मूलभूत अन्तर ईश्वर के विषय में है। योग सांख्याभिमत पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता हुआ छब्बीसवें तत्त्व के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है। उसे सेश्वरसांख्य पद से अभिहित किया गया है। इसका विशेष विवेचन ईश्वर की संकल्पना के स्रोत नामक अध्याय में किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सांख्य एवं योग दोनों परिणामवादी दर्शन हैं, जिनके अनुसार न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि सांख्य की भाँति कोई ज्ञान नहीं है तथा योग के सामान कोई बल नहीं है। अविद्वान पुरुष सांख्य तथा योग को भिन्न-भिन्न मानते हैं।

ukfLr Ik[; ;le Kku ukfLr ;kx le cyeA
 iFkd& iFkd: i: i'; fUr ;: l; cf) jrk ujkkAA²¹

इस प्रकार सांख्य और योग मूल रूप में एक ही सिक्के के दो पहलुओं की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। उपर्युक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि योग सभी दर्शनों का अपरिहार्य अंग है। आज के इस वैज्ञानिक युग में किसी वस्तु की प्रशंसा के श्रवण मात्र से ही कोई उसे उत्कृष्ट नहीं मान सकता। जब तक कि व्यावहारिक रूप से भी वह कसौटी पर खरी न उतरे। इस दृष्टिकोण से एकमात्र योग दर्शन ही ऐसा है जिसके सिद्धान्त पूर्णतया व्यावहारिक है। इसी दर्शन के द्वारा ही हम अपनी प्राचीन संस्कृति की गरिमा को आज तक बनाये रखने में समर्थ हुये हैं। मनुष्य त्रिविध दुःखों से पीड़ित है और इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति योगदर्शन के अध्ययन से ही सम्भव है।

l UnHk %

1. शिवराम वामन वाप्टे।

2. मनुस्मृति 2.11

3. अष्टाध्यायी 4.6.60

4. भारतीय दर्शन- डा० राधाकृष्णन भाग एक पृष्ठ 26

5. हेमचन्द्र धातुपाठ गण 4.60

6. वही 7.7

7. पातंजल-योगसूत्र पृष्ठ एक

8. वही

9. गीता 2/48

10. वही 7/1

11. तर्कभाषा पृ० 36

12. न्याय वार्तिक 1.1.1

13. न्याय सूत्र 4.2.46

14. वही 4.2.45

15. वैशेषिक सूत्र, 19.1.13

16. श्लोक वार्तिक, पृ० 404

17. ब्रह्मसूत्र 4/1/7-11 तक

18. महाभारत मोक्षवती

19. श्रीमद्भगवद्गीता 5.4

20. वही 5.5

21. याज्ञवल्क्य स्मृति 12/136/3



ukjh ifLFkfr % Hkkjrh; lek t d fo'k'k lnhk e ii'kkur flg*

सृष्टि निर्माण से अब तक दासता का जीवन जीने वाली महिलाओं की व्यथा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ईसा पूर्व बारहवीं से चौथी शताब्दी में समाज का जो चित्र सामने आता है उसमें कहीं भी महिला को मनुष्य नहीं समझा गया है। "मैत्रेयी संहिता" में कहा जाता है कि नारी अशुभ है, (3/8/3) यज्ञ करते समय किसी कुत्ते, शूद्र और नारी की तरफ मत देखो (6/3/7/13), "रामायण" में भी नारी को मनुष्य की संज्ञा नहीं दी गई है। उसे अग्नि परीक्षा देकर यह साबित करना पड़ा कि उसके सतीत्व का नाश नहीं हुआ है। समाज में सारे अमंगल का कारण नारी को समझा जाता है। कन्या दुःखद है "महाभारत" (11,159,111) पिछले जन्म के पाप के कारण ही नारी योनि में जन्म लेता है। स्त्री सौंप ही तरह है उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए (5/37/29) त्रिभुवन में कोई नारी नहीं है जो स्वतंत्रता पाने योग्य हो। (12/20/20) इन सभी धर्म ग्रंथों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि "स्वतंत्रता पर महिलाओं का कोई अधिकार नहीं।"

भारत एक ऐसा देश है जिसने विविधता में एकता के मुहावरे को साबित किया है। भारत में विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। महिलाओं को हर धर्म में एक अलग स्थान दिया गया है जो लोगों की आँखों को ढँके हुये बड़े पर्दे के रूप में और कई वर्षों से आदर्श के रूप में महिलाओं के खिलाफ कई सारे गलत कार्यों (शारीरिक और मानसिक) को जारी रखने में मदद कर रहा है। प्राचीन भारतीय समाज में अन्य भेदभाव पूर्ण दस्तूरों के साथ सती प्रथा, नगर वधू-व्यवस्था, दहेज प्रथा, यौन हिंसा, गर्भ में बच्चियों की हत्या, पर्दा प्रथा, कार्य स्थल पर यौन शोषण, बाल मजदूरी, बाल विवाह तथा देवदासी प्रथा आदि परम्पराएँ थी। इस तरह की कुप्रथा का कारण पितृसत्तात्मक समाज और पुरुष श्रेष्ठता मनोग्रन्थि है। कहने के लिए भारत में महिलाओं को प्राथमिकता दी जाती है, जबकि परिवार और समाज में उनके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। वे घरों की चहारदीवारी तक ही सीमित रहती हैं और उनको सिर्फ पारिवारिक जिम्मेदारियों के लिए समझा जाता है। उन्हें अपने अधिकारों और विकास से होने वाले उत्थान से वंचित रखा गया है।

लैंगिक असमानता भारत में मुख्य सामाजिक मुद्दा है जिसमें महिलाएँ पुरुषवादी प्रभुत्व के कारण देश में पिछड़ती जा रही हैं। नई शताब्दी में 2015 ई0 तक महिला सशक्तिकरण और लैंगिक समानता का लक्ष्य शत-प्रतिशत तय किया गया है लेकिन स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समान अधिकार की जद्दोजहद किसी मुकाम पर पहुँचती नहीं दिखाई देती है। भारत में दहेज की प्रताड़ना से औसतन 25 हजार महिलायें प्रत्येक वर्ष जला दी जाती हैं। हत्या को दुर्घटना या आत्महत्या के रूप में सिद्ध करने के लिए अदालत में लम्बी लड़ाई चलती है। हमारे देश सहित पाकिस्तान तथा खाड़ी देशों में इज्जत के नाम पर ऑनर किलिंग की दास्तान लम्बी है। दुनिया के साथ युद्धग्रस्त देशों में बलात्कार की घटना आम बात है। इमोशनल-ब्लैकमेल की घटनायें तेजी से बढ़ी हैं। परिवर्तन का खामियाजा महिलायें भुगत रही हैं। अगर समाज शिक्षित सशक्त होता तो भ्रूण हत्याएँ न होती, विवाह के नाम लड़कियों को न बेचा जाता, विज्ञापनों में अर्धनग्न नारी न दिखती, साथ ही दिल्ली में निर्भया काण्ड भयभीत न करती। यह विडम्बना है कि समाज की इन विसंगतियों को अनदेखा कर दिया जाता है। नारी अधिकार सम्मान आंदोलन धुरीहीन और दिशाहीन हो चुका है। शहरी शिक्षित नारी और ग्रामीण

*शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, डॉ0 राम मनोहर लोहिया, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

नारियों की आवाज एक नहीं हो पाई है। हमारा समाज भूल गया है कि सदियों के संस्कार कानूनी झटकों से नहीं बदल सकते हैं। विघटन, अपराध, बलात्कार, तलाक और आत्म-हत्याओं का कारण जाती है इसलिए सशक्तिकरण तथा समानता का ढिंढोरा पीटने के बजाय देश में ईमानदार कानून व्यवस्था तथा आधी आबादी को आत्म-विश्वास के साथ जीवन संघर्ष यात्रा करने के लिए प्रेरित करने की आवश्यकता है।

पुरुष और महिला को बराबरी पर लाने के लिए महिला सशक्तिकरण में तेजी लाने की आवश्यकता है। सभी क्षेत्रों में महिलाओं का उत्थान राष्ट्र की प्राथमिकता में शामिल होना चाहिए। महिला और पुरुष के बीच की असमानता कई समस्याओं को जन्म देती है जो राष्ट्र के विकास में बड़ी बाधा के रूप में सामने आ सकती है। ये महिलाओं का जन्मसिद्ध अधिकार है कि उन्हें समाज में पुरुषों के बराबर महत्व मिले। वास्तव में सशक्तिकरण को लाने के लिए महिलाओं को अपने अधिकारों से अवगत होना चाहिए। न केवल घरेलू और पारिवारिक जिम्मेदारियाँ बल्कि महिलाओं को हर क्षेत्र में सकारात्मक और सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए।

महिला सशक्तिकरण में वो ताकत है कि वो समाज और देश में बहुत कुछ बदल सके। वो समाज में किसी भी समस्या को पुरुषों से बेहतर ढंग से निपटा सकती हैं। वह देश और परिवार के लिए अधिक जनसंख्या के नुकसान को अच्छी तरह समझ सकती हैं। अच्छे पारिवारिक योजना से वह देश और परिवार की आर्थिक स्थिति का प्रबन्धन करने में पूरी तरह सक्षम हैं। पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ किसी भी प्रभावकारी को संभालने में सक्षम हैं चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक।

महिला सशक्तिकरण के द्वारा सम्भव है कि एक मजबूत अर्थव्यवस्था महिला-पुरुष समानता वाले देश को पुरुषवादी प्रभाव वाले देश से बदला जा सके। महिला सशक्तिकरण की मदद से बिना अधिक प्रयास किए परिवार के हर सदस्य का विकास आसानी से सम्भव है। एक महिला परिवार में सभी चीजों के लिए जिम्मेवार मानी जाती है। अतः वह सभी समस्याओं का समाधान आसानी से कर सकती है। महिला सशक्तिकरण के उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इसे प्रत्येक परिवार में बचपन से ही प्रचारित व प्रसारित किया जाना चाहिए। यह जरूरी है कि महिलाएँ शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से मजबूत हों, इसके लिए उन्हें शिक्षित होना आवश्यक है। चूँकि एक बेहतर शिक्षा की शुरुआत बचपन से घर से ही हो सकती है जो महिलाओं के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। महिलाओं के उत्थान के लिए एक स्वस्थ परिवार की जरूरत है जो राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

भारतवर्ष में महिलाओं के समस्त अधिकारों की बातें देश के संविधान के साथ आयी। अधिकार और समानता जैसे शब्दों को महत्व अवश्य ही दिया गया है किन्तु व्यावहारिकता अर्थात् वास्तविकता में महिला वर्ग उसी जगह पर है। वैसे तो मानव अधिकार विश्व घोषणा 1948 की भूमिका में मानवतावादी अधिकारों को अभिव्यक्त किया गया है अर्थात् मानव पूर्णरूपेण स्वतन्त्र जन्मा है, साथ ही उसे बिना किसी लिंगभेद के समान अधिकार प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 15(3) में सम्पूर्ण राज्य सरकारों को स्त्रियों और बच्चों के कल्याण हेतु नियम बनाने के लिए पूर्णरूपेण अधिकृत किया गया है। अनुच्छेद 14 में समानतारूपी दृष्टिकोण का भी प्रावधान है, वहीं अनुच्छेद 15 में संविधान के खण्डन की भी सम्पूर्ण चर्चा है एवं अनुच्छेद 16 में रोजगारों में भागीदारी के सुअवसर की भी रूपरेखा है।

महिलाएँ प्राकृतिक रूप में हृदय से लेकर शरीर के प्रत्येक अंग में सुकोमल होती हैं। पुरुष से अलग हटकर भी कुछ ऐसे कार्य हैं जो महिला की झोली में आये हैं जैसे मातृत्व की जिम्मेदारी। महिलाओं के जीवन स्तर को सुधारना जितना जरूरी है उससे कहीं ज्यादा आवश्यकता है बने हुए कानूनों की जानकारीयों उन तक पहुँचाना। लगभग 80-90 प्रतिशत महिलाएँ अशिक्षा के अंधकार में गुम हैं जहाँ वे यह भी नहीं जानती कि संविधान के अन्तर्गत उनके लिए भी कानून बने हैं। ग्रामीण अंचलों में शराबी पतियों द्वारा प्रतिदिन मारपीट की घटनाएँ देखने को मिलती हैं। खेतों, खलिहानों में कार्य करने वाली महिला जब साप्ताहिक या दैनिक मजदूरी की राशि मुट्ठी में कसे अपने मस्तिष्क में गोहूँ, चावल, दाल खरीदने की योजनाएँ बनाती हुयी अपने झोपड़े में प्रविष्ट होती है तो उसे यह भी

ज्ञात नहीं होता कि उसका शराबी पति अब उसे रुई सा धुनने वाला है और उसके खून पसीने की कमाई को अपने पौरुष बल से छीनकर उसे गालियों की बौछारों से प्रताड़ित करने वाला है। वह स्वयं पर होने वाले अत्याचारों की परिभाषा ही नहीं जानती।

पितृसत्तात्मक समाज में महिला की स्थिति उपनिवेश जैसी होती है। जेसेमन अपनी पुस्तक "The Political Unconscious" में कहते हैं कि – सत्ता को अपने प्रति किये गये विरोध की अनुगूँज तो सुननी ही पड़ेगी। अनुगूँज तो उठती रही है और उठती रहेगी क्योंकि देश को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मोर्चे पर महिलाओं की अवहेलना समाज को आधी ताकत से वंचित रखना है। फिर क्यों सबुह होती है, शाम होती है, उम्र यूँही तमाम होती है – उनकी हर दिन जद्दो जहद, हर दिन इंसानी हकों की मांग एवं हर दिन अधिकारों के कुचले जाने का दृश्य, आखिर 8 मार्च हमारे सामाजिक माहौल पर कब गुजरेगा ? जिन्दगी की इबारत महिला के विचारों और अधिकारों पर लिखते हुए किसी दिवस की जरूरत नहीं बल्कि हर दिन उसे अपना हक चाहिए। पहली बार 1992 ई0 में नारी मुक्ति की आवाज फ्रांस में उठी। 1848 ई0 में इस आंदोलन की शुरुआत हुई। 1946 ई0 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक आयोग का गठन किया गया। अंत में उसे 1975 ई0 में अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया पड़ा। नारी मुक्ति की यह एक बड़ी विजय थी। दिल्ली सल्तनत की रानी रजिया सुल्तान 1236–1240 ने महिलाओं के पहले प्रतिरोध को 13वीं सदी में संगठित किया तथा 19वीं सदी में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने मातृभूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति लगा दी। उसी समय 8 मार्च को अमेरिका में एक कपड़ा मिल की महिलाओं ने पहली बार अपनी सामूहिकता का प्रदर्शन कर आंदोलन छेड़ा था। पहली महिला यूनियन बनाकर कामकाज में पुरुषों से कम वेतन मिलने के खिलाफ प्रभावशाली आंदोलन चलाया था। अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस की शुरुआत और संयुक्त राष्ट्र के स्त्री-पुरुष समान अधिकार की घोषणा 60 साल से अधिक हो गए हैं। भारत ने भी संविधान में समान अधिकार की बात की है लेकिन क्या समान अधिकार के कानून संतोषप्रद हैं। आज 'महिला आयोग' जिसे राज्य सरकार का सलाहकार मानते हुए सम्पूर्ण अधिकारों से सुसज्जित किया गया है, का प्रथम कर्तव्य है कि महिलाओं के जीवन स्तर को समानता प्रदान करने वाले अधिकारों को ग्रामीण अंचल की महिलाओं तक पहुँचाए। सुधार समानता की एवं सामाजिक चेतना की बहुत आवश्यकता है। संविधान द्वारा प्रदत्त स्थापना के साथ ही साथ हमें वैचारिक असमानता तथा रुढ़िगत परम्पराओं के मकड़जालों को समाप्त करना है तभी आयोग के प्रयास कृतकृत्य हो सकेंगे।

सन् 1950 से लागू संविधान में समस्त मताधिकारियों को मत देने का अधिकार प्राप्त है किन्तु सम्पूर्ण समानता का अधिकार प्राप्त होने के बावजूद भी नारी को अपने परिवार के पुरुष सदस्यों के निर्देशों का पालन कर मत देना पड़ता है। इस प्रकार आज भी नारी पुरुषों द्वारा जकड़ी गयी रुढ़िवादी प्रवृत्ति की चपेट में अपने को पाती हैं। कहीं-कहीं तो पुरुष वर्ग अपने अंकुश का तीर भी उन पर छोड़ देते हैं कि नहीं, तुम्हें मतदान करने नहीं जाना है। तुम्हारे मतदान करने से क्या लाभ है। आज देश में महिलाओं की आधी से ज्यादा आबादी अपने अधिकारों के संदर्भ में जानती ही नहीं है। कई स्थानों पर यह देखा गया है कि यदि सास को ससुर पीट रहा है तो वह भी अपने पति से पिटती रहती है। वह अपने मुख से उफ भी नहीं कर पाती और उसकी मानसिकता ही ऐसी बन जाती है कि प्रतिकार न करना उसकी आदत में शामिल हो जाता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाय तो स्त्री उम्र के किसी भी पड़ाव में क्यों न हो, उसके साथ सदैव दायम दर्जे का बर्ताव किया जाता है। जन्म से लेकर विवाह तक तथा विवाह से लेकर मृत्यु तक वह अपने को परिवार में स्थापित करने का ही प्रयास करती रहती है। विवाह से पूर्व जहाँ वह जन्म के परिवार में पिता व भाई के संरक्षण में हुआ करती है, वहीं विवाह के पश्चात् पति एवं पुत्र के संरक्षण में हुआ करती है।

firk j{kfr dkekj} ifr% j{kfr ;kouA

i= j{kfr okFko;] ukjh Lokr=; xfgreAA

इस प्रकार वह आजीवन परिवार एवं समाज की मर्यादा को बनाये रखने के नाम पर छली जाती रही हैं। उसकी परिस्थिति सदैव पुरुष के अधीन हुआ करती है। वास्तव में हमारा पूरा पारिवारिक ढांचा ही महिलाओं के शोषण पर टिका हुआ है। परिवार और समाज के चारों तरफ परिस्थितियाँ ही ऐसी होती हैं कि उसे कुछ बनने नहीं देती। “सीमोन द वोउवार” ने सही कहा है – एक स्त्री पैदा नहीं होती बना दी जाती है, क्या महिला केवल प्रेम करने या सहारने की वस्तु है ? महिलायें तो अपने उन गुनाहों की सजा भी भुगतती हैं जो उसने कभी किया ही नहीं। जन्म से परिवार में जहां वह अपने पिता के पारिवारिक मूल्य, संस्कार एवं संस्कृति को आत्मसात करती है। उसके अनुसार ढलने का प्रयास करती है, वहीं विवाह के पश्चात प्रजनन के परिवार में उसे अकस्मात् भिन्न उप संस्कृति से दो चार होना पड़ता है। उसे दोनों परिवार के उप संस्कृतियों से तालमेल बिठाना पड़ता है। एक तरह से विवाह के पश्चात उसे जिन्दगी का ककहरा फिर से सीखना पड़ता है। इस सीखने की प्रक्रिया में वह इतना रम जाती है कि उसकी स्वयं की इच्छा, मानसिक स्वतंत्रता एवं अपना अस्तित्व परिवार के संगठनकारी मूल्यों को बनाये रखने में कहीं खो जाती है। ऐसी स्थिति में वह मानसिक कुंठा का शिकार हो जाती है और इस तरह उसकी व्यक्तिगत गरिमा दायम दर्जे की हो जाती है। पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार में उसे हमेशा यह अनुमान कराया जाता है कि उसकी खुशी परिवार के पुरुष सदस्य की खुशी में ही समाहित है। उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उसकी इच्छा पुरुष सदस्य की इच्छा में ही समाहित है।

जन्म से परिवार में उसे यह सिखाया जाता है कि परिवार के हम उम्र या अन्य किसी पुरुष सदस्य की परिस्थिति की तुलना में उसकी परिस्थिति दायम दर्जे की होती है। उसे जो कुछ भी खाने या पहनने को मिले उसे पुरुष सदस्य के साथ बराबरी की दृष्टि से न देखकर वैसा ही स्वीकार कर ले। आशा रानी वोहरा ने इसका सजीव चित्रण कुछ इस प्रकार किया है—

एक छोटा बच्चा अपनी मां से मुखातिब हुआ—

“मा पम्मी को भी तो दूध दो न, वह फीका भात ही खाए जा रही है।”

“और कहां है दूध?” मां ने उत्तर दिया।

“तो इसमें से ही आधा दूध दे दो। मैं सारा दूध अकेले नहीं पिउंगा मां।”

“बस रहने दो। जिद नहीं किया करते मेरे बेटे। चुपचाप दूध पी ले। दूध नहीं पियेगा तो बड़ा होकर थानेदार कैसे बनेगा?”

“तो मां पम्मी कुछ नहीं बनेगी क्या?”

“उहं पम्मी क्या बनेगी, उसे तो दूसरे ले जायेंगे।”

उक्त विवेचन में पितृसत्तात्मक समाज संरचना की झलक मिलती है, जो कमोबेश आज के प्रगतिशील समाज में भी देखने को मिलता है। आज भी उसे यह अहसास कराया जाता है कि वह किसी दूसरे परिवार की अमानत है, पराया धन है जिसे सहेज कर रखना पिता एवं भाई का मूल कर्तव्य एवं दायित्व है। उसे इस बात का तनिक भी एहसास नहीं कराया जाता है कि वह भी हाड़-मांस की कोई सचेत प्राणी है, बल्कि वह तो पुरुष के हाथ का खिलौना है जिसे पुरुष जैसा चाहे उसके साथ बर्ताव करने के लिए स्वतंत्र है। यही परिस्थिति उसकी दोनों प्रकार के परिवार में होती है। प्रजनन के परिवार में उसका अकस्मात् भिन्न उपसंस्कृति से साक्षात्कार होता है और यदि वह उपसंस्कृति उसके पिता के परिवार की उपसंस्कृति से मेल नहीं खाती है तो दिन-प्रतिदिन की जीवनचर्या असहज हो जाती है। इस असहज वातावरण में वह अपने को ढालने की पुनः कोशिश करती है। इस कोशिश में उसकी स्व-इच्छा निहित नहीं होती, बल्कि उसकी विवशता होती है। यदि उसने स्वयं को नये वातावरण के अनुकूल ढाल लिया तो परिवार के सभी सदस्यों के आँखों की नूर बन जाती है। आदर्श बहू बन जाती है। सुग्राह्य पत्नी बन जाती है, आदि-आदि। यदि वह इस विवशता को ताक पर रखकर एक सचेत प्राणी के रूप में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने का प्रयास करती है तो वह नारी उस परिवार के लिए अनेक दुर्गुणों से युक्त बहू के रूप में पहचानी जाती है। भारतीय समाज में एक उत्तम नारी के क्या चारित्रिक गुण होने चाहिए इसका विवरण ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है जिसमें उल्लेख है कि उत्तम नारी वह है जो

पति को सन्तुष्ट करे, पुत्र को जन्म दे तथा पति की बात का जबाब न दे। यही नहीं आज्ञापालन नहीं करने वाली स्त्रियों को इस जन्म और अगले जन्म में भी कठोर दण्ड की धमकी दी जाती है, (मनुस्मृति v-164)। इस विषय में पतियों को पत्नी और घर के दूसरे व्यक्तियों की पिटाई करने का अधिकार दिया गया था, (मनुस्मृति viii-299) विवाह के सभी मन्त्रों में कहा गया है कि स्त्री चिंतन और कर्म के स्तर पर पति की अनुवर्तिनी हो, पति के चित की अनुगामिनी हो। परन्तु कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि स्त्री में भी चित नाम की वस्तु है और पति को भी उसके अनुकूल होना होगा।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि जो स्त्री आदर्श पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था में नहीं समा पाती थी, उसकी निन्दा की जाती थी। इस बात को उन स्त्रियों की सूची में समझा जा सकता है जिन्हें दूषित करने वाला माना जाता था और जिनके द्वारा भोजन का उपहार स्वीकार नहीं किया जा सकता था। इस सूची में गणिका और पम्सकाली (वेश्याएँ, मनुस्मृति IV-219-220) के साथ-साथ उन स्त्रियों को भी शामिल किया गया था जिनके पति नहीं थे। इन निन्दाओं से उन विचारों को बल मिलता था जो इस बात के पक्षधर थे कि स्त्रियों को सामाजिक मान्यता तभी मिल सकती है जब वह स्वयं को पितृसत्तात्मक परिवार में स्वयं को स्थिर करने वाली निम्नतर पहचानों को स्वीकार कर ले। इस प्रकार भारतीय सामाजिक- पारिवारिक संरचना में वही नारी पूजनीय है जो कि पितृसत्तात्मक सोच एवं मानसिकता के साँचे में अपनी सोच एवं मानसिकता को फिट कर दे निःसंदेह वेश्यावृत्ति एक सामाजिक बुराई है मगर फिर भी आज पूरे संसार में वेश्यावृत्ति के लिए महिलाओं को लाइसेंस की जरूरत होती है लेकिन पुरुषों को वेश्यावृत्ति के लिए किसी लाइसेंस की जरूरत नहीं होती। कश्मीर में अनारा गुप्ता को सीड़ी कांड में जेल भेज दिया गया मगर उन सहयोगी पुरुष को क्या अभियुक्त माना गया बल्कि उसके विरुद्ध ऊंगली तक नहीं उठाई गई। समानता की इस लड़ाई को अभी लम्बी दूरी तय करनी है।

छद्म आधुनिकता के नाम पर हमारे समाज का बहुत नैतिक पतन हो चुका है। हमारे पूर्वजों के द्वारा स्थापित उच्च नैतिक एवं सात्विक आदर्शों को हमने रुढ़िवाद एवं पोंगापन का नाम दे दिया है। धर्म के प्रति हममें अनास्था का भाव आ गया है। अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति हमारी आसक्ति नहीं रह गयी है और सबसे अहम बात यह है कि मानव में भगवान एवं पाप के प्रति भय नहीं रह गया है। मानव भौतिक प्रगति के चकाचौंध में आध्यात्मिक प्रगति की ओर से पूर्णतः उदासीन हो गया है। इसलिए भी समाज में व्यभिचार, अपहरण, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, शीलभंग की घटनाओं में वृद्धि होती जा रही है। मानव में तामसी प्रवृत्तियाँ ज्यादा विकसित होती जा रही हैं। यह सब बढ़ते प्रदूषण एवं बदलती देशकाल वातावरण की परिस्थितियों के कारण है। आज हमारे यहाँ सबसे बड़ी समस्या सांस्कृतिक एवं वैचारिक प्रदूषण की है। ज्यों-ज्यों हम प्रबुद्ध होते गए हमारी कोमल एवं मानवीय भावनाएँ मरती गयीं और राक्षसी प्रवृत्तियाँ बढ़ती गयी। आज हमने उच्छृंखलता, उदण्डता एवं अशालीनता को ही स्वतन्त्रता एवं आधुनिकता का पर्याय मान लिया है। विनम्रता, आज्ञाकारिता, सज्जनता एवं शालीनता आज पोंगापन एवं उपहास का कारण बन गयी है। निष्ठा, श्रद्धा, सम्मान दुर्लभ गुण हो रहे हैं। नारी के प्रति सहज सम्मान का भाव जो हमारी सांस्कृतिक विरासत है, तिरोहित होता जा रहा है। अब हम उपभोक्ता संस्कृति के शिकार हो रहे हैं। यदि यही स्थिति रही तो वह दिन दूर नहीं जब हम आदिमयुगीन मानव का प्रतिनिधित्व करने लगेंगे। आज आवश्यकता है हमारे ऋषिमुनियों द्वारा स्थापित उच्च मानव मूल्यों के पुनर्स्थापना की। ईश्वर की सत्ता में विश्वास को जागृत करने की, ताकि श्रम एक स्वस्थ, सुसंस्कृत, सुशिक्षित एवं सभ्य समाज की स्थापना में सहायक हो। नारी के प्रति बढ़ते अत्याचारों का एकजुट होकर विरोध व उन्मूलन कर सकें। नारी ही शक्ति है, उर्जा है, सृष्टिकर्ता है। इसलिए नारी को दलिता के स्थान पर पूजिता का सम्मान लौटा सके। उसको सम्मानित स्थान दिलाकर हम अपने देश का मस्तक विश्व में ऊँचा कर सकते हैं। नैतिक उत्थान में ही सामाजिक उत्थान निहित है।

कहने को तो समाज बदल गया है। विकास के अवसर भी महिलाओं को पहले से अधिक उपलब्ध है, मगर आधी आबादी का हिस्सा होने के बाद भी संसार की एक फीसदी जमीन पर ही उसका

अधिकार है। यह सच है कि शिक्षा के प्रसार ने समाज में महिलाओं की दशा को सुधारने का प्रयास किया है। उनकी दशा में सुधार हुआ है लेकिन इसका प्रतिशत इतना कम है कि इसे ऊंगलियों पर गिना जा सकता है। पूरी सदी महिला सशक्तिकरण की सदी रही है। इसमें महिलाओं के लिए बहुत उपलब्धि हुई है। स्त्रियों के औसत आयु में बढ़ोत्तरी तथा मातृत्व मृत्यु दरों में कमी भी हुई है। बच्चियों की शिक्षा पर विशेष बढ़ावा तथा कामकाजी महिलाओं की संख्या में बढ़ोत्तरी भी हुई है। कुर्सी पर बैठी महिलाओं की मिशाल देकर बहलाना या मानसिक और शारीरिक रूप से यातना झेलना महिलाओं की लाशों पर जश्न मनाना ही महिला सशक्तिकरण या महिला दिवस का पर्याय बन गया है।

अन्त में मैं इतना कहना चाहूँगा कि विधिवेत्ता कितने ही कानून एवं दण्ड का प्रावधान करें, समाजशास्त्री कितने ही समाज सुधारक प्रयास करें, जब तक व्यक्ति के सोच में मूलभूत परिवर्तन नहीं आता, तब तक नारी उत्पीड़न एवं शोषण से मुक्ति नहीं पा सकती। समाज में नारी और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं, पोषक हैं, न कि शोषक। दोनों के बिना स्वस्थ और सुसंस्कृत समाज की अवधारणा असम्भव है, फिर भी हम यदि व्यक्तिगत निष्ठा द्वारा स्वस्थ समाज के विकास हेतु कटिबद्ध हो जाय तो महिलाओं के प्रति बढ़ते अत्याचार रुपी अंधकार का पूर्णतः उन्मूलन करने में जुगनू की भूमिका का निर्वहन कर सकते हैं। क्योंकि—

p;fn vekol l; yMu dh ftn dkb; dj yirk g]
,d vd;yk tixu l;kjk v;/kdkj gj yirk gAp

I UnHk %

1. वोहरा आशारानी, आधुनिक समाज में स्त्री, श्री नटराजन प्रकाशन दिल्ली 2005
2. सारस्वत, ऋतु, सहजीवन की उलझनें(लेख) दैनिक जागरण, इलाहाबाद, 30 अक्टूबर 2010
3. गडकर, राजकुमारी — नारी चिन्तन: नई चुनौतियाँ, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर 2004
4. जोशी गोपा, भारत में स्त्री असमानता: एक विमर्श, हिन्दी माध्यम
5. आह्वान — महिला सबलीकरण की पत्रिका शिक्षा परियोजना, बिहार.
6. हिन्दुस्तान दैनिक, दैनिक जागरण .



Hkkj rh; Je] v l x f Br J fed v k j l e L ; k , j , d voy k du je' k dek j Hkkj rh*

श्रम शक्ति में किसी भी देश की वृद्धि एवं विकास को परिभाषित करने की क्षमता होती है। किसी भी आर्थिक गतिविधि में इसकी सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह बात इसलिए कही जा रही है क्योंकि श्रमिक कल्याण किसी भी देश में नीति निर्माताओं के सामने अच्छा कामकाजी वातावरण तैयार करने एवं अपनी श्रम शक्ति का कल्याण तथा समृद्धि सुनिश्चित करने के मामले में बड़ी चुनौती प्रस्तुत करता है। भारतीय श्रम बाजार स्पष्ट रूप से संगठित तथा असंगठित क्षेत्र में विभाजित है। संगठित श्रमिकों वाले छोटे अंश को कठोर कानूनों तथा नियमों का लाभ मिलता है, जिससे वह अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकती है; किन्तु बड़ा हिस्सा असंगठित श्रमिकों का ही है, जिसके पास न के बराबर रोजगार एवं सामाजिक सुरक्षा है। श्रमिक चाहे संगठित हो या असंगठित, औद्योगिक हो या कृषि, प्रवासी हो अथवा अप्रवासी, प्रत्येक वर्ग की अपनी चुनौतियाँ होती हैं। असंगठित वर्ग चाहे शहरी क्षेत्र में हो अथवा ग्रामीण क्षेत्र में, अमीरों को भारी मुनाफा दिलाने और सम्पत्ति इकट्ठी करने के लिए श्रम करता है। दूसरी ओर गांवों में असंगठित श्रमिक नाम मात्र के वेतन के लिए जमींदारों के पास काम करते हैं। असंगठित नाम ही उनकी दुर्दशा को दर्शाता है, जहाँ वेतन बहुत कम है, काम करने की स्थितियाँ बहुत खराब हैं और रोजगार की सम्भावनायें अनिश्चित हैं। बोरिया बिस्तर बाँधकर परिवार समेत अपनी जड़ों से कटे प्रवासी श्रमिक अपने असली ठिकानों से बहुत दूर तक पाये जाते हैं। निर्माण मजदूरों, सड़क निर्माण के कामगारों, घरेलू कर्मियों की श्रम में, हर समय हमारे आस-पास रहते हैं। महिला श्रमिकों का तबका भी बहुत बड़ा है, जिनके काम को तबज्जो ही बहुत कम दी जाती है।

Hkkj r e l x f Br J fed k d h l e L ; k , o f o f / k d funku& किसी भी अर्थव्यवस्था की औद्योगिक कुशलता मूलतः उसकी आर्थिक कुशलता पर निर्भर करती है, और आर्थिक कुशलता तकनीकी से ज्यादा, श्रमिकों के सुदृढ़ नियोजन पर निर्भर करती है, क्योंकि व्यवसाय संचालन से सम्बद्ध नीतियों का निर्धारण उन नीतियों का क्रियान्वयन, तकनीकी नवप्रवर्तन कारखाने में विभिन्न कार्यों का सुचारु प्रभाव, समुचित देखरेख, नियंत्रण एवं समन्वय, श्रमिकों की सुविधायें एवं कार्य दशायें आदि प्रबन्धकीय क्रियाकलाप तथा आर्थिक कुशलता को निर्धारित करने के अहम आन्तरिक घटक माने जाते हैं। यह सर्वविदित है कि श्रम सुधार हमारी अर्थव्यवस्था के द्वितीय पीढ़ी के लम्बित सुधारों में एक है। सुधारों के समर्थकों का कहना है कि भारत में श्रम कानून बहुत पेचिदा है, इसलिए रोजगार नहीं बढ़ रहे हैं। मालिक बजाय श्रमिकों को बाकायदा नौकरी देने के, ठेकेदारी और तकनीक का ज्यादा सहारा ले रहे हैं। भारत में रोजगार की स्थिति फिलहाल बहुत अच्छी नहीं है, और न ही बेरोजगार या अनियमित रोजगार वाले श्रमिकों के लिए कोई सुरक्षा है, जिसके चलते देश के श्रमिकों में बड़े पैमाने पर असंतोष व्याप्त है, क्योंकि श्रमिक सुधारों की कोई क्षेत्र यथा— श्रमिकों की भर्ती की उचित प्रणाली, उनके प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था, उद्योगों में वैज्ञानिक प्रबन्धन की व्यवस्था उचित मजदूरी एवं कुशलता के लिए उत्प्रेरणाएँ, काम करने की सन्तोषप्रद दशायें, श्रमिकों को स्वास्थ्य चिकित्सा, वाचनालय, पुस्तकालय, सस्ती दर पर आवास एवं यातायात की व्यवस्था, सस्ती दरों पर भोजन की व्यवस्था जैसी सुविधायें, सांस्कृतिक एवं मनोरंजन कार्यक्रमों का आयोजन, जिनमें खेल-कूद, प्रशिक्षण एवं प्रतियोगिताओं के आयोजन भी शामिल हो। सामाजिक सुरक्षा

*शोध-छात्र (विधि संकाय), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

की व्यवस्था, श्रमिकों के प्रबन्धन में भागीदारी आदि दशकों से शिथिल पड़े हैं, ऐसे में श्रम सुधारों की कोशिश बर्र के छत्तों को छेड़ने जैसा हो सकता है। श्रम कानूनों के जटिल होने और श्रम विभाग की जाँच के अपारदर्शी नियमों की वजह से मजदूरों को कितना फायदा मिलता है, यह तो विवादास्पद है, लेकिन प्रबन्धकों की अच्छी खासी कसरत हो जाती है; और यह भ्रष्टाचार का भी बड़ा जरिया है, यदि कागजी खानापूर्ति कम हो जाये और श्रम विभाग की जाँच पारदर्शी नियमों के आधार पर हो, तो एक बड़ी समस्या काफी हद तक कम हो जायेगी। भारत ऐसे देशों में है, जहाँ उद्योग लगाना और चलाना बहुत कठिन माना जाता है, जो कि देश के विकास में बहुत हद तक बाधक है।

अगर श्रमिकों को यह मालूम हो कि उनके लिए कोई सुरक्षा तंत्र है तो उनका भी व्यवस्था में विश्वास होगा, क्योंकि असन्तुष्ट मजदूर वर्ग किसी भी राष्ट्र के कल्याण के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। उसके लिए सर्वांगीण प्रयास की आवश्यकता है, जिनमें तमाम सुधारों के साथ श्रमिकों के वेतन स्तर में इतनी वृद्धि करनी होगी कि वे इस महंगाई के युग में सन्तोषजनक ढंग से जीवन यापन कर सकें। उनके निवास के लिए सस्ती दर पर उचित आवास की व्यवस्था करना भी आवश्यक है, ताकि वे गन्दी बस्तियों से बाहर आकर जीवन स्तर और स्वास्थ्य में सुधार कर सकें। उनके लिए कारखाने के पास या उनके बस्तियों में ही सरकारी उपभोक्ता भण्डार खोले जायें, जहाँ उन्हें उचित मूल्य पर समस्त आवश्यक पदार्थ सरलता से प्राप्त हो सकें।

इसके साथ ही कार्य-कुशलता को बढ़ाने के लिए मीलों के आधुनिकीकरण, वैज्ञानिकीकरण एवं विवेकीकरण का सहारा भी लेना होगा, क्योंकि श्रमिकों की अकुशलता का सम्पूर्ण दायित्व उन पर ही नहीं डाला जा सकता है। काम करने की अनुकूल दशायें और श्रमिकों को उनके श्रम के बदले में उचित मजदूरी का भुगतान आदि ऐसे कार्य हैं, जो मिल मालिक ही कर सकते हैं, यानि किसी श्रमिक की कार्यकुशलता मुख्य रूप से उसके नियोक्ता पर और आंशिक रूप से स्वयं उनके कार्यों पर आधारित होती है। अतः जरूरी यह है कि ऐसी व्यवस्था बनायी जाय, जो उद्योगों के लिए भी फायदेमंद हो और श्रमिकों के लिए भी। ऐसी कोई व्यवस्था जो इन दोनों के हितों में सामन्जस्य नहीं बिठाती, आखिरकार नुकसानदेह होती है।

जनसामान्य को रोजगार तभी मिलेंगे जब उद्योग मजबूत होंगे और इसलिए आवश्यक है कि इन अड़चनों को दूर किया जाय, जिनके चलते कारोबारी माहौल प्रतिकूल बना हुआ है। पुराने और अप्रासंगिक हो चुके श्रम सम्बन्धी कानून कारोबारी माहौल को सुधारने में एक बड़ी अड़चन है। मौजूदा श्रम कानून न तो श्रमिकों का भला कर रहे हैं और न ही उद्योगों का। इनका सुधार वक्त की जरूरत है, क्योंकि श्रम सम्बन्धी अधिकांश कानूनों का निर्माण जब किया गया था, तब परिस्थितियाँ सर्वथा भिन्न थी, इनमें समय के साथ-साथ परिवर्तन अनिवार्य है। मौजूदा श्रम कानूनों के साथ भारत अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं सकता है।

श्रम सुधारों का अर्थ अक्सर श्रम कानूनों में बदलाव के तौर पर लिया जाता है, ताकि उद्यमी और उद्योगपति अपना व्यवसाय राज्य द्वारा दण्डात्मक कार्यवाही के डर और राज्य के अनुकूल होने की परेशानी के बिना चल सकें। हांलाकि इसका दायरा बहुत सीमित है, क्योंकि श्रम सुधार सिर्फ श्रम कानूनों में छोटे-छोटे बदलाव करने या फिर छिट-पुट तरीके से सामाजिक सुरक्षा के मानकों को विस्तार दे देने के बजाय श्रम बाजार में हर स्तर पर मरम्मत की माँग करते हैं। मोटे तौर पर श्रम सुधार प्रतिस्पर्द्धा के जरिये श्रम उत्पादकता बढ़ाने से सम्बन्धित है। दुर्भाग्य यह है कि भारतीय श्रम बाजार में सुधारों की गति काफी धीमी है। यहाँ तक कि भारत में सन् 1991 में शुरू हुई वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीति ने भी अब तक श्रम बाजार को बहुत ही सीमित रूप से प्रभावित किया है।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि श्रम बाजार में सख्त पुराने कानून और विशिष्ट कौशल की कमी की वजह से भारत ने दुनिया का विनिर्माण केन्द्र बनने का अवसर खोया है। बीते 25 वर्षों से भारत सरकार ने श्रम कानूनों में सिर्फ छिट-पुट बदलाव लाने की कोशिशें की हैं। यह जरूरी है कि श्रम सुधारों को समग्र रूप में देखा जाय ताकि भारत दुनियाँ का विनिर्माण केन्द्र बनकर श्रम मानकों से समझौता किये बिना उच्च श्रम लागत के साथ जनसांख्यिकीय लाभ प्राप्त कर सके। श्रम बाजार का उदारीकरण इस समय की सबसे

बड़ी और जरूरी माँग है। यह भी आवश्यक है कि श्रम कानून प्रगतिशील हों, नौकरशाही नियंत्रण की जगह पारदर्शी शासन प्रणाली लाई जाय और कारखाना निरीक्षण एवं अनुपालन की त्रुटिपूर्ण प्रणाली को श्रम मानकों के स्वैच्छिक पालन से दूर किया जाय।

श्रम समस्याओं ने समाज के लिए एक नया खतरा उत्पन्न कर दिया है और उनका निराकरण या उनका कम किया जाना आवश्यक है। जहाँ तक निर्यातकों का प्रश्न है वे अपना ध्यान अपनी मशीनों और तकनीकी ज्ञान की तरफ ही केन्द्रित रखते हैं और मानवीय श्रम को कोई महत्त्व नहीं देते, क्योंकि उसे आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। श्रमिक जो गरीब और अशिक्षित थे, अपने अधिकारों से अनभिज्ञ थे। श्रमिकों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति नियोजक के हैसियत से बहुत नीचे थी। अतः वे नियोजक के साथ स्वतंत्र रूप से कोई बात नहीं कर सकते थे। श्रमिकों की दयनीय दशा का फायदा उठाकर नियोजक अपनी शर्त के अनुसार उन्हें काम पर लेते थे और श्रमिक उन शर्तों को स्वीकार करने के लिए बाध्य थे।

उन समस्याओं की ओर न तो सरकार और न ही न्यायालयों ने कोई ध्यान दिया, क्योंकि वे लोग अहस्तक्षेप नीति तथा संविदा की स्वतंत्रता पर ज्यादा बल देते थे। परन्तु कालान्तर में यह समस्या और भी जटिल हो गयी और इसका कुप्रभाव इतना पड़ा कि इन समस्याओं के निराकरण हेतु बाध्य होकर सरकार को कदम उठाना पड़ा। साथ ही उद्योगपति द्वारा किये जा रहे शोषण के विरोध में श्रमिकों ने भी अपने संघ बनाने शुरू कर दिये। इन परिस्थितियों में कुछ नियोजकों ने भी इन समस्याओं को गम्भीरता से महसूस किया और इन बुराईयों को कम करने की ओर ध्यान दिया। उन्होंने ऐसा महसूस किया कि श्रम कल्याण नीति पर धन लगाना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि सन्तुष्ट मजदूर अधिक उत्पादन देगा तथा उत्पादन क्षमता को भी बढ़ायेगा।

कुछ समय के पश्चात् सरकार का ध्यान भी इन समस्याओं की ओर गया। फलतः वह एक मूकदर्शक के रूप में नहीं रह सकी, क्योंकि श्रमिक समाज के रूप में एक बड़ा भाग था। इसके अतिरिक्त सरकार को विवादों के समाधान हेतु हस्तक्षेप करना पड़ा, क्योंकि विवादों के कारण देश की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को खतरा पैदा हो रहा था। अगर कोई प्रमुख उद्योग बन्द हो जाता है तो सम्पूर्ण व्यवस्था के अंश के भी बार-बार भंग होने से समाज पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। औद्योगिक विवादों की रोकथाम राष्ट्रीय नीति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः राज्य उन समस्याओं से जो औद्योगिक विवादों को जन्म देती है, अपने को अलग नहीं रख सकता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने कारखानों में श्रमिकों की दशा के सुधार पर बल दिया, क्योंकि देश की उन्नति उद्योग की उन्नति पर निर्भर करती है। कोई भी उद्योग औद्योगिक शान्ति और सहयोग के अभाव में उन्नति नहीं कर सकता। औद्योगिक शान्ति तभी सम्भव है जब श्रम और पूंजी एक दूसरे से सहयोग करें। अच्छे सहयोग को सुदृढ़ बनाने हेतु यह आवश्यक है कि श्रमिक को औद्योगिक लाभ में उचित अंश दिया जाय। अतः हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी आर्थिक नीति का निर्धारण इस प्रकार करें कि जिससे कर्मकारों को कार्य करने के लिए उचित वातावरण तथा लाभ में उचित अंश प्राप्त हो सके। कहने का तात्पर्य है कि श्रमिकों के लिए भी सामाजिक न्याय और सामाजिक सुरक्षा का स्थापित किया जाना आवश्यक है। हमारा संविधान अपने देशवासियों के लिए सामाजिक न्याय की गारंटी देता है। सामाजिक न्याय का अर्थ सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति से है। श्रम विधान इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सबसे प्रमुख अस्त्र है।

I|j{kk vkj v|xfBr jkt xkj e| c<kUkjh& विश्व आर्थिक और सामाजिक परिदृश्य रिपोर्ट 2016 के मुताबिक विकसित देशों में 46 फीसद श्रमिक असंगठित रोजगार का हिस्सा है। इनमें से दो तिहाई असंगठित रोजगार दक्षिण एशिया में है, जहाँ कुल श्रमिकों का 72 फीसद हिस्सा इसी श्रेणी में है। भारत में यह अनुपात काफी ज्यादा है। यहाँ 92 फीसदी से भी ज्यादा श्रमिक असुरक्षित और असंगठित रोजगार से जुड़े हैं। दरअसल एक बड़ा चिन्ताजनक प्रचलन संगठित क्षेत्र में काम को असंगठित बनाये जाने का है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (एन० एस० एस० ओ०) के 68 वें दौर की रिपोर्ट के

मुताबिक 1999–2000 में कथित संगठित क्षेत्र में संगठित श्रमिकों की संख्या 37.8 फीसद था। वर्ष 2011–2012 में बढ़कर 54.4 फीसद हो गई। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन के इसी दौर के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में स्वरोजगार से जुड़े 97 फीसद ऐसे लोग असंगठित क्षेत्र में थे। ऐसे ज्यादा श्रमिकों को असुरक्षित या कमजोर की श्रेणी में रखा जा सकता है, जो नहीं के बराबर सामाजिक सुरक्षा के साथ असुरक्षित रोजगार से जुड़े हैं। जैसा कि पहले भी बताया गया है कि जी० डी० पी० की ऊँची विकास दर रहने के बावजूद असंगठित रोजगार में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है। सामाजिक सेक्टर से जुड़े कई क्षेत्रों में सरकार के पीछे हटने से श्रमिक वर्ग की असुरक्षा में और बढ़ोत्तरी हुई है।

श्रमिक समुदाय के बीच बढ़ता विखण्डन, कामकाजी ठिकानों की बदलती प्रकृति में भी प्रतिबिम्बित होती है। हालिया आकड़े इस बात की तरफ इशारा करते हैं कि संस्था के कामकाजी माहौल में बदलाव और इस सिस्टम के छोटा होने से काम के बेहतर माहौल पर निष्कर्ष के साथ फिट बैठती है, क्योंकि इन ईकाईयों में उत्पादन आम तौर पर काम का ठिकाना नहीं माना जा सकता। लिहाजा कई श्रमिक जो श्रमिक होने के ऐसे कानूनों के दायरे से बाहर हैं, जो उनके अधिकारों के लिए शर्तें तय करते हैं। असुरक्षित श्रमिकों की मौजूदगी का ढाँचा रोजगार के अवसरों की कमी के कारण है। काम में रोजगार आंकड़ों के मुताबिक 1983 से 1993 के बीच बेरोजगारी में काफी कमी आयी है, लेकिन 1994 से 2004 के दौरान बेरोजगारी में भारी तेजी आयी। आधिकारिक आंकड़ों के मुताबिक श्रमिकों के तौर पर रोजगार की दुनियाँ में प्रवेश लेने वाले संभावित लोगों को पचाने के लिए हर साल 1–12 करोड़ रोजगार पैदा करने की जरूरत है।

श्रम ब्यूरो से उपलब्ध हालिया आकड़े रोजगार सृजन को लेकर बेहद निराशाजनक तस्वीर पेश करते हैं। इसके मुताबिक पूर्ण रोजगार के मामले में तो हम कहीं है ही नहीं। साथ ही नये रोजगार पैदा होने का आकड़ा 2010 में 11 लाख था जो 2016 में घटकर 1.5 लाख पर पहुँच गया है।

औद्योगिकरण की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों श्रमिकों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता जा रहा है, और ये समस्याएँ पूरे देश में बढ़ती ही जा रही हैं। श्रमिकों की बीमारी, मातृत्व लाभ, वृद्धावस्था आदि के सम्बन्ध में उन्हें विशेष संरक्षण प्रदान किये जाने की आवश्यकता है। औद्योगिकरण के बढ़ते हुए कदमों ने नगरीकरण की समस्या उत्पन्न कर दी है। नगर के नये वातावरण में यदि श्रमिक बीमार पड़ जाता है तो उसकी समुचित देख-रेख की कोई व्यवस्था नहीं रह जाती है। सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जिसे कि राज्य ऐसे जोखिमों के विरुद्ध प्रदान करता है जिनके विरुद्ध बचने का प्रबन्ध कोई व्यक्ति अथवा उन व्यक्तियों के छोटे समूह नहीं कर सकते हैं।

मानव समाज युगों से सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता और विपत्ति से स्वतंत्रता की खोज में लगा है। यह आवश्यकता जनता की आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। साथ ही उनकी सामाजिक चेतना के स्तर तकनीक के विकास और आर्थिक विकास की गति के अनुरूप भी परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत यह भाव निहित है कि एक समुदाय के ऐसे सदस्यों को ऐसे सामाजिक जोखिमों के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही के द्वारा संरक्षित किये जायेंगे जिनसे कि उनके ऊपर अनुचित दबाव या कठिनाई आरोपित की जा रही है। सामाजिक सुरक्षा की योजना अल्प साधनों से युक्त व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से बनाया जाता है, जिससे कि वह अपने जीवन निर्वाह का एक स्तर बनाये रख सकें तथा नियोजक व राज्य दोनों की ओर से सहायता प्राप्त कर सकें। सामाजिक सुरक्षा के उपायों का दोहरा महत्त्व है। प्रथमतः तो वे एक लोक-कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है, और दूसरे यह कि वे श्रमिकों को इस योग्य बनाते हैं कि वे अपने काम और कौशल से अधिक सक्षम हो सकें। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 22 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समाज के एक सदस्य के रूप में सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, तथा इस अधिकार को उसे राष्ट्रीय प्रयासों और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बल पर प्राप्त करने का हक है। इसी प्रकार अनुच्छेद 30 में प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसा

जीवन—स्तर प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है जो कि उसके और उसके परिवार के लिए उचित है, जिसमें कि भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सकीय देखभाल तथा आवश्यक सामाजिक सेवाएँ और बेरोजगारी, बीमारी, असक्तता, वृद्धावस्था अथवा जीविका निर्वाह के साधनों की अन्य कमी, उसके नियंत्रण के बाहर की परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने की स्थितियाँ शामिल हैं।

हमारे देश में सामाजिक सुरक्षा विषयक विधान समय—समय पर अधिनियमित किये गये हैं। ऐसे विधानों में सर्वप्रथम कर्मकार प्रतिकर के भुगतान की व्यवस्था उस समय करता है जबकि कोई कर्मकार नियोजन के सामान्य अनुक्रम में दुर्घटना का शिकार बन जाती है। मातृत्व सेवा—लाभ अधिनियम, कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, औद्योगिक विवाद अधिनियम, राज्य कर्मचारी बीमा अधिनियम आदि जैसे कई महत्वपूर्ण कानून हैं जो श्रमिकों के हित को संरक्षित करते हैं। अभी हाल में ही बोनस भुगतान संशोधन विधेयक 2015, कर्मचारी वेतन संशोधन विधेयक 2016, बाल श्रम निषेध एवं नियमन विधेयक 2016 संसद के द्वारा पारित किये गये हैं।

श्रम एवं रोजगार मंत्रालय अब केन्द्रीय श्रम कानूनों का सरलीकरण, एकीकरण करने एवं उन्हें तर्कसंगत बनाने और उनके स्थान पर चार श्रम संहिताओं— मजदूरी विधेयक 2015 पर श्रम संहिता, औद्योगिक श्रम सम्बन्ध 2015 पर श्रम संहिता, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण पर श्रम संहिता, तथा कार्य के दौरान सुरक्षा स्वास्थ्य एवं कामकाजी स्थितियों पर श्रम संहिता को लागू करने के लिए कदम उठा रहा है। वर्तमान तथा भावी श्रमिक बल का सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण सुनिश्चित करने और उन्हें अपना ही कल्याण करने योग्य बनाने के लिए मनरेगा, अटल पेंशन योजना, प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना, मुद्रा योजना, प्रधानमंत्री रोजगार प्रोत्साहन योजना जैसी योजनाएँ लाई गयी है। चूँकि सरकार भारत को दुनिया में निवेश का ठिकाना तथा सबसे बड़ा विनिर्माण केन्द्र बनाने के लिए प्रतिबद्ध है, इसलिए श्रम सुधारों को आर्थिक वृद्धि के अनुरूप बनाने एवं श्रमिकों का वास्तविक कल्याण सुनिश्चित करने की इच्छा के साथ श्रम सुधारों पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने के प्रयास किये जा रहे हैं।

I UnHk %&

1. 'बाल श्रम : एक सामाजिक अभिशाप', मयंक श्रीवास्तव, प्रतियोगिता दर्पण, अक्टूबर 2010।
2. 'महिला समाख्या : वैदिक युग से अब तक', गोपाल कृष्ण त्रिपाठी, प्रतियोगिता दर्पण, फरवरी 2013।
3. 'श्रमेव जयते : श्रम सुधार की दिशा में एक सार्थक पहल', गजेन्द्र सिंह मधुशूदन, प्रतियोगिता दर्पण, जनवरी 2015।
4. 'श्रमिक कल्याण', 'योजना' मासिक पत्रिका, अंक 04, अप्रैल 2017।
5. 'हिन्दुस्तान', दैनिक समाचार पत्र, इलाहाबाद, जून 2017।



Jhyky 'kDy d miU;kIk e xobi ;FkkFk ,o 0;X; IfV jkdi'k dekj ;kno*

हिन्दी उपन्यास साहित्य में श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों का अपना महत्व है। रागदरबारी भारतीय ग्रामीण की विद्रूपता, भोलेपन तथा अटपटी जिन्दगी का लेखा-जोखा है यह उपन्यास इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि कथा साहित्य के क्षेत्र में यह कई प्रश्नों को जन्म देता है। आज के भारतीय जीवन के विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र रागदरबारी में हैं। जो आज के अतिपरिचित अनुभव को ताजा कर जाते हैं। आजाद हिन्दुस्तान की राजनीति, इस दौर में चले विकास कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों से इस दरमियान इस तरह की औलादें पैदा हुई हैं। उनका व्यक्तित्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र क्या है? यही रागदरबारी की विषयवस्तु है। उन प्रबुद्ध समीक्षकों के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि विषयवस्तु में वास्तविकता है। लेकिन कथा में जो दृश्य या चित्र अथवा घटनाएं प्रस्तुत की जाती हैं हो सकता है वे देखने में बहुत वास्तविक लगें। लेकिन लेखकीय धर्म का निर्वाह न होने के कारण सम्भव है वे अपनी वास्तविकता की सम्भावित शक्ति खो दें। इस तरह के प्रश्न रागदरबारी में उठाए जा सकते हैं। उपन्यास में वास्तविकता दृश्यों और घटनाओं में होती है अथवा लेखक के निर्माण कौशल पर निर्भर होती है। जो भी हो दृश्य और घटना सम्पत्ति या वस्तु नहीं। कोई भी व्यक्ति उनका एहसास कर सकता है। यह समाज में प्राकृतिक रूप से व्याप्त है।

परिचय किसी संवेदनशील व्यक्ति से ही हो सकता है। रागदरबारी के संदर्भ में इसे कहा जा सकता है। रागदरबारी घटना प्रधान तथा वातावरण की सृष्टि करने वाला महत्वपूर्ण उपन्यास है। यथा "चालू फैशन के हिसाब से ड्राइवर ने ट्रक का दाहिना फाटक खोलकर डैने की तरह फौला दिया था। इससे ट्रक की खूबसूरती बढ़ गयी थी। साथ ही इस बात का खतरा मिट गया था कि उसके होते हुए कोई दूसरी सवारी भी दूसरी तरफ से निकल सकती है।" व्यावस्था ने ग्रामीण परिवेश को किस तरह गुमराह किया है इसका भी यथार्थ चित्रण लेखक ने किया है।" उन दिनों गाँव में लेक्चर का मुख्य विषय खेती था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसके पहले कुछ और था। वास्तव में पिछले कई सालों से गाँव वालों को फुसलाकर बताया जा रहा था कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है। गाँव वाले इसका विरोध नहीं करते थे परन्तु एक वक्ता शुरू से यह मानकर चलता था कि गाँव वाले इसका विरोध करेंगे। मिशाल के लिए समस्या थी, भारतवर्ष एक खेतिहर देश है और किसान बदमाशों के कारण अधिक अन्न नहीं उपजाते।"²

स्पष्ट है कि व्यवस्था अपनी कमजोरियों को छुपाने के लिए सारा दोषारोपड़ किसानों पर कर रही है। विकास के लिए जिस हवा का बयान किया जाता है, वह तो गाँव तक पहुँच ही नहीं पाती और किसान भगवान भरोसे सूखती खेती पर आस लगाए रहता है तथा अधिक अन्न पैदा न होने पर उसे गरीबी के साथ-साथ व्यावस्था की प्रताड़ना भी सहनी पड़ती है। बड़ी से बड़ी और गंभीर से गंभीर बात व्यवहार और योजना माखौल और हास्यास्पद बन जाती है। यह आज की ग्रामीण जिन्दगी और परिस्थिति की परिचित वास्तविकता है। इसके खाके में रागदरबारी की पटकथा अपना अपना आकार ग्रहण करती है। उपन्यास में कहीं-कहीं ग्रामीण क्रीड़ाओं का वर्णन किया गया है जो तात्कालिक परिस्थितियों में निहित फूहड़पन को उभारती है तथा स्वतंत्रता के बाद बदली परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करती है। इस तरह देखा जाए तो रागदरबारी के माध्यम से लेखक किसी साहित्यिक मानदण्ड के समीप होने के बजाय

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, आगरा कालेज, आगरा (डॉ० भीमराव अम्बेडकर वि०वि० आगरा)

जिंदगी के ज्यादा समीप होने की कोशिश करता है। रागरबारी में यथार्थवादी सपाटता या द्वन्द्व की उपस्थिति की न्यूनता का कारण कथानक की शिथिलता नहीं बल्कि परिवेश में द्वन्द्वात्मकता का कम होना है।

कुशहर प्रसंग, शनिचर द्वारा दुरवीन सिंह का संस्मरण सुनाना गाँव में शहरी नेताओं का भाषण प्रसंग, रूपनबाबू द्वारा ऊपरी कमरे का प्रयोग प्रसंग, लंगड़ एवं नवलबाबू का संघर्ष, डिप्टी डायरेक्टर ऑफ एजुकेशन द्वारा कालेज के मामलों का जांच प्रसंग तथा छोटे-मोटे और कई प्रसंग उपन्यास में एक नई व्यंग्यात्मक प्रस्तुत पैदा करते हैं। इस उपन्यास में ग्रहीत घटनाएं, व्यापार और स्थितियां अगर विवाद की तरह है और वास्तविक लगती हैं, तो उनका वर्णन भी उपन्यास में विवाद ही बन गया है। दृष्टि कभी विवाद की तरह इस्तेमाल नहीं की जा सकती और लेखक की दृष्टि यदि व्यंग्य एवं पीड़ापरक है तो वह शैलीगत रूढ़ि नहीं बन सकती।

लेखक की लीलाशैली का अलग राग एक और घटना से प्रमाणित होता है बेला के साथ रूपनबाबू के लस्तगे की बात उपन्यास में रस लेकर प्रस्तुत की गयी है। यह सिर्फ रूपनबाबू के साथ ही नहीं बल्कि पहलवान के साथ भी है और लेखक इस वास्तविकता को यत्न पूर्वक छिपाए रखता है। काफी देर के बाद जब यह बात खुलती है तो पाठक पर एक गहरा असर छोड़ जाती है। उपन्यास के किसी पात्र पर अवास्तविक होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। वे समाज में जीती जागती तस्वीरें हैं। चाहे वे रंगनाथ हो, वैद्य जी हो या ब्रदीनाथ, रूपन, प्रिंसिपल कोई भी हो। उपन्यास की चरितार्थता सम्भवतः इस बात में है कि वह इनके साथ हमारे सलूक का कौन सा पैटर्न या उन्हें महसूस करने का कौन सा नया पार्श्व देता है तथा वह स्थिति एवं पात्रों में निहित सम्भावना का किसलिए इस्तेमाल करता है। वास्तविक के साथ पाठक की सहयोगिता किस रूप में हो इसमें लेखक की सार्थकता और उपन्यास की वस्तु का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि उपन्यास में अनैतिक तत्वों का विश्लेषण खूब किया गया है लेकिन यह अस्वाभाविक नहीं है। "अगर लेखक मौजूदा भारतीय वास्तविकता के तमाशाही रूप के कारणों और इसके भार को झेलने वालों में अपनी उपस्थिति की गहराई को महसूस करता है तो अपराधबोध और आक्रोश उसके वर्णन के स्वाद को किसी भी हालत में स्वायत्त हैसियत में नहीं बने रहने दे सकता।"³ रागदरबारी का यथार्थबोध इससे अलग है वह ग्रामीण परिवेश समाजवादी तत्वों की तलाश का एक सार्थक प्रयास भी है। लेखक ग्रामीण विद्रूपता व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करके उस समाज को एक नई दिशा देने का प्रयास करता है।

आज की स्त्री विमर्श एवं दलित विमर्श के दौर में रागदरबारी में स्त्री पात्र का अभाव पाठक को निरास तो करता है, किन्तु रागदरबारी में किसी स्त्री पात्र का ना होना भी उसी सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन व्यवस्था पर व्यंग्य सा है जहां स्त्री की कोई स्वतंत्र उपस्थिति ही नहीं मानी जाती।

प्रेमचन्द के बाद कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के प्रति दो तरह की दृष्टियों का विकास हुआ। "पहली ग्रामीण के सौंदर्य वर्णन से संबंधित दूसरी ग्रामीण जीवन की दैनिक दशा और विसंगतियों से सम्बन्धित। ग्रामीण जीवन की फर्जी रोमानी संघर्ष रहित छबि को रेडियो और सिनेमा ने खूब हवा दिया। जिसके खिलाफ श्रीलाल शुक्ल की प्रारम्भिक रचनाएं अपने कथानक में आवाज उठा चुकी थीं दूसरी दृष्टि में गांव के छोटे किसानों, मजदूरों और दूसरे वर्गों को केन्द्र बनाकर विषमता और उसके शोषण के कथाओं का विवरण करना है।"⁴ यह एक स्वस्थ दृष्टि तो जरूर है पर इस तरह के साहित्य भी प्रभावहीन रहे है। उसके लेखकों का अधिकांश दर्शन स्वतः के नीचे बिल्कुल अस्पष्ट रहा। जिससे सामाजिक न्याय की स्थिति जो एक विशेष प्रकार की सामाजिक आर्थिक व्यावस्था का सहज परिणाम है, सस्ती भावुकता के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है परिणामतः उलझाव भरे मुद्दों का अतिसाधारणी कारण हो जाता है। रागदरबारी इन तमाम खामियों से परे है।

यद्यपि सामाजिक स्थितियों के यथार्थ चित्रण में लेखक शिथिल हो जाता है। अगर वह इन विकृतियों के कारणों की टोह लेता तो निश्चय ही उपन्यास की रोचकता बढ़ जाती। शहरी रिक्शे वालों के वर्णन में लेखक जहाँ और जिस कोण पर बल देता है उससे उसकी सोहदायी स्थिति के प्रति संगतता

और स्थिति के कारणों के प्रति विसंगतता प्रकट होती है। गवई रिक्शे वाले के वर्णन में संगमत्ता एवं विसंगतता का क्रम उल्टा है। इसी कारण स्थिति को तोड़कर उसके वास्तविकता के विधान की झलक मिल जाती है। उसमें सम्भावना हो तो विकसित होने का अवसर मांगती है। अभिमुक्ता है जो अपना सम्बन्ध कायम रखना चाहती है और वह पीछे के दृश्यों को भी उभारती है। जहाँ से वास्तविकता की चेतना समृद्ध और धारदार बन जाती है, लेकिन दुखद यही है कि घटनाओं और दृश्यों की इस सम्भावना के प्रति लेखक अक्सर उदासीन हो जाता है। यथा “हमारे यूनिन में गबन नहीं हुआ था इस कारण लोग हमें संदेह की दृष्टि से देखते थे। अब तो हम यह कह सकते हैं कि हम सच्चे आदमी हैं। गबन हुआ है और हमने छिपाया नहीं है।”⁵ जिसकी लेखक से अपेक्षा की जाती है परिणामतः ग्रामीणबोध के दायित्व से लेखक जुड़े होने के बावजूद अलग-थलग दिखाई है। उसका लेखन उस प्रक्रिया को नहीं घोषित कर पा रहा है जिसमें संघर्ष की किसी सम्भावना को खोजा जा सके। फिर भी उसका कृतित्व अपने प्रयास में पूर्ण सार्थक रहा है।

रागदरबारी के अतिरिक्त लेखक की अन्य कृतियों के कथानक अपने कलेवर के समाजवादी यथार्थ को प्रस्तुत करने में सफल रहा है। सूनी घाटी के सूरज में लेखक ने आदर्शवादी आँखों से यथार्थ को जाँचा परखा है आदमी का जहर उपन्यास एक अपराध कथा है जो रहस्यपूर्ण प्रसंगों से भरा है। सीमाएं टूटती हैं, एक परिवार के टूटते बनते जटिल सम्बन्धों की कथा है मकान में वर्तमान प्रशासकीय व्यावस्था को उजागर करने का सफल प्रयोग किया गया है। पहला जड़त्व मध्यवर्गीय मानसिकता को तोड़ने का संकेत देता है तो वही विश्रामपुर का संत अपने विवेक गर्भित व्यंग्य शैली में ग्रामीण यथार्थता को निर्ममता के साथ उघाड़ता है। श्रीलाल शुक्ल जी ने अपने उपन्यासों में व्यंग्य सृष्टि करने के साथ ही व्यंग्य पर स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा है। “व्यंग्य स्वयं में एक आलोचना है” को मानते हुए भी श्रीलाल शुक्ल उसकी शास्त्रीयता को तोड़ते हैं और व्यंग्य को अपनी कथाओं में पीरोने के साथ ही अवधी वक्रोक्ति के माध्यम से व्यंग्य को नई धार भी देते हैं। इनके उपन्यास पाठक को कभी-कभी व्यंग्य से अतिरंजित लगते जरूर हैं, किन्तु उनका भी अपना स्वाद है। कुल मिलाकर श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास दायित्वबोध से पूर्ण अपने उद्देश्य तक पहुँचने में काफी हद तक सफल रहे हैं।

I UnHk %

1. श्रीलाल शुक्ल, रागदरबारी, पृ० 9
2. वही – पृ० 66
3. भीष्मसाहनी, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 252
4. वही – पृ० 214
5. श्रीलाल शुक्ल, रागदरबारी, पृ० 45, आजकल (पत्रिका), फरवरी 2012, डॉ० बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास



Hkkjrh; ILÑfr d nkgj ekunMk e my>h L=h

jju ;kno*

pcuok e: Qy: y: cbfy; k r cu jkf l ; k; u
eMok e: Qy: u nyg ckc vc ge fc; gc
/khjk /kjh , nyg /khjk /kjh
vcghu e: ikik dh vcghu e: vEek dh
t c ikik nhg dU; knuok r rc jÅj fc; gc
t c vEek iÅok i [kfjg r rcgh jÅj fc; gc
/khjk /kjh , nyg /khjk /kjh
vcghu e: Hkb; k dh vcghu e: Hkb; k dh
t c Hkb; k yÅok i jhfNg r rc jÅj fc; gc
t c Hkb; k djh; g i kuhxjgu r rc jÅj fc; gcß

किसी भी लोकगीत के गर्भ में संस्कृति का वृक्ष छिपा रहता है । विवाह संस्कार पर गाये जाने वाले इस गीत में कन्यादान, पौव पखारना, लावा परीछना और पाणिग्रहण रस्मों का वर्णन है, जिससे स्पष्ट है कि इन सभी रस्मों के माध्यम से लड़की के संरक्षक माँ-बाप और भाई किसी अन्य पुरुष के हवाले कर देंगे। यह संस्कृति भारत की विशेषता हो सकती है किंतु इसके पीछे आस्था के नाम पर लड़की का वस्तुगत मूल्यांकन ही तो है कि एक ने दूसरे को सौंप दिया और हम खुशी-खुशी सौंपे जाने को स्वीकार कर रहे हैं !! यह स्वीकृति भले ही सृष्टि के संचालन में सहायक हो किंतु दान करना या दान में दिया जाना संस्कृति के पीछे छिपे उपेक्षित अथवा पूजनीय स्त्री के पक्ष में उपेक्षापूर्ण आस्था दर्शाती है ।

एक दार्शनिक ने कहा है कि "जो कुछ हम हैं वह हमारी संस्कृति है और जो कुछ हमारे पास है वह हमारी सभ्यता है" । (मुकर्जी, आर.एन., भरत अग्रवाल. प्रारंभिक समाजशास्त्र. पृ. 141.)

"शाब्दिक अर्थ में 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपान्तर है । 'संस्कार' का अर्थ 'शुद्धि की क्रिया' से लगाया जाता है। इस रूप में संस्कृति को उन विचारों व वस्तुओं का योग माना जाता है जो मनुष्य की शुद्धि करती है। मानवशास्त्री संस्कृति शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में करते हैं । उनके अनुसार संस्कृति सीखे हुए व्यवहार (Learned behavior) की वह समग्रता (Totality) है जिसमें एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है" । (मुकर्जी, आर.एन., भरत अग्रवाल. प्रारंभिक समाजशास्त्र. पृ. 141-142.)

समाजशास्त्री सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहते हैं, "हमारे रहने तथा सोचने के तरीकों में, प्रतिदिन के आपसी समागमों में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद में अभिव्यक्त हमारी प्रकृति ही 'संस्कृति' है" । (मुकर्जी, आर.एन., भरत अग्रवाल. प्रारंभिक समाजशास्त्र. पृ. 142.)

श्री टायलर (ज्लसवत) के अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समष्टि है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य उन क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है" । (मुकर्जी, आर.एन., भरत अग्रवाल. प्रारंभिक समाजशास्त्र. पृ. 142.)

महादेवी वर्मा के अनुसार बुद्धि और हृदय "मानव-चेतना में एक संस्कार जगत् का निर्माण करते रहते हैं, इससे रस पाकर मनुष्य की स्मृति, अनुमान, कल्पना, भावना आदि समाज, दर्शन, साहित्य आदि में परिणत होकर जिस जीवन-पद्धति का निर्माण करते हैं, हम उसी को संस्कृति की संज्ञा देते हैं" ।

(चतुर्वेदी, जगदीश्वर, सुधा सिंह. स्त्री अस्मिता: साहित्य और विचारधारा. पृ.76.)

'समाजशास्त्रियों ने संस्कृति के दो भेद किए हैं . भौतिक और अभौतिक । भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मूर्त वस्तुएँ जैसे मकान, कपड़ा, फर्नीचर, रेडियो, साइकिल, उपकरण, बर्तन, मूर्तियाँ, पुस्तकें, मशीन आदि आते हैं तथा ये भौतिक सामाजिक विरासत ही हमारी सभ्यता है, और धर्म, प्रथा, परंपरा, आदर्श, भाषा, जनरीतियाँ, साहित्य, विज्ञान इत्यादि अभौतिक सामाजिक विरासत ही हमारी संस्कृति है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक अंतःक्रियाओं के दौरान स्वतः विकसित एवं हस्तांतरित होती रहती है' ।

(मुकर्जी, आर.एन., भरत अग्रवाल. प्रारंभिक समाजशास्त्र. पृ. 141.)

मनुष्य की रुचि-अरुचि के अनुसार भौतिक संस्कृति हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं, किंतु अभौतिक संस्कृति में रुचि-अरुचि की नहीं बल्कि भावनाओं का महत्व होता है । यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक समय के साथ कभी परिवर्तित तो कभी अपरिवर्तित रूप में हस्तांतरित होती रहती है । एक ओर भूमंडलीकरण के इस दौर में नगरीकरण . शहरीकरण के कारण अतितीव्र गति से संक्रमित एवं परिवर्तित हो रहे हैं तो दूसरी ओर ग्रामीण अंचल में शनैः शनैः अपना रूप बदल रहे हैं अथवा रीति-रिवाजों के रूप में रूढ़ हो जाते हैं । रीति-रिवाज ही आगे चलकर प्रथाओं में बदल जाते हैं और पूरा का पूरा समाज उन प्रथाओं को स्वीकार कर लेता है तथा अपनी पीढ़ी को विरासत के रूप में सौंपता जाता है ।

सभ्यता को अपरिवर्तित रूप में स्वीकार किया जाता है किंतु संस्कृति परिवर्तित होती रहती है । भौतिक संस्कृति में वस्तुओं के महत्व के कारण भावनाओं की कमी हो सकती है किंतु अभौतिक संस्कृति (धर्म, परंपरा, रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव, मान्यताएँ, अंधविश्वास आदि) से भावनाओं का गहरा संबंध होता है । अतः अभौतिक संस्कृति ही वर्चस्ववादी सत्ता के गलियारे में आकर दोहरे मानदंडों का शिकार हो गई और भावनाएँ शिकार फँसाने का सबसे बड़ा हथियार । संस्कृति को जीवन्तता प्रदान करने में अधिकतम योगदान स्त्रियों का है । धर्म, नैतिकता, त्योहार-उत्सवों, रीति रिवाजों, भाषा, वेश-भूषा को बचाते बचाते वह स्वयं को संस्कृति के माध्यम से या तो संप्रेषित करने लगती है या फिर उसे त्याग कर बदचलन औरत का खिताब पा जाती है ।

चूँकि भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष को एक ही घर में एक साथ अलग-अलग तरीकों से संस्कार प्रदान किए जाते हैं । मर्द को मर्दाना (हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ, कामुक, चंचल, सक्रिय आदि) और स्त्री को स्त्रीत्व (नाजूक, गोल-मटोल, क्षमाशील, त्यागमयी, करुणामयी, ममतामयी, शांत, देवी, निष्क्रिय, दबूपन, डरपोक आदि) गुण प्रदान कर उनका समाजीकरण किया जाता है । समाजीकरण की प्रक्रिया के साथ ही शुरू हो जाता है वर्चस्ववादी सत्ता का षडयन्त्र । हालांकि संस्कृति के लिए जेंडर महत्व नहीं रखता किंतु जेंडर के लिए संस्कृति महत्व रखती है, क्योंकि सत्ताधारी जेंडर अपनी सुविधानुसार संस्कृति में फेर-बदल कर समाज के कुछ अपने नियम एवं मूल्य पेश करता है । इसीलिए दोनों ही लिंगों के लिए अलग-अलग नियम दिखाई देने लगते हैं । जिसका सबसे प्रमुख और भावनात्मक पहलू है- धर्म । "धर्म से अभिप्राय किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं है, बल्कि जीवन के एक तरीके या आचरण का एक संहिता से है जो स्वयं व्यक्ति के रूप में तथा समाज के सदस्य के रूप में एक व्यक्ति के कार्यों को नियंत्रित अथवा नियमित करती है" ।

(प्रधान, डॉ. साधना. रामचरितमानस में जीवन-मूल्य. पृ. 120-121. (डॉ. हुकुमचन्द राजपाल: आधुनिक कला में नवीन जीवन-मूल्य, पृ. 23-25))

आध्यात्मिक संस्कृति वाले भारत देश में विभिन्न धर्मों ने अपने अपने नियम निर्धारित किए और वर्चस्वता के तराजू में स्त्री-व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए दोहरे मानदंड गढ़े । जिसमें हिन्दू धर्म के कुछ उदाहरणों के साथ कहा जा सकता है कि एक ओर पुरुष सर्वेसर्वा है तो दूसरी ओर स्त्री को किसी

न किसी पुरुष के आधीन रहने की शिक्षा दी गई । एक ओर पुरुष के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अनिवार्य है, तो दूसरी ओर स्त्री के लिए पति से अलग यज्ञ, व्रत, उपवास करने का कोई अधिकार नहीं, उसके लिए पति सेवा ही एक मात्र कर्तव्य है, उसी से उसका उद्धार हो जायेगा .

bukflr fl=.kk; iFkx; ;Kk u or; ukl; i'k".ke A

ifr 'k'J"'.k; ;u ru Loxi egh; r; AA (मनु. 4/155)"

(पोद्दार, हनुमान प्रसाद. व्यवहार और परमार्थ. पृ. 226)

पति चाहे कितना भी दुराचारी हो, पत्नी को उसे ईश्वर के समान समझकर उसकी सेवा—सुश्रुषा करनी चाहिए — pfo'khy% dkeoUkk ok x;.kok ifjoftr% A

mip; % fl=; k lk/0; k lrr; noor ifr% AA (मनु. 5/154)"

(गोयन्दका, जयदयाल. नारी धर्म. पृ. 29)

त्याग, बलिदान, क्षमा, करुणा, ममता आदि स्त्री की विशेषता है । एक तरफ स्त्री को देवी बनाकर पूजा गया तो दूसरी ओर कुलटा, कुलिछनी आदि नामों से संबोधित कर उसे उपेक्षित भी किया गया ।

सौभाग्यवती स्त्री को हमारे धर्म में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है । वह पति तथा उसके कुल का उद्धार करने में सहायक होती है । पत्नी को सदैव पति के चरणों में तन—मन से समर्पित होना चाहिए तथा स्वप्न में भी पर—पुरुष का विचार नहीं करना चाहिए । महाभारत के शांति पर्व में महर्षि वेदव्यास ने लिखा है

p l k Hkk; k; ; k xg; n{kk l k Hkk; k; ; k çtkorh A

l k Hkk; k; ; k çfrçk.kk l k Hkk; k; ; k ifror% AA

पाण्डेय, डॉ. दर्शन. नारी अस्मिता की परख. पृ. 14. (महाभारत शांतिपर्व), 47/10))

सत्ता के दोहरी नीति में पुरुष को वर्णाश्रम के नियमों के अंतर्गत उनके व्यक्तित्व के विकास में खुली छूट मिली और स्त्रियों को मोक्ष के नाम पर अंधविश्वास का अमलीय जामा पहना कर कभी एकनिष्ठता के नाम पर तो कभी स्वर्ग—नरक का लालच देकर चहारदीवारी में कैद कर दिया गया । चहारदीवारी भी तभी फलीभूत हो सकती है जब वह गृहकार्य में दक्ष, सन्तानवती पतिप्रिया पतिव्रता नारी हो । पतिव्रता नारी भी स्मृतियों के अनुसार अपने समस्त समर्पण के पश्चात् ही पूजनीय हो सकती है अन्यथा वह कुलटा, कुलक्षिणी आदि के कटघरे में कस दी जाती है । संरक्षकयुक्त स्त्रियों (पतिव्रताओं अथवा कुलक्षिणियों) के लिए समाज दयास्वरूप जीने के कुछ आधार प्रदान कर ही देता है, लेकिन विधवाओं के लिए तो पति की मृत्यु के साथ साथ स्वर्ग का भी दरवाजा बन्द हो जाता है, समाज की झोली में इनके नारकीय जीवन के लिए न तो दया बचती है और न ही मानवीय संवेदनाएँ । मनुस्मृति के अनुसार, "पति के मर जाने पर (जीविका रहने पर भी) पवित्र (सात्त्विक गुणयुक्त) पुष्प, कन्द और फल (के आहार) से शरीर को क्षीण करे । (व्याभिचार की भावना से दूसरे पुरुष का) नाम भी न ले" । (मनु. महर्षि. मनुस्मृति. पृ. 76)

इस मानवीय प्रवंचना के बीच वह अमानवीय भी नहीं होती, उसे या तो सत्यवती की भाँति अपने पति को मृत्यु के मुँह से छीनकर सतीत्व का प्रमाण देना पड़ता है अथवा सांसारिक रीति—रिवाजों के गहरे अंधकार में डूबकर जीवन बीता देना होता है ।

pvuotUrh Hkrk; , xgkr firou enk A

in; in; Joe?kL; Qy çkUikR; l'k; e AA

0; kyxkgh; ; Fkk 0; ky; cykn; } jr; foykr A

, oeRØE; nrrH; % ifr; Loxi otir l rhß AA

पोद्दार, हनुमानदास. नारी शिक्षा. पृ. 1 (स्कन्दपुराण (धर्मरण्यखण्ड) अ. 7))

अर्थात् "जो नारी अपने मृत पति का अनुसरण करती हुई घर से श्मशान की ओर प्रसन्नता के साथ जाती है, वह पद—पद पर अश्वमेघ यज्ञ का फल प्राप्त करती है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ।

जैसे सर्प पकड़ने वाला सपेरा साँप को उसके बिल से बलपूर्वक निकाल लेता है, उसी प्रकार सती स्त्री अपने पति को यमदूतों के हाथ से छीनकर स्वर्गलोक में जाती है" ।

पोद्दार, हनुमानदास. नारी शिक्षा. पृ. 1 (स्कन्दपुराण (धर्मरत्नखण्ड) अ. 7))

अर्थात् स्वर्ग चाहिए तो पति को मृत्यु के मुँह से छीन लाओ अन्यथा नरक भोगो !! स्वर्ग और नरक के स्वामियों पर आश्चर्य प्रकट करते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं –

“धर्म की ध्वज तलें मूल्यों का शीर्षासन – कला की शाला में ‘काम’ का आसन संस्कृति के पतन का उत्कर्ष उन्मत्त उन्माद का तार्किक निष्कर्ष / विकलांग मानसिकता का शीर्ष सत्ता का दिशा-हीन तीर विश्व का आठवाँ आश्चर्य अगर कोई है तो यही है यही है यही है यही है !!”

(गुप्ता, रमणिका. विज्ञापन बनता कवि. पृ. 69.)

धार्मिक वचनों को नैतिकता स्वतः ही आत्मसात कर लेती है और नैतिकता भी भारतीय संस्कृति का हिस्सा बन स्त्री की जकड़न को और जकड़ लेती है।

p'kkyhurk dh ckr u:

xixk cuk; k g:

vuxkfeuh dh ckr l:

i:xi cuh g: og

?k?kV dh vkV vkj

vk[kk: dh ykt u:

Nhu yh g: ml l:

cgr cMh nfu; k

dc le>ixh ; g ckr

jfu; k vkj efu; kß A142

टाकभौरे, सुशीला. तुमने उसे कब पहचाना. पृ. 23)

‘स्त्री-पराधीनता’ नामक लेख में डॉ. सुधा सिंह लिखती हैं, “सारी नैतिकता उन्हें बताती है कि यह महिलाओं का कर्तव्य है और सभी मौजूदा भावनाओं के अनुसार यह उनका स्वभाव है कि दूसरों के लिए जिए, पूर्ण आत्मत्याग करें और अपने स्नेह संबंधों के अतिरिक्त उनका अपना कोई जीवन न हो। स्नेह संबंधों से तात्पर्य सिर्फ उन संबंधों से है जिनकी उन्हें इजाजत है। वे पुरुष जिनसे स्त्री संबंधित हो या वे बच्चे जो पुरुष व उनमें एक अटूट व अतिरिक्त बंधन होते हैं”।

(चतुर्वेदी जगदीश्वर, सुधा सिंह. संपा. स्त्री अस्मिता. साहित्य और विचारधारा. पृ. 17)

पर-पुरुष से बात न करना, सिनेमा न देखना, ठहाके के साथ हँसने की मनाही, आँखों से आखें मिलाकर बात न करना, आज्ञा न देना, प्रश्न न पूछना, मूक बन निरंतर सेवारत् रहना, पति हो तो सजी-सँवरी रहे अन्यथा सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत आदि स्त्री को उच्छृंखल होने से बचा लेते हैं !! इन सारी नैतिकताओं ने रीति-रिवाजों के साथ जुगलबंदी कर स्त्री के लिए दोहरे मानदंड गढ़े, जिससे स्त्रीत्व गुण (जैसा कि धर्म और नैतिकता कहता है) परलोक में आरक्षण सुरक्षित कर दे।

एक ओर विवाह में एकनिष्ठता और प्रजनन (खासकर पुत्रोत्पत्ति) से स्त्रियाँ पूजनीय एवं पवित्र मानी जाती हैं, तो वहीं दूसरी ओर उनकी माहवारी को अपवित्र कह कर उन्हें हीनतर दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ी जाती। यह ध्यातव्य है कि अनेक लड़कियों का आजीवन कुंवारी रह जाने का कारण उन्हें माहवारी न होना है और यदि विवाह हो भी जाय तो प्रजनन असम्भव है। जिससे उन्हें जीवनपर्यन्त बांझ, कुलक्षिणी आदि व्यंग्यवाणों एवं सौतियाडाह का सामना करना पड़ता है, यही नहीं उन्हें किसी भी शुभ कार्यों में खासकर पुत्रोत्सव में जाने की मनाही होती है।

भारतीय संस्कारों में माहवारी शुरू होने से पहले लड़की का विवाह करने में विश्वास रखा जाता था, क्योंकि माहवारी के बाद लड़कियों का कन्यादान माँ-बाप के स्वर्ग प्राप्ति में बाधक होता था, जो कि बाल विवाह का एक कारण यह भी रहा। माहवारी में उन्हें एक कोने में बैठाना, बाहर जाने की अनुमति न मिलना, रसोईघर से दूर रहना, अचार या मुरब्बा न छूना और सभी पवित्र वस्तुओं से दूर रहने की सख्त हिदायत कुंवारी लड़कियों को होती थी। इतना ही नहीं कुंवारी तो फिर भी ठीक, सुहागनों के लिए दोहरी

मार होती थी कि इन्हें इन सारे नियमों का पालन करते हुए पति से दूरी बनाये रखने की कड़ी चेतावनी दी जाती थी । साथ ही यह भी लोक-मान्यता रही कि माहवारी के समय पुरुषों की धोती का प्रयोग करने से तथा जो भी कपड़ा प्रयोग में लाया जाय उसे बिना धुले जमीन में गाड़ने से पति को नरक भोगना पड़ता है तथा उसे उसी कपड़े से स्वर्ग में सर पर पगड़ी बाँधनी पड़ती है । लोकाचार यह भी रहा कि औरत जितनी लम्बी सिंदूर की रेखा माथे पर खिंचेगी पति की उम्र उतनी ही लम्बी होगी । लेकिन माहवारी में तथा वृहस्पति के दिन और अमावस्या के दिन पति का जीवन बचाने के लिए वे सिंदूर नहीं लगा सकतीं । इन नियमों के कुछ वैज्ञानिक कारण भी हैं, लेकिन इन्हें रिवाजों, अंधविश्वासों तथा मान्यताओं के साथ जोड़कर स्त्री-प्रताड़ना में सहायक बना दिया गया । ये नियम आज काफी हद तक टूट चुके हैं किंतु गाँवों में अभी भी प्रचलित हैं ।

हमारे संस्कारों में सर्वविदित है कि सिंदूर, बिन्दी, चूड़ी, बिछुआ आदि श्रृंगार सुहाग की निशानी हैं और सुहागन सिर्फ स्त्री होती है पुरुष नहीं । जिसके पीछे विश्वास, मान्यताएँ और रीति-रिवाज चौकीदार की भाँति सीना ताने खड़े रहते हैं । सिंदूर, बिन्दी, चूड़ी, बिछुआ आदि भौतिक संस्कृति का हिस्सा है, जो कि सामंती व्यवस्था में स्त्रियों की सुरक्षा के लिए आवश्यक था किंतु बाद में यह पति की लम्बी उम्र तथा शुभ-अशुभ के कटघरे में कसकर एक हथकड़ी के रूप में प्रयोग किया जाने लगा । परिणामस्वरूप शादी-शुदा औरतों के लिए ये सभी श्रृंगार एक वैवाहिक मोहर के रूप में सामाजिक कुदृष्टि से बचाने का एक साधन और पति की लम्बी आयु के रूप में भावनात्मक सुरक्षा अथवा पति की दृष्टि में एकनिष्ठता का प्रतीक के रूप में रुढ़ हो गया ।

आश्चर्य यह है कि पति की उम्र इतनी ललतुहा होती है कि पत्नी द्वारा नाम लेने मात्र से भी कम हो जाती है, सुनीता जैन इस पर व्यंग्य एवं दुःख प्रकट करते हुए कहती हैं .

puke rd y; y; dHkh rk

?kV tk, vk;| ifr dh

bruh l{e Njh l;

dj nh xbi og x|xhß A 137

जैन, सुनीता. सुनीता जैन: अब तक 7, कविता 5. पृ. 149. (सुनो कहानी))

वह लाख तीज-त्योहार कर ले, फिर भी वे उन्हें यमराज से छीन नहीं पातीं । सावित्री-व्रत, वट वृक्ष पूजा, तुलसी पूजा, तीज, करवा-चौथ, गौरी-पूजा आदि व्रत पति के लिए, ज्युतिया, चौथ, छठ पूजा आदि व्रत पुत्र तथा भाई-दूज व्रत भाई की उम्र में वृद्धि और उनके सुख-समृद्धि के लिए रखा जाता है । जिनमें से लड़की के लिए एक भी व्रत निर्धारित नहीं । दिन भर निराजल रहना और नए-नए कपड़े-गहनों से लदी-फंदी किस्से-कहानियों के बीच उसने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उसके लिए भी उसका पति या पुत्रों द्वारा कभी कोई व्रत रखा जाना चाहिए । जबकि पूजा-पाठ, व्रत आदि भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है ।

इन्हीं रस्मों-रिवाजों से जुड़ी हैं स्त्रियों के लिए सम्माननीय एवं अपमानजनक हमारी भाषाएँ । देवी, माता, बहन, दादा, बाबा, भईया, पिता जैसे संबोधनीय-सम्माननीय संस्कृति में पति-पत्नी के प्रेम में बँटवारा तभी हो जाता है जब स्त्री के लिए सर्वस्व समर्पण की कामना (जैसे सीता, सावित्री, मंदोदरी आदि पतिव्रता नारियाँ) तथा पुरुष अर्धनारिश्वर के रूप में पूजनीय माना जाता है । हमारी भाषाएँ संस्कृति का बेबाक तरिके से परिचय करवाती हैं । पतिपरायण स्त्री के लिए 'पतिव्रता' शब्द तथा पति जो स्त्री से प्रेम करे उसके लिए 'जोरु का गुलाम' शब्द प्रचलित है । परस्त्रीगमन करने वाले पुरुष के लिए कोई गाली नहीं जबकि उसी परस्त्री के लिए 'रखैल' गाली प्रसिद्ध है । इसी प्रकार एक से अधिक पुरुषों से संपर्क में रहने वाली स्त्रियों के लिए कुछ कम तथा कुछ अधिक अर्थबोध के साथ 'रंडी', 'छिनाल' या 'वेश्या' शब्द प्रचलित हैं तो पुरुषों के लिए कोई शब्द प्रचलित ही नहीं, बल्कि उनके नाजायज एवं निर्दोष बच्चे के लिए 'हरामी' गाली धड़ल्ले से दी जाती है । विधवा के लिए 'रांड' शब्द प्रचलित है और विधुर के लिए अपमानजनक शब्द नहीं मिलते । बच्चा न जनने वाली स्त्रियों को दी जाने वाली गाली 'बाँझ' तथा पुरुष

के लिए 'नपुंसक' गाली दोनों ही अत्यंत घातक एवं अपमानजनक होता है, किंतु पुरुष के लिए अपमानजनक इसलिए अधिक होता है क्योंकि उनके लिए सेक्स करना और गर्भाधान के लिए सक्रिय वीर्य पौरुषत्व की निशानी है। हमारी सांस्कृतिक संकल्पना में पुरुष का नपुंसक होना अकल्पनीय एवं असहनीय होता है, जबकि यह सत्य है कि स्त्री-पुरुष कोई भी नपुंसक हो सकता है। पुरुष-स्त्रियों को दी जाने वाली अधिकतर गालियाँ स्त्री-यौनिकता पर केंद्रित हैं किंतु पुरुष-केन्द्रित गालियाँ बहुत कम हैं तथा स्त्री-केन्द्रित गालियों से कम अपमानजनक भी। इसमें आश्चर्य नहीं कि वर्चस्ववादी सत्ता में स्त्री यौनिकता से जुड़ी गालियाँ देकर पुरुषवर्ग अपनी मर्दाना ताकत को न केवल प्रदर्शित करते हैं बल्कि स्त्रियों को हीनतर और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ साबित करने के लिए प्रयोग करते हैं तथा ये गालियाँ लोगों की जिह्वा और बोलचाल की भाषा में इस प्रकार रच-बस गई हैं कि वे इन गालियों को अपने व्यावहारिक जीवन से अलग नहीं कर पाते। किंतु आश्चर्यजनक यह है कि भारतीय संस्कृति में पुरुष के लिए पत्नीव्रता, बदचलन, रखैल, बाँझ और रांड होने की कोई संकल्पना ही नहीं। क्योंकि जो भी कमियाँ हैं वे सब स्त्रियों में हैं, पुरुष सर्वगुण सम्पन्न अथवा सोहदा होता है और उसे पत्नी भी सर्वगुण संपन्न ही चाहिए। कदाचित् इसी आश्चर्य को सुशीला टाकभौरे प्रकट करते हुए कहती हैं –

“जब कुत्ता और कुतिया / एक दूसरे के पूरक हैं/तब कुत्ते को वफादार /कहने के साथ ही / चरित्र के नाम पर/‘कुतिया’ गाली क्यों दी जाती है” ?/ (टाकभौरे, सुशीला. यह तुम भी जानो. पृ. 21.)

यह कहना गलत नहीं होगा कि हमारे रीति-रिवाजों के बीच जन्मी लोकमान्यताएँ, लोकाचार और अंधविश्वास स्त्रियों के साथ अत्यंत चुप्पी से विश्वासघात करते हैं और इन्हीं परंपराओं, लोकरीतियों को अपनाते-अपनाते वह दहेज-प्रथा, सति-प्रथा, बाल-विवाह, डायन-प्रथा, परदा प्रथा, ऑनर कीलिंग की शिकार भी हो जाती है। Powerful History of Native Women esa Anderson us lp gh dgk gS] BThe heart of Aboriginal cultures is the women---- the givers of the language and the culture and the life- The ones who brought in the Native children and made them NativeB (।दकमतेवद, 2000रू26)

सोने पर सुहागा तब हुआ जब भारतीय संस्कृति के समस्त रूपक-तत्त्वों को एक साथ भूमंडलीकरण, बाजारीकरण और मीडिया ने चुनौती दी। जहाँ एक ओर भूमंडलीकरण ने नये मूल्यों और संक्रमित संस्कृति को जन्म दी है, लड़कियाँ साड़ी, सिंदूर, बिन्दी, चूड़ी आदि छोड़कर शार्ट-ड्रेस, पेन्सिल हिल और खुले बालों में आ गयीं, साथ ही अपने अस्तित्व के प्रति सजग होने लगीं, वहीं दूसरी ओर मीडिया के माध्यम से त्योहारों का बाजारीकरण हो गया। साजो-श्रृंगार और कपड़ों गहनों के अनगिनत विकल्पों में से कोई एक चुनने की हड़बड़ी और मुर्दा दिल मशीन की तरह पूजा पाठ कर यमराज के घर से फ़ैशनेबल तरीके से पति को छीनने की जल्दबादी ने एक नए संस्कृति को जन्म दिया। धर्म-कर्म, तीज-त्योहार बाजारीकरण के साथ सिमट कर या तो तड़फड़ाने लगा है अथवा पैसा कमाने का एक जरिया हो गया है और नैतिकता नए मूल्यों के साथ गलबहियाँ डाले घूमने लगी। ऐसे में भारतीय आस्था और विश्वास के नाम पर या तो अत्यधिक अंधविश्वासी होते जा रहे हैं अथवा नास्तिकता की ओर रुख करके अपने आगे भूमंडलीकरण को चुनौती दे रहे हैं। एक ओर यह भी कहा जा रहा है कि आज लड़की को नहीं बल्कि लड़कों को संस्कार देने की जरूरत है, उन्हें (लड़के तथा लड़कियों को) सांस्कृतिक संकट से बचाते हुए आत्मनिर्भर, साहसी एवं सामाजिक बनाने की आवश्यकता है तो दूसरी ओर नए षड़यंत्रों के तहत विज्ञापन, पोर्नोग्राफी, सिनेमा-जगत, मीडिया, बाजारीकरण में लड़की एक खूबसूरत कामुक गुडिया की भाँति प्रस्तुत होने लगी है। ए. अरविन्दाक्षन के अनुसार, “संस्कृति का विकास तब होता है जब उसमें सबसे अधिक खुलापन हो। बंद होते जाने की स्थितियाँ कदापि वांछित नहीं हैं। संस्कृति के अंतर्गत विचार करने योग्य सामाजिक जीवन की समस्त आचार और गतिविधियाँ, राजनीतिक क्षेत्र के समस्त परिदृश्य, धार्मिक क्षेत्र की जटिलताएँ एवं संभावनाएँ कभी-कभी मानवीयता के हित में विकसित नहीं होती हैं तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। प्रायः कई स्थितियाँ मानवीयता के अहित में विकसित दिखती हैं। लेकिन सामाजिक प्राणी के रूप में अर्जित बल के आधार पर मनुष्य यह बता पाता है कि यह उसके हित में है

या नहीं है । इसे विवेक कहा जा सकता है । जो गलत है उसे गलत घोषित करना और जो सही है उसे सही मान लेना ही विवेक है । इसे हमारी सांस्कृतिक दृष्टि भी कही जा सकती है” ।

(अरविन्दाक्षन ए., कविता सबसे सुन्दर सपना है. पृ. 36)

सच तो यह है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत धनी है । संस्कृति की भी अपनी एक सत्ता है जिससे समाज पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाता, उसे हर रूप में स्वीकारना पड़ता है तथा वर्चस्ववादी समाज बार-बार अपने हित के लिए उसे विकृत करता रहता है । इसलिए संस्कृति वर्चस्ववादी सत्ता के हाथों खिलौना बन गई और सत्ता धर्म, नैतिकता, परंपरा, प्रथा, भाषा, मान्यताओं आदि से जुगाली कर स्त्री-चरित्र के लिए दोहरे मानदंड गढ़ती रही । पाश्चात्य की अंधाधुंध नकल में भारतीय संस्कृति सच्चरित्रता और दुष्चरित्रता का प्रमाण देते हुए एक ओर स्वयं को बचाये रखने के लिए संघर्षरत है तो दूसरी ओर पाश्चात्य की चेरी बन परिवर्तन का आवाहन कर रही है । सत्ता के इस नए दोहरे रूप में संक्रमित संस्कृति अंतर्द्वन्द्व की धारा-प्रवाह में अतितीव्र गति से बहे जा रही है और आधी आबादी कभी सेकुलररिज्म के नाम पर तो कभी रेडिकल के नाम पर, कभी धर्म के नाम पर तो कभी संप्रदाय के नाम पर, कभी पाश्चात्य के नाम पर तो कभी भारतीयता के नाम पर, कभी परंपरा के नाम पर तो कभी आधुनिकता के नाम पर अलग अलग रूपों और परिभाषाओं के सत्ताजाल में उलझी हुई है । सत्ता द्वारा निर्धारित संस्कृति के सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों में बहुत बारीक सी विचारणीय रेखा है कि कन्या पूजन से हमें दैवीय कटघरे में रखा जा रहा है अथवा हाशिए पर । दैहिक, दैविक, भौतिक स्तर पर यह अतिआवश्यक हो गया है कि हम दोहरे मानदंडों को समझें और संस्कृति के अंतःगर्भ में छिपे मानव कल्याणकारी सकारात्मक पहलू से भारतीय संस्कृति को और भी सुदृढ़ बनाएँ ।

I UnHk; %

1. अरविन्दाक्षन, ए. कविता सबसे सुन्दर सपना है, प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2835, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली . 110002. सं. प्रथम, 2004.
2. गुप्ता, रमणिका. विज्ञापन बनता कवि. प्रका: नवलेखन प्रकाशन, मेन रोड, हजारीबाग . 825301. सं. प्रथम, 1996.
3. गोयन्दका, जयदयाल. नारी-धर्म. प्रका: गीता प्रेस, गोरखपुर. सं. सड़सठवाँ, 2064, पुन: 10000.
4. चतुर्वेदी, जगदीश्वर, सुधा सिंह. संपा. स्त्री-अस्मिता: साहित्य और विचारधारा. प्रका: आनंद प्रकाशन, 176-178, रविन्द्र सरणी, कोलकाता-07. सं. प्रथम, 2004.
5. जैन, सुनीता. सुनीता जैन: अब तक 7, कविता-5. संपा. डॉ. कृष्णदेव शर्मा, प्रका: सार्थक प्रकाशन, 100 ए, गौतम नगर, नई दिल्ली . 110049. सं. प्रथम, 2003.
6. टाकमौरे, सुशीला. यह तुम भी जानो. प्रका: शरद प्रकाशन, 14-वैष्णव अपार्टमेंट, शक्करदरा ले-आऊट, नागपुर . 440024. सं. प्रथम, 1994.
7. टाकमौरे, सुशीला. तुमने उसे कब पहचाना. प्रका: शरद प्रकाशन, 14-वैष्णव अपार्टमेंट, शक्करदरा ले-आऊट, नागपुर . 440024. सं. प्रथम, 1995.
8. पाण्डेय, डॉ. दर्शन. नारी अस्मिता की परख. प्रका: संजय प्रकाशन, 43784-बी, 209, जे.एम.डी.हाउस, गली मुरारी लाल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली . 02. सं. प्रथम, 2004.
9. पोद्दार, हनुमान प्रसाद. व्यवहार और परमार्थ. प्रका: गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. आठवाँ, 2060.
10. पोद्दार, हनुमान प्रसाद. नारी-शिक्षा. प्रका: गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. बावनवाँ, 2064, पुन: 8000.
11. प्रधान, डॉ. साधना. रामचरित मानस में जीवन मूल्य. प्रका: क्लासिक पब्लिकेशन हाउस, 260-261, चौड़ा रास्ता, जयपुर-3. सं. प्रथम, 1997.
12. मनु, महर्षि. मनुस्मृति. प्रका: साधना पॉकेट बुक्स, 39, यू.ए. बैंगलों रोड, जवाहर नगर, दिल्ली . 110007. सं. 1999.
13. मुकर्जी, आर.एन., भरत अग्रवाल. प्रारंभिक समाजशास्त्र. प्रका: शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, अस्पताल मार्ग, आगरा . 3, सं. पहला: 1971, अट्हाइसवा: 1999.
14. Anderson, Kim2000. The Powerful History of Native Women- Herizons 14(1):15



,Mxuh % vuokn vkj iLrfr

M,- Jhfudr dekj feJ*

‘एंटीगनी’ नाटक की प्रस्तुति ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर अब तक लगातार हो रहा है। इसके कई अनुवाद, रूपांतरण एवं प्रस्तुति हुईं एवं इसके साथ ही इसमें देश, काल, समाज के कारण कई बदलाव हुए। यह नाटक आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सार्थक एवं प्रासंगिक है एवं इसीलिए इसे कालजयी नाटकों में शुमार किया जाता है। प्रस्तुत शोधपत्र में एंटीगनी के भारत एवं भारतीय प्रायद्वीप में हुए अनुवाद, रूपांतरण एवं प्रस्तुति की चर्चा की गयी है। यह नाटक भारतीय परिवेश में किस तरह से अभिगृहीत एवं अनुदित हुआ है ? इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

Ch t 'kCn% अनुवाद, रूपांतरण, देश-काल, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश, परिवर्तन।

‘एंटीगनी’ एक ग्रीक त्रासदी नाटक है। इसे महान नाटककार सोफोकलीज ने लगभग 442 ई०पू० में लिखा था। सोफोकलीज ने 123 नाटक लिखे हैं। लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि उनके लिखे नाटकों में से केवल सात ही नाटक आज उपलब्ध हैं। ‘एंटीगनी’ नाटक हमारे विश्व-साहित्य की एक कालजयी साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक कृति है।¹ यह नाटक आज भी समाज के लिए प्रासंगिक है।² जॉर्ज इलियट अपने लेख, द एंटीगोन एण्ड इट्स मोरल (1856) में कहती हैं कि सोफोकलीज ही एकमात्र रचनाकार है जिनकी तुलना शेक्सपीयर से की जा सकती है। शेली जॉन गिर्बन को (अक्टूबर, 1821) अपने पत्र में लिखते हैं ‘तुम एंटीगनी के बारे में बिल्कुल सही हो, यह औरत की कितनी अद्भुत छवि को प्रस्तुत करता है।’³ ऑद्रे जीद ग्रीष्म 1927 में अपने डायरी में लिखते हैं कि किसी भी साहित्य में एश्चलिस (Aeschylus) प्रोमोथस (Prometheus) और एंटीगोन (Antigone) से सुन्दर कुछ भी लिखा नहीं गया।⁴ हेगेल के अनुसार एंटीगनी, मानव प्रयास का सबसे उदात्त एवं हर मामले में कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है और उन्होंने एंटीगनी को आज तक का महानतम किरदार घोषित किया।⁵ बार्थलेमी, शेली, हेगेल और हेब्ल आदि विद्वानों ने एंटीगनी के मिथिकल व्यक्तित्व को पुरुष प्रधान समाज में सर्वश्रेष्ठ बताया है। इस तरह देखा जाए तो ‘एंटीगनी’ एक ऐसा नाटक है जिसकी प्रशंसा सभी आलोचकों और विद्वानों ने की है। ‘एंटीगनी’ का अनुवाद, रूपांतरण एवं अनुकरण अनेक भाषाओं में हो चुका है। कला के अन्य माध्यमों जैसे सिनेमा, ओपेरा, संगीत एवं चित्रकला में भी एंटीगनी का सफल रूपांतरण हुआ है।

ईडीपस की जिंदगी को लेकर सोफोकलीज ने ईडीपस रेक्स, एंटीगनी और ईडीपस एट कोलोनेस नामक तीन नाटकों को लिखा।⁶ ‘ईडीपस एट कोलोनेस’ इस क्रम का अंतिम नाटक है, जो ‘एंटीगनी’ के 35 साल बाद लिखा गया था। लेकिन, यह नाटक ईडीपस रेक्स एवं एंटीगनी के बीच के कहानी को प्रस्तुत करता है।⁷ इन तीनों नाटकों की कहानी में विरोधाभास है, जैसे कि क्रेयों की भूमिका इन तीनों नाटकों में अलग-अलग है। इसीलिए इन तीनों नाटकों को अलग-अलग नाटक माना जाता है।⁸ एंटीगनी को समझने के लिए हमारा ईडीपस एवं एंटीगनी के मिथिक अथवा कहानी को जानना अपेक्षित है।

ईडीपस थिब्स का राजा है। जोकास्टा उसकी पत्नी है। उससे चार संतानें हैं :- पोलिनीस, एतिओकल, इस्मैन एवं एंटीगनी। जब उसे यह मालूम होता है कि जोकास्टा जो उसकी पत्नी है वही उसकी माँ भी है, तब वह आत्मघृणा एवं धिक्कार की भावना से आहत होकर अपनी आँखें फोड़ लेता है। जोकास्टा भी फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लेती है। इसी त्रासदी को ईडीपस रेक्स में दिखाया गया है। ईडीपस

*पोस्ट-डॉक्टरल फेलो, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली

की मृत्यु के बाद यह तय होता है कि थिब्स (Thebes) पर दोनों भाई एतिओक्ल एवं पोलिनीस बारी-बारी से एक-एक साल शासन करेंगे। लेकिन एक साल खत्म होने पर बड़ा भाई एतिओक्ल शासन हस्तांतरण से मना कर देता है। इस पर, पोलिनीस अपने कुछ जीते हुए राज्यों की मदद से थिब्स पर आक्रमण करता है। दोनों भाई एक-दूसरे से लड़ते हुए शहर के बाहर शहीद हो जाते हैं। इनके मृत्युपरांत क्रैयों थिब्स का राजा बनता है। वह जोकास्ता का भाई एवं एंटीगनी का मामा है। क्रैयों एतिओक्ल का शाही सम्मान के साथ अंतिम संस्कार करता है जबकि पोलिनीस को देशद्रोही घोषित कर, उसके लाश को दफनाने से मना कर देता है। वह आदेश जारी करता है कि पोलिनीस की लाश पर कोई आँसू नहीं बहाये और न ही कोई उसकी लाश को दफनाने की कोशिश करे। वह उसकी लाश को खुले में चील एवं कौओं को खाने के लिए छोड़ देता है। पर एंटीगनी मानती है कि किसी भी आदमी का अंतिम संस्कार उसका मूल अधिकार है। राज्य अथवा तंत्र किसी को भी इससे वंचित नहीं कर सकता है। वह इसके लिए सारी व्यवस्था, राजा एवं उसके आदेश के खिलाफ जाकर अपने भाई पोलिनीस को दफनाने की कोशिश करती है और इस दौरान वह सैनिकों द्वारा पकड़ी जाती है। क्रैयों एंटीगनी को दीवार में जिन्दा चुनवाने का आदेश देता है। जबकि वह उसके पुत्र हेमोन की मंगेतर है। एंटीगनी की मृत्यु के बाद हेमोन भी आत्महत्या कर लेता है। हेमोन की मृत्यु के समाचार को सुनकर उसकी माँ यूरीपीडस भी आत्महत्या कर लेती है। अंत में क्रैयों बिल्कुल अकेला पड़ जाता है।

ग्रीक मिथक के अनुसार एंटीगनी ईडीपस एवं जोकास्ता की बेटी है। कई लोगों के विचार में एंटीगनी का नाम ही मातृत्व को नकारता है।⁹ इसका आशय पुरुष प्रधान समाज के विरोध से भी लिया जाता है। प्राचीन ग्रीक पारिवारिक व्यवस्था पुरुष प्रधान थी पर एंटीगनी ने इसे पूरी तरह खारिज कर दिया। एंटी (Anti) का आशय विरुद्ध एवं गोन (Gone) का अर्थ 'ममक (बीज)' लगाया जाता है।¹⁰

यह मिथक क्या है ? और इसका साहित्य एवं कला पर क्या प्रभाव है ? बृहत हिन्दी कोश (जनवरी 2000) के अनुसार प्राचीन पुराकथाओं के तत्व जो नवीन स्थितियों में नये अर्थ का वहन करें मिथक कहलाता है।¹¹ मिथ (Myth) शब्द ग्रीक के मुथॉस से आया है जिसका अर्थ – मौखिक कथा होता है। अरस्तू की रचनाओं में मिथ शब्द का प्रयोग गल्पकथा या कथाबंध के रूप में किया गया है। भारतीय संदर्भ में मिथक को आदिम युग के वास्तविक विश्वासों की अभिव्यक्ति माना जाता है जो आख्यानपरक और प्रतीकवत् होता है। अंग्रेजी के मिथ (डलजी) शब्द को हिन्दी में मिथक कहा जाता है और यह शब्द हिन्दी जगत को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला। हिन्दी में मिथ एवं मिथक अर्थगत संकल्पनाओं में समान नहीं हैं। मिथ को प्रायः कल्पनाधर्मी एवं तर्क के विपरीत माना जाता है जबकि मिथक में अलौकिकता का पुट होते हुए भी लोकानुभूति होती है। मिथक की उपादेयता को प्रायः सबने स्वीकार किया है क्योंकि मिथकों में मूलभूत समस्याओं को उठाते हुए उनके समाधान तक पहुँचने की प्रवृत्ति होती है। किसी भी संस्कृति एवं भाषा-साहित्य के लिए मिथक बहुत उपयोगी हैं। साहित्य सर्जना में इनकी उपादेयता असंदिग्ध है। इसका प्रयोग साहित्य में किसी उपेक्षित, तिरस्कृत एवं निंदित चरित्र अथवा कहानी को सहानुभूति के साथ प्रस्तुत करने एवं उसमें निहित मानवीयता को उजागर करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी आधुनिक युग की जीवंत समस्या को व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित करने एवं गहराई देने के निमित्त उसे मिथकीय प्रतीकात्मकता प्रदान किया जाता है। मिथक साहित्य में प्राचीन कथा-प्रसंग के सहारे, अपनी संवेदनाओं को परिविस्तार एवं वस्तुपरकता अर्जित करते हुए नये सौंदर्य का निर्माण करने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार मिथक साहित्य एवं कला को कई विषय प्रदान करता है एवं साथ ही सांस्कृतिक वैभव एवं कलात्मकता को चमत्कृत करने का अवसर देता है। जो कार्य पश्चिमी साहित्य के लिए मिथक करते हैं, वहीं काम पौराणिक कथायें भारतीय साहित्य के सृजन में करती हैं। रामायण, महाभारत, वेद-पुराण आदि के कथाओं पर आधारित अनगिनत साहित्यिक रचनायें हैं। जिनमें उनके पात्रों को नया आयाम प्रदान किया गया है और जिसके सहारे नयी सृजनात्मकता प्रस्तुत हुई है। एंटीगनी के मिथक का अनुकरण एवं अनुशीलन भारतीय साहित्य में पश्चिमी साहित्य एवं कला से अनुवाद एवं रूपांतरण के माध्यम से हुआ है।

यूरीपीडस ने भी एंटीगनी नामक नाटक की रचना की थी।¹² लेकिन यह नाटक सोफोक्लीज के एंटीगनी की तरह प्रसिद्ध नहीं हुआ। विजांटियम के एरिस्टोफेन्स के अनुसार यूरीपीडस का नाटक सोफोक्लीज के नाटक से तीन मामलों में अलग था। इसमें हेमन और एंटीगनी की शादी होती है। और उनकी एक संतान भी होती है जिसका नाम मेओन है। एंटीगनी एवं हेमन एक साथ पोलिनीस के कब्र पर पाये जाते हैं।¹³

‘एंटीगनी’ एक ऐसा नाटक है जिसका मंचन ग्रीक काल से लेकर आधुनिक काल तक होता आ रहा है। सन 1808 – 1809 में गोयथे के एंटीगनी का प्रस्तुतीकरण इतना महान् न था। पर, जब 28 अक्टूबर 1841 को लुडविक टिएक निर्देशित इस नाटक का मंचन हुआ तो यह एक अत्यंत सफल एवं मील का पत्थर साबित हुआ।¹⁴ जे0 जे0 डोडर अनुदित एंटीगनी आधुनिक यूरोप का प्रथम प्रमाणिक पुनःरचना के रूप में प्रशंसित हुआ।¹⁵ उस नाटक का मंचन 1844 में फ्रांस के राष्ट्रीय मंच पर हुआ, उसके बाद फिर लंदन और एडिनबर्ग में। मैक्समूलर ने भी 1840 के दशक में एंटीगनी पर कार्य किया। इस प्रकार एंटीगनी नाटक ने उन्सवीं शताब्दी में सामाजिक, बौद्धिक चिंतन एवं चर्चाओं को जन्म दिया।¹⁶

आधुनिक विश्व साहित्य में जॉन आनुई का ‘एंटीगनी’ काफी चर्चित एवं प्रसिद्ध हुआ। यह नाटक तात्कालिक फ्रांस एवं विश्व के लिए काफी प्रासंगिक था। यह अपने विषयवस्तु एवं प्रासंगिकता के कारण आज भी संपूर्ण विश्व में चर्चित है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यह नाटक जर्मनी के खिलाफ फ्रेंच प्रतिरोध को भी दर्शाता है।¹⁷ यह नाटक ‘प्रोव बोनर ह्ययुमैन’ एवं मानव के मूल अधिकारों की चर्चा करते हुए राज्य एवं व्यक्ति के हितों एवं उनके संघर्ष को पुरजोर तरीके से उठाता है। इतना ही नहीं यह एक ऐसी स्त्री की बात करता है जो मनुष्य के मूल अधिकार अथवा अपने भाई के अंतिम संस्कार के लिए राज्य से भी टकराती है। वह अपने निजी हितों का ध्यान न रखकर अपने कर्तव्य के लिए खुद को न्योछावर कर देती है। यह नाटक नारी की छवि एवं उसके प्रति समाज के सोच को खुलकर प्रस्तुत करता है।

Ismène : C'est bon pour les hommes de croire aux idées et de mourir pour elles. Toi, tu es une fille.

इस्मैन : सिद्धांतों में विश्वास करना और उनके लिए मर-खप जाना, यह सब पुरुषों का काम है, तुम, तुम तो एक लड़की हो।

Antigone : (les dents serrées) Une fille, oui. Ai-je assez pleuré d'être une fille !

एंटीगनी (दाँत पीसकर) : हाँ, मैं एक लड़की हूँ और अपने लड़की होने पर मैंने बहुत रोया है।¹⁸

जॉन आनुई से पहले एंटीगनी का अनुवाद फ्रांस में जॉन कोक्तो, जॉन जिरोद और पिरांदेलो ने भी किया था।¹⁹ पर, विषय एवं पात्रों का प्रस्तुतीकरण, प्रस्तुतीकरण की नवीनता जॉन आनुई के एंटीगनी को सबसे अलग एवं सफल घोषित करता है। इसके बाद इस नाटक का विश्व के विभिन्न देशों में लगातार मंचन, अनुकरण एवं कला के अन्य माध्यमों में रूपांतरण होता आ रहा है।

एंटीगनी के कई अनुकरण एवं अनुवाद हुए हैं। जर्मन नाटककार बर्टोल्ट ब्रेख्त (Bertolt Brecht) ने 1948 में औंटीगोमोडेल लिखा जो फ्रेडरिक होल्डरलिन के अनुवाद पर आधारित था।²⁰ 1953 में फेलिक्स मोरिसो ल र्वा ने भी इसे हाइतियन या हाइती क्रैओल में औंटीगोन के नाम से लिखा। रॉबर्ट गारनिए ने औंटीगोन उ ला पितिए के नाम से 1580 में इसे लिखा।²¹ मारगेरित योर्नसेनार ने भी 1936 में औंटीगोन दौ फो के नाम से लिखा।²² औंरी बोशों ने 1997 में औंटीगोन नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की।²³ स्पेनिश लेखक मारिया जाम्ब्रानों ने ला तुम्बा दे औंटीगोना नाम से 1967 में एंटीगनी का नाट्य रूपांतरण किया। लुइस राफेल सानरोज (1968) में ला पासियोन सेगुन औंटीगोना पेरेज को पुएर्तोरिको में प्रस्तुत किया। अर्जेन्टीनियन नाटककार लेओपोल्ड मार्शन ने एंटीगनी को अर्जेन्टीना के उन्नीसवीं शताब्दी में कौंकेस्ट ऑफ डेजर्ट के तत्कालिक प्रस्तुत किया। एंटीगनी के दो ओपेरा संस्करण हुए, एक 1986 में और दूसरा द बरियल एट थेब्स के नाम से 2007 में। तुर्क कमाल दमीरेल ने 1973 में इस्ताम्बुल में इसका प्रस्तुतीकरण किया। बांग्लादेशी फिल्म निर्देशक तनवीर मोकामेल ने एंटीगनी को फिल्म ‘राबेया’ के रूप में प्रस्तुत किया। जो सन 1971 के पाकिस्तान-बांग्लादेश युद्ध की पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह फिल्म सन 1971 के स्वतंत्रता

संग्राम में शहीद हुए लोगों को समर्पित है, जिनका उचित अंतिम संस्कार नहीं किया गया। वह पी० टी० आई० को दिये एक साक्षात्कार में बताते हैं, 'मैंने स्नातकोत्तर (अंग्रेजी साहित्य) के दौरान 'एंटीगनी' को पढ़ा। मैं उसकी साहस से काफी प्रभावित हुआ था। कैसे एक बहन सारे सरकारी तंत्र एवं ताकतों के खिलाफ अपने भाई को दफनाने के लिए प्रतिबद्ध रहती है।'²⁴ आस्ट्रेलियन नाटककार मैसिनटायर ने सन् 2012 में 'इरांगनी' नाम से इस नाटक को प्रस्तुत किया। श्रीलंका में अस्सी के दशक के हालात को ध्यान में रखकर इस नाटक को रूपांतरित किया गया था। इसका नाम इरांगनी अभिनेत्री इरांगनी सारासिंगे के नाम को समर्पित है जिसने साठ के दशक में एंटीगनी की भूमिका निभाई थी। ईरान के मशहूर लेखक शाहरूख मेसकूब ने एंटीगनी का फ़ारसी में अनुवाद किया है। इसके अलावे कार्ल ऑफ, फ्रैंकलिन (1759), प्लमपैत्र (1865), कैम्पेल (1873), रॉबिनसन (1876-79), ल कोंत दि लिस्ल (1877), व्हाइट ला (1883), यंग (1888), स्टॉर (1912), ट्रैवलॉन (1924), मर्रे (1924) मर्रे (1941), वेटलिंग (1947) आरहॉट (1950), बाइकॉफ (1954), फ़ैगलीस (1982) एवं ब्राउन (1987) ने एंटीगनी का अनुवाद किया।²⁵ इस प्रकार इस नाटक के कई अनुकरण, अनुवाद एवं रूपांतरण हुए।

हिन्दी में ऐसे रंग-सिद्ध नाटकों की कमी नहीं है जिनसे समाज की प्रतिक्रिया अनुकूल और उत्साहवर्धक होती है। लेकिन एंटीगनी ऐसा नाटक है जो ग्रीक होते हुए आज समूचे भारत में लोकप्रिय एवं प्रचलित है। इस नाटक का मंचन साठ के दशक से लेकर आज तक लगातार देश के विभिन्न कोनों में होता आ रहा है। सबसे पहले इस नाटक (जॉन आनुई संस्करण) का मंचन 1967 ई० में एम०के० रैना के निर्देशन में राष्ट्रीय नाटक अकादमी, नई दिल्ली में हुआ और इस नाटक का अनुवाद हिन्दी में प्रख्यात लेखक भवानी प्रसाद मिश्र जी ने किया।²⁶

आज भारतीय साहित्य में 'एंटीगनी' के कई अनुदित संस्करण उपलब्ध हैं। रणवीर सिंह, श्रीनिवास श्रीकांत, भवानी प्रसाद मिश्र इन सभी ने इस नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया है। भवानी प्रसाद मिश्र जी ने तो एंटीगनी के दोनों संस्करणों का अनुवाद किया है, पहला सोफोक्लीज के एंटीगनी का और दूसरा जॉन आनुई के एंटीगनी का। सत्यदेव दुबे ने 2007 में एंटीगनी का नया संस्करण पेश किया और मोटली थियेटर ग्रुप, मुम्बई ने देश के कोने-कोने में लगातार आज तक इसका मंचन किया है।²⁷ सन् 2006 में गीता वोल्फ एवं सेरिश राव ने बच्चों को ध्यान में रखकर एंटीगनी का अनुवाद किया गया है। यह अनुवाद वस्तुतः एक कहानी है जिसमें औंतीगोन (सोफोक्लीज) का सारांश लुभावने चित्रों के साथ दिया गया है। इस अनुवाद की भाषा बहुत ही सहज एवं सरल है। जॉयदीप भट्टाचार्य ने अपने अंग्रेजी उपन्यास द वॉच (2012) में भी एंटीगनी का जिक्र किया है और फिर से उन्हीं समस्याओं को अफगानिस्तान के एक अमेरिकी सैन्य शिविर में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार, एंटीगनी के मिथक का अनुशीलन भारतीय साहित्य में अत्यधिक हुआ है। इसका अनुवाद भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य देशों में भी हुआ है जैसे कि, श्रीलंका में इरानघानी के नाम से, नेपाल एवं ईरान में भी एंटीगनी का अनुवाद हो चुका है। भारत में भी हिन्दी एवं अंग्रेजी के अलावे अन्य भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है जैसे कि कन्नड़, तमिल, बांग्ला इत्यादि। इसका मंचन भी देश के हरेक कोने में लगातार होता आ रहा है और यह नाटक आज हमारे देश में अपनी प्रासंगिकता के कारण काफी लोकप्रिय है।

सबसे पहले भवानी प्रसाद मिश्र द्वारा अनुदित एंटीगनी की चर्चा करते हैं। यह अनुवाद यह नहीं बताता कि इसका मूल आधार क्या है? अथवा यह किस एंटीगनी का अनुवाद है? इसकी पृष्ठभूमि सल्तनत काल की है। यह एक मुस्लिम एंटीगनी की छवि प्रस्तुत करता है। वस्तुतः यह जॉन आनुई की औंतीगोन का अनुवाद है क्योंकि इसका प्रोलोग एवं पात्र परिचय जॉन आनुई की औंतीगोन के समान है। यह उसका अक्षरशः अनुवाद न होकर उसका रूपांतरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुवाद फ्रेंच से न करके अंग्रेजी के अनुदित संस्करण से किया गया हो। यह अनुवाद प्रत्यक्ष अनुवाद न होकर, अप्रत्यक्ष अनुवाद है जिससे स्रोत कृति एवं अनुदित कृति में एक अंतर सा जान पड़ता है। पर, साहित्यिक एवं नाट्य मंचन की दृष्टि से यह नाटक हिन्दी अनुदित एंटीगनी में सर्वश्रेष्ठ है। भवानी प्रसाद मिश्र ने सोफोक्लीज के एंटीगनी का भी अनुवाद किया है।²⁸ इस अनुवाद की भाषा का अनुप्रयोग प्रस्तुत है—

इस्मेने : आग उगलने वाली मेरी प्यारी बहना, बतला तेरा क्या है कहना ।

एन्टीगोनी : मुझे सोचकर यह बतलाओं, मेरा साथ कहाँ तक दोगी ?

..... और सुना क्या तानाशाही हुक्म एकदम ताजा—टटका ? या कि तुम्हारे पास नहीं कोई भी फटका, जिससे

तुम्हें ख़बर लग जाती ?²⁹

इस अनुवाद में गीतात्मकता है। मंच—सज्जा एवं पात्र परिचय का उल्लेख नहीं है। पर इस अनुवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इनके स्रोत अथवा इस अनुवाद के मूल स्रोतग्रंथ नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है और न ही अनुवाद की प्रक्रिया एवं उद्देश्यों को ही लिखा गया है। इसके कारण अनुवाद प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन नहीं कर सकते और ना ही हम इसकी समालोचना कर सकते हैं।

रणवीर सिंह ने सोफोक्लीज के एन्टीगनी का हिन्दी में अनुवाद किया। वे पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं, 'मेरी हमेशा से यह सोच और कोशिश रही है कि कहीं से भी कोई अच्छा ड्रामा मिले उसका तर्जुमा या नाट्य रूपान्तरण करके ड्रामाई अदब में इजाफा किया जाये। मैं समझता हूँ कि उससे तहरीके थियेटर ताकतवार होता है। एन्टीगनी का तर्जुमा करते वक्त मैंने इस बात का पूरा ख्याल रखा है कि ड्रामा स्टुडेन्ट्स के भी काम आये।'³⁰ इस प्रकार इस अनुवाद से हम अनुवाद का उद्देश्य जान सकते हैं। एक महत्वपूर्ण बात इस अनूदित नाटक की यह भी है कि अनुवाद की भाषा हिन्दी ना होकर हिन्दुस्तानी यानी हिन्दी उर्दू मिश्रित है जो नाटक के परिवेश को पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम है। पुस्तक की भूमिका के रूप में रणवीर सिंह ने ग्रीक थियेटर और इसके नाटककारों पर लम्बी टिप्पणी लिखी है जो पुस्तक को विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपादेय बना दिया है। पर, इसकी भाषा में उर्दू ज़बान के काफी कठिन शब्द हैं जो हिन्दी पाठकों को आसानी से ग्राह्य नहीं है एवं यही इस अनुवाद का दुर्बल पक्ष है। हालाँकि इस समस्या से निपटने के लिए, उन्होंने पुस्तक में अलग से 'मुश्किल शब्दों के अर्थ'³¹ को अलग से दे दिया है। यह अनुवाद "उर्दू अदब" में पहले ही प्रकाशित हो चुका है, यह संस्करण उसका हिन्दी लिप्यांतर मात्र है।³²

श्रीनिवास श्रीकांत ने एन्टीगनी का अनुवाद दूरदर्शन से प्रसारण हेतु किया था जो संभवतः सोफोक्लीज के एन्टीगनी का अनुवाद है।³³ सत्यदेव दूबे ने 2007 ई0 में एन्टीगोन का अनुवाद किया एवं इसका निर्देशन भी किया। दूबे ने इसमें से कई पात्रों को नज़रअंदाज कर दिया है। मुख्यतः यह नाटक एन्टीगनी एवं क्रेओं के संवाद परिकल्पना पर आधारित है। परिणामस्वरूप, यह नाटक काफी तेज एवं मनोरंजक बन गया है। इसमें एन्टीगनी का पात्र रत्न प्रभा पाठक शाह एवं क्रेओं की भूमिका खुद नसीरुद्दीन शाह ने की है।³⁴ सत्यदेव दुबे के नाटक (एन्टीगनी) को जॉन आनुई के एन्टीगनी का रूपान्तरण कहा जा सकता है। नसीरुद्दीन शाह कहते हैं कि दुबे ने आनुई के नाटक से कुछ पात्रों को हटा दिया है और इसके मुख्य विषय पर केन्द्रित किया है। ज्यादातर घटनाएँ स्टेज रंगमंच पर नहीं होती अपितु इसका केन्द्र एन्टीगनी और क्रेओं का सम्वाद है।³⁵ सत्यदेव दूबे की एन्टीगनी, जॉन आनुई एवं जॉन कोक्तो के संस्करण का मिश्रित रूप है।³⁶ यह किसी एक पर आधारित न होकर दानों एन्टीगनी से अनुप्रेरित है। जॉन कोक्तो के नाटक के अनुकारण के कारण इस नाटक में काफी तीव्रता आ जाती है। यह नाटक पूरे देश में लोकप्रिय हुआ है। पृथ्वी थियेटर, मुम्बई में एन्टीगनी का तीसों बार मंचन हुआ है पर फिर भी दर्शक आ रहे हैं।³⁷ आइ0 बी0 एन0 लाइव के इस समाचार से हम इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगा सकते हैं। सत्यदेव दूबे की एन्टीगनी का 2007 से आज तक लगातार देश के विभिन्न भागों मंचन हो रहा है।

एन्टीगनी के अनुवाद की प्रक्रिया में पात्रों का नामकरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। एन्टीगनी के कई हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हैं। पर उनमें पात्रों के नामों में एकरूपता नहीं है। जैसे कि 'यूरीडिस' एवं यूरीडाइस, इसमैनी एवं इस्मेने, टेरेसीयस एवं टैरेसिस, क्रियोन एवं क्रियों हीमन एवं हेमन, हेमोन अथवा हेमंत, ऑडीपस एवं ईडीपस। किसी—किसी अनुवाद में पात्रों का भारतीयकरण भी कर दिया है जैसे कि हेमन का हेमंत। इसी कारण से हम पात्रों में एकरूपता नहीं रख पाते एवं कई बार ये अनुवाद भ्रामक प्रतीत होते हैं। दूसरा, किसी भी अनुवाद के लिए यह अनिवार्य होना चाहिए कि अनुवादक अपने अनुवाद के लिए

प्रस्तावना लिखे, जिसमें अनुवाद के उद्देश्य, इसकी समस्याएँ एवं प्रक्रिया का उल्लेख हो। जब एंटीगोन के अनुवाद को देखते हैं तो किसी भी अनुदित संस्करण के साथ इन सब बातों का विवरण नहीं मिलता और ना ही हमें मूल स्रोत के बारे में ज्यादा जानकारी मिलती है। इसके कारण अनुवाद का मूल्यांकन करने में काफी दिक्कतें आती हैं।

एंटीगनी को लेकर पश्चिमी साहित्य में अनेक अध्ययन हुए हैं साथ ही साथ कला एवं साहित्य के हर विधाओं में इसका प्रस्तुतीकरण, अनुवाद, अनुकरण एवं अनुशीलन हुआ है। जॉर्ज स्टेनर अपनी पुस्तक एण्टीगोन्स में एंटीगोन के मिथक एवं इसकी परम्परा का विस्तृत विवेचना किया है। वे पश्चिमी देशों के साहित्य एवं कला में एंटीगोन के उपस्थिति को प्रस्तुत करते हैं। ज्यूडिथ बटलर भी सोफोक्लीज, हेगेल, ल्यूसिरेगैरी एवं जैकलैकन के साहित्यिक एवं दार्शनिक कार्यों में एंटीगनी के प्रस्तुतीकरण का अध्ययन करते हैं। पर, इस प्रकार का अध्ययन एंटीगनी को लेकर भारतीय साहित्य में अभी तक नहीं हुआ है। लेकिन भारत में इसका मंचन साठ के दशक से लेकर आज तक होता आ रहा है। जनसत्ता 22 जुलाई, 2012 अशोक वाजपेयी अपने संस्मरण 'लंदन में दो दिन' में एंटीगनी के बारे में लिखते हैं :

साउथ बैंक पर नेशनल थिएटर में 'एंटीगनी' की एक नई और बहुचर्चित प्रस्तुति देखने गया। बिल्कुल आधुनिक कॉरपोरेट परि.श्य में, बिना किसी परिवर्तन के और बिना किसी प्राचीन समय को ध्वनित करते हुए, यह प्रस्तुति है। काफी बड़ा और खर्चीला हॉल दर्शकों से ठसाठस भरा था। आधुनिक परिधान और श्रृंखला में भी कानून के सच और अपने सच के बीच जो ट्रैजिक फाँक और विरोध है, वह फिर चरितार्थ हुआ। एक बार फिर लगा कि कालजयी कृति अपने काल का अतिक्रमण कर पाती है और उससे उपजने के बावजूद उस तक महदूद नहीं रहती। कृति अपना 'काल' बार-बार नए ढंग से रच सकती है।³⁸

एंटीगनी के मिथक का भारतीय समाज में सफल अनुकरण हुआ है, जो समाज को संदेश देता है कि लोगों को समाज को बदलने के लिए आवाज उठाना चाहिए। यह नाटक कितना ही पुराना क्यों न हो, चाहे यह ग्रीक समाज या सल्तनत काल या मुगल काल की बात करता हो, मगर ऐसा महसूस होता है जैसे कि यह आज के समाज की बात कर रहा है। यह नाटक आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कल था। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, स्त्री विमर्श वैयक्तिक अस्तित्व जैसे विचार बिन्दु एंटीगनी के माध्यम से हमारे सामने आते हैं एवं यह सिद्ध करता है कि एंटीगनी एक नाटक मात्र नहीं है बल्कि एंटीगनी जनता और सत्ता के बीच टकराहट और उसकी बुलंद आवाज का नाम है। ऐसी सशक्त कथा और शिल्प सोफोक्लीज की नाटक एवं कला जगत को अनुपम देन है। आज भी हमारे समाज में यही सोच है कि औरत पुरुषों का सामना नहीं कर सकती और इसलिए यह नाटक और भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यह नारी की शक्ति एवं उसकी क्षमता को हमारे सामने सशक्त तरीके से प्रदर्शित करता है। सोफोक्लीज इस बात को पुरजोर तरीके से उठाता है कि हर शख्स को अपने फर्ज को जानना चाहिए और उसे हिम्मत से समाज की बेहतरी के लिए निभाना चाहिए।³⁹ जो आदमी हिम्मत से अपने कर्तव्य को निभाने की ठान लेता है उसको किसी और की परवाह नहीं रहती। एंटीगनी को अपने कर्तव्य के लिए अपने प्राण-न्यौछावर करने का कोई अफसोस नहीं होता है। यह नाटक सम्पूर्ण मानवता की बात करते हुए यह संदेश देता है कि अपने सिद्धांतों, कर्तव्यों की रक्षा के लिए हमेशा तत्पर रहते हुए, अत्याचारी सरकार और 'निरंकुश शासक के विरोध में आवाज उठानी चाहिए।

I UnHk %

1. जॉर्ज स्टेनर: एंटीगोन्स; भूमिका
2. वही, भूमिका
3. वही, पृष्ठ-4,
4. वही, पृष्ठ-6
5. जॉर्ज स्टेनर: एंटीगोन्स; भूमिका, पृष्ठ-19
6. रणवीर सिंह : एंटीगनी पृष्ठ-10
7. सोफी-ऑंद पीको: ऑंटीगोन (पॉल मासों) पृष्ठ-118

8. सर जॉर्ज यंग : द थेबन प्लेज, नोट (भूमिका)
9. रॉबर्ट ग्रैबस : द ग्रीक मिथ्स, पृष्ठ – 380
10. ज्यूडिथ बटलर : एंटीगोन्स क्लेम : किनशिप बिटूविन लाइफ एण्ड डेथ, पृष्ठ – 88
11. कलिका प्रसाद : बृहत् हिन्दी कोष, पृष्ठ – 894
12. सी कोलार्ड एवं एम क्रौप : यूरीपीड्स फ्रैगमेन्ट्स : एगसा – मेलाजेर, पृष्ठ-156-169
13. जे0एच0 हुड्डीस्टोन : एन आर्कैलोजिकल स्टडी द एंटीगनी ऑफ यूरीपीड्स, 1899, अमेरिकन जनरल ऑफ आर्कैलोजी, पृष्ठ-183-201
14. जॉर्ज स्टेनर : एंटीगोन्स; भूमिका, पृष्ठ-8
15. वही, पृष्ठ-8
16. वही, पृष्ठ-9
17. जॉन ऑनुरी : औंतीगोन, पृष्ठ- 22-23
18. जॉन ऑनुरी : औंतीगोन, पृष्ठ- 51
19. वही, पृष्ठ- 22
20. पॉल मासोन : एंटीगनी, पृष्ठ- 126-127
21. सोफी पीको : सोफोक्ल : औंतीगोन, पृष्ठ- 129
22. वही, पृष्ठ- 131
23. वही, पृष्ठ- 137
24. http://movies.ndtv.com/movie_story.aspx?from=bottomrelated&ID=ENTEN20100134553&Keyword=regional 23:18 14/08/2012 Bangalore
25. श्रीनिकेत मिश्र : ला त्रादुक्सियों दौंतीगोन द जॉन आनुरी औं हिन्दी, पृष्ठ-17
26. भवानी प्रसाद मिश्र : एण्टीगोनी
27. http://www.mumbaiheatreguide.com/dramas/reviews/16_review_antigone.asp 23:15 05/08/2012 Bangalore
28. विजय बहादुर सिंह : भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली : आठ, पृष्ठ-62
29. विजय बहादुर सिंह : भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली : आठ पृष्ठ-62
30. रणवीर सिंह : एन्टीगनी, पृष्ठ- 4-5
31. रणवीर सिंह : एन्टीगनी, पृष्ठ- 51-52
32. वही, पृष्ठ- 5
33. http://hindi-lekhak.blogspot.in/2012/07/blog-post_3970.html 22:30 30/06/2013 Mysore
34. http://articles.timesofindia.indiatimes.com/2010-08-21/bangalore/28313581_1_theatre-buffs-antigone-naseeruddin-shah 22:31 07/07/2012 Bangalore
35. सबातोती बागची : डी एन ए, सिंडीकेशन, 08२1२2010ए बंगलोर
36. http://www.mumbaiheatreguide.com/dramas/reviews/16_review_antigone.asp 22: 40 07/07/2012 Bangalore
37. <http://content.ibnlive.in.com/article/10-Nov-2008movies-news/day-4-prithvi-theatre-festival-plays-antigone-77842-8.html> 22:30 08/07/2012 Bangalore
38. http://www.jansatta.com/index.php?option=com_content&view=article&id=24695:2012-07-22-10-47-50&catid=32:2012-01-01-05-57-23 22:30 15/09/2014 Wardha.
39. रणवीर सिंह : एन्टीगनी, पृष्ठ- 2

I gk; d xUFk I ph %

1. जॉर्ज स्टेनर : एण्टीगोन्स, 1986, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन।
2. रणवीर सिंह : एंटीगनी (सोफोक्लीज), 2007, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
3. श्रीनिकेत कुमार मिश्र : ला त्रादुक्सियों दौंतीगोन द जॉन आनुरी औं हिन्दी, 2010, फ्रांसिसी अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
4. भवानी प्रसाद मिश्र : एंटीगोनी, 1967, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली।
5. जॉन कोक्तो : औंतीगोन, 1948, गालीमार, पेरिस।
6. जॉन ऑनुरी : औंतीगोन, 1968, बोरदा, पेरिस

7. एतिएन्न प्रवा : औंतीगोन, 1998, हातिए, पेरिस।
8. पॉल मासोन : औंतीगोन, 2010, फोलियो प्लस, क्लासिक्स, स्पेन।
9. गीता वोल्फ एवं सेरिश राव : एंटीगोन, 2006, तारा पब्लिशिंग, हाउस, चेन्नई।
10. जॉयदीप भट्टाचार्य : द वाच, 2012, होगरथ, न्यूयॉर्क।
11. जे. लेमप्रियेरे : बिब्लिओतेका क्लासिका (क्लासिकल डिक्शनरी), 1997, लंदन।
12. कलिका प्रसाद : बृहत् हिन्दी कोश, जनवरी 2000, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
13. विजय बहादुर सिंह : भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली : आठ, (एंटीगोनी नाटक सोफोक्लीज्) 2002, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स (प्रा०) लिमिटेड, नई दिल्ली।
14. बेर्तोल्त ब्रेख्त : एंटीगोन मोडेल, 1948, गेब्रुदेरवेइस वेरलॉग, बर्लिन।
15. ज्युडिथ बटलर : एंटीगोन क्लेम्स : किनशिप बिट्विन लाइफ एण्ड डेथ, 2000, द वेलेक लाइब्रेरी लेक्चर्स, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस।
16. रॉबर्ट ग्रेव : द ग्रीक मिथ्स, 1960, पेलिकन बुक्स, हार्मोडसवर्थ, इंग्लैंड
17. राबर्ट फ़ैगल : द थ्री थेबन प्लेज, 1986, पेंग्विन, न्यूयॉर्क।
18. सी कोलार्ड एवं एम क्रौप : यूरीपीड्स फ़्रैगमेन्ट्स : एगसा — मेलाजेर, 2008, हॉवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
19. जे०एच० हुड्डीस्टोन : एन आर्कलोजिकल स्टडी द एंटीगनी ऑफ यूरीपीड्स, 1899, अमेरिकन जनरल ऑफ आर्कलोजी प्रेस
20. मिशेल प्रुनेर : लानालिज द्यु तेक्स्त द तेयात्र, 2009, आरमौ कौलें, पेरिस।
21. डैविड फ्रेंकलिन एवं जॉन हैरिसन : सोफोक्लीज् एंटीगनी, 2013, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
22. सर जॉर्ज यंग : द थेबन प्लेज, 2006, डोवर पब्लिकेशन्स, ईक., मिनेओला, न्यूयार्क।
23. पॉल रोच : द कम्पलीट प्लेज (सोफोक्लीज्), 2010, सिग्नेट क्लासिक्स, न्यूयॉर्क।



ekjokMh l ekt e L=h l?k" d i fofok : i

iey rk*

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों की महत्त्वपूर्ण स्त्री रचनाकारों में प्रभा खेतान का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने मारवाड़ी समाज को अपने उपन्यास की पृष्ठभूमि के रूप में लिया है, मारवाड़ी समाज से ताल्लुक रखने के कारण उस समाज की खूबियों और खामियों को यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत करने में सफल रही हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में मारवाड़ी समाज में स्त्रियों की स्थिति, उसकी वेदना, पीड़ा, संत्रास, उपेक्षा, दुर्बलता, प्रतिरोध और संघर्ष को उद्घाटित किया है। 'आओ पेपे घर चलें', 'तालाबंदी', 'अग्निसंभवा', 'छिन्नमस्ता', 'अपने-अपने चेहरे', 'पीली आँधी' आदि उनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं।

समकालीन स्त्री रचनाकारों में प्रभा खेतान सशक्त हस्ताक्षर हैं। स्त्री विरोधी सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देने वाले उपन्यासों में प्रभा खेतान के 'पीली आँधी' का जिक्र किया जा सकता है। इस उपन्यास के पहले 'छिन्नमस्ता', 'आओ पेपे घर चलें', 'तालाबंदी', 'अग्निसंभवा' जैसे उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। लेखिका ने मारवाड़ी परिवार के दिसावरी के लिए घर से बेघर हुए बाणियों के संघर्ष तथा तत्कालीन सामंती व्यवस्था में स्त्रियों की यातनापूर्ण स्थिति को लेकर अपने कथानक को गढ़ा है। दिसावरी के लिए घर छोड़कर बाहर जाने के लिए मजबूर बाणिये सूखा, अकाल से अधिक सामंती व्यवस्था के उत्पीड़न के शिकार हैं। 'पीली आँधी' में मारवाड़ी बाणिये के जीवन पद्धतियों, उनके आदर्शों एवं उद्देश्यों को बहुत ही प्रमाणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में चार पीढ़ियों की स्त्रियाँ हैं जो करीब सौ सालों की यात्रा करते हुए आज के समाज की पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक व्यवस्थाओं से टकराती हैं। लेखिका के रचनात्मक संवेदन का केन्द्र बिन्दु स्त्री है। चूँकि लेखिका स्वयं मारवाड़ी समाज से ताल्लुक रखती हैं इसलिए उस समाज की जड़ताओं, संकीर्णताओं, रूढ़ियों एवं पुरुष वर्चस्ववादी सामंती समाज में स्त्रियों के उत्पीड़न का बहुत ही प्रमाणिक चित्रण इनके उपन्यासों में दिखाई देता है; फिर चाहे वह 'छिन्नमस्ता' की प्रिया हो, 'आओ पेपे घर चलें' की प्रभा हो या फिर 'पीली आँधी' की सोमा; ये सभी स्त्रियाँ समाज की जड़ताओं से न केवल टकराती हैं बल्कि उसे चुनौती देते हुए अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित करती हैं।

उपन्यास में मारवाड़ी बाणिये परिवार की कथा वर्णित है। पीली आँधी आती है और वह परिवार राजस्थान से कलकत्ता जाने पर विवश हो जाता है और अनेक अवरोधों के बावजूद अपनी व्यापार कुशलता के बल पर स्वयं को प्रतिष्ठित करने और समृद्ध बनने की दास्तान सुनाता है। उपन्यास में चार पीढ़ियों की स्त्रियों की जीवन शैली, विचारों में होने वाले परिवर्तन तथा आधुनिकता और शिक्षा के प्रभाव से उत्पन्न स्त्री चेतना का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उपन्यास का देशकाल 1930 के मंदी का है जो आगे गतिशील होकर स्वातन्त्र्योत्तर स्थितियों का भी प्रकटीकरण करता है। परिवर्तन केवल राजस्थान में ही नहीं, बल्कि बंगाल आदि सभी प्रान्तों में बदलाव समान रूप से दिखाई देता है। "पीली आँधी" में तीन-तीन पीढ़ियों की औरतें हैं जो कोई सौ-डेढ़ सौ साल की यात्रा करते हुए, अपनी-अपनी बात कहते हुए हमारे आज तक पहुँचती हैं। शिक्षा निरन्तर परिवर्तनशील परिवेश के दबाव और बंगाल की सामाजिक जागरूकता के बीच प्रभा खेतान की स्त्री अपने जीवन का चुनाव स्वयं, अपनी तरह से करना चाहती है— वह स्वयं अपने आर्थिक स्रोतों की खोज करती है और इस प्रक्रिया में भयावह भावनात्मक रूपान्तरणों से दो-चार होती है। नई-नई चुनौतियों की रचना करने और उन्हें साहसपूर्ण झेलने वाली इसी औरत की अक्कासी इस उपन्यास में है।" उपन्यास में 130 पृष्ठ तक तो मारवाड़ी बाड़ियों के संघर्ष, उनकी व्यथा कथा है। स्त्री की समस्याओं, उनकी पीड़ा, वेदना को अलग से अभिव्यक्त नहीं किया गया है। काको जी के साथ वृद्धा सेठानी हों या रामेश्वर की टी.

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बी. ग्रस्त पत्नी या किशन की विणनी राधा, इन स्त्रियों के आपसी बातचीत के जरिए मारवाड़ी बाणिये की स्त्रियों के जीवन की त्रासदी को समझा जा सकता है—“किशन की बीणनी की आँखें भर आईं। अच्छा हुआ कि घूँघट की आड़ में उन बड़ी-बड़ी जलजली आँखों को काकीसा देख नहीं पाई..... और देख भी लेती तो क्या दिखाई देता..... बाणिये की लुगाई का यही तो भाग है..... पति के विछोह में दो-दो, तीन-तीन साल काटने पड़ते हैं और कुछ लोग तो दस-दस बरस नहीं लौटते..... देस तो तभी कोई लौटता, जब हाथ में पैसा होता। कुछ नहीं भी लौटते, वहीं परदेस में ही अपना नया घर बसा लेते।”²

उपन्यास का प्रारम्भ है वृद्ध सेठानी द्वारा अपने पुराने दिनों को याद करने और अपने वीणनी के कम गहने देखकर दुःखी होने से होता है। दूसरी पीढ़ी की राधा सुजानगढ़ से धनबाद तक का सफर तय करती है। इसके बाद तीसरी पीढ़ी की पद्मावती आती है जो कि पितृसत्तात्मक रीति-रिवाजों, बन्धनों, जर्जर परम्पराओं की जड़ता को शिद्दत से महसूस तो करती है, लेकिन इतना साहस नहीं जुटा पाती, कि उसका विरोध कर सके। ऐसी सामाजिक व्यवस्था जहाँ स्त्रियों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि उसके जीवन की सार्थकता उनके सुख खोजने में नहीं, बल्कि त्याग करके अपनी पारिवारिक भूमिका के निर्वहन में है। ऐसी परम्परागत व्यवस्था के बीच से उपजा पद्मावती का व्यक्तित्व व्यापार, घर की जिम्मेदारियों, शादी-ब्याह जैसे मुद्दों पर ऐसी निर्णायक भूमिका अख्तियार कर लेता है कि उनके व्यक्तित्व के सामने पुरुष पात्र बौने लगते हैं। करनी बाई से पद्मावती बनने में उनके नाम का ही रूपान्तरण नहीं होता बल्कि व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है। वह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के प्रति परम्परागत नैतिकता एवं पारिवारिक मर्यादाओं के कारण जितनी बेबस और लाचार दिखाई देती है उतनी ही मानवीय और संवेदनशील भी। वह मन्दिर नहीं जाती है। लाल कपड़ों में लिपटी सुराणा जी की डायरी को हमेशा अपने पास रखती है जैसे कि घर वालों की नज़र में भगवत् गीता का दर्जा दिया। यह उनके प्रेम के प्रति मनोभाव को प्रकट करता है। उसे खोलने की इजाजत किसी को नहीं है। सामाजिक मर्यादा और नैतिकता की दृष्टि से उसे रहस्यमय बनाये रखना उनकी मजबूरी है। सुराणा जी से प्रेम होने और उनके समझाने के बावजूद सामाजिक मर्यादा को तोड़ कर उन्हें स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाती है।

चौथी पीढ़ी की सोमा वेल्हम देहरादून की पढ़ी तेज-तर्रार लड़की है। जिसका विवाह गौतम से हो जाता है और वह मारवाड़ी राजवाड़ों की बहू बन जाती है। पहले तो सोमा को ताई का अनुशासनात्मक रूप पसंद नहीं आता है और वह उनका विरोध करने को सोचती है लेकिन जाने कब वह स्वयं ही रूंगटा हाउस की परंपरा, व्यवस्था, कायदे-कानून में उलझ गई, उसे खुद ही नहीं पता चला। ताई से उसके रिश्ते सुखद हो गए और वह ताई की लाडली बहू बन गई। साथ ही कई रिश्तों की डोर कमजोर भी होती गई। सोमा को धीरे-धीरे यह महसूस होने लगता है कि वहाँ पर उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। अपना ध्यान बँटाने के लिए वह सुजीत से पढ़ने लगती है। सोमा ने भौतिक सुविधाओं की लड़ाई में भले ही विजय पा ली हो, लेकिन अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं पर विजय पाना आसान नहीं था। सुजीत से मिलने के बाद उसे अपने होने का बोध होता है और तब वह अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को मारना नहीं चाहती; बल्कि सुजीत के साथ जीना चाहती है। विवाहित होते हुए भी वह न केवल सुजीत से प्रेम करती है बल्कि विवाह संस्था को भी कठघरे में खड़ा करती है। वह कहती है— “विवाह एक संस्था है, रजिस्ट्री के कागजों पर सही किया हुआ नाम है। तलाक की व्यवस्था कानून ने बनाई है। कानून मनुष्य के स्वभाव को समझकर ही बनाया जाता है। यदि दो व्यक्ति एक साथ नहीं सकते, यदि कहीं कोई गहरी कमी हो, तब इस बंधन को तोड़ा भी जा सकता है। बल्कि तोड़ ही देना चाहिए।”³ सोमा विवाह संस्था, सामाजिक परंपरा, मर्यादा, नैतिकता एवं संस्कारों को चुनौती देते हुए सुजीत से न केवल प्रेम करती है बल्कि उसका गर्भ भी धारण करती है। इसके लिए उसके मन में कोई अपराध बोध भी नहीं है। वह जहाँ सुजीत के साथ अपनी मुक्ति देखती है, वहीं गौतम के साथ अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं की मृत्यु। क्योंकि गौतम अब तक अपनी सन्तुष्टि के लिए सोमा का उपयोग करता रहा और सोमा उसे सहन करती आयी थी। लेकिन सुजीत का साथ पाकर वह जीवन के मायने समझ पाई थी। अब वह उसे किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहती थी। चाहे उसके लिए उसे कुछ भी करना पड़े, करेगी। वह सुजीत से कहती है— “सुजीत कहीं हम एक हैं, हमारी जड़ें, हमारा जीवन स्रोत एक है, क्योंकि हम दोनों ही जीने में विश्वास करते हैं। जीवन जीने के लिए जोखिम उठाने का साहस होना चाहिए।

एक अद्भुत और अपार क्षमता, चाहे कहीं कुछ भी घटें, परिस्थिति कितनी भी प्रतिकूल हो, किन्तु फिर भी हम सांस लेंगे, जीएंगे, जीते चले जाएंगे, मरेंगे नहीं।⁴

सोमा सुजीत के साथ जीवन बिताने का निर्णय करती है। वह बड़ी माँ की तरह त्याग में विश्वास नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत रूंगटा हाउस के सभी सुख-सुविधाओं, उसके मान-सम्मान, बड़ी माँ का प्यार, धन-दौलत को छोड़कर रूंगटा हाउस की सीढ़ियों से नीचे उतर जाती है। क्यों कि वह जानती है वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है। इसी आत्मविश्वास के कारण वह गौतम के सामने सुजीत से अपने प्रेम को स्वीकार करती है। वह गौतम से कहती है— “गौतम! तुम्हारी नजर में छिनाल हूँ। ठीक है, मुझे फेंक दो गटर में। इससे अधिक तुम और क्या कर सकते हो? और, तुम प्यार की बात करते हो? मैंने तुमसे कभी प्यार नहीं किया, नहीं तुम्हारी कोई स्मृति नहीं। हाँ मैं सुजीत से प्यार करती हूँ। गौतम, मैं जीना चाहती हूँ। यहाँ इस घर में लोग सांस लेते हैं लेकिन जीते नहीं। वे जीना जानते नहीं। तुम्हारे ये हीरे? इनकी चमक से मेरी आँख दुखती है। और, जिंदगी की राह पर हीरे बिछाकर तो नहीं चल सकते। पैरों के नीचे माटी होनी चाहिए। तुम और तुम्हारे जैसे और न जाने ऐसे कितने लोग, क्या समाज को, कुछ भी देकर जाते हैं? तुम्हारे लिए मेरी जिंदगी की कोई कीमत है?।”⁵ सोमा सामाजिक व्यवस्था और रूंगटा हाउस द्वारा बनाए गए बंधनों को तोड़ चौखट को पार करती है जो कि पद्मावती नहीं कर पाई। वह अपनी सारी इच्छाओं, आकांक्षाओं को सीने में दबाकर अपने दायित्वों का निर्वाह करती रही, लेकिन सोमा चेतना सम्पन्न स्त्री के रूप में वैवाहिक सम्बन्धों को नए सिरे से परिभाषित करती है। अरविन्द जैन लिखते हैं— “‘पीली आँधी’ राजस्थान के मारवाड़ी सेठ गुरुमुख दास रूंगटा की हवेली से लेकर कलकत्ता में ‘रूंगटा हाउस’ तक संयुक्त परिवार की तीन पीढ़ियों के बसने-उजड़ने और टूटने-बिखरने की विकास कथा है। कथा में ‘सम्बन्धों का संयुक्त परिवार’ नहीं बल्कि संयुक्त परिवार में सड़ते सम्बन्ध हैं। परंपरा, पूँजी और पहचान के आत्म-संघर्ष में छटपटाती स्त्री-शक्ति अपनी मुक्ति के लिए अब नई भाषा-परिभाषा भी गढ़ती-रचती है। पारिवारिक मान-मर्यादा, नाक और नैतिकता की देहरी लौंघती नायिका (सोमा) सुरक्षित अर्थसत्ता के जाल-जंजाल ही नहीं तोड़ती-छोड़ती बल्कि सामाजिक संस्कारों की सीमाएँ भी ध्वस्त करती नज़र आती है।”⁶

लेखिका ने सुजीत की पत्नी चित्रा के चरित्र को बिल्कुल इकहरा निरूपित किया है जब कि वहाँ पर द्वन्द्व की गुंजाइश थी क्यों कि कोई भी स्त्री इतनी आसानी से अपने पति और गृहस्थी को छोड़कर नहीं जा सकती है। इसलिए चित्रा का चरित्र असामान्य लगता है उसमें कोई स्वाभाविकता नज़र नहीं आती है। वहीं एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि प्रेम विवाह करने वाले सुजीत और चित्रा के बीच प्रेम नहीं रह जाता, तो क्या सुजीत और सोमा के बीच हमेशा प्रेम बना ही रहेगा? भले ही सुजीत का चित्रा के प्रति प्रेम न हो, लेकिन अपनी बेटी के प्रति प्रेम न होना आश्चर्य ही लगता है क्योंकि वह कभी भूलकर भी अपनी बेटी को याद नहीं करता है। उपन्यास में पुरुष पात्र माधो का चरित्र जातीय चरित्र के मिथ को तोड़ता है। माधो व्यापार कुशल, गंभीर और परिश्रमी हैं। महाजनी, दलाली के शहर को छोड़कर झरिया में अपने साहस के बल पर कोलियारी की जमीन खरीदते हैं। पहली पत्नी के मृत्यु के पश्चात् परिस्थितिवश अपने से छोटी उम्र की करनबाई से विवाह तो कर लेते हैं लेकिन अपने इस निर्णय के अपराध बोध से कभी मुक्त नहीं हो पाते हैं। वे पद्मावती को पूरा सम्मान देते हैं। पद्मावती के चरित्र की दृढ़ता और आत्मविश्वास के पीछे उन्हीं का हाथ है। उपन्यास में लेखिका ने सामंती पितृसत्तात्मक व्यवस्था में विधवाओं के बन्द जीवन की तड़प को भी रेखांकित किया है साथ ही कठोर अनुशासनप्रिय पद्मावती के प्रेम प्रसंग की अभिव्यक्ति पन्नालाल खुराना की डायरी के जरिए कराकर पद्मावती के चरित्र को अधिक मानवीय और स्वाभाविक बना दिया है। लेखिका ने संयुक्त परिवार के उसकी अच्छाइयों और बुराइयों समेत व्याख्यायित किया है। इससे पहले मारवाड़ी समाज में स्त्री और उसके संघर्ष का इतना यथार्थ पूर्ण वर्णन नहीं मिलता है।

UnHk %

1. पीली आँधी, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 2001, पहली आवृत्ति 2012, कवर पेज
2. वही, पृ. 16 / 3. वही, पृ. 245 / 4. वही, पृ. 249 / 5. वही, पृ. 255
6. औरत : अस्तित्व और अस्मिता, अरविन्द जैन, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 2001, पृ. 65



jkepfj reku l % Yk'd e 0; kflr

uerk xlrk*

“साहित्य का बुनियादी सरोकार मनुष्य की संवेदनशीलता को जगाना है। संवेदनशीलता ही है जो मनुष्य को पशु से अलगती है और उसे दूसरे मनुष्य की ओर आकर्षित करती है। उनके साथ मोहपाश में बाँधकर उसके सुख-दुख का भागीदार बनाती है। यह भागीदारी मोहलित भी हो सकती है, मर्यादापरक भी लेकिन भागीदारी से ही समाज बनता है, परिचालित होता है। साहित्य अपने पाठक को जितना अधिक संवेदनशील बनाएगा, उतना ही बेहतर समाज निर्मित होता चला जाएगा। यथार्थ के नाम पर पाठक की मानसिकता को कुंठाओं से ओत-प्रोत करना साहित्य का धर्म नहीं है। संकुचित, साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय या जातिगत सोच को लेकर रचा गया साहित्य समाज का हित नहीं अपितु उसे रसातल की ओर ले जाता है।” इससे स्पष्ट है कि साहित्य समाज सापेक्ष होना चाहिए। जिसमें किसी जाति या क्षेत्र विशेष की मानसिकता न होकर स्वस्थ समाज का चित्रण हो क्योंकि रचनाकार अपनी रचना द्वारा समाज के सामने यथार्थ के साथ भविष्य की भी दृष्टि रखता है।

तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस वह अनुपम रचना है जो अपने पौराणिक कथ्य के साथ यथार्थ से गुजरता हुआ भविष्य की दृष्टि रखता है। तुलसीदास ने पौराणिक कथ्य राम कथा को अपना विषय बनाया। परन्तु, उन्होंने अपने पात्रों को, उनके चरित्र-चित्रण, कथन शैली एवं विचार आदि को तत्सम समाज से जोड़ते हुए परिस्थितियों का वर्णन इतना रोचक व कलापूर्ण ढंग से किया है कि किसी भी काल के पाठक का रामचरितमानस के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। पाठक उन पात्रों, परिस्थितियों और वर्णनों में अपने परिवेश को पाता हुआ उसमें डूबने लगता है। यही वजह है कि इतने वर्षों के पश्चात् आज भी रामचरितमानस की प्रासंगिकता लोक द्वारा व्यापक रूप में ग्रहण होता आ रहा है।

किसी भी साहित्य की लोकप्रियता का मुख्य बिन्दु होता है साहित्य के विषयवस्तु का लोकजीवन से जुड़ाव और व्यापक स्तर पर प्रसार के माध्यम जिस समय तुलसीदास रामचरितमानस की रचना कर रहे थे उस समय समाज में नैतिक मूल्यों व मानवीय मूल्यों का हास हो रहा था। समाज में चाहे धार्मिक, राजनीतिक या आर्थिक स्थिति ही क्यों न हो सब जगह एक प्रकार की जकड़न महसूस की जा रही थी। उस समय तुलसीदास रामचरितमानस के माध्यम से समाज के सामने धर्म, जाति, वर्ग आदि इन सब से परे मानव जीवन के नैतिक मूल्यों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं। यही वजह है कि सभी धर्म, जाति, भाषा के लोग बड़ी ही तन्मयता के साथ रामचरितमानस का अध्ययन करते हैं। इसकी व्याप्ति का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि केवल गीता प्रेस, गोरखपुर से समय-समय पर कई भाषाओं (हिन्दी, गुजराती, बंगला, तेलुगु, मराठी, अंग्रेजी व ओड़िया आदि) में रामचरितमानस के नवीन संस्करण निकलते रहे हैं। भारत के अन्य क्षेत्रों यहाँ तक की विदेशों (श्रीलंका, इण्डोनेशिया आदि) में भी रामचरितमानस का अध्ययन किया जाता है।

रामचरितमानस जीवन की व्यापकता को समाहित किये हुए है। लोक में मानव सहजता और सरलता के साथ अपने जीवन के विभिन्न क्षणों जैसे संस्कारों, पर्व-त्योहारों, पूजा-पाठ, सुख-दुख, रीति-रिवाज, हर्ष-उल्लास आदि को जीते हैं और जहाँ ये क्षण उन्हें मिलते हैं वे उनके तरफ आकर्षित हो जाते हैं। मानव का व्यापक स्तर पर रामचरितमानस से जुड़ने का प्रमुख कारण यह भी है कि उसमें लोकजीवन से जुड़े रीति-रिवाज, परम्परायें व संस्कारों आदि से जुड़े संदर्भों का प्रयोग मिलता है। जो राम के मानवीय जीवन के माध्यम से समय-समय पर हमारे सामने उपस्थित होता रहता है। नामकरण संस्कार का एक उदाहरण देखें जिसमें राजा के कहे जाने मुनि वसिष्ठ जी उनके बड़े पुत्र की गुणवत्ता

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का ध्यान कर नामकरण करते हैं— t" vkun fl/k l[kjk l hA l h d j r i =Yk" d l i k l h A A l" l i k / k k e j k e v l u k e A v f [k Y k Y k " d n k ; d f c J k e k A A ²

वहीं आगे जब बालक कुमारावस्था में पहुँचते हैं, त्यों हि माता—पिता और गुरु के द्वारा उनका उपनयन संस्कार कर दिया जाता है— Ò, dek j t c f g l c Ò k r k A n h U g t u Å x # f i r l e k r k A A ³

आदिम युगों से हमारे यहाँ लोकगीतों की परम्परा चली आ रही है। जिसमें लोक की बोली, बानी, परम्परा व संस्कृति आदि का समावेश होता है। तुलसी भी इन गीतों की परम्परा का संकेत जगह—जगह करते हुए दिखायी पड़ते हैं। जैसे—राजकुमारों के जन्म के अवसर पर, सीता—राम के विवाह और उनसे जुड़े विभिन्न रस्मों पर तथा विवाह के बाद राजकुमारों का अयोध्या में प्रवेश करते समय आदि कई स्थलों पर मंगल गीत गाये जाने का वर्णन है। एक सुन्दर दृश्य देखें जब विवाह के पश्चात् सुहागिन स्त्रियाँ कुंआर और कुमारियों को कोहबर में ले जाती हैं। जहाँ वह लौकिक रीति करते हुए मंगलगान करती हैं और वर—वधू के साथ चुटकी लेते हुए पूरा रनिवास हास—विलास के आनन्द से मग्न हो जाता है—

d"gcjfg vku d v j d v f j l v k f l f u U g l i k i k b d A v f r Å h f r Y k f d d j h f r Y k k x È d j u e x Y k x k b i d A Y k g d f j x f j f l [k k o j k e f g l h ; l u l k j n d g i A j f u o k l i g k l & f o Y k k l j l c l t U e d" Q Y k l c Y k g i A A ⁴ वहीं दूसरी ओर जब बारात अयोध्या में प्रवेश करती है तो वहाँ सुहागिन औरतें मंगलगान करते हुए सीता और राम के परछन के लिए झुण्ड—झुण्ड में आने लगती हैं, सब रानियाँ सम्पूर्ण मंगल साज सज रही हैं और आनन्दित होती हुई सुंदर मंगलगान कर रही है। यह मनोरम दृश्य देखें :— l x u l x / k u t k f g c [k k u h A e x Y k l d Y k l t f g l c j k u h A j p h v k j r h c g r f c / k k u k A e f n r d j f g d Y k e x Y k x k u k A A ⁵

तुलसीदास ने रामचरितमानस में एक तरफ राम के चरित्र के द्वारा पिता की आज्ञा का पालन, भाइयों के प्रति प्रेम, गुरु के प्रति श्रद्धा व समर्पण, लोक जन के प्रति समान भाव, पत्नी के प्रति प्रेम आदि मानवीय गुणों को लोक के सामने प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरी तरफ लोक में स्थित प्रकृति व पशु—पक्षी के प्रति भी समान प्रेम—भावना का चित्रण किया है, राम द्वारा वानर राज सुग्रीव की सहायता, पक्षी राज जटायु को पिता तुल्य मानकर अंतिम संस्कार करना, वानर हनुमान को प्रिय भक्त के रूप में गले लगाना, भालू जामवंत के वचनों का आदर व सम्मान करना ये सभी मिलकर मानव समाज के सामने आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं। साथ ही अन्य पात्रों के माध्यम से भी लोक के व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख मिलता है। एक उदाहरण देखें जब सीता अयोध्या के लिए विदा होती हैं तो उनकी सखी उन्हें नारी धर्म की सीख देती है— l k l l i j x j l o k d j g A i f r : [k Y k f [k v k ; l v u l j g A A

v f r l u g c l l [k È l ; k u h A u k f j / k j e f l [k o f g e n i c k u h A A ⁶

एक और उदाहरण देखें जहाँ राजा दशरथ राम को सिंहासन पर बैठाने की बात सोचते हैं तो वह पहले पंचों की सलाह लेते हैं। राजा होते हुए भी वो पंचों की सहमति को सर्वोपरि मानते हुए कहते हैं :— t" i k p f g e r Y k k x i u h d k A d j g g j f " k f g ; j k e f g f v d k A ⁷

कहीं—न—कहीं आज बड़ों से सलाह लेने की यह प्रथा धीरे—धीरे समाप्त होती जा रही है।

रामचरितमानस में लोकजीवन से जुड़े मानवीय विश्वासों, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का प्रयोग बड़ी मात्रा में हुआ है। कुछ स्थल देखें जहाँ मानव संबंधी लोक विश्वास की झलक मिलती है। जैसे स्त्री का बायाँ और पुरुष का दायाँ अंग पकड़ने से शुभ होता है और इसका उल्टा अंग फड़कने से अशुभ। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है— l h r k % ' k Ò d i l i d r % & e t Y k e x Y k e Y k c k e v i x Q j d u Y k x A ⁸

राम (शुभ के संकेत)— l" l c d k j u t k u f o / k k r k A Q j d f g l Ò n v i x l u Ò k r k A ⁹

कैकेयी (अशुभ के संकेत)— n k f g u h v k [k f u r Q j d r e " j h A ¹⁰

यहीं नहीं जहाँ कई लोकोक्तियों व सूक्तियों का प्रयोग रामचरितमानस में मिलता है वहीं कई लोकोक्तियाँ व सूक्तियाँ इस महाकाव्य से ही लोक में प्रचलित हैं। जैसे— i j k / k h u l i u g l i [k u k g h A ¹¹ f o f / k g u u k j h â n ; x f r t k f u A ¹² v k f n

देखा जाय तो रामचरितमानस सम्पूर्ण मानव जीवन को समाहित किये हुए हैं। यही वजह है कि इसकी लोकप्रियता आज भी बनी हुई है।

रामचरितमानस का व्यापक स्तर पर प्रसार के कई माध्यम हैं। जैसे— रामलीला। जिसके माध्यम से गाँवों—गाँवों में पात्रों के अभिनय द्वारा रामकथा के मार्मिक प्रसंगों (जैसे— सीता स्वयंवर, वनगमन, भरत—मिलाप, सीता—हरण, रावण का वध, सीता की अग्नि परीक्षा आदि) को खेला जाता आ रहा है। ये अलग बात है कि स्थान, परिवेश एवं भाषा के अलग होने में उसमें बदलाव नजर आता है। हर जगह की रामलीला में स्थानीय बोली—बानी की झलक मिलती है। साथ ही अभिनय करने वाले पात्रों के साज—सजावट और वेशभूषा में भी अन्तर मिलता है। लेकिन बदलते हुए समय के साथ भी रामलीला की लोकप्रियता में कोई भी अन्तर नहीं आया है। जहाँ—जहाँ भी रामलीला खेला जाता रहा है। वहाँ आज भी उसी चाव से लोग रामलीला का आनन्द लेते हैं।

हमारे यहाँ झाँकी की परम्परा का चलन है। जिसमें राम की झाँकी का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें सभी पात्र सज—सँवरकर रामकथा के महत्वपूर्ण दृश्य को चित्र की भाँति अभिनीत करते हैं। जैसे— दो पात्रों द्वारा राम—भरत मिलाप का दृश्य, राम—सीता का सिंहासन पर विराजमान होना और भक्त हनुमान का चरणों के पास बैठे रहने का दृश्य, तपस्वी वेश में राम—सीता—लक्ष्मण का वन गमन का दृश्य आदि। ये झाँकिया इतने सुंदर और रोचक होते हैं कि लोग आसानी से इनके तरफ आकर्षित हो जाते हैं। केवल चित्र माध्यम से पूरी घटना की स्मृति हो जाती है। श्रुति परम्परा के माध्यम से भी व्यापक स्तर पर रामचरितमानस का विस्तार हुआ। आज भी हम देखते हैं कि कई साधु, संत और गुरुओं द्वारा रामचरितमानस का प्रवचन किया जाता है। जो चौपाईयों और दोहों की व्याख्या करके श्रोताओं को कथा का रसपान कराते हैं। और अपनी व्याख्या की कलापूर्ण अभिव्यक्ति से श्रोताओं को इतना भाव—विभोर कर देते हैं कि श्रोतागण भी रामकथा में लीन हो घटनाओं को सामने घटित होता हुआ अनुमान करने लगते हैं। यही नहीं जगह—जगह रामचरितमानस के पाठ द्वारा भी लोग इसका रसपान करते हैं। आज भी लोग अपने घरों में रामचरितमानस का पाठ रखते हैं। जिसे रामकथा कहने वाले वाद्ययंत्रों द्वारा भी मानस का पाठ करते हैं। लोक की मान्यता है कि चौबीस घंटे में मानस का पाठ समाप्त हो जाना चाहिए।

इन सभी माध्यम से मानस का विस्तार हुआ। परन्तु मुख्य रूप से देखा जाय तो मानस का बड़े स्तर पर विस्तार की वजह रामानन्द सागर कृत 'रामायण' सीरियल को जाता है। जहाँ हिन्दी भाषा में रामचरितमानस की कथा को बड़े ही कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जो लोगों के हृदय को छू लेती है। इसका प्रमाण और क्या हो सकता है कि उनके पात्र अपने नाम से नहीं बल्कि रामकथा के पात्र के नाम से जाने जाते हैं।

लोक की मान्यता है कि पवित्र ग्रंथ रामचरितमानस को घर में रखने से घर में शान्ति व सुख का माहौल रहता है। इसीलिए जब बेटियाँ घर से विदा होती हैं तो उन्हें रामचरितमानस की एक प्रति भी देने की प्रथा पायी जाती है। शायद इनके पीछे की वजह यही है कि रामचरितमानस में मानव जीवन की सभी अवस्थाओं की समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। जो व्यवहारपरक, मर्यादापरक और उपदेशपरक गुणों से भरा हुआ हमारे नैतिक व मानवीय मूल्यों का विकास करता है।

I UnHk §

1. परवीन, फरहत (सम्पादक) : आजकल (पत्रिका), साहित्य के सरोकार नरेश, प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली, वर्ष—68, अंक—8, पूर्णांक—818, दिसम्बर—2012, पृ0सं0 8
2. तुलसीदास : श्रीरामचरितमानस, मझलासाइज, विशिष्ट संस्करण : इकतीसवां संस्करण : संवत् 2070, गीता प्रेस गोरखपुर, बालकाण्ड—196—3, पृ0सं0 169
3. तदेव, बालकाण्ड—203—2, पृ0सं0 175
4. तदेव, बालकाण्ड—326 छ0—2, पृ0सं0 279
5. तदेव, बालकाण्ड—345—4, पृ0सं0 294
6. तदेव, बालकाण्ड—333—3, पृ0सं0 284
7. तदेव, अयोध्याकाण्ड—4—2, पृ0सं0 311
8. तदेव, बालकाण्ड—236, पृ0सं0 202
9. तदेव, बालकाण्ड—230—2, पृ0सं0 197
10. तदेव, अयोध्याकाण्ड—19—3, पृ0सं0 323
11. तदेव, बालकाण्ड—101—3, पृ0सं0 94
12. तदेव, अयोध्याकाण्ड—161—2, पृ0सं0 434



वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ता है। संस्कृति किसी समाज की पहचान होती है। यह उसके रहन-सहन एवं खान-पान की विधियों, व्यवहारों, प्रतिमानों, रीति-रिवाज, कला-कौशल, संगीत-नृत्य, भाषा, साहित्य, धर्म-दर्शन, आदर्श-विश्वास और मूल्यों के विशिष्ट रूप में जीवित रहती है। संस्कृति का जन्म समाज से ही होता है तथा शिक्षा समाज के लिए समाज के द्वारा ही संगठित की जाती है। यह वाक्य इस बात की पुष्टि करता है कि शिक्षा तथा संस्कृति में घनिष्ठ संबंध होता है। शिक्षा तथा संस्कृति एक दूसरे के पूरक होते हैं। जिसके परिणामस्वरूप किसी भी समाज की शिक्षा पर उसकी संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ता है। विद्यालयों का मुख्य कार्य समाज की संस्कृति को सुरक्षित रखना और उसे आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित करना होता है। यह कार्य शिक्षा द्वारा तब ही पूरा किया जाता है, जब शिक्षा के औपचारिक तथा अनौपचारिक सभी अभिकरणों के सदस्य अपनी संस्कृति से पूर्णतया अवगत हों (टी. पी. नन)। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के प्रत्येक स्तर पर समाज की संस्कृति का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। जिस समाज की जैसी संस्कृति होती है उस समाज के शिक्षा व्यवस्था भी वैसी होती है। प्रस्तुत शोध कार्य में यह जानने का प्रयास किया गया है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा व्यवस्था के समस्त पहलुओं यथा शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियाँ, विद्यालय, कक्षा-कक्ष, अनुशासन व्यवस्था, शिक्षक-शिक्षार्थी की स्थिति तथा मूल्यांकन व्यवस्था पर किसी समाज की संस्कृति का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है।

प्रमुख शब्दावली : संस्कृति, शिक्षा, शैक्षिक पक्ष।

चर्चक : “संस्कृति की सामग्री से ही शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से निर्माण होता है और यही सामग्री शिक्षा
को न केवल उसके स्वयं के उपकरण वरन उसके अस्तित्व का कारण भी प्रदान करती है।”
—ब्रैमिल्ड

संस्कृति का जन्म समाज में ही होता है तथा शिक्षा समाज के द्वारा ही संगठित की जाती है।

प्रत्येक समाज की संस्कृति के अनुरूप ही शिक्षा व्यवस्था का नियोजन किया जाता है (मिश्रा, 2014)।
अर्थात् शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण समाज की संस्कृति के आधार पर होता है। उदाहरण स्वरूप— यदि
समाज की संस्कृति में धर्म एवं आध्यात्मिक भावना प्रधान होती है तो शिक्षा में शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति
एवं आध्यात्मिक उन्नयन पर बल दिया जाता है। इसी प्रकार यदि संस्कृति में भौतिकवादी विचारधारा का
समावेश होता है तो शिक्षा द्वारा भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति पर बल दिया जाता है। स्पष्ट है कि शिक्षा
संस्कृति से प्रभावित होती है तथा शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ता है (लाल,
2014)।

रीक्यू : प्रत्येक देश की शिक्षा व्यवस्था उसके समाज के स्वरूप, शासनतंत्र, अर्थव्यवस्था, मनोवैज्ञानिक खोजों और वैज्ञानिक अविष्कारों

पर निर्भर करती है (दुबे, 2014)। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली के विभिन्न पक्षों पर संस्कृति के प्रभाव की विवेचना निम्न प्रकार कर सकते हैं—

f'k{kk dī mī'; k ij lLdfr dk ɕHkko ॥ संस्कृति एक बहुत व्यापक संप्रत्यय है यह किसी समाज की संपूर्ण जीवन शैली को प्रदर्शित करती है। प्रत्येक समाज की अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृति होती है अतः शिक्षा के उद्देश्यों में भी स्वाभाविक रूप से भिन्नता देखी जा सकती है (मिश्रा, 2014 तथा सिंह, 2013)। जिस समाज की संस्कृति भौतिकवादी होती है उस समाज की शिक्षा व्यवस्था में भी भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति पर बल दिया जाता है। परंतु जिस समाज में अभौतिक संस्कृति को प्रमुखता दी जाती है उसमें शिक्षा द्वारा प्रेम, दया, त्याग, करुणा, समर्पण, परोपकार, सहयोग, और नैतिकता जैसे मानवीय गुणों के विकास पर बल दिया जाता है (दुबे, 2014)। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार के सांस्कृतिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है परिणामस्वरूप इसका मिला-जुला रूप शिक्षा पर देखने को मिलता है (सागर, 2016)।

f'k{kk dh ikBîp; k ij lLdfr dk ɕHkko ॥ पाठ्यचर्या वह साधन है जिसके द्वारा शिक्षा तथा जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है (भटनागर तथा भटनागर, 2013)। प्रत्येक समाज की संस्कृति का शिक्षा के उद्देश्यों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है उद्देश्यों के प्रभावित होने से शिक्षा की पाठ्यचर्या भी प्रभावित होती है। समाज की विचारधारा, विश्वासों, मूल्यों आदि के आधार पर पाठ्यचर्या की रचना की जाती है। भौतिकतावादी संस्कृति वाले समाज में भौतिकता को ध्यान में रखते हुए विज्ञान, व्यापार, तकनीकी, अभियंत्रिकी, बैंकिंग और प्रबंधन आदि विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाता है, जबकि अभौतिक संस्कृति वाले समाज में अलौकिक विषयों के साथ-साथ नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक तथा साहित्य के विषयों को अधिक प्रधानता दी जाती है (मिश्रा, 2014)। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में कौशल विकास को प्रमुख स्थान दिया जा रहा अतः कौशल विकास संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम में अभियंत्रिकी, चिकित्सा, कृषि, कम्प्यूटर शिक्षा, तकनीकी शिक्षा से संबन्धित विषयों को पाठ्यचर्या में महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है (कुमार, 2016)।

f'k{k.k fofèk; k ij lLdfr dk ɕHkko ॥ समाज की संस्कृति के अनुसार शिक्षण विधियों में भी परिवर्तन होता रहता है (मिश्रा, 2014)। जिन संस्कृतियों में जिन शिक्षण विधियों का विकास हुआ है उनमें शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रयोग उन्हीं विधियों का किया जाता है (लाल, 2014)। प्राचीन काल में शिक्षण कार्य मौखिक रूप से होता था शिक्षण विधि में अनुकरण और कंठस्थ करने पर बल दिया जाता था। प्रश्नोत्तर, व्याख्यान, शंका-समाधान, अनुकरण, आदि विधियों का भी प्रयोग शिक्षण में किया जाता था (लाल तथा शर्मा, 2014)। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में शिक्षण अधिगम की प्रक्रिया में बालक की केंद्रीय स्थिति स्वीकार की गई है (कुलश्रेष्ठ, 2013)। अतः शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में बालक की आवश्यकताओं, रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं, मानसिक स्तर, स्वास्थ्य, उद्देश्यों आदि को ध्यान में रखते हुए शिक्षण विधियों का चुनाव किया जाता है (भटनागर तथा भटनागर, 2013)। आज वही शिक्षण विधि उपयुक्त समझी जाती है जिसमें बालक को स्वयं सीखने के अवसर प्राप्त हो सकें इसलिए वर्तमान शिक्षा प्रणाली में नवाचारी शिक्षण विधियों जैसे— परियोजना विधि, समूह चर्चा विधि, मानस मंथन विधि, अभिनयीकरण विधि, निरीक्षण अध्ययन विधि, खोजविधि जैसी बाल केन्द्रित शिक्षण विधियों का उपयोग किया जा रहा है (सक्सेना, 2013)।

'kf{k d vu'kk lu ij lLdfr dk ɕHkko ॥ जिस समाज की जैसी संस्कृति होती है शैक्षिक व्यवस्था में भी उस संस्कृति के अनुरूप ही शैक्षिक अनुशासन का प्रावधान किया जाता है (मालवीय, 2013)। यदि समाज की संस्कृति दमनात्मक अनुशासन को स्वीकार करती है तो शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में भी दमनात्मक अनुशासन को ही स्वीकार किया जाता है। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में बालक की स्वतंत्रता एवं उनकी व्यक्तिगत विभिन्नताओं को प्रमुख स्थान दिया जाता है अतः शिक्षा प्रणाली में प्रभावात्मक एवं मुक्तयात्मक अनुशासन को स्वीकार किया जाता है (सागर, 2015)।

f'k{k d rFkk f'k{kkFè ij lLdfr dk ɕHkko ॥ शिक्षक समाज का एक क्रियाशील सदस्य होता है, जिस पर समाज की संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। वह शिक्षार्थी को अपने विचारों शिक्षण विधियों के माध्यम से

समाज की संस्कृति से अवगत कराता है। शिक्षार्थी शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त संस्कृति के परिवर्तन संशोधन एवं वर्धन में अपनी भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार शिक्षक व शिक्षार्थी दोनों पर संस्कृति का प्रभाव दिखाई देता है। शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों के शैक्षिक प्रक्रिया में स्थान के विषय में मत विभिन्नता विभिन्न संस्कृतियों के कारण ही पाई जाती है (मिश्रा 2013)। वर्तमान भारतीय समाज में छात्र-शिक्षक के सम्बन्धों में खुलापन, अपनापन, आत्मीयता तथा मधुरता देखने को मिलती है जिसका सीधा-सीधा असर शिक्षा व्यवस्था पर भी देखने को मिल रहा है (सागर, 2015)।

fo|ky; ij lldfr dk çHkko जॉन डीवी के अनुसार "विद्यालय समाज का लघु रूप है" कोठारी आयोग ने भी अपनी आख्या में कहा है कि "भारत के भविष्य का निर्माण उसकी कक्षाओं में हो रहा है" (लाल तथा शर्मा, 2014)। विद्यालय तो सामाजिक संस्थाएं होती हैं उन पर तो समाज का तथा समाज की संस्कृति का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। उनके भवन समाज की संस्कृति के अनुसार बनते हैं उनके शिक्षक और छात्र समाज की संस्कृति के अनुसार व्यवहार मानदंड अपनाते हैं। उनकी समस्त क्रियाएं समाज की संस्कृति के अनुकूल होती हैं (लाल, 2014)। वर्तमान शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में सीखने सिखाने की प्रक्रिया में क्रिया पर आधारित शिक्षण विधियों को प्रमुख स्थान दिया गया है (पाण्डेय, 2016)। साथ ही साथ शिक्षा में कौशल विकास को प्रमुखता दी गई है जिसके फलस्वरूप आज विद्यालयों में कम्प्यूटर लैब, स्मार्ट क्लासेस, उपकरणों से सुसज्जित विज्ञान प्रयोगशाला, टेलिकॉफ्रेंसिंग कक्ष, खेल के मैदान को विद्यालय में आवश्यक रूप से स्थापित किया जा रहा है (शर्मा, 2014)। इसका प्रमुख कारण समाज की संस्कृति ही है।

f'k{kk d vU; i{kk ij lldfr dk çHkko संस्कृति शिक्षा के अन्य पक्षों को भी किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है। जिन समाजों की संस्कृति में वर्णभेद होता है उनमें जनशिक्षा की अवहेलना की जाती है और जिन संस्कृतियों में वर्णभेद नहीं होता उनमें जन शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार पितृसत्तात्मक संस्कृतियों वाले समाज में स्त्रियों की शिक्षा की अवहेलना की जाती है जिस समाज की संस्कृति में स्त्री पुरुष में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता उनमें स्त्री पुरुषों की शिक्षा में भी कोई भेद नहीं किया जाता है (सिंह तथा सिंह, 2013)। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में संवैधानिक कर्तव्यों, अधिकारों एवं अधिनियमों आदि को दृष्टिगत रखते हुए पठन-पाठन का संचालन किया जाता है अतः इन सभी का समन्वित प्रभाव शिक्षा पर पड़ रहा है। वर्तमान में भारत सरकार के द्वारा विभिन्न प्रकार की शैक्षिक योजनाओं जैसे- सभी के लिए शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, शिक्षा का अधिकार अधिनियम, कौशल पर आधारित शिक्षा, महिला समयाख्या योजना आदि का संचालन किया जा रहा है (भटनागर, 2013)। इन सभी योजनाओं का शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक प्रभाव देखने को मिल रहा है (लाल, 2014; शर्मा, 2016; पंडा, 2016)।

fu'd"kk "शिक्षा को संस्कृति के संदर्भ बिना समझा नहीं समझा जा सकता संस्कृति शिक्षा को प्रतिबिंबित करती है और इस पर अपना प्रभाव डालती है।" —ब्रैमिल्ड

वर्तमान समय में किसी भी समाज की शिक्षा मुख्य रूप से उसके स्वरूप एवं दर्शन, राजनैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं वैज्ञानिक आविष्कारों पर निर्भर करती है, तथा समाज का स्वरूप एवं दर्शन, धर्म उसकी संस्कृति के अंग होते हैं। अर्थात् हम कह सकते हैं कि शिक्षा के विभिन्न अंगों यथा—उद्देश्यों, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियां, अनुशासन, शिक्षक-शिक्षार्थी की स्थिति तथा विद्यालय व्यवस्था आदि पर संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ता है। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली के विभिन्न घटकों यथा—शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यवस्तु, शिक्षण विधियां, विद्यालय अनुशासन व्यवस्था, शिक्षक शिक्षार्थी की स्थिति तथा विद्यालय के शैक्षिक वातावरण पर वर्तमान की सामाजिक संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। क्योंकि वर्तमान समाज में तकनीकी कौशलों पर विशेष बल दिया जा रहा है अतः शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण भी इसी विचारधारा को दृष्टिगत रखते हुए किया जा रहा है। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में बालक की केंद्रीय स्थिति को स्वीकार किया जाता है अतः पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों का चयन भी बालक की आवश्यकताओं, रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा मानसिक स्तर आदि के अनुरूप किया जाता है। वर्तमान भारतीय समाज में दमनात्मक अनुशासन का विरोध किया जाता है अतः शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में मुक्त्यात्मक तथा प्रभावात्मक अनुशासन व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है।

I UnHk %

1. भटनागर, ए. बी. तथा भटनागर, ए. (2013). फिजिकल साइंस शिक्षण. मेरठ: आर. लाल बुक डिपो. पृष्ठ संख्या. 295–324.
2. भटनागर, आर. एम. (2013). अनौपचारिक शिक्षा दिशा एवं दृष्टि. जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रंथ आकदमी. पृष्ठ संख्या. 41–47.
3. लाल, आर. ए. (2014). शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार. मेरठ: रस्तोगी पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या. 1–26.
4. लाल, आर. ए. (2014). शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार. मेरठ: रस्तोगी पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या. 447–459.
5. लाल, आर. ए. तथा शर्मा, के. (2013). भारतीय शिक्षा का इतिहास विकास एवं समस्याएँ. मेरठ: आर. लाल बुक डिपो. पृष्ठ संख्या. 4–22.
6. मिश्रा, एस. के. (2012). भारत में शिक्षा व्यवस्था. मेरठ: आर. लाल बुक डिपो. पृष्ठ संख्या. 3–22.
7. मालवीय, आर. (2014). शिक्षा का समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण. इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन. पृष्ठ संख्या. 68–78.
8. मिश्रा, यू. (2014). शिक्षा का समाजशास्त्र. इलाहाबाद: अनुभव पब्लिशिंग हाउस. पृष्ठ संख्या. 36–54.
9. सक्सेना, आर. (2013). नवाचारी शिक्षण पद्धतियाँ, जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रंथ आकदमी. पृष्ठ संख्या. 4–12.
10. शर्मा, आर. ए. (2015). शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक मूल आधार. मेरठ: आर. लाल बुक डिपो. पृष्ठ संख्या. 711–728.
11. शर्मा, एस. (2014). इन्तुएन्स ऑफ कल्चर ऑन सेकेन्डरी स्कूल स्टूडेंट अंडरस्टैंडिंग ऑफ स्टैटिस्टिक्स. स्टैटिस्टिक्स एजुकेशन रिसर्च जर्नल, 13(2), 104–117.
12. सागर, के. (2015). बरेली जनपद में माध्यमिक स्तर के बालकों की उपलब्धि पर पारिवारिक संस्कृति के प्रभाव का अध्ययन. (अप्रकाशित एम.एड. लघुशोध). महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तर प्रदेश.
13. सिंह, वी.एन. तथा सिंह, जे. (2013). नारीवाद. जयपुर: रावत पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या. 384–405.
14. <http://www.wikipedia.org>



हकीर; 'कल=ह; लोकलु दक ,फ्रगफ्लद वु'क्यु मको उजुन देक फ्लग*

डायस्पोरा शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों "Dia" और "Sperien" शब्द से बना है जिसका अर्थ "बीजों को बोना, छितराना या बिखेरना, फैलना" होता है। वास्तव में यह शब्द एक अन्तःक्रिया को संदर्भित करता है।¹ सामान्य रूप से यह माना जाता है कि डायस्पोरा शब्द सबसे पहल ओल्टेस्टामेन्ट में ड्यूटरोनोमी (विधि विवरण) के ग्रीक अनुवाद में यहूदियों की स्थिति के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ था।² इसके पश्चात इस शब्द का प्रयोग थ्यूसीडाईडस ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ पेलोपोनेशियन वॉर" में किया। इस प्रकार यह शब्द दो प्राचीनतम जातियों एवं संस्कृतियों यहूदियों (586 ई0पू0) तथा यूनानियों के लिए हुआ था, जो स्वैच्छिक तथा बलपूर्वक दोनों प्रकार के प्रवासनों के परिणामस्वरूप अपनी मातृभूमि से बाहर स्थापित हुए थे।³

डायस्पोरा शब्द का सामान्य अर्थ अपने देश की धरती से दूर अन्य देशों में बसने से ही है। डायस्पोरा की प्रमुख विशेषता है, मेजबान देशों में रहते हुए भी भारतीय धर्म, संस्कृति और परम्पराओं को अपनाये रखना।⁴ इसके साथ ही ये समुदाय अपनी मातृभूमि से भी जुड़े रहते हैं। भारतीय डायस्पोरा समुदाय को विश्व के दूसरे सबसे बड़े डायस्पोरा समुदाय में गिना जाता है। आज विश्व में ढाई करोड़ भारतीय डायस्पोरा के लोग रहते हैं। ये भारतीय एक दिन या कुछ वर्षों में ही, एक ही तरह से नहीं पहुँचे। ये संस्कृति के प्रारम्भ से अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। सिन्धु सभ्यता के काल से ही भारतीयों के प्रवासन के चिन्ह मिलते हैं। रामायण और महाभारत से भी विदेशों से भारत के सम्बन्धों का विवरण मिलता है। सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही विश्व के अनेक प्राचीन सभ्यताओं में भारतीय प्रवासन के साक्ष्य मिलते हैं। विश्व के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है लेकिन यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इन देशों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव कैसे स्थापित हुआ। इस संदर्भ में आधुनिक काल के विद्वानों ने तीन सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है – (1) शासक वर्ग का सिद्धान्त (2) व्यापारी वर्ग का सिद्धान्त (3) पुरोहित वर्ग का सिद्धान्त।

शासक वर्ग के सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन काल में भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। महत्वाकांक्षी शासकों ने भारत के आस-पास के देशों में अपना साम्राज्य विस्तार किया। मौर्य सम्राट अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त एवं दक्षिण के अनेक शासकों ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की।⁵ इसी क्रम में स्वयं को स्थापित करने के लिए भारतीय शासक वर्ग ने स्थानीय कुलीनों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी सभ्यता और संस्कृति को इन देशों में स्थापित किया। द्वितीय सिद्धान्त व्यापारी वर्ग के सिद्धान्त के अनुसार भारतीय व्यापारियों ने व्यापार-वाणिज्य के माध्यम से विभिन्न देशों से सम्पर्क स्थापित किया और भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। सिन्धु सभ्यता के काल से ही मेसोपोटामिया, मिश्र, चीन, ईरान, यूनान, दक्षिण-पूर्व एशिया आदि देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित थे।⁶ भारतीय व्यापारियों ने इन देशों में अपनी बस्तियाँ भी बसाई, जिसने इन देशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में योगदान दिया।

तृतीय सिद्धान्त, पुरोहित वर्ग का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार भारतीय शासक तथा व्यापारी जहाँ-जहाँ गये वे अपने साथ ब्राह्मणों को भी लेते गये। इन पुरोहितों ने भी इन देशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में योगदान दिया। दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक स्थानीय राजा भी हिन्दू राजत्व सिद्धान्त से प्रभावित होकर स्वयं को देवता के रूप में प्रस्तुत करने के लिए हिन्दू पुरोहितों का सहारा लेते थे। इस प्रकार इन तीन सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन काल में विश्व के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। हम यहाँ संस्कृति के प्रारम्भिक चरण से लेकर भारत में ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित होने के पूर्व तक के प्रवासन के इतिहास का क्रमिक अध्ययन करेंगे।

*अतिथि प्रवक्ता, मध्यकालीन व आधुनिक इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

विभिन्न साक्ष्यों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता के काल से ही भारत का विभिन्न देशों के साथ व्यापार-वाणिज्य के माध्यम से सम्पर्क स्थापित था। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप तत्कालीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का प्रवाह हो रहा था। हड़प्पा कालीन मुहर मेसोपोटामिया के सूसा और उर में मिली हैं।⁷ हाल ही में फारस की खाड़ी में फैलका तथा बहरीन, मेसोपोटामिया के निप्पुर में सिन्धु सभ्यता की मुहरें पायी गयी हैं। इन चौकोर आकार वाली मुहरों पर एक सींग वाले पशु की आकृति एवं सिन्धु लिपि उत्कीर्ण है। मेसोपोटामिया (तेल अस्मर में) से हड़प्पा कालीन लाल पत्थर का एक मनका भी प्राप्त हुआ है। मोहनजोदड़ों तथा लोथल से मेसोपोटामिया की एक छोटी बेलनाकार मुहर प्राप्त हुई है।⁸ मध्य एशिया में तुर्कमेनिस्तान नामक स्थान से भी सिन्धु सभ्यता की कुछ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। मेसोपोटामिया में स्थित अक्काड़ के प्रसिद्ध सम्राट 'सारगौन' (2350 ई0पू0) ने यह दावा किया है कि दिलमन, माकन और मेहुला के जहाज उसकी राजधानी में लंगर डालते हैं।⁹ यहाँ दिलमन की पहचान बहरीन से, माकन की पहचान मकरान (बलूचिस्तान) से तथा मेहुला की हड़प्पा सभ्यता से की गयी है। ओल्डटेस्टामेन्ट से ज्ञात होता है कि राजा सोलोगन के महल तथा मन्दिर को सजाने के लिए भारत से मोर, बन्दर और हाथी दाँत का आयात किया जाता था। इसके साथ ही रानी शेबा राजा सोलोमन को उपहार देने के लिए मालाबर के व्यापारियों से मसाले तथा काली मिर्च खरीदती थीं।¹⁰

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पचास वर्ष पश्चात (483 ई0पू0) बौद्ध भारत के पड़ोसी देशों में प्रचार के लिए गये और अधिकांशतः वहाँ बस गये। बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात उसका सुयोग्य पुत्र अशोक 273 ई0पू0 में विशाल मौर्य साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। अशोक भारत के महानतम सम्राटों में सर्वोपरी स्थान रखता है। अशोक ने स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकारा और साथ ही साथ भारत ही नहीं दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में अपने प्रचारक भेजे।¹¹ दूसरे तथा तेरहवें शिलालेख में वह उन देशों के नाम गिनाता है जहाँ उसने अपने दूत भेजे। इसमें दक्षिणी सीमा पर स्थित राज्य चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र और तामपर्णि (लंका) बताये गये हैं। तेरहवें शिलालेख में पाँच यवन राज्यों के नाम मिलते हैं, जिनके राज्यों में धर्म प्रचारक भेजे गये थे — (1) अन्तियोक (सीरियाई नरेश) (2) तुरमय (मिश्र नरेश) (3) अन्तिकिनि (मेसीडोनियम राजा) (4) मग (एपिरस) (5) अलिकसुंदर (सिरीन)।¹² इस देशों में प्रचारकों ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का भी प्रचार किया। लंका में बौद्ध धर्म प्रचारकों को विशेष सफलता मिली, जहाँ अशोक के पुत्र महेन्द्र ने वहाँ से शासक तिस्स को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया तथा तिस्स ने सम्भवतः इसे राजधर्म बना लिया। बौद्ध धर्म ने लंका को ब्राह्मी तथा पाली भाषा प्रदान की।

कनिष्क (प्रथम शताब्दी) ने भी अपनी विजयों के द्वारा एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य का निर्माण किया। उसके विभिन्न लेखों व सिक्कों के आधार पर हम उसके साम्राज्य की सीमा का निर्धारण कर सकते हैं।¹³ कनिष्क भी एक उत्साही बौद्ध था उसने भी बौद्धधर्म के प्रचार के लिए सुदूर दक्षिण भारत, पूर्वोत्तर ईरान, सेन्ट्रल एशिया, चीन, यूनान, अफगानिस्तान, दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में महायान सम्प्रदाय से जुड़े प्रचारकों को भेजा। इनमें से अधिकांश प्रचारक वहीं बस गये और बौद्ध मठों की स्थापना की। इन बौद्ध मठों द्वारा बौद्ध धर्म व भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया गया।¹⁴

यूनानी स्रोतों से ज्ञात होता है कि जिस समय सिकन्दर महान (356-323 ई0पू0) ने अफ्रीका के पूर्वोत्तर भाग पर हमला किया, उस समय वहाँ भारतीय लोग बसे हुए थे। अरस्तू द्वारा सिकन्दर को यह सलाह दी गयी थी कि वह उत्तर-पूर्वी अफ्रीका के सकोट्रा प्रायद्वीप पर यूनानियों के लिए उपनिवेश स्थापित करे। सिकन्दर की सेना ने सकोट्रा प्रायद्वीप पर विजय स्थापित की। उस समय उस प्रायद्वीप पर भारतीय लोग निवास कर रहे थे।¹⁵ प्रथम शताब्दी में लिखे गये यात्रा वृत्तान्त 'पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रीयन शी' में उल्लिखित है कि अफ्रीका के पूर्वी तट पर भारतीय व्यापारी आते थे। इन क्षेत्रों से तीसरी शताब्दी के भारतीय सिक्के भी पाये गये हैं। तीसरी शताब्दी के आस-पास इथोपिया तथा भारत के मध्य मजबूत व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित थे। जिससे अफ्रीका के इन क्षेत्रों में भी भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हो रहा था। इस काल में भारत सोना, हाथी दाँत, दास, कपास, कपड़ा, मोती और विविध उत्पादित वस्तुओं का प्रमुख बाजार था।¹⁶

रोमिला थापर का कहना है कि प्रथम शताब्दी ई0पू0 से दूसरी शताब्दी तक अरिकामेडु प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यहाँ पर रोम के व्यापारियों की बस्तियाँ स्थापित थीं। वे यहाँ पर मलमल के कपड़े को बनाते थे और उसे मलाया, चीन तथा रोम में निर्यात करते थे। दक्षिण के बन्दरगाह मसाले, कपड़े, गहने,

तोता तथा मोर आदि विलासितापूर्व वस्तुओं के निर्यात के लिए प्रसिद्ध थे।¹⁷ रोमिला थापर ने आगे लिखा है कि वर्मा के इरावदी नदी के दोआब तथा वर्मा के अनेक भागों पर कलिंग के राजाओं का अधिकार था। पीगू, श्रीक्षेत्र, अराकान आदि क्षेत्रों में इन भारतीय शासकों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया। अशोक के काल में वर्मा को स्वर्ण भूमि के नाम से जाना जाता था। सम्राट अशोक ने सोन तथा उत्तरा नामक बौद्ध भिक्षुओं को धर्म प्रचार के लिए वर्मा भेजा था, जिनके प्रयासों से वहाँ बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ और भारतीय संस्कृति वहाँ पुष्पित व पल्लवित हुई।¹⁸ कम्बोडिया का प्राचीन नाम फुनान था। कौडिन्य नामक भारतीय हिन्दू राजा ने यहाँ कम्बोज नामक राज्य की स्थापना की। इसके पश्चात यशोवर्मन ने यहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार किया और संस्कृत यहाँ की लोकप्रिय भाषा बन गयी। सूर्यवर्मन द्वितीय ने बारहवीं शताब्दी में अंकोरवाट में विष्णु के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया। 14वीं शताब्दी में यहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ने पर शासकों ने इसे बौद्ध स्वरूप दे दिया। कम्बोडिया पर 27 भारतीय राजाओं ने राज्य किया, कोई हिन्दू रहा तो कोई बौद्ध। यही वजह है कि पूरे देश में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म व भारतीय संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव है।¹⁹

आठवीं शताब्दी में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के प्रमुख बौद्ध विद्वान शांतिरक्षित को तिब्बत में आमंत्रित किया। तिब्बत में शांतिरक्षित ने महायान सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने संस्कृत के बौद्ध ग्रन्थों को तिब्बती भाषा में अनुवादित किया।²⁰ एक अन्य प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में भारतीय संस्कृति के प्रसार में योगदान दिया। सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति का प्रवेश सर्वप्रथम मलय प्रायद्वीप में हुआ, यहाँ भारतीय धर्म, भाषा व संस्कृति का प्रसार तीव्र गति से हुआ। प्राचीन काल से ही भारत तथा चीन के मैत्रिपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। कश्यप, कुमारजीव, मातंग, धर्मरत्न जैसे प्रसिद्ध बौद्ध प्रचारक चीन गये और बौद्ध धर्म व भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। 749 ई० में लिखे गये स्रोत से ज्ञात होता है कि कैप्टन नदी के किनारे भारतीय ब्राह्मणों की बस्तियाँ बसी हुई थीं। कैप्टन नदी के तट पर ही इन ब्राह्मणों ने तीन मठों की भी स्थापना की थी।²¹

जावा को प्राचीनकाल में यव नाम से जाना जाता था। इस देश में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था एवं इस यव द्वीप का उल्लेख वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में भी आया है। आठवीं शताब्दी में शैलेन्द्र वंश के भारतीय राजवंश ने यहाँ भारतीय कला एवं संस्कृति के प्रसार में योगदान दिया। पाँचवीं शताब्दी में जावा में भारतीय हिन्दू राज्य की स्थापना हो गयी।

शैलेन्द्र शासक समरतुंग ने नवीं शताब्दी में बोरोबुदूर में एक विशाल बौद्ध स्तूप का निर्माण करवाया, जो स्थापत्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। सुमात्रा को श्रीविजय के नाम से जाना जाता था, चोल सम्राट राजराज (985 ई०-1015 ई०) ने चोल राज्य को विशाल साम्राज्य में परिणत कर दिया। राजराज ने दक्षिण में केरल, पाण्ड्य तथा सिंहल के राजाओं के विरुद्ध अभियान किया। उस समय सिंहल (श्रीलंका) का शासक महेन्द्र पंचम था। नीलकण्ठ शास्त्री का अनुमान है कि इन तीनों राज्यों ने चोल नरेश के विरुद्ध एक संघ बना लिया था। अतः केरल और पाण्ड्य की विजय के पश्चात राजराज सिंह की ओर उन्मुख हुआ। उसने नौसेना की सहायता से सिंहल नरेश को पराजित कर दिया। चोलों ने अनुराधापुर को ध्वस्त कर दिया और सिंहल द्वीप के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। सिंहल पर अधिकार कर लेने के पश्चात राजराज ने वहाँ पर एक प्रान्त की स्थापना की। चोलों ने अनुराधापुर के स्थान पर पोलोन्नरुव को अपनी राजधानी बनायी तथा इसका नाम 'जन्नाथ मंगलम्' रख दिया। राजा ने सिंहल में भगवान शिव के कुछ मन्दिरों का भी निर्माण करवाया।²²

राजराज की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र राजेन्द्र चोल (1014-1044 ई०) गद्दी पर बैठा। उसने सिंहल विजय का कार्य पूर्ण किया। राजेन्द्र ने सम्पूर्ण सिंहल द्वीप पर अधिकार कर लिया। करन्दै ताम्रपत्रों से उसकी इस विजय की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। महावंश से भी उसके इस विजय की पुष्टि होती है जिसके अनुसार राजेन्द्र ने लंका पर पूर्ण अधिकार करने के पश्चात वहाँ के बौद्ध विहारों को नष्ट कर दिया तथा सम्पूर्ण कोष साथ ले गया।²³ राजेन्द्र ने भारतीय उपमहाद्वीप में अपनी विजय-वैजन्ती फहराने के उपरान्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में सैन्य अभियान किया। उसने श्रीविजय (शैलेन्द्र) राज्य को जीतने के लिए एक शक्तिशाली नौसेना भेजी। इस राज्य के अन्तर्गत मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा

अन्य द्वीप सम्मिलित थे। उसका यह अभियान भी पूर्णतया सफल रहा। शैलेन्द शासक के चोल शासक की अधीनता स्वीकार करने के पश्चात उसका राज्य लौटा दिया। श्रीविजय के साथ-साथ चोल सेना ने अराकान तथा पेगू (वर्मा में स्थित) के राज्यों को भी जीत लिया। इस विजय के फलस्वरूप यहाँ भारतीय संस्कृति तथा हिन्दू धर्म की जड़े और मजबूत हो गयी।²⁴

भारत में इस्लाम के आगमन के पश्चात भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा सम्बन्धों पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा। केवल हिन्दू व्यापारियों का स्थान मुस्लिम व्यापारियों ने ले लिया। भारतीय व्यापारिक जहाज अरब, फारस, मिश्र आदि देशों में जाते रहते थे। भारत से इन देशों में मसाले, बहुमूल्य धातुएं एवं मखमली कपड़े आदि निर्यात किये जाते थे। ये सम्बन्ध पूरे मध्यकाल तक जारी रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन से लेकर मध्यकाल तक भारतीय राजाओं, व्यापारियों तथा धर्म प्रचारकों के माध्यम से विश्व के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार होता रहा।

I UnHk %

1. Martin Boumann, "Diaspora : Genealogies of Semantics and Transcultural Comparion", International Review for the History of Religions, Numen, 2002, p. 313-337.
2. Robin Cohen, Global Diaspora : An Introduction, Rutledge London and New York, 2008, p. 1.
3. N. Jayaram, The Indian Diaspora : Dynamics of Migration, Sage Publications, New Delhi, 2004, p. 15-16.
4. रामशरण जोशी, राजीव रंजन राय (सं०), भारतीय डायस्पोरा : विविध आयाम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ० 48-49
5. द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2005, पृ० 97, 185-90, 229-31
6. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ० 172
7. पी०एन० चोपड़ा, बी०एन० पुरी एवं एन० दास : भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, ट्रिनिटी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ० 26-27
8. वही, 26-27
9. Kenneth McPherson, Indian Maritime Communities, in Brij V. Lla, Peter Reeves & Rajesh Rai (eds), The Encyclopedia of Indian Diaspora, New Delhi, 2007, p. 34.
10. George Abraham, Indians in South-East Asia and the Singapore Experience, in Jagat K. Motwani, Mahin Gosine and Jyoti Barat Motwani (eds), Global Indian Disaspora, Yesterday, Today and Tomorrow, New York, 1993, p. 269-277.
11. लीट, जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, 1908, पृ० 491-97
12. डॉ० के०सी० श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 2004, पृ० 247-248
13. वही, पृ० 369
14. Jyoti Motwani, Early and Classical Overseas Overtures of India, Jagat K. Motwani (eds), Global Indian Diaspora : Yesterday, Today and Tomorrow, New York, 1993, p. 33-44.
15. Richard PanKhurst, The Banyan or Indian Presence at Masawa, The Dahlak, Islands and the Horn of Africa, Paris, 1979, p. 40.
16. Niranjana Desai, The Asian Influence in East Africa, New York, p. 118-126.
17. Romilla Thaper : A History of India, Penguin Books, 1966, p. 84.
18. वही, पृ० 85
19. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पूर्वोक्त, पृ० 117
20. वही, पृ० 181
21. Jyoti Motwani, Early and Classical Overseas Overtures of India, p. 38
22. डॉ० के०सी० श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पूर्वोक्त, पृ० 728
23. वही, पृ० 731-732
24. Hugh Tinker, The Banyan Tree : Overseas Emigrants from India, Pakistan and Bangladesh, p. 12.



Hkh"e l kguh dh dgkfu;k e ukjh d fofok : i v#.k iirki ;kno*

नई कहानीकारों में भीष्म साहनी का विशिष्ट स्थान है। यह विशिष्टता इसलिए तो है ही कि उन्होंने बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी, बल्कि इस बात में भी हैं कि आधुनिकतावाद के चकाचौंध में ये अपने परिवेश से जुड़े रहे। उनकी कहानियों में आधुनिकता है न कि आधुनिकतावाद। यह आधुनिकता उनकी सामाजिक सूझबूझ, विवेक—दृष्टि और शोषण से पीड़ित इंसान के प्रति घनिष्ट लगाव के रूप में दिखाई देती है, किसी सिद्धांत या अवधारणा के रूप में नहीं। मार्क्सवादी और प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े होने के बावजूद भी इन्होंने मार्क्सवादी नियमों को अपनी रचनाओं के ऊपर हावी नहीं होने दिया। उन्होंने मार्क्सवाद को अपने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सत्य के भीतर इस प्रकार मिला दिया है कि वह ऊपर से दिखाई नहीं देता। भीष्म साहनी जी का कथा—संसार अत्यधिक व्यापक है। उन्होंने विभिन्न वर्गों की, अनेक समस्याओं से जुड़े यथार्थ को अपनी लेखनी का विषय बनाया है।

समाज में नारी के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं और साहित्यकार इन्हें अपने साहित्य में उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। भीष्म जी ने भी अपनी कहानियों में विभिन्न प्रकार की नारियों का चित्रण किया है। उनकी कहानियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि एक ओर पूरी तरह से परम्परागत नारी दिखाई देती है, तो दूसरी तरफ प्रगतिशील नारी भी दिखाई देती है। कुछ नारियाँ ऐसी भी मिलेंगी जो समाज की धारा के विपरीत जाकर कुछ करने वाली विद्रोही नारी का चित्र भी प्रस्तुत करती हैं। चाहे पारिवारिक संबंधों से युक्त नारी हो, जैसे — माता, पत्नी, प्रेमिका, पुत्री, बहू या फिर अन्य प्रकार की नारी जैसे — दादी, चाची, वेश्या, रखैल आदि को भीष्म जी ने ऐसे चित्रित किया है, कि मानो उन्होंने उन रूपों को आंखों से देखा हो। वास्तविक, यथार्थ वर्णन उनके कथा—साहित्य की विशेषता कही जाती है जो नारी के विविध रूपों के चित्रण में स्पष्ट दिखाई देता है।

परम्परागत नारियाँ वे होती हैं जो अपने पुराने संस्कारों से जुड़ी रहती हैं। वे परम्परा से जुड़े रहने में ही अपनी भलाई समझती हैं। परम्परागत पत्नी वह है जो किसी भी दशा में पति का साथ नहीं छोड़ती है। उसे चाहे खुशी—खुशी या मजबूरी में अपने पति के साथ रहना पड़ता है। पति ही उसका परमेश्वर होता है। साहनी जी की कहानियों में परम्परागत पत्नी के भिन्न—भिन्न रूप चित्रित हुए हैं। 'जोत' कहानी में पति का साथ देने वाली उत्तमी, 'गंगों का जाया' कहानी की गंगो, 'नया मकान' कहानी की कॉमरेड गिरिजा बाबू की पत्नी विमला, 'सिफारिशी चिट्ठी' कहानी के क्लर्क त्रिलोकीनाथ की भगवान से डरने वाली पत्नी कुंतो आदि उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पारम्परिक पत्नी कई तरह की हो सकती है जिसका चित्रण करने में साहनी जी सफल हुए हैं। परम्परागत पत्नी की तरह परम्परागत प्रेमिका भी अपने प्रिय पर सब कुछ न्यौछावर कर सकती है। भीष्म जी की कहानियों में परम्परागत प्रेमिकाओं के अनेक चित्र देखे जा सकते हैं। 'प्रणयलीला' कहानी की सुषमा अशोक के बड़े भाई से प्यार करती है किन्तु इस बात से अनभिज्ञ अशोक सुषमा की तरफ आकर्षित है। दोनों जब एक दूसरे को सच्चाई बता देते हैं तो दोनों स्तब्ध रह जाते हैं।

परम्परागत पत्नी, प्रेमिका के साथ—साथ साहनी जी ने माँ के परम्परागत रूप को भी अपनी कहानियों में चित्रित किया है। 'चीफ की दावत' कहानी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस कहानी में माँ बेटे की खुशी के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाती है। 'चीफ की दावत' की समस्या प्रेमचन्द के युग से आगे की समस्या है। आधुनिक दुनिया के लगातार जटिल और पेंचदार होने की समस्या है। उसमें आज की जिंदगी है। आज की सभ्यता का छल है, जिसमें माँ भी एक फालतू सामान हो गई है।^१ अफसर के

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर

आने पर माँ को छिपाने के बारे में पति-पत्नी दोनों सोचते हैं। दोनों का विचार है कि माँ बूढ़ी हो गई है, उसे अंग्रेजी बोलना नहीं आता जो आज की सभ्यता में फिट होने का पहला मापदंड है। ऐसी सभ्यता में उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ना, पैसा, पद, प्रमोशन जितना जरूरी है, माँ उतनी ही फालतू चीज है लेकिन छिपाने के लाख प्रयत्न के बाद भी चीफ की मुलाकात माँ से हो ही जाती है। अफसर माँ की बातों में कितना रस, कितनी दिलचस्पी ले रहा है जैसा कि साहनी जी ने लिखा है – “साहब इस पर खुश नजर आए। बोले सच ? मुझे गांव के लोग बहुत पसंद हैं।। तब तुम्हारी माँ गांव के गीत और नाच भी जानती होंगी। चीफ खुशी से सिर हिलाते हुए माँ को टिकटिकी बांधे देखने लगे।^१ माँ की बनाई फुलकारी अफसर को पसंद आ जाती है। तब बेटा माँ से उसे नई बनाने के लिए कहता है। पहले माँ अपनी कमजोरियाँ का हवाला देती है किन्तु जब उसे पता चलता है कि इसको बना देने से बेटे का प्रमोशन होगा, तो माँ अपनी बूढ़ी हड्डियों की लाचारी और कमजोर निगाह के बाद भी अफसर के लिए फुलकारी बनाने का निश्चय कर लेती है। यानी बूढ़ी और बेकार समझी जाने वाली माँ का भी कुछ मूल्य है आज की सफलतावादी दुनिया में।

प्रगतिशील नारी संस्कारों का मोह नहीं करती। वह परिस्थिति के अनुकूल अपने संस्कारों को छोड़ने के लिए तैयार रहती है। वह हमेशा नये की तलाश करती रहती है। आधुनिक काल में जैसे-जैसे नारियों में जागृति आने लगी, वैसे ही उनके विचारों का विकास हो रहा है। भीष्म जी की कहानियों में भी प्रगतिशील नारी के अनेक रूप दिखाई देते हैं। उन्होंने प्राचीन मान्यताओं को तोड़ती नारियों को प्रस्तुत कर आधुनिक नारियों के सम्मुख उनका आदर्श स्थापित किया है। प्रगतिशील पत्नी का चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों में इस प्रकार किया है कि वे चरित्र समाज में आज चारों तरफ दिखाई दे रहे हैं। जैसे – ‘क्रिकेट मैच’ कहानी के पति को बांधे रखने के लिए कुछ भी करने वाली पुष्पा, ‘तस्वीर’ कहानी की ससुर का कहा न मानकर बच्चों को खुश करने वाली पत्नी, ‘एक रोमाण्टिक’ कहानी की रुक्मिणी, ‘कण्ठहार’ कहानी की मालती, ‘मेड इन इटली’ कहानी की विदेशी चीजों के प्रति मोह रखने वाली मीरा, ‘चेहरे’ कहानी की पति के भीरु स्वभाव के कारण पति को छोड़ जाने वाली शंभुनाथ की पत्नी शोभा आदि नारियाँ प्रगतिशील विचारों वाली नारियों में आती हैं। इसी प्रकार प्रगतिशील प्रेमिका अपनी इच्छा को महत्व देती हैं। वह विवाह के पहले ही प्रेमी के साथ पत्नी के रूप में रहने में विश्वास करती है। ऐसी प्रेमिका पति को छोड़कर या पति के साथ रहकर अन्य पुरुष से प्रेम करने वाली भी हो सकती है। ‘वापसी-व-वापसी’ कहानी की कात्या भी इसी प्रकार की लड़की है जो अपने प्रेमी शिबू के साथ भाग जाना चाहती है।

नारी का तीसरा रूप विद्रोही नारी के रूप में दिखाई देता है। ऐसी नारियाँ पुराने संस्कारों को खोखला मानती हैं और उन्हें तोड़कर आगे बढ़ना चाहती हैं। ऐसी नारियाँ मानती हैं कि व्यक्ति, समाज, कानून मिलकर नारियों का शोषण प्राचीन काल से करते चले आ रहे हैं। इसलिए वे इन तीनों के खिलाफ मोर्चा खोलती हैं। यह विद्रोही नारी पत्नी, प्रेमिका, माता, पुत्री कुछ भी हो सकती है। भीष्म जी ने अपनी कहानियों में इस प्रकार की नारियों के कुछ चित्र खींचे हैं। विद्रोही पत्नी, पति, ससुराल, समाज द्वारा किये जाने वाले अन्याय का विरोध करती है। ‘नई नवेली’ कहानी की चाय वाली जिसे नयी सड़क की ‘पड़ाव की बहू’ कहा जाता है अपने ससुराल वालों के अत्याचार से परेशान होकर विद्रोह करके भाग आयी पत्नी है। उसका पति मर चुका है और ससुराल वाले उसका विवाह किसी बूढ़े से करना चाहते हैं इसलिए वह भागकर अपने चाचा के पास रहने आयी है। वह इंजीनियर को बताती है – “वे तो आते ही रहते हैं, जी, देखो मेरे कपड़े फाड़ दिये। मेरे सारे बदन पर लासे पड़ गये। मगर मुझे यहाँ से ले जाये तो देखूँ। एक बार ले गये थे, झूठ क्यों बोलूँ और भूसे वाली कोठरी में दो दिन बन्द भी रखा गया था। पर मैं फिर भाग आयी।^२ इतनी मारपीट के बावजूद भी मार खाने की ताकत उसमें है, अभी भी विद्रोह करने की इच्छा उसके मन में है। ऐसी पत्नियों का चित्रण करके भीष्म जी समाज को यह बताना चाहते हैं कि नारियाँ निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हैं। वे अपने अच्छे बुरे का निर्णय स्वयं करेगी।

भीष्म जी ने न केवल विद्रोही पत्नी का चित्रण अपनी कहानियों में किया है बल्कि विद्रोही प्रेमिका का भी चित्रण किया है। विद्रोही प्रेमिका वह प्रेमिका है जो अपने प्रेमी को पाने के लिए घर, समाज सबसे विद्रोह करती है। ऐसी प्रेमिकाएं अपने कायर कुंठित प्रेमी के प्रति भी विद्रोह करती हैं। ‘नीली आंखें’ कहानी की लड़की राजो, ‘वापसी-ब-वापसी’ कहानी की नायिका कात्या ऐसी ही प्रेमिकाएं हैं। कात्या विदेशी है जो हिन्दुस्तानी शिबू से प्यार करने लगती है जो वहाँ डाक्टर पढ़ने गया है। कात्या अपने माता-पिता की

इच्छा के विपरीत शिबू से शादी करने व घर से भागने के लिए तैयार हो जाती है लेकिन उसके माता-पिता समझौतावादी हैं। वे दोनों शादी में सम्मिलित हो जाते हैं लेकिन बाद में संस्कारों के अंतर के कारण उनमें संघर्ष होने लगता है। भीष्म जी ने न केवल विद्रोही पत्नी व प्रेमिका का चित्रण किया है बल्कि विद्रोही बहू को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। 'घर की इज्जत' कहानी की छोटी बहू सुनंदा घर की मर्यादाओं के विरोध में नाटक में काम करने जाती है जबकि उसका बड़ा देवर इस बात का विरोध करता है। पहले तो वह सब कुछ सह लेती है फिर एकाएक विद्रोह करने का मन बना लेती है और नाटकों में काम करती है। इस प्रकार भीष्म जी विद्रोही नारी के रूप में आज की नारी का सचित्र चित्रण किया है। वे विद्रोही नारियों के द्वारा यह बताना चाहते हैं कि लड़कियां भैसों नहीं हैं जो खूटे से बंधने के लिए पैदा हुई हैं। वे पुरुषों को यह बताना चाहती हैं कि अपनी मर्दानगी अपने पास रखे। समय बदल रहा है, अब तो बेटियां उठेगी और ऐसे-ऐसे कार्य करेंगी कि पुरुषों के चारों खाने चित्त हो जायेंगे।

समाज में तीन वर्ग पाये जाते हैं – उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग। इस आधार पर भी नारियों का चित्रण साहित्य में मिलता है। भीष्म जी की कहानियों में तीनों ही वर्गों की नारियाँ पायी जाती हैं। उच्च वर्ग की नारियों का चित्रण बहुत कम हुआ है। जहाँ हुआ भी है वहाँ वह निम्न वर्ग का शोषण करते दिखायी गयी हैं या फिर स्वयं ही उच्च वर्ग की समस्याओं के साथ वह जूझती दिखाई देती है। 'क्रिकेट मैच' कहानी की पुष्पा, 'रानी मेहतो' कहानी की रानी मेहतो, 'ललीता' कहानी की ललीता, 'कष्टहार' कहानी की मालती, 'ओ हरामजाते' कहानी की हैलन आदि नारियाँ उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। भीष्म जी ने जिन उच्च वर्गीय नारियों को अपनी कहानियों का विषय बनाया है उनमें से कुछ नारियाँ उच्च वर्ग की प्रतिष्ठा को महत्व देने वाली तो कुछ नारियाँ उच्च वर्ग की तथाकथित समस्याओं को झेलती हुई दिखाई देती हैं। इसी प्रकार मध्य वर्ग भीष्म जी की कहानियों में बड़ी मजबूती के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। उन्होंने इस वर्ग की परम्पराओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, आचार-व्यवहार तथा समस्याओं का बखूबी चित्रण किया है। इस दृष्टि से 'घर की इज्जत' 'चीफ की दावत' 'प्रणयलीला' 'नया मकान' 'विकल्प' 'डायन' आदि कहानियों के नारी चरित्र इस वर्ग का मजबूती से प्रतिनिधित्व करती हैं। 'चीफ की दावत' कहानी में शामनाथ अपने बॉस को प्रसन्न करने के लिए दावत पर बुलाता है। उसे अपनी परम्परागत मध्यवर्गीय माँ एक अड़चन प्रतीत होती है। वह उसे छिपाने के तमाम उपाय ढूँढ़ता है फिर भी चीफ की मुलाकात माँ से हो जाती है। चीफ मिलने के बाद माँ से बहुत खुश होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कहानी में माँ का चरित्र चित्रण भीष्म जी ने मजबूती के साथ किया है। 'सागमीट' कहानी की सुमित्रा हमेशा अपने बर्चस्व को सिद्ध करती रहना चाहती है, जिसके लिए वह निरंतर बड़बड़ करती है।

भीष्म जी ने न केवल उच्च वर्ग, मध्य वर्ग को अपनी कहानियों का विषय बनाया बल्कि समाज में निम्न वर्ग समझी जाने वाली, नारियों का भी चित्रण किया है। निम्न वर्ग की नारियों को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता है। उनके साथ तुच्छता का व्यवहार किया जाता है। इस दृष्टि से उनकी कहानियों – 'जोत' 'तमगे' 'नीली आंखें' 'गंगों का जाया' 'घर-बेघर' 'पहचान' 'अभी मैं जवान हूँ' आदि का प्रमुख स्थान है। 'जोत' कहानी की उत्तमी दिनभर कार्य करती रहती है फिर भी मुस्कराती रहती है। रेंजर उसे बुरी नजर से देखता है किन्तु वह उसके हाथ नहीं आती। 'अभी मैं जवान हूँ' कहानी पूरी तरह से निम्नवर्गीय जीवन का चित्रण करती है। इसमें वेश्याओं के यथार्थ जीवन का चित्रण किया गया है। इस प्रकार भीष्म जी ने निम्नवर्गीय नारियों का जो चित्रण किया है उसमें इस वर्ग की संघर्ष भावना दिखाई पड़ती है। इस वर्ग की नारियाँ हमेशा अनेक संकटों से घिरी रहती हैं जिसमें से कुछ निकल पाती हैं और कुछ उसी में छटपटाती रहती हैं।

भीष्म साहनी जी ने आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी नारियों को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। इसमें घरेलू नारियों का चित्रण अधिक है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि कामकाजी नारियों के चित्रण की उन्होंने उपेक्षा की। 'तमगे' कहानी की राजो (धोबिन), 'गंगों की जाया' की गंगो (मजदूरी), 'रास्ता' कहानी की गोविन्द की माँ (नौकरानी) आदि काम करती हुई दिखाई देती हैं। इसी प्रकार 'जोत' की उत्तमी, 'शिष्टाचार' की श्रीमती जी, 'क्रिकेट मैच' की पुष्पा, 'चीफ की दावत' की माँ, 'अकाल मृत्यु' की अनुराधा आदि नारी पात्र घरेलू हैं।^१ इनमें से कुछ नारियाँ पढ़ी-लिखी होकर भी नौकरी नहीं करती। इसके कारण उन्हें कभी-कभी कटु वचन भी सुनने पड़ते हैं। कभी-कभी वे अपने को अत्यन्त कमजोर महसूस करती हैं।

व्यक्तित्व और स्वभाव के आधार पर भी नारियों की स्थिति का चित्रण भीष्म जी ने किया है। इसके आधार पर उन नारियों की मानसिकता को टटोलने का प्रयास किया है जिसमें वे बहुत हद तक सफल हुए हैं।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी जी नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास के पक्ष पाती हैं। उनकी यह सोच है कि स्त्रियों में भी अनेक ऐसे गुणों की संभावना विद्यमान रहती है जो उचित वातवरण पाकर अपना उत्कर्ष कर सकती हैं। उनकी कहानियों के अनेक स्त्री पात्र ऐसे हैं जो असंभव कार्य को भी संभव करके दिखाती हैं। भीष्म जी अपनी कहानियों के माध्यम से यह दिखाते हैं कि नारी चाहे प्राचीन काल की हो या आधुनिक काल की उसे जीवन में अनेक संघर्षों से जूझना पड़ता है। वे बताते हैं कि आधुनिक काल की नारी दोहरे स्तर पर संघर्ष कर रही है। एक तरफ वह नौकरी पेशा में संघर्ष कर रही हैं तो दूसरी तरफ परिवार की जिम्मेदारियों को भी बखूबी निभा रही हैं। इसके बावजूद वह शोषण की शिकार हैं जिसके कारण वह विद्रोह पर भी उतर जाती हैं। साहनी जी ने अपनी कहानियों में नारी के इस संघर्ष का यथार्थ चित्रण किया है। नारी के विविध रूपों का चित्रण करने में उनका एकमात्र उद्देश्य था कि आने वाले समय में नारियां जागृत हो और अपने प्रति होने वाले अन्याय का डटकर मुकाबला करें।

UnHk §

1. डॉ० भरत कुचेकर, भीष्म साहनी व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 134
2. आजकल, अगस्त 2015, पृष्ठ 38
3. वही, पृष्ठ 36
4. डॉ० भरत कुचेकर, भीष्म साहनी व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रथम संस्करण, पृष्ठ—142
5. वही, पृष्ठ 152



ft l ykgkj ub n[;k vk tUe;kb| ub ukVd e of.kr foHkk tu =klnh dk v/; ;u d|le oek*

“अनेक जातियों का होना, अनेक धर्म मत होना, अनेक भाषाएँ होना किसी भी दृष्टि से दोष नहीं है। विविधता सौन्दर्य की प्रतीक है लेकिन यह किसी ‘एक’ का निर्माण करती है। सात रंग मिलकर इन्द्रधनुष की रचना करते हैं। संगीत का आधार सात स्वर ही है लेकिन यदि वे स्वर अपने-अपने सौन्दर्य को लेकर खड़गहस्त उठें तो प्रकृति और वाणी का सौन्दर्य सदा के लिए नष्ट हो जायेगा। वैसे ही जैसे आज भारत की एक रूपता नष्ट हो गई है इस एक रूपता अथवा एकता के तिरोहित हो जाने का अर्थ है देश का सर्वनाश, मनुष्य का सर्वनाश क्योंकि जिस देश में मनुष्य का मूल्य है वह अपने आप ही बड़ा हो जाता है: मनुष्य के सामने देश की सीमाएँ कोई अर्थ नहीं रखती”।¹

हिन्दुस्तान का विभाजन, सरहदों के आर-पार कत्लेआम भारत और पाकिस्तान दोनों की ऐसी दुखती रंगें हैं जिसका दर्द आज भी संवेदनशील, सहिष्णु मनों में देखने को मिल जायेगा यह इतना गहरे से दबा हुआ है कि जब झकझोरता है तो सागर की लहरों की भांति सब कुछ उथल-पुथल कर देता है। एक जाति दूसरी जाति, एक धर्म दूसरे धर्म, एक रंग दूसरे रंग के कारण मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव करने से ही यह विष-बीज पनपा है।

विभाजन ऐसी असहज और बड़ी घटना थी जिसकी पूरी गंभीरता को तत्काल समझ पाना कठिन था। उसने ऐसी संक्रमणकालीन परिस्थितियों को जन्म दिया, जिनमें सब-कुछ अस्थिर अस्त-व्यस्त एवं अनिश्चित हो गया था। आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम अन्तर्विरोध के पैदा होने के साथ ही भारतीय समाज में विसंगठन की प्रक्रिया शुरू हो गई थी जिसकी अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक विचारधाराओं के आपसी संघर्ष तथा दंगों में होती रही। विसंगठन निर्णायक ढंग से उस ही समय प्रकट होने लगा था जब विभाजन के कुछ महीने पहले से ही व्यापक साम्प्रदायिक दंगों के कारण बड़े पैमाने पर आबादी का विस्थापन एवं देशान्तरण शुरू हुआ और वह विभाजन के बाद तक जारी रहा जिसने अनेक मानवीय त्रासदियों को जन्म दिया।

भारत विभाजन से उत्पन्न समस्याओं पर हिन्दी में अनेक कहानियाँ और उपन्यास लिखे गये हैं इनमें विभाजन के लगभग सभी महत्वपूर्ण पहलुओं को उठाया गया है।

‘असगर वजाहत’ ने अपने नाटक जिस लाहौर नई देख्या ओ जन्मयाई नई में भी भारत विभाजन और उसके बाद की मानवीय समस्याओं के विस्तृत परिदृश्य को दिखाया है। नाटक में आगजनी, हत्या, प्रदर्शन और जूलूस के कारण सम्पूर्ण वातावरण में साम्प्रदायिक उन्माद और भय व्याप्त है। नाटक में विभाजन के कारण रोजगार, आवास सम्बन्धी समस्याओं तथा मनुष्य में होने वाले परिवर्तनों के विविध चित्र दिखते हैं। लेखक ने भारत-पाक के बाद लाहौर की विनाशोत्तर वीरानी को नाटक की कथा-भूमि बनाया है यहाँ विनाश के तमाम खण्डर मौजूद हैं लाहौर जहाँ कुछ ही समय पहले हिन्दू-मुसलमानों का मिला-जुला, हरा-भरा संसार था। होली और ईद साथ मनाई जाती थी। श्मशान और कब्रिस्तान दोनों के लिए जगहें थी, मन्दिर की घण्टियाँ और अजान की आवाजें साथ-साथ गूँजती थी, वहाँ अब एक इकहरी, वीरान उदास दुनिया बची है हलचलों का चरित्र बदल गया है लेखक ने कत्लेआम का कोई प्लैसबैक नहीं दिया है क्योंकि ऐसे इतिहास की विस्मृति ही सबसे बड़ा उपचार होती है वेदना और अवशेष अपनी कथा खुद कह देते हैं। असगर

*शोध छात्रा, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

वजाहत ने गंगा—जुमनी संस्कृति, उर्दू और पंजाबी भाषा के कसे हुए संवादों को सागदी के साथ प्रस्तुत किया है नाटक की शुरुआत ही मुस्लिम लीग के लोगों द्वारा जुलूस और प्रदर्शन से होती है।

**ikfdLRkku ikfdLrku -----

YkdI jgx ikfdLrku -----

efLye yhx efLye yhx ----

ftUnkckn efLye yhx -----²

जुलूस और प्रदर्शन के साथ ही मंच पर अपने देश ही निकाले हुए लुटे-पिटे विस्थापित शरणार्थी मुस्लिम परिवार शरण के लिए लाहौर में चले आ रहे हैं।

इकबाल के गीत—

vkj urhtI e: fgUnkLrk cV x;k

;I teh cV x;h vklek cV x;k-----³

असगर वजाहत ने विभाजन के बाद की स्थिति को चित्रित हुए दिखाया है कि लखनऊ से पाकिस्तान के लाहौर शहर पहुँचे शरणार्थी सिकन्दर मिर्जा को पाकिस्तान सरकार ने बहुमंजिला भवन आवंटित किया है। इस बाइस कमरों वाली हवेली को पाकर बहुत खुश है लेकिन जब सिकन्दर मिर्जा अपने परिवार के साथ उस हवेली में पहुँचाता है तो उसे पता चलता है कि उसमें पहले से ही कोई महिला है। यह हवेली रतनलाल जौहरी की है जो भारत—पाक विभाजन में मारा गया है लेकिन इसका पता उसकी माँ को नहीं है। सिकन्दर मिर्जा रतन की माँ से घर खाली करने के लिए कहता है कि उसे घर पाकिस्तान सरकार ने आवंटित कर दिया है इसमें वह रह सकती है। रतन की माँ यह सुन उखड़ जाती और कहती है—

रतन की माँ: एलाट—पलाट में नहीं जाणदी..... ऐ मेरा घर है.....

सिकन्दर मिर्जा: ये कैसे हो सकता है।

रतन की माँ: मैं किदरी नई जाणां। मैं तौ इत्थे ही रवांगी.....

सिकन्दर मिर्जा: भई आप तो समझिए कि अब यहाँ पाकिस्तान में कोई हिन्दू नहीं रह सकता।⁴

इस पूरे पारिवारिक संवाद में अद्भुत द्वन्द्व है। सच को जानते हुए भी उससे इनकार सहानुभूति के बावजूद स्वार्थ का अन्तर्द्वन्द्व उभर कर सामने आता है। आये हुए शरणार्थी परिवार की पीड़ा और अपनों से बिछड़ने की मार्मिक पीड़ा का रूप रतन की माँ में दिखता है।

रतन की माँ घर खाली करने से साफ मना कर देती है। रतन की माँ खाली एक मुस्लिम परिवार के साथ एक छत के नीचे रहने को तैयार है। सिकन्दर मिर्जा का परिवार इस घटना से डर गया है क्योंकि विभाजन के बाद विस्थापित हुए शरणार्थियों की क्या दशा है वह अच्छी तरह जानते हैं कि कैसे शरणार्थी कैप में भूख और तंगहाली ने लोगों को चोर, लुटेरा और भिखमंगा बना दिया है। इस पूरे अमानवीय वातावरण को लेखक ने नाटक में बहुत अच्छे से दर्शाया है। रतन की माँ में हिन्दू—मुस्लिम समन्वय दिखा लेखक ने दिखाया है कि इतनी बड़ी घटना के बाद भी कुछ लोगों में भ्रातृत्व, स्नेह, भाईचारा रूप विद्यमान हैं।

सिकन्दर मिर्जा डरते हैं कि अगर रतन की माँ घर में रही तो कहीं उनसे यह घर छिन न जाए। वह रतन की माँ को घर से निकालने के लिए कसटोडियन अधिकारियों के चक्कर लगाता है और उसका लड़का जोवेद भी रतन की माँ मौत के घाट उतारने के लिए अपराधी पहलवान से कह चुका है। रतन माँ को मारने की बात सिकन्दर मिर्जा अपनी बीबी हमीदा बेगम को बताता है तो वह इस बात के लिए तैयार नहीं होती है वह कहती है कि—

हमीदा बेगम: नहीं नहीं आपको मेरी कसम ये न कीजिए। उसने हमारा

बिगाड़ा ही क्या है।

सिकन्दर मिर्जा : बेगम एक कॉटा है जो निकल गया तो जिन्दगी भर के लिए आराम ही आराम है।

हमीदा बेगम : नहीं नहीं तुम्हें बच्चों की कसम ये मत करवाना।⁵

इस संवाद में मिर्जा के वे सारे मत हैं जो आमतौर पर घृणा और भय का विस्तार करते हैं। अन्त में वही होता है जो हमीदा बेगम चाहती है। मिर्जा का दिल भी नम होता है वह नियति मान सहज स्वाभाविक हिस्सा मान मनुष्यता भी करते हैं। सहिष्णुता और सेवा का भाव रतन की माँ के अन्दर भरा पड़ा है। इस भाव को लेखक ने स्थान—स्थान पर दिखाया है सुबह जब तन्नो आवाजी लगाती है दादी माँ— सुनिये दादी माँ

तो रतन की माँ ऊपर से ही असीसते हुए नीचे उतरती है— “आयी बेटि तू जुग—जुग जीवेम मैं जादवी तेरी आवाज सुक्दी आं..... मनुं लगदा हय कि मैं जिन्दा हां.....”। वह उसी माँ की तवीयत के बारे पूछती है और फिर बारीक सी कोमल बात आती है—

रतन की माँ: कल रात किस दे कन विच दर्द हो रिआसी वह बताती है अम्मा के कान में था इस पर कहती है कि—

रतन की माँ: तौ फिर मेरे तौ दवा लै लेंदी ऐ छोटे—मोटे इलाज ते मैं खुद कर लेंदी हौं।

अब बात आती है उस पड़ोसी जो नया आया है उसे कोयले की आवश्यकता है इसके लिए तन्नो दादी से कोयले माँगती है।

तन्नो: दादी, पड़ोस के मकान में हिदायत हुसैन साहब हैं न।

रतन की माँ: केणे मकान विच, गजाधर वाले मकान विच?

तन्नो: जी हाँ एक टोकरी कोयले की आप कहें तो

रतन की माँ: लै भला ऐ वी काई पूछन दी गल है एक नहीं दो टोकरी दे देवो।¹⁸

हमीदा बेगम के दर्द से लगा कर पड़ोसी को एक टोकरी के बजाय तक इसके भीतर भी यह कोई पूछने की बात है कैसी पारिवारिक आत्मीयता? 10—12 साल की नई आयी लड़की पड़ोसी की पहचान “हिदायत हुसैन साहब” के रूप में लखनवी तहजीब का और रतन की माँ सहायता करने की पहल में इसी बीच हमीदा बेगम कहना ‘आदाब बुआ’। इस पर रतन की माँ की प्यारी सी झिड़की “बेटि तू मेरी पुत्तर दे बराबर है..... माँ जी बुलाया कर मैनु”।¹⁹

इन सभी संवादों में असगर वजाहत यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि नये सम्बन्ध कायम हो रहे और पुराने सम्बन्धों को भुलाने की कोशिश वह संस्कारों को साथ लेकर। विस्थापन के बाद पुनर्स्थापन यह इतिहास के विरुद्ध मनुष्य की रचनात्मक पहल है। मिर्जा का तो परिवार सहित देशान्तर हुआ है परन्तु रतन की माँ को अदृश्य विस्थापन “हृदय के नये ट्रांसप्लांट की तरह है। ऊपर के छोटे—छोटे संवादों के जरिए लेखक ने प्रेम सौहार्द, करुणा, सेवा झलक दिखाई है जो विभाजन के बाद भी लोगों में विद्यमान है।

रतन की माँ जिसे पूरा मोहल्ला माई कहता है अपने व्यवहार और उँचें विचारों के कारण सिकन्दर मिर्जा के परिवार की सदस्य कब बन जाती है किसी को पता ही नहीं चलता है। माई लाहौर में रहने वाली अकेली हिन्दू है जो कट्टरवादी मुस्लिमों की आँखों की किरकरी बनी हुई है। वे कहते हैं कि जब तक माई लाहौर में है तब तक लाहौर पाक नहीं है। माई का रोज रावी स्नान पूजा करना पहलवा जैसे लोगों चुभती है। कट्टरवादियों की संख्या माई के चाहने वालों के सामने दिन पर दिन कम होती गई। प्रेम, कड़वाहट, सौहार्द के बीच नाटक में पाकिस्तान के मशहूर शायर नासिर काजमी की शायरी सभी को गुदगुदाती है। दीवाली आती है रतन की मिर्जा से दीये जलाने और पूजा करने की इजाजत माँगती है तो वे कहते हैं : सिकन्दर मिर्जा : ये भी कोई पूछने की बात है? खुशी से वो सब कुछ कीजिए जो आप करती थी। हमें कोई एतराज नहीं है क्यों बेगम।

हमीदा बेगम : बेशक”।²⁰

लेखक ने कितना सुन्दर चित्रण किया दो मजहबों के बीच आपसी प्यार और भाइचारे की। इस आत्मीयता और पारिवारिकता में दो तरफा सम्बन्धों के दृढ़ होने की अनकही सूचना मिलती है अब यह ऐसा घर बन गया है जहाँ नीचे की मंजिल में ईद मनायी जाती है। और ऊपर की मंजिल में दीये जलाये जाते हैं। यह बात कठमुल्लायों और पहलवान जैसे लोगों को चुभती है।

माई दिवाली का त्यौहार सिकन्दर मिर्जा के परिवार के साथ मिलकर मनाती है वे मोहल्ले के सभी लोगों को दिवाली की मिठाई देती है सभी माई को मुबारक बाद देते हैं। पहलवानी भी वहाँ आता है वह सभी को दिवाली मनाने के लिए दुत्कारता है। नासिर काजमी की शायरी और मौलवी का साथ माहौल को खुशनुमा बना देता है रतन की माँ की तरह ही मौलवी का चरित्र भी है वे इस्लाम की उदारता और सहृदयता का प्रतीक है मौलाना पहलवान को बताते हैं कि सच्चा धर्म क्या होता है?

मौलाना : भई हदीस शरीफ हैं कि तुम दूसरों के खुदाओं को बुरा न कहो, ताकि वह तुम्हारे खुदा को बुरा न कहें, तुम दूसरों के मजहब को बुरा न कहो, ताकि वह तुम्हारे मजहब को बुरा न कहें।²¹

एक ओर सबके दुःख सुख में भाग लेने के कारण सारा मोहल्ला रतन की माँ को प्यार करने लगता है पहलवान सिकन्दर मिर्जा को डराता धमकाता है कि वह माई को हिन्दुस्तान के शरणार्थी शिविर पहुँचा नहीं तो अच्छा नहीं होगा यह बात जब माई को पता चलती है तो वह अपनी পেटी उठाकर दिल्ली जाने लगती है रास्ते में नासिर रोकता है तब माई कहती है कि मेरा लाहौर च रहणा कुछ लोगों नूं पंसद नहीं है, मिर्जा साहब नूं धमकियाँ दिक्ती जा रइयां ने कि ओ मैन्नू अपने घर तो कड़ड देग.....राह जांदे उनाते फिकरे कसे जांदे ने उन्हां दी कुडी तन्नो मैं जांवा।

नासिर : तुम अगर यहाँ न रही तो हम सब नंगे हो जायेंगे माई नंगा आदमी नंगा होता है, न हिंदू होता है और न मुसलमान। (हिदायत माई का सूटकेस उठा लेते हैं)¹²

नासिर के साथ-साथ मिर्जा का पूरा परिवार घर के एक आत्मीय बुजुर्ग सदस्य की तरह उसे जाने से रोकता है वे सब कहते हैं कि आप कुछ लोगों की बातों पर ध्यान न दो कुछ को मारने की सुपारी पहलवान को दिया था वही कहता है

जावेद : 'दादी तुम्हें मेरी कसम है, अगर तुम कहीं गयी।'¹³

और वह उनकी पेटी कमरे में रख कर आता है।

एक दिन रतन की माँ का देहान्त हो जाता है अलीमुद्दीन की चाय की दुकान पर जाकर जावेद बहुत दुःख से यह खबर देता है यह खबर सुन सभी मिर्जा के घर जुट जाते हैं अब सवाल उठता है माई की अन्तिम यात्रा क्योंकि शहर में दूसरा कोई हिन्दू नहीं है जो बताये कि यह रस्म कैसे हो श्मशान नहीं है यह प्रस्ताव भी आता है कि दफना जाये। तभी मौलवी साहब भी वहाँ आ जाते हैं वे सभी की बातें सुन कर कहते हैं –

मौलाना : 'देखिए वो मर चुकी है। उसकी मय्यत के साथ आप लोग जो सुलूक चाहें कर सकते हैं उसे चाहें दफन कीजिए चाहें टुकड़े-टुकड़े कर डालिए, चाहे गर्क आबे कर दीजिए..... इसका अब उस पर कोई असर नहीं पड़ेगा..... उसके ईमान पर कोई आँच नहीं आएगी..... लेकिन आप उसके साथ क्या करते हैं, इससे आप के ईमान पर जरूर फर्क पड़ सकता है।'¹⁴

काफी सोच विचार कर मौलाना कहते हैं :-

मौलाना : देखिये श्मशान अगर नहीं रहा तो रावी का किनारा तो है हम महरुमा की लाश को रावी के किनारे किसी गैर आबाद और सुनसान जगह ले जाकर सुपुर्द-ए-आतिश कर सकते हैं।'¹⁵

सब लोग रस्म को हिन्दू रीति से करने के लिए अपने-अपने अनुभव से योगदान देते हैं। अब सवाल उठता है कि माई के शरीर को आग कौन लगायेगा? हिन्दुओं में यह काम बड़ा लड़का करता है वह तो यहाँ है नहीं तो समस्या पैदा हो जाती है। नासिर सुझाव देते हैं – " सिकन्दर मिर्जा साहब को लड़के बराबर मानती थी ये काम इन्हीं को करना चाहिए।'¹⁶

माई की अन्तिम यात्रा में साथ जाने वाले असली घी और हवन सामग्री भी तैयार हो जाती है और यह भी राम नाम सत्य है यही तुम्हारी गत है कहते हुए जाना है। सब तय होने के बाद तैयारी की देकर मौलवी साहब नमाज अदा करने बात करते हैं और एक घंटे आने की बात कर के चले जाते हैं। सभी काम में लग जाते हैं। पहलवान अपने दोस्तों के साथ गुस्से में भरा कोने में बैठा हुआ सब देख सुन रहा था मौलवी के जाते ही गुस्से में उबलते हुए वह दोस्तों के साथ चला जाता है।

नाटक के अन्तिम दृश्य में राम नाम सत है के साथ अर्धी उठाते हैं रात का वक्त है। मौलाना मस्जिद में नमाज पढ़ रहे हैं कोने में लैम्प जल रहा है। धीरे-धीरे एक तरफ ढाँटा बाँधे एक आदमी घुसता है कोने में छिप जाता है मौलाना मुढ़ना चाहते हैं कि लैप बुझा दिया जाता है। कौन?

ऐ खुदा का घर है यहाँ ढाँटे बाँधने की क्या जरूरत है वो तो सब देख ही रहा है। बचाओ बचाओ।

(सिराज उनका मुँह दबा लेता है पहलवान मौलाना पर कई हमले करता है..... वे चाकू साफ करते हुए बाहर निकल जाते हैं)¹⁷

कुछ क्षण बाद मंच पर सिर झुकाये दो पात्र आते हैं और वारुण गायन के साथ नाटक खत्म होता है। असगर वजाहत ने नाटक में नमाज के बाद मौलवी की हत्या और प्रार्थना के बाद बापू की हत्या का

प्रतिरूप प्रस्तुत किया है। इन दोनों मौतों के जरिए एक और लेखक मानवीय प्रेम और पारस्परिक आदर की पराकाष्ठा दिखाता है और दूसरी ओर घृणा और क्रूरता की चरम सीमा जिसे हम समाज में पालते या पलने के लिए छोड़ देते हैं जो लोग दूसरे धर्म के लोगों का कत्ल करते हैं वे ही असल में हमारे धर्म के भी हत्यारे हैं पहले हम जिन प्रवृत्तियों से खुद न गुजरने के कारण उनकी उपेक्षा कर देते हैं वे दर असल ऐसी पशु प्रवृत्तियाँ हैं जो अन्ततः न अपना धर्म देखती न ईश्वर न इबादत, न धर्मगुरु, न भाषा।

नाटक विभाजन का स्याह पक्ष तो उजागर करता ही है साथ ही इन्सानियत की कहानी भी कहता है।

वजाहत ने कथावस्तु को नाटकीय और मानवीय स्वरूप प्रदान किया है। वे धर्म का नितांत विरोध नहीं करते बल्कि यह बताते हैं कि समाज विरोधी तत्व किस तरह धर्म से फायदा उठाते हैं। पात्रों का विकास तार्किक है तथा नाटक में पंजाब और लखनऊ की संस्कृतियों का मानवीय स्तर पर समागम अत्यंत संवेदनशील है। बुद्धि जीवियों और साधारण जनता के बीच का जो संबंध होना चाहिए वह नाटककार ने मौलवी कवि और जनसाधारण का प्रतिनिधित्व में करने वाले पात्रों के माध्यम से उभारा है। मस्जिद में मौलवी की हत्या का प्रतीक है जिसके माध्यम से स्वार्थी तत्वों द्वारा धर्म तथा जीवन के महान मूल्यों को नष्ट कर देने की बात कही गई है।

I UnHk %

1. डॉ० मंजुला दास, प्रसादोत्तर नाटक में राष्ट्रीय चेतना, प्रथम संस्करण 1991, पृ०सं० 5 प्रकाशक : पराग प्रकाशन 3/144, कर्ण गली विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-32
2. असगर वजाहत-जिस लाहौर नइ देख्या ओ जन्मयाई नइ, वाणी प्रकाशन, पृ०सं० 9, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली- 110002
3. वही, पृ०सं० 11
4. वही, पृ०सं० 15
5. वही, पृ०सं० 36
6. वही, पृ०सं० 32
7. वही, पृ०सं० 33
8. वही, पृ०सं० 33
9. वही, पृ०सं० 33
10. वही, पृ०सं० 53
11. वही, पृ०सं० 60
12. वही, पृ०सं० 66
13. वही, पृ०सं० 70
14. वही, पृ०सं० 75
15. वही, पृ०सं० 76
16. वही, पृ०सं० 78
17. वही, पृ०सं० 80-81



r l yhek u l jhu dh vkRedFkk e fpru d ey ç'u iitk frokjh*

“तसलीमा की आत्मकथा पुरुषवादी पूर्वाग्रहों, धार्मिक कट्टरतावाद तथा सामाजिक जड़ता के खिलाफ एक अकेली स्त्री का जिहाद है।”¹

जब हम बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन की आत्मकथा से गुजरते हैं तब अरुण माहेश्वरी का उपरोक्त कथन निश्चित तौर पर सत्य प्रतीत होता है। तसलीमा की आत्मकथा न केवल समय सापेक्षता बल्कि समाज की विद्रूपता के चित्रण के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके साथ ही इस आत्मकथा के माध्यम से प्रस्तुत विविध प्रश्न समाज की नब्ज पकड़ने में हमारी सहायता करते हैं। वस्तुतः आत्मावलोकन और आत्मविश्लेषण के साथ सामाजिक यथार्थ के चित्रण में तसलीमा की आत्मकथा का सानी ढूँढना अंधरे में खोई हुई किसी वस्तु को खोजने जैसा है।

सात भागों (क्रमशः— मेरे बचपन के दिन, उत्ताल हवा, द्विखंडित, वे अंधेरे दिन, नहीं कहीं कुछ भी नहीं, मुझे घर ले चलो, निर्वासन) में लिखित आत्मकथा में समाज के लिए वैचारिक ताजगी से भरपूर तमाम ऐसे मुद्दे हैं जिसे कुछ तथाकथित धार्मिक लंबरदारों और नेताओं ने पूरी प्रतिबंधित कर रखा है। वे लिखती हैं, ‘मेरी नजर में अपने मन को सड़े-गंधाते पुराने कुँए से बाहर निकाल लाना ही सच्ची आधुनिकता है।’² एक तरफ उनके लेखन में स्त्रियों के बधिया समाज को आवाज दी गई है, तो दूसरी तरफ धर्म की तमाम व्याख्याओं के आधार पर स्त्रियों के लिए सीमित किए गए सामाजिक दायरों का जिक्र है। उनकी विचारों के प्रस्तुतीकरण की शैली को उसकी उग्रता और कटाक्षों की तीव्रता के कारण, नाओमी वुल्फ के शब्दों में ‘जेंडर क्वेक’ कहा जा सकता है। तसलीमा की आत्मकथा में चिंतन के मूल प्रश्न निम्नवत् हैं :—

vfHk0;fä dh Lor=rk vkj lekurk तसलीमा आत्मकथा में सत्य को हथियार बनाती हैं। वे वर्जना और सीमा के पार देखने का प्रयास करती हैं और पूरी कोशिश करती हैं कि समाज भी किसी दायरे में रहकर ना सोचे। इस दायरे को तोड़ने के लिए उनके अनुसार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता विशेष महत्वपूर्ण हो सकती है। भारत और बांग्लादेश ही नहीं बल्कि वह समस्त विश्व में इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की पक्षधर हैं। उनका मत आदम देमाची (युगोस्लाविया सखारोव पुरस्कार विजेता) के मत से कितना मिलता है—‘अगर तुम जुबान से जो कहते हो कि तुम आजादी के लिए जंग कर रहे हो लेकिन आजादी के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को तैयार नहीं हो तो या तो तुम अपने से झूठ बोल रहे हो या दूसरों से झूठ बोल रहे हो।’³

वे विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में इस हद तक विश्वास करती हैं कि अपने विरोधी को भी उनके विरुद्ध बोलने की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने को तत्पर हैं। उनका यह मत ईवलिन स्ट्रेसर हॉल के उस मत के समान है जिसके अनुसार, ‘मैं तुम्हारे विचार से सहमत नहीं हूँ, पर मैं मरते दम तक लड़ूंगी उसे व्यक्त करने के तुम्हारे अधिकार के लिए।’⁴ तसलीमा अपने जीवन में भी स्वयं की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए कोर्ट तक जाती हैं और इस स्वतंत्रता से किसी प्रकार का समझौता न करने के कारण ही देश त्याग करने पर मजबूर कर दी जाती हैं। उनका यह संघर्ष आज भी जारी है।

वे स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता की भी पक्षधर हैं क्योंकि स्वतंत्रता बिना समानता के या समानता बिना स्वतंत्रता के संभव नहीं है। इसीलिए समाजवाद की अवधारणा की समर्थक और पूंजीवाद के अंत की वे प्रबल आकांक्षा करती हैं। लोकतांत्रिक मूल्यों के नाम पर चलने वाले राष्ट्र में व्याप्त असमानता से खिन्न होकर वे लिखती हैं, ‘इंसान की तो बस एक ही जात होती है, फिर भी इनमें कितना-कितना फर्क !... किसी के लिए जिन्दगी मौज मजा खुशियों की छाँव है, किसी के लिए जहरबुझी असहनीय !’⁵

*शोधार्थी, हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय

/kfed dêjrk vkj :f<okfnrk dh fojk/kh ॥ धर्म राष्ट्र के लिए अफीम की भांति कार्य करता है। तसलीमा इस अफीम को नष्ट करने की सलाह देती हैं। वे ऐसे धर्म के बहिष्कार का समर्थन करती हैं जो किसी भी प्रकार की समानता की अवहेलना करता हो, जो स्त्री को दोयम दर्जे का मानकर उसे निरंतर प्रताड़ित होने की परिस्थितियां गढ़ता हो या जो आम लोगों को दिग्भ्रमित करने का काम करता हो। भले ही संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को स्वीकृत 'अंतर्राष्ट्रीय मानव अधिकार घोषणा पत्र' की धारा-18 में कहा गया, 'प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अंतःकरण, धर्मोपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है। इसमें धर्मपरिवर्तन, धर्मोपदेश, व्यवहार, पूजा और अनुष्ठान की स्वतंत्रता सम्मिलित है।'⁶ किन्तु तसलीमा इस स्वतंत्रता के साथ धर्म की आलोचना करने की स्वतंत्रता का भी कुछ इस प्रकार समर्थन करती हैं, 'अगर इंसान को धर्म के गीत गाने का अधिकार है, उसी तरह धर्म की समालोचना करने का भी अधिकार है।'⁷

तसलीमा ने धर्म ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया और पाया कि सभी धर्म पितृसत्तात्मक मानसिकता वाले हैं जिसमें स्त्रियों को खोखले सम्मान के एक खांचे के अन्दर कैद कर दिया गया है। इसी कारण तसलीमा विश्व के सभी धर्मों की आलोचना करती हैं विशेषकर इस्लाम धर्म की और कुरान को 'पतियों के दल में शामिल पुरुष की रचना' कहती हैं। धर्म के नाम पर बनाये गये बेबुनियाद धार्मिक नियम मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक हैं। उनकी आत्मकथा के प्रत्येक भाग में हम उन्हें धार्मिक नियमों का उल्लंघन करते हुए देख सकते हैं। कुरआन न पढ़ना, अल्लाह की सत्ता पर प्रश्न उठाना, मुल्ला-मौलवियों के विरुद्ध लेखन आदि तसलीमा ने काफी पहले ही प्रारंभ कर दिया था क्योंकि उनका मानना है किसी पर धर्म थोपना और धर्म के नाम पर अत्याचार करना मानवाधिकार का उल्लंघन है। व्यक्ति विशेष को अपनी इच्छानुसार धर्म चुनने और उसका पालन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।⁸

uLyokn vkj lKçnkf; drk dk fojk/k ॥ सामान्यतः व्यक्ति की प्रजाति और जैविक संरचना के आधार पर होने वाली हिंसा, विभेद और अत्याचार को नस्लवाद के रूप में देखा जाता है। तसलीमा आत्मकथा के पांचवे भाग में इसी नस्लवाद की समस्या को पेश करती हैं। यूरोप में प्रवास के दौरान उन्हें और उनकी ही तरह अश्वेत लोगो को नस्ल के आधार पर कई प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। वे इस पर कटाक्ष करते हुए लिखती हैं, 'श्वेतांग मूर्ख सांवले रंग की बुद्धि को कभी स्वीकार नहीं करते।'

तसलीमा साम्प्रदायिकता को कुछ इस प्रकार परिभाषित करती हैं, 'धर्म के आधार पर यह जो इंसान को किसी सम्प्रदाय में शामिल कर लेना, अलग कर देना, यह मामला और यह मानसिकता ही तो सांप्रदायिक है।'⁹ तसलीमा साम्प्रदायिकता और उसके कारण उत्पन्न विसंगतियों की स्वयं गवाह रही हैं। चाहे 1971 का स्वतन्त्रता संग्राम हो या बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद हुई घटनाएं, इन सबने तसलीमा को सांप्रदायिक वैमनस्य के दुखद अंत से परिचित कराया। इसलिए वह बार-बार सांप्रदायिक भेदभाव पर अपनी कलम चलाती रही हैं। उनका मत है, 'साम्प्रदायिकता के पीछे धर्म नहीं बल्कि राजनीति होती है और इसी क्षेत्र में साम्प्रदायिकता का ग्राफ, उस क्षेत्र के राजनैतिक समीकरणों के साथ ऊपर-नीचे होता रहता है।'¹⁰ डॉ याकूब मसीह भी लिखते हैं, 'जब तक सेक्युलरिज्म का अर्थ धर्मों का सह अस्तित्व माना जायेगा, तब तक भारत में धार्मिक तनाव बना रहेगा, जिससे राष्ट्रीयता के भाव को धक्का पहुँचता है। इसलिए आवश्यक है कि सेक्युलरिज्म का अर्थ या तो धर्म निरपेक्षता या इहलौकिकता समझा जाय।'¹¹ असगर अली इंजीनियर साम्प्रदायिकता की त्रासद परिणति को इस रूप में देखते हैं, 'साम्प्रदायिकता का चरम फासीवाद होता है।'¹² fookg lLFkk dk vkfpr; &vukfpr; ,o ;ku Lor=rk ॥ 'घर-गृहस्थी के बोझ से स्त्रियाँ बासी गुलाब की तरह हो जाती हैं। हाथ लगाते ही झर पड़ेंगी -कुछ इस तरह से।'¹³ तसलीमा आत्मकथा में इस प्रकार के कथनों का उपयोग कर विवाह के औचित्य पर भी सवाल खड़ा करती हैं। बाल्जाक ने भी कहा है, 'विवाहित महिला वह गुलाम है जिसे सिंहासन पर बिठाया जा सके।'¹⁴ इस सम्बन्ध में वह भुक्तभोगी होने के कारण विवाह से उत्पन्न समस्याओं को और अधिक गहराई से समझ सकती हैं। उनका विचार है कि विवाह केवल औरत को बांधे रखने का एक साधन है जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि दो युगलों में प्रेम है तो वे विवाह के बंधन में बंधे बिना ही सुखी जीवन बिता सकते हैं। उन्हें किसी सामाजिक मुहर की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन जबरदस्ती विवाह के बंधन में बांधकर दो लोगों में प्रेम नहीं पैदा किया जा सकता। वे लिखती हैं, 'मुझे तो यह विवाह नामक शब्द ही अजीब भुतहा काण्ड लगता है। विवाह क्या सच में किसी को अपना बना लेता है या विच्छेद किसी को पराया कर सकता है?'¹⁵ विवाह वास्तव में औरत को बधिया

बनाने का एक सरल माध्यम है जिसके बल पर पुरुष अपना वर्चस्व बनाए रखता है। आस्ट्रेलिया की लेखिका जर्मेन ग्रेयर अपनी पुस्तक 'बधिया स्त्री' में कहती हैं, 'हमारा समाज सिर्फ उन्ही संबंधों को मान्यता देता है और पूरी सुविधाओं के साथ प्रतिष्ठित करता है जो बाँधने वाला है, सहजीवी और आर्थिक रूप से निर्धारित है। वैधानिकता, सुरक्षा, स्थायित्व पुश्तों का सहारा लेते ही सबसे उदार, कोमल, स्वतःस्फूर्त सम्बन्ध गलकर स्वीकृत साँचे में ढल जाते हैं। विवाह कोई नौकरी नहीं है जैसा कि वह बन गया है।'¹⁶

तसलीमा इसी क्रम में 'यौन स्वतन्त्रता' का भी मुद्दा उठाती हैं। उनका मत है कि स्त्री को अपने यौन संबंधों और गर्भ धारण करने या न करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस मामले में समाज का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। समस्त प्रतिबन्ध स्त्रियों के लिए ही हैं। स्त्री को सदैव अपने सतीत्व को ही बचाने की सलाह दी जाती है। वे लिखती हैं, 'पान में अगर चूना मौजूद न हो, तो लोग बाग उसे फीका और बेरंग-बेस्वाद मान लेते हैं, वैसे औरत को, औरत में कुछ भी इधर-उधर हो जाए, तो उसे बर्बाद मान लेते हैं। मर्द कहते हैं कि औरत की मूल संपदा का नाम है— सतीत्व !'¹⁷

ukjhokn dh çcy leFkd ॥ नारीवाद एक राजनीतिक विचार है जो समाज से स्त्री के लिए न्याय की मांग करता है और लैंगिक विभेद की मनोवृत्ति को समूल नष्ट करना चाहता है। अपने पिता के द्वारा माँ पर किये जा रहे अत्याचारों ने तसलीमा को एक उग्र नारीवादी बनाने में मुख्य भूमिका निभाई। तसलीमा कहती हैं, 'केवल मेरी माँ ही दमित या प्रताड़ित नहीं की जा रही थीं बल्कि मैं अपने आस-पड़ोस में भी यह खेल होता देखती थी, वास्तव में औरत हर जगह दबाई और वंचित की जाती रही है। यह सब सत्ता, धर्म, परंपरा, संस्कृति और रीति सब पर पुरुषों के प्रभुत्व के कारण है।'¹⁸

बाईस वर्ष की आयु में तसलीमा जब स्त्री रोग विशेषज्ञ बनी तो वह हिन्दू और मुस्लिम गरीब स्त्रियों से मिली और इस बात से रुबरू हुई कि ये औरतें किस तरह दिन रात अपने पति, परिवार, रिश्तेदारों और समाज के द्वारा प्रताड़ित की जा रही थीं। इस बात का उनपर बहुत आधिक प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्त्रियों के जीवन की घटनाओं और उनके दर्द को अपने लेखन में स्थान दिया और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी वक्ता बन गईं। इस सम्बन्ध में वे कहती हैं, 'मैं समूची मर्द जात से जंग भी नहीं कर रही हूँ। मैं तो सिर्फ समाज के सड़े-गले नियमों से लड़ रही हूँ। जो नियम औरतों को गुलाम बनाते हैं, उसे भोग की सामग्री बनाते हैं, उसे 'सेक्स का माल' समझकर, इस्तेमाल करते हैं, औरत को बूँद भर भी मर्यादा नहीं देते, मैं इन मुद्दों पर समाज, धर्म और देश की साजिश के खिलाफ प्रतिवाद कर रही हूँ।'¹⁹

तसलीमा आत्मकथा में यह दिखाने का प्रयास करती हैं कि धर्म में या धार्मिक ग्रंथों में स्त्रियों को लेकर जो विसंगतियाँ रही हैं, उसने उन्हें बार-बार इन स्त्रियों के अधिकारों के लिए लिखने और संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। परम्परा में स्त्रियों को लेकर रूढ़ियाँ परत-दर-परत इस तरह से समाज में व्याप्त हो गयीं कि उन्हें ही वास्तविकता माना जाने लगा। नारिवादियों के समझौतावादी दृष्टिकोण के स्थान पर तसलीमा स्त्रियों को वह सब कुछ प्राप्त करते हुए देखना चाहती हैं, जिस पर एक मनुष्य होने के नाते उनका अधिकार है। इस सन्दर्भ में वे लिखती हैं, 'जो कुछ मेरा है, वह मैं शत-प्रतिशत चाहती हूँ। जहाँ बेटों के सृजन में एक शुक्राणु की जरूरत होती है, वहाँ बेटी गढ़ने में आधे शुक्राणु और आधे डिम्बाणु से काम नहीं चलता। फिर संपत्ति में आधा-अधूरा क्यों?'²⁰ स्त्रियों की सुरक्षा, स्वतंत्रता आदि में जो सबसे बड़ी रुकावट है वह धर्म और पितृसत्ता है इसलिए उनका मत है कि 'हमें अँधेरे में रखने के लिए पुरुषों ने उन धर्मग्रंथों को ईश्वर का आदेश पत्र कहकर प्रकाशित किया है।'²¹ एंगल्स भी लिखते हैं, 'मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज का अवतरण वास्तव में औरत-जाति की सबसे बड़ी ऐतिहासिक हार थी।'²²

fuokf l rk vkj foLFkkf i rk dh i{k/kj ॥ तसलीमा ने बचपन से ही अपने देश के लोगों को बेघर होते देखा था। उसके पीछे सांप्रदायिक और राजनीतिक जो भी कारण रहे हों किन्तु इससे लाखों लोगों को अपने देश से विस्थापित हो जाना पड़ा—चाहे वह 1971 बांग्लादेश मुक्तियुद्ध हो या बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना हो लाखों लोग अपनी मातृभूमि को छोड़कर जाने के लिए विवश हो गये। इसलिए वह बार-बार सांप्रदायिक राजनीति का विरोध करती हैं। आत्मकथा के साथ अन्य रचनाओं में भी वे उनके और उन जैसे लोगों के बेघर और पहचान विहीन होने का मुद्दा उठाती हैं। अपने लेखन के कारण देश और समाज से बहिष्कृत तसलीमा ने आत्मकथा में उन बुनियादी कारणों को ढूँढ़ने का प्रयास किया जो किसी को विस्थापित हो जाने के लिए उत्तरदायी हैं। तसलीमा के मामले में तो यह उनके लेखन के कारण हुआ पर उन हजारों बांग्लादेशी हिन्दुओं का

क्या जो बांग्लादेश की आजादी के संघर्ष और बार-बार हो रहे सांप्रदायिक दंगों के कारण देश छोड़ने को बाध्य हुए ? तसलीमा शारीरिक, भौतिक, सामाजिक और भावनात्मक असुरक्षा से घिरे लोगों के इस यथार्थ को अपनी रचनाओं में पेश करती हैं और आत्मकथा में पर्याप्त साक्ष्यों के साथ इन पर सवाल खड़ा करती हैं।

इस क्रम में वे उन स्त्रियों का भी मुद्दा उठाती हैं जो घर, परिवार और समाज के बीच रहते हुए भी खुद को बेघर महसूस करती हैं। वह अपनी पुस्तक 'औरत का कोई देश नहीं' में लिखती हैं, 'हाँ, मैं विश्वास करती हूँ, औरत का कोई देश नहीं होता। देश का अर्थ अगर सुरक्षा है, देश का अर्थ अगर आजादी है तो निश्चित रूप से औरत का कोई देश नहीं होता। धरती पर कोई औरत आजाद नहीं है, धरती पर कहीं कोई औरत सुरक्षित नहीं है।' ²³ वे यह स्वीकार करती हैं कि, 'निर्वासन एक निहायत ही बुरा सपना है।' ²⁴

/ke:v kj fir' l' ūkk vk/kkfjr jkt ufr dh fojk/kh ॥ तसलीमा आत्मकथा में धर्म प्रेरित राजनीति पर प्रहार ही नहीं करती बल्कि सत्ता लोलुप राजनीतिज्ञों की कलई खोलती हैं। उनका मानना है कि 'इंसानों के सन्दर्भ में अनुकूल परिवेश के अभाव के कारण प्राकृतिक नहीं हैं। अभाव का कारण है—इन्सान द्वारा रची इंसानों की कुत्सित राजनीति।' ²⁵

देश और राष्ट्र को दिशा देने वाली राजनीति को हर प्रकार की संकुचित मानसिकता से आगे निकालकर जनता को समानता और स्वतन्त्रता देने की वे हिमायत करती हैं। वे लिखती हैं, 'सभी राजनीतिक दलों का उद्देश्य होता है छल-बल-कौशल से बस सत्ता हथिया लो। शासन का आनंद भोग करना ही राजनीतिक लोगों का चरम उद्देश्य होता है। देश की ऐसी राजनीति मुझे चिंता के दलदल में डुबाए रही।' असगर अली इंजीनियर भी कुछ इसी प्रकार की चिंता प्रकट करते हुए लिखते हैं, 'पश्चिमी सहित दुनिया के सभी देशों में धर्म, विशेषकर एशियाई और अफ्रीकी देशों में, धर्म ही नैतिक घटनाक्रम की दिशा तय करता है।' ²⁶ ऐसे में जब सरकार धर्म से निर्देशित होकर चलने लगती है तो क्या होता है उसके विषय में तसलीमा का मत है, 'पश्चिम की राजनीतिक और सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था, सुनियोजित शिक्षा व्यवस्था इन्सान को आत्मनिर्भर होने की हजारों सुविधा देती है... जबकि दुनिया के हजारों दरिद्र और धर्म पीड़ित देशों में इन संभावनाओं की करुण मौत हो जाती है।' ²⁷

जब राजनीतिक और प्रशासनिक अधिकार रखने वाले लोगों के उद्देश्य धर्म प्रेरित हो जाते हैं तो वे जनता के सन्दर्भ में नैतिक दृष्टि खो बैठते हैं। इस स्थिति में समाज और राष्ट्र के सुधार की समस्त संभावनाओं का अंत हो जाता है। इसपर कटाक्ष करते हुए तसलीमा लिखती हैं, 'कुनैन तो बुखार ठीक कर देती है पर कुनैन को कौन ठीक करेगा।' ²⁸ राष्ट्र को दिशाहीन बनाने में सरकारों की साजिश धर्मप्रेरित होती है। ऐसे में शासन का कोई भी रूप चाहे वह राजतन्त्र हो या प्रजातंत्र फासीवाद में बदल जाता है।

ekuorkoknh fopkj ॥ अपने उपन्यास 'लज्जा' में तसलीमा लिखती हैं, 'चलो धर्म का दूसरा नाम मानवतावाद रख दें।' यथार्थवादी होने के कारण तसलीमा अंधविश्वास और आध्यात्मिकता जैसी चीजों में विश्वास नहीं करती और जो इनका पक्ष लेते हैं उनकी भी कड़ी आलोचना करती हैं। वे 'शांति पूर्ण सहअस्तित्व' की प्रबल समर्थक हैं। विश्व के सभी मनुष्यों को वे एक समान दृष्टि से देखती हैं, 'जितना-जितना मैं इंसानों को देखती हूँ, उतना ही मुझे लगता है कि दुनिया के सभी लोग एक जैसे हैं। उन लोगों का रंग भले ही गोरा-काला-बादामी हो। उन लोगों का धर्म भले ही अलग-अलग हो, भले ही सबकी अर्थनीति, राजनीति, इतिहास, भूगोल अलग हों, लेकिन अनुभूतियाँ बिल्कुल एक जैसी हैं, किसी भी देश के इंसानों की तरह।' ²⁹

mi l gkj ॥ स्पष्ट है कि तसलीमा आत्मकथा में मानवाधिकारों से जुड़े प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करती है और जिस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं वह उनके ही शब्दों में इस प्रकार है, 'मेरा मन कहता था, अर्थहीन जीवन को अर्थपूर्ण बनाने की शक्ति, इन्सान में नहीं रही। इंसान हृद से हृद तक यह कर सकता है कि जितने दिन उसकी काया में प्राण हैं, उतने दिन वह कहाँ से आया है, कहाँ जाएगा, इसकी चिंता-फिक्र छोड़कर, इस क्षणिक जीवन का अमृत रस, आखिरी बूँद तक पीता रहे।' ³⁰ तसलीमा के अनुसार 'बहुत बुरा समय आने पर बस प्रश्न रह जाते हैं, उत्तर नहीं' ³¹ समय सापेक्ष परिस्थितिगत उभरने वाली समस्याओं के निदान, सामाजिक उत्थान के प्रश्नों के उत्तर आदि के सन्दर्भ में तसलीमा की आत्मकथा के विभिन्न भाग सहयोगी हैं। उन्होंने प्रश्नों की जड़ों तक जाकर उनका विश्लेषण करने का प्रयास किया है। तसलीमा के समस्त विचारों में चाहे वह स्त्रीवादी मत हो, या धार्मिक दृष्टि हो या फिर राजनीति से सम्बंधित विचार हों, सबमें उनका मूल उद्देश्य 'मानवतावाद' को स्थापित करना है।

lgk; d xUFk :

1. तसलीमा नसरीन, द्विखंडित, अनुवादक: सुशील गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008
2. असगर अली इंजीनियर : धर्म और साम्प्रदायिकता, वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली, संस्करण-2012
3. तसलीमा नसरीन: उत्ताल हवा, अनुवादक सुशील गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2003
4. तसलीमा नसरीन, मुझे घर ले चलो, अनुवादक : सुशील गुप्ता, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण -2010
5. तसलीमा नसरीन, निर्वासन, अनुवादक-अमृता बेरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014
6. तसलीमा नसरीन, लज्जा, अनुवादक : मुनमुन सरकार, वाणी प्रकाशन-नई दिल्ली, संस्करण -2010
7. तसलीमा नसरीन, औरत का कोई देश नहीं, अनुवादक-सुशील गुप्ता, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2009
8. तसलीमा नसरीन, औरत के हक में, अनुवादक-मुनमुन सरकार, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2008
9. जर्मन ग्रीयर : बधिया स्त्री, अनुवादक -मधु बी जोशी, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण -2005
10. सीमोन द बोउआर, स्त्री उपेक्षिता, अनुवाद प्रभा खेतान, हिंदी पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण-2002

I UnHk %

1. द्विखंडित सम्पादकीय, पृ0	17. द्विखंडित, पृ0 212
2. मुझे घर ले चलो, पृ0 184	18. वहीं, पृ0 53
3. वहीं, पृ0 193	19. वहीं, पृ0 279
4. निर्वासित, पृ0 22	20. वही, पृ0 417
5. वहीं, पृ0 52	21. निर्वासन, पृ0 28
6. https://en.wikipedia.org/wiki/United_Nations_Human_Rights_Council	22. स्त्री उपेक्षिता, पृ0 54
7. निर्वासन, पृ0 192	23. औरत का कोई देश नहीं, सम्पादकीय
8. नहीं कहीं कुछ भी नहीं, पृ0 291	24. निर्वासन, पृ0 98
9. वे अंधेरे दिन, 344	25. मुझे घर ले चलो, पृ0 68
10. धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ0 146	26. धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ0 48
11. वागर्थ, सितम्बर, 2006, पृ0 53	27. मुझे घर ले चलो, पृ0 184
12. धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ0 89	28. वहीं, पृ0 279
13. उत्ताल हवा, पृ0 155	29. मुझे घर ले चलो, पृ0 92
14. स्त्री उपेक्षिता, पृ0 57	30. उत्ताल हवा, पृ0 441
15. द्विखंडित, पृ0 169	31. निर्वासित, पृ0 185
16. बधिया स्त्री, पृ0 29	



n/kukFk flg dk tUe] f'k{kk ,o ookfgd thou dipu ;kno*

हिन्दी साहित्य के प्रख्यात कथाकार दूधनाथ का जन्म 17 अक्टूबर सन् 1936 ई0 में उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के छोटे से गाँव 'सोबन्था' के साधारण कृषक परिवार में हुआ था, उनके पिता श्री देवकीनन्दन तथा माता अमृता सिंह एक कुशल गृहणी थी। उनके पिता जी एक साधारण किसान जो कि अक्सर बीमार रहते थे। कुछ दिन के पश्चात् माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण उनके सर से मातृ और पितृ की छाया उठ गयी जो कि उन्हें अन्दर ही अन्दर तोड़ दिया और पिता की मृत्यु हो जाने के कारण आर्थिक स्थिति और खराब होने लगी। घर का सारा दायित्व बड़े होने के नाते इन्हीं पर आ गया, क्योंकि ये तीन भाईयों में सबसे बड़े थे फिर इन्होंने अपने दादा-दादी के साथ अपना जीवन यापन शुरू किया और अपनी पढ़ाई को निरन्तर जारी रखा। दोनों छोटे भाई आर्थिक अभाव के कारण ज्यादा पढ़-लिख न सके। दूधनाथ सिंह स्वयं कहते हैं कि "मेरे छोटे भाई पढ़ना-लिखना छोड़कर खेती-वारी या पुलिसगीरी की नौकरी में लग चुके थे"। दूधनाथ सिंह का बचपन साधारण बच्चों की तरह अभाव ग्रस्त व्यतीत हुआ। वे बचपन से अपने जीवन यापन के लिए संघर्ष करने में लग गये। प्रारम्भिक शिक्षा अपने पैतृक जन्मभूमि पर ही सम्पन्न किया इसके पश्चात् वे हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट की पढ़ाई सतीशचन्द्र इण्टर कॉलेज बलिया से प्रथम श्रेणी में पास की तत्पश्चात् बी0ए0 की पढ़ाई काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्पन्न कर पुनः घर लौट गये। इसका सबसे बड़ा कारण था आर्थिक तंगी। घर आकर वह छोटे-छोटे काम-धन्धों की तलाश में लग गये इसके बाद उनके एक रिश्तेदार ने उन्हें अपने ही बोर्ड में नौकरी दिलवा दिया।

इस परिप्रेक्ष्य में वह स्वयं लिखते हैं कि "मुझे अब घर के लिए ऊपरी कमाई करनी थी, तय हुआ कि मैं म्यूनिसिपल बोर्ड में क्लर्की करूँ। हमारे एक रिश्तेदार फौजदार सिंह वहाँ हेड कैशियर थे और वही नौकरी दिला रहे थे। मैंने बात कर ली"² परन्तु उनका मन वहाँ एकदम नहीं लगा। जिसके पश्चात् उनके मन में एक भाव आया कि क्यों न नौकरी छोड़कर इलाहाबाद चलेँ और सोचते ही सोचते उन्होंने इलाहाबाद की गाड़ी पकड़ ली। यहाँ उनका कोई जान पहचान का न था जिस कारण उन्हें अत्यधिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। वे अकेलापन महसूस करने लगे। इसी बीच उनके सहपाठी कृष्णमोहन गिरी मिले और समझो कि दूधनाथ सिंह को पूरा जहान मिल गया। वह स्वयं कहते हैं कि "ऐसे ही जब मैं मारा-मारा फिर रहा था, तो मुझे मेरे बचपन के सहपाठी कृष्णमोहन गिरी मिल गये दो-चार बातें हुईं। कृष्णमोहन को देर नहीं लगी और वे मुझे अपने साथ ले गये।"³

इलाहाबाद शहर के बारे में एक दम से वे अनजान थे, और वह अपने मित्र की सहायता से ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर दिये, जिससे उनका खर्च-बर्च निकलने लगा वे अत्याधिक विनम्र स्वभाव के थे। जिससे मित्रता बनाने में उन्हें देर न लगी कुछ लोगों से उनकी गहरी मित्रता भी हो गयी। जिसकी प्रेरणा और सहयोग से वे 1957 ई0 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम0ए0 हिन्दी विषय से प्रथम श्रेणी में पास की। उस दौर में प्रथम श्रेणी पास करने वाले अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। सबसे बड़ी बात वह एम0ए0 उर्दू विषय से करना चाहते थे। इस परिप्रेक्ष्य में वे कहते हैं कि—"मैं उर्दू का छात्र था। लेकिन किसी कारण से मुझे एम0ए0 उर्दू में प्रवेश नहीं मिल पाया। इसलिए मैंने हिन्दी में एम0ए0 किया। मुझे शुरू में हिन्दी पढ़ने में बहुत कठिनाई हुई, उस समय मैं हिन्दी कथा लेखन से बहुत परचित नहीं था"⁴

दूधनाथ की संघर्षमयता को देखकर कथाकार मार्कण्डेय जी स्वयं कहते हैं कि "उन्हें अपना अध्ययन पूरा करने के लिए शुरू से ही संघर्ष करना पड़ा"⁵

इन सब समस्याओं को साथ लेकर चलते हुए अपनी पढ़ाई को हमेशा जारी रखा और वे कुशाग्र बुद्धि के छात्र थे और कक्षा में हमेशा अव्वल आते थे। इस परिपाटि के बारे में वे स्वयं लिखते हैं कि “हमेशा जब मैं प्रथम आता तो घर के लोग खुशी के मारे गर्व से कराहने लगते”⁶ दूधनाथ सिंह का एकेडमिक (पढ़ाई-लिखाई) संघर्षमय रहा है साथ ही आजमगढ़ जिले के महुई नामक ग्राम में पैदा हुई निर्मला से 26 जुलाई 1963 ई0 को प्रेम विवाह कर लिये जो कि आज से लगभग 50-60 वर्ष पहले प्रेम विवाह को अभिशाप माना जाता था और इनका प्रेम विवाह इनके घर वालों को नागवार साबित हुआ क्योंकि सामाजिक रूढ़ियों के चलते परिवार के लोग इसको स्वाकार नहीं करते थे। सब विरोध कर दिये, जिस कारण दूधनाथ सिंह अत्यधिक समस्याओं से घिर चुके थे। परिस्थिति का वर्णन करते हुए रवीन्द्र कालिया ने एक संस्मरण में इन परिस्थितियों का वर्णन बड़े सुनियोजित ढंग से किया है वे लिखते हैं कि—“26 जुलाई सन् 1963 इलाहाबाद की रेलवे कालोनी का एक कमरा बाहर झमाझम बारिश, सड़क पर घुटनों-घुटनों पानी, कमरे में एक कृशकाय युवक खाट पर लेटा है। सामने मोढ़े पर उसकी पत्नी बैठी हुई है। अभी कुछ घंटे पहले उनका विवाह हुआ है पति खोंसता है कै करता है— खून की कै। पत्नी सहारा देती है। पत्नी ने घर से विद्रोह करके अन्तरजातीय प्रेम विवाह किया है। वह सशक्त है, उद्वेलित है, भयभीत है, कैसे कटेगी जिन्दगी कहाँ ले जाएगा भविष्य ये निराले पति थे दूधनाथ सिंह.....और पत्नी थी श्रीमती निर्मला ठाकुर.....।”⁷

विवाह के बाद का समय उनके लिए अत्यधिक चुनौतियों से भरा था। जहाँ एक ओर वे परिवारिक परिस्थितियाँ झेल रहे थे तो दूसरी तरफ बीमारी और गरीबी की पीड़ाओं से अत्यधिक लाचारी एवं बेवसी उनको जकड़े हुए थी। परन्तु इन सबके बाद भी वह अपनी पत्नी के प्रेम के सहारे अपना पैर जमाने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे थे, दूधनाथ सिंह जी अपनी पत्नी से अगाध प्रेम करते थे। तत्पश्चात् वह बीमार रहती तो उनकी देखभाल के साथ ही साथ घर का सारा कार्यभार स्वयं संभालते थे। इस बीच देखते ही देखते काल की कठोरता अंधकार की छाया बनकर अब उनकी पत्नी के इर्द-गिर्द घूमने लगी जिससे की वह 20 नवम्बर 2014 ई0 को काल की गाल में हमेशा-हमेशा के लिए समा गयी। इस घटना ने दूधनाथ सिंह को आहत तो किया लेकिन उन्होंने अपनी सन्तानों का मुख देखकर फिर से समाज में लड़ने को अपने आप को दृढ़ता से तैयार किया उनकी कुल तीन संताने हैं जिसमें दो बेटा और एक बेटी गौर तलब है कि दूधनाथ सिंह के सभी बच्चों का नामकरण सुमित्रानन्दन पंत ने स्वयं किया था, जिसको दूधनाथ सिंह स्वयं उद्घाटित करते हुए लिखते हैं “हमारे बेटे की अद्भुत सुन्दर और बड़ी-बड़ी आँखें देखकर उन्होंने उनका नाम ‘अनिमेष’ हमारी मुसल्ली बेटी का नाम उन्होंने रखा ‘स्वप्नवासवदन्ता’ यानी कि पूरी की पूरी किताब”⁸

इससे स्पष्ट है दूधनाथ जी और सुमित्रानन्दन पंत जी में कितना गहरा सम्बन्ध था। इनके सबसे छोटे बेटे का नाम अंशुमान था, बेटी का नाम इन्होंने बाद में बदलकर अनुपमा रखा जिसका विवाह काशीनाथ सिंह के बेटे से किया। दूधनाथ सिंह अपनी संतानों से अगाध प्रेम करते हैं, क्योंकि वह एक आदर्श पिता हैं। इस प्रकार निश्चय ही वह एक सफल साहित्यकार, कथाकार, आलोचक और कर्तव्य परायण पति थे।

UnHk %

1. दूधनाथ सिंह, लौट आ, ओ धार, राधा कृष्णप्रकाशन, नई ,1998 पृष्ठ सं0-15
2. दूधनाथ सिंह, लौट आ, ओ धार, राधा कृष्णप्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 पृष्ठ सं0-140
3. दूधनाथ सिंह, लौट आ, ओ धार, राधा कृष्णप्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 पृष्ठ सं0-145
4. दूधनाथ सिंह, सपाट चेहरे वाला आदमी, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2012 के ‘वक्तव्य’ शीर्षक से
5. मार्कण्डेय (सं0)- मानक कहानियाँ, पृष्ठ सं0-131
6. दूधनाथ सिंह, लौट आ, ओ धार, पृष्ठ सं0-94
7. रवीन्द्र कालिया, गोसाई दूधनाथ, नया ज्ञानोदय, सितम्बर, 2008, पृष्ठ सं0-43
8. दूधनाथ सिंह, लौट आ, ओ धार, पृष्ठ सं0-18



लेखक के लेखन के विकास के अध्ययन [कबीर के लेखन के विकास के अध्ययन] कबीर के लेखन के विकास के अध्ययन

हिन्दी नाटकों का पुनर्जागरण से बहुत गहरा संबंध रहा है। आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग/ नवजागरण का आरम्भ नाटकों के द्वारा हुआ। कबीर भी भारतीय नवजागरण के अग्रदूत हैं। यदि आज कबीर आधुनिक लगते हैं, आधुनिक ही नहीं हमारे समकालीन भी प्रतीत होते हैं तो उसकी वजह उनकी कविता की सामाजिक भूमि और चिंतन की सामाजिक भूमिका है। यही वजह है कि गढ़ो और मठों को तोड़ने वाले तथा 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने' वाले गजानन माधव मुक्तिबोध को भी 'कबीर आधुनिक लगते हैं'।¹ ऐसे ऐतिहासिक चरित्र को केन्द्र में रखकर हिन्दी नाट्य लेखन परम्परा में नाटक न लिखा गया हो ऐसा कैसे हो सकता है? ऐतिहासिक चरित्र प्रधान नाटकों की शृंखला में देखा जाय तो भक्तिकाल के बेपरवाह, दृढ़ और उग्र-संक्षेप में मस्तमौला चरित्र के धनी कबीर को केन्द्र में रखकर कई नाटक लिखे गये हैं। आधुनिक रचनाशीलता में कविता के बाद 'कबीर की सबसे सशक्त और समृद्ध उपस्थिति हिन्दी नाटकों में मिलती है। भारतीय जनमानस में कबीर 'कवि' के रूप में जितने नहीं लोकप्रिय हैं, उससे कहीं ज्यादा एक ऐसे समाज-सुधारक के रूप में लोकप्रिय रहे हैं, जिन्होंने भक्तिकाल समाज में समाहित धार्मिक पाखण्ड, कुरीतियों, अंधविश्वासों एवं ऊँच-नीच, छुआछूत जैसी सामाजिक रुढ़ियों को दूर करने का भरसक प्रयास किया था। वह समाज में व्याप्त बुराइयों एवं रुढ़ियों के खिलाफ हाथ में लुकाटा लिए भरे बाजार में खड़े मिलते हैं तथा समाज में मानवीय मूल्यों से ऊपर धर्म को ठहराने वाले धर्म के ठेकेदारों को चुनौती देते रहते हैं। अपने युग की तानाशाही, धर्मान्धता, बाह्याचार और मिथ्या धारणाओं के विरुद्ध अथक संघर्ष करने वाले कबीर आज भी हमारे बीच एक स्थायी और प्रेरक मूल्य की तरह स्थापित हैं। इसी को केन्द्र में लेकर लिखा गया नाटक भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार' में है। मनुष्य के पसंद ना पसंद से भी उसके विचारधारा को जाना समझा जा सकता है। भीष्म साहनी प्रगतिशील लेखक हैं इसका तय उनकी रचना के विषय वस्तु से भी किया जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में भी उनके इस नाटक को देखा जा सकता है। अपने समकालीन कवियों में निश्चित रूप से कबीर सबसे अधिक प्रगतिशील है। हिन्दी साहित्य में कबीर की महत्ता जितनी अधिक प्रगतिशीलता के चलते स्थापित हुई उसके दशमांश भी अध्यात्म या हठयोग साधना के चलते नहीं। भीष्म साहनी भी अपने नाटक 'कबिरा खड़ा बाजार' में जिस कबीर का व्यक्तित्व गढ़ते हैं वह एक संघर्षरत युवा कबीर है। वह जन समस्याओं को दूर करने के लिए संघर्षरत कबीर है न कि संत अध्यात्मिक कबीर। उनका जन सरोकार से बहुत गहरा ताना-बाना है। बकौल भीष्म साहनी कबीर के बारे में मेरी परिकल्पना एक संघर्षरत युवा व्यक्ति की थी न कि संत कबीर का।² कबीर की फक्कड़ाना मस्ती, निर्मम अक्खड़ता और युग प्रवर्तक सोच इस कृति में पूरी जीवन्तता के साथ मौजूद है। साथ ही इसमें यह भी उजागर हुआ है कि कबीर की साहित्यिकता सामाजिक जड़ता को तोड़ने का ही एक माध्यम थी जिसके सहारे उन्होंने अनेक मोर्चों पर संघर्ष किया। इस नाटक के बारे में जोगिन्द्र कुमार संधु ने बड़ी सटीक टिप्पणी की है, यह नाटक मध्यकालीन परिवेश पर आधारित है। इसमें मध्ययुगीन संत और सामाजिक रुढ़ियों से टकराने वाले कबीर के दृढ़ संघर्षशील और प्रखर व्यक्तित्व की पुनर्रचना करते हुए व्यवस्था के अमानवीय दृष्टिकोण को उभारने का प्रयास किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि कबीर की साहित्यिकता सामाजिक जड़ता को तोड़ने का ही एक माध्यम थी। जिसके सहारे उन्होंने अनेकानेक मोर्चों पर संघर्ष किया। कबीर की संघर्षशील भावना पाठकों की भावना से अनायास ही जुड़ जाती है।³

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर

भीष्म साहनी द्वारा लिखा गया 'कबिरा खड़ा बाजार' में नाटक सन् 1981 में प्रकाशित हुआ। यह तीन अंकों में विभाजित है। इस नाटक का उद्देश्य कबीर की रचनाओं के भीतर से कवि के विद्रोही व्यक्तित्व एवं तत्कालीन समाज के विभिन्न अन्तर्विरोधों को ठीक से समझने और अपने पाठकों एवं दर्शकों को समझाने की कोशिश है। इस नाटक में कबीर की हाजिर जवाबी, उसके प्रखर प्रतिरोध और अदम्य साहस को रेखांकित किया गया है, जिसके चलते यह अलगाववाद और साम्प्रदायिक विद्वेष को प्रश्रय देने वाली राजसत्ता और ज्ञानसत्ता की फाँसीवादी ताकतों के सामने चुनौती बन कर खड़े हैं। भीष्म साहनी ने इस नाटक की भूमिका में उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि — "नाटक में उनके निर्भीक, सत्यान्वेषी, प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश है। उनके अध्यात्म पक्ष को नकारना अथवा उसकी उपेक्षा करना अपेक्षित नहीं था। उस आधार भूमि को स्थिर कर पाना ही उपेक्षित था, जिसमें उनके विराट व्यक्तित्व का विकास हुआ।" इस उद्देश्य कथन से जो उनके मित्रों की शिकायत है, "नाटक कबीर के काल, तत्कालीन समाज की धर्मान्धता तथा तानाशाही और कबीर के बाह्याचार-विरोधी पक्ष पर तो प्रकाश डालता है, पर उनके अध्यात्मिक पक्ष को अछूता छोड़ देता है का उत्तर भी मिल जाता है।^१ वैसे भी कबीर का 'अध्यात्म' मूलतः उनकी मनुष्य मात्र के प्रति समदृष्टि, प्रेमभाव, भक्तिभाव और व्यापक 'धर्मतर' दृष्टि से ही पनपकर निकला है। उनके बाह्याचार विरोधी 'साखी' और 'पद' भक्तिभाव के पद और अध्यात्मिक पद एक ही भूमि से उत्पन्न हुए हैं। वह है सामाजिक चिंतन की भूमि। भीष्म साहनी यह लक्षित कर पाने में सफल रहे हैं कि कबीर का अध्यात्म उनके विराट व्यक्तित्व का ही हिस्सा है। इसलिए अध्यात्म को उनकी महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका से काट कर देखना और उसी को कबीर के व्यक्तित्व का एक पक्ष मान लेना स्वयं कबीर के साथ घोर अन्याय है।

कबीर के जीवन-वृत्त को समझाने के लिए लोक प्रचलित किंवदन्तियों के सिवाय कोई प्रमाणिक स्रोत उपलब्ध नहीं होता लिहाजा उनकी रचनाओं के। भीष्म साहनी ने किंवदन्तियों का पूरा सम्मान करते हुए इन्हीं के आधार पर अपनी स्थापना देते हैं। कबीर विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुए थे और नीरू और नीमा नामक जुलाहा दंपति ने उनका पालन-पोषण किया था। इन्हीं का आधार लेकर नाटक का आरम्भ होता है। जुलाहों की बस्ती है। बस्ती में छोटे-छोटे झोपड़े हैं, उसमें कहीं सूत पकाया जा रहा है, कहीं खड़की चल रही है। इसी बस्ती में नीरू और नीमा की झोपड़ी में पल-बढ़ रहे कबीर के जीवन वृत्त से नाटक का आरम्भ होता है। हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति बचपन से ही कबीर में दिखाई देती है। एक दिन नीमा द्वारा यह बताया जाने पर कि तुम्हें जन्म देने वाली माँ एक विधवा ब्राह्मणी थी तब आत्मोपहास करते हुए कबीर व्यंग्य की मुद्रा में कहते हैं, तब तो मैं बड़ी ऊँची जात का हूँ, माँ! (हँसकर) ब्राह्मण का हरामी बेटा। मैं कोई छोटा-मोटा आदमी नहीं हूँ, माँ! किसी किंवदन्ती का उपयोग करना एक सामान्य बात है पर उसके भीतर छिपे निहितार्थ को समझते हुए उसका सार्थक उपयोग करना विशेष बात है। कबीर के इस व्यंग्य से लगता है कि भीष्म साहनी ने किंवदन्ती के निहितार्थ को बखूबी समझकर उसका उपयोग किया है। रक्त गोत्र की शुद्धता और वर्णगत श्रेष्ठता का मिथ्या दंभ ही इसका निहितार्थ है और व्यंग्य का पैनापन यह कि पोथी-पंडितों, मुल्ला-मौलवियों के तेज का निस्तेज कर देने वाला कबीर का तेज, भला एक नीच जुलाहे के घर कैसे पैदा हो सकता है? इसी प्रकार से कबीर के ऊपर रामानंद के गहरे प्रभाव और पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गुरु दीक्षा लेने वाले प्रसंग का उल्लेख किया गया है।

भीष्म साहनी के इस नाटक में कबीर का व्यक्तित्व अपने पूरे सामाजिक परिवेश के साथ मिलकर अद्वितीय बन पड़ा है। कबीर के समय भारतीय समाज में राजसत्ता और धर्मसत्ता शक्ति के दो बड़े केन्द्र थे। जनता पर अपना दबदबा कायम रखने के लिए इन दोनों के बीच में गजब का तालमेल था। ज्ञानसत्ता के हाथ में धर्मग्रंथ और राजसत्ता के हाथ में तलवार थी। 'धर्मग्रंथ और तलवार' का तालमेल एक ओर जहाँ सत्ता के शोषण-तंत्र को शक्तिशाली बनाती थी, वहीं जनता के बीच जाति, धर्म और सम्प्रदायगत भेदभाव पैदाकर उसकी शक्ति को क्षीण करती रहती थी। इन शक्ति केन्द्रों पर हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों के तथा-कथित उच्च वर्णों का वर्चस्व था। जो श्रेष्ठ-सैय्यद और ब्राह्मण वर्ग या जाति के अंतर्गत आते हैं। पुरोहितों ने धर्मग्रंथों पर पवित्रता का मुलम्मा चढ़ाकर उन्हें दैवी शक्ति घोषित कर रखा था। इसलिए जब कभी जातिवाद और साम्प्रदायिक विद्वेष को बढ़ावा देने वाले धार्मिक वर्चस्ववाद के विरुद्ध आवाज उठती तो

उसे दीन-धर्म का अपमान बताकर 'काफिर' करार दे दबा दिया जाता था। कबीर की आवाज इस धार्मिक वर्चस्ववाद के खिलाफ थी। 'कबिरा खड़ा बाजार में' शहर कोतवाल निरंकुश राजसत्ता का तानाशाह प्रतिनिधि है, तो कायस्थ और शेख उसके सहायक हैं। महंथ-पण्डित तथा मुल्ला-मौलवी धर्म की ज्ञानसत्ता के प्रतिनिधि हैं। एक मौलवी कबीर के विरुद्ध कोतवाल से फरियाद करता है -

मौलवी : मैं हैरान हूँ साहिब! चिराग तले अंधेरा! आप शहर के कोतवाल हैं और आपके कान में जूँ नहीं रेंग रही है!

कोतवाल : क्यों क्या मामला है? किसी ने आपकी तौहीन की है?

मौलवी : मेरी नहीं, मेरे दीन की तौहीन की है। और आज नहीं, बहुत दिन से करता आ रहा है और अब उसके साथ बहुत से साथी भी जुट गए हैं।

कोतवाल : खोलकर बताइए मौलवी साहब।

मौलवी : कबीर नाम के जुलाहे का नाम सुना है?

कोतवाल : वह जो शायरी करता है, कवित्त कहता है? बकने दीजिए जो बकता है।

मौलवी : लाहौल वला कुव्वत, आप क्या कह रहे हैं। मस्जिद शरीफ की सीढ़ियों पर खड़ा होकर वह दीन की तौहीन करता रहा है। लाहौल वला कुव्वत! आपकी अमलदारी में यह कहर ढाया जा रहा है, और आप खामोश हैं।

कोतवाल : कोई जनूनी ही ऐसी बात कर सकता है।

मौलवी : जनूनी है या काफिर, इसका मुँह तो बंद कराइए। लाहौल वला कुव्वत, लोग क्या कहेंगे कि आप एक खब्ती से डर गये। आप के रहते किसकी मजाल कि दीन की तौहीन करें? आप यहाँ पर दिल्ली के शहंशाह के ही नुमाइंदा नहीं हैं, आप दीन के भी नुमाइंदा हैं।

यहाँ मौलवी की बेचैनी और बौखलाहट पर गौर करने से इस बात का सहज अनुमान लग जाता है कि मौलवी की चिन्ता यह है कि यदि धर्मसत्ता से लोगों का विश्वास उठ गया तो इन धर्म के ठेकेदारों को कौन पूछेगा? कबीर इसी पर लगे हुए हैं। चिन्ता, यह भी है कि अब उसके साथ बहुत से साथी जुट गये हैं। उनकी संख्या लगातार बढ़ रही है। रैदास, सेना, पीपा और बसीरा आदि साथियों के साथ कबीर का सत्संग नुक्कड़ आंदोलन बनकर, गली कूचों से लेकर सड़क तक फैलने लगा है। जिसने पंडितों और मौलवियों की नींद हराम कर दी है।

भीष्म साहनी ने कबीर के सरस पदों- 'दुलहिनी गावहु मंगलचार' 'भीजै चुनरिया प्रेम रस बूदन' और 'ये अंखिया अलसानी पिया हो सेज चलो' आदि का बड़ा मनोरम, मार्मिक प्रसंगों में प्रस्तुत किया है। अध्यात्म और प्रेम के द्विअर्थी भाव-व्यंजना के इन सरस पदों में आध्यात्मिक-राग की अपेक्षा प्रेम-भाव का राग ही महत्वपूर्ण है। इन्हीं के माध्यम से इस नाटक के दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में कबीर और लोई के सुखमय दांपत्य जीवन की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है। इस अंक में दोनों के किशोर-मन की सहज संवेदना, उसके हास-परिहास और व्यंग्य विनोद को जिस मानवीय-संवेदना के साथ चित्रित किया गया है वह बिना इन पदों के इतना मनोरम और आकर्षक बन ही नहीं सकता था। कबीर की कविताओं में जो 'प्रेम' संबंधी 'साखी' या 'पद' हैं, वे गृहस्थ जीवन के अनुभव बगैर लिखे ही नहीं जा सकते। इस संदर्भ में कबीर के गृहस्थ जीवन एवं प्रेम के वर्णन की प्रासंगिकता का महत्व है।

इस नाटक का तीसरा अंक बहुत महत्वपूर्ण है, जिसमें कबीर का साहसी, निर्भीक और किसी भी अहमवादी सत्ता के सामने न झुकने वाला व्यक्तित्व सामने आता है। जिस समय सिकन्दर लोदी कबीर से मिलने सत्संग स्थल पर पहुँचता है, उस समय वहाँ भण्डारे का कार्यक्रम समाप्त कर सत्संग शुरू हो चुका था। कबीर के साथ सभी मिलकर 'हमारे राम रहीम करीमा'? गा रहे थे तभी सिकन्दर लोदी अपने सिपाहियों के साथ आता है और कबीर से बात-चीत करता है, परिचय और पेशा पूछने पर कबीर साथियों सहित अपना परिचय देते हैं, 'मैं जुलाहा हूँ, साहिब, कपड़ा बुनता हूँ। यह मेरा गुरुभाई रैदास है, यह चमार है। वह सामने सेना खड़ा है, वह नाई है। वशीर भिस्ती का काम करता है। यानी सब श्रमजीवी हैं। यह सिकंदर लोदी की सोच के विपरीत था। वह सोचता था कि ये भिक्षावृत्ति कर जीवन-यापन करते होंगे पर यहाँ तो बिल्कुल उल्टा हो गया। बातचीत आगे बढ़ती है और सिकन्दर लोदी कबीर के कवित्त और हाजिर जवाबी की पैनीदृष्टि तथा समझदारी से प्रभावित होता है, लेकिन जब विषय धर्म, (हिन्दू-मुसलमान) और उनके

दीन-पैगम्बर का आता है तो कबीर से लोदी का मोह भंग शुरू हो जाता है। जिस फकीर से वह मिलने आया था, वह कथित संन्यास धारण किये हुये फकीरों से भिन्न था। यह कबीर दुनियादार भी है, फकीर भी है। कबीर के यह कहने पर, “मैं इन्सान को हिन्दू और तुर्क की नजर से नहीं देखता। मैं केवल उसे इंसान की नजर से खुदा के बन्दे की नजर से देखता हूँ। जन्म से सभी इन्सान होते हैं, वरना ब्राह्मण का बेटा माँ के पेट से ही तिलक लगाकर और तुर्क का बेटा खतना करवाकर निकलता।”⁹ इतना सुनते ही सिकन्दर लोदी तिलमिला उठता है। सही मौका देखकर चाटुकार शहर कोतवाल धीरे से आग में घी डालने के समान यह कहता है, “यह आदमी दीन की तौहीन करता है। रोजा नमाज को बुरा-भला कहता है। यहाँ तक कि मस्जिद की सीढ़ियों पर खड़ा होकर उल्टी-सीधी बातें करता है। फिर सुल्तान का गुस्सा सातवें आसमान पर चढ़ जाता है और उसे लग जाता है कि यह आदमी कोई पीर फकीर नहीं बल्कि एक बदजुबान सरफिरा शायर काफिर और दुःसाहसी है। मजहब की बात करो तो कहता है कि मैंने मजहब को छोड़ दिया। इन सब के अलावा यह मुझे भी आँख दिखाता है। गुस्साया लोदी कबीर को धमकी देता है “आज के बाद कभी मुझे शिकायत मिली कि तूने दीन की तौहीन की है तो मैं तेरी टांगे चीर दूँगा। (सहसा गुस्से से) इस आदमी को शहर से निकाल दो।”¹⁰ इस संजीदा माहौल में भी कबीर को थोड़ा भय नहीं है। वह निर्भय निर्गुण का गुण गाते हैं, ‘मोको कहाँ दूढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में।’¹¹ इसी स्वभाव पर मुग्ध होकर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है हिन्दी साहित्य के हजार साल के इतिहास में कबीर जैसा महिमा-मंडित व्यक्तित्व कोई दूसरा पैदा नहीं हुआ। सामाजिक उत्पीड़न और धार्मिक वर्चस्ववाद के खिलाफ संघर्ष करने वाले कबीर के उस महिमाशाली एवं विराट व्यक्तित्व को आधार बनाकर लिखे गये इस नाटक में कबीर के महत्व को और महत्वपूर्ण बना दिया है। नाटक का अंत इस बिन्दु पर होता है कि कबीर का संघर्ष बराबर चलता रहेगा। यह भीष्म साहनी की प्रगतिवादी सोच की परिणति है क्योंकि उन्हें पता है कि बिना संघर्ष के कुछ भी हासिल नहीं होने वाला है।

इसी परम्परा में मणि मधुकर का नाटक ‘इकतारे की आँख’ नरेन्द्र मोहन की ‘कहत कबीर सुनो भाई साधो’, गोविन्द बल्लभ पंत का ‘काशी का जुलाहा’ और ज्ञान चतुर्वेदी का ‘जो घर फूके आपना’ का उल्लेख मिलता है। इन नाटकों में भी कबीर के व्यक्तित्व का सामाजिक पक्ष ही उभर कर सामने आता है। लेकिन ये नाटक उतने सफल नहीं हो सके जितना कि ‘कबिरा खड़ा बाजार में’। यह नाटक एम.के.रैना के निर्देशन में लगातार 10 वर्षों तक खेला जाता रहा है।¹²

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी ने अपने इस नाटक में कबीर के समय की धर्मान्धता एवं अनाचार और तानाशाही के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक संदर्भ और प्रगतिशील व्यक्तित्व को उभारा है। इनका यह नाटक जहाँ सामाजिक जीवन की सच्चाईयों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है वहीं चेतना का संस्कार भी प्रदान करता है, तभी तो भीष्म साहनी हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील परम्परा के सशक्त हस्ताक्षर बने।

UnHk §

1. जैन, नेमिचन्द्र (सं.) ‘मुक्तिबोध रचनावली खण्ड-5’ (द्वितीय आवृत्ति : 2007), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-288
2. परवीन, फरहत सं. आजकल अगस्त 2015, पृष्ठ सं.-26
3. संधू, डॉ० जोगिन्द्र कुमार, ‘भीष्म साहनी के उपन्यासों में त्रासदी, यथार्थ (संस्करण 2012), नवभारत प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-109
4. साहनी, भीष्म, ‘कबिरा खड़ा बाजार में’ (संस्करण : 2010) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-9
5. वहीं, पृष्ठ-8
6. वहीं, पृष्ठ-28
7. वहीं, पृष्ठ-45
8. वहीं, पृष्ठ-122
9. वहीं, पृष्ठ-126
10. वहीं, पृष्ठ-127
11. वहीं, पृष्ठ-127
12. नगेन्द्र, सं. ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ (संस्करण :2009), मयूर पेपर बैक, नोयडा पृष्ठ-676



mifu"kn dkyhu f'k{kk dk vkn'k

IjJUn: iirki*

उपनिषद् ज्ञान राशि का अक्षय कोष है। तत्त्वविद्या या अध्यात्म विद्या का मूल स्रोत उपनिषद् ही है जो श्रुति नाम से भी अभिहित है। सभी देशों के मनीषी इसकी ज्ञान गरिमा पर विमुग्ध होते आ रहे हैं। भारत के चिन्तकों ने उपनिषदों से प्राप्त विविध प्रकार के ज्ञान की मूल भित्ति पर ही अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है। योगिराज श्री अरविन्द के अनुसार उपनिषदें आत्मज्ञान, विश्वज्ञान और ईश्वर ज्ञान का काव्यमय स्रोत हैं। वे गहनतम आध्यात्मिक अनुभवों का अभिलेख हैं, साक्षात् और गम्भीर आध्यात्मिक सत्यदर्शन का विशाल प्रवाह हैं। वस्तुतः उपनिषदों का एक सत्य है, “आत्मा विवर्णुते तनुं स्वाम्”— अपनी आत्म-अभिव्यक्ति की ठेठवाणी को प्रकाशित करता है। जर्मनी के विश्व श्रुत दार्शनिक मैक्समूलर के अनुसार उपनिषद् में मानवीय कल्पना और भावना अपने शीर्ष पर पहुँची प्रतीत होती है। शोपेनहावर तो उपनिषदों के अध्ययन से आह्लादित होकर भाव विभोर हो जाता है और कहता है कि संसार में अध्ययन के लिए ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है, जो उपनिषदों के समान हितकारी और ऊँचा उठाने वाला हो।

उपनिषद् शब्द का प्रयोग स्वयं उपनिषदों में ही अनेक सालों पर पाया जाता है। कहीं ब्रह्म विद्या या आत्मविद्या के लिए और वहीं प्रवचनात्मक ग्रन्थ के लिए उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ—

^Mmifu"kn Hkk JghR;Drk r mifu"knA

ckãh oko r mifu"knecfevr AA^M

यहाँ उपनिषद् शब्द का अर्थ रहस्य विद्या है। इसके विपरीत—

^M_Xonk ; t:oin%& lkeonk·FkokfMjI bfrgkI%ijj.k. fo|k mifu"kn% 'ykdK
l=k.;u0;k[;kufu 0;k[;kukU;L; 'oirkfu fu'ofI rkfuA^M

यहाँ उपनिषद् शब्द का प्रयोग स्पष्टतः प्रवचनात्मक ग्रन्थपरक है। उपनिषद् शब्द के लिए उपनिषदों में ही उनके शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। मुण्डकोपनिषद् में उसे वेदान्त कहा गया है। वहीं उसे पराविद्या तथा ब्रह्मविद्या भी कहा गया है। अन्यत्र उसके लिए आत्मविद्या अध्यात्मविद्या तथा मोक्षविद्या भी प्रयुक्त हुआ है।

उपनिषद् शब्द “उप” और “नि” उपसर्गों के साथ “सद” धातु से बना है। “उप” का अर्थ है समीप और “नि” का अर्थ है “नितरम्”, निष्ठा से”। “सद” का अर्थ है बैठना। छान्दोग्योपनिषद् में उपनिषद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी हुई है—

^MI ;nk oyh HkoFr] vFk mRFkkrk HkoFr] mrfr"Bu ifjpfjrk HkoFr] ifjp;ju
mi lRrk HkoFr] mi lhnv n"Vk HkoFr] Jkrk HkoFr] eUrK HkoFr] ck)k HkoFr] dRrk HkoFr]
foKkrk HkoFrA^M अर्थात् जब मनुष्य बलवान् होता है तो वह उठकर खड़ा होता है और उठकर खड़ा होने पर गुरु के समीप पहुँचता है। फिर गुरु के पास जाकर बैठता है, पास में जाकर बैठने पर वह गुरु का जीवन ध्यान से देखता है, उनका व्याख्यान सुनता है, उसे मनन करता है, समझ लेता है और अनुसार आचरण करता है। अन्त में विचार और आचार की एकता से उसे विज्ञान अर्थात् आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति का लाभ होता है।

“सद्” धातु का एक दूसरा अर्थ लेकर उपनिषद् शब्द की एक दूसरी व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् में ही इस प्रकार दी गयी है— “ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी, अत्यन्तम् आत्मानम् आचार्यकुले अवसादयन्” अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के पास रहकर गुरुसेवा में अपने आप को अत्यन्त अर्थात् विशेष रूप से खपाने वाला जो रहस्य भूविद्या प्राप्त करता है, वह है उपनिषद्।

इन दोनों प्रकार की व्याख्या एकत्र करके उपनिषद् शब्द का अर्थ इस प्रकार निष्पन्न किया जा सकता है (1) आत्मबल (2) उत्थान (3) ब्रह्मचर्य (4) गुरु सेवा में शरीर का निःशेषखपा देना, (5) गुरु सान्निध्य (6) जीवन—निरीक्षण (7) श्रवण (8) मनन, (9) अवबोधन (10) अनुभूति। इतना सारा भाव इस छोटे से शब्द में अन्तर्निहित है। इस प्रकार उपनिषद् शब्द से समग्र जीवन और ज्ञान की साधना तथा उससे फलित होनेवाला ज्ञान दोनों ही सूचित होते हैं।

ie[k mifu"knk dh fo"k; oLr |

उपनिषदों की संख्या अत्यधिक है। आजकल दो सौ आठ उपनिषदें देखने को मिलती हैं, किन्तु इनमें से ग्यारह उपनिषदें ही भाव, भाषा, शैली आदि की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इन्हीं पर शंकराचार्य जैसे मनीषी आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। ये हैं— ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर।

1% b'kokL; kifu"kn^M शुक्लयजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। इस कारण इसका अत्यधिक महत्व है। इसमें केवल अठारह में है। अति संक्षिप्त होने पर भी तत्त्व ज्ञान और अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से यह महनीय ग्रन्थ है। मानव जीवन के मौलिक आदर्श और सिद्धान्त — दोनों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। अठारहों मंत्र मणिमाला की भाँति एक—दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

प्रथम मंत्र में जीवन लक्ष्य और जीवन व्यतीत करने की विधि इन दोनों का बड़े ही सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। इस दूसरे मंत्र में कर्मयोग की प्रतिष्ठा की गई है। इस उपनिषद् की दृष्टि में कर्मयोग ही जीवन है, अकर्मण्यता ही मरण है। जीवन के किसी भी स्तर पर बिना कर्म किये नहीं रहता है, तो त्याग भाव से जो कर्म करता है, वह उसमें लिप्त नहीं होता। इन दोनों मंत्रों में यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि ज्ञान कर्म के बिना निष्फल है और कर्म ज्ञान के बिना व्यर्थ है। जीवन ज्ञान और कर्मयुक्त है दोनों को एक—दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों में से एक भी त्याज्य नहीं है। ऋषि सबों में एकता, आत्मैक्य की भावना पर बल देता है। इस भाव के अभ्यास से ही अद्वैत भाव की प्रतिष्ठा होती है।

2% dukifu"kn& सामवेद की तलवकार शाखा के जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण के नवम अध्याय को तलवकारोपनिषद् या केनापनिषद् कहा जाता है। इसका प्रारम्भ “केन” शब्द से होता है। यह उपनिषद् चार खण्डों में विभक्त है। इसके चारों खण्डों में इन्द्रियातीत तथा सर्वशक्तिमान ब्रह्म का अनेक प्रकार से निरूपण किया गया है। समस्त व्याख्यान प्रश्नोत्तर के रूप में है। विद्यार्थी अपनी शंकाओं को समाधान के लिए महर्षि के समक्ष प्रस्तुत करता था और महर्षि उसके प्रश्नों का उत्तर देते थे। इस व्याख्यान के आधार पर शिष्य और आचार्य के घनिष्ठ सम्बन्ध का सुस्पष्ट चित्र उभरता है। जबतक शिष्य गुरु के उत्तर से संतुष्ट नहीं हो जाता था, तब तक उनसे स्पष्ट बोध के लिए प्रश्न पूछता रहता था। इस उपनिषद् की प्रमुख विशेषता इस बात में निहित है कि परम—सत्य के साक्षात्कार के उपर्युक्त मानवीय प्रज्ञा, दक्षता अथवा चित्तस्थिति की सूक्ष्मनोवैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत करती है।

इस उपनिषद् का ऋषि मानव जन्म की महानता और उपयोगिता तथा उसके विकास की समस्त भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए घोषणा करता है कि एकमात्र ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। इसी जीवन में इस अमृतत्व को प्राप्त करने पर बल दिया गया है। यदि इसको प्राप्त करने में हम असफल रहते हैं तो मानव जीवन के सुनहले अवसर को हम खो देते हैं। ऋषि के शब्दों में “यदि इसी जीवन में ब्रह्म को जान लिया तब तो ठीक है, यदि इसी जीवन में नहीं जाना तो बड़ी हानि है। इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद्कालीन तत्त्ववेत्ता इस पार्थिव जीवन को दिव्य ज्ञान से ओत—प्रोत करने पर कितना बल देते थे।

॥3॥ dBkifu"kn & कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा से इसका सम्बन्ध है। समस्त उपनिषदों में यह सर्वोत्तम और अधिक लोकप्रिय है। दो अध्यायों और छः वल्लियों में यह विभाजित है। इसमें गुरु तुल्य यम और शिष्य रूप में नचिकेता के संवाद के द्वारा आत्मतत्त्व की व्याख्या बड़े रोचक ढंग से की गयी है। नचिकेतस् के उपाख्यान के द्वारा गुरु और शिष्य के प्रगाढतम, सम्मानजनक स्नेहसिक्त, शिष्ट आचरण से ओत-प्रोत तथा विश्वास सम्बलित सम्बन्ध पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। नचिकेतस् प्रतीक है उत्तम शिष्य का, जिसके हृदय में ज्ञान दीप की शिखा निरन्तर प्रज्वलित रहती है। परमतत्त्व के ज्ञान का उपदेश देने के क्रम में पहले प्रेयस् और श्रेयस् का सुन्दर विवेचन किया गया है। इन्द्रियजन्य सुख मनुष्य को स्वाभाविक रूप में आकर्षित करता है। इस प्रवृत्ति को प्रेयस् कहा गया है। किन्तु इससे मनुष्य को परमतुष्टि नहीं होती। इसलिए शाश्वत शक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आत्मनिरीक्षण की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया गया है।

॥4॥ i:'ukifu"kn & छः ऋषि ब्रह्मविद्या की खोज में महर्षि पिप्पलाद के समीप जाते हैं और अध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। इसी से इसका नाम प्रश्नोपनिषद् रखा गया है। प्रश्नों का विषय आध्यात्म जगत् की मान्य समस्याएँ हैं, जिनका उपस्थापन पिप्पलाद को एक उदात्त तत्त्व ज्ञानी के रूप में प्रदर्शित करता है। इसमें सीमांसा प्रश्न है (क) प्रजोत्पत्ति कहाँ से होती है, कौन देवता श्रेष्ठ है, कौन प्रजाओं को धारण करते हैं तथा कौन इन्हें प्रकाशित करता है ?

1. प्राणों की उत्पत्ति शरीर में आगमन ता उत्क्रमण कैसे होता है?
2. स्वप्न जागरण तथा स्वप्न दर्शनादि विषयक प्रश्न।
3. ओंकार पुरुष की उपासना तथा उससे लोकों का विजय।
4. षोडशकला सम्पन्न पुरुष कौन है? इसमें अक्षर ब्रह्म को ही जगत् की प्रतिष्ठा का विषय बताया गया है। ओंकार की उपासना की श्रेष्ठ है। सर्वाधार परमेश्वर के ज्ञान से जन्म मृत्यु के सारे रहस्य खुल जाते हैं।

॥5॥ e.Mdkifu"kn & इस अथर्ववेदीय उपनिषद् में ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्म विद्या का उपदेश देते हैं। इसी का उन्होंने अंगीऋषि तथा अंगी से सत्यवह को ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई थी। इसमें ब्रह्म के पर एवं अपर दोनों स्वरूपों का ज्ञान कराया गया है। शौनक ऋषि एक बड़े विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता थे। उनके ऋषि कुल में अट्ठासी हजार ऋषि रहते थे। ब्रह्म विद्या को जानने के लिए शास्त्र के अनुसार हाथ में समिधा लेकर ये सभी ऋषि महर्षि अंगिरा के पास आते हैं और विनयपूर्वक उनका प्रश्न है कि जिसका भली-भाँति जान लेने पर यह जो कुछ देखने सुनने और अनुमान करने में आता है, सबका सब जान लिया जाता है वह परमतत्त्व क्या है। इसी में परा-अपरा विद्या का उपदेश है। ब्रह्मज्ञानी कर्मकाण्ड के दोषों के पश्चात् ही ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता को समझता है। ब्रह्म में लय प्राप्त करने की तुलना नामरूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में गिरने से की गयी है।

॥6॥ ek.MD; & उपनिषद् इसका आकार अन्य उपनिषदों की अपेक्षा छोटा है, लेकिन सिद्धान्त उतना ही गम्भीर है। इसमें 12 खण्ड हैं जिनमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा ही विलक्षण और रहस्यमय विवेचन उपस्थापित है। इस उपनिषद् को ओंकार की मार्मिक व्याख्या करने का समस्त श्रेय प्राप्त है। "ओंम इत्सेतदक्षरमिदम्।" ओंकार में तीन मात्राएँ होती हैं तथा चतुर्थ अंश अमात्र होता है। चैतन्य भी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय है। इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी कमशः चार प्रकार का होता है। वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ तथा प्रपञ्चचोपशमरूपी शिव जिनमें अन्तिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है।

॥7॥ ^rRrjh;kifu"kn^ की शिक्षावल्ली आलोच्य विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें कई प्रकार की उपासना तथा शिष्य आचार्य सम्बन्धी शिष्टाचार का निरूपण है। ग्यारहवें अनुवाक् में स्नातक के लिए उपयोगी शिक्षाओं का एकत्र निरूपण है, जिससे शिक्षा के उच्चादर्शक पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या का निरूपण है, भृगुवल्ली में ब्रह्म प्राप्ति के मुख्य साधन रूप ताप का वर्णन का विवेचन है, जो वरुण तथा भृगु के संवाद रूप से वर्णित है।

8% ^,rj; kifu"kn^ में तीन अध्याय है। इसमें सृष्टि तत्व का मार्मिक विवेचन है। मनुष्य का शरीर ही पुरुष के लिए उपयुक्त आयतन सिद्ध किया गया है। देवताओं ने भिन्न-भिन्न अवयवों को अपना निवास बनाया। तदनन्तर परमात्मा उसकी सीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है, तथा जीवन भाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तादात्म्य साक्षात्कार होता है, तब कही इन्द्र की संज्ञा प्राप्त होती है।

9% NkUnkX; mifu"kn में ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की अत्यन्त नितान्त प्रौढ़ और प्रमाणिक व्याख्या मिलती है। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें अन्तिम तीन आध्यात्म ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके प्रथम अध्याय में ओंकार तथा साम के गूढ़ स्वरूप का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में उद्गीथ का और तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना, गायत्री का वर्णन और आङ्गिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को आध्यात्मिक शिक्षा दी गयी है। इसमें "सर्व खल्विदं ब्रह्म" के सिद्धान्त का विजय घोष है। चतुर्थ अध्याय में रैक्व की दार्शनिकता, उपकोशल को सत्य काम जाबाल से ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति का रोचक विवेचन है पाँचवें में जाबालि के दार्शनिक सिद्धान्त तथा अश्वपति के सृष्टि विषयक तथ्य वर्णित है। छठे में महर्षि आरुणि के ऐक्य प्रतिपादक सिद्धान्तों का वर्णन है। "तत्त्वमसि" इनका पीठ स्थानीय मंत्र है। सातवें में सनत्कुमार और नारद का विश्रुत वृत्तान्त है। जो "यो वै भूमातद्भूतम्" की व्याख्या से समाप्त होता है।

10% 'ork'korj में शैव धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। योग इसका अभीष्ट विषय है और अन्तिम अध्याय में गुरु भक्ति का तत्व वर्णित है।

वस्तुतः गुरु भक्ति देव-भक्ति का ही रूप है। भक्ति तत्व का प्रथम प्रतिपादन इस उपनिषद् में मुख्यतया देखने को मिलता है। वेदान्त के माया सिद्धान्त का विकास अपने पूर्व रूप में यहां सुरक्षित है। क्षर एवं अक्षर के आदि तत्व की अभिविवेक यहां मिलता है। शिव परमात्मतत्त्व के रूप में यहां वर्णित है। 11% ognkj.; d mifu"kn यह उपनिषद् आरण्यक का अंश होते हुए भी उपनिषदों में परिगृहीत है। इसका जैसा विशाल कलेवर है, वैसा ही तत्त्वज्ञान भी प्रमाणिक और गम्भीर है। इसमें छः अध्याय हैं और याज्ञवल्क्य की उदात्त अध्यात्म शिक्षा से ओतप्रोत है। प्रथम अध्याय में मृत्यु के द्वारा पदार्थों का वर्णन तथा प्राण की श्रेष्ठता का विवेचन है। द्वितीय अध्याय के आरम्भ में गार्ग्य तथा शान्त स्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु का रोचक सम्वाद है। इसी अध्याय में याज्ञवल्क्य अपनी दोनों भार्याओं कात्यायनी और मैत्रेयी को दार्शनिक सन्देश देकर कृतार्थ होते दीखते हैं। तृतीय तथा चतुर्थ में जनक तथा याज्ञवल्क्य का आख्यान है, जिसमें जनक की सभा में अनेक ब्रह्मवादियों को याज्ञवल्क्य परास्त करते हैं। पंचम में नाना प्रकार के दार्शनिक विषयों का विवेचन है।

इस प्रकार कुल मिलाकर इन प्राचीन ग्यारह उपनिषदों में तत्व की दृष्टि से ब्रह्म और उसकी सर्वाधिक प्रिय सत्ता जगत् से सम्बन्धित विचार अनुरूप है। इसमें शिक्षा के सम्बन्ध में प्रभूत विचार प्रकट किये गये हैं, जिनका विवेचन अगले अध्यायों में होगा।

f'k{kk d vkn'k उपनिषद्कालीन शिक्षा पर विचार करने के पूर्व शिक्षा के उद्देश्य पर हमारा ध्यान चला जाता है। तब उपनिषद्कालीन शिक्षा सोद्देश्य थी या निरुद्देश्य ? और यदि सोद्देश्य थी तो उद्देश्य क्या थे? किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपनिषद्कालीन शिक्षण योजना प्रयत्नशील थी ? किस लक्ष्य को लेकर उपनिषद्कालीन शिक्षक अपने शिक्षण धर्म के प्रति समर्पित रहते थे ? आदि प्रश्न सामने एक-एक कर आ जाते हैं। अतः सर्वप्रथम उपनिषद्कालीन निर्देशों के आदर्शभूत लक्ष्य की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

शिक्षा के इतिहास में औपनिषदिक शिक्षा का विशेष महत्व है। क्योंकि उस समय ज्ञान की प्राप्ति ही शिक्षा की उत्कृष्ट उपलब्धि थी शिक्षक और छात्र के जीवन की संतुष्टि में ही पूर्णतया निहित थी। उपनिषद् साहित्य के अध्ययन से स्पष्टतः लक्षित होता है कि उस समय का समाज केवल सामान्य शिक्षण से संतुष्ट नहीं हो जाता था, अपितु उच्चतम ज्ञान कि व सर्वोच्च तत्व की प्राप्ति के द्वारा विलक्षण परमानन्द-सम्प्राप्ति में ही सचेष्ट रहता था और उस समय के शिक्षक वर्ग भी केवल जीवन निर्वाही ज्ञान देकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते थे। अपितु आध्यात्मिक ज्ञान दान ही उनका चरम लक्ष्य था। इस संदर्भ में भारतीय चिन्तन धारा के विशेषज्ञ और विश्व विख्यात दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन के निम्नलिखित विचार

का उल्लेख अप्रासांगिक नहीं होगा— “जिस आदर्श ने उपनिषद्कालीन विचारकों को प्रभावित किया वह था, सुन्दरम्। वह था सुन्दरम् का आदर्श ज्ञान की पूर्णता का आदर्श और दिव्य गवेषणा के लिए क्षुधातृशार्त दार्शनिकों के बन्धन मुक्त सत्यावेषण से परिपूर्ण सत्य दृष्टि के द्वारा मनःतोष प्राप्ति का आदर्श जो आज भी हमारे लिए आदर्श है।”

उपनिषदों के सामान्य अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में प्रत्येक शिष्य के विशेष अध्ययन के लिए पृथक् रूप से विशिष्ट गुरु की आवश्यकता थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपनिषद्कालीन शिक्षक का उद्देश्य था कि प्रत्येक पात्र शिष्य को अधिकारी गुरु के द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान दिया जाये और वह शिष्य अपने आचरण और उदाहरण के द्वारा समाज में अप्रत्यक्ष शिक्षण का कार्य कर सके। उस समय के शिक्षण के उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम अवश्य थे, किन्तु अन्तिम और श्रेष्ठ उद्देश्य था, मोक्ष की प्राप्ति व और यह निर्विवाद सत्य है कि मोक्ष की प्राप्ति का ज्ञान सामूहिक रूप से कराना असम्भव है। इस प्रकार उपनिषद्कालीन शिक्षण की प्रक्रिया अन्ततः व्यक्तिकेन्द्रित थी, न कि समुदाय केन्द्रित। उपनिषद् ग्रन्थों के अध्ययन से यह भी ज्ञान होता है कि उस युग का व्यक्ति समुदाय सम्बन्ध सत्य दर्शन साध्य के साधन थे न कि स्वयं साध्य था। कठोपनिषद् में कहा गया है—

;nk lo iēP;Uri dkek;L; âfnfJrkA
vFk eR;kî-erk HkoR;= cã leuri AA
;nk lo ifhk|Uri ân;Lug xUFk;A
vFk eR;kî-erk HkoR;irko) lu'kk lueAA

वस्तुतः मनुष्य का हृदय नित्य निरन्तर विभिन्न प्रकार की इस लौकिक और पारलौकिक कामनाओं से परिपूर्ण रहता है। इसलिए न तो परमानन्द स्वरूप परमेश्वर की सम्प्राप्ति के लिए विचार करने का अवकाश मिल पाता है और न कामी विषयों की आसक्ति के कारण वह परमात्मा को पाने की अभिलाषा ही कर पाता है। ये हृदयगत कामनाएं ही जब हृदय से समूल विनष्ट हो जाती हैं, तब उसके दुःख का भी अन्त हो जाता है और आत्मा के सुख—दुःख मुक्त स्वरूप का अनुभव कर सकता है। जब साधक के हृदय की अहन्ता—ममता, रूप समस्त अज्ञान ग्रन्थियां भलीभांति खुल जाती हैं। उसके सब प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं और शास्त्र या गुरु के उपदेश के अनुसार ईश्वर पर उसका विश्वास दृढ़ता हो जाता है। हृदय की गांठ जो मनुष्य को विश्व के साथ जोड़ती है या मनुष्य को बहिर्मुखी बनाती है, या मनुष्य को अन्तर्मुखी होने से रोकती है, या आत्मसाक्षात्कार में बाधा डालती है, वे हैं काम, अविद्या और समस्या। मुण्डकोपनिषद् में ऋषि की उद्घोषणा इसी प्रकार की है—

^i|: "k ,on fo'o de rik cã ijkereA , r |k on fufgr xigk;k l k .fo |kxfUFk
fofdjrhg l kE;A^

तप, कर्म और परम अमृत रूप ब्रह्म यह सब कुछ परम पुरुष ही है। हे प्रिय! इस हृदय रूप गुण गुफा में स्थित परमेश्वर को जो जानता है, वह यहाँ ही अविद्या जन्य गांठ को खोल सकता है।

fHk|ri ân;xfUFkf'N|Uri lo l i'k;A
{kh;Uri pkL; dek f.k r fLen'V i jkojAA

कार्य कारण स्वरूप परमेश्वर को तत्त्व से जान लेने पर जीवात्मा के हृदय की गांठ खुल जाती है। सम्पूर्ण संशय मिट जाते हैं और समस्त कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

अर्थात् ऋषि के कहने का अर्थ है कि पुरुष ही सब कुछ है, वह कर्म के त्याग में भी समर्थ है, अतः ब्रह्म रूप है। वस्तुतः अज्ञान रूपी बन्धनों का जब नाश हो जाता है, तब कर्मरूपी बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं, और पुरुष साम्राज्य प्राप्त कर लेता है। छन्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार नारद को निर्देशित करते हुए कहते हैं।

^u i' ;k eR;| l k' ;fr u jkx ukr n[krk lo g i' ; l k' ;fr loeklukfr lo'k bfrA^

विद्वान न तो मृत्यु देखता है, न रोग को और न दुःख को ही, वह विद्वान सबको देखता है अतः सबको प्राप्त हो जाता है। रावसन महोदय का भी कहना है— उपनिषद्कालीन शिक्षा का सबसे बड़ा

व्यवहारिक उद्देश्य सभी इच्छाओं तथा कार्यकलापों की ओर व्यक्ति को गतिमान करता है। ऐसा अनुभूत हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है, मृत्यु अपसृत हो जाती है, और वह मुक्त आत्मा के रूप में परिज्ञात होता है। आत्मा एवं ब्रह्म के बीच में अन्तर समझना मिथ्या दृष्टि है।

उपनिषद्काल की एक और प्रमुख विशेषता है कि तत्कालीन शिक्षक प्रायः आश्रमों में ही रहते थे, जो स्वभाव से तपस्याश्रय और कर्म से शिक्षणाश्रम थे। ये आश्रम जनपद से अधिक दूर नहीं ही रहते थे। ये ही समय के वैसे ज्ञान केन्द्र थे, जहाँ पर धनी एवं निर्धनों दोनों प्रकार के बच्चे एकरूपता, स्वाबलम्बन और आचरण में उसी प्रकार भागी थे, जिस प्रकार निर्धनपुत्र। राजपुत्रों को और गरीबों के पुत्रों को भी सामान्य शिष्यों की तरह आश्रम में निर्वाह के लिए भिक्षाटन करना पड़ता था। विद्यार्थी गुरु को विद्याचार्य या दैवी अभिभावक के रूप में मानते थे और उनकी अनन्य सेवा में अपना जीवन समर्थक समझते थे।

वस्तुतः उपनिषद्कालीन शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के अन्दर नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का उन्नयन कर उन्हें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का स्वामी बनाना था। उस समय शिक्षा की अन्य सामान्य उपलब्धियाँ तो अपेक्षित थीं ही, किन्तु अध्यात्मक साम्राज्य की उपलब्धि सर्वोत्तम उपलब्धि मानी जाती थी। उपनिषद्कालीन शिक्षा के मुख्य उद्देश्य की उद्घोषणा शिक्षणाश्रम की निम्नांकित प्रार्थना में उद्घोषित होती है।

^Å Ig ukoorA Ig uk HkuDrA Ig oh; djokogA rtflo uko/khreLrA ek fof}'kko gA^m

पूर्ण ब्रह्म परमात्मन्। “हम दोनों (गुरु शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें, हम दोनों का साथ-साथ पालन करें, हम दोनों साथ-साथ ही शक्ति प्राप्त करें, हम दोनों कयी पढ़ी हुई विद्या तेजस्विनी हो, हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।”

इस प्रकार की अनेक प्रार्थना उपनिषद्कालीन शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य को प्रतिध्वनित करती है जिससे तत्कालीन छात्र-शिक्षक सम्बन्ध भी सुस्पष्ट होता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि ज्ञान ही मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। उपनिषद्कालीन ऋषियों का विश्वास था, मनसा, वाचा, कर्मणा, बलहीन मनुष्य परमतत्त्व की प्राप्ति में सक्षम नहीं हो सकता। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट घोषणा की गयी है “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादत्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।।” डा० रामा स्वामी का भी विचार है “स्वस्थ शरीर के निर्माण पर उतना आधिक जोर दिया गया था, जितना लक्ष्य की दृढ़ता और संकल्प की पवित्रता और शिष्टता पर, क्योंकि ये सब गुण बहुत हद तक शारीरिक स्वास्थ्य पर आश्रित रहते हैं, विद्यार्थी खुद को केवल योग्य ही नहीं बनाता था, बल्कि बलिष्ठ एवं अनुशिष्ट भी बनाता था।”

सम्पूर्ण समन्वित व्यक्तित्व का विकास उपनिषद्कालीन शिक्षा की विशेषता थी। उस समय की शिक्षा का उद्देश्य जहाँ संसुप्त बौद्धिक गुणों को जागृत करना था, वहीं विवेकशील दृष्टि और बौद्धिक गुणों का मानव के द्वारा मानव समाज में प्रकाशन भी था।

ज्ञान का मद भी बड़ा बुरा होता है। प्रायः शिक्षा प्रणाली “विद्या विवादाय” कहावत को चरितार्थ करती है, किन्तु उपनिषद्कालीन शिक्षा प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त विद्या से मद की उत्पत्ति नहीं होती थी, फलतः निरर्थक विवाद भी नहीं होता था, क्योंकि समाज में केवल विद्या की प्रतिष्ठा नहीं होती थी, इसलिए उस काल में पढ़ने और पढ़ानेवाले दोनों ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि उनकी ज्ञान निरुपयोगी न होकर सदुपयोगी हो जाय। लोग उपनिषद्काल में मन, कर्म और वचन में एक्य संस्थापित कर अपने ज्ञान में दिव्यता लाने का प्रयत्न करते थे और समाज के लिए सर्वथा आदर्श और अनुकरणीय बन जाते थे।

उपनिषद्कालीन शिक्षा का लक्ष्य निःस्वार्थ प्रेम, स्वाभाविक दया और सुख-दुःख समभाव जैसे गुणों के उन्नयनोपरान्त बौद्धिक मुक्ति के द्वार का उन्मीलन था। इस सन्दर्भ में हुमायूँ कबीर का विचार है कि “उपनिषदों के अध्ययन के प्रारंभ में जो प्रार्थनाएं की गई हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की शिक्षा की अपेक्षा होती है, जो मानव स्वाभाव के समस्त अंगीभूत तत्वों की पूर्ति कर सके और अविभाज्य व्यक्तित्व के विकास की दिशा में उनकी सहायता करें।” मेरे ओष्ठ, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत और सभी इन्द्रियां

मजबूत तथा पूर्ण हों। ये सभी परमतत्व की प्राप्ति के साधन रूप है, मैं इन्हें कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकता और वह भी मेरा परित्याग नहीं कर सकता। मैं उन गुणों को प्राप्त कर सकूँ जो मानव के अन्दर औपनिषदिक अध्ययन के प्रति जागरूक हों।

I UnHk %

1. केनोपनिषद्, 4/7
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/10
3. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः—मुण्डक 0.3/2/6
4. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते— वही, 1/1/5
5. अन्विक्षिकीं चात्मविद्यां—मनु0 7/43
6. अध्यात्मविद्या विद्यानम्—गीता, 10/32
7. महाभारत, शान्तिपर्व—340/73-74
8. छान्दोग्य 07/8/1
9. वही, 2/23/1
10. छान्दोग्योपनिषद् 1/1
11. वही, श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिसुच्च धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।। 1/2
12. वही, 1/4-8
13. वही, 2/3
14. केनोपनिषद् 2/5
15. कठोपनिषद् 1-2-24
नाविरतो दुष्परितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्त जाग्रह मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमारनुयात् ।।
16. वही, उत्तिष्ठं जाग्रत प्राप्य ब्रह्मनिबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्पयो वरन्ति । 1/3/14
17. वही, 1-2-23
18. कठोपनिषद्— 1-2-23
19. वही, 2/3-14
20. मुण्डकोपनिषद्—1/1/4-5.



euoknh o.k 0; oLFkk dk ifrdkj djrh % Lokesh vNrkun ^gfjgj* dh dfork, Mk- vjfoUn dekj*

किसी भी देश या समाज की सभ्यता व संस्कृति, इतिहास के गर्त में दबकर क्यों न रह गई हो, एक न एक दिन ऐतिहासिक अध्ययन, उत्खनन, मंथन व चिंतन के फलस्वरूप प्रकाश में अवश्य आता है। ऐसे ही नवजागरण काल के कवि हैं—स्वामी अछूतानंद ‘हरिहर’। मात्र कवि कहना भी उचित न होगा, बल्कि समाज सुधारक कवि कहें तो ज्यादा समीचीन होगा, जिन्हें हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने अपने पुस्तकों में रेखांकित नहीं किया, किंतु बाद में दलित साहित्य के उत्कर्ष के परिणामस्वरूप दलित साहित्यकारों ने स्वामी अछूतानंद और हीरा डोम जैसे विरले कवियों को प्रकाश में लाया और दलित चिंतन की एक जो लंबी फेहरिस्त पूर्वाद्ध से रही है, उससे साक्षात्कार करवाया। वास्तव में ये विरले कवि आज भी इतिहास के पन्नों में कहीं दबकर ही रह जाते यदि दलित साहित्यकारों ने उन्हें ढूँढ न निकाला होता। वैसे तो हीरा डोम जिनकी कविता अछूत की शिकायत को महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पत्रिका सरस्वती में 1914 में प्रकाशित किया, किन्तु स्वामी अछूतानंद तो इससे भी महारूम रह गये। जबकि उनकी कविताओं में दलित जीवन की त्रासदी का बोध ही नहीं अपितु चेतना का स्वर भी है और चेतना का यही स्वर कभी वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात करती है, तो कभी आंदोलन करने के लिए अभिप्रेरित, तो कभी दासता की इन जंजीरों को तोड़ फेंकने का आह्वान। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दलित जागरण की जो सुगबुगाहट प्रारम्भ हुई उत्तर भारत में उसे सशक्त स्वर व आधार दिया स्वामी अछूतानंद ‘हरिहर’ ने। स्वामी अछूतानंद ‘हरिहर’ उपनाम से कविताएं करते थे। उनका जन्म सन् 1879 को मौजा उमरी मैनपुरी में हुआ था। जबकि इनकी मृत्यु 20 जुलाई 1933 को वैनाझावर ईदगाह कानपुर में हुई। (हंस, अगस्त, 2004.) स्वामी अछूतानंद की सबसे बड़ी विशेषता यदि कोई है तो वह यह कि उन्होंने अछूत शब्द का अर्थ सर्वश्रेष्ठ माना। भारत के मूलनिवासियों का आदि हिंदू आंदोलन चलाया। 1927 में ‘आदि हिंदू’ शीर्षक से अखबार का प्रकाशन व संपादन का कार्य भी आपने किया।

“हिन्दी में अभी तक आधुनिक दलित साहित्य का आरम्भ 1914 में प्रकाशित हीरा डोम की कविता ‘अछूत की शिकायत’ से माना जाता है, लेकिन दलित आकलन को गति देने वाले सामाजिक व्यक्तित्व स्वामी अछूतानन्द हरिहर के काव्य के प्रकाश में आने के बाद यह तारीख 1914 से हटकर बीसवीं सदी के बिल्कुल शुरु में ही चली जाती है। अतः दलित साहित्य के प्रेरणाश्रोत यदि महात्मा बुद्ध, गोरखनाथ, कबीर, रविदास, नामवेद, डॉ. भीमराव अम्बेदकर आदि हैं, तो आधुनिक हिन्दी दलित साहित्य के अग्रदूत स्वामी अछूतानन्द स्वीकार किये जा सकते हैं।”¹

स्वामी अछूतानंद हरिहर की जो रचनाएँ उनके जीवन काल में प्रकाशित हुईं उनमें शम्बूक मुनि (नाटक), रामराज्य न्याय (नाटक), मायानन्द बलिदान पर बलिदान नाटक (अपूर्ण) शामिल हैं। ‘आदिवंश का डंका’ उनकी कविताओं का संग्रह है जो गीत, गजल, भजन, रसिया आदि शैली में लिखी हुई हैं। यह लोकछंद में रचित कृति है, जिसमें 21 कविताएं संकलित हैं। स्वामी अछूतानन्द की कविता राजनीतिक—सामाजिक कविता है। उन्होंने अपने कविताओं के माध्यम से सोये हुए दलित समाज को जगाने का प्रयास किया है। दलित साहित्य सोद्देश्य साहित्य है। जिसका एक मात्र उद्देश्य सदियों से

*पूर्व शोधार्थी, हिन्दी विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी

गुलामी की जंजीरों में जकड़े दलित समाज को आजादी दिला समाज में अपनी एक अस्मिता स्थापित करने का संदेश देना है। मानव अधिकारों से वंचितों की श्रेणी के रूप में भारतीय समाज में दलितों की अपनी एक अलग जमात सी है, जिन्हें हमेशा हिंकारत और हीन दृष्टि से देखा गया है और जाति विशेष में जन्म लेने के कारण सदा से ही उन्हें उपेक्षित व शोषित किया जाता रहा है। सदियों से दलित समाज जिस जीवन शैली को अपनी नियति मान कष्ट, दुःख, दासता, पीड़ा को सहता आ रहा है, वास्तव में वह कोई नियति नहीं अपितु स्वर्ण समाज के पुरोधाओं की वह कूटनीति है, जिसके चक्की में दलित समाज बरबस पिसता चला आ रहा है।

हिन्दुस्तानी सभ्यता प्रारंभिक काल में अवर्ण (अनार्य) की रही है। जिन्हें वर्ण व्यवस्था में शूद्र कहा गया है। वास्तव में हिन्दुस्तान की सरजमी का जो वास्तविक हकदार है, वही समाज वर्ण व्यवस्था के निर्माण के फलस्वरूप गुलामी की जंजीरों में इस कदर जकड़ गया कि न सिर्फ अपनी जमीं से महरूम हो गया, बल्कि अपने ही देश में उपेक्षित, दरिद्रता, दुःख, त्रासदी को झेलने के लिए बाध्य भी। स्वामी अछूतानन्द ने अपनी कविता में दलितों को गुलामी की इस जंजीर को तोड़कर फेंकने का बार-बार आह्वान किया है। जुल्म करने वाले से कहीं ज्यादा दोषी जुल्म सहने वाला होता है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में संघर्ष करने की प्रेरणा दिखाई देती है। जिसका उदाहरण हम इन पंक्तियों में देख सकते हैं –

LkH; lcl fgUn d i kphu gdnkj geA
vc ugh g og t ekuk t Ye ^gfjgj* er l gkA
rkM nk t t h j t d M D; k x ykeh e j g\AA²

मनुस्मृति दलितों के जीवन में ऐसी आग की तरह आई, जिसमें दलित समाज का जीवन अत्यंत ही नारकीय हो गया। स्वामी अछूतानन्द की 'मनुस्मृति हमको जला रही है' कविता दलित वेदना के दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है जिसमें कवि ने मनुस्मृति के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है, साथ ही जिसमें दलित पीड़ा मानवीय संवेदना के रूप में मुखरित हुई है। वर्ण व्यवस्था ने दलितों के जीवन को अभिशाप बना दिया, किन्तु मनुस्मृति तक आते-आते यह वर्ण व्यवस्था दलितों के जीवन को इस कदर नारकीय बना देती है कि उन्हें जानवरों से भी बदतर जीवन जीने पर बाध्य होना पड़ा। वो बैलों से भी बदतर कर्म करने को बाध्य होते हैं और बेगारी करते हैं। मनुस्मृति दलितों के जीवन को किस प्रकार जला रही है और उनके जीवन को किस कदर नरकतुल्य बना डाला है, उसका एक उदाहरण दृष्टव्य है –

fu'kfnu euLefr ; j gedk t yk jgh g]
Åij u mBu nrh] uhp fxjk jgh g---
ckā.k o {kf=; dk lcdk cuk; k vQl j-
gedk ^ijku mrju iguk* crk jgh g---
nk'yr dHkh tkM] xj gk rk Nhu y: og
fQj uhp dg gekjk fny Hkh n[kk jgh g-----
d\Ük o fcYYkh eD[kh] l: Hkh cuk d: uhpk
gk 'kkd! Xkake ckjj gedk cl k jgh gAA³

स्वामी अछूतानन्द ने ऐसे सामाजिक कुचक्रता के माहौल को तोड़ फेंकने के लिए साहित्य का सहारा लिया। कलम और तलवार में यदि फर्क किया जाय तो एक बात जो सामने निकलकर आती है और वह यह कि तलवार कभी भी कलम नहीं बन सकती। किन्तु कलम जब चाहे तब तलवार का रूप धारण कर शब्द रूपी धार से अच्छे-अच्छों की पोल खोलकर रख सकती है। दलित आंदोलन सशस्त्र क्रांति का आन्दोलन नहीं है। वह सामाजिक आंदोलन है और वो भी शब्दों के बिसाद पर। भारतीय समाज में एक वर्ग (दलित समाज) ऐसा है जिसके स्पर्श मात्र से भी सवर्ण समाज कतराता है। समाज में अस्पृश्यता का ऐसा माहौल निर्मित है कि जहां आदमी, आदमी के स्पर्श से बचता है। सवर्ण समाज की मानसिकता में 'छुआछूत का कीड़ा' इस कदर व्याप्त है कि वह दलित समाज से कटकर रहता है कि कहीं छूत न लग जाए और उनका धर्म नष्ट न हो जाए। अब प्रश्न उठता है कि यह कैसा धर्म है जो मनुष्य को मनुष्य से

विरक्त और काटकर रखता है। आखिरकार यह कितना छोटा व कमजोर धर्म है जो इंसान को छूने मात्र से नष्ट हो जाता है। सोचकर कभी हंसी भी आती है और गुस्सा भी। बहरहाल स्वामी अछूतानंद ने अस्पृश्यता के इस घोर अमानवीय माहौल का पुरजोर खण्डन कुछ इन शब्दों में किया है –

ge rk 'k)&c) ekuo g] ij re ij[k u ikr: gkA

?k l: N r d: dhM fl j e] b l l: re fpYykr: gkAA⁴

स्वामी अछूतानंद की कविताओं में वर्ण व्यवस्था का प्रतिकार व मनुस्मृति के प्रति टीस ही नहीं है, अपितु चेतना का प्रबल स्वर भी विद्यमान है। यही कारण है कि वह परतंत्रता की गहरी खाई में साये पड़े आदि हिन्दुओं (दलितों) को जगाने का प्रयास करने के साथ ही संघर्ष और अभिशाप पूर्ण जीवन से मुक्ति के लिए जेहाद छेड़ने का आह्वान भी करती हैं। इसके लिए स्वामी जी ने समस्त उत्तर भारत में आदि हिंदू का डंका बजाया था। आदि हिन्दू आंदोलन के प्रचार-प्रसार के लिए वो सभायें करते थे। 'स्वामी जी की ये सभायें 'अखिल भारतीय आदि हिन्दू' सभाएँ कहलाती थी। इन सभाओं के आरम्भ में सिर्फ धर्म पर ही चर्चा होती थी, किन्तु 1930 में जब डॉ० अम्बेडकर ने दलित वर्गों के लिए राजनैतिक अधिकार की मांग की, तब से धर्म के साथ-साथ राजनीतिक मुद्दा भी आदि हिन्दू आंदोलन के एजेण्डे में शामिल हो गया था। अब उनकी सभाओं में चर्चा के दो विषय होते थे – एक धर्म का और दूसरा राजनीति का। धर्म के प्रश्न पर स्वामी जी वेद-शास्त्रों से उद्धरण देकर आर्य द्विजातियों को विदेशी हमलावर बताते थे और अछूत जातियों को मूल निवासी सिद्ध करते थे। मूल निवासियों की सभ्यता और संस्कृति का बखान और उनके गौरवपूर्ण इतिहास का वर्ण करते हुए अपने आदि हिन्दू कहलवाते थे। राजनीति के सवाल पर स्वामी जी दलित जातियों को कांग्रेस और हिन्दुओं की राजनीति से सावधान करते थे और डॉ० अम्बेडकर के आंदोलन तथा उनकी माँगों का समर्थन करते थे। उन्होंने दलितों के राजनैतिक अधिकारों का नाम 'मुल्की हक' (राष्ट्रीय अधिकार) रखा था। वे जन सभाओं में अपने भाषण के अन्त में यह गीत गाते थे, जो 'आदि हिन्दू आन्दोलन' की धार्मिक तथा राजनैतिक दोनों अवधारणाओं को समाने रखते हैं –

t kxk th t kxk v l y h uke Mcku: okyA

o'k Mcku: oky] j k t x oku: okyA

cu d: x y k e n L; u k e /k j k u: okyAA

x Q y r e i y k u: oky] v V d h i j j k u: okyA

I g y: /k R d k j v i u k l o l o f e v k u: okyAA

r e d k g i f u n k l; k j h] t x e i g k j g h f /k D d k j h A

[k k d: /k u & /k k e l k j k] n D [k k d: c < k u: okyAA⁵

स्वामी जी ने दलितों के मूलनिवासी के मुद्दे को हमेशा अपने आंदोलन का हिस्सा बनाकर रखा। इस धरती के असली हकदार जिन्हें दलित बनाकर तथाकथित सभ्य किन्तु मानवता पर कलंक समाज ने गुलाम बनाकर शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक और शोषण के तमाम हथकंडे अपनाकर मुख्यधारा के सामाजिक परिधि से खदेड़े रखा, उस समाज की आवाज बनकर स्वामी अछूतानंद जैसा मसीहा दलित समाज में जन्म लेता है और सदियों पुरानी परम्परा के विरुद्ध लोहा लेता है। स्वामी अछूतानंद की जो बात मुझे सबसे अच्छी लगती है वह यह कि उन्होंने मुख्यधारा के तथाकथित वर्चस्वादी समाज को ही चुनौती नहीं देते, बल्कि स्वयं दलितों को भी फटकार लगाते हुए संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं।

I UnHk %

1. प्रो. चमनलाल, दलित साहित्य एक मूल्यांकन, राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ० 61
2. भारती कँवल, स्वामी अछूतानंद जी 'हरिहर' और हिन्दी नवजागरण, स्वराज प्रकाशन, अंसारी रोड, नई दिल्ली-02, सं. प्रथम 2011, पृ.सं. 262
3. स्वामी अछूतानंदजी हरिहर और हिन्दी नवजागरणा कँवल भारती, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2011, पृ० 225
4. प्रो. चमनलाल, दलित साहित्य एक मूल्यांकन, राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ० 64
5. स्वामी अछूतानंदजी हरिहर और हिन्दी नवजागरणा कँवल भारती, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2011, पृ० 225



f=ykpu d d k0; e /kkfeid fpUru dk Lo : lk

MkO I Hkk"k pun ik.M;*

त्रिलोचन की धार्मिक चेतना का साक्षात्कार करने से पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि उनका साहित्य हमें न तो किसी धर्म विशेष में आस्था रखने की ही प्रेरणा देता है और न ही किसी धर्म विशेष के प्रति हमारे अन्तस् में घृणा का ही संचार करता है बल्कि उनका साहित्य तो भारतीय जनमानस को अंध धार्मिकता के इस दुरुह व्यामोह से ही दूर रहने का संदेश देता है। वे एक सजग कवि हैं अतः वे धर्म के सकारात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों से भलीभाँति परिचित हैं। वे जान रहे हैं कि प्रत्येक धर्म की अनेक ऐसी स्थापनाएं हैं जो मानव में सर्जनात्मकता की सृष्टि करके समाज में आपसी सौहार्द, प्रेम, करुणा, समानता, भ्रातृत्व जैसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में सक्षम हैं लेकिन वह यह भी भलीभाँति जान रहे हैं कि धर्म का उपयोग सत्ता ने हमेशा अपने स्वार्थों के लिए, उसकी प्रतिपूर्ति के लिए किया है। जनता के अनेक वर्गों को एक दूसरे से लड़ाया है। समाज में विद्वेष, घृणा, हिंसा, लूटपाट, जैसी मानवता के प्रतिकूल शक्तियों को बढ़ावा दिया है। इतिहास साक्षी रहा है कि धर्म का पुरोधा बनने वाले मौलवियों एवं मठाधीशों ने मध्ययुगीन साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ा करके समाज को युद्ध के भयंकर गर्तों में झोंक दिया है। धर्म के इस घृणित पक्ष से समूची मानवता शर्मसार हुई है और यही कारण रहा है कि त्रिलोचन के साहित्य में अंशतः ही सही लेकिन बड़ी मजबूती से धर्म विरोधी चेतना के स्वर की अनुगूंज सुनाई देती है। वे जानते हैं कि धर्म के ये दुर्ग जिन्हें ध्वस्त करना है कमजोर नहीं हैं। बड़ी मजबूती से समाज को अपने चंगुल में जकड़े हुए हैं अतः इनपर प्रहार भी बड़े ही सुनियोजित और वेग से करने की जरूरत है जिससे इनका ध्वंसावशेष भी निःशेष हो जाए—“करता हूँ आक्रमण धर्म के दृढ़ दुर्गों पर / कवि हूँ, नया मनुष्य मुझे यदि अपनायेगा / उन गानों में अपने विजय गान पाएगा / जिनको मैंने गाया है। वैसे मुर्गों पर / निर्भर नहीं सबेरा होना लेकिन इतना / झूठ नहीं है जहाँ कहीं वह बड़े सबेरे / ऊँचे स्वर में बोला करता है, मुँह फेरे / कोई पड़ा नहीं रह सकता है।”¹

त्रिलोचन धर्म के इस निषेधपरक पक्ष के मजबूत आधार के जमे रहने पर गहरा क्षोभ व्यक्त करते हैं। उन्हें धर्म का यह स्वरूप जो समाज में घृणा द्वेष का भीषण हलाहल भर करके व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र को विषाक्त बना रहा है गहरे स्तरों पर संक्षुब्ध करता है। वे धर्म को सामाजिक दुरावस्था का भी कारण मानते हैं क्योंकि इसी धर्म ने समाज की शान्ति को, सौहार्द को नष्ट—भ्रष्ट कर दिया है। आज समूचा समाज या कहें समूचा विश्व ही धर्म के इन षड्यन्त्रों में उलझा हुआ है—“आह भीषण हलाहल / समा गया है साँस साँस में घृणा द्वेष का / देख रहा हूँ व्यक्ति समाज राष्ट्र की बातें / एक दूसरे पर कठोरतर।”²

त्रिलोचन धर्म विरुद्ध यह उद्घोषणा अपने काव्य में ही नहीं करते बल्कि अपने गद्य में भी व्यक्त करते हैं। उनकी पंक्तियाँ साम्प्रदायिक शक्तियों के असली चेहरे को हमारे सामने उधारकर रख देती हैं। वे लिखते हैं—“साम्प्रदायिक शक्तियाँ मध्ययुगीन दीपक के उजाले में ही रास्ता खोज रही हैं और इनकी बातें सुनने वालों का समुदाय भी बहुत बड़ा है। धर्मों के अलग अलग जितने भी नाम हैं सबके अपने अपने प्रचार यंत्र हैं। अतः धार्मिक संघटन जहाँ परस्पर विरोध को बढ़ावा देते हैं वहाँ अपनी शक्ति के विकास का भी पूरा प्रयत्न करते हैं। कभी—कभी ये संघटन राजनीतिक और आर्थिक संघटनों के विरोध में भी खड़े होते हैं। ऐसी धर्म निरपेक्षता गीत की वह टेक है जिसके गायकों को उसके अर्थ का पता नहीं है। असलियत यह है कि किसी न किसी रूप में किसी न किसी धर्म की झलक सामने आ ही जाती है। धर्म निरपेक्ष जिसे कह सकें ऐसा कोई आदमी नहीं है।”³

यही कारण है कि उनके काव्य में न किसी धर्म विशेष के प्रति अनुराग है और न ही विद्वेष। वे सच्चे अर्थों में मानव धर्म के समर्थक कवि हैं। मानवता ही उनका धर्म है। वे मानव धर्म के ही उपासक हैं तथा मानवतावादी मूल्यों के प्रचारक हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की धार्मिक चेतना मानवतावादी मूल्यों पर ही अवलम्बित है उनका काव्य मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा का काव्य है। उनकी धार्मिक संचेतना उनके काव्य में निहित मानवतावादी मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है।

त्रिलोचन का साहित्य मानवता की मुक्ति का साहित्य है। मानव की इसी मुक्ति के लिए उनकी समूची काव्य साधना, उनका समग्र जीवनानुभव, उनका प्रगतिशील दृष्टि सम्पन्न आध्यात्मिक चिन्तन एवं सामाजिक सरोकार समर्पित है। देश ही नहीं विश्व के मुक्ति के स्वर सुनाई देते हैं तो उनकी अन्तःस्कलिका मुकुलित हो जाती है—“किसी देश में मानवता को मुक्ति यदि मिली/तो मैंने जीवन पाया जी की कली खिली।”⁴

मानवता की मुक्तिकामी चेतना से सम्पृक्त उनका यह साहित्य समूचे साहित्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। त्रिलोचन धर्म को वहीं तक जरूरी और अनिवार्य मानते हैं जहाँ तक वह मानव को मानव से जोड़ सके, उनके जीवन को अनुशासित करे, उनके अन्तःकरण में सद्वृत्तियों का संचार करे एवं समाज के आपसी सौहार्द तथा प्रेम भाव में अभिवृद्धि करे। वह व्यक्ति को कर्मवाद की ओर उन्मुख करे। इन्हीं सद्वृत्तियों से संयुक्त धर्म को वे अनन्त काल तक बनाये रखना चाहते हैं ऐसी वृत्तियों से युक्त धर्म सदैव वर्द्धमान रहे यह उन्हें अभीष्ट है—“धर्म विरोधी देखे धर्म नहीं डूबा है/गंगा जमुना के घाटों पर टाट लगा है/सहज विरागी भी विराग से अब ऊबा है धर्म कर्म का बढ़ने वाला मंसूबा है।”⁵

वस्तुतः त्रिलोचन का साहित्य धर्म की रचनात्मकता का समर्थन करने वाला साहित्य है। उनके धार्मिक चिन्तन के स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए हमें यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उनका साहित्य ‘धर्म विनिर्मित अंधकार से’ लड़ने वाला साहित्य है। ऐसा धर्म जो मनुष्य के अन्तःकरण के आयतन को संक्षिप्त करे, उनके चिन्तन को कुन्द करे, उनमें हिंसा का विचार उत्पन्न करे, उस पर सतत प्रहार ही त्रिलोचन का काव्य स्वभाव बन गया है। त्रिलोचन के अनुसार वास्तविक अर्थों में धर्म वही है जो मानव का, प्रकृति का तथा मानवता का संरक्षण करे, प्राणि मात्र में समरसता का संचार करे। त्रिलोचन के ही शब्दों में—“जिनको भगवान ने रक्खा है उन्हें रहने दे/फूलने फलने दे उनका कभी संहार न कर।”⁶

अगर कोई धर्म और ईश्वर के नाम पर समाज में नफरत की भावना का प्रसार कर रहा हो तो त्रिलोचन का साहित्य हमें ऐसे धर्म और ईश्वर के प्रतिकार की भी प्रेरणा देता है। अगर विधाता ही मानवता के विपरीत हो जाय तो मानव का भी धर्म है कि वह ऐसे विधाता के भी विपरीत हो जाय उसका विरोध करे, प्रतिकार करे—“विधाता की चिन्ता मुझे किस घड़ी थी/सुना वाम है तो उसे वाम छोड़ा।”⁷

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिलोचन का साहित्य धर्म का, विधाता का चिन्तन करने वाला साहित्य नहीं है बल्कि वह धर्म और विधाता को मानवता की सेवा में संलग्न करने वाला साहित्य है। इन अर्थों में उनकी धार्मिक संचेतना कबीर की धार्मिक संचेतना के सन्निकट प्रतीत होती है। इन्हीं अर्थों में वे आधुनिक कबीर भी हैं। स्वयं कबीर पर लिखी गई उनकी पंक्तियाँ उनकी धार्मिक संचेतना के स्वरूप को तथा उनके व्यक्तित्व को अभिव्यंजित करने में पूर्णतः समर्थ हैं—“ब्राह्मण को तुकारने वाला वह काशी का/जुलहा जो अपने घर नित्य सूत तनता था/लोगों की नंगई ढाँकता था, आशी का/उन्मूलन करता था जिसका विष बनता था/जाति वर्ण का अंहकार। कब्रें खनता था/मुल्लो मौलवियों की झूठी शान के लिए /रुढ़ि और भेड़िया धसान को वह हनता था/शब्द बाण से, जीता था बस ज्ञान के लिए /गिरे हुआँ को खड़ा कर गया मान के लिए।”⁸

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की धार्मिक चेतना परम्परानुमोदित जीर्णशीर्ण रुढ़ियों के उत्थान एवं उनके प्रसार से सर्वथा अलग है यहाँ (त्रिलोचन की धार्मिक संचेतना में) परम्परा का संस्कार, ज्ञान के प्रति गहरा अनुराग तथा उसे लोकसेवा से जोड़ना ही सच्ची धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता का पर्याय है उसका वास्तविक निहितार्थ है। उनकी धार्मिक भावना लोकसेवा, लोकजागरण प्रकारान्तर से समग्र सांस्कृतिक जागरण का रूपान्तरण कही जा सकती है।

त्रिलोचन मूलतः न किसी धर्म विशेष के सिद्धांतों का समर्थन करते हैं और न ही किसी धर्म विशेष के सिद्धान्तों का निषेध। उनकी धार्मिक निष्ठा के केन्द्र में है मनुष्यता या मानवीयता या आदमीयत। जन सामान्य की उपेक्षा होने पर वे ईश्वर के स्वरूप को भी बदल सकते हैं और दीन हीन व्यक्ति में भी ईश्वर

का साक्षात्कार कराते हैं—“दीन हीन, छवि क्षीण और व्याकुल ईश्वर को/आज सड़क पर हाथ पसारे मैंने पाया/पुनः परस कर देह, कहा ईश्वर से ईश्वर/बना लिया क्या हाल इधर तुमने भी अपना।”⁹

त्रिलोचन धर्म ग्रन्थों में वर्णित किसी देव विशेष की आराधना एवं उसके प्रसन्नार्थ तपः साधना, बीज मंत्रोच्चार नहीं करते हैं अपितु जनमानस के कल्याणार्थ अक्षर ब्रह्म की आराधना करते हैं तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसके जीवन संताप की हरने में लगा देते हैं—“देवाराधन अक्षर ब्रह्म का किया, अपनी/जैवाकांक्षा तप से साधा, मानस मल धोने की/चेष्टा संतत तप से की।”¹⁰

जनसामान्य की बदहाली से त्रिलोचन गहरे अर्थों में संक्षुब्ध हैं। असत् वृत्ति वालों का निरन्तर होता उत्थान उन्हें पीड़ित करता है। वस्तुतः सद्मार्गी साधारण जन जो निरन्तर परिश्रम में निशिवासर संलग्न हैं वे दो जून की रोटी के लिए मोहताज हैं। त्रिलोचन विधाता के इस विधान को स्वीकार नहीं कर पाते हैं और इस अव्यवस्था की मूलक किसी भी सत्ता, प्रभुसत्ता को वे नकार देते हैं उसका निषेध करते हैं—“विधाता की चिंता मुझे किस घड़ी थी।/सुना वाम है तो उसे वाम छोड़ा।”¹¹

त्रिलोचन ने मनुष्य को ही ईश्वर माना है किंतु उनका ईश्वर भी आज अपनी स्वाभाविक मृत्यु नहीं पा रहा है इस बात से वे दुःखी हैं। वैसे भी असामयिक मरण व्यथा उत्पन्न करता है और फिर ईश्वर की अस्वाभाविक मृत्यु तो महाशोक का कारण है ही। पूँजीपतियों एवं सामंतों द्वारा ईश्वर पर घोर अत्याचार एवं अन्याय किया गया तथा उसका शारीरिक मानसिक एवं आर्थिक शोषण किया गया जिसके कारण ईश्वर को स्वाभाविक मृत्यु भी नसीब न हो सकी। इससे त्रिलोचन को गहरा दुःख है। उन्हीं के शब्दों में—“मृत्यु हो चुकी है ईश्वर की/स्वाभाविक मौत न पाई ईश्वर ने, पूँजीपतियों ने सामंतों ने/उसे मार डाला उसकी खा गए कमाई/देश देश में जो संचित थी।”¹²

वस्तुतः त्रिलोचन की कविताएं यथार्थ से ही संपोषित होती हैं चाहे वे वैयक्तिकता के स्तर पर हों अथवा निर्वैयक्तिकता के स्तर पर। चाहे वे व्यष्टिपरक हों अथवा समष्टिपरक, चाहे प्राकृतिक सौन्दर्य की हों अथवा मानवीय सौन्दर्य की सभी अपने शुद्धतम रूप में यथावत् अभिव्यक्ति पाते हैं।

त्रिलोचन की कविताएं वायवीयता और काल्पनिकता से अपनी दूरी बनाने में जिस प्रकार क्षम हुई हैं उसका मूल कारण उनका यथार्थ से सच्चा अनुराग ही है। विशुद्ध भावनाओं को उत्कृष्ट भावमयता प्रदान करना ही उनका काव्य लक्ष्य रहा है। अपनी प्रगतिशील चेतना को भी वे यथार्थ से ही सिक्त करते हैं। जन सामान्य से अपना अटूट सम्बन्ध बनाते हैं उसके सुख-दुख, हर्ष-विषाद, श्रम-संघर्ष को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, उसके कर्म कौशल तथा श्रमशीलता को पूरा सम्मान प्रदान करते हैं। पूँजीपतियों के शोषण मूलक दमन चक्र का प्रबल प्रतिरोध करते हैं। सुप्त जन मानस को जागृति प्रदान कर उसे क्रान्ति के लिए, बदलाव के लिए तैयार करते हैं। अपने सम्पूर्ण रचना संसार में नारियों को यथेष्ट सम्मान एवं स्वाभिमान प्रदान करते हैं। उनका प्रेम दिवा स्वप्न की रंगीनियों से नहीं अपितु उद्यमशीलता से जोड़ता है और मानवीय मूल्यों के प्रति सजग बनाता है। मानवों में ही मानवीयता न हो यह उन्हें सह्य नहीं है। उनका काव्य प्रगतिशीलता के नए प्रतिमान स्थापित करता है। वे दीन-हीन छवि क्षीण जनों में ईश्वर का साक्षात्कार कराते हैं भिक्षुक तक को शाही स्वर प्रदान करते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की यथार्थवादी प्रगतिशील चेतना जन सामान्य के सुखार्थ एवं रक्षणार्थ एक व्यापक विस्तीर्ण भूमि का सृजन करती है।

I UnHk %

1. दिगन्त — त्रिलोचन, पृ. 17	7. गुलाब और बुलबुल — त्रिलोचन, पृ. 115
2. दिगन्त — त्रिलोचन, पृ. 16	8. गुलाब और बुलबुल — त्रिलोचन, पृ. 109
3. काव्य एवं अर्थबोध — त्रिलोचन, पृ. 17	9. शब्द — त्रिलोचन, पृ. 55
4. दिगन्त — त्रिलोचन, पृ. 64	10. शब्द — त्रिलोचन, पृ. 37
5. त्रिलोचन संचयिता — सं. ध्रुव शुक्ल, पृ. 214	11. गुलाब और बुलबुल — त्रिलोचन, पृ. 115
6. गुलाब और बुलबुल — त्रिलोचन, पृ. 39	12. अरघान — त्रिलोचन, पृ. 76



ck) /kEe dk gkI % ,d fpru

je'k jkfggr*

डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन अपनी पुस्तक भारतीय दर्शन में बुद्ध धर्म के हास के बारे में कहते हैं कि बौद्ध भिक्षु अपने प्राचीन दिव्य संदेशवाहक के उत्साह को खो बैठे। जनता की नैतिक एवं धार्मिक चेतना को जागृति करने वाले सरल संवाद अब नहीं रहे, बल्कि उनके स्थान पर अनुशासन एवं आध्यात्मिक शास्त्र-सम्बन्धी सूक्ष्म तर्क रह गया। ब्राह्मण धर्म और महायान मत के दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों में समानता स्वीकार की जाने लगी। जब ब्राह्मण धर्म ने भी विश्व प्रेम और ईश्वर भक्ति के ऊपर बार-बार बल देना प्रारम्भ किया और बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित कर दिया तो भारत से बौद्ध मत की मानों अर्थी उठ गई। बौद्ध धर्म भारत में स्वाभाविक रूप में काल का घास बना। यह कहना कि कट्टर एवं हठधर्मी पुरोहितों ने अपने बल से बौद्ध धर्म को विलुप्त कर दिया।¹

प्रसिद्ध बौद्ध विचारक तथा लेखक डी. सी. अहीर का कहना है कि भारत में बारहवीं शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म गहरे काले बादलों में छुप गया था और इसी समय में बौद्ध विहारों तथा केन्द्रों को नष्ट किया जाता रहा। जब बौद्ध भिक्षु ही नहीं रहे तो बौद्ध विहार कैसे सुरक्षित रह पाते। बकौल अंगनेलाल बौद्ध विहार आग लगाकर जलाये गए। यवनों, शकों और कुषाणों के आक्रमण हुए। उत्तरी पश्चिम से तुर्क आए, जिन्होंने बौद्ध विहारों पर वार किया। हजारों बौद्ध भिक्षु मारे गए। नालन्दा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय छः माह तक जलता रहा।² इस तरह महान बौद्ध धर्म साहित्य लुप्तप्राय हो गया।

बौद्ध संस्कृति ने भारतीय संस्कृति के प्राग्दण को अपने कर्मठ योगदान से हरा भरा किया है। उसका यह कार्य लगभग 10 वीं शताब्दी तक चलता रहा। इसके पश्चात् भारत भूमि से उसका हास होने लगा। बौद्ध धर्म के हास के कारण इतिहास में खोजे जा सकते हैं। निम्नलिखित कारणों की भूमिका बौद्ध धर्म के हास में मुख्य रूप से रही –

ककã.kk }kjk fojk/k %& बौद्ध धर्म का आविर्भाव ही बहुत कुछ वैदिक संस्कृति के विरोध की पृष्ठभूमि में हुआ था जिसका प्रतिकार कालान्तर में पुष्पमित्र ने बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध विहारों का विनाश करके किया। हर्ष के समय भी बौद्ध धर्म की अपूरणीय क्षति हुई। उस समय बड़े-बड़े बौद्ध विहार नष्ट कर दिये गये और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। “कुमारिल और शंकराचार्य जैसे मनीषियों ने दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म-दर्शन का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया। माध्यमिक और योगाचार के मायावाद सिद्धान्त को शंकराचार्य ने अपनाकर न्याय-वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शनों के विरोध में उसका उपयोग किया जिसके कारण वे ‘प्रच्छन्न बौद्ध’ कहे जाने लगे।”³ इसका फल यह अवश्य हुआ कि बौद्ध दर्शन की लोकप्रियता कम होने लगी। पंडितों द्वारा शास्त्रार्थ आदि भी इसके हास में कारण बने।

l?k e vufdrk %& बौद्ध धर्म के हास का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है बौद्ध भिक्षुओं का पतित आचरण। तांत्रिक साधना के आ जाने से इस शिथिलाचार को बढ़ाने का और भी प्रबल सम्बल मिला। श्वान्-च्वांग ने भी भिक्षु संघ में अनैतिकता का उल्लेख किया है। जो उसने सिन्धवासी बौद्ध भिक्षुओं में देखा था। कश्मीर के बौद्ध विहार भी इस अनैतिकता में अग्रणी थे। “कल्हण ने सपत्नीक बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख किया है।”⁴ क्षेमेन्द्र ने अनेक स्थल पर इसी प्रकार उन पर व्यंगात्मक प्रहार किये हैं। राष्ट्रपालपरिपृच्छा और सूत्रकृतांगटीका में भी इसी प्रकार अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ बौद्ध श्रमणों की विषय शक्ति पर कटाक्ष किये गये हैं। आचार हीनता के कारण ज्ञान का क्षेत्र भी शून्य हो गया। भारत में बौद्ध धर्म के पतन के लिए जितने अन्य धर्मीय दोषी हैं उतने ही दोषी उस काल के बौद्ध भिक्षुओं और

*सहायक प्राध्यापक, थेरवाद, साँची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय (म.प्र.)

लेखक दिग्गज वृत्तकोशें उस समय के तत्कालीन सम्राट व राजाओं ने भिक्षु संघ और अन्य बौद्ध संस्थाओं का आर्थिक तथा अन्य प्रकार का सहयोग करना बन्द कर दिया था। सहयोग के अभाव में धर्म के प्रचार-प्रसार और धार्मिक उत्सवों की गति अवरुद्ध हो गई। अनैतिक कार्य में लिप्त महायानी भिक्षुओं के अनैतिक कार्यों का प्रभाव तथागत बुद्ध के सिद्धांतों के अनुसार आचरण तथा पालन करने वाले स्थविरवादी भिक्षु और उसकी संस्थाओं पर पड़ा। जिसके परिणामस्वरूप वे भी सम्राटों और राजाओं से आर्थिक लाभ पाने से वंचित कर दिये।

eflYe vkØe.k ँ& बौद्ध धर्म के ह्रास में मुस्लिम आक्रमण भी एक प्रधान कारण है। अरब देश में यद्यपि समय-समय पर बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता का दर्शन मिलता है परन्तु वह स्थाई नहीं रहा। सिन्ध में चच का भाई 'चन्दर' बौद्ध श्रमण था। उसके पुत्र की 702 ई. में मुहम्मद बिन कासिम ने हत्या कर राज्य छीन लिया था। बौद्ध धर्म पर भी इसका असर पड़ा लगभग 11 वीं शदी में अल्बेरूनी को उत्तर पश्चिम भारत में बौद्ध धर्म लुप्त प्राय स्थिति में मिला। कश्मीर में भी बौद्ध धर्म के विनाश में मुस्लिम सम्प्रदाय ही प्रधान कारण रहा है।

ckā.kokn dk jkT;kJ; iklr gkuk %& मुस्लिम आक्रमणों के समय ब्राह्मणवाद को राज्य की सहायता व समर्थन प्राप्त था। बौद्ध धर्म को ऐसी कोई सहायता व समर्थन प्राप्त नहीं था। इसके साथ ही यह बात

अधिक महत्वपूर्ण है कि ब्राह्मणवाद को राज्य की सहायता व समर्थन तब तक प्राप्त रहा जब तक इस्लाम एक शान्त धर्म के रूप में विकसित नहीं हो गया।

/ke: d i: pkj dk dh gR; k § धर्म की स्थापना तथा प्रचार-प्रसार के लिए प्रचार की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रचारक के अभाव में प्रचार भी असफल हो जाता है एवं सम्बंधित धर्म भी लुप्त हो जाता है। पुरोहित वर्ग चाहे वह कैसा भी हो धर्म के प्रवर्तन के लिये आवश्यक होता है। वह धर्मप्रचार का आधार होता है। बौद्ध भिक्षु जो बौद्ध धर्म के पुरोहित, धर्मगुरु व प्रचारक थे उनकी बड़ी मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा हत्या कर दी थी। इस्लाम की तलवार ने बौद्ध भिक्षुओं पर ही भारी आघात किया। जिसके फलस्वरूप भारत में बौद्ध धर्म की अत्यंत क्षति हुई एवं वह भारत के बाहर चला गया। बौद्ध धर्म के दीपक को प्रज्वलित रखने के लिये कोई भी जीवित नहीं बचा था। ब्राह्मणवादी पौरोहित्य गृहस्थ हुआ करते थे। बौद्ध पौरोहित्य भिक्षु होते थे। इसी अन्तर के कारण बौद्ध भिक्षु अपनी विशेष प्रकार की वेश भूषा के कारण आसानी से पहचाने जा सकते थे किन्तु ब्राह्मण पौरोहित्य के गृहस्थ होने के कारण उनका पहचाना जाना कठिन था। यही कारण था कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिये बौद्ध पौरोहित्य यानी बौद्ध भिक्षुओं को चुन-चुन कर खत्म कर मौत के घाट उतार देना आसान हो गया। बौद्ध पौरोहित्य के समाप्त होते ही बौद्ध धर्म भी लुप्त हो गया।

ck) k § kjk bLyke /ke: Lohdkj djuk : भारत के ब्राह्मणवादी शासकों ने बौद्धों पर जघन्य अत्याचार किये थे। उनके इस अत्याचार व उत्पीड़न से बचने के लिये भारत के बौद्धों ने बड़ी संख्या में विदेश होकर इस्लाम धर्म को अंगीकार कर लिया। सिन्ध के बौद्धों ने बहुत बड़ी संख्या में इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और वे मुस्लिम धर्म में शामिल हो गये। इस संदर्भ में प्रो. सेन कहते हैं कि—“यह एक अप्रत्याशित घटना नहीं हो सकती है कि पंजाब, कश्मीर, बिहार के आसपास के जिले उत्तर-पूर्व बंगाल जहाँ पर मुस्लिमों की प्रधानता व बहुतायत है मुस्लिमों से पहले शक्तिशाली बौद्ध केन्द्र थे। स्मिथ लिखते हैं— बौद्ध धर्म के पतन का कारण बौद्धों द्वारा बहुत बड़ी संख्या में मुस्लिम धर्म को स्वीकार करना था। यह मार्ग उन्होंने ब्राह्मण धर्म के अत्याचार व क्रूरता से बचने के लिये अपनाया था।”⁸

भारत में लगभग 12 वीं शताब्दी के आस-पास भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था किन्तु वह भारत में पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ था। बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांत एवं सामाजिक विचार क्षीण रूप से विद्यमान थे। बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के बाद भारतीय विद्वानों को भारतीय पुनर्जागरण की प्रेरणा मिली। आगे चलकर भारतीय पुनर्जागरण काल में डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा भारत में बौद्ध धर्म का पुनरोदय हुआ।

I UnHk §

1. भारतीय दर्शन, डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन, पृ. 498
2. भारतीय दलित आन्दोलन का इतिहास, मोहनदास नैमिषराय, पृ. 333
3. History of Buddhist culture, Bhagchandra jain Bhasker, p.401
4. वहीं
5. बौद्ध कालीन भारत का इतिहास, मुन्शी एन.एल. खोब्रागडे, पृ. 144
6. वहीं, पृ. 145—146
7. वहीं, पृ. 152
8. वहीं, पृ. 156

I gk; d xUFk I ph §

1. भारतीय दर्शन, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, संस्करण, 2016
2. भारतीय दलित आन्दोलन का इतिहास, प्रथम खण्ड, मोहनदास नैमिषराय, राधाकृष्ण प्रा.लि., संस्करण, 2013
3. History of Buddhist culture, Bhagchandra jain Bhasker, Alok Prakashan, First edition, 1972
4. बौद्ध कालीन भारत का इतिहास, मुन्शी एन. एल. खोब्रागडे, समता प्रकाशन, संस्करण, 2011



||n | |IMd rd d| dfo /kfey

ek0 vkfle vUlkjh*

समकालीन कविता में धूमिल ने उसी प्रकार एक नए अंदाज एवं तेवर का आगाज किया, जिस प्रकार निराला ने छायावादी कविता तथा मुक्तिबोध ने नयी कविता में। धूमिल ने कविता को हथियार के रूप में चुना। धूमिल की कविताओं के राजनीतिक रुझान को देखकर लोग उन्हें राजनीतिक कवि कहने से नहीं चूकते, पर यह भूल जाते हैं कि समकालीन परिदृश्य में राजनीति कितनी और कैसी सक्रियता दिखाती है। इसीलिए धूमिल राजनीतिक समझ पर जोर देते हैं। उनकी राजनीतिक समझ प्रजातन्त्र के प्रति उनके दृष्टिकोण से परिचालित है और लोकतन्त्र को वे सर्वोत्तम व्यवस्था मानते हैं। उनकी दिलचस्पी किसी वाद के तहत फिट होने की अपेक्षा जनतन्त्रवाद में है। वे उसे जनता के पक्ष में मोड़ने के पक्षधर हैं इसलिए उनकी पक्षधरता जनता के साथ है, किसी वाद या विचारधारा के साथ नहीं।

अपनी इसी जन प्रतिबद्धता के कारण उन्हें नकार को विरोध के एक सशक्त औजार के रूप में ढालना पड़ा। धूमिल ने अपने आसपास की भाषा को एक नया अंदाज देने के लिए जिस तरह शब्दों का प्रयोग किया, उससे उनकी अर्थवत्ता बढ़ी है। इस सम्बन्ध में धूमिल को करीब से जानने वाले कथाकार प्रो० काशीनाथ सिंह ने उन पर लिखे अपने एक संस्मरण 'विपक्ष का कवि : धूमिल' में बड़ी मार्के की दो बातें कहीं हैं—^{M-----} ;g ^iMkI* vkj ^duck* /kfey dh dforvk e Hkj iMk gA----- /kfey d| dfo dh vuHkfr ;k| lonuk, vkj ifrfØ ;k, iMkIh dh gfl ;r| dkjxtkfj ;k vkj gjdrk | Vdj&Vdjkdj fodfl r gb| gA**1

^{^ikuh dk >xMkj MkMeM dk fopkj Qlyk dh dVkb&ckokb| ipk ;rk dk pukol Fkkuk&dpgjh| tkr&ikr dk elyk&bu lkj ekeyk e mldk n[ky Fkk vkj ipk ;rk e mBr&cBr mldh tcku bl dnj jok gk pyh Fkh fd ckyu e lgh lkfcr dj nu e mld 'kOnk dk Vkvk ugh egl l gkrk FkA**2}

कहना न होगा कि परम्परागत काव्य उपकरणों को सान पर चढ़ाकर उन्होंने उनकी धार को तेज़ कर दिया है। पाठक के दिल और दिमाग पर उनका कारगर प्रभाव पड़ता है, यही धूमिल को इष्ट है। कविता अपने सीमित आयाम में जिस तरह कारगर औजार के रूप में जनतंत्र की जन विरोधी नीतियों को चाक-चाक करती है वह बेमिसाल है। धूमिल ने जनतंत्र की पड़ताल में सबकी भागीदारी के जनविरोधी रुख पर व्यंग-प्रहार किए हैं, किसी को बख्शा नहीं है, वे चाहे वकील हों या डॉक्टर, राजनेता हों या प्राध्यापक। बुद्धिजीवियों पर उनका गुस्सा स्वाभाविक है, जो शालीनता के नाम पर कड़वी सच्चाई को डकार जाते हैं। सन् 47 में सत्ता हस्तान्तरण के बावजूद अन्याय, अत्याचार, गरीबी, भुखमरी का क्रम पूर्ववत् जारी था। साम्राज्यवादी शासन के अंत के बाद जनता लोकतन्त्र के इस रवैये से हताश थी। आजादी किधर से आयी और किधर गयी, बहुसंख्यक लोगों को कुछ पता ही नहीं चला। आजादी की इस व्यर्थता पर धूमिल बोल पड़ते हैं कि —

^{^D;k vktknh flQ: rhu Fkd: g, jxk dk uke g| @ ftUg, d ifg; k <krk g| @ ;k bl dk dkb| [kl eryc gkrk g|**3}

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' ने अपने काव्य में भारतीय जनतंत्र के नंगे यथार्थ को दिखाने की पुरजोर कोशिश की है। चीजों को नंगा करना उनका उद्देश्य नहीं है, बल्कि यह उसके सही कद को प्रस्तुत करने की एक प्रक्रिया मात्र है। जनतन्त्र का सही कद सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' की कविता में जगह-जगह दिखायी पड़ता है —^{^njvLy] viu ;gk turU= @ ,d ,lk rek'kk g| @ ftldh tkuj @ enkj dh Hkk'kk gA**4}

इस मदारी की भाषा में धूमिल ने कई कविताएँ लिखी हैं। इस जनतन्त्र में जनता को परिभाषित करते हुए धूमिल कहते हैं कि :-

^Mturk D;k g] @ ,d 'kCn ----- flQ ,d 'kCn g] % @ dgjk vkj dhpM vkj dkp l: @cuk gvk ----- @ ,d HkM g] @ tk nIjk dh B.M d: fy, @ viuh ihB ij @ Åu dh QIy <k jgh gA @ ,d iM g] @ tk <yku ij @ gj vkrh&tkrh gok dh ticku ei @ gk... ---- gk... djrk g] D;kfd viuh gfj;kyh l: @ Mjrk gA xko di xUn: iuky k l: ydj @ 'kgj di f'koky k rd Qyh gb: @ dFkdfy dh ,d veri enk g] @ ;g turk-----A **5

वैचारिक धरातल पर धूमिल लोहियावादी विचारतत्त्व के अगुआ हैं। यह लोहियावादी विचारत्व प्रसंगों, कथ्यों, तथ्यों, संदर्भों, दृश्यालेखों, वक्तव्यों, प्रश्नाकुल आत्मसंवादों, एकालापों में बहुत अच्छे ढंग से मुखरित हुआ है। तत्कालीन सत्ता से सीधे उलझ पड़ना, लोकतन्त्र की दुविधाग्रस्त स्थिति का चित्रण उनकी लोहियावादी विचारधारा को पुष्ट करता है।

व्यवस्था की खोह में धूमिल भयभीत खड़े हैं। देख रहे हैं कि चारों तरफ गांधी के बंदरों की हत्या हो रही है। हत्यारे रक्तलोलुप मशालची बनकर छुट्टा घूम रहे हैं, पीड़ा बांट रहे हैं। हत्यारों ने जलते हुए आदमी को झंडे की तरह उठा लिया है और हमारे चेहरों पर गाड़ना चाहते हैं। वे अब किसी भले आदमी को जीने नहीं देंगे। उन्होंने आदमी के रक्त का स्वाद चख लिया है -

^M;g Hkk"kk dh jkr g] @ pht: @ ;k rk >d jgh g] @ ;k ihN: gV jgh g] @ Hkk"kk vkj Hkk"kk di chp njkj ei @ mYkj vkj nf{k.k dh rjQ @ Qu QVdrk gvk @ ,d nkegk fo"k/kj # jx jgk g] @ jkt h di uke ij @ jkVh di uke ij @ txg&txg tgj @Qd jgk gA**6

भारतीय लोकतन्त्र की विफलता इसी से साबित होती है कि रोजी-रोटी के नाम पर जगह-जगह जहर बाँटी जाती है, हत्या अब राष्ट्रीय चरित्र बन गई है और स्वतंत्रता लूट-मार, लंपटई और छिछोरेपने का पर्याय। संसद से सड़क तक काव्य संग्रह की पहली कविता इसी यथार्थ से शुरू होती है -

^Mml: ekye g] fd 'kCnk di ihN: @ fdru pgj: uxi gk pdi g] @ vkj gR;k vc ykxk dh #fp ugh: & @ vknr cu pdh g] @ og fd l h xokj vkneh di Åc l: @ ink gb: Fkh vkj @ ,d i<&fy[k vkneh di lkFk @ 'kgj ei pyh xbA**7

संसद को अपनी लम्बी कविता 'पटकथा' में परिभाषित करते हुए सुदामा जी कहते हैं कि यही वह जगह है जहाँ राम को रावण ने पीट दिया और कृष्ण को कंस ने पीटा है। सत्य का गला झूठ ने दबा दिया है। यह बात शमशेर बहादुर सिंह के इस बयान कि -

^MIR; dk e[k @ >B dh vk[k @ D;k n[k! @ IR; dk #[k @ le; dk #[k g] @ vHk; turk dk @ IR; gh l[k g] @ IR; gh l[kA**8 से कितनी उलट है। आशावादिता और सच के प्रति निश्चंक विश्वास से निराशा और हताशा की ओर बढ़ चली मनःस्थिति से लबरेज है।

धूमिल ने नाम नहीं लिया है, लेकिन कर्म से जाहिर है कि भारतीय सांसदों में एक ईमानदारी आदमी था राममनोहर लोहिया, जिसने संसद में प्रधानमंत्री नेहरू के सामने जनता की गरीबी के आंकड़े देकर बहस की। लेकिन नेहरू और नेहरूवादियों ने डॉ० लोहिया को पागल राजनीतिज्ञ करार दिया। आधुनिकतावादी सांसद उन्हें संसद से बाहर कर देने की पुरजोर आवाज उठाते रहे। डॉ० लोहिया ने देश में फैले कीचड़ और संझांध पर ध्यान दिलाने की बात की। हो न हो डॉ० लोहिया के उसी विचार को धूमिल पटकथा में ढालकर काव्यात्मक वक्तव्य देते हैं -

^Mxjt ;g fd gj rjg di ykx g] @ ,d&nIj: l: uQjr djr: g, o: @ bl ckr ij lger g] fd bl n'k ei @ vI[: ;jkx g] @ vkj mudk ,d ek= bykt @ puko gA @ yfdu e> yxk fd ,d fo'kky nyny di fdukj @ cgr cMk v/kejk i'k iMk gvk g] @ mudh ukfHk ei ,d lMk gvk ?kko g] @ ft l l: yxkrkj&Hk;kud cncnkj eokn

@ cg jgk g @ m le tkfr vkj /kei vkj lEink; vkj @ i'kk vkj iith d v l i ; dhM
 @ fcyfcyk jg g vkj vU/kdkj e @ Mch g; h iFoh %irk ugh fd l vugkuh dh iirh{kk
 e% @ b l Hkh" k.k lMk/k dk pipki lg jgh gA**9

इन काव्य-पंक्तियों पर ठीक से ध्यान केन्द्रित करें तो पता चल जाता है कि यह सब लोहिया के विचारों का काव्यानुवाद है। इनमें डॉ० लोहिया द्वारा प्रयुक्त सामाजिक राजनीतिक शब्दावली बजती-सी लगती है। दलदल, अधमरा पशु, नाभि में सड़ा घाव, पूंजी के अवसरवादी कीड़े लोहिया द्वारा प्रयुक्त अर्थ-गर्भित शब्द हैं। डॉ० लोहिया इस देश के उन राजनीतिज्ञों में से थे, जिन्होंने संसद में राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चेतना के बारे में बुनियादी सवाल उठाए और जातिवाद, धर्मवाद, सम्प्रदायवाद को बार-बार चुनौती दी। यथास्थितिवाद और भारत के पश्चिमीकरण को लेकर गुलाबी संस्कृति के रक्षक नेहरू जी से तीखी और क्रान्तिकारी बहस की। डॉ० लोहिया सच्चे अर्थों में गाँधी जी के प्रवर्तक थे। धूमिल का काव्य भी लोहिया के विचारों का प्रवाह है। 'अंधेरे में' कविता में मुक्तिबोध ने भारतीय लोकतंत्र के जिस व्यवहृत स्वरूप को चित्रित किया है, बिल्कुल वैसे ही हालात धूमिल ने अपनी 'पटकथा' कविता में रचे हैं -

^ugh viuk dkb genni @ ;gk ugh gA elu , d&, d dk @ ij[k fy;k gA @
 elu gj , d dk vkokt nh gA @ gj , d dk njokt k [kV[kV;k g @ exj cdkj -----
 --- elu ft l dh iN @ mBkb g m l dk eknk @ ik; k g @ o lc d lc fr tkfj ; k d
 @ nHkkf" k ; g @ o odhy gA oKkfud gA @ v/; kid gA urk gA nk'kfud @ gA
 y[kd gA dfo gA dykdj gA**

यानी कि— dkuu dh Hkh"kk ckyrk gvk @ vijf/k; k dk l ; Dr ifjokj gA**10

आज़ादी के बाद नेहरू युग में भारतीय लोकतन्त्र के कार्यान्वित रूप की आलोचना और लानत-मलानत जिस तरह धूमिल ने की है और जिस तरह उसकी ध्वनियाँ जन के पक्ष में अनुगूँजित होती हैं, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में एक नायाब उपलब्धि है। मुक्तिबोध निस्सन्देह इस सन्दर्भ में अपना सानी नहीं रखते, किन्तु यदि कल्पना करें कि मुक्तिबोध का काव्य-प्रातिभ हिन्दी को नसीब न हुआ होता, तो धूमिल के कवि का स्वर ही भारतीय लोकतन्त्र को उसका आईना दिखाने में सबसे ताकतवर स्वर साबित होता। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलना पर जोर न देकर दोनों पुरखे कवियों की कविताओं में अभिव्यक्त आशंकाओं, चिंताओं और भविष्य-इंगितों की शिनाख्त की जाए और लोकतन्त्र को जन सरोकारों की ओर उन्मुख करने की नागरिक जिम्मेदारी का निर्वहन किया जाए।

I UnHk %

1. सिंह, काशीनाथ : 'लेखक की छेड़छाड़', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ०सं० 15-16
2. वही, पृ०सं० 20
3. धूमिल : संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहले पेपर बैक संस्करण की आवृत्ति 2009, पृ०सं० 10
4. वही, पृ०सं० 105
5. वही, पृ०सं० 104-105
6. वही, पृ०सं० 93-94
7. वही, पृ०सं० 07
8. सिंह, शमशेर बहादुर : प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहले संस्करण की छठी आवृत्ति 2013, पृ०सं० 43
9. धूमिल : संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहले पेपर बैक संस्करण की आवृत्ति 2009, पृ०सं० 119
10. वही, पृ०सं० 126



^fiNy iUu dh vkjrr* miU;kI eI fpr ukjh I?k"kl I iuk*

युवा लेखिका शरद सिंह द्वारा रचित उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतें' बेड़िया समाज की उन औरतों पर केन्द्रित है, जिनकी उपस्थिति का अनुभव तो किया जाता है, परन्तु इनके बारे में संवेदनात्मक अनुभूति कभी-कभार ही हमारे सामने आती है। अधिकांश लोगों के लिए ये औरतें 'बेड़नी' मात्र हैं, जो अतीत में तो 'गणिकाएं', 'देवदासियां' कहलाती थी और आज वर्तमान समय में 'कॉलगर्ल', 'बार डांसर' और 'सेक्स वर्कर' कहलाती हैं। अनपढ़ लोगों के बीच में इन्हीं औरतों को 'नचनिया', 'पुतरिया' और 'धंधेवाली' कहा जाता है। जमींदारों, ठाकुरों एवम् ताकतवर पुरुष जिन्हें अपनी उंगली पर नचाता है, परम्पराओं के नाम पर उनका यौन शोषण किया जाता है। यह औरतें अपने ही समाज से संघर्ष करती नजर आती हैं।

लेखिका लिखती हैं, "मैं पुरुषों की विरोधी नहीं हूँ, किन्तु उस विचारधारा की विरोधी हूँ जिसके अंतर्गत स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाता है।"¹ 'पिछले पन्ने की औरतें' उपन्यास में लेखिका ने मध्यप्रदेश में स्थित पथरिया, लिधोरा, फतेहपुर, बीजावर, देवेन्द्रनगर इत्यादि गांवों का जिक्र किया है जहाँ बेड़िया समुदाय रहता है। इन समुदायों में औरत ही परिवार के आय का मूल स्रोत होती है। एक बेड़नी पर दस-बीस जनों का परिवार निर्भर रहता है, कोई भी स्त्री जानबूझकर वेश्यावृत्ति नहीं करती, न ही किसी की रखैल बनना पसंद करेगी। लेकिन इनकी पिछड़ी स्थिति, अशिक्षा, आर्थिक विपन्नता एवम् सदियों से इनके समाज में चली आ रही परम्परा इन्हें इस ओर लेकर जाती है।

"औरत बरसात के पानी जैसी है, उसे न जमीन चुनने का अधिकार होता है, न अपनी प्यास बुझाने का"² औरत बस पान की तरह है, जिसे जब चाहा मुंह में डालकर चबाया, स्वाद लिया और जब चाहा थूक दिया।"³ विडम्बना ही तो है जहाँ एक ओर नारी आज हर स्तर में पुरुषों से भी आगे निकल रही है वहीं दूसरी ओर बेड़िया समाज की औरतें इन सब से दूर हैं उन्हें अपने अच्छे बुरे तक का ज्ञान नहीं वह आज भी पिछड़ी हुई हैं। इस वर्ग के पुरुष मेहनत नहीं करना चाहते वे तो बस अपनी माँ, बहन, बीवी, बेटा का कमाया खाना चाहते हैं। उनको लगता है की यदि औरतें वेश्यावृत्ति नहीं करेगी तो उनका और उनके परिवार का गुजारा कैसे होगा क्योंकि वह खुद तो मेहनत करना ही नहीं चाहते, उनकी इसी सोच के कारण वे स्वयं औरतों को परम्पराओं के नाम पर वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित करते हैं। "उनके अपने समुदाय के पुरुष न तो उनका सहारा बन पाते हैं और न उन्हें सुरक्षित जीवन दे पाते हैं, तो उन्होंने पूंजीपतियों की शरण में जाने का निश्चय किया। उन्होंने पूंजीपतियों की सम्पत्ति के रूप में जीना स्वीकार किया, क्योंकि वे जानती थी कि एक धनवान अपने धन की रक्षा हर हाल में करता है।"⁴

आज के समय में नारी-पुरुष को एक ही सिक्के के दो पहलू कहा जाता है। आज नारी को अपने कर्तव्य के साथ-साथ अधिकारों का भी पूरा ज्ञान है वहीं बेड़िया समाज में इसके विपरीत देखने को मिलता है। आप क्या सोचती हैं कि ऐसे वातावरण में कोई औरत अपनी दैनिक शुचिता को बचाए रख सकती है जबकि समाज का एक भी पुरुष उसका साथ न दे रहा हो, उल्टे उसे सेक्स-वर्कर बनने को बाध्य करता रहता हो, कभी सोचा है आपने कि हम औरतें किस वातावरण में जी रही हैं?"⁵

कितनी दुःख की बात है एक ओर जहाँ हमारे समाज में पिता का नाम हर जगह महत्वपूर्ण माना जाता है वहीं दूसरी ओर बेड़िया समाज में पैदा हुए बच्चे अवैध माने जाते हैं। समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ तक की उनके अपने समुदाय के पुरुष भी अपने बच्चों के बारे में अच्छी भावना

*शोधार्थी, हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

नहीं रखते हैं, "तुम जो पैदा करो वही अच्छा है ...अब क्या रखा है बेटा-बेटी में, यहाँ तो बेटा होगा तो चोर या गिरहकट बनेगा और बेटी हुई तो हर रात किसी नए मर्द का बिस्तर गर्म करेगी।"⁶

इसके बाद भी यह औरतें बच्चों को जन्म देती हैं और जहाँ तक संभव हो उन्हें अच्छा जीवन देने की कोशिश करती हैं। स्कूल में जब इनसे इनके बच्चों के पिता का नाम पूछा जाता है तब वे पिता के नाम पर पैसा लिखाने को विवश हैं, "का जाने...पतो नई। बाकी जब हमने अपने मोघ खों नांव स्कूल में लिखाओ रहो सो उसे मोघ को बाप को नांव सोई लिखाने परो...सो हमने ऊ को बाप को नांव रूपैया लिखा दिओ...औ का करते ..."⁷

बेड़िया समुदाय की औरतों ने परिस्थितियों के अनुरूप अपने को जिस तरह से ढाला है उसकी समाज में कोई दूसरी मिसाल मिलना नामुमकिन है। उन सभी अधिकारों को जिन्हें आज भी 90: औरतें अपना बुनियादी अधिकार मानती हैं। उन सब अधिकारों को हँसते-हँसते त्याग कर देना खुद को 'बेड़नी' अथवा 'नचनारी' कहलाना स्वीकार करना। पुरुषों से उन्मुक्त संबंधों को स्वीकार करना, बदले में किसी भी प्रकार के सामाजिक संबंधों की भी मांग तक नहीं करना, अविवाहित मातृत्व को सहजता से स्वीकार करना तथा अविवाहित मातृत्व से जन्मे अपनी संतान को अच्छा जीवन देने का भरपूर प्रयास किया है। इस तरह बेड़िया औरतों ने अपने समुदाय को मिलने वाले लाभों के लिए अपने सारे अधिकार स्वयं ही खुशी-खुशी त्याग दिए। इतना त्याग करने के बावजूद भी इन औरतों को अपने खुद के घर में भी सम्मानजनक स्थान नहीं मिलता जबकि वही पूरे घर को चलाती है। बेड़नी औरत के जिन पुरुषों से अवैध संबंध होता है। उस पुरुष की पत्नी को भी उनके इन संबंधों के बारे में पता होता है, फिर भी वह चुप रहती है क्योंकि उसे पता है कि यदि उसने मुँह खोला तो हमेशा के लिए उसका मुँह बंद कर दिया जाएगा, "वो तो चाहे वीबी हो या बेड़नी, बन्दूक की नाल तो दोनों की गर्दन पर रखी रहती है। यह सब ताकत का खेल है...और मर्द हमेशा ताकतवर होते हैं।"⁸

भारत को आजाद हुए इतने वर्ष हो गए, फिर भी नारी की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया, खासकर बेड़िया समाज में यदि आज के समय में भी वेश्यावृत्ति खत्म होने के बावजूद लगातार बढ़ रही है तो इसका कारण पुरुष है क्योंकि स्त्री-देह को खरीदने की उसकी मंशा आज भी उसमें मौजूद है।

समाज में स्त्री की स्थिति अब पहले से अधिक जटिल है। एक और स्त्री को अपेक्षित रखा जाता है तो दूसरी ओर उपेक्षित बनाकर रखा जाता है सत्ता, समाज, संपत्ति पर उसका अधिकार है भी और नहीं भी। न्याय की पोथियों में ये तीनों अधिकार स्त्री के नाम लिखे गए हैं, लेकिन यथार्थ पोथियों के बाहर पाया जाता है...⁹

अठाहरवीं शताब्दी की राजनर्तकी हो या चाहे आज की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ कदम-कदम पर उनका शोषण होता रहा है। फर्क सिर्फ इतना है कि इस आधुनिक समय में कोई मजबूरी में तो कोई समझौते का नाम देकर स्त्रियों का शोषण कर रहा है। यदि आज बेड़िनियाँ अपने अतीत से मुक्त होकर जीना भी चाहती हैं तो समाज उसे जीने नहीं देता वह उसे तब भी घृणा की ही दृष्टि से देखता है। इस तरह बेड़नी समुदायों की औरतें हर स्तर पर बस संघर्ष करती ही नजर आती हैं, "सब हमें ही दोषी क्यों ठहराते हैं? क्या हम पुरुषों से कहती हैं कि हमसे धंधा कराओ?"¹⁰

निष्कर्ष रूप में, पिछले पन्ने की औरतें शरद सिंह द्वारा लिखित ऐसा उपन्यास है जो बेड़िया समाज की औरतों की यथास्थिति को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन सभी औरतों के दुखद जीवन की ओर भी संकेत करता है जो विकास की मुख्य धारा से पिछड़े हैं, जिनकी उपस्थिति का अनुभव तो किया जाता है पर उनकी अनुभूति कभी-कभार ही हमारे सामने आती हैं। बेड़िया समुदाय की औरतों ने परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाला है, अपने समुदाय को मिलने वालों लाभों के लिए अपने सारे अधिकार स्वयं ही खुशी-खुशी त्याग दिए। वर्ना कौन ऐसी औरत होगी जो यह नहीं चाहेगी कि उसका भी एक पति हो, घर हो, उनके बच्चों को उनके पिता का नाम मिले। उन्होंने यथासंभव कोशिश भी की, उनके बच्चे शिक्षित हों उस दलदल में दुबारा न फंसे। पर समाज उन्हें कहाँ भूलने देता है वे तो उन्हें अवैध संतान ही कहेगी। अगर इन औरतों को पिछले

पन्नों से मुख-पृष्ठों पर आना है, तो खुद ही संघर्ष करना होगा क्योंकि पुरुष तो इनकी सहायता करने से रहा, उसने तो हमेशा से इनका शोषण ही किया है।

l UnHk %

1. सिंह, शरद, पिछले पन्ने की औरतें, नई दिल्ली, सामयिक प्रकाशन, 2005, पृष्ठ संख्या . 7
2. वही, पृष्ठ संख्या 100
3. वही, पृष्ठ संख्या 110
4. वही, पृष्ठ संख्या 139
5. वही, पृष्ठ संख्या 285
6. वही, पृष्ठ संख्या 80
7. वही, पृष्ठ संख्या 155
8. वही, पृष्ठ संख्या 94
9. वही, पृष्ठ संख्या 261
10. वही, पृष्ठ संख्या 227



j l Lo : i l rnkLoknu çfFkrokknk

l kjHk nc*

‘सद्यः परनिवृत्तये’ इति राजानकः मम्मटः काव्यप्रकाशस्य मौलिभूतं प्रयोजनं जगाद ।

वस्तुतस्तु सर्वेषां शास्त्राणां किमपि प्रयोजनं भवति यथा वेदान्तस्य जीवब्रह्मैकत्वं तथैव अलङ्कारशास्त्रस्यापि प्रयोजनं आनन्दावाप्तिरिति । कथम् आनन्दावाप्तिः रसोत्पत्तिः जायते, कानि कारणानि रसम् अभिव्यञ्जयति? इति जिज्ञासायां नैके काव्यविचक्षणाः रसस्वरूपं प्रतिपादयितुं प्रयतमानाः प्रतीयन्ते । किन्तु तेषु काव्यतत्त्वप्रतिपादयितृषु प्रसिद्धमतस्य काश्मीरदेशीयस्य आचार्यमम्मटस्य रसवादिनः मतं समाहृत्ययुक्तिसङ्गतञ्च श्यते प्रत्युत रसस्वरूपस्य जननीभूता कारिका नाट्यशास्त्रे षष्ठेध्याये (रसाध्याये) भरतमुनिः सर्वादौ अवतारयामास ‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इदमेव सूत्रं मत्वा अन्ये आलङ्कारिकाः काव्यतत्त्वबोद्धारः तत्स्वरूपं निरूपयितुम् औद्यन्त ।

dkj.kkU; Fk dk; kf.k l gdkjh.f.k ; kfu p
jR; kn% LFkkf; uk ykd r kfu pUukVî dk0; ; k% A
foHkkok vuHkkokLrr dF; Ur; 0; fHkpkfj.k%
0; ä% l rfoHkkok | % LFkk; h Hkkok j l % Ler% AA

लोके इत्यादेः स्थायिभावस्य यानि कार्याणि सहकारणानि भवन्ति, तान्येव कविना काव्ये नाटके वा विभाव—अनुभाव—व्यभिचारिपदेन प्रतिपाद्यन्ते अभिधीयन्ते । तैः विभावानुभावव्यभिचारिभावैः व्यक्तः इत्यादिः स्थायी भावः रसपदतामारोहति ।

अमुमेव विचारं मनसि निधाय विश्वनाथः साहित्यदर्पणे तृतीयपरिच्छेदे अनया कारिकया रसस्वरूपं विमृशति—

foHkkokuHkkou 0; ä% l %pkfj.kk rFkk
j l rkefr jR; kfn% LFkk; hHkko% l p r l ke AA

विभावः विभाव्यन्ते आस्वदाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिक इत्यादिभावा एभिः ते विभावाः ।

भर्तृहरिणापि उक्तम्—

'kCnkifgr : i kLrku c) fo" k; rk x rku A
çR; {kk.kho d l knhu l k/kuRou eU; r: AA

विभावस्य द्वौ भेदौ —

vkyEcu k íhi uk[; k rL; HknkoHk% Ler kA
vkyEcuEk uk; dkfnLrekyEC; j l knxekr AA

उद्दीपनविभावः —

míhi ufoHkkoLr: j l eíhi; fUr r: A
vkyEcuL; p"V k | k n' kdkykn; LrFkk AA

अनुभावः — अनु = पश्चात् भवतीति भाव अनुभावः ।

भरतमुनिना अनुभावः एवम् अलक्षि —

okx³ xkfHku; ug ; rLroFkkuHkko; r: A
'kk[k k³ x k i k³ x l ; ; äLrouHkkoLrr% Ler% AA

*अनुसन्धाता, (साहित्यविभागः), रा.सं.सं. राजीवगान्धिपरिसरः, शृङ्गेरी(कर्णाटकम्)

अर्थात् वाचिकाङ्गिकाभिनेयेन इत्यादेः पश्चात् अभिव्यक्त अर्थ अनुभावो भवति ।

तदेव विश्वनाथेनापि उक्तम् —

mnc) i dkj.k% Lo% Lo% c fghkko: cdk'k;u A
ykdi ;% dk; i : i% l kuHkko% dk0;ukVî ;k% AA

कः नाम व्यभिचारिभावः ?

fo'k"knkfHke[;u pj.kk} ; fHkpkfj.k% A
LFkkf; U; UeXu fueXukL=; fL='kPp rfnHknk% AA

व्यभिचारिभाव एव संचारिभावो कथ्यते । सहस्रञ्चरणाद् सञ्चारीभावः कथ्यते । ते च

त्रयस्त्रिंशत्संख्याका भवन्ति —

fuoinkoxnU; Jeen t Mrk vkX; ekgk fock/k%
Loluki Lekjxokej.ke l yrke"kfuaekc fgrFkk%
vKR l D; kUekn'k³.dk% Lefrefr l fgrk0; kf/k l=k l yT t k
g"kk l i; kfo"knk l /kfr piyrk XykfufpUrkdordk%AA

केचन रसानुभूतारः सहृदयाः रसाभिव्यक्तौ सात्त्विकभावान् पृथग्रूपेण आमनन्ति . केचन च व्याभिचारेषु

स्व गणयन्ति —

आचार्यविश्वनाथः सात्त्विकभावं न्यरूपयत्—

fodkj.k% l Uo l Hkrk% l kfRod% ifjdHfrirk% A
l Uoek=knHkoRokUk; fHkUuk vl; uHkkor% AA

सात्त्विकभावा अष्टौ भवन्ति ते च सन्ति —

LrEHk% LonkFk jkek% p% LojHk³.xkFk oiFk% |
oo.k; eJcy; bR; "Vk l kfUodk% Ler% AA

सत्त्वं नाम— स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चन धर्मविशेषः ।

गोबलीवर्दन्यायात् सात्त्विकभावा अनुभावेभ्यो भिद्यन्ते ।।

भावः . को नाम भाव पदार्थः इति जिज्ञासायां प्रश्नस्य उत्तरमस्ति यत् भवतीति भावः । असौ

भावपदार्थः संख्यादि दर्शनेभ्यो भिद्यते । भावपदस्यास्य कश्चन पारिभाषिकार्थ अत्र ग्रहीतोस्ति ।

भावपदं विश्लेषयति विश्वनाथः —

ukukfHku; l iCU/kku Hkko; fur j l ku ; r% A
rLekr Hkkok veh ckaä.k% LFkkf; l %pkfj l kfUodk% AA

अत भावपदस्य अर्थः रसप्रेरकः, स्थायिभावः, सञ्चारिभावः सात्त्विकभावश्च ।

स्थायीभावस्य लक्षणम् काव्यतत्त्वविपश्चिदिभः एवं न्यरूपि —

vfo#) k fo#) k ok ; i frjk/kkre{kek% A
vkLoknk³.dij dUnk l k HkkoLFkk; hfr l Eer% AA
l iD l i=ou; k HkkokukeU; i"kkouxked% A
u frjk/kh; r l LFkk; h r l j l k i"; r l ije AA

अर्थात् . अविरोद्धः विरुद्धो वा यं न्यक्कर्तुम् असमर्थः सः आस्वादविषयी भवति, सः स्थायीभावः

कथ्यते । ते च रतिर्हासादयः नव भवन्ति । नव एव रसा भवन्ति ।

रसपदं प्रकाशयितुं श्रुतिस्मृतिषु नैकानि लक्षणानि प्राप्यन्ते —

तैत्तिरीयोपनिषदः आनन्दवल्ल्यां वेदपुरुष आह —

j l k o l i% A
j l áok; i yC/okuUnh HkoFr A

आचार्यविश्वनाथा रसं ब्रह्मानन्दसहोदरमिव मन्यते —

l Uokæ:dkn [k.MLoçdk'kkuUnfpUe; % A

o|kU rjLi 'k' kU; k cãkLoknlgknj A
 ykdKÜkjpeRdkjçk.k df'pr çekrfHk A
 LokdkjonfHkUuRo uk; ekLok | rj l AA
 i.; oUr çfe.ofUr; kfxoæ l lUrfre AA

रसस्य अलौकिकतां तत्प्रमाणञ्च वर्णयति विश्वनाथः —

d#.kknkofi j l tk; r; Ri j l l[ke A
 lpr lkeuHko çek.k r= doye AA

व्यक्तः — व्यक्ती विषयीतः, दध्यादिन्यायेन रतिः एव रूपान्तरे परिणम्य रसो भवति, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो भवति द्यएवं रसस्वरूपं रसाभिव्यक्तिः काव्यतत्त्वविदग्धैः वर्णिता ।

तदभिव्यक्तौ केचन वादा प्रसिद्धा सन्ति तेषु चत्वारः प्राथन्त

प्रथमः . उत्पत्तिवादः

द्वितीयः . अनुभितिवादः

तृतीयः . भुक्तिवादः

चतुर्थः . अभिव्यक्तिवादः

विभावैर्ललनोद्यानादिभिः.....इत्यादयः

भरतसूत्रमाधारीत्य अन्ये व्याख्यातारः रसस्वरूपं यथामति निरूपयितुं प्रवृत्तिरे । तेषु व्याख्यातृषु केचन वादा प्रसिद्धाः जाताः —

उत्पत्तिवादः . मीमांसशास्त्रानुयायीभट्टलोल्लटेनरसोत्पत्तिः स्वी.ता । एतस्य मते स्थायिनासाकं विभावस्य सम्बन्धः उत्पाद्योत्पादकभावः स्थायिनः, अनुभावस्य गम्यगमकभावः, व्यभिचारिणः पोष्यपोषकभावसम्बन्धः स्वी. तः निष्पत्तिशब्दस्य अर्थः — उत्पत्तिः, संयोगपदार्थः — सम्बन्धः भट्टलोल्लटानुसारेण मुख्यरूपेण रसोत्पत्तिः अनुकार्ये तद्रूपात् नटेपिप्रतीयते ।

अनुभितिवादः . राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामः स्याद्वा न वोयमिति, रामस.शोयमिति, च.....

इत्यत्र . नैयायिकेन भट्टशङ्कुकेन रसस्य अनुभिति स्वीकृता ।

एतेषां मते सम्यङ्मिथ्यासंशयसा.श्यप्रतीतिभ्यो चतसृभ्यो विलक्षणया कयाचित् पञ्चम्या प्रतीत्या चित्रतुरगादिन्यायरूपया रसः गम्यगमकभावसंबन्धेन नटे अनुमीयते । वस्तुतः नटे . त्रिमानुभवादीनां शिक्षासौन्दर्यबलात् सामाजिकः रसम् अनुभाति ।

Hkfäokn & साङ्ख्यदर्शनदिशा हृदयदर्पणे भट्टनायकस्य मतं भुक्तिवादत्वेन प्राप्यते न ताटस्थेन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते... एतेषां मते रसस्य भुक्तिः त्रिविधव्यापारेण भवति, अभिधा साधारीकरण (भावकत्व) भोजकत्वव्यापारैः रसः भुज्यते ।

vfHk0; fäokn & अस्य मतस्य प्रवर्तकः प्रत्यभिज्ञादर्शनावलम्बी अभिनवगुप्तो वर्तते एतेषां मते—भावकत्वव्यापाराभ्यां पानकरसन्त्यायेन ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्व्यङ्ग्यव्यञ्जक—भावसम्बन्धेन निर्विकल्पस्य चर्व्यमाणरयालौकिकानन्दमयस्य रसस्य व्यक्तिः भवति ।

उपसंहृत्यचक्रसारण्यां रससूत्रस्य वादाः दर्शयन्ते —

j l l = e & विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

क्रमः	वादाः	शास्त्रम्	प्रवर्तकः	विशेषः
१	उत्पत्तिवादः	मीमांसा	भट्टलोल्लटः	संयोगः = सम्बन्धः निष्पत्तिः = उत्पत्तिः स्थायिनः विभावेन साकं सम्बन्धः उत्पाद्योत्पादकः स्थायिनः अनुभावेन साकं सम्बन्धः गम्यगमकभावः स्थायिनः व्यभिचारिभावेन साकं सम्बन्धः पोष्यपोषकभावः रसप्रतीतिः मुख्यरूपेण अनुकार्ये तदूपात् नटे
२	अनुमितिवादः	न्यायदर्शनम्	श्रीशङ्कुः	संयोगः = सम्बन्धः निष्पत्तिः = अनुमितिः स्थायिनः विभावादिना साकं गम्यगमकभावः चित्रतुरगन्यायेन (पञ्चमप्रतीत्या) वस्तुतः रसप्रतीतिः नटे
३	भुक्तिवादः	साङ्ख्यदर्शनम्	भट्टनायकः	संयोगः = सम्बन्धः निष्पत्तिः = भुक्तिः स्थायिनः विभावादिना साकं भोज्यभोजकभावः व्यापारत्रयम् – अभिधा, भावकत्व, भोजकत्वानि
४	अभिव्यक्तिवादः	प्रत्यभिज्ञादर्शनम्	अभिनवगुप्तः	संयोगः = सम्बन्धः निष्पत्तिः = अभिव्यक्तिः स्थायिनः विभावादिना साकं सम्बन्धः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः व्यापारद्वयम् – अभिधा, साधारीकरणव्यापारः न्यायः = पानकरसन्यायः रसप्रतीतिः व्यञ्जनावृत्या सामाजिके भवति

एवामुपर्युक्तानि उदाहरणानि चक्रसारण्यां प्रस्तुतानि ।

I UnHk %

1. सा.द., चौ.सं.पु., टीका . लक्ष्मी
2. ना.शा., श.अ., चौ.सं.पु., टीका . अभि.भा.
3. का.प्र., चौ.ख.सं., टीकाकारः . आ.विश्वेश्वरः
4. वा.प., ब्र.का.
5. सं.साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, चौ.सं.पु.
6. काव्यशा. इति., पी.वी.काणे



^>Bk&I p* dk eY;kdu

I|Ñfr feJk*

साहित्यिक क्षेत्र में यशपाल की प्रतिष्ठा का मुख्य आधार उनका उपन्यास 'झूठा-सच' है। यह उपन्यास दो भागों 'वतन और देश' और 'देश का भविष्य' में क्रमशः 1958 व 1960 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास उनकी कला के प्रौढ़तम रूप को प्रस्तुत करता है। इसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन 1928 से 1957 तक के काल की राजनीतिक घटनाओं को यशपाल ने औपन्यासिक रूप दिया है। उपन्यास के माध्यम से उन्होंने अपनी दृष्टि से राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को चित्रित करने का प्रयास किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले रही प्रमुख शक्तियों—कांग्रेस पार्टी, कांग्रेस समाजवादी दल, कम्युनिस्ट पार्टी, मुस्लिम लीग आदि की भूमिका को उन्होंने उघाड़ा है। 'झूठा-सच' में विभाजन की विभीषिका के दारुण चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।

'झूठा-सच' में राष्ट्रीय आन्दोलन समाप्त होने के बाद की परिस्थितियों को भी चित्रित किया गया है तथा दूसरे आम चुनाव के परिणामों तक के घटनाक्रम को विस्तार दिया गया है। अतः 'झूठा-सच' के पक्ष में नेमिचन्द्र जैन का कथन है—“विभाजन जैसी सर्वग्राही घटना को उन्होंने उसकी आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता में साथ ही उसकी गतिमानता में देखने का प्रयास किया है।” इनकी यह टिप्पणी उनके उपन्यास को वस्तुगत से देखने का ही परिणाम है। किन्तु नेमिचन्द्र जैन उस 'समग्रता' में गहराई का अभाव पाते हैं—'झूठा-सच' में राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण किसी बाहरी मानवीय स्थिति का अंग न होकर बाह्य परिवेश मात्र हैं जिससे उपन्यास में प्रस्तुत व्यक्तियों का सम्बन्ध भी सतही और प्रासंगिक ही है। विभाजन सम्बन्धित चित्रण में यशपाल की एकांगी दृष्टि की ओर वे इन शब्दों में संकेत करते हैं—“झूठा सच” में यशपाल विभाजन की समस्त विभीषिका स्त्री के ऊपर अत्याचार में देखते हैं।¹ यद्यपि नेमिचन्द्र जैन की इस उक्ति के उत्तर में शरणार्थी समस्या, पुरी का जीविका के लिए भटकना, पं० गिरधारी लाल नैयर आदि के पुनः स्थापित होने के प्रयास आदि के प्रसंगों को रखा जा सकता है तथापि यह तथ्य है कि यशपाल ने जितना ध्यान स्त्री के ऊपर अत्याचार वर्णन में दिया है, उतना विभाजन की विभीषिका के अन्य पक्षों की ओर नहीं दिया है। नेमिचन्द्र जैन उपन्यास के अन्त को अस्वाभाविक मानकर कहते हैं—“अन्त की स्वाभाविक सुखदता गहन जीवन दृष्टि के अभाव व उसके अत्यन्त सरलीकरण की प्रकृति की सूचक है, जो यशपाल को गौरवशाली नहीं बनाती।”²

सम्भव है नेमिचन्द्र जैन मार्क्सवादी दृष्टि को ही सरलीकरण की प्रकृति का जनक मानते हैं। यद्यपि इसका कोई प्रत्यक्ष संकेत उन्होंने नहीं दिया है। किन्तु यशपाल के लेखन में सरलीकरण की प्रवृत्ति मार्क्सवादी दृष्टि के कारण नहीं वरन् मार्क्सवादी दृष्टि के अभाव के कारण है। इसी से उनके द्वारा चित्रित स्थितियाँ गहन न होकर उथली और सहती रह जाती हैं। इस विरोधाभास की ओर भी नेमिचन्द्र जैन का संकेत है—“यशपाल की कला का एक दिलचस्प विरोधाभास है कि कला में जीवन दृष्टि का सबसे अधिक आग्रह करने वाले लेखक में जीवन दृष्टि का अभाव ही सबसे अधिक खटकता है इसे एक कटु सत्य ही कहा जायेगा।”³

अर्थात् जहाँ तक 'झूठा-सच' के बारे में अखबारी कतरनों की उपमा का प्रश्न है स्वयं यशपाल ने कहीं जिक्र किया है कि 'झूठा-सच' लिखने के लिये उन्होंने उस काल के ढेरों समाचार-पत्रों को ध्यान से पढ़ा था। विभाजन प्रभावित क्षेत्रों (पंजाब आदि) में वे स्वयं नहीं थे लखनऊ में रहकर ही विभाजन की विभीषिका का विशाल फलक 'झूठा-सच' में उन्होंने प्रस्तुत किया। 'झूठा-सच' में प्रस्तुत यथार्थ उनका निजी अनुभव न होकर भी अत्यन्त प्रमाणिक और वस्तुगत अनुभव जान पड़ता है। इन अनुभवों का कला रूप में प्रस्तुतीकरण के समय की दूरी से, निस्पृहता से प्रस्तुत दुखान्त के गुण भी आ गये हैं।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'झूठा-सच' की अपनी समीक्षा को 'नयी प्रवृत्तियों की विषद व्याख्या' का शीर्षक दिया है। इस उपन्यास का उनका मूल्यांकन भी नेमिचन्द्र जैन से मिलता-जुलता ही है—“यशपाल ने एक विशाल चित्र फलक का निर्माण किया है और पूरा युग, जो हमारे इतिहास का सर्वाधिक संक्रान्ति-कालीन युग है, को सजीव व मूर्तिमान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है” किन्तु साथ ही वह यह भी कहते हैं—“यशपाल ने कैमरा केवल बाह्य यथार्थ को ही पकड़ पाने में सफल हो सका है, वह भी सतही ढंग से।”¹⁴ इसके बावजूद वे इसे हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक उपलब्धि मानते हैं।

यशपाल के कठोर आलोचक रामविलास शर्मा 'झूठा-सच' के राजनीतिक महत्त्व को यह कहकर स्वीकार करते हैं कि “इस उपन्यास का राजनीतिक महत्त्व यह है कि वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का घुणित रूप दिखलाता है, उससे जनता को सावधान रहना सिखलाता है। ये शक्तियाँ अभी समाप्त नहीं हुईं वरन् धर्म और संस्कृति के नाम पर अब भी जनता के कुछ हिस्सों को गुमराह करती हैं और हत्या, दंगे, नरमेघ करने में सफल हो जाती है।”¹⁵ रामविलास शर्मा 'झूठा-सच' को यशपाल का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास तो मानते ही हैं तथा उसकी गणना हिन्दी के नये-पुराने श्रेष्ठ उपन्यासों में भी करते हैं। हिन्दी के एक अन्य प्रगतिशील आलोचक प्रकाश चन्द्र गुप्त भी 'झूठा-सच' की जी खोलकर कर प्रशंसा करते हैं—‘झूठा-सच’ हिन्दी उपन्यास के विकास के क्रम में अद्वितीय प्रयास है। प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का अभूतपूर्व विकास इस उपन्यास में हुआ है।”¹⁶

नये समीक्षकों ने भी 'झूठा-सच' की चर्चा की है। आनन्दप्रकाश के अनुसार—‘झूठा-सच’ निश्चय ही सामाजिक वातावरण और ऐतिहासिक यथार्थ के बेबाक चित्र को ज्यादातर सही साहित्यिक समझ और अभिव्यक्ति से जोड़ पाने में यशपाल जी को पर्याप्त सफलता मिली है।”¹⁷

डॉ० माहेश्वर की समीक्षा भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी समीक्षा को 'सच का रुमान या रुमानी सच' का शीर्षक दिया है, जो काफी ध्वन्यात्मक है। उन्होंने 'झूठा-सच' को विभिन्न दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है। “बुद्धिजीवी वर्ग पर केन्द्रित होने के कारण 'झूठा-सच' में प्रेम और सेक्स को केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। 'झूठा-सच' के प्रमुख पात्रों की केन्द्रीय समस्या उनका यौन जीवन है जिसे विभाजन की विभीषिका और जटिल बना देती है।”¹⁸ यह वक्तव्य थोड़ा चौकाने वाला है, क्योंकि डॉ० माहेश्वर के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन, विभाजन विभीषिका, 1947 के बाद की परिस्थितियाँ आदि उपन्यास में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना उसके चरित्रों का यौन जीवन। कुछ हद तक उस वक्तव्य में अतिशयोक्ति का पुट है, किन्तु यह पूरी तरह गलत नहीं है। कनक और पुरी, पुरी और उर्मिला, के बीच यौन समस्याएँ हैं तारा यौन रोग से पीड़ित है। सीता के जीवन में यौन उच्छृंखलता है। रतन-शीलो-मोहन के सम्बन्धों में भी यह समस्या झकलती है। फिर भी 'झूठा-सच' यौन समस्या का उपन्यास नहीं कहा जा सकता। यद्यपि लेखक ने यौन समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर उथले और सतही रूप में प्रस्तुत किया है। तारा के यौन रोग का इस ढंग से गुप्त रहना असम्भव था, परिवार नियोजन सम्बन्धी भाषण भी लेखक ने अप्रासंगिक ढंग से करवाए हैं। वास्तव में अपने उपन्यासों में यशपाल अपने मध्यवर्गीय चरित्रों की यौन समस्याओं को इतने भद्दे और क्रूर ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि उनकी यान्त्रिकता अत्यन्त स्पष्ट रूप में झकलने लगती है। जीवन के भद्दे यथार्थ को भद्दे रूप में प्रस्तुत करना यथार्थवाद न होकर प्राकृतवाद है। डॉ० माहेश्वर लेखक ने इस अन्तर्द्वन्द्व से ठीक ही निष्कर्ष निकालते हैं “वस्तुतः यशपाल की दृष्टि सामन्तवादी मूल्यों के विरोध तक ही सीमित रह जाती है और वे मूलतः पूँजीवादी नैतिकता के पक्षधर कथाकार बनकर रह जाते हैं।”¹⁹

शायद 'झूठा-सच' शीर्षक से यशपाल ये ध्वनित करना चाहते हैं कि जीवन में बहुत सारी घटनाएँ तथ्यों के रूप में घट तो जाती हैं किन्तु सामाजिक जीवन में उनकी सार्थकता नहीं होती। देश का विभाजन ऐसी ही घटना है। एक ही भाषिक संस्कृति वाला पंजाब दो हिस्सों में बँट गया, इसलिए यशपाल ने 'झूठा-सच' के प्रथम भाग को व्यंग्य से 'वतन और देश' का नाम दिया है। दोनों शब्दों में एक ही अर्थ है, केवल भाषा का फर्क है। एक उर्दू का शब्द है, दूसरा हिंदी का। 'झूठा-सच' में तारा का सोमराज की पत्नी होना ही 'झूठा-सच' नहीं शीलो-मोहनलाल, कनक-पुरी के सम्बन्ध भी 'झूठा-सच' साबित होते हैं। इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर तारा-प्राणनाथ के सम्बन्ध भी झूठा-सच साबित होते हैं। पुरी-सूद नेतृत्व 'झूठा-सच' हैं, सूद की हार सच है। तारा-प्राणनाथ की दोषमुक्ति सच है, इत्यादि। यशपाल ने घटनाओं को जिस तरह से 'झूठ' और 'सच' या 'झूठ-सच' के प्रतीक द्वारा प्रस्तुत किया है। वह घटनाओं के महत्त्व को हल्का बना देता है। अपने आप में 'झूठा-सच' बहुत आकर्षक, संक्षिप्त व व्यंजक शीर्षक है। किन्तु जिन

अर्थों में लेखक ने उसका उपयोग किया है। उन अर्थों में वह पूरी तरह से उचित नहीं ठहरता। जिन चीजों को वे सच बनाकर प्रस्तुत करते हैं उनमें से बहुत सी घटनाएँ वास्तव में सच न होकर 'झूठा-सच' ही है। जैसे-सूद की चुनाव में हार को जनता की शक्ति का संकेत कहना।

यशपाल ने 'झूठा-सच' में मध्यवर्गीय चरित्रों की कुण्डाओं, जिनमें सेक्स सम्बन्धित कुण्डा भी है। पर बहुत ध्यान दिया है, पुरी का पूरा चरित्र निम्न मध्यवर्गीय चरित्र के अन्तर्द्वन्द्वों का स्पष्ट उदाहरण है। उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, उसकी राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना उसका उत्थान, उच्चवर्गीय जीवन के लिए उसकी ललक, सुविधा-भोगी जीवन में उसकी लिप्सा और उसका नैतिक पतन ये सब जीवन में घटता है। यशपाल ने स्वाभाविकता के साथ इसका चित्रण किया है।

उपन्यास के दूसरे भाग 'देश का भविष्य' में यद्यपि कांग्रेस शासन में फैले भ्रष्टाचार, शरणार्थी समस्या आदि के चित्रण द्वारा प्रधानमंत्री तक की आलोचना की गयी है। किन्तु यह आलोचना इस दृष्टि से नहीं है कि व्यवस्था ही खराब है, वरन् इस दृष्टि से की गई है कि व्यवस्था तो ठीक है सिर्फ उसके चलाने वालों में कुछ गड़बड़ियाँ हैं। ब्यूरोक्रेसी के चित्रण में उसके साथ यशपाल ने तो अद्भुत सहानुभूति दिखाई है वह बहुत कम लेखकों में मिलती है। अतः यशपाल ही हैं जिनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना 'झूठा-सच' ब्यूरोक्रेसी के गुणों का उद्घाटन करती है। ब्यूरोक्रेसी के उच्चतम शिखरों-गृह सचिव आदि तक को लेखक ने सहानुभूति दी है। राजनीतिज्ञों और ब्यूरोक्रेसी के टकराव में राजनीतिज्ञों की निन्दा और ब्यूरोक्रेसी की प्रशंसा की गयी है। इस विश्लेषण द्वारा वे ब्यूरोक्रेसी को जनता का कर्णधार बनाकर प्रस्तुत करते हैं जो कि अत्यन्त खतरनाक है।

यथार्थ के साथ एक और अन्याय लेखक ने 'देश का भविष्य', जनता के हाथ में दिखाकर किया है। देश का भविष्य जनता के हाथ में है इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु जिस ढंग से यशपाल ने उसे दिखाया है। उस ढंग से यह कतई जनता के हाथ में नहीं है। उपन्यास के अन्त में आम चुनाव में सूद की हार, तारा प्राणनाथ की दोष मुक्ति, कनक को तलाक मिलने आदि घटनाओं को लेखक ने देश का भविष्य जनता के हाथों में होने के रूप में दिखाया है। डॉ० प्राणनाथ से कहलवाया भी है—“गिल अब तो विश्वास करोगे कि जनता निर्जीव नहीं हैं। जनता सदा मूर्ख भी नहीं रहती। देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियों की मुट्ठी में नहीं है देश की जनता के ही हाथ में है।”⁸

यशपाल ने उपन्यास के आरम्भ में 'आवश्यक' में दावा किया है कि 'झूठा-सच' के दोनों भागों 'वतन और देश' और 'देश का भविष्य' में देश के सामयिक और राजनीतिक वातावरण का यथासम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करने का यत्न किया गया है। 'झूठा-सच' उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत की यथार्थ राजनीतिक स्थिति तो उघाड़ता ही है साथ ही घटनाओं और चरित्रों द्वारा भ्रमों को तोड़ता भी है किन्तु निष्कर्षों द्वारा भ्रमों का सृजन करता है। फिर भी निःसन्देह यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है।

अतः 'झूठा-सच' में भी यशपाल की राजनीतिक चेतना का स्वरूप मध्यवर्गीय ही रहता है जो विभाजन की दारुण परिस्थितियों को चित्रित करते समय मानवीय जनवादी और यथार्थ है, किन्तु स्वातन्त्र्योपरांत की परिस्थितियों को चित्रित करते समय यह चेतना सुधारवादी और भ्रमित करने वाली बन जाती है। अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास में भी यशपाल अपनी वर्ग सीमाओं को पार करने में असफल रहते हैं।

I UnO: §

1. नेमिचन्द जैन-अधूरे साक्षात्कार
2. नेमिचन्द जैन-अधूरे साक्षात्कार
3. वही
4. लक्ष्मीसागर वार्ष्ण्य, हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ
5. सं० रामन्यास पाण्डेय शर्मा, यशपाल, व्यक्ति व कृतित्व, पृ० 16
6. सं० मधुरेश, क्रान्तिकारी यशपाल, पृ० 76
7. सं० भीष्म साहनी, 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', पृ० 131
8. सं० मधुरेश, 'क्रान्तिकारी यशपाल', पृ० 133
9. सं० मधुरेश, 'क्रान्तिकारी यशपाल', पृ० 134
10. यशपाल, 'झूठा-सच', भाग-2, पृ० 616



len e [kk;k gvk vkneh & fuEue/;oxh; ifjokj dh d : .k xkFkk

vpuk ;kno*

कमलेश्वर युगबोध के साहित्यकार व स्वतंत्र्योत्तर भारत के एक सजग सशक्त एवं संवेदनशील रचनाकार हैं। उनका कथा साहित्य युग सत्य को असत्य सूक्ष्मता एवं सांकेतिकता के साथ व्यक्त करता है। कमलेश्वर ने अपने साहित्य में भोगे हुये यथार्थ से सम्बद्ध परिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक समस्याओं को रूपायित किया है। उनका महत्वपूर्ण उपन्यास 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' ऐसे ही आर्थिक संकट से ग्रस्त एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार के सत्य को उद्घाटित करता है।

कमलेश्वर का उपन्यास 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' सन् 1965 ई० में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास निम्नमध्यवर्गीय समाज और उसके चरित्रों की जीती-जागती तस्वीर हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास न केवल एक परिवार के आर्थिक संघर्ष को दिखाता है बल्कि पूरे निम्नमध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है। 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' एक प्रतीकात्मक उपन्यास है, जिसमें 'समाज' को 'समुद्र' एवं 'परिवार' को 'जहाज' का प्रतीक माना गया है। इसकी भूमिका में स्वयं कमलेश्वर ने लिखा है – 'समुद्र का प्रतीकार्थ समाज है, खासतौर पर वह समाज जहाँ जीवनयापन मजबूरी से दो कदम आगे बढ़ कर है। शायद ऐसा समाज समुद्र से भी गहरा, विशाल और खतरनाक है। इस समाज की हैरतनाक वितृष्णायें एक आम आदमी को, उसके दिल, दिमाग, जिजीविषाओं, महत्वाकांक्षाओं और उसके धर परिणाम को किस भांति आर्थिक मजबूरियों के शिकंजे में कस लेती है।'¹

कमलेश्वर का मानना है समाज एक ऐसा समुद्र है जिसमें प्रतिदिन की परेशानियों से, आर्थिक समस्याओं से महात्वाकांक्षाओं से संघर्ष करता हुआ आम आदमी त्रस्त होकर खो जाता है, डूब जाता है। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, व्यक्तिगत कुंठा का यथार्थ चित्रण इसमें हुआ है।

उपन्यास का नायक श्यामलाल सात वर्ष पहले इलाहाबाद में सिंधी ट्रान्सपोर्ट कम्पनी, में एक मामूली क्लर्क थे। उस कम्पनी की एक शाखा दिल्ली में खुलते ही श्यामलाल क्लर्क बनकर दिल्ली आ जाते हैं, इस सोच के साथ कि आगे जाकर मैनेजर बन जायेंगे। फिर वह ट्रान्सपोर्ट खोलने एवं ट्रक लेने का सपना भी देखते हैं। किन्तु दिल्ली में आने के कुछ दिन बाद जिस शोड की रखवाली करते थे उसकी चोरी होने के कारण मालिक एक महीने की तनख्वाह का जुर्माना करके श्यामलाल को नौकरी से निकाल देता है। श्यामलाल एक उज्ज्वल भविष्य की कामना में महानगर आते हैं किन्तु आर्थिक विपन्नता के कारण उनका भविष्य और अन्धकार मय होता चला जाता है। दोनों बेटियों की पढ़ाई बन्द हो जाती है, खाने एवं किराये देने के लिए भी उनको सोचना पड़ता है। इसी आर्थिक विपन्नता में श्यामलाल के घर में हरबंस नामक युवक का आना होता है। उसकी छोटी सी दुकान रहती है। जहाँ तारा आर्थिक अभाव के कारण काम करना शुरू कर देती है। श्यामलाल जो अपना परिवार चला पाने की क्षमता खो चुके हैं, उनको अपने मध्यवर्गीय संस्कार के कारण यह नागवार गुजरता है। परिवार के लिए निरर्थक हो जाने को बावजूद वे परिवार को अपनी नियन्त्रता से मुक्त करने के लिए तैयार नहीं हैं। तारा का बाहर जाकर काम करने में उन्हें अपनी पराजय महसूस होती है। अपनी सामर्थहीनता को जानकर भी वीरन को संरक्षक के रूप में

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

देखने लगते हैं। उन्हें हमेशा आशा रहती है कि बीरन समझदार और कमाने लायक हो जायेगा तो उनके विखरते जा रहे साम्राज्य को बचाकर डूबते जहाज को उबारेगा, बसी और मजबूती से बाहर निकालेगा।

बीरन को जब नौ सेना में नौकरी मिलती है तब श्यामलाल को लगता है उनका डूबता हुआ जहाज सतह पर आ गया है। समीरा की पढ़ाई पुनः शुरू हो जाती है। परिवार के हर सदस्य में नया जोश आ जाता है। किन्तु उसकी तनखाह इतनी नहीं कि पूरे महीने का खर्च चल सके श्यामलाल खरीद फरोख्त का कारोबारी शुरू करते हैं लेकिन भेद खुल जाने के बाद वह भी बन्द हो जाता है। घर का सारा सामान गिरवी रखना पड़ता है। आर्थिक अभाव के कारण तारा की शादी श्यामलाल एक लड़के से करना चाहते हैं किन्तु उनकी पत्नी रम्मी के विरोध के कारण वह कर नहीं पाते हैं। बाद में आर्थिक स्थिति को देखते हुए एवं तारा के गर्भ से होने को कारण मजबूती में उसकी शादी हरबंस से कर देते हैं। इन्हीं परेशानी के बीच बीरन आने वाला रहता है। परिवार का हर सदस्य अपने सामर्थ्य के अनुसार स्वागत की तैयारी किया रहता है तभी उसके समुद्र में खो जाने की खबर आती है। बीरन का समुद्र में जाना पूरे परिवार का समुद्र की लहरों में खो जाना होता है। श्यामलाल का परिवाररूपी जहाज तहस-नहस हो जाता है और सब आदमी जैसे कहीं बिखर जाते हैं। परिवार का मुखिया श्यामलाल न होकर हरबंस बन जाता है। यह आधुनिक समाज एवं राजनीतिक ढाँच पेच की कितनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि जो रम्मी घर के बाहर कभी नहीं निकलती उसे मुआबजे के लिए दर-दर की ठोकरे खानी पड़ती है। हरबंस के कहने पर वह मुआवजा के लिए क्या-क्या नहीं करती। मरे आदमी से रिश्ता सिद्ध करने के लिए एवं उसको मरा हुआ घोषित करने के लिए उसे अपने ही घर में लोगों को बुलाकर झूठा सियापा करवाना पड़ता है। इसके लिए उसे अपने पति से अलग होना पड़ता है। श्यामलाल को घर छोड़कर चौकीदार बनकर रहना पड़ता है। समीरा नर्सिंग हॉस्टल चली जाती है एवं रम्मी को अपने बेटे के यहाँ आया बनकर रहना पड़ता है। सारा सामान बोरे में भरकर घर के छत पर डाल दिया जाता है। मानो सारा परिवार उसमें बन्द हो गया है और उनकी कोई सार्थकता नहीं है।

कमलेश्वर ने इस उपन्यास के माध्यम से आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ वह आधुनिक समस्याओं, अकेलापन, वैयक्तिकता, महानगरीय जीवन की त्रासदी को भी अभिव्यक्त किया है। दिल्ली जैसे महानगरों में मानवीय जीवन में व्याप्त यांत्रिकता, भीड़, अकेलापन व अजनबीपन की स्थिति का चित्रण कमलेश्वर ने बखूबी किया है। “अब तो चारों तरफ एक सन्नाटा है, शोर भीड़ का गहरा सन्नाटा है। इस सन्नाटे में टूटती-फूटती और उखड़ती सांसों की आवाज है। बदहवासी और संघर्ष है। संकुलता और छटपटाहट है, भीड़ है और भीड़ के रास्ते हैं यहाँ अपना नहीं है क्योंकि सब हारती हुयी पाली के आजाद लोग हैं..... जो सिर्फ दूसरे की देखते हैं और हरेक दूसरे को बोझ समझता है।”²

आधुनिक समय में समाज इतना संवेदनहीन हो गया है कि लोग एक दूसरे के सुख-दुःख से कोई लगाव नहीं रह गया है। “रिश्ते और रिश्तों के रुख बदल गये हैं..... सब लोग व्यक्तियों में बदल गये हैं।..... वे अपने को और अपने बाद को पहचानने में लगे हुये हैं, खून के रिश्ते से अलग संघर्ष के रिश्ते कायम हो गये मामूली सी चीजें रह गयी हैं। इनका कोई वजूद अब नहीं रह गया है।”³ महानगरीय सभ्यता ने परंपरागत परिवारिक सम्बन्धों एवं मान्यताओं में मूल्यहीनता व शिथिलता उत्पन्न कर दिया है। घर के सदस्यों के बीच भी अजनबीपन आ गया है। इस उपन्यास का नायक श्यामलाल पारिवारिक सम्बन्धों में आये अजनबीपन को महसूस करते हुये कहता है – “पति के रूप में बस पति भर रह गये हैं। एक जबरदस्ती का बोझ और पिता के रूप में सिर्फ पिता कहे जाने भर का सवाल रह गया है। इन दोनों रिश्तों का कोई अर्थ उन्हें दिखाई न दे रहा था।”⁴ कमलेश्वर ने इस उपन्यास के द्वारा आधुनिक समय में व्याप्त आर्थिक विषमता एवं उसके संघर्ष को रेखांकित किया है। “समुद्र में खोया हुआ आदमी” बीरन नहीं स्वयं श्यामलाल है। वह और उसका परिवार भीड़ के सैलाब में भीषण आर्थिक असमानताओं के समुद्र में खो गया है।⁵

कमलेश्वर ने जिस सांकेतिक माध्यम से संवेदनात्मक अनुभूति को व्यक्त किया है उस दृष्टि से यह उपन्यास अत्यन्त सशक्त है। निम्नमध्यवर्गीय परिवार एवं बेरहम महानगरीय सभ्यता का सम्पूर्ण

प्रतिनिधित्व करता है। “आज का मानव सामाजिक जीवन की गतिशीलता में खो चुका है, डूब चुका है। वह पीछे पलटने में नहीं, आगे बढ़ने में विश्वास रखता है। वह आज सांसारिक भीड़ में लापता हो चुका है। समुद्र में लापता हुये लोग शायद कई बरसों बाद लौटकर नहीं आ सकता और इससे मुक्त होने की छटपटाहट समस्त परिवार में दिखाई देता है।”⁶

इस प्रकार कमलेश्वर ने इस उपन्यास में किसी प्रकार के आदर्श को न व्यक्त कर अपने समय के यथार्थ को व्यक्त किया है। यह उपन्यास आर्थिक विपन्नता से ग्रस्त एवं महानगरीय जीवन के अजनबी पन, यात्रिकता एवं संवदेनहीनता से त्रस्त एक निम्नमध्यमवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

UnHk §

1. समग्र उपन्यास — समुद्र में खोया हुआ आदमी — कमलेश्वर, राजपाल एण्ड सन्स, 2014, पृ0 290
2. समग्र उपन्यास — समुद्र में खोया हुआ आदमी — कमलेश्वर, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, पृ0 350
3. वहीं — पृ0 350
4. वहीं — पृ0 351
5. कमलेश्वर जीवन यथार्थ के शिल्पी — डॉ0 सुधारानी सिंह — वाणी प्रकाशन, 2013, पृ0 59
6. कमलेश्वर के उपन्यासों में आधुनिकता बोध — डॉ0 एस0 आर0 श्रीकला — माया प्रकाशन, 2013, पृ0 58



Ekfgyk l'kfDr dj.k FkjhxkFkk d fo'k"l lnhk e; T;kfr eUny;

थेरीगाथा त्रिपिटक साहित्य में महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। थेरी अर्थात् ज्येष्ठ भिक्षुणी तथा गाथा शब्द का अभिप्राय उद्गार, विचार, कहानी, जीवन चरित्र आदि से है। अतः ज्येष्ठ भिक्षुणियों के उद्गारों के संकलन का नाम 'थेरीगाथा' ग्रन्थ है। थेरीगाथा काल के पूर्व भारतीय इतिहास में नारी को अपनी व्यथा को इतनी स्वतंत्रता के साथ प्रकट करते नहीं देखा जा सकता। वास्तव में थेरीगाथा नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। यहाँ की प्रत्येक गाथा जीवन को एक निश्चित सन्देश देती है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की असीम गहनता और स्वयं के बारे में अनायास ही अपने अनुभवों को ज्यों का त्यों सभी के सम्मुख रख देना ही इस ग्रन्थ की विशेषता है। जो कि सम्पूर्ण विश्व में इतने खुले विचारों के साथ अन्यत्र मिलना असम्भव है। वास्तविक जीवन के चित्रण को सम्मिलित किया गया है।

'थेरीगाथा' में बुद्धकालीन 73 भिक्षुणियों के विचार सग्रहीत हैं यह पुरा ग्रन्थ 522 पद्यमय पालि गायकों में है जिसमें उन भिक्षुणियों ने अपने पूर्व जीवन के बारे में और प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद मिले मानसिक संतोष के बारे में, अर्हतपद के सुख के बारे में खुलकर लिखा है। भिक्षुणी बनी हुई महिला समाज के विभिन्न वर्गों से आयी थी जैसे—माहाप्रजापति गौतमी, सुमना, खेमा, सुमेधा, शैला राजवंश की नारियाँ थी। भद्रा, उपशमा, अभिरुनन्दा, सुन्दरीनन्दा, तिष्ठा, सिंहा, धिरा यह क्षत्रिय वंश की नारियाँ थी। रोहिणी, सुन्दरी, मुक्ता नन्दा, सोमा, उत्तमा, चाला, उपचाला, शिशुपचाला, मैत्रिका यह ब्राम्हण वंश की नारियाँ थी। धम्मदिन्ना सुजाता, पटाचारा, चित्रा, पूर्णा यह धनी वर्ग की नारियाँ थी। आम्रपालि, अड्डकासी, अभयमाता, विमला ये गणिकाएँ थी, और कुछ निम्न वर्गीय दासी पुत्रियाँ भी थी। बुद्ध ने जैसे कहा था कि—सागर में आने के बाद सभी नदियों का पानी एक जैसा हो जाता है वैसे ही भिक्षुणी संघ में आने के बाद सभी नारियों ने अचना ऊँच—नीच सामाजिक स्तर पीछे छोड़ आयी।

थेरीगाथा ग्रन्थ के अनुसार नारियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। उस समय महाप्रजापति गौतमी के उपदेश को सुनकर अनेक नारियाँ संघ में प्रव्रज्जित हो गई थी। भिक्षुणी पटाचारा की भी पाँच सौ शिष्याएँ थी। पटाचारा की शिष्याएँ होने के कारण इन्हे वर्गगत रूप से 'पंचसता पटाचारा अर्थात् पाँच सौ पटाचाराएँ' भी कह कर पुकारा गया है।

भिक्षुणी सुक्का का जन्म राजगृह नगर के प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। राजगृह की होने के कारण उस पर राजगृह के राजनैतिक, धार्मिक, वैचारिक वातावरण का प्रभाव था। उस समय राजगृह वैचारिक क्रान्ति का बहुत बड़ा केन्द्र था। महिलाएँ भी बुद्ध के कल्याणकारी विचारों से प्रभावित थी। एक दिन वह भिक्षुणी धम्मदिन्ना का उपदेश सुनने के लिए गई। उसने भिक्षुणी धम्मदिन्ना का उपदेश सुना और प्रव्रज्या ग्रहण की। वह धम्म प्रचार के कार्य में अत्यंत कुशल थी। एक दिन उसने राजगृह के भिक्षुणी—निवास में अत्यंत प्रभावशाली धम्मोपदेश दिया जिससे श्रोतागण मंत्र—मुग्ध से हो गए। उपदेश के समाप्त होने पर उस निवास के करीब रहने वाले व्यक्तियों ने राजगृह में आकर सुक्का के धम्मोपदेश की महत्ता का वर्णन करते हुए नागरिकों को उद्बोधित किया—

fdi ei drk jktxg; euLlk] e/k i hrk o vPNjA
; iDdi u miklfur] nlfur c) ikl u AA²

अर्थ— राजगृह निवासियों! सुक्का थेरी के द्वारा प्रचारित बुद्ध—वाणी को न सुन कर तुम यहाँ शराब पीकर मस्त हुए लोगों की तरह क्यों सोये पड़े हो? अरे! जाकर उस बुद्ध शासन का उपदेश करने

वाली की उपासना क्यों नहीं करते? इससे ज्ञात होता है कि बौद्धकाल में नारियाँ शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी।

भिक्षुणी खेमा को संगीत, नृत्य तथा विविध कलाओं का ज्ञान था। उसका अधिकतर समय कला के सानिध्य में ही व्यतीत होता था। एक दिन भिक्षुणी खेमा वृक्ष के निचे ध्यान साधना में लीन थी, तभी एक युवा पुरुष ने मार के रूप में आकर उसे लुभाने की चेष्टा की। भिक्षुणी खेमा ने अपनी अद्भुत ज्ञान-साधना से उस पर विजय प्राप्त करते हुए कहती है—

l'f'k l'iyiek dkek] [kU/kk l: vf/kd/VVukA

; l'Ro: dkejfr* cfl] vjfr* nkfu l'k eeAA³

अर्थ—देख! यह काम—तृष्णा नुकीले भाले के समान आहत करने वाली है। ये स्कन्ध—समूह तेज धार वाली छुरी के समान काटने वाले हैं। जिसे तू भोग का आनंद कहता है, वही मेरे लिए घृणा को उत्पन्न करने वाली चीज है। इस प्रकार खेमा उस युवक को अपने ज्ञान के द्वारा पराजित करती है। संयुक्त निकाय ग्रन्थ में कहा गया है कि एक बार कोसलराज प्रसेनजित को खेमा ने धम्मोपदेस दिया था। अतः भिक्षुणी खेमा भगवान बुद्ध की सबसे बड़ी प्रज्ञावती भिक्षुणी कहलायी।

कजंगला भिक्षुणी के राजगृह में बास के जंगल (वेणुवन) में विहार करते समय बहुत सारे लोगों के निवेदन करने पर उनको धम्मोपदेस दिया था। धम्मोपदेस सुनने के बाद उन लोगों के मुँह से उसके बारे में सुनने के बाद स्वयं बुद्ध ने उसका अनुमोदन करते हुए कहा कि—“गृहस्थो, कजंगलिका भिक्षुणी पंडिता है, वह महाप्रज्ञावान है। इस बारे में आप मुझसे भी पूछ लेते तो मैं भी वही बताता जो कजंगलिका ने कहा है।”⁴

भिक्षुणी नन्दुत्तरा पहले निर्ग्रन्थ साधुओं के संघ में प्रवेश किया और वाक—पटुता में अत्यन्त कुशलता प्राप्त की लेकिन उसके मन में कुछ शंकाये थी। बाद में उसने “महामोग्गलायन स्थवीर से शास्त्रार्थ किया और परास्त होकर बुद्ध मत की अनुयायी हो गई।”⁵

इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि उस समय नारियाँ शास्त्रीय संवाद भी करती थी। इस तरह भिक्षुणियाँ अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करके बुद्ध के शासन को जन—जन तक पहुँचाने का भी कार्य करती थी। भिक्षुणी धम्मदिन्ना बुद्ध की धम्मप्रचारक भिक्षुणियों में प्रथम एवं अग्रणी मानी जाती थी। “भिक्षुणी धम्मदिन्ना ने राजा बिम्बिसार की शंकाओं का बड़े ही बुद्धिवादी ढंग से समाधान किया था जिसकी प्रशंसा भगवान बुद्ध ने की थी।”⁶ बौद्ध धम्म के प्रचार—प्रसार में भिक्षुणियों का बहुत ही योगदान था।

भिक्षुणी सुमंगल माता अपने दीक्षित होने से पूर्व के कष्टमय जीवन का वर्णन करते हुये कहती है—

^vgk! ei eDr ukjh ! ejh efDr fdruh /kU; g!

lkgy: ei ely ydj /kku dV k djrh Fkh]

vkt ml l: eiä gk xbj]

ejh nfjnoLFkk d: o: NkV&NkV: cr!u!

ftud: chp ei ei eyh&dpyh cBrh Fkh]

vkj ejk fuyTt ifr e> mu Nkrk l: Hkh rPN le>rk Fkk]

ftUg: og viuh thfodk d: fy, cukrk FkkA

vc ml thou dh vk l'fä; k vkj eyk dk elu: NkM: fn; kA

ei vkt o{k&eyk ei /; ku djrh gb!

thou ; kiu djrh gA

vgk! vc ei fdruh l: [kh gA**⁶

भिक्षुणियाँ तथागत बुद्ध के उपदेशों को जन—जन तक पहुँचाने का भी महान कार्य करती थी। भिक्षुणी पटाचारा की तीस शिष्यायें (तिसमत्ता) कहती है —

y kx ely k l: /kku dV&dV dj

viu: L=h & i= vkfn dk ikyu & i k'k.k djrh g!

/ku dekr: g!A

Rkk fQj re Hkh c:) d: 'kk l'u dk vH; k l

D;ka ugh: d jrh]
 ft l: djd: iNrkuk ugh: gkrkA
 rc ge lc
 ij /kkdj ,dkr e: /;ku d fy;: cB x;h
 vkj fpÜk dh lek/kh l: ;Dr gkdj
 geu: c) & 'kk lu dk ijk fd; kA**7

भिक्षुणी चाला अपने मिथ्या मार्ग को नष्टकर, भगवान बुद्ध द्वारा उपदेशित 'आर्य अष्टांगिकमार्ग' का वर्णन करती हुई कहती है—

feF; k ekx: dk voyEcu dju oky]
 feF; k nf"V l: Ql: ykxk: l: ejk dkb: lEc/k ugh: g
 o: lHkh l) Ee d: ekx: l: cgr nj gAA
 fdUr: 'kkD; dy e: ,d c) u
 tUEk fy; k g: og vifre o vf}rh; i#"k g
 mUgku: e>: /kEe dk min: 'k fn; k g]
 ft le: eu: feF; k nf"V; k dk mPNnu dj fn; k gAA
 n[k] n[k dh mRifÜk]
 n[k dk fujk/k vkj n[k fujk/k dh vkj y: tkui oky]
 vk;: v"Vkfxd ekx: dk min: 'k
 mu Hkxoku u: e>: fn; k gAA** 8

इस प्रकार यदि समग्र रूप से दृष्टि डालें तो हमें थेरीगाथा की सभी भिक्षुणियों के उद्गारों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान बुद्ध की वाणी नारियों के जीवन में कितना बड़ा विश्वास और कितनी बड़ी आशा की किरण जगाती है। "भिक्षुणी धम्मदिन्ना भगवान बुद्ध की धम्मप्रचारक भिक्षुणियों ⁹ "भिक्षुणी धम्मदिन्ना ने राजा बिम्बिसार की शंकाओं का भी बड़े बुद्धिवादी ढंग से समाधान किया था जिसकी प्रशंसा स्वयं भगवान् बुद्ध ने की थी, वे प्रसन्न होते हुये कहते हैं कि वे भी धम्मदिन्ना की तरह ही उत्तर देते।"¹⁰

थेरीगाथा में महिलाओं का सामाजिक स्तर पुरुषों के समान ही था तथा उन्हें सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। पुणिका का जन्म भी श्रावस्ती में ही हुआ था। वह सेठ अनाथपिण्डिक के घर की दासी की पुत्री थी। वह भी चोरी-छिपे बुद्ध का उपदेश सुनती थी। "एक दिन उसने भगवान् बुद्ध के उपदेश को सुना और प्रथम फल (स्रोत-आपत्ति फल) में प्रतिष्ठित होकर पापमुक्ति के लिए गंगा स्नान करने वाले ब्राह्मण को वास्तविक विशुद्धि के मार्ग को बताते हुए कहती है कि—

[^]Luku&'kf) l: iki&efDr gkrh g]
 ;g r>: fd lu: crk; k \
 ;g rk vKkuh] e[k d: ifr min: 'k gA
 ;fn ty l: gh 'kf) gkrh]
 Rkc rk e<d] dN, ty d: l: i:
 Ekxj vkj vU; typjk dk Lox&xeu fuf'pr g !*¹¹

धर्म के नाम पर पाखण्ड का समर्थन करने वाले ब्राह्मणों को करारा जवाब देने का बल बुद्ध के कारण ही दासी पुत्री को प्राप्त हुआ था। फिर एक दिन पुणिका ने गंगा जल से शुद्धि मानने वाले (उदकशुद्धिक) एक ब्राह्मण को वास्तविक विशुद्धि के मार्ग (बुद्ध धम्म) में पहुँचा दिया। उससे अनाथपिण्डिक की इस दासी-पुत्री में बड़ी श्रद्धा हो गई। उसको ऐसा अनुभव हो गया कि इसमें तो ब्राह्मण से ज्यादा योग्यता है। अनाथपिण्डिक ने पुणिका को दासत्व से मुक्त कर दिया। बाद में अनाथपिण्डिक की अनुमति से वह भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट हो गई। बुद्ध का उपदेश सुनकर संघ में प्रव्रजित होकर कई दासियों ने अर्हत पद को भी प्राप्त किया था।

थेरीगाथा में गणिकाओं का भी स्थान महत्वपूर्ण था। ये संगीत, वादन एवं गायन में प्रवीण हुआ करती थी। इनका जीवन आनन्द एवं आमोद-प्रमोद के साथ व्यतीत होता था। भगवान बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब वैशाली की ओर आये तो वे अम्बपालि के उपवन में ठहरे थे। जब अम्बपाजी को इस बात का पता चला कि भगवान बुद्ध उसके अम्बवन में विहार के लिए ठहरे हुए हैं तो वह भगवान से मिलने पहुंची। भगवान के समीप जाकर अम्बपाली ने उनके चरणों की वन्दना की और दूसरे दिन भोजन के लिए आमन्त्रि किया। दूसरे दिन अम्बपाली ने अपने हाथ से बुद्ध को भोजन दान कर उनसे उपदेश ग्रहण किया और अपना उपवन बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ को दान कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध ने गणिका अम्बपाली का कितना गौरव बढ़ाया तथा उसे उचित स्थान दिया। अम्बपाली अपने जीवन में पुरुष वर्चस्व के सामने कभी नहीं झुकी, यही उसकी विशेषता थी। इसी प्रकार से अभयमाता उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका थी, बाद में वह भिक्षुणी बन गई। “उसी समय राजगृह में अत्यंत दर्शनीय परम रूपवती सालवती नाम की गणिका बनी।”¹² इन्हें राजदरबार में अत्यधिक सहायता एवं सम्मान मिलता था। राज्य की ओर से गणिकाओं का गणिकाभिषेक भी किया जाता था।

दसशील, आर्य अष्टांगिक मार्ग, चार आर्य सत्य, पांच संयोजन तीन विद्याएँ, निर्वाण आदि तत्वों की भिक्षुणियाँ निरंतर चर्चा करते दिखायी देती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में दबी हुई शोषित पीड़ित इन महिलाओं को बुद्ध ने पुरुषों के बराबर धम्म में स्थिर समझकर उनको मार्ग पर लाकर धम्म में सर्वोच्च निर्वाण के शिखर पर खड़ा कर दिया। दुर्बल महिलाओं में बुद्ध ने अनन्य आत्मविश्वास पैदा करके भिक्षुणी संघ के रूप में भारतीय समाज को दिखा दिया कि नारी अबला नहीं होती वह सबला ही होती है। सच्चे दिल से प्रयत्न किया तो धार्मिक प्रगति के आड़ में स्त्रीत्व नहीं आता यह स्पष्ट करते हुए सोमा थेरी कहती है कि —‘जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, ज्ञान नित्य विद्यमान है और प्रज्ञा के द्वारा धर्म का दर्शन कर लिया है गया है, तो स्त्रीत्व इसमें हमारा क्या करेगा?’ इसलिए थेरीगाथा को नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रन्थ भी कहा जाता है।

तथागत गौतम बुद्ध पहले महामानव थे जिन्होंने धर्म में पूजा उपासना से ऊपर नैतिकता को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने नारी को भोग्य एवं प्रजनन की मशीन से परे समाज में महत्वपूर्ण कार्य करने का अधिकार दिया। देखा जाय तो पुरुषों के समान ही नारी एक मनुष्य है और पुरुषों को जो अधिकार हैं वो नारियों को भी मिलना चाहिए यह विचार सर्वप्रथम भगवान बुद्ध ने प्रस्थापित किया। नारी जाति का जितना गौरव बुद्ध ने बढ़ाया उतना शायद ही दुनियाँ के किसी भी धर्म संस्थापक ने बढ़ाया होगा। जो नारी पुरुष प्रधान समाज में किसी भी अधिकार की अधिकारिणी नहीं थी, उसको सभी प्रकार के अधिकारों की अधिकारिणी बनाना, उसको ज्ञान प्राप्त करने की ज्ञान का उपदेश की और निर्वाण, परमशान्ति को प्राप्त करने की अधिकारिणी घोषित करना एक क्रान्तिकारी कदम था। इस प्रकार थेरीगाथा में महिलाओं के सशक्तिकरण की चर्चा की गई है।

UnHk %

1. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृ. 139
2. थेरीगाथा, भरतसिंह उपाध्याय, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 25
3. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, पृ. 151—52
4. वही, पृ.110
5. वही, पृ. 23
6. वही पृ. 21
7. वही पृ. 23
8. वही पृ. 209
9. थेरीगाथा, भरतसिंह उपाध्याय, पृ. 11
10. प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म: उद्भव, स्वरूप एवं पतन, के.टी.एस सराओं पृ. 130
11. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, पृ. 21
12. वही पृ. 201



d#&d# Lokgk-----e vfHk0;Dr frgj pfj= dk uk;d I; ukFk flg*

कुरु-कुरु स्वाहा.....मनोहर श्याम जोशी का पहला उपन्यास है जिसका प्रकाशन 1980 ई० में होता है। इस उपन्यास के संबंध में गोपाल राय ने लिखा है—“कुरु-कुरु स्वाहा में महानगरीय जीवन की-जिसका उदाहरण बम्बई है, जहाँ सिनेमा, अपराध, सेक्स आदि के अलग-अलग संसार हैं-विसंगतियों, अनिश्चितताओं, नैतिक मूल्यों तथा वहाँ के रहन-सहन, भागदौड़, रहस्यमयता, देह व्यापार, षड्यन्त्र आदि की प्रस्तुति ही उपन्यास का विषय है।”¹ हिन्दी में पहले-पहल इसी उपन्यास में उत्तर-आधुनिकता की कुछ विशेषताएँ दिखती हैं। इस उपन्यास के माध्यम से जोशी जी ने यह दिखाने की कोशिश की है कि किस प्रकार आधुनिकता ने हमारे जीवन को संघर्षमय बना दिया है और लाख कोशिशों के बावजूद किस प्रकार वह चारों खाने चित्त हो चुकी है। आज हमारी जिंदगी परंपरा, आधुनिकता, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, लेलिनवाद आदि का घालमेल होकर रह गयी है। यह उपन्यास इन सारेवादों के बीच घुटती-पिसती जिन्दगी का दस्तावेज है।

इस उपन्यास के संबंध में सत्यदेव त्रिपाठी ने लिखा है—“यह रचना यदि उपन्यास है, तो अब तक की औपन्यासिक अवधारणाओं के नकार पर खड़ी है।”² यह नकार इस उपन्यास के नायक के संबंध में भी कहा जा सकता है। उपन्यास का नायक मनोहर श्याम जोशी है जिसका व्यक्तित्व यहाँ तिमंजिला अर्थात् एक आदमी के भीतर तीन आदमी (या एक आदमी के तीन व्यक्तित्व) है। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है—“मैंने इस उपन्यास में अपना जिक्र ‘मैं’, ‘जोशीजी’ और ‘मनोहर’ तीन रूपों में किया है, क्योंकि हर व्यक्ति के भीतर एक दुनियादार बुजुर्ग, एक उत्साही युवा और एक निर्मम शिशु होता है। कुरु-कुरु स्वाहा अश्रद्धालु और क्रूर होने की हद तक विनोदी मैंने लिखा है और उसकी कथा वस्तु है मनोहर की हत्या।”³

इस तरह इस नायक का अन्तर्मन तीन भागों में बँटा हुआ है—मैं, मनोहर और जोशी जी के रूप में। एक ही व्यक्ति के अंदर तीन अन्तर्मन समाए हुए हैं—किशोरमन ‘मनोहर’ इण्टेलेक्चुअल ‘जोशी जी’ और स्वार्थ सिद्ध ‘मैं’। इस संदर्भ में लेखक ने कहा है—“मैं साहब मैं ही नहीं हूँ इस काया में, जिसे मनोहर श्याम जोशी वल्द प्रेमवल्लभ जोशी मरहूम, मौजा गल्ली अल्मोड़ा, हाल मुकाम दिल्ली कहा जाता है, दो और जमुरे घुस आये हैं, एक हैं जोशी जी लेखक-वेखक हैं, समझे ना, इंडियट-इलियट टाइप। मैं तो साहब रोजी-रोटी के लिए अनुवाद करता हूँ कभी-कभी। जोशी जी इंडियन अलॉ या इंडियन फलॉ बन जाने के चक्कर में सतत अनुवादक हैं। बहुत प्रेमपूर्वक घोंटा लगाते हैं पश्चिमी साहित्य का अंग्रेजी में, और फिर हिन्दी में लिखते हैं कुछ न कुछ, अपने आराध्य ओरिजनल अलॉ या फलॉ के इस्टाइल में कि कोई फिर इनका साहित्य अंग्रेजी में अनुवाद करे और ओरिजनल अलॉ-फलॉ से दाद दिलाए इन्हें। दिक्कत यह है कि पढ़-पढ़कर इनके लिए साहित्य क्या ससुरा जीवन तक मौलिक नहीं रह गया। जब देखो गुरु यही कहते हैं सन्दर्भ : वह पुस्तक, सन्दर्भ: वह नाटक, सन्दर्भ: वह फिल्म। गोया किताबे इनके लिए जिंदगी हो गयी है और जिन्दगी इनकी ससुरी किताबी हो चली है।...यह है जोशी जी इस थ्री बेड डॉमेटरी में मेरे पहले साथी। दूसरे हैं, मनोहर। जोशी जी वाली भाषा में यह मनोहर ‘इफेंटाइल’ है समझे न। पूरे पौने पाँच साल तक अपनी माँ का दूध पीते रहे साहब। अप्रत्याशित रूप से छोटी बहन के आ जाने पर इन्हें ‘बबुआ’ छोड़ना पड़ा तब माँ के पेट के एक तिल पर अँगुली रखकर ही सुख सपनों को प्राप्त हो सके। परिचय के लिए मेरे ख्याल से यही तथ्य पर्याप्त होगा।”⁴

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पूरे उपन्यास में व्यक्तित्व के इन तीनों आयामों का द्वन्द्व चलता रहता है। भावुक 'मनोहर' और बुद्धिजीवी 'जोशी जी' में अक्सर आंतरिक संघर्ष होते रहते हैं तथा तटस्थ 'मैं' अवसरानुकूल उनका परिहार करता है। इस श्री इन वन नायक के संबंध में सुप्रसिद्ध आलोचक निर्मला जैन ने लिखा है—“मनोहर सहज आस्था यानी हृदय का प्रतीक है, जोशी जी संदेह, जिज्ञासा यानी मेधा के और प्रतीक कथावाचक 'मैं' काया का, अस्तित्व-रक्षा उर्फ चमड़ी बचाने के लिए आवश्यक कांइयापन का।”⁵

महानगर की जटिल जिंदगी में व्यक्ति मन के टूटते सपने, बिखरते जीवन-मूल्यों, ध्वस्त होती नैतिकता, कदम-कदम पर अपराध में फँसता साधारण मनुष्य, तंत्र और तांत्रिक सभी उपन्यास में विन्यस्त हैं। इस जटिल जिंदगी में बुद्धिजीवी 'जोशी जी' अक्सर व्यंग्य करता है, 'मनोहर' भाव विह्वल होकर रोता है और तटस्थ 'मैं' चालाकीपूर्वक बीच का रास्ता निकालता है। परंतु अंत तक आते-आते बुद्धि हृदय पर हावी हो जाती है और हृदय केवल हारता ही नहीं है बल्कि उसकी हत्या हो जाती है।

इस उपन्यास में एक स्त्री पात्र है 'पहुँचेली' नायक जहाँ 'श्री इन वन' है वही पहुँचेली 'ऑल-इन-वन' है। वह एक अभिजात्य स्त्री है, वेश्या है, तांत्रिक है, लेखिका है, व्यापारी है, तस्कर या कि आदिशक्ति छिन्नमस्ता देवी नहीं कह सकते। जोशी जी कहते हैं—“मैं तो यह तक नहीं जानता कि तुम हो कौन? तांत्रिक जैसा कि तुम कहती हो? रंडी जैसा कि बाबू ने बताया? लेखिका जैसा कि खलीक ने बताया? क्रांतिकारी जैसा कि रथिजित भट्टाचार्य का अनुमान है? व्यापारी—जैसा कि डोमान वाला कह रहा है? और तुम इतने झूठ बोलती हो अपने बारे में, दूसरों के बारे में, कि तुम्हारा सच इस गोरखधंधे में छिप जाता है। मुझे दिलचस्पी है झूठ के इस गोरखधंधे में छिपे हुए तुम्हारे सत्य से।”⁶ पहुँचेली इसका बड़ा ही रहस्यमय सा जबाब देती है—“.....जिसके बारे में तुम्हें जिज्ञासा है, वह स्वयं जिज्ञासा है। जिसके लिए तुम भटक रहे हो वह स्वयं भटकन है।.....जो भी गुण जैसी भी क्रिया, तुम्हें अपेक्षित हो, उसी के हिसाब से मेरी कल्पना कर डालो।”⁷

'गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना' नामक सूत्र देकर पहुँचेली के एक पात्र न बनाकर एक आइडिया के रूप में दिखाया गया है। इस संबंध में प्रो० सत्यदेव त्रिपाठी का कहना एकदम सही है कि—“‘कुरु-कुरु स्वाहा’ की यह पात्र वैचारिता की वाहक के रूप में अवतरित है। वह जब चाहती है, जहाँ चाहती है, आती है और वैसे ही चली जाती है। वह किसी के अधीन नहीं, सभी उसके अधीन है। सभी उसकी तीरे नजर के घायल है। वह पहुँचेली इसी अर्थ में है कि इतनी पहुँची हुई है कि वहाँ तक किसी की पहुँच नहीं। निर्वसना रूप में प्रकट होकर भी वह रहस्यमयी बनी रह जाती है। शरीर तक कई लोग शायद पहुँच जाते हैं, पर उसे जान नहीं पाते, क्योंकि वह व्यक्ति से अधिक 'आइडिया' है।”⁸

इस अद्भुत पात्र से नायक की मुलाकात तब होती है, जब वह वेश्याओं पर अनौपचारिक अनुसंधान कर रहा होता है। इसी क्रम में उसकी भेंट ऐसी वेश्या से होती है जो आभिजात्य सौंदर्य से परिपूर्ण एक परिष्कृत स्त्री है। वह उसका पीछा करता है, उसे सुनाकर डायलॉगवाजी करता है। इसके जबाब में वह आभिजात्य नारी बस इतना ही पूछती है—‘एनो मीनिंग सँ’।

मनोहर पहुँचेली को देवी रूप में देखता है। आदिशक्ति छिन्नमस्ता देवी का रूप। जिसके लिए उसका मन श्रद्धा से भर उठता है। परंतु जोशी जी को वह एक पहुँचेली चीज मालूम पड़ती है। हर मामलों में दुनिया से अलग। 'मैं' दोनों का खंडन करता है, लेकिन सचाई यह है कि वह भी उस पहुँचेली चीज से प्रभावित है। फिर जोशी जी अपनी श्री-बेड डॉमेटरी के अपने दोनों साथियों के साथ मिलकर उसके बारे में सबकुछ जान लेने और अपने पौरुष पराक्रम के बल पर उसे अपने वश में करने की जुगत करते हैं। लेकिन इस प्रयास में वे जितना उसके बारे में जानते हैं वह उतनी ही रहस्यमय होती रहती है। इस संबंध में पहुँचेली का कथन बहुत सटीक है—“तुम पहले मर्द नहीं, जिसे मेरा जिस्म मेरे दिमाग से ज्यादा दिलचस्प मालूम हुआ हो और इस मामले में कोई पुरुष मौलिक नहीं होता।.....पहले झटपट बायलोजी, फिर इत्मीनान से रोमांस, साइकोलांजी और स्प्रिचुआलिज्म।”⁹

ऑखमिचौनी खेलते-खेलते पहुँचेली के अदृश्य होने के साथ उसे न पाने के मर्मांतक दुःख का भोक्ता 'मनोहर' मर जाता है। यह नायक के एक तिहाई हिस्से की हानि है। मनोहर का व्यक्तित्व लेखकीय गवाही में आस्था-श्रद्धायुक्त भावुकता से भरा है। वह श्याम की तरह शंका नहीं करता। 'जोशी' की तरह

प्रेम को दबाकर इंटेलेक्चुअसिज्म की शान नहीं बघारता। वह तो पहुँचेली के प्रति बस समर्पित है। और इस भाव की मृत्यु आधुनिक जीवन की एक बड़ी विडंबना का संकेत है। इन भावों को रखकर इस जिंदगी को पाया नहीं जा सकता। मनोहर न होता तो पहुँचेली के झाँसे में आकर स्टेशन की खाक छानने श्याम न आता, वह जोशी को पटा चुका था। जाहिर है कि शंका से अधिक खतरनाक आज आस्था हो गयी है। शंकालु बन कर जिया जा सकता है, सफल हुआ जा सकता है, पर अनास्था के इस युग में आशावान को मरना ही है—‘संशयात्मा विनश्यति’ की गीता की परिभाषा अब पुरानी पड़ गयी है ‘आस्थामना विनश्यति’ ही आज का शोचनीय सत्य है। मनोहर की मृत्यु यही बताती है। किंतु बचे हुए श्याम और जोशी भी मनोहर की मृत्यु के बाद सफलता तो पाते हैं जिंदगी को नहीं पाते। पहुँचेली की तलाश संपादक श्याम को अब भी है, पर पाता कहाँ है? आस्था की हानि से सफलता, पर सफलता की प्राप्ति से उपजा अपूर्णनीय असंतोष ही आज का द्वंद्व है, युगीन सत्य है।

इस तरह उपन्यासकर मनोहर श्याम जोशी ने नायक की प्रचलित अवधारणाओं को तोड़ते हुए तिहरे चरित्र के नायक की प्रस्तुति पहली बार उपन्यास में किया है। यह अपने तरह का पहला प्रयोग है जो काफी सफल रहा है।

I UnHk %

1. हिंदी उपन्यास का इतिहास— गोपाल राय, पृ0सं0 365
2. समीक्षा— सं0 गोपाल राय : हरदयाल, जुलाई—सितम्बर— 2002, पृ0सं0 9
3. आजकल— अप्रैल 1980, पृ0सं0 32
4. कुरु—कुरु स्वाहा— मनोहर श्याम जोशी, पृ0सं0 8—9
5. कथा प्रसंग : यथा प्रसंग— निर्मला जैन, पृ0सं0 70
6. कुरु—कुरु स्वाहा— मनोहर श्याम जोशी, पृ0सं0 45
7. वही, पृ0सं0 129
8. समीक्षा— सं0 गोपाल राय : हरदयाल, जुलाई—सितम्बर— 2002, पृ0सं0 10
9. कुरु—कुरु स्वाहा— मनोहर श्याम जोशी, पृ0सं0 45



Lukrd Lrj d fo|kfFk;k d l'tukRedrk ij ikfjokfjd okrkoj.k d iHkko dk v/;;u

Jo.k dekj*

iLrkouk ¶ मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर आपसी अन्तर्सम्बन्धों के माध्यम से नित नई वस्तुओं को देखकर वह अपने व्यवहार में सदैव परिवर्तन करके अपनी सृजनात्मक शक्तियों का विकास करता है। मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन की मुख्य भूमिका शिक्षा के द्वारा होता है। शिक्षा के द्वारा ही सृजनात्मक शक्तियों का विकास होता है। प्रत्येक मनुष्य में सृजनात्मक क्षमता भिन्न-भिन्न होती है लेकिन शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जो व्यक्ति में व्याप्त जन्मजात भिन्नताओं को अधिक रूप में कम करता है। वर्तमान युग में सृजनात्मक या सृजनशीलता किसी भी मनुष्य या समाज का इतना महत्वपूर्ण कारक बन गया है जो किसी भी समाज, देश के विकास में पर्याय बन चुकी है।

स्नातक स्तर के छात्र अपने विषय के साथ-साथ अपने भविष्य को लेकर भी चिन्तित रहते हैं। यह समय किशोरावस्था का समय होता है, इसलिए स्नातक स्तर के छात्र एवं छात्राओं के सम्मुख भविष्य के अलावा भी बहुत अधिक समस्याएँ होती हैं। यथा—रोजगार की समस्या, जीवन साथी का चुनाव, काम-भावना की समस्या में अपनी प्रतिष्ठा, साथियों एवं अभिभावकों आदि के सम्मान आदि की भावना होती है। स्नातक स्तर पर छात्रों का दायरा बहुत बड़ा होता है और वह शैक्षणिक कार्यों के साथ-साथ सामाजिक राजनीतिक कार्यों में रुचि लेने लगता है और उस क्षेत्र में अपने आपको प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है और ऐसा न कर पाने पर अपने अन्दर हीन भावना महसूस करता है।

वर्तमान युग में नवीनतम आविष्कार, साहित्य रचना, भौतिक वस्तुओं का निर्माण तथा मानव की अन्य उपलब्धियाँ सृजनात्मक शक्ति एवं कल्पना का परिणाम हैं। आज विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में, औद्योगिकी एवं नगरीकरण के विकास के फलस्वरूप मानव जीवन और समाज में नित्य नया परिवर्तन दिखाई देता है। इनमें से अधिकांश आविष्कारों के पीछे जहाँ वैज्ञानिकों ने अथक परिश्रम किया है वहीं उनकी सृजनात्मकता का भी योगदान कम नहीं है। पहले माना जाता था कि केवल लेखक, कवि, चित्रकार, संगीतकार आदि व्यक्ति ही सृजनात्मक होते हैं परन्तु अब यह माना जाने लगा है कि मनुष्य में प्रत्येक क्षेत्र के बारे में सृजनशीलता पाई जाती है चाहे वह किसी भी व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में हो। मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने में नवीन आविष्कार तथा समस्या का समाधान खोजने के कार्य में सृजनशीलता महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। आज के जटिल युग या समाज में वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों को पाने के लिए सृजनात्मक मनुष्यों का होना राष्ट्र की प्रमुख आवश्यकता बन गयी है। बौद्धिक क्षमता वाला व्यक्ति ही सृजनात्मक हो सकता है। किन्तु आज मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से स्पष्ट है कि सृजनशीलता बुद्धि से स्वतंत्र है। वर्तमान समय में सृजनशील व्यक्ति शिक्षा के माध्यम से सृजनात्मक शक्तियों का विकास कर सकता है। आज विज्ञान, तकनीकी व औद्योगिक क्षेत्र में नूतन आविष्कार हो रहे हैं। अनुसंधान के परिणाम विकास को गति प्रदान करते हैं। आज सृजनात्मकता शिक्षा एवं मनोविज्ञान का एक अभिन्न अंग बन गई। विभिन्न प्रकार के सृजनात्मक परीक्षणों का विकास प्रत्येक आयु स्तर और क्षेत्र की सृजनशीलता मापने के लिये किया जा रहा है। सृजनशीलता विद्यार्थियों के लिए विशेष प्रकार के पाठ्यक्रमों एवं सृजनात्मक शिक्षकों की भी व्यवस्था की चर्चा चल रही है। आज की समस्यायुक्त समाज में सृजनशील व्यक्ति का संरक्षण आवश्यक है। युवा हमारी धरोहर हैं उनकी प्रतिभा और क्षमता का उपयोग

*सहायक आचार्य, शिक्षक—शिक्षा संकाय, नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

राष्ट्र निर्माण में होना चाहिए। सृजनशील विद्यार्थियों को उनके अनुरूप उन्हें शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। अगर सृजनशील विद्यार्थियों की सृजनात्मक क्षमता का सम्मान एवं संवर्धन नहीं किया जाता है तो वे इस क्षमता को विध्वंसात्मक कार्यों में इस्तेमाल कर सकते हैं। कहीं-कहीं बहिष्कृत सृजनशील व्यक्ति की देन है। इसलिए सृजनशील व्यक्तियों की पहचान करना व उनके विकास के अवसर उपलब्ध कराना राष्ट्र का कर्तव्य है।

अनौपचारिक अभिकरण में परिवार का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है जहाँ पर बालक माता-पिता से शिक्षा प्राप्त करता है क्योंकि माता-पिता परिवार की धूरी हैं उन्हीं के इर्द गिर्द सम्पूर्ण परिवार संगठित रहता है प्रेम स्नेह एवं सौहार्द परिवार के आधार है बालक परिवार में जन्म लेता है वही पर वह उठना बैठना खाना पीना दौड़ना चलना सभी कुछ सीखता है भाई बहनो से बातें कारना माता पिता अतिथि आदि का आदर करना वह सभी गुण परिवार से सीखता है परिवार में उसे लेकर नहीं दिया जाता। वहाँ पर सिद्धान्तों का साक्षात् दर्शन होता है अतः बालक के मानसिक पटल पर सीखी गई बातें स्थायी होती हैं। महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी कहते हैं कि मैंने बचपन से ही जो कुछ सीखा था वही मेरी शिक्षा है। महात्मा गांधी ने अपनी माता से धार्मिक आचरण की सही शिक्षा प्राप्त की थी। जगदीश चन्द्र बसु को अपने महान वैज्ञानिक अन्वेषण की सृजनात्मकता में अपनी माता की उक्ति से मिली थी जीजाबाई ने ही शिवाजी में वीरता की भावना भर दी थी। इसलिए सभी महापुरुषों ने माता पिता का ऋण स्वीकार किया माता को भारतीय साहित्य में आदि गुरु कहा गया है। पेस्टालाजी फ्रोबेल तथा मॉन्टेसरी ने घर को शिक्षा का सर्वोत्तम स्थल माना है।

परिवारिक वातावरण विद्यार्थियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अत्यधिक प्रभाव डालता है परिवार के प्रेम और सहानुभूति के वातावरण में दी जाने वाली शिक्षा ही स्वाभाविक और स्थायी होती है। स्नातक स्तर पर विद्यार्थी का सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक, चारित्रिक, शारीरिक एवं सांस्कृतिक विकास बहुत तीव्र गति से होता है। क्या विद्यार्थियों में पारिवारिक वातावरण उनके सृजनात्मकता पर विशेष रूप से प्रभाव डालता है?

v/; ;u d' mnn'; §

किसी भी कार्य को करने का एक निश्चित उद्देश्य होता है। प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं—

1. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्रों के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करना।
2. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्राओं के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करना।

v/; ;u dh ifjdYiuk §

परिकल्पना अनुसंधान प्रक्रिया का एक आवश्यक पद है इसके अभाव में अनुसंधान प्रक्रिया उद्देश्य विहीन हो जाती है। अतः अध्ययन को एक वैज्ञानिक रूप देने तथा समस्या के हल के लिए इस अध्ययन को निम्नलिखित परिकल्पनाएँ निर्धारित की गयी हैं।

1. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्रों के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।
2. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्राओं के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

'kk/k ifof/k §

प्रस्तुत अध्ययन में अनुसंधानकर्त्री ने सर्वेक्षण विधि को अपनाया गया है। अध्ययन हेतु अनुसंधानकर्त्री इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बी0ए0 कक्षाओं में अध्ययनरत विद्यार्थियों का यादृच्छिक विधि से चयन किया गया है तथा इनमें से 50 छात्र तथा 50 छात्राओं का चयन किया है। प्रस्तुत अध्ययन में सृजनात्मकता के मापन के लिए डा0 एस0पी0 मल्होत्रा (कुरुक्षेत्र, विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र) एवं डाँ0 सुचेता कुमारी (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र) द्वारा निर्मित उपकरण का प्रयोग किया गया है। डा0

करुणा शंकर मिश्रा द्वारा निर्मित पारिवारिक वातावरण अनुसूची का प्रयोग किया गया है। आँकड़ों के विश्लेषण एवं उनकी व्याख्या हेतु टी-परीक्षण सांख्यिकीय विधि का प्रयोग किया गया है।

inÜkk dk fo'y"i"i.k ,o: 0; k[; k %

1. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्रों के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का विश्लेषण एवं व्याख्या

सारणी सं० 1

स्नातक स्तर पर उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण वाले छात्रों के सृजनात्मकता का एफ-मान

स्रोत	df	SS	MS	F	सारणी मान
समूहों के मध्य	2	30.92	15.46	0.19	F.05(2,48)=3.19
समूहों के अन्दर	48	3945.56	82.20		F.01(2,48)=5.08
कुल	50	3976.48	97.66		

सारणी संख्या 1 के अवलोकन से ज्ञात होता है कि F का परिकलित मान 0.19 है जो कि 0.05 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर कि सारणी मान 3.19 एवं 5.08 से कम है अतः शून्य परिकल्पना को स्वीकृत तथा H1 को अस्वीकृत किया जाता है।

इस सार्थक F अनुपात के आधार पर कहा जा सकता है कि स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्रों के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

2. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्राओं के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का विश्लेषण एवं व्याख्या

सारणी सं० 2

स्नातक स्तर पर उच्च, मध्यम एवं निम्न पारिवारिक वातावरण वाली छात्राओं के सृजनात्मकता का एफ-मान

स्रोत	df	SS	MS	F	सारणी मान
समूहों के मध्य	2	303.08	151.54	1.66	F.05(2,48)=3.19
समूहों के अन्दर	48	4374.30	91.13		F.01(2,48)=5.08
कुल	50	4677.38	242.67		

सारणी संख्या 2 के अवलोकन से ज्ञात होता है कि F का परिकलित मान 1.66 है जो कि 0.05 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर कि सारणी मान 3.19 एवं 5.08 से कम है अतः शून्य परिकल्पना को स्वीकृत तथा H2 को अस्वीकृत किया जाता है।

इस सार्थक F अनुपात के आधार पर कहा जा सकता है कि स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्राओं के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

fu"d"i %

प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुये—

1. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्रों के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।
2. स्नातक स्तर पर अध्ययनरत् छात्राओं के सृजनात्मक पर पारिवारिक वातावरण का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

I UnHk %

1. जायसवाल, विजय (2007). ए स्टडी ऑफ साइंटिफिक क्रियेटिविटी एण्ड एचीवमेन्ट नोटिवेशन ऑफ ग्रेड टेन्थ स्टूडेन्ट्स ऑफ डिफरेंट एजुकेशनल बोर्ड्स ऑफ कानपुर सिटी. नोयडा: जर्नल आफ टीचर एजुकेशन एण्ड रिसर्च, अंक-2, सं0 1, पृ0 40-45
2. जरियल, जी0एस0 (1983). क्रियेटिविटी, इंटेलीजेंस एण्ड एकेडेमिक एचिवमेन्ट एण्ड देयर रिलेशनशिप एण्ड डिफरेंस विथ रिफरेंस टू सेक्स एण्ड एकेडेमिक सबजेक्ट्स. एजुकेशन टू व्यू मंथली रिकार्ड फार इण्डिया, मई-जून 1983
3. प्रसाद, बीना (1999). क्रियेटिविटी इन रिलेशन टू स्टडी हैबिट एण्ड एट्टीट्यूड्स टुवर्ड स्टूडेन्ट्स ऑफ हाईस्कूल प्यूपिल ऑफ कानपुर, पी0एच-डी0 एजुकेशन, कानपुर: सी0एस0जे0एम0वि0वि0 ।
4. प्रसाद, ठाकुर (2007). उच्च मध्य एवं निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर के किशोर छात्र-छात्राओं की शैक्षिक रुचि, स्वबोध एवं सृजनात्मक शक्ति का तुलनात्मक अध्ययन. पीएच0डी0, शोध प्रबन्ध (शिक्षाशास्त्र), कानपुर: कानपुर वि0वि0, पृष्ठ संख्या 32 ।
5. फ्रैंक, बी0 व ह्लोविगटन, डेविड (1981). क्रियेटिविटी, इंटेलीजेन्स एण्ड पर्सन कैलिफोर्निया, साताक्रूज एनुअल रिव्यू ऑफ साइकोलॉजी, अंक-32, पृष्ठ-439-476 ।
6. बादकर ; एस0 एवं ग्रेस (1986). 'बच्चों द्वारा माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रत्यक्षीकरण व माता-पिता एवं बच्चों के बीच सम्बन्ध और बच्चों का समायोजन' जनरल ऑफ ह्यूमन डेवलपमेन्ट वैल्यूम 22, पेज 19-20
7. मैकाबे, मैरिटा पी (1991). इन्लूएँस आफ क्रियेटिविटी एण्ड इंटेलीजेंस आन एकेडेमिक परफारमेन्स, जर्नल और क्रियेटिव बिहैवियर, अंक 25(2), पृष्ठ-116-122 ।
8. शर्मा, अरविन्द (2002). उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र-छात्राओं की बुद्धिलब्धि शैक्षिक रुचि- आकांक्षा स्तर एवं पारिवारिक सम्बन्धों से शैक्षिक उपलब्धि का सम्बन्ध. पीएच0डी0, शोध प्रबन्ध (शिक्षाशास्त्र), कानपुर: कानपुर वि0वि0 पृ0सं0 43 ।



Role of Socio-Cultural Diversity in Tourism of India - A Case Study of Delhi

Avinash Chandra*

Introduction : Cultural Tourism is the subset of tourism concerned with the country or region's especially its arts. It generally focuses on traditional communities who have diverse customs, unique forms of art and distinct social practices, which basically distinguishes it from other types and forms of culture. Cultural Tourism includes tourism in urban areas, particularly historic or large cities and their cultural facilities such as museums and theatres. It can also include tourism in rural areas showcasing the tradition of indigenous cultural communities (i.e. festivals, rituals) and their values and lifestyles. The present study has been taken up to assess the resources of cultural tourism in Delhi, to find a linkage of culture and tourism development and also the problems and prospects of cultural tourism.

Most of the research on any aspect of Indian culture or society considers the entire country as a single cultural unit and is based on mere observations and intuitive assumption and is generally not based on empirical investigation. This paper is an attempt to create an understanding that India is a multicultural, multilingual and multiethnic society and that the usage of nation as a surrogate for culture is in-appropriate for countries like India which have heterogeneous cultures.

Cultural tourism in India is the predominant factor behind India's meteoric rise in international tourism in recent years, because from time immemorial, India has been considered the land of ancient history, heritage, and culture. The Government of India has set up the Ministry of Tourism and Culture to boost cultural tourism in India. The ministry has launched the 'Incredible India!' campaign and this has led to the growth of cultural tourism in India. India has had many rulers over the centuries and all of them made an impact on India's culture. One can see the influence of various cultures in its dance, music, festivals, architecture, traditions, customs, food, and languages. It is due to the influence of all these various cultures that the heritage and culture of India is exhaustive and vibrant. This richness in culture goes a long way in projecting India as the ultimate cultural tourism destination.

Social Change and Economic Growth : Social change and economic growth are not only mutually inter-dependent but are organically related parts of a single process of development. The present study of socio-cultural dualism makes an attempt to assess the significance of social/cultural diversity, which has changed the face of tourism in India, in particular, the society in Delhi. The overall purpose of the study is to examine the impact of the structure of family, religion, caste, beliefs, institutions, languages, legal system and culture on tourism in a positive and negative manner.

In recent times social scientists have made unprecedented studies to examine the pluralistic nature of different societies in their cultural and social aspects. Many of these pragmatic scholarly works have gained enviable acceptance in the international intellectual circles. Social structure and institutional values play vital roles in determining the economic growth of a country. But the ethnic and racial changes have produced a lineal effect in the cultural spheres of both the developed and underdeveloped countries of the world. Developing

*Assistant Professor, College of Vocational Studies, University of Delhi, Delhi

countries present many paradoxes and complex problems in the process of transition from a traditional to a modern life style.

The differences in cultural backgrounds of inbound tourists affect the behavior of consumption decisions, selecting products and services. It would be challenging for tourism professionals to fulfill the needs of customers from different and diverse backgrounds. Tourists have their reasons and mindsets of choosing services which is based on their culture and environment. Therefore, in order to respond and provide the right service not only to meet the customer's needs but to delight them, it is very important to have cultural knowledge. Tourism professionals must know and understand the major value orientations of their customers, and be aware of, and sensitive to, cultural differences between international tourists as well as respect the influence of national cultures on human behaviors.

Culture: When speaking about culture, different views upon the notion might exist. In general, culture helps people to develop an identity (Harris et al., 1991). By giving sense to their actions, culture enables the people to find a group or other individuals who have the same values and beliefs. The inhabitants share a system of meaning which enables them to perceive and judge in the same way about a certain action. The researcher will only focus on national culture since the aim is to identify the cultural differences among the studied social groups. When analyzing the different national cultural concepts, Hofstede stresses that national culture is often not a matter of a passport and the distinction can be rather complicated due to different ethical, regional and linguistic groups (Hofstede, 1997). The researcher agrees that it is hard to identify the typical stereotype of a culture. However, we will use the term "national cultural differences" although we are aware that more distinctions within that culture could be made (Becker & Hengstmann, 2006).

Definition of Culture: Hundreds of definitions of culture have been developed due to the different conditions under which different scholars have worked. These scholars have all different views about what constitutes the concept and meaning of culture. Reisinger (2009) and Damen, L. (1987) who's study "Culture Learning: The Fifth Dimension on the Language Classroom" defined that Culture is to learn and share human patterns or models for living; day to day living patterns. These patterns and models pervade all aspects of human social interaction.

Meanwhile, Lederach, J.P. (1995) who studied Conflict transformation across cultures said that Culture is the shared knowledge and schemes created by a set of people for perceiving, interpreting, expressing, and responding to the social realities around them. Linton's (1945) research about The Cultural Background of Personality defines that Culture is a configuration of learned behaviors and results of behavior whose component elements are shared and transmitted by the members of a particular society, as well as, Parson, T. (1949) who wrote the essay in Sociological Theory gives the definitions of culture as: Those patterns relative to behavior and the products of human action which may be inherited, that is, passed on from generation to generation independently of the biological genes.

These different definitions reflect different theoretical bases for understanding the concept of culture and criteria for evaluating human activity. This also shows the difficulties of setting one central definition. As a result, the researcher found more detailed explanations of culture from the book "International Tourism Culture and Behavior" which explains "Culture" from a narrower perspective, points to different aspects of the concept and reflects its essential feature. Thus culture refers to:

- 1) Human Environment: culture has been created by humans; it is a part of a human-made environment that holds the human group together.
- 2) Way of life: culture is a way of life of group of people or an entire society; it shows how to live and what standards and criteria to use to decide what to do in life and how to do things.

- 3) Behavior: Culture influences human behavior and shows how people should behave. It determines the patterns of behavior associated with particular group of people, and the conditions and circumstances under which various behaviors occur. Culture also helps to interpret, understand, and predict others' behavior. People's behavior depends upon the culture in which they have been raised. Culture is the foundation of human behavior.
- 4) Dress and appearance: Culture dictates how people should dress. It determines what clothing people wear for a business or casual meeting, as well as at home. To be socially accepted people dress appropriately for the occasion. Cultural customs and traditions determine the dress code and color, the length of hair, the jewelry to be worn, and the amount of makeup to be used. Cultures determine a sense of aesthetics.
- 5) Food and eating habits: Culture determines how food is prepared, cooked, presented, and consumed. For example, in some cultures people eat beef (e.g. in the United States), while in others beef is forbidden (e.g. India). In some cultures people use forks and knives to eat (e.g. Europeans), while in others, people use chopsticks (e.g. Chinese), or their hands (e.g. Indians). Culture determines table manners.
- 6) Values and norms: Culture dictates the priorities people should attach to certain values; it indicates what should be the most important and least important values. In some cultures individuals are concerned with work, personal achievements, and material things, whereas in others culture people are expected to share, obey, and be concerned about others. Culture helps to reaffirm values, cope with difficulties, and find solutions to problems. Culture includes systems of values, and values create culture.
- 7) Way of thinking and doing things: Culture is the socially acquired way of thinking, feeling, and doing things. Culture is the means through which human beings communicate their thoughts and values and fulfill their needs.
- 8) Work and leisure habits: Culture determines attitude towards work, work habits and practices, accomplishments, assessments, promotions, incentives, responsibilities, work ethic, worthiness of activity, loyalty to employer, and commitment to quality of work and service, and ways of making decisions. Culture also determines attitudes towards leisure, travel habits, frequency and seasonality of travel, preferred modes of travel and accommodation, source of information used, spending patterns, length of stay, and destination selection.

Delhi - As A Cultural City : Delhi, the capital of India, has its origin from 1450 B.C. and has been in continuous existence for over a thousand years now. It is a site of many historic capital cities, traces of ten of which survive even today. The city is significant for the role it has played throughout history, having been the centre of an empire for the majority of this millennium. It is an important city in the Indian subcontinent and comparisons have often been made to other great cities of the world. However, very few cities carry with them, to such an extent, the weight of several layers of continuous history. So the aim of this research is to promote the socio - cultural aspect of Delhi Tourism. Delhi being National Capital Territory, receives 62% of foreign travelers and NRI visiting India. There is an emergent need to make Delhi a cultural destination and to spread awareness among tourists as well as its citizens regarding its glorious past.

Delhi is the traditional and present day capital of India. Delhi stands in a triangle formed by the river Yamuna in the east and spurs from the Aravali range in the west and south. Delhi is not only the largest commercial centre in Northern India, but also the largest centre of small industries. The IT sector, handloom, fashion, textile and electronic industry contribute a lot to Delhi's economy.

Delhi is situated in Northern India and is located at 28.61°N and 77.23°E. It is bordered by the states of Haryana in the North, West and South and Uttar Pradesh (UP) to the east. It has a population of about 16.3 million, making it the second most populous city and second most populous urban agglomeration in India. The geography of Delhi is characterised by two prominent features which are the Yamuna flood plains and the Delhi ridge. The Yamuna river was the historical boundary between Punjab and UP, and its flood plains provide fertile alluvial soil suitable for agriculture but are prone to recurrent floods. The National Capital Territory of Delhi covers an area of 1,484 sq kms, of which 783 sq kms is designated rural, and 700 sq kms as urban, thus making it the largest city in terms of area in the country. It has a length of 51.9 km and a width of 48.48 km.

Delhi is included in India's seismic zone-IV, indicating its vulnerability to major earthquakes, but earthquakes have not been common in recent history. Temperatures in Delhi usually range from 5 to 40 °C (41.0 to 104.0 °F), with the lowest and highest temperatures ever recorded being 6.7 and 47.8 °C (19.9 and 118.0 °F) respectively. The annual mean temperature is 25 °C (77 °F); monthly mean temperatures range from 13 to 32 °C (55 to 90 °F). The highest temperature recorded in July was 45 °C (113 °F) in 1931. The average annual rainfall is approximately 714 mm (28.1 in), most of which falls during the monsoon season in July and August.

Delhi is the largest commercial centre in Northern India. In 2013, the per capita income of Delhi was Rs. 2.3 Lacs, highest in India. Hinduism is Delhi's predominant religious faith, with approximately 81% of Delhi's population, followed by Islam (9.9%), Sikhism (5%), Jainism (1.1%), and others (1.2%). Other minority religions include Buddhism, Zoroastrianism, Christianity and Judaism. Punjabi & Hindi are the most widely spoken languages in Delhi.

Since Delhi is bounded by the four states of Haryana, Punjab, Rajasthan and Uttar Pradesh, that has a strong influence on the lifestyle of Delhi. Delhi is a cosmopolitan city where people are open to embracing new ideas and life style. You can notice the transition in the demography of people in Delhi with the changing lifestyle and the influence of modern ideas in the lives of Delhites. People from all parts of the country live here. All major festival of India is celebrated and the Unity in Diversity is evident in social and cultural gatherings.

Delhi is a historic city with long cherished historical values which can be seen in the remains of the past Mughal Rule in India. The crumbling structures and congested by lanes still exist in the walled city which is proudly accepted by Delhites as their much esteemed past. With the increase in population and continual influx of immigrants from other cities, Delhi is facing problems of traffic congestion, accommodation, electricity and water. Delhi's population has grown over 40 percent in the last decade and the current population stands in excess of 14 million. Since Delhi could not sustain the growing demands of increasing population, more commercial as well as residential space, it was imperative to have the growth of adjoining regions. This led to the development of NCR, called the National Capital Region. Satellite cities such as Gurgaon, Noida and Faridabad have shared the load of Delhi by offering more land space for commercial and residential properties.

- * Shopping and mall culture in Delhi has changed the way people used to shop earlier. There are new shopping complexes and malls in Delhi where you can find all your shopping requirements under one roof.
- * Night life in Delhi is another addition to the new lifestyle being embraced by the people of Delhi. Night clubs in the city open till late night and you can eat, drink along with enjoying dancing in exclusive clubs.
- * World class restaurants and hotels are other additions to the changing lifestyle of Delhi with popular chains like Pizza Hut, Mc Donalds and BurgerKing being the hot favourites among the citizens of Delhi.



Fig- Tourist map of Delhi: showing places of tourist's interests.

Source: www.mapsofindia.com

Conclusion : Tourism is an important sector of the economy and contributes significantly in the country's GDP as well as Foreign Exchange Earnings (FEE). With its backward and forward linkages with other sectors of the economy, like transport, construction, handicrafts, manufacturing, horticulture, agriculture, etc., tourism has the potential to not only be the economy driver, but also become an effective tool for poverty alleviation and ensuring growth with equity.

References :

1. Abid Husain, S., The National Culture of India, National Book Trust, New Delhi (1978)
2. Ahmed, Z.U., The Influence of the Components of a State's Tourist Image on Product positioning strategy, Tourism Management (1991)
3. Allan Beaver, A Dictionary of Travel and Tourism Terminology, CABI (2005)
4. Amiya Kumar Pattnaik, Socio Economic Impacts of Tourism, the Green Portal, Vol2, No.1 (2005)
5. Annual Statistical Bulletin, Ministry of Tourism, Govt. of India (2001)
6. Bagri, S.C., Status of Travel & Tourism Industry in India, A Futuristic View of Growth, Journal of Tourism Vol-41(1999)
7. Bezbaruah, M.P., Indian Tourism -Beyond the Millennium, Gyan Publishing House, New Delhi (2000)
8. Bhatia, A.K., International Tourism Management, Sterling Publishers, New Delhi (2003)
9. Devashish Dasgupta, Tourism Marketing, Dorling Kindersley, Pearson, New Delhi (2011)
10. Gani, S.M., Cultural Tourism, Tourism: Theory & Practice, Page 40-42 (2008)
11. Garrod, B., and Fyall, A., Managing Heritage Tourism, Annals of Tourism Research 27:3, 682-708.29 (2000)
12. Gokak, V.K., India and World Culture, Sahitya Academy, New Delhi (1994)
13. D'Souza, Leela: Cultural History of Ancient India. Diversity, Syncretism, Synthesis. Delhi: Rawat Publications (2007)
14. Ganesh, Kamala: Culture and the Making of Identity in Contemporary India. New Delhi: Sage Publications (2005)
15. Michael, S.M: Culture and Urbanization. Delhi: Inter India Publication (1989)
16. Finn, M., et al Tourism and Leisure Research Methods: Data Collection and Analysis. Harlow: Pearson Education Ltd (2000)
17. Veal, A. J., Research Methods for Leisure and Tourism. A practical Guide. Pearson Education Limited, Harlow (2006)
18. Hwansuk Chris Choi & Iain Murray: Resident Attitudes Toward Sustainable Community Tourism, Journal Of Sustainable Tourism, Vol. 18, No.4, May (2010), 575-594
19. Marianne Bickle And Rich Harrill Sujie Wang "Residents' Attitudes Toward Tourism Development In Shandong, China", International Journal Of Culture, Tourism And Hospitality Research, VOL.NO.4, (2010), Pp. 327-339
20. Megu, K. "Prospectus of Cultural Tourism in Arunachal Pradesh", in Ahmed, J.U. (ed) Industrialization in North-Eastern Region, Mittal Publications, New Delhi (2007)
21. Dhar, P.N. Cultural and Heritage Tourism, Kanishka Publisher, New Delhi (2008)



Ritual Dance Form of Manipur: With Special Reference to Lai-haraoba Festival and Raas Leela

Surajit Debbarma*

Abstract : *India is a culturally very rich land. There is a diversity of cultures present here which are all interrelated and at the same time very different from each other. Culture is even varied in the people following the same religion according to various factors like social order and religion. However, a comparative study of different cultures is necessary to come to an understanding of collectiveness and commonality of it. As human beings cannot survive alone there has to be an exchange of thoughts and this is reflected in different cultures. Such a thought process is necessary in the human race as people are interdependent on each other. It is not applicable in the lower beings though, as they are directly under the laws of nature. Manipuri culture is presently at a crossroads. The new generation is not much familiar with our culture and in this age of globalization the ocean of Manipuri culture stands depleted as the new generation fails to grasp the relevance of the art forms of the not so distant past. As the new generation does not realize the importance of our traditions the culture of Manipur is being threatened by forces of commercialization. This is why we need to explore and expose our rich heritage which is lying dormant*

Key words : Introduction-Lai Haraoba- Kings as patron -kinds of Ras Leela-Conclusion.

Introduction : The cultural environment of Manipur was flourished with family tradition and enjoyed the cultural cognition and religious sentiments of the Maharajas of Manipur. In the ancient age, only the forest God Umang lai would be worshiped. The mythological story of Nongpokningthou-Panthoibi and the divine love story of Khamba-Thoibi have been widespread since time immemorial. Some say, the heroes and heroines of these stories are the incarnations of Shiva and Parvati. Worshiping Vishnu in Manipur was started at the time of Kiamba and later Cherairanga and then Garibnawaz was converted to Ramanandi Vaishnavism. At the time of Maharaja Bhagyachandra the Gaudiya Vaishnava religion became well-known with the support of the kings. Along with religious ideology, changes in social norms and rules are inevitable. So the cultural transit of Manipur occurred in the context of Ramanandi and Gaudiya Vaishnav religion, in a mixed cultural posture. Giving traditional recognition to traditional culture, according to the changed new religious order, and social recognition in a new way is a tradition of Manipur. The Tai lai-haraoba dance is still very popular and commonly practiced through gradual ascension and evolution. Sangkriran came to Manipur from Bengal at some point of time. Then, through the gradual transformation in the cultural backdrop there, they were elevated to the status of a perfect music with song and dance. From the Vaishnava musical style of Bengal, the dance gurus of Manipur adopted the inspiration to make the Rasa Nritya even more graceful induced in the Viraha emotion of Radhika and the Gopis who were desirous to the union with Sri Krishna. That Rasa Dance was gradually got sophisticated and with the efforts of the talented dance-gurus and under the supervision of Pala loisang it became one of the best genres of dance in the world.

*Research scholar, Department of Rabindra Sangit, Dance, & Drama Sangit Bhavana, Visva-Bharati Santiniketan, West Bengal

Lai-Haraoba Festival & Dance : From the Pre-historic era, 'Lai-Haraoba Dance festival' has always been an important part in Manipur's abundant cultural trend. Based on the origin of the world, the mythological story of "Senamahi-Pakhamba", innocent love-story, "Nongpok Ningthou-Panthoibi" and the story of "Khamba-Thoibi" are the main themes of Lai-Haraoba Dance festival. The miracle stories of this religious festival had many resemblances with the religious belief of the Vedic era for which many experts presume that the hand postures and various movemnets were actually similar to those from Bharata'sNatyashastra. The Lai-Haraoba dance festival is represented with special religious perception, so the dance programmes are led by the Maiba (male priest) and Maibi (female priest). The common people believe that the Maiba and Maibi remain under the divine spirits from the beginning of the programme till the very end. This profound belief brought a special dimension to the local Lai-Haraoba festival. The traditional dress code for the dance is white full-sleeve garment and Lungi (wrap around for the lower body-part) for male dancers and Fanek and transparent tippet (Dupatta) for the female dancers.

There were some specific differences occurred between the Lai-Haraoba dance, presented by the old Senamahi community of Manipur and the one presented by the Vaishnava community. Every essential act would be performed by danced in Lai-Haraoba. In that dance format, the traditional movements with the indicative hand postures would give the whole description of those acts in front of the audience. The artist dances imitating the mason's working process while making a home and brings the image to the audience. The dancers present the acting of making a house, weaving clothes, reaping the paddy etc. in their Lai-Haraoba dance performances. The Lai-Haraoba dance has become even more beautiful through gradual progress since the ancient time. Female artists in Lasya-Ang and the male artists in Tandav-Ang present this type of dance format.

King as a patron of Raas Dance : There is a story on Maharaja Bhagyachandra in reference with the origin of Ras Dance. It is said that Chingkhutel Heiba, the maternal uncle of Maharaja Bhagyachandra attacked Manipur with the help of hand weapon. In the moment of crisis, Maharaja Bhagyachandra seek for the help of the king of Assam. Maharaja of Assam agreed to help Bhagyachandrabut in one condition. The condition was that Maharaja of Manipur would have to tame an insane elephant. Maharaja Bhagyachandra meditated about Sri Govindaji throughout the night and kept on praying to him, "My Lord, please adorn the throne of Manipur and appoint me as your sevak (servitor)." The satisfied God appeared before him and told him how to tame the insane elephant with a prayer thread made with Tulsi beads and recover his lost kingdom. The God also directed him to build a statue of Sri Govindaji with the woods of a special jackfruit tree from the Basmukh Giri or Kaina hill and to establish it in a temple. A popular heresy is that Maharaja Bhagyachandra (Karta Maharaj) saw the dance form of Rasa leela in his dream and then described it to the dance gurus of Manipur in detail. The gurus then composed dances to capture the devotion for Krishna described in Bhagyachandra's dream and taught king's daughter Bimbavati Manjuri dance postures of Ras Dance.

According to the ancient Manipuri mythology "Ningthourol Kumbaba" the first Guru of 'Kabokhubomb Makomchingbi' Rasa leelaed the Gopis of YngbomChonuharimati Rasa in the year of 1698. Princess Bimbavati palyed the role of Radha. The paternal uncle of Rajarshi Bhagyachandra, Yongbromshai was the lead singer of Natashala. Dharshai Duhar and the king himself accompanied in Mridangam.

Maharaja Bhagyachandra with the help of Manipuri dance gurus took inspirations from the ancient mythologies, Gitagovindam, PadaKalpataru etc. and introduced the Sri Krishna Rasa leela. According to Vaishnavism, Sri Krishna is the only symbolic male figure in Manipur. The main achievement of presenting Rasa leela is to beautify the emotional intensity of self-dedication through the circular dance by Radha and the Gopinis around Sri Krishna. The

presence of Chandravali is important in expanding the Rasa Leela and to make Radha's emotions even more visible and glorious.

Different Kind of Rass Leela : There are five different forms of the Rasa Dance that the Manipuri Vaishnavs performed by transforming the Radha-Krishna Leela into abhinay. They are: the Maharas, the Kunjaras, the Basantar, the Nityaras and the Divaras. The first three were introduced by Rajarshi Bhagyachandra. The Nityaras and the Divaras were later developed by Manipuri kings who came after Rajarshi. These dances are performed in specific seasons and on specific days. One cannot choose to organize a performance at one's will. The dancing style is quite similar in all the forms. According to the Sammohani tantra, the Maharasa is presented during the full moon of Kartika month. The dance gurus of Manipur started presenting the Maharas only during that specific phase. The dance teachers of Manipur without changing the conventional tradition started presenting the Kunjaras in the month of Ashwina as the prelude of Maharas in respect of Sri Vishwanath Chakravarty. Later on, during the reign of Maharaja Chandrakirti the Nityaras was added from the Patal Khand of Padma Purana. Apart from that, Divaras, Rakhalras (Goshthalila), Ulukhal Ras were also added which enriched the Manipuri dance in profound way. The role of Maharaja Chandrakirti is very significant in expanding the Ras Leela.

Maha Raas : Maharas is performed during the full moon in the month of Kartika. Two comperes recite the shlokas from the fifth chapter of Bhagavatam after singing ragas, Guru Vandana (praising the Gurus), Sabha Vandana (Praising the court) and Vrindavan Vandana (praising Vrindavan). Then, according to the rules of Maharas, there comes Krishna Avisara, Gopi Avisara, argument with the Krishna Gopinis and then the Bhangi Pareng dance. After these, there is disappearance of Sri Krishna, Gopis looking for him, dancing by Radha and Chandravali and the Bhajanas of Radharamantake place after which worshipping of the dual statues, praying, flower offerings and arati happen. And then all return back to their homes and the ceremony finally ends.

Vasanta Raas : This type of Raas takes place during the full moon in the month of Chaitra. There is no difference in the order of the first part of the Vasanta Rasa from the orders of the Maharas. The dance Gurus of Nata-Sankirtana commence the Rasa by playing the small ragas in Mridangam. Then comes the singing of raga by the comperes, Guru Vandana, Sabha Vandana, Vrindavan Vandana. Then, Krishna Avisara, Gopini Avisara, Vasant Raga, description of Vasant (Spring), Bhangi Pareng Achouba, dance by Radha and Chandravali, Manbhanjan (taming the anger), Fagukhela or the color festival, description about the dual statues, prayers occur in order. This Rasa also ends by going to the home.

Kunja Raas : Kunjaras is performed during the full moon in the month of Ashwin. The rasa begins with the Natapala Kirtana. The dance gurus play small ragas in Mridangam. Two comperes hold the beats in Mandiras. Then start the Guru Vandana, Sabha Vandana and Vrindavan Vandana. Vrindadevi decorates the Kunja (garden) in dancing posture. Then start the Krishna Aavisara, gopini Avisara, dancing of radha-Krishna, bhangipareng, dual-union, bhangiparengachouba, description of the couple's forms, portrayal of the greatness of Radha-Krishna, dual-arati and finally returning to the home.

Nitya Raas : Nityaras can take place during any sacred day in a year. Like the other ones, this type of rasa also begins with the Nata-sankirtan. Then, the dance teachers play small ragas in the hoop (Pung). Two comperes accompany with Mandiras. After playing the Mridangam, the comperes describe ragas, guru Vandana, sabha Vandana, Vrindavan Vandana etc. by singing. The rest of the ceremony includes Krishna avisara, Gopiniavisara, dual-union of Radha-Krishna, bhangiparengachouba, description of the couple's forms, prayers, dual-arati and then going to the home.

Diva Raas : This form of the Raas Dance was introduced by Churachand Maharaj. The dance teacher responsible for its development was Oja Akham Tomba. The songs within this

Rasa were taken from the Lalsa Padavali of Narottam Thakur. Along with that, the goatha songs of Shri Krishna and the sakhis are also sung. Anangamanjuri appears in this Rasa. This is a unique feature of the Divaras. With Shri Krishna in the middle, Anangamanjuri on his right, and Radha on his left, the three of them dance together. This dance is performed during the day time.

Popularity of Manipuri Dance : In the year of 1799, Maharaja Bhagyachandra passed away at Murshidabad. At the time of performing the death rituals, artists of Bangladesh Pala from Manipur visited the place. That was probably the first time a cultural performance by the artists of Manipur outside their state took place. The Britishers nominated the five-year old Chudachanda as the king in 1891. Chudachanda was given back the kingdom in 1907. The cultural development was started again in Manipur after Chudachanda took the responsibility of his kingdom which was contemporary in India's cultural renaissance. The king sent a cultural team from Manipur to Calcutta to take part in the reception ceremony for the Prince of Wales in 1920. The cultural team from Manipur fascinated the viewers by their magnificent Manipuri dance performance. At a later part, poet Rabindranath Tagore's contribution in spreading and presenting the Manipuri dance was momentous.

Udayshankar took Guru Amubi Singh to his dance school at Almora. Guru Amubi Singh would give dance lessons to the students there. He presented the dance of Manipur in front of the cultural masters from all over the world by taking part in composing and presenting the dance programmes directed by Udayshankar. The role of Guru Amubi Singh in expanding the Manipuri dance needs a special mention. Madame Menaka appointed Guru Bipin Singh as a Manipuri dance teacher in her troop and also as a Manipuri dance director. Guru Bipin Singh with the troop of Madame Menaka Performed Manipuri dance in many cities of Europe and placed the Manipuri dance form at a dignified position worldwide.

Conclusion : The social festival of Manipur is held according to religious rules. A cultural environment was developed around these socio-religious festivals which is a unique feature of Manipur. On the occasion of cultural festivals, especially in Raas ceremony, from the Purv Raag to the last part, the artist and the audience have the unique devotion, unlimited respect, personal devotion and above all a very special religious sentiment which transcends the minds of everyone present there to a state of mystical sensation. And this is a special feature of Manipuri dance.

References :

1. Dhanisana, R.K. (2012). MANIPURI DANCES (A Panorama of Indian Culture). New Delhi : Rajesh Publications.
2. Singh, M. Priyabrata. (2012). Manipuri Culture and literature, Imphal: Manipur State Kala Academy.
3. Akoijam, Mrs. Tangjakhombi. (2009). History Culture & Traditions of North East India. New Delhi: VIJ Books pty ltd.
4. Bandopadhyay, Shruti. (2010). Manipuri Dance -an Assessment on History & Presentation. New delhi: Shubhi Publications.
5. Vatsyayan, Kapila. (1968). Classical Indian Dance in Literature and Arts. New Delhi: Sangeet Natak Academy.
6. Aihara, Byron. (2017). Dance Music and Ritual in Manipur. Kathmandu: Vajra Books.
7. Singh, Elangbam Nilkanta. (1993). Fragments of Manipuri Culture. New Delhi: Omsons publications.
8. Singh, Elangbam Nilkanta. (1982). Aspects of Indian Culture. Imphal: Jawaharlal Nehru Manipur Dance Academy.
9. Doshi, Saryu. (1989). Dances of Manipur: The Classical Traditions. Mumbai: Marg publications.
10. Singh, Moirangthem Kirti. (1988). Religion and Culture of Manipur. New Delhi: Manas Publications.
11. Majumdar, Dr. Mala. (2002). Bharatiya Nrityer Punarnabikar Parva. Kolkata: M.M. Publications.



Need of Multicultural Education in India

Shabana Bibi*

Abstract- Every child comes to school with an ethnic identity whether these identifications are conscious or unconscious. This identification must be recognized and respected by the teacher. The point here is to acknowledge differences rather than ignore them. For this the children recognize and appreciate the other children in the class. This ethnic identification is a continual point of focus throughout the education process and is the basic for developing the next level of identification which is national identification. This paper investigate the need of multicultural education in India.

Keyword - multicultural education, need, suggestions.

Introduction - multicultural education is a set of strategies and material in education that were developed to assist teachers when responding to the many issue created by the rapidly changing demographic of their students. It provides students with knowledge about the histories, cultures, and contributions of diverse groups, it assumes that the future society is pluralistic. In the most general sense, multicultural education is an approach to teaching that values diversity in the classroom-diversity in content, methods, perspectives, educators, students and cultures. Being a multicultural educator means embracing your student's and others' cultural diversity as a means of nurturing your student's academic and personal growth. Multicultural education have some assumptions-

1. It is increasingly important for political, social, educational and economic reasons to recognize India is a culturally diverse society.
2. Multicultural education is for all students.
3. Multicultural education is synonymous with effective teaching.
4. Teaching is a cross cultural encounter.
5. The educational system has not served all students equally well.
6. Multicultural education is (should) be synonymous with educational innovation and reform.
7. Next to parents teachers are the single most important factor in the lives of children.
8. Classroom interaction between teachers and students constitutes the major part of the educational process for most students.

Although multicultural education is a philosophical concept built on the ideals of freedom, justice, equality, and human dignity as acknowledged in various documents.

Need of multicultural education in school - Multicultural education is a process that permeates all aspects of school practices, policies and organization as a means to ensure the highest levels of academic achievement for all students. It helps students develop a positive self-concept by providing knowledge about the histories, cultures and contributions of diverse groups. It prepares all students to work actively toward structural equality in organizations and institutions by providing the knowledge, dispositions, and skills for the redistribution of power and income among diverse groups. Thus, school curriculum must directly address issues of racism, sexism, classism, linguicism, ageism, heterosexism, religious intolerance and xenophobia. To multicultural education, education are expected to be able to -

* Make subject matter culturally relevant.

*M.Ed., Banaras Hindu University, Varanasi, U.P.

- * Include students from diverse groups and back-grounds.
- * Help students examine personal biases that may affect learning.

Educators want to also be prepared to "counter negative perceptions of disability in the classroom" as well as consider ways to provide for "collaborations, access, and procurement. To accomplish these goals, multicultural education demands a school staff that is culturally competent, and to greatest extent possible racially, culturally competent, and to the greatest extent possible racially, culturally and linguistically diverse. Staff must be multiculturally literate and capable of including and embracing families and communities to create an environment that is supportive of Multiple perspectives, experience, and democracy. Multicultural education requires comprehensive school reform as multicultural education must pervade al; aspects of the school community and organization.

Recognizing that equality and equity are not the same thing, multicultural education attempts to offer all students an equitable educational opportunity, while at the same time, encouraging students to critique society in the interest of social justice.

Approaches of multiculturalism education -

Sleeter (1996) delineates five approaches to multicultural education :

- a) Advocates of the Teaching the culturally different approach attempt to raise the academic achievement of students through culturally relevant instruction.
- b) In the human relations approach students are thought about commonalities of all people through understanding their social and cultural differences but not their differences in institutional and economic power.
- c) The single Group Studies approach is about the histories and contemporary issues of oppression of different people, women, low socioeconomic groups, and guys and lesbians.
- d) The multicultural Education approach promotes the transformation of the ideals of democracy in a pluralistic society. Students are taught content using instructional methods that value cultural knowledge and difference.
- e) Educators who use the Social Reconstructionist approach to multicultural education go a step further to teach students about oppression and discrimination. Students learn about their roles as a social changes agent so that they may participate in the generation of a more equitable society.

According to Greene (1995), "People trying to be more fully human must not only engage in critical thinking but must be able to imagine something coming of their hopes, their silence must be overcome by their search" (P.25). Multicultural education harbors a place for a multitude of voice in a multicultural society and a place for many dreams.

There are also some other principles that should be followed so as to guarantee multicultural education that are given by Forney and Harlee (2000) -

1. By way of using materials and approaches sensitive, social- cultural backgrounds and experience students must be helped to raise their academic success in all areas.
2. An essential part of multicultural education ought to be to allow the hearing of different voices.
3. The verbal and non-verbal communication models of the teacher need to be analyzed continuously so as to raise the participation of students in their learning process.
4. Multicultural education should occupy a place in the formal educational program.
5. Multicultural education should be evaluated as a source of benefit for the community.

Conclusion - diversity is both opportunity as well as challenge for Indian school. We have multicultural society that make our nation enrich by the ethnic, cultural, and language diversity. However, whenever diverse groups interact, intergroup tension, stereotypes, and institutionalized discrimination develop. Schools must find ways to respect the diversity of their students as

well as help to create a unified nation-state to which all of the nation's citizen have allegiance. We hope these design principals will help educational policy makers and practitioners realize this elusive and difficult but essential goal of a democratic and multicultural society.

References :

1. Banks, J. A. (1997a). Teaching strategies for ethnic studies. (6th edition). Boston: Allyn and Bacon.
2. Banks, J. A. (1997b). Multicultural education: Characteristics and goals. In J. A. Banks and C. A. M. Banks (Eds.), *Multicultural education: Issues and perspectives* (3rd ed., pp. 385-407). Boston: Allyn and Bacon.
3. Greene, M. (1996). *Releasing the imagination*. San Francisco: JosseyBass.
4. Harding, S. (1998). *Is science multicultural?* Bloomington: Indiana University Press.
5. Nelson-Barber, S. & Estrin, E. (1995). Bringing Native American perspectives to mathematics and science teaching. *Theory into Practice*, 34(3), 174-185.
6. Nielson, L. (1991). *Adolescence: A contemporary view*. New York: Holt, Rinehart, and Winston.
7. Nieto, S. (1997). School reform and student Achievement: A multicultural perspective. In J. A. Banks & C. A. M. Banks (Eds.), *Multicultural education: Issues and perspectives* (3rd ed., pp. 385-407). Boston: Allyn and Bacon.
8. Sleeter, C. E. (1996). *Multicultural education as social activism*. Albany: State University of New York Press.
9. Tate, W. (1995). Returning to the root: A culturally relevant approach to mathematics pedagogy. *Theory into Practice*, 34(3), 166-173
10. Adams, J.Q., J.F. Niss, and C. Suarez, eds. *Multicultural Education: Strategies for Implementation in Colleges and Universities*. Vol. 1. Macomb, IL: Western Illinois University, 1991.
11. Banks, J.A. *An Introduction to Multicultural Education*. Boston: Allyn and Bacon, 1994.
12. Banks, James A. (ed.). *Multicultural Education, Transformative Knowledge, and Action: Historical and Contemporary Perspectives*. NY: Teachers College Press, 1996.
13. Banks, J. A. *Multiethnic education: Theory and practice*, 2nd edition. Boston: Allyn and Bacon, Inc., 1988.
14. Banks, C. A. M., & Banks, J. A. *Multicultural education: Issues and perspectives*. Boston: Allyn and Bacon, Inc., 1989.
15. Baruth, L. G., & Manning, M. L. *Multicultural education of children and adolescents*. Needham Heights, MA: Allyn and Bacon, 1992.
16. Bennett, C. I. *Comprehensive multicultural education: Theory and practice* (2nd ed.). Needham Heights, MA: Allyn and Bacon, 1990.
17. Cushner, K., McClelland, A., & Safford, P. *Human diversity in education: An integrative approach*. New York: McGraw Hill, 1992.
18. Davidman, Leonard and Davidman, Patricia T. (eds.). *Teaching with a Multicultural Perspective* (2nd ed.). NY: Longman, 1997.
19. Delpit, Lisa. *Other People's Children: Cultural Conflict in the Classroom*. NY: The New Press, 1995.
20. Friere, Paulo. *Pedagogy of the Oppressed*. NY: Seabury Press, 1970.



Advantages and Challenges of E-commerce Customers and Insurance Businesses: In Indian Perspective

Dr. Dheeraj Negi*
Mr. Shubham Pagare**

Abstract : *E - Commerce allows consumers to electronically exchange goods and services with no barriers of time or distance. Electronic commerce has expanded rapidly over the past five years and is predicted to continue at this rate, or even accelerate. In the near future the boundaries between "conventional" and "electronic" commerce will become increasingly blurred as more and more businesses move sections of their operations onto the Internet. The e-commerce industry in India is growing at a remarkable pace due to high penetration of internet and sophisticated electronic devices. However, the recent growth rate of e-commerce in India is far lagging behind than other developed countries. The advantages of e-commerce are convenience, Time saving, Options, Easy to compare, Easy to find reviews, Coupons and deals, Increasing customer base, Rise in sales, 24/7, 365 days, Expand business reach, Recurring payments made easy, Instant transactions. There are many big problems and challenged on the way of an online merchant. Factors like safety and security of online money transaction being the biggest problem along with others have curbed the smooth expansion of the online industry in the country.*

Keywords: *e-commerce, electronic commerce, advantages, challenges.*

INTRODUCTION : Electronic commerce or ecommerce is a term for any type of business, or commercial transaction, which involves the transfer of information across the Internet. It covers a range of different types of businesses, from consumer based retail sites, through auction or music sites, to business exchanges trading goods and services between corporations. It is currently one of the most important aspects of the Internet to emerge. Ecommerce allows consumers to electronically exchange goods and services with no barriers of time or distance. Electronic commerce has expanded rapidly over the past five years and is predicted to continue at this rate, or even accelerate. In the near future the boundaries between "conventional" and "electronic" commerce will become increasingly blurred as more and more businesses move sections of their operations onto the Internet.

Business to Business or B2B refers to electronic commerce between businesses rather than between a business and a consumer. B2B businesses often deal with hundreds or even thousands of other businesses, either as customers or suppliers. Carrying out these transactions electronically provides vast competitive advantages over traditional methods. When implemented properly, ecommerce is often faster, cheaper and more convenient than the traditional methods of bartering goods and services. Electronic transactions have been around for quite some time in the form of Electronic Data Interchange or EDI. EDI requires each supplier and customer to set up a dedicated data link (between them), where ecommerce provides a cost-effective method for companies to set up multiple, ad-hoc links. Electronic

*Director, Principal .CBM College, Bedia, Distt.- Khargone MP

**Researcher, Lab Technician Computer Department, SRGBN College Sanawad, Distt.- Khargone MP

commerce has also led to the development of electronic marketplaces where suppliers and potential customers are brought together to conduct mutually beneficial trade.

2. E-COMMERCE ADVANTAGES FOR INSURANCE CUSTOMERS :

Convenience: Every product is at the tip of your fingers on the internet, literally. Type in the product you are looking for into your favorite search engine and every option will appear in a well-organized list in a matter of seconds.

Time saving: With e-commerce there is no driving in circles while looking and digging in hopes of finding what you need. Stores online offer their full line as well as use warehouses instead of store fronts-products are easy to locate and can be delivered to your door in just days.

Options, options, and options: Without driving from store to store the consumer can easily compare and contrast products. See who offers the best pricing and have more options to choose from. While a physical store has limited space, the same store on the internet will have full stock.

Easy to compare: Side by side comparisons are readily available and easy to do. When products are placed online, they come with all the specifics, and they want you to compare them with others, know they have the best options and come back for more!

Easy to find reviews: Because the competition is high, companies' online want you to look at other consumer reviews. Good and bad reviews are on every site, not only can you see if the product is liked, you can also see the reasons behind the thumbs up or down.

Coupons and deals: With every online business wanting you, more and more coupons and deals can't be avoided, which are totally great for customers. With major sites that act as department store, you may find items up to 80% off. Take advantage of the competition and find the best price available.

3. E-COMMERCE ADVANTAGES FOR INSURANCE BUSINESSES :

Increasing customer base: The customer base is every business's main concern, online or off. When online, a business doesn't have to worry about getting the best property in town, people from around the world have access to their products and can come back at any time.

Rise in sales: By not managing a storefront, any business will have more sales online with a higher profit margin. They can redistribute money to make the consumer shopping experience faster and more efficient. While being available to international markets, more products will sell.

24/7, 365 days: If it's snowing and the roads are closed, or it's too hot and humid to even step outside in the summer, or a holiday that every store in town closes, your online business is open for consumers 24/7 every day of the year. The doors never close and profits will keep rising.

Expand business reach: A great tool on the internet is...translation! A business online does not have to make a site for every language. With the right marketing, every consumer around the globe can find the business site, products and information without leaving home.

Recurring payments made easy: With a little research, every business can set up recurring payments. Find the provider that best suits your needs and billing will be done in a consistent manner; payments will be received in the same way.

Instant transactions: With e-commerce there is no more waiting for the check to clear or a 30-day wait for certain other types of payment. Transactions are cleared immediately or at most two to three days for the money to clear through the banking system.

4. E-COMMERCE DISADVANTAGES FOR INSURANCE CUSTOMERS :

Privacy and security: Before making instant transactions online, be sure to check the sites certificates of security. While it may be easy and convenient to shop, no one wants their personal information to be stolen. While many sites are reputable, always do your research for those with less than sufficient security.

Quality: While e-commerce makes everything easily accessible, a consumer cannot actually touch products until they are delivered to the door. It is important to view the return policy before buying. Always make sure returning goods is an option.

Hidden costs: When making purchases, the consumer is aware of the product cost, shipping, handling and possible taxes. Be advised: there may be hidden fees that won't show up on your purchasing bill but will show up on your form of payment. Extra handling fees may occur, especially with international purchases.

Delay in receiving goods: Although delivery of products is often quicker than expected, be prepared for delays. A snow storm in one place may throw off the shipping system across the board. There is also a chance that your product may be lost or delivered to the wrong address. Need access to internet: Internet access is not free, and if you are using free wifi, there is the chance of information theft over an unsecure site. If you are wearing of your public library, or cannot afford the internet or computer at home, it may be best to shop locally.

Lack of personal interaction: While the rules and regulations of each e-commerce business is laid out for you to read, there is a lot to read and it may be confusing when it comes to the legalities. With large or important orders, there is no one you can talk to face to face when you have questions and concerns.

5. E-COMMERCE DISADVANTAGES FOR INSURANCE BUSINESSES : Security issues: While businesses make great efforts to keep themselves and the consumer safe, there are people out there that will break every firewall possible to get the information they want. We have all seen recently how the biggest and most renowned business can be hacked online.

Credit card issues: Many credit card businesses will take the side of the consumer when there is dispute about billing-they want to keep their clients, too. This can lead to a loss for e-commerce business when goods have already been delivered and the payment is refunded back to the consumer.

Extra expense and expertise for e-commerce infrastructure: To be sure an online business is running correctly, money will have to be invested. As an owner, you need to know transactions are being handled properly and products are represented in the most truthful way. To make sure you get what you need, you will have to hire a professional to tie up any loose ends.

Needs for expanded reverse logistics: The infrastructure of an online business must be on point. This will be another cost to the business because money will need to be invested to ensure proper handling of all aspects of buying and selling, especially with disgruntled consumers that want more than a refund.

Sufficient internet service: Although it seems that everyone is now on the internet all the time, there are still areas in which network bandwidth can cause issues. Before setting up an e-commerce business, be sure your area can handle the telecommunication bandwidth you will need to run effectively.

Constant upkeep: When a business has started as e-commerce, they must be ready to make changes to stay compatible. While technology grows, the systems that support your business must be kept up to date or replaced if needed. There may be additional overhead in order to keep data bases and applications running.

6. CHALLENGES OF E-COMMERCE IN INDIAN BANKS : The e-commerce industry in India is growing at a remarkable pace due to high penetration of internet and sophisticated electronic devices. However, the recent growth rate of e-commerce in India is far lagging behind than other developed countries. There are many big problems and challenged on the way of an online merchant. Factors like safety and security of online money.

Online Security: In case of startup and small business, Business owners are ignoring the importance of authentic software due to budget constraints. They are even failing to take the

initial steps to secure and protect their online business through installation of authentic protection services like antivirus and firewall protection, which indeed a crucial step for successful online business players. In India, maximum number of business entrepreneurs used unauthorized software in their server, which usually does not come with upgraded online security. Such pirated software leaves room for virus, malwares and Trojan attacks and it is highly risky task to make online transactions in the systems, which may disclose or leak sensitive details of credit cards and online banking of the users. These kinds of droopiness should be banned in Indian ecommerce sectors. Affiliation to SSL certificate should be imposed as a mandatory action for every owner.

Logistics and Shipment Services: In India, logistics and courier services required lots of improvement. While, perfect and strong logistics service is one of the key reasons behind the success of any online company, India is lagging far behind in this sector as most of the town and small villages are still not covered under serviceable area of many of the courier and logistic companies. Ecommerce is hampered in a big way owing to the limited services offered by the courier service companies.

Tax Structure: Tax rate system of Indian market is another factor for lesser growth rate of e-commerce in India in comparison to other developed countries like USA and UK. In those countries, tax rate is uniform for all sectors whereas tax structure of India varies from sector to sector. This factor creates accounting problems for the Indian online business companies.

Fear factor: Fear of making online payment is a universal psychological factor of Indian customers. With the spread of knowledge on online transactions and its reliability, some percentages of customers have overlooked this fear and they are fearlessly engaging themselves in online shopping. But still, majority of customers are not aware of online transactions and its security. They often reluctant to disclose their credit card and bank details and preferred to stay away from online world of shopping.

'Touch and Feel' factors: Indian customers are more comfortable in buying products physically. They tend to choose the product by touching the product directly. Thereby, Indian buyers are more inclined to do ticketing and booking online in Travel sectors, books and electronics. Companies dealing with products like apparel, handicrafts, jewellery have to face challenges to sell their products as the buyers want to see and touch before they buy these stuffs.

7. CONCLUSION : Today's digital marketing world, e-commerce plays a vital role in buying behaviour of customer. The e-commerce industry in India is growing at a remarkable pace due to high penetration of internet and sophisticated electronic devices. However, the recent growth rate of e-commerce in India is far lagging behind than other developed countries. There are many big problems and challenges on the way of an online merchant. Factors like safety and security of online money transaction being the biggest problem along with others have curbed the smooth expansion of the online industry in the country. **Poor Knowledge and Awareness:** When it comes to ratio of internet consumers, scenario is not so admirable one. Majority of Indian rural population are unaware of internet and it uses. Surprisingly, most of internet savvies or urban population are also suffering from poor knowledge on online business and its functionalities. Very few are aware of the online corruption and fraud and thus darkness still exists. A reliable survey reveals that 50% of Indian online users are unaware of the solution of online security.

Online Transaction: Most of Indian customers do not possess plastic money, credit card, debit card and net banking system, which is one of the prime reasons to curtail the growth of ecommerce. Nevertheless, in recent years, some of the nationalized banks have started to issue debit cards to all its account holders. This is undoubtedly a positive sign for Indian online entrepreneurs.

Cash on Delivery: Cash on Delivery (COD) has evolved out of less penetration of credit card in India. Most of Indian E-commerce companies are offering COD as one of mode of payment for the buyers. 30%-50% of buyers are also taking advantage of this mode of payment while making purchase of any product and service over internet. COD has been introduced to counter the payment security issues of online transaction, but this mode has been proving to be loss and expensive to the companies. It is seen that majority of the customers denied to make the payment at the time of delivery of the product. Hence, companies tend to lose the sale along with product transit fees. In order to curb the problem of COD, online companies should take some judicial steps; otherwise basic logic behind the ecommerce business will be at risk.

References :

1. Golden, S. A. R., & Regi, S. B. (2015). Satisfaction of Customers towards User Friendly Technological Services offered by Public and Private Sector banks at Palayamkottai, Tirunelveli District. *International Journal of Research*, 2(3), 775-787.
2. Golden, S. A. R. (2015). Regional Imbalance affecting quality of e-banking services with special reference to Tuticorin District-An Analysis. *International Journal of Research*, 2(3), 788-798.

\



Biodiversity Conservation and Indian Judiciary

Satish Shukla*

With the activist approach of the Indian judiciary, the legal value of Fundamental Rights and Directive Principles jurisprudence has constantly grown up in the Indian Constitutional set-up. The Courts in India, while interpreting the Constitutional provisions, started right-based approach in 1990's for the protection of wholesome environment including the biological resources. Thus the Constitutional provisions related to environmental protection are of pivotal significance.

The Supreme Court strengthened Article 21 by interpreting the right to life and personal liberty to include the right to a wholesome environment, and also by requiring the laws affecting personal liberty to pass the tests of Article 14 and Article 19 of the Constitution,² thereby ensuring that the procedure depriving a person of his or her personal liberty be reasonable, fair and just. The court also recognized several unarticulated liberties implied under Article 21.³

The first indication of the right to a wholesome environment may be traced to the case of *Rural Litigation and Entitlement Kendra, Dehradun v. State of Uttar Pradesh*⁴ which is also known as *Dehradun Quarrying Case*, whereby treating a letter, concerning allegations of illegal limestone mining in the Mussoorie-Dehradun region which were devastating the fragile ecosystems in the area, as writ petition, the Supreme Court passed several orders for the protection of the region. But none of these orders articulate the fundamental right to a healthful environment.⁵

After eight years of the above case, in the case of *Subhas Kumar v. State of Bihar*⁶, Justice K.N. Singh observed that "The right to live is a fundamental right under Article 21 of the Constitution, and it includes the right of enjoyment of pollution-free water and air for full enjoyment of life". From this case it may be said that the Court

Recourse of Constitutional Obligations : The apex court and high courts has taken the recourse of Constitutional obligations of State and Citizens under Article 48-A and Article 51A(g) respectively, for the protection improvement of the environment and ecology and stressed the fulfilment of the obligation in various cases.

As the Supreme Court in the case of *Sachidanand Pandey v. State of West Bengal*,⁷ enlarged its ambit of scrutiny and said "whenever a problem of ecology is brought before the Court, the Court is bound to bear in mind Art. 48A of the Constitution...and Art. 51A(g)..."

The Supreme Court further stressed upon the Constitutional obligation of the State and Citizens under Article 48-A and Article 51A(g) in the context of Article 21 for the preservation of ecology as its essence and stated in the case of *Hinch Lal Tiwari v. Kamala Devi*⁸, that

"the material resources of the community like forests, tanks, ponds, hillock, mountain etc. are nature's bounty. They maintain delicate ecological balance. They need to be protected for a proper and healthy environment which enables people to enjoy a quality life which is the essence of the guaranteed right under Article 21 of the Constitution."

*Research Scholar, Department of Law, University of Allahabad

The court also laid emphasis on article 48-A and article 51A(g) of the Constitution for the responsibilities of the state and the citizens to protect and improve environment.

Similarly, in the case of *T. Damodar Rao v. The Special Officer, Municipal Corporation of Hyderabad*⁹ the Andhra Pradesh High Court has interpreted Article 48-A as imposing 'an obligation' on the government, including courts to protect environment.

On 13 Feb, 2012 the Supreme Court in the case of *T.N. Godavarman Thirumulpad vs Union Of India & Ors*¹⁰ observed that:

"we have seen the subjects 'forest' and 'protection of animals and birds' are in the concurrent list of the Constitution and it is the fundamental duty of every citizen of India under Article 51A(g) of the Constitution to protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wildlife. The court has also showed concerns on the man-wildlife conflict and directed for the strict implementation of laws."

Role in Forest Conservation : The judiciary has shown deep concerns for the conservation of forests. It has played very pivotal role in interpreting the forest laws and entertained the public interest litigations under Article 32 and 226 of the Constitution to protect the forests and environment.

The Court while maintaining the balance between national developmental needs and forest conservation, in the case of *R.L. & E. Kendra, Dehradun v. State of U.P.*¹¹, it observed that,

"we are not oblivious of the fact that natural resources have got to be tapped for the purposes of the social development but one cannot forget at the same time that *tapping of resources have to be done with requisite attention and care so that ecology and environment may not be affected in any serious way....* It has always to be remembered that these are permanent assets of mankind and are not intended to be exhausted in one generation".

Further in *Tarun Bharat Sangh v. Union of India*,¹² the State Government of Rajasthan, though professing to protect the environment by means of the notifications and declarations, was itself permitting the degradation of the environment by authorizing mining operations in the area declared as "reserve forest". In order to protect the environment and wildlife within the protected area, the Supreme Court issued the directions that no mining operations of whatever nature shall be carried on within the protected area.

For the protection and conservation of forests it is necessary that there should be no illegal felling of trees. The court has shown its deep concerns to stop the illegal felling of trees in the forests and in beginning December, 1996 the Supreme Court issued sweeping directives to oversee the enforcement of forest laws across the nation. In *T.N. Godavarman Thirumulpad v. Union of India*,¹³ (popularly known as *Forest Conservation Case*), the Supreme Court, felt need for constitution of High Powered Committee to oversee the strict and faithful implementation of the orders of this court and after examining all the aspects relating to the National Forest Policy, issued various directions.

It was brought to the notice of Supreme Court in *T.N. Godavarman Thirumulpad v. Union of India*¹⁴, that under the garb of removing infected trees in accordance with the order of Supreme Court, the trees having no disease were also cut. Thus, the Supreme Court directed the State Government and its functionaries to restrain from cutting any trees till further orders, even if it was found to be diseased tree.

In *Animal and Environment Legal Defence Fund v. Union of India*¹⁵, dealing with the activity of fishing in reservoirs within the areas of the National Park, Madhya Pradesh, the apex court observed that the livelihood of tribal's should be considered in the context of maintaining ecology in the forest area.

The Supreme Court on the diversion of forest land for any non-forest purpose observed in the case of *M.C. Mehta v. Union of India*¹⁶, that diversion of forest land for

any non-forest should be subject to the most careful examinations by specialists from standpoint of social and environmental costs and benefits. Mining and industrial development should be consistent with the need for conservation of trees in forests.

On the issue of eco-tourism and forest conservation the Supreme Court in *M C Mehta v. Union of India*¹⁷, where an artificial deviation of the flow of a river in forestland for the purpose of augmenting facilities of a motel was challenged. Quashing prior approval for the lease, the apex court referred to the evolution of 'Public Trust Doctrine' under which the state as a trustee has to protect the natural resources for the benefit of the general public.

Very recently, the apex court on the question of need of forestry clearance before starting of mining operations on the forest land held in *Orissa Mining Corporation Ltd. v. Ministry Of Environment & Forests and ors*¹⁸, that:

"Environmental clearance is subject to grant of forestry clearance. Necessary forestry clearance under the Forest (Conservation) Act, 1980 for diversion of 672.018 ha forest land involved in the project shall be obtained before starting mining operation in that area. No mining shall be undertaken in the forest area without obtaining requisite prior forestry clearance."

Protection of Wetlands : The Court has also shown concerns for the protection of wetlands; the ecologically important and sensitive areas. The wetlands are useful for nutrient recovery and cycling, releasing excess nitrogen, inactivation of phosphate, removing toxins, chemicals, heavy metals through absorption by plants and also in treating waste water. Wetland also helps in mitigating floods, recharging aquifers and in reducing surface run off and consequent erosion. Wetlands also influence microclimate of a locality.¹⁹

In the case of *People United for Better living in Calcutta v. State of West Bengal*²⁰, certain parts of the Calcutta wetlands were being reclaimed for providing living sites and for location of a world trade centre. The Calcutta High Court made thorough analysis of expert writings and said that wetlands being a bounty of nature do have significant role to play in the proper development of society either from environmental perspective or economic perspective. Prohibiting reclamation and use of the wetlands for residential or commercial purpose, the court considered protection of wetlands as a social necessity.

Further in *S. Jagannath v. Union of India*²¹ the Supreme Court has held that setting up of shrimp culture farms within the prohibited areas and in ecologically fragile coastal areas has an adverse effect on the environment, coastal ecology and economics and hence, they cannot be permitted to operate. And if any shrimp culture industry is permitted to be installed in the ecological fragile coastal area it must pass through a strict environmental test (i.e. environmental impact assessment). And it must take into consideration the *inter-generational equity*.

Moreover, on the question of exploitation of Wetlands the Supreme Court in the case of *T.N. Godavarman Thirumulpad v. Union of India*²², where by the fishing right in the Kolleru Lake in Andhra Pradesh was contested. A third of the lake Kolleru, a freshwater lake was declared as wildlife sanctuary. Several fish tanks constructed within the lake blocked the drainage system of the region, thereby causing submergence of the upstream crops. The Supreme Court held the rights of the local fisherman to use the traditional methods of fishing without causing environmental hazards is permissible but the aquaculture in the form of any tank cannot be allowed at all.

An eco-unfriendly land use wrecks havoc in environmentally sensitive areas. The water bodies and the other gifts of nature are destroyed. In *M C Mehta v. Union of India*²³, the mining operations within the radius of five kilometres from the tourist resorts of Badkal Lake and Surajkund²⁴ in the state of Haryana were contested. The court directed

that there should be no mining activity within 2 kilometre radius of tourist resorts, no construction activity would be allowed within 5 kilometre radius, and all open areas would be converted to green belts.

But at the same time court also considered the need of developmental projects to be set up. In *Goa Foundation v. Konkan Railway Corporation*²⁵, it was alleged that alignment of the Konkan Railway in certain parts of Goa would cause erosion of soft rocks, disturbance to the unique mangroves and fish life, deterioration of land quality, and destabilisation of the tidal basin. The court took a stand that with abundant natural resources in Goa, the railway line would assist in setting up mangrove and mineral base and seafood industry, and that the project of such huge public utility would herald prosperity to the poor people on the western coast.

Trend in Wildlife Protection : On the question of protection of wildlife, the litigations for the protection are mostly generated by the provisions of the Wildlife Act which arises in criminal action to enforce the prohibition against poaching protected animals or hunting in parks or sanctuaries. Poachers pose a real threat to India's wildlife.

In the case *Trilok Bhadur Rai v. State of Arunachal Pradesh*,²⁶ a tiger was shot dead by the appellant. The Court held that to decide whether in killing of an animal the accused acted in self defence provided under section 11(2) of the Act or not, the nature and ferocity of animal shall be relevant. Thus the killing of tiger in good faith and in self defence of oneself cannot be said that accused has committed an offence.

In *State of Bihar v. Murad Ali Khan*²⁷, the issue was whether Judicial Magistrate of the first class can take cognizance under the Wild Life Act; the Supreme Court allowed the state government's appeal and restored the orders of the magistrate taking cognizance of offence under the Wild Life Act. The accusation against the respondent was that they had shot and killed an elephant in the Kundurugutu Range Forest and had removed its ivory tusks.

Further, in the case of *Pyarelal v. State (Delhi Administration)*,²⁸ the appellant who was found in possession of 'trophies' of *chinkara* skin intended for sale, had been convicted by the trial court despite his plea that 'trophies' were made out of goat skin, and not of any wild animal. There was no evidence to prove, when exactly the appellant came in possession of the 'trophies'. This led the Supreme Court to hold the appellant committed only an offence of violating the law relating to declaration of the 'trophies' in possession.

In *Chandramari Tea Co. v. State of Assam*²⁹ the extension of a sanctuary for providing better habitat for rhinos and corridors of animals was challenged. The alluvial flood plains are ecologically suitable habitat. Inclusion of area was necessary for protecting wildlife, improving environment and safeguarding the forest. The Court did not find any lapse or defect in the notification for the extension.

Further in *Wild Life Protection Society, Hyderabad v. State of Andhra Pradesh*³⁰, the petitioner took cognizance of the report pertaining to the killing of 13 months old tigress in the Nehru Zoological Park and killing of other wild animals and extraction of their body parts like nail, skin, eyes, tail etc. and sought direction from court for constitution of special vigilance and enforcement cell under the administration of C.B.I. But the court declined to issue directions as State Government in affidavit showed that adequate steps had already been taken for the protection of wild animals.

The Supreme Court has also stepped toward the protection and conservation of the birds. In *Chief Forest Conservator, Wild Life v. Nisar Khan*,³¹ the Supreme Court extended the prohibition to trapping of birds for the purpose of breeding in captivity and doing business. The Court observed that when hunting of birds is prohibited, there cannot be any doubt whatsoever that no person can be granted licence to deal in birds in captivity, which are procured by hunting.

The Supreme Court called for programmes of immunisation of animals living near or around sanctuaries and national parks, in order to protect them from infectious diseases. In *Centre for Environmental Law WWF-1 v. Union of India*³², apex court directed the veterinary centres to undertake immunisation programmes in the neighbourhood of the protected area. The need was also felt to control effectively the growing menace of poaching in the sanctuaries and national parks. The court issued further directions to the Central Government as well as the state governments, union territories to equip the forests guards with modern arms, communication facilities.

In *Ivory Traders and Manufacturers Association v. Union of India*³³, the petitioner challenged a ban on trade in imported ivory as violative of Articles 19(1)(g), 14 and 300A of the Constitution of India. Repelling the challenge, the High Court held that the prohibition was justified since the sale of ivory by the dealers would encourage poaching and killing of elephant to replenish the stocks held by petitioner. The High Court expressed concerns at the serious threat to the Indian elephant, particularly in south India.

Recently, in *Janajagrithi Samithi vs Union of India & Ors*,³⁴ the question which was considered in this Appeal is to determine the potential impact of de-reservation of forest land for the purpose of the project and the impact thereof on wild life and biodiversity in the perspective of the Forest (Conservation) Act, 1980. The Court held that in the present case if the activity is allowed to go on, there may be irreparable damage to the environment and there may be irreparable damage to the economic interest”.

In the case before National Green Tribunal in *Rohit Choudhary vs Union Of India & Ors*³⁵, the Applicant, resident of village Bokakhat, concerned about the ecology of the area and future of the Indian Rhino, Elephant and wide species of flora and fauna available in the Kaziranga National Park. He has approached this Tribunal invoking jurisdiction under Section 14(1) of the National Green Tribunal Act, 2010, inter-alia, praying for appropriate directions to the Authorities to safe guard Kaziranga and its ecology.

The NGT after giving the matter a conscious thought and after taking into account all the factors, said that MoEF and the State Government of Assam have totally failed in their duties with respect to implementation of the provisions of the 1996 Notification and due to the callous and indifferent attitude exhibited by the Authorities, number of polluting industries and units were established in and around the No Development Zone of Kaziranga thereby posing immense threat to the biodiversity, eco-sensitive zone, ecology as well as environment and pointed out that it is a clear case of infringement of law.

Thus the Indian Judiciary has made significant contributions to ‘good governance’ in relation to Environment. The words of **Justice Frankfurter** are apt, quoting “An onerous obligation We owe to posterity..... clean air, clean water, greenery and open space. They ought to be elevated to the status of birth right of every citizen.”

References :

1. Research Scholar, Department of Law, University of Allahabad, E
2. Maneka Gandhi v. Union of India AIR 1978 SC 597
3. Francis Coralie Mullin v. The Administrator, Union Territory of Delhi, AIR 1981 SC 746
4. AIR 1988 SC 2187
5. Shyam Diwan & Armin Rosencranz, *Environmental Law and Policy in India: Cases, Materials and Statutes*, 49-50 (Oxford University Press, New Delhi, 2nd edn.,2012).
6. AIR 1991 SC 420
7. AIR 1987 SC 1109
8. (2001) 6 SCC 496
9. AIR 1987 AP 171
10. 13 February, 2012, available at:
11. <http://www.indiankanoon.org/doc/187293069/>(Visited on April 7 2017)11 AIR 1987 SC 364
12. 1992 Supp (2) SCC 448

13. (1997) 2 SCC 267
14. AIR 1999 S.C. 2284
15. 1997 (3) SCC 549
16. (2004) 12 SCC
18. 817 (1997) 1 SCC 38818 On 18 April, 2013, available at; <http://www.indiankanoon.org/doc/109648742/> (Visited on April 26 2013)
19. *Supra* note 5 at p. 505
20. AIR 1993 Cal 215
21. (1997) 2 SCC 87
22. (2006) 5 SCC 47
23. AIR 1996 SC 1977
24. The Badkal Lake and Surajkund are monsoon fed water bodies. The natural drainage pattern of the surrounding hill areas feed these water bodies during rainy season.
25. AIR 1992 Bom 471
26. (1979) Cr.L.J. 1404
27. AIR 1989 SC 1
28. AIR 1995 SC 1159
29. AIR 2000 Guj. 13
30. AIR 2002, A.P. 221
31. AIR 2003 SC 1867
32. AIR 1999 SC 354
33. AIR 1997 Del 267
34. 7 March, 2012, available at: <http://www.indiankanoon.org/doc/105484666/> (Visited on January 6 2017)
35. 7 September, 2012, available at: <http://www.indiankanoon.org/doc/103217366/> (Visited on July 7 2017)



Need for a Uniform Civil Code in India

Amit Kumar Maurya*

All citizens must be able to claim full and equal benefit of all laws and proceeding for the security of persons and property as is enjoyed by other subjects regardless of any usage or custom based on religion.

- Dr. B. R. Ambedkar

Introduction : In India, we have a criminal code that is equally applicable to all, irrespective of religion, caste, gender and domicile. However, a similar code does not exist especially with respect to divorce and succession and we are still governed by the personal laws. These personal laws are varied in their sources, philosophy and application. Thus, a major constraint arises while bringing people governed by different religions under one roof.

Article 44 of the Constitution of India declares that "The State shall endeavour to secure for the citizens a Uniform Civil Code throughout the territory of India." A uniform civil code administers the same set of secular civil laws to govern all people irrespective of their religion, caste and tribe. This supersedes the right of citizens to be governed under different personal laws based on their religion or caste or tribe. Such codes are in place in most modern nations. Though Dr. B.R. Ambedkar was an extensive supporter of the Uniform Civil Code, he couldn't get it through more than a status of Directive Principle due to opposition from the members. This directive principle is aimed to achieve, gradually, rather than at once, more far-reaching equality for all citizens. The state has been entrusted with this voluminous task. However, no significant steps have been taken by any government till now.

History and the Uniform Civil Code : Codification of laws dates back to the Colonial Period. The Colonial Masters played an instrumental role in shaping the legislative literature of our country. The Lex Loci Report of October, 1840 emphasized on the necessity for codification of Indian law relating to crimes, evidences, contract etc., but it recommended that personal law of Hindus and Muslims should be kept outside such codification. A formal declaration of the policy was made by Warren Hastings in the Administration of Justice Regulation, 1780, where it was pronounced that while dealing with disputes of marriage, divorce or inheritance, people would be governed by their personal laws.

The British codified the law of crimes and made a secular law to deal with the crimes. In the realm of personal laws very few attempts were made. The attempt for a Codified Hindu law has also failed.

Post-colonial period, the framers of the Indian constitution and Mr. Nehru, were convinced that a certain amount of modernisation is required before a uniform civil code is imposed on citizens belonging to different religions including Muslims. The issue was sensitive and a uniform civil code could be seen by the citizens as an invasion on their culture and religion.

The framers felt that certain time should elapse before such a proposal can be undertaken. In backdrop of partition, where chaos and bloodshed became the order of the day, again bringing an issue regarding religious laws would not have been a wise decision. However, over 60 years later as well, the dream of a Uniform Civil Code remains unrealised.

*Research Scholar, Faculty of Law, Banaras Hindu University

Individual Laws and Discrimination against Women : In The Holy, Quran ladies have been given equivalent rights as men and it places ladies in respectable positions. Be that as it may, there are sure zones where the ladies had been allowed status lower to men. Quran accommodates the idea of 'Hiba'. This idea gives that the men are the gatekeepers of ladies since they are the bread worker of the family. It is, in this manner, his obligation to bolster his lady. Quran offers consent to men to have 4 wives. In any case, such right has not been given to ladies. On account of separation, ladies have been defenseless. Quran gives the way of separation which obliges men to profess "talaq" thrice, and he is allowed with a separation. This technique is exceedingly biased against the ladies. In the matter of progression, ladies are given not more than half of the offer when contrasted with the extent that is given to men. For instance, if sibling and sister acquire the property as successors, the sibling gets two shares while the sister gets one and only share. Iddat period is the period after the separation or the passing of the spouse in which a Muslim lady needs to stay unmarried. Amid this period she is not permitted to remarry. In the matter of separation, she is not qualified for any upkeep past the iddat period.

The Indian law gives that it is required to each spouse to furnish his wife with the upkeep until she can keep up herself. But whether such a law is pertinent to Muslim Law or not, has been a matter of level headed discussion. It was held by the Supreme Court for a situation that even Muslim ladies are qualified for the support for the period past iddat. On account of Danial Latifi v. The Union of India it has been held that "at the point when the demonstration of 1986 is tested, a Muslim spouse dependably has the obligation to keep up his wife after the separation and needs to make a reasonable and sensible procurement for the eventual fate of his wife."

Likewise, among the Christians and Parsi Women, there is uniqueness in the privileges of the ladies when contrasted with the men.

The Time for a Uniform Civil Code has come now : The need of the Uniform Civil Code has been suffered for about a century. What a pity that the world's longest and most elaborately written Constitution in the history of mankind is itself responsible for such erosion. Does India need the Uniform Civil Code? Of course, she does. It is high time that India had a uniform law dealing with marriage, divorce, succession, inheritance and maintenance. Even the Western countries like Italy and France have enforced it. But, the scenario in India is a lot more complex. We have a strong and long history of personal laws and it cannot be given up easily. A broad consensus must be drawn among different communities to facilitate such a landmark step in India's religious, social, political and most importantly judicial history. India is secular but only on papers; in reality, it's yet to achieve that secularity.

Reasons Why India Needs a Uniform Civil Code : The proponents of a uniform civil code have been campaigning for it even before the independence of India. India has always been a place of many colors and spices and before independence in 1947 it would have been hard to point out what constituted India. Fighting the British rule and winning our independence also helped in creating this nation we call India. It was known even at that time that to further unite India and make it a truly secular nation we would need a uniform civil code. But even after 66 years of independence we haven't been able to do this.

The reasons for why this has not been done are complex and a different topic on its own but it all boils down to political will. Politicians have always found it beneficial to play vote bank politics and try to appease different castes and groups instead of attempting to integrate our nation. Instead of focusing on the negative let's focus on the positive and talk about the reasons why we do need a uniform civil code.

1. It Will Integrate India

A uniform civil code will help in integrating India more than it has ever been since independence. A lot of the animosity is caused by preferential treatment by the law of

certain religious communities and this can be avoided by a uniform civil code. It will help in bringing every Indian, despite his caste, religion or tribe, under one national civil code of conduct.

2. It Will Help in Reducing Vote Bank Politics

A uniform civil code will also help in reducing vote bank politics that most political parties indulge in during every election. If all religions are covered under the same laws, the politicians will have less to offer to certain minorities in exchange of their vote. Not having a uniform civil code is detrimental to true democracy and that has to change.

3. Personal Laws Are a Loop Hole

The various personal laws are basically a loop hole to be exploited by those who have the power. Our panchayats continue to give judgments that are against our constitution and we don't do anything about it. Human rights are violated through honor killings and female foeticide throughout our country. By allowing personal laws we have constituted an alternate judicial system that still operates on thousands of years old values. A uniform civil code would change that.

4. Every Modern Nation has it

A uniform civil code is the sign of modern progressive nation. It is a sign that the nation has moved away from caste and religious politics. While our economic growth has been the highest in the world our social growth has not happened at all. In fact it might be right to say that socially and culturally we have degraded to a point where we are neither modern nor traditional. A uniform civil code will help the society move forward and take India towards its goal of becoming a developed nation.

5. It will give more Rights to the Women

A uniform civil code will also help in improving the condition of women in India. Our society is extremely patriarchal and misogynistic and by allowing old religious rules to continue to govern the family life we are condemning all Indian women to subjugation and mistreatment. A uniform civil code will help in changing these age old traditions that have no place in today's society where we do understand that women should be treated fairly and given equal rights.

6. All Indians should be Treated Same

Right now we have personal laws based on particular religions, which means that while Muslims can marry multiple times in India, a Hindu or a Christian will be prosecuted for doing the same. This doesn't seem like equality to me. All the laws related to marriage, inheritance, family, land etc. should be equal for all Indians. This is the only way to ensure that all Indians are treated same.

7. It Promotes Real Secularism

What we have right now in India is selective secularism which means that in some areas we are secular and in others we aren't. A uniform civil code means that all citizens of India have to follow the same laws whether they are Hindus or Muslims or Christians or Sikhs. This sounds fair and secular to me. A uniform civil code doesn't mean it will limit the freedom of people to follow their religion, it just means that every person will be treated the same. That's real secularism.

Legal Opinion and Uniform civil code : There have been cases in the Indian courts when the law has understood the bad form done to ladies for the sake of individual laws and have maintained the utilization of uniform laws over the individual laws.

Incomparable Court in Mohd. Ahamed Khan versus Shah Bano Begum held that despite the fact that it has not been given in the Muslim Law, but rather it is the obligation spouse to keep up his wife past the Iddat period. Hence, S. 125 Cr. P. C which makes it obligatory for the spouses to keep up their wives is mainstream in nature.

Chinappa Reddy, J. on account of Ms. Jordan Deigndeh versus S.S.Chopra focused on the prompt need of a Uniform Civil Code. He concentrated on the inadmissible situation that is the consequence of the nonappearance of uniform common code.

Again on account of Sarala Mudgal versus the Union of India the Supreme Court firmly felt the need of presenting Uniform Civil Code in India. The judges, for this situation, pronounced that those relational unions that had been finished by the Hindu male upon a change to Islam with the aim of directing polygamy are void. In the event that, Hindu male proselytes himself to Islam, while his first marriage is as yet subsisting, in such a case there has been a bad form to his first wife in this way, his second marriage would be thought to be void.

The seat, for this situation, said that the individual laws of the minorities ought to be supported to create religious and social harmony ideally by entrusting the obligation to the Law Commission and Minorities Commission.

Accordingly, it is clear that the Article 44 discusses the uniform common code all through the region of India and is made to advance solidarity and trustworthiness in the region of India. Such a goal is given in the introduction of the Constitution.

There has been an intense change in the Hindu laws, in the principal decade of the initiation of the Constitution; however, there has been a steady restriction from the Muslim group in this admiration. The present situation in which there is a separation in the middle of men and ladies is low and cruel. Equity Kuldeep Singh has rightly said that individual laws and religion are not associated. Marriage, progression are the matters that are mainstream in nature and that, these can't be conveyed inside of the system of Right to Religion.

The brutal routine of polygamy has been said to be against the ethics of open in numerous nations like the USA. There have been different Islamic nations that have annulled polygamy. Subsequently, there is a need to make Uniform Civil Code, relevant to all through the India.

There is a requirement for a Uniform Civil Code that is comprised of percentage of the best laws in every religion, with the goal of uprooting sexual orientation predisposition. Until and unless the ladies have been conceded square with rights as men, under individual laws, the privilege to correspondence that is guaranteed by the constitution of India can't be said to be completely executed. In any case, while guaranteeing fairness, sufficient consideration ought to be taken to see that just the rights are made uniform and, not the ceremonies which are an intrinsic part of the way of life and religion as else it would abuse the fundamental structure of the Constitution viz. secularism.

Conclusion : Article 44 of the Constitution of India requires the state to secure for the citizens of India a Uniform Civil Code throughout the territory of India. As has been noticed above, India is a unique blend and merger of codified personal laws of Hindus, Muslims, Christians, Parsis. However, there exists no uniform family related law in a single statutory book for all Indians which is acceptable to all religious communities who co-exist in India. The question is not of minority protection, or even of national unity, it is simply one of treating each human person with the dignity that he deserves; something which personal laws have so far failed to do. The principle is to treat each person equally and everyone be protected by just, fair and predictable laws.

Times have changed, societies have changed and it is high time that laws change. Education, economic prosperity, agricultural improvements, cross border migration and western influence has spread its hand over every nook and corner of Urban India. On the flip side, rural settlements are still struggling with adherence to customary and superstitious beliefs in family matters. A uniform civil code will not only change the entire perception of how families are governed but also change the lives of millions by filling the lacunas in various

religious laws. As Justice Y.V. Chandrachud, rightly remarked, a common civil code will also help in strengthening the cause of national integration by removing conflicting interests.

At the end we should recall the words of Mahatma Gandhi: "I do not expect India of my dreams to develop one religion, i.e. to be wholly Christian or wholly Mussalman, but I want it to be wholly tolerant, with its religious working side by side with one another".

References:

1. Gandhi, B.M., "V.D .Kulshrestha's Landmarks in Indian Legal and Constitutional History", 8th edi. Easten Book Company, Lucknow,(2005)
2. Jain, M.P., "Outlines of Indian legal and constitutional history" 6th ed., Wadhwa Publications, Nagpur (2006).
3. Singh, M.P. "V.N. Shukla's Constitution of India", 10th edi., Eastern Book Company, Lucknow (2006)
4. Sinha, R.K. "The Muslim law" 6th ed. Allahabad : Central Law Agency, 2006
5. Empowerment: A Debate on Uniform Civil Code (<https://books.google.com/books?id=0HNgJuBaSfkC&lp=PP1&pg=PA11#v=onepage&q&f=false>). Hope India Publications. ISBN 978-81-7871-079-2.
6. "Ambedkar And The Uniform Civil Code" (<http://www.outlookindia.com/website/story/ambedkar-and-the-uniform-civil-code/221068>).
7. Sattwik Shekhar "Has The Time Come For A Uniform Civil Code In India"? <http://www.manupatrafast.com/articles/PopOpenArticle.aspx?ID=77d942f9-1b04-4418-9c7b-78d495455b3d&txtsearch=Journal:%20www.mightylaws.in> 1/3
8. Mohammad Ahmed Khan v. Shah Bano Begum AIR 1985 SC 945
9. Sarla Mudgal v. Union of India AIR 1995 SC 1531
10. Constitutional Assembly Debates Volume VII pg. 547
11. A Report of Committee on the Status of the Women in India, 1975



Human Environment: an overview of Climate Change and Global Warming

Jitendra Singh Yadav*

Introduction : The body of the world's leading climate scientists convened by the UN, the Intergovernmental Panel on Climate Change, has concluded that climate change is both occurring and is attributable to increasing atmospheric concentrations of greenhouse gases (GHGs) resulting from human activity¹. The UN Human Rights Council has recognized that the environmental changes brought about by climate change can interfere with the realization of fundamental, internationally recognized human rights – including those protected by the International Covenant on Economic, Social, and Cultural Rights and the International Covenant on Civil and Political Rights.²

Climate change impacts and measures taken to mitigate or adapt to these impacts (referred to as response measures) are already affecting both individuals and communities. Particularly vulnerable to the impacts of climate change are individuals and peoples whose way of life is inextricably tied to nature, and coastal and low-lying island states that lack the economic resources to adapt to severe changes. At the extreme, climate impacts and response measures threaten to destroy many cultures of peoples around the world, render their lands uninhabitable, and deprive them of their means of subsistence.³

Meaning of climate change : Climate Change is a complex phenomenon. Consequently, it is also a difficult concept to define. A general definition of this topic is a short-term or long-term alteration of the statistical properties of a climate system. Such a change can be temporary or permanent. It can occur regionally or globally. However, in recent times the main focus is on human activity that is responsible for climate change. Thus the United Nations Framework Convention on Climate Change defines this subject as “a change of climate which is attributed directly or indirectly to human activity that alters the composition of the global atmosphere and which is in addition to natural climate variability Observed over comparable time periods.” Currently climate change is synonymous with global warming. A study of climate change is important from this perspective because it is considered that if human activity that causes detrimental climate change is not curtailed, the survival of the entire human race is under jeopardy.

Causes for Climate change Although scientists, environmentalists, politicians, economists and the general public are highly worried about the consequences of climate change caused by humans, there are also natural factors accountable for this occurrence. Therefore variations in solar radiation, deviations in the Earth's orbit, mountain-building and continental drift and changes in greenhouse gas concentrations are some of the other aspects that must be considered when discussing climate change. Natural factors that cause climate change take a long time (sometimes centuries or millions of years) to produce their impact. For instance the formation of an isthmus in Panama river million years ago prevented the mixing of the waters of the Atlantic and Pacific oceans.

*Research Scholar, Department of Law, University of Lucknow

On the other hand, the results of Human activity that influence climate change are observable in a relatively short period of time. It is also the actions of humans that are supposed to threaten their own survival. Accordingly I have decided to concentrate on the influence of mankind on climate change, consequences and possible solutions.

As has already been pointed out climate change is now regarded as identical with global warming. Deforestation, Industrial and domestic emission of toxic material into the atmosphere, oceans, rivers, and soil the rupture of the ozone layer due to the release of Chlorofluorocarbon gas are some of the factors that are attributed to global warming and other adverse climate changes.

International provisions relating to human environment : The right to a healthy environment is now to be found in a number of regional human rights instruments around the world. Article 11 of the Additional Protocol to the Inter-American Convention on Human Rights (1994) popularly known as the San Salvador Protocol, states that (1) everyone shall have the right to live in a healthy environment and to have access to basic public services; (2) the state parties shall promote the protection, preservation and improvement of the environment.

The African Charter on Human and People's Rights 1981 proclaims in Art. 24(1) a right to a general satisfactory environment favourable to their development.' In fact, the Final Report of the Special Rapporteur on Prevention of Discrimination and Protection of Minorities⁴ listed over 15 rights relative to environmental quality. Some of these include:

- a). the right to freedom from pollution, environmental degradation and activities which threaten life, health or livelihood;
- b). protection and preservation of the air, soil, water, flora and fauna;
- c). healthy food and water; a safe and healthy working environment.

The first principle of the 1972 Stockholm Declaration declares that: "Man has the fundamental right to freedom, equality and adequate conditions of life in an environment of a quality that permits a life of dignity and well being, and he bears a solemn responsibility to protect and improve the environment for present and future generations." The right to a healthy environment is now to be found in a number of regional human rights instruments around the world. Article 11 of the Additional Protocol to the Inter-American Convention on Human Rights (1994) popularly known as the San Salvador Protocol, states that (1) everyone shall have the right to live in a healthy environment and to have access to basic public services; (2) the state parties shall promote the protection, preservation and improvement of the environment. Almost twenty years later, in resolution 45/94 the UN General Assembly recalled the language of Stockholm, stating that all individuals are entitled to live in an environment adequate for their health and well-being. The resolution called for enhanced efforts towards ensuring a better and healthier environment.

The case of *Awes Tingni Mayagna (Sumo) Indigenous Community v. Nicaragua*, involved the protection of Nicaraguan forests in lands traditionally owned by the Awes Tingni. Government-sponsored logging on this native land was found to be a violation of the human rights of these tribals.

International instrument on climate Change :

1. *Vienna Convention for the Protection of the Ozone Layer (1985) and Montreal Protocol (1987)*: Calls upon countries to take measures to limit or prevent activities that could cause damage to the ozone layer. In India, the Ozone Depleting Substances Rules of 2000, under the Environment Protection Act 1996, are the relevant domestic legislation. Under the Montreal Protocol, India is to phase out most ozone depleting substances (such as CFCs), by 2010.⁵

2. *United Nations Framework Convention on Climate Change (1992) and Kyoto Protocol (1998)*: Calls upon countries to reduce emissions that are responsible for global warming and climate change.⁶

Constitutional provisions relating to Human Environment in India : India had a glorious history which shows the endeavor of ancient people to pay continuous attention to protect and promote environment. Being the part of the nature, they worshipped all forms of nature believing that all these are created by God and they have certain religious duties in using them.⁷ The Constitution of India however, does not make any reference to environment as a fundamental or enforceable right. However, encouraged by an atmosphere of freedom and human dignity in the aftermath of emergency (on 25th June, 1976) the Supreme Court of India entered one of its most creative and glorious period. At this point, Supreme Court of India charted out new horizon of social justice, and started to expand the meaning of fundamental rights enshrined in Part III of the Constitution. The court recognized various unarticulated rights as enforceable which were implied in Article 21. By that process the Supreme Court has gone far to expand the scope of Article 21 to recognize a right to a wholesome environment as a facet of the right to life under the constitution.⁸

On 26th January, 1950, originally the constitution contains no specific provisions for environmental protection. To comply with the principles of the Stockholm Declarations adopted by the International Conference on Human Environment, certain specific provisions have been incorporated by the Constitution (Forty Second Amendment) Act, 1976 and subsequent amendments. Indian Constitution is one of the very few constitutions in the world, which provides for specific provision for the protection and improvement of the Environment.

The Constitution (Forty Second Amendment) Act was passed and the provisions relating to the protection of environment for the first time were incorporated by adding a new provision Article 48-A in the Chapter, Directive Principles of State Policy. According to Article 48-A “the State shall Endeavour to protect and improve the environment and to safeguard the forests and wildlife of the country”.

Further, a new provision Article 51-A in the form of “Fundamental Duties” was also incorporated by the 42nd Amendment. According to the sub-clause (g) of Art. 51-A, “it shall be the duty of every citizen of India to protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers, and wild life, and to have compassion for living creatures”.

Further Article 21 is the heart of the fundamental rights and has received expanded meaning from time to time after the decision of the Supreme Court in *Maneka Gandhi vs. Union of India*⁹. Art. 21 guarantees a fundamental right to life –a life of dignity to be lived in a proper environment, free of danger of disease and infection

The link between environmental quality and the right to life was further addressed by a constitution bench of the Supreme Court in the *Charan Lal Sahu*.¹⁰ Similarly, in *Subash Kumar*,¹¹ the Court observed that ‘right to life guaranteed by article 21 includes the right of enjoyment of pollution-free water and air for full enjoyment of life.’ Through this case, the Court recognised the right to a wholesome environment as part of the fundamental right to life. This case also indicated that the municipalities and a large number of other concerned governmental agencies could no longer rest content with unimplemented measures for the abatement and prevention of pollution. They may be compelled to take positive measures to improve the environment.

The Supreme Court has used the right to life as a basis for emphasizing the need to take drastic steps to combat air and water pollution.¹² It has directed the closure or relocation of industries and ordered that evacuated land be used for the needs of the community.¹³ The courts have taken a serious view of unscientific and uncontrolled quarrying and mining,¹⁴ issued orders for the maintenance of ecology around coastal areas,¹⁵ shifting of hazardous and heavy industries¹⁶ and in restraining tanneries from discharging effluents.¹⁷

Another expansion of the right to life is the right to livelihood (article 41), which is a directive principle of state policy. This extension can check government actions in relation to

an environmental impact that has threatened to dislocate the poor and disrupt their lifestyles. A strong connection between the right to livelihood and the right to life in the context of environmental rights has thus been established over the years. Especially in the context of the rights of indigenous people being evicted by development projects, the Court has been guided by the positive obligations contained in articles 48A and 51A(g), and has ordered adequate compensation and rehabilitation of the evictees.

In *M.C. Mehta vs. Union of India*,¹⁸ (Popularly known as “Oleum Gas Leak Case”) the Supreme Court treated the right to live in pollution free environment as a part of fundamental right to life under Art. 21 of the Constitution. Further the A.P. High Court in *T. Damodar Rao vs. S.O., Municipal Corporation, Hyderabad*,¹⁹ laid down that right to live in healthy environment was specially declared to be part of Art. 21 of the Constitution.

The concept of sustainable development contains three basic components or principles. *First* among these is the precautionary principle, whereby the state must *anticipate, prevent* and *attack* the cause of environmental degradation.²⁰ The Rio Declaration affirms the principle by stating that where ever “there are threats of serious or irreversible damage, lack of full scientific certainty shall not be used as a reason for postponing cost-effective measures to prevent environmental degradation.”²¹

The Supreme Court has accepted the principle and applied it on several occasions. In the *Taj Trapezium Case*, applying the precautionary approach the Supreme Court ordered a number of industries in the area surrounding the Taj Mahal to relocate or introduce pollution abatement measures in order to protect the Taj from deterioration and damage.

The second component of the doctrine of sustainable development is the principle of ‘*polluter pays*’. The principle states that the polluter not only has an obligation to make good the loss but shall bear the cost of rehabilitating the environment to its original state.²² In operation, this principle is usually visible alongside the precautionary principle.

A Native American proverb states that “*we do not inherit the planet from our ancestors but borrow it from our children*”, this is the next significant component of sustainable development – the principle of intergenerational equity. The Brundtland Commission defined sustainable development as development ‘*which meets the needs of the present without compromising the ability of the future generations to meet their own needs.*’

Each generation should provide its members with equitable rights of access to the legacy of past generations and should conserve this access for future generations. This is the principle of “conservation of access.”²³

Effects of climate change : Manifestations of climate change include rising sea-levels, increasing temperatures, extreme weather events (such as storms, droughts and cyclones), receding coastlines, melting permafrost and changes in precipitation patterns. These climatic phenomena have direct impacts on human populations and their livelihoods, such as:

- * Rising sea-levels and storms causes flooding, population displacement, salinization of fresh-water resources, and the diminishment of habitable or cultivable land.

- * Rising surface temperatures lead to greater occurrence of diseases such as scrub typhus, diarrheal diseases and other mosquito-borne diseases.

- * The increasing number and intensity of weather events endanger life, health, and housing.

- * Changing coastlines and melting permafrost cause damage to land, houses, and other infrastructure. ²⁴

- * Changing precipitation patterns and the melting of glaciers affect access to water, which in turn affects the ability to irrigate lands and secure access to food. Adaptation and mitigation actions to address these impacts can affect, perhaps profoundly, the livelihoods, lifestyles, living conditions and cultures of indigenous peoples and local communities.

Women and children are particularly vulnerable to the effects of climate change. In the poorest regions of the world, women often bear the primary responsibility for gathering the essential food, water and fuel supplies for their families. Droughts caused by climate change make their work extremely hard as wells run dry, crop production declines, and fuel wood has to be collected from farther distances. Similarly, shortages of food and water will increase malnutrition among children and diminish their chances to receive school education. Children are also more vulnerable to natural disasters as they lack physical strength, and are often orphaned or separated from their families.

Indigenous peoples are also particularly vulnerable to climate change, since their way of life is often inextricably tied to the natural environment. Consequently, environmental changes impact their ability to access water, food and shelter. Moreover, for many indigenous peoples, lands are not a mere commodity, but a central element of spiritual and cultural identity. Thus, serious environmental changes resulting from climate change can affect both their physical and spiritual survival.²⁵

Global warming : Global Warming is the increase of Earth's average surface temperature due to effect of greenhouse gases, such as carbon dioxide emissions from burning fossil fuels or from deforestation, which trap heat that would otherwise escape from Earth. This is a type of *greenhouse effect*.²⁶

Impacts of Global Warming : Impacts of global warming is extremely devastating which can be summarized as under :

1. Rising Seas— inundation of fresh water marshlands (the everglades), low-lying cities, and islands with seawater.
2. Changes in rainfall patterns -droughts and fires in some areas, flooding in other areas. See the section above on the recent droughts, for example!
3. Increased likelihood of extreme events-such as flooding, hurricanes, etc.
4. Melting of the ice caps - loss of habitat near the poles. Polar bears are now thought to be greatly endangered by the shortening of their feeding season due to dwindling ice packs.
5. Melting glaciers - significant melting of old glaciers is already observed.
6. Widespread vanishing of animal populations — following widespread habitat loss.
7. Spread of disease - migration of diseases such as malaria to new, now warmer, regions.
8. Bleaching of Coral Reefs due to warming seas and acidification due to carbonic acid formation -*One third* of coral reefs now appear to have been severely damaged by warming seas.
9. Loss of Plankton due to warming seas - The enormous (900 mile long) Aleutian island ecosystems of orcas (killer whales), sea lions, sea otters, sea urchins, kelp beds, and fish populations, appears to have collapsed due to loss of plankton, leading to loss of sea lions, leading orcas to eat too many sea otters, leading to urchin explosions, leading to loss of kelp beds and their associated fish populations.²⁷

Conclusion : Climate change is a dangerous global phenomena that preys on the vulnerable and poses a significant threat to the protection of human rights. Not only can climate change play a causal role in violent conflict, it also threatens the enjoyment of ICCPR and ICESCR human rights. Given current global warming trends, moreover, climate change-related stresses appear likely to intensify over the course of the 21st century. This likelihood implies an increased frequency of climate change-related conflicts in the future.

Solving global climate change will of course necessitate more than a human rights approach has to offer. Policy will surely play an important role. More specifically, binding international agreements to limit greenhouse gas emissions will likely be required.

Nevertheless, with the danger of climate change increasing and policy solutions appearing unlikely in the near future, it is prudent to leverage human rights tools, however limited they may be, to help mitigate the consequences of climate change.

References :

1. Research Scholar, Department of Law, University of Lucknow, Email- jitendrabbau@gmail.com, Mob.9453354100
2. "Climate Change & Human Rights: A Primer", available at- http://www.ciel.org/Publications/CC_HRE_23May11.pdf, last accessed on 09-04-2017 at 4.20 pm
3. Ibid
4. U.N.Doc.E/CN4/Sub.2/1994/9 (1994).
5. Available at-www.unep.ch/Ozone/pdfs/viennaconvention2002.pdf. hq.unep.org/ozone/Montreal-Protocol/, last accessed on 23/07/17 at 4.34 pm
6. Available at <http://unfccc.int> and <http://unfccc.int/resource/docs/convkp/kpeng.html>, last accessed on 22/08/17 at 8.38 pm
7. Sharma, Charu "Human Rights and Environmental Wrongs: Integrating the Right to Environment and Developmental Justice in the Indian Constitution" in C. Raj Kumar & K. Chockalingam(ed.) Human Rights, Justice, & Constitutional Empowerment. 318, 329,334 (Oxford, 1sted. 2007)
8. Municipal Council, Ratlam v. Vardhichand and Ors AIR 1980 SC 1622, M.C. Mehta v. UOI (Ganga pollution and Kanpur tannery case) AIR 1991 Supp(1) SCC 181, Subhas Kumar v. State of Bihar AIR 1991 SC 420 at 423-424, Tarun Bharat Sangh v. UOI AIR 1992 SC 514, Rural Litigation and Entitlement Kendra, Dehradun v. State of Uttar Pradesh AIR 1988 SC 2187. See generally V.R. Krishna Iyer, 'Union Carbide's "Bhoposhima" and Indian Somno-Coma' in Constitutional Miscellany (2nd ed.) Eastern Book Company ,2003
9. AIR 1978 SC 597
10. Charan Lal Sahu v. Union of India AIR 1990 SC 1480
11. Subhash Kumar v. State of Bihar, AIR 1991 SC 420
12. V. Mathur v. Union of India, (1996) 1 SCC 119
13. M.C. Mehta v. Union of India, (1996) 4 SCC 351
14. Rural Litigation and Entitlement Kendra v. State of U.P, AIR 1991 SC 2216
15. Indian Council for Enviro-Legal Action v. Union of India (Coastal Protection Case), (1996) 5 SCC 281
16. M.C.Mehta v. Union of India, (1996) 4 SCC 750
17. M.C.Mehta v. Union of India (Ganga Water Pollution Case), AIR 1988 SC 1037
18. AIR 1987 SC 1086
19. AIR 1987 A.P. 171
20. Vellore Citizen's Welfare Forum (1996) 5 SCC 647 at 658
21. Principle 15, Rio Declaration on Environment and Development (1992)
22. Indian Council for Enviro-Legal Action v. Union of India (H-Acid Case), (1996) 3 SCC 212
23. Edith B. Weiss, In Fairness to Future Generations: International Law, Common Patrimony, and Intergenerational Equity (United Nations University, 1989)
24. Supra note 2
25. Ibid
26. "What is Global Warming?", available at-http://www.nmsea.org/Curriculum/Primer/Global_Warming/fossil_fuels_and_global_warming.htm, last accessed on 07-04-2017 at 3.10 pm
27. Supra note 2



India-Nepal Relationship: A Historical Overview

Sneha Patel*

Abstract : *It is well known that India-Nepal relations are very old and close. No one have such type of relationship in the whole world. Their relationship is very close since the ancient times. India- Nepal have been sharing socio- economic, political, cultural relation and even open border for a long time. The most important thing is that, there realtionship is not only government centred but citizen centered also. This make their realtions more friendly and close. However, both neighbouring countreis have also many irritants despite their closeness. This paper is attempt to analysing the India-Nepal relation in the historical perspective. No matter today they have not been giving more importance to there historiagl linkages, but it is important to take a look on history for a smooth and friendly relationship. It will also exmaine the India's role in the developments of Nepal.*

Keyword- India-Nepal, Historical ties, Neighbour, British India, Treaty.

Introduction- Nepal is a landlocked country situated at the northern slope of the Himalaya between two giant and powerful countries India and China. From the east, west and north, Nepal's border connected with the Indian states- Uttar Pradesh, Bihar, Uttrakhand and West Bengal respectively and from the south it is connected with Tibet part of People Republic of China. Sikkim makes a common border with the Kingdom's north-east corner; its south-east is separated from Bangladesh (former East Pakistan) by a narrow strip of Indian Territory in West Bengal.

The border with India is not a natural one though long patches of thick forests lie between the two nations. However, in recent times, people from both sides have been live even in no man land zone. The border runs through the inner periphery of the open and extensive Indo-Gangetic plain, and constitutes what can be called as a "zone of exposure". This makes Nepal and India easily accessible to each other. As a result, the exchange of socio-cultural and political influences between the two countries have been greatly encouraged and facilitated.

The foreign policy of Nepal is clearly reflected in king Prithvi Narayan Shah's, the founder of unified Nepal, statement. He described the determinants factor of Nepal's foreign policy.

This Kingdom (Nepal) is like a tarul (a root vegetable) between two stones. Great friendship should be maintained with the Chinese emperor. Friendship should also be maintained with the Emperor of the southern seas (the British), but he is very clever. He has kept India suppressed. He is entrenching himself in the plains.... Do not engage in an offensive attack, fighting should be done on a defensive basis....If it is found difficult to resist in the fight, then even means of persuasion, tact, and deceit should be employed.^[1]

All the ruler's of Nepal, after Prithvi Narayan Shah, follows this as the guiding principals of Nepal's foreign policy and always trying to make balance between its neighbours China and India. Indeed, Nepal's politics is revolving around its two giant neighbour due to its geographic conditions.

The Relationship between British India-Nepal :

Nepal moved towards the south until stopped by the British in 1816. As a result of the Anglo-Nepalese war of 1814-16, Nepal's western, southern and eastern boundaries were more or less fixed and what followed afterwards were only minor adjustments.^[2]Therefore the relation between British India and Nepal came into shape more after 1814 Sugali war and

*Research Scholar, Department of Political Science, BHU, Varanasi

the base of its future relations was heavily implied in the treaty of Sugauli. Subsequently, their relation was basically dependent on cooperation and understanding but both were pursuing their own interest behind this approach. The British had two interests in Nepal: one was Gorkha recruitment in British army and second, there was a need for a market for British goods and Nepal was able to fulfill its both interests.

In order to expand its territory towards south, Nepal clashed with British which caused war in 1814 (before that period Nepal was engaged with Tibet and China issue). In addition, there was a problem of criminals looting at Indian border villages and they found safe home in Terai forests and hill areas of Nepal. In which, British wanted Nepal cooperation to deal with these issues but Nepal did not help which led to another cause of war. Although, British defeated Nepal in this war, but the bravery of Gurkha was very praiseworthy, this impressed and encouraged British to recruit them in their army.

After the war, the treaty of Sugauli concluded in March 1816. For Nepal, this treaty was a very costly bargain because its possession in Sikkim, Kumaon and Garhwal were lost. This loss was very painful for Nepal because many other restrictions were imposed on Nepal through the treaty of Sugauli.

Kingdom realized soon that the British were becoming more powerful and even China didn't want to antagonize the British. It can be understood through the treaty which Nepal had signed with China, in which article 5 of the 1792 Treaty stated that "if Nepal be ever invaded by a foreign power, China would not fail to help her."^[3] But China did not come to help Nepal and this incident changed Nepali mindset that British are more powerful than China. Therefore there was no chance to use China against the British.

The Sugauli treaty was forcefully imposed on Nepal therefore it did not make Kingdom friendly and cooperative to British. Nepal was also forced by this treaty to give up its resistance to the posting of British resident in Kathmandu and promised to seek British permission before employing any European. However, but its powerful and shrewd Prime Minister Bhim Sen Thapa kept intercourse with the British confined to "rigidly defined and closely guarded limits" even commercial and other matters were also not promoted in this time.

India-Nepal relation after Independence (1947) :

After independence, India had accepted the British policy towards Himalayan Kingdom as well as Nepal until China emerged as a powerful communist country in 1949 and its assertion on Tibet in 1950. Both countries (India and Nepal) have concluded a standstill agreement in 1947 after British withdrawal from India. Before that time Indian government did not pay much attention to Nepal because of its own internal crisis.

The rise of China as a communist country in 1949, alarmed Indian government, as well as Nepal, to reshape its security interest in new circumstances. During that time, the whole world was experiencing different changes around itself. In these circumstances, the treaty of peace and friendship signed between India and Nepal in July 1950. This treaty covers the whole gamut of their relationship like socio, economic, cultural and security aspects. However, this treaty is facing strong resentment in Nepal just after the sign.

Delhi settlement: the Ranas tried to make a diplomatic front where they could achieve international support for their reign and they wanted India, the United Kingdom and the United States recognition to Gyanendra as king of Nepal. But the United States and the United Kingdom adopted a wait and watch attitude. A British diplomatic mission came to Kathmandu on 3 December 1950 to make an on-the-spot study of the situation and then met the hostile mob at airport where they were demonstrated and raised a slogan in favor of King Tribhuvan.^[4]

The first round of the negotiations began in New Delhi on 27 November 1950 and continued for about a fortnight. At the end of it, the host Government presented on 8 December, a memorandum to the Nepalese Government. The terms of the compromise listed in the memorandum stated that the Government of Nepal should,

- a) convene, at the earliest opportunity, an elected constituent assembly to draw up a constitution for Nepal;

- b) provide some popular representation in the Government pending the drafting and implementation of a constitution; and
- c) accept Tribhuwan as King of Nepal. ^[5]

The Rana considered various aspects and implication of the memorandum but some proposals were announced to constitutional reforms. But Ranas refused to accept third proposal and then another round of negotiation held on 25 December 1950 again in New Delhi. This round concluded on 1 January 1951 between the negotiating parties- the monarchy, political parties, Ranas and the Indian government, which was called as "Delhi settlement". Under this settlement Ranas agreed to amend their initial proposals for constitutional reforms according to the friendly suggestion of the government of India.

In accordance with the "Delhi Settlement", King Tribhuwan formed a Cabinet responsible to him on 18 February 1951. The Cabinet included Mohan Shumshere and B. P. Koirala, as well as other representatives of the Ranas and the Nepali Congress in equal numbers. Thus "the revolution" ended in a compromise and the disturbed situation seemed to be gradually settled.

The Era of "Special relationship" (1951-1955) :

At the time of the king Tribhuvan rule, there could be seen an Indian dominance on Nepal's internal and as well as external affairs. For instance, when United States, with which Nepal maintains diplomatic relation, sought permission to establish an embassy in Kathmandu, the government, on Indian advice, refused the request on the ground that no suitable accommodation was available. ^[6]

During this period, India-Nepal relations had a tagline of "special relationship". Actually, there were many factors behind this special relation. There were many constant factors like geographical closeness, strong socio-cultural and ethnic identities between the two countries and Nepal's heavily economic dependence upon India. However, during the king Tribhuvan's time there was something more than these factors.

The pattern of special relation during the king Tribhuvan's period was not wholly new because the Rana rulers and the British had also same kind of relationship and the situation did not change even after the British withdrawal from the Indian sub continent because India had also adopted the British policy after independence.

The Ranas on their part were also ready to adjust Nepal according to the Indian interest. This was evident in the agreement on Gurkha recruitment and in the treaties of Peace and friendship and the trade and commerce of 1950 between Nepal and India. It was clear from these Treaties and agreements that Nepal had joined the Indian security umbrella and ready to be guided by India in its external matters and trade.

Unlike the Ranas the new leadership- king Tribhuvan and Nepali congress were not apprehensive of the government of India. Instead, they were indebted to India for its role in the fall of Ranas and bringing the new Nepali elite in power. Therefore, the king and the party leaders always looked towards the India government and leaders with full respect and admiration for rich political experiences and democracy ideals and took inspiration and guidance from them.

Thus, during the rule of King Tribhuwan India-Nepal relationship was very close.

- i) The Government of Nepal would consult the Government of India with regard to foreign policy and matters connected with foreign powers while India too would consult Nepal in all matters related to latter.
- ii) In particular, Nepal would consult India in all matters affecting Sino-Nepalese relations.
- iii) The Indian missions would, if and where Nepal so desired, represent the interests of Nepal and all Indian foreign missions would be instructed to give all possible help and assistance to Nepali nationals.
- iv) The two governments would, from time to time, exchange information relating to foreign affairs and relations with foreign powers in so far as they affected each other. ^[7]

India-Nepal relation during king Mahendra (1955-60):

After the death of King Tribhuvan, King Mahendra came in power on March 13, 1955. Then, the 'special relationship' quickly converted into 'equal friendship for all' or 'equidistance policy' regarding the relations with India and China. His attitude was very different from his father. He brought major changes in Nepal's foreign policy and maintained distance with India unlike his father.

On January 27, 1956, Tanka Prasad Acharya, a pro-China, appointed as the Prime Minister. In his first press conference, he expressed his view on Nepal foreign policy and said that his government will maintain equal friendship with all countries. It means, he was prepared to accept "aid without strings" from all friendly countries, such as India, China, Britain and the United States, France, and the Soviet Union, Tanka Prasad declared, and was interested to amend the 1950 Indo-Nepali trade treaty in order to establish direct trade relations with third countries.^[8]

At the time of King Mahendra regime, China-Nepal relation had become strong from government to citizen level. In addition, many developments occurred in 1956-57 periods as if Nepal wants to prove that she was able to do anything without Indian support. Among these developments, one important event was voting in the United Nation General Assembly on the Hungarian question. For Kathmandu, this was the question of 'self determination' because first time Nepal took stand and voted against India on a major international issue. This move is welcomed by Nepali public also with great enthusiasm. Thus, this vote made Nepal as a sovereign and independent country at International forum. During this period India-Nepal relation was not good because of the policy of equi-distance of king Mahendra.

India-Nepal relations under the King Birendra Regime :

In 1972, after the death of King Mahendra, young crown prince Birendra Bir Bikram Shah Dev became the new king. Unlike his predecessor, King Birendra had western education which was an opportunity for him to aware with the modern world. In this order, he appointed highly educated Nepalis in its services. Although, he adopted several innovative changes in the internal politics but in the matter of foreign policy, he adopted 'equidistance' policy between India and China, advocated by Mahendra. This shows that king Birendra was not in the favor of close relations with India like his father.

One of the major incidents during those times was the merger of Sikkim into India. Nepal's reaction was suspicious because after Sikkim India's target could be Nepal. However, the Indian Ambassador informed the king about India's displeasure over Nepal's reaction and submitted a protest note. The protest note asked Nepal to either render public apology for anti India demonstration or publicly accept Sikkim as a part of India and give reparation for the damage done to the property of Indians in Nepal.

The major effort to provide greater substance to the neutralization policy was introduced by King Birendra at the 1973 nonalignment conference in Algeria when he stated that "Nepal, situated between two of the most populous countries in the world, wishes within her frontiers to be declared a zone of peace."^[9] However, King Birendra did not get much attention in the conference for his proposal. Subsequently, on his coronation, February 25, 1975, king Birendra once again announced "Zone of Peace" proposal as the Nepal's foreign policy goal. That time the proposal quickly endorsed by Pakistan, China and Bangladesh. Obviously, the reason of support of ZoP because these countries had bad relation with India. While the United States and Soviet Union were neutral on this issue, neither supported nor rejected.

On the other hand, India's stand was clear to not support the proposal due to its clash with the spirit of 1950 treaty of peace and friendship. On the other hand, Nepal's long-standing attempt to encourage trade with other nations has failed to reduce dependency on the Indian economy, though past misuse of the overseas export-import entitlement policy encouraged the smuggling of imported luxury goods into India.^[10] All these tasks took the relationship in peril.

India-Nepal relation since 1990s (Maoist revolution) :

For Nepal, the period of nineties onwards witnessed for a major changes of new scenario. One of the most chaotic situations faced by Nepal was Maoist insurgency that

began in 1996. This Jan andolan was against to monarchy emerged due to instability within Nepal. The Maoist groups, in 1994, demanded various reforms through their 40 points memorandum, in which two main political objectives:

- * Abolishing the monarchy, seen as an obstacle to the economic, social and political development of Nepal; and
- * Cancelling the "unequal" treaties with India in order to end the virtual control of the Nepalese economy by Indian businessman.^[11]

The situation in Nepal had become very serious since 1990 due to Maoist uprising.

In addition, the matter became worst when the king of Nepal grabbed power on 1 February 2005 and suspended all the human rights and democracy and declared state of emergency. The king tried to justify his action by arguing that he wanted to establish peace in the country and resolve the Maoist problem. However, nothing happened to calm the situation. This royal coup brings another crisis in Nepal's politics as well as for the whole nation. In order to grab power, king jailed many political leaders.

India's Role in Nepali Politics - No matter India-Nepal relations is facing many irritants in present scenario but India have had play a very crucial role in Nepal's politics. The first partial democratic movement in Nepal against Rana oligarchy in 1950 was highly influenced by the Indian national movement.

With the inspiration from India, some Nepalese organized a meeting in 1935-36 under the name of Praja parishad but it was crushed by Rana government in 1940. However, this sparkle was once again started in January 1947 when some Nepalis held conference at Calcutta to form a Nepali national Congress (NNC). This democratic movement get support from Indian leaders also, especially socialist group, like Acharya Narendra Dev, Jaya Prakash Narayan and Ram Manohar Lohiya. The young and educated people of Nepal also participated in the Indian national movements and also went jail.

Delhi has had a role in shaping political outcomes in Kathmandu at key moments in the past six decades; most recently, it played a direct role in facilitating the peace agreement between mainstream political parties and Maoist rebels in 2005. Thus began Nepal's transformation from a monarchy to a republic, war to peace, Hindu kingdom to secularism, and a unitary to a potentially federal system.^[12] Therefore, no one can undermine the India's role in the developments of Nepal.

References:

1. Muni.S.D. 1971. "Foreign Policy of Nepal". New Delhi: National Publishing House.
2. Rose, Leo E. 1971. "Nepal Strategy for Survival", Berkeley: University of California.
3. Subedi, Surya P. "The Himalayan Frontier Policy of British India and The Significance of The 1923 Treaty of Friendship Between Great Britain and Nepal. Available at <http://healthlinknepal.org/uploads/files/the-himalayan-frontier-policy-of-british.pdf>
4. Sir Ester Denning, the British Ambassador at large in the East, and Frank Roberts, the British Deputy High Commissioner in India constituted the mission. The demonstration against the mission was so hostile that the Government of Nepal had to use force to disperse it. Sharma, n. 1, 429. Quoted in S.D. Muni
5. Nehru in Parliament on 21 December 1950, India, Parliamentary Debates, Part II, Vol. VII, No. 8, 2138-42. Quoted in Muni. S. D. 1971. "Foreign policy of Nepal."
6. Feer, Mark C. 1953. "India's Himalayan Frontiers". JSTOR. 22 (11) pp.137-141
7. Muni. "Nepal's Foreign policy".
8. Gorkhpatra, January 30, 1956. Quoted in Leo E. Rose, "Nepal Strategy for survival", Berkeley: University of California.
9. Rose, Leo E & Jhon T. Scholz. 1980. "The Profile of Himalayan Kingdom". USA: Westview Press.
10. Scholz, Jhon T. 1977. Nepal in 1976: Problems with India Threaten Birendra's New order". JSTOR. 17 (2) pp. 201-2017.
11. Subedi, Surya. P. 2005. "India, Nepal and the Maoist Conflict: A Nepalese Perspective".
12. Jha, Prshant. 2015 "Big brother or Elder Brother?: India's role in the Nepal Transition".



Of Homosexuals and Cultural Straightjackets

Dr. Shiv Prakash Singh*

WHEN A person is ostracized for his sexual orientation, we are all responsible. When he is beaten, harassed and left beleaguered, we are all responsible. When he is declared an outcast due to his nonlinear phallocentric leanings, we are all responsible. When his dreams are muffled by the brash moral police and traditionalist society, impatient to nip any deviation from the century old accepted cultural pattern, we are all responsible. But where's the exasperation?

This is the age of rights and liberty and behavior such as homosexuality cannot be made an exception to satisfy those who are against it. No amount of justification given under the garb of social, cultural, religious, moral or familial breeding withstand the language (read: meaning & scope) of Article 21 enshrined in our Constitution. We dare not distinguish people on the basis of their sexual orientation as they are also the ones who gave themselves the Constitution, which solemnly resolves to secure justice, liberty, equality and fraternity to all its citizens.

A particular section of the society feels that any aberration in the behavioural pattern followed on the pretext of personal freedom cannot become a part of the culture. They say that when a person favors an option outside our cultural legacy and against the practiced norms and social moorings - then besides the point that it is a part of his private life it nevertheless becomes a challenge for the social institutions - it is a faux pas.

The United Nations and the European Union : In 1994 the United Nations Human Rights Committee, ruling in the case of *Toonen v Australia* against a law criminalizing consensual sex between adult men in the state of Tasmania, Australia, found that such laws violate the right to privacy and to freedom from discrimination and added that the reference to 'sex' in the non-discrimination clauses of the International Covenant on Civil and Political Rights (ICCPR) (Articles 2 (1) and 2(6) should be taken as including 'sexual orientation'. In other words, the rights set out in the ICCPR cannot be denied to any individual because of their sexual orientation.

A number of non-governmental organizations with consultative status now support lesbian and gay equality rights, including Amnesty International and Human Rights Watch.

Amnesty International calls on governments to:

- * Repeal sodomy laws and all other laws criminalizing homosexuality, including discriminatory age of consent legislations.
- * Enact non-discrimination laws that are inclusive of LGBT (lesbians, gays bisexual and transgender) people.
- * Condemn torture and ill-treatment, including forced "medical" treatment of LGBT people, and release immediately and unconditionally all LGBT prisoners of conscience who are imprisoned solely for their real or perceived sexual orientation or gender identity.
- * End impunity and protect LGBT people against violence in the community by acting with due diligence to promote and protect the human rights of LGBT people, including by taking seriously and responding properly to human rights abuses targeting LGBT people.

*Principal, Deptt. of Law, Ch. Ram Gopal Singh Vidhi Mahavidyalaya Kanpur Nagar

The European Parliament acting on the Roth Report, in February, 1994, called for (a) decriminalization, (b) an equal age of consent, (c) equal social benefits, (d) inheritance and housing rights, (e) state action against homophobic violence, (f) anti-discrimination laws, (g) equal state funding for homosexual social and cultural organizations, (h) access to marriage or an "equivalent legal framework" and (i) equal adoption rights.

Core Problem : The biggest difficulty faced by same sex couples is with regard to legality of their marriage and entitlement of the ensuing rights. Legal recognition of a marital union opens up a wide range of entitlements, including social security, taxation, inheritance, insurance benefits, agency law and other benefits unavailable to couples unmarried in the eyes of the law.

Restricting legal recognition to opposite-sex couples excludes same-sex couples from gaining legal access to these benefits, and while opposite-sex unmarried couples, without other legal impediments, have the option of marrying in law and so gaining access to these rights, that option is unavailable to same-sex couples. Similarly, though certain rights extending from marriage can be replicated by legal means (for example, by drawing up contracts), many cannot; thus, despite the presence of legal contracts, same-sex couples may still face insecurity in areas such as inheritance, hospital visitation and immigration. It is completely unfair to deny these privileges to people because their relationship doesn't fit the state's definition of one.

The main reason for denying marriage to gay couples is that all major religions consider homosexuality a sin. However, the First Amendment of the American Constitution and Article 26 of the Indian Constitution clearly state that a person's religious views or lack thereof must be protected. Denying them of their rights would tantamount to a form of minority discrimination.

As marriage is a relationship between two people it doesn't hurt society or anyone in particular not involved in the marriage. It is a personal commitment that really is no one else's business. Society shouldn't be dictating what two people can or can't do when no one else is hurt in the process.

The recently issued mobility directive 2004/58/EC by the European Union recognizes a "family member" a same sex partner as an EU citizen in situations where there has been a registered partnership under the laws of a member state and where registered partnerships are recognized in the law of the host country. The new directive, though limited, is the first occasion on which registered partnerships have gained recognition in EU law.

Section 377 Indian Penal Code & Legislation Worldwide : The law as it stands today justifies the approach of the conservatives. Section 377 of the Indian penal Code, enacted by the British in 1860 states: Whoever voluntarily has carnal intercourse against the order of nature with any man, woman or animal shall be punished with imprisonment for life, or with imprisonment of either description for a term which may extend to ten years, and shall also be liable to fine. The application of this Sec. has been further extended by the judicial pronouncements that have come over the years. The purview of this penal legislation has been enlarged to include all forms of sexual expressions that are possible between two persons except lesbianism. As a result homosexuality in India stands criminalized.

The new law in U. K. - passed last year despite some opposition from Parliament's un-elected House of Lords - allows civil ceremonies that will give same-sex couples the same social security, tax, pension and inheritance rights as married couples. Pop star Elton John and his longtime lover David Furnish became one of England's first legally bound gay couples. They tied the knot on December 21, 2005 - the day the law came into force - joined by hundreds of gay couples in England who took advantage of the new law. Other countries to have legalized same-sex marriage are The Netherlands, Canada, Belgium and Spain, while Germany, France and Switzerland have laws similar to Britain's. In the United States, only Massachusetts allows gay marriage, while Vermont and Connecticut permit civil unions.

South Africa, Fiji and Ecuador have included sexual orientation as a category protected from discrimination in their Constitutions. However, many other countries maintain laws that

prohibit or regulate sexual activity between consenting adults of the same sex. In some countries, in particular Moslem nations where very conservative forms of Sharia law are followed, such as Saudi Arabia and Iran, homosexual acts are illegal, and subject to a maximum penalty of death.

Public Interest Litigation in India : According to a 2002 Human Rights Watch report, AIDS outreach workers in India have been subjected to police violence, detention and criminal charges for simply supplying condoms, and accused of promoting homosexuality or running sex clubs. For the past decade, rights activists have fought against section 377 of the Indian Penal Code, which they believe is one of the root causes of such anti-gay hostility.

Four years ago Naaz Foundation (India) Trust, one of the many organizations trying to combat the spread of AIDS in the country, filed a petition in New Delhi High Court to remove private, consensual homosexual acts from section 377, leaving in place provisions used to prosecute rape in marriage and child sex abuse. The court rejected the petition on technical ground that "there is no cause of action against the petitioner."

In April last year a PIL was filed by the Naaz Foundation in the Supreme Court of India for a rehearing on the same matter. Naaz challenged the validity of Sec. 377 of IPC on various grounds including that it comes in the way of anti-AIDS campaign. It claimed that gays were not forthcoming about their sexual behavior due to fear of police action against them as Section 377 made it a criminal offence.

Supreme Court's View : It is in the above context that the February 3, 2006 observation by the Supreme Court, on an appeal challenging the Delhi High Court Judgment, can be considered as the first step in changing the skewed relationship and winning back the faith of thousands of gay people. The bench comprising of the Chief Justice of India, Y. K. Sabharwal, along with Justices C. K. Thakker, R. V. Raveendran and Justice L. S. Anta remarked that the Delhi High court was wrong in dismissing the PIL challenging Sec. 377. The judges argued that the case must be debated and heard and not simply silenced on technical grounds.

In other words the Supreme Court has favoured a debate on the subject by asking the High Court to judge the case against Sec. 377 on its merits. The judgment is also a stark reminder to those who refuse to see sex and sexuality as matters of public concern that are linked with every facet of our daily lives.

Government's Take : A Home Ministry affidavit, submitted in Delhi High Court, in response to a plea challenging Sec. 377 IPC and seeking to legalize homosexuality, stated that:

- * The basic thrust of the argument of pro-gay activists was the perceived violation of the fundamental liberties guaranteed in the Constitution. However, there was no violation of fundamental liberty as long as any homosexual/lesbian act was practiced between two consenting adults in privacy as in the case of heterosexuality.
- * While it could not police morality in a civil society criminal law had to express and reflect public morality and concerns about harm to the society at large.
- * The existing law reflects public morality and should stay though it added that the state would turn a blind eye if homosexuality is practiced between two consenting adults in private.
- * In India, Section 377 of the Indian Penal Code has been basically used to punish sexual abuse to children and to compliment lacunae in the rape laws. It has rarely been used to punish homosexual behavior. The provision became operable only when there was a report to the police for either sodomizing or bugging.

Conclusion : The universality of human rights demands that prevailing and dominant cultural and social norms cannot be invoked in a manner as to circumvent or restrain fundamental and constitutional rights. Cultural reactions in some societies or sectors cannot be a valid reason for governments or parliaments to remain passive. On the contrary, this fact only underlines the need to promote greater tolerance in matters of sexual orientation.

By amending the antiquated and straitlaced S. 377 of IPC the State will be able to grant equal rights and equal protection, thus, bringing an end to the decades of ostracized existence of the LGBT. It would enable them with rights relating to housing, employment, public accommodation and the ability to offer financial and legal security to their families without any discrimination.

This would bring the objective of civil liberty of our country in tune with those developed nations of the world that have already recognized these rights. And help the government to fulfill its international obligation of securing equality and privacy rights for its citizens, including those who are LGBT, under the ICCPR.

References :

1. Protection of life and personal liberty - No person shall be deprived of his life or personal liberty except according to procedure established by law.
2. Preamble to the Constitution states that "We, the people of India, having solemnly resolved to constitute India into a [Sovereign Socialist Secular Democratic Republic] and to secure to all its citizens: Justice; Liberty; Equality and Fraternity."
3. [1994] IIHRL 27
4. Article 26: Freedom to manage religious affairs subject to public order, morality and health, every religious denomination or any section thereof shall have the right -(a) to establish and maintain institutions for religious and charitable purposes; (b) to manage its own affairs in matters of religion; (c) to own and acquire movable and immovable property; and (d) to administer such property in accordance with law.
5. Gays in China Step Out, With One Foot in Closet, New York Times, April 12, 2002, The Age: China's Gay Comrades Take First, Step 27 AUG 05
6. ILGA: "Annual Report 1996 - Part II" 1996
7. ILGA: "Annual Report 1996 - Part II" 1996
8. ILGA: "Annual Report 1996 - Part II" 1996
9. ILGA Annual Report 1996 - Part II: "Legal Status of Homosexuality"
10. Hindustan Times, New Delhi, December 22, 2005. Fact also available at hindustantimes.com
11. Hemal Ashar and Varsha Gopinathan, Homosexuals Want Outdated Law Changed, Mid Day, 17 August, 2005.



Reg. No. : N-1316/2014-15
Journal No. : 48796
UGC Approved

ISSN 2394-2207
May-October 2017
Vol. III, No. II, Part-II
IJJ Impact Factor : 2.011



सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

Reg. No. : N-1316/2014-15
Journal No. : 48796
UGC Approved

ISSN : 2394-2207
IIJ Impact Factor : 2.011



An International Half Yearly Refereed Research Journal (Art & Humanities)

Vol. : III

No. II, Part-II

May, 2017-October, 2017

सम्पादकद्वय
डॉ० राधेश्याम मौर्य
शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक
डॉ० मनोहर लाल

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

Ij{k&eMYk

M,0 pEik dekjh flg] प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
Mk0 ch0,u0 flg] पूर्व निदेशक, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०
M,0 gjh'kpUæ tk; lokYk] पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इविंग क्रिश्चियन महाविद्यालय, इलाहाबाद वि०वि०, उ०प्र०

IEiknd

M,0 jk/k';ke ek;] प्रवक्ता, जी०वी०आई०सी०, देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ०प्र०
f'koUn dekj ek;] शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Ig&IEiknd

Mk0 eukgj yky] असि० प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

{k=h; IEiknd

f'kojke ek;] हिन्दी विभाग, डॉ० हरि सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

vuokn Igk;d

Ieu yrk dekjh] शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ÁCU/k&IEiknd

Mk0 lhrk jke flg] एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
गणपत सहाय पी०जी० कॉलेज, सुलतानपुर, उ०प्र०
M,0 fot ;] प्रवक्ता, जी०वी०आई०सी० देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ०प्र०

IEiknd&e.MYk

Mk0 d".k dekj dkf'kd % प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
Mk0 fgjk'kh l lkdh % एसो० प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ सोशल एजुकेशन, हिरोशिमा विश्वविद्यालय, जापान
M,0 Öj.YkkYk % एसो०प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०
Mk0 lehj dekj ikBd % असि० प्रोफेसर, डी०ए०वी० पी०जी० कॉलेज, वाराणसी, उ०प्र०
M,0 ih;f'kdUr 'kek % एसो० प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, एम०डी०पी०जी० कॉलेज, प्रतापगढ़, उ०प्र०
Mk0 vfuy dekj ek;] % असि० प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ०प्र०
M,0 vjfoUn dekj % असि० प्रोफेसर, डॉ० हरी सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश
lUr""k dekj % विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जखिखनी, वाराणसी, उ०प्र०

i jke'k&e.My

डॉ० प्रकाश चन्द्र तिवारी, तोशिको ईदाका, डॉ० प्रचेतस, अशोक कुमार, अमित कुमार सिंह कुशवाहा, अंकिता चौधरी, सुशील कुमार

fof/k&i jke'k

Kku Ádk'k e0;] : पूर्व राज्य सूचनायुक्त, उ०प्र०
Mk0 vkn:k dekj : असि० प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
IEikndh; IEidl : जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, सी-23, आवास विकास कालोनी
प्रतापगढ़-230001 (उ०प्र०) भारत
मो०- 08004802456, 09415627372
वेब साइट: www.unmeshjournal.com
ई-मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrkr.maurya@gmail.com

idk'kd % tu lok ,o: 'kk/k f'k{kk lLFkk] प्रतापगढ़, उ०प्र०

eæd % jkt xkfQDI] बी०एच०यू० रोड, लंका, वाराणसी
ek0 % 09415842611@08081711954

u"V % सम्पादन, संचालन-पूर्णतः अवैतनिक/अव्यवसायिक/अनियतकालीन। उन्मेष में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं।
लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद के लिए लेखक की जिम्मेदारी स्वयं की होगी। सम्पादक, प्रकाशक एवं उन्मेष
परिवार के किसी भी सदस्य की जिम्मेदारी नहीं होगी। किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र प्रतापगढ़ होगा।



^M l rx# dh efgek vur**

छलछद्म और कपटपूर्ण समय में सतगुरु व पथ प्रदर्शक की पहचान बहुत मुश्किल है। इसमें गुरुजन का दोष नहीं है। यदि यह माना जाय कि सतगुरु के पहचान का संकट शिष्यों द्वारा पैदा किया हुआ है, तो ऐसे वे शिष्य कौन हैं? उनकी कोटियाँ क्या हैं? उनके शिष्यत्व की पात्रता क्या है? इसका बोध आवश्यक है। असल में इन प्रश्नों का उत्तर हमें अपनी परंपरा में ढूँढ़ना चाहिए, जहाँ गुरु और शिष्य के आदर्शात्मक रूप की उच्च मनोभूमि निर्मित है। हो सकता है गुरु व शिष्य के बीच पनप रही कड़वाहट और टकराहट का समाधान हमें वहाँ मिल सके। आज जो शिष्य अपने गुरु का अनादर कर रहे हैं क्या वे अपनी परम्परा को भूल गए हैं या कि वे अपनी परम्परा के अभागे शिष्य हैं। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिर्फ पठन-पाठन तक ही नहीं होता। हर शिष्य के लिए गुरु का ज्ञान उसकी संचित पूँजी होती है। जीवन भर खर्च करने के बाद भी वह समाप्त नहीं होती। गुरु की इस महत्ता से भली-भाँति अवगत होते हुए भी शिष्य अपने गुरु से कैसे बगावत कर जाते हैं? यह सोचने का विषय है।

गुरु आकाशधर्मा होता है। वह अपने शिष्यों पर समान दृष्टि रखता है, किंतु क्या प्राचीन काल से लेकर अब तक गुरुओं की यह तटस्थता बरकरार रही है। शायद इसका उत्तर नकार में ही मिले। आरम्भ से ही गुरु अपने शिष्यों के प्रति पक्षपाती रहे हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि इसके प्रमाण हैं, जो समय के साथ आज उठ खड़े हुए हैं। गुरुजनों के आदर्श और नियमों की चक्की में बहुत से शिष्य पिस चुके हैं। हमारी मानसिक चित्तवृत्तियों ने उन्हें अझेल भले बना दिया हो, किंतु समय और समाज की विसंगतियों को वे न झेल सके। यह सत्य है कि गुरु-शिष्य के आदर्श रूप द्रोणाचार्य और अर्जुन की आँच में एकलव्य और कर्ण जैसे शिष्यों को जलना ही पड़ा है। किंतु एक बात और है जिस सत्य से हम मुख नहीं मोड़ सकते, वह यह कि आज कितने विश्वामित्र गुरुओं ने राम जैसे शिष्य पैदा किए? बुद्ध, रैदास, कबीर और अम्बेडकर जैसे अध्येता इसी समाज की उपज हैं जिसे पचाने में बहुतों को बदहजमी हो रही है। शिक्षा जगत पर एकाधिपत्य जमाए एक विशेष वर्ग के गुरुओं का जब उन्मूलन होने लगा तब गुरु-शिष्य के सम्बन्ध स्वतः ही बदल गए। अधिकांशतः अब ये सम्बन्ध जातिवाद, वर्गवाद और क्षेत्रवाद की गिरत में आ चुके हैं। इसमें न तो शिष्य का दोष है और न ही गुरु का, पर उन सतगुरु महाराज का क्या दोष जिनकी पहचान को लोग धूमिल करने में लगे हुए हैं। कबीर ने जिसे कभी बड़ी शिद्दत से याद किया है—

l rx# dh efgek vur] vur fd;k mixkjA

ykpu vur m?kkfM;k] vur fn[kko.kgkjAA

इस बार का संपादकीय एक ऐसे आकाशधर्मा सतगुरु पर केन्द्रित है जिसने बिना किसी पक्षपात के अपने शिष्यों पर समान ज्ञान की वृष्टि की है। संयोग और सद्भाग्य है कि वे स्वयं इस उन्मेष (पत्रिका) के सम्पादक भी हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० राधेश्याम मौर्य इस समय जी०वी०आई०सी०, देल्हूपुर, प्रतापगढ़ में प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हैं। आपने अपने जीवन में सदैव संघर्षों का ही वरण किया है। यही सीख आप सदैव अपने शिष्यों को भी देते आये हैं। पठन-पाठन से आपका अटूट रिश्ता रहा है। पेशे से शिक्षक तथा सामाजिक कार्यकर्ता व पर्यावरणविद् के रूप में आपकी विशेष पहचान है। 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' आपके सम्पूर्ण जीवन में देखा जा सकता है। शिक्षा को समाज का महत्वपूर्ण अंग मानने व उसके प्रचार-प्रसार में आप सदैव रत रहे हैं जिसके कारण इस वर्ष आपको मानव संसाधन विकास मंत्रालय के 'स्कूल शिक्षा और साक्षरता विभाग' द्वारा egkefge jk"Vifr के हाथों ^jk"Vh; f'k{k d iijLdkj&2016* से नवाजा गया। राष्ट्रपति सम्मान के लिए आप जैसे सतगुरु का चयन हम सब के लिए केवल संतोषप्रद ही नहीं है, बल्कि नई ऊर्जा के संचार में काफी मददगार है। हम आपकी इस उपलब्धि पर 'उन्मेष' परिवार व अपनी ओर से हार्दिक बधाई व शुभकामनाएँ प्रेषित करते हैं। आपका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

uke % Mk0 jk/k';ke ek;!
 ekrk&firk % श्रीमती शिवपती मौर्य एवं श्री झुरई राम मौर्य
 f'k{k % एम0ए0—अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, हिन्दी
 एम0एस0सी0—रसायन विज्ञान
 पीएच0डी0— रसायन विज्ञान



i:dkf'kr iLrd: %

पर्यावरण रहस्य, जल और वायु प्रदूषण, प्रदूषण नियंत्रण और पर्यावरण योजना एवं प्रबंधन, जलवायु परिवर्तन तथा विलुप्तीकरण की चपेट में पृथ्वी, रासायनिक गणनाएं एवं प्रयोगिक रसायन, पर्यावरण एवं जैव संरक्षण, पर्यावरण अध्ययन, जल जीवन का वरदान, वृक्ष, आधुनिक रासायनिक गणनाएँ एवं प्रायोगिक रसायन जैसी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित।

IEiknu %

- ◆ उन्मेष (अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका)
- ◆ आलोक—पथ स्मारिका
- ◆ दामिनी स्मारिका

ijLdkj %

- ◆ महामहिम राष्ट्रपति द्वारा 'राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार-2016' से पुरस्कृत
- ◆ केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा कई बार पुरस्कृत
- ◆ आदर्श शिक्षक पुरस्कार (2004) जिलाधारी प्रतापगढ़ द्वारा पुरस्कृत
- ◆ भारतीय वाङ्मय पीठ साहित्य संस्कृति एवं कला को समर्पित साहित्यिक संस्था कोलकाता द्वारा 'कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर सारस्वत साहित्य सम्मान-2014'
- ◆ आई0एम0ए0, प्रतापगढ़ द्वारा उपजिलाधिकारी श्री जे0पी0 मिश्र के हाथों सम्मानित
- ◆ पर्यावरण मित्र सम्मान-2015
- ◆ शोहरतगढ़ इनवायरमेण्ट सोसाइटी सिद्धार्थनगर तथा 'बेल्हा लोक महोत्सव-2011' द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ अम्मा साहेब ट्रस्ट व देश शिल्पी विकास परिषद द्वारा सम्मानित
- ◆ सृजना साहित्य संस्था द्वारा 'प्रतापगढ़ गौरव सम्मान-2015'
- ◆ शिक्षाविद् सम्मान
- ◆ अवध साहित्यिक अकादमी करछना, इलाहाबाद द्वारा 'साहित्य गौरव सम्मान-2016'
- ◆ लखनऊ शिक्षक खण्ड के शिक्षक विधायक मा0 उमेश द्विवेदी द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ राज्य सूचना आयुक्त मा0 ज्ञान प्रकाश मौर्य द्वारा जनसूचना अधिकार के प्रचार-प्रसार के लिए प्रशस्ति-पत्र प्राप्त
- ◆ मा0 डॉ0आर0के0वर्मा (विधायक), मा0 रामसिंह (विधायक), मा0 नागेन्द्र सिंह यादव (विधायक), मा0 हरिप्रताप सिंह (नगर पालिका अध्यक्ष), मा0 प्रमोद कुमार मौर्य (जिला पंचायत अध्यक्ष), डॉ0 रेहाना सिद्दीकी (सदस्य राज्य महिला आयोग), मा0 मनभावती (ग्राम प्रधान देल्हूपुर) आदि द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ आकाशवाणी केन्द्र इलाहाबाद से विशेष जुड़ाव व कई बार वार्ता प्रसारित।
- ◆ स्वच्छ भारत अभियान, वृक्षारोपण कार्यक्रम, उ0प्र0 साक्षरता कार्यक्रम, पल्स पोलियो अभियान, पर्यावरण संरक्षण के लिए नेशनल साइकिलिंग अभियान, मतदान जागरूकता अभियान, आदि कार्यक्रमों में सक्रिय सहभागिता।
- ◆ राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों व कार्यशाला में प्रतिभागिता तथा शोध-पत्र प्रस्तुतीकरण।
- ◆ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शोध-आलेख प्रकाशित।

यह संक्षिप्त परिचय डॉ0 राधेश्याम मौर्य के बहुमुखी प्रतिभा को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। इस अंक के साथ ही 'उन्मेष' पत्रिका का तीन वर्ष भी पूर्ण हो रहा है। अपने तीन वर्षों के सफर में इस पत्रिका ने देश-विदेश के कई नामी विश्वविद्यालयों तक अपनी पकड़ व पहचान बनाई है। पत्रिका की गुणवत्ता के लिए सुधी पाठकों के सुझाव आमंत्रित हैं। आपके सुझावों से इसे और मजबूती मिलेगी। इस महनीय कार्य के लिए उन्मेष परिवार आपका सदा आभारी रहेगा। इसे सुव्यवस्थित प्रकाशित करने के लिए श्री राहुल मौर्य व श्री राजबाबू मौर्य का विशेष आभार।

f'koUn: dekj ek;!

■	ikphu Hkkjrh; l kfgR; e of.kr n.M dh mRifÜk ,o egÜo डॉ० जयन्त कुमार	1&4
■	21oh lnh d dK0; dh jpuk ÁfØ;k डॉ० कल्पना वर्मा	5&7
■	fgUnh dgkuh % efgyk dFkk y:[ku डॉ. विजय कुमार रंजन	8&10
■	ledkyhu fgnh miU;kl vkj vkfnoklh lekt dh leL;k, % ,d eY;kdu रवि शंकर शुक्ल	11&15
■	egkHkkjr e of.kr ;kx उपमा	16&19
■	L=h&nf"V dk oreku ifjn'; जी० गणेशन मिश्र	20&25
■	vkfnoklh lekt % lH;rk vkj v lH;rk dh vo/kkj.kk आनन्द कुमार पटेल	26&30
■	ledkyhu dgkfu;k e L=h&efDr dk Loj डॉ० रामचन्द्र रजक	31&35
■	lokin; n'ku vkj l kE;okn संजय कुमार चौहान	36&38
■	; 'kiky dh dgkfu;k e lkekftd pruk संध्या यादव	39&42
■	ekdl.M; dh dgkfu;k e eY;ck/k कुलदीप कुमार मोर्य	43&46
■	ykd l kfgR; ,o ifjfuf"Br l kfgR; dk vUr% l c/k डॉ० मीता सोलंकी	47&50
■	ek/koh ukVd e L=h Lokr«; dh pruk अंजली सिंह	51&53
■	Lukrd Lrjh; Nk=k dh lk;koj.kh; l pruk ij lk;koj.kh; f'k{k d iHkko dk v/; ;u डॉ० राजीव कुमार सिंह	54&55
■	vkpk;l egkohj i:lkn f}onh vkj fgUnh dgkuh डॉ० विनोद यादव	56&60
■	fgUnh miU;kl ^vdky lU/;k* e L=h foe'k डॉ० जय प्रकाश पटेल, अन्जू सिंह पटेल	61&64

■	xlr dkyhu vfhky; [kk e: ykdY; k.kdkjh Hkkouk, j स्नेहलता	65&69
■	mPp&ÁkFkfed fo kfFk; k d: fYk; ; ; "x d: vk; ke , o: Áòko सूर्य प्रकाश गोंड	70&74
■	cUny:h lLÑfr e: ykd no gjnkY विशाल विक्रम सिंह	75&79
■	Q.kh'oj ukFk j: .k % eyk vkpy dh vkpfydrk रत्नाकर यादव	80&84
■	orieku ifjn'; e: dchj रवीश कुमार यादव	85&87
■	nekg fty: dh loif{kr 'ko ifrek, j उमेश चन्द्र पाण्डेय	88&92
■	vk/kfud nfyr vkUnkyu vkj vix: th jk t शशिकेश कुमार गोंड	93&98
■	ukjh dh fLFkfr % euLefr d: ifji{; e: डॉ० राकेश कुमार मोर्य	99&101
■	fgnh e: x vkj miU; kl dk mn; चितरंजन कुमार	102&107
■	jk"Vh; vkUnkyu e: l jnkj cYYkHkHkbb: iV:y dh Hkfedk हरि प्रताप सिंह	108&112
■	t ; 'kdj Álkn dh j: xnf"V गौरव कुमार जायसवाल	113&118
■	c) , o: xk/kh d: n'ku e: vfgl k आनन्द शंकर तिवारी	119&121
■	nfer cpiu dk lp vkj ledkyhu fgUnh dfork ऋचा	122&126
■	cyHkn: i: lkn nhf{kr ^i<h l* dh dforkvk: e: vo/kh xkE; thou दीपिका दूबे	127&131
■	Hkkj rh; jk tuhfr e: fd lku , o: fd lku vkRegR; k आनन्द कुमार	132&135
■	ehjk d: dk0; e: vUrfufgr foæ"gh pruk v0j Ôfä dk0; निर्मला वर्मा	136&139
■	fL=; k: dh Hkk"kk vkj ledkyhu miU; kl सुधा पाल	140&144

■ tkfr dk loky vkj xk/kh dk fpUru अमिष वर्मा	145&151
■ xkj [kij ifj{k= e: lMd&ekx: dk fodk l ¼20oh: 'knh d: iFkek) l d: fo'k" k l UnHk: e% डॉ० मनोज कुमार तिवारी	152&158
■ ukV: ;'kkL=h; nf"V e: nroK;e सन्तोष कुमार	159&161
■ vkfnoklh thou&l?k"ki d: vnHkr fprj: jkd'k dekj flg ¼fo'k" k l nHk: % gy igkfM; k vkj egkvj. ; e: fx) miU; k l ¼ सुशील कुमार सिंह यादव	162&167
■ l l k e f ; d Hk ; kog ; FkkFK dh dgkuh % ekgunk l अजीत कुमार पटेल	168&171
■ dkfynkl dh dfr ; k e: l kUn ; ku'khyu गरिमा	172&175
■ Hkkjrh ; l l Ñfr e: ukjh d: fofHkUu # i प्रीति मिश्रा	176&178
■ L=h dk ; ki tu d: l Ee [k ijEijx r pukfr ; k dk rF ; kRed fo'y' "k. k पूजा दूबे	179&182
■ Hkkjrh ; iek. k fo k dk vkpk ; l fnukx dk ; kxnku डॉ० अनामिका सिंह	183&187
■ fgUnh miU ; k l k e: L=h pruk dk cnyrk Lo : i सविता रानी	188&192
■ ; kxn'ku e: fpUkofUk Lo : i fu. k ; निलेश मिश्र	193&194
■ ukdj'kkgh d: i: dkj % , d v / ; ; u डॉ० विद्याधर पाण्डेय	195&198
■ Human Right in Ancient India Raksha Singh	199-201
■ Impact of Leadership Style on Organizational Climate in the Indian Insurance Industry Dr. Dheeraj Negi and Mr. Deepak Birla	202-205
■ Client Outreach: Objective or Measurement Prashant Kumar Maurya	206-212
■ Sufism: Doctrine, Discipline, and Development in India Rahul Maurya	213-216

■	Timur: A Brief Analysis of History and Achievements	217-220
	<i>Mahar Salim</i>	
■	Non-Performing Assets in Microfinance	221-225
	<i>Pradeep Kumar</i>	
■	A Study of The Genderwise Influence of Adjustment On Teacher's Job Performance At Senior Secondary Level in Meerut District	226-230
	<i>Sarita Sharma</i>	
■	Effect Of Cooperative Learning And Metacognitive Strategies In Mathematics Class: An Experimental Study Of Class Viii Students	231-235
	<i>Bhuvaneshwari, Meenakshi Singh</i>	
■	The Influence of College Principals' Administrative Style on Morale and Organizational Commitment of Teachers	236-239
	<i>Sweta Agarwal Nee Sweta Sehgal, Dr. Meenakshi Singh</i>	
■	Bengali Refugees' Rehabilitation at Dandakaranya Project under Chairmanship of Sukumar Sen: His Views and Suggestions	240-246
	<i>Dr. Sutapa Das</i>	
■	Freudian views about Defense Mechanism	247-251
	<i>Alka Tripathi</i>	
■	Curriculum: A Vital Instrument for Reduction of Mental haze	252-255
	<i>Poonam Tiwari & Suryakant Kushwaha</i>	
■	Entrepreneurship Development Amongst the Minority Community (with special reference to Chhattisgarh state)	256-259
	<i>Dr. R. Shridhar & Abhinav Mishra</i>	

ikphu Hkkjrh; I kfgR; e of.kr n.M dh mRifÜk ,o egÜo

MkO t ;Ur dekj*

प्राचीन भारतीय चिंतको ने राज्य के सुदृढ़ता एवं स्थायित्व के लिए दण्ड की महत्ता को प्रतिपादित किया है। इसी कारण राज-नीतिशास्त्र को भी उन्होंने दण्ड नीति नामकरण किया। ब्राह्मण साहित्य में दण्ड नीति को प्रशासन का शास्त्र समझा गया, जिसका सम्बन्ध शासन कार्यों से था। भारतीय राजनीतिशास्त्री राजसत्ता का अन्तिम आधार दण्ड को ही मानते थे। दण्ड के संदर्भ में जो विवरण ब्राह्मण साहित्य से प्राप्त होता है उसमें धर्म तथा दण्ड को एक दूसरे से सम्बन्धित बताया गया है। धर्म कानून था और दण्ड धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले को दण्ड देने का अधिकार। राजनीति में दण्ड को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए प्राचीन हिन्दू विधि विशेषज्ञ कहते हैं कि दण्ड के भय से लोग धर्मानुकूल आचरण तथा स्वकर्म का परिपालन करते हैं। यह शासन संचालन के दृष्टिकोण से विज्ञान और कला दोनों थी।

यद्यपि राजा को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त था, परन्तु वह दण्ड देने के लिए स्वतंत्र नहीं था। वेदों में दण्ड के लिए प्रयोग किया गया है जिससे समाजिक संगठन सुव्यवस्थित बना रहे। परन्तु इसका स्पष्ट प्रयोग न्यायिक प्रशासन के रूप में नहीं किया गया है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में अपराध एवं दण्ड से संबद्ध तीन सूक्त हैं। ऋग्वेद में वर्णित है कि विराट के तप से ऋत तथा सत्य उत्पन्न हुआ और उसी से समुद्र, संवत्सर इत्यादि विकसित हुए।¹ सांख्य ने इसे दार्शनिक स्वरूप प्रदान करते हुए कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति सत्त्व, रज तथा तम से हुयी है। ऋत अथवा सत्त्व के काल में अपराध नहीं होते थे। इसी आधार पर दार्शनिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रारूप प्रस्तुत कर आदर्श युग की कल्पना की गयी। रज और तम के विकास के साथ मानव में मोह, लोभ, ईर्ष्या, धृणा, इत्यादि उत्पन्न हुआ जिससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न हुआ। सामाजिक सम्बन्धों में व्यसनों के उत्पन्न एवं उसके विकास होने से समाज में अराजकता उत्पन्न हुआ जिससे रोकने के लिए दण्ड की स्थापना की गयी।² सूत्रकारों के अनुसार दण्ड की उद्देश्य समाज की यथास्थिति की रक्षा करना था। शतपथ ब्राह्मण में दण्ड शब्द का प्रयोग शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जिसका उद्भव अपराध की निवृत्ति और धर्म की संविद्धि के लिए हुआ है और इसका सम्बन्ध राजा से था।³ राजा भी दण्ड से मुक्त नहीं था केवल मृत्युदण्ड से ही मुक्त था। आचार्य यास्क कृत निरुक्त में अपराधी व्यक्ति के लिए दण्ड शब्द का प्रयोग किया है और इसी प्रसंग में दण्ड शब्द की निरुक्ति दम् धातु से की है।

रामायण में वर्णित है दण्ड विधि पूर्वक एवं धर्मानुसार दिया जाना चाहिए। रामायण में एक स्थान पर राजा राम कहते हैं कि संसार में पुरुष के लिये अकृतज्ञों के प्रति दण्डनीति का प्रयोग ही सबसे बड़ा अर्थसाधक है। ऐसे लोगों के प्रति क्षमा, सान्त्वना और दान नीति के प्रयोग को धिक्कार है। धर्म के अनुसार दण्ड धारण करने वाले राजा के राज्य में प्रजा सुरक्षित रहती है तथा मृत्योपरान्त राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यदि राजा दण्ड देने में प्रमाद कर जाए तो उसे दूसरों के किये हुए पापों को भी भोगना पड़ता है।⁴ रामायण में धिक्दण्ड, वाक्दण्ड, अर्थदण्ड, वधदण्ड, बन्धनदण्ड इत्यादि दण्डों का विवरण प्राप्त होता है। महाभारत में वर्णन आया है कि दण्ड के अभाव में मत्स्य न्याय प्राबल्य हो जाता है। संसार में सभी कुछ दण्ड के अधीन है। दण्ड का जो स्वरूप है उसके कारण उसे व्यवहार कहा जाता है। संसार में धर्म का लोप न हो जाए इसलिए दण्ड की आवश्यकता है। दण्ड के सही उपयोग होने पर राजा को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि सदा होती रहती है। महाभारत में एक स्थान पर दण्ड के विभिन्न नाम—ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा, तथा जीव

*पोस्ट डॉक्टरेट फेलो, प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

से संबोधित करते हुए कहा गया है कि दण्ड से सुरक्षित हुई प्रजा ही इस जगत् में धनधान्य से सम्पन्न रहती है।^१ अर्थशास्त्र में दण्ड को राजा की प्रमुख शक्ति बताते हुए उसके तीन प्रकार मंत्रशक्ति (ज्ञान बल), प्रभुशक्ति (कोष एवं सैन्य बल), उत्साहशक्ति (विक्रम) बताया गया है। कौटिल्य कहता है कि इन तीनों बलों की उपस्थिति में राजा सशक्त अवस्था में रहता है, वहीं उसके अभाव में हीन अवस्था में रहता है। दण्ड का तात्पर्य अर्थशास्त्र में सेना से लिया गया है। कौटिल्य का मानना है कि सेना ऐसी होनी चाहिए जिसमें वंशानुगत स्थायी और वश में रखने वाले सैनिक भर्ती हों, जिनके स्त्री-पुरुष राजवृत्ति को पाकर पूरी तरह सन्तुष्ट हों, युद्ध के समय जिसको आवश्यक सामग्री से सुसज्जित किया जा सके, जो कभी हार नहीं खाता हो, दुख को सहने वाला हो, युद्ध कौशल से परिचित हो, हर तरह के युद्ध में निपुण हो, राजा के लाभ तथा हानि में हिस्सेदार हो और क्षत्रियों की अधिकता हो। इन गुणों से युक्त सेना दण्ड सम्पन्न कही जाती है।^२ अर्थशास्त्र में छह प्रकार की सेना मौलबल (राजधानी की रक्षा करने वाली सेना), भृतक बल (सवैतनिक सेना) श्रेणी बल (विभिन्न कार्यों में नियुक्त शास्त्रास्त्र में निपुण सेना), मित्र बल (मित्र राजा की सेना), अमित्र बल (शत्रु राजा की सेना) और अटवीबल (आटविक सेना) का विवरण प्राप्त होता है।^३ कौटिल्य दण्ड को राजा का अभूषण मानते हैं जो राजसत्ता एवं सम्प्रभुता का आधार है। मनुस्मृति में दण्ड के सन्दर्भ में विवरण प्राप्त होता है कि मत्स्यन्याय से पीड़ित प्रजा की रक्षा हेतु ब्रह्मा ने धर्मशास्त्र की रचना की और मनुष्यों को उसी शास्त्र के अनुसार शासन करने का आदेश दिया परन्तु दण्ड के अभाव में यह नीति असफल रही। परिणामस्वरूप ब्रह्मा ने धर्म के प्रतिकूल कार्य करने वाले को दण्ड देने के लिए राजा की सृष्टि की। इसलिए राजा को दण्डधर भी कहा गया है। दण्ड के भय से सभी प्राणी अपने-अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं। दण्ड से ही चारों आश्रमों की रक्षा होती है। परन्तु राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह देश, काल, दण्ड की शक्ति और विद्यादि को यथार्थ रीति से विचार करके अन्याय करने वाले मनुष्यों के लिए उस दण्ड का यथायोग्य प्रयोग करे। मनु का मानना था कि शास्त्र के अनुसार विचारपूर्वक दिया हुआ दण्ड सभी प्रजाओं को प्रसन्न करता है और बिना विचारे दिया हुआ दण्ड प्रयोक्ता को सभी ओर से नष्ट कर देता है।^४ शुक्र के अनुसार पापी को दण्ड देने का अर्थ है अपराधों को रोकना और सुसंस्कृत एवं सुसभ्य समाज की स्थापना करना था।^५

आरम्भिक बौद्ध चिंतकों का यह विचार था कि कभी सारे विश्व में स्वर्णयुग था, मगर बाद में सामाजिक असमानता, छल-कपट, चोरी आदि बुराइयाँ पैदा हो गयीं, जिन्हें समाप्त करने के उद्देश्य से राजा का शासन स्थापित किया गया। बौद्ध साहित्यों में राजनैतिक विवरण अल्प मात्रा में मिलते हैं क्योंकि उसका उद्देश्य समाज तथा धर्म-चिन्तन से सन्दर्भित था। दण्ड की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रथम विवरण जो बौद्ध साहित्य से प्राप्त होता है वह सृष्टि के सन्दर्भ में है। बौद्ध ग्रंथ सुत्तपिटक के दीघनिकाय में अग्रगण्य सूत्र में वर्णित है कि समय बीतने के बाद एक अवसर ऐसा भी आता है, जब इस लोक का संवर्त (प्रलय) होने लगेगा। इस लोक का प्रलय होने पर, इस लोक के (पुण्यात्मा) प्राणी स्वप्नारब्धवश आभास्वर लोक में चले जाते हैं। वे वहाँ मनोमय, प्रीतिभक्ष, स्वयम्भ्र, आकाशचारी एवं शुभस्थायी होकर बहुत समय तक वास करते हैं। बहुत समय बाद एक ऐसा अवसर भी आता है, जब इस लोक का पुनः विवर्त (उत्पाद) प्रारम्भ होने लगता है। ऐसा होने पर कुछ प्राणी (अपने प्रारब्ध वश) उस आभास्वर लोक से च्युत होकर यहाँ इस लोक में आकर वास करने लगते हैं। उस समय सर्वत्र जल ही जल होता है। परन्तु मानव लोभवश जल पर जमी पपड़ी का रसास्वादन करने लगता है। जैसे-जैसे मानव की तृष्णा बढ़ती गई उसका स्वाभाविक तेज विनष्ट होने लगा जिसके कारण क्रमशः चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, तारक समूह का प्रादुर्भाव होने लगा। इन सभी कारणों से, रात्रि-दिन, मास-पक्ष, ऋतु-संवत्सरों का ज्ञान होने लगा। इस प्रकार यह लोक पुनः उत्पत्तिक्रम में आ जाता है। पुनः पृथ्वी की रसा चाटते हुए उसी के भक्षण के अभ्यासी होते गए। परिणामस्वरूप शरीर की मृदुता विनष्ट हो गयी और उसमें कठोरता आ गयी तथा उनके वर्ण में विरूपता आने लगी। सत्त्व सुन्दर एवं सत्त्व कुरूपता की भावना आने से पृथ्वी का लोप हो गया और उसकी जगह भूमिपर्पटक प्रादुर्भूत हुई। जिसके सेवन से शरीर पूर्वापेक्षया अधिक कर्कश एवं विरूप होने लगा। इसके उपरान्त भद्रलता का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु तृष्णा के साथ वह भी लुप्त हो गयी।

उन सत्त्वों के लिए, भद्रलता के लुप्त होने पर, बिना हल से बोये पकने वाली शालि (जंगलीधान) की उत्पत्ति होने लगी। वह चावल का फल कण एवं तुष रहित परन्तु सुगन्धियुक्त था जिसे वे सायंकाल लाते वह रात्रि भर में पककर प्रातः खाद्य बन जाता था। ज्यों-ज्यों मानव उस अकृष्टपच्य शालि को खाते रहे, त्यों-त्यों उन प्राणियों के शरीर की मृदुता विनष्ट होती गयी और कठोरता आती गयी और उनमें स्त्री-पुरुष के चिन्ह प्रकट होने लगे। उनके यों परस्पर एक-दूसरे को अत्यधिक देखने से राग उत्पन्न होने लगा, राग

से उनके शरीर में कामाग्नि प्रकट हुई। वे उस परिदाह से परस्पर मैथुन धर्म में सम्पृक्त हो गये। कालान्तर में मैथुन को धर्मसम्मत माना जाने लगा। जब मानव पुनः अत्यधिक व्यासक्त रहने लगे तो उन्होंने लोकलज्जा से बचने के लिए घर बनाना प्रारम्भ किया। पुनः शालि को संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया, परिणामस्वरूप इस पापकर्म के कारण तण्डुल पर कण और भूसी भी आ गयी तथा शालि का उगना भी कम हो गया। इसके कारण सभी ने मिलकर—विचार विमर्श कर शालिक्षेत्रों को परस्पर बाँट लिया और उन क्षेत्रों की मेड़ बाँध दी। परन्तु लोभवश एक मानव दूसरे का धान चुराकर खाते पकड़ा गया। उसने अपना यह कार्य नहीं छोड़ा। परिणामस्वरूप जनता में निन्दा, मिथ्या भाषण इत्यादि पापकर्मों में बढ़ोत्तरी होने लगी। पुनः सारे मानव ने एकत्र होकर विचार किया और यह निर्णय लिया कि हम एक ऐसे प्राणी का निर्वाचन कर लें, जो हमारे निन्दनीय कर्मों की निन्दा करें, उचित कर्मों को हमें बतलाता रहे और दण्डनीय को दण्ड दे। इसके बदले में हम उस व्यक्ति को अपने शालि का छटा भाग प्रदान करेंगे।¹⁰

जैन साहित्य में वर्णित है कि अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में आठवा भाग, अवशेष रहने पर 'युगलियों' के रूप में 'कुलकरों' की उत्पत्ति हुई। 'युगलियों' अर्थात् एक लड़का और एक लड़की के साथ उत्पन्न होता है। लड़का और लड़की एक अन्य 'युगल' को जन्म देकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं जो बाद में दम्पति कहलाते हैं। 'कुलकर' व्यवस्था से पूर्व किसी प्रकार का सामाजिक संगठन नहीं बना था। जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएँ दोनों कम थीं। मानव, भोजन, वस्त्र इत्यादि इच्छाओं की पूर्ति कल्पवृक्षों के द्वारा करता था। उस समय मानव सहज स्वभाव से अपने कार्यों को क्रियान्वित करते थे। दस प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते थे।¹¹ उस समय न कोई शासक, न कोई प्रजा, न कोई सेवक। अवसर्पिणी काल के तीसरे आरा में इस व्यवस्था में इस परम्परा का ह्रास दिखाई देने लगता है। भूमि का रस, चीनी से भी ज्यादा जो मीठा था, कम होने लगा। तीन, दो और एक दिन के बाद की भोजन की परम्परा टूटने लगी, कल्पवृक्षों की शक्ति भी क्षीण होने लगी। ऐसी परिस्थिति में कुलकर व्यवस्था का उद्भव हुआ।¹²

कुलकर व्यवस्था में जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और पूर्ति के साधन कम होने लगे। परिस्थितियों में मानवीय स्वभाव में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति के बीच पनपने लगे। अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नयी व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। जिसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का जन्म हुआ। मानव कुल के रूप में संगठित होने लगा। इन कुलों का एक मुखिया होता था, जिसके लिए कुलकर सम्बोधन मिलता है। यह सर्वसत्ताधीश होता था।¹³ जैन मान्यतानुसार राजपद से पूर्ण सम्पूर्ण भारतवर्ष में कुलकर व्यवस्था थी। इनका कार्य कुल की रक्षा करना तथा नीति नियम बनाना था। उस काल में युद्ध आदि प्रचलित नहीं थे।¹⁴

कुलकरों के सम्बन्ध में स्थानांग, समवायांग और भगवतीसूत्र में सात कुलकरों का उल्लेख है वहीं जिनसेन द्वारा रचित महापुराण में चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पन्द्रह कुलकरों का नाम प्राप्त होता है। इन दोनों मान्यताओं में विमलवाहन नाम के कुलकर की चर्चा मिलती है।¹⁵ विमल वाहन कुलकर के सन्दर्भ में यह विवरण मिलता है कि किसी समय वन प्रदेश में घूमते हुए एक मानव युगल को एक श्वेत वर्ण के हाथी को देखा। इस हाथी को देखकर युगल को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और उसने स्नेहवश उस हाथी की पीठ पर बैठ गया। उस कुल के अन्य व्यक्तियों ने जब इस घटना को देखा तो इसे आश्चर्यजनक माना और यह विचार व्यक्त किया कि यह गजारूढ़ व्यक्ति हम सभी में श्रेष्ठ है। इसीलिए इसे हम अपना नेता चुन ले। उज्ज्वल वाहन होने के कारण लोग उसे विमल वाहन कहने लगे। इससे पता चलता है कि उस समय कुलकरों का वाहन हाथी था। विमल—वाहन ने सबके लिए मर्यादा निश्चित की और माया मर्यादा का उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की।

उपर्युक्त कुलकरों के समय तीन प्रकार की दण्ड नीति प्रचलित थी— हक्कार, मक्कार, धिक्कार। जब कोई व्यक्ति मर्यादा का उल्लंघन करता तब 'हा' तूने क्या किया, ऐसा कहना ही अपराधी के लिए दण्ड था। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इसी दण्ड को कठोर दण्ड मानता था। एक दण्डित होने पर पुनः गलती नहीं करता था। इस प्रकार बहुत समय तक यह नीति चलती रही। पुनः जब लोग 'हा' करने से नहीं मानने लगे और अपराध करते रहे तब उच्च स्तर में 'मा' अर्थात् मत करो कहकर अपराधी को दण्ड दिया जाता था। मानव स्वभाव में पूर्व की अपेक्षा परिवर्तन आ गया। जब मानव 'हा' और 'मा' नीति का भी उल्लंघन करने लगा तब 'धिक्कार' नीति का आविर्भाव हुआ। इस समय

का मानव चतुर एवं दुष्ट प्रवृत्ति का हो गया था। जैन आगमों में वैसे सात प्रकार की दण्ड नीतियों का उल्लेख मिलता है। चौदह कुलकरों और सात कुलकरों के समय तीन दण्ड नीतियों प्रचलित थी। बाकी चार दण्ड नीतियों ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती के समय प्रचलित हुई।¹⁶

अन्तिम कुलकर नाभि के समय प्रारम्भ हुई 'धिव्कार' दण्ड नीति का जब उल्लंघन होने लगा तथा 'युगलिको' को कल्पवृक्षों से जो भोजन प्राप्त होता था, वह अपर्याप्त रहने लगा जब वे घबराकर ऋषभदेव के पास पहुँचे। जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव अन्तिम कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवी से उत्पन्न हुए थे। ऋषभदेव के सन्दर्भ में विष्णुपुराण में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मा ने अपने से उत्पन्न अपने स्वरूप तुल्य को प्रथम मनु बनाया। पुनः मनु को प्रियव्रत से आग्नीध आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए। आग्नीध से नाभि और नाभि से ऋषभदेव उत्पन्न हुए।¹⁷

अन्तिम कुलकर नाभि के समय लोगों ने अव्यवस्था से त्रस्त होकर ऋषभदेव को राजा बनाना चाहता तो उन्होंने अपने पिता नाभि के पास भेज दिया और पुनः नाभि ने अपनी वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए ऋषभदेव को ही राजा बनाने की बात कही।¹⁸

अभिलेखों में भी दण्ड की महत्ता का विवरण प्राप्त होता है। अशोक के अभिलेखों में दण्ड में समता, दण्ड में छूट¹⁹ तथा दण्ड देने की शक्ति का विवरण प्राप्त होता है।²⁰ खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में हमें घोड़े, हाथियों, पैदल तथा रथों से युक्त सेना का उल्लेख प्राप्त होता है। जो खारवेल की शक्ति का परिचायक था।²¹ इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्ड न केवल सफल राज्य के संचालन के लिए बल्कि समाज को अराजकता से दूर रखने के लिए भी आवश्यक था।

I UnHk %

1. आचार्य, श्रीराम शर्मा : 2007, ऋग्वेद-10/190/1 संस्कृति संस्थान, बरेली।
2. पाण्डेय, रामनारायणदत्त शास्त्री : 2010, महाभारत, शांतिपर्व, 287/8-4, गीताप्रेस, गोरखपुर।
3. वेबर, अल्बर्ट: 2010, शतपथ ब्राह्मण, 5/4/4/7, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली।
4. पाण्डेय, रामनारायणदत्त शास्त्री : 2010, रामायण, किष्किन्धाकाण्ड-18/24-34, गीताप्रेस, गोरखपुर।
5. वही, शांतिपर्व 121/8-35
6. गैरोला, वाचस्पति : 2009, अर्थशास्त्रम् (कौटिलीय), 6/96-97, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
7. वही, 9/137-39/2
8. प्रलयङ्कर, प्रवीण : 2004, मनुस्मृति, 7/16-19, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली
9. मिश्र, ब्रह्मशंकर : 2008, शुकनीति, 1/23-25, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
10. शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास : 2005, दीघनिकाय-3, पृ0 651-63, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी
11. राय, धनपति सिंह : 1946, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पृ0 2, जैन प्रभाकर प्रकाशन, कलकत्ता
12. विजय, कल्याण : 1975 तित्थोगाली पड़ण्य, पृ0 15, श्वेताम्बर जैन संघ, जालौर
13. जैन, पन्नालाल : 1993, आदिपुराण, 3/51-70, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
14. वही, 3/95-98
15. वही, 3/140-42
16. वही, 3/195-199
17. वही, 3/213-20
18. वही 3/227-38
19. गुप्त, परमेश्वरीलाल : 2004, अशोक का चतुर्थ स्तम्भ अभिलेख, पृ0 58, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
20. वही, तेरहवाँ शिलालेख, पृ0 35
21. वही, खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, पृ0 9



210h lnh d d k0; dh jpuk ÁfØ;k

Mk0 dYiuk oek*

20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 21वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के सबसे बड़े आलोचक देरिदा का मानना है कि कविता की रचना भाषा के द्वारा होती है। इसके पूर्व कविता ट्रेंक्यूलिटी है यह वर्डस्वर्थ ने कहा था। राम चन्द्र शुक्ल मानते हैं कि कविता तो बुद्धि की यात्रा है हृदय के साथ। बुद्धि और हृदय के समन्वय के तमाम स्वरूप 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक फैले और विकसित हुए। अनुभूति का भी बहुत महत्त्व रहा है कविता में। काव्यशास्त्रियों ने भी गण, रस, स्फोट, ध्वनि, अंलकार आदि को काव्य का प्रस्थान बिन्दु माना है।

देरिदा जीवन के प्रत्येक पहलू को एक संरचना मानता है। उसके लिए जीवन मूल्य भी एक संरचना है। यह संरचना तोड़ी भी जा सकती है। उसके लिए सत्य, मिथ्या, धर्म, आस्था आदि सब संरचनात्मक अवधारणाएँ हैं। इसे भी तोड़ा और पुनः सृजित किया जा सकता है। इसे मानने वाले आलोचक हिन्दी में भी इस अवधारणा को पुष्ट करते हैं। इसके लिए निराला की कविता fuo:l u ugk jgh ' ;kek का उदाहरण पर्याप्त है। अगर हिन्दी में यह अनुवाद कर दिया जाए कि नंगी काली कलूटी नहा रही है तो अभद्र लगता है। अब दोनों वाक्यों को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि fuo:l u ugk jgh ' ;kek एक काव्यात्मक उक्ति है जबकि दूसरे का सम्बन्ध ठेठ भाषा से है। वहाँ किसी भी प्रकार के काव्य का सौन्दर्य बोध नहीं है।

यही बात एक भिन्न उदाहरण से भी सिद्ध की जा सकती है— अमीर खुसरो एक बार कहीं यात्रा पर थे। उन्हें बहुत प्यास लगी तो वहाँ की पनहारियों से उन्होंने पानी पिलाने का आग्रह किया। पनहारियों ने पूछा — rē dku gk\ खुसरो ने कहा e: dfo gA इस पर पनहारियों ने कहा कि ge d:l: eku: fd rē dfo gkA उन्होंने यह भी कहा कि ge fo" k; nri: g] rē dfoŷk cukvk] fQj ge eku yix: rē dfo gkA एक ने कहा कुत्ता, दूसरी ने कहा चरखा, तीसरी ने कहा ढोल और चौथी ने कहा खीर। अमीर खुसरो ने इन्हे संयोजित करके एक कवित्त तुरन्त गढ़ा—

[khj idk; h tru l:
pj[kk fn; k pyk;
vk; k dŷkk [kk x; k
r: cBh <ky ctk; A

यह उदाहरण किसी महान कविता का तो नहीं है परन्तु चार असम्बद्ध शब्दों को जोड़ कर एक नये अर्थ की व्युत्पत्ति कर रहा है। वे आलोचक जो भाषा को ही कविता का संरचनात्मक आधार मानते हैं उनके लिए यह महत्वपूर्ण काव्य आधार है। काव्य की रचना—प्रक्रिया चूंकि भाषा द्वारा बनती है और भाषा एक सामाजिक अवदान है इसलिए कविता की सृजन प्रक्रिया भी अन्ततः एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसके ठीक विपरीत पिछली शताब्दियों में काव्य रचना एक नितान्त व्यक्तिगत और निजी प्रक्रिया मानी जाती रही हैं।

सामाजिक हो या आन्तरिक, दोनों ही अवस्थाओं में कविता की रचना प्रक्रिया में कवि कथ्य को समाज के द्वारा ही ग्रहण करता है। उसे अपने मानोमय कोश में तरतीब देता है और पुनः उसे समाज को अर्पित कर देता है। कविता का संरचनात्मक ढांचा हर समय समाज के परिप्रेक्ष्य में ही घटित होता है।

समाज को यदि शून्य कर दिया जाए तो कविता भी शून्य की ओर अग्रसरित होने लगेगी। शून्य काव्य वाला समाज अन्ततः एक बेरहम और वीभत्स समाज हो जाएगा।

कविता मनुष्य की भावनाओं के कोमलतम पक्षों का अनुशासन है, जो अपनी वृत्ति में संक्षिप्त होता है। कहानी और उपन्यास का चरित्र विवरणात्मक होता है, जबकि कविता विवरणों से परहेज करती है। कविता अपने कथन की संक्षिप्तता के कारण अधिक अर्थ व्यंजक हो जाती है। कविताओं में अर्थ शब्दों में वास नहीं करता। उसका वास शब्दों के बीच में और पंक्तियों के बीच में होता है। आस्वादक काव्य भाषा के अन्तर्गत अर्थ का सन्धान करता है।

पिछली शताब्दियों में काव्य को बाह्य अनुशासनों द्वारा भी सजाया-संवारा गया था। अलंकार, छन्द, बिम्ब, प्रतीक ये सब कविता के बाह्य अनुशासन थे। अब कविता इनसे बाहर आ गयी है। सामान्य बोलचाल की भाषा कविता की भाषा हो सकती है। रीति काव्य में एक ही कविता के कई अर्थ निकलते हैं। बिहारी के $jk/kk ukxj \quad l k;$ के अर्थ काव्य से लेकर औषधि विज्ञान तक निकाले गये। परन्तु 21वीं शताब्दी की कविता के दो अर्थ नहीं होते। अर्थ के दो स्तर होते हैं। इन दोनों स्तरों के बीच आपसी तनाव में कविता घटित होती है—

$l kfgR; d Hkk''kk eyr\ cky pky dh Hkk''kk g t k fofHkUu jpukdkjk dh l' t u if\ ; k$
 $e: lekfr gkdj viu lECU/k ifjofr dj yrh gA dfo fo'k''k d: vuHko dh vf}rh; rk$
 $l: l; Dr gku: ij mldh vFk {kerk e: db: idkj d: vUrj mRiUu gk tkr gA Lo;:$
 $ckypky dh Hkk''kk d: viu db: : i vkj Lrj gkr: g] ij ; gk mudh ppk vfHk:ir ughA$
 $l kfgR; d Hkk''kk d: fo'k''kr\ fiNy: db: l k o''kka e: nk : i gk x; : g& dfork dh Hkk''kk vkj$
 $x| dh Hkk''kA dkO; Hkk''kk dgu: ij ge nkuk: dk gh mld: vUrxr lekfr dj yr: gA$
 $dfork dh vkj x| dh Hkk''kk e: x| dh Hkk''kk cky&pk y dh Hkk''kk d: vi{ k; k fudV gkrh$
 $gA bl i: l x e: lkeU; x| vkj dgkuh] miU; k l] ukVd d: l' tukRed x| d: vUrj dk$
 $Hk ge: Lej. k j [kuk gA igy: idkj dk x| cky&pk y d fudV gkxk] n l j: idkj dk x|$
 $dfork d: fudV gkxkA bl idkj lkeU; n'V l: Hkk''kk d: pkj i: kx Lrj gk tkr g&$
 $cky&pk y dh Hkk''kk] x| dh Hkk''kk] l' tukRed x| dh Hkk''kk vkj dfork dh Hkk''kA$

(रामस्वरूप चतुर्वेदी, काव्य भाषा पर तीन निबन्ध, पृष्ठ-65)

21वीं शताब्दी की एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि काव्य में गद्य और पद्य का भेद मिट गया। गैर पद्यात्मक अथवा गद्यकाव्य का प्रचलन तेजी से उभरा है। उदयन बाजपेयी, गगन गिल आदि की कविताएँ इसका उदाहरण हैं। गगन गिल की पंक्तियाँ हैं—

$ng dh eMj ij$
 $vkjr i:rh\{kk djrh g$
 $ckgj v/kjk g$
 $Hkhrj v/kjk gA$

इसमें पद्य कहीं नहीं है लेकिन पाएटिक डिक्शन (काव्यात्मक कथन) प्रबल है। इस तरह कविता ने अपने पुराने अनुशासन का भी अतिक्रमण कर दिया है।

कविता का अस्तित्व कवि के अस्तित्व से भिन्न और स्वतन्त्र भी है। इसलिए कविता रचने के बाद वह केवल कवि की नहीं रह जाती, बल्कि आस्वादकों की अभिरुचि में परिणत हो जाती है। उदाहरण के लिए धूमिल की कविता मोची राम को लिया जा सकता है। धूमिल कहते हैं—

$ej fy, gj vkneh ,d t kMh tirk g$
 $t k ej: lkeu: ejEer d fy, [kMk gA$

20वीं शताब्दी में यह पंक्तियाँ धूमिल ने मोची को इंगित कर के लिखी हैं पर 21वीं शताब्दी का आस्वादक इसे भारतीय स्त्री का कथन मान लेता है कि हर आदमी एक जोड़ी जूता है जो मरम्मत के लिए

है। यहाँ मरम्मत का अर्थ विस्तार हो जाता है कि यह मरम्मत जूते की है या स्त्री की यह संदिग्धता है। इस संदिग्धता में पोएटिक डिक्शन अपना आधार ग्रहण करता है।

वास्तविकता यह है कि आज एक नयी विश्व व्यवस्था वैश्विक पटल पर उभर रही है। इसका सीधा प्रभाव कविता पर भी दिखायी दे रहा है। विश्व परिप्रेक्ष्य में जो नये किस्म का साम्राज्यवाद स्थान बना चुका है उसमें जनता की इच्छाएं, तमाम आन्दोलन, राष्ट्रीयता की भावनाएँ आदि सब बिना किसी योग्यता के सीमित कर दी गयी हैं। यह भयावह परिणति आज के रचनाकार के समक्ष अभूतपूर्व समस्या है। कविता इनसे जूझ रही है। इसका प्रतिरोध किस रण नीति से किया जाए यह अभी बहुत स्पष्ट नहीं है। नरेश सक्सेना की इन पंक्तियों में कवि की तड़प देखी जा सकती है—

vj: dkb: n[kk
ej: vkxu e: fxjk dV dj
fxjk ejk uhe
fxjk ejh lf[k;k dk >yuk
cV: dk ikyuk fxjk
mMh ml dh fpm;k
n[kk mMk mudk “kkj
n[kk ,d ?kk l yk fxjkA

कविता से रचना के आन्तरिक पक्ष, अन्तः सौन्दर्य का बोध होता है। साथ ही कलापक्ष अर्थात् बाह्य स्वरूप भी अभिव्यक्त होता है। आधुनिक काल के पूर्व तक कविता शब्द का प्रयोग कवि कर्म के लिए ही होता था। 21वीं सदी तक आते-आते कविता अंग्रेजी की पोएम और उर्दू की नज्म के रूप को आत्मसात कर चुकी थी। आज स्थिति यह है कि कविता छन्द की कारा से मुक्त होकर मात्र लय के आधार पर अपनी गति बनाये हुए है। गद्य और कविता की भाषा में अन्तर विम्बगटन के कारण बना हुआ है। कविता का कसाव उसे कवितापन से जोड़े हुए है।

l UnHk %

1. सम्पादक सत्य प्रकाश मिश्र, काव्यभाषा पर तीन निबन्ध
2. सिया राम तिवारी, साहित्यशास्त्र और काव्य भाषा
3. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान
4. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी, भाषा और संवेदना



fgUnh dgkuh % efgyk dFkk y[kku

MkO fot ; dekj jitu*

स्त्री की चाहत क्या है ? यह अभी तक अस्पष्ट इसलिए है क्योंकि कुछ भी अपनी इच्छानुसार चाहना उसके लिए सर्वथा एक अनजाना एहसास है। इस सृष्टि में स्त्री ही एकमात्र ऐसी जाति है जो हजारों लाखों वर्षों से पराधीन है। “इसलिए स्त्री को ‘अन्तिम उपनिवेश’ कहा गया है।”¹ जैसा कि कोई भी उपनिवेश अचानक से एक दिन में नहीं तोड़ा जा सकता। एक लम्बे संघर्ष के पश्चात उपनिवेश की पकड़ कुछ ढीली पड़ती है। पश्चिम में जहाँ स्त्रियों की एक बड़ी संख्या स्वतंत्रता और समानता के प्रत्येक पहलू का अनुभव कर रही हैं, वे अब पूर्व की भाँति रहस्यपूर्ण नहीं रहीं। उनकी स्वतन्त्रता का यथार्थ वैसा ही नग्न है जैसा कि वहाँ के पुरुष। वैश्विक जगत में उदारीकरण, भूमण्डलीकरण की घटनाओं ने जैसे-जैसे अपने बहुआयामी प्रभाव से लगभग प्रत्येक चीजों को प्रभावित किया, इससे स्त्रियाँ भी अछूती नहीं रही। इसका असर केवल पश्चिम में ही नहीं हुआ बल्कि हमारे भारतीय परिवेश में भी नारियों की स्थिति में काफी कुछ परिवर्तन हुआ। स्त्रियों की अस्मिता, स्वाभिमान और आत्मविश्वास को बढ़ाने हेतु स्त्री सशक्तिकरण के नारे बुलंद हुए।

महिला सशक्तिकरण को लेकर एक अलग और यथार्थवादी कथा का सूत्रपात श्याम जांगिड़ ने किया भारतीय परिवेश में। उनका मन्तव्य है— “मेरा तो मानना है कि भारत में स्त्री का सम्मान यथायोग्य है। सामाजिक बनावट में सम्बन्धों की लम्बी कड़ियों के मुताबिक स्त्री का वर्चस्व बरकरार है। जहाँ गरीबी और अज्ञानता का अन्धकार है वहाँ की बात क्या करें ? वहाँ तो स्त्री-पुरुष दोनों पीड़ित हैं। सबसे अधिक स्त्री अशिक्षा मुसलमानों में है। जब तक मुस्लिम महिलाएँ शिक्षित नहीं होंगी उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझेगा।” उनकी स्वीकारोक्ति इस बात में भी है कि — ‘स्त्री पर होने वाले अत्याचारों में स्त्रियाँ भी आगे होती हैं’। अनामिका एक स्त्रीवादी लेखक हैं तथा उन्होंने इस लेखन की पक्षधरता को स्वीकार करते हुए स्पष्ट किया है कि स्त्रीवादी रचना की भाव-भाषा अलग है और महिला लेखिकाओं को उन्हें उसका श्रेय दिया जाना चाहिए। आज स्त्रीवाद लिबरल हो चुका है। उनका यह मानना है कि “पक्षधरता ही स्त्री मुक्ति का माध्यम बन सकता है। हाँ उसे घटनाओं को ध्यान में रखना होगा जिससे समाज का जीवन— प्रभावित हुआ। उनकी दृष्टि में वैयक्तिक आत्माओं का सामाजिक सन्दर्भिकरण ही स्त्री लेखन का लक्ष्य है। स्त्रीवादी लेखन उन्हीं से जुड़ा है जो संतुष्ट थे, पीड़ित थे या संत्रास, कुण्ठा, पीड़ा, दुःख आदि के जनक थे। वे यह भी स्वीकार करती हैं कि 20वीं सदी में स्त्रीवादी लेखन से सदियों से संतुष्ट नारी मुक्ति की सामूहिक भावना सामने आई।”² अब यह सर्वसम्मति से स्वीकार्य हो चुका है कि स्त्री और पुरुष दोनों का लेखन एक ही नहीं है।

स्त्री लेखिकाओं ने अपने लेखन में उन कारकों को प्रमुख रूप से अपना मुद्दा बनाया है, जिनमें वे सामाजिक, विसंगति पर चोट तथा पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले अत्याचार, बलात्कार एवं लैंगिक भेद का खुलासा बेबाक और यथार्थवादी तरीके से करती हैं। उनके इस खुलेपन को साहित्य की भाषा में अश्लीलता की संज्ञा से नवाजा गया है। मैनेजर पाण्डेय साहित्य की अश्लीलता पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि — “अश्लीलता एक अर्थ में पुरुषवादी वर्चस्व को कायम रखने का माध्यम है। काम सम्बन्धों के बारे में स्त्री का अपना अनुभव, अपनी संवेदना और अपनी दृष्टि को न सिर्फ अस्वीकार किया जाता है बल्कि नैतिकता की दुहाई देकर इसका दमन भी किया जाता है।”³ इस संबन्ध में सुधीश पचौरी ने एक अलग धारणा प्रस्तुत की है तथा ‘पूँजीवाद’ को केन्द्र में रखते हुए यह स्पष्ट किया है कि आज

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

के दौर में स्त्री विमर्श और स्त्री लेखन तथा स्त्री की दशा के पीछे 'पूँजीवाद' ही मुख्य वजह है। इन्होंने 'एडवर्टीजमेन्ट' को भी मुख्य दोषी माना है इसे फैलाने में। "स्त्री के नए उपकेन्द्र के समक्ष और प्रत्यक्ष होने को जिस चीज ने संभव किया है वह पूँजीवाद का नया रूप है जो हर मनुष्य को श्रमिक और उपभोक्ता बनाए दे रहा है।"⁴

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि स्त्री लेखन ने जिस यथार्थ को अपने अनुभव से संजोकर उसे व्यापकता और गहराई प्रदान की एक मानदण्ड है। लेखन के स्तर पर चाहे जो भी स्वीकृति या अस्वीकृति रही हो, लेकिन इस द्वन्द्व से उभरकर स्त्री लेखिकाओं ने खुद की एक अलग पहचान बनाई है। बदलते समय के साथ स्त्रियों के लोक में भी परिवर्तन हुआ है। स्त्रियों के द्वारा जिस लोकापेक्षी समाज का सपना देखा गया वह कितना सच है इसकी पड़ताल उनके द्वारा किए जा रहे लेखन से करना समीचीन होगा।

तत्कालीन समय में जिन स्त्री-कथाकारों ने अपनी लेखनी से आज के बनते-बिगड़ते लोक को अपनी कहानियों में पकड़ने की सफल कोशिश की है, उन सभी का एक-एक करके नाम गिनाना असंभव तो नहीं लेकिन दुरुह कार्य अवश्य है। अतः कुछ कथा लेखिकाओं की महत्वपूर्ण कहानियाँ जिनमें स्त्री के बनते-बिगड़ते लोक का उद्घाटन हुआ है उनका विश्लेषण किया जा रहा है।

कहानी लेखन में मैत्रेयी पुष्पा का नाम काफी चर्चित है। उन्होंने स्त्री के उस स्वरूप को उद्घाटित किया है, जिसमें स्त्री अपने नग्न यथार्थ तथा खुद के आन्तरिक व्यक्तित्व के साथ उपस्थित है। 'ललमनिया' कहानी में कुछ इसी तरह का वर्णन है। कथानायिका ललमनिया द्वारा विवाह के अवसर पर लोकप्रचलित नृत्य की अद्भुत प्रस्तुति के कारण एक युवक द्वारा जीवन साथी के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। लेकिन युवक के घर वाले उसे अपनाने से मना कर देते हैं। इस स्थिति में उसे खुद का और उसकी दूधमुही बच्ची का जीवनयापन स्वयं करना पड़ता है। एक लम्बे समयान्तराल के बाद जब उसका पति उसके सामने आता है एक अजीब से प्रस्ताव के साथ (नए विवाह के लिए) तब कथानायिका एक विकल्पहीन स्थिति में पहुँच जाती है।

इन्दिरा राय की कहानी 'पल भर का सच' एक सामान्य सी कहानी है। जिसकी नायिका यह जानकर कि उसका पति उसे संतान देने में असमर्थ है, वह बच्चे की किलकारियों की लालसा में अपना शरीर अपने जीजा को सौंप देती है। कहानी का नायक अनिल पत्नी के कोख की सम्पन्नता से चकित होता है और अपनी असमर्थता से परिचित होने के बावजूद अंत में निर्णय करता है कि — "क्या होगा डाक्टर के पास जाकर। कहीं अमृत के स्थान पर हलाहल निकल आया तो ? परिणाम के भयावह आतंक से निकलकर थके अनिल को यह लगा कि संगीता का प्रेम भरा आमंत्रण ही इस पल का सबसे बड़ा सच है।" यहाँ इस मानसिकता पर जोर दिया गया है कि नारी सब कुछ सह सकती है, पर अपने कोख के सूनेपन को सहन नहीं कर पाती। इन्दिरा राय ने स्त्री के अन्तर्मन के इस कमजोरी को बड़े ही संजीदगी और यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है।

महाजन की कहानी 'एंटीक' गोगी नामक एक लड़की की जीवनगाथा की कथा-व्यथा को स्वर देती है। आज के भागम-भाग और चकाचौंध के दौर में प्यार और परिवार की युवा-वर्ग के मन में कोई कीमत नहीं है। कैरियर पहली चीज है बिना इसके जिन्दगी का कोई महत्व नहीं। समाज में आ रहा इस तरह का बदलाव कितना सही है, कितना गलत ये तो भविष्य ही तय करेगा, लेकिन एक बात तो जरूर है कि आज के युवा वर्ग को शान्ति नसीब नहीं है।

उर्मिला शिरीष की कहानी 'चीख' समाज में व्याप्त एक घृणित समस्या को सिद्धत से उठाती ही नहीं है, बल्कि उसे एक सकारात्मक अंत तक भी ले जाती है। यह कहानी एक ऐसी लड़की की कहानी है, जो बलात्कार का शिकार होती है पर मानसिक यंत्रणा के दौर से गुजरती है। वह अपने माँ-बाप, भाई-बहन, समाज तथा स्वयं को झेलती नजर आती है। परन्तु कहानी के अन्त में वह डाक्टर शोभना के समझाने पर एक नई उमंग के साथ समाज के साथ टकराने को कुछ करने को और कुछ बनने की इच्छा शक्ति से उठ खड़ी होती है।

स्त्री-विमर्श की चर्चित कहानीकार के रूप में सुधा अरोड़ा भी एक हस्ताक्षर हैं। इनकी कहानी 'सुजाता तनेजा की जिन्दगी का आखिरी दिन' अति-संवेदनशील है। बंगाल में होने वाली शादी की रस्मों से

भरी हुई यह कहानी सुजाता की शादी को एक बोझ के रूप में स्वीकार करती है, जिसे उन्होंने दूसरे को सौंप दिया। इस कहानी में इस सच को भी सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि लड़कियों की जिन्दगी वहीं तक होती है, जब तक वह माता-पिता के छाँव में पलती-बढ़ती हैं। विदाई के समय सुजाता का पथराया हुआ चेहरा इस बात का प्रमाण देता है कि लड़कियों की जिन्दगी हर एक के लिए बोझ बन जाती है।

लवलीन की कहानी 'चक्रवात' आज के आधुनिक स्त्री-पुरुष का प्रहार है। इस कहानी के माध्यम से लवलीन ने पुरुष तथा स्त्री के बीच यौन-आकर्षण का रेखांकन किया है। आज के समाज का पुरुष दूसरी स्त्री के प्रति आकर्षित होकर उससे यौन संबंध तो बनाता है, पर वह अपनी पत्नी से डरता भी है। कहानी का नायक रणजीत इसी तरह अपनी दोस्त कीर्ति से संबंध बनाता है। कीर्ति यह मानती है कि यह वासना का जलजला था जिसमें दोनों बह गये। वह इतना भी नहीं समझ पाती कि उसकी हार हुई है या जीत। वह कहती भी है— 'मैं उन्हें बहुत प्यार करती हूँ, बहुत चाहती हूँ।' ⁵ वह रणजीत की पत्नी सुमन से डरती भी है।

क्षमा शर्मा स्त्री-विमर्श की एक चर्चित कथाकार हैं। 'लव स्टोरी' इनकी बहु-चर्चित कहानी है, जिसमें आज के लोक, समाज और जन-मानस की संवेदनाओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। महानगर के जीवन पर आधारित बस ड्राइवर के साथ ही दिलीप ताहिर के विचारों को अभिव्यक्त करती हुई कहानी है। वह नारी जगत की असलियत को उजागर करते हुए कहता है कि "पछताना क्या है ये औरतें जो अंदर बैठती हैं न दस-दस यार रखती हैं। जब हम-तुम जैसों को ये यार बनाने को तैयार हैं, सिर्फ बैठने के लिए, तो और किसी के साथ तो क्या न करती होंगी? इनमें और रंडियों में क्या फर्क है।" ⁶

दूर्वा सहाय की कहानी 'बोध' यह दर्शाती है कि हम पाश्चात्य संस्कृति के चक्कर में धोखा खा गए। कहानी के एक सफर का दृश्य प्रस्तुत किया गया है जिसमें कथा नायिका जेस्सी की अनुदशा का चित्रण भी है, जो सफर के दौरान एक विदेशी परिवार में रुचि लेती है। इनकी एक दूसरी कहानी 'प्रेत-मुक्ति' ⁸ पारिवारिक त्रासदी के भंवर में फँसे व्यक्ति के मनःस्थिति के बारीक रेशों से बुनी हुई है। उसके व्यक्तित्व में, प्रेम-प्रसंग में हुई असफलता और रेल के आगे आयी औरत के अपराध बोध से गिरा या ध्वंस-मानस है। कोई भी तत्व अलग-थलग नहीं जो नायक के व्यक्तित्व का निर्माण करे।

नासिरा शर्मा की कहानी 'एक दूसरा कबूतर' ⁹ संवेदना को उभारने में सफल है। यह मुस्लिम सम्प्रदाय की बहु-विवाह प्रथा की खामियों, त्रासदियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। पुरुष अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए हमेशा स्त्रियों का शोषण करता आया है और कबूतर की तरह उसकी निरीहता का दोहन भी करता है। सारा राय की कहानी 'बारिश' ¹⁰ अपने परिवेश का चित्रण प्रस्तुत करती है। मल्का का पति माजिद सत्रह वर्ष पहले कहीं चला जाता है। मल्का तो उसकी प्रतीक्षा नहीं करती किन्तु वर्षा की एक रात माजिद वापस आता है, जिसकी जानकारी मल्का को पहले से हो जाती है। वह अपनी नौकरानी पन्ना को सुबह ही बता देती है कि आज सत्रह साल बाद सरकार घर आ रहे हैं, और माजिद घर पहुँचता है। वही जिन्दगी जीने के लिए जो उसे दी गई थी। यह भी स्त्री विमर्श के उस नए आयाम को साबित करती है कि जो पतियों से प्रायः पत्नी को सौगात मिलती है। पत्नी को दुःख पहुँचाता है। स्वयं सुख की तलाश में वह भटकता है पर सुख नसीब नहीं होता। सुख मिलता है, उसे परित्यक्ता की गोद में ही।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि अपनी रचनाओं में स्त्री कथाकारों के द्वारा स्त्री लोक के जिस पक्ष का उद्घाटन किया गया है, वह पुरुष वर्चस्ववादी सत्ता के खिलाफ है या स्त्री सशक्तिकरण को वैचारिक आधार प्रदान करने वाला विचारणीय प्रश्न है।

I UnHk %

1. राजकिशोर, स्त्री के लिए जगह, पृ०- 5	6. हंस, नवम्बर-दिसम्बर, 1994, पृ०- 20
2. आलोचना, अप्रैल-जून, 2002, पृ०- 113-115	7. हंस, अगस्त, 19984
3. हंस, नवम्बर-दिसम्बर, 1994, पृ०- 28	8. हंस, अगस्त, 2000
4. हंस, नवम्बर-दिसम्बर, 1994, पृ०- 34	9. हंस, फरवरी, 1998
5. हंस, अगस्त, 1996, पृ०- 23	



ledkyhu fgnh miU;kI vkj vkfnokIh lekt dh leL;k, % ,d eY;kdu

jfo 'kdj 'kDy*

आज भारत जहाँ तेजी के साथ प्रगति के रास्ते पर अग्रसर है वहीं आदिवासी समाज उससे दोगुनी रतार से पतन की तरफ अग्रसर हो रहा है। आदिवासी समाज को हाशिए पर लाने में हमारा तथाकथित समाज महती भूमिका अदा करता है। यदि शासन-प्रशासन की बात की जाए तो ये लोग आदिवासियों को विमर्श के दायरे में लाने में बहुत हद तक जिम्मेदार हैं। आदिवासी समाज आज भी अपने आप को वैज्ञानिकता से अनभिज्ञ और अछूता मानते हैं। वर्तमान समय में विकास के नाम पर आदिवासियों के साथ हो रहे भेद-भाव की वजह से ऐसा समय आ गया है कि आदिवासी समुदाय को अब अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। आदिवासी समाज अपनी जीवन-शैली को जिंदा रखने के लिए मुख्य समाज के लोगों से दूरी बनाता ही जा रहा है। आदिवासी समाज के लोगों को अभी तक समाज में वह दर्जा नहीं दिया गया है जो तथाकथित समाज के लोगों को मिलता रहा है। आदिवासियों को उन सभी व्यवस्थाओं से महरूम रखा गया है जिनके वे हकदार हैं। आदिवासी समाज के पास अपना जीवन व्यतीत करने के लिए कोई साधन नहीं है। यदि आदिवासी समाज अपने लिए किसी भी प्रकार की व्यवस्था या अधिकार की माँग करता है तो उनकी उस माँग को असंवैधानिक करार दिया जाता है और उसे आदिवासी विद्रोह का नाम दिया जाता है। इस समाज की ओर साहित्य की दृष्टि भी लम्बे समय तक नहीं पड़ी, यदि कहीं पड़ी भी है तो आधी अधूरी लेकिन अब हिन्दी साहित्य में आदिवासी स्वर मुखर हो चुका है।

वर्तमान समय अस्मिता-विमर्शों का समय है। अस्मिताओं का आविर्भूत होना आज के समय की महत्वपूर्ण घटना है। आज का समय अब तक उपेक्षित पड़े और खदेड़े हुए समुदायों के सामने आने का समय है। स्त्री अस्मिता एवं दलित अस्मिता आज लगभग प्रत्येक देश में विमर्श और अस्मिता के बहस का मुख्य विषय बनता जा रहा है। वर्तमान समय में अस्मिता का प्रश्न भूमंडलीकरण के नारों को चुनौती देता हुआ उठ खड़ा हुआ है। यह निजी पहचान को बचाए रखने की लड़ाई है। इसलिए प्रभावित समुदाय को ही नहीं बल्कि समाज के शक्ति-सम्पन्न लोगों को भी इस दिशा में सोचना और आत्म-मंथन करना होगा तथा आगे बढ़कर इस प्रसंग में सहयोग करने की पहल करनी होगी। स्त्री एवं दलित अस्मिता के शोर में कहीं न कहीं आदिवासी विमर्श दबा हुआ सा है। आदिवासी समाज के सामने आज अपने अस्तित्व को लेकर सबसे अधिक संकट है जो लगातार गहराता जा रहा है। आज हम विकासशील देशों की सूची में गिने जाते हैं पर हम यह भूल जाते हैं कि जिन आदिवासियों को विस्थापित करके हम विकसित होना चाहते हैं वो भी इसी देश और समाज के मूल तथा महत्वपूर्ण अंग हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में किसी एक अंग का विकास न हो तो वह विकलांग कहलाता है। वह कभी भी पूर्ण विकसित मानव नहीं बन सकता। इसी तरह आदिवासी समाज का भी अन्य समाज की तरह ही समुचित और निरन्तर विकास होना चाहिए तभी हम पूर्णरूप से एक विकसित देश का निर्माण कर सकते हैं।

जहाँ तक हिन्दी साहित्य की बात है यदि उनमें आदिवासियों की स्थिति देखी जाय तो आदिवासी लोगों में सबसे अधिक भय अपनी सुरक्षा एवं विस्थापन को लेकर है। इनके विस्थापन में देखें तो दो कारक

*शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, राजा राममोहनपुर, जिला- दार्जिलिंग प. बंगाल,

मुख्य रूप से काम करते हैं एक तो परम्परागत सोच और दूसरी आधुनिकता। ऐसी स्थिति में हिन्दी साहित्य आदिवासी समाज के प्रति कितना न्याय करता है यह देखने की जरूरत है। समकालीन समय में कुछ ऐसे साहित्यकार हैं जो इस दिशा में अपनी सक्रिय भूमिका प्रस्तुत करते आ रहे हैं, उनमें हरिराम मीणा, श्रीप्रकाश मिश्र, रणेंद्र, विनोद कुमार, संजीव का नाम प्रमुख है।

अंग्रेजों द्वारा भारतीय स्वतंत्रता का जो इतिहास लिखा गया उस इतिहास में से महान क्रान्तिकारी वीर बिरसा मुण्डा और भील विद्रोह, संथाल विद्रोह, ताँतिया को संगठित करने वाले वासुदेव बलवंत फड़के को डाकू और लूटेरा कहा गया और भारतीय समाज ने ऐसे लिखे इतिहास को उसी तरह स्वीकार भी किया है। पुंजा भील, महादेव कोली, तिलका माँझी, वीर राघोजी, बाजीराव और गोविन्द गुरु का नाम बहुत ही गौरव के साथ लिया जाना चाहिए।

साहित्य उपक्रम से जनवरी 2008 में हरि राम मीणा का 'धूणी तपे तीर' उपन्यास का प्रकाशन हुआ जिसमें आदिवासी संघर्ष के नाम से एक विस्तृत एवं वास्तविक घटना है जिसको इतिहासकारों ने एक मामूली सा उपद्रव का नाम देकर सच्चाई से मुँह मोड़ लिया। एक आदिवासी रचनाकार के द्वारा लिखे गए इस उपन्यास में ब्रिटिश सरकार एवं सामंती मिलीभगत के प्रति किए गए राजस्थान के आदिवासी समुदाय के विद्रोह की कथा निहित है। ब्रिटिश सरकार की जब सामंतों के साथ संधि हुई तो सामंत लोग आदिवासी लोगों को उनकी जमीन-जंगल से बेदखल करने लगे। उनसे उनकी जमीन को हथियाने का जाल बुनने लगे, जिसमें उन्हें अंग्रेजों का भी समर्थन मिल रहा था। इस कारण आदिवासियों का शोषण बढ़ गया, जिसके चलते इन आदिवासी लोगों में विद्रोह की भावना आ गई। यह विद्रोह केवल उस क्षेत्र विशेष का नहीं था बल्कि यह पूरे राज्य में फैलने लगा तथा इस विद्रोह ने कई रियासतों को अपनी चपेट में ले लिया। इस आन्दोलन का नेतृत्व डूंगरपुर के गोविंद गुरु ने किया। इस आन्दोलन में गोविंद गुरु को आदिवासी नायक पुंजा का भी पूरा साथ मिलता है, जिसके कारण पूरे आदिवासी लोगों का विश्वास भी उसे हासिल हो जाता है। वे लोग आदिवासी लोगों को सुधारने और समझाने का काम करते हुए एक क्रान्तिकारी संगठन तैयार करते हैं और तब सन् 1913 में शोषकों से आर-पार की लड़ाई लड़ी जाती है। इस आन्दोलन में शिरकत के लिए लगभग 25,000 आदिवासी मानगढ़ पहाड़ पर एकत्रित होते हैं। अंग्रेजों ने इस विद्रोह का पूरी तरह दमन कर दिया। इस घटना में कम से कम 15,000 आदिवासी मारे जाते हैं और अनेक घायल भी होते हैं तथा गोविंद गुरु को बचे हुए आदिवासियों के साथ गिरफ्तार कर लिया जाता है। यह आदिवासी दमन जलियांवाला बाग हत्याकांड से भी अधिक निर्मम था। अनेक ऐसे आदिवासी विद्रोह हैं जिसे तथाकथित लोगों ने अपने निजी स्वार्थ के चलते दमन किया है। जिसे आज के संदर्भ में समाज के सामने लाने की आवश्यकता है।

आदिवासी अस्मिता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है उनके जल, जंगल और जमीन। यह उनके जीवन का वह अंश है, जिसके बिना आदिवासी अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आखिर प्रकृति की यही तो वह सत्ता है, जिसने उन्हें तब संभाला जब उन्हें मुख्यधारा के तथाकथित सभ्य लोगों ने उनके (आदिवासियों) ही द्वारा निर्मित संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें आबादियों से दूर ठेल दिया। चिरकाल से जंगल और आदिवासियों के बीच परस्पर सहयोग एवं सह-अस्तित्व का संबंध रहा है। आदिवासी समाज मुख्यधारा के समाज की तरह संचयन एवं दोहन की विचारधारा में विश्वास नहीं करता है। वह इस मामले में सभ्यता के आदिम समाज की लोक एवं प्रकृति के प्रति व्यक्त उस आस्था का विश्वासी है कि जितनी आवश्यकता हो, उतना ही ग्रहण किया जाए। यह प्रकृति के प्रति उसके दोस्ताना रवैये का उत्तम उदाहरण है। इसके साथ ही वह प्रकृति के संरक्षण का एक निमित्त भी ठहरता है। कहना न होगा कि प्रकृति उसकी माँ, उसकी आराध्या भी रही है। आज विकास की राजनीति के नाम पर आदिवासियों को उनके जंगलों से भी खदेड़ दिया गया है। जंगलों पर वन विभाग का कब्जा हो गया है। यह बड़ा ही विचित्र-सा संयोग है कि संसार के उन हिस्सों में जहाँ आदिवासियों की बस्तियाँ या उनके आवास-उनके जंगल रहे हैं, वहीं प्राकृतिक संसाधनों जैसे वनोपज एवं खनिज पदार्थों की जमकर

लूट-पाट हुई है। ऐसा लगता है कि अपनी जमीन के प्राकृतिक संसाधनों को लूट लेने के बाद इन तथाकथित विकास की पक्षधर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपनी धन-पिपासा को और बढ़ाने के लिए जंगलों की ओर अपना रुख किया। कहना न होगा कि यदि आदिवासी स्वार्थी होते तो जंगलों में इतने समय तक ये प्राकृतिक संसाधन इस प्रकार सुरक्षित-संरक्षित न बने रहते। पूंजी और पूंजीवाद के वैश्वीकरण के दौर में यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तथ्यों के अपने राजनीतिक एवं आर्थिक निहितार्थ हैं। वनोपजों विशेषतः लकड़ी एवं खनिज पदार्थों का दोहन तो हुआ परंतु इन क्षेत्रों में न तो आदिवासियों को नौकरियाँ मिलीं और ना ही इन स्थानों पर कोई वैकल्पिक उत्पादन की व्यवस्था हुई। यदि कुछ हुआ तो बस इतना ही कि लूट के बाद इन क्षेत्रों का परित्याग कर दिया गया। मसलन झारखंड के ढेरों ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें कोयला खनन के बाद जहरीले धुएँ एवं जमीन के नीचे लगी आग के हवाले कर दिया गया। यहाँ रहने वाले आदिवासियों को मरने के लिए उनके हाल पर उन्हीं रासायनिक पदार्थों के साथ छोड़ दिया गया जो प्रकृति, पर्यावरण एवं समस्त जीव-जगत के लिए विनाशकारी हैं। उनकी भूमि के अधिग्रहण के बदले में किए गए वायदे फिर चाहे वे भूमि की कीमत देने से जुड़े हों या फिर वहाँ खुल रही सरकारी या गैर-सरकारी संस्थाओं में नौकरी देने से संबंधित हों, कभी पूरे नहीं किए गए। उनके पुनर्वास की कोई व्यवस्था नहीं हुई। कहना न होगा कि इन हिस्सों में कभी भी पूर्ण उत्पादन या निर्माण के रचनात्मक पक्ष पर विचार ही नहीं हुआ। यह कल्याणकारी पूंजीवाद का दौर नहीं है बल्कि यह तो बेशर्म पूंजी का दौर है जहाँ राष्ट्रध्वज्य और उसकी सेना, प्रशासन सब इसी तरह की पूंजी के संरक्षक हैं। पूंजीवाद का चेहरा हर रोज बदल रहा है। ऐसे में उसकी पहचान कर उसके षड़यंत्रों को बेनकाब करना बड़ा ही कठिन काम है। इस आवारा वैश्विक पूंजी ने जल, जंगल और जमीन जैसी कुदरती चीजों से भी आदिवासियों को महारूम कर दिया। एडवर्ड सर्ईद ने कभी इसे सैल्यूजिन्स्की के साथ एक साक्षात्कार के दौरान पश्चिमी उपनिवेशवाद के विरोध में कहा था— “मेरी पीढ़ी के पास विस्थापनों एवं निर्वासनों की एक शृंखला है जिसकी क्षतिपूर्ति असंभव है। संस्कृतियों के बीच जीने का अनुभव मेरे लिए एक बहुत गंभीर चिंता का विषय रहा है”। यह स्थिति आदिवासियों पर भी उतनी ही लागू होती है।

हिन्दी उपन्यासों ने बहुत हद तक आदिवासियों के प्रति हो रहे शोषण को दिखाने का प्रयास किया है। उपन्यासकारों ने अपने रचना कर्म से यह दिखलाया है कि इन भोले-भाले आदिवासियों के साथ हो रहे भेद-भाव और शोषण का जिम्मेदार हमारा सभ्य कहा जाने वाला समाज ही है। आदिवासियों के प्रति शोषक वर्ग के शोषण को समाज के सामने यथार्थ के रूप में प्रकट किया है। शोषक वर्ग अपने क्षणिक काम-लोलुपता के चलते इनकी बहू-बेटियों पर हाथ डाल देता है। इतना ही नहीं अपने विकास के लिए इन्हें इन्हीं की जमीन से बेदखल कर देता है। इनकी आर्थिक स्थिति को देखते हुए कुछ समुदाय तो ऐसे हैं जो इन भोले-भाले लोगों को धन का लोभ देकर इनका धर्म परिवर्तन कराना चाहते हैं। इस तरह से तथाकथित समाज अपने फायदे के अनुसार सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से आदिवासियों का शोषण कर रहा है।

यदि समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी स्त्रियों की चर्चा करें तो संजीव के उपन्यास धार एवं जंगल जहाँ शुरु होता है, विनोद कुमार का समर शेष है, राजेन्द्र अवस्थी का जंगल के फूल तथा मैत्रेयी पुष्पा के अल्मा कबूतरी उपन्यास की विशेष रूप से चर्चा की जा सकती है। इन सभी उपन्यासों में आदिवासी स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार को देखा जा सकता है। “जंगल जहाँ शुरु होता है” उपन्यास की बात करे तो इसमें स्त्री शोषण को देखा जा सकता है। इस उपन्यास में मलारी नामक पात्र का स्त्रीत्व तार-तार होता है। जो दारोगा जाँच-पड़ताल के लिये मलारी के पास जाता है, तो उस दारोगा की नीयत गन्दी हो जाती है। “तुम कितनी अच्छी हो ! कितनी सुन्दर ! वह उसके हाथों पर हाथ रखता है। वह प्रतिकार नहीं करती। धीरे-धीरे उसके हाथ आगे बढ़ते हैं, तुम्हें देखकर कोई अपने वश में कैसे रह सकता है ? वह उसकी नर्म जाँघों और गोलाइयों को दुलारता है। मलारी आँख मूँद लेती है। हाथ ब्लाउज की ओर बढ़ते हैं। बटन खुलती है एक-एक कर। वह आँख खोल लेती है जैसे वहाँ भी कोई बटन हो” संजीव का ‘धार’ नामक उपन्यास मैना नामक आदिवासी औरत के आस-पास चक्कर काटता है। संधाल परगना

की आदिवासी औरतें रात को अपना शरीर बेचती हैं। यह लाचारी भी कही जा सकती है। एक रात मैना ने – “ एक ट्रक की ओट से देखा बसंती एक सरदार से बात कर रही है। शायद ड्राइवर हो। फिर उसने देखा कि झोपड़ी से तुरिया निकली। तुरिया और यहां? और वह आदमी इसे पैसे दे रहा है? दूसरी झुगियों की गैस की रोशनी में उसे एक गुलगुलिया लड़की शोभा दिख गई, उसके साथ एक संताली लड़की भी थी, दोनों नशे में धुत्त। एक चिनगारी—सी चिरचिराई। तो इसका मतलब यह हुआ कि आसनसोल लक्ष्मीपुर की तरह यहां भी रात को चकला चलने लगा।”²

उपन्यासकार रणेन्द्र ने ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास में जिस झारखंड राज्य को अपनी कथा का केन्द्र बनाया है, वह एक सामान्य राज्य नहीं है। उस झारखंड राज्य की धरती के गर्भ में अपार खनिज—सम्पदा है जिसका पूरा उपयोग वहाँ की सरकारें करती हैं, फिर भी वहाँ के लोगों का कोई विकास होता नहीं दिखाई देता है। इसका स्पष्ट दृश्य इस उपन्यास में दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास को पढ़ते समय पता चलता है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कंपनियां भी इनका शोषण किया करती हैं। इस उपन्यास की दृष्टि मल्टीनेशनल कंपनियों पर पड़ी है। झारखंड में अनेक कंपनियां आती हैं जो यहाँ के जमीनों से खनिजों को अत्यधिक मात्रा में निकाल कर ले जाती हैं और वहाँ के लोगों को दफन होने के लिए केवल गढ़े छोड़ जाती हैं “अभी तो आप आये ही हैं। देखिएगा कि मक्का की एक बरसाती फसल के भरोसे जिन्दगी कितनी कठिन हो जाती है। मजदूरी और जंगल का सहारा न हो तो लोग आसाम और भूटान निकल जायेंगे। लेकिन एक तरफ इन खानों ने मजदूरी दी तो दूसरी तरफ बर्बादी के सरेजाम भी खड़े किये। पिछले पच्चीस तीस सालों में खान मालिकों ने जो बड़े— बड़े गड्डे छोड़े हैं बरसात में इन गड्डों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी”³

‘काला पादरी’ तेजिन्दर गगन का एक श्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास में मध्यप्रदेश के आदिवासियों का चित्रण है। मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में रहने वाले आदिवासियों की अपनी सामाजिक, आर्थिक समस्याएँ हैं, जिन्हें लेखक ने इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। इस क्रम में लेखक ने चर्च संबंधी छद्म को यहाँ उभारा है। आदिवासियों एवं किसानों की आर्थिक समस्या एवं अंधविश्वास, जादू—टोना, भूत—प्रेत आदि को मानने वाली प्रथाओं की चर्चा भी उक्त उपन्यास में की गई है। इसके साथ ही ईसाई समुदाय के छद्म को भी आलोच्य उपन्यास में बेनकाब किया गया है। अर्थाभाव में आदिवासियों से छिन रही उनकी धार्मिक पहचान के मुद्दे को भी उपन्यासकार ने बड़े ही कायदे से इस उपन्यास में उठाया है। उपन्यास में बैलजियम से आये फादर लोग गरीब आदिवासी लोगों को प्रभु ईसु का संदेश सुना कर तथा अनेकों के प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन का काम करते हैं। फादर मैथ्यूज कहता है क इसका बाप काम करते हमारे पास आया था और तब हमने उसे दूध दिया और जीसस क्राईस्ट की फोटो दिखाया। वह कहता कि हमने इसे जबरन ईसाई नहीं बनाना है। कथा का नायक जब फादर से प्रश्न पूछता है कि ‘बट हाउ कुड यू मैनेज टू कन्वर्ट दैम ? तब फादर उत्तर देता है “न.... न.... यही तो गलतफहमी है कि हमने उनको ईसाई बनाया, यह तो प्रभु के इच्छा से हुआ, राज इन सबसे बेगार करता था, राजा का जो देवी लोग था, वह भी राजा बेटा के साथ देता था, खाखा बेटा का नहीं, खाखा का मतलब जानता है, जेम्स बताया होगा कि खाखा पक्षी को बोलते हैं, काला पक्षी ,काला कौआ, हमको प्रभु काले पक्षी के वास्ते इधर भेजा राजा के वास्ते नहीं , प्रभु ने इनको दूध दिया ,खाना दिया कपड़ा दिया ,तो प्रभु का शुक्राना तो इनको देना था ना, वह ये लोग दिया, हम इनका बपतिस्मा किया, ये प्रभु का इच्छा था।”⁴

कथाकार शानी का उपन्यास ‘साँप और सीढ़ी’ में इस तरह की समस्या दिखाई पड़ती है। ‘धान माँ का एकलौता पुत्र दयाशंकर शहर के चकाचौध से अपने आप को बचा नहीं पाता है और अपनी संस्कृति एवं परम्परा से विचलित होकर पास्टर पहुँच के भोली—भाली जनता का धर्म परिवर्तन कर आदिवासी हिन्दुओं को ईसाई बनाता है। शानी लिखते हैं “पास्टर के सहयोग से कैयों ने नौकरियाँ कर लीं, मास्टरनियाँ हुई और आराम—इज्जत की जिन्दगी गुजार रही हैं, बिलई जो जबलपुर की किसी ट्रेनिंग में है और अगर आज डोली कन्ही पास्टर के पास होती तो आदमी बन गयी होती।”⁵

इस तरह हम देख सकते हैं कि आदिवासी समाज की अपनी समस्याएँ हैं मगर आधुनिकता की

अंधी दौड़ में उस ओर हमारी नजर नहीं जाती या यह कहें कि हम उस ओर देखना ही नहीं चाहते। स्त्री और दलित की समस्याओं को लेकर समाज का एक बड़ा तबका चिंतित है क्योंकि वहाँ ग्लैमर है, एक्स्पोजर है, मीडिया है, परंतु जंगल में रहनेवालों के लिए सोचने का समय ही कहाँ है? न वहाँ मीडिया है और न ही ग्लैमर। हिंदी के उपन्यासकारों ने इन जंगलों की खाक छानकर, आदिवासी समुदायों के साथ समय व्यतीत कर, उनकी समस्याओं को देखकर, भोगकर, उसे महसूस करके रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है परंतु विडंबना यह है कि विमर्शों के दौर में हाशिए पर पड़े समाज के विभिन्न तबकों को मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास हो रहा है लेकिन आदिवासियों को पुनः हाशिए पर धकेल दिया जा रहा है।

UnHk §

1. संजीव, जंगल जहाँ से शुरू होता है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ-181
2. संजीव, धार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ-114
3. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ-13
4. तेजिन्द्र गगन, काला पादरी, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, 2004 पृष्ठ-44
5. शानी, साँप और सीढ़ी, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली 1981, पृष्ठ-140



egkHkkjr e of.kir ;kx

miek*

गीता की मूल अवधारणा क्या है? इस विषय पर विभिन्न विद्वानों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। आचार्य शङ्कर इसमें ज्ञानयोग की प्रधानता स्वीकार करते हैं तो रामानुजाचार्य भक्तियोग की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। यही नहीं यदि इनके परवर्ती चिन्तकों का यदि हम अवलोकन करते हैं तो वे भी इस पर अपना अलग-अलग मत देते हैं। यथा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कर्मयोग को एवं महात्मा गांधी अनासक्ति योग को स्वीकार करते हैं।

इन सभी पर यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो हम यह देखते हैं कि गीता का परम साध्य 'समर्पण योग' था। और इस समर्पण साधक के समर्पण की विधि प्रधानता नहीं महत्वपूर्ण रहती है। बल्कि साधक की गन्तव्य क्या है? उसको अपने परम लक्ष्य तक कैसे पहुँचना है यह महत्वपूर्ण है। 'समर्पण योग' में वस्तुतः ज्ञान भक्ति तथा कर्म तीनों ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं।

योग शब्द मुख्यतः संस्कृत के युज् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है वैयक्तिक चेतना अथवा आत्मा की सार्वभौमिक चेतना।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार—¹; kxf' p'okof'ufu jk/k'A¹ अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। भारतीय दर्शन में योगदर्शन का महत्व अद्वितीय है। उत्कृष्ट आध्यात्मिक दृष्टि योगदर्शन के महत्व को प्रकट करती है। योग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य सुख, आनन्द, हर्षोल्लास एवं अच्छे स्वास्थ्य को लम्बे समय तक प्राप्त कर सकता है।

योग चिन्तन सभी वेदों में पुराणों में एवं महर्षि पतञ्जलि विरचित योगशास्त्र में विशद् रूप से प्राप्त होता है, परन्तु भारतीय वाङ्मय के विशाल ग्रन्थ महाभारत के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि में योगशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का अभिन्न अङ्ग है। श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान विज्ञान का अनुपम विश्वकोष है। अतएव वेदव्यास जी इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि—

²^xhkr l xhkr dr'0; k fdeU; % 'kkL=foLrj %
; k Lo; i ineukHkL; e [ki | ef} fuL l'rkAA²

श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश उस व्यापक धरातल पर होता है, जहाँ अहंकार आसक्तियुक्त अर्जुन अपने दायित्व का अनुपालन करने से स्पष्ट मना कर देते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा बार-बार समझाने पर कि तुम्हारा कर्तव्य क्या है वह कर्तव्य करने के लिए स्वयं को मानसिक रूप से तैयार नहीं कर पाते हैं। तब श्रीकृष्ण अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान कर वास्तविकता का साक्षात्कार कराते हैं। अठारहवें अध्याय के अन्त में कहते हैं कि है अर्जुन! मैंने तुझको कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ का उपदेश प्रदान कर दिया। अब जो तुम्हारी इच्छा हो वह तुम करो। तत्क्षण अर्जुन कहते हैं—

u"V\k ekg\ LefryC/kk RoRi: l knkUe; kP; rA
fLFkrk·fLe xr lUng\ dfj"; i opu roAA³

हे भ्रु! आपकी असीम अनुकम्पा से मेरा मोह नष्ट हो गया। अब आप जैसा कहेंगे वैसा मैं करने को तैयार हूँ। यही वस्तुतः 'समर्पण योग' जो अकर्मण्यता की नहीं बल्कि समस्त कर्मण्यता की स्थिति है। योग चिन्तनों में श्रीमद्भगवद्गीता का योग चिन्तन परमोत्कृष्ट, प्ररम प्रामाणिक एवं सर्वयोगक्षेमविधायक है। योग का महत्व श्रीमद्भगवद्गीता में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

*शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

;kx;Drk fo'k) kRek fof tReku ft r fUn; ;A
loHkrkReHkrkRek doUufi u fyl; rAA⁴

एवं च

i'kkUreul; g; u; ;kfxu; l; [keUkeeA
miifr 'kkUrjt l; ciãHkredYe"keAA⁵

किसी ऋषि के द्वारा भी कहा गया है—

ukfLr ;kxkRij cy; ukfLr ;kxkRij kA

गीता का प्रस्तुत श्लोक प्रेक्षणीय है—

u fg Kkuu l n'k ifo=kfeg fo | rA
rRLo; ;kx l f l) % dkyukRefu foUnfUrAA⁶

ज्ञान प्राप्ति द्वारा योग साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप योगी को अन्तःनिहित आत्मतत्त्व का अनुभव होता है। ज्ञान प्राप्ति द्वारा मोक्षप्राप्ति सम्भव है।

योग का अर्थ है कर्मों में कुशलता प्राप्त करना। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण योगसाधक की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

J)kokYyHkr; Kku; rRij; l; ; r fUn; ;A
Kku; yC/ok ijk 'kfUrefpj; .kkf/kxPNfrAA⁷

अर्थात् जितेन्द्रिय तत्पर एवं श्रद्धावान् साधक ज्ञान प्राप्त करता है, ज्ञान प्राप्ति द्वारा योग साधक अतिशीघ्र परमशान्ति स्वरूप भगवत्प्राप्ति में योग्यता अर्जित करता है। इस प्रकार कर्मयोग का योग अपने आपको सामाजिक कर्तव्यों में पूरी निष्ठा रखते हुए अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज द्वारा दिए गए दायित्व का पूरी निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ निर्वहन करता है तो इस प्रकार वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

गीता में कहा गया है कि व्यक्ति को तब तक कर्म करते रहना चाहिए जब तक उकता उसके शरीर से सम्बन्ध है। अर्थात् व्यक्ति को मृत्युपर्यन्त कर्म करते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय का प्रकृत श्लोक नितान्त अवलोकनीय है—

de. ;okf/kdkjLr; ek Qy" k dnkpuA
ek deQygrHkiek r; l 3xk; LRodef. kAA⁸

इस श्लोक के माध्यम से श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रिकाम कर्मयोग की शिक्षा प्रदान करते हैं। वे यह बताने का प्रयास करते हैं कर्म फल की प्राप्ति के विचार को त्यागकर नहीं किया जाता और कर्म करने से फल की प्राप्ति नहीं होगी यह भी उनका मन्तव्य नहीं है बल्कि उनके अनुसार कर्म करने का हेतु केवल कर्मफल नहीं होना चाहिए। कर्मयोग में कर्म के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। कर्म जीवन, समाज, देश, एवं विश्व की रक्षा के लिए करना आवश्यक है, किन्तु इसके साथ ही यह भी एक परम सत्य है कि दुःख की उत्पत्ति व्यक्ति के कर्मों से ही होती है कोई कर्मयोगी इसलिए कर्म करता है क्योंकि कर्म करना उसे प्रिय है इसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य हेतु नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता में आसक्तिरहित कर्म करने पर बल दिया गया है। अर्थात् व्यक्ति कोई भी कार्य करे तो उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। इसी बात को अग्रिम श्लोक में इस प्रकार कहा गया है—

;kxLFk d; : def.k l 3x R; DRok ?ku¥ t ;A
f l) ; f l) ; k; l ek HkRok l eRo; ;kx mP; rAA⁹

वस्तुतः सिद्धि और असिद्धि में समत्वभाव से ही व्यक्ति को कर्म करना चाहिए।

समत्व बुद्धियुक्त पुरुष की प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

cf) ;Drk tgrhg mHk l Ñrn"ÑrA
rLek | kxk; ; ;T; Lo ;kx de. l dk'kyeAA¹⁰

मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्ति भाव से कर्म करने वाले की प्रशंसा की है, कर्म की श्रेष्ठता को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

;fLrofuŋ; kf.k eu l k fu; E; kjHkr; t iuA
defuŋ; ॥ de; kxe l Dr ॥ l fof'k"; rAA¹¹

कर्म न करने की अपेक्षा कर्मों का करना श्रेष्ठ तथा कर्मों के बिना शरीर निर्वाह असम्भव बतलाकर निःस्वार्थ और अनासक्तभाव से कर्म करने की प्रेरणा देते हैं, इस सम्बन्ध में अधोलिखित श्लोक प्रेक्षणीय है—

fu; r i d i: de Ro de T; k; k âkde; k ॥ A
'kj h j ; k=k f i p r i u i f l n è; inde; k ॥ A¹²

इस प्रकार के योग को समत्व योग के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः मन का समत्वभाव ही योग है। जिसमें मनुष्य लाभ—हानि, जय—पराजय, से योग—वियोग को समान भाव से चित्त में धारण करता है।

l i [k n ॥ [k l e Ñ Rok y k H k k y k H k k t ; k t ; k A
r r k ; i) k ; ; T ; L o u o i k i e o k l L ; f l A A¹³

पुनर्जन्म का कारण वासनाओं या अतृप्त कामनाओं का संचय है। कर्मयोगी कर्मफल के चक्कर में ही नहीं पड़ता अतः वासनाओं का संचय भी नहीं होता है। परिणामस्वरूप कर्मयोगी पुनर्जन्म के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।

भारतीय दर्शन में कर्म को बन्धन का कारण माना गया है। जबकि कर्मयोग में कर्म के उस स्वरूप का निरूपण किया गया है जिसमें बन्धन का कारण ही नहीं होता।

महाभारत में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग एक—दूसरे के पूरक हैं। साधक द्वारा कर्मयुक्त होकर योग साधना द्वारा ज्ञानप्राप्ति महाभारत प्रतिपादित योग शासन की विशेषता है। महाभारत में सांख्य—योग की अभिन्नता का मूलाधार कर्मयोग तथा ज्ञान है।

श्रीमद्भागवतगीता में ज्ञान योग की श्रेष्ठता प्रतिपादित है ज्ञानयोग को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

J i; k U n 0 ; e ; k | K k ' K k u ; K ॥ i j U r i A
l o: de k f [k y i k F k i K k u i f j l e k l ; r i A A¹⁴

अर्थात् सांसारिक पदार्थों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानरूप यज्ञ श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण कर्म, ज्ञानयोग में विलीन हो जाते हैं। वास्तव में ज्ञानयोग कर्मयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि साधक के लिए कर्मनुष्ठान का उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति है।

व्यक्ति को कर्मों का सम्पादन इस प्रकार करना चाहिए कि वे बन्धन न उत्पन्न कर सकें। अब प्रश्न यह उठता है कि वे कौन से ऐसे कर्म हैं जो बन्धन उत्पन्न करते हैं और कौन नहीं उत्पन्न करते? गीता के अनुसार जो कर्म निष्काम भाव से ईश्वर के लिए किए जाते हैं वे बंधन नहीं उत्पन्न करते हैं। वे मोक्षरूपी परमपद को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। इस प्रकार कर्मफल तथा आसक्ति से रहित होकर ईश्वर के लिए कर्म करना वास्तविक रूप में कर्मयोग है। इसका अनुसरण करने से मनुष्य को अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। गीता के अनुसार कर्मों से सन्यास लेने अथवा उसका परित्याग करने की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मों का केवल परित्याग कर देने से मनुष्य सिद्धि अथवा परमपद की प्राप्ति नहीं कर सकता मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता है। सभी अज्ञानी जीव प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से नियन्त्रित होकर परवश हुए कर्मों में प्रवृत्त किए जाते हैं। मनुष्य बाह्य दृष्टि कर्म न भी करे और विषयों में लिप्त न भी हो तो भी वह उनका मन से चिन्तन करता है। कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। उसके बिना शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं तीनों लोकों में उनका कोई कर्तव्य नहीं है। उन्हें कोई भी अप्राप्त वस्तु नहीं प्राप्त करनी होती। फिर भी वे कर्म में संलग्न रहते हैं। यदि वे कर्म न करें तो मनुष्य भी उनके चलाए हुए मार्ग का अनुसरण करने से निष्क्रिय हो जायेंगे। इससे लोकस्थिति के लिए किए जाने वाले कर्मों का अभाव हो जायेगा। परिणामस्वरूप भारी प्रजा नष्ट हो जाएगी। इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को भी जो प्रकृति के बंधन से मुक्त हो चुका है निरन्तर कर्म में निरत रहना चाहिए। जिस प्रकार अज्ञानी मनुष्य फलप्राप्ति की

आकांक्षा से कर्म करता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को लोकसंग्रह के लिए आसक्ति रहित कर्म करते रहना चाहिए इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही वास्तविक रूप से कर्मयोगी हो सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग परस्पर समानता को धारण किए हुए है। भक्तियोग में अहंकार का परित्याग करते हुए अहंकार न करने की बात की गई है। विष्णु पुराण में भक्तियोग की सर्वोत्तम परिभाषा दी गयी है—

;k ihfrjfoodkuk fo" k;!"ouikf;uhA

RokeuLejr% Ik e ân; kJeki leirAA¹⁵

वही दूसरी अनासक्ति योग (कर्मयोग) में आसक्ति रहित होकर कर्म करने पर बल दिया गया है। तथा ज्ञानयोग में ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करते हुए तदनुकूल गतिविधियों को करने पर बल दिया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का कुशलतापूर्वक सम्पादन करना चाहिए। कर्मों की तुच्छता अथवा श्रेष्ठता पर ध्यान न केवल कर्मों में विश्वास करते हुए जीवन पथ पर अग्रसर होना चाहिए।

I UnHk% %

1. पतञ्जलि/योगसूत्र
2. श्रीमद्भगवद्गीता
3. श्रीमद्भगवद्गीता 18/73
4. श्रीमद्भगवद्गीता 5/7
5. श्रीमद्भगवद्गीता 6/27
6. श्रीमद्भगवद्गीता 4/38
7. श्रीमद्भगवद्गीता 4/39
8. श्रीमद्भगवद्गीता 2/47
9. श्रीमद्भगवद्गीता 2/48
10. श्रीमद्भगवद्गीता 2/50
11. श्रीमद्भगवद्गीता 3/7
12. श्रीमद्भगवद्गीता 3/8
13. श्रीमद्भगवद्गीता 3/38
14. श्रीमद्भगवद्गीता 4/33
15. श्रीमद्भगवद्गीता विष्णु पुराण 1/20/19



L=hf"V dk orleku ifjn' ;

t h0 x.k'ku feJ*

आज हमारे समाज में न जाने कितनी विसंगतियाँ, बुराइयाँ, कुश्रितियाँ जन्म ले रही हैं, जिसे आसानी से दूर नहीं किया जा सकता है। हमारे कथाकार साहित्यकारों ने समाज के विविध तबकों विशेष रूप से नारी की ज्वलन्त, समकालीन परिवेश से उभरती समस्याओं को, उपेक्षित नारियों, अशिक्षित महिलाओं उनकी दीन-हीन दशा पर, अनैतिकता, व्यभिचार, बलात्कार, वेश्यावृत्ति जैसी समस्याओं को कहानी एवं उपन्यासों के माध्यम से उनको उचित स्थान दिलाने का प्रयास किया है। स्त्रियाँ न जाने कितने अत्याचारों को सहन करती हैं और चुपचाप आँसुओं को पीकर रह जाती हैं। बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप नारी के रूप में परिवर्तन आना जरूरी है। जमाने ने रूख बदल दिया है। देश की लड़कियों पर बड़े-बड़े उत्तरदायित्व आ गए हैं। अब उन्हें और अधिक सचेत रहने की आवश्यकता है। 21वीं सदी में भारतीय नारी के समक्ष कई नई चुनौतियाँ हैं। भारतीय संविधान ने पुरुष और नारी को समान अधिकार दिये हैं, इसलिए उन अधिकारों को संवैधानिक आश्वासन द्वारा सुदृढ़ करना जरूरी नहीं है, किन्तु यदि हमारा वास्तविक सामाजिक यथार्थ समानता के उन अधिकारों की अवहेलना करता है तो स्त्री को आगे आकर अपने सम्मान, अस्तित्व व पहचान को अभिव्यक्ति देनी होगी। इस तरह— “आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा के साथ-साथ आत्मसजगता का रेखांकन पिछले पचास वर्षों में महिला-लेखन का केन्द्र बिन्दु रहा है।

अरविन्द जैन का लिखना है कि— “एक स्त्री तो वह है जो घर में रहती है, समय पर खाना पकाती है, बच्चे पालती है, रात में पति को संतुष्ट करती है, उस स्त्री को महान कहा जा सकता है। जिस परिवार का स्वामी पुरुष है। दूसरी है साड़ी सम्पत्ति जिसमें कालगर्ल, वेश्याएँ आदि आती हैं। अक्सर इन्हें आजाद स्त्री की कोटि में रखा जाता है। आजाद स्त्री कुलटा स्त्री। पुरुष पचास औरतों के साथ सम्बन्ध रखकर अच्छा कहला सकता है, अपने घर लौट सकता है। स्त्री एक प्रेम करके भी चरित्रहीन कही जा सकता है और अफसोस कि स्त्री की उस छवि को बनाने में न धर्मशास्त्र पीछे है, न ही साहित्य।

आज स्त्री-विमर्श ने नारी के दमन के विरुद्ध नारी के प्रतिकार के स्वर को विकसित करने में अभूतपूर्व सफलता अर्जित की है। यहाँ प्रतिकार का स्तर प्रतिशोधात्मक नहीं है बल्कि उसके मूल में सामाजिक न्याय, समानता, शांतिपूर्ण, सहआस्तित्व की ही भावना निहित है। यह विमर्श समाज के नजरिये को बदलने की मांग करता है। आजकल स्त्री पाठ, स्त्री विमर्श का सर्वाधिक विवाददास्पद चर्चित एवं ज्वलन्त मुद्दा है। यहीं से अन्तर्पाठीयता विखण्डन की स्थिति पैदा होती है। स्त्री पाठ ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसने साहित्य को परखने, देखने, अधिग्रहण का परिप्रेक्ष्य ही बदलकर रख दिया है। प्रश्न यह है कि स्त्री-पाठ को पुरुष किस परिप्रेक्ष्य से पढ़ता है और स्त्री होते हुए उसे कैसे पढ़ती है ? पाठानुभवों, अर्थग्रहण, अभिग्रहण से भिन्नताएँ कैसे और क्यों हैं ? इस संदर्भ में सुधीश पचौरी का कहना है कि— “उत्तर संरचनावाद और विखण्डनवादी पद्धति की एक विशेषता स्त्री का नितांत अलग किस्म का पाठ संभव करना है। बलात्कार के किसी वृत्तांत या रिपोर्ट या कथा को जब कोई स्त्री होते हुए उसे पढ़ती है तो उसका पाठानुभव किसी मर्द के उस पाठानुभव से न केवल भिन्न होगा बल्कि विपरीत भी होगा। दहेज प्रथा का वृत्तांत भी मर्द के लिए अलग पाठ बनाता है और स्त्री के लिए अलग। इस तरह भाषा और रचना में पाठ का बहुलतावाद अनिवार्यतः पैदा हो जाता है। स्त्री के अनन्य पाठ में इसमें वादी सार्वभौमिकता का कोई स्थान नहीं क्योंकि उसके पाठ से मूल्यों का सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता,

प्रतिनिधिकता आदि भर-भराकर गिर पड़ते हैं। यही स्त्री लेखन का उत्तर यथार्थवाद है। एक विध्वंसक तत्व है।

रामदरश मिश्र स्त्री को पुरुष से हीन मानने से इन्कार करते हुए अपनी कहानी 'एक थकी हुई सुबह' में प्रश्न खड़ा करते हैं कि— "क्या स्त्रियों को कोई दूसरा ईश्वर पैदा करता है या स्त्री पुरुष के दो नियम हैं। स्त्रियाँ इस बात को अच्छी तरह जानती हैं कि हममें पुरुष से ज्यादा ताकत है, हाँ शारीरिक रूप से स्त्रियाँ थोड़ा जरूर कमजोर पड़ जाती हैं, पर हम ही आप तो हैं बच्चे को सँवारने से लेकर समाज को बनाने में पूरा सहयोग देते हैं। 'हम किसी से कम नहीं' भावना स्त्रियों की प्रेरणा है।

आज की नारी घर की चहारदिवारी में बन्द रहना नहीं चाहती। वह समता की खोज में निकल पड़ी है। उसने अस्तित्व की रक्षा की जिम्मेदारी स्वयं ही ले ली है। इस बात को हिन्दी के विख्यात समीक्षक रमेश कुन्तल मेघ ने भी स्वीकार किया है कि— "आजकल नारी की ऐतिहासिक कर्म भूमिकाएँ— गृहिणी, धात्री, जननी, उपचारिका, सेविका, दासी आदि जो शय्या और रसोई की धुरी में केन्द्रित थी, अब बदल रही है। वह गृह से बाहर और अन्दर—दोनों क्षेत्रों में धन्धों को अपना रही है और गृह की धुरी के ढीला होने के साथ 'विवाह-संस्था' के अस्तित्व पर भी प्रश्न उठ रहे हैं अर्थात्, सामंती आधार टूट रहे हैं। कमलेश्वर का मत है कि— "नारी स्वतंत्रता हाथी के दाँत हैं जिन्हें हर घराना खूबसूरती के लिए लगाए रखता है।

महिला संबन्धी कानून के विशेषज्ञ और लेखक अरविन्द जैन घरेलू हिंसा के बारे में कहते हैं— "आज के समय में औरतें बदली हैं, पुरुष नहीं बदले। परिवार-व्यवस्था और विवाह संस्था यथावत है। परिवार में बहू की स्थिति बहुत ज्यादा नहीं बदली है। आज भी उसे सम्पत्ति का अधिकार नहीं है— न मायके में, न ससुराल में। शिक्षित होने के बावजूद स्त्रियाँ आज की घरेलू हिंसा को उचित क्यों ठहराती हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में जैन का कहना है— "अकादमिक शिक्षा भी स्त्री-जीवन को संचालित नहीं करती। घर के संस्कार मर्यादा और परम्परा का जो पाठ वे माँ के दूध से घूँटती आ रही हैं, वही उनके मानस को तैयार करता है। आज भी सीता-सावित्री ही स्त्रियों के आदर्श हैं। बिड़ा बेढंगा लगता है कि वह स्त्री जो सौन्दर्य की अपरिमित स्रोत के साथ-साथ पति-परायण, सात्विक प्रेम, शक्ति सौम्य की देवी, सुख देने वाली है उस पर इतना अत्याचार किया जाता है। बड़े दुख की बात है हर जगह उसी के सम्मान उसी की अस्मिता-अस्तित्व की हत्या की जा रही है, अत्याचार किये जा रहे हैं। बलात्कार किये जा रहे हैं। बेचारी असहाय का नाम आज भी लगा हुआ है। ऐसे शब्द सुनने में अच्छा नहीं लगता जबकि महिलाएँ हर क्षेत्र में चाहे आर्थिक हो, सामाजिक, राजनीतिक हो अपना स्थान स्थापित कर चुकी हैं।

ममता कालिया की नजर में "वर्तमान समय में यह परिवर्तन हुआ है कि सरलीकृत आदर्शवाद में से संकीर्णता की गन्ध आने लगी है। युग के अनुसार आदर्श बदलते रहते हैं। आधुनिक दृष्टि और चेतना के साथ सोचे तो पता चलेगा कि आज पति के अन्याय व प्रताड़ना को प्रश्रय देने वाली स्त्री पतिव्रता नहीं वरन् वज्रमूर्ख कहलाएगी। लेकिन कब तक ? हम सब बहुत आगे बढ़ चुके हैं। सदियों से पददलित, शोषित एवं विष को घूँट पीने वाली नारी ने जबरदस्त अँगड़ाई ली, पराधीनता की हर बेड़ियाँ, कड़ियों के हर जोड़ चटख-पटख कर टूट गये। और हम अन्यायी पुरुषों की ओर एक क्रोध भरी दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ गए। अब इनमें प्रतिरोध की भावना दिनों-दिन तीव्रतर होती जा रही है। फिर भी हमें थोड़ा स्वयं से समझौता करना पड़ेगा, अपने आप को बदलना होगा। अशिक्षित, निम्न वर्ग, मध्यवर्गीय परिवार की युवतियों को हमें अधिक सचेत करने की आवश्यकता है। दुनियाँ की रंगीनियों, उसके बहकावों में न आकर वह अपने व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण कर अपनी अस्मिता अपनी पहचान स्वयं दर्ज करायेँ। यद्यपि स्त्रियों की शिक्षा पर जोर अधिक डाला जा रहा है फिर भी निम्नवर्ग, मलिन बस्तियों में देखें तो आज की स्त्रियाँ पूर्ण रूप से शिक्षित नहीं हो पा रही हैं। सरकार द्वारा चलायी जा रही शिक्षा नीतियाँ, शिक्षा सारक्षता अभियान, कन्या विद्या धन, तमाम योजनाएँ लगातार महिलाओं को आगे बढ़ाने में क्रियान्वित है फिर भी शहरों के आस-पास, गाँवों की स्त्रियाँ अशिक्षित हैं। और जब तक यह शिक्षित नहीं होती, तब तक बच्चा पढ़कर भी कुछ नहीं कर सकता। मौलिकता, नैतिकता का मूल्य बच्चे की माँ होती है, उसे संस्कारित करने में उसका पूरा योगदान होता है।

प्रमीला के० पी० का कहना है कि— “उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में जो चिन्ता समूचे विश्व में सबसे व्यापक रही, वह स्त्री की अस्मिता, उसके अधिकारों के इर्द गिर्द स्थित रही और इसका परिणाम है कि आज कुछ चिन्तक 21वीं सदी को स्त्रियों की सदी कह रहे हैं और नारीवादी विमर्श अलग-अलग समाजों में यौन-राजनीति के अलग-अलग पहलुओं को समझने के लिए जूझ रहा है।

स्त्री चिन्तन जो आज चर्चा का विषय बना हुआ उस में आज भी जरूरत है कुछ नयापन, नयी सोच को सृजनात्मक रूप देने के लिए, नारी आज दयनीय वस्तु नहीं है, वह केवल भोग्य की वस्तु नहीं है। वह अदम्य शक्ति है। महिलाओं को स्वयं अपने शोषण के विरुद्ध, प्रताड़ना के खिलाफ आवाज उठानी है। पुरुष का अपना एक वजूद है, वह औरत से बँधता अपनी मर्जी से है और चाहे झटककर उसे दूर फेंक देता है। औरत के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। पर वह शिक्षा, नैतिकता आदर्श नैतिक मूल्यों के प्रहार उसे दहला सकती है, उसके अस्तित्व पर वह भी कुठाराघात कर सकती है।

आज नारी अपनी मुक्ति का संघर्ष-राग छेड़ चुकी है। आज नारी अपने आप को ईंट कंकरीट से बने-चहारदीवारी में कैद नहीं रख सकती बल्कि उस लक्ष्मण रेखा से बाहर आकर स्वयं के साथ-साथ समाज के भविष्य को भी निश्चित आयाम देने में पूरे मनोयोग से जुट गई है। स्त्रियों ने यह बात जान लिया की बिना आर्थिक स्वतंत्रता के वे पुरुषों की परतंत्रता की बेड़ियों को नहीं काट सकतीं। अतएव औरतों ने आर्थिक-स्वतंत्रता की बात छोड़ी। इस संदर्भ में कहना है कि— “जहाँ पहले औरतों के लिए आर्थिक-आत्मनिर्भरता दूर की कौड़ी थी वहीं आज औरतें विश्व फलक पर अपनी आत्मनिर्भरता का दास्तान लिख रही हैं। ऐसी स्थिति में आज के पुरुष-वर्ग को सावधान होना ही होगा, क्योंकि अब औरतें शोषण को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। जहाँ औरतों ने शोषण के खिलाफ जंग जारी कर दिया है वहीं निर्णय लेने की क्षमता को भी वे अपने ऊपर छोड़ती है क्योंकि देह, आत्मा सब पर अब औरत का पूरा-पूरा हक है। अपनी जिंदगी के फैसले वह खुद ले सकती है, उसे क्या करना है और क्या नहीं करना है, इसकी समझ भी उसे है। इस नाते औरत ने अपने दबे-कुचले व्यक्तित्व के चोले को उतार फेंका है और स्वतंत्रता की, अपने अस्तित्व की, अपने पहचान की एवं अपने योगदान की गाथा हर पल लिख रही हैं।

आज के स्त्री विमर्श को विज्ञापन, प्रचार और फैशन में तब्दील कर दिया गया है। यह शोषण अदृश्य परन्तु युगों-युगों की तुलना में अत्यन्त भयानक है। क्योंकि इसमें शोषित की इच्छा और ललक शामिल हो गयी है। सौन्दर्यीकरण के नाम पर ब्यूटीपार्लर और फैशन डिजाइनर स्त्री के लिए नये आभरण, नये जेल खाने बना रहे हैं। इस तरह आज आधुनिकता और हमारी संस्कृति-विचार धाराओं, रहन-सहन के बीच इतने भटकाव आ गये हैं कि आज की नई पीढ़ी में स्त्री का वर्चस्व उसकी अस्मिता पर दाग लगता जा रहा है।

अगर विवेकपूर्ण देखा जाए तो महिलाएँ अब भी जागरूक नहीं हुई हैं, उनके अन्दर एक दुर्बलता छुपी हुई है। वह रंग-बिरंगी तितली बनकर असंख्य मुद्राओं में पुरुष की वासना भरी आँखों में बिठाकर देखने का मोह नहीं छोड़ पायी है। उसके थोड़ी सी ‘सी-सी’ करने पर पुरुष के लिए सुधा की शीशी ढरक जाती है। पुरुषों को मोहित करना अपने आप को सँवारना बहुत बड़ी समस्या पैदा कर रही है। जब तक उसकी यह आन्तरिक दुर्बलता दूर न होगी, उसके मानस का नवसंस्कार न होगा, उसका भीतरी व्यक्तित्व न बदलेगा तब तक नारीत्व, पराधीनता, उसकी दास्ता समाप्त न होगी, पुरुष उस पर हावी रहेगा। कहीं भी किसी समय। सीमा दीक्षित का कहना है कि— “आज नारी इतनी दिग्भ्रमित है कि जहाँ वह जो कुछ भी देखती सुनती है, वहीं दौड़ने लगती है और उस अंधी दौड़ की भूल-भुलैया में हाँफती हुई दौड़ती जा रही है। जहाँ तक उनकी सोच है, उन्हें स्वयं से समझौता करना होगा। अपने आचार-विचार से, रख-रखाव से। आज बाह्य संस्कृति का इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि हम अपने नैतिक मूल्यों को भूलते जा रहे हैं। उन्हें अपनी वेशभूषा से लेकर सौन्दर्य प्रसाधन आदर्श मान्यताएँ उदाहरण स्वरूप- विज्ञापन देखिए- किसी भी विज्ञापन में स्त्रियाँ अर्धनग्न वस्त्र में दिखती हैं जबकि पुरुष कम। ऐसे में विपरीत प्रभाव तो पड़ेगा ही। पुरुष अपने दृष्टिकोण में बड़ा संकुचित है वह परायी स्त्रियों से हँसना-बोलना, हँसी-मजाक साधारण रूप से लेता है। यह मानसिकता स्त्री को नीचा दिखाने में सहायक होती है।

वर्तमान उदारीकरण तथा संरचनात्मक सामंजस्य के दौर में बाजार के नियमों को अधिक महत्व दिया जा रहा है, साथ ही राज्य की समाज कल्याण की जिम्मेदारियों को घटाने पर जोर दिया जा रहा है। स्त्रियों की शिक्षा स्वास्थ्य समबन्धी प्रावधानों पर इसका सीधा असर पड़ रहा है।

आज इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर हम खड़े हैं युग बदल गया, देश की अनुगूँज बदल गयी, हमारी परिस्थितियाँ बदल गयी, स्त्रियाँ आज पुरुषों के बराबर कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने लगी, घर की चहारदीवारी में, बंधनों में जकड़ी स्त्रियाँ मुक्त होकर जहाँ कल्पना भी नहीं की थी, आजादी के संघर्षों में घरों से बाहर आने का अवसर पाने और संवैधानिक समान अधिकार की स्वीकृति पाने के बाद आज ऐसा कोई क्षेत्र बाकी नहीं रह गया है जहाँ नारी के नाते नारी का प्रवेश न हुआ हो। नारी का क्षेत्र केवल चूल्हा-चक्की, जच्चा-बच्चा, मन्दिर तक सीमित नहीं रह गया है वरन् नारी वर्ग ने देश की प्रबल शक्ति के रूप में अपना स्थान ग्रहण किया है। स्त्रियाँ अब पहले से बहुत अधिक शक्तिशाली हो गयी हैं। वे भी अपने निजी जिन्दगी जीने के लिए प्रतिबद्ध दिखती हैं। उनको आज के समय में अपनी अहमियत का अंदाजा भलीभाँति आकना आ गया है।

स्त्री सभी क्षेत्रों में अपनी सकारात्मक उपस्थिति दर्ज करा चुकी है पर आज भी स्त्री की सामान्य नकारात्मक समस्याएँ उभरती हुई आ रही हैं। और आज हम पुनः स्त्रीवृद्धि से उनका मूल्यांकन कर रहे हैं। स्त्री विमर्श की अवधारणा के भीतर से ही हमें उन्हें हीनता के बंधन से उबारना होगा। स्त्रियों में इतना आत्मविश्वास भरा जाए, उसके सकारात्मक सोच को इतना अधिक विकसित किया जाये कि स्वयं आधारशिला बन जाय। यद्यपि आज हालात, परिस्थितियाँ बदली हुई हैं, पर स्त्री और पुरुष सम्बंधों में सदियों से चला आ रहा अन्तराल अभी भी बना हुआ है। बराबरी से नौकरी, शिक्षित एवं योग्य होने के बावजूद भी आज भी स्त्री आन्तरिक रूप से निर्बल है और इसका कारण है हमारी मानसिक सोच। स्त्री पुरुष के साथ बराबरी के होड़ में है। इस बदले हुए परिवेश में स्त्री फँस चुकी है आधुनिक समाज में अभी तक पुरुष मानसिकता में अपेक्षित बदलाव नहीं ला पाये हैं, नगरों की अपेक्षा गाँवों में स्त्रियाँ और भी विवश हैं, अशिक्षित स्त्री अपनी बातों को समाज के समक्ष, परिवार के समक्ष रख नहीं पाती हैं। हमें ऐसी स्त्रियों की दीन हीन दशा को सुधारना होगा। स्त्री-पुरुष दोनों में किसी का भी एक के बगैर दूसरे का गुजारा नहीं हो सकता, एक-दूसरे की आवश्यकता पड़ती रहेगी। बिना सहयोग की भावना के जीवन को सार्थक नहीं जी सकते, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सृष्टिकर्ता ने यह वरदान मानव जाति को ही दिया है।

इस तरह से वर्तमान समय में देखा जाए तो अब परम्पराएँ टूटने लगी हैं। स्त्रियाँ परम्पराओं को तोड़कर आगे बढ़ने लगी हैं। और जिन्हें वह तोड़ नहीं पायी उनसे लड़ती, झगड़ती, टकराती अपनी वैचारिक पहल के माध्यम से निरंतर उन पर भी विजय पाने की जद्दोजहद जारी रखा है। आज स्त्रियों ने उन सभी वर्चस्वादी आनवीय परम्पराओं को प्रश्नांकित कर रही हैं और पूछने के लिए भी सदैव तत्पर दिखायी दे जा रही है कि भला बताइए कि उन्हें कैसे और क्यों अपनाया जाय ? आज स्त्रियों के सामने विकल्प है, आधुनिक जीवन शैली है, सुख-सुविधा के साधन हैं, उनके श्रम का मूल्य है। वे नये जीवन मूल्यों को स्वीकार करने के लिए सर्वथा स्वतंत्र हैं, वे अपने मन से कहीं आ जा सकती हैं, इच्छाओं के अनुरूप कार्य क्षेत्र का चुनाव करने की आजादी है वह जो कुछ भी खाना, पहनना चाहती हैं, कर सकती हैं किन्तु यह सब करने के बावजूद जैसे ही स्त्री आधुनिक मूल्यों की तरफ बढ़ती हैं, परम्परागत जीवन मूल्यों से उसे टकराना होता है। इसमें से किसी एक ही का चुनाव करना होता है लेकिन स्त्री मन का द्वन्द्व उसे हमेशा उलझाए रखता है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा का कहना है कि— “जरा सोचिए कि नाईट ड्यूटी करके लौटने वाली स्त्री ब्रह्ममुहूर्त में जागकर परम्पराएँ कैसे निभाती ? क्या उसे सचमुच निभानी चाहिए ? अगर न भी ड्यूटी पर जाए तो भी क्या वह घर में एक नौकरानी की हैसियत रखती है ? मायके में पिता, भाई की सेवा के लिए अपने आपको झोंकने के बाद ससुराल में पति-देवर, सास-ससुर, की सेवा में तल्लीन रहना ही उसकी नियति है और यही वे परम्पराएँ हैं जिन पर हमें गर्व है। माँग में सिन्दूर, गले में मंगलसूत्र और पाँव में महावर रचाए स्त्री कोल्हू के बैल की तरह दबकर खटती रहती है। हर मोर्चे पर खुद को हारते हुए घर को जिताते चलती है। उसके कपटों को, उसकी तकलीफों को अनदेखा कर देना भी एक बेढ़ब परम्परा का ही हिस्सा है। लेकिन एक बहुत बड़ा प्रश्न यह है कि स्त्री को जैसी आजादी

चाहिए क्या उसका कोई स्वरूप, संरचना व ढांचा का निर्माण कर पायी है अथवा नहीं ? आजाद हो रही स्त्री क्या वास्तव में मुक्त हो रही है या नहीं ? क्योंकि स्त्री मुक्ति के संदर्भ में नारीवादी खुद एकमत नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों के लिए आजादी के मतलब भी अलग-अलग है।

जैसा कि वर्तमान में बाजारवाद एवं भूमण्डलीकरण की उपभोक्तावादी संस्कृति की चपेट में आयी स्त्री एक उपभोक्ता की स्थिति में है, बाजार जो स्त्रियों को उनके मनमुवाफित रकम दे रहा है और स्त्री उसे भोग रही है। स्त्री मनचाहा खाती-पीती, पहनती नजर आ रही है, आर्थिक रूप से भी वह सामर्थ्यवान हुई तथा अपने को वह सबल भी मानने लगी, घूँघट से मुक्त, घर-परिवार की जिम्मेदारियों से मुक्त होकर अपने लिए संसार के सारी भौतिक सुख-सुविधाओं के साथ जीवन जीने लगी है ऐसी स्त्री को आजाद माना जाय या और आगे बढ़कर जैसा कि 1993 में प्रकाशित पुस्तक 'फायर विथ फायर' की लेखिका नाओमी उल्फ स्त्रियों से अपील करती हैं कि— "अपने उत्पीड़न की चर्चा के बदले अच्छा होगा यदि स्त्री-पुरुष, सेक्स एवं सौन्दर्य को अपना कर चले। अंगारों से अंगारे टकराएँ, भय कैसा, बंधन कैसा, लज्जा कैसी ? खुलकर खेलो और जियो। पुरुष की कामना तो वह सूरज है जिसमें स्त्री लिखती है— को स्वतंत्र माना जाय। उपर्युक्त दोनों जीवन शैली को अपनाने वाली स्त्रियों के क्या ये आधुनिक जीवन शैली, फैशन परस्ती में पूरी तरह स्वतंत्र हो रही है। इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक की नारीवादियों ने इसी जीवन शैली पर जोर दिया जबकि समाजवादी या मार्क्सवादी नारीवादियों ने इस लिपिस्टिक नारीवाद का भरसक विरोध करते नजर आये और कहा कि ऐसी स्त्रियों को बाजार अब एक नये ढंग से नयी गुलामी तैयार कर रही है।

बाजार संस्कृति को अपनाने का अर्थ हुआ आधुनिक स्त्री आंदोलन को कफन ओढ़ाना। सत्तर के दशक में नारीवादी स्त्रियों ने हालांकि मेकअप, फैशन, रोमांस का विरोध नहीं किया था, मगर ये सौन्दर्य प्रसाधन और भोगवादी संस्कृति स्त्री को कैसे जींस में परिवर्तित करते हैं। हर स्त्री अपना जीवन अपने तरीके से जीना चाहती है। इसलिए उसके चयन में, जीवन शैली में विविधता होती है। एक स्त्री जिन चीजों में अपनी आजादी ढूँढ़ती है, दूसरी को वही गुलामी लग सकती है। फिर कौन से मूल्य हैं, जिसे स्त्री अपनाए और यह स्वीकार किया जाये कि अब स्त्रियाँ सचमुच स्वतंत्र हो रही हैं और उनकी अपनी अस्मिता का निर्माण हो रहा है। इस तरह आज भी इस परिवेश और वातावरण में स्त्री के भीतर द्वन्द्व बना हुआ है। इन्हीं द्वन्द्वों के पटाक्षेप को धीरे-धीरे हटाकर उन्हें अपने रास्ते की तलाश करनी होगी और उनकी अपनी अस्मिता का निर्माण भी हो सकेगा। क्षया शर्मा अपनी पुस्तक— 'स्त्रीवादी विमर्श : समाज और साहित्य' में इस संदर्भ की चर्चा लेते हुए लिखती हैं कि— "टेलीवीजन के विज्ञापन प्रायः यथास्थिति को तोड़ रहे हैं। वे स्त्रियों को घूँघट और पर्दे से बाहर ला रहे हैं। वे उसका ड्रेस कोड बदल रहे हैं जो स्त्री के विकास की अनिवार्य शर्त है। स्त्री सशक्तीकरण की प्रक्रिया में जो भी काम किया गया है, उसमें बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि स्त्रियों को यदि विकास की प्रक्रिया में शामिल करना है तो उन्हें रुढ़ियों से मुक्ति पानी होगी, उन्हें अपनी दबी-कुचली होने की छवि में ही 'मुक्ति' ढूँढ़ने की प्रक्रिया को बन्द करना होगा स्त्री को घरेलू काम से किसी सीमा तक आजाद करने का संदेश विज्ञापन देते हैं। वाशिंग मशीन, मिक्सी, ग्राइंडर, मसाले आदि विज्ञापन उन्हें फालतू के श्रम से निजात पाने के रास्ते सुझाते हैं। प्रसाधन के विज्ञापन आकर्षण और आत्म विश्वास युक्त बनाने का संदेश देते हैं।

वहीं दूसरी नारीवादी लेखिका मैत्रेयी पुष्पा का मानना है कि आर्थिक रूप से मजबूत होने वाली स्त्री के लिए अब पहले जैसे बंधन की बाध्यता नहीं। शिक्षा और सभ्यता का आर्थिक नजारा स्त्री स्वतंत्रता के तेवरों में है। फिर भी मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं कि— "मगर मेरे मन में यह सवाल बार-बार आता है कि आधुनिक पोशाक की स्वामिनी, मेकअप के अधीन दमकने वाली और फर्फटेदार अंग्रेजी बोलने वाली स्त्री क्या सचमुच ही आजादी का अर्थ समझ गई हैं ? माना कि समझ गयी है तब क्या घर-गृहस्थी के बन्धन से मुक्त हुई है ? क्या उसने बराबरी से घर की जिम्मेदारी पति के साथ बाँटी है ? नहीं ? आजकल परिवार का अर्थ भले पति-पत्नी और बच्चों से लिया जाये तो भी घर की संभाल और बच्चों का लालन-पालन सहज स्वाभाविक रूप से पत्नी द्वारा होना ही माना जाता है। उसमें उसकी शिक्षा, योग्यता और बाहरी जिम्मेदारी की दलील नहीं चलती।

इस प्रकार स्त्रियाँ आज पहले से ही कहीं ज्यादा स्वतंत्र हैं। आर्थिक रूप से मजबूत हो रही हैं। स्त्रियों के सामने दो मूल्य हैं— एक परम्परागत और दूसरा आधुनिक मूल्य (उपभोक्तावादी मूल्य)। लेकिन जरा

सी गम्भीरता में देखा जाये तो दोनों मूल्यों में अधूरापन दिखाई देता है। आज न स्त्री पूरी तरह से परम्परागत मूल्यों को अपना पा रही है और न ही आधुनिक उपभोक्तावादी मूल्य को जो उसे भी नयी गुलामी दे रहा है। तो स्त्री अस्मिता के निर्माण के लिए फिर कौन सा मार्ग अख्तियार किया जाए, इस पर बड़ी गम्भीरता से स्त्रीवादी चिंतकों को सोचना होगा। परम्परा का टूटना भी आवश्यक होता है लेकिन कभी-कभी कुछ परम्पराएँ आज भी प्रगतिशील रूप से समाज में विद्यमान हैं, इसलिए एक सिरे से उसे हम खारिज भी नहीं कर सकते और ऐसा भी नहीं हो सकता कि आज अब हम नए आधुनिक मूल्यों को एक साथ स्वीकार कर लें। ऐसा कदापि सम्भव ही नहीं हो सकता। हम आज इस बात पर जोर देते हैं कि स्त्रियों के सामने विकल्प मौजूद हैं, चयन की पूरी आजादी है तो लगता है कि स्त्रियाँ सचमुच स्वतंत्र हैं, चयन करने के लिए, अपनी अस्मिता का निर्माण करने के लिए लेकिन फिर उसी चयन को प्रश्नांकित भी किया जाता है और चयन अधूरेपन का शिकार होता है। इसलिए वर्तमान समय में उनके सामने आने वाली चुनौतियों एवं समस्याओं के अनुरूप मानवीय, लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों में अपनी मुक्ति की कामना कर वैकल्पिक दुनिया का निर्माण करे जिससे उनकी उन्नति साथ ही देश की उन्नति भी हो सके। इसलिए महादेवी वर्मा लिखती हैं कि— “स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व में हो सकती है, परन्तु यह कर्तव्य उसे अपनी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों को तोल कर स्वेच्छा से स्वीकार करना चाहिए, परवश होकर नहीं। कोई अन्य मार्ग न होने पर बाध्य होकर जो स्वीकार किया जाता है वह व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। यदि उनके जन्म के साथ विवाह की चिन्ता न कर उनके विकास के साधनों की चिन्ता की जावे, उनके लिए रुचि के अनुसार कला, उद्योग—धन्धे तथा शिक्षा के द्वार खुले हों, जो उन्हें स्वावलम्बिनी बना सके और तब अपनी शक्ति और इच्छा को समझ कर यदि वे जीवन संगी चुन सकें तो विवाह उनके लिए तीर्थ होगा, जहाँ वे अपनी संकीर्णता मिटा सकेंगी, व्यक्तिगत स्वार्थ को बहा सकेंगी और उनका जीवन उज्ज्वल से उज्ज्वलतर हो सकेगा। इस समय उनके त्याग पर अभिमान करना वैसा ही उपहासास्पद है, जैसा चिड़िया को पिंजरे में बन्द करके उसके, परवशता से स्वीकृत जीवन उत्सर्ग का गुणगान।

I UnHk §

1. नयी सदी की पहचान : श्रेष्ठ महिला कथाकार, संपादक ममता कालिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण—2009, पृ० IX (भूमिका से)
2. वही
3. उत्तर आधुनिकता साहित्य विमर्श, सुधीश पचौरी, पृ० 121
4. स्त्री विमर्श : विविध पहलू, संपा. कल्पना वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011, पृ० 221
5. वही, पृ० 258
6. वही, पृ० 286
7. स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, गीताश्री, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ० 60
8. वही, पृ० 61
9. कितने प्रश्न करूँ, ममता कालिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृ० — कवर पेज से
10. स्त्री अध्ययन की बुनियाद, प्रमीला के०पी०, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण—2015, पृ० कवर पेज
11. महादेवी के गद्य में स्त्री विमर्श, अनूपा कुमारी, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी प्रथम संस्करण—2010, पृ० 9
12. स्त्री अस्मिता : शय्या से सर्वोच्च अदालत तक, सीमा दीक्षित, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण—2011, पृ० 135
13. चर्चा हमारा, मैत्रेयी पुष्पा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृ० 43
14. बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, प्रभा खेतान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ० 227
15. स्त्रीवादी विमर्श : समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० 98
16. खुली खिड़कियाँ, मैत्रेयी पुष्पा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण—2005, पृ० 72
17. शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण—2001, पृ० 56



vkfnoklh lek t % lH;rk vkj v lH;rk dh vo/kkj.kk vkuUn dekj iViy*

आदिवासियों के बारे में मुख्यधारा के समाज में प्रचलित अवधारणा यह रही है कि वे असभ्य, पिछड़े और जंगली लोग हैं जो सभ्यता के विकास-क्रम में पीछे छूट गए हैं। चिंतन के क्षेत्र में भी यह अवधारणा प्रचलित रही है। सदियों से आदिवासियों के प्रतिरोध को दबाने के लिए उन्हें अपराधी रूप में चिन्हित किया गया। बाद के दिनों में चिन्तकों का यह दायित्व होना चाहिए था कि आदिवासियों पर लगाए गए आरोपित दुर्भावनाओं को वे साफ करें, लेकिन दुर्भाग्य की यह स्थिति दिखाई नहीं देती और यही वजह है कि आचार्य रामचंद्र वर्मा जैसे लेखक भी इस आग्रह से मुक्त नहीं हो पाते हैं और आदिवासियों के बारे में लिखते हैं कि "किसी स्थान पर रहने वाले वहां के मूल, असभ्य, तथा जंगली निवासी।" इससे अगल रूप में दलितों-वंचितों के लिए संघर्ष करने वाले डॉ० भीमराव अम्बेडकर के यहाँ भी वही बात दिखाई देती है। डॉ० अम्बेडकर, आदिवासियों की चिंता तो करते हैं, लेकिन वे आदिवासियों की जिस स्थिति की बात करते हैं वो असहज प्रतीत होने वाली स्थिति है। वे लिखते हैं कि "हजारों साल पुरानी सभ्यता का डंका पीटने वाला की भूमि पर आदिवासी अपनी आदिम असभ्य अवस्था में ही रह गए। यह केवल असभ्य ही नहीं हैं वरन इनमें से कई ऐसे हैं जो ऐसे कार्यों में लगे हुए हैं जिन्हें आपराधिक वर्ग में रखा जाता है। सभ्यता के बीचो-बीच 1.30 करोड़ लोग आदिम अवस्था में रहते हुए परम्परागत आपराधिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। लेकिन हिन्दू समाज ने इसमें कभी शर्म महसूस नहीं की। मेरे ख्याल से इसके समानांतर स्थिति मिलना सम्भव नहीं है। इस शर्मनाक स्थिति की क्या वजह है? इन आदिवासियों को सभ्य जीवन में लाने और जीवनयापन के अधिक सम्मानजनक रास्ते अपनाने में इनका मार्गदर्शन करने का प्रयास क्यों नहीं किया गया? हिन्दू, आदिवासियों की इस स्थिति के लिए उनकी जन्मजात जड़ता को दोषी ठहराएंगे। संभवतः वे यह मानने को तैयार न हो कि आदिवासी आदिम (जंगली) रह गए, क्योंकि उनको सभ्य बनाने, चिकित्सा सहायता देने, उनमें सुधार करने और सभ्य नागरिक बनाने के लिए प्रयास नहीं किए गए।"²

अपने कथन में डॉ० अम्बेडकर आदिवासियों के बारे में जो बात कह रहे हैं उसमें ये कोण बनते हैं—

1. हिंदूवादी वर्णव्यवस्था
2. आदिवासी समाज

उपरोक्त बिन्दुओं के सन्दर्भ में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

डॉ० अम्बेडकर बात तो कर रहे हैं आदिवासी-हित की और दोष दे रहे हैं हिंदूवादी व्यवस्था को। लेकिन वे जिस जगह पर खड़े होकर देख रहे हैं वह मुख्यधारा का समाज है; यानी आदिवासी समाज से इतर गैर-आदिवासी समाज। डॉ० अम्बेडकर की चिंता में आदिवासियों का हित होते हुए भी उनकी स्थिति का पूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं है जहां वे यह कह सकें कि आदिवासियों की अपनी सामाजिक संरचना है, उनकी अपनी अर्थव्यवस्था है, उनकी अपनी परम्परायें व रीतिरिवाज हैं। यह ध्यान देने की बात है कि अम्बेडकर हिन्दू समाज से इसलिए नाराज हैं कि वह आदिवासियों को सभ्य बनाने का काम नहीं किया, हिन्दू समाज ऊँच-नीच, जात-पात, छुआछूत से ग्रसित है और उसकी सामाजिक संरचना 'वर्ण' आधारित व्यवस्था पर टिकी है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजित है। लेकिन आदिवासी समाज की संरचना का आधार 'वर्ण-व्यवस्था' या 'वर्ग-व्यवस्था' न होकर के समानता, सहजीविता, सामूहिकता

*शोधार्थी, भारतीय भाषा केन्द्र, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया

एवं सह—अस्तित्व के दर्शन से परिचालित है। अपने को सभ्य कहने वाले मुख्यधारा के समाज में पाई जाने वाली कुरीतियाँ जैसे—बालविवाह, दहेजप्रथा, विधवाजीवन, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा से आदिवासी समाज कोसों दूर है। अतः हिन्दू समाज को सभ्य कहना और आदिवासी समाज को असभ्य कहना एक विचारणीय प्रश्न है। डॉ० अम्बेडकर जिस मूल्य (स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व) के आधार पर हिन्दू समाज का पुनर्गठन करना चाहते हैं, वे 'मूल्य' आदिवासी समाज में पहले से ही मौजूद रहे हैं।

ठीक इसी तरह आदिवासी जीवन पर लिखने वाले वरिष्ठ कथाकार हैं संजीव। उनके उपन्यास 'पाँव तले की दूब' का पात्र 'सुदीप्त' आदिवासियों की सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को ही पिछड़ा मानता है। वह कहता है कि "आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं—अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता! अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है।"³ कही न कही यह लेखक का भी अपना विचार है जो आदिवासियों को सिर्फ भौतिक या आर्थिक आधार पर ही विश्लेषित करता है। दरअसल, यह मुख्यधारा का अपना मानक है और इसी मानक के आधार पर आदिवासी समाज को विश्लेषित करना उनके साथ अन्याय होगा। चूँकि आदिवासियों का सम्पूर्ण जीवन प्रकृति और उत्सवधर्मिता पर ही आश्रित है। प्रकृति के बीच, प्रकृति के साथ रहकर आदिवासियों ने अपनी सभ्यता का विकास किया। पेड़—पौधे, पहाड़—नदियाँ उनके जीवनयापन के साधन हैं। प्रकृति और आदिवासी समाज में सहजीविता का संबंध है। इस सहजीविता के संबंध को समझने के लिए अमेरिकी आदिवासी नोह सिएथल (रेड इंडियंस) के भाषण को देखा जा सकता है; वे कहते हैं कि "नदियाँ हमारे भाई हैं। वे हमारी प्यास बुझाते हैं। नदियाँ हमारी छोटी नावों की वाहक हैं। वे हमारे बच्चों को पालती हैं।...मानव सृष्टि पशुओं के बिना क्या है? यदि सारे पशु अदृश्य हो गए तो आत्मा के सूनेपन से मानव भी मर जाएगा। क्योंकि जो कुछ पशुओं के साथ होता है, वह शीघ्र ही मानव के साथ भी होता है। सभी चीजों का आपस में अनिवार्य संबंध है।...इतना तो हम जानते हैं कि इस धरती का स्वामी मानव नहीं है।...सभी चीजें एक दूसरे से जुड़ी हैं।"⁴ और जब संजीव यह कहते हैं कि अरण्यमुखी और उत्सवधर्मिता होना आदिवासियों के पिछड़ेपन का कारण है तो इसका मतलब है कि संजीव आदिवासी समाज के ज्ञान—दर्शन और इतिहास से पूर्णतः परिचित नहीं हैं। ध्यातव्य है कि आदिवासी संस्कृति में पर्व—त्योहार, हाट—मेलों का आयोजन जहाँ एक ओर जीवन के हर एक रस को महसूस करने का माध्यम है, वहीं नृत्य—गीत इनमें जीवन के हर एक रंग को भरने की कोशिश करते हैं। आदिवासी—जीवन का यह राग कवि अनुज लुगुन की कविता में मुखर होता है—“हमारे देश में/हमारी दिशाओं में/मांदल की थाप है/बांसुरी की धुन है।”— इसी तरह आदिवासी जीवन के रचनाकार पीटर पॉल एक्का अपने उपन्यास 'जंगल के गीत' में 'हाट' का वर्णन करते हुए लिखते हैं—“पीठ पड़हा में आज अन्य दिनों की अपेक्षा ज्यादा रौनक छाई थी आज बाजार का दिन है। लोग बाजार—हाट की तैयारी में लगे हैं। बच्चों की अपनी उत्सुकता है। युवक—युवतियाँ किसी अनदेखे ख्वाबों की खुशी में मन ही मन थिरक रहे हैं। बड़े—बुजुर्गों को भी सौदा सुलभ करना है। बाजार की यहाँ अपनी अलग अदा थी। बाजार न हुआ कोई पर्व हो गया हो जहाँ जाने की ललक बच्चे—बुजुर्गों में एक जैसी होती थी।”⁵ यहाँ पर पॉल एक्का 'हाट' को भी उत्सव के रूप में देखते हैं और एक दूसरा लेखक जो गैर आदिवासी है वह कहता है कि नहीं ये 'उत्सव' आदिवासियों के पिछड़ेपन का कारण है। दरअसल, यह आदिवासी और गैर—आदिवासी समाज के जीवन—दर्शन का ही अंतर है कि यहाँ एक समाज खुशी और उत्सव को ही अपने विकास का पैमाना मानता है तथा दूसरा समाज आर्थिक स्थिति को। सामाजिक कार्यकर्ता और लेखक श्यामाचरण दूबे आर्थिक आधार पर ही आदिवासियों के जीविकोपार्जन की व्यवस्था का विश्लेषण करते हैं। वे बताते हैं कि आधुनिक भारत के आदिवासी समाजों में आर्थिक दृष्टि से पूर्व संस्कृति के तीन मुख्य स्तर पाए जाते हैं—

1. खाद्य—संकलन स्तर,
2. अस्थिर प्राथमिक कृषि स्तर,
3. स्थिर प्राथमिक कृषि स्तर।

आगे वे लिखते हैं कि उपर्युक्त वर्गों में कोई भी वर्ग स्वयं पूर्ण नहीं है। खाद्य—संकलन—स्तर के समूहों में उनकी जीविका का अधिकांश संकलन द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु अल्प परिमाण में उनमें अस्थिर

कृषि, पशुपालन अथवा शिल्प-उद्योग भी पाए जाते हैं। इसी तरह अस्थिर कृषि स्तर की आदिजातियों में भी अल्प परिमाण में खाद्य-संकलन किया जाता है, तथा उनमें पशुपालन, गृह-शिल्प आदि का विकास हो जाता है।⁶

उपर्युक्त कथन में श्यामाचरण दुबे यह बताने की कोशिश करते हैं कि आदिवासियों की अपनी कृषि व्यवस्था, पशुपालन तथा शिल्प-उद्योग आदि हैं। किन्तु वे जिस आर्थिक आधार पर आदिवासियों के जीविकोपार्जन की व्यवस्था को विश्लेषित करते हैं वह सही नहीं है। क्योंकि श्री दुबे के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है आदिवासियों की जीविका का अधिकांश भाग वनोपज पर ही आश्रित है और उनकी कृषि व्यवस्था प्राथमिक स्तर की है, यानी उन्नत नहीं है। जबकि प्रसिद्ध भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी बताते हैं कि "उत्तर भारत की आर्य भाषावली जातियों ने चावल की खेती करना मुंडा जातियों से सीखा है।"⁷ चूँकि मुंडा एक आदिवासी समुदाय है और आर्य लोग जब आदिवासियों से कृषि करना सीख रहे हैं तो इसका मतलब है कि आर्यों से पहले ही आदिवासियों के यहाँ उन्नत कृषि-व्यवस्था मौजूद रही है। ज्ञात इतिहास है कि औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों का प्रतिरोध सबसे पहले आदिवासियों ने ही किया था। 1766 ई० के पहाड़िया आन्दोलन से लेकर चेरो आंदोलन (1795 ई०), चोआड़ आन्दोलन, भूमिज आन्दोलन (1834 ई०) कोल, हो, संधाल हुल (1855 ई०), मुंडा और 1910 ई० का टानाभगत आन्दोलन, सभी आन्दोलन का आधार 'जमीन' थी जिस पर आदिवासियों की अपनी कृषि-व्यवस्था थी। उन्होंने जंगल को साफ करके खेती योग्य अपनी भूमि-व्यवस्था का विकास किया। इसकी अभिव्यक्ति मुंडा समाज में गाए जाने वाले गीतों में भी मिलती हैं—

"मुंडा को हिजु: लेना/मुंडा को बसा जना/ने दिसुम बोरोवनगी तइकेन रे ने दिसुम अकांदल टोनंग तइकेन रे/मुंडा को चोपा केदा/मुंडा को सियु: चलु केदा/जेतय मडन्न काको तइकेन रे।
अर्थात्—

मुंडा आये, मुंडा बसे/तब यह देश घने जंगलों से भरा/बहुत डरावना था/साफ जंगल किया, खेत बनाए/हल जोतना शुरू किया/तब और कोई नहीं था।"⁸

स्पष्ट है कि आदिवासी समाज केवल वनोपज संस्कृति का समाज नहीं है बल्कि उनकी संस्कृति भी शेष भारतीयों की तरह ग्रामीण किसानी संस्कृति है। किन्तु, आदिवासियों का यह किसानी जीवन मुख्यधारा के किसानी जीवन की तरह व्यावसायिकता से परिचालित नहीं है और यही कारण है कि मुख्यधारा की तरह अपने कृषि-विकास के लिए उन्होंने प्रकृति का विनाश नहीं किया, बल्कि कृषि और प्रकृति में सहसंबंध स्थापित किया। उनके खेत और जंगल दोनों साथ-साथ हैं। इसलिए वे खेती के साथ-साथ वन से प्राप्त उपज का भी सेवन करते हैं। अब जो समाज जंगल में रहते हुए कृषि-कर्म कर रहा है और खेती तथा प्रकृति के बीच सामंजस्य बना के रखा है, तब किस आधार पर आदिवासियों को असभ्य कहेंगे? "जबकि सभ्यता और संस्कृति मानव-समाज के इतिहास में कृषि व्यवस्था से आरम्भ होती है।"⁹ तब बखूबी यह समझा जा सकता है कि आदिवासियों के प्रति जो असभ्यता की अवधारणा रखी गई है वह दुराग्रहपूर्ण और अमानवीय तरीके से मुख्यधारा ने उनको रेखांकित किया है। इस सन्दर्भ में प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' को भी देखा जा सकता है। उपन्यास में एक जगह मालती-मेहता द्वारा शिकार खेलने का प्रसंग है। दोनों शिकार खेलते हुए पहाड़ी इलाके में बहुत दूर निकल जाते हैं। एक पहाड़ी आदिवासी युवती बिना किसी पूर्वपरिचय व स्वार्थ के उनकी मदद करती है; चाहे नदी में बहती हुई मरी चिड़िया को पकड़ना हो या पहाड़ के दूसरी तरफ से मालती को बुलाना हो या दवा के लिए पहाड़ से जड़ी-बूटी लानी हो, यहाँ तक कि उन्हें भोजन बनाकर भी वह खिलाती है। फिर भी मालती उसे एक साथी के रूप में स्वीकार नहीं करती है और हेय-दृष्टि से देखती है तथा कहती है— "कहाँ गयी वह कलूटी। गजब की काली है, जैसे आबनूस का कुंदा हो। इसे भेज दो, रायसाहब से कह आये, कार यहाँ भेज दें। इस तपिश में मेरा दम निकल जाएगा।"¹⁰ उक्त संदर्भ से हम बखूबी समझ सकते हैं कि कौन समाज सभ्य है और कौन समाज असभ्य है। चूँकि जो मानवतावादी मूल्य आदिवासी युवती के व्यवहार में दृष्टव्य होता है वह किसी भी श्रेष्ठ समाज के लिए आदर्श साबित होगा। ऐसे ही और भी सांस्कृतिक मूल्य हैं जो आदिवासियों में

दिखाई देता है तथा उनकी उन्नत सामाजिक-व्यवस्था को परिभाषित करता है; जैसे— तलाक व पुनर्विवाह की मान्यता, अतिशय लाभवृत्ति व वेश्यावृत्ति का नहीं होना, सहकार की भावना से समस्याओं का मिलजुलकर समाधान करना, स्त्री-पुरुष में समानता, श्रम के साथ आनन्द की प्राप्ति।

आदिवासी समाज में उत्सवधर्मिता का यह आलम है कि श्रम करते हुए भी वे आनन्द में रहते हैं। 'श्रम' को हिन्दू समाज में हेय-दृष्टि से देखा जाता है और इसे केवल शूद्रों के जिम्मे मढ़ दिया गया, जबकि आदिवासी समाज, श्रम प्रधान समाज है। यहाँ पाहन (पुजारी) भी अपनी खेती स्वयं करता है। एक समाज (मुख्यधारा) 'श्रम का शोषण' करते हुए अपनी सभ्यता का निर्माण किया और एक समाज 'श्रम की सामूहिकता' पर अपनी सभ्यता का निर्माण किया। आदिवासी समाज का जो जीवनदर्शन है वह 'श्रम की सामूहिकता' पर आधारित है। श्रम की यह सामूहिकता उनके गीतों में भी अभिव्यक्त होती है—

dnk lkdMk xiy xiy nxkfMdk gMnruk
cdiyk yk; kM nMb: nxMkdk dkyruk
nxkfMdk gMnruk fhkn fgfl nxMkdk
nxkfMdk gMnruk] tVM x: tMv x:
nxMkdk pyruk] fyfV% x: tMv x:
nxMdk ruk] fyfV% x: ykikM x:

अर्थात्—

tkeu [kr ei mYykfl r ; ofr; k fujkb: dj jgh g:
cdiyk [kr ei jh> jkx ei ; od gy pyk jg g:
chl ; ofr; k fujkb: dj jgh g:
, d rky ei ; od gy tkr jg g:A¹¹

यहाँ श्रम की जो सामूहिकता है वहाँ शोषण का बहिष्कार है और शोषण का बहिष्कार इसलिए है कि वहाँ वर्चस्वकारी संस्कृति का भी बहिष्कार है और वर्चस्व की संस्कृति का यह बहिष्कार समाज के लोगों के बीच भी है और प्रकृति के साथ भी है। वे अपने ही लोगों के ऊपर वर्चस्व स्थापित नहीं करते और साथ ही साथ वे प्रकृति पर भी वर्चस्व नहीं जमाते। बल्कि प्रकृति के साथ जीते हैं। यही है उनकी प्रकृति के साथ साहचर्य का सम्बंध। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं कि "आदिवासी हर विपरीत स्थिति में जीता है— प्रकृति की आपदा को सहता है पर प्रकृति को नष्ट नहीं करता, उसको पालता-पोसता है जबकि मैदानी मनुष्य प्रकृति को नष्ट करता आया है।"¹²

आदिवासी समाज के इन्हीं गुणों के कारण नेहरू ने कहा था कि "आदिवासियों में मुझे कई गुण दिखाई दिए जो भारत के मैदानी इलाकों शहरों और अन्य भागों में नहीं है। इन्हीं गुणों के कारण मैं आकृष्ट हुआ। आदिवासियों के प्रति हमारा रवैया आदानशील होना चाहिए। इन लोगों में बहुत अनुशासन है और वे भारत में अधिकांश लोगों की तुलना में कहीं अधिक लोकतान्त्रिक हैं।"¹³

तब आदिवासियों को केवल जंगलों-पहाड़ों में रहने भर से पिछड़ा व बर्बर कहकर असभ्यता की परिपाटी में नहीं बाँधा जा सकता। उनके समाज की आंतरिक संरचना को समझने के लिए हमें उनके पास जाना होगा, रहना होगा; ठीक 'पलास के फूल' उपन्यास के पात्र आनन्द बाबू की तरह। आनन्द बाबू सड़क बनाने वाली कम्पनी में इंजीनियर हैं। उनकी पोस्टिंग आदिवासी इलाके में होती है। इसपर उनके संगी-साथी सलाह देते हैं कि "अरे उन आदिवासियों के यहाँ जा रहे हो। खूंखार आदिवासियों की अपनी भयानक दुनिया, तीन-धनुष से वेध दें तो घुट-घुटकर दम तोड़ दोगे।" किन्तु जब आनन्द बाबू आदिवासियों के यहाँ जाते हैं तो देखते हैं कि "आदिवासियों की अलग रंगीन दुनिया है। उनका अंदरूनी जीवन अपने में कितना खूबसूरती लपेटे था। खुला उन्मुक्त सौन्दर्य जब परत-दर-परत खुलने लगा था तो मन-दिल अंदर तक खोता चला गया था।"¹⁴ उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जब कोई समाज यदि अपने इतिहास, संस्कृति एवं परम्पराओं के साथ जीवित है तो उसको किसी भी मानदंड पर असभ्य नहीं कहा जा सकता है। सहजीविता-सामूहिकता-सहअस्तित्व आदिवासी समाज के जीवनदर्शन का मूल तत्त्व है

और इस जीवनदर्शन के साथ आदिवासी समाज सदियों से जंगलों-पहाड़ों में रह रहा है तो यह उनके पिछड़ेपन का पर्याय नहीं है, बल्कि मानव-सभ्यता के विकास-क्रम में यह श्रेष्ठ मूल्यों के साथ जीना है। कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज एक विशिष्ट वैभवशाली संस्कृति का मालिक है।

UnHk %

1. वृहत प्रमाणिक हिंदी कोश : रूपचन्द्र वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, नईदिल्ली, 2012, पृ० 94.
2. जातिभेद का उच्छेद : डॉ० भीमराव अम्बेडकर, गौतम बुक सेंटर, नईदिल्ली, 2010, पृ० 44.
3. पाँव तले की दूब : संजीव, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2009, पृ० 14.
4. जनजातीय शोध पत्रिका, अगस्त 2015-जनवरी 2016, नवादा, पृ० 23.
5. जंगल के गीत : पीटर पॉल एक्का, सत्यभारती प्रकाशन, रांची, पृ० 147.
6. मानव और संस्कृति : श्यामाचरण दुबे, राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली, 2012, पृ० 228.
7. झारखंड के आदिवासियों के बीच : वीर भारत तलवार, भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली, पृ० 251.
8. भोर पत्रिका, दिसंबर 2013- फरवरी 2014.
9. झारखंड के आदिवासियों के बीच : वीरभारत तलवार, भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली, पृ० 251.
10. गोदान : प्रेमचंद, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2010, पृ० 66.
11. भोर पत्रिका, दिसंबर 2013-फरवरी 2014, पृ० 95.
12. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी : रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली, 2008, पृ० 6.
13. आदिवासी दुनिया : हरिराम भीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नईदिल्ली, 2014 पृ० 98.
14. पलास के फूल : पीटर पॉल एक्का, सत्यभारती प्रकाशन, रांची, 2012, पृ० 57.



लेखक का नाम : डॉ. लज्जा

मकौ जकेपुन जितद*

समूचे विश्व की आबादी में आधी से अधिक स्त्री ही है पर सबसे अधिक उपेक्षित एवं शोषित भी वही है। भारत में स्त्रियों को प्रेम, बलिदान तथा विनम्रता के प्रती के रूप में सराहा गया है। इसके बावजूद भी यह एक विडम्बना है कि महिलाओं को जिन्होंने अपने परिवार तथा समाज के विकास के लिए स्वयं को मिटा व खपा दिया, योजनाबद्ध विकास के छः दशकों के बाद भी उन्हें सामाजिक व्यवस्था में यथोचित स्थान नहीं मिला है। इक्कीसवीं सदी को 'महिलाओं की सदी' के रूप में मनाना तभी अच्छा लगेगा जब हम महिला वर्ग की गरीबी, अशिक्षा, बीमारी, यौन हिंसा, मानवाधिकार हनन व कन्या शिशु हत्या जैसी चुनौतियों से मुक्त करना होगा। महिलाओं के जीवन स्तर में गुणात्मक परिवर्तन लाना होगा। सामाजिक विसंगतियों विषमताओं और विद्रूपताओं को दूर करना होगा। समकालीन स्त्री विषयक चिंतन स्त्री जीवन की समस्याओं एवं दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति करता है। यह पारम्परिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है।

स्त्री और पुरुष मानव-जीवन रथ के दो पहिये हैं, दोनों साथ रहकर भी भिन्न हैं। दोनों में प्राकृतिक भिन्नता है। एक की कमी दूसरे के द्वारा पूरी हो जाती है और तभी दोनों मिलकर इस मर्त्यलोक में स्वर्गलोक का सृजन कर सकते हैं। फलतः यह कहना अत्यन्त युक्तिसंगत होगा कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व तक भी नहीं के बराबर है। नारी का स्थान घर में क्या है? और समाज में क्या है? तथा क्या होना चाहिए? इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। व्यवस्था में असंतुष्ट व्यक्ति व्यवस्था में परिवर्तन का आकांक्षी होता है और वह परिवर्तन के लिए संघर्ष भी करता है। भारतीय समाज में स्त्रीमुक्ति, संघर्ष, परिवर्तन की इच्छा से किया हुआ संघर्ष है। समाज ने स्त्री को कभी भी एक मानव के रूप में मान्यता नहीं दी जो उसे मिलनी चाहिए। उसे पुरुष एक वस्तु ही मानता रहा है जिसके कारण मानव रूप में उसकी चेतना का विकास नहीं हो सका। चिरकाल से उसे मानसिक रूप से दबाकर रखा गया और पुरुषवादी व्यवस्था से वह आतंकित होती रही है। किन्तु समय के साथ परिस्थिति में परिवर्तन आता गया। उसमें भी आत्मसम्मान की भावना का धीरे-धीरे निर्माण होता गया। आधुनिक काल तक आते-आते जीवन संबंधी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आ गया। लोकतंत्र की स्थापना हो जाने एवं उदारता, बौद्धिकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण स्त्री-पुरुष समानता की बात सामने आयी। स्त्री-मुक्ति आंदोलन से समाज में स्त्री की स्थिति बदली और उसके विभिन्न रूप उभरकर सामने आये।

स्त्री का मुक्त होना मानव भविष्य के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है। स्त्री मुक्ति की आकांक्षा रखती है। स्त्रीमुक्ति में स्त्रीवादी सामाजिक आन्दोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। समकालीन कथा साहित्य ने तनाव, कुंठा, अमानवीय व्यवहार, असंतोष, मन की मानसिक छटपटाहट, क्रूर वातावरण, मानसिक अभिव्यक्ति को उजागर कर दिया। यही छटपटाहट सन् 1990 ई. के बाद हिन्दी कथाकारों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। सन् 1990 के बाद वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य भी प्रभावित होने से न बच सका, परिणामस्वरूप अनेक विषयों में परिवर्तन लक्षित हुए जिनमें स्त्री-दृष्टि मुख्य विषय रहा है। स्त्री-दृष्टि के विकास की इस प्रक्रिया में केवल संघर्ष ही नहीं स्त्री-जीवन के अन्य कई पहलुओं को भी स्पर्श किया है।

समकालीन रचना जगत में अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए महिला रचनाकारों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की है। स्त्री जीवन को एक नया आयाम प्रस्तुत कर समाज में उनके अस्तित्व का बोध

*असि0 प्रोफेसर (गेस्ट फैकेल्टी), हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कराया है। इनका प्रमुख मुद्दा है— पितृसत्ता से स्त्री की मुक्ति। पितृसत्तात्मक अवधारणाओं और सांस्कृतिक प्रतीकों की अपनी व्यवस्था है जिससे स्त्री मुक्ति चाहती है। यौन शुचिता, सतीत्व, पातिव्रत्य आदि पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रमुख अवधारणाएं, मूल्य हैं जो स्त्री के स्वतंत्रता के मार्ग की प्रमुख बेड़ियाँ हैं। समकालीन कहानीकारों ने अपनी रचनाओं के प्रायः स्त्री मुक्ति और आत्म निर्भरता की बात करती है। रूढ़ियों और सामाजिक बंधनों के बोझ से निष्प्राण होती नारी ने जब आज संघर्ष करने लगी तभी उनके अधिकार उन्हें मिलने शुरू हुए हैं। समकालीन महिला कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से नारी जगत को बेहतर बनाने का सफल प्रयास किया है।

आज की महिला कथाकार इस बात की जरूरत महसूस करती है कि देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त करके, अपने अधिकार में लेने की क्योंकि यौन शुचिता, पातिव्रत, सतीत्व आदि मूल्य स्त्री के सम्मान के सूचक नहीं हैं, बल्कि पुरुष अहंकार के पैमाने हैं, पितृसत्ता के मूल्य हैं और स्त्री की बेड़ियाँ हैं। इन्हीं बेड़ियों से मुक्त होने के लिए समकालीन महिला कहानीकारों ने लेखन की दुनिया में पदार्पण किया। इस तरह आज स्त्री अस्मिता की लड़ाई आधी दुनिया को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई है।

समकालीन कहानियों में स्त्री—जीवन को आधार बनाकर स्त्रीवादी लेखकों द्वारा 'स्त्री—मुक्ति' का ज्वलंत मुद्दा उठाया गया है। मानवतावादी दृष्टि ने समकालीन कहानीकारों— नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, मृणाल पाण्डेय, मेहरुन्निसा परवेज, अलका सरावगी, मृदुला गर्ग, कुसुम अंसल, मैत्रेयी पुष्पा, जया जादवानी, मंजुल भगत, सोनी सिंह, आरती झा, प्रत्यक्षा, नीलाक्षी सिंह, अल्पना मिश्र, नमिता सिंह, सुधा अरोड़ा, कृष्णा अग्निहोत्री, क्षमा शर्मा, सोनाली सिंह, किरण अग्रवाल, ऊषा महाजन, इंदिरा राय, जयवंती डिभरी, नीलिमा सिंह, शशिप्रभा शास्त्री आदि स्त्री लेखिकाओं के साथ ही साथ पुरुषों में मिथिलेश्वर, जयनंद, श्योराज सिंह बेचैन, प्रदीप पंत, कृष्ण बिहारी, अशोक गुप्ता, शैलेन्द्र सागर, गौरीनाथ, तेजेन्द्र शर्मा, नवगीत मिश्र, उदय प्रकाश, आलमशाह खान, दिनेश पालीवाल, शैलेश मटियानी, नरेश पंडित आदि को प्रेरित किया। समाज में सर्वाधिक शोषित, दमित, जीवन से निकलकर एक उन्नत जीवन जीने की दशा के लिए प्रेरित किया। समकालीन कहानियों में पुरुष समाज के दोहरे मानदण्डों की अस्वीकृति तथा स्त्री को पुरुष के समान बराबरी के दर्जा देने की पहल है। समकालीन कथाकार की अभिरूचि यथार्थ को उसकी पूर्ण भयावहता और नग्नता में प्रस्तुत करने में रही। यह यथार्थ की अनछुई स्थितियों और अनदेखे क्षेत्रों की तत्त्व सच्चाइयों को पूरी बेबाकी से अभिव्यक्त करता है। यह साहित्य अपनी स्वतंत्र सत्ता के प्रति सचेत होने का साहित्य है। समकालीन कहानीकार जो लिख रहा है, वह किसी वाद के घेरे में बंधकर नहीं लिख रहा है। वह आज के जीवन का दृष्टा है, समाज में जो घटित हो उसे वह उठकरने में जरा सा भी विचलित नहीं होता है।

समूचे विश्व की आबादी में आधी से अधिक स्त्री ही है पर सबसे अधिक उपेक्षित एवं शोषित भी वही है। भारत में स्त्रियों को प्रेम, बलिदान तथा विनम्रता के प्रतीक के रूप में सराहा गया है। इसके बावजूद भी यह एक विडम्बना है कि महिलाओं को जिन्होंने अपने परिवार तथा समाज के विकास के लिए स्वयं को मिटा व खपा दिया, योजनाबद्ध विकास के छः दशकों के बाद भी उन्हें सामाजिक व्यवस्था में यथोचित स्थान नहीं मिला है। इक्कीसवीं सदी को महिलाओं की सदी के रूप में मानना तभी अच्छा लगेगा जब हम महिला वर्ग की गरीबी, अशिक्षा, बीमारी, यौन हिंसा, मानवाधिकार हनन व कन्या शिशु हत्या जैसी चुनौतियों से मुक्त करना होगा। महिलाओं के जीवन स्तर में गुणात्मक परिवर्तन लाना होगा। सामाजिक विसंगतियों विषमताओं और विद्रूपताओं को दूर करना होगा। नारी यदि अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य को पा लेती है तो वह अपनी स्थिति को सार्थक अनुभव करती है।

समकालीन कहानी अपने परिवेश और उसकी बहुविध समस्याओं के प्रति अत्यंत सचेत रही है। महिला वर्ग की गरीबी, निरक्षरता, बीमारी, यौन हिंसा, मानवाधिकार का हनन व कन्या शिशु हत्या जैसी चुनौतियों से मुक्त होने के लिए ही महिला रचनाकारों ने अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं। स्त्री जीवन को एक नया आयाम प्रस्तुत कर समाज में उनके अस्तित्व का बोध कराया है। इनका प्रमुख मुद्दा है— पितृसत्ता से स्त्री की मुक्ति। पितृसत्तात्मक अवधारणाओं और सांस्कृतिक प्रतीकों की अपनी व्यवस्था है जिससे स्त्री मुक्ति

चाहती है। यौन शुचिता, सतीत्व, पातिव्रत्य आदि पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रमुख अवधारणाएँ, मूल्य हैं जो स्त्री के स्वतंत्रता के मार्ग की प्रमुख बेड़ियाँ हैं। समकालीन कहानीकारों ने अपनी रचनाओं में स्त्री मुक्ति और उनकी आत्म निर्भरता की बात करती है। रूढ़ियों और सामाजिक बंधनों के बोझ से निष्प्राण होती नारी ने जब आज संघर्ष करने लगी तभी उनके अधिकार उन्हें मिलने शुरू हुए हैं। समकालीन महिला कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से नारी जगत को बेहतर बनाने का सफल प्रयास किया है।

आज की महिला कथाकार इस बात की जरूरत महसूस करती है कि देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त करके, अपने अधिकार में लेने की क्योंकि यौन शुचिता, पातिव्रत, सतीत्व आदि मूल्य स्त्री के सम्मान के सूचक नहीं हैं, बल्कि पुरुष अहंकार के पैमाने हैं, पितृसत्ता के मूल्य हैं और स्त्री की बेड़ियाँ हैं। इन्हीं बेड़ियों से मुक्त होने के लिए समकालीन महिला कहानीकारों ने लेखन की दुनिया में पदार्पण किया। आज उनकी स्त्री अस्मिता की लड़ाई आधी दुनिया को मनुष्य का दर्जा दिलाने की लड़ाई है।

समकालीन कहानियों में व्यक्त विभिन्न संवेदनाओं की ओर संकेत करते हुए डॉ० पुष्पपाल सिंह लिखते हैं— “सामान्य मनुष्य की जिन्दगी में जीवन जीने की विषम आर्थिक स्थितियाँ, विज्ञानीकरण, औद्योगीकरण और तकनीक के विकास से उत्पन्न विभिन्न नवीन स्थितियाँ और समस्याएँ, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के भयावह, त्रासद परिणाम, नैतिक रूढ़ियों और मान्यताओं का विघटन, व्यक्ति के जीवन में घर कर गये। निराशा, महानगरीय जीवन और उसकी विविध समस्याएं भ्रष्ट राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष, प्रेम और सेक्स का नूतन भावबोध, आत्मिक सम्बंधों पर अर्थतंत्र के बढ़ते दबाव और स्थिति, नारी में आधुनिकता और पुरातनता का द्वन्द्व जीवन की न जाने कितनी स्थितियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण और उन सब समस्याओं पर लेखकीय दृष्टि और पकड़ का बड़ा गहन परिचय इन कहानियों में मिलता है।”¹

समकालीन स्त्री मुक्ति संदर्भ के लेखन में नासिरा शर्मा लिखती हैं— “अकेलापन ही पुरानी परिभाषा अविवाहित होना है परन्तु नयी परिभाषा का अर्थ है, एक नयी जिंदगी की शुरुआत, एक नयी स्वतंत्रता का ऐलान, जिसमें सब कुछ है मगर प्रताड़ना, अपमान, असुरक्षा, आँसू, आह, अविश्वास नहीं है, जो अंजाम है अच्छा या बुरा, वह आज का अपना हिस्सा है। क्योंकि उसको आपने स्वयं चुना है।”² समकालीन कहानियों में स्त्री की समानता बराबरी सहभागिता की वकालत की गयी है। लिंग जाति के आधार पर अब भेदभाव उन्हें स्वीकार नहीं। अब मनुष्य और मनुष्य होंगे, स्त्री या पुरुष नहीं। कमला भसीन लिखती हैं कि— “कोई भी राष्ट्र, समाज और परिवार समृद्ध और खुशहाल नहीं हो सकता, यदि उसकी आबादी का 50 प्रतिशत, यानी महिलाएँ और लड़कियाँ समान, आजादी और खुशी से वंचित हैं।”³ समकालीन कहानी लेखन की मूल संवेदना स्त्री मुक्ति के प्रश्नों से बड़ी गहराई के साथ जुड़ी हुई है। कहानियों में व्यवस्था के प्रति विद्रोह तथा आक्रोश का स्वर मुखरित हुआ है।

शिवप्रसाद सिंह की ‘धरातल’ कहानी की कम उम्र की विधवा स्त्री अपने हक के लिए हर तरह की कुर्बानी करने को तत्पर दिखायी देती है। वह कहती है कि— “मेरा हक मुझे मिल गया, रहने के लिए घर। गुजर करने भर खेत और जमीन। इस छोटे से घर में मैं हूँ और मेरी जिंदगी। मैं बार—बार पूछती हूँ कि इस दौर से निकलकर मैं क्या बची ? अब वह दमतोड़ ? स्थितियाँ नहीं हैं। वह शंका, वह भय सभी कुछ खत्म ? हो गए हैं। मैं जानती हूँ कि इस जिंदगी में मुझे कीमत चुकानी पड़ी है। दुनिया में शायद कुछ भी बिना कीमत चुकाये नहीं मिलता। सोचना सिर्फ इतना है कि क्या देकर, क्या पाया गया।”⁴ कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति, संसाधनों और विचारधारा पर नियंत्रण से मिलती है। जिन लोगों के पास यह है वे परिवारों, समुदायों और देशों के लिए निर्णय लेने वाले और नियंत्रक बनते हैं। इसलिए महिलाओं की मुक्ति के लिए, पितृसत्तात्मक चिंतन और ढाँचों में बदलाव लाने, महिलाओं को संसाधनों (प्राकृतिक, मानव, बौद्धिक, वित्तीय, आंतरिक संसाधन) पर नियंत्रण प्रदान करने उन्हें निर्णय लेने की भूमिकाओं में लाने आदि की आवश्यकता होगी।

समकालीन कहानी ने आधुनिक जीवन में स्त्री के अस्तित्व का अनुसंधान करते हुए उसके जीवन की जटिलताओं तथा विसंगतियों के विविध रूपों का भी यथार्थ चित्रण किया है। इन कहानियों में अपनी

अस्मिता के लिए लड़ी जाने वाली स्त्रियों की सामूहिक लड़ाई का स्पष्ट, निर्भीक और संकल्पबद्ध स्वर सुनायी देता है। समकालीन कहानी की नारी अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रश्न को समस्त विश्व के नारी समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखती है। डॉ० गिरिराज किशोर कहते हैं कि— “सेक्स से मुक्ति ही नारी की मुक्ति नहीं है समाज में उनके इर्द-गिर्द हो रही असामाजिक गतिविधियों से मुक्ति जरूरी है।”⁵ समकालीन कहानी में विवाह और प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं पर अत्यंत श्रेष्ठ कहानियों की रचना हुई है। यद्यपि पुरुष कथाकारों ने भी इससे सम्बंधित अच्छी कहानियाँ लिखी हैं किन्तु महिला कथाकारों ने बिल्कुल अनदेखी और अनछुई स्थितियों के साथ स्वयं की उपस्थिति दर्ज की है। वे नारी मन के भीतर पूरी तरह पैठकर अनछुई स्थितियों की अभिव्यक्ति करती हैं। महिला कहानीकारों ने नारी की विवाह के प्रति एक भावुक और ललकभरी दृष्टि को नकारा ही नहीं है, युग-युग से नारी को विवाह के पवित्र बंधन के नाम पर शोषित करने और जड़-खरीद गुलाम की तरह रखने के प्रति एक आक्रोश और विवाह संस्था को समाप्त करने की बड़ी प्रबल आन्दोलन पूर्ण दृष्टि प्राप्त होती है। ऐसा करने के लिए उन्होंने विवाह और मातृत्व के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण को पूरी तरह त्यागना भी पड़ा। उषा प्रियंवदा की ‘प्रतिध्वनियाँ’ की नायिका तलाब प्राप्त करने के पश्चात् एक मुक्ति के अहसास से कहती है— “एक मीनिंगलैस—सी रस्म ने हमें बांध दिया था।”⁶ उषा प्रियंवदा की कहानी ‘प्रतिध्वनियाँ’ की नायिका वसु विवाहित जीवन से छुटकारा पाकर अपने आपको बहुत स्वतंत्र महसूस करती है। अपने जीवन में वह पहली बार इतना स्वतंत्रता का अहसास हुआ। वह इस अनुभूति को— “कैसे कहें कि मुक्त होकर उसे पहली बार लगा था कि वह एक आकर्षक युवती है, उमंगे और कामनाएं मरी नहीं हैं। अपने में निहित स्वतंत्र, पूर्ण व्यक्तित्व को पाना कितनी बड़ी उपलब्धि थी।”⁷ व्यक्ति में अपने अस्तित्व के प्रति सजगता, सम्बंधों के नये रूप, सामाजिक मानदण्डों के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण, प्रेम, मातृत्व एवं देह-धर्म की जो सहज स्वीकृति आज की कहानियों में मिलती है उससे उसका जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण एवं भावबोध पैदा होता है। मनीषा प्रियंवदा ‘कथा किसी और की’ कहानी में यह दिखायी देता है। कहानी में— “शालिनी को पहलीबार लगा कि पांव के नीचे से जमीन किस तरह खिसकती जाती है। उसने ऐसे मंजर की कभी कल्पना भी नहीं की थी। उसे लगा सत्य प्रकाश को क्या कठिनाई हो सकती है ? शादी से पहले संतान का होना तो लड़की के लिए फिक्क की बात है। जबकि अपने प्यार के लिए उसने हिम्मत दिखायी है, उसकी तो सत्य प्रकाश को तारीफ करनी चाहिए। यहाँ तो सब कुछ उल्टा हो रहा है। वह खिन्न हो गई। उसने जान लिया कि सत्य प्रकाश भीतर से कितना खोखला और लिजलिजा है, जो अपनी झूठी मान मर्यादा के लिए खुद के प्यार और संतान का तिरस्कार कर सकता है।”⁸

इस तेजी से बदलती दुनिया में सबसे तेजी से जो बदली वह है— स्त्री। स्त्री बहुत तीव्रगति से आगे निकल रही, जबकि आज भी मध्यवर्गीय सामंती मानसिकता पुंसवादी प्रवृत्ति नहीं बदली है। शेष सभी चीजों का उतना अधिक न बदलना, मसलन परिवार में उसकी भूमिका, बेटी, बहन, भाभी, माँ इत्यादि के रूप में किये जाने वाले तमाम-तमाम गृह कार्य। उसे किसी भी तरह से अपेक्षित सहयोग न मिल पाना, उसके असहज व असंतुलन हो जाने का मुख्य कारण है। स्त्री को अधिकतर पतिपक्ष की ओर से लांछन, तिरस्कार, व्यंग्योक्ति उपहास, एक नीच, दुष्ट, संस्कारविहीन आदि विशेषणों से संबोधित करने के कारण ही समकालीन दौर की स्त्रियाँ पुरुषों से अलग हो जाना चाहती है। वह अपनी अलग समानांतर दुनिया बनाना चाहती है। यही कारण है कि कुसुम अंसल की कहानी ‘बस एक क्रास’ की किरण विवाह संस्था को चुनौती देती है। एक बारात के मौके पर किरण ने ईवा से कहा— “तुझे केवल ये तमाशा लग रहा है, मुझे तो ये पूरा सिस्टम, ये शादी-ब्याह सारी की सारी व्यवस्था तमाशा लगती है। एक नौटंकी जिसकी सज-धज इतनी ऊपरी होती है कि शरीर से दूर खड़ी रह जाती है। शादी करने वाली हर औरत ने दुल्हन बनकर जैसे अपने को, अपने अस्तित्व को एक परिहास में बदल डाला हो।”⁹ समकालीन स्त्रीवादी लेखन कहता है कि आज स्त्री को जरूरत है— “देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त करके, अपने अधिकार में लेने की। क्योंकि यौन-शुचिता, पतिव्रत, सतीत्व आदि मूल्य स्त्री के सम्मान के सूचक नहीं हैं, बल्कि पुरुष के अहंकार के पैमाने हैं। पितृसत्ता के मूल्य हैं और स्त्री की बेड़िया है।”¹⁰ उर्मिला पवार अपनी कहानी ‘औरत

जात' में लिखती है— "मैं जानती हूँ कि कोई भी तेरी तरफ से बोलने वाला नहीं है क्योंकि पढ़ने—लिखने के बावजूद तुम एक औरत ही हो।"¹¹

समाज में स्त्री के स्थान की ओर संकेत करते हुए शिव प्रसाद गुप्त लिखते हैं— "मैं पुरुष और स्त्री में कोई भेद साधारण रूप में नहीं मानता। वैसे तो प्रकृति ने इन दोनों में कुछ अन्तर बनाया ही है, जिसकी उपेक्षा कोई भी विचारवान व्यक्ति नहीं कर सकता। आजकल इस सत्य की आड़ लेकर नाना प्रकार की कृत्रिम दीवारें पुरुष और स्त्री के बीच में खींचने का यत्न किया जाता है, जिसका मैं अपने को विरोधी मानता हूँ। यह सत्य है कि स्त्री को सन्तति उत्पन्न करने और उसका लालन—पालन करने में अपने जीवन का अधिक समय लगाना पड़ता है और यही कारण है कि माता का स्थान समाज में पिता के स्थान से बहुत ऊँचा समझा जाता रहा है और आज भी समझा जाता है। अपने देश में तो यह समझा जाता है कि व्यक्ति पितृऋण से तो मुक्त हो सकता है, पर मातृऋण से छुटकारा नहीं पा सकता।"¹²

"समकालीन कहानीकार के लिए स्त्री देवी, माँ, सहचरी, प्राण न होकर एक प्रतिद्वन्दी है। वह सेक्स सम्बन्धों में जंतु—तर्क को मानता है और सारे नैतिक मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। स्त्री और पुरुष के बीच सारी नैतिक मान्यताओं और मूल्यों से ऊपर जैविक स्तर का शारीरिक सम्बन्ध एक अनिवार्य तथ्य है।"¹³

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ लिखते हैं— "आजकल नारी की ऐतिहासिक कर्म भूमिकाएँ— गृहिणी, धात्री, जननी उपचारिका, सेविका, दासी आदि जो शय्या और रसोई की धुरी में केन्द्रित थी, अब बदल रही है। वह गृह से बाहर और अन्दर दोनों क्षेत्रों में धन्धों को अपना रही है और गृह की धुरी के ढीला होने के साथ 'विवाह—संस्था' के अस्तित्व पर भी प्रश्न उठ रहे हैं अर्थात् सामंती आधार टूट रहे हैं।"¹⁴

वस्तुतः स्त्री अपने कारण नहीं वरन सामाजिक व्यवहार के कारण ही पिछड़ रही है, ऐसे में जब तक सामाजिक परिवेश को बदलकर लोकतांत्रिक न्यायोचित एवं मानवोचित परिस्थितियों का निर्माण नहीं किया जाता तब तक स्त्री की मुक्ति व उनकी उन्नति संभव नहीं है। आज की स्त्री के उत्थान के लिए जरूरी है कि समाज में परिवर्तन की मानसिकता और जन चेतना विकसित की जाए। साथ ही साथ सभी स्त्री को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया जाए तभी हम एक उन्नत राष्ट्र का सपना पूरा कर सकते हैं। ज्यादातर देश आज महिला—पुरुष समानता और महिला सशक्तीकरण को विकास और साथ ही साथ परिवारों, समुदायों और राष्ट्रों के कल्याण के लिए अनिवार्य मानते हैं।

I UnHk §

1. समकालीन लेखन और आधुनिक संवेदना, संपा0 कल्पना वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण—2010, पृ0 236
2. औरत के लिए औरत, नाशिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण—2003, पृ0 146
3. योजना, सितम्बर—2016, संपा0 ऋतेश पाठक, दिल्ली, पृ0 9
4. भेड़िये, शिवप्रसाद सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण—1977, पृ0 23
5. नई सहस्राब्दी का स्त्री विमर्श : साहित्यिक अवधारणा एवं यथार्थ, संपादक डॉ0 वीरेन्द्र सिंह यादव, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण—2010, पृ0 99
6. कितना बड़ा झूठ, उषा प्रियंवदा, प्रतिध्वनियाँ, पृ0 29
7. सम्पूर्ण कहानियाँ, उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण—2006, पृ0 338
8. चल खुसरो घर आपने, मनीषा प्रियंवदा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संस्करण—2010, पृ0 27
9. गुम होती गौरैया, कुसुम अंसल, रे माधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण—2008, पृ0 81—82
10. स्त्री विमर्श : विविध पहलू, संपादक कल्पना वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण—2011, पृ0 263
11. औरत की कहानी, संपा0 सुधा अरोड़ा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण—2010, पृ0 73
12. स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, संपादक— डॉ. संजय गर्ग, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 20.14, पृ0 163—64
13. हिंदी कहानी परंपरा और प्रगति, डॉ. हरदयाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ0 197—98
14. स्त्री विमर्श विविध पहलू, कल्पना वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011, पृ0 258



lokñ; n'ku vkj lE;okn

lit ; dekj pkgku*

विनोबा ने 1951 में (किशोरी लाल मशरूवाला की गाँधी और मार्क्स की प्रस्तावना) लिखा था “महात्मा गाँधी और मार्क्स महामुनि दोनों के विचारों की तुलना से अधिक आकर्षण विषय आज के जमाने में क्या हो सकता है— “गांधी विचार ने भारत के स्वराज्य को संपादन का श्रेय प्राप्त कर अपनी अव्यवहार्यता के आक्षेप से छुटकारा पा लिया है। साम्यवाद ने चीन के पुराणपुरुष को तारुण्य प्रदान कर अपनी तत्कालिक शक्ति दिखा दी है। इसलिये संभव हो तो दोनों विचारों का समन्वय किया जाये ऐसी लालसा कुछ प्रचारकों के मन में उठती है। फिर गांधीवाद यानि अहिंसा, साम्यवाद इस तरह के कुछ सूत्र बना लिये जाते हैं। वस्तुतः इन दो विचारों का मेल नहीं हो सकता है इनका विरोध मूलगामी है।”¹

विनोबा जी के अनुसार गाँधीवाद व साम्यवाद के मध्य केवल साधनों का भेद नहीं है, बल्कि दोनों के मध्य बुनियादी भिन्नताएँ हैं। केवल अहिंसा के आधार पर दोनों में भेद समझने के बारे में विनोबा जी का मत है “दो आदमी नाक, कान, आँख की दृष्टि से बिल्कुल एक थे। इतने मिलते-जुलते थे कि राजनैतिक हल के लिए एक की जगह दूसरे को बैठाया जा सकता था। फर्क इतना ही था कि एक की नाक से साँस चल रही थी दूसरे की साँस बन्द हो गयी थी। परिणाम हुआ, एक के लिए भोजन की तैयारी हो रही थी, जबकि दूसरे के लिए शवयात्रा की।”²

उनके अनुसार “अहिंसा का होना या न होना यह छोटा सा फर्क छोड़ देने पर बची हुयी समानता इसी तरह की। परन्तु यहाँ तो नाक, कान, आँख में फर्क है जिसकी साँस चल रही थी और जिसकी नहीं चलती है ऐसे दो व्यक्तियों के नाक, कान, आँख में भी फर्क हुए बिना कैसे रहेगा भले ही ऊपर से वे कितने ही समान क्यों न दिखाई देते हों।”³

यद्यपि “सर्वोदय और साम्यवाद की राजनीतिक और आर्थिक संकल्पनाएँ सतही तौर पर एक दिखलायी देती हैं, दोनों की विचारधाराएँ दमनकारी शक्ति के रूप में राज्य को समाप्त करना चाहती हैं, और ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहती हैं जिसमें आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा को एक साथ सुनिश्चित किया जा सके परन्तु दोनों में मौलिक भिन्नताएँ हैं।”⁴

सर्वोदय सम्पूर्ण जीवन को अंगीकृत करता है और यह एक सम्पूर्ण विचार है। इसकी उत्पत्ति मार्क्सवाद की तरह किसी विशेष वाद से संघर्ष करने के उद्देश्य से नहीं हुआ है। विनोबा के शब्दों में “साम्यवाद एक प्रतिक्रिया रूप विचार है। कम्यूनियजम यूरोप की वातावरण में पैदा हुआ था। यूरोप में पूँजीवाद का जोर था, वहाँ बड़े-बड़े कारखाने, शहर बनाये गये। दुनिया भर की सम्पत्ति एकत्र होती थी मालिक, मजदूर में झगड़ा हुआ। मालिक मजदूर को ऊपर नहीं उठने देते थे। इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप कम्यूनियजम पैदा हुआ। यह स्वयं पूर्ण विचार नहीं है जो प्रतिक्रिया रूप होता है, वह भी बदलता रहता है।”⁵

मार्क्सवाद का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि मनुष्य पूर्णतः भौतिकवादी प्राणी है तथा आत्मिक व आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु सर्वोदयी विचार के आधार आध्यात्मिक तेजपुंज है, इसकी मान्यता है कि यदि मानव प्रेम, दया, सहानुभूति और कर्मों से सर्वथा अलग होकर पूर्णतया स्वार्थी झगड़ालू और ईर्ष्यालू होता तो वर्तमान में दिखने वाले पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय संगठन सम्भव नहीं होते।

*शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वर्ग संघर्ष की धारणा साम्यवादी में अंतर्निहित है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्दर भिन्नता के साथ-साथ परस्पर हित-विरोध होता रहता है। जबकि सर्वोदय की धारणा है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग एक ही समाज के भिन्न-भिन्न अंग है। जिस प्रकार शरीर और उसके अवयवों में आपसी विरोध नहीं है उसी प्रकार समाज और उसके विभिन्न वर्गों में हित-विरोध नहीं होता।

“इसमें इस बात को स्वीकार नहीं किया जाता है कि मानव का आपसी विरोध या एक का हित दूसरे के हित के विरुद्ध है। विचार-भेद हो सकता है लेकिन हित-विरोध नहीं।”⁶

समाज में सबका हित एक साथ पूर्ण हो सकता है बशर्ते “हर एक व्यक्ति दूसरों की फिक्र करे और अपनी फिक्र भी ऐसा न रखे कि दूसरे उससे दुःखी हो। यह परिवार का न्याय है, जिसे समाज पर लागू करना कठिन नहीं है बल्कि आसान है, इसी को सर्वोदय कहते हैं।”⁷

सर्वोदय साम्यवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास नहीं रखता है। इसे विनोबा ने वैतार्किक वस्तुवाद का नाम दिया है। उनके शब्दों में “भौतिकवाद नाम योग्य नहीं है। भौतिकवादी वे होते हैं, जिनका जीवन खाना-पीना और मौज करना, ही होता है। वितर्कवाद (डाइलेक्टिक) तो केवल एक विचार की पद्धति है। उसमें क्रान्ति भी हो सकती है और उपक्रान्ति भी। खट्टे नींबू के वृक्ष पर मीठे वृक्ष की कलम लगाए तो खट्टे मीठे फल पैदा होते हैं। थीसिस, एण्टीथीसिस और सिन्थेसिस यह ऐसी ही प्रक्रिया है। इस थियरी से क्रान्ति को क्या उत्साह मिलता है और श्रीमानो को खत्म करना चाहिये।”⁸

मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या की है “इतिहास के किसी भी युग के आर्थिक सम्बन्ध समाज की प्रगति का रास्ता तैयार करने तथा राजनीति के कानूनी, सामाजिक, बौद्धिक, और नैतिक सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारित करने में सबसे बढ़कर प्रभाव डालता है।”⁹

यानि इस के चैतन्य पर जड़ की प्रधानता स्वीकार है। सर्वोदय ‘तत्त्व’ की प्रधानता देता है। विनोबा के शब्दों में जहां तत्त्वज्ञान मजबूत होता है वहां समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थनीति आदि सारी योजनायें तदनुकूल बन जाती हैं।¹⁰ साथ ही विनोबा ने यह भी कहा कि “सदगुणों की उचित वृद्धि होने पर ही समाज रचना अच्छी होती है— सदगुण बुनियाद है, और समाज रचना इमारत है।”¹¹ साम्यवाद पूँजी और श्रम को विपरीत तत्वों के रूप में स्वीकार किया है, जबकि सर्वोदय इन दोनों के मध्य सामंजस्य एवं सहयोगपूर्ण सम्बंध को अनिवार्य मानता है। श्रम और पूँजी के मध्य अनिवार्य सम्बंध और पूँजी के घातक प्रभाव से मुक्ति के लिये गांधी जी ने न्यायिकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जहाँ मार्क्स ने पूँजी के दुष्परिणामों से अर्थ व्यवस्था को मुक्त करने के लिए सर्वहारा की तानाशाही की स्थिति में राज्य के दमनकारी शक्ति के माध्यम से पूँजीपति वर्ग का उन्मूलन की कल्पना करता है, वही गांधी इस प्रयोजन के लिए हृदय परिवर्तन व अहिंसा की प्रभावशीलता को स्वीकार करते हैं। विनोबा द्वारा संचालित, भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, हृदय परिवर्तन के सफल प्रयोग है।

विनोबा के शब्दों में — “कम्यूनिस्टों के क्रान्ति को एक शस्त्र बनाया है वे कार्लमार्क्स के वाक्य को ही वेदवाक्य के समान मानते हैं, लेकिन मेरा मानना है कि कम्यूनिस्ट लोग जानते ही नहीं कि क्रान्ति तो देश काल की परिस्थिति पर निर्भर करती है। हर देश का अपना ढंग है, अपना मिशन है, अपना धर्म है। जैसे कुलधर्म होता है, एक-एक में एक-एक गुण का विकास होता है.....जब सारा जहां सो रहा था, तब यहाँ आत्मज्ञान का स्वच्छ प्रकाश फैला हुआ था। वेदांत समझे बिना कोई क्रान्ति नहीं हो सकती है, यदि आप आत्मा के टुकड़े करके वर्ग बनायेंगे, तो कटुता और द्वेष फैलेगा.....इसलिए यहां जो क्रान्ति होगी वह त्याग की पृष्ठभूमि में त्याग से ही होगी।”¹²

यद्यपि साम्यवाद और सर्वोदय दोनों ही वर्गविहीन समाज के उदय की आशा करते हैं पर उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों में बुनियादी असमानताएँ हैं। मार्क्सवाद जहाँ सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है तो वही सर्वोदय विचार सामाजिक परिवर्तन हेतु अहिंसा और सत्याग्रह में विश्वास व्यक्त करता है। सर्वोदय जहां श्रम की गरिमा के द्वारा वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, वहीं साम्यवाद निजी सम्पत्ति को समाप्तकर वर्गहीन समाज को स्थापित करना चाहता है। सर्वोदय तथा साम्यवाद दोनों ही सामाजिक आदर्श के रूप में सामाजिक समानता और स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं पर दोनों में तात्त्विक अन्तर है क्योंकि सर्वोदय को अहिंसा और उसकी कार्यविधि में गहरी श्रद्धा है।

I UnHk %

1. विनोबा साहित्य खंड-18 साम्ययोगी समाज, पृष्ठ-39
2. विनोबा 'सर्वोदय और साम्यवाद', पृष्ठ-15
3. वही
4. राकेशनाथ झा 'गांधीयन चिंतन सर्वोदय', पृष्ठ- 136
5. विनोबा साहित्य-खंड-15 आरोहण, पृष्ठ- 467
6. विनोबा 'सर्वोदय विचार और स्वराज्यशास्त्र', पृष्ठ- 48
7. विनोबा साहित्य-खंड-16 तीसरी शक्ति, पृष्ठ- 78
8. विनोबा साहित्य खंड-18 साम्ययोग, पृष्ठ- 11
9. ओपी० गावा- राजनीति शास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ- 313
10. विनोबा साहित्य-खंड-18, पृष्ठ- 26
11. वही
12. विनोबा साहित्य-खंड-15-आरोहण, पृष्ठ- 468



; 'kiky dh dgkfu; k e lkekft d pruk

Lk/; k ;kno*

प्रगतिशील विचाराधारा के प्रमुख कथाकार यशपाल का रचना संसार विचार –प्रधान और उपयोगितावादी रहा है। उनकी प्रेरणा का मुख्य श्रोत समाज है जो अपने गर्भ में बहुमुखी जटिल समस्याओं को छुपाए हुए है। यशपाल समाज में होने वाले शोषण के विरुद्ध हमेशा सक्रिय रहे। उन्होंने अपने कथा साहित्य में अधिकार और अधिकृत, शोषण और शोषित के बीच होने वाले अमानवीय अन्याय को उजागर किया है। साथ ही हम देखते हैं कि हमारा समाज एक ओर पुरानी मान्यताओं से चिपका हुआ है और दूसरी ओर अनेक वर्षों से बदलती हुई भौतिक परिस्थितियों में नवीन जीवन जीने की उत्कट इच्छा लिए हुए है। इस अन्तर्विरोधात्मक संघर्ष ने समाज में अनेक विसंगतियों और प्रवृत्तियों को जन्म दिया। जिससे सामाजिक संतुलन को आघात लगा है। यशपाल ने अपने साहित्य के माध्यम से इस असंतुलित परिस्थितियों से समाज को अवगत कराया।

यशपाल पराधीनता की बेड़ियों से जकड़े हुए भारत की हृदय विदारक स्थिति को देखते हुए पले बढ़े थे। पहले तो बन्दूक और बम का रास्ते देश को आजाद कराने के लिए जेल तक गये। वहाँ से मुक्त होने पर कलम का रास्ता चूना और समाज की तमाम बुराईयों को उजागर किये। चाहे सामाजिक हो, राजनीतिक हो, धार्मिक हो या फिर सांस्कृतिक ही क्यों न हो।

यशपाल की कहानियों के सन्दर्भ में डॉ० सुरेश सिन्हा लिखते हैं कि—“ उन्होंने अपनी कहानियों में राजनीति समाज एवं रोमांस का समन्वय व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं एवं विशेषताओं के सन्दर्भ में किया है, जिससे उनका समाजवादी दृष्टिकोण एवं मध्यवर्गीय चेतना प्रतिध्वनित होती है। उनकी कहानियों की एक सीमा मध्यवर्ग के व्यक्तिवादी संस्कार हैं, दूसरी सीमा मार्क्सवादी जीवन दर्शन है। यशपाल का रोमांटिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का परिणाम है और उनकी सिद्धान्तवादिता समाजवादी चेतना का प्रभाव है।”

साहित्य सृजन करना सर्वोत्तम कला माना जाता है क्योंकि साहित्यकार समाज का नियामक, प्रेरक और मार्ग प्रदर्शन होता है। यशपाल ने समाज की मानव रूढ़ि, परम्परा अंधविश्वास पर रचना के माध्यम से व्यंग्यात्मक प्रहार करते हैं।

प्रगतिशील कथाकार होने के कारण यशपाल का साहित्य तत्कालीन समाज का, उसकी समस्याओं का ज्वलंत दस्तावेज माना जाता है। उन्होंने मानव जीवन के नग्न यथार्थ को अपने साहित्य का विषय बनाया तथा समाज को चिन्तन मनन के लिए बाध्य कर दिया।

यशपाल समाजवादी विचाराधारा के कथाकार हैं। साहित्य विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाना ही रचना की सामाजिक उपयोगिता है। इस प्रकार वे साहित्य की सामाजिक उपयोगिता के प्रति विशेष रूप से आग्रही हैं। उनकी कहानियों का यही उद्देश्य है। साहित्य की सार्थकता समाज की अनुभूतियों और उनके आदर्शों के चित्रण में है। साहित्य का उद्देश्य है कि समाज की वास्तविकता को अपने विवेक से विश्लेषित कर रचना के माध्यम से जनता को सजग और सचेत करे। यशपाल ने स्वयं 'पिजड़े की उड़ान' नामक संग्रह में स्पष्ट लिखा है— “ कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकताएँ ही होती हैं। इसलिए कहानी के रूप में कल्पना का महत्व है। हमारी कल्पना या तो

अतीत के सुख—दुख की अनुभूति के चित्र बनाकर उससे सुख उठाना चाहती है या आदर्श की ओर संकेत कर समाज के लिए नया नक्शा तैयार करने का प्रयत्न करती है।¹²

यशपाल ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज के विकास में बाधक सभी परम्परागत जीवन—आदर्शों की चीर—फाड़ कर, उनके घृणित रूपों को सामने रखा है तथा तीक्ष्ण व्यंग्य किया है। जिसका उदाहरण है—न्याय का दण्ड, शम्बूक, मनु की लगाम आदि कहानियाँ। इन कहानियों के माध्यम से अवर्णों (निम्न वर्ग) की दयनीय सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्र उकेरा है। न्याय का दण्ड कहानी में डूमन जाति का धक्कू अपनी खून पसीने की कमाई बचाकर काँसे की थाली खरीद लेता है। यही थाली उसके लिए तथा उसके परिवार के लिए काल बन जाती है। सवर्णों ने मिलकर धक्कू की थाली तोड़ दी। जमा किये गये बाँस और कथरियों को फूँक दी गयी धक्कू उसके माता—पिता और चाचा—चाची को भी चार छः लाठियाँ पड़ी सब डुमनों ने धरती पर सिर रखकर अपराध के लिए माफी मांगी। लेखक की पूरी सहानुभूति धक्कू की ओर है वे लिखते हैं—“जो सेवा करने वाले वर्ग में पैदा हो गया, वह सेवा करने के अतिरिक्त और कोई इच्छा न करे ! मनुष्य के अधिकार और स्थिति उसकी योग्यता से नहीं, जन्मगत श्रेणी से ही निश्चित रहे!”¹³

लेखक ने प्रश्न किया है यह कहाँ का न्याय है। इस प्रकार यशपाल ने समाज में फैली वर्णव्यवस्था जातिवाद और साम्प्रदायिकता का कड़े शब्दों में विरोध किया है। ‘मनु की लगाम’ कहानी में भी सवर्ण यह सहन नहीं कर पाते हैं कि हरिजन उनसे बराबरी करे। सवर्ण की तरह शूद्रों के विवाह में बाजे बजे, दूल्हे डोली चढ़े, जनेऊ धारण करें। यह देखकर सवर्ण जलभुन जाते हैं। अवर्ण उनकी बराबरी करेगा कैसे सवर्ण निरीह और निरक्षर निचले तबके को हमेशा की तरह दबोचने की ललक पाले हुए हैं। परन्तु यशपाल ने अवर्णों पर हुए दुर्व्यवहार को रेखांकित करते हुए अवर्णों के विरोध को भी उकेरा है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी जातिप्रथा या निम्न वर्ग की दयनीय स्थिति को ‘ठाकुर का कुआँ’, ‘दुःखी चमार’ जैसी कहानियों में चित्रित किया है। यशपाल के विषय में राजेन्द्र यादव ने सच ही लिखा है—“यशपाल ने मार्क्सवादी दृष्टि से एक के बाद एक सशक्त कहानियाँ लिखी। उन्होंने समाज के परम्परागत मूल्यों और रूढ़ियों के विरुद्ध व्यंग्य और युक्ति के हथिहारों से तीखे प्रहार किये। जिस निर्भीकता से उन्होंने अंग्रेजी राज्य के खिलाफ ‘साग’ जैसी कहानियाँ लिखी, उसी निर्भीकता से धर्म और पुरानी नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध ‘मनु की लगाम’, धर्मरक्षा, ज्ञानदान, प्रतिष्ठा का बोझ, दूसरी नाक इत्यादि भी।”¹⁴

यशपाल ने अपनी कहानियों में समाज की ज्वलन्त समस्याओं की उठाया है दासप्रथा, सतीप्रथा, दहेजप्रथा, परदाप्रथा, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, बेरोजगारी, भूखमरी, गरीबी आदि पर अपनी लेखनी चलाये हैं। ‘दास धर्म’ नामक कहानी में दास की पीड़ा को उद्घाटित किया गया है। ‘जीत की हार’ और ‘मंगला’ कहानी में जातिवाद, साम्प्रदायिकता और हिन्दू मुस्लिम संघर्षों का चित्रण है। जीत की हार कहानी में साम्प्रदायिकता की अग्नि ने हिन्दू मुस्लिम की सद्वृत्तियों को भस्म कर दी जिसके कारण वे परस्पर मारने काटने के लिए उद्धत है मोतीराम घृणा से ललकारते हैं—“मर जाओ डूबकर अपनी ही पेशाब में यहाँ घघरियाँ और चूड़ियाँ पहन लो! पाकिस्तान में हिन्दू नहीं रह सकते तो हिन्दुस्तान में मुसल्ले क्यों रहे। जब तक एक—एक हिन्दू की जान और हिन्दू औरत की इज्जत का बदला नहीं लोंगे, तुम्हारा बीज नाश हो जाएगा।”¹⁵ इस प्रकार उत्तेजना दिलाने वाले भाषण सुनकर त्रिलोकी सिंह अपनी प्रेमिका नाजू ‘जो विधर्मी औरत है’ के पेट पर चाकू से प्रहार कर देता है।

‘मकड़ी या मकड़ी’ में भ्रष्टाचार और रिश्वत खोरी जैसी सामाजिक समस्या को कहानी के केन्द्र में रखा गया है। सरकारी तबके की पूरी मशीनरी किस प्रकार रिश्वतखोरी के व्यापार में लिप्त है। इसमें कैसे भोली—भाली जनता फँसकर छटपटाती है। इस वक्तव्य के माध्यम से समझा जा सकता है—“धाधली के मकड़े समाज और व्यवस्था पर अपना जाल फैलाते जा रहे हैं। भले लोग इस जाल में पड़कर असहाय मक्खियों की तरह छटपटाते दम तोड़ते रहते हैं।”¹⁶ इस प्रकार लेखक ने भ्रष्टाचार को मकड़ी के जाल की कल्पना करके समाज के सामने प्रस्तुत किया।

यशपाल की 'रोटी का मोल' कहानी भूखकरी की समस्या को लेकर लिखी गयी है। कैसे व्यापारी वर्ग अपने लाभ के लिए अनाज छुपाकर रखता है। देश की जनता भूखों मरती है। सेठों की कोठरियों में अनाज सड़ रहा है। लेकिन भूखी जनता तक नहीं पहुँच पाता है। इसी प्रकार 'नकारा' और 'पुनिया की होली' कहानी में बेरोजगारी और आर्थिक विपन्नता जैसी समस्या को रेखांकित किया गया है। नकारा कहानी ऐसे बेरोजगार की कहानी है जो रोजगार की तलाश करते-करते जेल पहुँच जाता है। वह सोचता है—“ नौ छटांक रोटी —दाल और तरकारी की चिंता न थी । दुख था तो मन में अपमान का अनुभव करके। कि वह जेल में था और साथ के कैदी उसे दफा 109 का बोदो—बेकार आदमी समझकर तिरस्कार से देखते हैं। ”⁷

इस कहानी के द्वारा देश के युवाओं के सामने जो बेरोजगारी की विकराल समस्या है उसी को उद्घाटित किया है। इस देश की यही विडम्बना है कि एक शिक्षित नौजवान को रोजगार के लिए जगह —जगह भटकना पड़ता है। पुनिया को होली कहानी में स्लम्स परिवार की आर्थिक विपन्नता और विवशता को दर्शाया गया है। कहीं न कहीं इस कहानी के जरिए लेखक ने भुखमरी और गरीबी जैसी समस्याओं को उठाया है। कैसे झुग्गी, झोपड़ी में रहने वाले चोरी करने पर मजबूर हो जाते हैं।

वैष्णव और डिप्टी साहब नामक कहानियों में वैधव्य जीवन की विभीषिका चिन्हित किया गया है 'वैष्णवी' कहानी से कैसे पाँच वर्ष पोदी अपने आठ वर्ष के पति गणेश की मृत्यु के पश्चात् आजीवन वैधव्य भोगने के लिए छोड़ दी जाती है। पंडित द्वारा देव विधान बताकर आमरण वैधव्य का दण्ड दे दिया गया । वैधव्य से पहले उसकी माँ तेल लगाकर उसकी चोटी बाँध देती थी परन्तु अब —“ लड़की के विधवा होने के बाद यह सब अनावश्यक और असंगत ही नहीं अधर्म भी हो गया था। वह जन्म भर के लिए कलमँही ,रांड और असगुनी हो गयी थी। ”⁸

तदयुगीन समाज में कितनी भी कम उम्र में लड़की विधवा हो जाये उसका पुनर्विवाह नहीं हो सकता था इसी दर्द को लेकर लेखक ने यह कहानी रची है। इसी प्रकार डिप्टी साहब कहानी में विधवा ब्राह्मणी द्वारा भ्रू हत्या के आरोप में उसे अदालत में घसीट लाया जाता है। डिप्टी साहब के मन में तर्क उठता है। पन्द्रह वर्ष विधवा नारी के लिए सामाजिक बंधन तोड़े बिना जीवन को संतुलित बनाने का अवसर कहाँ है। यह तर्क डिप्टी साहब का नहीं बल्कि लेखक का है जो इस स्वाभाविक वृत्ति को सहज ढंग से लिया है।

पुरुष भगवान और औरत कहानी में भी अनमेल विवाह या वृद्धा विवाह की समस्या को यशपाल ने चित्रित किया है। पुरुष भगवान कहानी में बुढ़े चौकीदार की नवयौवना पत्नी की है। पत्नी यौन तुष्टि के लिए नौजवान नौकर भोला से संबंध स्थापित कर लेती है। इस कहानी के जरिये अनमेल विवाह से उत्पन्न असंगति से होने वाले दुष्परिणाम को दर्शाया गया है। इसी प्रकार औरत कहानी में भी अनमेल विवाह को केन्द्र में रखा गया है। रूढ़िवादी परिवारों में यही होता है विवाह के समय बेचारी मासूम कन्याएँ समाज की खोखली मर्यादा के भय से अनमेल विवाह स्वीकार कर लेती हैं। आगे का पूरा जीवन बर्बाद कर लेती है।

यशपाल ने 'पहाड़ का छल' कहानी में सती—प्रथा जैसी बुराई की तरफ अपनी पैनी दृष्टि डाली है। उन्होंने अतीत की इस प्रथा को घृणित दृष्टि से देखा है। कैसे पहाड़ी रियासत चम्बा के वृद्ध राजा के शव के साथ उनकी सभी रानियों को जबर्दस्ती जला दिया जाता है। यशपाल ने 'ओ भैरवी' की भूमिका में इस बुराई का विरोध इन शब्दों में किया है—“मैं आज पति के वियोग में पत्नी के लिए चितारोहण में सौन्दर्य नहीं विभीषिका ही अनुभव करता हूँ। कृस्ती पुरुषों की समता के विचार के इस युग में मुझे पत्नी के सती होने के आदर्श के प्रति रागात्मक सहानुभूति उत्पन्न करना ही जान पड़ता है। ”⁹

'उत्तमी की माँ' कहानी में दहेज प्रथा और अविवाह की समस्या को लेकर लिखी गयी है। उत्तमी के पिता की मृत्यु के पश्चात परिवार की पूरी जिम्मेदारी उसकी माँ के कंधे पर है। लेकिन उसके सामने विकट समस्या है। उत्तमी के विवाह की। जो बिना दहेज के सम्पन्न होना मुश्किल है। उत्तमी का उच्छृंखल चरित्र माँ—भाई के लिए दुख का कारण बन गया है। वह आत्महत्या करने के प्रयास में असफल होती

है और बौद्ध धर्म में भक्तिन बन जाती है उसकी मृत्यु पर माँ कहती है—“ हाय मेरी बेटी को मेरी बच्ची को सबने मिलकर मार डाला ? हाय मेरी बच्ची, तूने दुनिया क्या देखा ? हाय, तू भूखी —प्यासी तरसती मर गयी ”¹⁰

किस प्रकार दहेज रूपी दानव किसी कन्या को अविवाहित रखने तथा अन्त से पहले मृत्यु के मुँह में ढकेलने का कार्य किया। वह आज भी समाज में देख सकते हैं। इसी प्रकार ‘कुलमर्यादा’ कहानी में परदा प्रथा की समस्या तथा ‘एक सिगरेट’ कहानी में स्त्रियों की क्रय विक्रय की समस्या को उद्घाटित किया गया है। कुलमर्यादा में लेखक ने परम्परागत रूढ़ियों पर करारी चोट गंगाधर के माध्यम से की है। रूढ़ियों से ग्रसित पिता इस प्रगतिशील चोट से क्रोधित होकर कहता है—“ मैं तेरा बाप हूँ या तू मेरा बाप है। कुलकलंक , बाप से जबान लड़ाता है। उन्होंने पुत्र के इस अनाचार के विरोध में गंगा के किनारे बैठकर अनशन कर प्राण त्याग देने की धमकी दे दी ।”¹¹

गंगाधर को पिता के इस सत्याग्रह के आगे झुकना पड़ा। इसी प्रकार समाज के कुछ भ्रष्टाचारी और दुराचारी औरतों को बेचना ही अपना पेशा बना लेते हैं। उनके चंगुल में कैसे भोली-भाली अनपढ़ स्त्रियाँ फँस जाती हैं। ऐसा ही दृश्य ‘एक सिगरेट’ कहानी का है। किस प्रकार दमती को नाना प्रकार की कठिनाइयों के झेलकर अपने पति के पास पहुँचती है तो उसे चरित्रहीन समझ कर वह उसे नहीं अपनाता है। यह है समाज जिसको यशपाल ने भाँति जाना समझा और अनुभव कर हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

I UnHk §

1. हिन्दी कहानी : उदभव और विकास, डॉ० सुरेश सिन्हा, पृ० 523
2. पिजड़े की उड़ान, भूमिका, यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 2014
3. न्याय का दण्ड (ओ भैरवी), यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, पहला संस्करण, 2010, पृ० 111
4. कहानी का स्वरूप और संवेदना, राजेन्द्र यादव, पृ० 34
5. जीत की हार(उत्तराधिकारी) यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2014, पृ०112
6. मक्खी और मकड़ी, कहानी, यशपाल, पृ० 23
7. नकारा (ओ भैरवी) यशपाल, लोकभारती प्रकाशन पहला, संस्करण 2010, पृ० 42
8. वैष्णवी (खच्चर और आदमी) यशपाल, लोकभारती प्रकाशन, पहला संस्करण 2010, पृ० 13
9. ओ भैरवी, भूमिका, यशपाल, लोकभारती प्रकाशन पहला संस्करण 2010, पृ० 8
10. उत्तमी की माँ, यशपाल, लोकभारती प्रकाशन पहला संस्करण 2010, पृ० 29
11. कुल मर्यादा (उत्तराधिकारी) यशपाल, लोकभारती प्रकाशन दूसरा संस्करण 2014, पृ० 91



ekdī.M; dh dgkfu;k e eY;ck/k

dīynhi dekj ek;!*

मानवीय मूल्यों का लगातार ह्रास होना इक्कीसवीं सदी का नग्न यथार्थ है। यह मूल्यांधता व्यक्ति से लेकर समाज तक, शहर से लेकर गाँव तक सभी जगह अपना पैर तेजी से पसार रहा है। जैसे-जैसे समय का पहिया घूम रहा है वैसे-वैसे व्यक्ति, परिवार, समाज, और राष्ट्र के मूल्यों में बदलाव होता जा रहा है। इस अर्थकेन्द्रित भौतिकवादी विलासी युग में सभी प्रकार के मानवीय मूल्यों का धीरे-धीरे पतन होना मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति की अस्मिता के लिए खतरा है। बाजारवाद के इस दौर में प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह से स्वकेन्द्रित होकर भौतिक सुखों को भोगना ही अपनी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि समझ रहा है, जोकि उसकी बहुत बड़ी भूल है। अमूमन देखा जाता है कि व्यक्ति को नैतिक, परिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय आदि आदर्श तब ही याद आते हैं जब वह खुद किसी विकट समस्या के चक्रव्यूह में फंसा हो अन्यथा वह इन मूल्यों को रूढ़ि वादिता या ढोंग की संज्ञा देकर भौतिकतावादी चकाचौंध के अंधी दौड़ में दौड़ता रहता है।

सामान्यतया 'मूल्य' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र से जुड़ा है और वहीं पर मूर्त रूप में परिलक्षित होता है, लेकिन "बीसवीं सदी में मूल्य शब्द के अर्थ में विस्तार हुआ है तथा अब मान, प्रतिमान, मानदंड के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इतना ही नहीं यह शब्द इस अर्थ में वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होने लगा है।"¹ साहित्य के झरोखे से यदि देखा जाय तो "मूल्यवाद" की अवधारणा हिंदी साहित्य में घोषित तौर पर दिखाई नहीं देती, इसके बावजूद हिंदी साहित्य के इतिहास के युग निर्धारण में साहित्य के साथ जुड़े मानवीय मूल्यों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिंदी साहित्येतिहास के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल का कालनिर्धारण कालखंड विशेष में प्रचलित मूल्यों का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल में भी मूल्य की यह अवधारणा स्पष्ट परिलक्षित होती है।² 'मूल्य' को साहित्य के नजरिए से देखते हुए राष्ट्रीय कवि रामधारी सिंह दिनकर का कहना है कि "मूल्य आचरण के सिद्धांतों को कहते हैं, मूल्य वे मान्यताएं हैं जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर सभ्यता चलती है और जिनकी अपेक्षा करने वालों को परम्परा अनैतिक, उच्छृंखल या बागी कहती है किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पुराने मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्ति भगवान् बन जाते हैं। अतएव साहित्य में मूल्यों का विवेचन असल में नैतिक और परम्परा का विवेचन कहा जाता है।"³ साहित्य के प्रांगण में इस प्रक्रिया को ही मूल्यबोध कहते हैं।

साहित्य सभी मूल्यों को जन-जीवन की व्यावहारिकता में देखता है और वह मूल्यों को जन-सामान्य के लिए ज्ञेय बनता है। साहित्य तथा समाज के संबंधों को निरूपित करने के लिए 'साहित्य समाज का दर्पण है', उक्ति प्रयोग होती रही है, आज भी प्रयोग की जाती है और जब तक साहित्य जीवित रहेगा तब तक होती रहेगी। इसके आधार पर यदि देखा जाए तो मूल्यबोध के साथ साहित्य का संबंध स्वतः स्थापित हो जाता है। साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह अपने युग की वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। यही वजह है कि उसकी कृतियों में युगीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। परतंत्र भारत में जन्मे मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों में स्वतंत्र भारत के यथार्थ, स्वार्थ पूर्ण व्यवस्था, भ्रष्टाचार, समाज की भयावह विसंगतियों, बेकारी, असमानता, असुरक्षा आदि समस्याओं को बखूबी रेखांकित कर मूल्यों में हुए ह्रास को

*शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर

चित्रित किया है। इन तमाम मुद्दों को लेखक ने अपनी कहानियों के माध्यम से उठाया है। गद्य की समस्त विधाओं में कहानी एक ऐसी विधा है जो पाठक के मन-मस्तिष्क में प्रवेश कर कम समय में ही उसे भावात्मकता का एहसास कराती है और उसे इच्छानुसार दिशा में एक मोड़ देती है। इन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से परंपरागत रूढ़ियों, संप्रदायों का विरोध कर जीवन के नये मान्यताओं पर जोर दिया है। इन्सान के अंदर का खोखलापन, उसका दोहरा चरित्र, उसकी मरती संवेदनाएँ और भौतिकता की अंधी दौड़ में समस्त मानवीय मूल्यों में बिखराव समाज की सबसे बड़ी विडंबना है। मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज के इसी गिरते स्तर को चित्रित करने का भरसक प्रयास किया है। मार्कण्डेय के कथा साहित्य में मूल्यों की जो गिरावट दिखायी पड़ती है उसके कई कारण हैं। एक वर्ग विशेष के लिए निर्धारित मापदंड, आर्थिक परिस्थितियाँ, मानसिक विकृति, मन के अंदर निहित क्षोभ, घृणा, दोहरा चरित्र वर्तमान परिस्थितियों से मोहभंग, आधुनिकता और फैशन के नाम पर परंपराओं से घृणा जैसी कितनी ही बातें हैं जिन्हें मार्कण्डेय ने सामाजिक मूल्यों में गिरावट के रूप में चित्रित किया है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य का अस्तित्व समाज से ही निर्मित होता है। समाज में रहने के कारण मनुष्य को सामाजिक नियमों का पालन करना आवश्यक माना जाता है। सामाजिक मूल्यबोध में समाज ही केंद्र बिंदु होता है, जहाँ पारम्परिक नियम, रूढ़ि-परंपरा आदि को प्रमुखता दी जाती है। मार्कण्डेय की कहानियों में जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित मूल्य बोध के अनेकों महत्वपूर्ण प्रसंगों का चित्रण देखने को मिलता है। सामाजिक मूल्यबोध का चित्रण मार्कण्डेय की कहानी गुलरा के बाबा, सवरइया, सात बच्चों की माँ, जूते, महुए का पेड़, हरामी के बच्चे, कल्याणमन, दाना-भूसा, बीच के लोग, हलयोग आदि में देखने को मिलता है। हलयोग के नायक के बाबा द्वारा सिफारिस करके निम्न वर्ग के व्यक्ति 'चौथिया' के सामाजिक और आर्थिक उन्नयन के लिए उसको मुंसी चौथीराम (अध्यापक) बनवाना और गुलरा के बाबा द्वारा चौतू के बगावती तेवर के बावजूद उसका इलाज करना और उसके छप्पर के कायाकल्प की सामग्री की व्यवस्था करना, आदि अनेकों प्रसंग लेखक की कहानियों में मिलते हैं जो सामाजिक मूल्यों की प्रतिस्थापना करते हैं। समाज में व्याप्त प्रेम-घृणा, अमीरी-गरीबी, ऊँच-नीच, भेद-भाव, आदि में सामंजस्य बैठाकर समाज में मूल्यबोध का संचार करने का कार्य अपनी सामाजिक कहानियों के माध्यम से मार्कण्डेय करते हैं।

मनुष्य जीवन में धर्म का बहुत महत्व होता है, जिसके कारण व्यक्ति में श्रद्धा, पूजापाठ, संस्कार, भय आदि मूल्य समाहित होते हैं। धार्मिक मूल्यों के अंतर्गत धर्म, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के बारे में विचार किया जाता है। "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य हैं।"⁴ नीम की टहनी कहानी में धर्म की मान्यताओं और रीत-रिवाज की चर्चा की गयी है। सच्चा धर्म वही होता है जो व्यक्ति के कष्ट में उसको सहारा देता है। क्योंकि व्यक्ति के प्राण से बढ़कर संसार में कोई भी अमूल्य चीज नहीं है इसलिए 'कुमार' माँ के लाख मना करने के बावजूद महरानी वाली नीम की टहनी तोड़कर पियारी के घर जाता है तो लोग उसे देखकर डर जाते हैं अरे.... "किस नीम की टहनी है। कुमार ने महरानी वाली नीम की टहनी तो नहीं तोड़ी।"⁵ इसप्रकार आधुनिक व्यक्ति इतने सारे कष्टों को सहकर अपने वास्तविक जीवन से दूर रहकर किसी धर्माडंबर को मानना पसंद नहीं करता है। शव-साधना कहानी में साधुओं के पाखण्ड को उजागर करके नारी तथा समाज के प्रति उनके गिरते हुए मूल्यों एवं खोखली साधना पद्धति की तरफ लेखक ने संकेत किया है। मार्कण्डेय की कहानियों में धार्मिक मूल्यान्धता के ऐसे ही अनेकों प्रसंग देखने को मिलते हैं।

नैतिक आचरण व्यक्ति को आत्मिक शक्ति और संतोष प्रदान करते हैं। हमारे भारतीय संविधान में सर्व-धर्म समभाव को प्राथमिकता देकर नैतिक मूल्यों को ही प्रतिष्ठित किया गया है। लेकिन आधुनिकता के रेस में आदमी इन मूल्यों को खोता जा रहा है। इस दृष्टि से मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियाँ काफी चर्चित रही हैं जिनमें सवरइया, गुलरा के बाबा, जूते, हरामी के बच्चे, हलयोग, आदि प्रमुख हैं। मनुष्य के ह्रासोन्मुख नैतिक मूल्यों की बानगी कहानी 'हरामी के बच्चे' के पंडित उर्फ साहब तथा बनवारी जैसे काले चरित्रों में देखा जा सकता है। पंडित के पापाचरण का शिकार हुई सत्ती को "बनवारी

उसकी चीखों को दबाने के लिए, उसके मुँह पर कपड़ा लगाये बैठा था और सत्ती तड़प रही थी—जैसे कोई जीवित सिधरी आग में भुनी जा रही हो।⁶ इस कहानी में एक तरफ तो पंडित और बनवारी जैसे नैतिक रूप गिरे हुए लोग हैं वहीं दूसरी तरफ नैतिक मूल्यों के उन्नयन के लिए लेखक ने सरजू, जमादार, महरी, और खानशामा जैसे उजले चरित्रों का भी सृजन किया है जो सताई गई सत्ती के पैरोकार बनते हैं। जूते कहानी की बहू मूल्यबोध की अच्छी मिसाल है जिसने स्टेशन से लौटते हुए निर्धन मनोहर को धूप से जलते पाँव को बचाने के लिए जूते खरीद कर दिये थे।

परिवार समाज का ही एक अभिन्न हिस्सा है जिसमें व्यक्ति का पालन-पोषण तथा विकास होता है। परिवार से ही व्यक्ति को समाज तथा देश के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। पारिवारिक मूल्यबोध के अंतर्गत परिवार को केंद्र में रखा जाता है। परिवार में परिवार के सदस्यों, उनकी भावनाओं, आवश्यकताओं तथा उनकी समस्याओं पर विचार किया जाना अनिवार्य होता है। लेकिन मनुष्य की अर्थ लोलुप प्रवृत्ति के कारण उसके सामाजिक मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है। वर्तमान भारत में पारिवारिक विघटन पुराने जीवन मूल्यों में परिवर्तन का सूचक है। जिसे मार्कण्डेय की कहानी सवरइया, साबुन, कल्यानमन, बिंदी आदि में बखूबी देखा जा सकता है। आदमी की पारिवारिक परिस्थितियाँ उसके अपने सपनों के आड़े आ जाती हैं। इस स्थिति में निराशा और हताशा आदमी को मोहभंग की मानसिकता में बाँध देती हैं जो कि उसकी मजबूरी हो जाती है। इसी का फायदा उठाकर सवरइया कहानी की महाराजिन के पट्टीदार उसके बैल की नीलामी करा देते हैं। “पट्टीदार ने कहा, साहब इस घर की इज्जत बहुत रही है, अभी तक कोई गैर, चौखट लांघ कर अन्दर नहीं गया, यही बरधा है चाहे कुर्क कर लो।”⁷ आज परंपरागत पुराने मूल्य चुनौती के दायरे में आ गये हैं जिससे पारिवारिक जीवन से वात्सल्य, भ्रातृत्व, मातृत्व, सहानुभूति आदि मूल्यों का पलायन होता जा रहा है जिसका एहसास मार्कण्डेय की कहानियों के पठन-पाठन से होता है।

औद्योगिकरण का बढ़ता प्रभाव, बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव और आज जीवन के हर क्षेत्र में राजनीति के प्रभाव के कारण हमारे प्राचीन आदर्श मूल्य, विश्वास, सेवा, त्याग, सहयोग, प्रेम आदि बाजारवाद में खोते जा रहे हैं। हंसा जाई अकेला, आदर्श कुक्कुट-गृह, भूदान आदि ऐसी कहानियाँ हैं जिसमें गिरते हुए राजनितिक मूल्यों का चित्रण हुआ है। राजनीति के छलछद्म से अनजान हंसा महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों का प्रचार करता है लेकिन फिर भी समाज उसे सम्मान नहीं देता। राजनितिक दलों और सामाजिक दुष्क्रों के कारण जिस पार्टी के प्रचार के लिए सुशीला जी ने काफी पसीना बहाया था उसी पार्टी से उन्हें निकाल दिया जाता है। यथा— “दूसरे दल के लोगों ने चिट्ठियाँ भिजवायीं। सुशीला जी को यहाँ से बुला लिया जाए। जनता पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।...चुनाव के दो दिन पहले उन्हें नोटिस मिली कि वह बापू के आदर्शों को तोड़ रही हैं, इसलिए उन्हें काम से अलग किया जाता है।”⁸ भूदान कहानी में भूदान आने से सर्वत्र खुशी का माहौल छाया हुआ है लेकिन अंत में होता क्या है कि “भूदान कमेटी के मंतिरी जी ने तो कब का रामजतन को समझा-बुझा दिया है कि ठाकुर के जिस दान से भूँय मिली थी, वह केवल पटवारी के कागज पर थी।”⁹ मार्कण्डेय की कहानियाँ केवल सामाजिक विषमता और विसंगति के चित्रण तक ही खुद को सीमित नहीं रखती बल्कि बेहतर समाज के निर्माण के लिए क्रान्तिकारी बदलाव में भी विश्वास रखती हैं। यही कारण है कि वे यथास्थिति वालों का विरोध करते हैं, और मनरा (आज के युवा) के माध्यम से ‘बीच के लोग’ कहानी में वे कहते हैं— “अच्छा हो दुनिया को जस-की-तस बनाये रहने वाले लोग अगर हमारा साथ नहीं दे सकते तो बीच से हट जाएँ, नहीं तो सबसे पहले उन्हीं को हटाना होगा, क्योंकि जिस बदलाव के लिए हम रण रोपे हुए हैं, वे उसी को रोके रहना चाहते हैं।”¹⁰

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद परंपरा के लेखक मार्कण्डेय ने नयी ग्रामीण जीवन व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न मानसिकता के प्रति अपनी कहानियों के माध्यम से जीवन मूल्यों के प्राण प्रतिष्ठा के लिए सजग दृष्टि का परिचय दिया है। प्रेमचंद के बाद स्वातंत्र्योत्तर भारत में ग्रामीण परिवेश को पूरी शिद्दत के साथ कहानियों में जीने वाले रचनाकारों में मार्कण्डेय का अतिविशिष्ट स्थान है। कहानीकार ने अपने साहित्य के माध्यम से समाज में व्याप्त मोहभंग, व्यावहारिक जटिलता, आंतरिक घृणा,

कुंठा, घुटन, आधुनिक जीवन शैली से परंपराओं का संघर्ष, व्यक्ति की कायरता पर आदर्शों के आवरण और ऐसे ही कई अन्य कारणों के माध्यम से सामाजिक जीवन में हो रहे नैतिक पतन, संबंधों के बदलते अर्थ, आधुनिक जीवन की निराशा को बखूबी चित्रित किया है। इसके साथ ही साथ मार्कण्डेय के यहाँ कई पात्र ऐसे भी हैं जिनका नैतिक स्तर आदर्श की उच्चता पर है, उनकी जीवन दृष्टि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी टूटने या बिखरने के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं हैं। ऐसे पात्र अपने नैतिक और सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग हैं। इस तरह दोनों ही तरह की स्थितियाँ इस कथाकार के कथा साहित्य में मिलती हैं। इनकी कहानियों में व्यक्ति से लेकर समाज तक, धर्म से लेकर नीति तक, अर्थ से लेकर राजनीति तक के विचारों को बारीकी से दर्शाया गया है। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन मूल्यों का चित्रण करके कथाकार पाठकों के लिए एक अच्छा प्रतिमान स्थापित करते हैं। इस तरह अपनी कहानियों में मार्कण्डेय ने बदलती स्थितियों के अनुसार जीवन मूल्यों में हो रहे परिवर्तन, जीवन की महत्ता और सार्थकता को दिखाने तथा उसे सुधारने का सफलतम प्रयास किया है।

I UnHk %

1. डॉ.रजनीश भारद्वाज, हिंदी उपन्यासों में मूल्यबोध, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2014, पृ. 28
2. http://bundela&desa&ke-blogspot-in/2014/12/blog&post_10-html
3. डॉ.रजनीश भारद्वाज, हिंदी उपन्यासों में मूल्यबोध, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2014, पृ. 29
4. डॉ.रजनीश भारद्वाज, हिंदी उपन्यासों में मूल्यबोध, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, 2014, पृ. 40
5. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2010, पृ. 20
6. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2010, पृ. 161
7. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2010, पृ. 26
8. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2010, पृ. 219
9. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2010, पृ. 278
10. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2010, पृ. 495



यकद लकगR; ,o ifjfuBr लकगR; dk vUr% लc/k MkO ehrk lkyidh*

साहित्य का अध्ययन करते हुए हम लोक साहित्य व परिनिष्ठ साहित्य के रूप में दो अलग-अलग धाराओं की चर्चा करते हैं। लोक साहित्य की कुछ विशिष्टताओं ने उसे परिनिष्ठ साहित्य से इतर एक भिन्न छवि के रूप में पाठकों के समक्ष रखा है। साहित्य के प्रति हमारी बनी बनायी धारणा परिनिष्ठ साहित्य के लिए तो सही प्रतीत होती है, किन्तु लोक साहित्य का स्वरूप उससे कुछ भिन्न है। लोक साहित्य की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो परिनिष्ठ साहित्य से इतर उसके स्वरूप व उसकी प्रकृति को परिभाषित करती हैं। अतः यहां हम लोक साहित्य को समझने के क्रम में उसका परिनिष्ठ साहित्य से अन्तः सम्बन्ध व उसकी भिन्नता का अध्ययन करेंगे।

लोक साहित्य और परिनिष्ठा साहित्य, साहित्य की दो धाराएँ हैं। दोनों का सम्बन्ध समाज से है किन्तु अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न है। दोनों की प्रकृति व स्वरूप में कुछ भिन्नताएँ हैं जिसके कारण ये दोनों साहित्य होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। यह विडम्बना है कि इसमें से एक धारा को कभी राज्याश्रय प्राप्त रहा तो कभी विद्वता के कारण सम्मान मिला व कभी लिखित रूप में होने के कारण संरक्षित रही। वहीं दूसरी धारा बिना किसी संबल के अपने ही आप पनपती रही। सम्भवतया इसीलिए परिनिष्ठ साहित्य अध्ययन व मनन का विषय बना और लोक साहित्य इसका भाग न बन सका। साहित्य की इन दोनों धाराओं का एक दूसरे से भिन्न होने के बावजूद आपस में गहरा सम्बन्ध है। सर्वप्रथम दोनों का अर्थ स्पष्ट करना समीचीन होगा।

परिनिष्ठ साहित्य, साहित्य का वह रूप है जिसका उत्स हम वेदों से मानते हैं। परिनिष्ठ साहित्य का रचयिता समाज का वह वर्ग माना जाता है जिसे हम आभिजात्य वर्ग के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह वर्ग अपने रहन-सहन, तौर-तरीके व अपनी विचारधारा में आम जन से भिन्न एक अलग दृष्टिकोण के साथ जीता आया है। अतः इसके द्वारा लिखा गया साहित्य परिनिष्ठ साहित्य की श्रेणी में रखा जाता है। विचारणीय बिन्दु यह है कि यहां आभिजात्य वर्ग से तात्पर्य धनिक वर्ग से नहीं है। परिनिष्ठ साहित्य के अध्ययन के संदर्भ में आभिजात्य वर्ग वह है जो कि बौद्धिक दृष्टि से विशिष्ट है। उदाहरणार्थ— संत कवियों की वाणी को आम जन की वाणी कहा जाता है। किन्तु फिर भी उनके साहित्य का वह तत्व जो लोक साहित्य से भिन्न उसे परिनिष्ठ साहित्य की श्रेणी में रखता है, वह है— बौद्धिकता।

लोक साहित्य का लोक से सीधा सम्बन्ध है। वह आम जन की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। वह एक व्यक्ति की नहीं बल्कि एक समूह की भावनाओं को आकार देता है। इसमें न तो किसी व्याकरणिक अथवा काव्यशास्त्रीय नियमों का बन्धन है तथा न ही किसी प्रकार की उच्च बौद्धिकता का आवरण है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के शब्दों में— “सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उसकी आशा-निराशा, हर्ष विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसी को लोक साहित्य कहते हैं।”¹

लोक साहित्य व परिनिष्ठ साहित्य की मूल प्रवृत्ति में कुछ भिन्नताएँ हैं। आचार्य भरतमुनि ने भी इस भेद को स्वीकारते हुए नाट्यशास्त्र के 14वें अध्याय में लोकधर्मी व नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। पाणिनी ने लोक की सत्ता को वेद से पृथक् स्वीकार किया है। भगवत् गीता में भी लोक संग्रह शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है— साधारण जनता का व्यवहार व उनके आदर्श। डॉ.

*असिस्टेंट प्रोफेसर, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

त्रिलोचन पाण्डेय ने दोनों के भिन्न स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है—“परिनिष्ठ साहित्य यदि किसी संस्कृति के विशिष्ट पहलू का द्योतक है तो लोकवार्ता उसके सामान्य पहलू की।”² साहित्य की दो भिन्न धाराएं होने के बावजूद दोनों का एक दूसरे से गहरा संबंध है।

yk d l kfgR; o ifjfu f"Br l kfgR; e: Lo: i x r fHkUurk&

1. लोक साहित्य लोक को उसके आदिम स्वरूप में दर्शाता है जबकि परिनिष्ठ साहित्य समाज को उसके आभिजात्य व शिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। अर्थात् लोक साहित्य का लोक परम्पर पोषी है। वह अपनी परम्पराओं में श्रद्धा के साथ जीता आया है और उन्हें वह बिना किसी तर्क के स्वीकारता आया है। अपने जीवन को तर्क से परे परम्पराओं से जोड़े रखने के कारण लोक का साहित्य मनुष्य की आदिम मनोवृत्तियों के इर्द-गिर्द अधिक घूमता है। इसी कारण इस साहित्य में सहजता अधिक है। परिनिष्ठ साहित्य उस तबके का साहित्य है जो कि सभ्यता के विकास क्रम के साथ स्वयं में निरंतर परिवर्तन लाता आया है। जो किसी परम्परा का अनुसरण करने की अपेक्षा नयी परम्पराओं का निर्माण करता आया है। अतः परिनिष्ठ साहित्य एक बौद्धिक विचारधारा से संचालित है। जिसमें भाव प्रवणता के साथ-साथ नये समाज के निर्माण की सोच भी है।

2. लोक साहित्य का कोई निश्चित व्याकरण नहीं है। चूंकि वह एक व्यक्ति विशेष की नहीं बल्कि समूह की अभिव्यक्ति का द्योतक है, अतः उसकी किसी भी रचना के सम्बन्ध में नियम निश्चित करना कठिन है। लोक साहित्य किसी काव्यशास्त्रीय प्रतिमान के बल पर नहीं बल्कि लोक की स्वीकारोक्ति के बल पर प्रसिद्धि पाता है। जो रचनाएं आम जन में जितनी अधिक प्रचलित होती हैं, उतनी ही अधिक सम्भावना उस रचना के प्रति अगली पीढ़ी की स्वीकारोक्ति पर रहती है। इसके ठीक विपरीत शिष्ट साहित्य, साहित्य के कुछ प्रतिमानों में बंधा होता है। उसकी प्रत्येक विधा के कुछ तत्व निर्धारित होते हैं, जो कि उसके मूल्यांकन का आधार बनते हैं। शिष्ट साहित्य की प्रत्येक विधा अपनी इस स्वरूपगत भिन्नता के प्रति कुछ नियमों में आबद्ध रहती है। किन्तु इसे शिष्ट साहित्य की सीमा नहीं कहा जा सकता। साहित्य के यह प्रतिमान उसकी प्रत्येक विधा को विशिष्ट बनाते हैं। लेखक को उनके स्वरूप में परिवर्तन के प्रयोग की स्वतंत्रता भी है तथा लेखक की जागरूकता के कारण यह शैलीगत विशिष्टता उसके अनुभूति पक्ष पर हावी नहीं हो पाती।

3. लोक साहित्य लोक वाणी में जीवित रहता है। अतः उसकी कोई भी रचना समयानुसार अपना रूप बदलती रहती है। पीढ़ी दर पीढ़ी व अलग-अलग क्षेत्रों में समाज उसे अपने अनुसार अपनाता है। किन्तु परिनिष्ठित साहित्य मुख्यतया लिपिबद्ध होता है। उसमें पाठ के प्रति प्रामाणिकता मिलती है। किसी एक रचनाकार द्वारा निर्मित रचना होने के कारण उसमें परिवर्तन का अधिकार उस रचनाकार को ही प्राप्त होता है।

4. लोक साहित्य परम्परा पोषी है। जबकि शिष्ट साहित्य परम्परा के प्रति किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं होता है। वह या तो किसी परम्परा का निर्माण करता है, अथवा परम्परा को बदलने का कार्य करता है। जैसे—सूर, तुलसी, कबीर, जायसी आदि कवियों ने भक्ति की परम्परा को पोषित किया। आधुनिक काल में निराला व प्रेमचंद जैसे लेखकों ने साहित्य में प्रगतिशील परम्परा का निर्माण किया।

5- सभ्यता के विकास के साथ-साथ शिष्ट साहित्य का महत्व बढ़ने लगता है। उसकी रचना बड़े पैमाने पर होने लगती है। “जटिल समाजों का संगठन शिष्ट साहित्य की रचना के अधिक अनुकूल पड़ता है।”³ वहीं लोक साहित्य कम विकसित क्षेत्रों में जहां सामूहिकता की भावना प्रबल हो वहां अधिक सुविधा से पनपता है।

6. शिष्ट साहित्य में रचनाकार का व्यक्तित्व प्रधान होता है। रचनाकार का यह व्यक्तित्व रचना में अपनी गहरी छाप छोड़ता है। जैसे—‘गोदान’ को याद करते हुए हमारे मानस पटल पर स्वतः ही प्रेमचंद की छवि उभर आती है। हम ‘गोदान’ को प्रेमचंद से अलगाकर नहीं पढ़ सकते। यह व्यक्तित्व का प्राधान्य सभ्यता के विकास से गहरा सम्बन्ध रखता है। जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती है, व्यक्ति सामूहिकता से दूर अपने स्वतंत्र अस्तित्व के प्रति अधिक सजग होने लगता है। इसके ठीक विपरीत लोक

साहित्य में सामूहिकता का भाव प्रबल रहता है। कोई भी लोक—गीत, लोक—गाथा अथवा अन्य रचना किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर लोक की रचना मानी जाती है।

ykd lkfgR; o ifjfu"B lkfgR; dk vUr% lEcU/k&

1- लोक संस्कृति व शिष्ट संस्कृति वस्तुतः एक दूसरे की पूरक है। दोनों का मेल ही एक पूर्ण समाज का निर्माण करता है। यही तथ्य साहित्य के क्षेत्र में भी लागू होता है। लोक साहित्य व परिनिष्ठित साहित्य में भले ही स्वरूपगत व स्वभावगत भिन्नता हो किन्तु फिर भी यह एक दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं। jkgY lkÑR;k;u इस सम्बन्ध में कहते हैं कि— “किसी देश के शिष्ट साहित्य से पूर्णतया परिचित होने के लिए उसके लोक साहित्य का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। शिष्ट साहित्य का लोक साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तविक बात यह है कि शिष्ट साहित्य लोक साहित्य का ही विकसित संस्कृत तथा परिमार्जित स्वरूप है।”⁴

2. लोक साहित्य व परिनिष्ठित साहित्य का अन्तः सम्बन्ध आपसी आदान प्रदान से अधिक गहरा हो जाता है। परिनिष्ठित साहित्य का रचयिता भी एक सामाजिक प्राणी है। उसकी रचना में उसका परिवेश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंतर्निहित रहता है। यह परिवेश लोक समाज का ही एक अंग है। साहित्यकार की मनोभूमि जिस समाज में रहकर बनती है, वह समाज हमारी लोक संस्कृति की ही निर्मिति है। अतः किसी न किसी रूप में परिनिष्ठित साहित्य में लोक तत्व की झलक हमें मिल जाती है। जैसे— l jnk l के काव्य में व्यक्त ग्रामीण परिवेश, r y l h द्वारा निर्मित आदर्श समाज, कबीर की वाणी में व्यक्त सामाजिक दृष्टिकोण आदि। ehjk के गीतों पर भी लोक छवि स्पष्ट झलकती है। इसके अतिरिक्त यदि आधुनिक साहित्य पर दृष्टिपात करें तो Q.kh'o j ukFk j i.k की रचनाएं आंचलिकता की विशेषताओं का सुंदर उदाहरण हैं। ukxk t. u j f=ykpu जैसे कवियों ने भी आम जन के साहित्य को बखूबी चित्रित किया है।

ठीक इसी प्रकार लोक साहित्य भी परिनिष्ठित साहित्य को अपने अनुसार अपनाता है। परिनिष्ठित साहित्य के अर्न्तगत आने वाली कुछ रचनाएँ लोक में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेती हैं कि उसे लोक द्वारा लोक साहित्य के रूप में आत्मसात कर लिया जाता है। शिष्ट साहित्य में से लोक तत्वों को अपनाकर जब आम जन उसे अपने अनुसार ढाल लेता है तो वह रचना लोक साहित्य का अंग बन जाती है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण jkepfj r eku l है। राम कथा को आधार बनाकर वर्षों से लोक नाटक खेले जाते रहे हैं। आदिकालीन vkYgk x h r से प्रभावित होकर लोक साहित्य में अनेक गीत प्रचलित हुए हैं। fo | kifr के पदों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

3. लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य दो सर्वथा भिन्न समाज की उपज नहीं हैं, बल्कि एक ही समाज में दोनों प्रकार का साहित्य हमें मिलता है। मुख्य अन्तर वातावरण का है। लोक साहित्य सामूहिकता की मांग करता है, वहीं शिष्ट साहित्य वैयक्तिक सृजन है। फिर भी दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। लोक साहित्य भले ही सामूहिकता को बल दे किन्तु लोक गीत, लोक कथाएँ आदि एक व्यक्ति की व्यक्तिगत अनुभूति को भी दर्शाती हैं। इसी प्रकार शिष्ट साहित्य भले ही एक वैयक्तिक रचना हो किन्तु उसकी अनुभूति मात्र एक व्यक्ति की ही अनुभूति नहीं होती बल्कि उस समाज की अनुभूति होती है। उदाहरणार्थ— लोक साहित्य में अनेक ऐसे गीत प्रचलित हैं जो कि परदेस गये पति की याद में स्त्री द्वारा गाये जाते हैं। वह गीत बखूबी एक स्त्री मन की अभिव्यक्ति करते हैं। ये गीत एक समुदाय के साथ—साथ स्त्री की वैयक्तिक भावनाओं का भी अभिव्यक्तिकरण हैं। उसी प्रकार शिष्ट साहित्य में रचे गये पात्र व्यक्तिगत होते हुए भी किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरणार्थ— प्रेमचंद के ^xknku* उपन्यास का पात्र होरी मात्र एक व्यक्तिगत पात्र नहीं है, बल्कि वह अपने समान सभी किसानों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य में सामूहिकता के साथ—साथ वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति भी की जाती है। ठीक इसी प्रकार शिष्ट साहित्य मात्र वैयक्तिक भावना न होकर एक वर्ग, एक समूह की भावना को अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

4. हम शिष्ट साहित्य व लोक साहित्य को समाज के आभिजात्य वर्ग व निम्न वर्ग से जोड़कर देखते हैं। ऐसे में यह अनुमान लगाया जाता है कि शिष्ट साहित्य का रचनाकार लोक साहित्य की पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न धरातल पर जीता है। यह अनुमान सर्वथा गलत है। शिष्ट साहित्य का रचनाकार भी उसी समाज का अंग है जिस समाज में लोक साहित्य की धारा बहती है। शिष्ट साहित्य के रचनाकार की मनोभूमि आभिजात्य वर्ग व लोक समुदाय के मिश्रण से निर्मित समाज की मनोभूमि है। लोकवार्ता के तत्व साहित्यकार की मनोभूमि, विषय व उसकी रचनाशैली में संगुंफित रहते हैं। अतः शिष्ट साहित्य लोक साहित्य से सर्वथा भिन्न एक नयी धारा नहीं कही जा सकती। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

5. एक आम धारणा है कि लोक साहित्य जहां लोक जीवन की अभिव्यक्ति है वहीं शिष्ट साहित्य मात्र नगरीय आभिजात्य वर्ग की मनोवृत्ति व उसकी भावनाओं को उजागर करता है। यह धारणा शिष्ट साहित्य के प्रति एक संकुचित दृष्टिकोण को उजागर करती है। शिष्ट साहित्य भी लोक जीवन की अपने ढंग से अभिव्यक्ति करता आया है। ry|lh| ljj tk; |hj| dchj की मध्यकालीन रचनाएँ हों या आधुनिक साहित्य में वर्णित ग्रामीण अंचल व नगरीय आम व्यक्ति पर लिखा गया साहित्य हो, शिष्ट साहित्य में भी लोक जीवन की अभिव्यक्ति मिलती आयी है। किन्तु फिर भी लोक साहित्य का शिष्ट साहित्य से इस परिप्रेक्ष्य में एक बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ शिष्ट साहित्य में लेखक द्वारा आम व्यक्ति, आम जन जीवन अथवा ग्रामीण अंचल पर लेखनी चलायी जाती है, वहीं लोक साहित्य स्वयं उस आम व्यक्ति द्वारा निर्मित होता है।

शिष्ट साहित्य में व्यक्त लोक तत्व व लोक साहित्य दो भिन्न वस्तुएं हैं। शिष्ट साहित्य में प्रयुक्त लोक तत्व लोक से उपजा हुआ अवश्य है, किन्तु उस पर एक शिष्टता का आवरण चढ़ा रहता है। जबकि लोक साहित्य आदि से अन्त तक लोक का ही साहित्य है। शिष्ट साहित्य में लोक तत्व को रचनाकार अपने नजरिये से प्रस्तुत करता है। अतः कहा जा सकता है कि वह लोक तत्व विशुद्ध नहीं है, उस पर एक बौद्धिक दृष्टि का आवरण है। वहीं लोक साहित्य का लोक तत्व सीधे आम जन की प्रस्तुति है। उदाहरणार्थ— तुलसी अथवा जायसी के साहित्य में लोक तत्वों का प्रचुर समावेश है। किन्तु वह लोक संस्कृति एक व्यक्ति विशेष(रचनाकार) की दृष्टि लेकर रचना में उपस्थित होती है। कबीर के साहित्य को अनेक विद्वानों ने लोक साहित्य की श्रेणी में ही रखना चाहा है। किन्तु वह भी शिष्ट साहित्य है क्योंकि उनकी रचनाओं में भी लोक तत्व को कबीर की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

लोक साहित्य व शिष्ट साहित्य मिलकर साहित्य की परिभाषा को पूर्ण करते हैं। दोनों का लक्ष्य एक है। दोनों की रचना प्रक्रिया भी एक है। अन्तर इनके स्वभाव व अभिव्यक्ति में है। इनकी यह भिन्नता साहित्य को कमजोर नहीं करती, बल्कि उसके क्षेत्र को और भी अधिक विस्तार प्रदान करती है।

I UnHk %

1. 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' प्रस्तावना, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, सम्पादक
2. 'लोक साहित्य का अध्ययन', त्रिलोचन पाण्डेय, राजस्थान साहित्य मंदिर, जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन् 1980
3. 'लोक साहित्य का अध्ययन', त्रिलोचन पाण्डेय, राजस्थान साहित्य मंदिर, जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन् 1980, पृष्ठ संख्या 139
4. 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' सम्पादकीय वक्तव्य, पण्डित राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ संख्या 13



ek/koh ukVd e L=h Lokr«; dh pruk

vityh flg*

भीष्म साहनी संघर्षशील चेतना के रचनाकार हैं। आलोच्य दृष्टि से उनके तीन नाटक विवेचनीय हैं। पहला नाटक 'हानूश' है, जिसका परिवेश भारतीय नहीं फिर भी कलाकार की संघर्षशील चेतना मानवीय संवेदना के धरातल पर किसी भी देश और काल में घटित होकर देशकाल निरपेक्ष बन सकती है। यह नाटक ऐतिहासिक चेकोस्लोवाकिया में प्रचलित किंवदन्ती से आन्दोलित हुआ। 'कबिरा खड़ा बाजार में' का कबीरदास मध्यकालीन भारतीय इतिहास का विद्रोही व्यक्तित्व है, जिसने लोकचेतना में मिथकीय शक्ति हासिल की है। 'माधवी' नाटक में स्त्री-नियति का क्रूर प्रसंग महाभारत से लिया गया है।

भीष्म साहनी के तीनों नाटक महत्वपूर्ण हैं, जिसमें कलाकार के संघर्षशील चेतना साकार हो उठते हैं, किन्तु इनमें भी 'माधवी' नाटक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण नाटक है। यह नाटक अनेक सवालों को उठाती है, उनमें पहला सवाल स्त्री-अस्तित्व या अस्मिता को लेकर है। मूलतः यह नाटक स्त्री-केन्द्रित है, जिससे समाज का निर्माण होता है, देश का भविष्य तय होता है किन्तु उसी के अस्तित्व को लेकर अनेक सवाल पैदा होता है।

माधवी की रचना के मूल आधार सूत्र नाटककार ने महाभारत के उद्योगपर्व के अन्तर्गत भगवद्गीतापर्व के 106 अध्याय से 120 अध्याय में से चुने हैं। साहित्य के रचनात्मक सन्दर्भों में महाभारत की यह प्रसंग अभी तक अछूता ही बना रहा है। भीष्म साहनी ने अपनी विलक्षण रचनात्मक क्षमता का भरपूर इस्तेमाल कर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की पीठिका पर विचित्र से लगने वाले इस महाभारतीय प्रसंग को संवेदनशीलता की पूरी गहराइयों के साथ जीवन्तता प्रदान की है।

यह नाटक वैयक्तिक और सामाजिक प्रश्नों से जूझते पात्रों द्वारा जिस परिवेश और वातावरण की निर्मिति करता है उसमें समकालीन समाज-व्यवस्था में स्त्री को दुःखद-विडम्बनापूर्ण स्थितियों की प्रतिच्छाएँ सर्वत्र भासमान होती हैं।

यह नाटक कुल तीन अंकों में लिखा गया है। पहले अंक में कुल तीन दृश्य हैं। नाटक कर्तव्यपरायणता और वचनबद्धता जैसे शब्दों से प्रारम्भ होती है। मुनिकुमार गालव गुरु-दक्षिणा नहीं जुटा पाये तो स्वयं को पातकी मानकर आत्महत्या करने से उद्यत हो गए। गरुड़देव के माध्यम से महाराज दानवीर ययाति के बारे में पता चलने पर गालव वहाँ पहुँचकर आठ सौ अश्वमेधी घोड़े देने के लिए बोलता है। महाराज ययाति ने एक बार भी अपनी मातृविहीना पुत्री के भविष्य के बारे में नहीं सोचा और उसे अन्धकार के गर्त में ढकेल दिया। दानस्वरूप अपनी पुत्री माधवी को गालव को सौंप दिया।

माधवी को क्या पता था कि उसके प्रति उसके पिता का यही कर्तव्य था, बेटी तो पिता की आज्ञापालन करने हेतु चहकते हुए आती हैं, उसके भविष्य का निर्धारण एक क्षण में हो जाता है। बड़े गर्व के साथ ययाति अपनी पुत्री माधवी से कहते हैं कि— "मैंने तुम्हें सौंप दिया है। इस युवक की अभ्यर्थना को मानते हुए मैंने तुम्हें दान में दे दिया है। यह युवक तुम्हें समझा देगा।"¹ माधवी के भविष्य का निर्धारण चन्द मिनटों में हो जाता है, उसके पिता के लिए पुत्री को किसी अनजान के हाथ में सौंपते हुए तनिक भी हिचकिचाहट नहीं हुई बल्कि भविष्य में इस प्रकार के दान से ययाति का नाम राजा हरिश्चन्द्र और दानवीर कर्ण से आगे हो इस बात की चिन्ता है, इसलिए पुत्री को गैर को सौंपना अपना सर्वोपरि धर्म समझता है। वह पुत्री से इस बात की आशा भी लगाए बैठता है कि— "माधवी मेरी पुत्री है। पिता के प्रति अपना कर्तव्य निभाएगी। मैंने अपना कर्तव्य निभाया है, वह भी अपना कर्तव्य निभाएगी।"² ययाति को

इस बात का दम्भ है कि उसकी पुत्री उसका कर्तव्य पूरा करेगी, जिस पुत्री का भविष्य अन्धकार के गर्त में छिपा है, बेटी को वस्तु और निमित्त बना देना अपना सर्वोपरि धर्म समझता है।

सवाल खड़ा होता है कि पुरुष का यह कौन सा सर्वोपरि धर्म है जिसमें स्त्री के अस्तित्व को दांव पर लगाने से पहले न केवल उसे उसके आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित करता है अपितु उससे विचार-विमर्श तक नहीं करता और स्त्री पुरुष द्वारा निर्धारित नियति का बिना किसी प्रतिरोध के चुपचाप स्वीकार करके निर्धारित कर्तव्यपालन के मार्ग पर चली जाती है। यदि वह पुरुष-प्रधान समाज में अपनी आवाज़ भी निकाले तो यह आवाज़ उसी की अन्तरात्मा तक रह जाती है, उसको सुनने वाला कोई नहीं है। माधवी को भयानक दुष्क्रम में फँसाने वाला है—गालव उसके हठी स्वभाव का प्रतिफल माधवी को भुगतना पड़ता है। वह ययाति की दानवीरता की प्रशंसा कर उसे अभिभूत कर देता है और आवेश में ययाति उसे अश्वमेधी घोड़ों के बजाय माधवी का दान देता है। माधवी, गालव के लिए भी एक चीज़ है, दान में मिली हुई वस्तु, जिसके माध्यम से वह गुरु-दक्षिणा का दायित्व पूरा करता है। माधवी के प्रति उसकी दूसरी सोच भी स्वार्थ पेरित ही है। माधवी में चक्रवर्ती बालक उत्पन्न करने के गुणों से उसके मन में आकांक्षाओं की लहरें उठने लगती हैं— “चक्रवर्ती! चक्रवर्ती राजा को जन्म देगी। माधवी जिसे जन्म देगी वह चक्रवर्ती राजा बनेगा, ऐसा ही कहा महाराज ने! क्या माधवी के गर्भ से पैदा होने वाला गालव का पुत्र भी चक्रवर्ती राजा हो सकता है? चक्रवर्ती गालव! मेरे सामने सम्भावनाओं के कैसे प्रसार खुलने लगे हैं।”³

इधर, माधवी, गालव को अपनी नियति मान लेती है, उसके लिए अपने पुत्र को त्यागती है, उसकी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए अपने जीवन को दांव पर लगा देती है। गालव के गुरु-ऋण चुकाने का हर सम्भव प्रयत्न करती है, जब तीन राजाओं के माध्यम से उसके पास केवल छः सौ ही अश्वमेधी घोड़े प्राप्त होता है तो माधवी ऋण-चुकाने के लिए गुरु विश्वामित्र के पास भी चली जाती है और इस प्रकार गालव तो गुरु-ऋण से मुक्त हो जाता है किन्तु माधवी, माधवी का क्या?

माधवी तो केवल पिता और प्रेमी की महत्वाकांक्षा बनकर रह गयी। अन्ततः जब माधवी का स्वयंवर रचाया जाता है, तो वह वन में तपस्या करती है। अब उसे न अपने यौवन से कोई लगाव है क्योंकि वह समझती है कि वह अपना कर्तव्य पूरा कर चुकी है। अब उसे अनुष्ठान करके अपने सौन्दर्य को नहीं बनाना है क्योंकि जिसको वह सच्चे दिल से प्रेम करती है अपना सब कुछ न्योछावर कर देती है क्रूर नरक की अग्नि में जलती है उसके लिए दिखावा क्या?

माधवी का भाग्य यहाँ भी साथ नहीं देता है, जिस पर वह इतना विश्वास करके, प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए अनेक प्रकार की यातनाएँ सहती है वह भी उसे कुरूप देखकर अस्वीकार कर देता है। अब वही गालव जो लोलुप दृष्टि से देख रहा था उसको (माधवी) को मर्यादा की घुट्टी पिलाकर उसे चलने का प्रपंच रचता है। स्वार्थ-प्रेरित पुरुष गालव कहत है कि “जो स्त्री मेरे गुरु के आश्रम में रह चुकी हो, उसे मैं अपनी पत्नी कैसे मान सकता हूँ।”⁴

यही माधवी अपने कथित प्रेमी की वास्तविकता से परिचित होकर पुरुष-वर्ग द्वारा छले जाने का एहसास करती है और क्षुद्रवृत्ति गालव से कहती है कि —

“दिल में तुम्हारे वासनाएँ कुलबुलाने लगी हैं ऊपर से तुम आदर्शों और मर्यादाओं की बात करते हो..... तुमने मेरे यौवन की आहुति देकर अपनी गुरु दक्षिणा जुटाई है।”⁵

संवेदना के इन्हीं त्रासद क्षणों में उसे ज्ञात होता है कि वह पुरुष द्वारा प्रयोग की गई एक वस्तु है। इस प्रकार माधवी की त्रासदीय संवेदन त्रिकोण में उभरती है। उसकी भाग्यनियति का त्रिकोण बनता है। पिता ययाति, तथाकथित प्रेमी गालव और उसके गर्भ को किराये पर लेने वाले पतियों—अयोध्या नरेश हर्यश्च, काशी नरेश दिवोदास भोजनगर के राजा उशीनगर और अन्ततः धर्म के नियामक वीतरागी तपस्वी विश्वामित्र द्वारा। इन सभी पुरुषों के लिए माधवी एक वस्तु है, उपकरण है, आकांक्षापूर्ति का साधन है, इसके अतिरिक्त उसके अस्तित्व और उसकी छिपी अस्मिता को न तो वे देख पाते हैं और नहीं किसी कीमत पर उसे स्वीकार करने के इच्छुक हैं। किसी न किसी आकांक्षा से उनका स्वार्थ-प्रेरित मन माधवी के प्रति संवेदनशून्य होकर क्रूर कठोरता तक पहुँच जाता है और अन्ततः महत्वाकांक्षी पुरुष वर्ग द्वारा माधवी को अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए एक प्रकार से निश्चित वेश्या बनाकर छोड़ दिया जाता है। आज्ञापालन और

उत्सर्ग, के बाद भी जिसका कोई पिता नहीं, पूर्ण समर्पण के बाद भी जिसका कोई प्रेमी नहीं और चार-चार व्यक्तियों के लिए सन्तान उत्पन्न करने के बाद भी जिसका कोई पति नहीं और इससे भी सबसे बड़ा दुर्भाग्य चार-चार प्रसव-वेदना सहने के बाद भी उसका कोई पुत्र नहीं, वह मातृत्व-सुख से वंचित है।

वस्तुतः वस्तुस्थिति के एहसास से माधवी समझ जाती है कि वह कर्तव्यपरायण दानवों से घिरी है। किसी ने पिता के रूप में उससे आत्मनिर्णय का अधिकार छीनकर उसे अन्धकार के गर्त में धकेल दिया, किसी ने प्रेमी बनकर उसका भावात्मक शोषण किया और किसी ने पति बनकर उसके शरीर का रक्त चूसा है—सभी दानव कर्तव्य का ढोल पीटते हैं। पुरुष-प्रधान समाज में सभी की दृष्टि माधवी (स्त्री) के प्रति उपयोगिता की रही है—पिता ययाति ने दानशीलता के उच्चतम सोपानों को पाने में उसकी उपयोगिता समझी, प्रेमी गालव ने ऋण-मुक्ति के साधन में और परिवर्तित पतियों के लिए—चक्रवर्ती—पुत्र देने का माध्यम।

पुरुष-सत्तात्मक समाज में नारी को पुरुष के वंश-परम्परा का साधन ही माना गया है, यही उसका एक मात्र उपयोग है अन्यथा उसकी दुर्गति है। सेवा, कर्तव्य और मातृत्व आदि शब्द-जाल में फँसकर हमेशा से पुरुष-वर्ग उसका शोषण करता रहा है।

भारतीय सामन्तीय-मनोवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में तो इसे निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पुरुष अभी तक स्त्री की अस्मिता को पहचान नहीं पाया है। पुरुष-सत्तात्मक समाज में स्त्री के दायित्व हैं पर अपेक्षाएँ नहीं, कर्तव्य हैं; अधिकार नहीं, त्याग हैं : आकांक्षा नहीं, उसकी शक्ति सेवा है, फलाधिकार नहीं, कर्म का समर्पण है किन्तु उपलब्धि का सन्तोष नहीं। स्त्री के सामने सीता और सावित्री का आदर्श रखकर हमेशा से पुरुष वर्ग द्वारा उसे छला गया है। धर्म ग्रन्थों ने भी उससे उसकी स्वतंत्र-अस्तित्व-चेतना को विमोहित किया हुआ है। धर्म ग्रन्थों में स्त्री की तुलना पृथ्वी से की गयी है, जिस भांति पृथ्वी संसार-भर का बोझ वहन करती है, वैसी ही स्त्री सभी दायित्वों का भार वहन करती है। पुरुष महत्वाकांक्षी होता है पर स्त्री का प्रमुख गुण त्याग, सेवा है। स्त्री के लिए स्वतंत्रता, समानता, न्याय की भी परिभाषा बदल दी जाती है।

माधवी नाटक पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' की याद दिला देती है जिसमें वे स्त्री होने का दर्द चुनौतीपूर्ण स्वीकार करती है—

“वैसे तो औरत का कोई घर नहीं होता कहीं से भी उसे कहा जाता है—जाओ निकल जाओ पर औरत इसकी परवाह नहीं करती। ये जुमला हर स्त्री ने सुना है, वे चाहे सीता हो चाहे गीता।”⁶

आलोचक गौतम ने अपनी पुस्तक “हिन्दी नाटक मिथक और यथार्थ” में ‘माधवी’ नाटक के महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि “पुरुष प्रधान समाज की सामन्तीय मनोवृत्ति में छटपटाती कर्तव्यपरायण निरीह नारी का महाभारतकालीन दस्तावेज हैं, जो अपनी गहन संवेदना में आज भी बेहद प्रासंगिक है।”⁷

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भीष्म साहनी का ‘माधवी’ नाटक पुरुष-समाज के दुष्चक्रों में फँसी स्त्री की क्रूर नियति का महाभारतकालीन संस्करण है। यह आज भी पुनर्रचित रूप में नया है, इसकी संवेदना ज्वलन्त है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में माधवी की त्रासदी आज भी जिन्दा है और पुरुष के क्रूर शासन-चक्र से अभी भी न जाने कितनी माधवियाँ अपने अस्तित्व का होम कर छटपटा रही हैं। निःसंदेह भीष्म साहनी जी के इस नाटकीय प्रयास में सामन्तीय-व्यवस्था में स्त्री की मौन कसमसाहट सनातन प्रश्न के रूप में कुलबुला रही है। मिथक और यथार्थ की संगति में भीष्म साहनी का यह नाटक मिथक नाटकों की परम्परा में अन्यतम उपलब्धि है।

I UnHk %

1. माधवी : भीष्म साहनी, प्रथम अंक, दृश्य 1, पृष्ठ 20
2. वही, प्रथम अंक, दृश्य-1, पृष्ठ 22
3. वही, प्रथम अंक, दृश्य-2, पृष्ठ 25
4. वही, प्रथम अंक, दृश्य-3, पृष्ठ 115
5. वही
6. पद्मा सचदेव — बूंद बावड़ी (आत्मकथा)
7. हिन्दी नाटक, मिथक और यथार्थ : रमेश गौतम



Lukrd Lrjh; Nk=k dh lk; koj.kh; Ipruk ij lk; koj.kh; f'k{kk di iHkko dk v/; ;u MkE jk th dekj flg*

Hkfedk& शिक्षा मानवीय प्रगति और ज्ञान को अद्यतन रखने का सबसे सशक्त माध्यम है। इसके माध्यम नवीन चुनौतियों की अनुभूति करते तथा उसके अनुरूप अपने को तैयार करने की क्षमता का विकास होता है। मानव की स्वाभाविक शक्तियों का उन्नयन तथा उसे वाह्य वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता का विकास होता है। मानव का सम्पूर्ण विकास क्रम उसके वंशानुक्रम एवं वातावरण का प्रतिफलन है। इसलिए उसकी आस्था प्रारम्भ से ही वातावरण के प्रति सकारात्मक एवं जिज्ञासु रही है। किन्तु वर्तमान में लोगों की महत्वाकांक्षी और स्वयं को सर्वशक्ति सम्पन्न बनाने की लालसा ने उसे अपने पर्यावरण से दूर कर दिया है और वह अपने पर्यावरण को सर्वथा हानि पहुँचा रहा है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति के कारण पर्यावरण असन्तुलन की दशा उत्पन्न हो गयी है।

बालक में पर्यावरण के प्रति प्रेम एवं पर्यावरण की उपादेयता को दृष्टि में रखते हुए इसे शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शैक्षिक प्रक्रिया का अंग बनाया गया है। शिक्षा के विविध स्तरों पर पर्यावरणीय जागरूकता को ज्ञात कर उनमें पर्यावरण के प्रति प्रेम एवं पर्यावरण संरक्षण की दक्षता विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है। पर्यावरणीय संचेतना वह विशिष्ट ज्ञान है जो पर्यावरण को जानने, समझने और उसके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास करने से सम्बन्धित है। पर्यावरण संचेतना के सम्बन्ध में सहनवाज (1990) ने माध्यमिक स्तर तथा गोपाल कृष्णन (1992) व दिनेश सिंह (2007) ने प्राथमिक स्तर तथा सुनील सिंह (2012) ने बी०एड् विद्यार्थियों को आधार करके अध्ययन किया। इसमें पर्यावरणीय शिक्षा को एक महत्वपूर्ण कारक माना गया। प्रस्तुत अध्ययन में स्नातक स्तरीय छात्रों की पर्यावरणीय संचेतना पर पर्यावरणीय शिक्षा का प्रभाव ज्ञात किया गया है।

v/; ;u di mnn';&

1. पर्यावरणीय शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा न प्राप्त करने वाले छात्रों में पर्यावरणीय संचेतना की तुलना करना।
2. पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाली तथा न प्राप्त करने वाली छात्राओं में पर्यावरणीय संचेतना की तुलना करना।

ifjdYiuk;:&

1. पर्यावरणीय शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा न प्राप्त करने वाले छात्रों की पर्यावरणीय संचेतना में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
2. पर्यावरणीय शिक्षा प्राप्त करने वाली तथा न प्राप्त करने वाली छात्राओं की पर्यावरणीय संचेतना में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

v/; ;u fof/k& प्रस्तुत अध्ययन में कारणात्मक तुलनात्मक शोध विधि का प्रयोग किया गया है। न्यादर्श हेतु पी०बी०पी०जी० कालेज सिटी, प्रतापगढ़ में स्नातक स्तर के पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाले 40 छात्र व 25 छात्राओं तथा पर्यावरण शिक्षा न प्राप्त करने वाले 40 छात्र व 25 छात्राओं कुल 80 छात्र व 50 छात्राओं का चयन यादृच्छिक प्रतिदर्श प्रतिचयन विधि से किया गया है। प्रदत्त संकलन हेतु आर०के० सिंह द्वारा निर्मित पर्यावरण शिक्षा संचेतना मापनी का प्रयोग किया गया है। संकलित प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु मध्यमान मानक विचलन एवं टी-अनुपात परीक्षण का प्रयोग किया गया है।

*असि० प्रोफेसर गणित विभाग, पी०बी०पी०जी०, कालेज, सिटी, प्रतापगढ़।

inÜk fo'y"l.k&

1. पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा प्राप्त न करने वाले छात्रों की पर्यावरणीय संचेतना का विश्लेषण—

चर	N	M	SD	D	σD	T-Ratio	सार्थकता
पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र	40	58.15	6.79	1.22	1.69	2.49	.05
पर्यावरण शिक्षा न प्राप्त करने वाले छात्र	40	53.93	7.98				

उक्त सारणी के अनुसार पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की पर्यावरण संचेतना प्राप्तांकों का मध्यमान 58.15 तथा मानक विचलन 6.79 है, जबकि न प्राप्त करने वाले छात्रों की पर्यावरणीय संचेतना प्राप्तांकों का मध्यमान 53.93 व मानक विचलन 7.98 है। परिगणित क्रान्तिक अनुपात 2.49 है, जो 78 df पर 0.05 सार्थकता स्तर पर ती सारणी मान 1.96 से अधिक है जो सार्थक है। अतः पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की पर्यावरणीय संचेतना न प्राप्त करने वाले छात्रों से उच्च है।

2. पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाली तथा प्राप्त न करने वाली छात्राओं की पर्यावरणीय संचेतना का विश्लेषण।

चर	N	M	SD	D	σD	T-Ratio
पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाली छात्रायें	25	60.52	5.11	9.32	1.64	5.68
पर्यावरणीय शिक्षा न प्राप्त करने वाली छात्रायें	25	51.20	6.43			

उक्त सारणी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाली छात्राओं की पर्यावरणीय संचेतना के प्राप्तांकों का मध्यमान 60.52 व मानक विचलन 5.11 है, जबकि पर्यावरणीय शिक्षा न प्राप्त करने वाली छात्राओं की पर्यावरणीय संचेतना प्राप्तांकों का मध्यमान 51.20 तथा मानक विचलन 6.43 है, परिगणित क्रान्तिक अनुपात 5.68 है जो स्वतन्त्रयांश 48 के लिए .01 सार्थकता स्तर पर टी सारणी मान 2.60 से अधिक है जो सार्थक है। अतः पर्यावरण शिक्षा प्राप्त करने वाली छात्राओं की पर्यावरणीय संचेतना पर्यावरणीय शिक्षा न प्राप्त करने वाली छात्राओं से उच्च है।

fu"d"l& उक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि पर्यावरणीय संचेतना पर पर्यावरणीय शिक्षा का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इसलिए शिक्षा के स्नातक स्तर पर प्रत्येक वर्ष पर्यावरण शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाना चाहिए तथा शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च एवं प्रशिक्षण पर पर्यावरण के विभिन्न घटकों का ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए। शैक्षिक वातावरण को भी पर्यावरणीय कारकों को ध्यान में रखकर निर्गत किया जाना चाहिए। छात्रों के शैक्षिक भ्रमण में प्राकृतिक स्थलों एवं उससे जुड़े केन्द्रों को ध्यान में रखना चाहिए, जिससे छात्रों में उच्च पर्यावरणीय संचेतना का विकास हो सके।

l UnHk %

- गोपाल कृष्णन (1992) इम्पैक्ट ऑफ इनवायनमेंटल एजुकेशन ऑन प्राइमरी स्कूल चिल्ड्रेन, पी-एच०डी० शोध प्रबन्ध अविनाशलिंगम इन्स्टीट्यूट।
- सहनवाज (1990) एनवायनमेंटल अवेयरनेस एण्ड एनवायरनमेंटल एप्टीट्यूट ऑफ सेकेण्डरी स्कूल टीचर एण्ड स्टूडेंट, पी-एच०डी० शोध प्रबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय।
- दिनेश सिंह (1992) एनवायनमेंटल अवेयरनेस ऑफ प्राइमरी स्कूल टीचर्स एण्ड स्टूडेंट शोध प्रपत्र शोध जर्नल ऑफ एजुकेशनल स्टडी वाल्यूम -5 नम्बर-1 वर्ष 2007।
- नशरीन (2002) एनवायनमेंटल एजुकेशन, नई दिल्ली ए०पी०एच० पब्लिसिंग कार्पोरेशन।
- सिंह राजीव कुमार एवं राधेश्याम मौर्य (2017) पर्यावरण अध्ययन, दिल्ली प्रतिमा प्रकाशन।
- पाण्डेय रामशकल एवं करुणा शंकर मिश्र (2006) भारतीय शिक्षा की समस्यायें आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर।



वक्त्र;। egkohj i: lkn f}onh vkj fgUnh dgkuh

MkO foukn ;kno*

भारतेन्दु-युग के बाद आधुनिक काल का दूसरा द्विवेदी युग है। यह नाम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम के अन्तिम पद से गृहीत है। इस युग का आरम्भ सन् 1900 से माना जाता है। इसका कारण है इसी वर्ष से 'सरस्वती' का प्रकाशन। सरस्वती का हिन्दी कहानी के विकास में महत् योग है। इसमें प्रथम अंक से ही 'कथा' विधा की रचनाएं प्रकाशित होने लगीं। 1903 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक बनने के बाद भी 'आख्यायिका' स्तम्भ चलता रहा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खुद की चार आख्यायिकाएं 'तीन देवता', 'महारानी चन्द्रिका', 'स्वर्ग की झलक', और 'भारत वर्ष का तारा' प्रकाशित की। इनके बाद भी उनकी आख्यायिकाएं नियमित रूप से छपती रहीं।

'कहानी' के विकास का अत्यन्त अंतरंग सम्बन्ध 'सरस्वती' के प्रकाशन से है। इसका महत्व और कारण बताते हुए गोपाल राय ने लिखा है "आकार में छोटी कथा का, तनिक बड़े पैमाने पर प्रकाशन पहली बार 'सरस्वती' से ही शुरू हुआ। 'सरस्वती' हिन्दी की किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान से निकलने वाली पहली साहित्यिक पत्रिका थी, जिसका लक्ष्य धन कमाना भले न हो, आर्थिक नुकसान उठाना भी न था। ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कथा से बढ़कर कोई और माध्यम नहीं हो सकता, इसकी जानकारी 'इण्डियन प्रेस' के बंगाली मालिक को भली-भांति थी। बंगला में प्रवासी आदि पत्रिकाओं की सफलता का रहस्य वह जानते थे। हिन्दी में भी देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीदास गोस्वामी आदि के उपन्यासों के कारण एक कथा प्रेमी पाठक वर्ग का उदय हो रहा था।" 'सरस्वती' इन्हीं परिस्थितियों की उपज थी यही कारण था कि उसके प्रथम अंक से ही 'आख्यायिका' नामक खण्ड में छोटी कथाओं का प्रकाशन आरम्भ हो गया। 'आख्यायिका' पद के साथ एक सुविधा थी कि उसका परम्परागत सम्बन्ध ख्यात कथा से था, जिसकी रचना आसान भी थी और शासन की टेढ़ी नजर से बचने का पर्दा भी। 'सरस्वती' के पहले ही अंक में प्रकाशित गोस्वामी जी की 'इन्दुमती' और 1902 में प्रकाशित 'गुलबहार' ख्यात कथा पर आधारित आख्यायिकाएं हैं। द्विवेदी जी की कथाएं भी विख्यात की कोटि में ही आती हैं। इन ख्यात कथाओं के साथ-साथ कल्पना प्रसूत कथायें भी 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं।

इस तरह हिन्दी-कहानी के आविर्भाव की दृष्टि से 'सरस्वती' की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्रकाशन वर्ष में ही प्रकाशित किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' की प्रथम मौलिक कहानी के रूप में चर्चा और अभ्यर्थना हुई। कालान्तर में उस पर किसी बंगला कहानी और शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' के प्रभाव का उल्लेख भी हुआ। यह प्रभाव इतना स्पष्ट और मुखर था कि उसे मौलिक कहानी की बजाय रूपान्तर माना गया। आगे का दशक कहानियों की उपलब्धि की दृष्टि से उल्लेखनीय माना जा सकता है। माधव राव सप्रे की 'टोकरीभर मिट्टी' भगवान दास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902), गिरजा दत्त बाजपेयी की 'पण्डित और पण्डितानी', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', (1903) लाला पार्वतीनन्दन की 'बिजली' (1904), 'मेरी चंपा' (1905) और बंग महिला की दुलाईवाली (1907) आदि कहानियाँ इस दशक में प्रकाशित हुईं। यह कहानियाँ उस समय की चिन्ता और विचार के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकानले का आधार उपलब्ध कराती हैं। इसी दशक में वृन्दावन लाल वर्मा की दो कहानियाँ 'राखीबन्द भाई', और 'तातार और एक वीर राजपूत' प्रकाशित हुईं। वस्तुतः यह वो दौर है जब कहानी को स्वतंत्र विधा के रूप में एक दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। एक ओर यह लड़ाई उसके अस्तित्व की है तो दूसरी ओर उसकी प्रतिष्ठा की। सामाजिक प्रभाव

*पूर्व शोध छात्र- हिन्दी विभाग, सर्वोदय पी0जी0 कालेज घोसी, मऊ, उ0प्र0। सम्बद्ध- वीर बहादुर सिंह पूर्वचल वि0वि0 जौनपुर, उ0प्र0

की दृष्टि से कहानी को न सिर्फ उपेक्षणीय बल्कि युवाओं को बिगाड़ने वाली चीज माना जाता था। यही कारण है कि राजेन्द्र बाला घोष को अपना वास्तविक नाम छिपाकर 'बंग महिला' के नाम से कहानियाँ लिखनी पड़ी। यह कहानी एक ओर उसके अस्तित्व की है दूसरी ओर उसके प्रतिष्ठा की, आश्चर्य तब होता है जब गिरजा कुमार घोष को भी अपना नाम 'लाला पार्वती नन्दन' करना पड़ता है।

यह काल खण्ड सरस्वती के वैचारिक संक्रमण की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। अपनी राजभक्ति, ब्रिटिश प्रशासन और न्याय व्यवस्था की अपनी अभिशंसा का पिछला मार्ग छोड़कर वह महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में भारत के प्रचीन गौरव के साथ ही एक वैज्ञानिक दृष्टि के निर्धारण पर बल देती वाली पत्रिका बन गयी। इस दौर में लिखी जाने वाली कहानियों में रचनात्मक प्रौढ़ता के दर्शन भले न हों, जो अगले दशक की कहानियों में दिखाई देते हैं, लेकिन आदर्श और बलिदान की चासनी में पगी होने पर भी अपने समय की आहट इसमें सुनाई देती है। माधव राव सप्रे की कहानी 'टोकरी भर मिट्टी' जब अर्से बाद एक तरह से पुनराविष्कृत कहानी के रूप में प्रकाश में आई तो लोगों ने उसे हिन्दी की यथार्थवादी कहानी के सूत्रपात का श्रेय दिया। गिरजादत्त बाजपेयी की कहानी अनमेल विवाह की समस्या पर है। 'बंग महिला' की 'दुलाईवाली' 1905 के बंगाल विभाजन की पृष्ठभूमि में स्वदेशी आन्दोलन की गूँज लिए है, जिसका सूत्रपात भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में किया था। वृन्दावन लाल वर्मा की कहानियाँ विगत राजपूती शौर्य की गाथा कहने साथ ही इतिहास के सन्दर्भ में हिन्दू-मुस्लिम एकता और सद्भाव पर बल देती है, जो स्वाधीनता आन्दोलन की दृष्टि से 'सरस्वती' की परिवर्तित नीति का परिणाम था। इन्हीं कहानियों के लिखे जाने के आस-पास उन्होंने 'सेनापति उदल' नाम का एक नाटक भी लिखा था, जो ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया है। इन्हीं दिनों मुंशी प्रेमचन्द उर्दू में 'नवाब राय' के नाम से कहानियाँ लिखते रहे। उनकी उर्दू कहानियों का संकलन 'सोजेवतन' सिडीसन राजद्रोह- के आरोप में जब्त कर लिया गया था। इस दशक की कहानियों के सन्दर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'उपन्यास' की तरह कहानी का अभ्यास काल इतना लम्बा नहीं खिंचता, न ही उसमें 'उपदेश' और 'कल्पना' की दो समानान्तर धाराएँ दिखाई देती हैं। जिनके संश्लेषण के लिए उपन्यास ने तीन दशक साधना की थी।

हिन्दी-कहानी के विकास की दृष्टि से इस शताब्दी के दूसरे दशक का ऐतिहासिक महत्व है। आगे चलकर जिन्हें हिन्दी कहानी की दो समानान्तर धाराओं में रेखांकित करने की परिपाटी सी विकसित हो गयी। समाज परक यथार्थवादी कहानियों की धारा और भाववादी व्यक्तिवादी कहानियों की धारा-उसका सूत्रपात इसी दशक में हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी से नीतिगत मतभेद के कारण 1903 में काशी से अम्बिका प्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'इन्दु' का प्रकाशन शुरू हुआ। इसका सम्पादन भले ही गुप्त जी कर रहे थे किन्तु पत्रिका के व्यक्तित्व पर जयशंकर प्रसाद की सुस्पष्ट छाप देखी जा सकती है। यह एक तरह से सरस्वती का विरोधी मंच था। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रेम को लगभग एक वर्जित क्षेत्र मानकर जिस प्रकार के नैतिक और प्रायः स्थूल किस्म की सामाजिकता को प्रोत्साहन दिया। इन्दु की दृष्टि उससे मूलतः भिन्न थी। प्रसाद और उनके सहयोगी लेखक आत्म परक और व्यक्तिवादी रुझानों के प्रति आग्रहशील थे। सन् 1910 में प्रसाद जी का 'प्रेम पथिक' प्रकाशित हुआ। 'इन्दु' में प्रकाशित होती रही। उनकी कहानियों का पहला संग्रह 'छाया' सन् 1912 में प्रकाशित हुआ उनका दूसरा संग्रह प्रतिध्वनि इसके चौदह वर्षों बाद 1926 में प्रकाशित हुआ। कहानी प्रसाद जी के लिए मूल सक्रियता वाली विधा नहीं थी, लेकिन इसके प्रति उनका आकर्षण जीवन भर बना रहा। उनकी कहानियों का अन्तिम संग्रह 'इन्द्रजाल' उनके निधन के कुछ ही पूर्व सन् 1936 में प्रकाशित हुआ।

प्रसाद जी के पहले संग्रह 'छाया' की अधिकांश कहानियों की विषय-वस्तु ऐतिहासिक है, वह इतिहास की पृष्ठभूमि पर रची गयी है। 'तानसेन', 'रसिया बालम', 'अशोक', 'गुलाम', 'जहाँआरा', और 'मदन-मृणालिनी' आदि कहानियाँ या तो ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं आदि से सम्बद्ध है या उनका पूरा परिवेश ऐतिहासिक है। लेकिन इन कहानियों को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि यह इतिहास का प्रयोग अपने वर्तमान के लिए कर रही है, जबकि इन कहानियों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जो आगे चलकर हिन्दी कहानी में 'प्रसाद' जी की स्थायी पहचान बनाते हैं। लेखक के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से भी इन कहानियों

का महत्व असंदिग्ध है। इसमें की अनेक कहानियाँ प्रेम के उदात्त रूप को उद्घाटित करती है, प्रेम के लिए सर्वस्व बलिदान की भावना पर बल देती है। 'तानसेन' में जब मुगल सरदार रामप्रसाद के गायन पर मुग्ध होकर वर माँगने के लिए कहता है तो वह अपनी प्रतिस्पर्धिनी को ही माँग लेता है। उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए सरदार धर्मानुसार उससे विवाह करने को कहता है तो रामप्रसाद धर्म बदल कर तानसेन बन गया। वह कहता 'आज से हमारा धर्म प्रेम है'² रसिया बालम में प्रेम की असफलता पर बलवंत और राजकुमारी दोनों आत्मघात द्वारा अपने उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं। 'मदन-मृणालिनी' में प्रेम की असफलता से पैदा हताशा नायक को सन्यास के लिए प्रेरित करती है। अन्तिम समय से सूचना पाकर जब मृणालिनी मदन से भेंट करने के लिए सागर तट पर पहुँचती है तो देखती है कि उसका पोत खुल कर समुद्र में काफी दूर जा चुका है। आगे बढ़ते हुए पोत में गेरुए वस्त्रों में खड़े मदन की झलक मात्र दिखाई देती है। गुलाम और जहाँआरा में भी मुगलकाल की पृष्ठभूमि है। गुलाम कहानी 'प्रतिहिंसा' और घृणा को शक्ति के रूप में उपयोग करने का संकेत देती है तो जहाँआरा अपने वृद्ध पिता शाहजहाँ के लिए अपने सांसारिक सुखों का त्यागकर स्वेच्छा से कारागार का वरण करने वाली युवती की कथा है, जिसकी मौन उदात्त पीड़ा का साक्ष्य एक सुखद अपवाद की तरह मुगल इतिहास में सुरक्षित है।

'छाया' की जो कहानियाँ अपने वर्तमान की दृष्टि से इतिहास का उपयोग करती दिखाई देती हैं उनमें 'सिकन्दर की शपथ' और 'चित्तौर का उद्धार' का उल्लेख किया जा सकता है। 'सिकन्दर की शपथ' में अश्वक वीरों के साथ भारतीय वीरों की शौर्यगाथा अंकित है। पराजय और दुर्ग-ध्वंस के बाद सरदार पत्नी सिकन्दर की शरणागत हो जाती है। सन्धि के नियमों का उलंघन करके सिकन्दर भारतीय सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती करने का दबाव डालता है और उनके अस्वीकार कर देने पर घर का उन सबकी हत्या करवा देता है। सिकन्दर के छत्र, ग्रीक सेना के अत्याचार के विरोध में भारतीय वीरों विशेषकर स्त्रियों के बलिदान की यह कहानी स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाती है। इस तरह प्रकारान्तर से जयशंकर प्रसाद अंग्रेजों के छल छद्म और कूटनीति के प्रतिपक्ष में भारतीय वीरों के शौर्यपूर्ण बलिदान को ही स्मरण कर रहे होते हैं। 'चित्तौर का उद्धार' विलुप्त मर्यादा की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है। यहाँ भी स्त्रियों की भूमिका का संकेत महत्वपूर्ण है। स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में भारतीय अस्मिता की पहचान का कार्य प्रसाद अपनी इसी दौर की सामाजिक कहानियों में भी करते हैं। इन कहानियों में 'ग्राम' और 'शरणागत' का उल्लेख किया जा सकता है।

'ग्राम' कहानी का भू-स्वामी मोहनलाल अपने तौर तरीकों और रहन-सहन में उस वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है जो प्रथम स्वाधीनता संग्राम की असफलता और दमन के दौरान पैदा हुई हताशा के परिणामस्वरूप अंग्रेजों की चापलूसी द्वारा आत्मविकास की राह पकड़ता है। अपने देशवासियों के प्रति घृणा और हिकारत का भाव उसका स्थायी भाव है। इसकी तुलना में प्रसाद ने विस्तारपूर्वक ग्राम सभ्यता की सहजता, उमंग और उत्सवप्रियता को रेखांकित किया है। किशोरी और उसकी माँ की यही निराडम्बर सहजता उस भारतीय दृष्टि का प्रतीक बनकर कहानी में उपस्थित है, जो सारी सम्पत्ति और वैभव से वंचित होकर भी आत्मगौरव और सम्मान का वरण करती है। 'शरणागत' में 'प्रसाद' जी इस पहचान की एक भिन्न पद्धति अपनाते हैं। किशोर सिंह का अतिथ्य ग्रहण कर के विल्फर्ड और एलिस धीरे-धीरे किशोर सिंह की पत्नी सुकुमारी के प्रभाव में आ जाते हैं। पति के सामने कुर्सी पर न बैठने वाली सुकुमारी की निष्ठा एलिस को प्रभावित कर लेती हैं— शरणागत प्रसाद जी के विशफुल थिंकिंग की कहानी है, जिसमें एक अंग्रेज युवती भारतीय जीवन पद्धति की ओर आकृष्ट दिखाई जाती है— जिसका विकास आगे चलकर चन्द्रगुप्त की कार्नेलिया के रूप में होता है। सिपाही विद्रोह शांत होने पर, जब अंग्रेज दम्पति जाने के लिए तैयार होते हैं, तो उनके लिए दो घोड़े तैयार कराये जाते हैं। एलिस सुकुमारी से विदा लेने अन्दर जाती है, लेकिन बाहर निकलने पर उसे पहचान पाना मुश्किल है— "एलिस ने अपना गाउन नहीं पहना, उसके बदले फिरोजी रंग के गहरे रेशमी कपड़े का कामदानी लहंगा और मखमल की कंचुकी जिसके सितारे रेशमी ओढ़नी के ऊपर चमक रहे हैं, यह क्या है? स्वाभाविक अरुण अधरों में पान की लाली भी है, आखों में काजल की रेखा भी है, चोटी भी फूलों से गूँथी जा चुकी है और मस्तक पर सुन्दर सा बाल अरुण का बिन्दु भी तो है।"³ इस प्रकार

जयशंकर प्रसाद प्रथम स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि में सुरक्षा और सुविधा पर नजर गड़ाए, भारतीय सामंत वर्ग के मूल अन्तर्विरोध को रेखांकित करना चाहते हैं। इन सबके लिए वे कहानी के विकास की तर्कपूर्ण और स्वाभाविक स्थितियों के प्रति उदासीन हो जाने की छूट भी ले लेते हैं। एलिस के कटे हुए बालों की चिंता किये बगैर वे भारतीय युवती की तरह उसका शृंगार करवा कर उसके बेणी में फूल गूँथे जाने की सम्भावना बनाये रखते हैं। एलिस के लिए, पति के साथ जाने को, सजा—सजाया घोड़ा तैयार खड़ा है और सुकुमारी के सुझाव पर उसके लिए पालकी तैयार की जाती है जिसे वह समाज भाव से स्वीकार कर लेती है।

‘छाया’ में संकलित कहानियाँ प्रसाद जी की आरम्भिक कहानियाँ हैं। उनमें रचनाकार की आरम्भिक कमजोरियाँ हैं, जो स्वाभाविक है। डॉ० हरदयाल ने ऊपर विचार करते हुए लिखा है। “प्रसाद जी की आरम्भिक कहानियाँ रोमानी भावों से लबरेज हैं और कला की दृष्टि से परिपक्व होने पर भी इनमें रोमांटिक कवि के प्रेमस्वप्न विद्यमान हैं। इनमें से ‘तानसेन’, ‘चन्दा’, ‘रसिया बालम’, ‘मदन—मृणालिनी’ आदि कल्पना प्रसूत कथाओं पर आधारित प्रेम कहानियाँ हैं। ‘तानसेन’ कहानी का अन्तिम सूत्र वाक्य है ‘आज से हमारा धर्म प्रेम है’। इन सभी कहानियों की प्रमुख विशेषता है— प्रेम का भावुकतापूर्ण एवं समाज से दूर स्वच्छन्द वातावरण के बीच चित्रण। प्रेम की तीव्रता, साहसिकता, संगीतमयता, बलिदान, भावुक प्रणयालाप, स्वतंत्र और प्रखर नारी व्यक्तित्व, स्वच्छन्द प्राकृतिक वातावरण, काव्यमयता एवं नाटकीयता इसे प्रेमचित्रण के मुख्य सूत्र हैं।”³

इतिहास लेखक और कथाआलोचकों द्वारा पायः यह संकेत किया जाता रहा है कि प्रसाद अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाले लेखक थे। अपने युग की सामाजिक राजनीतिक हलचलों के प्रति उदासीन न होने के बाद भी उसमें उनकी प्रखर दिलचस्पी नहीं थी, जैसी उन्हीं के समकालीन प्रेमचन्द में दिखाई देती है। आज कुछ लोग यथार्थवाद के अपर्याप्तता की बात भी करने लगे हैं, उसे वह प्रसाद के बचाव में भी प्रयोग करते देखे जा सकते हैं। परन्तु सच यह है कि आगे चलकर भी प्रसाद जी ने इन युगीन हलचलों को तथ्यात्मक और यथार्थवादी ढंग से अंकित करने की वैसी कोशिश नहीं करते, जिससे इनके वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायता मिले। पराधीनता से उपजी हताशा और पीड़ा की क्षतिपूर्ति किसी कदर आत्म—मुग्ध भाव से वह भारत के अतीत गौरव की गरिमा का बखान करके करते हैं। निश्चय ही इसके लिए वे ‘कथन’ पद्धति से हटकर चित्रण की पद्धति अपनाते हैं और इससे खुद के गम्भीर सिद्ध करने का यत्न करते हैं। संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में भारत का गौरव गान और शैवागम दर्शन में आनन्दवादी रुझान प्रसाद के रचनात्मक सरोकारों को काल्पनिक भाववाद से जोड़ने के बावजूद, इस संसार के प्रति अपनी दिलचस्पी को कम नहीं करते। प्रेम, रूपाशक्ति, करुणा और आनन्द के बीच वह मनुष्य को रखकर रचना करते हैं। स्वाधीनता संघर्ष के दौर में कामायनी के समान ऐश्वर्य, भोग और वैभव की सीमाओं को रेखांकित करके वे ऊर्जा के वास्तविक स्रोतों के अन्वेषण की पहल करते हैं।

सन् 12 में ‘छाया’ के प्रकाशन के बाद कहानियों का दूसरा संग्रह ‘प्रतिध्वनि’ 1926 में प्रकाशित हुआ। हिन्दी कहानी के विकास की दृष्टि से उनके दोनों संग्रहों के प्रकाशन के बीच का काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रसाद जी की प्रतिनिधि और प्रौढ़ कहानियों का संकलन ‘आँधी’ और ‘आकाशदीप’ क्रमशः सन् 1929 और 31 में प्रकाशित हुए। उनके अन्तिम दौर की कहानियों का संग्रह ‘इन्द्रजाल’ उनके निधन के कुछ ही पूर्व सन् 1936 में प्रकाशित हुआ। प्रेमचन्द के साथ रखकर प्रसाद जी का मूल्यांकन करने पर उनके साथ अन्याय हो जाता है। कहानी भले ही प्रसाद जी के लिए मूल विधा हो जैसी वह प्रेमचन्द के लिए थी, फिर आठ—दस कहानियाँ ऐसी हैं, जिनके आधार पर, इस क्षेत्र में उनके रचनात्मक अवदान को व्यापक स्वीकृति मिलती रही है।

प्रसाद की इस कहानियों में ‘पुरस्कार’, ‘ममता’, ‘गुण्डा’, ‘आकाशदीप’, ‘स्वर्ग के खण्डहर में’, ‘देवाथ’, ‘सालवती’, ‘धीसू’, ‘नूरी’, ‘महुआ’ आदि कहानियों का उल्लेख सहज की किया जा सकता है। प्रसाद की यह कहानियाँ प्रेम के उदात्त रूप को एक ओर व्यक्त करती हैं तो वहीं वे दो परस्पर विरोधी भावों के संघात और द्वन्द्व को नाटकीय कौशल के साथ प्रस्तुत करती हैं। ‘पुरस्कार’ में यह द्वन्द्व प्रेम और देश के बीच है। ‘आकाशदीप’ में प्रेम और घृणा के बीच। अपनी कहानियों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बावजूद मनुष्य की भाव संवेदना को प्रसाद केन्द्रीय महत्व देते हैं। ‘गुण्डा’ में काशी की राजनीतिक उथल—पुथल के बीच नन्हकू सिंह

के शौर्य पूर्ण बलिदान की कथा प्रसाद के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण का एक प्रतिनिधि उदाहरण है। आलोचना की परिपाटी भले ही प्रेमचन्द प्रसाद को आमने-सामने रखकर मूल्यांकन कर रही है, लेकिन सच्चाई यह है कि दो धाराओं का कोई सुस्पष्ट विभाजन बहुत आसान नहीं है। प्रसाद यदि एक ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाली कहानियाँ लिख रहे थे, वहीं वे 'नूरी' और 'मधुआ' जैसी सामाजिक कहानियाँ भी लिख रहे थे। इसी तरह अपने महोबा प्रवास में प्रेमचन्द ने बहुत सी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी, जो अपनी प्रकृति में प्रसाद के बहुत निकट पड़ती हैं। प्रसाद अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाली कहानियों में भी कभी मनुष्य के विरोध में खड़ी इतिहास की शक्ति और विडम्बना पर व्यंग्य करते हैं, जो 'ममता' के 'ममता' की तरह मनुष्य की पीड़ा के प्रति उदासीन रहकर अपना काम अपने ढंग से करती है तो कभी 'स्वर्ग' के खण्डहर में जैसी कहानियों में अतिशय भोगवाद के सन्दर्भ में उसके अन्त का अवसवाद पूर्ण संकेत देते हैं। वस्तुतः इस सूत्र की खोज प्रसाद के व्यक्तित्व में ही की जानी चाहिए कि अपने युग और मनुष्य के शाश्वत भावों के प्रकाशन के लिए भी वे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परिवेश की ओर क्यों जाते हैं। प्रसाद की इन कहानियों का प्रभाव प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गयी रांगेय राघव की 'महायात्रा' की गाथाओं तक पर देखा जा सकता है। प्रसाद की कहानियों की शैली और शब्द सम्पदा को लेकर भी प्रायः मतभेद रहा है। इस अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ, तत्सम बहुल शैली का विकास आगे गद्यगीत तक होता है। इसे एक विलुप्त प्रजाति की तरह आज साहित्य और इतिहास के संग्रहालय में देखा जा सकता है। एक तरफ जहाँ उसकी ऐतिहासिक महत्ता है वहीं उसके प्रति आज तक लगातार नाराजगी और असहमति है। अभी सन् 2008 में गोपाल राय का 'हिन्दी कहानी का इतिहास' प्रकाशित हुआ है। गोपाल राय ने इस प्रसंग पर अपनी स्पष्ट नाराजगी जाहिर की है। वह लिखते हैं "ग्राम कहानी की महाजन द्वारा किसान या जमींदार के शोषण से उतनी नहीं बनती जितनी उस करुणा के संवेदना बिन्दु की व्यंजना से इस दृष्टि से यह कहानी 'कहानी' की आदर्श परिभाषा के निकट पहुँचने में सफल मानी जा सकती है। इस संवेदना बिन्दु तक पहुँचने के लिए जो पृष्ठभूमि रची गयी है। वह इसमें बाधक हुई है। प्रकृति का अनावश्यक और सजावटी वर्णन इस कहानी की केन्द्रीय संवेदना से मेल नहीं खाता। 'आकाश में चाँद' निकल आया जैसी सूचना के लिए 'अंधकार रूपी अंजन के अग्रभाग स्थित आलोक के समान चतुर्दशी की लालिमा को लिए चन्द्रदेव प्राची के हरे-हरे तरुवरों की आड़ में से अपनी किरण प्रभा दिखाने लगे।' जैसी अलंकृत और बोझिल भाषा आधुनिक कहानी की प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है। कहानी के मुख्य पात्र का ग्रामीण स्त्रियों से रास्ता पूछने के लिए 'भद्रे कुसुम पुर कितनी दूर है? कहना या कथक का 'लड़की अपनी कुटिया की ओर चली', के लिए 'बालिका-क्षुद्र कुटीराभिमुख गमन करने लगी।' कहना हास्यास्पद है।¹ जबकि 'मधुरेश' इससे भिन्न प्रसाद जी की कथा भाषा को वस्तु की पहचान के रूप में रेखांकित करते हैं। "प्रसाद की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाली कहानियों में यह शैली उनके शिल्प-विधान का एक अनिवार्य हिस्सा बनकर आती है।² प्रसाद जी की कहानियों की स्थिति रायकृष्ण दास के गद्यगीतों और चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों का नहीं है। यह प्रयास निर्मित भाषा नहीं है। यह उनके लिए वैसी ही स्वाभाविक और स्वतः स्फूर्त है जैसे आगे चलकर हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में दिखाई देती है। अपनी रचना वस्तु के अनुरूप भाषा और शैली के विकास की चेतना प्रसाद में शुरु से ही देखी जा सकती है, 'नूरी', 'घीसू' और 'मधुआ' की शैली वैसी ही नहीं है जैसी 'पुरस्कार', 'आकाशद्वीप' और 'गुण्डा' की है। अपनी रचनात्मक निष्ठा और सजग कलाबोध के कारण ही प्रसाद की कहानियाँ आज इतिहास का धरोहर होने से बची रह सकी।

I UnHk §

1. गोपाल राय : हिन्दी कहानी का इतिहास, पृ० 28
2. जयशंकर प्रसाद : छाया, पृ० 10
3. वही, पृ० 30
4. डॉ० हरदयाल : रोमानी ऐतिहासिक कहानी, हिन्दी सा० का बृहद इतिहास, भाग-12, पृ० 202
5. गोपाल राय : हिन्दी कहानी का इतिहास, पृ० 74
6. मधुरेश : हिन्दी कहानी का विकास, पृ० 17



fgUnh miU;kI ^vdky IU/;k* e L=h foe'k

MkO t; i:dk'k iVy*

vUt flg iVy**

प्रकृति ने स्त्री-पुरुष दोनों को समान जीवन जीने का अधिकार प्रदान किया है। पुरुषों के समान स्त्रियों को भोजन, वस्त्र एवं मकान के साथ-साथ सम्मान की अति आवश्यकता होती है। जिस समाज में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं है वह सभ्य समाज कहने का हकदार नहीं है। जहां तक भारतीय समाज की बात की जाय, हमारे देश की सांस्कृतिक विशेषता में स्त्री-पुरुष समानता है। प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष दोनों को समान अधिकार प्राप्त थे। सिन्धु सभ्यता से लेकर वैदिक काल तक स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्राप्त था। सिन्धु सभ्यता को मातृसत्तात्मक समाज होने का प्रमाण मिल चुका है। वैदिक काल में कन्याओं को देवी के स्थान पर रखकर पूजा की जाती थी। यहां तक कहा गया है कि जहां नारी की पूजा की जाती है, वही देवताओं का वास होता है। सन् 1980 ई० में न्यूयार्क की संयुक्त राष्ट्र महासभा में सम्बोधित करते हुए भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती राजेन्द्र कुमारी वाजपेयी ने कहा था—“भारत में स्त्री-पुरुष समानता के लिए स्त्रियां जो प्रयास कर रहीं हैं वह भारत के लिए कोई नयी बात नहीं है। उसका मूल स्रोत हमारे देश की संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट परम्परा में विद्यमान है।”¹ उत्तर वैदिककाल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक स्त्रियों की स्थिति में धीरे-धीरे गिरावट होती गयी। मध्यकालीन भारत में स्त्रियों को उपेक्षित किया गया। बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि कुप्रथाओं का प्रारम्भ मध्यकाल से माना जाता है। स्त्रियां घर की चहारदीवारी में कैद हो गयी। हालांकि रजिया सुल्ताना जैसी एकाध स्त्री के संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं परन्तु बहुसंख्यक स्त्रियों की स्थिति सोचनीय थी। वे पुरुष जाति के लिए भोग की वस्तु मानी जाती थी। इस काल के कई साहित्यकार ने स्त्री को वस्तु मानकर चित्रण किया है। आधुनिक काल में स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ परन्तु यह परिवर्तन धीमी गति से ही हो रहा है। अंग्रेजों ने भारत की आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक दोहन किया परन्तु सामाजिक दृष्टि से कुछ सुधार किए। समाज में व्याप्त पुरुषवादी वर्चस्व को कमजोर किया। इसी से भारत में सुधारवादी आन्दोलन में तीव्रता आयी। परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ। फिर भी भारत की स्वतंत्रता तक स्त्रियों की स्थिति में सकारात्मक परिणाम नहीं आ पाए थे। इस सम्बन्ध में एम०पी० कमल ने लिखा है—“माता-पिता और समाज दोनों का नजरिया लड़कियों के प्रति उनकी खूबसूरती, उपयोगिता और सेवाओं के अनुरूप बदल जाता है। लड़की को पुरुष जाति की, परिवार व समाज की सेविका के रूप में देखने का चलन सर्वव्यापी बन चुका है।”² भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्रियों की दशा में परिवर्तन होने लगा। स्त्रियाँ भी अपने अधिकार के प्रति सचेत हो गयी। भारतीय संसद ने पंचायतीराज में महिला आरक्षण बिल पास करके ऐतिहासिक कदम उठाया है—“संविधान (73वां संशोधन) अधिनियम में पंचायतीराज संस्थाओं में तीनों स्तरों (ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद्) पर महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान किया है।”³ हम जानते हैं कि सरकार द्वारा संवैधानिक कानून बनाना आसान है परन्तु उसका व्यवहारिक प्रयोग कराना कठिन है। भारत में कई कानून ऐसे हैं जिसका व्यावहारिक प्रयोग नाममात्र का होता है। दहेज प्रथा एवं बाल विवाह के सम्बन्ध में सरकार का रुख कठोर रहता है परन्तु आज भी ग्रामीण समाज में दहेज प्रथा एवं बाल विवाह चलन में है। माना कि शहरी क्षेत्र की महिलाएँ घर से बाहर निकलकर परिवार

*छात्र—एम०जे०, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

**शोध छात्रा—हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

एवं समाज का नेतृत्व कर रही हैं। वे पार्षद से लेकर संसद तक पहुँच रही हैं और स्वयं अपने निर्णय ले रही हैं। इसके साथ ही भारत के गांवों में जनप्रतिनिधि के तौर पर कुछ महिला ग्राम प्रधान, पंचायत सदस्य, क्षेत्र पंचायत, जिला पंचायत आदि चुन ली जाती हैं परन्तु उनका व्यावहारिक कार्य उनके पति या परिवार के अन्य पुरुष सदस्य करते हैं। यह घोर विडम्बना है कि पिछले पंचायत चुनाव में ग्राम प्रधान के तौर पर चुनी महिलाओं में कुछ महिला शपथ ग्रहण कार्यक्रम में भी उपस्थित नहीं हुयी। इससे भारत के ग्रामीण महिला समाज की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

इसके बावजूद यह अनिवार्य सत्य है कि समय एवं जागरूकता के साथ समाज का बदलाव हो रहा है। स्वतंत्रता के पश्चात् समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्र की महिलाएँ अपने अधिकार के प्रति जागरूक हैं। स्त्रियों को जागरूक करने में सरकार, गैर सरकारी संगठन, सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार एवं साहित्यकार आदि सक्रिय भूमिका निभाते रहे हैं। यह सत्य है कि साहित्य समाज का यथार्थ चित्रण करता है। साहित्यकार समाज के प्रत्येक पक्ष का बखूबी वर्णन करते हैं। अधिकतर साहित्यकार की संवेदना पीड़ित पक्ष की ओर झुकी रहती है। इसी कड़ी में स्त्री विषयक चर्चा होना स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य अपने उद्भव काल से ही स्त्री की पीड़ा एवं संघर्ष में उजागर करता रहा है। इसी क्रम में रामधारी सिंह दिवाकर द्वारा लिखा गया उपन्यास 'अकाल सन्ध्या' है। यह उपन्यास मूलतः स्त्री चेतना को परिलक्षित करता है। अकाल सन्ध्या उपन्यास बिहार की सामाजिक व्यवस्था पर लिखा गया है। बिहार का ग्रामीण समाज बदलाव की ओर बढ़ रहा है। स्त्रियाँ अपने अधिकार के प्रति जागरूक हो रही हैं। लेखक ने बिहार की ग्रामीण समाज का चित्रण करके भारत की ग्रामीण समाज को चित्रित करने का सफल प्रयास किया है। रामधारी सिंह दिवाकर अकाल सन्ध्या उपन्यास में एक दलित स्त्री के नायक की भूमिका में रखा है। यह स्त्री चेतना की प्रतीक है। लेखक ने अकाल सन्ध्या में प्रमुख पात्र कजरी के माध्यम से स्त्री की पीड़ा एवं संघर्ष का चित्रण किया है। उपन्यास में कजरी को कमजोर मानकर दलित जाति का ही नेता व्यभिचार करने का प्रयास करता है परन्तु कजरी अपने आत्मविश्वास से दलित नेता कटुआ का प्रतिरोध करती है। यह एक स्त्री का पुरुषवादी समाज से अपने आत्मसम्मान का संघर्ष है और पुरुषवादी विचारधारा के लिए चुनौती है जो स्त्री जाति को भोग की वस्तु समझते हैं। "ऐसी जीवट वाली औरत है कजरी कि लाख तोड़ने पर भी टूटी नहीं, कच्चे बाँस की तरह लिब गयी जरूर, लेकिन टूटी नहीं बाकी क्या कुछ नहीं किया गया उसके साथ इस गांव में। दूसरी कोई होती तो गले में फँसरी लगाकर मर गयी होती या डूब मरी होती नदी-कुएँ में"⁴ उपन्यासकार एक ओर कजरी के माध्यम से संघर्ष को चित्रित कर रहा है तो दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्र की स्त्रियों की वास्तविक स्थिति में प्रदर्शित कर रहा है। सामान्य स्त्री अपमानित होने पर फाँसी या नदी में डूबकर मर जाती है, प्रतिरोध नहीं करती है। उपन्यास में कजरी को भी समझाने का प्रयास किया गया है कि अपने साथ हुए अश्लील व्यवहार को भूल जाओ। उसको ज्यादा चर्चा करोगी तो तुम्हारे ही चरित्र पर प्रश्नचिह्न लगेगा। कजरी को समझाते हुए गाँव के प्रत्येक स्त्री-पुरुष कहते हैं—“चुप रहने में ही इज्जत है। बात जितनी फैलेगी, उतनी बेइज्जती होगी। शादी भी नहीं होगी। डायमण्ड विधायक ने भी यही बात कही।”⁶ यहां लेखक ने सामाजिक रूप से पुरुष प्रधान व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास किया है। वह कजरी के माध्यम से समाज की पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था पर प्रहार करता है। कजरी किसी की बात नहीं मानती है और अपने साथ हुए अत्याचार को सबके सामने रखती है। उपन्यासकार ने कजरी के साथ हुए अत्याचार का प्रतिरोध करना ही उसके चेतना का कारण माना है। अब कजरी परिपक्व हो गयी, वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सामने स्त्री एवं दलित की समस्या को आसानी से रख देती है।

यह देश का दुर्भाग्य है कि भारतीय समाज में एक स्त्री को घर से बाहर निकलने के लिए पुरुष सदस्य की आवश्यकता पड़ती है। ग्रामीण परिवेश में बहुसंख्यक महिलाएँ अपने पिता, पति या पुत्र के साथ घर से बाहर जाती है। विवाह के बाद भी स्त्री अपने भाई या पिता के साथ ही मायके जाती है, अन्यत्र का अनुमान स्वाभाविक ढंग से लगाया जा सकता है। अकाल सन्ध्या उपन्यास में गौण पात्र बनारसी एवं किसुनियां को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए पटना शहर जाना था। दोनों कभी गांव से बाहर नहीं गए थे। वे गांव के कई पुरुष व्यक्तियों से सम्पर्क किए परन्तु कोई पटना जाने को तैयार न हुआ। तब बुजुर्ग

पात्र माई ने कजरी को पटना जाने की अनुमति दे दी। साथ ही कजरी को स्त्री जाति होने का एहसास करा दिया—“संभलकर जाना! औरत जात हो। जब गाँव का एक भी आदमी इनके साथ जाने को तैयार ही नहीं है, तो तुम्हीं जाओ।”⁶ उपन्यास में लेखक ने पात्र कजरी को अनपढ़ की भूमिका में रखा है। अशिक्षित होने के बावजूद कजरी को समाज की सम्पूर्ण गतिविधियों के बारे में ज्ञान है। वह पटना भी जाती है और सही ढंग से अपना कार्य भी करती है। पुरुषवादी समाज कजरी के क्रान्तिकारी कार्यों से डरता है। उपन्यास में एक पात्र बटेशनाथ झा कजरी के सम्बन्ध में कहते हैं—“वह तो कहिए कि पढ़ी-लिखी नहीं है, वरना कितने पढ़े-लिखों को पानी पिला देती।”⁷ यहां लेखक समाज के दबे-कुचले व्यक्ति में संघर्ष की उम्मीद जगाता है। जो कार्य राजपूत या ब्राह्मण घर की स्त्रियाँ नहीं कर पा रही हैं, वह कार्य दलित स्त्री कजरी करती है। रामधारी सिंह दिवाकर दलित समाज की स्त्री में सामाजिक परिवर्तन दिखाकर अन्य महिलाओं के लिए आदर्श प्रस्तुत किया है। उपन्यास के माध्यम से लेखक ने स्त्री को अपने अधिकार के लिए ललकारने का कार्य किया है। लेखक कजरी के माध्यम से सवर्ण जाति की महिलाओं को चुनौती देता है—“सुना न तुम लोगों ने! कैसी कटारी चला रही थी ई रजपुतनियाँ! घर से बाहर तो कभी निकली नहीं, उमर बीत गयी इसी गाँव में।”⁸ उपन्यासकार ने सवर्ण जाति की स्त्रियों की वास्तविकता से समाज को परिचित कराया है। ये महिलाएं घर के अन्दर कैद रहती हैं। परिवार पर आर्थिक संकट आ गया है, जमीन जायदाद बेच-बेचकर भिखारी बनते जा रहे हैं फिर भी स्वयं को घर में ही बैठकर कजरी पर व्यंग्य करती हैं। हमारे ग्रामीण भारतीय समाज में विडम्बना है कि विकास पर कम ही व्यक्ति सोचते एवं करते हैं। अधिकतर नागरिक पैतृक कार्य को करते हुए जीवन गुजार देते हैं। कुछ सम्पन्न परिवार के सदस्य संघर्षशील व्यक्ति पर व्यंग्य करते रहते हैं। उपन्यास में कजरी के साथ भी यही होता है। “का री कजरी, वकील—मुख्तार बनकर चली हो पटना? कोई मरद नहीं है क्या टोले में?”⁹ गाँव में सम्पन्न व्यक्ति साधारण नागरिक के विकास या संघर्ष पर व्यंग्य करने के साथ पथ पर रोड़ा बनके खड़े हो जाते हैं। इससे संघर्षशील नागरिक का रास्ता कठिन हो जाता है। लेखक पात्र कजरी के माध्यम से समाज में व्याप्त असमानता पर प्रहार किया है। कजरी पर किसी के व्यंग्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह सभी नागरिकों का सीधा जबाब देती है। उसके प्रश्नोत्तर से सवर्ण वर्ग के साथ पुरुषवादी सोच वाले पीछे हो जाते हैं। उपन्यास में कजरी पटना में विधायक डायमण्ड के घर जाती है। डायमण्ड के घर रात में कई विरोधियों को एक साथ देखकर चकित हो जाती है। ये लोग दिन में राजनीतिक मंच पर एक दूसरे के लिए आग उगलते हैं परन्तु रात में एक साथ भोजन का आनन्द ले रहे हैं। कजरी यह दृश्य देखकर डायमण्ड से कुछ सहयोग पाने की उम्मीद छोड़ देती है। वह भय से ग्रसित होकर भागती है और मजदूरों की सहायता से अपनी मुँह बोली बहन के घर पहुँच जाती है। चूँकि कजरी को माई के घर वापस आना संकटग्रस्त लगता है। उसे विधायक डायमण्ड से खतरा महसूस होता है। इस कारण वह साँझिया माय के घर ही रुक जाती है। कजरी कुछ ही दिनों में गाँव में स्त्री पाठशाला खुलवाती है—“दुसाध टोली की कुछ औरतें आरजू—मिन्नत के बाद रात्रि पाठशाला में आने को तैयार हुयीं। जगह कहीं खोजनी नहीं थी। साँझिया माय ने कहा कि अपना यह घर—दुआर तो है ही। फिर बरगद का चबूतरा है। तीन लालटेनों की व्यवस्था हो गयी। नसीबलाल ने बताया कि यदि पढ़ने वाली औरतों की संख्या बढ़ जाय तो सरकार से भी सहायता मिल जाएगी।”¹⁰ यहां लेखक एक स्त्री की संघर्षमयी वैचारिक चेतना को स्पष्ट परिलक्षित किया है। वह पात्र कजरी को स्त्री समाज का नेतृत्वकर्ता सिद्ध करने का प्रयास करता है।

लेखक रामधारी सिंह दिवाकर उपन्यास में एक ओर स्त्री जाति की संघर्षमयी प्रतीक कजरी को प्रमुख पात्र रखते हैं तो दूसरी ओर दबूपन की शिकार स्त्री का चित्रण करते हैं। उपन्यास में पात्र विधायक डायमण्ड की तीन पत्नियाँ थीं। तीनों अलग-अलग स्थान पर रहती थी। जब यही कार्य पत्रकार बी०पी० अकेला करता है वह भी अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री को अपने साथ रखता है। परिणामस्वरूप पत्रकार की पत्रकारिता विधायक डायमण्ड के घर गिरवी रख दी जाती है अर्थात् बी०पी० विधायक डायमण्ड के संरक्षण में चला जाता है। “डायमण्ड के साथ आने में बी०पी० को कोई खतरा नहीं था.....। फिर डायमण्ड का भी यही हाल है। एक पत्नी गाँव में, दूसरी पत्नी पटने में और तीसरी उपपत्नी दिल्ली में।”¹¹ यहां लेखक ने ग्रामीण समाज के साथ-साथ शहरी जीवन की स्त्री जाति को जागरूक करने का प्रयास करता है। सभ्य

समाज एक पुरुष का एक स्त्री से विवाह स्वीकार करता है। एक पुरुष की शादी कई स्त्रियों से नहीं होनी चाहिए। इससे हम सुन्दर समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। लेखक उपन्यास में गुलाम स्त्रियों की भी चर्चा किया है। इससे समाज में दासता जैसी कुप्रथा को स्पष्ट होती है। उपन्यास में दिखाया गया है कि राजपूत के घर पर कुछ स्त्रियों को गुलाम के तौर पर रखा जाता है। यह सभ्य समाज में कलंक का प्रतीक है। उपन्यास के पात्र रामनाथ अपनी भौजी रमपतिया से कहता है—“तुम्हारी माँ गाय-बकरी की तरह दान में आयी थी, भौजी भूल गयी है? क्या-क्या हुआ तुम्हारी माँ के साथ और तुम्हारे साथ क्या किया इस बड़ी ¹² इन विकट परिस्थितियों में नारी जाति ने क्रान्ति नहीं की। यह मानव समाज के लिए दुःखद है। समाज में शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना आवश्यक है। यदि शोषण को स्वीकार किया जाता है तो शोषक का आत्मबल बढ़ जाता है। लेखक उपन्यास में स्त्री जाति को शोषण का प्रतिकार करने की इजाजत देता है। सोचनीय विषय यह है कि लेखक एक मात्र कजरी के चरित्र को शोषण के विरुद्ध लड़ने में समर्थ दिखाया है। अन्य स्त्री जाति को परम्परावादी नारी के रूप में चित्रित किया है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास ‘अकाल सन्ध्या’ वर्ग संघर्ष पर आधारित न होकर जाति संघर्ष पर आधारित है। यह पुरुष और स्त्री जाति का विभेद है। समाज में सम्पन्न वर्ग के लोग स्त्री जाति पर अत्याचार करते हैं। राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ को दलित स्त्रियों का शोषक माना जाता रहा है। इसका प्रतिकार होना चाहिए था परन्तु वे लगातार शारीरिक एवं मानसिक शोषण का शिकार होती रही हैं। भारतीय स्वतंत्रता के उपरान्त सामाजिक परिवेश में बदलाव हुआ। भारतीय समाज में दलित एवं पिछड़े वर्ग से कुछ व्यक्ति सम्पन्न हो गए। इस सम्पन्नता के उपरान्त वे भी स्त्री जाति के शोषक बन गए। इसका उदाहरण उपन्यासकार ने पिछड़ों के नेता विधायक डायमण्ड, दलित समाज का नेता कटुआ और दलित समाज से एस0पी0 रामबरन राम के पिता लुचाय राम के कार्यों से दिया है। विधायक डायमण्ड एक नहीं तीन पत्नियां रखा है। यह स्त्री समाज के लिए पीड़ादायक है। कटुआ नेता दलित परिवार की स्त्रियों को धन सम्पन्न लोगों के पास शारीरिक उपयोग के लिए भेजता है और स्वयं दलित परिवार की स्त्रियों का शोषण करता है। वह प्रमुख पात्र कजरी पर भी प्रहार करता है। इसी प्रकार एस0पी0 रामबरन के पिता लुचाय राम अपने उम्र के चौथेपन में भी स्त्रियों के शरीर का उपयोग करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री जाति का शोषण करने में सिर्फ सवर्ण को ही दोषी नहीं माना जा सकता है। पिछड़े एवं दलित समाज के सम्पन्न व्यक्ति स्त्रियों के शोषण में पीछे नहीं हैं। उपन्यासकार रामधारी सिंह दिवाकर ने शोषित स्त्रियों को जागरूक करने के लिए प्रमुख पात्र कजरी का उदाहरण प्रस्तुत किया है। कजरी के माध्यम से प्रत्येक स्त्री को अपने साथ होने वाले अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरित करता है। लेखक उपन्यास में प्रदर्शित करता है कि स्त्री जाति को व्यभिचारी पुरुषों के खिलाफ संघर्ष करना है। किसी एक जाति के खिलाफ नहीं। उपन्यास में लेखक ने आर्थिक सम्पन्नता को स्त्रियों का शोषक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इससे स्पष्ट होता है कि समाज में सभी नागरिकों अर्थात् स्त्री-पुरुष का समान विकास होगा तो शोषक शोषित का भाव समाप्त हो जाएगा। एक-दो परिवार या एक-दो जाति के विकास होने से असमानता आएगी। यह सभ्य समाज के लिए घातक है।

I UnHk %

1. रमा शर्मा एवं एस0के0 मिश्रा—“महिला और मानवाधिकार” अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (2010), पृष्ठ—23	
2. एम0पी0 कमल—“स्त्री : अस्मिता और अस्तित्व”, मित्तल बुक एजेन्सी, दिल्ली (2012), पृष्ठ—27	
3. कविता शर्मा—“स्त्री सशक्तीकरण के आयाम”, रजत प्रकाशन दिल्ली (2012), पृष्ठ—187	
4. रामधारी सिंह दिवाकर—“अकाल सन्ध्या”, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2006), पृष्ठ—30	
5. वही, पृष्ठ—68	9. वही, पृष्ठ—79
6. वही, पृष्ठ—78	10. वही, पृष्ठ—125
7. वही, पृष्ठ—69	11. वही, पृष्ठ—171
8. वही, पृष्ठ—80	12. वही, पृष्ठ—229



जीवन-मूल्य: एक साहित्यिक दृष्टिकोण

Lugy rk*

जीवन व्यवस्था में जीवन मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन में संघर्ष को घटाने और सहयोग को बढ़ाने के लिए मनुष्य अपने बुद्धि विवेक से ऐसे उदात्त नियमों, आदर्शों, सिद्धान्तों प्रतिमानों और संकल्पों की संरचना करता है, जो उसके जीवन को समुचित गति देने, मार्गदर्शन करने और समायोजन करने में सहायक होते हैं, जिनके माध्यम से वह समरस एवं शान्त जीवन जीने में समर्थ हो पाता है। ऐसे नियमों को जीवन-मूल्य कहा जाता है।

मूल्यों का आरम्भ परिवार से होता है। परिवार के दायरे से बाहर निकलकर मनुष्य व्यापक समाज में आता है। ग्राम-प्रान्त, देश, सब उसी व्यापक समाज के घटक हैं एवं साहित्य समाज का अङ्ग है। उपनिषदों के 'सत्यम् वद धर्मं चर' से लेकर नीति काव्यों तक व्याप्त नीति साहित्य मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास है। साहित्य की पहचान का वास्तविक आज भी जीवन-मूल्य ही है। साहित्य का मानवीय संस्कृति, सभ्यता एवं जीवन मूल्यों से शाश्वत सम्बन्ध है। जब हम विशाल संस्कृत वाङ्मय का आलोचना एवं विश्लेषण करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्राचीन अभिलेख संस्कृत साहित्य का एक अभिन्न अङ्ग है। इन अभिलेखों का अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि इनका निर्माण मानव जीवन को उदात्त बनाने वाले कई मूल्यों एवं आदर्शों को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से हुआ है।

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास में स्वर्णिम युग माना गया है। तत्कालीन अभिलेखों के अध्ययन से समाज की वास्तविक स्थिति का ज्ञात होता है। भारतवासियों का चरित्र सदा उज्ज्वल तथा पवित्र रहा है। गुप्त नरेशों ने किसी शत्रु का मानमर्दन नहीं किया और न ही साम्राज्य की लिप्सा में अत्याचार किया। समुद्रगुप्त ने दक्षिणपथ के पराजित राजाओं को उनका विजित राज्य लौटा दिया तथा अनेक भ्रष्ट राज्यों को पुनर्जीवित किया।

^vud Hk"V jkT; kR lUu jkto'k ifr"BkiuknHkr fuf[ky Hkou fopj.k 'kkr ; 'k l**A
(समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति अभिलेख)¹

इस कार्य से उसका यश सर्वत्र फैल गया। फाहियान ने भी लिखा है कि भारतीय आदर्श नागरिक थे। गुप्तकाल में कोई व्यक्ति अधार्मिक, व्यसनी, दरिद्र आर्त या पीड़ित न था।

^vkrki nfjnk 0; luh dn; ki nMk u ok ;k Hk'k ihfMr L; kr**2

(स्कन्दगुप्त का गिरनार अभिलेख)

गुप्तकालीन शासक सदा ही लोक कल्याणकारी कार्यों में तत्पर प्रतीत होते हैं। भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा है तथा गुप्तकाल में जनता के जीविकोपार्जन का प्रधान साधन कृषि ही था। सभी प्रकार के अन्न तथा फल यहाँ पैदा होते थे। राजा समस्त भूमि का माप कराकर छोटे-छोटे टुकड़ों में सीमा निर्धारित करता था। सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबन्ध था तथा नहरों एवं तालाबों से सिंचाई होती थी। काठियावाड़ में चन्द्रगुप्त मौर्य ने सुदर्शन झील बनवाई थी तथा उसके पौत्र अशोक ने उससे एक नहर निकलवायी, जिसकी चर्चा गुप्त अभिलेखों में भी मिलती है। गुप्तकाल में उस सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार सम्राट स्कन्दगुप्त ने किया।

^viing ykd l dy l n'ku i=k fg nni'kurk xri {k.kkrA**

X X X X X

/ke: ijk/ke 'kHkuc/k jkKk fgrkFK uxjL; poA³ (स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख)

*शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उत्तर गुप्तयुग में इसी विचार से प्रेरित होकर मगध के राजा आदित्यसेन की पत्नी ने भी बृहत् जलाशय का निर्माण कराया ताकि सिंचाई से भूमि उर्वरा हो सके।

rL;io fi; Hkk;k;k ujir Jh dk.k n0;k l jA (आदित्यसेन का अफसद लेख)⁴

गुप्तकालीन कर व्यवस्था भी तत्कालीन शासकों के लोकल्याणकारी भावना का परिचय देती है। गुप्तयुग में उपज का छटा भाग 'कर' के रूप में दिया जाता है।⁵ (फरीदपुर ताम्रपत्र)

फाहियान ने वर्णन किया है कि कृषक उपज का कुछ भाग शासक को दिया करते थे। ब्राह्मण या मंदिर को दान देते समय भूमि का स्वामित्व राजा से संबंधित न होकर दानग्राही को चला जाता जो भूमिकर ग्रहण करने का अधिकारी हो जाता था। इस बात की पुष्टि गुप्तकाल के अन्य अभिलेखों से भी होती है।⁶ अभिलेखों में 'कर' के नाम यथा-स्थान मिलते हैं। गुप्तयुगीन अभिलेखों में 'उद्रंग' तथा 'उपरि' शब्दों का उल्लेख मिलता है जो 'कर' के पर्यायवाची थे। 'उद्रंग' स्थायी कर था। 'उपरि' कर ('कर' के ऊपर या अस्थायी) के संबंध में लीट का मत है कि यह अस्थायी कृषक पर लगाया जाता था। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति में वर्णन आता है कि शासक ने उत्तरी भारत के विजित नरेशों को 'कर' देने के पश्चात् मुक्त कर दिया। सर्व-कर-दानाज्ञाकरण प्रणामागमन परितोषित प्रचंड शासनस्य।⁷

इस प्रकार गुप्तकाल में व्यक्ति की स्थिति के अनुसार 'कर' ग्रहण किया जाता था। इस प्रकार की 'कर-व्यवस्था' गुप्तशासकों के उन्नत जीवन मूल्यों का परिज्ञान कराती है।

गुप्तकाल में अपराध की संख्या न के बराबर थी। अतएव अर्थदंड (जुर्माना) की मात्रा नगण्य थी। समाज में तीन वस्तुओं की ही आवश्यकता समझी गई है- भोजन, वस्त्र एवं आवास। गुप्तयुग की प्रशस्तियों में वैशाली, उज्जयिनी, दशपुर तथा पाटलिपुत्र नगरों का वर्णन यह प्रमाणित करता है कि गुप्तशासकों के द्वारा प्रजा के आवास की उचित व्यवस्था की गई थी। मालवा की दूसरी नगरी दशपुर का वर्णन भी वत्सभट्टि ने अभिलेख में बड़े सुन्दर शब्दों में किया है। गगनचुंबी अट्टालिकाओं की रमणीयता, सुन्दर वाटिका तथा कासार की छटा हृदय को मोह लेती है। प्रशस्तिकार ने अत्यन्त रमणीय तथा मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है।

^dykI rxf'k[kj ifrefu pku;k]

U;kHkkfr nhX?k cyHkh fu l ofndkfua

xku/koo: 'kCn e[kjkfu fufo"V&fp=]

dEekf.k yky&dnyh&ou&'kkfHkrkfuaA**

^ik l kn ekykfHkjyÑrkfu]

/kjk fonk;io l efrFkrkfua

foekuekyk l n'kkfu ;R=]

xgfk.k il.kUn&djkeykfuaA**8 (दशपुरश्रेणी अभिलेख)

इस प्रकार गुप्तयुग में आवास का अभाव न था। उस समय भोजन सामग्री का अभाव न था। स्वाद्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। भारतवासी साधारण जीवन में चावल, घी, दाल, रोटी, दूध, घी, शक्कर आदि का प्रयोग करते थे।⁹ कालिदास के वर्णन से प्रकट होता है कि धान तथा ईख की खेती प्रचुर मात्रा में होती थी।

b{kPNk;kfuikfnU; rL; xklrxi tkn;eA

vkdekj dFkn?kkr: 'kkfyxkl;k t x;!'kAA¹⁰

फाहियान ने लिखा है कि सारे देश में कोई आदिवासी हिंसा नहीं करता था। मद्य पीना तथा लहसुनप्याज उच्च वंश में अज्ञात थे। सूनागार और मद्य की दुकाने दिखाई नहीं पड़ती थी, केवल चांडाल मछली मारते एवं बेचते थे। तात्पर्य यह है कि ऊँचे कुल के लोग मदिरा तथा मांस भक्षण घृणित समझते थे। गुप्त अभिलेखों के अध्ययन से भोजन के मूल्य का अनुमान लगाया जाता है कि भोज्य पदार्थ अत्यन्त सस्ते थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त के 'गढ़वा लेख' में एक ब्राह्मण के लिए वार्षिक भोजन निमित्त दस दीनार (सोने का सिक्का) देने का वर्णन मिलता है।¹¹ गुप्तकालीन दीनार की तौल बारह मासे होती थी। जिसका मूल्य बत्तीस रुपये था। इस प्रकार प्रति व्यक्ति का मासिक व्यय ढाई रुपये ज्ञात होता है।¹²

इस प्रकार गुप्त शासकों ने प्रजा की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखा हुआ था, इसका ही नहीं सामान्य गृहस्थ में भी उच्च जीवन मूल्य दिखाई पड़ते हैं। अल्प धन द्वारा गृहस्थ या शासक साधुओं को भोजन प्रदान करते थे। चीनी यात्री ह्वेसांग ने भी उल्लेख किया है कि भोजन के लिए सोने चांदी या ताम्बे के पात्रों का प्रयोग होता था तथा समाज में साधारण लोगों के बीच भी दूध, गेहूँ, शक्कर आदि का व्यवहार होता था। गुप्तकालीन प्रजा की सुख समृद्धि से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन शासक लोकमङ्गल की भावना को सर्वोपरि रखते थे, एवं प्रजा भी अपने कर्तव्य का पूर्णतः निर्वाह करती थी।

गुप्तकालीन अभिलेखों को अध्ययन एक विशेष प्रकार की सद्भावना से परिचय कराता है, जो इतिहास में अद्वितीय घटना प्रकट होती है। गुप्तकालीन शासक धार्मिक सहिष्णुता की भावना से प्रेरित थे, गुप्त युग में बौद्ध तथा भागवत धर्म की प्रतिष्ठा प्रायः समान थी भागवत धर्म, राजधर्म अवश्य हो गया था, किन्तु शासकों के सहिष्णु होने के कारण बौद्ध साहित्य तथा कला की विशेष उन्नति हुई। दोनों मतों के अनुयायियों में शास्त्रार्थ होते थे। परम भागवत गुप्त नरेश विष्णु के पुजारी होकर भी पंचदेव (विष्णु, शिव, सूर्य, दूर्गा तथा गणेश) की पूजा के समर्थक थे। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र लेख में सूर्य स्तुति की गई है।¹³ कुमारगुप्त के मन्दसौर लेख में भी भगवान सूर्य से सृष्टि की रक्षा की प्रार्थना की गई है।¹⁴ गुप्त सम्राटों ने शैव एवं जैन धर्मानुयायियों को प्रश्रय दिया।¹⁵ परमभागवत चन्द्रगुप्त से लेकर बुद्धगुप्त तक के लेखों में विहार दान का वर्णन मिलता है।¹⁶ समुद्रगुप्त हिन्दू धर्म का अनुयायी तथा वैदिक संस्कृति में आस्था रखने वाला शासक था।¹⁷ अश्वमेघ भी सम्पन्न किया तथापि अपने पुत्र की शिक्षा का भार बौद्ध आचार्य वसुबन्धु को उसने सौंपा। वैष्णव सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपने कल्याण के लिए सांची बौद्ध मंदिर का दान दिया था। कुमारगुप्त 'प्रथम' के अभिलेख में उसके मन्त्रियों को शैव बताया गया है।¹⁸ परस्पर एक दूसरे के धर्मों का आदर करना उच्चमानवीय मूल्यों को ही दर्शाता है। गुप्तकालीन दानपत्र अभिलेख गुप्त शासकों की दानप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। गुप्तकालीन प्रथम अभिलेख में ही समुद्रगुप्त को दान में कुबेर के समान बताया गया है।

^MykdKuxgL; /kun-----**19

पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार या संस्कार पुण्य कार्य समझा जाता था। भानुगुप्त के शासनकालीन (छठी सदी का आरम्भ) दामोदर ताम्रपत्रों में मंदिर के पूजा निमित्त भूमिदान का वर्णन आया है।

^Mvink /ke.k Hkxor: 'or okjg Lokfeu: 'kk'or dky ;kX;k nUkk**20

'शाश्वत' शब्द के प्रयोग की सार्थकता थी। क्योंकि उसके बाद के कुछ श्लोक उल्लिखित हैं, जिनमें दान का महत्व दिया गया है:—

cgfHk ol/kknUkk nh; r p iu iuA

;L; ;L; ;nk Hkfe rL; rL; rnkQyeAA

करमदंडा शिवलिङ्ग²¹ लेख में धार्मिक कार्य तथा पूजा निमित्त दान का वर्णन है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र²² में दीपदान का उल्लेख किया गया है। प्रयाग स्तम्भ लेख में वर्णन है कि समुद्रगुप्त ने ब्राह्मणों को दक्षिणा में देने के लिए अश्वमेघ प्रकार के स्वर्ण सिक्के तैयार करवाये और हजार गायें दान में दिए थे।

^Mvud xk 'kr lgl= inkf;uA**23

द्वितीय चन्द्रगुप्त के लेखों में स्थान-स्थान पर भिक्षुओं के भोजन निमित्त दान का उल्लेख है। बारह दीनार के सूद से एक भिक्षु के भोजन का प्रबन्ध होता था। एक अन्य लेख में विवरण मिलता है कि आम्रकादेव नामक व्यक्ति ने पच्चीस दीनार दस भिक्षुओं के वार्षिक भोजन व्यय निमित्त दान किया था।²⁴

गुप्तकालीन शासक न केवल दान देने का महत्त्व देते थे अपितु दान की गई वस्तु को वापस न ले, अथवा अन्य कोई उसका हरण न करें, इसका भी ध्यान रखते थे। दान की गई वस्तु का हरण करने वाले पाप का भागी बताया गया है। भानूगुप्तकालीन एरणस्तम्भ लेख में कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वयं प्रदत्त या दूसरे द्वारा दी गई दान भूमि का हरण करेगा, वह पितरों सहित कृमि बन कर विष्टा में निवास करेगा। राजाओं में सगर तक सभी ने दान किया है, जिसने जिस रूप से भूमिदान किया, उसे वैसा फल प्राप्त होगा। दानकर्त्ता साठ हजार वर्ष तक स्वर्ग का उपयोग करता है तथा दान का हर्त्ता उसी अवधि तक नरक में रहता है।²⁵

इस प्रकार गुप्तकालीन शासक लोक कल्याण को ध्यान में रखते हुए दान को विशेष महत्त्व देते थे। मनुष्य में लोककल्याण की भावना उत्पन्न करने में 'शिक्षा' महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गुप्तकाल में 'शिक्षा' को विशेष ध्यान रखा गया है। तत्कालीन सामाजिक कार्यों को देखकर शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मणों का वेद वेदाङ्ग पठन-पाठन का विषय था किन्तु क्षत्रिय राजकुमार के लिए राजनीति के साथ आयुध प्रयोग की शिक्षा दी जाती थी। समुद्रगुप्त नाना प्रकार के आयुध का प्रशिक्षण ले चुका था, जिनके नाम प्रयाग-प्रशस्ति में मिलते हैं।

ij'k 'kd| 'kDr i:lkl rkej fhkfun;ky ukjhp orflrd vudA

इसके अतिरिक्त शास्त्र ज्ञान के कारण वह 'कविराज' पदवी से विभूषित किया गया था। बौद्धशिक्षा प्रणाली के निमित्त मठों का निर्माण हो गया था। जहाँ फाहियान जैसे विदेशी यात्री ने भी शिक्षा ग्रहण की। यज्ञ तथा वेदों का अध्ययन गुप्तयुग में प्रगति पर था। गुप्त लेखों में वैदिक शाखाओं का वर्णन आया है।¹⁶ तत्कालीन साहित्य की प्रगति से शिक्षा क्रम तथा विद्याध्ययन का परिज्ञान हो जाता है। गुप्तकाल में स्त्रीशिक्षा पर भी बल दिया गया था। आदर्श स्त्री तथा विदुषी बनने के लिए स्त्री शिक्षा की नितांत आवश्यकता थी। दक्षिण के वाकाटक राजा द्वितीय रुद्रसेन की पत्नी तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता उच्च श्रेणी की शिक्षिता महिला थी। अपने पुत्रों के बाल्यकाल में राजकार्य का संचालन करती रही।¹⁷ गुप्त महिषी ध्रुवस्वामिनी के विदुषी होने में संदेह नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, आदित्यसेन की पत्नी कोणदेवी सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी रखती थी। उसने सिंचाई निमित्त तालाब का निर्माण कराया था।¹⁸ यही सभी शिक्षा के कारण ही संभव हो सका था। स्त्रियाँ किसी भी समाज का महत्वपूर्ण अङ्ग होती हैं। स्त्रियों का सम्मान उच्च मानवीय गुणों को दर्शाता है। गुप्तकाल में स्त्रियों को उच्च श्रेणी का सम्मान एवं आदर प्राप्त था। स्त्रियों को समान रूप से शिक्षा दी जाती थी। लौकिक तथा पारलौकिक कार्यों में गृहलक्ष्मी भी पति का साथ दिया करती थी। समुद्रगुप्त के अश्वमेध प्रकार के सिक्कों पर राजमहिषी यज्ञ में भाग लेती रही। प्रभावती गुप्ता का नाम पूना ताम्रपट्ट में उल्लिखित है जो राजकार्य कुशलता के साथ करती रही।¹⁹ गुप्तकाल में स्त्री शिक्षा का व्यापक प्रसार था, पर्दा-प्रथा अज्ञात थी। गुप्तकाल में स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति अच्छी थी, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर, स्त्रियाँ सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती रही। पुरातत्व खनन से जो मूर्तियाँ निकली हैं उनसे प्रसाधन का अनुमान लगाया जा सकता है। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप से कृषि एवं पशुपालन में पुरुषों का सहयोग करती थीं। स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने की स्वतंत्रता थी, वे शासनसत्ता में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती थी। रानियों द्वारा भूमिदान, तालाब, उद्यान जैसे जनकल्याणकारी कार्यों के लिए किए जाने के अनेक अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियों द्वारा अनेक यज्ञ सम्पादित करने के उदाहरण मिलते हैं। विधवाओं की स्थिति अच्छी थी। उनके पुनर्विवाह के अनेक अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं जो विधिनिर्माताओं को भी मान्य थे।²⁰

भितरी अभिलेख³¹ से स्कन्दगुप्त का विधवा माता के विषय में ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त ने पुण्यमित्रों को युद्ध में जीतकर अपनी माता को विजय का समाचार वैसे ही सुनाया था जैसे कृष्ण ने देवकी को शत्रुओं के मर्दन का संदेश दिया था।

गुप्तकाल में विधवा रानियाँ अपने अल्प आयु पुत्रों की संरक्षक होती थी। अतः स्कन्दगुप्त का अपनी माता के साथ सम्बन्ध बहुत ही सौम्यतापूर्ण था। इस प्रकार गुप्तकाल में स्त्रियों को राजनैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।³² पहली बार गुप्त अभिलेखों की राजवंशावली में माता एवं पत्नी का नाम जुड़ा। चन्द्र गुप्त प्रथम की पत्नी कुमार देवी का नाम राजा रानी प्रकार की सुवर्ण मुद्रा के अग्रभाग पर अंकन हुआ है तथा इसके पुत्र समुद्रगुप्त द्वारा अपने को लिच्छिवी दौहित्रा कहना भी प्रच्छन्न रीति से कुमार देवी को गौरव देना था।

स्त्रियों का इस प्रकार से सम्मान एवं आदर गुप्तकालीन समाज में मानवीय मूल्यों की उत्कृष्टता को ही दर्शाता है, कहा भी गया है—

^;= uk;Lr| iT;Ur| jeUr| r= norkA**33

इस प्रकार उपर्युक्त अभिलेखीय विवरणों के माध्यम से कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन समाज मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत था, तत्कालीन का ही नहीं, अपितु सामान्य जन का चरित्र भी उज्ज्वल एवं पवित्र

रहा है। गुप्त शासक ने साम्राज्य के मद में अत्याचार नहीं किया, शत्रु का भी मानमर्दन नहीं किया। तत्कालीन शासक लोक कल्याणकारी कार्यों में रत प्रतीत होते हैं। नहरों, तालाबों, झीलों इत्यादि का निर्माण, एवं इनका जीर्णोद्धार लोक कल्याण की भावना से ही करवाया गया होगा। तत्कालीन कर व्यवस्था भी प्रजा के हित में थी। प्रजा की मूलभूत आवश्यकताओं का ध्यान गुप्तशासकों द्वारा पूर्ण रूप से रखा जाता था। तत्कालीन दान व्यवस्था भी इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। दान का महत्व सामान्य जन में भी स्पष्ट रूप से उजागर होता है। तत्कालीन शासकों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना एक विशेष प्रकार की सद्भावना का परिचय देती है जो इतिहास में अद्वितीय घटना प्रकट होती है। गुप्तकाल में स्त्रियों का सम्मान एवं गरिमा का उचित ध्यान रखा गया है। तत्कालीन समाज में इस प्रकार की भावनाओं का होना, तत्कालीन शिक्षा का ही प्रभाव प्रतीत होता है। गुप्तकालीन शासकों ने शिक्षा व्यवस्था का उचित प्रबन्ध किया था, तत्कालीन साहित्य की प्रगति से शिक्षा क्रम एवं विद्याध्ययन का परिज्ञान हो जाता है। इस प्रकार गुप्तकालीन समाज एक 'आदर्श समाज' प्रतीत होता है। आज के आधुनिक काल में जहाँ प्रजातंत्र में भी लोककल्याण जैसी भावनाएँ क्षीण होती जा रही हैं, मनुष्य स्वार्थी हो रहा है वहाँ गुप्तकालीन राजतंत्र में इस प्रकार की भावनाओं का होना हमारे सम्मुख आदर्श को प्रस्तुत करता है, जो प्रत्येक समाज के लिए अनुकरणीय है।

I UnHk §

1. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, मेरठ, 1984, पृष्ठ 21, पंक्ति सं. 23
2. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 326
3. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 329
4. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृ. 184
5. एपिग्राफी इंडिका, 1910
6. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 174
7. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 21. पं. 22-23
8. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 322
9. सरकार, दिनेश चन्द्र, सोशल लाइफ इन एसियेंट इंडिया, पृ. 159
10. रघुवंशम् 4/20
11. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 110
12. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 92
13. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 269, पद्य-1
14. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृ. 146 पद्य 1
15. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 162-163
16. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 277
17. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 145-146
18. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 162-163
19. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 21, पंक्ति 26
20. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 342
21. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 162-163
22. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 269
23. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 21
24. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 133
25. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ. 174
26. कार्पस इस्क्रिप्शन्स इंडिकोरम्, भाग-3, सं. 56-60
27. एपिग्राफी इंडिका, भाग-15
28. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 345
29. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ. 416
30. गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृष्ठ 95 (रामगुप्त और 'देवीचन्द्रगुप्त' की कथा)
31. कार्पस इस्क्रिप्शन्स इंडीकेरम्, III पृ. 53
32. पाण्डेय, राजबली, हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, वाराणसी, 1962, पृ. 72
33. मनुस्मृति, अध्याय-3, श्लोक 56



मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालक-बालिका का विकास IJJ Adk'k x'M*

बालक-बालिका जन्म के उपरान्त लगभग 40 प्रतिशत जन्मजात-गुणों से युक्त होते हैं तथा 60 प्रतिशत वह अपने आस-पास के पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षिक वातावरण से उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होते हैं। बालक-बालिका की प्राथमिक गुरु उसकी माता होती है। बालक का हृदय एक मिट्टी के गीले पिण्ड के सदृश कोमल होता है, जिस प्रकार एक कुम्हार मिट्टी के पिण्ड को इच्छानुसार किसी भी आकार का स्वरूप दे सकता है उसी प्रकार बालक-बालिका के कोमल मन-मस्तिष्क को यदि उत्तम-शिक्षा से पुष्पित किया जाये तो बालक का व्यक्तित्व उत्तम एवं सुदृढ़ रूप में विकसित होता है। बालक-बालिका विद्यालय में प्रवेश लेते हैं तो विद्यार्थी या शिक्षार्थी कहलाते हैं। उक्त विद्यार्थी अपने मैत्री-समूह में, परिवार, समाज के सम्पर्क में आता है तो परस्पर वैचारिक मतभेद अनुभव करते हैं, उनके मानस-पटल पर कक्षा में श्रेष्ठ रहने का परिवार से दबाव होता है, मित्रों में सामंजस्य का अभाव, शिक्षक की दृष्टि में निरन्तर उत्तम बने रहने का संघर्ष विद्यार्थियों में अनेक तनावों को उत्पन्न करने लगता है। ये तनाव क्रमशः अनेक रूपों में हो सकते हैं—चिन्ता, छटपटाहट, उलझन, खिंचाव, मित्रता का अभाव, वैमनस्य, अवसाद, दुःख, द्वन्द्व, अविश्वास, आशंका, उद्वेग, आकुलता, व्याकुलता, व्यग्रता, आवेश, दबाव, निराशा, मानसिक असन्तुलन, क्षोभ, बेचैनी, असन्तोष, अमंगल, दुर्भाग्य, असन्तोष, पीड़ा, आक्रोश, क्लेश, ग्लानि, विषाद, विक्षुब्धता, असहजता, अनबन, अप्रसन्नता, अप्रीति, अशान्ति, असद्भाव, दाब, भार, जेब खर्च न मिलना, विरोध, आदि हैं।

विद्यार्थी निरन्तर इन तनावों से घिरने लगते हैं। उनका समय परिवार के पश्चात् अधिकाधिक विद्यालय में व्यतीत होता है। अतः शिक्षक का यह दायित्व होता है कि वह विद्यार्थियों को विभिन्न पाठ्यक्रमों के साथ योग की शिक्षा प्रदान करें, क्योंकि नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को बालक-बालिका की पाठ्यचर्या का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना गया है, सम्भवतः भाषा-विकास से भी अधिक महत्त्वशाली है। यह विद्यालयों व अन्य शैक्षिक संस्थाओं का और विशेषकर अध्यापकों का उत्तरदायित्व है कि वे शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को इस भाँति संचालित करें कि विद्यार्थी वास्तविक रूप से योग शिक्षा ग्रहण कर सकें। अध्यापक होने से उनका यह परम कर्तव्य है कि विद्यार्थियों को पाठ्यक्रम के साथ योग-शिक्षा प्रदान करें, वे इस कर्तव्य से विमुख नहीं हो सकते हैं। योग-शिक्षा पाठ्यचर्या का अभिन्न अंग होना चाहिये यद्यपि यह अन्य सामान्य शिक्षाओं से भिन्न है परन्तु उत्तम शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। योग/शिक्षा में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान दोनों का समावेश है।

योग की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि—योग का अभिप्राय जोड़ना या Union से लिया गया है, जिसमें हम आध्यात्मिक आत्मा तथा सांसारिक आत्मा को जोड़ने का प्रयास करते हैं। पतंजलि को योगसूत्र का प्रवर्तक माना जाता है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने शरीर व मन पर नियन्त्रण कर आत्मा व प्रकृति के मध्य निर्णय कर पूर्णता प्राप्त करता है। योग, सांख्य के प्रमाणों और तत्त्वों को मानते हैं। यह सांख्य के 25 तत्त्वों के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। योग दर्शन का मुख्य विषय योगाभ्यास है।

;kx l=& योगदर्शन ने सूत्रों को चार भागों में विभक्त किया है जो इस प्रकार है—

l ekf/k i k n& इसमें ध्यान केन्द्रीयकरण का प्रारूप व उसके उद्देश्यों की विवेचना की जाती है। इसके अन्तर्गत स्वरूप, उद्देश्य, लक्षण, चित्तवृत्ति निरोध के उपायों की चर्चा की गयी है।

साधना पाद—इसमें क्रियायोग, कर्मफल, उनका दुःखात्मक स्वभाव तथा दुःखादि चतुष्टय आदि विषयों का वर्णन मिलता है तथा समाधि के लक्ष्यों की प्राप्ति की चेष्टा भी की जाती है।

foHkfr ikn& इसमें योग की अन्तरंग अवस्थाओं तथा योगजनित या योगाभ्यासजनित सिद्धियों का वर्णन है। साथ ही इसके अन्तर्गत उन उच्चशक्तियों का विवेचन मिलता है जिनकी प्राप्ति योग द्वारा की जा सकती है।

doY; ikn& इसमें मुक्ति के स्वरूप व परम आत्मा की व्याख्या की गयी है।

इन सभी में महर्षि पतंजलि में 'समाधि' का प्रयोग 'योग' के पर्याय के रूप में किया है—'योगः समाधिः'। यह योग सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन दो प्रकार का है। सूत्रकार ने योग का लक्षण करते हुए लिखा है— ' ;kxf'pÙkofÙkfujk/kkA⁴¹ अर्थात्— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृतिरूपविलिखितविलिखित चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। ज्ञातव्य है कि सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्तियाँ सम्प्रज्ञातयोग में भी बनी रहती हैं। अतः भाष्यकार व्यासजी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते।⁴² अर्थात्— ^l ofpÙkofÙkfujk/kk ;kx* ऐसा कथन न होने से सात्त्विकचित्तवृत्ति स्वरूप सम्प्रज्ञातसमाधि को भी योग माना जाता है।

सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि में यम—नियमादिकों के साथ—साथ ईश्वर प्रणिधान को भी हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है। सूत्रकार का स्पष्ट कथन है— 'b'oj if.k/kkuk}kA⁴³ यह एकाग्रचित्तभूमिक सम्प्रज्ञातसमाधि वितर्कविचारानन्दास्मिताभेदेन चार प्रकार की है— 'fordfopkjkuUnkfLerk : ikuxek& Ûk|Ei:Kkr*⁴⁴

महर्षि पतंजलि ने साधनपाद में समाधि (योग) सिद्धि के निमित्त योगांगस्वरूप अष्टांगिकमार्ग अथवा अष्टांगयोग की चर्चा की है— ^;efu;ek··luik.kk& ;keiR;kgkj/kkj.kk/;kul ek/k; k·"VkoxfuA⁴⁵ mPp ikFkFed Lrj ij ;kx d: vk;ke& बालक—बालिका विद्यालय में प्रवेश लेते ही वर्षपर्यन्त के पाठ्यक्रम से परिचित हो जाते हैं, परन्तु विद्यालय के शिक्षकों का कर्तव्य केवल यह नहीं है कि वह विद्यार्थी को पढ़ना, लिखना, हिज्जे करना सिखायें, अपितु विद्यार्थियों को वर्तमान की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये उन्हें विभिन्न गुणों से परिपूर्णता प्रदान करें, उन्हें उचित निर्णय लेने के योग्य बनाये, नेतृत्व—क्षमता का विकास करना, उन्हें सशक्त रूप से निर्मित करें। "शिक्षा से तात्पर्य विकल्पों के निर्माण, लोगों को इन विकल्पों के प्रति जागरूक करना और उन्हें इन विकल्पों के उपयोग के योग्य बनाना है।"⁴⁶ शिक्षा के पाठ्यक्रमों में योग की शिक्षा के रूप में NCERT ने संस्तुति की है। योग के आयाम अथवा आसन विद्यार्थियों में शारीरिक दक्षता, मानसिक विकास और भावात्मक स्थिरता का उत्तरोत्तर विकास करते हैं। योग प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक दोनों स्तर के विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य है। परन्तु योग को प्राथमिक स्तर पर बालकों को अनौपचारिक रूप से सिखाना चाहिये क्योंकि इस तरह के बालक 1 से 5वीं कक्षा के अन्तर्गत प्रारम्भिक बाल्यावस्था में होते हैं, उनकी इच्छा, अनिच्छा भी होती है वो इस आयु में खेलना अधिक पसन्द करते हैं। अतः उन्हें खेल—खेल में ही योग के आसनों को सिखाना चाहिये। उच्च—प्राथमिक स्तर पर यौगिक आसनों का प्रशिक्षण औपचारिक रूप से देने पर यह विद्यार्थियों के लिये लाभप्रद होता है। अतः इन विद्यार्थियों के लिये योग के आयाम अथवा आसनों का एवं उनके प्रभाव का क्रमबद्ध रूप में विस्तारपूर्वक वर्णन अग्रलिखित हैं—

l;ueLdkj& इस आसन में 12 चक्र होते हैं तथा प्रत्येक चक्र का प्रभाव बालक पर सकारात्मक रूप में होता है।

¼1½ ueuklu& यह सामान्य रूप से आभिवादन की मुद्रा में सीधे खड़े रहने की प्रक्रिया है।

¼2½ gLr"Ùkkuklu& इस आसन में पूरक श्वास लेते हुये, सिर को ऊपर उठाते हैं, सिर के साथ मेरुदण्ड को यथासम्भव पीछे की ओर खींचते हैं, कुछ सेकेण्ड तक इस अवस्था में विद्यार्थियों को रहने के लिये कहते हैं।

¼3½ ikgLrklu& नाक से श्वास छोड़ते हुये आगे को झुककर दोनों हाथों की हथेलियों को पैर के समीप जमीन में रखते हैं तथा ललाट को घुटनों से लगाने की कोशिश करते हैं। कुछ सेकेण्ड तक इस आसन में विद्यार्थियों को रहने के लिए कहते हैं।

¼4½ v'olpkYku& इस क्रिया में पूर्व आसन में रहते हुये दायें पैर को यथासम्भव पीछे की ओर ले जाने तथा बायें पैर को जमीन पर टिकी दोनों हथेलियों के मध्य रखने को कहें तथा श्वास खींचते हुये सिर और कंधे को यथासम्भव ऊपर की ओर ले जाने तथा आगे की ओर देखने को कहते हैं।

¼5½ iorklu& पूर्व की अवस्था से इस अवस्था में आते हुये श्वास छोड़ते हुये तलवे पर बल देते हुये दायें पैर को पुनः बायें पैर के पास वापस लायें साथ ही अपने कूल्हों को यथासम्भव ऊपर की ओर उठायें तथा उदर को कुछ सेकेण्ड तक सिकोड़ कर रखते हैं। इस अवस्था में आधा से एक मिनट तक बने रहने को विद्यार्थियों को कहते हैं।

¼6½ v"Vlx&ueuklu- इस क्रिया में पूर्व की पांच अवस्थाओं से दीर्घ श्वास लेकर घुटनों, पैर के अंगूठों, छाती ललाट पर ठोड़ी तथा हथेलियों को जमीन पर टिका देने को बालक को कहते हैं, इस अवस्था में श्वास रोककर कुछ सेकेण्ड रहना चाहिये।

¼7½ Òtxkl u- पूर्व क्रिया के पश्चात्-श्वास लेते हुये अपने धड़ को इस प्रकार ऊपर की ओर उठायें ताकि शरीर का सारा वजन हथेलियों तथा पैर के अंगूठों पर रहे और शरीर के अगले भाग को यथासम्भव पीछे की ओर ले जाते हुये चाप का आकार बनाते हैं।

इन सात क्रियाओं के अनन्तर पुनः पर्वतासन, अश्वसंचालन, पादहस्तासन, हस्तोत्तानासन, नमनासन द्वारा 12 चक्र पूर्ण होता है।

Á0ko& सूर्यनमस्कार के चक्र द्वारा विद्यार्थियों में निम्नलिखित स्वास्थ्यवर्द्धक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं—

- (1) पादहस्तासन द्वारा मेरुदण्ड एवं घुटनों के पीछे की मांसपेशियां लचीली हो जाती हैं।
- (2) अश्वसंचालन आसन द्वारा विद्यार्थियों में शारीरिक सन्तुलन, एकाग्रता तथा सहनशीलता की वृद्धि होती है।
- (3) नियमित सूर्यनमस्कार से बालक में शक्ति—सामर्थ्य, ऊर्जा, रक्त—संचार, सुचारु रूप से चलायमान रहता है।
- (4) यह विद्यार्थियों की लम्बाई बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है।

सूर्यनमस्कार के अनन्तर भी बहुत से विद्यार्थियों के लिये योगासन हैं—

o{kklu ॥ इस आसन में श्वास लेते हुये दायें पैर को घुटने से मोड़कर तलवे को बायें पैर के अन्दरूनी हिस्से पर मूलाधार के समीप टिकाते, श्वास छोड़कर पुनः श्वास लेते हुये दोनों हाथों को कंधे से ऊपर की ओर उठाकर नमस्कार की मुद्रा बालक से बनाने को कहते हैं, दूर रखी किसी वस्तु पर दृष्टि केन्द्रित करने को कहते हैं, इस अवस्था में श्वसन—क्रिया को सामान्य बनाये रखते हुये कुछ सेकेण्ड में रहने को कहते हैं। तत्पश्चात् सामान्य अवस्था में आने का निर्देश देते हैं।

mRdVkl u ॥ इस आसन में बालक को निर्देश देते हुये कहते हैं—पैरों को आपस में एक फुट की दूरी पर रखें, श्वास लेकर दोनों हाथों को कंधे की ऊँचाई तक सामने की ओर उठाये रखें। इसके बाद श्वास लेकर पीठ को सीधा रखते हुये घुटनों को मोड़ें और इस प्रकार बैठें कि मानो कुर्सी पर बैठे हो, श्वसन क्रिया सामान्य रूप में चलने दें तथा इस अवस्था में कुछ क्षण बने रहें।

o.tkl u ॥ यह आसन विद्यार्थी भोजन के उपरान्त भी कर सकते हैं। इस आसन में बालक को निर्देश देते हुये क्रिया शुरू करनी चाहिये—दायें पैर को मोड़कर दायें तलवे को दायें चूल्हे के नीचे लायें तथा दायें तलवे पर बैठते हुये यही प्रक्रिया बायें पैर के साथ करने को कहते हैं। इस आसन में सीधी अवस्था में बैठे रहे जिससे कूल्हे दोनों तलवों पर टिके रहें तथा हथेलियाँ जंघाओं पर टिकी रहें।

/;kukRed vkl u ॥ ध्यानात्मक आसन बैठ कर किये जाने वाले आसन हैं। प्रायः विद्यार्थियों में यह देखा जाता है कि कक्षा में अथवा सामान्यता वह सीधे नहीं बैठते। वह तो पीठ पर कूबड़ जैसा बनाकर बैठते हैं जिससे उनके मेरुदण्ड, गर्दन में कुछ समय पश्चात् समस्या उत्पन्न हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में यह आसन विद्यार्थियों में सीधे बैठने की आदत बना देती है। यह आसन शरीर को स्थिर व सुखमय अवस्था में रखने की प्रक्रिया है। मकरासन—‘मकर’ शब्द का तात्पर्य ‘मगरमच्छ’ से है। यह आसन पूर्व आसन—क्रिया के समान ही आरामदायक आसन हैं। इसमें विद्यार्थियों को इस प्रकार अभ्यास करना चाहिये—टाँगों को सुविधाजनक

दूरी पर रखें तथा एड़ियों को अन्दर की ओर, पंजों को बाहर की ओर रखकर घुटनों से जमीन पर टिका दें। इसके बाद भुजाओं को कोहनियों से मोड़कर हाथों से क्रमशः सामने के दोनों कंधों को पकड़ लें इस प्रक्रिया में कोहनियों को एक-दूसरे के ऊपर रखें।

pØklu ॥ इस आसन का इस प्रकार अभ्यास विद्यार्थी को कराना चाहिये। सर्वप्रथम दोनों पैरों को घुटनों के बल मोड़े तथा तलवों को कूल्हों से निकटतम स्थिति में रखें इसके बाद दोनों हथेलियों को सिर के बगल में जमीन पर ऐसी स्थिति में रखें जिससे अंगुलियों की दिशा शरीर की तरफ हो। श्वास लेते हुये हथेलियों तथा तलवों के सहारे धड़ को जमीन से ऊपर की ओर उठाते हैं तथा इसे चाप के सदृश इस प्रकार मोड़ते हैं कि यह पहिये के समान प्रतीत हो। श्वसन—क्रिया इसमें सहज चलती रहती है।

Ôtxklu ॥ इस प्रक्रिया में कोहनियों के पास से हाथ को मोड़ें तथा हथेलियों को छाती के बगल में इस प्रकार रखें कि हथेलियों पर कम से कम दबाव बने तथा कोहनियों को शरीर के अत्यन्त समीप में रखें, श्वास लेते रहे तथा गर्दन एवं पृष्ठीय मेरुदण्ड को पीछे की तरह यथाशक्ति चाप के आकार में मोड़ें और नाभि के नीचे के सम्पूर्ण हिस्से को जमीन के सम्पर्क में रखें। श्वसन क्रिया को सहज रखते हुये इस अवस्था में एक मिनट तक बने रहें।

'kykÔklu ॥ इस आसन में हथेलियों की मुट्ठी बनाकर इसे जंघाओं के नीचे रखें तथा ठोड़ी को मजबूती से जमीन पर टिका दें तथा श्वास लेते हुये दोनों पैरों को जमीन से ऊपर उठाये और घुटनों को बिना मोड़े हुये दोनों पैरों को उठाये, इसे यथासम्भव तान कर रखें, इसी अवस्था में कुछ क्षण बने रहें।

शारीरिक—मानसिक प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने हेतु विद्यार्थियों के लिये इन आसनों के अतिरिक्त केवल श्वसन—सम्बन्धी भी कुछ अन्य व्यायाम हैं जिन्हें योग गुरुओं एवं आचार्यों ने योगासन की ही श्रेणी में रखा है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

ukMh 'kf) Ák.kk;ke ॥ इस प्रक्रिया द्वारा अनुलोम—विलोम किया जाता है। इसमें किसी भी ध्यानात्मक मुद्रा में बैठते हैं। नासिका मुद्रा को ग्रहण करते हुये दायें नासिका छिद्र को दायें अंगूठे से बन्द करें तथा बायें नासिका छिद्र से श्वास को पूर्णतया छोड़ दें। फिर बायें नासिका छिद्र से गहरा श्वास लें। नासिका मुद्रा की अवस्था में बायें नासिका छिद्र को तर्जनी तथा कनिष्ठ अंगुलियों से बन्द करें तथा दायें नासिका छिद्र को छोड़ दें। नासिका छिद्र से गहरा श्वास लें। पुनः दायें नासिका छिद्र को बन्द कर बायें नासिका छिद्र से श्वास छोड़ें। इस अनुलोम—विलोम प्रक्रिया द्वारा नाड़ी शुद्धि प्राणायाम का एक चक्र सम्पन्न होता है, यह प्रक्रिया नौ बार दोहरानी चाहिये।

शीतली प्राणायाम इस प्रक्रिया में ध्यान या विश्राम की मुद्रा में बैठे हुये दोनों हथेलियों को जंघाओं पर रखें। जीह्वा को मुख से बाहर निकालते हैं तथा इसे कौवे की चोंच की तरह मोड़ें। इसके बाद हवा को धीरे-धीरे अन्दर लेते हुये ठंडी हवा को गले से फेफड़े तक जाता हुआ महसूस करें। मुख को बन्द कर श्वास को धीरे-धीरे नासिका छिद्रों के माध्यम से छोड़ें।

Ôkejh&Ák.kk;ke ॥ इस क्रिया को करने हेतु किसी भी ध्यानात्मक या आरामदायक मुद्रा में बैठ जायें तथा षण्मुखी मुद्रा को ग्रहण करें तथा गहरी श्वास लें। श्वास छोड़ते हुये स्त्री मधुमक्खी के स्वर के सदृश स्वर उत्पन्न करें, सम्पूर्ण मस्तिष्क में इसका कम्पन महसूस करें। इस प्रकार यह एक चक्र पूरा होता है, इसी प्रकार से नौ चक्रों को विद्यार्थी से सम्पन्न कराना चाहिये।

ÁÔko& विद्यार्थियों के अभ्यास हेतु यहाँ जिन योगासनों की चर्चा की गयी है उनका प्रभाव शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से सकारात्मक रूप में होता है। पूर्व में उल्लिखित वृक्षासन से विद्यार्थी में एकाग्रता की वृद्धि होती है। यह शरीर को सन्तुलन प्रदान करता है। पैरों की मांसपेशियों को मजबूती प्रदान करता है। उत्कटासन से जंघा एवं पिण्डलियों की मांसपेशियाँ सुदृढ़ होते हैं। व्रजासन के द्वारा दीर्घ अवधि तक सीधे बैठे रहने का अभ्यास हो जाता है। यह श्वसन—क्रिया को सन्तुलित करती है। यह आसन प्राणायाम तथा ध्यान जैसे सूक्ष्मतम योगासनों हेतु प्रारम्भिक अवस्था तैयार करता है। मकरासन शरीर एवं मन दोनों को आराम प्रदान करता है, चिन्ता तथा तनाव को कम करता है, श्वास सम्बन्धी अंगों के साथ-साथ पाचन-अंगों को भी स्वस्थता प्रदान करता है। सम्पूर्ण शरीर के रक्त—संचरण की क्रिया को उत्तम बनाता है। चक्रासन पाचन

क्रिया में सुधार लाता है, उदर की मांसपेशियों को पुष्ट करता है तथा शरीर की चर्बी को कम करता है। मेरुदण्ड को लचीला बनाता है और हाथ-पैर की मांसपेशियों को मजबूत बनाता है। भुजंगासन से पृष्ठीय मेरुदण्ड लचीला होता है तथा सुदृढ़ बनता है। शलभासन से पीठ का दर्द कभी उत्पन्न नहीं होता, पीठ की मांसपेशियाँ मजबूत होती हैं बालक फुर्तीलापन अनुभव करता है। हलासन से पीठ की मांसपेशियाँ, मेरुदण्ड लचीला होता है तथा थायरायड ग्रन्थि को क्रियाशील बनाकर गर्दन में रक्त प्रभाव को बढ़ाता है। इन उपर्युक्त आसनों से विद्यार्थी की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाशीलता, कुशलता अथवा दक्षता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। इन आसनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे आसन हैं जिनसे विद्यार्थी की ध्यान अथवा स्मरण-शक्ति या मानसिक शक्ति में वृद्धि होती है, ये आसन श्वास सम्बन्धी विभिन्न प्राणायाम हैं। इनमें नाडी-शुद्धि प्राणायाम है, यह मानसिक शान्ति, एकाग्रता, तथा चिन्तन-मनन प्रक्रिया में स्पष्टता लाता है, यह प्राण ऊर्जा के प्रवाह में आये हुये अवरोध को समाप्त कर देता है। यह इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के बीच सन्तुलन स्थापित कर सुषुम्ना नाडी के प्रवाह में वृद्धि लाता है जिससे ध्यान एवं आध्यात्मिक जागरूकता उत्पन्न होती है। शीतली प्राणायाम तथा शीतकारी या सीत्कारी प्राणायाम द्वारा शीतलता की अनुभूति होती है, मुख की स्वाद ग्रन्थियों की ग्राह्यता, प्यास की अनुभूति को तुष्टि होती है तथा तनाव एवं दबाव को समाप्त कर मानसिक शान्ति प्रदान करते हैं। भ्रामरी प्राणायाम से तनाव एवं विषाद नष्ट हो जाता है। क्रोध, चिन्ता, अनिद्रा, रक्तचाप में अल्पता लाता है। तनाव एवं क्लेशों से विद्यार्थी में जो मनोविकार उत्पन्न हो जाता है वह भ्रामरी प्राणायाम इन मनोविकारों को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार से ये सभी आसन मन एवं शरीर को स्थितीय खिंचाव के द्वारा स्थिरता प्रदान करते हैं। इन आसनों का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी में सभी प्रकार विकारों को समाप्त कर उनके शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक स्थितियों उचित सामंजस्य स्थापित कर उन्हें सुखानुभूति तथा स्थिरता प्रदान करता है। इन आसनों का सम्बन्ध विद्यार्थी के शरीर से ही नहीं अपितु मनोशारीरिक रूप से है। ये सभी आसन विद्यार्थी को उसकी क्षमता, रुचि एवं सहज रूप से सिखाना चाहिये न कि विद्यार्थी को इन आसनों से किसी प्रकार की थकावट हो।

I UnHk §

- 1 पातंजलयोगदर्शनम् सूत्र-2, स्वामी श्रीब्रह्मलीनमुनिः, चौखम्मा प्रकाशन, सप्तम संस्करण।
- 2 पातंजलयोगदर्शनम् स्वामी श्रीब्रह्मलीनमुनिः, चौखम्मा प्रकाशन, सप्तम संस्करण।
- 3 पातंजलयोगदर्शनम् सूत्र 23, श्रीब्रह्मलीनमुनिः चौखम्मा प्रकाशन, सप्तम संस्करण।
- 4 पातंजलयोगदर्शनम् सूत्र 23, श्रीब्रह्मलीनमुनिः चौखम्मा प्रकाशन, सप्तम संस्करण।
- 5 तनाव से मुक्ति, डॉ० अल्का जैन, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2012, पृ० 18
- 6 किशोरवस्था और विद्यार्थी मन, जितेन्द्र नागपाल, योजना, जनवरी 2016, विशेषांक-शिक्षा : सफलता का मन्त्र



दुनियाँ में लोक देवताओं की उत्पत्ति और विकास

फो'कलोरिस्टिक

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ के जनमानस को ईश्वर में अधिक विश्वास है। वर्तमान में देवताओं की अधिकांश श्रेणियाँ भी प्राप्त होती हैं। प्रमुख देवताओं के रूप में ब्रह्म, विष्णु, महेश का नाम प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जनश्रुतियों के आधार पर लगभग 33 करोड़ देवी-देवताओं के उल्लेख भी मिलते हैं। इन देवी-देवताओं की श्रेणी में एक श्रेणी लोक देवताओं से भी सम्बन्धित है ये लोक-देवता विशेष भू-भाग के लोगों द्वारा पूज्यनीय होते हैं। इन देवताओं के साथ किसी भी प्रकार के सम्प्रदाय या कोई विशिष्ट विचार धारा का जुड़ाव नहीं होता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि कोई सम्प्रदाय या विचारधारा का जुड़ाव न होने पर भी ये देवताओं की श्रेणी में किस प्रकार से स्थान प्राप्त करते हैं?

लोक देवता विशिष्ट क्षेत्र की भावना से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित होते हैं। ये भावनाएँ अनिश्चितकालीन न होकर प्रत्येक युग में लोकमन के अनुसार बदलती रहती हैं लोकदेवता के साथ किसी न किसी प्रकार की कथा या घटनाएँ प्रचलित होती हैं, जो रहस्यमयी या चमत्कारिक हो तथा जिससे किसी भावना का जन्म होता हो, चाहे वह भयरूपी भावना हो या लालच से परिपूर्ण। लोकमानस के लिए देवता वही हो पाते हैं जो लोक के अपने होते हैं और लोकहित से जुड़े रहते हैं वे अपने चमत्कारों एवं शक्ति द्वारा लोक को प्रभावित करने का कार्य भी करते हैं डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने वेद एवं लोक की कोटियों के आधार पर वैदिक एवं लोक देवताओं के दो वर्ग बनाते हुये लोकदेवताओं को विभिन्न वर्गों में रखा।* जो निम्न हैं –

1. प्राकृतिक देवता – वृक्ष, भूमि, पर्वत, नदी, पवन, सूर्य, चन्द्र आदि।
2. अनिष्टकारी देवता – अग्नि, सर्प, भूत-प्रेत, आंधी, मृत्यु आदि।
3. आदिवासियों के देवता – बड़ा देव, ठाकुर देव, नारायण देव, घमसेन देव आदि।
4. स्थलपरक देवता – गाँव की देवी, खेरमाई, मिड़ोइया (खेत के मेड़ के देवता), घटोइया (घाट के देवता), पौरिया बाबा आदि।
5. जाति परक देवता – कारसदेव, ग्वालबाल और गुरैयादेव (अहीरों के) मसान बाबा (तेलियों के), भियाराने (काछियों के), गोड़बाबा आदि।
6. अति प्राकृत देवता – यक्ष, गंधर्व, भूत, राक्षस या दानव, नाग आदि।
7. स्वास्थ्यपरक देवता – शीतला माता, मरई माता, गंगामाई आदि।
8. अर्थ या समृद्धपरक देवता – मणिभद्र, कुबेर, लक्ष्मी, नाग आदि।
9. विवाहपरक देवता – दूलादेव, हरदौल, पार्वती या गौरी, गणेश आदि।
10. शक्तिपरक देवता – शिव, दुर्गा, काली, हनुमान, चंडिका, भैरोदेव आदि।
11. वरदायी देवता – शिव, इन्द्र, वासुदेव, राम, शारदामाई, दशरानी आदि।
12. कुल देवता – गोंसाई बाबू, सप्तमातृकाएँ, खुरदेवबाबा आदि।
13. संतान रक्षक देवता – रक्कस बाबा, बीजासेन, षष्ठी देवी, बेइया माता आदि।
14. विघ्नहरण देवता – गणेश, पितृदेव, संकटा देवी आदि

यह शोध पत्र लाला हरदौल पर केन्द्रित है जो अपने चमत्कारिक कार्यों के कारण बुन्देलखण्ड के लोक देवता के रूप में प्रसिद्ध हुये।

*शोधार्थी, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

1607 ई. में जहाँगीर के द्वारा वीरसिंह देव को उसके ज्येष्ठ भ्राता के स्थान पर गद्दी पर बैठाया गया। वीरसिंह देव के दो पुत्र जुझार सिंह एवं हरदौल सिंह थे। महाराजा वीर सिंह देव के पश्चात् जुझार सिंह को सिंहासन प्राप्त हुआ। हरदौल सिंह को उनके पिता के शासन काल में एरच और बड़ागांव की जागीरें प्रदान की गयी थी। इन्हें प्रारम्भ से राजकीय ठाट-बाट या रहन-सहन कदापि पसन्द नहीं आया। अतः वे महल में रहने के बजाय किले से बाहर रघुनाथ जी के मन्दिर के पार्श्व में बायीं ओर एक छोटे महल में निवास करते थे।² प्रजा के मध्य में निवास करने के कारण ये प्रजा के सम्पर्क में सदैव बने रहे। अपने व्यक्तित्व के कारण सदैव लोगों के आकर्षण का केन्द्र बने रहे। ये एक वीर योद्धा के रूप में भी प्रसिद्ध थे। अमर वीर हरदोल का जन्म विक्रमी संवत् 1665 (1608ई.) में दतिया ओरछा नरेश महाराज वीरसिंह देव तथा माता गुमान कुंवर परमार के गर्भ से हुआ था। हरदौल की कहानी के विषय में किंवदन्तियों एवं जनश्रुतियों से अधिक जानकारी प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों एवं कवियों ने हरदौल का वास्तविक नाम हरदेवसिंह या हरिसिंह देव बतलाया है। परन्तु आचार्य केशव द्वारा रचित वीरसिंहदेवचरित (रचना काल सं. 1664 विक्रमी) में वर्णित निम्न पंक्तियों से इनका नाम हरदौल प्रमाणित होता है। पंक्तियाँ निम्न हैं —³

frur| ygji mj vkfu;A jktk ohj flg tkfu;A
l| r ftud| , dkn'k l| ukA , dkn| : nfg tu fxukAA
t| B t| > kjkb ju/ khjA ifu gjnky cf) xHkhjAA⁴

इस पंक्ति में जुझार सिंह को बड़े एवं हरदौल को गंभीर बुद्धि वाले बताया गया। इसके आधार पर हरदौल इनका वास्तविक नाम माना जाता है, क्योंकि इस ग्रन्थ के रचयिता केशव उस काल में ओरछा के आचार्य थे। वीरसिंहदेवचरित के रचना काल को आधार माना जाये तो ओरछा में फूलबाग की बैठक और रामराजा मंदिर में लगे लगभग चार फीट ऊँचे स्तम्भ में सं. 1665 वि. अंकित है जो उचित नहीं मान सकते हैं। वीरसिंह देव की तीन शादियाँ हुयी थीं। पहली पत्नी अमृत कुँवर से जुझार सिंह, पहाड़ सिंह, नरहरि दास तुलसी दास, की दास पाँच पुत्रों का जन्म हुआ। दूसरी पत्नी गुमान कुँवर से हरदौल, भगवतराय चन्द्रभाग तथा किसुनसिंह तथा एक पुत्री कुँज कुँवर उत्पन्न हुयी थी।⁴

gjnky n[k vkjNk HkkU| , foey crok rhjA
l| fu gjnky dFkk v t| k| eu go| tkr v/ khjA
/kU; vkjNk t| g Hk;| /ke'ohj gjnkyA
fn; k i| .k lR; /ke' e| iky ohj or rkyAA
/ke' ohj gjnky t| v t| g rEgj| xlrA
āk /kj&/kj fr; xkorh| l| ef> l| ukru jhfrA⁵

इनकी प्रभावशीलता लोगों के मध्य अधिक होने के कारण छोटी से छोटी समस्या के समाधान हेतु लोग इनके पास आते थे। अपनी वीरता के कारण ये राज्य के सेनानायक के पद पर विराजमान थे। इनके संकेत मात्र से ही सेना अपने प्राणों की आहुति देने को तैयार हो जाती थी। इनकी वीरता एवं लोक प्रियता दूर-दूर तक चर्चित हो गयी। जिससे कभी-कभी जुझार सिंह भी दूसरे के बहकावे में आकर सशंकित हो जाते थे। परन्तु उन्होंने कभी अपनी इस भावना को लोगों के सम्मुख नहीं आने दिया।

जुझार सिंह की पत्नी एवं लाला हरदौल के मध्य भाभी-देवर का रिश्ता था। लेकिन वास्तविक रूप में इनके बीच माता एवं पुत्र की भाँति स्नेह था। एक बार शाही आक्रमण की आशंका होने से हरदौल चौरागढ़ से ओरछा की ओर लौट रहे थे। तभी रास्ते में सतारा के निकट नट बन्जरो के साथ तलवारबाजी में ये विजयी होने के साथ-साथ घायल भी हो गये। रानी अर्थात् हरदौल की भाभी ने बड़े स्नेह के साथ उनका उपचार किया। रानी माता के आग्रह करने पर हरदौल कुछ समय के लिए किले में ठहर गये। इस सम्पूर्ण घटना को महाराज जुझार सिंह तक पहुँचाने का विचार चापलूस प्रवृत्ति के व्यक्ति हिदायत खाँ को जागृत हुआ। इसने माता एवं पुत्र के स्नेह को कलंकित करते हुये जुझार सिंह के कान भर दिये। जिससे जुझार सिंह क्रोधित होकर ओरछा की ओर चल पड़े। जुझार सिंह रनिवास में पधारते हैं। अपने स्वभाव के कारण मन

में अधिक समय तक बात न रखते हुये रानी से कहे कि “मुझे तुम्हारी रासलीला का भेद मालूम हो चुका है रानी। कुकर्म में सनने के पहले कुँ में डूब गयी होती.....”⁶

ऐसे वचनों को सुनते ही रानी ने अपनी ओर से सफाई देते हुए स्वयं एवं हरदौल के रिस्ते को बतलाते हुये उसे अपने पुत्र के समान बतलाया। रानी के कंठाभरण आलाप का राजा जुझार सिंह पर कोई असर नहीं पड़ा। उन्होंने रानी को सतीत्व की परीक्षा देने के लिए कहा। रानी के द्वारा बिना किसी संकोच के परीक्षा देने की बात को स्वीकार कर लिया गया। राजा ने परीक्षा के रूप में हरदौल को विष देकर मारने की बात कह डाली।

ifrHkfDr ijk; .k jkuh u ifr dh vufpr vkKk dk HkhA
lEeku fd;k viu: gkFkk y{e.k l: noj dk fo"nA
y{e.k u: iHk dh vkKk l: Hkkot dk ou ei R; kxk FkkA
Hkkot dh eku ifr"Bk fgr djr; ; eR; ; oj.k n[kA
cUny[k.M di ohjk di vejrRo Hkj; thou n[kA⁷

अगले दिन बसन्त पंचमी थी। ओरछा का बसन्त सदैव से ही प्रसिद्ध था। परन्तु उस दिन ओरछा का दरबार स्थगित हो गया जो कि अत्यन्त ही आश्चर्य पूर्ण समाचार था। इसके बाद भी हरदौल रनिवास में गये एवं रानी मां से उनके हाथ की बनी खीर खाने के लिए कहा। चूँकि बसन्त पंचमी के दिन रानी अपने हाथों से खीर बनाती थी। ऐसा कहा जाता है कि लाला हरदौल मात्र अपनी भाभी के हाथ से परोसा हुआ भोजन ही करते थे। रानी की आंखों में भरे आंसुओं को देखकर हरदौल ने इसका कारण पूछा। अधिक जिद्द करने पर रानी ने हरदौल को जुझार सिंह के आदेशों का विवरण दिया। यह सुनकर लाला ने बिना कुछ सोचे समझे विष से भरा हुआ खीर का कटोरा पी लिया एवं अपनी भाभी से पुनः आँसू न लाने का वायदा भी करवाया। दूसरी ओर जुझार सिंह को हिदायत खाँ के कुकृत्यों का पता चलते ही समझ आ गया कि उसने चौरागढ़ में सारी बातें झूठ कही थी। तभी जुझार सिंह भोजनगृह में पहुँचते हैं परन्तु तब तक हरदौल का गौर शरीर काला पड़ चुका था एवं हरदौल की मृत्यु हो गयी थी। गोरे लाला तिवारी के अनुसार हरदौल की मृत्यु 1685 विक्रम संवत् में हुयी थी। परन्तु नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा जन्म के विषय में किये गये गुणा भाग के आधार पर इनकी मृत्यु को 1685 से 1688 विक्रम संवत् के मध्य का माना गया है। विष पान के निर्णय को एक प्रौण मस्तिष्क की उपज का परिणाम मानते हुये उनके बलिदान का आदर करना कदापि अनुचित नहीं होगा।

Hkkb: di fi ;kj; gjnky cUny: ykMy: gk ek
ftuu: c/k firk le it: Hkkot ekr: leku gk ek
, l: mTtoy pfj= ckj: 'kd di cui f'kdj gk ek
cky: jk tk t>kj flg t] 'kd dk nj djkvk gk ek
iku dk chjk tgj Hkj: tk [kkd: 'kd feVokvk gk ek
iku dk chjk tgj Hkj: y: [kk; x; ; gjnky gk ek
[kkd: ij: noh efnj ei 'kd dk nj dj; ; gk ek -----⁸

उपर्युक्त कविता के माध्यम से हरदौल के विषय में बतलाते हुए कहते हैं कि हे माँ, हरदौल बुन्देली समाज के लाडले एवं अपने भाई के प्रिय हैं। जिन्होंने बड़े भाई को पिता के समान एवं भौजाई अर्थात् भाभी को माता के समान माना। ऐसे साफ एवं स्वच्छ चरित्र वाले हरदौल आज शक के शिकार हो गये। राजा जुझार सिंह के बोलने पर हे माँ तुम उनका शक दूर कराओ। हे माँ, आप पान के बीरा में जहर भरो, जिससे उनका शक दूर हो सके। हे माँ अमर वीर हरदौल ने उस जहर से भरे पान के बीरे को खा लिया। खाते ही वे देवी के मंदिर में गिर गये एवं उन्होंने राजा का शक दूर करवाया।

दरबारी व्यक्ति के द्वारा कान भरने के वर्णन के अतिरिक्त दो अन्य उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। जिनमें से घटनानुसार मुगल प्रतिनिधि सरदार हिदायत खाँ के बेटे द्वारा राजपरिवार की किसी बेटी के साथ जबरन बलात्कार का प्रयत्न किया गया। यह सूचना हरदौल को प्राप्त होते ही उन्होंने हिदायत खाँ के बेटे को मार डाला एवं हिदायत खाँ को राज्य छोड़ने का संकेत दिया। हिदायत खाँ ने इस घटना का वर्णन मुगल शासक

शाहजहाँ के सम्मुख किया। शाहजहाँ ने जुझार सिंह को गद्दी से हटाने की धमकी दी। इससे भयभीत होकर राजा जुझार सिंह हरदौल को हटाने की युक्ति सोचने लगे। इसी बीच हरदौल को विष देकर मारने की युक्ति प्राप्त हुयी एवं विष दिलवाकर उनकी हत्या करवा दी गयी। एक अन्य वर्णन में प्राप्त होता है कि राजा जुझार सिंह के ओरछा में न होने पर हरदौल अत्यन्त ही प्रसिद्ध हो रहे थे। जिससे वे जुझार सिंह की आँखों में खटकने लगे। अतः गद्दी छिनने के भय से उन्होंने विष देने का षड्यंत्र रचा।

इनके बलिदान के पश्चात् ही इनके देवता बनने की चर्चाएँ प्राप्त होने लगती हैं। इन व्याख्याओं में कुछ प्रमुख घटनाएँ हैं। जनश्रुतियों से ज्ञात होता है कि हरदौल की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् ही महतर एवं कुत्ते ने उसी अवशिष्ट भोजन को खाकर अपने प्राण त्याग दिये थे। इसलिए हरदौल के चबूतरे के साथ इनके भी स्मृति चिन्ह बनाये जाते हैं। जिसमें मेहतर का चबूतरा छोटा बनाया जाता है। निम्न जाति के व्यक्ति द्वारा प्राण त्याग दिये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी लोक प्रियता इन जातियों में भी अधिक थी। इसलिए निम्न जातियों में भी इनकी पूजा की जाती है। इससे सम्बन्धित एक अन्य घटनानुसार हरदौल के सात सौ साथियों ने अपने प्राण त्याग दिये। इसके अतिरिक्त एक अन्य व्याख्या के अनुसार हरदौल की सेना युद्ध के लिए जाने को तैयार खड़ी थी, परन्तु ज्यों ही उनके मृत्यु की सूचना प्राप्त हुयी सम्पूर्ण सेना ने भी अपने प्राण त्याग दिये। यह घटना भी लोक के मध्य उनकी प्रसिद्धि का बखान करती है एवं उनकी वीरता के लिए भी हरदौल की पूजा की जाती है। इसके अतिरिक्त ओरछा की जनता के द्वारा हरदौल की मृत्यु पर विद्रोह करने से भी हरदौल की लोकप्रियता का पता चलता है। इनके बलिदान की कहानी सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में प्राप्त होती है।

ohj cUnyu ei Hk;] vej Jh gjnkya
Hkvk iUu cfynku tk] th dh ub;k rkyA
tk yk Ijt pUnek vkj eut ei ikuA
rk yk iitu g br dfoxu dj c[kkuAA
xkou xkou pkrjk] iitu ti u jkfuA
/kje ijh{kk lQy dj] noru Hk; l ekjA⁹

हरदौल को लोक देवता के रूप में पूजने की महत्वपूर्ण घटना उनकी बहिन कुँज-कुँवरि से सम्बन्धित थी। जनश्रुतियों के अनुसार हरदौल की मृत्यु की सूचना उनकी बहन कुँज कुँवरि को प्राप्त नहीं हुयी। बहन कुंजा अपनी पुत्री के विवाह का निमंत्रण देने या भात माँगने की प्रथा को निभाने के लिए ओरछा पहुँची। परन्तु उनकी हत्या का वर्णन सुनकर बहन कुंजा ने राजा जुझार सिंह को हत्यारा मानते हुए निमंत्रण पत्र को उसी स्थान पर रख दिया, जहाँ हरदौल का अन्तिम संस्कार हुआ था। उनकी बहन अत्यन्त दुखी होकर रोने लगती हैं। तभी एक आकाशवाणी के माध्यम से उन्होंने बहन के निवास पर पहुँचने का वचन दिया। भाँजी के विवाह के दिन दतिया में सोने चाँदी, आभूषण एवं अन्य कीमती सामग्री के साथ घोड़े एवं बैलगाड़ियाँ द्वार पर पहुँच गयी। हरदौल के आने पर तोपों की सलामी दी गयी। ऐसा भी वर्णन है कि रास्ते में कलश लेकर खड़ी नारियों के आंचल सोने-चाँदी की मुहरों से भर गये। इसके पश्चात् कुंजा के जमाई के द्वारा प्रकट होने के आग्रह पर हरदौल के द्वारा दर्शन भी दिया गया। इन्हीं का हाथ पकड़कर कुंजा का जमाई इनके साथ ही चला गया। आगे चलकर ये दूलादेव के नाम से प्रसिद्ध हुये। हरदौल के द्वारा बहन एवं जमायी के आग्रह पर मृत्यु के पश्चात् मिलने एवं विवाह के सही रूप में सफल होने के चमत्कार के कारण लोग अत्यन्त प्रभावित हुये। वापस जाते वक्त उनकी बहन कुंज कुँवरि के द्वारा वचन मांगा गया कि अब से प्रत्येक कन्या के विवाह में आप इसी प्रकार से सहायता करेंगे। इसी वचन के कारण एवं इस विश्वास से कि हरदौल उनके विवाह को सफल बनायेंगे। लोगों द्वारा प्रथम निमंत्रण इन्ही को दिया जाता है।

भारतीय समाज में विवाह नामक संस्कार भी एक महत्वपूर्ण संस्कृति है। हरदौल के द्वारा विवाह संस्कार में उचित रूप में सहायता प्रदान करने की मान्यता उन्हें इस क्षेत्र के लोकदेवता के रूप में पूजनीय बनाती है। इनका चबूतरा बुन्देलखण्ड के प्रत्येक गांव के बाहर प्राप्त होता है। लोगों का मानना है कि हरदौल उनके पुत्री के विवाह में किसी भी प्रकार की बाधाएं नहीं आने देंगे। इसलिए विवाह का प्रथम निमंत्रण सदैव

हरदौल को दिया जाता है एवं उनके विवाह में पधारने की प्रार्थना की जाती है। यही नहीं उस काल में उनके द्वारा दिये गये बलिदान एवं उनकी आश्चर्यजनक लोकप्रियता भी उन्हें देवत्व की श्रेणी में खड़ा कर देती है। भाभी एवं देवर के रिश्ते को बलिदान के माध्यम से श्रेष्ठता पर पहुँचाना भी उनके देवत्व को प्रदर्शित करता है। परन्तु वर्तमान में ये बुन्देलखण्ड के लोकमानस के हृदय में विवाह के देवता के रूप में निवास करते हैं। इनका चबूतरा अधिकांश जगहों पर भी प्राप्त होता है। इसमें कुत्ते के साथ-साथ एक घोड़ा भी प्राप्त होता है। श्री विष्णु पाठक जी से हुये साक्षात्कार में उन्होंने समूह में आत्महत्या करने का वर्णन किया। साथ ही उन्होंने बताया कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके घोड़े ने भी जहर खा कर आत्महत्या की थी।¹⁰ कहानियों, नाटकों एवं रूपकों में हरदौल का वर्णन किया गया है। गाँव-गाँव में चबूतरे पर एक मांगलिक अनुगूँज भी प्राप्त होती है¹¹

xkmu xkmu pkrjk mj nlu&nlu ukÅA
yky rkjk Hkyk g y{kjk ukdA¹²

इसके अतिरिक्त सीता राम चतुर्वेदी ने भी इनके चबूतरों पर कुछ पंक्तियों का वर्णन किया—¹¹

g xko&xko gjnkY no mudl pcrj fufeir gA
uj&ukjh lcdl xhrk ei J)k d leu lefir gA
; b"V no iFke iT;] l dVekpu ; dgykr gA
D;kfd cUnyh xfjek dk buu mTtoy n"VkuR fn;kA
pkfj= nk" k iPNkyu e ftuu diy dh e;kink tkuh FkhA
=rk ;x di y{e.k cudj fut HkkHkh ekRkk ekuh FkhA¹³

l UnHk %

1. गुप्त, नर्मदा प्रसाद, बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, 1995, पृ. 276
2. श्रीवास्तव, रमेश चन्द्र, बुन्देलखण्ड, साहित्यिक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक वैभव, बांदा, 1987, पृ. 187
3. गुप्त, नर्मदा प्रसाद, वही, पृ. 314
4. तिवारी, गोरेलाल बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, इलाहाबाद, 1933, पृ. 140
5. श्रीवास्तव, रमेश चन्द्र, वही, पृ. 185
6. वही, पृ. 189
7. वही, पृ. 186
8. वही, पृ. 191
9. वही, पृ. 185
10. गुप्त, नर्मदा प्रसाद, वही, पृ. 320
11. श्रीवास्तव, रमेश चन्द्र, वही, पृ. 186
12. श्री विष्णु पाठक जी का साक्षात्कार
13. नाटक 'हरदौल का भात' एवं गाने



Q.kh'oj ukFk j.k % eyk vkpy dh vkpfydrk

jRukdj ;kno*

स्वातंत्र्योत्तर काल में जिन विभिन्न साहित्यिक विधाओं का अस्तित्व सामने आया उसमें आंचलिक उपन्यास की अवधारणा उल्लेखनीय है, जिसे एक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा का रूप देने का श्रेय सुप्रसिद्ध साहित्यकार 'फणीश्वरनाथ रेणु' को है। रेणु जी ने सर्वप्रथम 1954 ई० में प्रकाशित अपनी कृति 'मैला आंचल' को आंचलिक उपन्यास की संज्ञा प्रदान करते हुए इसकी भूमिका में लिखा है, "यह है मैला आंचल" एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। मैंने इसके एक हिस्से के एक गाँव को पिछड़े गाँव का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनाया है"। यद्यपि रेणु से पूर्व नागार्जुन ने एक अंचल विशेष के जीवन को आधार बनाकर कृतियों की रचना की थी लेकिन 'आंचलिक' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रेणु ने ही किया। आंचलिक उपन्यास का अर्थ है, एक अंचल विशेष के जीवन की कथा। अंचल का शाब्दिक अर्थ है— जनपद या क्षेत्र। जिन उपन्यासों में किसी क्षेत्र विशेष का समग्र जीवन अपनी समग्र विशेषताओं के साथ चित्रित होती है, उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। पूर्णिया को कथानक कह कर रेणु ने पूर्णिया की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की है। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है, जिसकी सीमा एक ओर नेपाल तो दूसरी ओर पाकिस्तान व पश्चिम बंगाल से लगती है। पूर्णिया के भौगोलिक नक्शे को और अधिक मूर्त रूप देते हुए रेणु ने भूमिका में ही बताया है कि पूर्णिया की सीमा रेखा संथाल परगना के आदिवासी क्षेत्र व मिथिला के क्षेत्र से भी मिली हुई है। पूर्णिया के विशाल क्षेत्र को उन्होंने अपने कथानक का आधार न बनाकर इस क्षेत्र के केवल एक ही गाँव (मेरीगंज) को केन्द्र में रखा है और यह गाँव भी 'पिछड़े गाँवों के प्रतीक' रूप में प्रस्तुत किया गया है अपनी बात को रेणु ने काव्यात्मक रूप में इस प्रकार कहा है — "इसमें फूल भी हैं, शूल भी, धूल भी, गुलाल भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी, मैं किसी से दामन बचाकर नहीं निकल पाया"

1946 से 1948 के बीच के ऐतिहासिक रूप से संक्रमण काल के अत्यंत महत्वपूर्ण युग—खंड को लेखक ने सृजनात्मक रूप में बांधने का प्रयास किया है। करीब सौ वर्ष के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के बाद 1948 में भारतीय नेताओं के हाथों सत्ता सौंपने का ग्रामवासिनी भारत माँ है। उपन्यास के प्रमुख चरित्र डॉ. प्रशांत कुमार की भावनाओं में भी यही ग्रामवासिनी माँ रची—बसी है।

Hkkj rekrk xkeokf l uh! @ [krk e: Qyk g' ; key@/ky Hkjk eyk& l k vkpy!

मैला आंचल! लेकिन धरती माता अभी स्वर्णमाला है। डॉ० प्रशांत के दिल का दर्द रेणु के अपने दिल का दर्द है। रेणु का भाव गलत 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन से लेकर 1948 के सत्ता परिवर्तन व स्वातंत्र्योत्तर भारत की बनती—बिगड़ती तस्वीर से निर्मित है। देश की जनता और विशेषतः 'ग्रामवासिनी' किसान जनता के दुःख—सुख से उनका गहरा सरोकार ही आंचलिक उपन्यास की कल्पना व अवधारणा विकसित हुई है।

'मैला आंचल' के अंचल—चित्रण के पीछे निहित मनोभावना है— अत्यंत गहरा देशप्रेम और यह देश प्रेम पत्थर की इमारतों से न होकर देश की मूर्त मेहनतकश जनता से है और 'मैला आंचल' के विशेष संदर्भ में यह प्रेम बिहार के पूर्णिया क्षेत्र के मेरीगंज गाँव की संघर्षशील जनता से है। मेरीगंज वास्तव में केवल बिहार के एक अंचल विशेष के पिछड़े गाँवों का प्रतीक भर नहीं है, मेरीगंज 'ग्रामवासिनी भारत माता' के धूल भरे 'मैले से आंचल' का संपूर्ण चित्र बन जाता है। अतः 'मैला आंचल' संबंधी दो बातें स्पष्ट हैं कि यह उपन्यास

आंचलिक उपन्यास की प्रवृत्ति आरंभ करने वाला उपन्यास तो है, लेकिन इसकी शक्ति केवल इसकी आंचलिकता के कारण नहीं, वरन् एक ऐतिहासिक दौर के संक्रमण को आंचलिकता के परिवेश में चित्रित करने के कारण है।

eyk vkpy vkpfydrk di fofok jx%&

¼d% Hkkxkfyd ifjo'k& सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास में अंचल विशेष है भौगोलिक परिवेश का चित्रण। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष अपनी भौगोलिक स्थितियों के कारण अपनी एक अलग पहचान रखता है। इस दृष्टि से 'मैला आंचल' प्रकृति में बसे एक पिछड़े गाँव का प्रतीक है। इस गाँव के पिछड़ेपन पर उसकी भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव है। रेणु जी ने मेरीगंज के भौगोलिक परिवेश का सूक्ष्मता से अंकन किया है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही अंचल की प्राकृतिक रूपरेखा रेणु जी ने चित्रवत् प्रस्तुत की है "पूर्णिमा जिले का मेरीगंज रोहतट स्टेशन से सात कोस दूर है यानि कि नगर या कस्बे के आधुनिक जीवन की छाया से दूर आजाद है" और फिर 'बूढ़ी कोशी के किनारे-किनारे बहुत दूर तक ताड़ और खजूर के पेड़ों से भरा हुआ जंगल है। इस अंचल के लोग इसे नवाबी तडबन्ना कहते हैं।"

¼[k% lkeft d Hkn&Hkko& जाति व्यवस्था भारत के किसी भी सामान्य गाँव के सामाजिक जीवन की धुरी के रूप में काम करती है। पूरा समाज जाति के आधार पर वर्गीकृत है और जातीय किस्म के झगड़े होना वहाँ सामान्य सी बात है। जातियों के बीच का शक्ति संतुलन भी गाँव सामाजिक संरचना निर्धारित करता है। उपन्यासकार उपन्यास के आरंभ में ही इस संरचना को स्पष्ट करते हुए कहता है—

"अब गाँव में तीन प्रमुख दल हैं, राजपूत और यादव। ब्राह्मण अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्ही तीनों दलों में बटे हुए हैं।"

ये जातियाँ न केवल शक्ति संतुलन का आधार हैं बल्कि गहरी चेतना में इनमें एक दूसरे के प्रति गहरी घृणा भी विद्यमान हैं। यद्यपि उपन्यासकार ने जातीय घृणा के प्रसंगों को ज्यादा तवज्जो नहीं दिया है तथापि कुछेक प्रसंगों में घृणा की यह भावना स्पष्ट रूप से दिखती है। ऐसे ही एक प्रसंग में जोतखी काका सोचते हैं— "यादव लोग बार-बार लाठ भाला दिखाते हैं, राजपूतों के लिए यह डूब मरने की बात है। अकेले यादवों की बात रहती तो कोई बात नहीं थी, कायस्थ समाया हुआ है। मरा हुआ कायस्थ भी बिसाता है।" ¼x% L=h&i: "k lEdU/k di ifr nf"Vdk.k& यद्यपि मैला आंचल में नारी की सामाजिक स्थिति पर विशेष रूप से ध्यान रचनाकार ने नहीं दिया है फिर भी कई प्रसंगों में चलते-चलते ऐसी टिप्पणियाँ की हैं जो नारी की परतंत्र व निम्न स्थिति को व्यक्त करती हैं। किसी भी घर में यदि आर्थिक अभाव हो तो पुत्र और पुत्री में से पुत्र पर ही धन खर्च करने की ठीक समझा जाता है। उपन्यास में एक प्रसंग ऐसा है। जहाँ तक रोगग्रस्त युवती है। पिता इस अंतर को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

^gtij yMdh dh tkr fcuk nok nk: di gh vkjke gk tkrh gA**

इस प्रकार डॉ० प्रशांत सोचते हैं— "लड़की की जाति बिना दवा दारु के ही आराम हो जाती है! लेकिन बेचारे बूढ़े का इसमें क्या दोष। साथ कहलाने वाले समाज में भी लड़कियाँ बला की पैदाइश समझी जाती हैं।"

सामाजिक मान्यताएँ ऐसी हैं कि नारी को प्रायः विश्वसनीय नहीं माना जाता। पुरुष और नारी के संबंधों में जो समता, स्वतंत्रता और प्रेम होना चाहिए वह आम में नदारद है और किसी भी तरीके से नारी पर नियंत्रण साबित करना मैला आंचल के सामाजिक जीवन की आवश्यकता है। एक स्थान पर शास्त्र का उद्धरण देते हुए कहा है— "सास्तर में कहा है जोरु जमीन जोर का, नहीं तो किसी और का।"

रेणु ने गाँव वालों तथा संथालों के संघर्ष में ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। इस प्रसंग में सामाजिक लड़ाई तो जो है सो है गाँव वालों के लिए महत्वपूर्ण यह है कि संथालियों का सामूहिक बलात्कार होना चाहिए। इस प्रसंग को रेणु ने बेहद प्रतीकात्मक शब्दों से इस प्रकार व्यक्त किया है—

"आजादी है, जो जी में आवे करो! बूढ़ी जवान, बच्ची जो मिले आजादी है। फांसी हो या काला पानी छोड़ो मत!" इस प्रकार रेणु ने कई अलग-अलग संदर्भों में यह वर्णित किया है कि समाज में जिस प्रकार जाति संरचना शोषण और दमन पर आधारित है वैसे ही नारी पुरुष के संबंधों की संरचना भी है।

/kfed fodfr ;k& भारत के किसी भी सामान्य गांव की तरह मेरीगंज का भी एक विशेष धार्मिक जीवन है इसका संबंध वहाँ के मठ से है। भारत में तथा आमतौर पर पूरी दुनिया में प्राचीन व मध्यकाल में धर्म को प्रायः निवृत्ति मूलक बनाने पर बल दिया गया जिससे धर्म से जुड़े व्यक्ति हमेशा एक कुंठित जीवन व्यतीत करते रहे। मैला आंचल में इसी समस्या को एक खास कोण से दिखाया गया है। महंत साहिब धर्म के प्रतिनिधि हैं अतः माया से मुक्त रहना उनके लिए आवश्यक है। यदि वे विवाह करते हैं तो सुविधा भरी महंती हाथ से निकलती है और विवाह नहीं करते तो भौतिक सुविधाओं के बावजूद कुंठित अप्रामाणिक जीवन जीने को अभिशप्त हैं। वे यह समाधान निकलाते हैं कि मठ के पुराने सेवक की बेटी लक्ष्मी को कानूनी लड़ाई के बाद अपने मठ पर ले आते हैं। यह रास्ता महंत साहब के जीवन में भले ही प्रसन्नता लाने वाला हो पर अबोध बालिका का जीवन बर्बाद होता है। यह उपन्यासकार ने विशेष रूप से व्यक्त किया है—
यादव टोली का किसलू— “महंत जब लक्ष्मी को मठ पर लाया था तो वह एकदम अबोध थी।” कहाँ वह बच्ची, कहाँ यह पचास बरस का बूढ़ा गिद्ध। रोज रात में लक्ष्मी रोती थी— ऐसा रोना कि सुनकर पाथर भी पिघल जाएँ”।

इस प्रकार की विकृति के बावजूद दोष, लक्ष्मी का ही हैं कि उसने माया बनकर महंत साहेब के धर्म को भ्रष्ट कर दिया। इस प्रसंग पर रेणु ने व्यंग्य की भाषा में लिखा है— “चढ़ती जवानी में सतगुरु साहेब की दया से माया को जीतकर ब्रह्मचारी रहे। बुढ़ौती में तो आदमी की इंद्रियां शिथिल हो जाती हैं, माया के प्रबल घात को नहीं संभाल सकती हैं।”

v/kfo'oklk dh ekufldrk & रेणु ने मेरीगंज में सामाजिक रूप से प्रचलित अंधविश्वास पर भी टिप्पणी की है। यह स्वाभाविक सी बात कि जहाँ का आर्थिक विकास कम हुआ होगा। जिस क्षेत्र में आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार नहीं होगा वहाँ सामाजिक जीवन में अंधविश्वासों की प्रमुख भूमिका होगी। उपन्यासकार ने यह बार—बार दिखाया है कि अंधविश्वासों के कारण विकास कैसे रुक जाता है यह भी कि किसी—किसी बिंदु पर अंधविश्वास कैसे खतरनाक भूमिका अदा करने लगते हैं डाक्टर प्रशांत गांव को बचाना चाहते हैं किन्तु गांव के ही जोतखी काका अपने अंधविश्वासों के तहत उनका सक्रिय विरोध करते हैं। उनका कहना है— “डाक्टर लोग ही रोग फैलाते हैं। सूई घोपकर देह में जहर दे देते हैं, आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है हैजा के समय कुवों में दवा डाल देते हैं गाँव का गाँव हैजा से समाप्त हो जाता है।”

अंधविश्वासों से खतरनाक प्रभाव क्या होते हैं। यह रेणु ने कमली और पर्वती की मां के माध्यम से दिखाया है।

vkfkf d thou o jktuf rd i{k& उपन्यास में यद्यपि मेरीगंज का संपूर्ण जीवन अंकित हुआ है किन्तु जिस समस्या को उपन्यासकार ने महत्वपूर्ण माना उसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन से ही है। रेणु किसी न किसी रूप में समाजवाद से जुड़े रहे हैं और समाजवादी विचारों के अनुकूल आर्थिक जीवन को संपूर्ण जीवन की धुरी चाहे न माने सबसे महत्वपूर्ण जरूर मानते हैं यह रचना आरंभ में भौगोलिक व सांस्कृतिक वर्णन अधिक करती है पर धीरे—धीरे मेरीगंज की समस्याओं तक पहुँचती है। और वहाँ यह महसूस करती है कि जब तक गरीबी जहालत खत्म न हो तब यह मैला ही रहेगा।

डाक्टर प्रशांत अपने सारे वैज्ञानिक अनुसंधान के बाद इसी निष्कर्ष पर आता है कि मूल समस्या आर्थिक है और एक आर्थिक रूप से निम्न अवस्था की कोई संभावना नहीं है इस नाटकीय बिंदु पर उपन्यासकार लिखता है।

“MkDVj u jkx dh tM idM yh g----A

xjhch vkj tgyr & bl jkx di nk dhV k. k g**

मेरीगंज की आर्थिक समस्याएँ कुछ और पक्षों से भी संबंधित हैं। रेणु ने न केवल गरीबी को मूल समस्या बताकर छोड़ दिया है बल्कि यह भी बताया है कि गरीबी के कारण कौन से हैं। यह गरीबी समाजवादी शब्दावली के अनुसार प्राकृतिक गरीबी नहीं है बल्कि कृत्रिम गरीबी है जो उत्पादकता की कमी से नहीं अपितु वितरण की विषमताओं से पैदा होती है ऐसा एक चित्र रेणु ने खमहार के प्रसंग में खींचा है जो गोदान के खलिहान से मिलता—जुलता है।

“खमहार! साल भर की कमाई का लेखा—जोखा तो खमहार में ही होता है। दो महीने की कटनी, एक महीना भरनी, फिर साल भर की घटनां दबनी—मइना करके जमा करो, साल भर के खाए धुए कर्जे का हिसाब करके चुकाओ। बाकी यदि रह जाए तो फिर सादा कागज पर अंगूठे की टीप लगाओ— फिर कर्ज खाओ। खमहार का चक्र चलता रहता है।”

डाक्टर प्रशांत गांव में आकर पहली बार सौन्दर्य पर सोचना शुरू करता है और चिंतन की इसी प्रक्रिया में एक बिन्दु पर पहुँचकर महसूस करता है कि सुंदरता सचमुच अनुकूल परिस्थितियों से पैदा होती है। मेरीगंज में भी सुन्दरता हो सकती थी पर स्थितियाँ ऐसी हैं कि सुंदरता विकसित होने से पहले झुलस जाती है। वह सोचता है—

“उसने देखा है..... गरीबी गंदगी और जहालत से भरी हुई दुनिया में भी सुंदरता जन्म लेती है। किशोर— किशोरियों व युवतियों के चेहरे पर एक विशेषता देखी है उसने। कमला नदी के गड्ढों में खिले हुए कमल के फूलों की तरह जिंदगी के भोर में वे बड़े लुभावने मनोहर और सुंदर दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ज्यों ही सूरज की गर्मी तेज हुई वे कुम्हला जाते हैं।”

jktufrd i{k& मैला आँचल उस समय की रचना है जब आजादी मिलने वाली थी और वहाँ खत्म होता है जहाँ आजादी बस मिली ही थी में लोकतांत्रिक पद्धति का विकास आजादी से लगभग एक दशक पहले की शुरु हो गया था। शुरुआती किस्म का लोकतंत्र किस प्रकार का था, किस तरह के दल लोकतांत्रिक प्रतिस्पर्धा में लगे हुए थे और अशिक्षा तथा गरीबी से त्रस्त समाज में लोकतंत्र का कैसा स्वरूप निखर कर सामने आ रहा था इन सभी पक्षों को रेणु ने पर्याप्त विस्तार के साथ व्यक्त किया है। उपन्यास में विशेष रूप से दो राजनीतिक दलों की चर्चा है। कांग्रेस तथा सोशलिस्ट पार्टी। कांग्रेस उस समय की सबसे अधिक प्रचलित पार्टी है। यही पार्टी स्वाधीनता संग्राम की मूल शक्ति रही है। इस पार्टी में बावनदास जैसे समर्पित कार्यकर्ता इस बात से परेशान हैं कि—

^Hkkjr ekrk vc Hkh jk jgh gA**

धीरे—धीरे जाति राजनीतिक जीवक की धुरी बनने लगी है और इसी प्रक्रिया में कांग्रेस में भी जातिवाद फैलने लगा है। ऐसी स्थिति में बावनदास क्षुब्ध होकर सोचता है— “अब दो लोगों को चाहिए कि अपनी—अपनी टोपी पर भूमिहार, राजपूत, कायस्थ, यादव, हरिजन आदि लिखवा लें।”

आगे बढ़कर रचनाकार यह भी दिखाता है कि कांग्रेस पार्टी का मूल चरित्र ऐसा है कि वह भूमिपतियों जमींदारों और पूंजीपतियों की पार्टी बनकर रह गई है बावनदास जैसा समर्पित कार्यकर्ता आम आदमी की इस पार्टी के चरित्र परिवर्तन से क्षुब्ध हैं वह सोचता है— “वह जमींदारी प्रथा खत्म हो जाएगी? तब ये कांग्रेसी जमींदार लोग क्या करेंगे? सब मिल खोलेंगे शायद इसीलिए प्रायः हर एक छोटे बड़े लीडर के साथ एक मारवाड़ी घूमता है।”

गाँव का दूसरा महत्वपूर्ण दल सोशलिस्ट दल है यह स्वभाविक था कि रेणु इस दल के प्रति सहानुभूति रखें ऐसा इस उपन्यास में दिखता भी है पर यह सहानुभूति एक तो थोपी हुई नहीं लगती, दूसरे एकपक्षीय नहीं है। क्योंकि उन्होंने इस दल में उभरने वाली विसंगतियों का चित्रण भी किया है। कालीचरण को सोशलिस्ट पार्टी का नेता बनाकर उन्होंने वे बातें कहीं हैं जिन्हें सुनकर आम आदमी गहरी संवेदनात्मक निकटता महसूस करता है। उपन्यासकार लिखता है—

“युगों से पीड़ित, दलित और उपेक्षित लोगों को कालीचरण की बातें बड़ी अच्छी लगती हैं ऐसा लगता है, कोई घाव पर ठण्डा लेप कर रहा हो लेकिन कालीचरण कहता है—

“मैं आप लोगों के दिल में आग लगाना चाहता हूँ सोए हुए को जगाना चाहता हूँ। मैं आप लोगों को मीठी बातों में झुलाना नहीं चाहता है। वह कांग्रेसी का काम है। मैं आग लगाना चाहता हूँ।”

उपन्यास में मूलतः यही दो राजनीतिक दल हैं पर थोड़ी बहुत चर्चा आर.एस.एस. तथा हिन्दु महासभा जैसे दलों की कभी हुई। उपन्यासकार ने बहुत कम प्रसंगों में इस दल पर भी कड़ी टिप्पणी की है। इस दल में अनुशासन ऐसा नहीं कि कार्यकर्ता स्वयं सोचने को भी स्वतंत्र नहीं और भ्रष्टाचार भी विकसित होने लगा है। एक प्रसंग में उपन्यासकार टिप्पणी हुआ कहता है—

“संयोजक जी आजकल महीने में दो बार घर मनीआर्डर भेजते हैं। संयोजक जो कहेंगे उसमें काली टोपी वाले नौजवान प्राण रहते नहीं काट सकते हैं आज और पानी में कूद सकते हैं। इसी को कहते हैं अनुशासन। अंत में बालदेव का कथन—“वह पुरेनिया जाएगा, वही से चलपट्टी चला जाएगा। वह अपने गाँव में रहेगा अपने समाज में अपनी जाति में रहेगा। जाति बहुत बड़ी चीज है।..... जाति की बात ऐसी है कि सभी बड़े-बड़े लीडर अपनी-अपनी जाति की पार्टी में है। यह तो राजनीति है। लक्ष्मी क्या समझेगी।”

l kLdfr d fp=.k& आंचलिक उपन्यास में सर्वाधिक वर्णन सांस्कृतिक होता है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियाँ आमतौर पर विविध क्षेत्रों में एक सी हो सकती हैं अतः उनका साधारणीकरण आसानी से हो जाता है। किसी स्थान के भौगोलिक वर्णन भी उसकी विशिष्टता स्थापित करते हैं क्योंकि इन दोनों पक्षों का साधारणीकरण नहीं हो सकता है। आंचलिकता की इस प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए रेणु ने उपन्यास में मेरीगंज की लोकसंस्कृति के कई सुंदर चित्र खींचे हैं। लोकसंस्कृति का अर्थ उस संस्कृति से है जो मूलतः आम आदमी से संबंधित हो व समाज के सभी व्यक्तियों की गहरी संबद्ध चेतना वर्णित होती है। यहाँ जो गांव दिखाया गया है उसमें किसी भी उत्सव धर्मी भारतीय गाँव में बात-बात पर सांस्कृतिक आयोजन होते हैं।

y kdxhrk e i vfHk0;Dr ykd lLdfr&मिथिला क्षेत्र की लोक संस्कृति में होली के समय जोगिया व भउजिया गान बहु प्रचलित है इन लोकगीतों व अन्य लोक परंपराओं का चित्रण उपन्यास में अनेक स्थलों पर हुआ है। गाड़ीवान भउजिया गाते चलते हैं

p<yh tokuh ek'k l:x dMd: l:@dc gkbgj xouk gekj j: Hkmft ;k

रेणु के मिथिला अंचल की लोक संस्कृति के इस संवेदनशील चित्रण के कारण ही शायद नेमिचंद्र जैन ने कहा था— ‘भारतीय देहात के मर्म का इतना सरस और भावप्रवण प्रस्तुतकरण हिन्दी में संभवतः पहले कभी नहीं हुआ था। (अधूरे साक्षात्कार) बिहार और उत्तर प्रदेश में होली का त्योहार सर्वाधिक जोश-खरोश से मनाया जाता है और इन प्रांतों का सांस्कृतिक चित्र इस त्योहार के चित्र के बगैर अधूरा है सो रेणु ने भी ‘मैला आंचल’ में मेरीगंज में मनाई जाने वाली होली का खूब रंगीन चित्रण किया है। फुलिया नैहर में होली मनाना चाहती है, वह गाती है।

u;uk feykuh djh y: j: l:;k] u;uk feykuh djh y!

vcx dh c] ge ugj jgck] t: fny pkg; l: djh y!

होली ऐसा त्योहार है, जिसमें स्त्री-पुरुषों में रोमांस खुलकर प्रकट होता है, यहाँ तक कि थोड़ी बहुत छेड़-छाड़ भी सामाजिक रूप से स्वीकृत है।

vj: c]fg;k i dfM >d>kj: ' ;ke j:

QVy j: l e t kMh pMh

ek l fd x; h pk y h] Hkh xkoy l kMh

vkpy mfm t k; gk

, l k gkj h epk; k ' ;ke j:

उपन्यास के अंत में जेल से रिहा होकर डॉ० प्रशांत फिर गांव आता है और प्रण करता है ‘मैं फिर काम शुरू करूँगा। यहीं इसी गांव में। आंसू से भीगी धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएंगे। मैं साधना करूँगा ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आंचल तले।’

l UnHk %

1. फणीश्वर नाथ रेणु, मैला आंचल, (लोकभारती प्रकाशन), भूमिका से
2. राम दरश मिश्र, हिंदी उपन्यास एक अंतर्गता (राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 1982) पृ०सं०—187
3. नगीना जैन, आंचलिकता और हिंदी उपन्यास (अक्षर प्रकाशन नई दिल्ली) पृ०सं०—(12—15)
4. डा० मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पंचम संस्करण, 2008 पृ०सं०—163
5. मधुरेश, मैला आंचल का महत्व (सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद) पुर्नमुद्रण 2015, पृ०सं०—(173—177)
6. वेद प्रकाश अमिताभ, आंचलिकता और मैला आंचल, पृ०सं०—162



or'eku ifjn'; e dchj

joh'k dekj ;kno*

हिन्दी साहित्येतिहास में महान व्यक्तित्व के धनी संत कबीरदास जी भक्तिकाल के उस परिदृश्य में जनता को सर्वसुलभ, सुगम मार्ग (उपाय) सुझाया (दिखाया) जिस समय जनता में सामाजिक विखण्डता जैसे—जातिवाद, रूढ़िवादिता, छुआछूत, धार्मिक उन्माद आदि समस्यायें विद्यमान थी। कबीर अपने व्यक्तित्व व खरे-खरे विचारों से जनता को उचित रास्ता दिखाया और भक्ति को सर्वसुलभ बनाया तथा कर्म को सर्वोपरि बताया है।

आज कम्प्यूटर का युग है हमारी पहुँच चन्द्रमा तक है। जनता अपने को स्मार्ट समझती है किंतु आज भी समाज में जातिवाद, रूढ़िवादिता, छुआ-छूत, धार्मिक उन्माद, साम्प्रदायिक दंगे आदि ऐसी समस्याएँ हैं जो हमें कबीर जैसे कालदर्शी भक्त कवि के विचारों (दर्शन) की याद दिलाते हैं। आज भी हिन्दू और मुसलमान धर्म के नाम पर लड़ रहे हैं, मुजफ्फरनगर दंगा, अयोध्या बाबरी मस्जिद विध्वंस आदि ऐसे उदाहरण हैं। धर्म के नाम पर आतंकवाद फैलाना और दूसरे धर्म के लोगों की हत्या करना। आज भी धर्म के नाम पर पशुओं और मानवों की बलि दी जा रही है। यहां वह पंक्ति प्रासंगिक है—

I j r ogh g Hkb ;k]

cnyk doy <kpk gA

जब तक ये समस्याएँ समाज में व्याप्त रहेगी तब तक कबीर की प्रासंगिकता बनी रहेगी। मध्यकाल में कबीर अकेले कवि हैं जिन्होंने जीर्ण परम्पराओं का खुलकर विरोध किया है। वे अपने समय के जीवन—प्रवाह को खुले नेत्रों से देखा था। सुनी सुनायी बातों पर विश्वास नहीं करते थे। वे पक्षपात रहित थे। उन्होंने किसी की झूठी खुशामद नहीं की। उन्होंने हिन्दू हो या मुसलमान, योगी हो या पण्डित, शैव हो या शाक्त, मुल्ला हो या मौलवी उन्होंने सभी की दुर्बलताओं पर समान भाव से प्रहार किया, वे सच्चे विद्रोही थे। उनका विद्रोह अंधविश्वास, मिथ्याडम्बर, जातिगत भेदभाव तथा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता के विरुद्ध था। वे सहज जीवन के समर्थक थे मनुष्य मात्र की एकता में विश्वास करते थे। दीन—हीन जनता एवं उपेक्षित मानव समुदाय के प्रति उनमें अपार सहानुभूति थी।

कबीर की उपर्युक्त अनेक विशिष्टताओं को हम हरिशंकर परसाई की व्यंग्यदृष्टि में देख सकते हैं, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की कविताओं में, आधुनिक कबीर कहे जाने वाले नागार्जुन की कविताओं में स्पष्टता दिखायी देती है। कुछ कवियों ने साठोत्तरी पीढ़ी की कविता को 'कबीर पीढ़ी' की कविता भी कहा है। प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और आज तक के कवियों में समाज के यथार्थपरक चित्रण करने की जो उत्सुकता, निर्भीकता और धार है वह कहीं न कहीं कबीर की दिखाई गयी है। उनका व्यक्तित्व सभी धर्मों की मान्यताओं से ऊँचा है वे किसी भी मान्यता या धर्म के प्रति इस सीमा तक प्रतिबद्ध नहीं हैं कि उनका व्यक्तित्व दब न जाय और वे उसमें खो जाये। इसीलिए उनका व्यक्तित्व आज भी आकृष्ट करता है।

कबीर की शिक्षाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि आज उनकी शिक्षाओं की आवश्यकता तत्कालीन युग की अपेक्षा अधिक है। उस समय हिन्दू—मुस्लिम जनता आपस में मन्दिर—मस्जिद के प्रश्न पर संघर्षरत रहती थी। धर्म के ठेकेदार धार्मिक उन्माद के चूल्हे पर स्वार्थ की रोटियाँ सेकते थे, वैसा ही वर्तमान समय में हो रहा है। वोटों की कलुषित राजनीति ने इसे और भी गन्दा कर दिया है। मन्दिर—मस्जिद के नाम पर दंगे तब भी होते थे और अब भी हो रहे हैं। निश्चय ही कबीर की शिक्षाएँ आज के माहौल में

अधिक प्रासंगिक है। वैज्ञानिक उपकरणों एवं सुख-सुविधा के साधनों को जुटाकर भले ही हम प्रगति का दावा करें किंतु मानवता के मोर्चे पर हम रंचमात्र भी प्रगति नहीं कर सके हैं। आज भी समाज में धार्मिक विद्वेष व्याप्त है, जाति प्रथा ने अपनी जड़ों को मजबूत किया है, समाज में विषमता बढ़ी है, समरसता कहीं दिखाई नहीं देती। ऊँच-नीच की भावना वर्तमान समय में देखी जा सकती है।

Åp dy dk tufe; k djuh Åp u gk; A
lcju dy l ljk Hkjk l k/k funr l kpAA

समाज में पाखण्ड अब भी व्याप्त है, दुराचरण की मात्रा घटने के स्थान पर बढ़ी ही है। छल-कपट, हिंसा, अज्ञान और विद्वेष ने समाज को खोखला कर दिया है। कबीर ने पाखंड, वाह्याचार, अंधविश्वास एवं रूढ़ियों पर कुठाराघात किया।

gekj d l l ykg rEgkj d l l n/kA
re d l l okeu ik.Mi ge d l l l nAA

उपर्युक्त पंक्ति में जातिगत विषमता पर कबीर ने प्रश्न खड़ा किया कि सभी के शरीर में खून है किसी का दूध नहीं है तो कैसे कोई बड़ा-छोटा हुआ। वस्तुतः कबीर कर्म से जाति का अस्तित्व मानते हैं।

कबीर ने समाज में व्याप्त मूर्ति पूजा का डटकर विरोध किया। वे सामान्य जनता को समझाते हुये कहते हैं कि मूर्तिपूजा से भगवान नहीं मिलते, इससे अच्छा है कि चाकी की पूजा करो—

ikgu i t l gfj fey l rk el i t l igk jA
?kj dh pkdh dkb u i t l i h l [kk; l l k jAA

यहां पर दुनियां के मूर्तिपूजा के पागलपन पर प्रहार करते हैं। पत्थर की पूजा की जगह अपने कर्म की पूजा करो जिसमें तुम्हें भोजन या जीविका मिलती है। वर्तमान समय में मूर्ति पूजा की परम्परा बढ़ गयी है। लोगों के पास रुपया पैसा जितना अधिक है वे उतनी ही तल्लीनता के साथ जुटे हुये हैं। आज मन्दिर व मूर्ति निर्माण में रखरखाव में बहुत सारा पैसा लगाया जा रहा। इस समय मन्दिरों में पंखा, कूलर, एसी आदि सुख-सुविधायें देखी जा सकती हैं क्या इन पर कबीर के व्यंग्य सही नहीं ठहरते हैं।

क्या मानव समाज से पाखंड, अन्ध-विश्वास, रूढ़ियां आदि समाप्त हो गये हैं? क्या हिंसा, असत्य, अज्ञान एवं भ्रम ढोंग में पड़ी जनता (मानव जाति) आज भी नहीं भटक रही है? फिर कबीर प्रासंगिक क्यों नहीं? धर्म के नाम पर जीव हिंसा का कबीर ने विरोध किया। हिन्दुओं में शाक्तों और मुसलमानों में कुर्बानी देने वालों को उन्होंने निर्भीकता से फटकारा और कहा दिन में रोजा रखने वाले रात को गाय काटते हैं। इस कार्य से भला खुदा कैसे प्रसन्न हो सकता है :

fnu el jktk jgr gl jkfr gur gl xk; A
;g rk [ku og cfnxh d l l [k l h [knk; AA
cdjh ikrh [kk r g rkdh dk<h [kkyA
t l uj cdjh gl frud l dku gokyAA

समाज में मौजूद पाखण्ड पर कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को फटकारा। वे एक ओर हिन्दुओं के तीर्थाटन, छापा, तिलक का विरोध करते हैं तो दूसरी ओर रोजा, नमाज, अजान का। वे कहते हैं कि माला फेरने से नहीं, मन की शुद्धि से ईश्वर प्रसन्न होता है—

ekyk Qjr tix x; k x; k u eu dk QjA
dj dk eudk Mkfj d l eu dk eudk QjAA

वर्तमान समाज में बड़े-बड़े मठ और मंदिर तथा मस्जिद में धर्म के नाम पर धन उगाही कर रहे हैं। देव स्थलों पर भोग-विलास की सारी सामग्रियां मौजूद है। अपने को साधू, संत, जोगी कहने वालू झूठा भेस बनाये (रूप) रंग-रंग के कपड़े पहनकर बड़े-बड़े चन्दन लगाकर घूमते फिरते हैं। ये लोग धर्म के आवरण में नारी भोग, सुरा भोग आदि नशीले पदार्थों का व्यापार आदि में लिप्त है। अभी कुछ दिन पहले एक महान साधू की पोल खुली जो अपने को कृष्ण का अवतार मानकर जबरन नारी भोग किया करते थे। इस स्थिति में कबीर की पंक्तियों और उनके जैसे व्यक्तित्व वाले महान पुरुष की जरूरत है जो इन सबकी आँखें खोल सके या समझा सके या फटकारे।

eu u jxk; jxk; t kxh diMkA

वे समाज में व्याप्त बुराइयों के कटु आलोचक हैं किंतु उनकी आलोचना सुधार भावना प्रेरित है। जिसका कोई ईमान नहीं है वह न हिन्दू है न मुसलमान। मनुष्यों में मानवता की भावना का अभाव आज भी व्याप्त है। कबीर ने वैषम्य को दूर कर समता स्थापित करने का प्रयास किया। परोपकार, सेवा, क्षमा, करुणा, दान, धैर्य, अहिंसा, सत्संग आदि का प्रचार करके वे शुद्ध आचरण एवं सात्विकता पर बल देते दिखायी पड़ते हैं। कबीर सामाजिक समन्वय पर बल देते हैं। वे आपस में भाई-चारे की भावना हो तथा ढोंग तथा अन्धविश्वास समाप्त करना चाहते थे।

राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन कर कबीर चाहते थे कि हिन्दू-मुसलमान प्रेम एवं भाई-चारे की भावना से एक साथ मिलकर रहें। उन्होंने राम-रहीम की एकता स्थापित करते हुए बताया कि ईश्वर दो नहीं हो सकते। यह तो लोगों का भ्रम है जो खुदा को परमात्मा से अलग मानते हैं—

nb: t xnh l dgk r: vk; kA

dg dku Hkjek; kAA

वर्तमान समाज में ईश्वर की धारणा कई रूपों में मिलती है। जितने धर्म के लोग हैं उनके अपने-अपने ईश्वर हैं और उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। हमारे ईश्वर बड़े हैं, हमारे भगवान बड़े ऐसा सभी धर्म के लोग कहते हैं, जो कि उनका भ्रम है। पूरी दुनिया एक है और उसका नियामक भी एक है। यही सन्देश कबीर जी ने अपने निर्गुण एकेश्वरवाद के रूप में दिया है।

आचरण की शुद्धता के लिए कबीर ने सदा बल दिया। आचरण शुद्धता न केवल भक्तिभावना के लिए आवश्यक है बल्कि एक सभ्य समाज के लिए भी आवश्यक है। कबीर ने आचरण की शुद्धता के लिए कुसंग का त्याग करने एवं सत्संग करने पर बल दिया है। कबीर का मानना है कि जब तक मन में काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या-द्वेष आदि विकार भरे हैं तब तक हृदय में भगवान की भक्ति नहीं आ सकती। भक्ति मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को अहंकार एवं कपट का परित्याग करना पड़ता है।

^ t c e l Fkk rc gfj ugh vc gfj g: e l ukfgA*

आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति में सुपर इगो (अहंकार) दिखायी देता है। बात-बात पर लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, हत्या, परिवार में अलगाव, भाई-भाई में लड़ाई आदि ऐसी घटनाएं देखने को मिलती हैं। रूपयों-पैसों के लिए व्यक्ति अपने सगे-सम्बन्धियों की हत्या कर दे रहे हैं। ऐसे में कबीर के सुविचार और सत्संग और भी प्रासंगिक हो जाते हैं। वर्तमान में बढ़ते अपराधिक मामलों का कारण असंतोष और भोग-विलास की इच्छा ही है। जो मनुष्य को उसके आचरण कुत्सित कर रही है। यदि इनको कबीर वाणी से परचित कराया जाय और वास्तविक मानवता के लिए बताये गये मार्ग दिखाये जाय तो एक सभ्य समाज का निर्माण हो सकता है जैसा कि कबीर चाहते थे।

I UnHk %

1. कबीर, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
2. कबीर मीमांसा, डॉ० रामचन्द्र तिवारी
3. कबीर वाणी-सुधा, डॉ० पारसनाथ तिवारी
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्र शुक्ल
5. शोधार्थी के स्वतः विचार।



nekg ft y: dh lof{kr 'ko ifrek,

mei'k pUn: ik.M;*

ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों में विष्णु के पश्चात् शिव की प्रधानता है। हिन्दू-धर्म के प्रमुख तीन देवताओं में शिव संहारक के रूप में माने जाते हैं। परन्तु शैव मतावलम्बी उन्हें सृष्टि का सृजनकर्ता भी स्वीकारते हैं। वे इन्हें सर्वोच्च देवता के रूप में स्वीकार करते हैं। शिव का व्यक्तित्व बहुपक्षीय है। एक ओर शिव अपने भक्तों पर कृपा और अनुग्रह की वर्षा करते हैं वहीं दूसरी ओर सृष्टि के विनाश के लिए 'ताण्डव नृत्य' कर्ता भी है।

पौराणिक काल का देवता संघ यद्यपि एकेश्वरवाद का समर्थन करता है, तथापि प्राथमिक रूप में यह त्रिदेवों (शिव, विष्णु और ब्रह्मा) के स्तम्भ पर आधारित हैं। आगे चलकर ब्रह्मा का स्थान शक्ति, सूर्य और गणपति ने ले लिया और पंचदेव के उपासना का स्वरूप विकसित हुआ। इन देवताओं में शिव का स्वतंत्र रूप से विचार करने पर इन्हें समन्वयवादी प्रवृत्ति के श्रीवृद्धि करने वाला कहा जा सकता है। अतिप्राचीन सभ्यताओं में ऐसे कई सम्प्रदाय दिखलायी पड़ते हैं, जो अपने समष्टि रूप में आज के कई शैव सम्प्रदायों में प्रतिबिम्बित हैं।¹

शिव परिवार के सभी सदस्य देवतुल्य एवं पूजनीय हैं, स्थिति के अनुसार उनके विभिन्न स्वरूप कला में तैयार हुए हैं। शिव को संगीत, योग तथा नृत्य का प्रणेता भी माना जाता है। शिव पाशुपति के रूप में समस्त प्राणियों के स्वामी हैं, माहेश्वर और महादेव हैं एवं शक्ति के प्रतीक उमा के स्वामी हैं। वस्तुतः शिव और शक्ति के मिलन से ही सृष्टि का सृजन सम्भव होता है। यदि शक्ति शिव के द्वारा नियन्त्रित न हुई तो, विनाश-सृजन को संतुलित करने की अपार क्षमता शिव में निहित है।

प्रस्तुत शोध पत्र दमोह जिले (2309'–24026' उत्तरी अक्षांश तथा 7903'–79051' पूर्वी देशान्तर) के सर्वेक्षित शैव प्रतिमाओं पर आधारित है।

दमोह जिले के सर्वेक्षण से अनेक कलाकेन्द्रों की खोज की गयी है, जिसमें मन्दिर वास्तु एवं मूर्तिकला के प्रचुर अवशेष विद्यमान हैं। इन कलात्मक अवशेषों से ज्ञात होता है कि विवेच्य क्षेत्र प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक इतिहास के स्रोत में श्रीवृद्धि करता है। स्रोत के रूप में समयावधि में निर्मित स्थापत्य एवं प्रतिमायें प्रमुख हैं। गुप्तकालीन मन्दिर वास्तु तथा कला के प्रमाण सकौर तथा कुण्डलपुर में विद्यमान हैं।

गुप्तकाल के पश्चात् विवेच्य भू-भाग में कलचुरि कालीन मन्दिरों तथा देवी-देवताओं की असंख्यक प्रतिमाओं का निर्माण कलचुरि शासकों के संरक्षण में कराया गया। उत्तर मध्य-कालीन कलचुरि कला का चरमोत्कर्ष इस क्षेत्र के विविध कला केन्द्रों में कोड़ल, गुबरा, दौनी, नोहटा, मोहन्ना, मोहड़, रनेह, बनगाँव, हिन्दोरिया तथा बड़गाँव आदि स्थलों में आज भी देखा जा सकता है।

कलचुरि काल में मूलतया शैव-धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार था। इस काल के अनेक कलाकेन्द्रों में शिव मन्दिर निर्मित कराये गये, जिससे शैव तथा शाक्त प्रतिमाओं का बाहुल्य है। मध्यकाल में धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध धर्मों से सम्बन्धित प्रतिमाओं का निर्माण धार्मिक समन्वय तथा भावात्मक एकता की अभिवृद्धि में सहायक है।

शिव लिंग : शिव पूजा का आरम्भिक लोकप्रिय रूप उद्भावना शक्ति के रूप में देव की लिंग पूजा थी। लिंग उपासना शैव सम्प्रदाय का प्रमुख अंग है। लिंग को विश्व उत्पत्ति का मूल साधन मानते हुए, इसे ब्रह्मा का स्वरूप बतलाया गया। प्रज्ज्वलित अग्नि की शिखा ऊर्ध्वमुखी होती है, उससे शिव के ज्योतिर्लिंग

*शोधार्थी, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर वि.वि. सागर (मप्र.)

की कल्पना की गयी। अपराजितपृच्छा² में शिव एवं शक्ति को लिंग का प्रतीक माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार लिंग के तीन प्रमुख भाग — भोग पीठ, भद्रपीठ एवं ब्रह्म पीठ होते हैं।

मनुष्य द्वारा निर्मित लिंग (मानुषलिंग) निचले चौकोर भाग को 'ब्रह्म-भाग' अष्टकोणीय मध्य भाग को 'विष्णुभाग' और ऊपरी गोलाकार भाग को 'भोग भाग', 'पूजा-भाग' या 'रुद्र भाग' के नाम से जाना जाता है। शिवलिंगों के विभाजन प्रक्रिया को लिंग पुराण (अध्याय-99) तथा मत्स्यपुराण (अध्याय 262) में अच्छी प्रकार से बतलायी गयी है।

सकौर (23089'7" उत्तरी अक्षांश तथा 78038'1" पूर्वी देशान्तर) शिव मन्दिर के गर्भगृह के मध्य में 2 फीट ऊँचा एवं 5.1 फीट के व्यास में निर्मित शिवलिंग अत्यन्त मन मोहक है। (छायाचित्र-1) गर्भगृह के बाहर 2.8x1.5 फीट चौकोर तथा 0.11 फीट ऊँचे अधिष्ठान (जलहरी) के बीच में शिव लिंग स्थापित है जिसका निचलाभाग चौकोर, मध्यभाग, अष्टकोण एवं ऊपरी भाग गोलाकार है।

नोहटा (23040' उत्तरी अक्षांश तथा 79034' पूर्वी देशान्तर) के नोहलेश्वर मन्दिर के गर्भगृह के अन्दर 1.09x1.09 मी. चौकोर तथा 53 से.मी. ऊँचे जलहरी के बीच में 88सेमी. व्यास तथा 27 सेमी. ऊँचा प्रतीकात्मक शिवलिंग स्थापित है। आधार पीठिका के नीचे का भाग 81x81 सेमी है। जलहरी का नक्काशीदार कटाव पाँच भागों में विभक्त है। जल-निर्गमन उत्तराभिमुख है, जिसकी चौड़ाई 21 सेमी. है।

इसके अतिरिक्त कोंडल, अलोनी, रोहनिया, मड़कुली, बांदकपुर, मोहड़, गुबरा आदि स्थलों से भी शिवलिंग प्राप्त हुए हैं।

mek&ekg'o j || मूर्तिविज्ञान में भगवान शिव के विविध स्वरूप कलाकारों के प्रेरणा स्रोत ही नहीं, अपितु अभिव्यक्ति के मापदण्ड रहे हैं। पांचवी शती के पश्चात् ऐसी प्रतिमाएँ भी निर्मित हुई जो पौराणिक कथानकों से सम्बन्धित नहीं हैं। उमा-माहेश्वर अथवा अन्य सुखासन प्रतिमाएँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत रख सकते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण³ के अनुसार इस प्रतिमा के अन्तर्गत उमा और शिव को एक ही पीठिका पर आलिंगन करते हुए प्रदर्शित किया जाना चाहिए। जटा-जूटधारी शिव दाहिने हाथ में नीलोत्पल तथा बाँया हाथ उमा के कन्धे पर दिखाना चाहिए। उमा का दाहिना हाथ शिव के कन्धे पर और बाँए हाथ में कमल पुष्प प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

;Xe: L=h i: "k dk;| ee'kk fn0; : fi.kkA
v"V oD= r| no'k t Vk pUnk/k Hkf'kreA
okeikf.k r| noL; noLdU/kkfu ;k t ;rA
nf{k.k r| dj: 'kEHkk: ri yu foHkf'kreAA

विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 105, 8—10

'रूपमण्डन' के अनुसार उमा-माहेश्वर प्रतिमा के अन्तर्गत शिव को चतुर्भुजी दिखाना चाहिये। दाहिने हाथ में मातुलिंग एवं त्रिशूल है। बाँए एक हाथ उमा को आलिंगन करते हुए एवं दूसरे में नागेन्द्र है। उमा का एक हाथ शिव के कन्धे पर और दूसरे में दर्पण धारण किये हैं। इनके नीचे इनके वाहन नन्दी, कुमार एवं गणेश को बनाना चाहिए तथा भृंगी को नृत्य करते हुए दिखाना चाहिए।

mek&eg'o j| o{;| me; k l g 'kdj|A
ekrfy: x f= 'ky: p /kj r| nf{k.k djAA
vkfy: xrk okegLr: ukxUn: f} rh;| djA
gjLdU/k mekgLr: nil.kk f} rh;| djAA
v/kLrkn o"kkHk d;| k r dekjp x.k'ojeA
HkfxjhV rFkk d;| kf=efl %fueki l # uR; | flFkreAA

रूपमण्डन, 27, 28, 29

विष्णुधर्मोत्तर पुराण, रूपमण्डन के साथ-साथ शिल्परत्न एवं श्री तत्त्वनिधि जैसे ग्रन्थ भी शिव के इस सुखासन स्वरूप को कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। सम्पूर्ण देश में शिव की उमा-माहेश्वर आलिंगन प्रतिमाएँ बहुतायत प्राप्त हुई हैं।

दमोह जिले के तेन्दूखेड़ा तहसील के धरीमाल पुरास्थल से उमा-माहेश्वर की प्रतिमा मिली है। (छायाचित्र-2) उमा-माहेश्वर ललितासान मुद्रा में आसीन है। माहेश्वर शिव के बायें जंघे पर उमा विराजमान हैं। शिव का सिर जटाजूट से आभूषित है। जिससे लड़ियाँ लटक रही हैं, कानों में कुण्डल, गले में माला एवं रुद्राक्ष से निर्मित यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं। कटिप्रदेश में रुद्राक्ष की कटिमेखला एवं वस्त्राभूषण धारण किये हुए हैं। पैर कड़ा से विभूषित है। उमा के गले में हार, ग्रेवेयक, कटिप्रदेश में कटिमेखला, पैर में पायल धारण किये हुए, विस्मय भाव से माहेश्वर को निहार रही है। माहेश्वर का दायाँ पैर भूमि पर है। दोनों के वाहन नन्दी एवं शेर का अंकन भी नीचे किया गया है।

उमा-माहेश्वर के दोनों बगल गणों का अंकन है। ऊपर दो चवर्धारिणी उत्कीर्ण है। देव-गण पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। प्रभामण्डल से युक्त इस प्रतिमा में ऊपर शिव लिंग पूजन का सुन्दर अंलकरण है। प्रतिमा के दोनों बगल काल्पनिक पशुओं का अंकन है।

यह प्रतिमा धरीमाल (तेन्दूखेड़ा) से प्राप्त है, जो पूर्व मध्यकाल की प्रतीत होती है। इस प्रकार की प्रतिमा सम्पूर्ण डाहल क्षेत्र में सरला से देखी जा सकती है। ये प्रतिमा तत्कालीन शासक के शैवमतावलम्बी होने का भी द्योतक है।

दमोह जिले के पुरास्थल कौंडल (28083 उत्तरी अक्षांश एवं 79044' पूर्वी देशान्तर) से प्राप्त रौद्र रूपी शिव प्रतिमा है। (छायाचित्र-3) यह प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर निर्मित की गयी है।

यह प्रतिमा अन्धकासुर वध का है। अन्धकासुर ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त करके देव-मानव को पीड़ित कर दिया। इन्द्र के अनुरोध पर भगवान शिव अन्धकासुर वध करने के लिए वासुकि, तक्षक और धनंजय नामक नागों की रचना की। नील नामक असुर का वध वीरभद्र ने कर दिया जो गजरूप में शिववध करने जा रहा था। वीरभद्र ने नीलासुर वध करके गजचर्म शिव को भेंट कर दिया। शिव गजचर्म धारण करके वासुकि, तक्षक एवं धनंजय नागों से विभूषित, त्रिशूल लेकर अन्धकासुर के वध के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रतिमा में शिव का रौद्र स्वरूप दिखलाया गया है। इसमें आलीढ़ मुद्रा में शिव को शरीर धनुषाकार, दाहिना पैर भूमि पर, बाँए कदम आगे बढ़ते हुए नन्दी के ऊपर दिखलाया है। डमरू, त्रिशूल एवं पाश धारण किये हुए हैं। ऊपर अन्धकासुर त्रिशूल पर टिका हुआ है। नीचे योगेश्वरी देवी को अन्धकासुर के शरीर से निकलते हुए रक्त का पान करते हुए चित्रित किया गया है। गले में हार, हाथ में भुजबन्द, कंगन कमर में कटिमेखला, गजचर्म, सर्पयज्ञोपवीत एवं जटाजूट धारण किए हुए दर्शाया गया। विवेच्य प्रतिमा को पूर्व मध्य काल के अन्तर्गत रखा जा सकता।

UVjkt ॥ शिव के सौम्य प्रतिमाओं में नृत मूर्ति की गणना होती है। भारतीय शास्त्रों में शिव नृतकला में कुशल तथा आचार्य कहे गये हैं। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में एक सौ आठ प्रकार का नृत्य वर्णित है। शैवागमों के अनुसार शिव ने एक सौ आठ मुद्राओं में नृत्य किया था। दक्षिण भारत के चिदम्बरम् स्थित नटराज मन्दिर के गोपुरम पर सभी नृत्यों का प्रदर्शन है। संगीत के तीन अंगो – वाद्य, गीत तथा नृत्य में अन्तिम रूप से नृत्य की प्रधानता मानी जाती है क्योंकि इसमें वाद्य एवं गान मिश्रित होता है। इसीलिए मध्ययुगीन मन्दिरों में देवता के सम्मुख नृत्य के निमित्त 'नट मण्डप' का निर्माण किया गया है। 'अंशुमद्भेदागम्' के अनुसार नृत्य-मुद्रा के अन्तर्गत शिव अपस्मार पुरुष पर दाहिना पैर रखे हुए प्रदर्शित किये जाते हैं, उनका बायाँ पैर ऊपर उठा हुआ तथा तिरछा रहता है। शिव को चतुर्भुजी दिखलाया जाता है। सामने का बायाँ हाथ गजहस्त मुद्रा में इस प्रकार दिखाया जाता है कि अंगुलियाँ पैर की ओर संकेत करती हों।⁶ सामने वाले दाहिने हाथ में सर्पवलय धारण किये हुए तथा पीछे वाले हाथ में डमरू धारण किये रहते हैं। विशाल प्रभामण्डल एवं विशाल जटा-जूट से युक्त सर्प, अर्द्धचन्द्र और कपाल आदि से सुशोभित होता है। शिव मृग-चर्म धारण किये रहते हैं। उनकी बांयी ओर उमा की भी आकृति उत्कीर्ण की जा सकती है। शिव की नृत्य प्रतिमाएं भारत के विभिन्न भागों में बनायी जाती थी, किन्तु इनकी सर्वाधिक संख्या दक्षिण भारत से ही प्राप्त हैं।

दमोह जिले के पुरास्थल कौंडल (28083' उत्तरी अक्षांश एवं 79044' पूर्वी देशान्तर) से प्राप्त नटराज शिव प्रतिमा है। (छायाचित्र-4) प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर निर्मित की गयी है। अष्टभुजी नटराज के दाहिने हाथों में ऊपर से नीचे क्रमशः गजहस्त मुद्रा, डमरू, नृत्यमुद्रा, त्रिशूल धारण किये हुए तथा बायें हाथों में ऊपर

से नीचे क्रमशः नृत्यमुद्रा, घण्टी, अभयमुद्रा एवं दण्ड धारण किये हुए प्रदर्शित है। शिव के पैरों की स्थिति नृत्य की गतिशीलता एवं लयात्मकता विविध रूपों को अभिव्यक्त कर रही है। प्रभामण्डल से युक्त जटाजूट से शोभित, गले में हार, कान में सर्पाकृत आभूषण, कटि प्रदेश में सर्प—कटिमेखला, सर्पयज्ञोपवीत, हाथ में केयूर एवं कंगन, पैर में पैजनी, सुन्दर अधोवस्त्र तथा लम्बी वनमाला से सुशोभित प्रतिमा दर्शनीय है। इसमें शिव के सौम्य नृत्य का निरूपण मिलता है। शिव आकृति के पीछे नन्दी स्वामी के नृत्य को उत्सुकतापूर्वक देख रहा है। नीचे त्रिभंग मुद्रा में उपासक प्रतिमा के बायीं ओर मृदंग एवं दायीं ओर मजीरा बजा रहा है। सभी आकृतियाँ तन्मयतापूर्वक शिव नृत्य का अवलोकन करती दिखायी गयी है। ऊपर दोनों तरफ मालाधारी विद्याधर का अंकन है।

प्रतिमा पूर्व मध्य काल की है। प्रतिमा में आनन्दरूपी ताण्डव विशेष दर्शनीय है। आनन्द ताण्डव मुद्रा में नटराज प्रतिमाएँ कम निर्मित हुई हैं।

नोहेलेश्वर मन्दिर (नोहटा) के सिरदल में नटराज शिव का सुन्दर अंकन है। यहाँ शिव को अष्टभुजी जो त्रिशूल, सर्प, दण्ड, विषपात्र धारण किये दिखलाया गया है। वे जटाजूट मुकुट, कुण्डल, माला, यज्ञोपवीत, कटिमेखला तथा अधोवस्त्र धारण किये हैं। दायाँ पैर मुड़ा हुआ तथा बायाँ पैर ऊपर उठा है, सौम्य मुख मुद्रा दिखलाया गया है। नीचे नन्दी एवं गण वादक बाजते एवं नृत्य करते शिल्पांकित किये गये हैं।

मोहड़ से प्राप्त एक खण्डित वास्तुखण्ड सिरदल भाग पर चतुर्भुजी नटराज का अंकन है। (छायाचित्र—5) जिसमें बायाँ पैर जमीन पर तथा दायाँ पैर ऊपर तिरछा उठा हुआ है। सामने का बायाँ हाथ गजहस्त मुद्रा में इस प्रकार दिखलाया गया है कि अंगुलियाँ दायें पैर की ओर संकेत कर रही हैं। सामने का दायाँ हाथ ऊपर उठा हुआ है। पिछले दायें हाथ में दण्ड एवं पिछले बायें हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए हैं। जटाजूट, गले में हार, कंगन यज्ञोपवीत, अधोवस्त्र धारण किये हुए दिखलाया गया है। सिरदल के ऊपरी भाग में देव—गण एवं त्रिभंग मुद्रा में गर्न्धव का अलंकरण है। निचले भाग में उपासक एवं उपासिका का सुन्दर अलंकरण है।

शिव के नृत्य में सृष्टि का गूढ़ रहस्य अन्तर्निहित है। शिव का नृत्य जहाँ एक ओर सृष्टि की गतिशीलता को व्यक्त करता है, वहीं नृत्य में अभिव्यक्त शिव का शारीरिक सन्तुलन एवं नृत्य की लयात्मकता सम्पूर्ण सांसारिक गतिविधियों, अज्ञानता और अन्धकार पर पूर्णकाम शिव के नियन्त्रण का सूचक है।^१ शिव का ताण्डव नृत्य प्रलय की भंयकरता (हाथों में अग्नि, सर्प, त्रिशूल) को व्यक्त करता है। नटराज स्वरूप में उनके अन्य सामान्य नृत्य जीवन की लयात्मकता और गतिशीलता को प्रकट करते हैं।

नटराज प्रतिमायें दमोह क्षेत्र के शिव मन्दिरों में देखने को मिल जाता है। जैसे सकौर, कौंडल, नोहटा, मोहड़ आदि। इसके अतिरिक्त सर्वेक्षण से भी कई स्थानों से नटराज प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। जैसे गुबरा, मोहन्ना, कुसुमीमानगढ़, नकटखेड़ा आदि। शिव 'आदिनट' हैं तथा उनके प्रति श्रद्धा—प्रदर्शन के लिए उन्हें नटराज कहा जाता है। वे अपने नृत्य से पांच महाकृत्यों का सम्पादन करते हैं — सृष्टि, पालन, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह।^१ जब वे जगत का विनाश करते हैं तो ताण्डव नृत्य की गति इतनी तीव्र हो जाती है कि सारे पदार्थ अणु कणों में बिखरते हैं और फिर जब शान्त होते हैं तो नये संसार की रचना करते हैं।^१

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि दमोह क्षेत्र में पूर्वमध्य काल में शिव एवं शिव परिवार से सम्बन्धित प्रतिमाओं का प्रचलन व्यापक रूप से प्रचलित था। यह काल खण्ड कलचुरि एवं चन्देल राजवंशों से सम्बद्ध रहा है, जिसके फलस्वरूप इन प्रतिमाओं में इनकी शैलियों का दर्शन दिखलायी देता है। सर्वेक्षण से उपलब्ध शिवलिंग, उमा—माहेश्वर एवं नटराज प्रतिमाओं में अलग—अलग भाव—भंगिमा दिखलायी पड़ता है। सकौर से प्राप्त शिवलिंग का ब्रह्मभाग—चौकोर, विष्णुभाग—अष्टकोणीय तथा भोगभाग वृत्ताकार है। धरी माल से प्राप्त उमा—माहेश्वर की प्रतिमा ललितासान मुद्रा में दिखलाया गया है। प्रतिमा में दोनों को आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित दिखलाया गया है। नोहटा, मोहड़, कौंडल आदि से प्राप्त नटराज प्रतिमाओं में नटराज शिव को नृत्य के भाव—भंगिमाओं से पूर्ण प्रदर्शित किया गया है। शिव का सौम्य और ताण्डव रूप प्रदर्शित करने वाली प्रतिमाएँ मध्यकाल में बड़ी संख्या में निर्मित हुईं।^१ ये सभी प्रतिमायें किसी मन्दिर स्थापत्य शिल्प से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं जिससे यह अनुमानित किया जा सकता है कि दमोह क्षेत्र में शैव सम्प्रदाय की प्रधानता थी।



¼1½



¼2½



¼3½



¼4½



¼5½

Nk;k fp= I i ; k ¼ 1&5

I UnHk ¼

1. जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् सैदपुर, पटना, 2014, पृ. 21
2. अपराजितपृच्छा (भवुनदेव), गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज, बड़ौदा, 1950, 196/61-62,
3. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, प्रियबाला शाह (सं.), बड़ौदा, 1958, 105, 8-10
4. रूपमण्डन (सूत्रधारमण्डल), बलराम श्रीवास्तव, (सं.), वाराणसी, 1996, 4, 27-29
5. श्रीवास्तव, बृजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा-विज्ञान एवं मूर्ति-कला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2010, पृ. 68
6. तिवारी, मारुतिनन्दन, कमलगिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1997, पृ. 70
7. सिन्हा, पुष्पा, बिहार, की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2010, पृ. 66
8. चन्द्र, दिनेश, प्रतिमा विज्ञान एवं दर्शन, स्वागत एपार्टमेंट, अहमदाबाद, 1994, पृ. 80
9. वाजपेयी, सन्तोष कुमार, गुप्तकालीन मूर्तिकला का सौन्दर्यात्मक अध्ययन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1992, पृ. 136



vk/kfud nfyr vkUnkyu vkj vxjt h jkt

'kf'kd'k dekj xkM*

आन्दोलन एक ऐसा शब्द है जिसका आमतौर पर प्रयोग किसी समूह या क्षेत्र विशेष में निवास करने वाले उन मानवों के संदर्भ में किया जाता है, जो अपने राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों को संगठित रूप से प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहते हैं। जिसके लिए वह लगातार एक जुट होकर कार्य करते हैं, परन्तु ऐसा तब होता है जब उनमें चेतना का विकास हो और इस चेतना को विकसित करने का कार्य उस समाज, समूह या राष्ट्र के सम्बन्धित बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा किया जाता है। यह क्रिया वैसे ही होती है जैसे शान्त पानी में पत्थर मारने पर वह स्पन्दित हो उठता है। इसी तरह दुनिया के इतिहास और अगर हम भारतीय इतिहास में ही देखें तो तमाम आन्दोलन होते रहे हैं, चाहे वह सत्ता प्राप्त करने के लिए हो या सत्ता पर बैठी सरकार हटाने के लिए या फिर किसी समूह द्वारा अधिकारों को प्राप्त करने के लिए समाज में अथवा सरकार के खिलाफ चलाया गया आन्दोलन हो।

इसी प्रकार आधुनिक भारत में हुए दलित आन्दोलन अपने आप में बहुत ही महत्वपूर्ण रहे हैं, यह आन्दोलन भारतीय समाज के अन्दर व्याप्त अस्पृश्यता को लेकर उन वर्गों द्वारा चलाया गया जो वर्षों से इसका सामना करते आए थे। जो सामाजिक ढाँचे में सबसे पिछले पायदान पर खड़े थे। जिनके मौलिक अधिकार उनसे छीन लिए गये एवं वह अबाध्य रूप से अंग्रेजी राज के कायम होने तक इसे झेलते रहे थे। अगर हम इतिहास में देखें तो पाएंगे कि इसके पीछे जो कारण है वह भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था थी जिसमें बाद में व्याप्त बुराइयों से हजारों जातियों का जन्म हुआ। प्रारम्भ में मुख्यतः चार वर्ण थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र और यह व्यवस्था अपने शुरुआती समय में बहुत लचीली थी, परन्तु उत्तर वैदिक काल के बाद तथा मुख्यतः गुप्त काल आते-आते कठोर होती चली गयी और भारतीय सामाजिक व्यवस्था में चौथे वर्ण की स्थिति खराब हो गयी, जिन्हें शुरु से ही निम्न कोटि के कार्यों के लिए चुना गया जिसमें खेती के कार्य, गन्दगी साफ-सफाई के कार्य, मरे हुए जानवरों को हटाना, उनकी चमड़ी साफ करना एवं चमड़े के कार्य आदि शामिल थे। अम्बेडकर के शब्दों में कहें तो असल में यह पाचवाँ वर्ण "अछूत" था। उपर्युक्त कारणों की वजह से इन्हें अछूत, चाण्डाल, अत्तज्य और अस्पृश्य कहा गया। जिनको द्विज संस्कार से वंचित रखा गया क्योंकि यह अपवित्र थे, इसलिए इनकी बस्तिया गांवों से दूर या बाहर रखी गयी। अगर हम उत्तर वैदिक युग के बाद के कालों में देखें तो पायेंगे कि इन पर प्रतिबन्ध और कड़े होते चले गये। इन्हें विद्या अर्जन, सम्पत्ति अर्जन और वेद पाठ से वंचित करने के साथ-साथ हिन्दू पूजा स्थलों अर्थात् मंदिरों में प्रवेश पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। इसके अलावे उच्च तीन वर्णों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले तालाब, कुओं एवं अन्य सार्वजनिक स्थलों पर इनके प्रवेश तथा प्रयोग पर भी रोक लगा दी गयी। बाद के वर्षों में स्थिति यह हो गयी कि यह अपने पैरों के पीछे झाड़ू एवं गर्दन में हाण्डी बाँधे चलते थे ताकि इनके स्पर्श से कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति अपवित्र न हो जाए। इसके साथ ही इनके पहनावे भी निर्धारित किये गये, यह उच्च तीन वर्णों के रहन-सहन की नकल नहीं कर सकते थे, इनके दण्ड विधान भी अलग एवं कठोर होते थे। अतः उचित न्याय न मिल पाने के कारण यह निष्पक्ष न्याय के लिए किसी के पास नहीं जा सकते थे।

इस प्रकार वर्षों से भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा जिन्हें बाद में "दलित" पुकारा गया इस दंश को झेलते आया था।

*असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, बसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी ।

दलित शब्द 1930 के दशक में उन जातियों के लिए प्रयोग किया गया जो हजारों वर्षों से भारतीय समाज में अस्पृश्यता की श्रेणी में बनी रही। 1930 के दशक में पद दलित वर्गों के लिए हिन्दी एवं मराठी लेखों के अनुवाद में इसका प्रयोग किया गया। इसी वर्ष एक समाचार पत्र “दलित बंधु” जो पुणे से प्रकाशित किया गया था। इस शब्द का सबसे पहले उपयोग उसी ने किया था। अपने मराठी भाषणों में बाद के वर्षों तक डॉ० बी०आर० अम्बेडकर ने इस शब्द का उपयोग खूब किया। जिसे अम्बेडकर ने 1948 में अपनी पुस्तक “द अनटचेबुल्स” में खण्डित व्यक्तियों दलित के एक अंग्रेजी अनुवाद को अस्पृश्यों के मूल पूर्वजों को संदर्भित करने के लिए किया, जो आज अनुसूचित जातियाँ कहलाती हैं। दलित पैन्थरों ने इस शब्द को पुनर्जीवित किया एवं 1973 के अपने घोषणा पत्र में अनुसूचित जातियों, जनजातियों, नवबौद्धों, कामगारों, भूमिहीन एवं गरीब कृषक, महिलाओं और उन सभी को जिनका राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से व धर्म के नाम पर शोषण किया जाता है, इन सबके लिए इस शब्द को विस्तृत अर्थ प्रदान किया। वैसे इस शब्द का शाब्दिक अर्थ दबाया, कुचला, रौंदा या विनष्ट किया हुआ होता है।

अंग्रेजी राज ने भारत में इस वर्ग को एक समान कानून व्यवस्था और शिक्षा के अवसर को प्रदान किया, जिसका लाभ इस समाज को मिला परन्तु दलित वर्ग के सामने औपनिवेशिक काल में जो सबसे बड़ी चुनौती थी वह एक तो स्वयं को समाज में उचित स्थान देना वही दूसरी ओर देश की आजादी के लिए संघर्ष करना। इसलिए डॉ० अम्बेडकर बराबर इस चिन्ता से ग्रस्त रहे कि स्वतंत्रता के समय तक दलित आन्दोलन अपने उद्देश्य में सफल हो जाए। जिस संदर्भ में वह बराबर संघर्ष करते रहे और दलित वर्गों के सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए प्रयासरत थे। हालाँकि दूसरी तरफ से कांग्रेस भी इस बात का लगातार आश्वासन देती रही कि स्वतंत्र भारत में दलित वर्ग के लिए बराबर का अधिकार होगा और स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को कानूनी रूप से दण्डनीय अपराध घोषित किया गया जिसका श्रेय देश के पहले कानून मंत्री और संविधान निर्माता डॉ० अम्बेडकर को जाता है, परन्तु इन सबके पीछे वर्षों से चले आ रहे दलित आन्दोलनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। जो अंग्रेजी काल के दौरान अपने आधुनिक स्वरूप में प्रकट हुए। दलित आन्दोलन के विकास में दलित चेतना का महत्वपूर्ण योगदान है जिसकी शुरुआत मध्यकाल में कबीर, रैदास और चोखामल जैसे महान सामाजिक व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ कर दी गयी थी। अंग्रेजी शासन के स्थापित होने के पश्चात जब शिक्षा का प्रसार इसाई मिशनरीयों द्वारा प्रारम्भ किया गया तो इस वर्ग को बहुत लाभ पहुँचा इसके अलावे अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने इस वर्ग के लोगों को पढ़ने के अवसर प्रदान किए परिणाम स्वरूप यह वर्ग अपने अधिकार के लिए जागरूक होता चला गया। इस वर्ग का आन्दोलन 19वीं और 20वीं शताब्दी में जोर पकड़ना प्रारम्भ कर दिया जब दक्षिण में गैर ब्राह्मण आन्दोलन की शुरुआत हुई। जिसमें ज्योतिबाँ फूले अग्रणी रहे, दलित और स्त्रियों को लेकर सबसे अधिक चिन्ता और पीड़ा महात्मा ज्योति बाँ फूले को थी, जिन्होंने ब्राह्मणवाद के खिलाफ आक्रामक आन्दोलन छेड़ा, जिस पर आगे पेरियार (नारायण गुरु) अम्बेडकर और गाँधी जी भी बढ़े। यदि अम्बेडकर न होते तो सम्भवतः जाति प्रथा और छूआ-छूत के विरुद्ध गाँधी जी का आन्दोलन भी उतना उग्र रूप धारण करता और न ही कांग्रेस इसे अपने महत्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक बनाती।

बहरहाल फूले-अम्बेडकरवादी प्रवचन इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि जिस तरह भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद की एक अवस्था से गुजरा उसी प्रकार पूर्व में भारत अपने इतिहास के विभिन्न स्तरों में ब्राह्मणवादी साम्राज्यवाद से गुजरा है तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अनजाने में ही ब्राह्मण साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए कुछ सामान्य एवं संज्ञानात्मक उपकरण उपलब्ध कराए। साम्राज्यवादी काल में नयी भूमि व्यवस्था ने पुराने प्रभुत्वशाली वर्ग की जगह नये प्रभुत्वशाली वर्ग को जन्म दिया। ब्रिटिश प्रशासन की नई नौकरशाही व्यवस्था के साथ ही संचार अधिकरण एवं संरचना विकास ने रोजगार के नये आयाम खोले जिसके परिणाम स्वरूप नगर एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों के मध्य श्रम का प्रवजन बढ़ा अर्द्धग्रामीण समाज के निम्न तबके के कुछ लोगों ने अंग्रेजों द्वारा प्रारम्भ की गई विकास की परियोजनाओं का लाभ उठाया और इस प्रक्रिया में वह नगरीय पर्यावरण के सम्पर्क में आये। अतः निम्नस्तर के अनेक गैर ब्राह्मण ठीक-ठाक सम्पत्तिवान हुए वे कृषक नहीं थे, वरन् गरीब और उदीयमान लोग थे जो अंग्रेजी परियोजनाओं में ठेकेदारी

का कार्य करते थे। इन्हीं परिवारों में से महाराष्ट्र में ज्योति बाँ फूले का भी एक परिवार था जिसकी आर्थिक स्थिति तो कुछ ठीक थी एवं जिसका पुस्तैनी धन्धा फूल बेचने का था, परन्तु माली परिवार से होने के नाते समाज में उन्हें कड़ प्रकार के भेद-भाव का सामना करना पड़ा था। अतः फूले ने अंग्रेजों को इस जाति व्यवस्था से अवगत कराने और उन्हें शिक्षित करने के लिए, शूद्रों, अति शूद्रों एवं महिलाओं के मुक्ति के सन्दर्भ में एक सामाजिक आन्दोलन खड़ा किया। उन्होंने दक्षिण भारत में ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती दी और बताया कि कैसे ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने गैर ब्राह्मण वर्गों को न केवल गुलाम बनाया बल्कि उनकी सम्पत्ति पर भी कब्जा जमाया हुआ है, वह आगे बताते कि कैसे जनसंख्या में केवल 3 प्रतिशत होने के बावजूद उन्होंने 97 प्रतिशत लोगों के हक की सरकारी नौकरियों में कब्जा जमाया हुआ है। वह अपनी पुस्तक गुलामगीरी में बताते हैं कि निम्न जातियाँ जिन्हें कभी-कभी “शूद्र एवं अति शूद्र कहते हैं और जो कुम्बी, माली, ढंगर, भील, कोली महार एवं भंग के रूप में सूचीबद्ध थी, असल में वह देश की मूल निवासी थी जिन्हें विजेता आर्यों ने दास बनाया और शोषित किया।” उन्होंने अपनी बातों को वैधता प्रदान करने के लिए उन्हीं के द्वारा एक साधन के रूप में जाति आधारित हिन्दुत्व का निर्माण किया गया। ज्योतिराव का यह निश्चित एवं वास्तविक मत था कि भारत का प्राचीन इतिहास ब्राह्मणों एवं गैर ब्राह्मणों के मध्य संघर्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उन्होंने ब्राह्मणवाद की कड़ी आलोचना की उनका मत था कि ब्राह्मणों की शक्ति, उच्चता एवं विशेषाधिकार उनके धर्म ग्रंथों एवं पुराणों में निहित है जिनका सृजन जाति व्यवस्था के निर्माण एवं निम्न वर्गों के शोषण हेतु किया गया था। अतः उन्होंने पवित्र धार्मिक ग्रंथों की पुनर्व्याख्या की जिसमें विष्णु के नौ अवतारों को आर्यों की विजय के स्तरों के रूप में किया तथा अभिजात्य के रूप में राम, गणपति एवं काली के विरोधी प्रतीक के रूप में राजाबलि का उपयोग करके किया। अपने जीवन की महत्वाकांक्षा एक जाति विहीन समाज की स्थापना को पूरा करने के लिए 24 सितम्बर 1973 में सत्य शोधक समाज की स्थापना की एवं समाज में बालिकाओं तथा अस्पृश्यों के लिए पहली महिला पाठशाला खोला। फूले ने ब्राह्मणी व्यवस्था को चुनौती देने के लिए ही पुजारी विहीन विवाह तथा विधवा पुनर्विवाह करवाए।

इस प्रकार फूले द्वारा चलाये गये दलित चेतना आन्दोलन का महाराष्ट्र में व्यापक प्रभाव पड़ा जो अन्य आन्दोलनों के लिए एक प्रेरणा स्रोत का कार्य किया। 19वीं शताब्दी के मध्य और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक दलित चेतना के विकास के साथ-साथ दक्षिण भारत के कुछ राज्यों में दलित आन्दोलन चलाए जाते रहे— अपर ब्रेस्ट क्लाथ मूवमेन्ट — दक्षिण भारत में यह लगभग 19वीं शताब्दी (1828) में प्रारम्भ हुआ आन्दोलन था यह आन्दोलन दक्षिण भारत की उन निम्न वर्गीय महिलाओं से सम्बन्धित है जिन्हें उच्च वर्गों द्वारा “ऊपरी अंगवस्त्र पहनने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।” यह परम्परा 14वीं शताब्दी से शुरू थी लेकिन 18वीं शताब्दी में जब इसाई मिशनरी भारत में आए तो इन्होंने कन्या कुमारी और तनुमेली के निम्नजातियों को इसाई धर्म में दीक्षित कर यह बताया कि सभी महिलाओं को ऊपरी अंगवस्त्र पहनने का अधिकार है। अतः इस संदर्भ में मिशनरीयों और कम्पनी के माध्यम से वहाँ के शासक पर यह दबाव बनाया गया कि समाज से इस मुक्ति को समाप्त किया जाए। अतः 26 जुलाई 1828 को त्रावणकोर के राजा ने यह आदेश दिया कि सभी वर्गों के लोगों को ऊपरी अंगवस्त्र पहने का अधिकार है। यह आदेश “त्रावणकोर घोषणा” के नाम से जाना जाता है।

नाडार आन्दोलन — तमिलनाडु के रामनाड जिले की ताड़ी निकालने वाली कृषि श्रमिक एवं अस्पृश्य जनजाति जिन्हें “शाना” कहा जाता था वह 19वीं शताब्दी के अन्त तक समृद्ध जाति वर्ग के रूप में उभरने लगी थी। जिसने अपने आप को क्षत्रिय घोषित कर “नाडार” का गौवरक्पूर्ण नाम प्राप्त किया।

जिसने 1910ई0 में “नाडार महाजन संगम” की स्थापना की एवं उच्च वर्गीय रीति-रिवाज को अपनाते हुए इन्होंने ब्राह्मणीय व्यवस्था में अपने को श्रेष्ठ वर्ग में लाने के लिए आन्दोलन चलाया।

इसी प्रकार उत्तरी तमिलनाडु के एक व्यक्ति ने पल्ली 1871 में अपने लोगों को उच्च वर्ग में क्षत्रिय घोषित कर आन्दोलन चलाया परिणामस्वरूप पल्ली समुदाय भी बनिया कुल क्षत्रिय कहलाने लगा। सुदूर दक्षिण के इन आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि 20वीं सदी के आते-आते केरल के शूद्र और अति शूद्रों ने सड़कों पर चलने के अपने अधिकारों की लड़ाई भी जीत ली।

20वीं सदी के द्वितीय दशक के शुरुआत के पश्चात आधुनिक भारत में दलित आन्दोलनों ने जोर पकड़ा। यह आन्दोलन लगभग पूरे भारत में भिन्न-भिन्न समयों पर चलाए गये जिनके उद्देश्य और परिणाम अलग-अलग थे किन्तु इनकी सामूहिक विशेषता यह थी कि दलित वर्ग द्वारा अपने अधिकारों को लेकर चलाए जाने वाले आन्दोलन थे। इस दौर में हमें दलित आन्दोलनों में तेज और व्यापक होने के कई कारण दिखाई देते हैं। जिसमें पहला है एक समान अंग्रेजी कानून व्यवस्था, दूसरा भारत में विभिन्न हिस्सों में राष्ट्रीय स्तर पर दलित प्रतिनिधित्व का आगमन मसलन पेरियार, नरायण गुरु, डॉ० अम्बेडकर आदि। तीसरा वे विभिन्न आन्दोलन और पार्टियाँ जो दलित वर्ग के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी जैसे जस्टिस पार्टी, अद्वैत आन्दोलन, आदि धर्म आन्दोलन, नाम शूद्र आन्दोलन, मंदिर प्रवेश आन्दोलन और आत्म सम्मान आन्दोलन आदि। जबकि चौथे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अस्पृश्यता और दलित वर्गों के उत्थान के लिए गांधी जी के माध्यम से चलाए गये आन्दोलन। जिनका परिणाम यह हुआ कि दलित वर्ग अपने राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उठ खड़ा हुआ, जिसमें जागरूकता लाने के लिए उपर्युक्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान था।

जस्टिस पार्टी की स्थापना 1916 में की गयी। जिसके पीछे का मुख्य उद्देश्य एक गैर ब्राह्मण पहचान खड़ी करना था, जिसमें तमिल भाषा को केन्द्र में रखकर एक राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया गया। इस गैर ब्राह्मण पार्टी ने अपना एक गैर ब्राह्मण घोषणा पत्र भी जारी किया। जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने वैसे ही गैर ब्राह्मणों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की जैसे 1909 के मार्ले मिन्टो रिफार्म में मुसलमानों को दिया गया था। जिसे नौकरशाही ने इसका समर्थन करते हुए 1919ई० के चेम्स फार्ड सुधारों में स्वीकार कर लिया। जिसके बाद मद्रास की विधायिका में गैर ब्राह्मणों के लिए 28 सीटें आरक्षित की गयी। इस पार्टी के संस्थापकों में टी०एम० नायर, मुदलियर और त्यागराज सेट्टी प्रमुख थे। पार्टी ने 1920 के चुनाव में अपार सफलता हासिल की परन्तु यह धनी भूस्वामियों, चेट्टियों, वेल्लालो, नाथरो का समर्थन प्रान्त करने के बावजूद अपने मूल उद्देश्यों से भटक गयी। परिणाम स्वरूप एम०सी० राजा के नेतृत्व में अछूतों का समूह इससे अलग हो गया। इस प्रकार धीरे-धीरे इस पार्टी ने अपनी राजनीतिक पराकाष्ठा को खो दिया।

पेरियार और आत्म सम्मान आन्दोलन : दक्षिण भारत में जस्टिस पार्टी अगर धीरे-धीरे अपनी राजनीतिक महत्व हीनता के गर्भ में समा रही थी, तो लगभग उसी समय गैर-ब्राह्मण आन्दोलन के अन्दर ही एक अधिक रैडिकल और लोकरंजक प्रवृत्ति ई०वी० रामा स्वामीनायकर “पेरियार के नेतृत्व में” “आत्म सम्मान” आन्दोलन के रूप में पैदा हुई। कभी कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता रहे, परन्तु 1925 ई० में इन्होंने कांग्रेस छोड़ दी क्योंकि वह गैर ब्राह्मणों के लिए न कुछ कर रही थी और न ही इसकी इच्छुक थी। यह 1927 में गांधी की मद्रास यात्रा के दौरान उनके ब्राह्मणों और वर्णाश्रम समर्थन के उद्गारों से चिढ़ गये और इनको विश्वास हो गया कि कांग्रेस कभी गैर-ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इसी के पश्चात ही इन्होंने आर्यवाद, ब्राह्मणवाद और हिन्दू धर्म की प्रचंड आलोचना शुरू की, इनकी राय में शूद्रों, आदि द्रविड़ों और स्त्रियों की अधीनता के अनेक ढांचे तैयार किये थे। पेरियार को पक्का विश्वास था कि जातिवाद एवं हिन्दुत्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे चाहते थे कि हिन्दुत्व जिस रूप में उन्होंने उसे देखा वह पूर्णतः समाप्त हो जाए। अतः इनका आन्दोलन एक प्रजातीय चेतना की ओर मुड़ा और द्रविड़वादी आन्दोलन बन गया जिसका उद्देश्य था आर्यों के प्रभुत्व के विरुद्ध द्रविड़ अधिकारों की रक्षा करना। अतः 1925 में इन्होंने आत्म सम्मान आन्दोलन गठित किया जिसकी रचना द्रविड़ों के उत्थान के एक आन्दोलन के रूप में की गयी और जो ब्राह्मणों की निरंकुशता एवं कपटी पद्धतियाँ जिनके द्वारा वह हिन्दू समाज के सभी पक्षों को नियंत्रित करते थे को उजागर करना था। नायकर ने पुराणों की परिकथाओं को एक ऐसी प्रथा के रूप में देखा जो केवल काल्पनिक और अलौकिक ही नहीं वरन् घोर अनैतिक भी थी जिसकी सार्वजनिक रूप से उन्होंने भर्त्सना की, इसलिए उन्होंने हिन्दू प्रभुत्व के विरुद्ध द्रविड़ आन्दोलन का प्रचार-प्रसार किया। जिनके अनुसार एक हिन्दू वर्तमान अवधारणा में द्रविड़ तो हो सकता है, परन्तु एक द्रविड़ शब्द वास्तविक अर्थ में न तो हिन्दू हो सकता है और न कभी होगा। अपनी पुस्तक “द रामायण” टू रीडिंग के आमुख में नायकर ने कहा कि

इस कथा का तमिलनाडु में और अधिक समय तक आदर करना समुदाय एवं देश के स्व सम्मान के लिए हानिकारक है। 1930 के समय यह आन्दोलन अपने चरम पर था। जब हिन्दू ग्रन्थों की भत्सना करते हुए मनु स्मृति की होली जलायी गयी।

वायकोम सत्याग्रह 1924-25 - केरल में छूआ-छूत का रोग भी गहरी जड़ जमाए हुए था। दलित वर्ग यानी अछूत भी सामाजिक प्रतिबन्धों को झेल रहे थे। यहाँ की एझवा और पुहैया अछूत जातियों को सवर्णों से क्रमशः 16 से 32 फुट की दूरी बनाए रखनी पड़ती थी। त्रावणकोर के एक गांव वायकोम से इसकी शुरुआत हुई। इस गांव के मंदिर के चारों ओर सड़कें थी, जिस पर अछूत वर्गों को चलने की मनाही थी। 30 मार्च 1924 को कांग्रेसियों के नेतृत्व में सवर्ण और अवर्णों ने इस को प्रारम्भ किया, नायर सर्विस सोसाइटी ने भी इस आन्दोलन को समर्थन दिया। जिसे बाद में गांधी का भी समर्थन प्राप्त हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ कि उन जातियों को मंदिर के रास्ते का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसी तरह के कुछ और मंदिर-प्रवेश आन्दोलन इसी समय चलाए गये जैसे- गुरुवायर सत्याग्रह 1931-33 केरल में, काला राम मंदिर सत्याग्रह डॉ० अम्बेडकर के नेतृत्व में महाराष्ट्र, इन्हीं के ही सफल नेतृत्व में माहाड़ तलाब सत्याग्रह भी चलाया गया जो सफल रहा। भारत के विभिन्न राज्यों में भी कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण दलित आन्दोलन चलाए गये जैसे बंगाल में नाम शूद्र आन्दोलन जो 1872 से प्रारम्भ होकर 1910 ई० तक चला जिसे हरीचंद ठाकुर ने नेतृत्व प्रदान किया। श्री नारायण गुरु एवं श्री नारायण धर्मपरिपालन योगम द्वारा दक्षिण में 'एझवा जाति' के लिए चलाया गया अछूत आन्दोलन। 1925 में पंजाब में मंगू राम द्वारा चलाया गया आद धर्म आन्दोलन, 1927 में उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानंद द्वारा चलाया गया आदि हिन्दू आन्दोलन।

इन्हीं सब के बीच दलित सुधार आन्दोलनों में 20वीं शताब्दी में जिस व्यक्ति का नाम सर्वोपरि है और जिसने दलित वर्गों के लिए बुनायादी स्तर पर सामाजिक एवं राजनीतिक लड़ाई लड़ी वह कोई और नहीं बल्कि उच्च शिक्षा प्राप्त डॉ० बी०आर० अम्बेडकर थे, जिन्हें बाद में स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने का कार्य सौंपा गया। यह अकेले व्यक्ति थे जिन्होंने दलितों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बात ब्रिटिश सरकार के सामने बार-बार रखी और लण्डन में 1931-32 में आयोजित तीनों गोलमेज सम्मलेन में भाग लिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि अंततः गांधी जी के साथ 1932ई० में पूना समझौते के पश्चात विधान सभाओं में दलित वर्गों के लिए सीटों की सुरक्षा प्रदान की गयी, जो अम्बेडकर की एक बड़ी जीत थी, हालाँकि डॉ० अम्बेडकर इससे कभी संतुष्ट नहीं थे। बहरहाल डॉ० अम्बेडकर भारतीय जाति व्यवस्था में अछूतों के इतिहास पर अध्ययन करते हुए इन्हें पांचवीं श्रेणी का मानते हैं जो शूद्रों से भी नीचे है। जिनका यह तर्क था कि इनका कोई लिखित इतिहास न होने के कारण ही यह पिछड़ी हुई अवस्था में है, जिन्हें गर्त में ढकेला जाता रहा। इसलिए अम्बेडकर इस वर्ग को ब्रोकन पीपुल्स कहते हैं। अर्थात् भारतीय समाज रूपी पेड़ की यह टूटी हुई डाल के समान है, जिन्हें वर्षों से इसी अवस्था में रखा गया है। अतः डॉ० अम्बेडकर ने इस वर्ग में भरपूर चेतना लाने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने "मूक नायक" नामक अपनी पत्रिका प्रारम्भ की, मंदिर प्रवेश आन्दोलनों में भाग लिए एवं नेतृत्व किया, ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डलों से समय-समय पर मुलाकात कर दलित वर्ग के प्रतिनिधित्व की माँग रखी। इसके साथ ही साथ इन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर "ऑल इण्डिया डिप्रेस क्लास एसोसिएशन" का प्रतिनिधित्व किया। इनका मानना था कि दलित वर्ग की समस्या और समान प्रतिनिधित्व को स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व सुलझा लेना चाहिए क्योंकि कांग्रेस और गांधी जी पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। अतः वह अपने पूरे समय दलित वर्ग के उत्थान कार्यों में जुटे रहे और इसी कारण कांग्रेस एवं गांधी जी के साथ इनके वैचारिक मतभेद जीवन पर्यन्त बना रहा।

अतः औपनिवेशिक काल में जो दलित आन्दोलन हुए उनमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गयी क्योंकि वह दलित वर्ग में आयी चेतना के विकास का परिणाम था। हालाँकि औपनिवेशिक काल में जो छोटे बड़े दलित आन्दोलन हुए उनकी प्रवृत्ति और उद्देश्य दलितों को सामाजिक उत्थान और राजनीतिक अधिकार दिलाना प्रमुख था। अंग्रेजी शासन का इन दलित आन्दोलन और दलित वर्ग पर गहरा ही प्रभाव पड़ा अगर अप्रत्यक्ष रूप से कहा जाए तो इनको अलग पहचान दिलवाने, शिक्षित करने, कांग्रेस का इस ओर ध्यान खींचने और दलित नेताओं को प्रोत्साहित करने का काम किया।

I UnHk %

1. माइकल, एस0एम0, आधुनिक भारत में दलित दृष्टि एवं मूल्यांकन : रावत पब्लिकेशन, दिल्ली 1999
2. जिलियट, एलेनार, गांधी अम्बेडकर एण्ड अनटचेबुल्स : रावत पब्लिकेशन, दिल्ली, 1970
3. जयसवाल, सुविरा, वर्ण जाति व्यवस्था उद्भव प्रकार्य और रूपान्तरण : ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2004
4. श्रीनिवास, एम0एन0, आधुनिक भारत में जाति : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001
5. श्रीनिवास, एम0एन0 आधुनिक भारत में समाजिक परिवर्तन : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967
6. डॉ0 अम्बेडकर, बी0आर0, अस्पृश्य कौन और क्यों : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन, 2010
7. शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001
8. अम्बेडकर, बी0आर0, शूद्र कौन : कंचन प्रकाशन दिल्ली, 2006
9. मंत्री, गणेश, गांधी और अम्बेडकर : प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1998
10. दूबे, अभय कुमार : आधुनिकता के आईने में दलित : वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002
11. लाल, अंगने, राज, राहुल, उत्तर प्रदेश में दलित आन्दोलन : गौतम बुक सेन्टर, 2011
12. बंधो उपाध्याय, शेखर : पलासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएण्ट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली, 2007
13. ओमवेट, गेल, दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति : रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011
14. डॉ0 लोहिया, राममनोहर, हिन्दू बनाम हिन्दू : लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
15. Dirniks. B. Nicholas, Caste of Mind. Colonialism and Making of Modern India : Oxford, Delhi, 2002
16. Jaffralat, Chiastophe, India's Silent Revolution. The Rise of the Low Castes in North Indian Politics : Permanent Black Publication, Oxford, Delhi, 2005
17. Kothari, Rajni, Caste in Indian Politics : Orient Blackrwan Publication, New Delhi, 2011



उन्मेष के माध्यम से स्त्री-पुरुष के संबंध का विश्लेषण

MkO jkd'k dekj ek;*

मनु स्त्रियों को समाज में उचित स्थान देने के पक्षधर हैं। सांसारिक एवं आत्मिक प्रसन्नता के लिए स्त्री एवं पुरुष का परस्पर सहयोग आवश्यक है।¹ व्यक्ति तब तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक उसकी पत्नी उसकी सहयोगी नहीं बनती। सर्वशक्तिमान ईश्वर ने जब सृष्टि रचना करने की इच्छा प्रकट की तो स्वयंभू ने स्वयं को ही दो भागों में विभाजित कर दिया। एक भाग में पुरुष और दूसरे भाग से स्त्री का जन्म हुआ।² यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह भी है कि ईश्वर के विधान में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान हैं, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। स्त्री, शूद्रों की तरह ब्रह्मा के पदों से उत्पन्न नहीं हुई है। अस्तु उसका स्थान पुरुष के समकक्ष है। गृहस्थी का कार्य स्त्रियाँ सरलता से कर सकती हैं। इसलिए वह गृहस्थी है।³ वह घर से बाहर की परिस्थितियों का सामना सरलता से नहीं कर सकती। इसलिए उसे बाहर स्वतन्त्र होकर नहीं घूमना चाहिए। स्त्री-पुरुष की क्षमताएँ भिन्न-भिन्न हैं और उनकी सीमाएँ भी। मनु ने इसे बहुत सावधानी से व्यक्त किया है। पुरुष कठिन और सख्त मेहनत का कार्य कर सकता है जब कि स्त्री नहीं कर सकती। वह घर का कार्य सरलता से कर सकती है।

मनु यह मानते हैं कि स्त्री अधिक भावुक और कम तार्किक बुद्धि की होती है। उनके अंदर किसी वस्तु की प्रशंसा करने की योग्यता कम होती है। उसमें सन्तुलित मस्तिष्क का भी अभाव होता है। स्त्री का स्वभाव तथा लगाव कुछ चीजों से स्वाभाविक रूप से होता है जैसा शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह भाव और दुराचरण।⁴ भगवानदास मनु की भावना को समझते हुए लिखते हैं कि मनु की कल्पना एक सुशील पुरुष और स्त्री की है। दोनों का ही परिवार से लेकर सामाजिक योजनाओं तक भिन्न स्थान है। वरन् दोनों के गुण एक दूसरे के पूरक हैं जो दोनों का जीवन मधुर बनाते हैं।⁵ मनु का विचार है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष का विवाह एक निश्चित आयु में होना चाहिए। उनका यह अनुमान है कि सामाजिक संगठन का आधार लिंग (Sex) की मनोवैज्ञानिक नैतिकता में है। लेकिन वे स्त्री और पुरुष के स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने-जुलने के विरुद्ध हैं उनका विचार है कि दोनों की शारीरिक संरचना में भेद है। दोनों की मनोवृत्तियाँ मूलतः एक दूसरे से भिन्न हैं। अस्तु इन्हें आपस में नहीं मिलना चाहिए। मनु स्त्री को एक तरफ जहाँ साधारण नारी की तरह देखते हैं वहाँ दूसरी तरफ उसे सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में भी देखने का प्रयत्न करते हैं।

मनु एक ऐसे विचारक थे जो किसी भी वस्तु को एकपक्षीय दृष्टि से नहीं देखते थे न ही उस पर विचार करते थे। बल्कि उस वस्तु पर किन-किन वस्तुओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव पड़ रहा है और इसके विपरित उस वस्तु का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? इस दृष्टि से भी किसी चीज का अध्ययन करते थे। अतः वह एक व्यावहारिक-सामाजिक विचारक थे जो प्रकृति के नियम से परिचित थे। इस तथ्य से भिन्न थे कि अगर स्त्री और पुरुष के कार्यों के क्षेत्र का स्पष्टीकरण नहीं होता है तो समाज खतरे में पड़ सकता है।

मनु का विचार है कि लड़की बहुत ही कोमल स्वभाव की होती है। उसका पालन-पोषण बहुत स्नेह और लाड़-प्यार से होना चाहिए।⁶ आपका यह भी कहना है कि परिवार की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वह लड़की को सदैव अच्छे वस्त्रों और गहनों से अलंकृत रखे।⁷ लड़की को पवित्र कार्यों में भी बुलाना चाहिए जैसे श्राद्ध। लड़कियों का नाम बहुत ही सुन्दर रखना चाहिए जो मनोहर और आशीर्वादयुक्त हो।⁸

*प्राचार्य, रामदेव पी0जी0 कॉलेज, जंगीगंज, भदोही

मनु लड़कियों के विवाह के सम्बन्ध में कहते हैं कि लड़की के लिए उपयुक्त वर का होना अति आवश्यक है। जब तक उपयुक्त वर प्राप्त नहीं होता तब तक उसे विवाह नहीं करना चाहिए। भले ही आजीवन अविवाहित रहे। अगर पिता एक निश्चित आयु में लड़की का विवाह नहीं करता है तो लड़की स्वतन्त्र है अपना वर चुनने के लिए। लेकिन यह स्वतन्त्रता भी उपयुक्त वर के लिए ही है। मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि उन लड़कियों का भी विवाह होना चाहिए जिनमें कोई शारीरिक दोष हो। किसी दोष के कारण विवाह न होना अनुचित है। इस तरह दोषयुक्त लड़की का विवाह एक पारिवारिक एवं सामाजिक जिम्मेदारी है।

मनु ने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। भाई-भाई एवं भाई-बहन के बीच सम्पत्ति का बँटवारा निम्न प्रकार से होना चाहिए—

जब तक माता-पिता जीवित हैं सम्पत्ति का अधिकार किसी भी पुत्र को प्राप्त नहीं हो सकता। उनकी मृत्यु के पश्चात् सभी भाई एकत्र होकर उनकी सम्पत्ति का बराबर बँटवारा अपने बीच करें।⁹ यदि माता-पिता में से कोई एक जीवित हो तो सम्पत्ति का बँटवारा नहीं हो सकता। लड़की का कोई अधिकार सम्पत्ति में नहीं होता। लड़की का तो इतना ही अधिकार है कि वह सम्पत्ति की देख-रेख करें एवं उसे सुरक्षित रखें और ऐसा तब तक करे जब तक उसका विवाह नहीं हो जाता। किन्तु माता की सम्पत्ति में लड़की का अधिकार है। माता की मृत्यु के पश्चात् सब सहोदर भाई तथा अविवाहित बहनें उसके धन को बराबर भाग में प्राप्त करती हैं।¹⁰

स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था और न ही वे इनके मन्त्रों को गा सकती थीं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्रियाँ अशिक्षित रखी जाती थीं। सामान्यतः उनकी सामान्य शिक्षा पर भी किसी प्रकार का अंकुश नहीं लगाया जाता था। वे पति के साथ धार्मिक क्रिया-कलापों में भाग ले सकती थीं। अतिथियों का सत्कार करती थीं। अपने पति के शिष्यों पर निगरानी रखती थीं। यह समस्त कार्य तब ही हो सकते हैं जब वे शिक्षित हो। दूसरे शब्दों में पति की शिक्षा से पत्नी स्वतः शिक्षित हो जाती है या उसे पति शिक्षा का ज्ञान सरलता से उपलब्ध हो जाता है। मनु की धारणा है कि नारी का क्षेत्र परिवार है। इस दृष्टि से उसे अधिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मनु स्त्री की उच्च-शिक्षा के न तो पक्ष में थे और न उसके पक्षधर थे। अप्रत्यक्ष रूप से स्त्री अपने पति के माध्यम से ही शिक्षा प्राप्त करती थी। यह शिक्षा भी सामान्यतः परिवार में मौखिक रूप से उसे प्राप्त होती थी किसी पाठशाला से नहीं।¹¹

मनु इस बात के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने स्त्रियों को परिवार एवं समाज में उचित स्थान देने का प्रयत्न किया। वे स्त्री का सम्मान करते हैं क्योंकि वह स्वयंभू कृति है। स्त्री की प्रशंसा करते हुए मनु कहते हैं कि स्त्री तो घर की शोभारूपिणी एवं लक्ष्मी है। स्त्री तो सन्तान को जन्म देती है और साथ ही उसकी रक्षा एवं पालन पोषण भी करती है। वह लोक-व्यवहार का मुख्य कारण है।¹² सन्तान को जन्म देकर धर्म-कृत्य करती है। पति, सास व श्वसुरादि की सेवा करके पितरों का आशीर्वाद प्राप्त करती है। अपना स्वर्ग बनाती है।¹³ मनु यह कहते हैं कि स्त्री, पति का आधा भाग है इसीलिए वह अर्द्धांगिनी कहलाती है। स्वयंभू ने स्वयं अपने शरीर को दो भागों में बाँटकर स्त्री और पुरुष को जन्म दिया है।¹⁴

मनु कहते हैं कि पति पत्नी दोनों को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए¹⁵ उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे धर्मार्थ कार्यों में एक-दूसरे से पृथक् न हों¹⁶ स्त्री का परम कर्तव्य है कि वह पति की सेवा करे और उसके मरणोपरांत भी इस व्रत का उल्लंघन न करे¹⁷ स्त्री के लिए पति से पृथक् कोई यज्ञ नहीं है व्रत तथा उपवास नहीं है केवल पति की सेवा से ही स्त्री को स्वर्ग प्राप्त होता है।¹⁸ मनु पति की सेवा का फल भी घोषित करते हैं। मन, वचन तथा कर्म से संयत रहती हुई जो स्त्री पति के विरुद्ध कार्य नहीं करती वह पति को स्वर्ग में भी प्राप्त करती है। ऐसी स्त्री को पतिव्रता कहते हैं¹⁹ जो स्त्री मन, वचन, कर्म से संयत रहती है उसे इस लोक में यश और परलोक में पति के साथ स्वर्ग प्राप्त होता है।²⁰

मनुस्मृति में स्त्रियों की स्थिति को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। मनु, स्त्री और पुरुष को समान मानते हैं। ईश्वर की शरीर से वे जन्मे हैं। पर दुःख यह है कि व्यवहारिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की दासी है। उसे घर की चारदीवार में बन्दी होकर परिवार का समस्त कार्य करती है। उसे अध्ययन तक की सुविधा नहीं दी गई है। इतना ही नहीं वे स्त्रियाँ, जो आर्थिक कारणों के द्वारा वेश्या अथवा गुलाम बन

गई, उन्हें मनु ने घृणित और निन्दनीय कहकर सम्बोधित किया है। आवश्यकता थी इनके सुधार की इनके जीवन को नवीन दिशा देने की जिससे ये भी समाज में सामान्य स्त्री की तरह जीवन व्यतीत करती, किन्तु मनु ने इस प्रकार का कोई कार्य नहीं किया धर्म के इतने बड़े हितैषी भी स्त्रियों की उन्नति के प्रति उदासीन रहे। उसे संसार के अनेक सुख, सम्मान, आदर से उपेक्षित रखा। भारतीयों के लिए लज्जा और दुःख की इससे बड़ी कौन-सी बात हो सकती है।

I UnHk %

1. मनुस्मृति : 3-37 से 42
2. मनुस्मृति : 10-8-9
3. मनुस्मृति : 19
4. मनुस्मृति : 11
5. Bhagwan Das : Science of Social Organisation, Vol-II, P. 462
6. मनुस्मृति : 3-55-56
7. मनुस्मृति : 2-33
8. मनुस्मृति : 9-104
9. मनुस्मृति : 9-192
10. मनुस्मृति : 9-118
11. मनुस्मृति : 3-4
12. मनुस्मृति : 9-26-28
13. मनुस्मृति : 9-26, 28
14. मनुस्मृति : 1-32
15. मनुस्मृति : 9-101
16. मनुस्मृति : 9-102
17. मनुस्मृति : 9-151
18. मनुस्मृति : 9-155
19. मनुस्मृति : 9-195
20. मनुस्मृति : 9-196



fgnh e| x| vkj miU;k| dk mn;

fprjitu dekj*

“पुराने जमाने के ‘वासवदत्ता’, ‘दशकुमार-चरित’, ‘कादंबरी’ आदि काव्यों से ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणी के हैं। उपन्यास नये यंत्र-युग की उपज है।... यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा आख्यायिकाओं की सीधी संतान है।... यंत्र-युग ने पश्चिम में जिस व्यावसायिक क्रांति को जन्म दिया उसके कई फलों में एक है वैयक्तिक स्वाधीनता। यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही उपन्यासों का आदर्श है और काव्य-काल का रूढ़ि-निर्धारित और परंपरा-समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिकाओं का आदर्श है।”¹

— हजारीप्रसाद द्विवेदी

“बात ऐसी है कि भारतेंदु के समय से तो हिंदी-उपन्यास का लिखित मुद्रित और साहित्यिक रूप शुरू हुआ किंतु हिंदी-उपन्यास की परंपरा उतनी पुरानी है जितनी हिंदी-काव्य की। अंतर इतना ही है कि हिंदी के प्राचीन काव्य का पर्याप्त अंश हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित रह गया जबकि उसका गल्प-साहित्य मौखिक ही बना रहा।”²

— नलिन विलोचन शर्मा

भारत में उपन्यास का उदय किन परिस्थितियों में हुआ, यह सर्वविदित है, परंतु उपन्यास का उदय कैसे हुआ यह पर्याप्त विवादित है। आलोचकों का मानना है कि भारतीय उपन्यास का उदय पाश्चात्य उपन्यासों के कारण ही संभव हो पाया। यहीं दूसरे मत के आलोचकों के अनुसार भारत में कथा और आख्यान की हजारों साल पुरानी परंपरा है, ऐसे देश में उपन्यास का विकास स्वाभाविक है। इस पर किसी पाश्चात्य शैली का प्रभाव नहीं है। प्रश्न यह है कि उपरोक्त दोनों मतों में कौन सा मत सही है? या फिर दोनों ही मत आंशिक सत्य हैं? कहीं सच्चाई इन दोनों के बीच तो नहीं?

हम भारतीयों की स्वाभाविक रुचियों से एक है किस्सा-कहानी सुनना। न सिर्फ सुनना बल्कि सुनाना भी। कथा कहने और कथा सुनने वाले लोगों की सहज उपलब्धता हमारे समाज का अनिवार्य सच है। हर शहर हर गाँव यहाँ तक कि नगरीकरण हर परिवार में एक ‘किस्सागो’ व्यक्ति मौजूद रहता ही है। किसी बात को गप्प की शैली में कहना अपनी तरफ से कुछ जोड़ देना, थोड़ी सी कल्पना का सहारा लेकर सामान्य बात को भी आकर्षक बना देना, घटना का ऐसे वर्णन करना जैसे मौका-ए-वारदात पर स्वयं मौजूद हो आदि विशेषताएँ हमारे आस-पास के कहे लोगों में पाई जाती हैं। जिस समाज में ऐसी चीजें सहजता से पाई जाती हों, वहाँ ‘कथा’ और ‘उपन्यास’ का विकास कोई आश्चर्यजनक तथ्य नहीं।

“कालिदास ने लिखा है, उज्जयिनी के गाँव के बड़े-बूढ़े लोग, उदयन की प्रेम-कथाएँ सुनाने में दक्ष होते थे उज्जयिनी ही क्यों, देश के प्रत्येक ग्राम और नगर में ‘कथा-कोविद’ होते थे— उनके चरितनायक उदयन के बदले गोपीचंद या हीर ही क्यों न हों। जिस युग में छापेखाने नहीं खुले थे और बहुत मूल्यवान साहित्यिक ग्रंथ ही बड़े परिश्रम से हाथ से लिखे जाते थे उस युग में भी उपन्यासों का अस्तित्व था, किंतु इसी मौखिक रूप में। जहाँ और जब संस्कृत का प्रभाव था, वहाँ संस्कृत की ‘बेतालपंचविंशति’ और ‘सिंहासनद्वात्रिंशिका’ जैसे यथार्थवादी उपन्यास ‘बेतालपच्चीसी’ और ‘सिंहासनबत्तीसी’ के रूप में बोलचाल की हिंदी में प्रचलित थे, जब मुसलमानों से संपर्क बढ़ा तो ‘तिलस्म-इ-होशरूबा’ और ‘दास्तान-इ-अमीर हमजा; भी जनप्रिय बने।”³

हिंदी उपन्यासों का पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति से कितना अटूट संबंध है यह नलिन विलोचन शर्मा जी के उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है। नलिन जी का कथन जितना भावनात्मक है, उतना ही भ्रामक

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, जे0एन0यू0, नई दिल्ली

भी। उन्होंने किन आधारों पर 'बैतालपच्चीसी' और 'सिंहासनबत्तीसी' को 'यथार्थवादी उपन्यास' कहा है, यह स्पष्ट नहीं है। उनका यह लेख भारतीय उपन्यासों की 'भारतीयता के पत्र' में तर्क तो देश है पर यह नहीं बताता कि आखिर किन कारणों से हिंदी के प्राचीन काव्य का पर्याप्त अंश हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित रह गया, जबकि गल्प-साहित्य मौखिक ही बना रहा।⁴

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि भारत में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग जिन प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में मिलता है क्या उनका वही अर्थ है जो आधुनिक 'उपन्यासों' का है। "यद्यपि वैदिक साहित्य में गद्य-पद्य में लिखी हुई कहानियों की कमी नहीं है पर जिसे हम अलंकृत गद्य काव्य कहते हैं, जिसका प्रधान उद्देश्य रससृष्टि है निश्चित रूप से उसका प्रचार गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में ही हुआ। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस रूप में सुविकसित गद्य का प्रचार इस युग में दिखाई देता है, उस रूप को प्राप्त होने में उसे कई शताब्दियाँ लग गई होंगी। सौभाग्यवश हमारे पास कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं जिन पर से अलंकृत गद्य के प्राचीन अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता। गिरनार के महाक्षत्रप रुद्रदामा (साधारणतः रुद्रदामन् नाम से परिचित) का खुदवाया हुआ जो लेख मिला है उससे निस्संदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि सन् 150 ई. के पूर्व संस्कृत में सुन्दर गद्य काव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्य काव्य का एक नमूना है। इसमें महाक्षत्रप ने अपने को 'स्फुटलघु-मधुर-चित्र-कांत-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य' का मर्मज्ञ बताया है जिससे अलंकृत गद्यों के ही नहीं अलंकार शास्त्र के अस्तित्व का भी प्रमाण पाया जाता है। यह गद्य काव्य क्या थे यह तो हमें नहीं मालूम, पर उनकी रचना प्रौढ़ और गुम्फ आकर्षण होते होंगे, इस विषय में संदेह की जगह नहीं है। सम्राट समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवायी थी, यह एक दूसरा सबूत है। हरिषेण ने इस प्रशस्ति को सम्भवतः सन् 530 ई. में लिखा होगा। इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है और रचना में काव्य के सभी गुण उपस्थित हैं। सुबन्धु और बाण ने अपने रोमांसों के लिए जिस जाति का गद्य लिखा है। इस प्रशस्ति का गद्य उसी जाति का है। हरिषेण के इस काव्य से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि इससे पहले भी गद्य-काव्य का अस्तित्व था।"⁵

यह बात अनेक जगह कही जाती है कि उपन्यास तीन शब्दों के मेल से बना है— उप, नि और आस। हिंदी का न्यास संस्कृत के न्यासः से बना है, जिसकी व्युत्पत्ति नि+अस् में घञ् प्रत्यय लगने से हुई है। न्यास का अर्थ है— रखना। इसमें 'उप' उपसर्ग लगने से 'उपन्यास' बनता है। जिसका अर्थ हुआ— निकट रखना। अमरकोश में तमाम अर्थों का सार बताते हुए उपन्यास का अर्थ बातचीत करना बताया गया है। सर मोनियर विलियम्स के विश्व प्रसिद्ध संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश में उपन्यास शब्द के अर्थ— 'परिकथा', 'कल्पित-कथा', 'उपाख्यान', 'आख्यान', 'प्रबंध कल्पना' आदि दिये गए हैं।⁶

वस्तुतः एक साहित्यिक विधा के तौर पर दुनिया भर के साहित्य में 'उपन्यास' की सशक्त मौजूदगी है। हालांकि कई भारतीय विद्वान भारत में लिखे गए उपन्यासों की बात करते हुए उसे अन्य देशों के उपन्यासों से अलगाते हैं। इस संदर्भ में बात करते हुए कई आलोचकों ने 'भारतीय उपन्यास' पद का प्रयोग किया है। 'भारतीय उपन्यास' की इस धारणा से ऐसा लगता है मानो उपन्यास की सामान्य विशेषताओं और 'भारतीय उपन्यास' की सामान्य विशेषताओं में कोई मूलभूत अंतर है। 'भारतीय उपन्यास' की बात करते हुए कई आलोचकों ने इसे 'अंग्रेजी ढंग' के उपन्यास के विरोध में रखा है। हालांकि भारतीय उपन्यास होने के लिए यह अनिवार्य तथ्य है कि वह उपन्यास किसी भारतीय द्वारा ही लिखा जाए पर भारतीय लेखक द्वारा लिखा जाना भर उसे 'भारतीय उपन्यास' बनाने हेतु पर्याप्त नहीं है। जाहिर है इस अध्याय में हम यह भी पड़ताल करेंगे कि वह कौन सी चीज है जो किसी रचना को 'भारतीय उपन्यास' बनाती है।

इस पूरे साहित्य पर विचार करते हुए एक महत्वपूर्ण तथ्य से हमारा साक्षात्कार होता है। वह है— भारत में आधुनिक उपन्यास के उदय की चर्चा करते वक्त हम मुख्यतः अंग्रेजी उपन्यास को ही केंद्र में रखते हैं। ऐसा करना विश्व-साहित्य में उपन्यास के विकास को एकांगी रूप में देखना है। साथ ही स्वयं अंग्रेजी उपन्यास के विकास को भी अधूरा देखना है क्योंकि अंग्रेजी उपन्यास भी दूसरी भाषाओं के

साहित्य से प्रभावित होकर विकसित हुआ है। जहाँ तक हिंदी उपन्यास का प्रश्न है, उसके विकास में निश्चित ही अंग्रेजी उपन्यासों की प्रभावी भूमिका रही है। अतः भारतीय उपन्यास के विकास संबंधी स्थापनाओं के संदर्भ में अंग्रेजी उपन्यासों की चर्चा आवश्यक है।

हिंदी में 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' की बात सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने की। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा कि "अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था।" शुक्ल जी के कई 'जगत प्रसिद्ध वाक्यों' की तरह यह वाक्य भी लोकप्रिय हो गया। परवर्ती आलोचकों ने इस वाक्य को हाथों-हाथ लपक लिया। धीरे-धीरे शुक्ल जी का यह कथन स्वयं सिद्ध वाक्य की तरह हो गया। दुर्भाग्यवश इस वाक्य की जाँच-पड़ताल करने की अनिवार्यता किसी बड़े विद्वान तक को नहीं महसूस हुई।

शुक्ल जी ने जिस 'परीक्षागुरु' को 'अंग्रेजी ढंग' का पहला उपन्यास बताया है, वह ऐसा भी अंग्रेजी ढंग का नहीं है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में 'परीक्षागुरु' पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है "अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अंत में 'अमुक ने कहा', 'अमुक कहने लगा' ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रभा का अनुसरण हिंदी के उपन्यासों में नहीं हुआ।" शुक्ल जी 'परीक्षागुरु' को 'अंग्रेजी ढंग' का कह रहे हैं, 'अंग्रेजी की नकल' नहीं कह रहे। 'ढंग' का अर्थ उनके लिए 'पद्धति' जैसा था, इसीलिए ये उन विशेषताओं की ओर इशारा करते हैं, जो उन्हें नई लगी और अंग्रेजी से ग्रहण की हुई मालूम पड़ी।

शुक्ल जी 'परीक्षागुरु' की आलोचना करने में जितने सतर्क हैं, उतने ही सतर्क उपन्यास के लेखक लाला श्रीनिवासदास हैं। श्रीनिवासदास ने 'निवेदन' नाम से 'परीक्षागुरु' के आरंभ में जो भूमिका लिखी है, वह काफी महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं— "अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परन्तु मेरे जानकारी में इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी, परन्तु नई चाल होने से ही कोई चीज अच्छी नहीं हो सकती बल्कि साधारण रीति से, तो नई चाल में तरह-तरह की भूल होने की संभावना रहती है और मुझको अपनी मन्द बुद्धि से और भी अधिक भूल होने का भरोसा है इसलिए मैं अपनी अनेक तरह की भूलों से क्षमा मिलने का आधार केवल सज्जनों की कृपा दृष्टि पर रखता हूँ। यह सच है कि नई चाल की चीज देखने को सबका जी ललचाता है परन्तु पुरानी रीति के मन में समाये रहने और नई रीति को मन लगाकर समझने में थोड़ी मेहनत होने से पहले पहल पढ़ने वाले का जी कुछ उलझने लगता है और मन उछट जाता है।"⁹

लाला श्रीनिवासदास के समक्ष यह स्पष्ट था कि वे नया कार्य करने जा रहे हैं। पुरानी रीति की पुस्तकों से वे भली-भाँति अवगत थे इसलिए बार-बार कहते हैं कि उनकी यह पुस्तक 'नई चाल की' होगी। 'नई चाल की' होने से उनका स्पष्ट अभिप्राय है कि यह पुराने और पारंपरिक कथा पुस्तकों से सर्वथा भिन्न है। श्रीनिवासदास जी ने 'नई चाल' का प्रयोग, 'नए फॉर्म और शिल्प' के संदर्भ में किया है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि यह नयापन कुछ पाठकों के लिए उलझन पैदा करेगा। इस कारण भूमिका में वे स्पष्ट करते हैं कि इस पुस्तक को 'कैसे पढ़ा जाए?' जिन आलोचकों ने भारतीय उपन्यासों को 'अंग्रेजी ढंग' के नाँव से अलग माना है उन्हें यह बताना चाहिए कि अगर हिंदी उपन्यास पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति का स्वाभाविक विकास है तो उपन्यासकार श्रीनिवासदास इस बात से आशंकित क्यों है कि उनकी पुस्तक पढ़ते समय 'अतिरिक्त धैर्य' की आवश्यकता होगी। कि पहले-पहल पढ़ने वाले का जी कुछ उलझने लगेगा। स्पष्ट है कि वे 'नई शैली में' जो लिख रहे थे वह हिंदी भाषा में पहले से मौजूद नहीं थी।

इस 'निवेदन' रूपी 'भूमिका' का एक अन्य अंश भी महत्वपूर्ण है। श्रीनिवासदास लिखते हैं "इस पुस्तक में दिल्ली के एक कल्पित (फर्जी) रईस का चित्र उतारा गया है और उसको जैसे का तैसा (अर्थात् स्वाभाविक) दिखाने के लिए संस्कृत अथवा फारसी अरबी के कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गई। अलबत्ता जहाँ कुछ विद्याविषय आ गया है वहाँ विवश होकर कुछ, कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं परन्तु जिनको ऐसी बातों के समझने में कुछ झमेला मालूम हो उनकी सुगमता के लिए ऐसे प्रकरणों पर ऐसा चिह्न लगा दिया गया

है जिससे उन प्रकरणों को छोड़कर हरेक मनुष्य सिलसिले वार वृत्तान्त पढ़ सकता है। इस पुस्तक में संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी की कविता का तर्जुमा अपनी भाषा के छंदों में हुआ है परंतु छंदों के नियम और दूसरे देशों का चाल-चलन जुदा होने की कठिनाई से पूरा तर्जुमा करने के बदले कहीं-कहीं भावार्थ ले लिया गया है।¹⁰

हिंदी का प्रथम उपन्यास माने जाने वाले उपन्यासकार की यह सूक्ष्म दृष्टि हमें आश्चर्यचकित भी करती है, और गौरवान्वित भी। उपन्यासकार को पूरी तरह यह ज्ञात है कि 'नई चाल की' पुस्तक को पढ़ते वक्त पाठक के समक्ष क्या-क्या दिक्कतें आएंगी। उन्हें ज्ञात है कि संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी का तर्जुमा करते वक्त दिक्कतें होंगी। श्रीनिवासदास की यह भूमिका वस्तुतः 'उपन्यास कैसे पढ़ें' पर प्रकाश डालती है। एक सजग रचनाकार जान लेता है कि उसकी कृति से गुजरते वक्त पाठक क्या-क्या सोचेगा, उसे कहाँ-कहाँ कैसा अनुभव होगा। श्रीनिवासदास इस मामले में वाकई कुशल रचनाकार थे। उन्होंने इस संक्षिप्त सी भूमिका में ही कई सूत्र-वाक्य कह दिए। 'हिंदी का प्रथम उपन्यास' लिखने वाले रचनाकार के लिए ऐसा करना वक्त के हिसाब से ठीक ही था।

इस अध्याय के आरंभ में हमने प्रश्न उठाया था कि भारत में उपन्यास का उदय कैसे हुआ? सामान्यतः यह बात कही जाती है कि उपन्यास सीधे-सीधे पश्चिम से आयातित हुआ था। यह तथ्य अपनी जगह कायम है कि एक आधुनिक विधा के रूप में उपन्यास पश्चिम की ही उपज है। परंतु भारत में उपन्यास के उदय का पूरा श्रेय पश्चिम को देना सरलीकरण को स्वीकार करना है। साथ ही ऐसा कहना कहीं-न-कहीं अंग्रेजी राज के योगदान को साहित्यिक क्षेत्र में बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करना भी है। मीनाक्षी मुखर्जी का विचार है कि "भारत में उपन्यास के उदय को जैसा कि कई बार किया जाता है, रेलवे और क्रिकेट की तरह पूर्णरूपेण ब्रिटिश साम्राज्य की देन बताना एक साहित्यिक विधा के जटिल सांस्कृतिक निर्धारकों को अनदेखा करना है।"¹¹ मीनाक्षी मुखर्जी का यह कथन काफी महत्वपूर्ण है। वे उपन्यास के उदय में अंग्रेजों की भूमिका को सिरे से नहीं नकारती, बल्कि उसी को एकमात्र केन्द्रीय तत्व मान लेने का विरोध करती हैं। इस संदर्भ में एक अन्य विद्वान वी.वी. जॉन का विचार है कि अगर अंग्रेज न भी आये होते, तो भी भारत में उपन्यास को एक विधा के रूप में पैदा होना ही था। वी.वी. जॉन मानते हैं— "यह मानना संभव है कि यदि 19वीं सदी के आस-पास ब्रिटिश यहाँ नहीं होते और अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपिय भाषाओं से देश में उपन्यास नहीं पहुँचे होते, तब भी यह पाठकों की एक नई प्रजाति के दाय के रूप में एक नये प्रकार की कहानी की उत्पत्ति हेतु वह समय उर्वर था।"¹² वी.वी. जॉन ने उपन्यास के उदय के समय की पाश्चात्य और भारतीय परिस्थितियों की तुलना करते हुए कहा है कि "उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक परिवर्तनों ने एक अलग प्रकार के सांस्कृतिक लेखन की माँग की, उससे अलग जो कि कवि प्रदान कर रहे थे। साथ ही धीरे-धीरे एक पढ़ने वाला जनसमुदाय भी आकार ले रहा था, यद्यपि यह बहुत बड़ा नहीं था, वह उच्चस्तरीय शिक्षण और नसीहत नहीं चाहता था, अपितु वह सामान्यतः मनोरंजन और विश्रान्ति की खोज में था।"¹³ वी.वी. जॉन के मत से इस बात की पुष्टि होती है बदलते समय के साथ भारतीय रचनाकार भी बदल रहे थे। वे कथ्य और शिल्प के नए आयाम की खोज में थे। समाज का बदलता परिवेश के नए रूप और फार्म की ओर धकेल रहा था। ये महसूस कर रहे थे कि अब हर बात कविता की शैली में नहीं कही जा सकती। भारतीय समाज की संरचना में होने वाले बदलावों का असर साहित्यिक जगत पर पड़ना स्वाभाविक ही था।

भारत में उपन्यास के जन्म हेतु जिन भौतिक परिस्थितियों की जरूरत की उनका उदय कमोबेश अंग्रेजी शासन का परिणाम था पर सिर्फ इस कारण सारा श्रेय अंग्रेजी शासन और साहित्य को दे देना उचित नहीं। महत्वपूर्ण है कि भारतीय उपन्यासों ने रचनात्मक स्तर पर जो रूप ग्रहण किया, यह तो लगभग देशज था। बंकिमचंद्र का उदाहरण देते हुए नामवर सिंह ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं "छब्बीस वर्ष की कच्ची उम्र में बंकिमचंद्र ने 'दुर्गेशनन्दिनी' (1865), नाम का अपना पहला बंगला उपन्यास प्रकाशित किया और एक साल के बाद 'कपालकुंडला' (1866) फिर तीन साल के अन्तराल के बाद 'मृणालिनी' (1869)। इनमें से एक भी 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' नहीं है। जगमोहन सिंह के 'श्यामास्वप्न'

के समान ही ये तीनों उपन्यास किसी 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' की अपेक्षा संस्कृत की 'कादम्बरी' की याद दिलाते हैं। यह भी एक विडम्बना ही है। एक लेखक कथा की पुरानी परम्परा से युक्त होकर एकदम आधुनिक ढंग की नई कथाकृति रचना चाहता है और परम्परा है कि उसके सर्जनात्मक अवचेतन का संचालन कर रही है।... उपन्यास का अर्थ जिनके लिए 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' है— फिर उसकी परिभाषा जो भी हो— वे इसे बंकिमचंद्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि से लेखक की इस विफलता में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है 'परीक्षागुरु' नहीं।¹⁴

नामवर सिंह अपने इस कथन में 'कपालकुंडला' और 'दुर्गेशनन्दिनी' को 'परीक्षागुरु' की अपेक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके मत से 'कपालकुंडला' पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति का स्वाभाविक विकास है, जबकि 'परीक्षागुरु' 'अंग्रेजी ढंग का उपन्यास'। यह कथन सुनने में प्रीतिकर लगता है और हमारे भारतीय गौरव बोध को संतुष्ट भी करता है परंतु नामवर सिंह इस प्रसंग में एक चूक कर बैठते हैं। 'उपन्यास' और 'रोमांस' में 'कल्पना' और 'यथार्थ' का जो मूल अंतर है वे उसकी अनदेखी कर जाते हैं। उनकी स्थापना है कि भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है 'परीक्षागुरु' नहीं। ऐसे में यह सवाल उठना लाजमी है कि बंकिमचंद्र के जिन 'दुर्गेशनन्दिनी' और 'कपालकुंडला' जैसे रोमांसधर्मी उपन्यासों को भारतीय उपन्यासों की मौलिक विकास प्रक्रिया से जोड़ा गया है, क्या उसमें यथार्थधर्मिता का भी निर्वाह हो सकता था? भारतीय राष्ट्र और जीवन की निरंतर जटिल हो रही स्थितियों को क्या रोमांसधर्मिता प्रधान कथानक के बल पर व्यक्त किया जा सकता था? वस्तुतः उपन्यास केवल यथार्थ की खोज और उसकी गति की पहचान का आख्यान ही नहीं है, वह नवीन संभावनाओं की तलाश का आख्यान भी है। उसमें वर्तमान की सीमाओं के पार जाने की आकांक्षा के कारण एक बेहतर संभावित संसार की रचना की कोशिश भी होती है।

नामवर सिंह ने अपने लेख 'अंग्रेजी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास' में 'परीक्षागुरु' के बजाए 'कपालकुंडला' को महत्वपूर्ण माना है। वे बंकिमचंद्र को सर्जनशील रचनाकारों का सिरमौर मानते हैं। "ऐसे सर्जनशील रचनाकारों के सिरमौर हैं बंकिमचंद्र जिन्हें प्रथम भारतीय उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है।"¹⁵ बंकिमचंद्र की प्रतिष्ठा कहीं 'लाला श्रीनिवासदास' के अवमूल्यन की कीमत पर तो नहीं की गई है। लाला श्रीनिवासदास यथार्थ के रास्ते पर कदम रख कर उपन्यास की ओर बढ़ते हैं, जबकि बंकिमचंद्र के रोमांसधर्मी पाँव अतीत की ओर मुड़े हुए हैं। वैभव सिंह अपनी पुस्तक 'परीक्षागुरु' में यह भी बताने की चेष्टा की गई कि देश के लोग अगर लाल मदनमोहन की तरह बुरे व्यसनों में पड़े बगैर अपना काम ईमानदारी से करें तो देश का विकास हो सकता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा 1884 ई. में बलिया में दिए भाषण 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो' में भी देशवासियों से आलस्य और अन्य बुरे व्यसन छोड़कर मेहनत से अपना उद्योग करने का आह्वान किया गया है। परीक्षागुरु में भी लाला ब्रजकिशोर एक ऐसी बैठक में जहाँ लाल मदनमोहन और उनके चापलूस बैठे हैं, यही कहते नजर आते हैं कि जिस देश में बहुत मनुष्य सावधान और उद्योगी होते हैं, उसकी उन्नति हो जाती है।... परीक्षागुरु भारत में उभरती कारोबारी संस्कृति के मूल्यों को लेकर रचा गया हिंदी का पहला उपन्यास है।¹⁶

परीक्षागुरु का औपन्यासिक ढाँचा भले थोड़ा कमजोर हो, उसका शिल्प कहीं-कहीं शिथिल हो, उसमें नीति-कथाओं के लंबे उद्धरण हों पर इसमें कोई शक नहीं वह तात्कालिन यथार्थ को व्यक्त करने में शत-प्रतिशत सफल है। 'परीक्षागुरु' अपने समय के साथ कदमताल करती है, अपने वक्त का नक्शा दिखाती है। इस कारण उसकी छोटी-मोटी भलों पर पर्दा डाला जा सकता है। किसी भी कार्य का आरंभ करने में छोटी-मोटी भूल का होना अस्वाभाविक नहीं है। 'कपालकुंडला' पूर्वी भारत की उपलब्धि है 'परीक्षागुरु' उत्तरी भारत की। हर समाज अपनी अभिव्यक्ति के लिए अलग-अलग पैमाने तलाशता है। किसी एक के ढाँचे को सब पर लागू करने की जिद न तो तार्किक है न जरूरी।

I UnHk %

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : उपन्यास और कहानी, पक्षधर, वर्ष 10, अंक 19, जुलाई-दिसंबर 2015, पृ0 97
2. नलिन त्रिलोचन शर्मा : संकलित निबंध, संपादक : गोपेश्वर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, पहला संस्करण 2010, पृ0 143
3. उपर्युक्त, पृ0 143
4. उपर्युक्त, पृ0 143
5. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कथा आख्यायिका और उपन्यास, पक्षधर, वही, पृ0 69
6. प्रतापनारायण टंडन : हिंदी उपन्यास कला, हिंदी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1965, पृ0 9
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2058, पृ0 249
8. उपरोक्त, पृ0 259
9. लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरु, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ0 5
10. उपर्युक्त, पृ0 6
11. मीनाक्षी मुखर्जी : रियलिज्म एण्ड रियलिटी, द नॉवेल एण्ड सोसायटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2005, पृ0 3
12. डॉ. के.एम. जॉर्ज (संपादक) : कंपरेटिव इंडियन लिटरेचर, Vol.-I, केरल साहित्य अकादमी, त्रिचूर एण्ड मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, 1984, पृ0 597
13. उपर्युक्त, पृ0 597
14. नामवर सिंह : अंग्रेजी ढंग का नावेल और साहित्य उपन्यास, प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति 2011, पृ0 46-47
15. उपर्युक्त, पृ0 46
16. वैभव सिंह : परीक्षागुरु के बहाने राष्ट्रविमर्श, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, आधार प्रकाशन, पंचकूला, द्वितीय संस्करण 2013, पृ0 40, 43



jk"Vh; vkUnkyu e l jnkj cYYkHkHkbb iVy dh Hkfedk gfj Árki flg*

भारतीय राजनीति में लौहपुरुष, भारतीय राजनीति के विस्मार्क आदि उपनामों से अलंकृत सरदार वल्लभाई पटेल भारतीय राजनीति के असाधारण व्यक्तित्व रहे हैं। अपने बहादुरी भरे कार्यों के कारण ही वल्लभाई पटेल को लौह पुरुष कहा जाता है। वारदोली सत्याग्रह में अपने अमूल्य योगदान के लिये, लोगों ने उन्हें सरदार की उपाधि दी। सरदार पटेल एक प्रसिद्ध वकील थे लेकिन उन्होंने अपनी पूरी जिन्दगी भारत को आजादी दिलाने में बितायी। आजादी के बाद ही सरदार वल्लभाई पटेल भारत के उपप्रधानमंत्री बने और भारत का विकास और भारत को एक बंधन में जोड़ने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। गुजरात ने भारतवर्ष के कितने ही महान पुरुषों को जन्म दिया है। महान सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुजरात में ही प्रेरणा प्राप्त की थी। सरदार पटेल भी उन महापुरुषों में से एक हैं जो गुजरात की अनमोल देन थे। जिन्होंने अपना समस्त जीवन भारत की स्वतन्त्रता के लिए व्यतीत कर दिया।

उन्होंने कर्तव्यनिष्ठा का परिचय देते हुए अपने आने वाली पीढ़ी को अपने कर्तव्य पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान की तथा देश की स्वतन्त्रता में युवाओं को प्रोत्साहित किया। उनको भारतीय आन्दोलन में शामिल होने के लिए प्रेरणा प्रदान की। जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस, मौलाना आजाद कलाम, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि भारतीय जनमानस के नेता जिनका प्रभाव देश पर बना हुआ था तथा जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। वे सब सरदार पटेल के विचारों से प्रभावित थे तथा उनका बहुत सम्मान करते थे। जिससे उनकी व्यापकता की झलक देखने को मिलती है। महात्मा गांधी ने एक सभा को सम्बोधित करते हुए उसमें कहा था कि, “सरदार पटेल अपने स्वयं के क्षेत्र में महान हैं और वे एक योग्यतम शासक भी हैं।”

महात्मा गांधी के इस सम्बोधन से पता चलता है कि सरदार वल्लभाई पटेल का प्रभाव समस्त भारतवर्ष पर बना हुआ था। सरदार पटेल एक अग्रदूत के रूप में सामने आते हैं जिन्होंने भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत के लौह-पुरुष सरदार वल्लभाई पटेल का जन्म 31 अक्टूबर 1875 को करमसद के नादिद ग्राम में हुआ था। उनके पिता जव्हेर भाई पटेल एक साधारण किसान और माता लाडबाई एक साधारण महिला थी। पटेल बचपन से ही कड़ी मेहनत और परिश्रमी व्यक्तित्व के इंसान थे। इन्होंने बचपन से ही कड़ा परिश्रम किया था। बचपन में ही खेती के कामकाज में ये अपने पिता की सहायता करते थे। पटेल बचपन से ही कोई भी कार्य पूर्ण समर्पण भाव से करते थे। सरदार वल्लभाई पटेल की प्रारम्भिक शिक्षा उनके पास के ही एक गांव पेटलाद की एन०के० हाईस्कूल से हुयी। यही से उन्होंने 1896 ई० में अपनी हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की।

पटेल बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि के थे। वे स्कूल के दिनों में अपने सहपाठियों के बीच उनसे ज्यादा होशियार थे। घर की आर्थिक स्थिति कमजोर होने के बावजूद उनके पिता ने उन्हें स्कूल भेजने का निर्णय लिया। लेकिन वल्लभ भाई ने स्कूल जाने से इंकार कर दिया था। इसके बाद उन्होंने 1900 ई० में वकीली की परीक्षा उत्तीर्ण की। वे बचपन से दयाल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने बचपन से ही असहाय व्यक्तियों की सहायता करना तथा उनके कष्टों के निवारण हेतु कोई न कोई उपाय किया करते थे। गुजरात प्रान्त में अंग्रेजों की कोठियाँ होने पर अंग्रेजों द्वारा इस क्षेत्र में कड़ाई ज्यादा रहती थी। अंग्रेजों के प्रमुख बन्दरगाह भी इसी क्षेत्र में पड़ते थे। जहाँ से वे अन्य देशों के साथ आयात-निर्यात का कार्य

किया करते थे। इस क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर अन्यायपूर्ण स्थिति को देखकर पटेल बचपन से ही इस स्थिति से असन्तुष्ट थे। सन् 1857 के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध में वे महारानी लक्ष्मीबाई की बुन्देला सेना में भर्ती होकर बड़ी ही बहादुरी के साथ अंग्रेजों से लड़े थे। महारानी लक्ष्मीबाई युद्ध में परास्त हुईं तथा जव्हेर भाई बन्दी बना लिये गये। उन्हें महाराजा मल्हारराव के जेलखाने में रखा गया। उस समय की उनकी एक घटना अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। एक दिन जेलखाने की कोठरी में बैठे ही बैठे उनकी नजर शतरंज खेलते हुए महाराज पर पड़ी। जव्हेरभाई शतरंज के मंझे हुए खिलाड़ी थे वे खेल को दूर से गौर से देख रहे थे। शतरंज की चाल में महाराजा मल्हारराव ज्यों ही चूके कि जव्हेर भाई से रुका नहीं गया। वे कैदी की स्थिति में चिल्ला उठे, “राजन खोटी चाल मत चलो, अपने मुहरों को अमुक-अमुक जगह रखो।” महाराज ने कैदी की बात सुन ली। वे सम्भल कर देखने लगे तथा कैदी की बतायी चालों से जीत भी गये। इस पर महाराज जव्हेरभाई पर इतने प्रसन्न हुए कि उनकी सूझ के उपलक्ष्य में उन्होंने जव्हेरभाई को जेल से मुक्त कर दिया। सरदार वल्लभभाई पटेल पर अपने पिता का ही असर पड़ा। उनमें आज जो अदम्य साहस और अडिग सैनिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं वह उन्हें विरासत में मिली हुई अमूल्य निधि थी।

बड़े होने पर उन्हें ननिहाल में पढ़ने के लिए भेजा गया वहाँ पर उनकी एक शिक्षक से खटक हो गयी। शिक्षक बिक्री के लिए पढ़ाई सम्बन्धी सभी सामग्री स्कूल में ही रखता था तथा सभी विद्यार्थियों को खरीदने के लिए मजबूर भी करता था। सरदार पटेल ने इसका विरोध किया। उन्होंने लड़कों को भटकाना शुरू किया कि वे शिक्षक से कोई भी वस्तु न खरीदे। लड़के प्रायः पटेल के कहने में थे। नतीजा यह हुआ कि लड़कों ने शिक्षक के सामान खरीदना बन्द कर दिया। इस पर शिक्षक लड़कों से कठोरता पूर्वक व्यवहार करने लगा। इस पर सरदार पटेल के कहने पर लड़कों ने स्कूल न जाने की हड़ताल कर दी। 6-7 दिनों तक स्कूल सूना पड़ा रहा। आखिर में शिक्षक को झुकना पड़ा। इस हड़ताल के सर्वेसर्वा वल्लभभाई ही थे। यह उनके साहस का पहला उदाहरण था। पटेल का उस स्कूल में निर्वाह होना कठिन था। इसलिए उन्होंने स्कूल को छोड़कर बड़ौदा चले गये। बड़ौदा में जब वे मैट्रिक में पढ़ते थे तो उन्होंने संस्कृत छोड़कर गुजराती ले ली। संस्कृत में पटेल की स्वतन्त्र प्रकृति मेल नहीं खाती थी। जो शिक्षक उन्हें गुजराती पढ़ाते थे वे संस्कृत के पक्षधर थे। ज्यों ही पटेल उनके कमरे में घुसे तब व्यंग पूर्वक शिक्षक छोटेलाल ने कहा, ‘पधारो महापुरुष तुम संस्कृत को छोड़कर गुजराती लेने चले हो जानते हो संस्कृत के बिना गुजराती नहीं आ सकती।’ वल्लभभाई ने भी फौरन जवाब देते हुए अपने शिक्षक को कहा, ‘यदि हम सभी संस्कृत पढ़ने लगे तो आपके दर्जे में कौन आयेगा, तथा आपकी यहां जरूरत ही क्या रह जाती।’

एक 14 वर्ष के बालक के इतने कठोर उत्तर सुनकर वह शिक्षक तिलमिला उठा तथा उन्हें बेन्च पर खड़ा कर दिया। आगे चलकर उस शिक्षक से झगड़े होने पर पटेल को स्कूल से निकाल दिया गया वहाँ से वे फिर नड़ियाद चले आये तथा वही से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। मैट्रिक पास करने के बाद वल्लभभाई की इच्छा आगे पढ़ने की थी। पर उनके परिवार की स्थिति साधारण थी। वल्लभाई बैरिस्ट्री पास करना चाहते थे परन्तु इसके लिए विलायत जाना जरूरी था और घर में इतना धन नहीं था। बी०१० या एम०१० पास करने में वे अपना समय व्यर्थ नहीं करना चाहते थे। बैरिस्ट्री पास करने की लगन उनमें इतनी ज्यादा थी कि उन्होंने पैसा इकट्ठा कर बाद में विलायत जाने की सोची। उन्होंने सोचा कि मुख्तारी पास की जाये जिससे कि पैसा आने पर बैरिस्ट्री कर ली जाए। वल्लभभाई ने कुछ ही समय में मुख्तारी पास कर ली और गोधरा में काम भी आरम्भ कर दिया। वहाँ से वे वारसद चले आये तथा मुख्तारी करने लगे। उनकी जिरह करने की सूझ अनोखी थी। जिससे आगे चलकर वे वारसद के नामी मुख्तारी माने जाने लगे। जिससे उनके पास धन भी इकट्ठा हो गया। उसी समय गोधरा में प्लेग का प्रकोप फैल गया। अदालत के एक नाजिर का लड़का प्लेग की चपेट में आ गया। जिसकी सहायता सदार पटेल ने हर प्रकार से की। छुआछूत के कारण पटेल को भी एक गिल्टी निकल आयी पटेल जल्दी से नाड़ियाद पहुँचे तथा उन्होंने अपने धर्मपत्नी को अपनी जन्मभूमि करमसद पहुँचा दिया।

वल्लभभाई ने अपनी पत्नी को प्लेग से बचाने के लिए ही करमसद भेजा था परन्तु पत्नी बीमार हो गयी तथा वे अच्छे हो गये। यह प्रकृति का अनोखा खेल था। पत्नी की बीमारी का पता चलने पर

वे तुरन्त गांव पहुँचे तथा वहाँ से इलाज के लिए उन्हें बम्बई पहुँचा आये। पत्नी की खबर वे बार-बार लिया करते थे।

एक दिन अदालत में ही उन्हें तार मिला। जिसे वे अपनी कार्यव्यवस्था में पढ़ नहीं पाये। खाली होने पर उन्होंने तार पढ़ा तथा अपनी पत्नी के मृत्यु के दुःखद समाचार पाकर भी वे विचलित नहीं हुए। जिससे उनमें कर्तव्यनिष्ठा तथा अपार कष्टों को सह लेने की क्षमता देखने को मिलती है। मुख्तारी से पैसा इकट्ठा हो जाने के बाद उन्होंने विलायत जाने की ठानी। उनका विलायत जाने का पत्र व्यवहार बन गया। लेकिन इसका पता जब उनके बड़े भाई माननीय श्री विठ्ठलभाई पटेल को चला, जो कि आगे चलकर भारतीय केन्द्रीय सभा के सर्वप्रथम प्रेसीडेंट नियुक्त हुए। तो उन्होंने विलायत जाने की ठान ली। तथा वल्लभभाई से कहाँ कि बड़ा भाई होने के नाते विलायत जाने का अधिकार उनका है जिसे वल्लभभाई ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। वल्लभभाई के त्याग का यह ज्वलन्त उदाहरण है। उन्हें जो पासपोर्ट मिला था उसमें उनका अंग्रेजी में संक्षिप्त नाम वी०जे० पटेल लिखा था जो कि उनके बड़े भाई का यही नाम था। इससे पासपोर्ट बदलने की जरूरत नहीं पड़ी। बड़े भाई विलायत चले गये। पटेल जी यही रहकर पैसा इकट्ठा करने लगे। यथा शीघ्र बड़े भाई विलायत से बैरिस्ट्री करके लौट आये।

13 फरवरी 1913 ई० को वल्लभभाई भी विलायत से पढ़कर बम्बई के बन्दरगाह पर उतरे तथा अहमदाबाद पहुँचकर बैरिस्ट्री की भूमिका अदा की। युवा पटेल ने बैरिस्ट्री के क्षेत्र में एक अलग ही छाप छोड़ी। दतर में पटेल के आते ही जूनियर बार में एक प्रकार की जान सी आ गयी। क्योंकि युवक पटेल सभी के आकर्षण का केन्द्र थे। उनका व्यक्तित्व तथा रहन-सहन सभी को बड़ा ही आकर्षित करता था। जब वे किसी की ओर देखते तो उनके देखने के ढंग में आकर्षण, सम्मान तथा जोश की भावना स्पष्ट झलक जाती थी। बैरिस्टर पटेल हमेशा किसानों के कष्टों के निवारण हेतु तथा उनकी सेवा के बारे में सोचते थे। उनको अपने समय में गरीबी से बहुत ज्यादा कष्ट देखने को मिला जिसमें वे पले-बढ़े थे। उन्हीं गरीब देहातियों के गरीबी को मिटाने का प्रयास करते थे। उन्होंने अपने क्रियाकलाप को सार्वजनिक कार्यों के लिए जोड़ दिया था। जिससे कि सार्वजनिक क्षेत्रों में कार्य करने से देश के ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति उनसे जुड़ जाते थे तथा वल्लभभाई उनकी ज्यादा से ज्यादा अधिक संख्या में सेवा कर सकते थे।

बात सन् 1915 की है जब महात्मा गांधी ने अहमदाबाद में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। वे अहमदाबाद के सार्वजनिक नेताओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। इसी उद्देश्य के साथ वे गुजरात क्लब में दो-तीन बार जाते तथा वहाँ की सभा को सम्बोधित करते थे तथा आश्रम के विचारों को लोगों के सामने रखते थे। वल्लभाई गांधी जी की बातों को गौर से सुनते तथा उनकी कड़ी आलोचना करते थे। वे गांधी जी के सामने अपने विचार कठोरता और निर्भीकता के साथ रखते थे। उस समय वे गांधी जी की हर बात पर कटाक्ष करते थे। तब शायद ही किसी को पता था कि यही कटु आलोचक आगे चलकर गांधी का परम विश्वस्त अनुयायी, गांधीवाद का उपदेशक तथा उनके नेतृत्व का सबसे बड़ा सहायक सिद्ध होगा। दो वर्षों तक अहमदाबाद में रहने पर भी वल्लभभाई और गांधी जी एक दूसरे से दूर रहे। 1916 ई० में अहमदाबाद म्यूनिसिपल्टी में प्रवेश करके उन्होंने स्वतन्त्रता के साथ पहली बार सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। गुजरात सभा में जितने कार्यक्रम चालू थे सभी में पटेल की भूमिका किसी न किसी रूप में थी। गुजरात सभा का अत्यन्त महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य खेड़ा के किसानों के कष्टों का निवारण था। 1917 ई० में खेड़ा में फसल नहीं हुई। गुजरात सभा ने सरकारी पदाधिकारियों से काफी निवेदन किया। उस समय बड़े-बड़े व्यक्तियों को भी सफलता नहीं मिली। नौकरशाही अपने इरादों पर अडिग थे। गुजरात सभा के सामने यह प्रश्न था कि आगे क्या किया जाये। उन्होंने गांधी जी से बात की तथा फिर सभा में से ही कुछ व्यक्तियों के समूहों को गठित करके सरकार से बातचीत करने को कहा। गांधी जी खुद सरकार से पत्र व्यवहार से बात कर रहे थे। उस समय के भारत में यह सरकार और किसान के बीच बीच प्रथम लड़ाई थी। इस संग्राम से जनता जागृत हुयी तथा उसे अपनी शक्ति पर भरोसा हो गया।

उस समय गांधी जी मोतिहारी (बिहार) के आन्दोलन में व्यस्त थे तथा खेड़ा में समय नहीं दे पा रहे थे। इसलिए यहाँ पर उन्होंने अपने सहायक के रूप में वल्लभभाई को नियुक्त किया तथा सत्याग्रह का कार्य उन पर छोड़ दिया। वल्लभभाई भी अपनी मातृभूमि की रक्षा करने का संकल्प ले चुके थे। इसलिए वे संग्राम में कूद पड़े। सभा केन्द्र को अहमदाबाद से नाड़ियाद लाया गया। खेड़ा के सत्याग्रह में वल्लभभाई को कोट, पैट तथा हैट छोड़कर किसानों के साथ पैदल चलते हुए देखा गया। धोती-कुर्ता पहनकर उनको किसानों के हित के लिए परिश्रम करते हुए देखा गया। जिससे कि सरदार पटेल की व्यापकता सभी के सामने आ गयी। गुजरात सभा राजनीति में भारतीयों की भागीदारी इस सत्याग्रह के माध्यम से और मजबूत कर देने का बेड़ा उठाई हुयी थी। सत्याग्रह का भारत में प्रथम प्रयोग खेड़ा में सफल हुआ और परिणाम स्वरूप वल्लभभाई और दूसरे कई साथी गांधी जी के श्रद्धालु भक्त हो गये। जिसमें पटेल की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। सन् 1918 में मजदूरों की जबरदस्त हड़ताल हुई। अशिक्षित मजदूरों के नेता हुए महात्मा गांधी और सरदार पटेल। सरदार पटेल ने रात-दिन एक करके अहमदाबाद के मजदूरों को एक सूत्र में बांध दिया और उनकी एक संस्था स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जिनका नाम ज्वाकम नन्दपवद रखा गया। 4 फरवरी 1928 ई० को वारदोली (गुजरात) में वारदोली सत्याग्रह नाम से एक महत्वपूर्ण घटना हुई। जिसमें वारदोली के समस्त किसानों की एक सभा बुलायी गयी। इस सभा के अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल हुए। सरदार पटेल ने सबसे पहले कार्यकर्ताओं की अच्छी तरह जाँच की और यह जान लिया कि वे सत्याग्रह की गम्भीरता को अच्छी तरह समझ रहे हैं। इसके बाद उन्होंने प्रतिनिधियों की गम्भीरता को अच्छी तरह समझ लिया। इसके बाद उन्होंने प्रतिनिधियों को बुलाया। 79 गाँवों के लोग उपस्थित हुए। उस ताल्लुके में जितनी भी खेतिहर जातियाँ थी वे सब वहाँ उपस्थित थी।

वहाँ पर उपस्थित कई प्रतिनिधियों ने खड़े होकर नारे लगाने लगे कि, बढ़ा हुआ लगान कतई अन्यायपूर्ण है अतः इसे किसी भी प्रकार नहीं भरना चाहिए। लोगों की मनोदशा को अच्छी तरह जांच कर लेने के बाद सरदार पटेल ने लोगों को सत्याग्रह में होने वाले कष्टों का ख्याल दिलाया और बताया कि, 'जो करना है सोच समझकर करना है। मैं किसी ऐसे काम में नहीं पड़ता जिसमें कोई खतरा या जोखिम न हो। जिसे संकटों को नियन्त्रण देना हो, उसकी सहायता के लिए मैं हमेशा ही तैयार हूँ।' किसानों की इन उग्रता को देखकर सरकार भी चौकन्नी हो गयी। सरकार ने किसानों को रोकने के बहुतायत प्रयास किया। लेकिन उनका हर प्रयास निष्फल हो गया। किसानों की उग्रता तथा मांगों ने सरकार के अन्दर खलबली ला दी थी। जिसे सरकार इस आन्दोलन को हर हाल में दबाना चाहती थी लेकिन वल्लभभाई के नेतृत्व में यह आन्दोलन और भी उग्र होता चला गया। सरकार ने बलोड के क्षेत्र में 1500 रुपये लगान जबदस्ती वसूल किये गये। सरकार ने लगान की रकम भी छः लाख से बढ़ाकर सात लाख कर दी थी। सरकार के इन प्रयासों से किसानों को आन्दोलन में और तेजी लाने का उपयुक्त साधन मिला। सरदार पटेल का नेतृत्व तथा किसानों के सहयोग से सत्याग्रह में किसानों की विजय हुयी। अंततः सरकार को झुकना पड़ा तथा सरकार को सशर्त किसानों की मांगों को मानना पड़ा। जिन किसानों को कैद किया गया था उन्हें छोड़ना पड़ा। सरकार पर इस विजय ने भारतीयों के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना को प्रबल कर दिया। जो कि आगे चलकर स्वातन्त्र्य आन्दोलन में परिवर्तित हुआ। वारदोली विजय पर 'यंग इंडिया' में एक लेख लिखते हुए महादेव देसाई ने लिखा था, 'वारदोली का समझौता सत्य और अहिंसा की विजय है। यह सरदार पटेल की तीसरी और स्वराज्य के मार्ग में उनके द्वारा तय की गयी तीसरी मंजिल है। इस सत्याग्रह ने निराश भारतीय नेताओं तथा जनता में नवीन प्राण डाल दिये।

वारदोली के किसानों की मांग के लिये निर्मित जांच समिति जब अपना कार्य कर रही थी। तब महात्मा गांधी 'राउन्ड टेबल कान्फ्रेंस' में भाग लेने के लिए लन्दन गये हुए थे। सरदार पटेल ने गांधी जी को तार दिया— 'जांच का रुख एक तरफा है और दोषपूर्ण है।' इस तार को पाकर गांधी जी बहुत दुखी हुये थे। भारत लौटने पर उन्होंने सत्याग्रह करने की घोषणा कर दी। इसके पहले ही नामी-गिरामी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। सरदार पटेल को भी महात्मा गांधी के साथ यरवदा जेल में ही रखा गया। गांधी जी जेल में सरदार पटेल के व्यवहार से बहुत प्रभावित हुए। महात्मा गांधी ने इस पर लिखा

था कि, 'जिस प्रेम के द्वारा उन्होंने मुझे वशीभूत किया है उससे तो मुझे अपनी प्यारी माता की याद आती है। मैं यह कभी नहीं जानता था कि सरदार पटेल में माता की विशेषताएं भी हैं। वास्तव में सरदार पटेल विशेषताओं के खजाने हैं।'

महात्मा गांधी तो 18 महीने के बाद छोड़ दिये गये किन्तु सरदार पटेल को पूरे 30 महीने जेल में बिताने पड़े। उन्हें सरकार ने 1934 में रिहा किया। रिहा करने का कारण यह था कि उनकी तबीयत खराब हो गयी थी। विशिष्ट नेताओं के जेल में रहने के कारण कांग्रेस भी कमजोर पड़ गयी थी। फूट चारों तरफ अपना सर फैलाने लगी थी।

सरदार पटेल का स्वास्थ्य ठीक होने पर उन्होंने तुरन्त पार्टीमेन्टरी मशीनरी का कार्य अपने हाथों में ले लिया। उस समय नये चुनाव हुए नहीं थे। अतः 1934 में सरदार पटेल ही कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपना कार्य बिल्कुल अपने ढंग से आरम्भ किया। कठोर हृदय वाले इस व्यक्ति के लक्ष्य को जेल की भयता भी डिगा नहीं पायी। उनके इस कार्य तथा संगठनात्मक नीति के बल पर कांग्रेस में नयी ऊर्जा का उद्भव हुआ।

1936 में दूसरी और 1937 में तीसरी बार पंडित जवाहर लाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। कांग्रेस का चुनाव इस समय देश के सामने आया। राष्ट्रवादियों ने चुनाव लड़ा तथा इतनी सफलता के साथ लड़ा कि देश के 7 प्रान्तों में उन्हें सफलता प्राप्त हुयी।

कांग्रेस की यह सबसे बड़ी विजय थी क्योंकि देश के तमाम किसानों ने बिना किसी हिचकिचाहट के कांग्रेस के पक्ष में वोट दिये थे। इस जीत से ब्रिटिश सरकार को हानि हुई। वह भारत को स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता था लेकिन कांग्रेस ने भीतरी शासन में इस जीत के साथ अपने पाव जमा लिये थे।

चुनाव के बाद भारतीय कांग्रेस कमेटी ने विधान सभा में भाग लेने के अपने प्रस्ताव को सरकार के सामने प्रस्तुत किया। पद-ग्रहण पर सरकार के साथ ज्यादा गर्माहट हुई और इसके बाद 78 के विरुद्ध 135 मतों से प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

1।n0। §

1. व्यास, दीनानाथ, लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, हनुमान प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा, 1948.
2. सिंह, शंकर दयाल, लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल, कौशिक आफसेट प्रिन्टर्स (NCERT) नोएडा, नई दिल्ली, 1991.
3. वर्मा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, सिद्धिथ्री आफसेट, आगरा, 1971.
4. सं0 दुर्गादास, सरदार पटेल कारेस्पोंडेन्स, द्वारका आफसेट, अहमदाबाद, 1977.
5. गांधी, राजामोहन, पटेल : एक लाइफ, शिवाजी आफसेट प्रिन्टर्स, अहमदाबाद, 1990.
6. सिंह, डा0 वी0एन0 भारतीय सामाजिक चिन्तन, बालाजी आफसेट नवीन शाहदरा, दिल्ली, 1986.
7. एम0 नंदुरकर, जी0, सरदार पटेल इन ट्यून विद दी मिलियन्स, नंदुरकर प्रिन्टर्स, अहमदाबाद, 1976.
8. अवस्थी, ए0 एवं अवस्थी, आर0के0, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, रिसर्च पब्लिकेशन्स शिपोलिया, जयपुर, 2010.
9. कृष्णन, बलराज, भारतीय बिस्मार्क : सरदार पटेल, सरदार ट्रस्ट, मुम्बई, 2007.
10. थरूर शशि, द ग्रेट इण्डियन नावेल, एरकड पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1989.
11. गांधी, राजामोहन, सरदार पटेल, शिवाजी पब्लिकेशन्स, अहमदाबाद, 1991.
12. चोपड़ा, प्राणनाथ, सरदार बल्लभ भाई पटेल, कोणार्क पब्लिशर्स, उड़ीसा, 1998.
13. बल्लभ भाई पटेल, वर्ड ऑफ फ्रीडम, डिजिटल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2011.
14. व्यास, चरण, सरदार बल्लभ भाई पटेल, बलराज पब्लिकेशन महाराष्ट्र, 1998.
15. गोवर, विरेन्द्र, बल्लभ भाई पटेल : पालिटिकल थिंकर ऑफ मार्डन इण्डिया, डीप एण्ड डीप पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2007.



t ; 'kdj Álkn dh jixnf"V

xkjo dekj tk; loky*

आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच की सांगोपांग विस्तृत व्याख्या की है। उसके अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनसे पूर्व रंगमंच का पर्याप्त विकास हो चुका था जिसके आधार पर उन्होंने शास्त्रीय दृष्टि से रंगमंच का विवरण प्रस्तुत किया।

जिस रंगमंच पर हिन्दी नाटकों का अभिनय प्रारंभ हुआ, वह सीधे संस्कृत रंगमंच की परम्परा का ही कोई सोपान नहीं अपितु उस पर पाश्चात्य प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। हिन्दी रंगमंच के उद्भव तक संस्कृत रंगशालाएँ ध्वस्त हो चुकी थीं। मुस्लिम शासन व्यवस्था ने इस कला को और भी उपेक्षित किया। अतः 18वीं शताब्दी में यूरोपीय जातियों ने जब भारत में प्रवेश किया तो उनके द्वारा मनोरंजन के लिए विभिन्न थियेटर्स की स्थापना हुई। सर्वप्रथम मुम्बई एवं कलकत्ता में इन थियेटर्स की नींव रखी गई क्योंकि इन स्थानों पर यूरोपीयों की संख्या अधिक थी।

पारसी कंपनियों ने अपने रंगमंच की तकनीक को पश्चात्य रंगमंच के आधार पर निर्मित किया। इन व्यवसायी नाट्य मण्डलियों ने शेक्सपीयर युग के मंच का आधार लेने के साथ-साथ परिस्थितियों की माँग के अनुकूल भारतीयता का भी समावेश करने का प्रयास किया। पारसी थियेटर कंपनियों को व्यवसायी नाटक मंडलियों भी कहा जाता है क्योंकि इनका लक्ष्य धनोपार्जन मात्र था, नाटक अथवा रंगमंच का किसी भी प्रकार से विकास करना नहीं। इन व्यवसायी कंपनियों के नाटकों का नाट्य-विधान प्रायः एक सा था। कम्पनी-मालिक अपनी रुचि के अनुकूल नाटक लिखवाते थे तथा स्वयं ही उनका निर्देशन करते थे। इन कंपनियों ने दृश्यानुकूल पर्दों का उपयोग कर दृश्यों को प्रभावात्मक रूप प्रदान किया।

हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में प्रसाद का अवतरण एक महत्वपूर्ण घटना है। साहित्य की इस विधा में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। अपने मौलिक नाट्य चिन्तन के द्वारा प्रसाद ने हिन्दी नाट्य परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ा। अपने नाटकों के द्वारा प्रसाद ने तत्कालीन साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन ही नहीं किए बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के द्वारा समाज में राष्ट्रीय भावना को उद्बुद्ध करने का सफल प्रयास किया।

प्रसाद के समक्ष हिन्दी का एक ऐसा रंगमंच था जो भारतेन्दु युग के बाद न तो पूरी तरह ही विकसित हो पाया था और न कोई मजबूत आधार ही रंगमंच को मिल पाया था। इस बीच की स्थिति से निकलने के लिए प्रसाद ने संस्कृत, हिन्दी, पाश्चात्य एवं पारसी रंगमंच के प्रभाव स्वरूप एक मौलिक एवं सुदृढ़ रंगमंच का निर्माण की चेष्टा की जिससे हिन्दी रंगमंच नई दिशा ग्रहण कर सके। उस दिशा में प्रसाद ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रसाद ने अपने चिन्तन से, नाटक में विविध प्रयोगों एवं अन्वेषण के माध्यम से सदैव ही हिन्दी को दृढ़ रंगमंच प्रदान करने का प्रयास जारी रखा। साहित्यकार अथवा नाटककार अपने युग में घटित होने वाली घटनाओं का साक्षात्कार अपने लेखन के द्वारा समाज को करवाता है। प्रसाद भी तत्कालीन समय के अनुरूप ही नाटक का सृजन कर रहे थे।

जिस काल में प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना की वह भारत की पराधीनता का समय था। देश अंग्रेजों का गुलाम था। अंग्रेजी प्रभाव के कारण देश का रूप ही नहीं साहित्य का रूप भी बदल रहा था। एक ओर जहाँ भारतेन्दु ने औपचारिक रूप से हिन्दी नाट्य परम्परा को जन्म दिया वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों

के प्रभाव स्वरूप एवं पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव स्वरूप पारसी मण्डलियों ने व्यावसायिक नाटक के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाई। इन व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा प्रस्तुत अश्लील एवं भद्दे नाटक तत्कालीन समय की जनता को पथ भ्रष्ट कर रहे थे। ये मण्डलियाँ अपनी ऊपरी चमक—दमक, फूहड़ कथानक की प्रस्तुति के द्वारा एक ओर तो आर्थिक रूप से खुद को सम्पन्न कर रही थीं वहीं दूसरी ओर समाज को नैतिक मूल्यों से विहीन करने में भी इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी ऐसे में जब एक ओर देश में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष चल रहा था तो ये मण्डलियाँ उसमें सहयोग करने के स्थान पर जनता को ही सस्ते मनोरंजन का लोभ दिखाकर अपनी जेबें भर रही थीं। इन कुरुचिपूर्ण नाटकों के विरोध में प्रसाद ने अपने नाटकों में युगीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का समन्वय करते हुए साहित्यिक नाटकों की रचना कर पारसी मण्डलियों के क्षुद्र रूप से बचते हुए एक दृढ़ साहित्यिक कथानक के द्वारा नाटक के आदर्श रूप को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। जिसने तत्कालीन समाज एवं नाटकों को मर्यादित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जीवन में उपस्थित समस्याओं का चित्रण एवं उनका समाधान— दोनों का उद्घाटन प्रसाद ने अपने नाटकों में किया। इस बात की पुष्टि प्रस्तुत कथन से हो जाती है—

“इस कोशिश में उन्होंने पारसी नाटकों की छिछली रंगीनी से यथासम्भव बचते हुए जीवन की जटिलताओं का उद्घाटन एवं समाधान करने वाले स्रोतों की तलाश की।”

अपने ‘रंगमंच’ शीर्षक निबंध में भारतीय नाट्यशास्त्र की चर्चा करते हुए प्रसाद रंगशाला के विषय में बात करते हैं। आज जिस प्रकार की रंगशालाओं का निर्माण होता है उसका आधार भी वही है जिसका वर्णन प्रसाद अपने निबंध में करते हैं।

‘थिएटर’ का जो स्वरूप हमारे समक्ष उपलब्ध है वह कहीं न कहीं अपने अतीत से प्रभावित है। अर्थात् रंगशाला की जो संकल्पना आज प्रचलित है वो भारत के ‘नाट्यशास्त्र’ में वर्णित नाट्य मंडप के ही एक भेद विकृष्ट का ही आधुनिक रूप है जिसकी चर्चा प्रसाद अपने ‘रंगमंच’ शीर्षक निबंध में प्रारंभ में ही करते हैं।

आज ‘थिएटर’ में ‘स्टेज’ के सामने वाला भाग गैलरी जिसमें दर्शक बैठते हैं उसकी अवधारणा हू—ब—हू उसी विकृष्ट नाट्य मंडप की बैठक की भाँति है जिसकी चर्चा प्रसाद ने अपने निबंध में की है। प्रसाद कहते हैं— “आगे के बड़े आधे भाग में बैठने के लिए जिससे दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, ऐसा सोपान की आकृति का बैठक बनाया जाता था। कदाचित् वह आज की ‘गैलरी’ की तरह होता था।”

कहीं न कहीं प्रसाद रंगशाला के इस स्वरूप के पक्षधर हैं जो कि दर्शक एवं नाटककार तथा निर्देशक सभी के अनुकूल दिखाई पड़ता है जो आज के समय में भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है।

रंगशाला की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए प्रसाद फिर ‘रंगमंच’ पर बात करते हैं। वे कहते हैं कि रंगमंच के भी दो भाग होते थे सबसे आगे का भाग रंगपीठ एवं पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता था। इन दोनों के बीच में ‘जवनिका’ रहती थी। रंगमंच की ये संकल्पना आज भी विद्यमान है बस शब्दों का अंतर हो गया है। वर्तमान समय में ‘यवनिका’ के लिए ‘परदा’ शब्द प्रयुक्त होने लगा है। जिसे स्टेज पर रंगपीठ एवं रंगशीर्ष के बीच में लगा दिया जाता है।

रंगशीर्ष में ‘नेपथ्य’ जिसे आज के समय Back stage कहा जाता है, के भीतर दो द्वार होते थे तथा आज के समय में जैसे दृश्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए जिस प्रकार अलग—अलग वस्तुओं को ‘स्टेज’ पर सजाया जाता है वह भी ठीक उसी प्रकार का होता है जिसकी व्याख्या प्रसाद करते हैं— “रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष यंत्र—जल, गवाक्ष शालभंजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते थे।”

संभवतः इसी स्थान पर अभिनय किया जाता था। प्रसाद का यह तर्क उनकी मंच—सज्जा के दृष्टिकोण को और व्यापक बनाता है। जैसा कि आज भी देखने को मिलता है कि नाटक के आरंभ के पूर्व ही रंगपीठ से ही किसी विदूषक के द्वारा नाटक की भूमिका अथवा प्रस्तावना को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, यह उसी परंपरा का निर्वहन है जिसकी चर्चा भरत ने अने ‘नाट्यशास्त्र’ में की थी।

आगे बढ़ते हुए प्रसाद 'रंगमंच' के प्रकार की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आधुनिक काल की रामलीला में प्रयुक्त होने वाले विमान यह सिद्ध करते हैं कि भारत में दो प्रकार के रंगमंच हुआ करते थे एक वो थे जिनके लिए बड़ी-बड़ी रंगशालाएँ थीं और दूसरे चलते हुए रंगमंच थे जो काष्ठ लकड़ी से बने होते थे और उन्हें चारों दिशाओं में दृश्यानुसार घुमा-फिरा कर अभिनय किया जाता था।

“भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे। एक तो वे जिनके बड़े-बड़े नाट्य मंदिर बने थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों में आवश्यकतानुसार घुमा-फिरा कर अभिनयोपयोगी कर लिए जाते थे।” प्रसाद दृश्यांकन की बात करते हैं। नाटक पात्रों को भावानुरूप व्यंजनापूर्ण एवं सार्थक भूमिका देने के लिए दृश्यांकन की आवश्यकता पड़ती है। प्रभावी दृश्यांकन के लिए लकड़ी के फलक, कैनवास, रंग आदि के नियोजन के साथ-साथ अच्छे चित्रकार की भी आवश्यकता होती है। जो दृश्यों के अनुरूप चित्रों की सर्जना कर नाटक को प्रभावशाली बनाता है। इसके उपरांत दृश्य से संबंधित वस्तुओं को जुटाने का कार्य किया जाता है। चूँकि प्रसाद ऐतिहासिक नाटक लिख रहे थे अतः उन दृश्यों का सामग्री संकलन बहुत ही शोध, व्यय तथा श्रम के पर्याप्त नियोजन के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है।

आगे दृश्य-सज्जा की चर्चा प्रसाद अपने निबंध में करते हैं। दृश्य-सज्जा में वस्तु की अपेक्षा दर्शक के मन पर पड़ने वाले प्रभाव का अधिक महत्व होता है। इसी की व्याख्या करते हुए प्रसाद कहते हैं कि दृश्य-सज्जा के लिए हल्की धातुओं, काष्ठ आदि का प्रयोग करना चाहिए। संस्कृत नाटकों से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि “संस्कृत रंगमंच इतना विकसित था कि उसमें बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती अप्सराएँ दिखलाई जा सकती थीं।” प्रसाद की मान्यता है कि दृश्यों को दिखाने के लिए ऐसी हल्की धातुओं तथा वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए, जिसमें दृश्य-परिवर्तन करने पर तथा दृश्यों में घोड़े, बैलों से जुते रथ आदि को भी दिखाने में कोई कठिनाई न हो। अतः इन दृश्यों की प्रभावशीलता को बढ़ाने के लिए जैसे मोम, मिट्टी, तृण, लाल अभ्रक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और बाँस के फंठों से काम किया गया। ठीक उसी प्रकार ऐतिहासिक नाटकों के दृश्यों को भी प्रदर्शित करने में इस प्रकार की वस्तुएँ सहायता कर सकती हैं।

इसके उपरांत 'यवनिका' के महत्व को दर्शाते हुए प्रसाद कहते हैं कि दृश्यों को प्रभावी बनाने में 'यवनिका' का भी विशेष महत्व होता है। परदे के गिरने तथा उठने के साथ ही नाटक का प्रारंभ तथा अंत होता है। परदे का गिरना इस बात का सूचक होता है कि दृश्य परिवर्तन हो रहा है अथवा नाटक समाप्त हो रहा है। अंकों का परिवर्तन करने में भी यवनिका या परदे सहायक होते हैं जो नाटकों को एकसूत्र में बाँधकर उनकी गतिशीलता को बनाए रखते हैं।

इन परदों का उपयोग दृश्यांतर उपस्थित करने के साथ ही साथ सहसा पात्रों की उपस्थिति तथा अन्य पात्रों के द्वारा दूसरे दृश्य को अलग कक्ष्या में अभिनय करने के लिए किया जाता था जो आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। आज इन कक्ष्याओं को 'Blocks' के नाम से जाना जाता है जो तत्कालीन रंगमंच पर विविध संवादों के अनुसार अलग-अलग रूप में तैयार किए जाते थे तथा स्थानों की दूरी का संकेत भी इन्हीं कक्ष्याओं के माध्यम से दे दिया जाता था जो संभवतः आज भी देखने को मिलता है। भले ही ये प्राचीन रंगमंच आधुनिक रूप से विकसित नहीं थे किन्तु फिर भी दृश्यों को प्रभावशाली बनाने में कक्ष्याओं तथा विविध सामग्रियों को (जैसे- शैल, विमान, यान, कृषिम, प्रसाद यंष तथा पट) जिस सामंजस्य के साथ रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता था वह अद्भुत था। इस संदर्भ में यह कथन उल्लेखनीय है कि- “यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थे फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्या विभाग और उसमें दृश्यों के लिए शैल विमान यान तथा कृत्रिम प्रासाद यंत्र और पटों का उपयोग होता था।”

प्रसाद ने जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने नाटकों की रचना संस्कृत रंग-शिल्प से प्रभावित होकर की, वही कुछ बातों का खण्डन भी उन्होंने अपनी नाटकों में किया। प्रसाद अपने नाटकों में संस्कृत नाटकों की इस मान्यता का खण्डन करते नजर आते हैं कि रंगमंच पर पुरुषों का गान शोभनीय नहीं लगता। अर्थात् प्रसाद ने अपने नाटकों में हर स्त्री पात्र के साथ ही साथ पुरुष पात्रों से भी गायन करवाया है जो उनकी प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है। प्रसाद प्रयोगवादी भी थे। उन्होंने

संस्कृत नाटकों से प्रेरणा जरूर ग्रहण की लेकिन पूर्ण रूप से उनकी राह पर न चलकर जहाँ भी अपेक्षित था वहाँ उन्होंने प्रयोग किए। प्रसाद ने संस्कृत नाटकों की इस परम्परा का अनुसरण नहीं किया कि रंगमंच पर सिर्फ स्त्रियाँ ही गा सकती हैं क्योंकि उनके कण्ठ मधुर होते हैं।

“स्त्रीणां स्वभाव मधुरः कंठो नृणां बलत्वं च”— स्त्रियों का कण्ठ स्वभाव से ही मधुर होता है। पुरुष में बल है, इसीलिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें, पुरुषों का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता था। प्रसाद ने रंगमंच सम्बन्धी इस रूढ़ियों का विरोध अपने नाटकों में किया है।

प्रसाद एक ऐसे समय एवं माहौल में नाट्य सृजन कर रहे थे जहाँ एक ओर पारसी ‘रंगमंच एवं हिन्दी सिनेमा दर्शकों के बीच एवं समाज में अपनी गहरी पकड़ बना रहा था, वहीं हिन्दी में स्थायी एवं मजबूत रंगमंच का अभाव था।

आगे प्रसाद संगीत पक्ष पर बात करते हैं। भरत की नाट्य परंपरा से संगीत एवं नाटक का गहन संबंध सर्वविदित है। प्राचीन भारतीय आचार्य तो संगीत के बिना नाटक की कल्पना ही नहीं कर सकते थे। नाटक में संगीत वातावरण की सृष्टि और पुष्टि करता है। आज भी नाटक के संदर्भ में संगीत तथा ध्वनि—नियोजन का महत्व कम नहीं हुआ है। प्रसाद नाटकों में शास्त्रीय संगीत के पक्षपाती थे। पश्चिमी ट्यूनों का मिश्रण उनके नाटकों में निहित गीतों के मूल में मुखरित भारतीय स्वर पर आधार पड़ चुका— इसी आशंका का समाधान उन्होंने युगीन प्रवृत्ति के निरूपण के माध्यम से किया —

“दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी स्टेज ने पश्चिमी ट्यूनों का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उनके इस काम में बंगाल ने भी साथ दिया किन्तु उतने भदे ढंग से नहीं। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का मिश्रण किया वह सुरुचि से बहुत आगे नहीं बढ़ा।”

अभिनय में इसी प्रचलन का परिहार करने के उद्देश्य से ही प्रसाद ने कुछ नाटकों के अंत में गीतों की स्वरलिपि देने की योजना की है।

प्रसाद की धारणा है कि रंगमंच में रूप—सज्जा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्रसाद रूप—सज्जा पर संक्षिप्त रूप में ठोस बात करते हैं। रंगमंच पर यदि पात्र की रूप सज्जा की जाये तो दृढ़ से दृढ़ चरित्र भी निष्प्रभ दिखाई देने लगता है। अतः पात्र के अनुसार रूप सज्जा अत्यावश्यक है। अभिनेता जिस चरित्र की भूमिका का निर्वहन कर रहा होता है उस चरित्र के शील, व्यवसाय तथा आयु के अनुसार पात्र की रूप सज्जा से उसका अभिनय अत्यधिक प्रभावशाली एवं यथार्थ के निकट लगने लगता है। प्रसाद कहते हैं कि—

“पश्चिम में आज भी प्राचीन नाटकों के सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक् चित्र बनाने के लिए टनों मेकअप का मसाला एक—एक पात्र पर लग जाता है।”

अतः ऐतिहासिक पात्रों की रूप सज्जा विशेषकर मुख सज्जा बड़ी ही सतर्कता से, उनके युग, सभ्यता एवं कार्य के अनुरूप होनी चाहिए। दृश्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए नाटक में नर्तकियों की भी संयोजना की जाती थी। जिसका अनुसरण प्रसाद ने अपने नाटकों में भरपूर रूप में किया है। दृश्य—सज्जा के बाद वेशभूषा की व्याख्या करते हुए प्रसाद कहते हैं कि प्राचीन समय में स्त्रियों को न सिर्फ अभिनय की शिक्षा दी जाती थी साथ ही उन्हें पुरुषों की ही भाँति वेशभूषा संबंधी शिक्षा भी दी जाती थी। दृश्यों के अनुरूप वस्त्र—निर्माण तथा कृत्रिम केश—मुकुटों तथा दाढ़ी का भी उल्लेख ‘नाट्यशास्त्र’ में मिलता है।

यह इस बात का संकेत करता है कि प्रसाद चाहते थे कि नाटक की शिक्षा स्त्रियों को भी मिलनी चाहिए जिससे नाटक विधा समृद्ध हो सके तथा पुरुषों को स्त्रियों की भूमिका का निर्वहन न करना पड़े।

वेशभूषा के विषय में भी प्रसाद अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वेशभूषा नाटकोपयोगी दृश्यों के अनुसार होनी चाहिए तथा उसका निर्माण ऐसे वस्त्रों से होना चाहिए जो न सिर्फ हल्के हों बल्कि पात्रों को धारण करने में भी सहज हो। वेशभूषा के अंतर्गत ही उन्होंने भिन्न—भिन्न पात्रों के अनुरूप केश—मुकुट का भी वर्णन किया है जो अग्रक तथा ताम्र के पतले पत्रों से निर्मित होते थे। चूँकि प्रसाद

इतिहास के विद्वान थे। इतिहास में उनकी गहरी रुचि थी अतः अपने नाटकों के लिए उन्होंने इन उद्धरणों के द्वारा संकेत दिया है कि ऐतिहासिक नाटकों के लिए दृश्य, रूप, मंच आदि की सज्जा का स्वरूप कैसा होना चाहिए। अभिनय करते समय यदि पात्र मुकुट धारण किए हुए हैं तो इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि मुकुट भारी न हों जिससे कि पात्र सहज रूप से अभिनय कर सकें अतः उनके निर्माण में अम्रक तथा ताम्र के पतले पत्रों का प्रयोग किया जाता था जो हल्के होते थे। साथ ही दैत्य—दानवों की दाढ़ी के लिए कोयल के पंखों का इस्तेमाल किया जाता था। इससे प्रभावित होकर संभवतः प्रसाद ने अपने नाटकों में वेशभूषा का यह रूप अपनाया है।

हिन्दी रंगमंच के असफल अथवा अविकसित होने में प्रसाद एक और तथ्य का उद्घाटन करते हैं वो है नाटकों में स्त्री पात्रों का न होना। अर्थात् तत्कालीन समय में जो भी नाटक खेले जाते थे उनमें स्त्रियाँ प्रायः वर्जित ही थी। स्त्रियों की भूमिका का भी निर्वहन प्रायः पुरुष ही किया करते थे। चाहे वो पारसी रंगमंडलियों द्वारा प्रस्तुत नाटक हों चाहे भारतेन्दु युग के नाटककारों द्वारा अभिनीत नाटक हो। इंग्लैण्ड में प्रचलित मान्यता के आधार पर ही हिन्दी नाटकों में स्त्रियों की भूमिका को अस्वीकृत कर दिया गया। और जब स्त्रियों को उनकी कला के प्रदर्शन के लिए सिनेमा ने मंच प्रदान किया तो स्वाभाविक है कि उनका रुझान उस ओर अधिक हुआ जो कि उस समय हिन्दी रंगमंच के पतन का एक कारण बना। प्रसाद कहते हैं कि—

“किन्तु सिनेमा ने स्त्रियों को रंगमंच पर अबाध अधिकार दिया।... किन्तु रंगमंच की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उनमें अभाव, विशेषतः हिन्दी रंगमंच के लिए।”

अतः प्रसाद ने अपने समय की इस रूढ़ि को तोड़ा और अपने नाटकों में स्त्री पात्रों की योजना की।

नाटक में स्त्री पात्र की भूमिका निभाते हुए जो प्रभावोत्पादकता एक स्त्री सहज ही उत्पन्न कर सकती है वो यथेष्ट प्रभाव पुरुष के द्वारा सम्भव नहीं। अतः प्रसाद अपने नाटकों में तथा रंगमंच पर स्त्रियों की भूमिका को लेकर सचेत एवं सजग नजर आते हैं। इस बात का समर्थन इस मत से हो जाता है—

“...उन्होंने स्त्री पात्रों की भूमिका में पुरुष पात्रों के उतरने से उत्पन्न अस्वाभाविकता को स्वयं देखा होगा और अनुभव किया होगा कि इस विडम्बना से मूल भावना को कितनी जबरदस्त क्षति पहुँचती है।”

प्रसाद की नाट्य दृष्टि का अगला पक्ष यह है कि नाटक के अनुरूप रंगमंच का निर्धारण करते हैं। प्रसाद अपने ‘रंगमंच’ शीर्षक निबन्ध में कहते हैं कि—

“...काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा।”

प्रसाद मुक्त कंठ से ये घोषणा करते हैं कि जो भी यह भ्रम पाल के बैठा है कि रंगमंच के लिए नाटक हों, यह सर्वथा अनुचित है। क्योंकि नाटकों के होने से रंगमंच का विकास तथा अस्तित्व है। यदि नाटक नहीं तो रंगमंच का अकेले कोई प्रयोजन तथा औचित्य नहीं। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रसाद आगे लिखते हैं कि—

“रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो जो व्यावहारिक है।”

प्रसाद भाषा के स्तर पर द्विवेदी युग में भाषा को लेकर होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तन से भी प्रभावित थे। भाषा परिमार्जन का जो प्रयास द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी कर रहे थे उसको भी साथ लेकर चलने का सफल प्रयत्न प्रसाद ने किया। अर्थात् साहित्यिक हिन्दी नाटक को अपनी साहित्यिक भाषा से पोषित करके प्रसाद ने द्विवेदी युग के महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी बदलाव को एक नई दिशा दी। साथ ही पारसी रंगमंच पर प्रयोग होने वाली भद्दी एवं फूहड़ निम्नस्तरीय भाषा के विरोध में एक सायास साहित्यिक पहल प्रसाद ने की। चूँकि प्रसाद एक आभिजात्य परिवार से सम्बन्धित थे अतः भाषा का संस्कार उनमें जन्म से ही विद्यमान था। साहित्यिक एवं स्तरीय भाषा के प्रति आग्रह उनके नाटकों में प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है।

प्रसाद ने नाटक के अभिनय में स्वीकृत लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी दोनों रूपों का वर्णन करते हुए नाट्यधर्मी रूप को अपने नाटकों में तथा रंगमंच के लिए पूर्ण रूप से स्वीकारा।

प्रसाद के रंगमंच के सामने संस्कृत रंगमंच का जो सुन्दर प्रतिष्ठित एवं शास्त्रीय स्वरूप था, उसी से प्रभावित होकर प्रसाद ने हिन्दी रंगमंच की व्यापक परिकल्पना की।

प्रसाद की रंगदृष्टि का अगला पक्ष लोकधर्मी व नाट्यधर्मी अभिनय था। लोकधर्मी अभिनय सहज एवं स्वाभाविकता पर आधारित होता था। उसमें कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग बहुत ही कम होता था। स्वाभाविकता उपकरणों में नहीं आंगिक अभिनय में भी समाविष्ट थी। उसमें अत्यधिक अंग-लीला का विधान नहीं था।

वहीं नाट्यधर्मी अभिनय के अंतर्गत अतिसत्त्व क्रियाएँ, असाधारण कर्म, शैल, यान, विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अंगहार आते थे। स्वगत आकाश-भाषित आदि सभी का उपयोग नाट्यधर्मी अभिनय में किया जाता था।

प्रसाद ने 'नाट्यधर्मी' रूप को अपनाते हुए अपने नाटकों की रचना की। इसी प्रकार नाटकों को गति प्रदान करने के लिए प्रसाद ने जिस बिन्दु को उठाया है वो है नटों के गति-प्रचार (मूवमेंट), वस्तु-निवेदन (डिलीवरी), संभाषण (स्पीच) आदि। आज भी नाटक की गति को बनाए रखने के लिए इन बिन्दुओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है।

। UnO: ॥

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, पृ० 60.
2. उपर्युक्त, पृ० 61.
3. उपर्युक्त, पृ० 61.
4. उपर्युक्त, पृ० 63.
5. उपर्युक्त, पृ० 07.
6. उपर्युक्त, पृ० 68.
7. उपर्युक्त, पृ० 67-68.
8. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, पृ० 65.
9. उपर्युक्त, पृ० 69.
10. पहला रंग, देवेन्द्र राज अंकुर, पृ० 14.
11. छायाण्ट, पृ० 49.



c) ,o xk/kh d n'ku e vfglk

vkun 'kdj frokjh*

अहिंसा की ही बात की जाय तो गांधी महाभारत व उपनिषद् से निर्देशित तो हैं ही साथ ही वे जैनों की अहिंसा से अधिक प्रभावित दिखते हैं। वस्तुतः वे अहिंसा के सन्दर्भ में जैनों के समर्पण से अधिक प्रभावी हैं किन्तु गांधी की अहिंसा जैनों के कठोर अहिंसा से मेल नहीं खाता बल्कि यह बुद्ध और जैन की अहिंसा से अलग समाज और व्यवहार में अपनायी जाने वाली अहिंसा है। कहा भी है कि अहिंसा सिद्धान्त एक सार्वभौम सिद्धान्त है और विरोधी वातावरण के कारण उसका उपयोग सीमित नहीं होता। बेशक, उसकी सफलता की कसौटी तभी होती है जब वह विरोध के बावजूद और विरोध के बीच भी अपना काम करें। अगर हमारी अहिंसा अपनी विजय के लिए शासकों की सद्भावना पर निर्भर करें तब तो वह खोखली और निकम्मी ही मानी जायेगी।¹ गांधी के दर्शन में अहिंसा टालस्टाय की हर परिस्थिति में अहिंसा और जैन की कठोरतावादी अहिंसा से अलग मन, कर्म, वचन में समग्र अहिंसा के रूप में है। इसी तरह अन्य जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में भी गांधी प्रयोगवादी एवं ग्रहणशील ही हैं और सभी मतों से ग्रहण की जा सकने वाली विधाओं व मान्यताओं को ग्रहण भी किया है। गांधी का धर्म अपने सारतत्त्व में अहिंसा, सदाचार, करुणा, सच्चाई तथा आत्मसंयम पर आश्रित मानव धर्म था। यह सभी धर्मों का निचोड़ था।² सर्वोदय को समग्रता में समझने में गांधी के लिए रस्किन के पुस्तक ने बड़ा सहयोग दिया। इंग्लैण्ड में टालस्टाय के अनन्य प्रशंसक उन्नीसवीं सदी के महान कलाविद् समीक्षक, निबन्धकार, प्रगतिशील मानवतावादी चिन्तक जॉन राशिकन (1819–1900) की –अन टू दिस लास्ट’ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जिसकी संस्कृति ‘हिन्द स्वराज’ के परिशिष्ट में है।³

इस तरह कहना न होगा कि गांधी चिन्तन में प्रयोग का धर्म सभी धर्मों से ऊर्जा लेकर ही पूरा किया गया है, जबकि बुद्ध के चिन्तन में ये सभी ऊर्जा स्वतः स्फूर्त रूप में विद्यमान रहा है। बुद्ध के चिन्तन में बहुजन सुखाय की बात की गई है वहीं गांधी चिन्तन में रस्किन के पुस्तक का भावानुवाद सर्वोदय के रूप में सम्मुख आता है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि सर्वोदयी विचार भारत के चिन्तन पद्धति में नहीं रहा है। यहाँ भी सर्वोदयी लक्षण की बात तो मिलती है जिसे गांधी सर्वे भवन्तु सुखिनः के रूप में वरण करते हैं। ऋषियों की यह तपःपूत वाणी भिन्न रूपों में हमारे यहाँ मुखरित होती रही है। जैनाचार्य समंत भद्र कहते हैं : ‘सर्वापदामन्तकरं निरन्त सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव’। पर सबका उदय, सबका कल्याण, दाल-भात का कौर नहीं है। कुछ लोगों का उदय हो सकता है, बहुत लोगों का उदय हो सकता है, पर सब लोगों का उदय हो सकता है बात मस्तिष्क में धँसती ही नहीं। बड़े-बड़े विद्वान, बड़े-बड़े सिद्धान्त शास्त्री इस स्थान पर पहुँच कर अटक जाते हैं। कहते हैं होना तो अवश्य यही चाहिए कि शत प्रतिशत का उदय हो, मानवमात्र का कल्याण हो, हर व्यक्ति का विकास हो पर यह व्यवहार्य नहीं है.... सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है, परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्नसयाध्य है।⁴ इस तरह हम पाते हैं कि सर्वोदय का आदर्श मानने वाले गांधी बुद्ध के चिन्तन में निष्ठा रखने के साथ भी अपने प्रकार का विशिष्ट जीवन मूल्य को सहेजते और संवारते हैं।

अहिंसा जिसे गांधी समझते हैं वह जैन व बौद्ध की अहिंसा से कुछ दृष्टियों में अन्तर भी स्पष्ट करता है। यह एक बड़ा विभाजक बिन्दु है जहाँ के अन्तर को समझने के लिए अहिंसा के रूप में एक अलग विषय समझ कर गांधी के अहिंसा सम्बन्धी वास्तविक निहितार्थ को समझ लेना ठीक होगा। जैन

*अतिथि प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

की अहिंसा कठोरतावादी पुट को लिये हुए है, वहीं पर बुद्ध की अहिंसा जीवों के लिए दया और करुणा के रूप में समझी गयी है। गांधी कहते हैं कि कुछ मित्रों ने मुझसे कहा है कि सत्य और अहिंसा का राजनीति और दुनियावी व्यवहार में कोई स्थान नहीं है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। व्यक्तिगत मोक्ष के साधनों के रूप में सत्य और अहिंसा का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं है। प्रतिदिन के जीवन में उन्हें स्थान देने तथा उनका उपयोग करने का प्रयोग मैं सदा से ही करता आया हूँ।⁵ सत्य और अहिंसा का उपयोग गांधी चिन्तन में व्यवहार के प्रमुख तत्व और उपक्रम के रूप में हुआ है जिससे मानव के उन्नयन और वैयक्तिक उत्थान के रास्ते खुलते हैं गांधी अहिंसा को प्रेम के सकारात्मक अभिव्यक्ति के अर्थ में ग्रहण करते हैं, साथ ही जब हम सबके कल्याण की कामना करते हों तो यह जरूरी हो जाता है कि हिंसा और घृणा की जगह प्रेम और अहिंसा का ही राज हो, अहिंसावादी उपयोगितावाद (अधिकतम लोगों का अधिकतम हित का) समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श को सिद्ध करने के प्रयत्न में मर जायेगा। इस तरह वह इसलिए मरना चाहेगा कि दूसरे जी सकें। आप मर कर दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी करेगा। सबके अधिकतम सुख में अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है और इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, किन्तु अन्त में ऐसा अवसर भी आयेगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और एक-दूसरे का विरोध भी करना पड़ेगा। तर्कसंगत बना रहने के लिए उपयोगितावादी अपना बलिदान कभी नहीं कर सकता। लेकिन अहिंसावादी अपना बलिदान देने को भी हमेशा तैयार रहेगा।⁶

अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख के विचार धारा में यह तय करना भी कठिन ही हो सकता है कि वे अधिकतम व्यक्ति कौन हैं जिनके अधिकतम सुख की बात हो रही है। सम्भव है कि इन अधिकतम व्यक्तियों में न आने वाले व्यक्तियों में से अधिकतम व्यक्ति वे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो कमजोर हों, असहाय हों और बार-बार इनके विकास की मुख्य धारा से कट जाने के कारण सामाजिक असन्तुलन की स्थिति भी आ सकती है। इसीलिए सर्वोदयी विचारधारा में अहिंसा का लक्ष्य उस व्यक्ति से प्रेम दिखाने व सहयोग करने की बात करता है जो सबसे कमजोर है। वास्तव में गांधी के प्रयोगों का असर उनके अहिंसा के प्रति व्यापक सोच और सर्वगत कल्याण की भावना में स्पष्ट नजर आता है, क्योंकि बुद्ध के दर्शन में अहिंसा जीव मात्र के प्रति दया एवं करुणा के अर्थ में समझा गया है किन्तु इतना व्यापक एवं व्यावहारिक आयाम जो कि व्यवहार के स्तर पर गांधी के दर्शन में प्राप्त हुआ वह अन्यत्र कम मिलता है। गांधी चिंतन को यदि हम समझें तो यहाँ सत्य के साक्षात्कार की एक मात्र विधि अहिंसा है। अहिंसा पद 'अ' पूर्वक होने के कारण निषेधात्मक प्रतीत होता है, किन्तु तत्त्वतः यह भावात्मक पद है। हिंसा वह क्रिया है, जिसमें मन, वाणी अथवा कर्म के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाया जाता है, अथवा उसके अधिकार का हनन किया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंसा स्वयं निषेधात्मक है। मानसिक, वाचिक अथवा कार्मिक हिंसा किसी न किसी रूप में अधिकार का निषेध अवश्य करती है। इस निषेध मूलक हिंसा का निषेध करने वाला अहिंसा पद द्विधा निषेध से भावात्मक बन जाता है। अहिंसा के भी तीन प्रकार होते हैं— मन, वाणी एवं कर्म से किसी को कष्ट न देना या किसी के अधिकार का हनन न करना अहिंसा है। अहिंसा का महत्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि, भारतीय दर्शनों में इसे प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में मानता है, जैन और बौद्ध दर्शन तो अहिंसा को अत्यधिक मूल्यवान् मानते हैं। गांधी दर्शन में अहिंसा केन्द्रीय सिद्धान्त है, क्योंकि इस दार्शनिक प्रणाली का कोई बिन्दु ऐसा नहीं है जो अहिंसा से असम्बद्ध हो।⁷ गांधी दर्शन में अहिंसा को व्यापक दृष्टि देते हुए समझा गया है या यह कहिये कि गांधी दर्शन में बिना अहिंसा के किसी अन्य सैद्धान्तिक मत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। गांधी चिन्तन के सभी आयामों में अहिंसा का प्राण और शरीर जैसा सम्बन्ध है, गांधी अहिंसा के विभिन्न पक्षों का एक निर्दोष अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं।

प्रो० जटाशंकर अहिंसा की अभिव्यक्ति को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं— जब कोई कायर व्यक्ति किसी हिंसात्मक अन्याय का विरोध नहीं करता, तो वह अहिंसा जैसा प्रतीत होता है। कायरता

में कर्म की हिंसा तो नहीं होती, किन्तु मानिसक हिंसा विद्यमान होती है। कायर व्यक्ति अपने विपक्षी का बुरा चाहता है और सोचता है। इसलिए इसे अहिंसा नहीं माना जा सकता। कायरता अव्यक्त हिंसा है।⁹ बौद्ध चिन्तन के अन्तर्गत व्यवहार के इन विशिष्ट पक्षों का अहिंसा के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक चिन्तन सम्भवतः उस स्तर का नहीं मिलता है जिस स्तर पर गांधी चिन्तन में ये दिखता है। कहना न होगा कि बुद्ध एक महामानव थे जिनके दर्शन का गन्तव्य बिन्दु मानवता के दुःखों से मानव को मुक्ति दिलाना था, जबकि गांधी के दर्शन को देखने से लगता है कि यह व्यावहारिक समस्याओं के परिशोधन और आत्मगत उत्थान के माध्यम से राष्ट्र उत्थान के संकल्प की प्रमुखता लिये हुए है। इसके साथ ही देश-काल से सम्बन्धित समस्याओं की विभिन्नता भी है जिसके कारण से सम्बन्धी दर्शन में भी वैभिन्नता दिखती है। इसीलिए अहिंसा सम्बन्धी विचारधारा में भी पर्याप्त वैशिष्ट्यपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है, खास कर जब हम गांधी चिन्तन में उसको समझने का प्रयास करते हैं। अहिंसा के एक अन्य महत्वपूर्ण रूप प्रतिहिंसा को स्पष्ट करते हुए प्रो० जटाशंकर कहते हैं— अहिंसा की अभिव्यक्ति का दूसरा रूप प्रति हिंसा है। किसी अन्यायपूर्ण हिंसा का विरोध हिंसा के द्वारा करना प्रतिहिंसा कहलाता है। प्रतिहिंसा कायरता की तुलना में उत्कृष्ट है। इस अवस्था में हिंसा का प्रत्युत्तर देते हुए व्यक्ति केवल कर्म में हिंसा करता है, किन्तु मन एवं वाणी से वह हिंसक नहीं होता। प्रतिहिंसा हिंसा के विरुद्ध हिंसा है और निषेध का निषेध होने के कारण यह भावात्मक है।⁹

आगे गांधी यह भी मानते हैं कि कायरता की अहिंसा हिंसा से कम है। वे कहते हैं कि मैं भारत को उसके मान-सम्मान की रक्षा के लिए शस्त्रों के प्रयोग की आज्ञा दूँगा, बजाय इससे कि वह कायरतापूर्वक अपमान सहने को विवश बना रहे। ऐसी भयभीत अहिंसा से निर्भय प्रतिहिंसा ही श्रेष्ठ है।¹⁰ अहिंसा को किसी विधि या सिद्धान्त के रूप में मानकर के आचरण करने में ये नहीं कहा जा सकता है कि व्यक्ति का आचरण पूर्णतः अहिंसा ही है क्योंकि अहिंसा को एक उचित तथा शुभ सिद्धान्त मान कर उसे आचरण में लाना, अहिंसा की तृतीय कोटि है। यद्यपि यह पूर्व की दो कोटियों से बेहतर है किन्तु गांधी ऐसी अहिंसा को भी वास्तविक अहिंसा नहीं मानते क्योंकि ऐसा अहिंसक यदि इससे बेहतर सिद्धान्त पा जाय तो वह इसे निश्चित ही छोड़ देगा।¹¹

इस तरह यह कहना महत्वपूर्ण है कि गांधीवादी अहिंसा बौद्ध के अहिंसा से विशिष्टता रखता है और अपनी व्यावहारिकता और पद्धति के कारण जीवन और जगत में काफी करीब चला जाता है।

I UnHk §

1. कृपलानी, कृष्ण (संग्राहक और संपादक) (प्रस्तावना, सर्वपल्ली राधाकृष्णन) (1964): हम सब एक पिता के बालक, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद-14, पृ० 121
2. वीरेन्द्र कुमार बरनवाल (2011) : हिन्द स्वराग नवसभ्यता विमर्श, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० 42
3. वही, पृ० 53
4. धर्माधिकारी, दादा (2003), समग्र सर्वोदय दर्शन-3, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ० 16, (प्राक्कथन से)
5. (8 वें क्रम वाला, कृपलानी..., पृ० 111-112)
6. (8वें क्रम वाला- पृ० 122-123)
7. जटाशंकर (2003) : नैतिक दर्शन के विविध आयाम, श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान, इलाहाबाद, पृ० 113
8. वही, पृ० 113
9. वही
10. डॉ० कृष्णा कांत पाठक (2016), समाज एवं राजनीतिक दर्शन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, पृ० 589
11. वही, पृ० 589



nfer cpiu dk lp vkj ledkyhu fgUnh dfork

_pk*

β?kj l efLtn cgr nj g

pyk ; dj fd fd lh jkr cPp dk glk; k tk,β

एक बच्चे की मुस्कान में ईश्वर बसता है और निदा फाजली की ये चंद पंक्तियाँ यही बयान करती हैं। बच्चे ओस की बूँदों की तरह पवित्र, निश्चल और मासूम होते हैं। उनके सतरंगी सपने उनकी चंचल आँखों से साफ झलकते हैं, उनके नाजुक मन में भेद-भाव के लिए कोई जगह नहीं होती है। उन्हें तो बस पढ़ना है, गुनना है और मगन रहना है। ये बच्चे ही तो कल का भविष्य हैं।

लेकिन महानगरों की सड़कों पर रोज सुबह, फटे-पुराने कपड़ों में, खाली कटोरा हाथ में लिये घूमते बच्चों को देख मन सोच उठता है क्या यही है भारत का भविष्य ? हिन्दुस्तान की आगामी तस्वीर! ये आज का एक बड़ा और बेहद अहम सवाल है। समकालीन हिन्दी कविता और कवियों ने कुछ ऐसे ही सवालों को बड़े बेबाक तरीके से उठाया है। समकालीन कविता इन बच्चों की दबी आवाज को बुलन्द करती है, वक्तव्य न देकर प्रश्न करती है। वह समाज और व्यवस्था के इस दोहरे चरित्र का विरोध करती है, जिसके चलते ये बच्चे अपना अनमोल बचपन खोकर मजदूरी के दलदल में धँसने को विवश हैं। वह तर्क देती है, लताड़ती भी है, साथ ही एक कोशिश भी करती है कि हमारे ठण्डे पड़े सीनों में एक आग जल उठे, हम थोड़े बेचैन हो सकें और इन बच्चों के दर्द को समझ सकें।

आज बाल मजदूरी समाज की सबसे बड़ी कोढ़ है। वे बच्चे जिन्हें विरासत में वो सब नहीं मिला जो एक आम बच्चों को नसीब होता है। वे उपेक्षित बच्चे जो बेहद गरीब परिवार से आते हैं। ये बच्चे बेहतर स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन से तो वंचित रहते ही हैं, जैसे ही थोड़े बड़े होते हैं इनकी आँखों में बसे सपने भी टूट जाते हैं क्योंकि तब तक ये बच्चे बच्चे न होकर बाल मजदूर बन चुके होते हैं। उनके कोमल कन्धे भी जिम्मेदारी के बोझ तले दब चुके होते हैं।

रोज सुबह काम पर निकलते ये बच्चे कई तरह के काम करते हैं। अखबार बाँटने, होटलो में सफाई करने, बर्तन धोने से लेकर सामान व भारी माल ढोने तक। कभी-कभी तो इन बच्चों से इतने भयानक काम भी कराये जाते हैं जिनके बारे में सोच कर डर लगता है। इस तरह बाल मजदूरों की संख्या में वृद्धि होना हमारे समाज के सामने सवाल खड़ा करता है। यही सवाल उठाते हुए समकालीन कवि राजेश जोशी अपनी कविता 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' में लिखते हैं—

**dkgj l <dh lMd cPp dke ij tk jg g

l cg l cg

cPp dke ij tk jg g

gekj le; dh lcl Hk; kud ifDr g ;g

Hk; kud g bl fooj.k d rjg fy[kk tkuk

fy[kk tkuk pkfg, bl loky dh rjg

dke ij D; k tk jg g cPpA**1

यहाँ वे प्रश्न करते हैं कि काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे और साथ ही इस बात पर चिन्ता भी व्यक्त करते हैं कि समय की सबसे भयानक पंक्ति को विवरण की तरह लिखा जा रहा है, उसे खबर बना

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कर परोसा जा रहा, जिसे आये दिन हम समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में पढ़ते हैं। आखिर किस ओर जा रही है हमारी मानवता? वे आगे प्रश्न करते हुए कहते हैं—

**dke ij D;k tk jg gl cPp\
 D;k vrfj{k e fxj xb gl lkjh xni
 D;k nhedk u: [kk fy;k lkjh jxfcjxh fdrckk dk
 D;k dky igkM di uhp nc x, gl lkj f[kyku
 D;k fd lh Hkdi e <g xb gl
 lkj enj lk dh bekjr: **2

अंतरिक्ष में सारी गेदें नहीं गिरी हैं, खिलौने किसी पहाड़ के नीचे नहीं दबे हैं, मदरसों की इमारत अभी भी महफूज हैं लेकिन गरीबी की मार झेल रहे ये बच्चे इन सब से कोसों दूर हैं। समाज में व्याप्त गरीबी, शोषण, गैरबराबरी की कीमत ये बच्चे अपना बचपन खोकर चुका रहे हैं। व्यवस्था और हालात ने इनसे इनका बचपन छीन लिया और ये बाल मजदूर बनने पर विवश हो रहे हैं।

इब्बार रब्बी अपनी एक कविता में ऐसे ही बच्चे का जिक्र करते हैं जहाँ आठ साल का पान सिंग साफ बोल भी नहीं पाता पर गाँव से दिल्ली जाने को तैयार है। वहाँ क्या करेगा, कहाँ रहेगा, क्या खाएगा, इससे कोई मतलब नहीं। मतलब सिर्फ इससे है कि—

cl euhvkmj djxk tkr gh @ nfu;k mBk;ixk @ ihB iJA3

बाल मजदूरी बचपन के लिए सबसे बड़ा कलंक है। सोचने की बात है कि जिस देश में युवा भयंकर बेरोजगारी से जूझ रहे हैं वही बाल मजदूरों की संख्या में दिन प्रतिदिन इजाफा हो रहा है। देश में जहाँ 20 करोड़ वयस्क बेरोजगार हैं, वहीं 17 करोड़ बच्चे मजदूरी कर रहे हैं। अकेले दिल्ली में सात लाख बाल मजदूर हैं। सरकारी आंकड़ों के हिसाब से देश में एक करोड़ सत्तर लाख से भी ज्यादा बाल मजदूर हैं, जबकि गैर सरकारी संस्थाओं ने यह संख्या लगभग चार करोड़ बताई है। ऐसा तब है जब बाल मजदूरी को हमारे देश में एक अपराध माना गया है और इसके लिए सजा का प्रावधान है।

ये बाल मजदूर अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए छोटी-छोटी चोरियाँ भी करने लगते हैं। इन्हें बनना कुछ और होता है और ये बन कुछ और जाते हैं। आगे जाकर ये ही बच्चे अपराध की दुनिया में जाने को विवश हो जाते हैं।

कवि राजेश जोशी हाल में प्रकाशित 'जिद' काव्य-संग्रह की एक कविता 'नगरगट्टे' में लिखते हैं —

^mud firvki u: mUg: gkVyki ;k nhxj ndkuk
 ;k jbi ykxk di edkuk ij dke ij yxk fn;k
 o dke ij tkui di fy, ihV x,
 vkj dke ij viui ekfyd }kjk Hkh ihV x,
 o gj txg l: Hkx [kM: g, A
 o bru: fiV pdi gl fd jkuk Hky x, gl
 n[k t:l k dkb: 'kCn mud: ik l ugh: gA**4

दरअसल ये बाल मजदूर बहुत ही सस्ते दाम पर और आसानी से मिल जाते हैं। बाल मजदूरी न सिर्फ बच्चों से उनका बचपन छीन रही है बल्कि उन्हें शिक्षा से भी दूर कर रही है जिसके कारण इनका भविष्य अंधकारमय हो जाता है और फिर यही युवा होकर रोजगार के लिए दरबंदर भटकते हैं।

ये ही बच्चे हमें आये दिन सड़कों पर भीख मांगते नजर आते हैं। सड़क पर भीख मांगते बच्चों को देख हम कभी दया दिखाकर या कुछ पैसे उनके नन्हें हाथों पर रखकर खानापूर्ति तो कर देते हैं, पर कभी आगे आकर इनके लिए कुछ करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। हम भूल जाते हैं कि चन्द पैसे इन बच्चों का रंच मात्र भी भला नहीं कर सकते बल्कि इन्हें बेरोजगारी के दलदल में ले जाने का ही काम करते हैं। सम्य समाज की इस तथाकथित मानसिकता पर प्रश्न उठाते हुए समकालीन कवि अरुण कमल कहते हैं—

**efUnj d: ckgj [kM: g: fhk[kex:] Hk[k: uix: cPp:
 t:l: gh vUnj l: 'kkUr ifo= gk ckgj vki j[kr: g: dne
 fd fcYdy phy dh rjg >ivk ekjr: g: cPp:
 Hkxoku egkohj d: uke ij ekjokMh cgvk: u:
 yVk, g: fIDd: [ky: gkFk] [ku[kuk;: g: dxu
 vkj , d&nIj: ij fxjr: Hkgjkr: yVu nkM: g: cPPk:
 'kkfUr v t:; vk vfg:l k v t:;
 'kkfUr v t:; vk vfg:l k v t:;A**5

भारत में तीन साल से कम उम्र के 74 प्रतिशत बच्चों में खून की कमी है, इनमें 50 बच्चे माध्यम या गंभीर कुपोषण के शिकार हैं। आज हर दिन 22,000 बच्चे गरीबी, तंगहाली के कारण मरते हैं। इन बच्चों को दो जून की रोटी भी मयस्सर नहीं हो पाती। ये बच्चे रोटी के लिए निस्तेज जूतों राह देखते रहने को विवश हैं।

समकालीन कवि बोधिसत्व लिखते हैं—

**tirk dh ryk'k ei@ ?ker: g: c'k ydj@ vkj feyr: gh fcuk nj yxk, c'k dk
 xt dh rjg pyku yxr: g: tirk ij xk;k tiri mudh lkjxh gk @; 'k vkj ekfk ugh
 fuLrit tirk dh ryk'k djr: g: oA**6

यह जूतों के माध्यम से रोटी की तलाश ही है। दो जून की रोटी के लिए ये बच्चे होटलों में, दुकानों में, फ़ैक्टरियों में श्रम करते हैं और इन्हीं बच्चों को ठीक से खाना भी नसीब नहीं होता। ताजा आँकड़े बताते हैं कि देश के तकरीबन आधे बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। अल्पपोषण की वजह से देश के तकरीबन 45 फीसदी बच्चे हर साल मौत के मुँह में चले जाते हैं। समकालीन कवि अरुण कमल की कविता 'होटल' हमें इस बारे में सोचने को विवश करती है—

**t:l: gh dkj mBk;k
 gkFk : d x;kA
 lkeu fdokM: l: yxdj
 jk jgk Fkk og yMdk
 ft l u: ej: lkeu
 jD[kh Fkh FkkyhA**7

उचित भोजन, शिक्षा और स्वास्थ्य हर बच्चे का अधिकार है, पर ये बच्चे बेहतर शिक्षा और स्वास्थ्य से वंचित रह जाते हैं। केन्द्र सरकार स्किल डेवलेपमेंट की बात तो करती है लेकिन कभी इन बच्चों और उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य की बात नहीं करती। हम यह भूल जाते हैं कि जब नींव मजबूत होगी तभी तो इमारत मजबूत होगी। हालांकि बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए सर्वशिक्षा अभियान जैसी कई योजनाएँ चलायी गयी हैं लेकिन इनका लाभ पूरी तरह से नहीं मिल पाया है।

आज सरकारी स्कूलों की हालात बद से बदतर है। वहीं प्राइवेट स्कूल बेहतर काम कर रहे हैं। पर जो लोग अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में नहीं भेज पाते, निश्चित रूप से वे गरीब हैं, अल्पसंख्यक हैं जो इन स्कूलों की मंहगी फीस नहीं भर सकते। शिक्षा के इस निजीकरण के जरिए समाज में गैर बराबरी फैलाई जा रही है। निजी स्कूल संविधान में दर्ज समानता के दर्शन को पनपने नहीं दे रहे हैं।

गोरख पाण्डेय की कविता 'बच्चे के लिए' के सहारे कहूँ तो —

cPpk d: fy,
 [kky: x;: <j l k j: Ld: y
 <j l k j h fdrkc:
 ckVh x;h cPpk d: fy,
 cPpk cM: g,

t gk l : ogk l :
 mB [kM g, cPp
 ckdh cPpk u : lMd ij didM QV
 ndkuk e : l; kfy ; k /kk ; h : l kQ fd ; k VVh ?kj
 [kk ; : rekp
 ck t kj e fcd : dkfM ; k d : eky
 xVj e : fxj : iMA**8

एक तरफ किताबें, खिलौने, खिलखिलाता बचपन और एक तरफ श्रम, मजदूरी और दूर तक चुप्पी। स्कूल न जा सकने वाले इन बच्चों को स्कूल जाने का अगर मौका मिल भी जाए तो भी गरीबी और अव्यवस्था की मार इन बच्चों को झेलनी ही पड़ती है।

कवि मंगलेश डबराल की कविता इन बच्चों के इसी दर्द को बयान करती है—

**iny tku oky : cPpk dk dkb : Hkjk l k ugh
 o : ?kj l : tYnh py iMr : g : vkj Ldy igpr : g : vD l j nj l :
 jkLr : e : xnh g : tkrh g : mudh ik"kkd
 ftUg : l Hkkyr : g : o : Hkx : r : g :
 vk [k : uhph fd ; : [kM : gkr : g : drkj e :
 > kMh d : ihN : db : ckj mUg : fgnk ; r nh xbi g :
 tir : igudj vku : dh
 gkFk & ij d : uk [ku dykRed dkVu : dh
 db : ckj iMh g : cir
 vkj dgk x ; k g : fd ge rEg : ugh y : tk , x :
 egki : : ik : dh vxokuh eA**9

इस तरह का अपमान, गैरबराबरी इन बच्चों को जाने-अनजाने सहना पड़ता है। उन्हें इतना दबाया जाता है कि ये बच्चे टूट जाते हैं। अनुशासनहीन होना ये बच्चे चाहें न चाहें, उन्हें होना ही पड़ता है। पैदल जाएंगे तो देर से पहुँचेंगे ही। गलियों—सड़कों से गुजरेंगे, तो पोशाक बचाते—बचाते भी मैली होगी ही। अनुशासन टूटेगा ही। बेंत पड़ेगी ही। स्कूल के समारोहों में वे सारे स्कूल से अलग—थलग होंगे ही। अलग अभागे !

चंद्रकान्त देवताले शब्दों में **mudh QVh pM<h mUg : l h/kk [kMk gku : l : jkd : xh ghA**10

सवाल यह उठता है कि अनुशासन ऐसे बच्चों के लिए क्या शिक्षा—व्यवस्था का अभिशाप नहीं है? क्या उन्हें अशिक्षित बनाए रखने का षडयंत्र नहीं है, किस नीयत से स्कूल बनाए गए हैं देश में? जो बने हैं, वे स्कूल बच्चों के लिए हैं या बच्चे उन स्कूलों के लिए हैं? यह जिम्मेदारी किसकी है कि उनके लिए स्कूलों के दरवाजे खोलने के साथ-साथ उन्हें स्कूल जाने योग्य हालात भी उपलब्ध कराए और इस तरह बचपन के सहज अधिकार को बचपन तक पहुँचने के अवसर दे? कौन रोकेगा उन्हें काम की लपटों में झुलसते रहने से और कब? ऐसे ही कुछ तेजाबी प्रश्नों की बौछार समकालीन हिन्दी कविता करती है। कविता व्यवस्था और विसंगतियों के विरुद्ध आम आदमी के पक्ष में खड़ी होती है, साथ ही अपने समय और समाज के सच को व्यक्त करने का साहसिक कार्य भी करती है। आज भी कविता समय की सबसे भयावह त्रासदी के विरुद्ध मोर्चा लिए खड़ी दिखाई देती है। बालश्रम, बालमजदूरी जैसे शब्द हमारे डिजिटल इण्डिया की खोखली सच्चाई का पर्दाफाश करते हैं। बचपन को तमाम बुरे तत्वों से मुक्त रखना न केवल इंसानियत का एक कर्म है बल्कि आज की तुलना में अधिक सुरक्षित संसार बनाने की पहली शर्त भी है।

समकालीन कविता निरन्तर दमित बचपन के सच को उजागर कर रही है, व्यवस्था और समाज पर सवाल खड़े कर रही है तथा बचपन को इन तमाम दोशों से मुक्त करने का आह्वान भी कर रही है।

समाज के इस कोढ़ को सामने लाने का प्रयास कर रही है ताकि वक्त रहते इसका इलाज किया जा सके। जरूरत है इस बात को गम्भीरता से लेने की और कुछ ठोस कदम उठाने की ताकि इन बच्चों का बचपन भी खिलखिला उठे।

I UnHk %

1. नेपथ्य में हँसी – राजेश जोशी, पृष्ठ संख्या– 23–24
2. वही
3. लोगबाग– इब्बार रब्बी, पृष्ठ संख्या–67–68
4. जिद – राजेश जोशी
5. अपनी केवल धार– अरुण कमल, अहिंसा और भीख मांगते बच्चे (कविता) वाणी प्रकाशन, तीसरा संस्करण : 1999, पृष्ठ संख्या– 47
6. हम जो नदियों का संगम हैं – बोधिसत्व, पृष्ठ संख्या– 33
7. अपनी केवल धार– अरुण कमल, होटल (कविता), वाणी प्रकाशन, तीसरा संस्करण : 1999, पृष्ठ संख्या– 16
8. जागते रहो सोने के लिए – गोरख पाण्डेय, बच्चे के लिए (कविता), पृष्ठ संख्या– 18–19
9. घर का रास्ता – मंगलेश डबराल, पृष्ठ संख्या–30–31
10. लकड़बग्घा हँस रहा है – चंद्रकांत देवताले, पृष्ठ संख्या–74



cyHkn: i: lkn nhf{kr ^i<hI* dh dforkvk e: vo/kh
xkE; thou

nhfidk nc*

आधुनिक अवधी कविता के प्रथम दौर के कवियों में बलभद्र प्रसाद दीक्षित पढ़ीस' का नाम सबसे बड़ा है। पढ़ीस' जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रशस्त था। पढ़े-लिखे होने के बावजूद उन्हें गांव की जिन्दगी बहुत प्रिय थी। उनका रहन-सहन, बोली-बानी सब-कुछ देहाती था। अमृतलाल नागर इस किसान कवि के निश्चल व्यक्तित्व के विषय में लिखते हैं कि—“एक दिन कोई पन्द्रह साल पहले बड़ी-बड़ी मूछों वाला आदमी गाढ़े का कुर्ता और घुटनों तक ऊँची धोती पहने हमारे यहाँ आया। उसकी छल कपट से दूर देवताओं जैसी सरल मुस्कान ने मेरे मन का ओछापन हर लिया। मुझे अपना बना लिया।”

कृषक परिवार में जन्मे पढ़ीस जी को गांव और किसानों से इतना राग था कि हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और फारसी में अच्छी गति होने के बावजूद उन्होंने कविताएं उसी जबान में लिखीं, जिसमें उन्होंने तुतलाया, हकलाया और मनुष्यता का पाठ पढ़ा। उन्होंने देहाती बोली अवधी में कविताएं लिखीं। उनकी कविताओं का एकमात्र संग्रह ‘चकल्लस’ (1933) नाम से प्रकाशित है। ‘बच्चों के बाप से’ नामक शीर्षक से इनकी एक बालोपयोगी लेखमाला भी ‘माधुरी’ में छपी थी। ‘कृष्णलीला’ नाम से इनकी एक नाट्य कृति भी है। खड़ी बोली में रचित इनकी सात कहानियों का एक संग्रह भी ‘ला मजहब’ नाम से प्रकाशित है। पढ़ीस जी की ‘पांखी’ कहानी उन दिनों हिन्दी की श्रेष्ठ कहानी मानी जाती थी।

‘चकल्लस’ आधुनिक अवधी कविता का पहला महत्वपूर्ण संग्रह है। सैंतीस कविताओं के इस संकलन पर छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। वहाँ समाज-सुधार और देशानुराग है, स्वच्छन्दता और प्रकृति-प्रेम है, शोषितों के प्रति सहानुभूति और शोषक मूलक व्यवस्था पर प्रहार करने का आग्रह है। ‘चकल्लस’ के परिचय में महाप्राण निराला लिखते हैं कि—“देहाती भाषा में होने पर भी जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है, ‘चकल्लस’ अनेक गुणों से भूषित है। इसके चित्र सफल और सार्थक हैं। स्वाभाविकता पद-पद पर, परिणति में पूरी संगति है। हिन्दी के अनेक सफल काव्यों से बढ़कर है।”

‘चकल्लस’ पढ़ीस जी के ग्राम-जीवनानुभवों का प्रामाणिक दस्तावेज है। इनकी ‘घसियारिन’, ‘चकल्लस’, ‘स्वनहुली स्यामा’, ‘मनई’, ‘लरिका’, ‘बिटिया’, ‘महतारी’ शीर्षक रचनाओं में गांव, वहाँ की प्रकृति और वहाँ के लोगों का शील-गुण जीवंत हो उठा है। उनके यहाँ आदमी की आँखों में करुणा की छलक और मुख-मण्डल पर दया की झलक दिखाई पड़ती है। वह दूसरे के दुःख से दुःखी होता है, अपना सुख बाँटता है। उसकी दृष्टि में मुहम्मद, ईसा और बुद्ध के धर्म एक हैं।

‘चकल्लस’ शीर्षक कविता निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करती हुई उसकी मनःस्थिति का भी चित्र खींचती है। निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति का शहर में जाकर सिनेमा देखने की लालसा व उसके वहाँ से भगाये जाने तक की पूरी स्थिति का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि मध्यवर्ग फैशनपरस्ती की दुनिया में पूरी तरह से फंस चुका है। इसकी दशा और दिशा दोनों ही दयनीय है। पैसे न होने पर उधार पैसे लेकर सिनेमा के लिए टिकट खरीदना उसकी मनोदशा को उजागर कर देता है कि उसके पैर तो निम्न वर्ग पर टिके हुए हैं पर हाथ उच्च वर्ग को पकड़ने के लिए बेचैन हैं और वह स्वयं बीच की स्थिति में फंसा हुआ है। इसलिए यह समाज सबसे अधिक विपन्नावस्था

में है। 'चकल्लस' कविता आधुनिक मानव की क्रूरता को भी व्यक्त करती है, बिना पैसे के सिनेमा देखने जाते हुए ग्रामीण युवक को जिस बेरहमी से मारा जाता है वह व्यक्ति की संवेदनहीनता का परिचायक है। खत्म होती संवेदना और मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति का विश्लेषण करती हुई यह कविता व्यवस्था पर भी व्यंग्य करती है। 'पढ़ीस' जी ने बहुत ही सूक्ष्म तरीके से उपरोक्त परिस्थितियों को अवधी बोली में अभिव्यक्त किया है।

पढ़ीस जी ने अपनी कई कविताओं में युवा वर्ग पर व्यंग्य किया है। 'छीछाल्यादरि', 'सोभानाली', 'तिरफला' ऐसी ही कविताएं हैं। आज की नई पीढ़ी अपनी संस्कृति, परम्परा एवं रीतिरिवाजों को लगभग भूल चुकी है। वह पश्चिमी संस्कृति के मोहपाश में फंसकर अपनी जमीन से पृथक हो गई है। अपनी संस्कृति को बचाने की जद्दोजहद में लगी 'छीछाल्यादरि' कविता स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम की एक बानगी प्रस्तुत करती है। परन्तु कवि कई बार सामाजिक परंपराओं, रीति-रिवाजों को बचाने की कोशिश में ऐसी मान्यताओं का समर्थन कर बैठता है, जो प्रासंगिक नहीं है। वह तेजतर्रार, पढ़ी-लिखी बहू की अपेक्षा 'डेढ़ हाथ का घूँघट काढ़ने वाली बहू को अधिक महत्व देता है। वह लोक संगीत व लोक वाद्य को महत्व देता है पर पियानों इत्यादि को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता।

इस प्रकार वह भारतीय संस्कृति परंपरा के साथ-साथ उन रिवाजों को भी बचाने की कोशिश करता है जो अब अप्रासंगिक हो चुके हैं। वह उस पर किसी भी तरह का आघात सहन नहीं कर सकता।

'चरवाहु' कविता में सहज ग्राम्य जीवन की सजीवता को व्यक्त किया गया है। प्रकृति के बीच विकसित होते ग्रामीण बच्चों की दिनचर्या को चित्रित करती यह कविता उनके सहज स्वाभाविक और निश्चल जीवन को उद्घाटित करती है। ग्रामीण क्षेत्रों में चरागाह व चरवाहे बहुतायत मात्रा में होते हैं। इन चरवाहों में बच्चे भी होते हैं, जो पालतू जानवरों को खेतों में ले जाकर चराते हैं, वहाँ वे तरह-तरह के खेल भी खेलते हैं। इस तरह शहरी जीवन और संस्कृति से दूर इन बच्चों का प्रकृति के बीच सहज विकास होता है। पशु पालन और चारागाह ग्राम्य जीवन और संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं। पशु और भूमि ये दोनों ग्राम्य जीवन की अर्थ धुरी हैं, आय का साधन हैं अतः ये ग्रामीणों के जीवन में रचे बसे हैं। जब से कृषि कार्य का आरम्भ हुआ, तभी से चरागाह की संस्कृति भी विकसित हुई। सूरदास के कृष्ण भी ग्वालों के साथ गायों को चराने वन में जाते हैं यह संस्कृति वर्षों से चली आ रही है पर अब धीरे-धीरे खत्म हो रही है शहरीकरण व औद्योगीकरण के दौर में व्यक्ति गावों को छोड़कर शहरों की ओर प्रस्थान कर रहा है। वह बाजार की ओर आकर्षित हो रहा है और उसी के मोहपाश में फंसता चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में जब कि न वह गांव में रहना चाहता है और न ही उसे अपनी जमीन और पशुओं से ही प्रेम रह गया है तो चरागाह होने व चरवाहों का सवाल ही नहीं उठता। इस स्थिति के लिए कहीं न कहीं यह व्यवस्था जिम्मेदार है। आज साहित्य में भी गांवों की बातें होती हैं, किसानों की बातें होती हैं, लोक की बातें होती हैं पर यह एक फैशन मात्र बनकर रह गया है। अपनी जमीन से जुड़ने की यह कोशिश मात्र दिखावा है। संघर्षशील जीवन से दूर रहकर रचनाकार एयर कंडीशन में बैठकर गांव और किसानों की बात करता है जिसका कृषक और उसकी समस्याओं से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं। लोक शब्द तो एक टैग तरह हो गया है जिसे दो कविता लिखने के बाद तीसरी कविता में चिपका देना जरूरी समझा जाने लगा है। ऐसी स्थिति में जब कि कृषक और किसान जीवन के महत्वपूर्ण पहलू 'चरागाह' पर कोई बात नहीं होती, पढ़ीस की कविता 'चरवाहु' ग्रामीण जीवन और खासकर एक चरवाहे की दैनिक क्रियाकलापों और उसके जीवन को बहुत ही खूबसूरती के साथ उजागर करती है। पढ़ीस जी का बचपन गांवों में बीता है, उन्होंने ग्राम्य जीवन के रोजमर्रा के संघर्षों का सामना किया है प्रकृति के बीच रहकर अपने सहज सौन्दर्य बोध को विकसित किया है, खेती-किसानी भी की है। यहां तक कि उनकी मृत्यु भी किसानी करते-करते ही हुई। इसलिए किसान जीवन के संघर्षों व ग्राम्य जीवन के सुखद अनुभवों को उन्होंने बड़ी ही मार्मिकता के साथ अपनी कविताओं में चित्रित किया है।

बचपन किसी भी व्यक्ति के जीवन का सर्वाधिक सुनहरा समय होता है, जिसमें वह बाल सुलभ क्रीड़ाएं करता है। ग्रामीण बच्चों का बचपन प्रकृति की गोद में बीतता है पेड़-पौधे, पशु, मिट्टी यही उसके

संगी साथी होते हैं। प्रकृति की गोद में उसका स्वाभाविक विकास होता है। वह गाय के बछड़े के साथ खेलता है, तितलियों को पकड़ता है जुगनुओं के पीछे भागता है। इन बाल सुलभ चेष्टाओं को समेटे पढ़ीस की कविता 'बिटउनी' बड़ी ही मार्मिक बन पड़ी है यह कविता एक गरीब किसान की बेटी को केन्द्र में रखकर लिखी गई है, जो दिन भर बछड़े के साथ खेलती है, रोटी का टुकड़ा दिखाकर कुत्ते को ललचाती है, रात होने पर वह नदी-तालाब के किनारे घूमती है, मेढ़क व मछलियों के गीत सुनती है, चन्द्रमा को देखती है।

^frryh di ikN nmjf; @Fkfd&Fkfd df; YokVf; &lokVf; @yfd&Nfi df; C; j>fj; u ek@frRrij di cPPkk idjf; A**

पढ़ीस जी ने प्रकृति व ग्राम्य जीवन के सहज व स्वाभाविक सौन्दर्य की अद्भुत छटा तो बिखेरी ही है इसके बहाने से वे हमें उस दुनिया से भी अवगत कराते हैं, जहाँ सिर्फ संघर्ष है, अशिक्षा है, अंधविश्वास है, गरीबी है। उनकी कविताएं सामाजिक जीवन के उस यथार्थ का दर्शन कराती हैं जहाँ विकास के नाम पर कच्ची सड़के हैं, शिक्षा के नाम पर टूटे स्कूल हैं और बदहाली की स्थिति से गुजर रहा ग्रामीण समाज है। आज हम आधुनिक होने का दावा करते हैं यह शब्द मात्र एक जुमला बनकर रह गया है देश की आधी से अधिक आबादी भूखों मर रही है पूंजी मात्र कुछ ही लोगों तक सिमटकर रह गई है, दूर-दराज के क्षेत्रों में न तो पानी है, न बिजली है, न शिक्षा है वहाँ है तो सिर्फ भुखमरी और बेरोजगारी। पढ़ीस जी ने ग्राम्य जीवन की समस्याओं व संघर्षशील जीवन के ऐसे तमाम पहलुओं को उजागर किया है। उनकी कविताएं एकबारगी तो सुखमय ग्रामीण सामाजिक जीवन की एक बानगी प्रस्तुत करती हुई दिखाई पड़ती है परन्तु ऐसा नहीं है वस्तुतः वे उनके बहाने से हमारा ध्यान ग्रामीण जीवन के उन पक्षों की ओर ले जाती हैं जो दुःखद है, कष्टप्रद है और समस्यामूलक है। एक ऐसा समाज जो अनन्त काल से विपन्नावस्था में है, कराह रहा है, उसके पास आसुओं के अलावा और कुछ नहीं है, ऐसे समाज से पढ़ीस जी का साथ बचपन से ही रहा है, उन्होंने भुखमरी व गरीबी देखी है, किसान जीवन की समस्याओं व कष्टों को भोगा है। यही कारण है कि उनकी कविताएं भोगे हुए यथार्थ का दूसरा रूप ज्ञान पड़ती हैं ऐसी ही उनकी एक कविता है—'हमार राम' यह कविता उस गरीब किसान की पीड़ा को समेटे हुए है जो मौसम की मार से त्रस्त है। किसानों के लिए बरसात का मौसम कभी तो खुशहाली लेकर आता है और कभी दुःख। बारिश की अधिकता से बाढ़ की संभावनाएं बढ़ जाती हैं और तमाम तरह की बीमारियों के फैलने की आशंका भी रहती है। सर्वाधिक खतरा बाढ़ का रहता है। 'हमार राम' कविता ऐसे ही दुखियारे किसान की गाथा है जो बारिश की मार से पीड़ित है। उसका घर और खेत बाढ़ के हवाले हो चुका है व्यवस्था की मार से त्रस्त किसान प्रकृति की तबाही का भी शिकार होता है। कमाल की बात तो ये है कि प्रकृति पूंजीपतियों का कुछ नहीं बिगाड़ पाती। दोतरफा मार तो बस किसान ही झेलता है। उच्चवर्गीय लोगों के लिए बरसात का मौसम रुमानियत लेकर आता है पर किसानों के लिए मौसम और रुमानियत में कोई सम्बन्ध नहीं। उसका तपना, ठिठुरना, कंपना कोई आकस्मिक नहीं बल्कि दैनन्दिन है। उसका मिजाज मौसम के मिजाज से संगत करता है मौसम के मिजाज के साथ ही उसका मिजाज भी बनता-बिगड़ता रहता है।

किसान की खेती और जीवन का रकबा सीमित है, दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। किसानों की आय का साधन एकमात्र खेती और पशुपालन है और ये किसानों की चेतना में रचे बसे हैं पढ़ीस की कविताओं में गांव कोई अलग चीज नहीं बल्कि वह अनुभूति बनकर उनकी चेतना में रचा बसा है इसीलिए उनकी कविताएं पाठकों से सीधा संवाद करती हुई दिखाई पड़ती हैं। उनकी कविताओं में उनका भोगा हुआ यथार्थ परिलक्षित होता है। 'हमार राम' कविता में पढ़ीस जी ने अलौकिक सत्ता को भी कटघरे में खड़ा कर दिया है। कविता का शीर्षक एक बारगी उनके भगवदप्रेम को दर्शाता है। पूरी कविता में उनका किसान एक रक्षक के रूप में राम को पुकारता है अपने जीवन का संरक्षक वह राम को मानता है। जब-जब उस पर विपदा आई है उसके मुख से राम ही निकला है परन्तु विडम्बना यह है कि अन्त में उसके हाथ निराशा ही लगती है। कविता के अंत में उसके राम सवालियों के घरे में खड़े हो जाते हैं। जीवन भर का उसका विश्वास टूट जाता है और वह किसी भी प्रकार की सत्ता को मानने से इंकार कर देता है। गांव

के अनपढ़ किसान का भगवान से विश्वास उठ जाना अपने आप में एक बड़ी बात है—

^I|U;u jgf; re cM l jek@nmjm xÅ Xogkfj\@rm ge tkuh rf; lf; re gÅ@tk vkom ;k C;kj@eM; ;k d j[kokj gekj jkeA**

पढ़ीस की कविताएं कृषकों की स्थिति का बयान करती हुई सामाजिक न्याय की मांग भी करती हैं। वह सत्ता से न्याय की गुहार लगाती हुई दिखाई पड़ती है चाहे वह व्यवस्था हो या अलौकिक सत्ता। ईश्वर ग्रामीण समाज की चेतना में रचा बसा होता है। यह समाज अपनी प्रत्येक परिस्थितियों में उसे अपने साथ लेकर चलता है, परन्तु विपरीत परिस्थितियों में जब उसका ईश्वर उसे मूक दर्शक लगने लगता है, तब वह उस पर भी सवालिया निशान लगाने नहीं चूकता। पढ़ीस जी की यह विशेषता है कि वे ईश्वर जैसी सत्ता को भी समाज की चेतना से उखाड़ फेंकने में समर्थ हैं।

पढ़ीस जी ने अपनी कविताओं में पूंजीपतियों और उच्च वर्गीय लोगों का खूब मखौल उड़ाया है। उच्चवर्गीय लोगों की स्थिति और उनकी शोषण करने की प्रवृत्ति को बयान करती उनकी कविताएं पाठक के मन में तमाम सवालों को जन्म देती हैं। उनकी कविताओं से गुजरते हुए पाठक किसानों की चेतना से संवाद स्थापित कर पाता है और जमींदारों व साहूकारों की वास्तविक स्थिति से परिचित हो पाता है— ^pnnj f; pkfj rfd ;k R;kjg@eyey e[keyh Qy okyh@egyu ek em t mMkf; fr gf; @vINjk upk; h erokyhA**

‘भले मानुस’ नामक कविता की उपर्युक्त पंक्तियां सिद्ध करती हैं कि हम समाज की तमाम विसंगतिपूर्ण स्थितियों के साथ रहने के आदी हो चुके हैं और उसे ढोते रहने के लिए अभिशप्त हैं। देश में राजनैतिक कारणों से उपजी तमाम विडंबनाओं से कम खतरनाक गांवों में ताकतवर शक्तियों के द्वारा बुना गया तंत्र नहीं होता है। इन शक्तियों द्वारा बुने गए जाल में गरीब किसान आसानी से फंस जाते हैं और पूरा जीवन गुलाम बनकर गुजार देते हैं।

ऐसी ही एक कविता है—‘उयि अउर आयिं हम अउर आन’ यह कविता शोषक और शोषित दो वर्गों में बंटे समाज की दुर्व्यवस्था को उजागर करती है और पाठक को ग्रामीण समाज की उन गहराइयों तक ले जाती है जहाँ इस दुर्व्यवस्था की जड़ें गहरे पैठी हुई हैं। एक ही गांव व समाज में रहने वाले व्यक्तियों के बीच खाई इतनी गहरी है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ‘अउर’ समझता है। यह ‘अउर’ सिर्फ जातिगत वजहों से नहीं है बल्कि इसके पीछे की एक बड़ी वजह है—आर्थिक स्थिति। ग्रामीण समाज में जाति, धर्म व अंधविश्वास की जड़े भी काफी गहरे होती हैं जो दो व्यक्तियों को दो समूहों में बांट देती हैं इस खाई को चौड़ा करने के लिए अर्थ एक बड़ी इकाई है, यहाँ तक कि एक ही जाति एवं धर्म के दो व्यक्ति अर्थ की वजह से शोषक एवं शोषित की स्थिति में आ जाते हैं इन स्थितियों का सामना पढ़ीस जी ने बचपन से किया है। ये अनुभूतियां उनके भीतर इतनी प्रगाढ़ हो चुकी हैं कि इनका पाठक से सीधा संपर्क होता है। एक एहसास बनकर पाठक के मन को विह्वल करता है, एक सवाल बनकर कुरेदता है— ^lkpfr le>fr bru fnu chr @rg u dg [kyh vk[kh\@dkdfu ;g ckr xkfB ck/km@mf; vmj vkf; ge vmj vkuA**

साहित्य में सौन्दर्य के अपने मानदण्ड होते हैं और ये मानदंड सौन्दर्य के विभिन्न पहलुओं को निर्धारित करते हैं। अवधी कवियों के सौन्दर्य वर्णन की विषय-वस्तु गांव और गांव की प्रकृति है। पढ़ीस जी ने अपनी कई कविताओं में प्रकृति को हूबहू उतार दिया है। वे स्त्री का नख-शिख वर्णन न करके उसे प्रकृति के बीच ला खड़ा करते हैं और प्रकृति के सानिध्य में ही उसका स्वाभाविक सौन्दर्य विकसित होता है। रोजमर्रा के कार्यों को करते हुए उसका सौंदर्य अपने सहज एवं स्वाभाविक रूप को प्राप्त होता है स्त्री के अंग-प्रत्यंग का वर्णन पढ़ीस की कविता की विषय-वस्तु नहीं। उनके यहाँ सौन्दर्य और कर्म दोनों साथ-साथ चलते हैं। दैनिक जीवन के कार्यों को करती हुई स्त्री ही शोभा को प्राप्त होती है। इतना ही नहीं बल्कि कृषि कार्य में उपयोग किये जाने वाले उपकरण ही उसके आभूषण हैं। जब वह खुरपी व गंडासा लेकर निकलती है तो वनदेवी के समान लगती है। उड़ती हुई धूल के बीच में वह ऐसी लगती है मानों चन्द्रमा काले बादलों से घिर गया हो, प्रकृति के बीच वह ऐसी लगती है मानों रूप की राशि हो और उसके इस सौन्दर्य को देखकर देवता भी लज्जित हो उठते हैं—

^og pyh tkf; ifNu r@fcg|lfr] fcy|lfr] Cokyfr@[kjik vmj xMklk cu
nch@dj lkhkk ukf; jg@?kfl; kfjfu ?kklf; tkf; jgA**

ऐसी ही दूसरी कविता है— 'बिटउनी जिसमें गरीब किसान की बेटी दुःख और विपत्तियों से आहत होते हुए भी मुस्कुराती रहती है। सुख—सुविधाओं को ठेंगा दिखाती वह तितलियों, गाय के बछड़े, कुत्तों व बिल्ली के साथ खेलती रहती है। अभावों के बीच पलती किसान की बेटी का सौन्दर्य दिन—पर—दिन निखरता जाता है—

^C;k: d: <gk Åij@ijHkkr&vf;fl dfl Qyh@i l i:Nh ekg&ekg@t:xy| ek
exy| xkof; @cj|lfr l rÅ xu fprof; @d:xyk fd l ku dh fcfV; kA**

पढ़ीस जी ने सिद्ध किया है कि सौन्दर्य नैसर्गिक होता है वह सुख—सुविधाओं का मोहताज नहीं। एक तरह से वे सौन्दर्य प्रसाधनों के पीछे दौड़ने वाले लोगों का मखौल उड़ाते हैं।

कवि कभी नगरवासियों की दासवृत्ति पर हंसाता है, कभी गांव के युवक—युवतियों के सरल—सात्विक जीवन के गीत गाता है और कभी दैविक—दैहिक विपत्तियों से आहत व पीड़ित होता है लेकिन प्रधान स्वर हंसी का है, एक वीर की हंसी का जिसने दुःख और विपत्तियों में मुस्काना सीखा है।

वस्तुतः पढ़ीस जी को उनकी हास्य व्यंग्य शैली के नाते बहुत समय तक याद किया जाएगा क्योंकि उनका हास्य व्यंग्य धरती की सोंधास लेकर फूटता है। पढ़ीस जी की कविताएं जीवन के उर्वर अनुभव—क्षेत्र से निकली हुई हैं।

अस्तु, पढ़ीस जी का आविर्भाव यद्यपि आधुनिक अवधी कविता के दूसरे उत्थान में हुआ था, पर इस प्रतिभा—सम्पन्न कवि ने भाषा का संस्कार कर उसे आधुनिक काव्य—संवेदना से जुड़कर चलने की प्रेरणा दी। इस दृष्टि से अन्य आधुनिक अवधी कवियों की तुलना में पढ़ीस जी का प्रदेय सबसे ज्यादा है।

l UnHk: %

1. पढ़ीस ग्रन्थावली—सं०—डॉ० राम विलास शर्मा एवं युक्तिभद्र दीक्षित, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
2. आधुनिक अवधी काव्य—सं०—डॉ० महावीर प्रसाद उपाध्याय, डॉ० रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर', डॉलीगंज रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ
3. लोक साहित्य की भूमिका—डॉ० कृष्ण बलदेव उपाध्याय, साहित्य भवन
4. अवधी शब्द सम्पदा—हरदेव बाहरी, भारती प्रेस प्रकाशन



हकीकत; जितुहरे ए फलकु, ओ फलकु वक्रेग;क वकुन दैक*

भारत एक कृषि प्रधान देश है। हमारी संस्कृति कृषि जीवन पर आधारित रही है। कृषि हमारे लिए सिर्फ पेट भरने का साधन मात्र नहीं बल्कि वह हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारी जीवन शैली के साथ ही हमारी अस्मिता, हमारा स्वाभिमान भी है। हमें उस पर गर्व है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में सर्वोच्च भूमिका निभाने वाले तबके में स्वतन्त्रता के बाद अगर किसी को सर्वाधिक नजरअंदाज किया गया तो वे भारत का कृषक वर्ग ही है किसी भी देश के विकास को तब तक विकास नहीं कहा जा सकता तब तक कि उस देश के अन्नदाताओं की समस्याओं का मुकम्मल समाधान न हो जाय और उनके जीवन का स्तर देश के अन्य लोगों के समतुल्य न हो जाये। यह दौर किसानों के स्वाभिमान को कुचलने का है। यह दौर ईमानदारी की नीलामी और मानवता के चरम-क्षरण का है। इस हालत के चलते आज किसान बड़े पैमाने पर आत्म-हत्या कर रहे हैं। या यूँ कहे कि आजादी के बाद से ही भारत का सत्ताधारी वर्ग पूँजीपतियों के साथ मिलकर ऐसी साजिश रच रहा है जिसमें फँसकर किसान तड़प-तड़प कर दम तोड़ रहे हैं।

स्वतन्त्रता के 70 वर्ष बाद भी किसानों की दशा में कोई सुधार की बात तो दूर उनकी हालत में गिरावट ही आई है। भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रथम पंच-वर्षीय योजना (1950-51) में किसानों के खून पसीने से पैदा किये हुये अन्न के आधार पर कृषि का योगदान देश के विकास में (जीडीपी) में 56.5: था लेकिन वर्तमान उपेक्षा के चलते घट कर मात्र 15: ही रह गया है। लेकिन देश की 70: जनसंख्या कृषि कार्य में लगी है, जिसका त्याग और तपस्या की इस मूर्ति का दूसरा नाम है धरती पुत्र किसान। वह जीवन भर मिट्टी से सोना उत्पन्न करने की तपस्या करता है, तपती धूप, कड़ाके की ठंड तथा मूसलाधार बारिश में भी वह अपनी साधना से विचलित नहीं होता। हमारे देश की लगभग 70: आबादी आज भी गाँवों में निवास करती है जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है।

भारतीय कृषिव्यवस्था की स्थिति क्यों दयनीय है? आज भारत के किसान आत्महत्या करने के लिए क्यों मजबूर हो रहे हैं? यह विषय अत्यन्त विचारणीय है, आज भारतीय किसान जाड़ा, गर्मी, वर्षा, तीनों मौसमों तथा 12 महीनों लगातार मेहनत करके तथा अपने बच्चों के शिक्षा पर खर्च किये जाने वाला पैसा भी खेती के उत्पादन में खाद एवं गोबर के रूप में लगा देता है। भारतीय किसान यहाँ तक की बच्चा बीमार है तो पहले उसको दवा न कराकर, पहले फसल पर कीटनाशक दवा डालता है और जब उसका उत्पादन बाजार में पानी के भाव बिकता है या सड़कों पर फेक दिया जाता है, कोई खरीदने वाला नहीं होता है, अगर कोई खरीदता है तो पानी के भाव जिससे उसका लागत मूल्य भी नहीं मिल पाता। आज भारत में पीने का पानी भी 20 से 25 रु० लीटर मिल रहा है। वर्तमान में किसानों की स्थिति बहुत दयनीय होती जा रही है और किसान अपने छोटे जरूरतों को भी पूरा करने में लाचार हालत में हैं आज उनके पास कोई विकल्प नहीं रह गया है, इस कारण किसान आत्महत्या को मजबूर हो रहा है।

विडंबना यह है कि बंपर फसल भी किसानों के लिए जानलेवा होती है, और फसलों की बर्बादी भी कपास और गन्ना जैसी नकदी फसलों के लिए ज्यादा पूँजी की जरूरत पड़ती है कि आत्महत्या की सबसे ज्यादा घटनाएँ इन दो फसलों वाले राज्यों में ही होती हैं, फसल पैदा होने के बाद उसकी खरीद कीमते तय करने की कोई ठोस नीति का न होना और विपणन सुविधाओं का अभाव किसानों के लिए ताबूत की आखिरी कील साबित होते हैं। तो आखिर इस समस्या पर अंकुश लगाने का कारगर तरीका क्या हो? विशेषज्ञों का

कहना है कि प्राकृतिक विपदाओं पर काबू पाना तो किसी के वंश में नहीं है, लेकिन फसल पैदा होने के बाद उनकी कीमते तय करने की एक ठोस और पारदर्शी नीति जरूरी है। ताकि किसानों को उनकी फसलों की उचित लागत (मूल्य) मिल सके, इसके अलावा विपणन सुविधाओं की बेहतरी और खेती के मौजूदा तौर-तरीका में आमूल-चूल बदलाव जरूरी है इसके लिए केन्द्र और राज्य सरकारों को विभिन्न सहकारी कृषक समितियों के साथ मिल कर इस दिशा में ठोस कदम उठाना चाहिए। उसी हालत में किसानों में आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकेगा।

अगर भारत की तुलना अमेरिका से करे, तो अमेरिका का रकबा भले ही भारत से तीन गुना है, उपजाऊ या खेतिहर जमीन के मामले में दोनों करीब बराबर है। अमेरिका आबादी में महज दो फीसद लोग सीधे खेती से जुड़े हैं। सिर्फ आजीविका के लिए इस उद्यम को अपनाएँ हैं, भारत में यह आँकड़ा 70 फीसद से अधिक है। जिसकी परिणति छोटी-छोटी जोतों के हर नकारात्मक पहलू के रूप में देश को पीछे धकेल रही है। इन अधिसंख्य छोटी-जोत से किसान का परिवार नहीं पल पाता है।

किसानों की लागत नहीं निकल पाती है। सरकारी न्यूनतम समर्थन मूल्य व्यर्थ साबित हो रहे हैं। किसानों के आन्दोलन को कठोरता पूर्वक कुचल दिया जाता है। मध्य प्रदेश में किसानों का आन्दोलन इसका ताजा उदाहरण है। आज यह आन्दोलन देशव्यापी रूप लेता दिख रहा है। इनका आन्दोलन गलत नहीं है, गलत तो वे लोग हैं जो इनके समर्थन से प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री की कुर्सी पर बैठकर अपनी सियासी रोटी सेक रहे हैं। वे जानते हैं कि कर्ज माफी से न किसानों की समस्या का स्थायी समाधान होगा और न कृषि में कोई सुधार होगा, वास्तव में राजनैतिक लोग इनकी समस्या का स्थायी समाधान करना ही नहीं चाहती, क्योंकि उनके पास चुनाव लड़ने के लिए कोई मुद्दा नहीं रह पायेगा। किसानों के रूप में देश की बड़ी आबादी यानि 65: लगभग जनसंख्या को लुभा-बहलाकर सत्ता की कुर्सी तक पहुँचना सबसे आसान है। आज तक किसानों के स्थायी समाधान के लिए कोई ठोस सुविचारित नीति नहीं बन पाई। अपने किसानों के बूते ही दुनिया के कई देश विजय गाथाएँ लिख रहे हैं। तकनीक, आधुनिकता और संसाधन के समावेश ने खेती को फायदे का सौदा बना दिया है। हमारा पड़ोसी चीन इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

भारत में किसान आत्महत्या 1990 के बाद बहुत तेजी से पैदा हुई। जिसमें प्रतिवर्ष लगभग दस हजार से अधिक किसानों के द्वारा आत्महत्या करने की रिपोर्ट दर्ज की गई है। 1994 से 2011 के बीच 17 वर्ष में 7 लाख 40 हजार 860 किसानों ने आत्महत्या की है। भारत में धनी और विकसित कहे जाने वाले महाराष्ट्र में अब तक आत्महत्याओं का आँकड़ा 40 हजार 860 तक पहुँच चुका है।

राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालयों के आँकड़ों के अनुसार भारत भर में 2008 ई0 में 16196 किसानों में आत्महत्या की थी। 2009 ई0 में आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या में 1172 की वृद्धि हुई। 2009 के दौरान 17368 किसानों द्वारा आत्महत्या की अधिकारिक रपट दर्ज हुई। बाद के वर्षों में कृषि संकट के कारण महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में भी किसानों ने आत्महत्याएँ की। इस दृष्टि से 2009 तब तक का सबसे खराब वर्ष था जब भारत के राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय ने सर्वाधिक 17368 किसानों के आत्महत्याएँ की रपटें दर्ज की। सबसे ज्यादा आत्महत्याएँ महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में हुई थीं। इन 5 राज्यों में 10764 यानि 62: आत्महत्याएँ दर्ज हुई।

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2009 से 2015 के बीच 97 हजार 847 किसानों और खेतिहर मजदूरों ने आत्महत्या की है। देश को सशक्त एवं शक्तिशाली बनाने वाले किसान जो अपने प्राणों को बाजी लगाकर सम्पूर्ण राष्ट्र को (अन्न) या भोजन उपलब्ध कराता है, यह आत्म-हत्या कर है। यह देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री ने भारत-पाक युद्ध (1965) ई0 में दिल्ली के मैदान में नारा दिया था। "जय जवान, जय किसान" आज जवानों का जय तो होता है, अच्छी बात है जो देश की रक्षा करता है, लेकिन किसानों का जय क्यों नहीं बोला जा रहा है जो विश्व के दूसरे नम्बर पर जनसंख्या दृष्टिकोण से भारत में (1.25) अरब जनसंख्या को भोजन उपलब्ध करता है।

आज किसान क्यों आत्महत्या कर रहे हैं? क्यों किसान आज बेघर हो रहे हैं? इसका समाधान सरकार क्यों नहीं कर पा रही है? सरकार सिर्फ किसानों को लालच देकर 'वोट बैंक' की राजनीति करती

है। उनके मूल-समस्याओं पर ध्यान नहीं देती। क्योंकि उनकी मूल समस्या हल हो जायेगा तो सरकार के पास किसान से सम्बन्धित चुनाव लड़ने के लिए कोई मुद्दा नहीं रह जायेगा।

देश भर में किसानों के कर्ज तले दबे होने के कारण आत्महत्या को मुद्दा बनाते हुए किसान संघों द्वारा कर्जमाफी की मांग की जा रही है। कई राजनीतिक दल भी इसे हवा दे रहे हैं। चुनाव घोषणा पत्रों में कर्ज माफी का मुद्दा भी उभरता है। उसके बाद चुनावी वादों के नाम पर कर्ज माफी की बात होती है। आत्महत्याओं को राजनीतिक रंग दिये जाने के प्रयास होते हैं। और शान्तिपूर्ण आन्दोलन हिंसक हो जाते हैं और इन सबमें किसान अंततः ही ठँगा जाता है। कर्ज माफी से सभी किसानों का भला होने वाला नहीं है। बैंक चाहे सार्वजनिक, निजी या सहकारी क्षेत्र के हो स्वतन्त्रता के 70 साल बाद भी एक तिहाई किसान ही ऋण सुविधा से जुड़ पाये हैं। लगभग 2 तिहाई किसान-संस्थागत, किसान संस्थागत ऋण सुविधा से वंचित हैं। जहाँ तक फसलो ऋण की बात है पिछले कुछ सालों से केन्द्र सरकार समय पर ऋण चुकाने वाले काफ़्तकारों को 3 प्रतिशत ब्याज अनुदान दे रही है, लेकिन जमीन या धरातल पर कुछ नहीं है किसानों के एड़ी घिस जाती है। सहकारी बैंकों का चक्कर काटते-काटते और उनका फसल दवा और खाद्य के अभाव में खराब हो जाती है, क्योंकि सुविधा समय से नहीं मिल पाती है।

15 अगस्त 1947 से अब की तमाम सरकारों ने किसानों को 'वोट-बैंक' मानकर उन्हें सिर्फ बहलाया-फुसलाया सही रास्ता दिखाने की कोशिश नहीं की। यही वजह है कि गाँव तेजी से वीरान होते जा रहे हैं और शहर अभियन्त्रित लोगों के बोझ से बदहाल या दबता जा रहा है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने किसानों का कर्ज-माफ करने की घोषणा की है। जो 2 करोड़ 15 लाख किसानों का लघु एवं सिमान्त का एक लाख रुपये तक माफ होगा। जो उत्तर प्रदेश राजकोष पर 36359 करोड़ रुपये का बोझ आयेगा।

क्या कर्ज-माफी एक स्थायी समाधान है?

"कर्ज-माफी से कुछ समय के लिए किसानों के घाव पर मरहम लगा कर दर्द को कम किया जाता है तथा पूर्ण से समाप्त नहीं किया जाता है"। 36351 करोड़ रुपये से उत्तर प्रदेश में किसानों से सम्बन्धित प्रोजेक्ट लगाया जाय और जिस जिले में कुछ विशेष प्रकार की खेती होती है, वहाँ उस प्रकार का व्यवस्था किया जाय जैसे सोनभद्र में टमाटर की अच्छी-खेती होती है तो वहाँ पर सरकार को टमाटर के प्रसंस्करण, चटनी की फैक्ट्री लगाया जाय, जिससे किसानों के उत्पादन का उचित मूल्य मिल सके और कुछ किसानों को फैक्ट्री में कार्य करने के लिए रोजगार भी प्राप्त हो जायेगा कुछ की इनके वितरण देश विकास की ओर अग्रसर हो जायेगा।

इसी प्रकार महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, एवं अन्य सभी प्रदेशों में कच्चे माल (सब्जी) के लिए 'कोल्ड-स्टोर' की व्यवस्था की जाय। जिससे किसान अधिक उत्पादन होने पर (सब्जी) या कच्चे माल को कोल्ड-स्टोर में जमाकर दे और उचित मूल्य होने पर बेचें, ऐसी व्यवस्था केन्द्र सरकार या प्रदेश सरकार को करनी चाहिए। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39(ख) के तहत जमींदारी प्रथा को समाप्त कर भूमि को जोतने वालों को भूमि का वास्तविक स्वामी बना दिया गया है; एक कृषि प्रधान देश में राज्य एवं कृषकों के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित कर कृषकों को बिचौलियों के शोषण मुक्ति प्रधान करने वाला यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है यदि इस अनुच्छेद को सरकार कड़ाई से सिर्फ लागू कर दे तो बिचौलियों का रास्ता समाप्त हो जायेगा और किसान को उसका उत्पादन का उचित मूल्य मिलने का मार्ग खुल जायेगा।

राष्ट्रीय किसान आयोग भारत का एक आयोग है जिसका गठन 18 नवम्बर 2004 को किया गया था उनका अध्यक्ष एम0एस0 स्वामीनाथन है। उनका मुख्य उद्देश्य किसानों को लागत मूल्य दिया जाय। जिससे किसानों के उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो।

जब किसानों की आय में वृद्धि होगी 'तब उनके बच्चे गाँव से शहर, शहर से विदेश की ओर पढ़ने और सही मार्ग का अनुसरण करते हुये राष्ट्र के विकास में योगदान देगे और बेरोजगारी, निर्धनता, आन्तरिक हिंसा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धित समस्या भी हल हो सकता है। जिससे देश के 70: ग्रामीण आबादी खुशहाल हो जायेगी। भारत पुनः अपने राष्ट्रीय गौरव को वैश्विक स्तर पर स्थापित कर पायेगा।

वर्तमान में देश के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की कैबिनेट ने 13 जनवरी 2016 को 'प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना' को मंजूरी दे दी है। किसानों के फसल नष्ट होने पर उन्हें प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना का

लाभ मिलेगा। लेकिन भारतीय किसानों का दुर्भाग्य है कि "फसल किसान की नष्ट होती है और फसल नष्ट होने से जेबे बाबू-क्लर्क एवं सम्बन्धित अधिकारियों की भरती है। इस प्रकार कोई भी योजना बिना सशक्त कानून एवं शक्तिशाली सरकार के असम्भव है।"

किसान की आत्महत्या के बाद पूरा परिवार उसके असर में आ जाता है। बच्चे स्कूल छोड़कर खेती-बाड़ी और मजदूरी के कामों में लग जाते हैं। परिवार को कर्ज की विरासत मिलती है और इस बात की आशंका बहुत बढ़ जाती है कि बढ़े हुये पारिवारिक दबाव के बीच परिवार के कुछ अन्य सदस्य भी आत्म-हत्या ना कर बैठें। किसान हमारे अन्नदाता हैं। उनकी आत्महत्या पूरे राष्ट्र की क्षति और शर्म की बात है। देश की केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को किसानों की आत्महत्या रोकने के लिए युद्ध स्तर पर प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में किसानों की ऐसी हालत में हमारी उपलब्धियाँ अर्थहीन हो जाती हैं। देश के अर्थशास्त्रियों, देश की सरकार को सबसे पहले इस समस्या पर पूरा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। ऐसे में हमारे अन्नदाता का आत्मनिर्भर होने का सपना कब पूरा होगा?

इस अहम सवाल की पड़ताल बड़ा मुद्दा एवं संकट रूपी विष है।

"बंजर सी धरती से सोना उगाने का माद्दा रखता हूँ,

पर- अपने हक की लड़ाई से डरता हूँ"

ये सूखा, ये रेगिस्तान, सुखी हुई फसल को

देखता हूँ

न दिखता कोई रास्ता तभी आत्म-हत्या करता हूँ

उड़ाते हैं मखौल मेरा वे, सरकारी कामकाज,

बन कर रह गया है राजनीति का मोहरा आज,

क्या मध्य प्रदेश क्या महाराष्ट्र, तमिलनाडु से

लेकर सौराष्ट्र

मरते हुये अन्नदाता की कहानी बनाता, मैं

किसान हूँ। {अवनीश मिश्रा}

I UnHk %

1. "Farmers suicides in India" }kjk Dr. Vandana Shiva, Kunwar Jalus, सौजन्य से: Research Foundation for Science, Technology and Ecology; नई दिल्ली।
2. "Farmers suicides roles soar above the rest" द्वारा पी० साईनाथ, 'द हिन्दू' अभिगमन तिथि: 21 अक्टूबर, 2013।
3. पंकज सुबीर "अकाल में उत्सव" प्रकाशक, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्पलैक्स बैसमेट, सीहोर।
4. "भारतीय किसान और उनकी मूलभूत समस्याएँ" लेखक नवल किशोर स्रोत कुरुक्षेत्र, दिसम्बर 2011.
5. Das, A. (2011), Farmers suicide in India; implications for Public Mental health, International Journal of Social Psychiatry, 57(1), 21-29.
6. Chaudhary and Swamy (2014) Protecting the Borrower: An Experiment in Colonial India- Yale University.
7. "कर्ज न चुकाने की बन रही आदत" लेखिका डॉ० आरती गुप्ता। स्रोत सम्पादकीय, दैनिक जागरण समाचार (18 जून 2017)।
8. डॉ० विजय शिंदे का आलेख 'आधारहीन किसानों का खेती से पलायन'।



ehjk dī dk0; eī vUrfufgr foæ'gh pīruk v0j 0fäd0;

fueYkk oek*

मीरा भक्तिकाल की ही नहीं समूचे हिन्दी साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण स्त्री कवि हैं। मीरा कृष्ण-भक्त थीं और कृष्ण 'भक्ति' में दीवानी होकर सुख-वैभव को त्याग दिया। नारी को कविता का विषय रीति प्रवृत्ति में बहुत बनाया गया, किन्तु नारी कवयित्री नहीं के बराबर हुई। मीरा की कविताओं में जहाँ अपने आराध्य के प्रति अनन्य समर्पण दिखायी देता है वहीं आजीवन झेलते कष्टों का चित्रण इन पदों में वह अग्नि भर देता है, जिससे यह कविता मात्र भक्त की पुकार से कहीं आगे जाकर मनुष्य की व्यापक धरोहर बन जाती है। इनकी कविता नारी के अन्तर्मन की उस घुटन और तड़प का प्रतिनिधित्व करती है, जो वेद धर्मशास्त्र के चलते सदियों से जुल्म का शिकार होती है, जिनके तहत नारी सदियों से गीली लकड़ी की भाँति धुंधवाते हुए जलती रही है और लोक तथा समाज जिसके इस तरह जलने और सहने को ही नारीत्व की सार्थकता मानता रहा है। इन्हीं चीजों के बरक्स मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "मीरा की कविता में सामंती समाज और संस्कृति की जकड़न से बेचैन स्त्री स्वर की मुखर अभिव्यक्ति है।"

मीरा का समाज ठहरा हुआ समाज था, जहाँ गतिशीलता नहीं थी। मीरा की कविता भी भक्ति आन्दोलन उसकी विचारधारा और तत्कालीन समाज में नारी स्थिति से उनकी टकराहट का प्रतिफलन है। यह प्रतिफलन उस मानवीयता में प्रकट हुआ जो अपने समय की धार्मिक-साधनाओं के ही सहारे रूपायित हो सकती थी। मीरा की कविता में राजसत्ता, पुरुषसत्ता, लोकरुढ़ि और कुलीन के विरुद्ध का स्वर जैसा प्रखर है, वैसा उस काल के किसी अन्य कवि के यहाँ नहीं। मीरा के आराध्य कृष्ण हैं, जिन्हें वह किसी भी कीमत पर प्राप्त करना चाहती है। उस काल में यह दुस्साहस ही था कि एक स्त्री और वह भी विधवा अपने मन की करे, साधु सन्तों के साथ भजन-कीर्तन करना, पति के कुल की मान्यताओं से पृथक् अपने इष्ट की आराधना और इनसे भी आगे यह कि अपना मार्ग खुद तलाशना, सीधे-सीधे पितृसत्तात्मक सामन्ती राजसत्ता पर आघात करना था। पितृसत्ता स्त्रियों पर सामन्ती पुरुषों का वर्चस्व चाहती है और ऐसे में मीरा का स्वर देखते बनता है—

^f l l " | " : B ; " E g k j " d k b i d j Y " l h A *¹

एक स्त्री की चेतना का ऐसा दर्शन समूचे मध्ययुग के साहित्य में दुर्लभ है। इस चेतना को नकार कर जो विद्वान मीरा को 'भक्तिन' का तमगा देते हैं वे मीरा के काव्य मर्म को नहीं जानते। अस्वीकार का साहस मीरा को लोक में वह प्रतिष्ठा देता है कि उनके गीत जन-जन की वाणी बन जाती है—

— ^ukfgi 0koī Fkkj " n l YkM " j x : M "

Fkkj i n l k e i j k . k k l k / k u g E g j Y k " x c l l l c d M " A ²

— ^j k . k k t h E g k . " ; k c n u k e h Y k k x i e h B h i ³

& ^ i x c k / k ? k ? k j P ; k . k k P ; k j h j Y k " x d á " e h j k 0 b i c k o j h j l k l d á k d Y k u k l h j h A *⁴

यहाँ मर्यादाओं के वे नकली पुल टूट जाते हैं, जिसे परम्परा कह कर विद्वान सँवारते हैं। वस्तुतः महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है यह कहना कि मैं तो नाँचूंगी चाहे लोग बावरी कहे। मुक्ति की चेतना का यह स्वर इतना दमदार है कि मीरा की कविता स्त्री का भी चेतना का कण्ठहार बन जाती है।

मीरा की कविता की अर्थवत्ता इसलिए है क्योंकि निजी अनुभूतियों उनके अन्य समर्पण व प्रेम तथा वियोग की एकान्त संवेदना से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है और उसका मूल्य आधुनिक है। भारतीय स्त्री की चेतना का प्रतीक है। मीरा, जिसका स्वरूप आधुनिक चेतना से उपजी है और जिसकी रोशनी में भारतीय स्त्री तो क्या समूचा स्त्री मुक्ति आन्दोलन यह पा रहा है। मीरा का समय उत्तर भारत के पतनशील सामन्तवाद का समय है। भेदों को 'धर्म' और 'समाज' से स्वीकार कर उसे महिमा मंडित मान्यताएँ बनाकर प्रचलित करने वाली यह व्यवस्था वस्तुतः प्रभु वर्ग की पुरुषों द्वारा संचालित थी। इसमें दासों, सेवकों, कारीगरों और मजदूरों और श्रमिक शूद्रों और स्त्रियों पर नियन्त्रण नहीं था पर जहाँ इसमें बाधा उत्पन्न होती थी तो कठोरता पूर्वक इनको दमन किया जाता था। "मीरा ऐसी सामन्तवादी रूढ़ियों को तोड़ने के लिए गिरिधर भक्ति का संकल्प लेकर रनिवास के बाहर निकल आई है।"⁵

भक्ति आन्दोलन का यह गम्भीर अन्तर्विरोध है। तत्कालीन सभी साधना पद्धतियों का स्त्री निंदा में हाथ रहा है। जहाँ एक ओर ईश्वरीय जगत में राम और कृष्ण की दुनिया में स्त्री को सामाजिक नियमों से हटने, धार्मिक प्रतिबंधों को अस्वीकार करने की छूट देते हुए चित्रित किया गया, वहीं वास्तविक जगत में उसके इस आचरण को स्वीकार नहीं किया गया।

मीरा की रचनाशीलता का सर्वोपरि महत्त्व इस बात में है कि वह उत्तर भारत में अपनी पूरी अस्मिता और गहराई तथा विस्तार से अंकित होने वाला प्रायः पहला स्त्री-स्वर है। मीरा ने स्वतंत्रता को सर्वोपरि मूल्य माना और स्त्री की स्वतन्त्रता के विरोध में खड़े सभी सिद्ध को गहरी चुनौती पेश की। वस्तुतः मीरा की कविता प्रतिबंधों के साये में जीवन जीने वाली मनुष्यता के अधिकार से वंचित स्त्री जाति की घोषणा पत्र है जिसमें स्वतंत्रता, समानता, न्याय, सम्मान, स्वाभिमान, सपनों, वाणी और भाषा के लिए गहरी बेचैनी और छटपटाहट मौजूद है।

मीरा की कविता का ढांचा भक्ति परम्परा का है। मीरा में सूफियों सा दीवानापन, जुनून और एकांतिकता मौजूद है। परन्तु कृष्ण के प्रति मीरा का यही आध्यात्मिक प्रेम उसे सामन्ती व्यवस्था की पितृसत्तात्मक पुरुष सत्ता के समक्ष ला खड़ा करता है। मीरा का अकेलापन सामन्तवादी पुरुष सत्ता से संघर्षरत अलग-अलग पड़ गई। स्वतन्त्र चेतना मुक्तिकामी स्त्री का अकेलापन है। मीरा के अपने पदों में बार-बार यह अकेलापन कृष्ण के प्रेम की गहरी इच्छा के साथ व्यक्त हुआ है—

& [^]re fc.k lktu d`bī ugē gj fm.kh uko len vMhA^{*6}

& [^]rfud gfj fpro0 th ejh v`j
Egkjh vklk fprofu rejh] v0j u nith N`jA^{*7}

& [^]ehjk jī d`bī ukgh nīt0] njl.k nhtl vkbA^{*8}

& [^]g jh eī r` Ae fnokuh ejk njn uk tkul d`bA^{*9}

मीरा की कविता अस्मिता और गहराई तथा विस्तार से अंकित होने वाला प्रायः पहला स्त्री-स्वर है। सारी दुनिया के बीच रहते हुए भी मीरा का यह कहना कि 'कोई नहीं है' संकेत करता है कि समाज में व्यक्तिगत संघर्ष में उसका साथी होने की क्षमता या चाहत नहीं है। मीरा-राणा, सत-असत्, अच्छे-बुरे के संघर्ष में या तो राणा के साथ है या मौन है। इस विरक्ति के पीछे सैद्धान्तिकी नहीं, निजी अनुभव है। स्वतन्त्रता के लिए उनका संघर्ष उन्हें कृष्ण के प्रति उनका सार्वजनिक समर्पण व्यवस्था को रास नहीं आता, फलतः संघर्ष और बढ़ जाता है। मीरा के इस स्वतंत्र-चेता विद्रोही भाव को परिवार-सत्ता, राज्यसत्ता और समाज सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में राणा को गहरी चुनौती मिलती है। वे मीरा के प्रतिबंधों को कड़ा कर देते हैं। विद्रोहिण मीरा कुलीन स्त्री की मर्यादा से बाहर आकर 'राणा' को चुनौती देती है।

मीरा की जीवन-कथा और कविता मौजूद 'राणा' एक व्यक्ति होने से ज्यादा एक यथा स्थिति सामन्तवादी वर्चस्वशाली पुरुष की सत्ता का प्रतिनिधि है। मीरा का यह संघर्ष दो व्यक्तियों का नहीं दो जीवन-दृष्टियों, दो मूल्यों का संघर्ष है। यह जगत या इसका समाज जहाँ राणा के समर्थन में चुप है वहीं मीरा को 'बिगड़ी हुयी', 'कुलनाशी', 'लोकलाज' की उपाधियों से नवाजता है। राणा का समाज जो सामन्ती नैतिकताओं और मूल्यों से संचालित है। इन्हीं कारणों से मीरा की कविता में सामान्य जगवासियों के प्रति भी गहरी विरक्ति के दर्शन होते हैं। यथा—

& [^]L;ke fc.kk t x [kkjk Ykkxk] t x jh ckrk dkphA^{*10}

& [^]ehjk fxj/kj gkFk fodk.kh] Yk"x dák fcxMhA^{*11}

& [^]e.k Egkj" YkX;k fxj/kkj] t xjk c"Yk l ákA^{*12}

मीरा वर्चस्ववादी ताकतों के आगे समर्पण नहीं करती, वह अडिग और अजेय है। वह मानव जाति के आधे हिस्से स्त्रियों की अस्मिता के संघर्ष के सबसे सशक्त प्रतीक—पुरुषों के रूप में उभरती है, जबकि कबीर स्त्रियों के प्रति अपने विचारों में जड़ है। अध्यात्म भी मीरा के लिए हथियार है— अपनी (एक स्त्री की) निजता की तलाश का, स्वत्वग्राहस का। सबसे बड़ी बात यह वे इसे सामाजिक संघर्ष के हथियार में बदल देती है। उनकी कविता मात्र एक स्त्री की स्वतन्त्रता का संघर्ष नहीं बल्कि सामाजिक समानता की पक्षधरता और राजशाही के खिलाफ विद्रोह की दुंदुभि है।

पिता, भाई, पति, ससुर, देवर और अन्ततः वे सौ औरतें जिन्होंने बहादुरशाह के चित्तौड़ को जीतने पर जौहर किया, मीरा के अपने लोग थे। मीरा उस शौर्य परम्परा को नकारती है, जो राजपूतों की पहचान है यानी जातीय विभाजन को मजबूत करता है। देखने की बात यह है कि एक के बाद एक पुरुष रचनाकारों ने कई सदियों की मानसिकता कवायद से अपनी कामुकता, लम्पटता, व्यभिचार और अमर्यादित व्यवहार को सही ठहराने के लिए अपनी कल्पनाशीलता और रचनात्मकता के बल पर कृष्ण का जो चरित्र और उसकी लीला गढ़ी है, मीरा उस खेल को पुरुषों पर ही उलट देती है। वह अकेली ही पूरे पुरुष रचनाकारों पर भारी पड़ती नजर आती है।

एक अजीब बात है कि मीरा कृष्ण के बालरूप पर अपवाद स्वरूप की चर्चा करती है। स्त्री होकर उनकी रचनाओं में संतान प्रेम और बाल मोह कहीं है ही नहीं। क्या यह सप्रयास नहीं है? वह 'रांड' भी है और 'बांझ' भी। वह इस स्थिति को खुलकर स्वीकारती है। दूसरे अर्थों में मीरा पितृसत्ता की एक और मांग संतानोत्पत्ति यानी जन की भूमिका को लगभग नकार देती है। यही वह अन्तर है जो मीरा को चिर विद्रोही का दर्जा देता है। मीरा अन्जाने चुनौती नहीं बनती, बल्कि कदम-कदम पर सप्रयास चुनौती देती चलती है—[^]pkYk ogh n:l ihre ikok pyk okgh n:lA

dgk rk dley lkg jxkok] dgk rk Hkxok Hk lA^{*13}

दो पंक्तियों में मीरा भारतीय स्त्री की पुरुष के प्रति निष्ठा और बंधन के सारे प्रतीकों को तहस-नहस कर गली में फेंक देती है—

[^]dk : xh phj d : xYk dFkk jgixh cjkx.k g" ; jh

pfM;k Q" : ekx ct : d t jk el Mk : /k" ; jhA*

मीरा का यह आत्म-निर्णय आजादी की ललक है। यह समाज-निर्धारित भूमिका के खिलाफ विद्रोह का बिगुल है। पितृसत्ता निर्धारित स्त्री सुख, अच्छा पति, अच्छा घर, जिसकी छाया में वह खामोशी से जी सके और उतनी ही बेआवाज मौत मर सके, यह सारा मानदंड मीरा सिरे से खारिज कर देती है। अस्वीकार के पीछे सिर्फ एक ही मांग है, और वह है अपने हिसाब से जीवन जीने की कामना। वह कोई बन्धन स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

मीरा की व्यथा एक राजघराने की औरत की व्यथा है। आडंबर और अहंकार में जीने की मजबूरी की व्यथा है। यह पितृसत्ता की बर्बरता और दमन से ऊपजी व्यथा है। यह एक मध्यकालीन औरत की व्यथा है। यह एक स्वतन्त्र चेतना की व्यथा है, जिसका विस्तार काल और स्थान की सीमा से परे है। मध्यकाल से आज तक मीरा भारतीय नारी की सबसे मुखर आवाज है और उतना ही सशक्त भी चीख नहीं, हुंकार है।

इस लोक से संघर्ष वस्तुतः कई बार किसी भी सत्ता की तुलना में ज्यादा कठिन होता है। सत्ता तन्त्र की वास्तविक शक्ति शारीरिक हनन में नहीं चरित्र हनन और समाज की नजरों में आदर्शच्युत करने का है। राणा के समर्थक तक ने मीरा को लांछित करने का पूरा कुचक्र चलाया, जिसमें उसे लोक के हिस्से का समर्थन भी मिला। यँ भी मध्यकालीन व्यवस्था में स्त्री की शारीरिक मौत से ज्यादा जरूरी चरित्रगत मृत्यु थी। वे लोक, जगत की कथित मर्यादा को तोड़ती है—

& ^Yk`d Ykk t dīYk jk ej tknk
tx .kk .`d .kk jk[;k jhA*¹⁴

& ^Yk`d Ykk t dīYk dk.k txr dh] nbī cgk; t l ik.khA*¹⁵

मीरा ने सामन्तवादी प्रभुओं व जागतिक पुरोधाओं द्वारा लागू प्रत्येक प्रतिबंध और 'मर्यादा' के नाम पर स्वीकार्य कैद को कदम-कदम पर अस्वीकार किया उसने घर की चारदीवारी लांघी, पुरुष भक्तों-साधुओं ने साथ घूमी और खुलेआम सबके सम्मुख नाची।

^lkt flxkj ck/k ix ?k?kj]

Yk`d Ykk t rt .kkphA*¹⁶

नाचने के साथ 'लोक लाज त्याग' पदों में संयुक्त है अर्थात् यह मीरा संयत और सुवैचारिक प्रतिरोध है। यह सामन्ती समाज-व्यवस्था द्वारा स्त्रियों की स्वतन्त्रता के मार्ग में खड़े किये गये सबसे प्रमुख बाधक 'मर्यादावाद' पर सुनियोजित आक्रमण है।

मीरा बहुत निर्भीक निडर रही होंगी हम जानते हैं कि 15वीं-16वीं शताब्दी में उदयपुर के राजा का कहना न मानने वाली विधवा के साथ क्या सलूक करते थे। अन्य सन्त-भक्त कवियों ने भी तात्कालीन सामन्ती-शासकों की उपेक्षा की आलोचना भी की है, लेकिन नाम लेकर बिल्कुल नहीं। मीरा की रचनाओं का क्षेत्र बहुत सीमित है। इसका कारण यह है कि मीरा ने नारी जीवन के वास्तविकता में जो परस्पर विरोधिता या विषमता है, वह भी मीरा के यहाँ भरपूर मौजूद है।

निराला द्वारा 'सरोज-स्मृति' अपनी बेटी की अकाल-मृत्यु पर लिखी गई। किन्तु 'सरोज-स्मृति' में निराला जैसे लाखों-करोड़ों पिताओं और सरोज जैसी लाखों-करोड़ों कन्याओं की पीड़ा भी अभिव्यक्त है। इसी तरह मीरा ने जब अपनी व्यथा नारी व्यथा कही तो उन्होंने अपने युग की असंख्य नारियों की व्यथा कही। लेकिन वह घर में बैठकर साधन करने वाली नहीं थी। वह स्वयं को सिर्फ भक्त मानती थी, स्त्री या पुरुष नहीं। यह समाज उन्हें व्यक्तिगत साधना के लिए तो न रोकता परन्तु राजा के कुल की मर्यादा तोड़ने की आज्ञा उन्हें समाज नहीं दे सकता था। यह भक्ति-भावना और सामाजिक रूढ़ियों का द्वन्द्व था। कहते हैं कि वृन्दावन के गोस्वामी जी को यह कहकर हतप्रभ कर दिया था कि वृन्दावन में एक ही पुरुष है- कृष्ण।

मीरा की कविता में सीमित चेष्टाशीलता है। उनमें बन्धन तोड़कर निकलने की व्याकुलता तो है किन्तु यह अनिवार्य बोध भी है कि इस बन्धन को तोड़ पाना दुष्कर है। उनकी कविता में प्रिय के प्रति जो समर्पण है वह अबलात्व से युक्त है। उसके कविता में प्रेम की व्याकुलता, असफलता, विवशता और प्रेम की निष्ठा से उत्पन्न भाव-तल्लीनता का आनन्द रस सब कुछ विद्यमान है।

I UnŌ: §

1. परशुराम चतुर्वेदी, मीराबाई की पदावली : पद 35	9. वही, पद 70
2. वही, पद 32	10. वही, पद 45
3. वही, पद 34	11. वही, पद 14
4. वही, पद 36	12. वही, पद 29
5. विश्वनाथ त्रिपाठी, मीरा का काव्य, भूमिका, विद्या निवास मिश्र	13. मीरा की सम्पूर्ण पदावली : सं० रामकिशोर शर्मा, सुजीत कुमार शर्मा, पृ० 174
6. परशुराम चतुर्वेदी, मीराबाई की पदावली : पद 18	14. परशुराम चतुर्वेदी, मीराबाई की पदावली : पद 17
7. वही, पद 05	15. वही, पद 38
8. वही, पद 116	16. वही, पद 14



लैङ्गिकता और भाषा

लैङ्गिकता

साहित्य और भाषा एक-दूसरे से परस्पर संबंधित होते हैं। भाषा के बिना साहित्य का अस्तित्व संभव नहीं है। लेखक का विचार, कल्पना, अनुभव, नजरिया व भाव भाषा की चादर लपेटकर साहित्य के माध्यम से श्रोता व पाठक के सम्मुख आता है। "चिंतन-मनन से लेकर अभिव्यक्ति तक भाषा ही वह किला है, जिसमें संघ लगाकर ही साहित्यकार को फ़तह मिलती है। इस पूरी प्रक्रिया में रचनाकार को गहरा संघर्ष झेलना पड़ता है और पाठक तक उसकी अनुभूति को संप्रेषित करने का यही माध्यम है।"¹

प्रारम्भ से ही हमारा समाज पितृसत्तात्मक रहा है, जिसमें स्त्रियों को, पुरुषों के सामने हीन माना गया है। पुरुष प्रधान समाज ही स्त्रियों के अधिकारों, कर्तव्यों का निर्धारण करता है जिससे स्त्रियाँ पुरुषसत्ता द्वारा निर्मित 'आचार संहिता' का पालन करने को विवश हैं। स्त्रियों को कहाँ बोलना है, कहाँ नहीं, कितना बोलना है, कैसे बोलना है, कब चुप रहना है, कहाँ जाना है, यह अधिकांशतः पुरुष ही तय करता है।

प्रश्न यह है कि क्या इतनी पाबंदियों के बावजूद स्त्रियों की अपनी कोई भाषा है? क्योंकि आरंभ से शिक्षा का क्षेत्र पुरुष द्वारा नियन्त्रित होता रहा है, तो ऐसे में स्त्री अपनी भाषा कैसे ईजाद कर सकती है? अगर कोई स्त्री लिखती है तो उसे 'अज्ञात' नाम से लिखना पड़ता है। पुरुषों में ऐसी धारणा है कि स्त्रियाँ संवेदनशील होती हैं और उनमें बौद्धिकता कम होती है, वह फालतू बातें करती हैं, गंभीर नहीं होती आदि। इस कारण उनकी भाषा प्रभावी नहीं होती और पुरुषों की भाषा प्रभावी, व गंभीर होती है क्योंकि उनमें दृढ़ता व आत्मविश्वास होता है। भाषा बोलने में भी उनकी अधीनस्थ स्थिति देखी जा सकती है, जैसे संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों के कुलीन पुरुष पात्र संस्कृत बोलते हैं और स्त्रियाँ निम्न समझी जाने वाली प्राकृत या देशभाषा का प्रयोग करती हैं, चाहे वह किसी भी वर्ग की हों— "आमतौर पर भाषा के पुरुष प्रयोक्ताओं ने विश्व की समस्त भाषाओं में स्त्री के लिए हीन या सबस्टैण्डर्ड भाषा का प्रयोग किया है। क्लासिकल भाषाओं की जगह अपभ्रंश भाषा का प्रयोग इसी मानसिकता के तहत है।"² ऐसा क्यों है कि जो भी श्रेष्ठ होता है उस पर पुरुष का वर्चस्व रहता है और स्त्रियाँ या तो उससे बेदखल कर दी जाती हैं या पुरुष उसे 'भीख' के रूप में कुछ अंश दे देता है। भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज है इसलिए स्त्रियों की भाषा अपनी संवेदना व बुनावट में अलग होती है। एक स्त्री जिस आंतरिक व बाह्य परिवेश में रहती है, वह पुरुष की परिस्थिति से भिन्न होता है। स्त्री दृष्टि, पुरुष दृष्टि से अलग है, जिसके कारण उनके लेखन भी भिन्न होते हैं, लेकिन भिन्न होने से आशय पुरुष लेखन से कमतर होना नहीं है। स्त्रियों का लेखन उनके अनुभव से युक्त होता है, किसी शास्त्र सम्मत पद्धति से नहीं।

पितृसत्ता की पकड़ सिर्फ भाषा पर ही नहीं बल्कि व्याकरण पर भी देखी गयी है। अगर भाषा मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति का साधन है तो इस पर सिर्फ पुरुषों का अधिकार क्यों है? हमारी भाषा में ऐसे कई श्रेष्ठताबोधक शब्द हैं जो पुरुषों के लिए ही हैं, स्त्री के लिए नहीं जैसे— महापुरुष, विचारक, वक्ता, सर्जक, स्रष्टा, कर्ता, पुरुषार्थ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ आदि शब्दों का कोई स्त्रीलिंग नहीं है। शायद स्त्री का विचारक, महापुरुष, शास्त्रज्ञ होना पुरुष अधिकृत समाज के शब्दकोश में नहीं था। हमारे समाज में जितने भी हीनता बोधक शब्द, गाली गलौज बने हैं सब 'स्त्री' को लेकर व स्त्री के लिए हैं, पुल्लिंग का इससे कोई सरोकार नहीं है। जैसे, बाँझ, वेश्या, रांड, डायन, रखैल, सौत आदि। प्रश्न यह है कि क्या स्त्री

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ही बांझ होती है, पुरुष नहीं या पुरुषों के लिए बांझ का कोई पुल्लिंग है? ये सारे शब्द स्त्रियों को उपेक्षित करते हैं। कई ऐसे शब्द भी हैं जिनका अर्थ स्त्री-पुरुष के लिए अलग-अलग हो जाता है, इस सन्दर्भ में सुधा सिंह कहती हैं— “जब हम किसी पुरुष को कहते हैं कि ‘वह एकदम पेशेवर है’ और जब हम किसी स्त्री के लिए कहते हैं कि ‘वह एकदम पेशेवर है’ तो दोनों के अर्थ एक नहीं होते। जबकि दोनों ही वाक्य पूरी तरह से अर्थ के स्तर पर एक हैं, लेकिन लिंगभेद से अर्थ बदल जाता है। स्त्री के लिए इसका एक कामुक और हेय अर्थ द्योतित होता है। स्त्री से जुड़ा हुआ कोई भी संकेत अनिवार्यतः नकारात्मक और कामुक ध्वनि पैदा करता है।”³ भाषा के सन्दर्भ में स्त्री-पुरुष लेखन व उनके सौन्दर्यबोध में अन्तर होता है। स्त्री रचनाकारों की भाषा जहाँ एक ओर स्त्री जीवन की विवशता को दर्शाती है, वही दूसरी ओर उनके संघर्ष व मुक्ति की छटपटाहट को भी व्यक्त करती है। स्त्री भाषा के प्रश्न को सर्वप्रथम वर्जीनिया वुल्फ ने सन् 1962 में ‘वूमेन एंड फिक्शन’ निबंध में उठाया, वह मानती हैं कि स्त्रियों की भाषा पुरुषों से कमजोर होती है।

अगर पुरुष, स्त्री सौन्दर्य व उसकी भावनाओं को व्यक्त करता है तो वह उसकी कलात्मकता मानी जाती है, वही स्त्री रचनाकार उनकी इच्छाओं, प्रेम-संभोग के समय की भावनाओं को व्यक्त करती हैं तो उसे अश्लीलता की श्रेणी में गिना जाता है। यह है भाषा के स्तर पर दोहरा अर्थ ग्रहण। कृष्णा सोबती का ‘मित्रो मरजानी’ भाषा के स्तर पर महत्वपूर्ण है। मित्रो अपनी काम-इच्छाओं के वशीभूत हो पुरुषसत्ता के सम्मुख अपनी ‘भूख’ की इच्छा को व्यक्त करती है। वह अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करती है और ‘मरजानी’ जो स्वयं में एक गाली है के नाम से मशहूर हो जाती है। यह संज्ञा समाज उसे उसकी नैसर्गिक इच्छाओं की माँग करने के लिए देता है। मित्रो की इच्छा के कारण समाज उसे ‘मरजानी’ जैसे उपनाम से अभिहित करता है। मित्रो के माध्यम से लेखिका ने स्त्री की छवि बदल दी है, उसे मर्यादा, परम्परा, संस्कार की जंजीरों से निकाल, उन्मुक्त जीवन जीने व अपनी इच्छाओं को बिना संकोच के व्यक्त करने की आजादी दी है। मित्रो का स्वर कमनीय या मद्धिम न होकर तेज व स्पष्ट होता है। कृष्णा सोबती मित्रो के द्वारा स्त्री के लिए निर्धारित भाषा के मानक को तोड़ती हैं। मित्रो नैतिक वर्जनाओं को अस्वीकार कर अपनी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति चाहती है। वह खुलेपन के साथ अपनी ‘भूख’ को जेठानी से व्यक्त करती है— “देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता.....। बहुत हुआ हल-पखवारे..... और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली सी तड़पती हूँ।”⁴ मित्रो हिन्दी उपन्यास की पहली स्त्री पात्र है जो इतनी बेबाक भाषा में अपनी इच्छा को (बिना किसी संकेत व दबी-छुपी आवाज में) व्यक्त करती है। पितृसत्ता के अधीन स्त्रियों की कोई इच्छा नहीं होती, वह तो पुरुष के लिए सहज उपलब्ध हो जाती है। पुरुषवादी समाज में स्त्रियाँ इस ‘इच्छा’ को किसी से नहीं कह पाती, लेकिन मित्रो यह काम करती है। कृष्णा सोबती ने स्त्री की परम्परागत छवि व भाषा के बन्धनों को तोड़ने का साहस किया है।

चित्रा मुद्गल का ‘आवां’ स्त्री उत्पीड़न का दस्तावेज है। पुरुष स्त्री के लिए कैसे-कैसे शब्दों का प्रयोग करता है, यह हम संजय कनोई के बातों में देख सकते हैं— “मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा-भर हो और जो कि अनेकों से सौदा कर चुकी हों— मुझे नहीं गँवारा थी ऐसी किराए की कोख। मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो. पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने।”⁵ संजय कनोई शादीशुदा है, फिर भी नमिता से प्रेम का नाटक कर उसके गर्भ से अपनी सन्तान पैदा करना चाहता है। खुद चरित्रहीन होने के बावजूद पवित्र स्त्री की कोख से बच्चा चाहता है। वह रंडी से बाप नहीं बनना चाहता और जो खुद यह कार्य करता है उसके लिए क्या कोई सम्बोधन शब्द है? अगर कोई पुरुष लिखता तो स्त्री कौमार्य के महत्व को सही-सही नहीं आंक पाता। एक स्त्री ही कौमार्य के महत्व को लिख व महसूस कर सकती है। चित्रा जी ने पुरुष की इस मानसिकता को बड़ी ही गहराई से व्यक्त किया है।

ममता कालिया का ‘दुःखम-सुखम’ उपन्यास कथ्य व भाषा की दृष्टि से अपने पूर्व के उपन्यासों से अलग और मुखर है। ‘बेघर’ व ‘एक पत्नी के नोट्स’ की स्त्रियाँ पितृसत्ता का विरोध नहीं करती, उसे अनुभव जरूर करती हैं। ‘दुःखम-सुखम’ की स्त्री पात्र विरोध की नयी भाषा ईजाद करती है और स्त्री

विरोधी नियमों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती है— “कहने की बात है कि मायके में सुख मिले, सासुरे में दुःख। माँ भी कम बैरी नहीं होती। बच्चों में दुभाँत करना बाप का नहीं, माँ का काम दिखता है। बेटों को प्यार, बेटियों को दुत्कार। बेटे सारी जमा पूँजी, जमीन जायदाद ले जाएँ तब भी प्यारे। बेटियाँ अचार की फाँक पर पलें, तब भी भारी।”⁶ यह है समाज का दोहरा विभाजन।

स्वतन्त्रता आन्दोलन से स्त्रियों को बहुत आस थी कि देश की आजादी के साथ-साथ वह भी आजाद हो जायेंगी और समाज की मुख्यधारा में आ जायेंगी। पुरुषों ने देश की आजादी में उनसे सहयोग लिया, उन्हें बराबर का भागीदार बताया परन्तु आजादी के पश्चात् पुनः उन्हें ‘घर लौट जाने’ का आदेश दिया। पुरुषों ने छल से जब चाहा, जैसे चाहा स्त्री से मदद ली, विद्यावती पुरुष के इस रवैये से आहत होती है। वह परिवार, समाज व राजनीति की आड़ में स्त्री को पराधीन बनाये जाने का विरोध करती है और स्त्रियों के लिए शिक्षा के महत्व को स्वीकारती है। स्त्री-मुक्ति के लिए शिक्षित होना आवश्यक है जिससे कि स्त्रियाँ अपने अधिकारों को जान सकें। विद्यावती कहती है— “मैंने देख लिया ना! पढ़ाई के बिना औरत की जिंदगी नरक है। येई लीली को बीच में स्कूल से उठा लिया। कुन्ती भी छठी के आगे नाय पढ़ी। कवि देखो पढ़ गया तो किता आगे बढ़ गया।”⁷

ममता कालिया की स्त्री दृष्टि ‘उदारवादी विचारधारा’ से प्रभावित है। इनकी स्त्री पात्र ‘मनुष्य’ के रूप में जीवन जीना चाहती हैं, देह के रूप में नहीं। स्त्रियों की घुटन, टीस, पीड़ा, गुलामी को उनकी भाषा के द्वारा सशक्त रूप से देखा जा सकता है।

‘चाक’ उपन्यास की स्त्रियों की भाषा पैनी व नुकीली है, जो पितृसत्ता के नियमों को कोचती है। रेशम खुले रूप से पितृसत्ता का विरोध करती हुई उसे चुनौती देती है। वह समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों, मान्यताओं को नकारती है और उसे बदलने का प्रयास भी करती है। जिसके लिए समाज उसे दण्डित करता है, फिर भी वह साहस नहीं छोड़ती। स्त्री-पुरुष विभाजन के दोहरे चाल को बखूबी समझती है। सास उसके रवैये को अनैतिक मानती है, तब वह कहती है कि पुरुष स्त्री के मरने पर दूसरा ब्याह करे तो वह जायज और स्त्री करे तो नाजायज— “आज को तुम्हारा बेटा, मेरी जगह होता तो पूछती कि तू किसके संग सोया था? अब उसकी बाँह गह ले। मेरे मरे पीछे तेरही तक का सबर न करता और ले आता दूसरी। तुम खुश हो रही होती की पूत की उजड़ी जिंदगी बस गई। पर मेरा फजीता करने पर तुली हो।”⁸

रेशम की भाषा उसके हृदय से निकली है जिसमें पितृसत्ता के प्रति आक्रोश है। उपन्यास की खेरापतिन दादी गाँव के इतिहास को बताती हैं, कि किस तरह पुरुषों ने स्त्रियों का शोषण किया है, जिसे सुनकर व आपबीती अनुभव कर रेशम की भाषा तीखी हो जाती है।

समकालीन स्त्री लेखिकाओं में प्रभा खेतान एक प्रमुख लेखिका के रूप में उपन्यास जगत में पदार्पण करती हैं। ‘छिन्नमस्ता’ की प्रिया का दर्द लेखिका के स्वयं का दर्द है। बचपन से ही पुरुषों द्वारा शोषित प्रिया पुरुषसत्ता के नब्ज को पहचान जाती है और उससे घृणा करती है और स्त्री-पुरुष विभाजन को न्यायसंगत नहीं मानती। पुरुषों ने अपनी सुविधा के अनुसार नियम बनाये हैं। समाज में पुरुष मालिक व स्त्री दासी की भूमिका में बँटी है। प्रिया पढ़-लिख कर एक सफल उद्योगपति बन जाती है। उसका पति उसकी सफलता से ईर्ष्या करता है। प्रिया त्याग, समर्पण, सहनशीलता जैसे शब्दों से चिढ़ती है, क्योंकि ये शब्द स्त्री को कमजोर बनाते हैं। स्त्रियाँ इन शब्दों के मायाजाल में उलझ कर परम्परा का निर्वहन करने पर विवश हो जाती हैं। स्त्रियों का शिक्षित व जागरूक होना पुरातनपंथी लोगों में भय पैदा करता है। अगर स्त्रियाँ शिक्षित हो गयी तो स्मृति ग्रन्थों, धर्मग्रन्थों के अर्थ बदल जायेंगे। आज की स्त्रियाँ पुरुषों के दोहरे चेहरे को जान चुकी हैं, अब उन्हें बरगलाना आसान नहीं है। यहाँ पर पितृसत्ता से टकराने वाली सधी व कसी भाषा दिखाई देती है।

स्त्री चाहे देशी हो या विदेशी पुरुष शोषण से बच नहीं सकती। प्रिया की सहेली जूडो बताती है कि विदेशी स्त्रियाँ भी पितृसत्ता से जकड़ी हुई हैं— “जानती हो, इतिहास, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान वह सब तो पुरुषों ने ही लिखा है, यह चाहे पूरब हो या पश्चिम और सच कहूँ तो परिवर्तन किसे अच्छा लगेगा? खासकर उसे जिसे सदियों से इतनी सुविधा मिली हुई है।”⁹ इस कथन में स्त्री की

बुद्धिसम्मत व गहरी विचारों से युक्त भाषा देखने को मिलती है। स्त्रियों को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं आगे आना होगा, पुरुषवादी व्यवस्था उसे आगे बढ़ने में मदद नहीं करेगी। सभी वेद, शास्त्र, धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ व नियम—कानून पुरुषों ने बनाये हैं, वह सदैव से 'शासक' ही रहा है। ऐसे में अगर कोई स्त्री आगे बढ़कर अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ेगी तो पितृसत्ता को यह कैसे हज़म होगा? रोहिणी अग्रवाल के अनुसार— "दरअसल पितृसत्तात्मक व्यवस्था का सारा संजाल और जंजाल स्त्री की उसी उन्मुक्त चेतना और गति को बाधित करने के लिए ही रचा गया था। भारतीय ही नहीं, समूचा वैश्विक इतिहास, पौराणिक ग्रंथों—मिथकों—संस्कृतियों के जरिए बताता रहा है कि पुरुष तंत्र का अर्थ है स्त्री की स्वायत्तता और अस्मिता पर पुरुष की नृशंसता, शारीरिक सबलता और षड्यंत्रकारी मानसिकता की विजय का अनुष्ठान है। परिवार, विवाह, न्याय, धर्म जैसी संस्थाएं इसके बाद की सामाजिक संरचनाएं हैं, जो तत्परता से पुरुष के निजी हितों की रक्षा और संवर्धन के कार्य में जुट कर उसी अनुपात में स्त्री को हीन और कुलटा साबित करती रहती हैं।"¹⁰ 'छिन्नमस्ता' में स्त्री उत्पीड़न के कारकों के प्रति तीखी व तल्लु भाषा के साथ—साथ आलोचनात्मक दृष्टि से भी विश्लेषण किया गया है।

मन्नू भण्डारी 'आपका बंटी' उपन्यास में एक ओर स्त्रियों की सामान्य जीवन से जुड़ी भाषा का प्रयोग करती हैं, वहीं दूसरी ओर उनके मन में उठ रहे संघर्ष और उसकी प्रतिक्रिया को व्यक्त करती हैं। शकुन स्कूल में प्रिंसिपल है। वह पितृसत्ता के चाल को समझ जाती है कि पुरुषों ने अपने अनुरूप समाज में स्त्री की सीमाएं व भूमिका तय की है। स्त्री तभी तक देवी या आदर्श है जब तक 'निर्धारित भूमिका' में रहती है, अगर वह इस भूमिका का बहिष्कार कर अपने बारे में सोचने लगती है, तो समाज उस पर तरह—तरह के लांछन लगाने लगता है। स्त्री जीवन का संघर्ष, तनाव, विडम्बनाओं की जमीनी हकीकत 'आपका बंटी' की भाषा में अभिव्यक्त होता है। शकुन पितृसत्ता की दोहरी व्यवस्था पर तंज कसती है कि— "सब लोग उससे केवल चाहते ही हैं और वह उनकी चाहनाओं को पूरती रहे यही एक मात्र रास्ता है उसके लिए। बस, वह कुछ न चाहे। जहाँ चाहती है, वहीं गलत क्यों हो जाती? ऐसा अनुचित, असम्भव भी तो उसने कुछ नहीं चाहा। एक सहज सीधी जिंदगी, जिसमें रहकर वह कम से कम यह तो महसूस कर सके कि वह जिंदा है। केवल सूरज—डूब उगकर ही उसे रात होने और बीतने का एहसास न कराये, उसके अतिरिक्त भी 'कुछ' हो। कितनी सहज—स्वाभाविक इच्छाएँ थीं उसकी। फिर भी सब गलत, केवल इसलिए कि वे उसकी थीं।"¹¹ शकुन जब अपने बारे में सोचने लगती है, तो समाज उसे बंटी की दुहाई देकर गलत करार देता है। बंटी का पिता दूसरी शादी कर लेता है तो उसे कोई कुछ नहीं कहता, वहीं जब शकुन ऐसा करती है तो पितृसत्ता को झटका लगता है। इस उपन्यास में शकुन का तेवर उसकी तल्लु भाषा में दिखाई देती है। भाषा के माध्यम से हम उसकी मनःस्थिति को समझ पाते हैं। मन्नू भण्डारी की भाषा के सन्दर्भ में कल्पना शर्मा लिखती हैं— "मन्नू भण्डारी अपने कथा साहित्य में स्त्रियों के जीवन की वास्तविकता को जिस गहरी मार्मिक संवेदनात्मक भाषा में हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं, वह अद्भुत है। उनके स्त्री पात्रों की भाषा उनके जीवन के प्रति नज़रिए और संस्कृति को स्पष्ट करती है, साथ ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उनकी दशा और दिशा दोनों को हमारे सम्मुख उपस्थित कर देती है।"¹²

स्त्री मन की मर्मज्ञ मधु काँकरिया का 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास भाषा में तीक्ष्णता के साथ धर्मग्रन्थ व धर्मगुरुओं की सच्चाई समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता है। संघमित्रा बौद्धिक स्त्री है। वह समाज का अध्ययन करती हैं, अन्धानुसरण नहीं। वह हर तथ्य की गहराई में जाती है और 'धर्म' के नाम पर होने वाले आडम्बरों की आलोचना करती है। धर्मगुरु कैसे जनता को भ्रमित करते हैं? शास्त्रों की कैसी उल्टी—सीधी व्याख्या करते हैं? धर्म की ओट में क्या—क्या काले कारनामों करते हैं? सबकी सूक्ष्मता से पड़ताल करती है और कड़े शब्दों में निन्दा करती है। "सोचो, महावीर की विराटता और विश्व करुणा, प्रेम, अहिंसा और अपरिग्रह के संदेशों पर किस प्रकार कालिख पोती जा रही है..... कितनी लज्जा की बात है कि मुट्ठी भर ये धर्मगुरु सारी दुनिया को मनमाने ढंग से भेड़—बकरी की तरह हाँक रहे हैं। मेरी समस्या यह है कि मैं भेड़—बकरी बनने से इनकार करती हूँ। धर्म की यह लड़ाई हमें लड़नी ही पड़ेगी, क्योंकि आज विश्व के सभी धर्मगुरुओं ने धर्म की मनमाने ढंग से व्याख्या कर पूरी धरती को घृणा, द्वेष और हिंसा

से लहलुहान कर दिया है।¹³ जब संघमित्रा संघ के मुनि से तर्क करती है, तो वह उसे 'आस्था की भाषा' में बात करने को कहता है। आज भी समाज तर्क करने वाली स्त्री को पसन्द नहीं करता, उसे उसका बौद्धिक होना खटकता है। वह उसकी बात को फालतू बताकर चुप रहने का आदेश देता है। संघमित्रा का तर्क उस बात का खण्डन करती है, कि स्त्रियों की भाषा में गंभीरता नहीं होती। संघमित्रा की भाषा आत्मविश्वास युक्त, गंभीर व विचारयुक्त है। वह अपनी बात तर्क के माध्यम से कहती है।

निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक लेखिका की स्त्री-भाषा अलग-अलग है, जो उनके जीवन की सच्चाई को हमारे सम्मुख अभिव्यक्त करती है। स्त्री अपनी संवेदना व संरचना में पुरुषों की भाषा से भिन्न होती हैं, जिसमें उसकी पीड़ा, टीस, विवशता, चेतना का अभाव, संघर्ष व तनाव झलकती है। समकालीन स्त्री उपन्यासों की भाषा पितृसत्तात्मक समाज के स्त्री विरोधी मूल्यों, मान्यताओं व परम्पराओं से बहुत ही सचेत ढंग से टकराते हुए तेवर के साथ अपनी बातों को उपन्यास के माध्यम से व्यक्त करती हैं।

I UnHk §

1. आजकल (विशेषांक) स्त्री लेखन और समाज-मार्च 2014, नई दिल्ली, पृ0 64.
2. भाषा का कामुक खेल और स्त्री भाषा-सुधा सिंह, पहल, अंक 85, पृ0 206.
3. वही, पृ0 209.
4. मित्रो मरजानी-कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007, पृ0 20.
5. आवां-चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृ0 539.
6. दुःखम-सुखम-ममता कालिया, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृ0 167.
7. वही, पृ0 163.
8. चाक-मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ0 19.
9. छिन्नमस्ता-प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ0 11.
10. स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प-रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृ0 307.
11. आपका बंटी-मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ0 176.
12. आजकल (विशेषांक) स्त्री लेखन और समाज - मार्च 2014, नई दिल्ली, पृ0 65.
13. सेज पर संस्कृत-मधु काँकरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ0 84-85.



तक़र दक़ लोक़ वक़ि खक़/क़ दक़ फ़पूरु

vfe" k oek*

गाँधी जी के वर्ण और जाति संबंधी विचार काफी उलझे हुए हैं। दरअसल गाँधी वर्ण और जाति के प्रश्न पर विधिवत् चिंतन करते दिखाई नहीं पड़ते। उनके वर्ण और जाति संबंधी विचार अलग-अलग अवसरों पर की गई टिप्पणियों के रूप में सामने आए हैं, जो प्रायः विरोधाभासी हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि गाँधी जी को जो भी मौके के अनुकूल जान पड़ा, उन्होंने कहा। फिर भी कुछ बातें हैं जिस पर गाँधी जी के विचार एक रहे हैं। गाँधीजी वर्ण-व्यवस्था को कभी बुरा नहीं मानते, बल्कि इसे एक आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में देखते हैं। 1921-22 के 'नवजीवन' में गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं— "मुझे विश्वास है कि हिन्दू समाज आज तक इसी कारण जीवित रह सका है कि वह वर्ण-व्यवस्था पर आधारित है।"¹

गाँधी वर्ण-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए फिर कहते हैं— "जो समाज वर्ण-व्यवस्था का सृजन कर सकता है, उसे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनमें अनोखी संगठन क्षमता है।"²

इतना ही नहीं, गाँधी वर्ण-व्यवस्था के विरोधियों को बहुत खुले शब्दों में कहते हैं कि "मेरे यही विचार हैं और मैं उनके विरुद्ध हूँ जो वर्ण-व्यवस्था को तोड़ना चाहते हैं।"³

1921-22 के आसपास गाँधी जी को जातिप्रथा से भी कोई शिकायत नहीं थी, बल्कि जातिप्रथा के होने से, गाँधी जी के अनुसार, समाज में एक व्यवस्था बनी हुई है। जातिप्रथा के महत्त्व का महिमागान करते हुए गाँधी कहते हैं— "जाति-व्यवस्था को नष्ट करके पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था अपनाने का अर्थ होगा हिन्दू उन पैतृक पेशों को त्याग दें, जो जातिप्रथा की आत्मा हैं। इसे तोड़ने से अव्यवस्था उत्पन्न होगी। यदि मैं अपने जीवन भर किसी को ब्राह्मण कह कर नहीं पुकारता, तो ब्राह्मण होने में क्या लाभ। यदि ब्राह्मणों को शूद्रों में और शूद्रों को ब्राह्मणों में परिवर्तित होने का दैनिक क्रम शुरू हो जाएगा, तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी।"⁴

इस उद्धरण को ध्यान से पढ़ने पर कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात यह कि पैतृक पेशा जातिप्रथा की आत्मा है। दूसरी बात कि ब्राह्मण हमेशा ब्राह्मण बना रहता है और ठीक इसी प्रकार शूद्र भी आजीवन शूद्र ही बना रहेगा। कोई भी व्यवस्था शूद्र को ब्राह्मण और ब्राह्मण को शूद्र नहीं बना सकती। और यदि ऐसा होता है तो यह भारी अव्यवस्था होगी, जिसको लेकर गाँधी जी चिंतित दिखाई पड़ते हैं। दरअसल गाँधी जी की यह चिंता तमाम-स्मृति ग्रंथकारों की वही पुरानी कलियुग संबंधी चिंता है। मध्यकाल में तुलसीदास भी तो इसी बात को लेकर चिंतित दिखाई पड़ते हैं!

जातिप्रथा की प्रशंसा में गाँधी जी आगे कहते हैं— "जातिप्रथा एक प्राकृतिक विधान है। भारतवर्ष में उसे धार्मिक रूप दिया गया है। अन्य देशों में जहाँ जाति-व्यवस्था की उपयोगिता नहीं समझी गई, वहाँ की सामाजिक व्यवस्था बिखरी अवस्था में है और इसी कमी के फलस्वरूप वे जाति-व्यवस्था से होने वाले लाभ प्राप्त नहीं कर सकते, जबकि भारत में वह मौजूद है।"⁵

जातिप्रथा के होने से भारतवर्ष को कौन-सा 'विलक्षण लाभ' प्राप्त हुआ है और जिससे अन्य 'अभाग' (?) देश वंचित रह गए— यह गाँधी जी नहीं बताते! हाँ, भारत की कुछ-एक खास ऊँची जातियों को प्राप्त होने वाले लाभ की बात की जाए तो इसे बहुत आसानी से समझा जा सकता है।

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजॉल

थोड़ा आगे चलकर, 1925 के आसपास जाति-व्यवस्था को लेकर गाँधी जी के विचार कुछ बदले हुए मालूम पड़ते हैं। जो गाँधी जी 1921-22 में जाति-व्यवस्था की खूब प्रशंसा करते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि इसके कारण ही समाज में एक व्यवस्था बनी हुई है, वही 1925 तक आते-आते जाति-व्यवस्था के कुछ ऐसे लक्षणों को पहचानते हैं कि वे उसे 'पतन का मार्ग' बताने लगते हैं। गाँधी कहते हैं— "जातिप्रथा का समर्थन मैंने इस आधार पर किया था कि वह संयम सिखाती है, परन्तु आजकल जातिप्रथा का अर्थ संयम नहीं, वरन् अब वे सीमाबद्ध हो गई हैं।... जातियाँ जिस रूप में आज हैं, उस रूप में उनकी तारीफ नहीं की जा सकती। आजकल जातियाँ शास्त्र-विरोधी हो गई हैं। जातियों की संख्या असीम है, जिनमें पारस्परिक विवाह संबंध के प्रतिबंध लगे हैं। यह उत्थान का लक्षण नहीं, वरन् पतन का मार्ग है।"⁶

यह बहुत ही दिलचस्प है कि 1921-22 में जातिप्रथा संयम सिखाने वाली थी, लेकिन 1925 तक आते-आते वह 'सीमाबद्ध' हो गई, 'शास्त्र-विरोधी' हो गई और एकाएक जातियों की संख्या भी असीम हो गई! भारतीय समाज और जाति-व्यवस्था का यह विलक्षण विश्लेषण है! यहाँ भी गाँधी जी की जाति-व्यवस्था संबंधी टिप्पणियों की तात्कालिकता को देखा जा सकता है।

अब जातियों की असीम संख्या की समस्या, जिसके कारण यह 'उत्तम व्यवस्था' (?) 'पतन का मार्ग' बन गई है, के समाधान के लिए गाँधी जी जो तरीका बताते हैं, उसे भी देखा जाना चाहिए। गाँधी जी कहते हैं— "सर्वोत्तम उपाय यह है कि छोटी-छोटी जातियाँ अपना अलग अस्तित्व समाप्त कर बड़ी जाति बन जाएँ। ऐसी बड़ी जातियों की संख्या 4 हो जिससे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना हो सके।"⁷

पर सवाल यह उठता है कि यह होगा कैसे? छोटी जातियाँ अपना अस्तित्व कैसे और क्यों समाप्त करेंगी? जिस बड़ी जाति में इन्हें अपना विलय करना होगा वह बड़ी जाति कौन-सी होगी? ऐसे और भी कई व्यावहारिक सवाल हैं जिनपर गाँधी जी ने कोई विचार नहीं किया है। केवल सदिच्छा से सद्कार्य सिद्ध हो जाते तो शायद यह संभव था! मान लें कि यह किसी तरह हो भी गया तो इससे फर्क क्या पड़ेगा? गाँधी छोटी-छोटी जातियों को अपना अस्तित्व समाप्त कर बड़ी जाति में तब्दील हो जाने की और इस तरह 'वर्णों की ओर लौटो' की नेक सलाह देते हैं। परन्तु सवाल अब भी वहीं है। जातियों की संख्या कम हो जाने मात्र से एक जन्माधारित व्यवस्था कर्माधारित व्यवस्था में कैसे बदल जाएगी? व्यक्ति की जाति और इस तरह उसकी सामाजिक हैसियत उसके जन्म से ही तय होती रही है और गाँधी जी के इस 'विलय सिद्धांत' के सफल हो जाने पर भी वह जन्म से ही तय होती रहेगी। फिर इस सिद्धांत का औचित्य क्या है? दरअसल गाँधी जी का यह सिद्धांत व्यावहारिकता और उपयोगिता दोनों ही आधारों पर असफल है।

गाँधी जी प्रारंभ में जाति और वर्ण दोनों का समर्थन करते हैं, बाद में चलकर जातिप्रथा का समर्थन करना बंद कर देते हैं और वर्णों की पुनर्स्थापना पर जोर देने लगते हैं। इससे ऐसा भ्रम होता है कि जाति और वर्ण की अलग-अलग संकल्पना गाँधी जी के पास है। आमतौर पर जिन लोगों ने वर्ण को जातियों से अलग माना है, वे वर्ण को कर्माधारित मानते हैं तथा जाति को जन्माधारित और इसी आधार पर वर्ण-व्यवस्था को जातिप्रथा की तुलना में बेहतर मानते हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती वर्ण-धर्म की ऐसी ही व्याख्या करते हैं और इसलिए 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देते हैं (हालाँकि व्यावहारिक समस्याएँ यहाँ भी हैं)। लेकिन गाँधी जी की वर्ण और जाति संबंधी अवधारणा में ऐसा कोई बुनियादी अंतर मौजूद नहीं है। बल्कि वर्णों और जातियों के विभाजन को लेकर गाँधी जी के विचार अस्पष्ट तथा उलझे हुए हैं। वर्णों के विभाजन के बारे में गाँधी जी के विचार हैं— "मैं विश्वास करता हूँ कि वर्णों का विभाजन जन्म पर आधारित है।"⁸

सवाल है कि यदि वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित है, तब जाति-व्यवस्था का आधार क्या है? यदि जातियों के विभाजन का आधार भी जन्म ही है तब वर्ण और जाति में बुनियादी अंतर क्या है?

अब वर्ण अथवा जातियों के विभाजन के दूसरे आधार यानि पेशा या पैतृक व्यवसाय के बारे में गाँधी जी के विचारों को देखें। यहाँ तो वर्ण-जाति संबंधी उनके विचारों की भ्रामकता और भी अधिक स्पष्ट

हो जाती है। गाँधी जी एक जमाने में पैतृक व्यवसाय को 'जातिप्रथा की आत्मा' बताते हैं। वे जातिप्रथा के रक्षार्थ मोर्चा लेते हुए कहते हैं— "जाति व्यवस्था को नष्ट करके पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था अपनाने का अर्थ होगा हिन्दू उन पैतृक पेशों को त्याग दें, जो जाति-प्रथा की आत्मा है। इसे तोड़ने से अव्यवस्था उत्पन्न होगी।"⁹ स्पष्ट है कि वे न केवल पैतृक व्यवसाय का संबंध जातिप्रथा से जोड़ते हैं, बल्कि इसे जातिप्रथा का विशिष्ट और केन्द्रीय तत्त्व मानते हैं। लेकिन कुछ ही समय बाद गाँधी जी के विचारों में जबरदस्त परिवर्तन आ जाता है। इसे एक नहीं, कई उद्धरणों के आधार पर देखा जा सकता है— "वर्ण-व्यवस्था जीविकोपार्जन से संबद्ध है। इसमें कोई हानि नहीं, यदि किसी एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण की कला और व्यवसाय के विषय में ज्ञान प्राप्त कर उसमें पारंगत हो जाता है। परन्तु जहाँ तक धनोपार्जन का संबंध है, उसके लिए अपने ही वर्ण का व्यवसाय अपनाना ठीक होगा। जिसका अर्थ यह होगा कि पीढ़ी दर पीढ़ी से चले आए अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाया जाए।"¹⁰

गाँधी जी के एक और दिलचस्प कथन को देखा जाना चाहिए। गाँधी कहते हैं— "वर्ण का अर्थ है, मनुष्य के जन्म लेने से पहले उसके व्यवसाय का निर्धारण।"¹¹ इस कथन में गाँधी एक ही साथ पैतृक व्यवसाय तथा जन्म दोनों का संबंध वर्ण से जोड़ देते हैं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अपने आप में ही जन्म और कर्म दोनों आधारों को समाहित कर लेता है। गाँधी जाति और वर्ण का एक अद्भुत 'कॉकटेल' तैयार करते हैं। गाँधी एक तरफ जातिप्रथा का विरोध करते हैं, लेकिन दूसरी तरफ वर्ण-व्यवस्था के भीतर ही जाति के मूल तत्त्वों को समाहित कर देते हैं और इस प्रकार जातिप्रथा के विरोध का भ्रम पैदा करते हुए वर्ण-व्यवस्था के नाम पर दरअसल जातिप्रथा की जड़ों को ही मजबूत करते हैं।

2008 में श्रीभगवान सिंह की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है— 'गाँधी जी और दलित भारत जागरण'। इसके पहले अध्याय में वर्णाश्रम, अस्पृश्यता, जातिप्रथा, सहभोज, अन्तर्जातीय विवाह आदि के संदर्भ में गाँधी जी के विचारों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। श्रीभगवान सिंह की स्थापना है कि गाँधी जी 1932 तक रणनीतिक रूप से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं और 1932 के बाद वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना बंद कर देते हैं। श्रीभगवान सिंह ने अपने ढंग से अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए तथ्य और तर्क जुटाए हैं। परन्तु श्रीभगवान सिंह की स्थापना पर पुनर्विचार करने की जरूरत है। श्रीभगवान सिंह वर्ण-व्यवस्था के संबंध में गाँधी जी के विचारों के साथ सम्यक् न्याय करने के लिए उन्हें दो चरणों में बाँटकर विचार करने पर जोर देते हैं— "पहला चरण है 1915 से 1932 तक और दूसरा है 1932 से जीवन के अन्तिम समय तक। पहले चरण में वे अस्पृश्यता के घनघोर विरोधी एवं वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ध्यान रहे वर्ण-व्यवस्था के वे अन्ध समर्थक नहीं थे, बल्कि उसके पीछे उनके कुछ वस्तुनिष्ठ सत्य पर आधारित तर्क थे।"¹²

इससे ठीक आगे श्रीभगवान सिंह एक मजेदार बात लिखते हैं— "...जाति-प्रथा का समर्थन एवं अन्तर्जातीय विवाह का विरोध निःसंदेह खटकने वाली बात है, किन्तु गाँधी जी के साथ न्याय करने के लिए हमें 21वीं सदी के भारत में न रहकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक के भारत में जाना होगा। मतलब यह कि उस समय गाँधी जी के लिए प्राथमिक मुद्दा था— अस्पृश्यता को मिटाना। उस समय सवर्ण हिन्दुओं में अस्पृश्यता का विरोध करने से ही काफी क्षोभ था। अब अगर अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया जाता तो यह साफ-साफ जातिगत सीमाओं का अतिक्रमण होता और ऐसे में सवर्णों में और उबाल पैदा होता जिससे अस्पृश्यता निवारण का आंदोलन हाशिए पर चला जाता। अतएव सबसे पहले आवश्यक था, लोगों में अस्पृश्यता मिटाने के सवाल पर सहमति बनाना। इस दृष्टि से देखा जाए तो मानना पड़ेगा कि आंदोलन के आरंभिक दिनों में वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में अपने को पेश करना गाँधी जी की रणनीति का एक अंग था, क्योंकि इस संबंध में उनके दृष्टिकोण में लगातार परिवर्तन होते गए हैं।"¹³

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को एक साथ देखने पर दिलचस्प बात सामने आती है। गाँधी जी द्वारा जिस वर्ण-व्यवस्था के समर्थन को श्रीभगवान सिंह पहले उद्धरण में 'वस्तुनिष्ठ सत्य पर आधारित' बता रहे हैं, दूसरे उद्धरण में वह 'गाँधी जी की रणनीति का अंग' बन जाता है! 'वस्तुनिष्ठ सत्य पर आधारित' होना और 'रणनीति का अंग' होना लगभग परस्पर विरोधी बातें हैं। श्रीभगवान सिंह अपने विश्लेषण में 'विरुद्धों का अद्भुत सामंजस्य' घटित करते हैं!

1932 के बाद गाँधी जी के विचारों में आई तब्दीली के बारे में श्रीभगवान सिंह अपनी किताब में लिखते हैं— “साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) का एक अच्छा प्रभाव यह जरूर हुआ कि इसके बाद गाँधी जी ने वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना बंद कर दिया और अस्पृश्यता उन्मूलन के कार्यों में वे और उनके सहयोगी और अधिक तत्परता से लग गए। गाँधी जी द्वारा अछूतों के उन्नयन के लिए ‘हरिजन’ शब्द का प्रयोग, मन्दिर प्रवेश का आंदोलन, ‘हरिजन’ पत्र का प्रकाशन, हरिजन सेवक संघ की स्थापना जैसे कार्यों का आरंभ 1932 के साल से ही हुआ।”¹⁴

1932 में जो इतना सबकुछ हुआ उसके पीछे की ठोस वास्तविक वजहें क्या थीं? 1931 के दूसरे गोलमेज सम्मेलन तक वर्ण-व्यवस्था के भीतर अस्पृश्यों को सम्मानजनक स्थान दिलाने के अपने प्रयासों और अपने नजरिए से यदि गाँधी जी इतने संतुष्ट और आश्वस्त थे कि वे यह मान चुके थे कि ‘अगर भारत के सभी भागों के अस्पृश्यों के मत लिए जाएँ तो उनका वास्तविक प्रतिनिधि मैं ही चुना जाऊँगा’¹⁵ तो फिर एक साल बाद ही 1932 में उन्हें अपने पुराने, प्रिय और अत्यंत दृढ़ वर्णाश्रम समर्थन के विचार को क्यों त्याग देना पड़ा? (हालाँकि गाँधी जी ने वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना बंद नहीं किया था।) गाँधी जी के इस आकस्मिक वैचारिक परिवर्तन के कारणों की तलाश करना श्रीभगवान सिंह जरूरी नहीं समझते। उनके पूरे विश्लेषण से गाँधी जी के इस विचार परिवर्तन का कारण समझ में नहीं आता। मन में एक सहज-स्वाभाविक-सा सवाल उठता है कि क्या गाँधी जी के बदले हुए स्टैंड (?) पर दलितों को संगठित करने के अंबेडकर के प्रयासों का कोई भी प्रभाव या दबाव काम नहीं कर रहा था? श्रीभगवान सिंह न केवल प्रभाव को नकारते हैं, बल्कि अपने पूरे आलेख में यही प्रमाणित करते हैं कि अंबेडकर के उभार के बहुत पहले से ही गाँधी अस्पृश्यों की दशा को लेकर बहुत चिंतित रहे हैं और उसके सुधार के लिए प्रयास करते रहे हैं। लेकिन यहाँ सवाल सुधार के प्रयासों का है ही नहीं। सवाल 1932 के बाद के गाँधी जी के उस वैचारिक परिवर्तन का है जिसे श्रीभगवान सिंह लक्षित करते हैं।

श्रीभगवान सिंह बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि गाँधी जी 1932 के बाद जातिप्रथा का खुलकर विरोध करने लगते हैं और वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना भी बन्द कर देते हैं। निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं— “1932 के बाद जो गाँधी लगातार जातिगत-भेद के विरुद्ध बोलने एवं अन्तर्जातीय विवाह एवं भोज का समर्थन करने लगे, उन्हें कैसे अन्त-अन्त तक वर्ण-व्यवस्था का समर्थक माना जा सकता है।...वर्ण-व्यवस्था के कायल रहे गाँधी ने वर्ण विभाजन का समर्थन करना 1932 से छोड़ दिया।”¹⁶

श्रीभगवान सिंह के इस निष्कर्ष को उन्हीं की एक बात, जिसका ऊपर जिक्र किया जा चुका है, के साथ रखकर देखना दिलचस्प होगा कि ‘आंदोलन के आरंभिक दिनों में वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में अपने को पेश करना गाँधी जी की रणनीति का एक अंग था’। अपने उपर्युक्त निष्कर्ष में श्रीभगवान सिंह स्वीकार करते हैं कि गाँधी जी ‘वर्ण-व्यवस्था के कायल’ रहे हैं। मगर, वे स्थापना देते हैं कि ‘गाँधी ने वर्ण विभाजन का समर्थन करना 1932 से छोड़ दिया’। अपने दूसरे कथन में श्रीभगवान सिंह यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गाँधी हमेशा से वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे, केवल रणनीति के तहत प्रारंभ में वे अपने को वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में पेश करते हैं! इस पूरे प्रसंग में श्रीभगवान सिंह के अन्तर्विरोधों और गाँधी जी को वर्णाश्रम-विरोधी सिद्ध करने के उनके ‘मिशनरी अप्रोच’ को साफ-साफ देखा जा सकता है। दरअसल श्रीभगवान सिंह ‘हमेशा से वर्णाश्रम विरोधी रहे’ गाँधी जी की मनपसन्द तस्वीर खींचते हैं और इस तस्वीर में केवल उन्हीं रंगों का इस्तेमाल करते हैं जो गाँधी जी की वर्णाश्रम-विरोधी छवि को उभार सके। ‘गाँधी के विचारों के साथ सम्यक न्याय’ करने का दावा करने वाले श्रीभगवान सिंह इस प्रयास में स्वयं अपनी अकादमिक ईमानदारी की बलि चढ़ा देते हैं। गाँधी जी के 1932 के बाद के विचारों का अध्ययन करने पर इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं कि गाँधी जी के वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा संबंधी विचारों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता। गाँधी जी के विचारों का इतना सूक्ष्म और ‘सम्यक’ अध्ययन करने वाले श्रीभगवान सिंह ने पता नहीं क्यों गाँधी और अंबेडकर के बीच हुए उस प्रसिद्ध विवाद का कहीं कोई जिक्र नहीं किया है जो लाहौर जातपात तोड़क मंडल के वार्षिक सम्मेलन, 1936 में दिए जाने के लिए अंबेडकर द्वारा तैयार किए गए भाषण पर गाँधी की ‘हरिजन’

में प्रकाशित प्रतिक्रिया के साथ शुरू हुआ था। इस प्रतिक्रिया में गाँधी जी जो कुछ कहते हैं, वह उनके प्रारंभिक दिनों के 'स्टैंड' से बिल्कुल भी अलग नहीं है। गाँधी जी अंबेडकर के उक्त प्रकाशित भाषण पर प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं— “वर्ण और आश्रम व्यवस्था ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनको जातपात से कुछ लेना-देना नहीं है। वर्ण-व्यवस्था का नियम सिखाता है कि पैतृक धंधा अपनाकर हम अपनी रोजी-रोटी कमा सकते हैं।”¹⁷

ध्यान दें कि 1936 में भी वर्ण-व्यवस्था के प्रति गाँधी जी का 'फैसिनेशन' जस-का-तस है। वर्ण और जाति के लक्षणों का घालमेल भी पूर्ववत् बना हुआ है! इससे पहले 28.09.1934 के 'हरिजन' में गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था को एक सार्वभौमिक और दैवीय नियम बताते हैं। वर्ण-व्यवस्था गाँधी जी के लिए एक ऐसा रामबाण ईलाज है, जिसके सम्यक् पालन से जीवन जीने योग्य बनता है और तमाम समस्याओं एवं बीमारियों का अन्त हो जाता है।¹⁸

जाहिर है 1932 के बाद भी गाँधी जी, थोड़े डिफेंसिव होकर ही सही, वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना जारी रखते हैं। अंबेडकर के 1936 वाले उपर्युक्त भाषण के संदर्भ में वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू धर्म की अपनी पुरानी व्याख्या को दुहराते हुए गाँधी स्वयं 18 जुलाई, 1936 के 'हरिजन' में साफ लिखते हैं— “मुझे पता है कि हिन्दू धर्म की मेरी इस व्याख्या का डा. अंबेडकर के अलावा कई लोग प्रतिवाद करेंगे। इससे मेरी स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इस व्याख्या के आधार पर मैं लगभग आधी शताब्दी तक जिया हूँ तथा मैंने भरसक इन्हीं मान्यताओं को जीवन में उतारने का प्रयास किया है।”¹⁹

इतने सारे प्रमाणों और स्वयं गाँधी जी की स्वीकारोक्ति के बावजूद श्रीभगवान सिंह आँख मूँदकर गाँधी जी को वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा का विरोधी सिद्ध करने का भगीरथ प्रयास करते हैं— “मूँदहु आँख कतहू कछु नाहि”!

गाँधी जी अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज के समर्थक नहीं थे। वे अपनी जाति में विवाह करने और सहभोज से परहेज करने को आत्मसंयम तथा सभ्य आचरण बताते हैं। जाहिर है उनके मुताबिक अपनी जाति के बाहर विवाह करना तथा दूसरी जाति के लोगों के साथ भोजन करना आचरण की असभ्यता तथा उच्छृंखलता है। 25 मई, 1920 को सी.एफ.एन्ड्रयूज को लिखे एक पत्र में अन्तर्जातीय विवाह का विरोध करते हुए गाँधी जी लिखते हैं— “...किसी पुरुष या स्त्री का अपने समुदाय जिसे हम जाति कह सकते हैं, से बाहर विवाह करना मैं अनुचित ठहराऊँगा। इस तरह मैं ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दूँगा कि कोई व्यक्ति विवाह के संबंध में अपने समुदाय या जाति से बाहर के लोगों के विषय में सोचे ही नहीं...। ...मेरे विचार से जाति-प्रथा का यदि ठीक से नियमन किया जाए तो वह एक उपयोगी संस्था है।”²⁰ उसी पत्र में सहभोज को अनुचित बताते हुए गाँधी लिखते हैं— “मैं यह पसंद नहीं करूँगा कि ब्राह्मण अपनी जाति की सीमा से बाहर जाकर जहाँ-तहाँ, जिस-तिस के साथ खाता फिरे।”²¹

ऊपर के वाक्य में 'जहाँ-तहाँ' और 'जिस-तिस' से जो भाव अभिव्यक्त होता है, वह गाँधी जी की जातिवादी मंशा को स्पष्ट करता है। क्या एक ब्राह्मण के भोजन और एक गैर-ब्राह्मण के भोजन में इस स्तर का बुनियादी फर्क होता है कि एक गैर-ब्राह्मण के लिए 'जहाँ-तहाँ' और 'जिस-तिस' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाए ? क्या सभी ब्राह्मण एक ही स्तर का भोजन करते हैं? इस पूरे मसले को भोजन के संबंध में सफाई का ध्यान रखने या न रखने तक सीमित नहीं कि जा सकता, क्योंकि ऐसा तो कतई नहीं है कि एक जाति के सभी लोग भोजन संबंधी सफाई का समान रूप से ध्यान रखते हों और जाति बदलते ही इसकी मात्रा कम या ज्यादा हो जाती हो। गाँधी जी के लिए एक ब्राह्मण का एक ब्राह्मण के साथ भोजन करना या एक बनिया का एक बनिया के साथ भोजन करना आचरण की असभ्यता नहीं है। भोजन संबंधी सफाई और रुचि का यह कौन-सा पैमाना गाँधी जी के पास है जिसमें व्यक्ति की जाति सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक है। गाँधी जी 1924 में अस्पृश्यता सम्मेलन, बेलगाम में अपने भाषण में मालवीय जी के प्रति अपनी अपार श्रद्धा का जिक्र करते हुए कहते हैं कि वे मालवीय जी के पाँव धो सकते हैं मगर मालवीय जी उनके हाथ का छुआ हुआ खाना नहीं खा सकते। गाँधी जी इस बात से तनिक भी अपमानित महसूस नहीं करते, बल्कि उनके मुताबिक तो इसमें अपमान जैसी कोई बात है ही नहीं।²²

गाँधी वर्णाश्रम का वही आदर्श सामने रखते हैं जिसमें एक ब्राह्मण के चरण तो पखारे ही जाने चाहिए, केवल इसलिए कि वह ब्राह्मण है और अन्त्यजों को यह संदेश देते हैं कि यदि कोई ऊँची जाति का व्यक्ति उनके साथ भोजन नहीं करता तो इसमें अपमानित महसूस करने वाली कोई बात नहीं है। और, ब्राह्मण के लिए तो गाँधी जी कह ही चुके हैं कि यह ठीक नहीं है कि वह 'जहाँ-तहाँ, जिस-तिस के साथ खाता फिरे'। यानि समाज की उसी 'आदर्श व्यवस्था' की स्थापना की वकालत— 'बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग'। बहरहाल!

अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज के निषेध को गाँधी जी सनातनी हिन्दुओं की विशेषता बताते हैं। गाँधी जी का मानना है कि इससे स्वास्थ्य एवं शुद्धता (Purity) का संरक्षण सुनिश्चित होता है।²³ अन्तर्जातीय विवाह से स्वास्थ्य संबंधी कोई समस्या पैदा होती है, ऐसा तो अभी तक देखने-सुनने में नहीं आया! और जहाँ तक भोजन और स्वास्थ्य का सवाल है, इसका संबंध सफाई से है और सफाई का कोई अनिवार्य संबंध जाति से नहीं है। जाहिर है यहाँ स्वास्थ्य की अपेक्षा 'शुद्धता' का सवाल ज्यादा महत्वपूर्ण है। गाँधी जी अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज के निषेध के तर्क में स्वास्थ्य रक्षा का आवरण भले चढ़ा लें, मगर यहाँ असली मकसद उसी वर्णगत और जातिगत शुद्धता को बचाना है, जिसके लिए गाँधी जी बराबर चिंतित रहे।

सहभोज पर गाँधी जी के 'स्टैंड' को लेकर कई दलित और गैर-दलित लेखकों ने उनकी आलोचना की है। उनमें से कुछ लेखकों ने 1946 में गाँधी जी द्वारा दलित युवकों के भोज के निमंत्रण को अस्वीकार कर देने और एक दलित लड़के के द्वारा दी हुई सुपारी को अपनी बकरी को खिला देने की घटना का उल्लेख करते हुए गाँधी जी की आलोचना की है। इस पूरे प्रसंग पर प्रतिक्रिया देते हुए श्रीभगवान सिंह लिखते हैं— "अब चन्द दलितों के साथ भोजन न करने के कारण... उस शिष्ययत को दलित-विरोधी सिद्ध करना, जो 1946 में भी हरिजन के बगैर किसी धर्मशाला की कल्पना तक नहीं कर सकता था, जो सबको हरिजन एवं भंगी बनने का आह्वान कर रहा था, समझदारी का दिवालियापन नहीं तो और क्या है? गाँधी जी के लिए कुछेक अछूतों के साथ भोजन करने से ज्यादा महत्वपूर्ण एवं आवश्यक था— समस्त अस्पृश्य समुदाय को उस स्तर पर लाना जहाँ वे सबके साथ अपने को हर दृष्टि से समकक्ष समझ सकें।"²⁴

कुछेक अछूतों के साथ भोजन करने की बात को श्रीभगवान सिंह जितना हल्का बनाकर पेश कर हैं, वह बात असल में उतनी हल्की है नहीं। यह पूरा मसला मूलतः 'थियरी और प्रैक्सिस' की फाँक को स्पष्ट करता है। यह घटना गाँधी जी के संदर्भ में तो और भी महत्वपूर्ण हो जाती है, जो यह दावा करते रहे कि 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है'। और इस बात में कोई दो राय नहीं कि सचमुच गाँधी जी के व्यक्तित्व में एक आकर्षण था, उनकी बातों पर जनता उमड़ पड़ती थी, उनके आचरण और व्यवहार को लोग अनुकरणीय समझते थे। ऐसे में तो गाँधी जी के लिए यह और भी जरूरी हो जाता है कि वे अपने व्यवहार को लेकर सचेत और सतर्क रहें। अस्पृश्यों के सुधार के लिए बड़ी-बड़ी बातें करना और एक भंगी लड़के के हाथ की सुपारी को खुद न खाकर अपनी बकरी को खिला देना इन दोनों बातों की परस्पर तुलना करना और इसके 'अंडरटोन' को जाँचना—परखना क्या गाँधी जी के विचारों के अकादमिक अध्ययन की जरूरत नहीं है? श्रीभगवान सिंह गाँधी जी से इतने अधिक 'कन्विंस्ड' हैं कि यहाँ तक कह देते हैं— "जहाँ तक भोजन करने या ना करने का सवाल है, इसे ज्यादा तूल नहीं दिया जाना चाहिए। खान-पान नितान्त व्यक्तिगत अभिरुचि का विषय है, नितान्त निजी पसन्द-नापसन्द का मामला है।"²⁵

खान-पान को नितान्त निजी मामला बताकर गाँधी जी, और अब श्रीभगवान सिंह भी, शोषण और सामाजिक बहिष्कार के समूचे ऐतिहासिक संदर्भ को 'डायल्यूट' कर देते हैं और इस पूरे मसले को 'डीकॉन्टेक्सचुअलाइज' कर देते हैं। आश्चर्य है कि श्रीभगवान सिंह 2008 में गाँधी जी के उन्हीं तर्कों को अपनाकर गाँधी जी को 'डिफेन्ड' करते हैं जिन्हें, उन्हीं के मुताबिक, स्वयं गाँधी 1932 के बाद छोड़ने लगे थे।²⁶

मुख्तसर कि गाँधी जी के वर्ण और जाति संबंधी विचारों में 1932 के बाद वैसा कोई बुनियादी परिवर्तन परिवर्तन नहीं आता जैसा श्रीभगवान सिंह सिद्ध करना चाहते हैं। हाँ, सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह को लेकर उनके रुख में थोड़ी नरमी आती है, जिसे श्रीभगवान सिंह ठीक नोटिस करते हैं।²⁷ लेकिन यहाँ भी गाँधी जी इसे प्रोत्साहित करते हुए तो नहीं ही दिखाई पड़ते। वर्ण-व्यवस्था, जिसमें गाँधी जी जातिप्रथा के गुणों को भी समाहित कर देते हैं, अन्त तक गाँधी जी के लिए आदर्श सामाजिक व्यवस्था बनी रही। यह गाँधी जी के वर्ण और जाति संबंधी विचारों की सीमा है और इसे रेखांकित किया ही जाना चाहिए। यह गाँधी जी के विचारों के साथ 'सम्यक् अकादमिक न्याय' करने के लिए आवश्यक है।

I UnHk %

1. डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-16, डा. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ. 282 पर उद्धृत
2. वही, पृ. 283 पर उद्धृत
3. वही, पृ. 284 पर उद्धृत
4. वही, पृ. 284 पर उद्धृत
5. वही, पृ. 284 पर उद्धृत
6. वही, पृ. 284 पर उद्धृत
7. वही, पृ. 284 पर उद्धृत
8. वही, पृ. 285 पर उद्धृत
9. वही, पृ. 284 पर उद्धृत
10. वही, पृ. 285 पर उद्धृत
11. वही, पृ. 285 पर उद्धृत
12. श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2010, पृ. 49
13. वही, पृ. 50
14. वही, पृ. 72
15. वही, पृ. 72 पर उद्धृत
16. वही, पृ. 107
17. डा. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, डा. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ. 108 पर उद्धृत
18. देखें- M.K. Gandhi, My Religion, Compiled & Edited by- Bharatan Kumarappa, Pg.- 171; Web Address : www.mkgandhi.org गाँधी जी कहते हैं- "Varna thus conceived is no man-made institution but the law of life universally governing the human family. Fulfillment of the law would make life livable, would spread peace and content, end all clashes and conflicts, put an end to starvation and pauperization, solve the problem of population and even end disease and suffering." Harijan, 28-9-34, Pg.- 261-62
19. डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ. 108 पर उद्धृत
20. श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, पृ. 49 पर उद्धृत
21. वही, पृ. 50 पर उद्धृत
22. देखें, M.K. Gandhi, Hindu Dharm, Orient Paperbacks, New Delhi, 2005, Pg.- 108
गाँधी जी कहते हैं- "...you know the esteem in which I hold Malviyaji. I would wash his feet. But he would not take food touched by me. Am I to repent it as a mark of contempt? Certainly not, because I know that no contempt is meant."
23. देखें, वही, पृ. 46
गाँधी जी कहते हैं- "Not to have water or food or enter into matrimonial alliance anywhere and everywhere, I regard as civilized behavior. This ensures preservation of health and purity."
24. श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, पृ. 86
25. वही, पृ. 86
26. देखें, वही, पृ. 107
27. वही, पृ. 107

xkj [ki:j ifj{k=e: lMd&ekx: dk fodk l

¼20oh: 'knh d: i:Fkek) l d: fo'k" k l UnHk e#

MkO euk t dekj frokj h*

आवागमन के प्राचीनतम माध्यमों में सबसे प्रमुख सड़क-मार्ग है, जिन्होंने सभ्यता के विकास की कहानी को गढ़ने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। ये किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के संगठन एवं विकास के प्रमुख सूत्रधार होते हैं।¹ ये किसी भी क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक, सैनिक प्रगति को रेखांकित करने वाले पैमाने होते हैं। इसलिए इन्हें विकास की धमनियाँ कहा जाता है।² इस शोध पत्र का उद्देश्य 20वीं शदी के प्रथमाब्द में पूरे देश के परिप्रेक्ष्य में गोरखपुर जनपद सड़क-मार्ग के विकास के क्षेत्र में कहाँ खड़ा था तथा इसका जनजीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसको समझने की कोशिश है।

सड़क निर्माण के प्रारम्भिक साक्ष्यों के बारे में निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु हड़प्पाकालीन (सिन्धु-सरस्वती सभ्यता) नगरीय मार्गों एवं गलियों के साक्ष्यों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीनतम काल में भारतवासी सड़क-मार्ग के महत्व एवं उसके निर्माण की तकनीकी से भली-भाँति परिचित थे। वैदिककालीन साहित्य, मौर्य साम्राज्य, पांचवी, सातवीं, ग्यारहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी के विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरण में भारत की सड़क-मार्ग व्यवस्था पर विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं।³

शेरशाह सूरी एवं मुगलों की सड़क-मार्ग प्रणाली के बारे में भी इतिहासकारों ने बहुत कुछ लिखा है। मुगलकालीन सड़क-मार्गों की जानकारी के लिए विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरण के साथ ही रायचतरमन कायथ के 'चहार गुलशन' (1759) में उल्लिखित 24 मुगलकालीन सड़कों का विवरण उल्लेखनीय है। सत्रहवीं शदी के अन्तिम वर्षों में गोरखपुर के चकलादार काजी खलिलुर्रहमान ने अयोध्या से गोरखपुर वाया खलीलाबाद एक सड़क का निर्माण कराया था जिसे बाद में पक्का किया गया। परन्तु 18वीं शदी तक इस परिक्षेत्र में कोई पक्का सड़क-मार्ग नहीं बन पाया। कच्चे सड़क-मार्गों के द्वारा ही गोरखपुर, आस-पास के क्षेत्रों, जनपदों एवं प्रान्तों से जुड़ा था। जिनकी स्थिति अत्यन्त जर्जर थी। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने भी अपने शासन के अनेक दशकों तक सड़कों के विकास के तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। उनका ध्यान सिर्फ सामरिक महत्व की सड़कों तक ही सीमित रहा। 19वीं शदी के प्रारम्भिक दशकों में देश के अन्य हिस्सों की तरह ही नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज (N.W.P.) के जनपदों जिसमें गोरखपुर भी सम्मिलित था, की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी।

यद्यपि कि उन्नीसवीं शदी के प्रारम्भिक दशकों में कुछ सड़क-मार्गों पर स्थानीय जनता के सहयोग से लकड़ी के पुलों का निर्माण कर मार्ग की बाधाओं को दूर करने की कोशिश की गयी परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य भद्रपुरुषों (अंग्रेज अधिकारियों) की सुविधा के लिए किया गया। यद्यपि कि बुकानन इस मत से सहमत नहीं है परन्तु असहमति को जायज ठहराने के लिए उनके पास पर्याप्त तर्कों का अभाव दिखता है।⁴

इस समय गोरखपुर परिक्षेत्र में सड़कों के निर्माण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए मार्टिन ने बताया था कि जनपद के विभिन्न पुलिस स्टेशनों एवं बाजारों को राजधानी से जोड़ने के लिए जिससे व्यापारी, किसान, सरकारी अधिकारी अपने गन्तव्य तक जा सकें, सड़कों की आवश्यकता थी⁵ परन्तु इसके साथ ही अंग्रेजी प्रशासन के शिकंजे तथा उसके शोषण को मजबूत करने के लिए तथा व्यापार में होने वाली वृद्धि ने भी प्रशासन का ध्यान सड़कों की तरफ खींचा।⁶

*सहायक आचार्य, इतिहास विभाग, दी0द0उ0गो0वि0वि0, गोरखपुर।

1830 ई० में गोरखपुर के कलक्टर मि० रीड ने गोरखपुर से नेपाल, अवध, सारन, गाजीपुर एवं तिरहुत जाने वाले मार्गों को अच्छी अवस्था में बताया⁷ तथा यह भी कि इनको और अधिक सुधारा गया है।⁸ परन्तु इसके बावजूद भी बरसात के महीनों में पुलों के अभाव में सभी प्रमुख मार्गों पर यातायात लगभग बन्द हो जाता था।⁹

थामसन के समय (1843–53 ई०) में नार्थ-वेस्टर्न प्रोविन्सेज में सड़कों के निर्माण में कुछ तेजी आयी। फिर भी चूंकि 19वीं शदी के प्रथमार्द्ध तक सार्वजनिक कार्यों के लिए कोई अलग से विभाग नहीं था वरन् ये कार्य प्रेसिडेन्सी के मिलीटरी बोर्ड के द्वारा ही किया जाता था जो कलकत्ता में स्थित था जिससे इस परिक्षेत्र में सड़कों के विकास से सम्बन्धित बाधाएं यथावत बनी रही। 1854–55 ई० में लार्ड डलहौजी ने इस कमी को ठीक करने के लिए सभी प्रान्तों में सार्वजनिक निर्माण विभाग (P.W.D.) की स्थापना कर¹⁰ एक क्रान्तिकारी कार्य किया। इसके बाद सड़कों के निर्माण में सन्तोषजनक प्रगति दिखाई देती है।¹¹

1880 ई० तक गोरखपुर से निकलने वाले दो मुख्य प्रान्तीय सड़कों को पक्के मार्ग के रूप में बदल दिया गया जो गोरखपुर से वाराणसी एवं फैजाबाद तक जाते थे।¹² इन दोनों ही प्रथम श्रेणी के सड़कों के रख-रखाव की, उत्तम व्यवस्था की गयी थी। इनके रखरखाव का वार्षिक खर्च 300रु० प्रतिमील होता था।¹³ जबकि द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी की कच्ची सड़कों के रख-रखाव का खर्च लगभग 30रु० प्रति मील आता था।¹⁴ फिर भी उन्नीसवीं शदी के अन्त तक गोरखपुर परिक्षेत्र में सड़कों का विकास आशानुरूप नहीं दिखाई देता। इसका प्रमुख कारण निर्माण एवं रख-रखाव की बड़ी लागत तथा अनुदान की कमी एवं कम्पनी सरकार द्वारा आम सड़कों की तरफ ध्यान न देना था।

परन्तु इसके बावजूद भी अब तक आते-आते देश के अन्य भागों की तरह गोरखपुर परिक्षेत्र में भी सड़कों की महत्ता के अनुरूप अलग-अलग श्रेणियों में उनका वर्गीकरण दिखाई देने लगता है।¹⁵ उदाहरण के लिए प्रोविन्सियल सड़क, प्रथम श्रेणी की पक्की सड़क, द्वितीय श्रेणी की कच्ची किन्तु पुलयुक्त सड़क, द्वितीय श्रेणी की कच्ची एवं आंशिक पुलयुक्त सड़क, तृतीय श्रेणी एवं चतुर्थ श्रेणी की कच्ची सड़क इनमें से प्रोविंसियल सड़कें जिन्होंने इम्पीरियल सड़कों का स्थान लिया था का निर्माण एवं रख-रखाव पी०डब्ल्यू०डी० के द्वारा¹⁶ जबकि अन्य का स्थानीय प्रशासन के द्वारा किया जाता था।

उन्नीसवीं शदी के अन्त तक गोरखपुर जनपद में कुल 93 मील की पक्की सड़कें पी०डब्ल्यू०डी० के अन्तर्गत थी जबकि 923 मील की कच्ची सड़कें थी। इन कुल मार्गों में से 100 मील तक वृक्षारोपण किया गया था। परन्तु अन्ततः यह कहा जा सकता है कि 19वीं शदी में अंग्रेजी प्रशासन ने सड़कों के विकास के तरफ बहुत ध्यान नहीं दिया। सिर्फ उन्हीं सड़कों पर ध्यान दिया गया जो औपनिवेशिक आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयोगी थी।

1908 ई० तक आते-आते गोरखपुर जनपद में सभी प्रकार के सड़कों की कुल लम्बाई 1045 मील, 1.3 फर्लांग हो गई¹⁷ जबकि 1880 तक जनपद में इनकी कुल लम्बाई 978 मील ही थी।¹⁸ इससे यह स्पष्ट होता है कि 1880 से 1908 के मध्य 67 मील, 1.3 फर्लांग नयी सड़कों का उद्भव हुआ¹⁹ परन्तु ऐसी प्रतीत होता है कि अधिकांश नयी सड़कें भी उन्हीं स्थानों के मध्य बनवायी गयी थीं जहां पहले पगडण्डियाँ अथवा टूटे-फूटे असमतल ग्रामीण रास्ते उपलब्ध थे और जिन्हें एटकिन्सन आदि ने अपने आकड़ों के अन्तर्गत सड़कों की श्रेणी में नहीं सम्मिलित किया था।

अब तक स्थानीय स्वशासन के विस्तार के फलस्वरूप स्थानीय निकायों ने भी सड़कों के निर्माण एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी थी। जिस तरह पुराने *मिलिटरी बोर्ड* के स्थान पर प्रान्तों में पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेन्ट की स्थापना हुई एवं लार्ड मेयो तथा लार्ड लिटन के वित्तीय विकेन्द्रीकरण से सम्बन्धित सुधारों के पश्चात् सरकार ने सड़क निर्माण से संबन्धित अधिकांश जिम्मेदारियां प्रान्तीय सरकारों को सौंप दी थीं उसी तरह स्थानीय स्वशासन के विस्तार के पश्चात् विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया एक कदम और आगे बढ़ी जिसके फलस्वरूप प्रान्तीय सरकारों ने अपनी जिम्मेदारियों का एक बड़ा भाग डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को सौंप दिया। स्थानीय नियंत्रण के विस्तार के साथ ही स्थानीय यातायात एवं संचार व्यवस्था में महत्वपूर्ण सुधार हुए।²⁰ गोरखपुर जनपद में भी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सक्रियता बढ़ती हुई स्पष्ट

रूप से दिखाई देती है क्योंकि 1880-1908 के काल में कच्ची से पक्की सड़कों के रूप में परिवर्तित की गयी लगभग सभी 74 मील सड़कें जिला बोर्ड के द्वारा ही बनवायी गयीं थीं।¹¹ साथ ही अन्य कच्ची सड़कों को भी विकसित करने में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1903-04 में जिला बोर्ड, गोरखपुर की कुल आय 3.3 लाख रुपये थी जिसमें 2.3 लाख रुपये उसने *रोड एवं विल्डिंग* मद में खर्च किया था।²²

1880-1908 तक की अवधि में सड़कों के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण प्रगति निचली श्रेणी के सड़कों को विकसित कर उनके स्तर को ऊपर उठाने के क्षेत्र में दिखाई देती है। इस काल में गोरखपुर-कसया-समउर की द्वितीय श्रेणी की कच्ची सड़क के 11 मील तक की दूरी को, गोरखपुर-निचलौल की द्वितीय श्रेणी की कच्ची सड़क की 13 मील तक की दूरी को गोरखपुर-कैप्टनगंज की द्वितीय सड़क की 1 मील 7 फर्लांग तक की दूरी को तथा बरहज-कसया की द्वितीय श्रेणी की कच्ची सड़क के 39 मील, 5 फर्लांग तक की दूरी को तथा बरहज-कसया की द्वितीय श्रेणी की कच्ची सड़क के 39 मील, 5 फर्लांग तक की दूरी को पक्की सड़क के रूप में परिवर्तित करके इन्हें द्वितीय श्रेणी से प्रथम श्रेणी की पक्की सड़क के रूप में स्थापित किया गया। मझौली स्टेट से भाटपार तक के 5 मील लम्बे मार्ग पर प्रथम श्रेणी की पक्की सड़क का निर्माण किया गया।

सड़कों की श्रेणी के सरकारी स्तर पर नये वर्गीकरण में अनेक सड़कों को, जिन्हें एटकिन्सन ने अपने वर्गीकरण में द्वितीय श्रेणी की सड़कों के अन्तर्गत रखा था, अब द्वितीय श्रेणी की कच्ची सड़कों के अन्तर्गत एक नया "बी" ग्रेड विकसित करके उसके अन्तर्गत रखा गया। द्वितीय श्रेणी की कच्ची सड़कों में "ए" ग्रेड के अन्तर्गत सिर्फ गोरखपुर-लोटन मार्ग (38 मील), कसया-पड़रौना मार्ग (12 मील), तथा गोला-कौड़ीराम मार्ग (13 मील, 4 फर्लांग), अर्थात् कुल 63 मील 4 फर्लांग की सड़कें ही रखी गयीं। ये सड़कें कच्ची होते हुए भी अपनी पूरी दूरी तक पुलों एवं अनेक जगहों पर पानी आदि की निकासी के लिए पुलियाओं से युक्त थीं। इस अवधि में तृतीय श्रेणी की कुछ सड़कों के कुछ भागों को भी विकसित करके द्वितीय श्रेणी की "बी" ग्रेड सड़कों के अन्तर्गत लाया गया। इनमें पिपराईच-बरही की तृतीय श्रेणी की सड़क के 5 मील तक की दूरी को, हाटा-रुद्रपुर की तृतीय श्रेणी की सड़क की 6 मील की दूरी को, समउर-तिवारीपट्टी-पड़रौना की तृतीय श्रेणी की सड़क की 2 मील तक की दूरी को द्वितीय श्रेणी की "बी" ग्रेड सड़कों के अन्तर्गत विकसित करके लाया गया।²³ इस अवधि में जनपद में एक अन्य नयी श्रेणी की सड़क देखने को मिलती है जिसे सबसे नीची चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता था। यह सबसे निचले स्तर की सड़क थी। यह आंशिक रूप से पुल युक्त थी। इस तरह की एकमात्र सड़क इस अवधि में पीपीगंज स्टेशन से जसवल के बीच 4 मील की दूरी तक बनायी गयी थी।²⁴

अब तक आते-आते जनपद में सड़कों के निर्माण एवं विकास में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाना शुरू कर दिया था। 1880 से 1919 के मध्य डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने कुल 129 मील लम्बी सड़कों को पक्की सड़कों में परिवर्तित किया। इस अवधि में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने मुख्य रूप से गोरखपुर से कसया द्वारा देवरिया-बरहज एवं पड़रौना की सड़कें पक्की करायीं। गोरखपुर-बड़हलगंज मार्ग पर कौड़ीराम से पक्की सड़क की एक शाखा के द्वारा बाँसगांव को जोड़ा गया। इस तरह बाँसगांव पक्के मार्ग के द्वारा गोरखपुर से जुड़ गया। 1919 तक गोरखपुर जनपद में महाराजगंज ही सिर्फ एक ऐसा तहसील मुख्यालय शेष बचा था जो किसी पक्की सड़क के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जिला मुख्यालय से नहीं जुड़ सका था। यद्यपि की महाराजगंज से गुगली रेलवे स्टेशन तक एक पक्की सड़क का निर्माण किया जा चुका था तथा महाराजगंज को एक पक्के मार्ग के द्वारा गोरखपुर-निचलौल के पक्के मार्ग से जोड़ने का कार्य शुरू कर दिया गया था।

1915 तक जनपद में कुल पक्की सड़कों की लम्बाई लगभग 195 मील तक पहुँच चुकी थी। यही स्थिति 1919 तक बनी रही। ऐसा प्रतीत होता है कि इन चार वर्षों की अवधि में प्रथम विश्वयुद्ध के कारण इस क्षेत्र पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका। 1919 तक जनपद में कच्ची सड़कों की कुल लम्बाई लगभग 950 मील के लगभग पहुँच चुकी थी। 1919 तक जनपद में सभी प्रकार के सड़कों (*पक्की+कच्ची*) की कुल लम्बाई लगभग 1145 मील थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में परिक्षेत्र में चीनी उद्योगों के विकास

के कारण इस अवधि में अनेक तृतीय श्रेणी की कच्ची सड़कों का निर्माण एवं विकास चीनी मिलों के द्वारा कराया गया।²⁵ ये सड़कें मुख्यतया मिलों को मुख्य मार्गों से जोड़ने वाली सहायक सड़कों का काम करती थीं। तृतीय श्रेणी की कुछ सड़कों पर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के द्वारा भी विशेष ध्यान दिया गया।

रेलवे के विकास तथा स्थानीय निकायों के बढ़ते प्रभाव ने सड़कों के निर्माण एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। गोरखपुर जनपद के कुछ जमींदारों, स्थानीय राज्यों तथा चीनी मिलों ने भी इनके विकास के लिए सीमित प्रयत्न किया था। परन्तु अन्ततः रेलों एवं स्थानीय निकायों के विकास से सड़कों का विकास एक सीमा तक अवरुद्ध भी हुआ। समय के साथ रेलवे ने अपने समानान्तर चलने वाले प्रधान मार्गों के महत्व को कम किया तथा उनके यातायात पर अपना दबदबा बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया, तथा एक हद तक उनके यातायात पर अपना अधिकार कर लिया। फलस्वरूप इन सड़क-मार्गों की उपेक्षा प्रारम्भ हो गयी तथा उनके सुधार की ओर कम ध्यान दिया जाने लगा। अधिकांशतया केवल उन्हीं सड़कों की दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान दिया गया जो रेलवे की सहायक थी अथवा रेलवे स्टेशनों तक जाती थीं। साथ ही वित्तीय विकेन्द्रीयकरण एवं स्थानीय निकायों के बढ़ते अधिकारों के कारण केन्द्रीय सरकार ने स्थानीय सड़कों के विकास में रुचि लेना बन्द कर दिया तथा सामान्यतया यह समझा जाने लगा कि स्थानीय निकाय ही अच्छी तरह यह जान सकते हैं कि किन नये मार्गों की आवश्यकता है तथा उनके लिए धन कैसे प्राप्त किया जाय। धीरे-धीरे सड़क निर्माण एवं विकास स्थानीय महत्व का विषय बन गया और 1919 के भारत सरकार अधिनियम ने इस प्रक्रिया को उच्चतम बिन्दु पर पहुंचाते हुए सड़कों को पूर्णतया प्रान्तीय विषय घोषित कर दिया। केन्द्रीय सरकार अब सिर्फ उन्हीं सड़कों से सम्बन्ध रखने लगी जो सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण थे। उत्तरदायित्व के इस स्थानान्तरण से स्थिति बदतर होने लगी। प्रान्तीय सरकारों ने सड़क निर्माण एवं विकास से सम्बन्धित अधिकांश जिम्मेदारियाँ स्थानीय निकायों को सौंप दीं। स्थानीय निकायों ने अपने आय का अधिकांश भाग सड़कों की अपेक्षा अन्य लोकप्रिय कार्यों जैसे शिक्षा आदि पर खर्च करना शुरू कर दिया जिससे सड़क यातायात व्यवस्था तेजी से ह्रासोन्मुख होने लगी। सिर्फ बड़े नगरों के आस-पास की सड़कें ही इसकी अपवाद थीं।

गोरखपुर जनपद में 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में मोटर वाहनों का चलन प्रारम्भ हो गया था। जनपद के विभिन्न मार्गों पर अन्य पड़ोसी जनपदों तक गाड़िया चलने लगीं। साथ ही जनपद में चीनी मिलों की सबसे अधिक संख्या²⁶ के कारण गन्ने आदि की ढुलाई के लिए बैलगाड़ियों की संख्या में भारी वृद्धि हुयी। इनका बढ़ता आवागमन परिक्षेत्र की तत्कालीन सड़कों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। सड़कें जल्द ही अत्यन्त जर्जर अवस्था में पहुंच गयी। इनके रख-रखाव के खर्च में भारी वृद्धि हुई जिससे सड़कों के विस्तार की गति धीमी पड़ गयी तथा सड़कें पतनोन्मुख होने लगीं।²⁷

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में मोटर यातायात के बढ़ते प्रभाव के कारण अच्छी एवं अधिक सड़कों की मांग बढ़ने लगी। आम जनता एवं सरकार दोनों में पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र रूप से सड़कों की दशा के प्रति चिन्ता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगी। अन्ततः भारत सरकार ने सड़क व्यवस्था की दशा सुधारने एवं वित्तीय संसाधन जुटाने पर सुझाव प्रस्तुत करने के लिए 1927 में एम0आर0 जयकर की अध्यक्षता में *रोड डेवलपमेन्ट कमेटी* नियुक्त की जिसे 'जयकर समिति' के नाम से भी जाना जाता है, इसकी रिपोर्ट अन्तिम रूप से नवम्बर 1928 में प्रकाशित हुई। यह *जयकर रिपोर्ट*²⁸ जहां तत्कालीन सड़क व्यवस्था के बारे में बहुत ही उपयोगी, विस्तृत, ऐतिहासिक एवं सांख्यिकीय सूचनाएं प्रदान करती है, वहीं तत्कालीन भारतीय सड़क व्यवस्था की अपर्याप्तता को जोरदार ढंग से प्रस्तुत करते हुए उसमें सुधार के लिए अनेक उपयोगी सुझाव भी प्रस्तुत करती है। इस समिति का मत था कि सड़क व्यवस्था का विकास देश के सामान्य जनकल्याण के हित के लिए होना चाहिए। इसके अनुसार सड़कों का विकास निम्न तीन उद्देश्यों के लिये किया जाना चाहिए।

- 1- कृषि उत्पादों को अच्छी बाजार व्यवस्था उपलब्ध कराने के लिए।
- 2- बढ़ते मोटर यातायात के द्वारा ग्रामीण जनता के सामाजिक राजनैतिक उन्नति के लिए।
- 3- रेलों के विकास के पूरक के रूप में।

मोटर यातायात के विकास के कारण सड़कों की बढ़ती मांग को ध्यान में रखते हुए समिति ने यह सुझाव दिया कि मोटर यातायात पर सड़कों के विकास के उद्देश्य से कुछ अतिरिक्त कर लगाया जाय जैसे –

- 1— मोटर ईंधन कर।
- 2— मोटर गाड़ियों पर कर।
- 3— किराये पर चलने वाली मोटर गाड़ियों के लाइसेन्स पर कर।

समिति ने सुझाव दिया कि मोटर ईंधन पर कर चार आना प्रति गैलन से बढ़ा कर छः आना प्रति गैलन हो जिसमें दो आना सड़क विकास के लिए केन्द्रीय राजस्व के रूप में वसूल कर 'रोड डेवलपमेन्ट फण्ड' के रूप में एकत्रित किया जाय। अतिरिक्त मोटरयान कर एवं लाइसेन्स फीस प्रान्तीय अथवा स्थानीय निकायों के राजस्व के भाग के रूप में एकत्रित किया जाय। 1929-30 में सरकार द्वारा समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया गया। 1931 में 2 आना प्रति गैलन ईंधन कर को $2\frac{1}{2}$ आना प्रति गैलन कर दिया गया। तथा समय-समय पर सड़कों के विकास के लिए सम्बन्धित व्यक्तियों का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। पहला सम्मेलन अप्रैल 1930 में आयोजित किया गया जिसमें अन्य चीजों के साथ एक एकीकृत भारतीय मोटर वाहन रेगुलेशन बनाने पर बल दिया गया। इन सम्मेलनों ने सड़कों के क्षेत्र में वैधानिक रुचि उत्पन्न की। परिणाम स्वरूप सड़कों से सम्बन्धित शोध पर बल दिया जाने लगा, जिसे उद्योग एवं श्रम विभाग की पत्रिका "इण्डियन रोड" में प्रकाशित किया जाता था। इन सम-सामयिक सम्मेलनों के फलस्वरूप सड़कों से सम्बन्धित उत्पन्न हुई रुचि ने एक स्थायी संगठन के निर्माण की आवश्यकता महसूस करायी जिससे सड़क अभियन्ताओं के निरन्तर मिलने एवं सड़कों से सम्बन्धित ज्ञान, विज्ञान एवं जानकारी के आदान-प्रदान में सहायता मिल सके। फलस्वरूप 1934 में इण्डियन रोड कांग्रेस का गठन हुआ जिसकी पहली बैठक दिसम्बर 1934 में नई दिल्ली में सम्पन्न हुई।

1929 में रोड डेवलपमेन्ट फण्ड के अस्तित्व में आने के बावजूद कई वर्षों तक सड़कों से सम्बन्धित बजट में कोई सार्थक बढ़ोत्तरी नहीं दिखाई देती है। इसका प्रमुख कारण रोड डेवलपमेन्ट फण्ड के निर्माण के तुरन्त बाद शुरू हो गयी आर्थिक मन्दी थी जिसने भारत को बुरी तरह अपने जाल में जकड़ लिया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध तक सड़कों की गिरती दशा को उन्नत बनाने के लिए कोई विशेष नहीं किया जा सका। लेकिन तब से आवश्यक आवश्यकता के रूप में न सिर्फ प्रभावित क्षेत्रों बल्कि पूरे देश में सामरिक महत्व के सड़कों के निर्माण के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। इसके लिए रक्षा विभाग के द्वारा अनुदान दिया गया। युद्ध के समय भारी यातायात के कारण बुरी तरह क्षतिग्रस्त भारतीय सड़कों की ओर भी तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता थी। भारतीय रोड कांग्रेस की पहल पर 1943 में नागपुर में देश भर के मुख्य अभियन्ताओं का सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य युद्ध के बाद भारतीय सड़कों के विकास से सम्बन्धित योजना पर विचार कर अखिल भारतीय स्तर पर एक सड़क सम्बन्धी योजना बनाना था। यह पहला अवसर था जब व्यापक स्तर पर सड़कों के विकास के लिए वैज्ञानिक तरीके से विचार किया गया। जिसके परिणाम स्वरूप नागपुर प्लान अस्तित्व²⁹ अस्तित्व में आया। इस प्लान ने सड़कों को चार स्तरों पर विभाजित किया :-

1. नेशनल हाइवेज या राष्ट्रीय सड़कें।
2. प्रोविन्सियल या स्टेट हाइवेज अथवा प्रान्तीय सड़कें।
3. डिस्ट्रिक्ट रोड अथवा जनपदीय सड़कें।
4. ग्रामीण अथवा ग्राम्य सड़कें।

1919 से द्वितीय विश्वयुद्ध तक पूरे देश की तरह युनाइटेड प्रोविन्सेज एवं गोरखपुर जनपद में भी सड़कों के विकास मोटरयान यातायात के सड़कों की सामर्थ्य से अधिक व्यापक विकास, 1929 की भयानक आर्थिक मन्दी, द्वितीय विश्वयुद्ध आदि ने मुख्य बाधाएँ उपस्थित कीं। परिणामतया सड़कों के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। फिर भी इन वर्षों में सड़कों के विकास के लिए रोड डेवलपमेन्ट फण्ड,

प्रान्तीय सरकारों एवं स्थानीय निकायों के द्वारा कुछ सीमित प्रयत्न किये गये। जनपद में भी कुछ प्रगति दिखाई देती है परन्तु आवश्यकता के अनुरूप सड़कों का विकास सम्भव नहीं हो सका। यद्यपि कि 1919 तक गोरखपुर-कैप्टनगंज मार्ग एवं मझौली-भाटपार मार्ग को पक्का बनाने के लिए कुछ कार्य किया गया था परन्तु इन्हें पूरी तरह से पक्के सड़क मार्ग के रूप में 1921-5 के मध्य में ही परिवर्तित किया गया।³⁰ 1945 तक गोरखपुर-कसया मार्ग के पुनर्निर्माण का कार्य प्रगति की ओर अग्रसर हुआ।³¹ द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर सड़कों के विकास के लिए बनायी गयी योजनाओं से इनकी दशा में कुछ सुधार के लक्षण दिखायी देते हैं। नवम्बर, 1945 से युनाइटेड प्रोविन्स में पी०डब्लू०डी० के द्वारा युद्ध के बाद की विकास योजना के अन्तर्गत 701 मील लम्बी 18 सड़कों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। जिसकी अनुमानित लागत लगभग तीन करोड़ रुपये थी। परन्तु मार्च 1946 में ब्रिटिश सरकार के बदलने पर योजना को पुनः संशोध किया गया तथा नयी योजना के अन्तर्गत 2300 मील लम्बी स्थानीय सड़कों के पुनर्निर्माण एवं विकास का कार्य प्रारम्भ किया गया।³²

गोरखपुर जनपद में इस योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित स्थानीय सड़कों का पुनर्निर्माण प्रारम्भ किया गया।³³

- 1— हाटा, देवरिया-सलेमपुर-मऊ मार्ग।
- 2— गोरखपुर-देवरिया मार्ग।
- 3— गोरखपुर-फरेन्दा-नौतनवां मार्ग।
- 4— फरेन्दा-सिकारपुर-परतावल-कैप्टनगंज-पड़रौना-तमकुही मार्ग।

सामान्यतया सभी प्रान्तीय सड़कों पर जिनपर सीमेन्ट एवं पत्थरों का आवश्यकता नहीं थी कि दशा सुधारने के लिए भी संतोषजनक कार्य किये गये। इसी पूरी योजना के प्रथम चरण के अन्तर्गत दिसम्बर 1947 तक प्रान्त में 334 लाख रुपये खर्च करके 22 प्रतिशत प्रगति प्राप्त की गयी। जिसे एक अच्छी प्रगति कही जा सकती है।³⁴ इस सम्पूर्ण अवधि में गोरखपुर जनपद में भी अनेक सड़कों का निर्माण एवं पुनर्निर्माण कार्य किया गया। परन्तु 1947 में गोरखपुर जनपद के अन्तर्गत पक्की सड़कें की कुल लम्बाई 268.7 किलोमीटर ही रह गयी थीं।³⁵ क्योंकि 1946 में देवरिया को गोरखपुर जनपद से अलग करके एक नये जनपद का सृजन किया गया जिसके अन्तर्गत 173 किलोमीटर पक्की सड़कें³⁶ चली गयी। यदि देवरिया की सड़कें भी गोरखपुर जनपद के साथ सम्मिलित की जायं तो 1947 तक जनपद में पक्की सड़कें की कुल लम्बाई 441.7 किलोमीटर के लगभग थी। इस समय जनपद में कच्ची सड़कों की दशा सुधारने के लिए भी कुछ प्रयत्न किये गये। सड़कों पर बढ़ती हुई दुर्घटनाओं को रोकने के लिए भी सरकार ने प्रयत्न किया। 1946 में प्रान्तीय सरकार के द्वारा हिन्दी एवं उर्दू में यातायात नियमों अदि से सम्बन्धित प्रचार-पोस्टर तैयार कराके प्रान्त के सभी विद्यालयों में बांटे गये जिससे विद्यार्थियों में इसके प्रति जागरूकता उत्पन्न हो। रेडियो एवं सिनेमा के माध्यम से भी जागरूकता उत्पन्न करने की कोशिश की गयी। साथ ही प्रान्तीय सरकार दुर्घटनाओं से सम्बन्धित सभी मामलों को देखने के लिए प्रतिनिधियों की एक समिति बनाने के प्रस्ताव पर भी विचार कर रही थी।³⁷ यद्यपि कि ये प्रचार कार्य अपने प्रारम्भिक चरण में थे परन्तु इसके अच्छे प्रभाव देखने को मिले।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि अध्ययन काल की अवधि में आधुनिक अर्थ की सड़कों का उद्भव होने के बावजूद गोरखपुर जनपद में सड़कों के विकास की गति अत्यन्त धीमी रही तथा यह जनपद की तत्कालीन आवश्यकताओं की दृष्टि से अपर्याप्त थी। 1947 में भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् ही जनपद में सड़कों के विकास को पर्याप्त गति प्राप्त हो सकी।³⁸

I UnHk %

1. डॉ० मनोज कुमार तिवारी, औपनिवेशिक काल में परिवहन एवं संचार साधनों का इतिहास, गाजियाबाद, 2016, पृ० कवरपेज.
2. धर्मभानु, हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन आफ द नार्थ वेस्ट प्रोविन्सेज 1803-1858, आगरा, 1957, पृ० 321.

3. डॉ० मनोज कुमार तिवारी, पूर्वोद्धृत, पृ० 64-65.
4. डब्ल्यू क्रुक, द नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज आफ इण्डिया : देयर हिस्ट्री, इथोनोलोजी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, वाराणसी, 1971, पृ० 164.
5. मान्टगोमरी मार्टिन, दि हिस्ट्री, एन्टिक्विटीज, टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आफ ईस्टर्न इण्डिया, जिल्द-II, भागलपुर, गोरखपुर, दिल्ली, 1976, पृ० 347.
6. डॉ० मनोज कुमार तिवारी, पूर्वोद्धृत, पृ० 70.
7. एच०आर० नेविल, गोरखपुर ए गजेटियर बीइंग वाल्यूम XXXI आफ दि डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स आफ दि युनाइटेड प्रोविन्सेज आफ आगरा एण्ड अवध, इलाहाबाद, पृ० 80.
8. ओम प्रकाश, (राजकीय सम्पादक), उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स : गोरखपुर, लखनऊ, 1987, पृ० 138.
9. वही,
10. द इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, जिल्द IV, (प्रकाशन अंकित नहीं), पृ० 307.
11. द इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया : द इण्डियन इम्पायर, जिल्द III, इकोनामिक, आक्सफोर्ड, 1907, पृ० 406.
12. ओम प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० 139.
13. एडविन टी० एटकिन्सन, (सम्पादित), स्टैटिस्टिकल, डिस्ट्रिक्टिव एण्ड हिस्टोरिकल एकाउण्ट आफ द नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज आफ इण्डिया, जिल्द VI, (कानपुर, गोरखपुर, बस्ती), इलाहाबाद, 1881, पृ० 307.
14. वही, पृ० 308.
15. एच०आर० नेविल, पूर्वोद्धृत, पृ० 84.
16. वही,
17. वही, परिशिष्ट, पृ० XXXIX.
18. एटकिन्सन, पूर्वोद्धृत, पृ० 306-308.
19. एच०आर० नेविल, पूर्वोद्धृत, परिशिष्ट पृ० XXXIX.
20. पी०एन० चोपड़ा, (सम्पादित), दि गजेटियर आफ इण्डिया : इण्डियन यूनियन, जिल्द प्, इकोनामिक स्ट्रक्चर एण्ड एक्टिविटीज, नई दिल्ली, 1975, पृ० 743.
21. एच०आर० नेविल, पूर्वोद्धृत, परिशिष्ट पृ० 84.
22. द इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, जिल्द XII, इनम टू ग्वालियर, आक्सफोर्ड, 1908.
23. एच०आर० नेविल, पूर्वोद्धृत, परिशिष्ट पृ० XXXVIII-XXXIX.
24. वही,
25. डॉ० मनोज कुमार तिवारी, पूर्वोद्धृत, पृ० 99.
26. शाहिद अमीन, सुगरकेन एण्ड सुगर इन गोरखपुर-ऐन इन्क्वायरी इन टू प्रेजेन्ट प्रोडक्शन फार कैपिटलिस्ट इण्टरप्राइज इन कोलोनियल इण्डिया, दिल्ली, 1984, पृ० 160.
27. ओम प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० 143.
28. रिपोर्ट आफ द इण्डियन रोड डेवलपमेन्ट कमेटी-1927-28, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया, कलकत्ता, 1928.
29. पोस्ट वार रोड डेवलपमेन्ट इन इण्डिया, प्रोसिडिंग्स आफ द कानफ्रेंस आफ द चीफ इन्जीनियर्स आफ प्रोविन्सेज एण्ड द स्टेट्स हेल्ड ऐट नागपुर इन 1943, इण्डियन रोड कांग्रेस, नई दिल्ली, 1943.
30. दंगली प्रसाद वरुण (राजकीय सम्पादक), उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स : देवरिया, लखनऊ 1988, पृ० 131.
31. रिपोर्ट आन दि जनरल एडमिनिस्ट्रेशन आफ द युनाइटेड प्रोविन्सेज, 1945, इलाहाबाद, 1947, पृ० 35.
32. रिपोर्ट आन दि जनरल एडमिनिस्ट्रेशन आफ द युनाइटेड प्रोविन्सेज, 1946, इलाहाबाद, 1949, पृ० 83.
33. वही, पृ० 84.
34. रिपोर्ट आन दि जनरल एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि युनाइटेड प्रोविन्सेज, 1947, इलाहाबाद, 1949, पृ० 108-109.
35. ओम प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० 139.
36. दंगली प्रसाद वरुण, पूर्वोद्धृत, पृ० 131.
37. रिपोर्ट आन दि जनरल एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि युनाइटेड प्रोविन्सेज, 1946, पूर्वोद्धृत, पृ० 87-88.
38. ओम प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० 139



ukV; 'kkL=h; nf"V e nrokD;e

Iurk" k dekj*

कालिदास, बाणभट्ट, राजशेखर, वाक्पतिराज, जयदेव दण्डी, भोजदेव, अभिनवगुप्त, सर्वानन्द, जयानक आदि रचनाकारों ने भास अथवा उनके रूपकों का उल्लेख किया है। जिससे उनके रूपकों की प्राचीनता सिद्ध होती है। भास ने अपने रूपकों का प्रणयन उस काल में किया, जब भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सामने नहीं आया था या लोकप्रिय नहीं हुआ था। इसलिए नाट्यशास्त्र के अनेक विधानों का भास के रूपकों में उल्लेखन मिलता है।¹

‘दूतवाक्यम्’ इस शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस रूपक में ‘दूत’ श्रीकृष्ण के वाक्य अर्थात् सन्धि प्रस्ताव की कथा वर्णित होगी। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर कौरव राज के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर उपस्थित होते हैं। समग्र रूपक का केन्द्र बिन्दु दूतवेशधारी वासुदेव हैं और कथावस्तु की गति उनके सन्धि प्रस्ताव पर निर्भर रहती है। अतः रूपक का नामकरण सार्थक है।

ukV; fo/kk& इस रूपक में एकांकी नाट्यों में से किसी का लक्षण पूर्णतः घटित नहीं हो पाता, तथापि व्यायोग के लक्षण के सर्वाधिक निकट होने के कारण इसे व्यायोग कहना ही समीचीन है। दुर्योधन को नायक न मानकर वासुदेव को ही रूपक के नायक की पदवी देना उचित होगा। निर्वहण सन्धि में धृतराष्ट्र से ‘पाद्यार्घ्य’ रूप मानादि की प्राप्ति वासुदेव को होती है। दुर्योधन को नायक मानने पर निर्वहण सन्धि का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। किन्तु निर्वहण सन्धि की उपस्थिति को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। निर्वहण सन्धि को हटा देने पर इसके व्यायोगत्व में भी क्षति पहुँचेगी। यही कहना समीचीन है कि यह व्यायोग प्रकार के नाट्यभेद के लक्षणों से सर्वाधिक साम्य रखता है। श्रीगणपतिशास्त्री¹ तथा ए.एस.पी. अय्यर² इसे वीथी मानते हैं। किन्तु वीथी के दो तत्त्व प्रेमाख्यान एवं कैशिकी वृत्ति की अनुपस्थिति से यह मत निर्मूल सिद्ध हो जाता है।

bfroUk foHkk tu& इस रूपक में प्रासंगिक इतिवृत्त की विद्यमान हैं। सन्धि का प्रस्ताव लेकर कौरव राजसभा में आगमन तथा दुर्योधन के साथ उनका वाद-विवाद आधिकारिक इतिवृत्त है। सुदर्शन का वृत्तान्त प्रासंगिक इतिवृत्त है। सुदर्शन वृत्तान्त में पताकानायक मानना उचित होगा। पताका नायक के सभी गुण सुदर्शन में उपलब्ध होते हैं।

vFki:df; k& दूतरूप में उपस्थित हुए वासुदेव के आगमन की सूचना में रूपक का बीज निहित है। चित्रपट को देखकर वासुदेव के क्रोध में तथा दुर्योधन-वासुदेव की पारस्परिक अभिवादन क्रिया में बीज किंचित अस्पष्ट हो जाता है। परन्तु दूतरूपी वासुदेव के द्वारा युधिष्ठिर के सन्देश के कथन के साथ-साथ कथावस्तु पुनः अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित होने लगती है— अतः यहां पर बिन्दु नामक अर्थप्रकृति है। रूपक के 54वें श्लोक से कार्य नामक अर्थप्रकृति शुरू हो जाती है, जो रूपक के अन्त तक चलती है।

dk; koLFkk; i& रूपक के 13वें श्लोक के उपरान्त वासुदेव का प्रवेश होता है वासुदेव की उक्ति से आरम्भ नामक कार्यावस्था का समावेश होता है। 29वें श्लोक³ में यत्न नामक अवस्था है, जिसमें वासुदेव दुर्योधन को साम वचनों से वशीभूत करने का यत्न करते हैं। 54वें श्लोक के उपरान्त जहां धृतराष्ट्र की नेपथ्योक्ति⁴ सुनाई पड़ती है, वहां से फलागम नामक अन्तिम कार्यावस्था का सूत्रपात होता है।

I fu/k; k& इस रूप में तीन ही सन्धियां हैं— मुख, प्रतिमुख और निर्वहण पताका नामक अर्थप्रकृति के रहने पर भी उसका संयोग किसी अवस्था के साथ नहीं होता अतः गर्भसन्धि की सृष्टि भी नहीं हो सकती।

*प्रवक्ता—संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय जखिनी, वाराणसी

गर्भ में तो अर्थ प्रकृति की विद्यमानता ही अधिक महत्वपूर्ण होती है। कञ्चुकीय के द्वारा दौत्यार्थ वासुदेव के आगमन की सूचना से रूपक के 20वें श्लोक तक मुख सन्धि का विस्तार है। 21वें से 46वें श्लोक तक प्रतिमुख सन्धि का विस्तार है। इस श्लोक के अनन्तर सुदर्शन के 'भगवान नारायण का क्रोध शान्त हो गया'⁵, इस वाक्य से रूपक की समाप्ति तक निर्वहण सन्धि है।

I U/; ³ X& रूपक के द्वितीय श्लोक⁶ में दुर्योधन के सभा भवन के निर्माण की सूचना में 'उपक्षेप' नामक मुख सन्धि का प्रथम अङ्ग है। तृतीय श्लोक⁷ में जहां कञ्चुकीय दुर्योधन के रूप का वर्णन करता है वहां 'विलोभन' नामक अङ्ग है। चतुर्थ श्लोक⁸ में दुर्योधन की युद्धाभिलाषा व्यक्त होने के कारण 'परिकर' नामक अङ्ग है। भीष्म के सेनापति पद पर अभिषिक्त होने की घटना में 'परिन्यास' नामक अङ्ग है। षष्ठ श्लोक⁹ में दुर्योधन वासुदेव के बन्दी होने पर क्या-क्या लाभ होगा, उसका वर्णन करता है वहां पर 'युक्ति' नामक अङ्ग है। दुर्योधन को चित्रपट दर्शन में अत्यन्त हर्ष होता है अतः 7वें से 12वें श्लोक तक 'प्राप्ति' नामक अङ्ग है। वासुदेव के रंगमंच पर उपस्थित होने पर समाधान नामक अंग का समावेश होता है। 18वें श्लोक¹⁰ में जहां वासुदेव सभा के सम्मुख दुर्योधन के चित्रपट दर्शन को उसकी मूर्खता के रूप में वर्णन करते हैं वहां पर 'उद्भेद' नामक अङ्ग है। भगवान वासुदेव जहां दुर्योधन को युधिष्ठिर का सन्देश सुनाते हैं वहां 'करण' नामक अंग है। 21वें श्लोक से लेकर 25वें श्लोक तक पात्रों के वार्तालाप होने के कारण प्रतिमुख सन्धि का 'प्रगमन' नामक अङ्ग है। 26वें श्लोक से लेकर वासुदेव की 'इह तिष्ठतु तावदस्मद्गतः परिहासः....'¹¹ इत्यादि उक्ति के पूर्व तक 'नर्म' नामक सन्ध्यङ्ग है। 29वें श्लोक¹² में पर्युपासन नामक सन्ध्यङ्ग है। 30वें श्लोक¹³ में 'निरोध' नामक सन्ध्यङ्ग है। 32वें¹⁴ में वासुदेव दुर्योधन को कार्यसिद्धि हेतु वशीभूत करना चाहते हैं। अतः वहां पर 'उपन्यास' नामक अङ्ग है। दुर्योधन के प्रति वासुदेव की तिरस्कारपूर्ण उक्ति— 'भोः कुरुकुलकलंकभूत! अयशोलुब्ध....'¹⁵ में 'वज्र' नामक सन्ध्यङ्ग है। 46वें श्लोक¹⁶ में 'पुष्प' नामक सन्ध्यङ्ग का समावेश दिखाई पड़ता है।

श्लोक संख्या 47 से लेकर 53 तक सुदर्शन की उक्ति में 'निर्णय' नामक अङ्ग है। 54वें श्लोक¹⁷ में बीज का उपगमन होने के कारण 'सन्धि' नामक निर्वहण सन्धि का प्रथम अङ्ग है। वासुदेव के 'यावदहमपि पाण्डवशिविरमेव यास्यामि'¹⁸। इस कथन से 'विबोध' नामक सन्ध्यङ्ग है। 55वें श्लोक¹⁹ में धृतराष्ट्र के अनुनय में 'प्रसाद' नामक अङ्ग है। धृतराष्ट्र के प्रति वासुदेव के कथन 'किं ते भूयः प्रियमुपहरामि'²⁰ के कारण 'प्रशस्ति' नामक निर्वहण सन्धि का अन्तिम अंग है।

I U/; Urj²¹ & सन्ध्यन्तरो में से साम, दण्ड, ओज, क्रोध, माया, दौत्य, तथा चित्र का प्रयोग प्रस्तुत रूपक में सफलता के साथ किया गया है।

dFkLoRl dk n'; rFkk lP; v:'k& प्रस्तुत रूपक में केवल चूलिका को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग नहीं हुआ है इस प्रकार समस्त कथानक दृश्य रूप में पात्रों के संलाप के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जनान्तिक अथवा अपवारित प्रकार के नाट्यधर्मी संवादों का प्रयोग तो नहीं हुआ है किन्तु सुदर्शन के द्वारा वासुदेव के अन्य प्रहरणों के प्रति कही गयी उक्तियाँ अवश्य ही आकाशभाषित की कोटि में आयेगी अभिनेयता को अक्षुण्ण रखने के लिए इस प्रकार के संलापों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त रूपक के अन्य अंशों में भी इस प्रकार के आकाशभाषित का प्रयोग हुआ है।

nrokD; e dh egkHkkj rki tHfork & प्रस्तुत रूपक का आधार महाभारत के पंचम पर्व के भगवद्गीता पर्व में वर्णित कथा है उत्तरा-अभिमन्यु के परिणय के अनन्तर कौरव पाण्डव में सन्धि हेतु पूर्ण प्रयत्न किया गया। जिससे पाण्डवों को अपने हिस्सा प्राप्त हो जाय परन्तु यह कार्य सफल नहीं हो सका। दूतवाक्यम् रूपम में दुर्योधन को राजा के रूप में चित्रित किया गया है परन्तु मूल कथा में धृतराष्ट्र राजा है। इसी प्रकार आवश्यक एवं प्रसंगानुकूल परिवर्तन महाकवि भास ने अपने रूपक में किया है।

रूपक के पात्र, कथानक, संवाद-शैली, भाषा आदि सभी दृष्टियों से चित्रांकन में नाटककार सफल है। रूपक के नाटकीय पात्रों का आपसी संवाद कथानक को जीवन्तता प्रदान करते हुए गतिशील रहता है, पाठक या दर्शक ऊबता नहीं है जबकि महाभारत में वर्णित मूलकथा में श्रीकृष्ण एवं दुर्योधन में लम्बा कथनोपकथन है जिससे पाठक ऊबने लगता है।

इस एकांकी रूपक का मुख्य रस वीर है। यह वीर रस के वचनों से ओत-प्रोत है। श्रीकृष्ण के विराट रूप का प्रदर्शन तथा उनकी इच्छा से उनके आयुधों का रंगमंच पर अवतरण अद्भुत रस का अच्छा परिपाक उपस्थित करता है। इसमें मुख्यतः आरम्भटीवृत्ति की योजना की गयी है। अलंकारों का सुन्दर निदर्शन सहजता एवं सरलता पूर्ण हुआ है। मुख्य रूप से उपमा, रूपक, स्वभावोक्ति, सहोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग कर कवि ने अपने कला कौशल का परिचय दिया है। रूपककार ने पात्रों के चरित्र विकास में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। दुर्योधन के चरित्र में मानवीय गुणों को अधिक दर्शाया गया है जबकि महाभारत में दुर्योधन के अनैतिक आचरण को अधिक दर्शाया गया है। इसकी संवाद योजना एवं तर्कशीलता दर्शकों में कौतूहल के साथ-साथ एकाग्रता उत्पन्न करती है।

I UnHK §

1. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से प्रकाशित दूतवाक्यम् की टीका (गणपति शास्त्री, द्वारा.)
2. ए.एस.पी. अय्यर : भास, पृ. संख्या 345
3. कर्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतराः।
सम्बन्धो बन्धुभिः श्रेयोल्लोकयोरुभयोरपि।। दूतवाक्यम्-29
4. नेपथ्ये न खलु न खलु गन्तव्यम्। (दूतवाक्यम् - 54वें, श्लोक के पश्चात्, पृष्ठ 61)
5. सुदर्शन - प्रशान्तरोषो भगवान् नारायणः। (दूतवाक्यम् श्लोक 47 के पश्चात्)
6. उत्पन्ने धार्तराष्ट्राणां विरोधे पाण्डवैः सह।
मन्त्रशालां रचयति भृत्यो दुर्योधनाज्ञया।। दूतवाक्यम्-2
7. श्यामोयुवा सितदुकूलकृतोत्तरीयः
सच्छत्रचामरवरो रचिताङ्गरागः।
श्रीमान् विभूषणमणिद्युति रञ्जिताङ्गो
नक्षत्रमध्य इव पर्वगतः शशाङ्कः।। दूतवाक्यम्-03
8. उद्धूतरोषमिव मे हृदयं सहर्षं
प्राप्त रणोत्सवमिमं सहसा विचिन्त्य।
इच्छामि पाण्डवबले वरबारणाना
मुत्कृत्तदन्तमुसलानि मुखानि कर्तुम्।। दूतवाक्यम्-04
9. ग्रहणमुपगते तु वासुभद्रे,
हृतनयना इव पाण्डवा भवेयुः।
गतिमति रहितेषु पाण्डवेषु
क्षितिरखिलापि भवेन्ममासपत्न्या।। दूतवाक्यम्-06
10. सुयोधनोऽयं स्वजनावमानं पराक्रमं पश्यति वालिशत्वात्।
को नाम लोके स्वयमात्मदोषमुद्धाटयेन्नघृणः सभासु। दूतवाक्यम्-18
11. दूतवाक्यम् (व्याख्याकार, गंगासागर राय), पृ. 34
12. कर्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतराः।
सम्बन्धो बन्धुभिः श्रेयोल्लोकयोरुभयोरपि।। दूतवाक्यम्-29
13. दुर्योधनः - दैवात्मजैर्मनुष्याणां कथं वा बन्धुता भवेत्।
पिष्टपेषणमेतावत् पर्याप्तं छिद्यतांकथा। दूत. 30
14. कैरातं वपुरास्थितः पशुपतिर्युद्धेन संतोषितो
वह्ने : खाण्डवमश्नतः सुमहती वृष्टिः शरैश्छादिता।
देवेन्द्रार्तिकरा निवातकवचा नीतः क्षयं लीलया।
नन्वेकेन तदा विराटनगरे भीष्मादयो निर्जिताः।। दूतवाक्यम्-32
15. वासुदेवः-भोः कुरुकुलकलङ्कभूत! अयशोलुब्ध! वयं किल तृणान्तराभिभाषकाः। (दूतवाक्यम्-35वें श्लोक के पश्चात्, पृ. 40)
16. महीभारापनयनं कर्तुं जातस्य भूतले।
अस्मिन्नेव गते देव! नून स्याद् विफलः श्रमः। दूतवाक्यम्-46
17. एते स्थिता वियति किन्नरयक्षसिद्धाः
देवाश्च संभ्रमचलन्मुकुटोत्तमाङ्गाः।
रुष्टेऽच्युते विगतकान्तिगुणाः प्रशान्तं
श्रुत्वा श्रयन्ति सदनानि निवृत्ततापाः।। दूतवाक्यम्-54
18. दूतवाक्यम् - 54वें श्लोक के पश्चात्। (गंगासागर राय व्याख्या, पृ. 61)
19. मम पुत्रापराधात् तु शार्ङ्गपाणे! तवाधुना।
एतन्मे त्रिदशाध्यक्ष! पादयोः पतितं शिरः।। दूतवाक्यम्-55
20. दूतवाक्यम् - 55वें एवं 56वें श्लोक के मध्य में वासुदेव का कथन, पृ.63



वक्रानुगतं तद्वत्तुं दत्तं वनप्रदं प्रजिज्ञेयं जगद्वत्तुं दत्तं फलं ॥१॥ ॥२॥ ॥३॥ ॥४॥ ॥५॥ ॥६॥ ॥७॥ ॥८॥ ॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥ ॥१२॥ ॥१३॥ ॥१४॥ ॥१५॥ ॥१६॥ ॥१७॥ ॥१८॥ ॥१९॥ ॥२०॥

आदिवासियों का जीवन अनेकविध समस्याओं से घिरा हुआ है जिनमें उनकी खुद की समस्याएँ कम और बाहरी (दिकू) लोगों के द्वारा आरोपित समस्याएँ ज्यादा हैं। उत्खनन कार्य से, कल-कारखानों के निर्माण से, वनों-पर्वतों की निर्मम कटाई के कारण आदिवासी समुदाय का अस्तित्व ही खतरे में पड़ चुका है। बर्बर लोभ एवं निर्मम उपभोग के चलते आज बहुत-सी जनजातियाँ काल-कवलित हो रही हैं। खनिज एवं वनोपज से संपन्न आदिवासी बहुल क्षेत्र राष्ट्र की प्रगति के लिए माकूल और मजफूज तो हैं किंतु इस प्रगति में आदिवासियों के संरक्षण और संवर्धन के प्रयास नदारद हैं। “राष्ट्रीय राजमार्गों से हटे दूर-दूरांतर बसे विकास वंचित देहात में आज भी महुए-बीज के तेल की ढिबरी जल रही है और टार्च विलासिता है। परिवहन के सुलभ साधन पाँव ही हैं और साईकिल विलासिता है।”¹

‘हुल पहाड़िया’ उपन्यास तिलका माँझी के नेतृत्व में लड़े पहाड़िया लड़ाकों की अदम्य जिजीविषा, शौर्य, पराक्रम एवं अमर्ष की कथा कहता है। उपन्यास का नायक तिलका माँझी संताल समाज के लिए उनका तिलका मुरमू है। कुछ पहाड़िया विद्वानों के लिए जबरा पहाड़िया है। इतिहासविदों के एक समूह के लिए यह ‘माँझी’ नाविक/मल्लाह जाति का व्यक्ति है। कतिपय विद्वान तिलका को मुसहर (एक जाति) से जोड़ते हैं।² तिलका के जीवन-संघर्ष पर उपन्यासकार लिखता है-‘तिलका के जीवन और संघर्ष की कहानी कोहरे में लिपटे किसी पहाड़ की तरह है। कभी किसी दिशा से तेज हवा का झोंका इस कोहरे को बिखेर देता है और इस पहाड़ का कोई नया हिस्सा उजागर हो उठता है।’³ उपन्यासकार तिलका को पहाड़िया ही लिखता है इसके पीछे उसका स्पष्ट मत है कि ‘जब पहाड़िया आन्दोलन फूटा था, तब उस पूरे क्षेत्र में संतालों का तो नामों-निशान नहीं था, फिर तिलका संताल हो कैसे सकता है?’⁴ संताल परगना का गैजेटियर गवाह है कि पहाड़िया आन्दोलन को कुचलने के बाद भागलपुर के संयुक्त दण्डाधिकारी सदरलैंड ने संतालों को सरकारी सहायता और करमुक्त कृषि की सुविधा देकर जंगलतराई में बकायदा बसाया था।’⁵

औपन्यासिक शिल्प में पहाड़िया जनजाति का पूरा इतिहास ही पिरो देते हैं- राकेश कुमार सिंह। स्वातन्त्र्यप्रिय पहाड़िया जनजाति के लोग अंग्रेजों के दुर्दमनीय शोषण के विरुद्ध ताकतवर प्रतिरोध करते हैं। स्वाभिमानी पहाड़िया, अंग्रेज कंपनी की दासता न स्वीकार कर उसके साम्राज्यवादी प्रकोप से बचने के लिए अपने जान की बाजी तक लगा देते हैं। वे कहते हैं- ‘पहाड़िया जान दे सकते हैं, मान नहीं। कंपनी पहाड़िया की देह का सारा खून चुस सकती है, लेकिन पहाड़ियाओं की आन नहीं मेट सकती।’⁶ अंग्रेज कंपनी का ध्येय ही था भारत भूमि की संपदा का निर्बाध दोहन करना। उनके लिए कच्चे माल की पूर्ति का महत्वपूर्ण खजाना था-हिंदुस्तान। ऐन-केन-प्रकारेण अंग्रेज कंपनी लाभ कमाना चाहती थी।

अंग्रेज कंपनी के अलंभरदारों ने जंगलतराई की नमी को चूसना प्रारंभ किया। यहाँ के सस्ते श्रम का दोहन, भूगर्भ में दबी खनिज संपदा का दोहन करने के लिए वे हिंसा एवं आतंक की बैसाखियों का इस्तेमाल करने लगे थे। चूँकि पहाड़िया समुदाय के लोग कृषि-कार्य नहीं करते थे वे महुआ, दूध, घाटो, खरगोश, हिरन, तितर, बटेर आदि-आदि चीजों से ही अपना पेट पालते थे। ऐसी स्थिति में उनसे लगान

*शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वसूली हो भी कैसे सकती थी? इसके लिए तो जरूरी था उन्हें कृषि-कार्य में लगाना जिसे अंग्रेज कंपनी ने हल, बैल, बीज देकर बखूबी पूरा किया। कैप्टन ब्राउन पहाड़िया सरदारों, माँझियों की बैठक बुलाकर उन्हें सुझाव देता है— 'जितना जंगल साफ कर खेती के लायक बनाएँगे, आपको उतनी जमीन पर कोई लगान नहीं देना होगा। इस जमीन पर आप, आपके बच्चे या आपके नाती-पोते भी बिना कोई मालगुजारी चुकाए खेती कर सकेंगे।'⁷

हल, बैल, बीज का प्रलोभन पहाड़िया लोगों को सशक्त कर देता है। आपसी विचार-विमर्श में वे कहते हैं— 'संतालों की तरह खेती-किसानी कभी हमने नहीं की। कभी हल, जुआठ नहीं सीखा। पहाड़ पर पखेरू मारकर खाते रहे। महुआ, डोरी, रीठा, चमड़ा के बदले अनाज खरीदते रहे। अब खेती-किसानी कैसे करें।'⁸ अंततः अंग्रेज कंपनी के झाँसे में आकर पहाड़िया कृषि-कार्य में प्रवृत्त होते हैं जैसे-जैसे उनका उत्पादन बढ़ता है अंग्रेज कंपनी की लगाम भी वैसे-वैसे कसती जाती है। राजस्व उगाही के लिए जबरन लगान वसूली की जाने लगती है जिसका पहाड़िया आदिवासियों द्वारा प्रबल विरोध किया जाता है। वे कहते हैं— 'बाघ, भालू, हाथी, अजगर से लड़े हम। जंगल काटने में कितने पहाड़िया बीत गए, तब जाकर हमने गाँव बसाये हैं। अब अपने दम पर थोड़ी जमीन बनाई तो दूसरों को लगान क्यों दें?'⁹

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व अधिकांश जनजातियों पर किसी प्रकार का कोई बाहरी नियन्त्रण नहीं था। हालाँकि जंगल तराई में पटान, मुगल, मराठे आ चुके थे लेकिन किसी राजा, पेशवा या सुबेदार ने कभी स्वतन्त्र पहाड़िया लोगों से कर नहीं माँगा था। प्रसिद्ध इतिहासकार विपिन चन्द्र लिखते हैं— 'औपनिवेशिक घुसपैठ और व्यापारियों, महाजनों व लगान वसूलने वालों के तिहरे शासन ने आदिवासी समाज को बुरी तरह झकझोर दिया।'¹⁰ चूँकि आदिवासी दूरस्थ क्षेत्रों में बसते थे जहाँ व्यापार वाणिज्य का नामों-निशान तक नहीं था। ऐसी स्थिति में अंग्रेज कंपनी के समक्ष यह समस्या खड़ी होती है कि इनके श्रम व संशाधन की लूट कैसे एवं किस प्रकार की जाए। इसके लिए अंग्रेजी पलटन देशी व्यापारियों, मित्र जमींदारों और सूदखोर महाजनों को बसाना प्रारंभ करती है। इन जमींदारों, महाजनों ने आदिवासी लोगों का दुर्दान्त शोषण किया। सिधे-सादे आदिवासी अंग्रेज कंपनी की कुटनीति को समझ नहीं पाये और उसके जाल में फँसते चले गए। चावल की खरीद के पीछे छिपी उनकी मानसिकता को न भाँप सकें और अपना सारा चावल (माँझियों और सरदारों के सचेत करने के बावजूद) सस्ते दाम पर कोठार खाली होने तक बेच डाले जिसका खामियाजा दुर्भिक्ष के समय चुकाना पड़ा। वही अंग्रेज कंपनी के जाये सेठ, महाजन जो चार आने में एक मन चावल खरीद रहे थे अब अकाल के समय वही चावल चार आने में मात्र एक सेर की दर पर बेच रहे थे।

सन् 1770 ई० में बंगाल-बिहार भीषण अकाल की चपेट में थे इसमें लगभग एक करोड़ लोग मौत के मुँह में चले गए। पहाड़िया लोगों की माली हालत पहले से खराब थी, इस दुर्भिक्ष ने उन्हें लूटेरा बना दिया। वे न केवल पशुओं, फसलों एवं संपत्ति को लूटते बल्कि राजमहल और तेलियागढ़ी होकर जाने वाले डाक कर्मचारियों तक को लूटकर उन्हें मार डालते।'¹¹

अंग्रेज कंपनी अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए पहाड़िया लोगों के एका को तोड़ना चाहती थी जिसे भाँपकर जबरा (तिलका) माँझी के पिता सुगना माँझी ने कहा था— 'एका नहीं तो पहाड़िया खत्म'।¹² सुगना माँझी की यह चिन्ता निराधार नहीं थी। राजमहल की पहाड़ियों के उत्तर में बसे कुछ पहाड़िया टोले कंपनी की शक्ति के समक्ष समझौतों की विवशता में धकेले जा चुके थे।¹³ कंपनी पहाड़िया लोगों की एकता में सेंध लगा चुकी थी। हजारों वर्षों की जिस एकता के बल पर पहाड़ों के सिरमौर माने जाते रहे थे पहाड़िया, वह एकता खंडित हो रही थी।¹⁴ पी० सी० रॉय ने गैजेटियर में उल्लेख भी किया है— 'क्लीवलैण्ड की नीतियों और देय भत्तों को उत्तर के पहाड़िया सरदारों ने तो खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया, लेकिन दक्षिण के सरदारों ने उस टुकड़े को बिलकुल खारिज कर दिया।'¹⁵

इतिहास गवाह रहा है कि जितना नुकसान शत्रु के आक्रमण से नहीं हुआ उससे कहीं ज्यादा नुकसान आन्तरिक फूट के कारण हुआ है। पहाड़िया लोगों की आपसी फूट का लाभ उठाकर अंग्रेज अपनी निगरानी चौकियाँ स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। कहने को इन चौकियों पर देशी चौकीदार नियुक्त

किये जाते हैं लेकिन परोक्ष रूप से चौकियों पर अंग्रेज कंपनी का ही अधिकार रहता है। देशी चौकीदार तो फर्जी प्यादे मात्र होते हैं। ये फर्जी प्यादे भी कंपनी नामक महाकाय हाथी पर सवार होकर स्वयं को भी कंपनी ही समझने लगे थे। राहगीरों से अवैध सलामी—नजराने तक वसूलने लगे थे। बैलगाड़ियाँ लादने वाले व्यापारी—बनिये तो स्वेच्छा से दस्तूरी—उत्कोच देने लगे थे, परंतु मुँह को खून लगे बाघ जैसे देशी चौकीदार माल—मवेशी या भरी बहँगी वाले आदिवासियों से भी चौकी पार कराई के नाम पर अनधिकार अवैध—अधेला वसूल करने लगे थे।¹⁶ कंपनी की इन करतूतों से खफा जबरा पहाड़िया लोगों की सुरक्षा को लेकर व्याकुल हो उठता है। अब उसे मांदल—बाँसुरी की धुन फीकी लगने लगती है, अच्छा लगने लगता है लड़ाई का डुगू। पहाड़िया लोगों को सचेत करते हुए वह कहता है— “खूब सारे तीर गढ़ो। फलक बनाओ। भाला—टांगी पजाओ। फरसे की धार पर सान दो। गुलेल के लिए माटी के गोरहे बनाकर आग में पकाओ।”¹⁷

कंपनी से रार ठान चुका तिलका कंपनी के बिछाये जाल में इस कदर फँस जाता है कि पूरे पहाड़िया समुदाय को ही अंग्रेज कंपनी का गुलाम—सा बना डालता है। कहाँ तो तिलका कंपनी से लड़ मरने को उद्यत था अब कंपनी के ही एक कलेक्टर आगस्टस क्लीवलैंड द्वारा बिछाये गये जाल में फँसकर खुद को असहाय महसूस करता हुआ हिलरेंजर्स नामक टुकड़ी का कमांडर बन अपने ही भाइयों के खिलाफ लड़—मरने उतर पड़ता है। लेकिन यह स्थिति ज्यादा दिनों तक नहीं रह पाती, जैसे ही उसे इसका एहसास होता है कि कंपनी उनका बेजा इस्तेमाल कर रही है वैसे ही वह अपने साथियों के साथ कंपनी के प्यादे का मुखौटा उतार हुलमाहे की शक्ल में आ जाता है।

यहाँ से शुरू होता है वह मरणांतक संघर्ष जिसमें कंपनी सिधे पहाड़िया लोगों से युद्ध न कर उनकी चारों तरफ से नाकेबंदी कर देती है। ‘ईस्ट ईंडिया कंपनी के उच्चाधिकारी समझ चुके थे कि जंगलतराई में प्रत्यक्षतः विद्रोह तो पहाड़िया आदिवासी ही करते दिख रहे थे, परंतु विद्रोहियों को हथियार और रसद की आपूर्ति अवश्य गैर आदिवासियों द्वारा की जा रही थी।’¹⁸ कौंसिल का मत था कि अब आगे कोई खुली लड़ाई रोक रखी जाए।¹⁹ कंपनी की इन दुर्नीतियों की वजह से मनुष्य की जनम—जनम की शत्रु भूख पहाड़िया लोगों पर हावी होने लगी थी। पहाड़ पर तीतर, बटेर, साही, कोटारी और खरगोश तक मिलने बंद हो गये थे। ऐसे हालात में पहाड़िया लड़ाके तिल—तिल कर मरने के बजाय दीपक की अंतीम लौ की भाँति कुछ देर ही सही किंतु तीव्रतम प्रकाश कर ही बुझना चाहते थे। इस स्थिति पर लेखक की टिप्पणी है—‘यह संघर्ष उस जीवन के लिए था, जिसकी नियति है मरण। एक ओर थे शोषित वंचित, काले, अनपढ़, भूखे, पहाड़ों के चीर निवासी पहाड़िया। दूसरी ओर थी हड़प नीति की आराधक, विश्व की सर्वाधिक सभ्य—सुशिक्षित होने का दावा करने वाली अंग्रेज जाति।’²⁰

जीवन का अन्तिम ‘बेझा—तुन’ (शिकार पर्व) खेल रहे पहाड़िया एक के बाद एक खेत होते चले गये थे। ‘बीतते गए थे हीरा झूमर, दीना, पुत्ता, कार्तिक और कंदु। कितने—कितने पहाड़िया। कितने—कितने बलिदानी धनुर्धर!’²¹ स्वयं जबरा(तिलका माँझी) को भी 11 फरवरी, सन् 1785 को भागलपुर में फाँसी पर लटका दिया गया था।

झारखण्ड के आदिवासी अपने अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा हेतु लम्बी लड़ाइयाँ लड़े हैं। इन्होंने मुगलों, मराठों एवं ब्रिटिश साम्राज्य से लेकर आधुनिक भारत की सरकारों तक से लोहा लिया है। पहाड़िया विद्रोह, कोल विद्रोह, संताल हुल, नीलांबर—पीतांबर विद्रोह, भुईया विद्रोह, खरवार आन्दोलन, बिरसा मुण्डा आन्दोलन, नक्सलवादी आन्दोलन आदि इसके जीवन्त उदाहरण हैं। सत्ता बदलने के साथ—साथ इन लड़ाइयों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला गया है। किंतु लड़ाइयों के बुनियादी कारण मूल रूप में अब भी विद्यमान हैं। शोषण, विस्थापन, उत्पीड़न बदस्तूर जारी है। फर्क सिर्फ इतना है कि पहले दूसरे शोषण करते थे अब तथाकथित अपने।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास महाअरण्य में गिद्ध झारखण्डी आदिवासियों के शोषण, उत्पीड़न, पलायन एवं संघर्ष से भरी जिंदगी की मार्मिक दास्तान है। झारखण्ड राज्य के अस्तित्व ग्रहण करने के दौरान की राजनीतिक—सामाजिक स्थितियों की गंभीर जाँच—पड़ताल करता है यह उपन्यास। यह

उपन्यास वस्तुतः अरण्य क्षेत्र में बसे उन नर गिद्धों के पैशाचिक कृत्यों का दस्तावेज है जो पठार की मांस-मज्जा नोचकर अस्थियों की ठठरी पीछे छोड़ उड़ जाते हैं। स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में—‘पक्षी गिद्ध अब झारखण्ड से विलुप्त हो रहे हैं। अब बिरले दिखते हैं वे भारी डैनों और खर की नली जैसी गर्दन वाले गिद्ध, परंतु दो पाये नर गिद्धों की संख्या लगातार बढ़ी है जंगल में। रक्तबीज की भाँति!’²² ‘इच्छित शिकार की तलाश में पलामू के महाअरण्य में उतरते रहे हैं भाँति-भाँति के गिद्ध—‘हाथियों के हत्यारे, बाढ़ भरी नदियों में दरख्तों की लाशें बहाकर जंगल से बाहर ले भागने वाले लकड़चोर, रोजगार दिलाने के बहाने आदिवासियों की देह बेचने वाली भ्रष्ट स्वयं सेवी संस्थाएँ, ठेकेदारी की ओट में अवैध शराब से लाखों रुपये पीटने वाले ठेकेदार, कोयल, दामोदर, स्वर्णरेखा नदियों में अनवरत रासायनिक उच्छिष्ट का हलाहल उगलने वाले कारखानेदार—खनिज, वनोपज, काठ, हाथीदाँत, मृगछाल के अवैध शिकारी ———! भाँति-भाँति के गिद्ध—!’²³

ऐसे ही दो पाए नर गिद्धों में शुमार हैं दीकू से सदान बने महुआटाँड़ प्रखण्ड के लाल साहब या राजा गोमके के नाम से ख्यात महुआगढ़ के खानदानी जमींदार घराने के प्रभूदयाल शाहदेव। सरकारी तौर पर जमींदारी समाप्त भले हो गयी थी परंतु संताल, मुण्डा, कोल, उराँव, भुईया, मुसहर, गंजू, भोगता, चेरो, परहिया, डोम, तूरी, कहार, दुसाध और जुलाहों जैसे आदिवासी रैयतों के बीच लाल शाहब प्रभूदयाल शाहदेव के नाम का दमामा अब भी बजता था। ‘जिस रैयत पर ताकते हुए राजा गोमके की भाँति टेंढ़ी हो जाती थीं वह रैयत धरती से हमेशा के लिए उठ जाता था।’²⁴ अमरेंद्र किशोर की पुस्तक ‘आजादी और आदिवासी’ उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि अग्रलिखित शब्दों में करती है— ‘नवें दशक के अंत तक मनातू के आदमखोर के नाम से प्रसिद्ध जमींदार जगदीश्वरजीत सिंह मउआर सामंतशाही के दुर्दांत प्रतीक रहे हैं। वे अपने जुल्म का प्रतिकार करने वालों को पालतू चीतों के पिंजड़ों में जिंदा डलवा देते थे या उसे लापता करवा देते थे। सत्ताधारी पार्टी में अच्छी पैठ होने के कारण इस आदमखोर सामंत की सत्ता सर्वस्वीकार्य थी।’²⁵ दरअसल उपन्यास में विन्यस्त प्रभुदयाल शाहदेव नामक सामंत इसी जगदीश्वरजीत सिंह का साहित्यिक रूपांतरण है। खुद उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह झारखण्ड के उसी (पलामू) क्षेत्र से आते हैं जहाँ सामंतशाही चरम रूप में विद्यमान थी।

ऐसे विकास से वंचित वन प्रदेश में पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित रहे हैं लाल शाहब और उनके कारिन्दे। वन में बसे ऐसे ही गैर आदिवासी सदान लोगों ने थानाबाबु और जंगलबाबु को मिलाकर वनवासियों से उनका जंगल छीना है, आदिवासी जन का परम्परागत अरण्य पर अधिकार छीना है।²⁶ ‘वनपुत्रों को जंगल में सियार मारने या चिता के लिए लकड़ी जुटाने पर भी जेल-जुर्माना हो जाता है किंतु प्रभुदयाल शाहदेव जैसे लोगों के घरों की दिवारों पर सजी हुई हिरण की खाल और व्याघ्र चर्म या जड़े हुए बारहसिंगो के सिंग— पदकों की भाँति घर की शोभा बढ़ाते हैं।’²⁷

आदिवासी समाज का दोहन केवल बाहरी लोगों के द्वारा ही नहीं अपितु उनके अपने लोगों द्वारा भी खूब किया गया है। धर्मान्तरित हो चुके आदिवासी या नौकरी-पेशा, सत्ता प्राप्त आदिवासी अपने ही लोगों का निर्ममतापूर्वक दोहन करते रहे हैं। उपन्यास में वर्णित ‘उद्धार’ नामक संस्था जो एक आदिवासी स्त्री द्वारा ही चलाई जाती है निर्धन आदिवासी लड़कियों को बेरोजगारी और भूख मिटाने के नाम पर—मुम्बई, दिल्ली, पुना, कलकत्ता, बंगलौर और हैदराबाद जैसे बड़े शहरों में चलने वाले देह-व्यापार में उतारने का काम करती है। स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में—‘पेरिस स्थित भारतीय दूतावास से न भाग पाती ललीता उराँव या देहमंडी के चक्रव्यूह से जीवित न निकल पाती रीता कुजूर तो आदिवासियों के कुछ उद्धारकों के घिनौने चेहरे छुपे के छुपे रह जाते।’²⁸

पृथक झारखण्ड राज्य की माँग के पीछे यह मंशा थी कि यह आदिवासी बहुल राज्य सदियों से शोषित, उपेक्षित, पीड़ित, मूलवासियों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हितों का संरक्षणकर्ता होगा। किन्तु नये राज्य का गठन होने के उपरांत उसके नियंता और मार्गदर्शक ही अपने सिद्धान्तों और प्रतिज्ञाओं की हत्या कर अपने ही भाईयों को रक्त-रंजित कर उनकी मांस-मज्जा नोचने में सरीक हो गये थे। उपन्यास के केन्द्रीय पात्र ददुआ मानकी की विकलता जायज ही है—‘जिन

गिद्धों-हुँड़ारों से अपने जंगल-जमीन की मुक्ति का सपना देखा था 'झामुद' ने और उसके पचासो एरिया कमांडरों ने, प्रान्त अलग होने के बाद भी अब लगता था कुछ भी बदलने वाला नहीं था। गिद्धों और हुँड़ारों ने जंगल में स्थाई रूप से बस जाने के कई चोर रास्ते ढूँढ़ लिए थे।²⁹ झारखण्ड की यह भयावह तस्वीर तभी साफ हो चली थी जब आजादी के बाद यह महसूस किया जाने लगा कि खनिज संपदा से संपन्न झारखण्ड औद्योगिक ईकाइयों और विकास परियोजनाओं के लिए श्रेष्ठ विकल्प साबित हो सकता है। और हुआ भी ऐसा ही परियोजनाएँ बनती गई लोग उजड़ते गये।

आदिवासी क्षेत्रों में विकास की बयार जब-जब बही उसने आदिवासियों को उजाड़ने-उखाड़ने का ही काम किया। स्वातन्त्र्य पूर्व काल में पूँजीवादी औद्योगीकरण के जनक अंग्रेजों ने अरण्य के गर्भ में दबे खनिज पदार्थों का निर्ममतापूर्वक दोहन किया। अब लूट रहे हैं सफेद पोश, श्रमदस्यु, नारी देह के आखेटक, देशी पहाड़चोर।

पूँजीवादी औद्योगीकरण के साये में भूमण्डलीकृत होते भारत की सच्चाई को निम्नलिखित पंक्तियाँ बयाँ करती हैं- 'भूमण्डलीकरण की मुहिम के चलते हर साल तकरीबन पाँच हजार करोड़ रुपया अनुदान के रूप में भारत आता है। लगभग तीस हजार से अधिक एन0 जी0 ओ0 हैं भारत में जो विदेशी अनुदानों पर ही पल रहे हैं। आर्थिक उदारीकरण के बाद पश्चिमी एजेंसियों से निकली अनुदानों की बाढ़ भारत की ओर उफन पड़ी है।³⁰ दरअसल विदेशी दान-अनुदान की भिक्षा पर पलने वाले एन0 जी0 ओ0 बहुराष्ट्रीय कंपनियों के देशी मुखौटे भर हैं जिनका न तो भूखे, नंगे, गरीब लोगों से कोई वास्ता है न सरोकार।

'बड़े पैमाने पर समानान्तर शक्ति-व्यवस्था और शासनतंत्र में बदल रहे तथा देश के आन्तरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप का सम्मानजनक मुखौटा लगाए कुकुरमुत्तों की भाँति उगती जा रही हैं ये अर्द्धसरकारी संस्थाएँ।'³¹ "भारत में विदेशी निवेश का प्रवाह और भारत का आर्थिक महाशक्ति बनने की दिशा में प्रयाण जिन भारतीयों की कीमत पर हो रहा है उनमें सर्वाधिक मूल्य चुकाने वाला भारतीय आदिवासी ही है।"³²

वस्तुतः किसी राष्ट्र की नीतियाँ एवं उनके नीति-नियन्त्रकों के कार्य यह बताते हैं कि उनकी प्राथमिकताएँ एवं उद्देश्य क्या हैं? आज विकास की जद में बड़े-बड़े बाँध, औद्योगिक फैक्ट्रियाँ, बुलेट ट्रेनें, चाँद तारों तक पहुँच आदि-आदि चीजें ही रह गई लगती हैं। लेकिन क्या हम कभी यह सोच सकते हैं कि इस तथाकथित विकास की बलिवेदी पर कौन चढ़ाया जा रहा है। पलक झपकते ही मीलों की यात्रा और चाँद तारों पर आशियाना बनाने की चाहत रखने वाले क्या कभी ये देख पाएँगे कि जीवित रहने मात्र के लिए किस तरह संघर्ष कर रहा है- 'आदिवासी समुदाय'।

I UnHk %

1. राकेश कुमार सिंह, विकास : जल-जंगल-जमीन और विस्थापन, बहुवचन अंक : 33-34, पृ0 सं0 -12
2. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 7
3. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 91
4. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 92
5. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 92-93
6. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 117
7. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 153
8. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 15
9. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 124
10. विपिन चंद्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, द्वितीय संशोधित संस्करण : 1998, आवृत्ति : 2001, पृ0 सं0 15
11. आरती स्मित, कोहरे में धिरे पहाड़िया लड़ाके, आदिवासी साहित्य, अंक : जुलाई-सितम्बर, 2015, पृ0 सं0- 16
12. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 123
13. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0- 112
14. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 सं0-112

15. आरती स्मित, कोहरे में धिरे पहाड़िया लड़ाके, आदिवासी साहित्य, अंक : जुलाई-सितम्बर, 2015, पृ० सं०- 14
16. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ० सं०- 158
17. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ० सं०- 126
18. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ० सं०- 298
19. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ० सं०- 298
20. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ० सं०- 315
21. राकेश कुमार सिंह, हुल पहाड़िया, संस्करण : 2014, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ० सं०- 315
22. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 189
23. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 189
24. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 25
25. अमरेन्द्र किशोर, आजादी और आदिवासी, प्रथम संस्करण : 1996, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, पृ० सं०- 67
26. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 52
27. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 57
28. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 262
29. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 371-372
30. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 206-207
31. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 110
32. राकेश कुमार सिंह, महाअरण्य में गिद्ध, प्रथम संस्करण : 2015, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 190



I e I ke f ; d H k ; k o g ; F k k F k l d h d g k u h % e k g u n k l v t h r d e k j i V y *

उदय प्रकाश 1980 के दशक से सक्रिय एक ऐसे कहानीकार हैं, जो समकालीन जीवन की भयावहता को कहानी में मूर्त करने की विलक्षण क्षमता रखते हैं। समय के भयानक सच को न केवल कथा कहने की शैली में बल्कि कथा के भीतर अनेक काव्यात्मक उपकरणों से भय का मूर्त विधान खड़ा करने में उदय प्रकाश विशेष रूप से सफल हुए हैं। उनकी कहानियों में प्रकट होने वाली भयावहता न तो अतेन्द्रिय है और न ही पारलौकिक। वह एक खास समाज और राजनैतिक व्यवस्था से उत्पन्न भयानक सच्चाई है, जिसका रोजमर्रा के जीवन में साक्षात्कार करने वाले पात्रों को उदय प्रकाश अपनी कहानियों में खड़ा करते हैं। सन् 2006 ई. में प्रकाशित कहानी 'मोहनदास' लेखक की बहुचर्चित एवं दीर्घजीवी कृति है। इस रचना को साहित्य अकादमी पुरस्कार (लेखक द्वारा पुरस्कार वापस) मिलना यह इंगित करता है कि साहित्य जगत में यह कितना महत्वपूर्ण और अपने आप में इष्ट है। वस्तुतः देखा जाता है कि उदय प्रकाश की कहानियों में जीवन की विसंगतियों की काफी हद तक दखलंदाजी होती है, शायद यही कारण है कि उनकी रचना आकर्षक और विश्वसनीय लगती है कदाचित् पारिवारिक भी। 'मोहनदास' कहानी में कहानीकार की संवेदना इतनी गहरी है कि कभी-कभी कहानी निजी एवं आत्मीय लगने लगती है।

'मोहनदास' से पहले उनकी 'तिरिछ' कहानी भी इसी विशेषता के चलते चर्चित हुई थी। बाद को उदय प्रकाश ने 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' तथा 'पालगोमरा का स्कूटर' कहानी में भी सक्षम प्रयोग किया है। वे कभी तो सीधे ऐतिहासिक और काल्पनिक पात्रों को लेकर कहानी रचते हैं और कभी अपने काल्पनिक पात्रों के नामकरण और आचरण में ऐसी प्रतीकात्मकता का सृजन करते हैं कि उनके पात्र कुछ अन्य ऐतिहासिक किरदारों, जीवन-मूल्यों आदि को भी ध्वनित करते हैं। उदय प्रकाश कथा की रूपात्मक प्रस्तुति के चलते समकालीन को ऐतिहासिक और कभी-कभी मिथकीय तक बना सकने में सक्षम होते हैं। उनकी कहानी के पात्र और उनका परिवेश प्रत्यक्ष तथा वस्तु से कही बड़ी एक अन्य कथा को ध्वनित करते हैं। इस विशेषता के चलते वे अपनी कथावस्तु को अर्थव्यवस्था, राजनीति, इतिहास, समाजव्यवस्था और बृहत्तर मूल्य व्यवस्था से जोड़ देते हैं।

'मोहनदास' यों तो छत्तीसगढ़ अंचल के एक ऐसे दलित युवक की कहानी है जिसकी नौकरी ऊँची जाति का विश्वनाथ पांडे फर्जी तरीके से मोहनदास बनकर हथिया लेता है। मोहनदास जैसे-जैसे इस जालसाजी को बेनकाब करने की कोशिश करता है वैसे-वैसे वह पाता है किजो उसके साथ हो रहा है उसे एक पूरी व्यवस्था का समर्थन प्राप्त है। कहानीकार मोहनदास की भयावह यंत्रणा को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वह इस अमानवीय व्यवस्था की दरिन्दगी के शिकार अंतिम आदमी की नियति की कथा बन जाती है। यहीं मोहनदास नाम के पात्र के नामकरण की प्रतीकात्मकता भी स्पष्ट होती है। कहानीकार के ही शब्दों में " मैं हमेशा की तरह, कहानी की आड़ में, आपको फिर से अपने समय और समाज की एक असली जिंदगी का ब्यौरा देने बैठा हूँ। मोहन दास वास्तव में एक जीता-जागता असली आदमी है और उसकी जिंदगी इस समय दरअसल संकट में है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मैंने सच्चाई में हमेशा की तरह इस बार भी थोड़ा-बहुत हेरफेर किया है। लेकिन यह हेरफेर वैसा ही है, जैसे कोई हाथी को छुपाने के लिए उसके विशाल शरीर के ऊपर डेढ़ हाथ का अंगौछा बिछा दे।"¹

*शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर

मोहनदास की यातना, 'मोहनदास करमचंद गाँधी' द्वारा समाज के आखिरी आँसू पोछने के स्वप्न की दुःस्वप्न में बदल जाने की त्रासदी को व्यक्त करती है। मोहनदास का अत्यंत संघर्षशील जीवन उसका व्यक्तिगत नैतिक साहस व्यवस्था से टकराकर टूट जाता है, जिजीविषा से भरा यह नायक आखिरकार हार जाता है। मोहन दास के हालात पर कहानीकार का मंतव्य दृष्टव्य है "मोहन दास को आप देखेंगे तो पहले तो आपको उस पर दया आयेगी लेकिन बाद में आप भी डर जाएंगे। क्योंकि यह समय बहुत डरावना है और यह लगातार डरावना होता जा रहा है।"² ऐसा नहीं है कि उसके मददगार नहीं हैं गोपालदास, घनश्याम, बीरन, वकील हर्षवर्धन सोनी, और न्यायिक दण्डाधिकारी गजाजन माधव मुक्तिबोध प्राण-प्राण से मोहनदास को न्याय दिलाने की कोशिश करते हैं किंतु वे सब असफल होते हैं। विजय तिवारी, विश्वनाथ पांडे, नागेन्द्र नाथ, एस.के. सिंह, ए.के.श्रीवास्तव, ओरिएण्टल माइंस के अन्य अधिकाारी और तमाम ऐसे लोग जो कोरियरी की दलाली से लेकर राजनीति और न्याय व्यवस्था तक जुड़े हुए हैं वे इन सब पर भारी पड़ते हैं।

लेखक न्यायिक दण्डाधिकारी का नाम गजाजन माधव मुक्तिबोध रखता है और उसके मित्रों का नाम हरिशंकर परसाई, शमशेर बहादुर सिंह। इनके बारे में कहानीकार लिखता है "ये सभी अधिकारी अपनी-अपनी कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी के लिए जाने जाते थे।"³ ये हिन्दी के वास्तविक साहित्यकारों के नाम हैं जो कि लेखक ने सोद्देश्य रूप से अपने उन पात्रों को दिए हैं जो इस व्यवस्था में रहते हुए भी ईमानदारी की जिद ठाने हुए हैं। जाहिर है कि इस नामकरण से वे तमाम मूल्य और आदर्श भी ध्वनित होते हैं जिनका दोषण इन साहित्यकारों ने ताउम्र अपने जीवन और रचना कर्म में किया। इसी तरह मोहनदास की तरह फर्जी सूर्यकांत को ढूँढ़ ने गढ़ाकोला से आये सूर्यकांत का भी जिक्र है जिसके साथ भी वही हादसा हुआ है जो मोहनदास के साथ।

इस एक छोटे से प्रसंग में सिर्फ नाम साम्य के माध्यम से निराला के जीवन की त्रासदी को भी लेखक ने मोहनदास की कथा से जोड़ दिया है। दण्डाधिकारी मुक्तिबोध का कहानी में खींचा गया व्यक्तिचित्र बिल्कुल वास्तविक (कवि) मुक्तिबोध जैसा ही है इसी तरह कर्मचारियों की कॉलोनियों के नाम सोद्देश्य रूप से लेनिननगर, गाँधीनगर, अम्बेडकरनगर, जवाहरनगर, शास्त्रीनगर और तिलकनगर आदि रखा गया है। कहानीकार लिखता है कि "इन सुव्यवस्थित कॉलोनियों में हजारों बिसनाथ जैसे लोग थे, जो किसी दूसरे की पहचान, अधिकार, योग्यता और क्षमता को चुराकर वर्षों से कुर्सियों पर बैठे हुए थे और हजारों की तनखाहें ले रहे थे।"⁴ कहानी दरअसल एक ऐसी व्यवस्था को बेनकाब करती है जिसमें अंतिम आदमी या यूँ कहे कि तमाम गरीब-गुरबा लोग की पहचान अधिकार योग्यता और क्षमता का अपहरण कर लिया गया है और उनके नाम पर मुट्ठी भर लोग राज कर रहे हैं।

इस व्यवस्था के सूत्र अंतरराष्ट्रीय स्तर तक विकसित हैं काल की दृष्टि से इक्कीसवीं सदी के पहले दशक की यह कहानी बीती हुयी बीसवीं सदी के उन तमाम आदर्शों मूल्यों और संघर्षों से जुड़ती है जो इक्कीसवीं सदी के मरणान्तक अन्धकार में दम तोड़ रहे हैं। कहानी में आये मोहनदास, सूर्यकांत, कस्तूरी, काबा, पुतलीबाई, मुक्तिबोध, शमशेर, परसाई आदि पात्र अपने नामों से उन सच्चाई, ईमानदारी, बराबरी, न्याय और इंसानियत के मूल्यों को व्यंजित करते हैं जो बीसवीं सदी में औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक सत्ताओं से संघर्ष करते हुए विकसित हुए थे। बीसवीं सदी में भी इन मूल्यों पर आधारित समाज नहीं बन सका था किंतु इक्कीसवीं सदी में तो ये मूल्य और आदर्श की मानो अपनी अंतिम साँसे चल रही हैं। लेखक ने लालू प्रसाद पाण्डेय और जयललिता पाण्डेय नाम भी अपने पात्रों को दिए हैं जो कि समकालीन भारत के दो प्रभावशाली किंतु भ्रष्ट नेताओं के नाम साम्य चलते हैं। आज के समय के राजनीतिक मूल्यबोध को व्यक्त करते हैं। पात्रों एवं स्थानों के नामकरण के माध्यम से कहानीकार अनेक प्रकार की ऐतिहासिक और मूल्यगत अनुगूँजों को कहानी में विन्यस्त कर देता है।

कहानी एक रेखीय कालक्रम से नहीं चलती बल्कि काल की दृष्टि से आगे की घटनाएँ कभी पहले तो पहले की घटनाएँ कभी बाद में कही गयी हैं। कहानीकार ने अनेक स्थानों पर बारम्बार कथा को रोक कर कोष्ठक के भीतर अपने समय पर टिप्पणियाँ की हैं ये सभी टिप्पणियाँ मूलकथा को आलोकित करती

हैं और मूलकथा इनमें प्रतिबिंबित होकर एकबृहत्तर रूपक—कथा (एलगरी) में बदल जाती है। इस प्रकार यह टिप्पणियाँ कथा के अर्थ को विस्तारित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं और कथा का अनिवार्य अंश बन जाती हैं। कोष्ठक की बातें महज सूचना भर नहीं हैं वरन कहानी के अर्थ को विस्तारित भी करती हैं। उदाहरण के लिए जब लेनिननगर की ओर डगमगाते हुए कदम से गधकोला का सूर्यकांत उस सूर्यकांत को ढूँढ़ते हुए बढ़ता है जो उसकी पहचान चुराकर उसकी जगह नौकरी कर रहा है। तब कथाकार कहानी को रोककर कोष्ठक में एक टिप्पणी करता है। इस टिप्पणी का एक अंश इस प्रकार है “ जब बीसवीं सदी की शुरुआत में उत्पीड़ित और शोषित मनुष्यता के पक्ष में क्रांति करने वाली शक्तियाँ, साझा सरकार बनाने, पेट्रोल की कीमत कम करने और गरीबों पर राज करने का शतरंज खेल रही थी और ऐसा समय, जिसमें इस देश में जो भी ईमानदार था और अपने श्रम और प्रतिभा पर जिंदा था, उसे मारने या कुचलने के लिए इक्कसवीं सदी के उत्तर औद्योगिक लोकतंत्र में एक अभूतपूर्व सर्वदलीय ऐतिहासिक सहमतिथी।”⁶

सूर्यकांत के डगमगाते हुए पैर का लेनिननगर की ओर बढ़ना और उसके बाद यह टिप्पणी अनेक तरह की अर्थ छवियों को उभार देती है। कोष्ठक में कथा के समानांतर चलती टिप्पणियाँ एक तरह से लेखक के द्वारा की गई निरंतर चलने वाली सभ्यता समीक्षा ही है। वित्तीय पूँजी की विश्व व्यवस्था, साम्राज्यवादी अमेरिकी युद्ध और तानाशाही राष्ट्रों, राजनीतिक दलों, धार्मिक समुदायों और व्यक्तियों के जीवन क्रम और मनोविज्ञान तक अंतरव्याप्त इस व्यवस्था की शिनाख्त को लेखक यों परिभाषित करता है . “यह किस्सा उसी समय का है जब संसार की हर देश की हर सरकार की अर्थनीति और राजनीति एक जैसी थी, जब अमीरों और गरीबों के बीच की खाई इतनी गहरी और चौड़ी हो चुकी थी कि उसे कोई भी प्रायोजित विज्ञापन छिपा नहीं जाता था।”⁶ कथा को यह टिप्पणियाँ आदिवासियों के विस्थापन पर्यावरण की विभीषिका, युद्धोन्माद, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार और समकालीन यथार्थ के तमाम अन्य ज्वलंत भयावह रूपों से जोड़ देती है।

पूँजीवादी समाजों में वस्तुओं के उपयोगिता मूल्य लगभग अदृश्य हो जाते हैं, जबकि विनिमय मूल्य ही सजीव बने रहते हैं। इस प्रकार एक नकली सभ्यता जन्म लेती है जो असल की पहचान ओढ़कर उस असलियत को पूरी तरह दबा देती है। भूमंडलीकरण का युग और ‘मोहन दास’ कहानी के संबंधों को लेकर बलिराज पाण्डेय का मंतव्य उल्लेखनीय है “ ‘मोहन दास’ कहानी में वैश्वीकरण के दुष्परिणामों की ओर भी लेखक ने हमारा ध्यान खींचा है। उदारीकरण के दौर में उत्तर आधुनिक समाज के विकृत होते जा रहे चेहरे की स्पष्ट पहचान की है।.... जो सत्ता—संस्कृति के संक्रमण से अपने को बचाये हुए है। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि कबीरपंथी बंसहर पलिहा जाति के मोहन दास को नौकरी तो नहीं मिली, बाँस की टोपरी, सूपा, चटाई बनाने की जो उसकी पुश्तैनी कला थी, जिसके बल पर वह अपना परिवार पालता था, वह भी उससे छीन गयी। गरीबों को नौकरी ही नहीं उनकी परंपरागत कला और संस्कृति से भी बेदखल किया जा रहा है।”⁷ लेखक ने कहानी में कहानी जैसी विधा को एक महाकाव्यात्मक फैलाव और गहराई देने की सफल कोशिश की है। उपन्यासों को आधुनिक समय के महाकाव्य के रूप में अनेक सिद्धांतकारों ने महत्व दिया था किंतु एक लम्बी कहानी के जरिये समकालीन महाकाव्यात्मकता की व्यंजना एक अभूतपूर्व कलात्मक प्रयास है।

‘मोहन दास’ कहानी को लेकर हिंदी फिल्म का भी निर्माण किया गया, जिसमें इस कहानी की अर्थ गांभीर्यता के साथ—साथ लेखकीय उद्देश्य को भी प्रसारित—प्रचारित किया। फिल्म में प्रयुक्त एक काव्य में पूरी तरह से कथा संरचना और फिल्म संरचना के मर्म को व्यंजित करने की सफलतम कोशिश की है।

bb l nkj e t k g l jgk g
gkn l k dh [kcj m l rd ugh igph
t k [k'k g ok ; k rk Mjk gvk g
; k [kn fd l h tie e 'kkfey g

; l , d , l k nkj g ft le

ekjk tk, xk ogh tk cxukg gAAß

कहानी में लेखक ने बहुत सी बातें शब्द संकेतों में व्यंजित की हैं परिणामस्वरूप बाह्य और आत्मिक दोनों तरह के संघर्षों को मूर्त रूप दिया । कहानीकार की कोशिश है कि मनुष्यों के स्तर पर भी इस व्यवस्था की इसी पाखंडीपन को बेनकाब करे । यही बात कहानी को न केवल महाकाव्यात्मकता प्रदान करती है बल्कि कहानी स्वयं एक सुगठित सभ्यता समीक्षा का रूप ले लेती है । बेशक हिंदी साहित्य इस अमूल्य निधि पर गर्व कर सकता है । हाँ एक बात और अगर आपको देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा का इल्म है तो आप 'मोहन दास' कहानी और फिल्म दोनों से मुखातिब होने में कोई कोताही न बरतें ।

l UnHk %

1. उदय प्रकाश, मोहन दास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं.12
2. वही, पृ.सं. 8
3. वही, पृ.सं.79
4. वही, पृ.सं.78
5. वही, पृ.सं.43
6. वही, पृ.सं.43
7. बहलराज पाण्डेय, उदय प्रकाश की कहानी 'मोहन दास', प्रगतिशील वसुधा, भोपाल, अक्टू-दिस., पृ.सं.328



dkfynk l dh dfr ;k e l kUn ;ku'khyu

xfjek*

loL ;o fg 'kkL=L ; de.l.kk ok.fi dL ;fprA
;kor i ;ktu ukä rkoÜkrdu xárAA¹

‘प्रयोजनमनुदिदश्य मन्दोऽपि ने प्रवर्तते’ इस न्याय के आलोक में मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति भी प्रयोजन विहीन कार्य के प्रति प्रवृत्त नहीं होता चाहे वह किसी भी प्रकार का कार्य हो, फिर नियतिकृत निर्मित की सार्थकता तो अवश्यभावी है। सम्पूर्ण सृष्टि में जो कुछ दृश्य या अदृश्य है, वह किसी न किसी रूप में उपादेय हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक सृजन स्वयं में सार्थकता सिद्ध है, किन्तु सब कुछ हृदय तंत्रियों को झंकृत करने में समर्थ हो यह आवश्यक नहीं अर्थात् हर वस्तु सुन्दर तो वह है जो हृदयावर्जक हो जिससे मन हटा हो जाये। वसन्त ऋतु में लतिकाओं एवं वृक्षों का पुष्पित-पल्लवित होना, उषामाल में पर्वतखण्डों के पीछे से निकलता अरुणाभ दिनकर को देखकर कुमुदिनी का विहंसनाद पवित्रकुल का कलरव, निर्झर-झर्झर कलकल बहती नदी, अतुलनीय अनिन्द्य सौन्दर्य तथा रसमयी धारा का प्रवाह करने वाले काव्य क्या ये हमारे हृदय का हरण नहीं करते।

वास्तव में सौन्दर्य को वास्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ दोनों मानना ही उचित व संगत होगा। वास्तुनिष्ठता सर्वजन सुलभ और आत्मनिष्ठता मनोवैशिष्ट्य सापेक्ष उपादान है। पहले में नमनाकर्षण तथा दूसरे में अंतर्मन का आकर्षण प्रधान होता है।

आकर्षण ही वस्तुतः सौन्दर्य का प्राणतत्व है। अभिप्रायः यह है कि प्रमाता की मनःस्थिति व मन संघटन ही प्रमेय में सौन्दर्य की सृष्टि करता है। अर्थात् सौन्दर्य के वस्तु मनोलन में विषयगत-विषयिगत दो स्वरूप स्पष्ट होते हैं। मनः संलग्नता की पृष्टि नैषधीयचरित महाकाव्य में महाकवि श्रीहर्ष ने की है।

;Fkk ;uLrrn"r ijeje.h.kkej.khA
dekjk.keUr% dj.k gj.k uo d#rAA²

भारतीय विद्वत्परम्परा यह मान रही है कि रस रूप एवं आनन्दरूप ब्रह्म की ज्योति ही विश्व में दृष्टिगोचर होने वाली निखिल सौन्दर्य का मूल उद्गम है।

भारतीय सौन्दर्य दर्शन में मनुष्य तथा प्रकृति एक ही सान्दर्य तत्व का अनुभव करते हुए रसलीन होते हैं और इसी कारण दोनों की सीमाएँ प्रायः एक दूसरे से मिल जाया करती है। हमारे गीर्वाण-भारती के कवि इसी मौलिक अवस्था से अनुप्राणित होकर सौन्दर्य को चाहे वास्तुनिष्ठ, चाहे आत्मनिष्ठ कुछ भी बताया हो इसकी काव्य साधना के इस लोकोत्तर सृष्टि व्यापी तथा अविभाज्य स्वरूप की धुरी पर ही घूमती रहती है।

यदि हम सौन्दर्य दर्शन पर चर्चा कर रहे हैं वो स्वाभाविक है कि इसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पर भी विचार करें। ‘सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्’ सुन्दर पद से भाव में ताद्वित्य के योग से सौन्दर्य पद निष्पन्न होता है। जिसका निहितार्थ है सुन्दर वस्तुओं में रहने वाला धर्म विशेष।

कुछ अन्य कल्पार्यें भी प्राप्त होती हैं- जैसे ‘सु’ उपसर्ग पूर्वक ‘उन्दि क्लेदने’ धातु से स्वार्थ में ‘र’ प्रत्यय होकर सुन्दर पद निष्पन्न हुआ।

‘सुतरामुन्दित क्लेदयति सतां मनांसि अर्थात् वह तत्त्व जो इन्द्रियों का विषय होते ही द्रष्टा के मन को द्रवित कर देता है। कहीं-कहीं ‘सुन्द’ राति हस्य भावः व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। यहाँ पर कुद सुन्द का अर्थ ‘कर्तनी कैची’ है।

सौन्दर्य पद के निहितार्थ प्रकाशन पश्चात् सौन्दर्य पद के पर्याय का विवेचना करना अपेक्षित है। अतः सौन्दर्य के कुछ ऐसे पर्याय हैं जो संस्कृत साहित्य में प्रतिपग परिलक्षित होते हैं। जैसे—

1- je.kh; rk ॥ रमुक्रीडायां धातु से अनियर प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न रमणीयता सौन्दर्य का वह पद है। जो क्रीड़ा में निमग्न बालक के समान मन को रमा देने वाले अर्थ का द्योतक है।

श्री माघ की यह पंक्ति है—

{k.k&{k.k; oUu; iifr; no: i: je.kh; rk; kA³

2- 'kfprk ॥ इशुचिर दूतिभावे धातु से कृदन्त इन प्रत्यय होकर शुचि पद निष्पन्न होता है पूर्ति अर्थात् पवित्रता का भाव जिसमें हो वही शुचिता है।

3- yko.; ॥ लवण शब्द में तद्वित्प्रत्यय के योग से लावण्य पद सिद्ध होता है। साथ ही ‘लुनाति इति लवणम्’ इस व्युत्पत्ति से—लू ‘छेदने’ धातु से कर्ता अर्थ में ल्युट प्रत्यय के योग से लवण बनाता है। आचार्य गुप्त ने ध्वन्यालोक के लोचन में लावण्य पद की व्याख्या करते हुए लिखा है

yko.; fg ukeko; o l Lfkkufer; X; eo; o0; kfrfj ä/kekUr jeoA
upo; okukeo funk"krk ok- Hk"K.k; kXh ok yko.; eAA⁴

इस प्रकार सौन्दर्य का पर्याय सौभाग्य तथा माधुर्यादि को भी विद्वज्जन स्वीकार करते हैं।

गौरव भयात् सौन्दर्य में घटक तत्त्वों यथा (वय रूप वचन एवं हाव) को व्याख्यायित करना सम्भव नहीं है। अतः विषयानुकूल कालिदास ने प्रकृति की रमणीयताओं का जितना सरस एवं ललित वर्णन किया है। अतः विषयानुकूल कालिदास के साहित्य में सौन्दर्य की चर्चा करते हैं।

कविता कामिनी के कथनीयकान्त कवि कालिदास ने प्रकृति की रमणीयताओं का जितना सरस एवं ललित वर्णन किया है। कहीं उससे भी बढ़कर हृदयावर्जक चित्रण मानव सौन्दर्य किया है। नारी पुरुष की कल्पना करते समय कवि ने सौन्दर्य समुच्चय का बार-बार कथन किया है। संसार में सौन्दर्य पृथक-पृथक पदार्थों में बिखरा है और इनमें से एक भी पदार्थ अपनी सुन्दरता से हमें आकर्षित व आवर्जित कर सकता है।

कालिदास की सर्वाधिक श्रेष्ठ प्रकृति है। पार्वती एवं शकुन्तला के रूप सौन्दर्य का वर्णन क्रमशः निम्न श्लोकों के माध्यम से कवि ने किया है—

l okiek nI0; ePp; u; Fkk i:n'k fofufo'kriuA
l k fufe:rk fo'o l'tk i:; RukndLFk l kUn; i fnn{k; oAA⁵

मानो ऐसे प्रतीत होता है कि जगत् पिता संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य एक ही स्थान पर देखना चाहते हों। उपमा योग्य समस्त वस्तुओं को एकत्र कर, तद्वत् समझाकर पार्वती का निर्माण ब्रह्मा ने किया है।

fpUk fuo'; ifjdfYir l Roo; kx]
#ikPp; u eu l k fof/kuk d'rk uA
L=hjRu l f"Vijk] ifrHkkr l k e]
/kkrfoHkRo eufpUR; oi'p rL; kA⁶

इस श्लोक में शकुन्तला के शरीर और विधाता के रचना कौशल को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जगत् का सम्पूर्ण सौन्दर्य संकलित कर तथा उसे चित्त में स्थापित कर शकुन्तला की सृष्टि पूर्ण मनोयोग से की है यहाँ यह भी उल्लेख है कि ब्रह्म ने सौन्दर्य राशि को एकत्रित कर केवल मन द्वारा शकुन्तला की सृष्टि की है, हाथ इत्यादि अवयव का उपयोग नहीं किया है। महाकवि बाणभट्ट ने कालिदास की अतिशय कल्पना की प्रशंसा करते हुए कहा है कि हाथों से छू जाने पर सौन्दर्य की अकिलष्टता अर्थात् सहजता नष्ट हो जाती है—

^eU;| p ekrix tkfrLi 'kink'kHk; knLi 'kri;| eu lokRikfnrku vU; Fkk dFkfe; efDy"Vrk
yko.; L; u fg djryLlk'k Dyf'krkukeo; okukehn'kh dkfur%A⁷

साहित्यदर्पणकार ने भी लावण्य की व्याख्या इस प्रकार से की है—

l okoLFkkfo'k"kk ek/k;| jke.kh; rkA⁸

कालिदास स्त्री सौन्दर्य का आलौकिक चित्रण करते हुए कहते हैं कि उर्वशी के सौन्दर्य की सृष्टि के लिए कान्त्युत्पादक चन्द्रमा, शृंगार रूप के देवता अनंग अथवा पुष्पाकर वसंत ही सक्षम है।

vL;k| l xfo|k iitkifrjHkPpUnk u dkfur inA

Jixkjidj l Lo;| u enuk ek l k u i"ikdj%AA⁹

रूप वही है जो सहजभाव में अतिशय कान्ति प्रयच्छित करता हो कवि कालिदास तो निरालाकृत सौन्दर्य के उपासक हैं तभी तो उन्होंने लिखा है—

l jfl t eufo) | 'koyukfi jE;e]

efyuefi fgek'kky{ey{eh rukfra

b;ef/kd eukKk oYdyukfi rUohA

fdfeo fg e/kjk.kke.Mu ukdfrukeAA¹⁰

त्रिलोकसौन्दर्य का आधार पार्वती में करते हुए कवि ने सहजतया उनसे कुछ प्रश्न किया है—

diy i:lfr iFkeL; o| l kfl=ykd l kUn; k fhkokfnr oi%A

veX;e'o;| l [ke uo o;| ri Qy L;kRder i j onAA¹¹

महाकवि ने मेघदूत के उत्तर मेघ में याक्षिणी को अलका की युवतियों में विधाता की प्रथम दृष्टि के रूप में वर्णित किया है एवं अतिशय सौन्दर्य की व्याख्यायित करते हुए वाल्मीकि को सीता से भी अधिक चित्ताकर्षक बना दिया है—

rUoh';kek f'k[kfjn'kuk iDofcEck/kjk'Bh

e/;| ' ;kek pfd r gfj .kh i:k.kk fuEu ukfHk%A

Jk.khHkjkny l xeuk LrkduHkLrukH;ke

;k r=l ;k/ko fr fo"kk;| l f"Vjk | o/kkr%AA¹²

अर्थात् (हे मेघ) अलकापुरी की स्त्रियों में विधाता की पहली रचना मेरी प्रिया (याक्षिणी) छरहरी देह, नवयौवना, कलि जैसी दन्त पंक्ति, गहरी नाथी गुरु नितम्ब भारत से मन्दगति, पुष्ट एवं उन्नत उपरोपभार से झुकी हुई क बदन वाली थी।

सौन्दर्य चित्रण का वर्णन इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। महाकवि कालिदास कहते हैं कि पूर्व जन्म के मित्र व शत्रुभाव संस्कार के रूप में व्यक्ति के अचेतन में स्थिर होता है और व्यक्ति इस जन्म जब किसी रमणीय दृश्य को देखता है अथवा मधुर शब्द सुनता है तो सहसा उत्कण्ठित हो जाता है भले ही वह स्वजनों अथवा सुखोत्पादक वस्तुओं से घिरा हुआ क्यों न हो, वह स्थिति उससे जनमर्जित संस्कारों को उसके मानस-पटल पर उन्मिलित कर देती है और व्यक्ति की भाँति श्रमण करने लगता है—

यथा—

jE;kf.k oh{; e/kjk'p fu'kE; 'kCnku

i;| R l dh Hko fr; R l f[krk.fi tUr%A

rPpir l k Lejfr uueck/kioe

Hkko k fLFkj k f. k tuukUrj l kân k fuAA¹³

स्त्री सौन्दर्य का वर्णन ऋतुसंहार में भी प्रतिपग परिलक्षित होता है—

^i hukUurLruHkjk urxk=kLV;| dofUr di'kjpu k eijkLr#,<;%A**¹⁴

कवि कालिदास का दूसरा पक्ष वह है जिससे उन्होंने सौन्दर्य पर बलाघात भी किया है। उनका कहना है कि वही सौन्दर्य है जिसमें प्रिय को लुभाने अथवा रिझाने की क्षमता हो, ऐसे सौन्दर्य का क्या जिससे देखकर रिझाने वाला ही न हो।

fufun : i:ân;u iko'rhA

fi;'"k lkhkx;Qykfgpk: rkAA¹⁵

महाकवि कालिदास के साहित्य के यथाशाक्य अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने मानवीय सौन्दर्य एवं प्रकृति सौन्दर्य दोनों को ही माना है, यदि कविश्रेष्ठ कहीं पर है। मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड प्रकृति को मानते हैं तो कहीं पर मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति से बढ़कर बतलाते हैं।

संक्षेपतः महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में जिस प्रकार सौन्दर्य दर्शन को व्याख्यायित किया है चाहे वह मानव सौन्दर्य हो या प्रकृति सौन्दर्य दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं।

अतः कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कनिष्ठकाधिष्ठित महाकवि कालिदास की सौन्दर्य दर्शनपरक दृष्टि तत्कालीन समाज में जो जीवंत थी ही समसामयिक समाज एवं भविष्य के समाज में भी उनके सौन्दर्य दर्शन की जीवन्तता अक्षुण्ण रहेगी।

l UnHk %

1. श्वलोक वार्तिक, 07
2. नैषधीयचरित महाकाव्य, 22/252
3. शिशुपालवध, श्रीमाघकवि
4. ध्वन्यालोक लोचन, 1/4
5. कुमारसम्भव, 1/49
6. अभिज्ञानशाकुन्तल, 2/6
7. कादम्बरी बाणभट्ट
8. साहित्यदर्पण, 3/67
9. विक्रमोर्वशीयम्, 1/10
10. अभिज्ञानशाकुन्तल, 1/19
11. कुमारसम्भव, 5-49
12. उत्तरमेघ, श्लोक सं० 22
13. अभिज्ञानशाकुन्तल, 75/2
14. ऋतुसंहार, 4/16
15. कुमारसम्भव, 5/1



हकीर; लीनर एकी दी फोहकु #i

ihfr feJk*

हकीर भारतीय संस्कृति में नारी को एक विशिष्ट गौरवपूर्ण पद प्राप्त है।

;= uk;Lr iIT;Ur jeUr r= norK;A ; rirkLr u iIT;Ur lokLr=kQyK fØ;KAA

अर्थात् जिस कुल में स्त्रियों का समादर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं और जहाँ ऐसा नहीं है, उस परिवार में समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं। हमारी संस्कृति इस भावना से परिपूर्ण है। नारी समाज में माता, पत्नी और कन्या रूप में दृढ़तापूर्वक अपने धर्म का पालन करती है और आर्द्र एवं परमार्थ का सम्पादन करती है। देश की उन्नति एवं सर्वत्र सुख शान्ति के विस्तार हेतु नारी के अधिकारों की सुरक्षा अति आवश्यक है। वर्तमान में नारी अपने गरिमामयी पद को खो चुकी है तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण नारी जीवन अनेक अत्याचारों का सामना कर रही है। नारी सर्वशक्ति सम्पन्न है, विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति का प्रतीक है। भारत में उन्नतिशील संतति के सृजन हेतु नारी समाज के प्रति व्यावहारिक सद्भावना की अतीव आवश्यकता है। समाज में नारी-मर्यादा सदैव सर्वत्र सुरक्षित रखने का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। धर्म शास्त्रों का स्पष्ट आदेश है—

firk j{kfr dkekj; Hkrk j{kfr ;kouA j{kfr LFkfoj; i=k u L=h Lokr=; egfrAA

अर्थात् नारी की बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करते हैं।

उत्साह, प्रेम, करुणा, कीर्तिकलितकमनीयता और धौरेयसाहस सम्पन्न सहिष्णुता रूप पंचतत्वात्मक मूर्ति का महनीय अभिधान है नारी। 'नारी' शब्द भ्वादिगणीय 'नी-नये' तथा क्रयादिगणीय 'नृ-नये धातु' से अङ्ग और डीष् (ई) करने पर बनता है। नरस्य स्त्री नारी (सिद्धान्त कौमुदी, तत्त्वबोधिनी पृ० 129) अर्थात् जो नर की स्त्री है वह नारी है। नरस्य शक्तिभूता, आश्रयभूता प्रसवभूमि की, अर्थात् जो नर की शक्ति है, आश्रयभूत है अथवा प्रसवभूमि है इसलिये वह नारी है। नृ-नये धातु से निष्पन्न 'नारी' नृ नरति नृणाति नयतीति सन्मार्गे सदध्वनि वा प्रेरयतीति नारी अर्थात् जो पुरुष को, संसार को सन्मार्ग पर ले जाती है वह नारी है। अर्थात् जो पुरुष की शक्ति, दीप्ति और आधारभूता है, वह नारी है। वह स्वयं सत्पथगामिनी होकर पति सहित पूरे परिवार को सन्मार्ग पर ले जाने वाली है। यही नारी शिव की सर्वव्यापिनी शक्ति है तो कृष्ण की आराधना स्वरूपा राधा है, राम के पुरुषोत्तमत्व को सिद्ध करने वाली बन्धन विनाशिका सीता है। नारी माधुर्य की मंगलमयी मूर्ति है तो शैत्य-पावनत्व के साथ सौष्ठव की सार्थक त्रिवेणी धारा भी है। वह रूप का सरोवर तो कमनीयता की रवनि के साथ धैर्य का अपराभिधान है। भारत में नारी-जीवन के आदर्श का आरम्भ और अन्त मातृत्व में होता है। प्रत्येक नारी के मन में स्त्री शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो जाता है और भारत में ईश्वर को माँ कहा जाता है। राम ने उसकी महनीयता का उद्घाटन किया है — vfi Lo.ke;h y.dk u e: y{e.k jkprA tuuh tUeHkfe'p Loxknfi xjh; IhAA

(वाल्मीकिरामायण)

पुत्र कुपुत्र हो सकता है, लेकिन माता कुमाता नहीं हो सकती है आचार्य शंकर का उद्घोष है — ^dii=k tk;ir Dofpnfi dekrk u Hkofr*A भारत में माँ का स्थान सर्व श्रेष्ठ है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने भाषण में विश्व को भारत में नारी के माता रूप से ही अवगत कराया था। उन्होंने ने पश्चिम से तुलना करते हुए कहा की पश्चिम में स्त्री पत्नी है। वहाँ पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रित है किन्तु भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केन्द्रीभूत मानते हैं। पाश्चात्य देशों

*शोध छात्रा, शिक्षा संकाय, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, ७०६०

में गृह की स्वामिनी और शासिका माता है। पाश्चात्य गृह में यदि माता हो भी, तो उसे पत्नी के आधीन रहना पड़ता है, क्योंकि घर पत्नी का है हमारे घरों में माता सदैव रहती है और पत्नी अनिवार्यतः उसके अधीन होती है। भारतवर्ष में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थशून्यता, कष्ट सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है।

भारतीय धर्म और संस्कृति में नारी के पत्नी रूप की महनीयता, उसकी उदारता समर्पण वैभव सर्वस्वीकृत है। जो यज्ञ में, धर्म में, सुख-दुःख में शोक-रोग में पति का आधार होती है वह पत्नी है। वह पति का द्वितीया रूप किंवा द्वितीया हृदय अथवा जीवन होती है। यक्ष कहता है —

Rkk tkuh"kkk ifjferdFkk thfor e f}rh; njh Hkr ef; lgpj: pØokdh feodke
xk<kRd.Bk x#"k fno l' o" k xjNR l okyk tkrk eU; f'kf'kj effkrk ifnUuh
okMU; #ikeA %e/knr%

वह घर की लक्ष्मी, आँखों की अमृतवर्ती शलाका है। जीवन का श्वास है, वृद्धावस्था का विश्राम स्थल है। भारतीय दाम्पत्य अनिवर्चनीय आनन्द का केन्द्र है। भारतीय नारी पत्नी की भूमिका में जाकर सर्जन करती है, परिवार, समाज, राष्ट्र में सहअस्तित्व का उद्घोष करती है। वह संसार को, सुख को, समृद्धि को, संतान को परिवार को धारण करती है, इसलिए पुरन्धी कही जाती है। शोभन चरित्रवाली होने के कारण सुचरित्रा, ऐश्वर्य-विभूति की विद्यमानता के कारण सती, परलोक अथवा परकार्यसाधक होने से साध्वी तथा पतिमयजीविता होती है इसलिए उसे पतिव्रता कहते हैं। नारी का यह महनीय रूप सभी देशकाल, अवस्थाओं में पूज्य है, रहेगा— ऐसा सात्विक विश्वास है।

इसके बाद हम नारी के कन्यारूप को जानेंगे। महनीयता, विभूतिमयता, अपापता, निसर्गरमणीयता, सहजजीवन, मुग्धता, आह्लादकता कौमार्यशक्ति आदि की चित्रात्मक किंवा बिम्बात्मक प्रस्तुति कन्या शब्द के उच्चारण मात्र से ही होने लगती है। यह शब्द भारतीय समाज में अपनी गुण गरिमा के कारण उन्नत स्थान पर पूज्यस्थान पर प्रतिविम्बित किंवा अभ्यर्थित है। कन्या और कुमारी को अमरकोश में पर्याय शब्द के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात् कुमारी को कन्या कहते हैं। कुं पापं अविद्या च मारयति इति अर्थात् जो पाप का विनाश करती है, अविद्या का विध्वंस करती है वह कुमारी है। भारतीय संस्कृति में कुमारी या कन्यापूजन का विधान आज कलिकाल में भी सर्वथा अक्षुण्ण है। एक वर्षीय कन्या को सन् या, द्विवर्षीय सरस्वति, त्रिवर्षीया त्रिधामूर्ति, चतुर्वर्षीया कालिका, पंचवर्षीया सुभगा, षड्वर्षीया उमा, सप्तवर्षीया मालिनी, अष्टवर्षीया कुंजिका, नव वर्षीया कालसंकर्षा, दशवर्षीया अपराजिता, एकादश वर्षीया रुद्राणी, द्वादशवर्षीया भैरवी, त्रयोदशवर्षीया महालक्ष्मी, चतुर्दशवर्षीया पीठनायिका, पंचदशवर्षीया क्षेत्रज्ञा तथा षोडशवर्षीया कुमारी अन्नदा कही जाती है। इस प्रकार कुमारी एवं कन्या शब्द नारी की उदात्तता को रेखांकित करते हैं। आज के परिपेक्ष में भारतीय घरों में कन्या एक समस्या है। आश्चर्य की बात तो यह है कि संस्कृत में कन्या को दुहिता कहते हैं। इस शब्द की मूल उत्पत्ति इस प्रकार है कि प्राचीन काल में कन्याएँ ही गाय दुहा करती थीं। इसलिए 'दुह' क्रिया से दुहिता संज्ञा बन गयी। अतएव दूध दुहनेवाली को दुहिता कहते हैं। इसके पश्चात् दुहिता का नवीन अर्थ लगाया जो घर का सारा दूध दुह ले जाती है, उसे दुहिता कहते हैं। यही दुहिता का दूसरा अर्थ है।

एक विशेष सभा में स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व की स्त्रियों के वर्तमान और भविष्य पर विचार किया। उन्होंने कहा कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है, वहाँ की महिलाओं के साथ होने वाला व्यवहार 'प्राचीन यूनान में पुरुष और स्त्री की स्थिति में कोई भी अन्तर नहीं था, समानता का विचार प्रचलित था। कोई हिन्दू बिना विवाह किये पुरोहित नहीं हो सकता था। आशय यह है कि अविवाहित, एकाकी मनुष्य केवल आधा और अपूर्ण होता है। आदर्श स्त्रीत्व का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। "सतीत्व आधुनिक हिन्दू नारी के जीवन की केन्द्रीय भावना है। पत्नी एक वृत्त का केन्द्र है जिसका स्थायित्व उसके सतीत्व पर निर्भर है। इसी आदर्श की अति के कारण हिन्दू विधवाएँ जलायी गयीं। हिन्दू स्त्रियाँ बहुत ही आध्यात्मिक और धार्मिक होती हैं। कदाचित् संसार की सभी महिलाओं से अधिक। यदि हम इनकी सुन्दर विशिष्टताओं की रक्षा कर सकें और साथ ही उनका बौद्धिक विकास भी कर सकें तो भविष्य की भारतीय नारी संसार की आदर्श नारी होगी"। (विवेकानन्द)

भारतीय संस्कृति में तो नारी को उच्च स्थान प्राप्त है परन्तु क्या आज के समाज में भी उसे वही श्रेष्ठ पद मिल रहा है। कदाचित नहीं हम लोगो ने यह मान लिया है कि पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है। परन्तु यह सच नहीं हो सकता। जिस देश की स्त्री अपने को नीचा मान ले उस देश में पुरुष ऊँचा कभी नहीं हो सकता क्योंकि सब पुरुषो को स्त्री से ही जन्म लेना पड़ता है। जब माँ दीन हीन हो तो बेटा गौरवशाली नहीं हो सकता। स्त्रियाँ पुरुषों से भिन्न जरूर हैं पर कम जरा भी नहीं। पुरुष के मुकाबले स्त्रियों की क्षमतायें विशेष हैं। महिलाओं में बीमारियों से लड़ने की क्षमता अधिक होती है। यदि एक ही बीमारी स्त्री और पुरुष दोनों को लग जाय तो पुरुष जल्दी टूट जाता है, स्त्री देर से टूटती है। महिलायें पुरुषों से कम बीमार पड़ती हैं और उनकी औसत उम्र पुरुषों से ज्यादा होती है। सारे विश्व की यही तस्वीर है। स्त्री को रोग से जूझने की क्षमता प्रकृति ने अधिक दी है। यदि यह जिम्मेदारी पुरुषों को निभानी पड़े तो वह साफ-साफ मुकर जायेंगे।

भारत में 30-50 लाख कन्याओं की हत्या की जाती है। एक खबर के अनुसार मुम्बई के एक केन्द्र पर एक वर्ष में 20,000 गर्भपात कराये गये। इसमें 70,909 कन्या भ्रूण ही थे। ऐसा भी इस देश में होता है कि हर साल जन्म लेते ही 10,000 कन्याओं को मार दिया जाता है। इस दशक में दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, बंगलोर और हैदराबाद में बाल वेश्याओं की संख्या 7 लाख के ऊपर पहुँच गयी है। ये सब बच्चियाँ गाँवों से उठा कर कोठों पर लायी गयी। कौन बचा सकता है इस परतन्त्रता की पीड़ा से। वैदिक सूत्र कहते हैं – हेयं दुखम् अनागतम् यही रास्ता है। यह सिर्फ आप कर सकते हैं। माँ को माँ के पद से मत गिरने दो। गर्भपात से माँ गिर जाती है। पूर्ण पुरुष वही है जो माँ को, बेटा को, पत्नी को सम्मान दे। लड़की कितना त्याग करती है। बिचारी पति और उसके परिवार को बिना पूर्णतया जाने, पिता का घर छोड़कर गाय की तरह बँध कर ससुराल चली जाती है जहाँ उसके सपने अक्सर बिखर जाते हैं। पति अपनी माँ और पत्नी दोनों को जननी का दर्जा दे और दोनों के अधिकारों की सुरक्षा करें तभी इसका समाधान सम्भव है। स्त्री कोमल होती है परन्तु शक्ति है। महिलाओं के द्वारा ही बदलाव लाया जा सकता है भारत में पत्नी को धर्मपत्नी कहा जाता है। हमारी संस्कृति के नीव में धर्म ही है। पति और पत्नी एक दूसरे को पतन से बचाते हैं। यहाँ पर तलाक की प्रथा नहीं थी। पर अब बहुत होने लगी है। हमारे यहाँ पूर्ण समर्पण की प्रथा है। स्वप्न में दिये हुये वचन भी निभाये जाते हैं।

वंश परम्परा को चलाने के लिए हम पुत्र की कामना करते हैं। पर इतिहास पर गौर करें। धृतराष्ट्र के सौपुत्र थे पर न तो उसे सम्मान मिला और न वंश चला। चलिये राजा जनक पर गौर करें। उनकी एक पुत्री सीता ने जनक को जितना सम्मान दिलवाया उतना किसी के किसी पुत्र ने नहीं दिलवाया और आगे देखिये महावीर को पुत्र नहीं था। परन्तु उनका वंश ऐसे चला जैसे किसी के पुत्र ने नहीं चलाया। पुत्री अपने जीने और विवाह की व्यवस्था कर के जन्म लेती है। उसे कुचलो मत। लड़की तो हर घर में होनी चाहिए। लड़की ससुराल जाते समय अपने मायके वालो की खुशी, खुशहाली के लिए दुआए माँगती जाती है। महिलाओं को अपनी शक्ति को पहचानना होगा। तभी यह गीत— “हर बोलो देवी की प्रतिमा बच्चा-बच्चा राम है” चरितार्थ होगा।

UnHk §

1. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-1986, संस्करण अद्वैत आश्रम, पृ० 3060।
2. स्वामी विवेकानन्द, 1986 संस्करण, हिन्दू धर्म क्या है ?, पृ० 111 गीताप्रेस।
3. नारी पर्याय विमर्श, डॉ० हरिशंकर पाण्डेय वैदिक स्वर, अप्रैल 2009, सरयूपारीण ब्राह्मण परिषद्, वाराणसी।
4. नारी तुम केवल श्रद्धा हो, डॉ० शैल दूबे वैदिक स्वर, जनवरी 2006, सरयूपारीण ब्राह्मण परिषद्, वाराणसी।
5. धर्मशास्त्रों में नारी-धर्म-धर्मशास्त्रांक-1132, पृ० 52, गीता प्रेस, गोरखपुर।



L=h dk;kitu d lEe[k ijEijkxr pukfr;k dk rF;kRed fo'y"kk

iitk nc*

Lkkjk'k& आजादी के बाद नारी शिक्षा के प्रसार के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाये गये जिसमें विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के संदर्भ में शिक्षा की समस्या के साथ-साथ उनके कार्यों के संगठनात्मक तथा व्यवस्थात्मक पक्ष का मूल्यांकन किया गया। यद्यपि गुणात्मक पक्ष अभी भी अछूता है क्योंकि स्त्रियों को घर की चहारदिवारी से बाहर निकलने के लिए खास जतन करने पड़ते हैं। अविवाहित महिलाओं को अपने पिता की अनुमति लेना महत्वपूर्ण होता है। यह परम्परागत सोच की ही विडंबना है कि लड़को को सीना पिरोना, खाना बनाना भले ही सिखा दिया जाय पर इन कामों के लिए वे घर नहीं बैठ सकते। इसका फल यह होता है कि बाहर कार्य करने वाली स्त्रियों पर दोहरा दायित्व पड़ता है जिससे उनके स्वास्थ्य के साथ-साथ उनकी मानसिक उर्जा का धीरे-धीरे क्षय होने लगता है। मनोवैज्ञानिक कारणों के अनुसार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में ममता अधिक होती है इसलिए सबको छोड़कर जहाँ कहीं भी जाना इनके लिए सहज नहीं होता। अतएव स्त्रियों की सीमित आर्थिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता उनके कार्यों के सम्मुख जटिल प्रश्न बनकर खड़ा है जिसका समाज व जीवन पर सम्मिलित प्रभाव पड़ रहा है।

Ek[; 'kCn& कार्यों के, परम्परागत सोच।

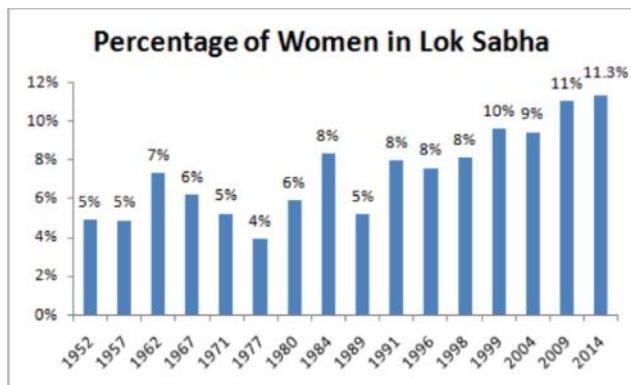
मानवीय समाज को देखा जाय तो यह मनुष्य के जीवन के लिए एक बड़ा रंगमंच है। जबसे मानव आत्मा रूपी शरीर धारण करता है तभी से उसके जीवन में अभिनय का खेल प्रारम्भ हो जाता है। इस खेल में प्रकृति का भी हिस्सा शामिल है। प्रकृति ने स्थान स्थान पर पर्वत, वन, नदी एवं समुद्र आदि को रखकर इस रंगमंच को संवारा है। हम जीतने जीवधारी हैं वो सच पूछे तो एक अभिनेता की तरह है। जिसमें पुरुष इस संसार का नायक है और स्त्री नायिका। जिस प्रकार हर सिक्के का दो पहलू निर्धारित होता है उसी प्रकार संसार रूपी नाटक में नायक और नायिका इसके दो महत्वपूर्ण पहलू हैं। यदि संसार नाटक की नायिका ही न रहे तो यह रंग मंच सूना एवं बेजान रह जायेगा।

वर्तमान समय आर्थिक संकट का युग है जिसमें स्त्री एवं पुरुष दोनों के कार्य करने पर ही इस संकट से उबरा जा सकता है। लेकिन स्त्रियों के कार्यों के मार्ग में अनेकों रुकावटें हैं। इसमें कुछ तो प्राकृतिक हैं जिनमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है जबकि कुछ पारम्परिक वहमों के कारण हैं। इन सबको परे रखते हुए महिलाएं घर की चहारदिवारी से बाहर निकलकर देश के बहुआयामी विकास में अपना अमूल्य योगदान दे रही हैं। वह आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक आदि सभी सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं। सरकार द्वारा विभिन्न सरकारी एवं गैरसरकारी योजनाओं के माध्यम से स्त्रियों को कार्योजित करने के प्रयास किये जा रहे हैं।

भारत की कुल श्रमशील में महिला श्रमिकों की संख्या वह भी रोजगार के स्तर और गुणवत्ता को देखते हुए महिलाएं फिर भी पुरुषों से काफी पीछे हैं। भारत की 2011 की जनगणना के अनुसार महिला श्रमिकों की संख्या 29 प्रतिशत है, अर्थात् महिलाओं की कुल जनसंख्या में से करीब 1 चौथाई महिलाएं श्रमिक हैं।

43वां संवैधानिक संसोधन अधिनियम बनने के पश्चात् लगभग 10 लाख महिलाएं पंचायती संख्याओं के लिए निर्वाचित हुई हैं। इसी प्रकार शहरी निकायों में भी महिलाओं की संख्या एक तिहाई

हुई है। परन्तु इन सभी परिवर्तनों के बाद भी संसद और राज्यों की विधान सभाओं में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण व विधेयक का अनेक प्रयासों के बावजूद पास न हो पाना पुरुष प्रधान राजनैतिक माहौल में राजनीतिक इच्छा के अभाव की ओर संकेत करता है। स्वतंत्रता के बाद लोकसभा में स्त्रियों की प्रतिनिधित्व प्रतिशत इसका उदाहरण है जो नीचे दृष्टव्य है—



केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के महिला एवं बाल विकास विभाग के प्रकाशन 'वूमैन इन इण्डिया ए स्टैटिस्टिकल प्रोफाइल' सन् 1988 में प्रकाशित भारतीय सरकारी सेवाओं में संलग्न पुरुष एवं स्त्रियों के तुलनात्मक विश्लेषण में बताया गया है कि सन् 1987 में किये गये सर्वेक्षणानुसार भारतीय प्रशासनिक सेवा में जहां पुरुषों की संख्या 4209 थी वहीं स्त्रियों की संख्या 339 रही। भारतीय पुलिस सेवा एवं विदेश सेवा में क्रमशः 2418 एवं 480 पुरुषों के सापेक्ष में मात्र 21 व 69 महिलाएं थी। वास्तविक रूप में नर्सिंग एवं स्वास्थ्य सेवाओं को छोड़कर भारतीय सचिवालय, कस्टम, केन्द्रीय अधिकारी एवं कर सेवा, लेखा परीक्षक, डाकतार वन सेवा आदि में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या काफी कम है।¹

यह सच है कि स्वतंत्रता के इन सत्तर वर्षों में महिलाओं की शिक्षा, रोजगार के अवसरों और समानता के अधिकारों में काफी वृद्धि हुई है। किन्तु नैतिकताओं, मान्यताओं, मूल्यों और सामाजिक मानसिकताओं के कारण अनेक विसंगतियों ने नारी जीवन पर दोहरे मानदण्डों एवं दोहरी चुनौतियों को लागू किया है। इन 70 वर्षों में अपने मूल्यों और अन्धविश्वासों में दबी स्त्री कानून और समानता की भावना के दोहरे शिकंजे में फंसी है तथा स्त्री के सामने कई जलते सवाल अभी वैसे के वैसे खड़े हैं। उदाहरण स्वरूप पढ़ी-लिखी नौकरी पेशा होने के बावजूद दहेज रहित विवाह कितना सम्भव हुआ है? अपनी कमाई का अपनी तरह से उपयोग या विवाह उपरान्त माता-पिता, भाई बहनों पर उपयोग कितना संभव है, इन सबसे बड़ा प्रश्न कन्या भ्रुण हत्याओं में बढ़ोत्तरी, बलात्कार का भय, दैनिक शोषण, उसे स्त्री होने के भय से क्या आज भी उबार पाये हैं? आज भी मण्डी में स्त्रियां बिकती हैं, अर्थात् स्त्री आजादी के बाद भी वर्षों में संघर्ष करती हुई चूल्हे-चौके से बरी होकर संसद तक पहुंची तो है, किन्तु उसे आज भी अपने अस्तित्व की तलाश जारी है। संवैधानिक पन्नों में स्त्री को स्वतंत्रता तो मिल गयी है किन्तु सामाजिक उदारता व सहयोग के आधार पर सम्मानजनक स्वतंत्रता मिलना अभी शेष है।²

भारतीय परम्परा के अनुसार समाज में मध्य और उच्च वर्ग की महिलाओं का विशेषकर विवाहित स्त्रियों को घरों से बाहर नौकरी करना सम्मानजनक नहीं समझा जाता था। समाज कामकाजी स्त्रियों को केवल 'बनी-ठनी' स्त्रियों के रूप में ही देखता और समझता था। वह उनकी कार्य दशाओं और कार्य स्थितियों के विषय में नहीं सोचता। घर में ही घर के अन्य सदस्य कामकाजी स्त्री को स्वच्छंद और उन्मुक्त स्त्री के रूप में देखते हैं, जिससे कामकाजी महिलाओं की स्थिति विषम हो जाती है।³ जिसके कारण आज भी भारतीय समाज में पुरुषों की तुलना में महिलाओं की स्थिति काफी दयनीय है। यही रूढ़िवादी सोच हमारी आधी दुनिया को दिन प्रतिदिन अक्षम या अकुशल बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। यह भी एक विडम्बना ही है कि पुरुष लाख कुर्म करे तो भी वह पवित्र माना जाता है और महिला यदि किसी गैर पुरुष को आँख उठाकर देख भी लेती है तो शक की सुई उधर ही घुम जाती है। यही असमानता

की पहली कड़ी है जहाँ नारी अपने को कुंठित और मजबूर महसूस करने लगती है। यही कारण है धीरे-धीरे उसका स्वयं का आत्मबल कम होता जाता है तथा पुरुषों पर निर्भरता को ही वह अपनी नियति मान लेती है और स्वतंत्रतापूर्वक कार्योजन का विचार ही त्याग देती है। पुरुष स्त्री की कमाई पर तो अधिकार मानता है लेकिन उसकी जिम्मेदारी बाँटने, उसका हाथ बटाने में उसका अहम, आड़े आ जाता है। इस प्रकार परम्परागत सोच ही स्त्रियों को अपनी स्वयं की प्रतिभा का पूर्ण उपयोग करने से वंचित करती है।⁴

एक अध्ययन में पाया गया है कि आज भी स्त्रियों की परम्परागत स्थिति ज्यों की त्यों है। वे परम्पराओं से दबायी गई हैं, वे लाभकारी रोजगार के लिए आवश्यक प्रशिक्षणों से भी वंचित हैं। फलस्वरूप उन्हें शोषण का शिकार बनना पड़ता है। ठक्कर अदालत⁵ तथा उनियाल⁶ ने भी अपने अध्ययन में इस बात की पुष्टि की है कि अभी भी स्त्रियों का स्थान पुरुषों की बराबरी का नहीं हो पाया है, भले ही संवैधानिक स्तर पर समानता स्वीकार की जा चुकी है, इसका प्रमुख कारण परम्परागत सोच एवं रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताएं हैं।

हमारा सामाजिक वातावरण अब भी कामकाजी महिलाओं के अनुकूल नहीं हो पाता है, आज स्त्री घर के संकुचित वातावरण से बाहर तो आ गई है, किन्तु रेलों, बसों, दफ्तरों और अपने गांव में ही अपने घर की चौहद्दी में असुरक्षित है, आज पिता, पति और पुत्र की साया भी उसके साथ नहीं है।⁷

आधुनिक काल में भी घर से बाहर से रोजी कमाने का कार्य केवल निम्न वर्गों की स्त्रियां ही करती हैं। मध्यम व उच्च वर्गों में स्त्रियों का नौकरी करना हीन माना जाता था। अभी पचास वर्ष तक इन वर्गों की स्त्रियां विधवा या निराश्रित हो जाने पर ही केवल डाक्टर, नर्स या अध्यापिका ही बनती थी। वह भी बहुत मजबूरी की स्थिति में ही अन्यथा परिवार के अन्य सदस्य पिता, भाई आदि उनका भार उठाते थे और वे भी इसी में गर्व अनुभव करती थी। परम्परागत भारतीय समाज में मध्य और उच्च वर्ग की स्त्रियों को विशेषकर विवाहित स्त्रियों का घर से बाहर निकलकर नौकरी करना सम्मानजनक नहीं समझा जाता था। घोर आर्थिक आवश्यकताओं तथा कठिनाइयों के कारण इन वर्गों की स्त्रियों ने घर से बाहर निकलकर नौकरियाँ करनी शुरू की।⁸

विकासशील देशों में महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले रोजगार के कम अवसर उपलब्ध होते हैं। महिलाओं की रोजगारी में भागीदारी पुरुषों के मुकाबले 50 प्रतिशत है। दक्षिण एशिया में तो यह सिर्फ 39 प्रतिशत है। भारत में स्वतंत्रता के बाद भी स्त्री स्वयं कार्योजन को स्वीकार करने में भ्रमित है। उच्च आर्थिक स्थिति वाली स्त्रियों का मानना है कि आर्थिक मजबूरी में ही कार्योजित करना चाहिए। वे उच्च तकनीकी शिक्षा लेने के बाद भी अपनी शिक्षा का उपयोग नहीं करती हैं क्योंकि उनको पैसे की आवश्यकता नहीं है। मध्यम वर्ग की महिलाओं का कार्योजन के क्षेत्र में आना एक नई घटना है, लेकिन फिर भी वे सहर्ष कार्योजन नहीं करती तथा कार्योजित महिलाओं के बारे में गलत मानसिकता रखती हैं। साथ ही उनका यह भी मानना है कि यदि महिला विधवा, तलाकशुदा या आश्रयहीन हो तभी वे कार्योजन के क्षेत्र में आती हैं।⁹

स्त्रियों की एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि वह परमुखापेक्षी है। जीवन के हर मोड़ पर समझौता उसी को करना पड़ता है। उसका हर कदम पति, परिवार और ससुराल वालों की इच्छा पर निर्भर रहता है। वह चाहकर भी अपनी इच्छा से नहीं जी करती। वह अपने पैरों पर खड़ी होने के लिए कठिन परिश्रम करती है किन्तु उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य सुखी वैवाहिक जीवन के लिए घर संभालना ही बन जाता है। फलतः सुखी वैवाहिक जीवन के लिए कार्योजन को बलि चढ़ा देती है।

निष्कर्ष स्वरूप यह आज भी स्वीकार किया जा सकता है कि हमारे समाज में इतने विकास के बाद नारी ने तो अपने रूप में अनेको परिवर्तन कर लिये हैं, परन्तु पिता और पति की भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं आया है। आज पति यह सोचता है कि नारी घर से बाहर निकलकर उसके आर्थिक स्थिति को सुधारने में पूरी मदद करती रहे, लेकिन वह उसके घरेलू कार्यों में हाथ नहीं बटायेगा, इससे वह अपनी शर्मिन्दगी महसूस करता है और समाज भी इसे साकारात्मक दृष्टिकोण से नहीं देखता। इसलिए नारियां कितनी भी ऊँचे पद पर पहुंच जाए उनको गृहणी की जिम्मेदारी से मुक्ति नहीं मिलती है।¹⁰

वर्तमान स्थिति को स्त्रियों के लिए संक्रमण काल कहा सकता है, जबकि स्त्रियों की परम्परागत भूमिका एक स्पष्ट रूप ग्रहण नहीं कर सकी है। सेन गुप्ता के अनुसार कार्योजित महिलाओं को अपने बच्चों को दूसरे की देख रेख में छोड़ने की समस्या भी कार्योजन के प्रति साकारात्मक रुख को अपनाने में सहायक नहीं हो रही है।

I UnHk %

1. वूमेन इन इण्डिया : “ए स्टैटिस्टिकल प्रोफाइल” 1988, मानव संसाधन विकास मंत्रालय।
2. कुमार विनोद : “महिला साक्षरता का विकास” कुरुक्षेत्र मार्च— 1995, अंक—5, पृ0 25—26.
3. चन्द्र नानक : “कामकाजी स्त्रियों की स्थिति कितनी संतोषजनक” 2 योजना, मार्च 1998 अंक—12 पृ0 14
4. त्रिपाठी, रामसूरत : “भारत में शिक्षा की प्रगति : एक अवलोकन” कुरुक्षेत्र, सितम्बर 1993, अंक—11, पृ0 16
5. ठक्कर, यू : “बूमेन वर्क एण्ड एम्पलाईमेंट” इकोनामी एण्ड पालिटिकल वीकली, टवस 23, नं0 26, 1988 पृ0 1322
6. अदावल सुबोध तथा उनियाल: “भारतीय शिक्षा की समस्याएं तथा प्रवृत्तियां” उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ 1974
7. भाटिया, सुदेश : “महिलाओं की प्रगति : वर्तमान चुनौतियाँ”, योजना मार्च, 1998, अंक—12, पृ0 32
8. व्होरा, आशारानी : भारतीय नारी : दशा दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, 1998, पृ0 28
9. भारद्वाज जाग्रति : “महिला शिक्षा में सामाजिक सांस्कृतिक बाधाएं, नेशनल सेमिनार, प्रब्लम रिलेटेड टू वूमन इम्प्लाइमेंट, 25—26, सितम्बर 2004.
10. व्होरा, आशा रानी : पूर्वोद्धित, पृ0 75.



भारतीय न्याय विद्या अथवा प्रमाण विद्या¹ तीन भागों में विभक्त है— प्राचीन न्यायशास्त्र, मध्यकालीन न्यायशास्त्र तथा आधुनिक न्यायशास्त्र। इनमें से प्राचीन न्याय का आधार महर्षि गौतम प्रणीत “न्यायसूत्र” को नव्य—न्याय का आधार गंगेश उपाध्याय की “तत्त्वचिन्तामणि” को तथा मध्यकालीन न्याय की सम्पूर्ण बागडोर सम्भालने का श्रेय बौद्ध नैयायिक आचार्य दिङ्नाग एवं जैन नैयायिक आचार्य सिद्धसेन को दिया जाता है।² इस लेख में भारतीय प्रमाणविद्या के विकास में आचार्य दिङ्नाग के योगदान की रूपरेखा को प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया गया है।

भारतवर्ष में बौद्ध दर्शन का अस्तित्व भगवान् बुद्ध से लेकर ग्यारहवीं शती के आरम्भ तक रहा जिसे प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक श्चेरबात्स्की (Stcherbatskey) ने तीन समान कालों में विभक्त किया है।³ प्रथम काल 500 ई० पूर्व से प्रथम शती ई०, द्वितीय काल प्रथम शती से 500 ई० तथा तृतीय काल 500 ई० से 11वीं शती का प्रारम्भ अथवा 1000 ई० तक है। श्चेरबात्स्की के विभाजन का आधार सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन एवं उसमें हुए वैचारिक परिवर्तन हैं, किन्तु यहाँ सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का अध्ययन अपेक्षित न होकर मात्र प्रमाण का अध्ययन अपेक्षित है, अतः नवीन विभाजन अभीष्ट है। बौद्ध प्रमाणमीमांसा के प्रधान केन्द्र आचार्य दिङ्नाग हैं, अतः उन्हें दृष्टिगत रखते हुए हम बौद्ध दर्शन में ग्रथित सम्पूर्ण प्रमाणमीमांसा को दो भागों में रख सकते हैं, संक्षेप में—

1. प्राग् दिङ्नाग प्रमाणमीमांसा (5वीं शती के प्रारम्भ तक)

2. दिङ्नाग एवं उनके सम्प्रदायवर्ती प्रमाणमीमांसा (5वीं शती से 11वीं शती तक)

चूँकि दिङ्नाग के पूर्व का अध्ययन क्षेत्र भी विस्तृत है अतः उसे सौविध्य के लिए पुनः दो उपविभागों में बाँट सकते हैं— (1) त्रिपिटककालीन एवं (2) त्रिपिटकोत्तरवर्ती।

त्रिपिटक साहित्य में प्रमाणशास्त्र का निरूपण करने वाला एक भी स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। त्रिपिटकों में कहीं—कहीं तक्की अथवा तक्किक एवं विमंसी शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है,⁴ जो तत्कालीन तार्किक लोगों के परिचायक प्रतीत होते हैं। विद्याभूषण इन्हें सोफिस्ट (वितण्डावादी) मानते हैं।⁵ अभिधम्मपिटक के कथावत्थुप्पकरण (255 ई० पू०) में पटिण्णा (प्रतिज्ञा), उपनय एवं निग्गह (निग्रह) शब्दों का प्रयोग हुआ है,⁶ जो स्पष्टतः न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में मिलते हैं। पालिभाषा में नागसेन रचित मिलिन्दपण्ह नामक ग्रन्थ कुछ अंशों में वाद विद्या के प्रयोगात्मक रूप को प्रस्तुत करता है, क्योंकि इसमें मिलिन्द राजा का नागसेन से वाद—प्रतिवाद होता है।

दलसुख मालवणिया ने धर्मोत्तरप्रदीप की प्रस्तावना में यह प्रतिपादित किया है कि पालित्रिपिटक में ऐसे अनेक सुत्त हैं जिनमें भगवान् बुद्ध ने अपने विरोधियों के मन्तव्यों का विविध युक्तियों से निरास कर अपने मन्तव्य की स्थापना की है। उन्होंने अपनी युक्तियों का आधार व्याप्ति को नहीं, किन्तु दृष्टान्त को बनाया है। दृष्टान्त का तत्कालीन वादप्रक्रिया में विशेष महत्त्व था। जात्युत्तरों में भी साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्तों का प्राचीन काल में प्रयोग होता रहा है।⁷

*असि० प्रोफेसर, दर्शन विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी

त्रिपिटकों के आधार पर वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश (7.2-4) में ज्ञान के दश प्रकार निरूपित किए हैं, यथा— धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, परचित्तज्ञान, संवृतिज्ञान, दुःखज्ञान, समुदयज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान, परचित्तज्ञान, क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान। इन ज्ञानों का प्रमाणमीमांसा के साथ आचार्यों ने कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है, किन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष एवं अनुमान के रूप में दो प्रमाण माने गए हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटकों के रचनाकाल तक वाद विद्या का यत्किञ्चित् प्रयोग अवश्य था, किन्तु प्रमाण का व्यवस्थित या शास्त्रीय स्वरूप उभरा नहीं था।

f=fiVdkÜkjorh iek.kehek | k || त्रिपिटकों के उत्तरवर्ती काल द्वितीय शती ई० से पंचम शती ई० में नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु आदि प्रमुख दार्शनिक हुए, जिन्होंने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर मौलिक चिन्तन किया एवं भारतीय दर्शन को नयी दृष्टि प्रदान की। प्रमाण-चिन्तन के सन्दर्भ में भी इनका अत्यधिक महत्त्व है।

उदाहरण के लिए माध्यमिक सम्प्रदाय के दार्शनिक नागार्जुन (113-213 ई०) तो न्याय-दर्शन में प्रतिपादित प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का विभिन्न तर्कों के द्वारा मूल से उत्पाटन करते हैं। उनका कथन है कि यदि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों के बिना ही हो जाती है तो प्रमाणों को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है तथा यदि प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि होती है तो प्रमाणों की सिद्धि किससे होगी? यदि वह अन्य प्रमाण से सिद्ध है तो अनवस्था दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि फिर उस प्रमाण के लिए अन्य प्रमाण की कल्पना करनी होगी।¹⁰ इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन में प्रमाणशास्त्र की स्थापना नागार्जुन तक नहीं हुई थी। यद्यपि बौद्धों का प्राचीन ग्रन्थ उपायहृदय अवश्य प्राप्त होता है, जिसमें गौतमीय न्याय के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों का ही उल्लेख हुआ है।¹¹ इसी प्रकार उसमें पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट इन तीन अनुमान भेदों का भी उल्लेख है। उपायहृदय में वाक्छल आदि छलों का समावेश हेत्वाभास में किया गया है तथा वहाँ आठ वाद धर्मों का निरूपण है। बौद्ध दर्शन के आचार्य मैत्रेय के सप्तदशाभूमिशास्त्र में भी वाद विद्या का निरूपण हुआ है एवं उन्होंने आठ प्रमाणों का उल्लेख किया है।¹² असङ्ग के योगाचारभूमिशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम-इन तीन प्रमाणों का कथन प्राप्त है।¹³ योगाचारभूमिशास्त्र एवं प्रकरणार्यवाचाशास्त्र में वाद-वादाधिकार, वादाधिष्ठान, वादालंकार, वादनिग्रह, वादनिस्सरण आदि का निरूपण प्राप्त होता है। वाद विद्या से सम्बन्धित रचनाओं में वसुबन्धु विरचित वाद-विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसमें तत्कालीन वाद विद्या का व्यवस्थित निरूपण उपलब्ध है। वसुबन्धु की ही एक अन्य रचना तर्कशास्त्र मानी गई है, जिसमें बौद्ध सम्मत त्रैरूप्य हेतु का सर्वप्राचीन उल्लेख है।¹⁴ गौतम प्रणीत न्यासूत्र में जिन 22 निग्रहस्थानों का वर्णन है, उन्हीं का निरूपण तर्कशास्त्र में भी प्राप्त होता है।

vkpk; | fnñukx dh iek.kfo | k vkj mudk ; kxnku || उपर्युक्त पृष्ठभूमि में बौद्ध प्रमाणशास्त्र के व्यवस्थापन का श्रेय दिङ्गनाग को जाता है। उन्हें बौद्ध न्याय का पिता कहा गया है। तिब्बतियों ने उनको जम्बूद्वीप का अलंकार कहा है।¹⁵ सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि विद्वानों ने दिङ्गनाग को न केवल बौद्ध न्याय का पिता कहा है, अपितु उन्हें मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्र का जन्मदाता माना है।¹⁶ काञ्ची में पैदा हुए दिङ्गनाग के समय के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ रहीं। आचार्य राहुल सांकृत्यायन¹⁷ ने उन्हें 425 ई० तथा फ्राउवालनर ने (दृष्टव्य-Landmarks) उन्हें 480 से 540 ई०, के मध्य सिद्ध किया है। मसाकी हितौड़ी कुछ संशोधन के साथ उनका काल 470 से 530 ई० सिद्ध करते हैं।¹⁸ ई० फ्राउवालनर द्वारा निर्धारित समय अधिक प्रचलन में रहा है, किन्तु जैन दार्शनिक मल्लवादी जिन्होंने अपनी कृति द्वादशारनयचक्र में दिङ्गनाग मन्तव्यों को शब्दशः उद्धृत किया है, कि प्रशस्ति उन्हें इससे भी पूर्व ले जाती है। क्योंकि प्रशस्ति मल्लवादी को विक्रम सं. 414 (357 ई०) में निर्धारित करती है।¹⁹

दिङ्गनाग के पूर्व अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन द्वारा भाष्य रच दिया गया था, किन्तु भाष्य का प्रतिद्वन्द्वी न्याय का कोई ग्रन्थ नहीं था। दिङ्गनाग ने उसे नई दिशा दी तथा बौद्ध विज्ञानवादी दृष्टि के साथ सौत्रान्तिक दृष्टि का भी समावेश करते हुए न्याय की नवीन प्रतिष्ठापना की। यदि दिङ्गनाग अपनी न्यायविषयक रचना न करते तो न्यायशास्त्र का जो विशाल साहित्य रचा गया है संभवतः वह न

रचा जाता। दिङ्गनाग ने न्यायशास्त्र के फैलाव में चिनगारी का काम किया। दिङ्गनाग की न्यायविषयक अवधारणाओं, चिन्ताओं एवं प्रस्थापनाओं को प्रत्युत्तरित करने के लिए न्यायदर्शन में उद्द्योतकर, मीमांसादर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर गुरु, जैन दर्शन में मल्लवादी जैसे विशिष्ट आचार्यों ने विस्तृत, गहन एवं युक्तिपूर्ण रचनाओं को जन्म दिया। बस फिर क्या था, धीरे-धीरे सभी दर्शनों में न्याय या प्रमाणशास्त्र के स्थापन की दृष्टि विकसित होती गई और पारस्परिक खण्डन-मण्डन तथा वाद के द्वार प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण होता चला गया।

बौद्धाचार्य दिङ्गनाग जाति से ब्राह्मण थे। उनके प्रथम गुरु वात्सीपुत्रीय नागदत्त थे एवं द्वितीय गुरु विज्ञानवादी वसुबन्धु थे। उनका उदय भारतीय दर्शन के इतिहास में एक महान्तम घटना थी। न्यायशास्त्र पर आचार्य दिङ्गनाग की प्रमुख रचनाएँ हैं— (1) आलम्बन परीक्षा (2) त्रिकालपरीक्षा (3) हेतुचक्र समर्थन (हेतु चक्र—डमरु) (4) न्यायमुख (न्यायद्वार) (5) प्रमाणसमुच्चय (संवृत्ति) और (6) हेतुमुख। इनमें से अभी तक प्रमाणसमुच्चय का प्रत्यक्ष परिच्छेद एवं आलम्बनपरीक्षा ही संस्कृत भाषा में अनूदित हो पाए हैं। न्यायप्रवेश भी संस्कृत में उपलब्ध है, किन्तु इसे दिङ्गनाग अथवा उनके शिष्य शंकरस्वामी की रचना समझा जाता है। इन तीनों रचनाओं का परिचय आगे प्रस्तुत है। अन्य रचनाएँ चीनी या तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं।

iek.k&lepp; & दिङ्गनाग की यह उत्कृष्ट एवं सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। इसमें न्यायशास्त्र अथवा प्रमाणविद्या का सम्यक् निरूपण है। मध्यकालीन-न्याय का विकास इसी पर केन्द्रित है। मीमांसा, न्याय, जैन आदि दर्शनों में जो न्यायविद्या का विकास हुआ है, वह दिङ्गनाग के प्रमाणसमुच्चय पर अवलम्बित है। दिङ्गनाग का प्रमाणसमुच्चय नहीं होता तो संभव है न्याय एवं मीमांसा दर्शनों में उद्द्योतकर व कुमारिलभट्ट जैसे तार्किकों की रचनाओं का उदय नहीं होता, क्योंकि दिङ्गनाग के प्रमाण-समुच्चय का खण्डन करने के लिए ही उद्द्योतकर एवं कुमारिलभट्ट ने क्रमशः न्यायवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक का निर्माण किया। मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र एवं सिंहसूरि की न्यायागमानुसारिणी टीका में भी प्रमाणसमुच्चय का खण्डन हुआ है। दिङ्गनाग का प्रमाणसुच्चय बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए एक चुनौती था। इसमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं सांख्य दर्शनों का खण्डन तो किया ही गया है, किन्तु अपने पूर्ववर्ती बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के प्रतिपादन का भी यथावसर खण्डन कर मौलिक प्रतिपादन किया गया है, इसलिए प्रमाणसमुच्चय भारतीय प्रमाणविद्या की एक अद्वितीय कृति कही जा सकती है।

प्रमाणसमुच्चय का संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसका तिब्बती अनुवाद बेंगूर कलेक्शन्स (Bstahgyur Collections) में सुरक्षित है।¹⁸

इसके प्रत्यक्ष परिच्छेद को पुनः संस्कृत में लाने का प्रयास दो विद्वानों ने किया है। प्रथम प्रयास एच. आर. रंगास्वामी अयंगर ने किया। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय (Pramāṇasamuccaya) नामक पुस्तक में प्रत्यक्ष परिच्छेद का संस्कृत अनुवाद प्रस्तुत किया जो मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर से सन् 1930 ई० में प्रकाशित हुआ। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय के साथ दिङ्गनाग की स्ववृत्ति को तो दिया ही है, किन्तु उससे सम्बन्धित स्थलों को न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, तत्त्वार्थरावार्तिक, सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों से तुलना हेतु उद्धृत भी किया है। यत्र तत्र जिनेन्द्रबुद्धि की विशालामलवती टीका भी दी है। द्वितीय प्रयास जापानी विद्वान् मसाकी हत्तैडी ने किया है। उन्होंने दिङ्गनाग आन पर्सेप्शन (Dignāga, on perception) नामक अपनी पुस्तक में तिब्बती अनुवाद, संस्कृत रूपान्तर के साथ अंग्रेजी अनुवाद तथा आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसका प्रकाशन, 1968 ई० में हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, केम्ब्रिज, मसाचुसेट्स से हुआ है। इनसे पूर्व रेण्डल ने न्यायवार्तिक एवं उसकी टीका से दिङ्गनाग के ग्रन्थों के कुछ अंश फ्रेगमेण्ट्स फ्रास दिङ्गनाग (Fragments from Dignāga) में संकलित किये थे जिनका प्रकाशन 1926 ई० में रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन से हुआ था। मुनि जम्बूविजय जी द्वारा संपादित एवं गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज में प्रकाशित चन्द्रानन्दवृत्ति युक्त वैशेषिकसूत्र में प्रमाणसमुच्चय के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान एवं दृष्टान्त परिच्छेदों का वैशेषिक मत की परीक्षा से सम्बद्ध तिब्बती अनुवाद प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रमाणसमुच्चय, उसकी वृत्ति एवं

विशालामलवती टीका के वैशेषिक मत से संबद्ध अंशों को संस्कृत में भी दिया गया है, जो दिङ्नाग के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं। जम्बूविजयजी द्वारा ही संपादित जैन ग्रन्थ द्वादशारनयचक्र में भी प्रमाणसमुच्चय के प्रथम चार परिच्छेदों का कुछ अंश संस्कृत एवं तिब्बती भाषा में प्रकाशित हुआ है, जो दिङ्नाग के अध्ययन हेतु उपादेय है। इसके तीन भागों का प्रकाशन आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, गुजरात से हुआ है।

प्रमाणसमुच्चय में कुल छः परिच्छेद हैं— (1) प्रत्यक्ष (2) स्वार्थानुमान (3) परार्थानुमान (4) दृष्टान्त (5) अपोह एवं (6) जाति। प्रमाणसमुच्चय की सम्पूर्ण विषय-वस्तु का अनुमान इसके परिच्छेदविभाजन से ही हो जाता है कि इसमें प्रमाणमीमांसा का सर्वांग विवेचन हुआ है। उपलब्ध प्रत्यक्ष-परिच्छेद में कल्पनापोद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है तथा वसुबन्धु, सांख्य एवं न्यायदर्शन में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-लक्षणों का खण्डन किया गया है।

दिङ्नाग दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान। क्योंकि उनके अनुसार दो ही प्रमेय हैं— स्वलक्षण और सामान्य लक्षण।¹⁹ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण है एवं अनुमान प्रमाण का विषय सामान्यलक्षण। द्वादशारनयचक्र में प्राप्त स्वार्थानुमानपरिच्छेद एवं परार्थानुमान परिच्छेदों के अनुसार दिङ्नाग त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होने को स्वार्थानुमान एवं स्वदृष्ट अर्थ के प्रकाशन को परार्थानुमान कहते हैं।²⁰ अपोह द्वारा शब्द से विवक्षा का ज्ञान मानना दिङ्नाग की मौलिक देन है।

प्रमाणसमुच्चय पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। स्वयं दिङ्नाग ने उस पर वर्षति की रचना की थी, किन्तु वह भी प्रमाणसमुच्चय के समान तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित है। बुद्धसेन के अनुसार ईश्वरसेन ने भी प्रमाणसमुच्चय पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु वह सम्प्रति अनुपलब्ध है।²¹ प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रमाणसमुच्चय पर 'प्रमाणवार्तिक' नामक वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी जो सम्प्रति संस्कृत में उपलब्ध है एवं बौद्ध प्रमाण-शास्त्र का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। जिनेन्द्रबुद्धि ने प्रमाणसमुच्चय पर विशालामलवती नामक टीका की रचना की थी जो तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित है। उसके कुछ अंश जम्बूविजय जी द्वारा संपादित वैशेषिकसूत्र में अवश्य मिलते हैं। मसाकी हतौड़ी एवं अयंगर की रचनाओं में भी इसके कुछ अंश उल्लिखित हैं। मसाकी हतौड़ी का कथन है कि जिनेन्द्रबुद्धि रचित प्रमाणसमुच्चयटीका पर धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का प्रभाव है।²²

दिङ्नाग की यह रचना विशुद्ध रूप से प्रमाणशास्त्रीय नहीं है, क्योंकि इसमें आलम्बन प्रत्यय की चर्चा ही प्रमुख प्रतिपाद्य है। दिङ्नाग ने तार्किक आधार पर इसमें विज्ञानवाद को प्रतिष्ठित किया है तथा बाह्यार्थवाद का निरसन किया है। आलम्बनपरीक्षा लघुकाय रचना है, जिसका प्रकाशन संस्कृत रूपान्तर के साथ अडयार पुस्तकालय, मद्रास से सन् 1946 ई० में हुआ है। ऐयास्वामी शास्त्री ने इसमें दिङ्नाग की स्ववृत्ति, परमार्थ एवं ह्वेनसांग के चीनी अनुवाद, धर्मपाल की संस्कृत टीका एवं उसका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।

बौद्ध न्याय की एक प्राचीन एवं संक्षिप्त रचना न्यायप्रवेश है। न्यायप्रवेश के रचयिता दिङ्नाग थे या उनके शिष्य शंकरस्वामी, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। तिब्बती शाखा के विद्वान् इसे दिङ्नाग की रचना सिद्ध करते हैं, तथा चीनी शाखा के विद्वान् इसे शंकरस्वामी की कृति के रूप में अंगीकार करते हैं। प्रथम मान्यता के समर्थक सतीशचन्द्र विद्याभूषण, पं. विधुशेखर भट्टाचार्य एवं कीथ आदि विपश्चित् हैं तथा द्वितीय मान्यता के समर्थक ऊई, सुगिउर, टुची, टुबियंस्की, मिरनोव आदि बुधजन हैं।²³

दिङ्नाग के न्यायद्वार या न्यायमुख से न्यायप्रवेश एक भिन्न रचना है। टुबियंस्की एवं कीथ आदि विद्वान् इसको सप्रमाण सिद्ध करते हैं। कीथ ने भी सिद्ध किया है कि न्यायप्रवेश का निर्माण न्यायद्वार के पश्चात् हुआ है, क्योंकि न्यायप्रवेश की शैली न्यायद्वार से विशद है तथा उसमें न्यायद्वार में गृहीत चौदह दूषणाभासों को ब्राह्मण परम्परा का समझकर छोड़ दिया गया है।²⁴

न्यायप्रवेश में साधन, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, पक्षाभास, हेत्वाभास आदि की संक्षिप्त एवं विशद चर्चा है। इसमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाण निर्दिष्ट हैं। न्यायप्रवेश पर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि की टीका

न्यायप्रवेशवृत्ति तथा पार्श्वदेवगणि की उस पर पञ्जिका है। यही एक ऐसी बौद्धन्याय कृति है जिस पर किसी जैनाचार्य की वृत्ति अथवा टीका विद्यमान है। जैनाचार्य हरिभद्र एवं पार्श्वदेवगणि ने अपनी वृत्ति व पञ्जिका में बौद्ध प्रमाण—सरणि को सुरक्षित रखा है।

fu"d"k ॥ मूल्यांकन करने पर विदित होता है कि भारतीय प्रमाणशास्त्र में दिङ्गनाग का महान् योगदान है, क्योंकि दिङ्गनाग के पश्चात् ही न्याय, मीमांसा, जैन आदि दर्शनों में प्रमाणमीमांसा के सम्बन्ध में गहन ऊहापोह हुआ। उन्होंने दो प्रमेयों एवं दो प्रमाणों का प्रतिपादन किया था। उनके दो प्रमेय हैं— स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। संख्या की दृष्टि से तो प्रमेय पदार्थ अनन्त हो सकते हैं, किन्तु स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर उन्होंने दो ही प्रमेय स्वीकार किये। इन प्रमेयों की स्वीकृति में क्षणिकवाद, विज्ञानवाद एवं बाह्य पदार्थ को मान्य करने वाले सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों की मान्यताओं को भी दृष्टिगत रखा गया।

I UnHk ॥

1. न्यायविद्या भारत की प्राचीन विद्या है जिसमें प्रमाणों के द्वारा अर्थ या पदार्थ की परीक्षा की जाती है— “प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः” (न्यायभाष्य, 1.1.1)। यहाँ प्रमाण प्रमेय को जानने का साधन माना गया है। “प्रमाकरणं प्रमाणम्”, “प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्” “प्रमाणाधीनो प्रमेयाधिगमः” आदि वाक्य इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं।
2. Vidyabhushana, Satishchandra, A History of Indian Logic, P. 23 & 158.
3. Buddhist Logic, Vol. 1, P. 3.
4. (1) ब्रह्मजालसुत्त (दीघनिकाय) 1—32 यथा—इधा भिक्खवे, एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति विमंसी। (2) उदानम्— 6.10— याव सम्मा सम्बुद्धा लोके नुप्पज्जन्ति न तविकका सुज्झन्ति न चापि सावका, दुदिट्ठी न दुक्खा पमुच्चरेति। उद्धत History of the Mediaeval School of Indian Logic, P. 60.
5. History of the Mediaeval School of Indian Logic, P. 59.
6. कथावत्थुप्पकरण— अट्ठकथा, पालिटैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, पृ० 13।
7. (1) धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ० 37—38 (2) विशेष अध्ययन के लिए दृष्टव्य, Jayatilleke, Early Buddhist Theory of Knowledge, George Allen and Unwin, London, 1963.
8. विग्रहव्यावर्तनी, 44।
9. अथ कतिविधं प्रमाणम्? चतुर्विधं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति।
10. आठ प्रमाण हैं— सिद्धान्त, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम।
11. Pre-Dignâga Buddhist Texts, Introduction, P. 17.
12. अस्माभिस्त्रिलक्षणो हेतुः स्थापितः। तद्यथा पक्षधर्मः सपक्षसत्त्वं विपक्षव्यावर्तिश्च।—तर्कशास्त्र, पृ. 13
13. तिब्बती विद्वानों ने नागार्जुन, आर्यदेव, असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्गनाग एवं धर्मकीर्ति इन छः भारतीय दार्शनिकों को जम्बूद्वीप का अलंकार (Ornaments of Jambudvip) माना है।— Shastri D.N., Critique of Indian Realism, p.1.
14. A History of Indian Logic, P. 270.15
(1) दर्शन—दिग्दर्शन, पृ. 740
(2) बलदेव उपाध्याय 345—425 ई० का काल मानते हैं, 1— बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ. 204
16. Dignâga, On perception, Introduction, P.2
17. द्वादशारनयचक्र, प्राक्कथन, मुनि जम्बूविजय, पृ. 14
19. अत्र प्रमाणं द्विविधमेव। कुतश्चेत्? द्विलक्षणं प्रमेयं। स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति। — प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पृ. 4
20. (1) तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्। — द्वादशारनयचक्र (ज.), भोटपरिशिष्ट, पृ. 122
(2) परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्।— द्वादशारनयचक्र (ज.), भोटपरिशिष्ट, पृ. 125
21. Dignâga, on perception, Introduction, P. 14
22. Idb,
23. The Nyâya Pravesh, Part 1, Introduction, P. 6
24. Idb, P. 10



fgUnh miU;k lk e L=h pruk dk cnyrk Lo : i

Ifork jkuh*

आज इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्री की प्रेरणा, शील, ममता, पवित्रता को किनारे कर उसकी देह को केन्द्र बना दिया है। आखिर वह कौन-सी प्रवृत्तियाँ हैं जो स्वतंत्रता, समानता, अधिकार और उन्नति के नाम पर स्त्री को बांध नंगई, अराजकता, देह प्रदर्शनवाद तथा सेक्सवाद की ओर धकेल रही है? सिमोन द बोउवार स्त्री-पुरुष संबंधों को विश्लेषित करती हुई कहती है, “साहित्य, संस्कृति और इतिहास व परंपराएं पुरुषों ने बनाए हैं और पुरुषों के बनाए इस विधान में सर्वत्र दोगम दर्जा दिया है।” स्त्री विमर्श के आरम्भिक समय में सिमोन द बोउवार के इस कथन की पुष्टि होती थी और आज भी। तो क्या यह माना जाए कि स्त्री की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है ? और यदि आया है तो इस उक्ति को अब तक क्यों नहीं बदल पाया है ? सिमोन द बोउवार के इस कथन के अतिरिक्त इक्कीसवीं सदी में स्त्रियों को लेकर और भी बहुत से प्रश्न हैं जिन्हें विश्लेषित करना आवश्यक है। ये वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर प्रायः आज हर स्त्रीवादी खोज लेना चाहता है। जॉन स्टुवर्ट मिल पुरुष अत्याचार को परिभाषित करते हुए कहते हैं, “पुरुष अपनी स्त्री को एक बाध्य गुलाम की तरह नहीं, बल्कि एक इच्छुक गुलाम की तरह रखना चाहते हैं, सिर्फ गुलाम नहीं बल्कि पसंदीदा गुलाम बनाए रखने के लिए उन्होंने सारे संभव रास्ते अपनाए हैं।”²

पौराणिक कथाओं के आधार पर स्त्रियों को तप-त्याग, सतीत्व की दी जाने वाली मूल प्रेरणा का अन्त हो गया है। कबीर, तुलसी, जायसी और मैथिलीशरण गुप्त का स्त्री विषयक दृष्टिकोण आज बेदम हो गया है। कबीर की स्त्री संबंधी उक्तियाँ— “नरक का द्वार”, “छायाग्रहनी राक्षसी”³ आदि आज युक्तिसंगत नहीं रह गयी हैं। तुलसीदास के मानस की चौपाई “ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी”⁴ में व्यक्त मानसिकता के विरुद्ध स्त्री में विरोध है। रामचरितमानस, साकेत, राम की शक्तिपूजा और कामायनी का दर्शन आज के उत्तर आधुनिक युग में प्रासंगिक हो गया है। स्त्री की दृष्टि में वह यथार्थ न होकर केवल आदर्श बनकर रह गया है। प्राचीन रुढ़ि-मान्यताओं से निकलने का प्रयास करती स्त्री-पुरुष वर्चस्व से मुक्ति की कामना करती है। उसका प्रयास मिथकों का अस्वीकार और मनुष्य रूप में स्वंय की स्वीकृति है।

उन्नीसवीं सदी में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारतीय नवजागरण काल से स्त्री चेतना का आरंभ हुआ। स्त्री की स्थिति सुधारने के सर्वप्रथम प्रयास अंग्रेजी शासनकाल में हुए। इसके पश्चात् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, महर्षि दयानन्द सरस्वती आदि ने समाज-सुधार आंदोलनों के माध्यम से स्त्री की स्थिति सुधारने के प्रयास किए। भारतीय समाज में देखें तो स्त्री की स्थिति प्राचीनकाल में पूजनीय, मध्यकाल में पुरुष की पथभ्रष्टा तथा आधुनिक काल में अंतर्द्वंद्व और प्रश्नों से घिरी रही। सिमोन द बोउवार समाज में स्त्री की स्थिति को व्यक्त करती हुई कहती है— “प्रत्येक संस्कृति में या तो स्त्री को देवी रूप में रखा गया है या गुलाम की स्थिति में।”⁵ स्त्री चेतना हिन्दी उपन्यासों में आरंभ से ही अनुप्राणित रहीं। हिन्दी उपन्यास विधा के आरंभ से ही स्त्री के बदलते रूपों व उसकी समस्याओं को आधार बनाकर उपन्यासों की रचना होती रही है जिसके द्वारा स्त्री की स्थिति को बदलने के प्रयास निरंतर होते रहे हैं। प्रेमचंद पूर्व उपन्यासों में स्त्रियों को शिक्षा, सम्मान तथा समाज में गौरवपूर्ण स्थान दिलाने के प्रयास होते

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रहे। पं. श्रद्धाराम फुल्लोरी ने तत्कालीन समाज की कुरीतियों पर प्रहार कर स्त्री में चेतना जागृत करने के प्रयास किए। आरंभ में स्त्री चेतना का लक्ष्य स्त्री शिक्षा रहा। प्रेमचंद, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल आदि लेखकों ने अपनी औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से स्त्रियों को समस्त निषेधों और वर्जनाओं से मुक्त कराने के प्रयास किए। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के स्त्री संबंधी विचार अत्यन्त प्रगतिशील हैं। हिन्दी उपन्यासों में स्त्री चेतना का दूसरा पड़ाव हमें गोदान की मालती के रूप में दिखाई देता है। मालती शिक्षित, आत्मनिर्भर, स्वतन्त्र युवती जो वर्जना और कुण्ठाओं से मुक्त जीवन जीती है। इंग्लैंड रिटर्न मालती वर्जनाओं, अनुशासनों के बीच अपने वजूद को ऊँचाइयों तक पहुँचाती है। प्रसाद के उपन्यासों में विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करती स्त्री पात्र—परित्यक्ता यमुना, धर्मच्युत लतीका, वनविहंगिनी माला विभिन्न समस्याओं को हमारे समक्ष उजागर करती है। जैनेन्द्र स्त्री अन्तर्मन की अभिव्यक्ति कर स्त्री चेतना को वाणी प्रदान करते हैं। सदियों से चलें आ रहे स्त्री शोषण का कारण पुरुष अहम रहा है। पुरुष की अहंभावना, वर्चस्वता बनाए रखने के लिए स्त्री को रूढ़ि-बंधनों में बांधे रखना चाहती है और आज स्त्री को शिक्षित, तर्कशील, बुद्धिमान पाकर पुरुष अहं-सह नहीं पा रहा। पुरुष मन की असुरक्षा की भावना आज भी स्त्री को रूढ़ि-बंधनों में बांधे रखना चाहती है लेकिन जैसे-जैसे स्त्री की दयनीय स्थिति में सुधार हुआ स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग हुई। पितृसत्तात्मक समाज के बंधनों के प्रति स्त्री ने विद्रोह किया। अपनी ऐतिहासिक भूमिकाओं— गृहनी, जननी, सेविका, दासी आदि पर प्रश्नचिह्न लगा नर-नारी की समानता को प्रश्रय प्रदान किया। स्त्री जहाँ गृह जीवन की निरसता से मुक्त हुई वहीं उसने विवाह संस्था की प्रसांगिकता पर भी प्रश्न उठाए। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की आधुनिक विचार सम्पन्न रेखा में प्रणयाकांक्षा है, समर्पण है। आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में स्त्री चेतना मानवीय प्रतिष्ठा और स्वतन्त्र अस्मिता के लिए संघर्षत है तो वही उसके समानतर जीवन का अर्थबोध, टूटन, मोहभंग, विघटन भी। स्त्री में अपने व्यक्तित्व के प्रति चेतना है, स्वाभिमान है, मूक विद्रोह है। शिक्षित होकर स्त्री ने जाना है कि उसे पुरुष के समकक्ष खड़े होने का अधिकार है, वह भी सक्षम है। मृदुला गर्ग अपने 'चितकोबरा', 'अनित्य', 'मैं और मैं' और 'कठगुलाब' आदि उपन्यासों में स्त्री देह की तुष्टि के रति अनुभवों, वैयक्तिक स्वतन्त्रता आदि प्रश्नों पर विचार करती है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री चेतना ग्रामीण परिवेश में परंपराओं से विद्रोह करती एक नया रूप ग्रहण करती है। सामाजिक संबंधों को स्त्री दृष्टि से जांचना, यौन-स्वच्छन्दता को स्वीकार, वैधव्य की स्थिति में मातृत्व का स्वीकार, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष, शास्त्र और मर्यादा को प्रश्नांकित कर पुरुष सत्तात्मक समाज को चुनौति देना आदि मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों की विशेषताएं हैं। वर्षों से शोषण, अत्याचार का यहाँ खुलकर विद्रोह हुआ है। स्त्री-पुरुष के चोरी-छिपे चले आते संबंधों के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करती स्त्री-पुरुष के लिए मान्य दोहरे मानदण्डों का विरोध करती है। स्त्री चेतना सभी विधी-निषेधों, वर्जनाओं को धता बता यौन स्वतन्त्रता की बात करती है। पति-पत्नि संबंध में स्त्री की भूमिका, स्त्री स्वतन्त्रता तथा पुरुष की दुराचारी प्रवृत्ति आदि को स्त्री चेतना नए रूप में विश्लेषित करती है। आज स्त्री चेतना स्त्री-पुरुष के प्रत्येक पक्ष पर खुलकर बात करना चाहती है। वह जीवन भर एक पुरुष से नहीं बंधी रहना चाहती और इसीलिए विवाह संस्था को पुनर्परिभाषित करती है। यौन संबंधों को लेकर स्त्री की स्वच्छन्दता, देह शुचिता का प्रश्न, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने के प्रयास, पुरुष के अत्याचार पर स्त्री का आक्रोश, विवाह पूर्व या विवाहेत्तर पुरुष से देह संबंध की बात आदि मिथक किस प्रकार परिवर्तित हो रहे हैं ? इसके लिए स्त्री चेतना समाज परंपरा को पुनर्मूल्यांकित करती है। नासिरा शर्मा के उपन्यास 'एक और शाल्मली' की स्त्री स्वतन्त्र चेतना से युक्त पुरुष से समानता का भाव चाहती है। कृष्णा सोबती की मित्रों भारतीय स्त्री के नैतिक मानदण्डों को चुनौति देती है। उत्तर आधुनिक युग में स्त्री स्वतन्त्रता की नई परिभाषा गढ़ने का प्रयास 'मुझे चाँद चाहिए' में किया गया। छोटे शहर के विशिष्ट कुलोत्पन्न सिलबिल का वर्षा वशिष्ठ में रूपांतरित हो फिल्मी जगत में प्रवेश स्त्री चेतना की विकासयात्रा है। वर्षा स्त्रीत्व के लिए गढ़े पारंपरिक मानदण्डों को तोड़ती हुई मुक्ति का नया मार्ग तलाशती है। नए युग की वर्षा वशिष्ठ स्त्री-पुरुष संबंधों के नए रूप को उद्घाटित करती है। वर्जनाओं पर प्रश्न चिह्न लगा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करती है। समस्त सामाजिक मान्यताओं को धता

बता अविवाहित मातृत्व को स्वीकार कर स्त्री स्वतन्त्रता का नया रूप प्रदान किया है। उषा प्रियवदा के 'शेषयात्रा' उपन्यास में आत्मगौरव, सम्मान और स्वतन्त्रता भाव से लेस स्त्री चेतना नए जीवन यथार्थ, विश्वास को प्रतिष्ठित करती है। अनामिका के उपन्यासों ने वर्जनाओं का विरोध कर स्त्री-पुरुष संबंधों की अभिव्यक्ति तथा प्रेम-संबंध की नयी दृष्टि द्वारा स्त्री चेतना का बोध कराया है।

आदिकाल से आज तक पुरुष अहं के कारण दुनिया की आधी आबादी शोषण की शिकार रही। विशेष तौर पर भारत में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं हुए। भले ही आज स्त्री विमर्श साहित्य की मुख्यधारा में चर्चा का विषय रहा है किन्तु स्त्रियां बड़ी मात्रा में आज भी यातनापूर्ण जीवन जीने को विवश है। वहीं स्त्रियां पुरुषों से कदम से कदम मिलाकर भी चल रही हैं। स्त्री विमर्श समय व देशकाल परिदृश्य से जुड़ा है। सदियों से पीड़ित पुरुषों के अधिनस्थ जीवन जीती स्त्री ने पुरुष वर्चस्व को चुनौति दी। इक्कीसवीं सदी का आरंभ ही स्त्री सशक्तीकरण वर्ष 2001 के रूप में हुआ। स्त्री समस्याओं की ठोस रूप में चर्चा हुई। जीवनमूल्य परिवर्तित हुए। इक्कीसवीं सदी की स्त्री चेतना प्राचीन, मध्य तथा सामंती युग की वर्जनाओं को तिलाजलि देकर विकास की ओर अग्रसर हुई। इक्कीसवीं सदी में स्त्री चेतना मुखर हुई। चेतना समपन्न होने पर स्त्री ने सर्वप्रथम अपने जीवन की विसंगतियों तथा शोषण के कारणों को खोजना चाहा। धर्म, आस्था, परंपरा, मूल्यों, दोहरे मानदण्डों को अपनी अधिनस्थ स्थिति का कारण जान उनके प्रति विद्रोह किया। वर्तमान स्त्री चेतना ने परंपरागत स्त्री चेतना को तिरोहित कर समय व स्थान के अनुरूप जीवनमूल्यों को ग्रहण किया। भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री को स्वतन्त्रता व समानता भले ही मिली लेकिन उसकी स्थिति में उल्लेखनीय सुधार नहीं हो पाया। प्रायः पिछले 15-20 वर्षों में हिन्दी उपन्यास में एक नई स्त्री चेतना परिलक्षित हुई जिसने रचनात्मक स्तर पर पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था को एक नए सिरे से परिभाषित किया। स्त्री हमें आज जिस रूप में दिखाई देती हैं वह समय से चले आ रहे संघर्ष का परिणाम है। इक्कीसवीं सदी में समाज, परिवार तथा व्यक्ति स्तरों में तीव्रता से हुए परिवर्तनों से हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी परिवर्तन परिलक्षित हुआ। उत्तर आधुनिकयुग की तार्किकता, वैज्ञानिकता तथा उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्री की बौद्धिक एवं सामाजिक स्थिति को काफी बदला। स्त्री ने कुण्ठा मुक्त हो स्वयं को पहचानने के प्रयास किए। इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों ने यह प्रश्न उठाया कि क्या स्त्री के आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के पश्चात् पुरुषवादी समाज के शोषण-अत्याचारों से मुक्त हो पायी है? क्या समाज में आर्थिक उन्नति के पश्चात् दहेज या अनमेल विवाह जैसी घटनाएं रूकी हैं? ऐसे अनेक प्रश्नों से जुझती स्त्री चेतना ने हिन्दी उपन्यासों में स्त्री विमर्श के रूप में अभिव्यक्ति पायी। आज अपने दुःख-दर्द, पीड़ा, अपनी दैहिक आवश्यकताओं को स्वीकार करती स्त्री हिन्दी उपन्यास में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। आज इक्कीसवीं सदी में स्त्री अभिव्यक्ति का, कुछ करने का अधिकार चाहती है। उसमें स्वयं को पुनर्परिभाषित करने की तीव्र अकुलाहट है। इक्कीसवीं सदी में परिस्थितियां एक वर्चस्वी अर्थव्यवस्था के रूप में उभरी है। भूमंडलीय युग में पूर्व-पश्चिम संस्कृति के मिलन से नयी चेतना जागृत हुई है। स्त्री चेतना ने धर्म, परंपरा, मूल्यों की पड़ताल कर स्त्री जीवन और संबंधों की पुर्नव्याख्या की है। आर्थिक निर्भरता, यौन-स्वतन्त्रता, सत्ता में भागीदारी आदि विभिन्न रूपों में स्त्री चेतना हमारे समक्ष है। स्त्री मर्यादा, लज्जा, कोमलता, सहनशीलता, परनिर्भरता, पतिव्रत धर्म आदि दायित्वों से बाहर आयी है। बदलती परिस्थितियों के अनुसार हिन्दी उपन्यासों में स्त्री प्रश्नों, स्त्री वजूद तथा स्त्री स्वतन्त्रता पर विचार किया गया है। इक्कीसवीं सदी में शिक्षा के प्रसार एवं वैज्ञानिकता के फलस्वरूप स्त्रियों में सामाजिक बंधनों की स्थिरता, पारिवारिक टूटन, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता के कारण विघटन परिलक्षित होता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व की चाह स्त्री को विद्रोही बना देती है जिससे संबंधों में अंतर्विरोध बढ़ता नजर आता है। स्त्री ने स्वयं को स्वतन्त्र इकाई के रूप में पहचाना है। स्वतन्त्र अस्तित्व का निमार्ण करने में आने वाली बाधाओं को तोड़ा है। आज स्त्री में अस्वीकार है, निषेध है, विद्रोह की मूल्यग्राही दृष्टि है। स्त्री के समस्त मूल्य बदल गए हैं और चेतना जागृत हुई है। अधिकार के प्रति सजग स्त्री सुरक्षा के लिए पारंपरिक मूल्यों से संघर्ष करती है। स्त्री के लिए दैहिक पवित्रता, सतीत्व और एकनिष्ठता जैसी धारणायें बदल चुकी हैं। पहले स्त्री विवाह को जोड़कर समर्पणशील थी वहीं आज विवाह आज स्त्री को बंधन, कष्टप्रद तथा

विकास में बाधक प्रतीत होने लगा लगा है। आत्मिकता, बौद्धिकता और नैतिकता को प्रश्रय प्रदान कर स्त्री पुरुष से समानता की मांग करती है। पारिवारिक—सामाजिक क्षेत्र में स्त्री की अधिकारिक मुक्ति, प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता ने परंपरागत मूल्यों के प्रति उसकी भावना को बदला है। उत्तर आधुनिक युग की उपभोक्तावादी संस्कृति में भयावह स्थितियों से जुझती स्त्री का संघर्ष, संत्रास अनेक स्तरीय है। उसके लिए समस्त आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक मान्यताएं झुठी पड़ चुकी है। स्त्री नयी स्थितियों, आवश्यकताओं के आधार पर नए युग का निर्माण कर रही है। स्त्री की आत्मबोध ने उसे स्वाभिमानी और महत्वाकांक्षी बनाया है। आज स्त्रियाँ विवाहेत्तर संबंधों पर ग्लानी महसूस नहीं करती और न ही मातृत्व के लिए विवाह को आवश्यक मानती है। पारंपरिक मूल्यों से हट स्त्री का पतिव्रत का मिथक टूट चुका है। अन्यायों के प्रति सचेत स्त्री पारिवारिक संबंधों के प्रति समर्पण की भावना त्याग चुकी है। आज स्त्री अपनी इच्छाओं को पूरा करना चाहती है लेकिन अस्तित्व के बलिदान पर नहीं। उत्तर आधुनिक युग की विश्वग्राम, उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच स्त्री की स्थिति, स्त्री—पुरुष संबंध को स्त्री विमर्श में रखा गया। नवउपभोक्तावादी विचारधारा ने स्त्री पवित्रता को परिवर्तित कर नए विचार, नया बोध, नया परिवेश, नयी परिस्थितियों, स्त्री स्वतन्त्रता, देहवाद, यौनवाद तथा दमित इच्छाओं की तृप्ति को प्रश्रय प्रदान किया है। उत्तर आधुनिक ने स्त्री के समाजशास्त्र, अर्थवाद को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। आज स्त्री की खामोशी टूट चुकी है वह अपनी इच्छानुसार—शिक्षा, विवाह, समाज का चुनाव करती पुरुष को अपनी शर्तों पर भोगना चाहती है। स्त्री विकल है, उद्ध्विग्न है, जिससे अपने दुख को सार्वजनिक कर दें रही है। समान अधिकारों के लिए प्रयत्नशील स्त्री यह प्रश्न उठाती है कि आखिर वह अधिकारों से वंचित क्यों हैं ? पुरुष की महानता के मिथक को अस्वीकार कर स्त्री स्वंय को पहचानने की दिशा में अग्रसर हुई है। उत्तर आधुनिक युग में सहजीवन हिन्दी उपन्यास का विषय बनता गया है। सदियों से धर्म स्त्री की दयनीय स्थिति का कारण रहा है। उत्तर आधुनिक युग में धर्म—रूढ़ि द्वारा स्त्री को बांधने की मान्यताओं का खण्डन करती हुई प्रभा खेतान कहती है, “कौन लोग है जो श्लोक सुना—सुना कर बता रहे हैं कि हम अविश्वसनीय, अबला, पुरुष निर्भर और संकल्पविहिन हैं ? शास्त्र द्वारा प्रतिपादित स्त्री की पहचान और पुरुष से उसकी मित्रता दोनों ही में मुझे भयानक षडयंत्र दिखाई देता है।”⁶ आज यह प्रश्न हमारे समक्ष उठता है कि भूमंडलीकरण के युग में होने वाले परिवर्तनों ने स्त्रियों पर कैसा प्रभाव डाला है ? क्या स्त्री के संदर्भ में बहुत बड़े स्तर पर होने वाले सामाजिक परिवर्तनों ने स्त्रियों को प्रभावित किया है ? आज स्त्री ने परंपराओं के खोखलेपन से परिचित हो उनका सहारा लेना छोड़ दिया है। बदलते समय के साथ स्त्री ने धर्म व परंपरा को जांचने का उपक्रम किया है। इक्कीसवीं सदी में स्त्री की जागृत चेतना का कारण है उसका भावबोध, परंपरागत धारणाओं के प्रति विरोध, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता, बदलता परिवेश। सामाजिक कुरीतियों और शोषण के प्रति स्त्री आज विद्रोह की मुद्रा में है। आज स्त्री ने शोषण का कारण बनने वाले संबंधों का अस्वीकार किया है। उसके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है उसकी प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व और स्वाभिमान। स्त्री समस्त सीमाओं, वर्जनाओं को तोड़ बाहर आ चुकी हैं। समाज में अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिए संघर्षशील है। सामाजिक चेतना से सजग हो अपनी सामाजिक भूमिका निभाने के लिए बराबरी की मांग कर रही है। विपरीत परिस्थितियों में पलायन न कर संघर्ष करती हुई व्यक्तित्व का निर्माण करती है। स्त्री चेतना ने स्त्री अस्मिता, आकांक्षाओं, इच्छाओं, अनुभवों तथा मनःस्थितियों को वाणी प्रदान की है। इक्कीसवीं सदी में हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण बदलाव स्त्री विमर्श है जो मुख्यधारा में स्त्री के स्थान की चर्चा करता है। वर्तमान समय में स्त्री विमर्श स्त्री चेतना, स्त्री अस्मिता और संघर्ष को व्यक्त करता है। आज का स्त्री विमर्श स्त्री के अधिकारों, मूल्यों तथा उसके जीवन के अंधेरे, उपेक्षित कोणों पर प्रकाश डालता है। उत्तर आधुनिक समय के इस स्त्री विमर्श में कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र जुड़े नजर आते हैं। इक्कीसवीं सदी में स्त्री चेतना सम्पन्न उपन्यास लिखे जा रहे हैं। इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में स्त्री जीवन तथा शोषण के चलते मन में उपजे असंतोष को विभिन्न कोणों से दृष्टिपात किया गया। स्त्री के विद्रोही विचार तथा खण्डित मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई। और अंत में स्त्री चेतना को महादेवी वर्मा के अनुसार कहें तो— “हमें न किसी पर जय चाहिए न किसी पर पराजय, न किसी से प्रभुत्व चाहिये, न

किसी पर प्रभुता। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिये जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं
⁷ निष्कर्ष रूप में कहे तो आज स्त्री
 चेतना क्रान्तिकारी रूप लिए “अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी”⁸ की छवि को तोड़ दे रही है।

I UnHk %

1. स्त्री उपेक्षित, प्रस्तुति— सीमोन द बोउवार.
2. स्त्री की पराधीनता— जॉन स्टुवर्ट मिल, पृ-25.
3. नारी की झाँझ पड़े अंधों होत भुजंग। कबिरा जिनकी कौन गति नित नारी के संग। नारी नसाये तिन गुन जो नर पासे होय। भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ ना पाये कोय.— कबीरदास.
4. सुन्दरकाण्ड, रामचरितमानस— तुलसीदास, पृ-396.
5. स्त्री उपेक्षित प्रस्तुति— सीमोन द बोउवार, पृ.-21.
6. स्त्री विमर्श के अंतर्विरोध— प्रभा खेतान.
7. शृंखला की कड़ियाँ— अपनी बात से— महादेवी वर्मा.
8. अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। आँचल मे है दूध और आंखों में पानी।। — मैथिलीशरण गुप्त.



;kx'n'ku e: fp'okof'ok Lo: i fu.ki;

fuyi'k feJ*

योग शब्द युज् समाधौ धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है। योग समाधि है और यह समाधि चित्त की सभी भूमियों में रहने वाला चित्त का धर्म है।¹ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—चित्त की ये पाँच भूमियाँ होती हैं। चित्त की इन पाँचों भूमियों में रहने वाला धर्म, चित्त का 'सार्वभौम' धर्म कहा गया है। इन पाँचों भूमियों में से विक्षिप्त भूमि वाले चित्त की समाधि, विक्षेप के कारण गौण हो जाने से योग की कोटि में नहीं आती।

इस योग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि। 'युज् समाधौ' धातु से 'घञ्', प्रत्यय। व्यवहार में 'समाधि' शब्द योग से अधिक व्यापक है। वह सभी भूमियों में क्रमोवेश रहने वाला धर्म है। इसीलिए उसे चित्त का सार्वभौम धर्म कहते हैं। जब कि 'योग' चित्त का सार्वभौम धर्म नहीं है। वह केवल चित्त को दो भूमियों में रहने वाला धर्म है—'एकाग्र' भूमिका में और 'निरुद्ध' भूमि में। इस प्रकार प्रत्येक समाधि योग की श्रेणी में नहीं रखी जा सकती जबकि प्रत्येक योग समाधि के अन्तर्गत है। यह भेद इस प्रकार समझना चाहिए, जैसे— सभी मनुष्य जीव हैं, किन्तु सभी जीव मनुष्य नहीं हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी भाष्य 'स च' शब्द का अभिप्रेतार्थ 'समाधि' न लेकर 'योग' लिया है।

क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच चित्त की भूमियाँ या अवस्थाएँ हैं। कुछ विशिष्ट समाधियाँ ही योग कही जा सकती हैं। ऐसी समाधियाँ, जो योग कहे जाने की योग्यता रखती हैं, सूत्रकार एवं भाष्यकार के अनुसार केवल दो होती हैं—

1. सम्प्रज्ञात समाधि
2. असम्प्रज्ञात समाधि

इन समाधियों को 'योग' संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

उस (द्विविध योग) का लक्षण कहते हैं— ²;kx fp'okof'ok; k dk fujk/k gA*

अन्तःकरण सामान्य को ही चित्त कहा गया है। वेदान्त शास्त्र में अन्तःकरण चार प्रकार के बतलाए गये हैं— 1. मन, 2. बुद्धि, 3. चित्त, और 4. अहंकार।³ सांख्य शास्त्र में भी मन, बुद्धि और अहंकार के भेद से अन्तःकरण तीन बताए गये हैं।⁴ योगशास्त्र में अन्तःकरण के इन तीनों भेदों को स्वीकार किया गया है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इन तीनों के वाचक एक साधारण नाम की अपेक्षा से 'चित्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत से अन्तःकरण के ये चारों भेद—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—यद्यपि योग में स्वीकृत है तथापि वृत्तिरूप से एक ही अन्तःकरण के ये चारो भेद हैं। इसलिए अन्तःकरण सामान्य ही चित्त पद से बोधित होता है।⁵

चित्त जिस—जिस स्थिति या रूप में रहता है अर्थात् परिणत होता रहता है, वे स्थितियाँ चित्त की वृत्तियाँ हैं। क्योंकि जिस रीति या विधा से रहा जाय, रहने की वह रीति ही वृत्ति कहलाती है, 'वर्ततेऽनयेति वृत्तिः।' चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है, इसलिए चित्त की असंख्य वृत्तियाँ होती हैं लेकिन सत्त्वादिगुणों के प्राधान्य के अनुसार उनका विभाजन तीन मुख्य श्रेणियों में किया जा सकता है—

1. सात्त्विक वृत्तियाँ।
2. राजस वृत्तियाँ।
3. तामस वृत्तियाँ।

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

इन वृत्तियों का विभाजन ज्ञान के रूपभेद के आधार पर पाँच प्रकारों में किया जायेगा। किन्तु दोनों विभाजनों में कोई विसंगति नहीं पड़ती, क्योंकि यहाँ पर विभाजन का आधार उपादानभूत 'गुण' और अन्यत्र विभाजन का आधार वृत्तियों का वक्ष्यमाण 'स्वरूप' है।

सत्त्व, रजस् और तमस्— ये तीन गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक अर्थात् सुखरूप, अप्रीत्यात्मक अर्थात् दुःखरूप, और विषादात्मक अर्थात् मोहरूप होते हैं। सत्त्व गुण का प्रयोजन है प्रकाश करना, रजोगुण का प्रयोजन है प्रवृत्ति करना तथा तमोगुण का प्रयोजन है नियमन करना। इनकी वृत्तियाँ (क्रिया या व्यापार) हैं— एक दूसरे को अभिभूत करना अर्थात् निर्बल बनाना, एक दूसरे का आश्रय अर्थात् सहकारी बनना, प्रलयावस्था में एक दूसरे के साथ सदृश परिणाम को प्राप्त करना तथा एक दूसरे के साथ जोड़ी बनाना अर्थात् एक दूसरे का सहचर बनना।⁶

'चित्त की पाँच प्रकार की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं।'⁷ अविद्यादि पाँचों क्लेशों से उत्पन्न होने वाली तथा कर्मसंस्कारसमूह को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट और विवेकख्याति विषयक, गुणों के कार्य की विरोधिनी वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं।⁸

"प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति इन पाँचों प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं।⁹ इन पाँच प्रकार की वृत्तियों में से—

1. 'प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण वृत्तियाँ हैं'।¹⁰
2. 'ज्ञेय वस्तु से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान विपर्यय कहा जाता है'।¹¹
3. 'विकल्प (अवस्तुवाचक) शब्दज्ञान से उत्पन्न तथा निर्वस्तुक होता है'।¹²
4. 'जाग्रत् तथा स्वाप्न वृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है'।¹³
5. 'अनुभूत विषय की चित्त में उपस्थिति स्मृति नामक वृत्ति कहलाती है'।¹⁴

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि योगदर्शन में गुणों के आधार पर वृत्तियाँ तीन और स्वरूपों के आधार पर वृत्तियाँ पाँच होती हैं।

I UnHK §

1. योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। — यो0भा0 पृ0 1॥
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। — यो0सू0 1/2॥
3. द्रष्टव्य, वेदान्तपरिभाषा, पृ0 90। —
4. अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्। — सा0का0 33॥
5. चित्तमन्तः करणसामान्यम्। — यो0वा0पृ0 12॥
6. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः। — सा0का0 12॥
7. वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः। — यो0सू0 1/5॥
8. क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचय क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकार विरोधिभ्योऽक्लिष्टाः, क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्य— क्लिष्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। — यो0सू0भा0 1/5॥
9. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। — यो0सू0 1/6॥
10. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। — यो0सू0 1/7॥
11. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। — यो0सू0 1/8॥
12. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। — यो0सू0 1/9॥
13. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। — यो0सू0 1/10॥
14. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। — यो0सू0 1/11॥



उन्मेष (Guardian Bureaucracy) & यह नौकरशाही जनहित के लिए कार्य

MkO fo | k/kj ik.M;*

प्रस्तुत शोध पत्र में नौकरशाही के प्रकार को गहनता से विश्लेषित किया गया है। एफ.एम. मार्क्स ने नौकरशाही के चार रूपों की चर्चा की है—

1. **वर्ग नौकरशाही (Guardian Bureaucracy)** & यह नौकरशाही जनहित के लिए कार्य करती है। इसके सारे कामों के पीछे जनहित की भावना छिपी होती है। वे न्याय तथा लोककल्याण के संरक्षक होते हैं। मार्क्स कहते हैं कि “यह विद्वान् अधिकारी गण होते हैं, जो शास्त्रोक्त आचरण में दीक्षित होते हैं। “ऐसी लोक सेवा अपने आपको लोक सेवा का अभिरक्षक मानती थी, किन्तु यह लोकमत से स्वतन्त्र थी तथा उसके प्रति उत्तरदायी भी होती थी, किन्तु दूसरी ओर अनुत्तरदायी तथा अधिकारयुक्त होती थी।”

2. **वर्ग नौकरशाही (Caste Bureaucracy)** & जब प्रशासनिक तथा राजनीतिक सत्ता एक ही वर्ग विशेष के हाथों में हो तब जातीय नौकरशाही का उद्भव होता है। जातीय नौकरशाही का आधार एक वर्ग विशेष होता है इस प्रकार की नौकरशाही अल्पतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं वाले देशों में व्यापक रूप से प्रचलित है ऐसी व्यवस्थाओं में वे ही व्यक्ति सरकारी अधिकारी हो सकते हैं, जो उच्चतर वर्गों या जातियों के होते हैं। उदाहरण —प्राचीन भारत में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही उच्चाधिकारी हो सकते थे। जातीय नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(i) शैक्षणिक योग्यता की अनिवार्यता, (ii) पद एवं जाति में अन्तर्सम्बन्ध, (iii) सेवा अथवा पद का एक परिवार से जुड़ जाना, (iv) दोषपूर्ण समाज व्यवस्था का प्रतीक।

3. **वर्ग नौकरशाही (Patronage Bureaucracy)** & यह नौकरशाही का वह रूप है जिसमें लोक सेवकों की नियुक्ति उनकी तुलनात्मक योग्यता के आधार पर नहीं की जाती है वरन् नियुक्ता और प्रत्याशियों के राजनीतिक सम्बन्धों के आधार पर की जाती है इस प्रकार की नौकरशाही में चुनाव में विजयी राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करते हैं। निर्वाचन में विजयी होने के परिणामों को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक था कि प्रशासकीय मशीनरी पर भी नियंत्रण स्थापित किया जाए इसका दूसरा नाम ‘लूट पद्धति’ है। संयुक्त राज्य अमरीका इसका परम्परागत घर है। संयुक्त राज्य अमरीका में नव— निर्वाचित राष्ट्रपति के साथ अनेक कार्य कर रहे उच्च प्रशासनिक पदाधिकारी पदमुक्त कर दिए जाते थे और उनके स्थान पर ऐसे व्यक्तियों की भर्ती की जाती थी जिन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव में भारी समर्थन किया हो यह लूट प्रणाली वाशिंगटन, जेफरसन तथा एडमस के समय लघु रूप में आरम्भ हुई थी सन् 1829 में राष्ट्रपति जैक्सन के समय में इस लघु धारा ने वेगवती रूप धारणा कर लिया। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए जब ‘गारफील्ड’ राष्ट्रपति के पद पर सत्तारुढ़ हुए, तो एक पदमुक्त कर्मचारी (जिसे हटाकर दूसरे व्यक्ति की नियुक्ति कर दी गई थी) ने राष्ट्रपति की हत्या कर दी तब से अमरीका में संरक्षक नौकरशाही का अन्त कर दिया गया और परीक्षा प्रणाली को अपना लिया गया।

4. **वर्ग नौकरशाही (Merit Bureaucracy)** & योग्यता आधारित नौकरशाही का आधार सरकारी अधिकारी के गुण होते हैं योग्यता की जाँच के लिए निष्पक्ष तथा वस्तुगत परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं इसका लक्ष्य लोक सेवा की कुशलता है इस व्यवस्था में लोक सेवक किसी भी अनुग्रह भार से दबा हुआ नहीं रहता है तथा सदैव सामान्य हित की अभिवृद्धि में रुचि ले सकता है सभी सभ्य देशों में नौकरशाही की मुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

- (i) योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ
- (ii) कार्यकाल की सुरक्षा.
- (iii) नियमानुसार निर्धारित वेतन.
- (iv) निष्पक्ष एवं निर्भयतापूर्ण कार्य संचालन.
- (v) वस्तुनिष्ठ मापदण्ड के आधार पर काम होता है.

ukdj'kkgh dh fopkj/kkj, %

1% ifrc) ukdj'kkgh & नौकरशाही की किस रूप में और किसके प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिए, इस पर विद्वानों में मतैक्य का अभाव पाया जाता है. कुछ विद्वानों का मानना है कि जनतन्त्र में यह प्रतिबद्धता जनता के प्रति होनी चाहिए. कुछ विद्वानों का मानना है कि यह प्रतिबद्धता सत्तारुढ़ दल के प्रति होगी चाहिए और कुछ ने कहा शासन के प्रति होनी चाहिए. साधारणतः प्रतिबद्ध नौकरशाही में यह देखा जाता है कि राजनीतिक दलों के प्रति प्रशासन प्रतिबद्ध हो जाता है आलोचनात्मक रूप से यदि कहा जाए, तो यह सत्तारुढ़ राजनीतिक दल का एक अंग होकर रह जाता है प्रतिबद्ध नौकरशाही की अवधारणा प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप को बढ़ावा देती है. कुछ समय के लिए भले ही लोक सेवकों को लगे कि हम सत्तारुढ़ दल के प्रति प्रतिबद्धता के द्वारा पदोन्नति, तबादला और अन्य लाभ के कार्य करवा लेते हैं, परन्तु कालान्तर में जब नई सरकार आती है, तो वह उन तमाम लोक सेवकों को शक की निगाह से देखती है जिन्होंने निर्धारित प्रक्रिया के बाहर जाकर अपना उल्लू सीधा किया है अतः निश्चय ही प्रतिबद्धता की अवधारणा एक संकुचित और भ्रष्ट अवधारणा है, जो प्रशासन का राजनीतिकरण करती है.

2% fu"i {k ukdj'kkgh& निष्पक्ष नौकरशाही की अवधारणा को सबसे पहले मेक्स वेबर ने ही अभिव्यक्त किया था, जो उसके आदर्श नमूने की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी. इसके अन्तर्गत लोक सेवक अराजनीतिक प्रकृति के हो जाते हैं उनकी प्रतिबद्धता सत्तारुढ़ राजनीतिक दल के प्रति नहीं बल्कि सरकार के प्रति हो जाती है चाहे वह किसी भी दल की सरकार क्यों न हो, वे सरकार के सेवक होते हैं. राजनीतिक दल के अधीनस्थ नहीं। निष्पक्ष नौकरशाही में जनता का विश्वास लोक सेवकों को प्राप्त रहता है। लोक सेवकों का भी मनोबल इस बात को लेकर बना रहता है कि पदोन्नति तथा तबादला राजनीतिक दृष्टि से नहीं, बल्कि योग्यता, आवश्यकता और न्याय के आधार पर ही होगा.

किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था न तो पूर्णतः प्रतिबद्ध हो सकती है और न पूर्णतः निष्पक्ष नौकरशाही पर आधारित. सिद्धान्ततः भारत, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान इत्यादि देशों में भले ही निष्पक्ष नौकरशाही की बात की जाती है, परन्तु इन देशों के प्रतिबद्ध नौकरशाही के अनेक उदाहरण रोज देखने को मिलते हैं तबादले और पदोन्नतियाँ तो राजनीतिक दृष्टिकोण से की ही जाती हैं, नियुक्तियाँ भी महत्वपूर्ण पदों पर राजनीतिक दलों से सम्बद्ध व्यक्तियों की ही होती हैं, अतः आज के युग में एक नौकरशाह व्यक्तिगत रूप से निष्पक्ष नहीं हो सकता अतः पूर्णतः निष्पक्ष नौकरशाही की कल्पना सम्भव नहीं है।

ukdj'kkgh dh vkykpuk – कतिपय विद्वानों ने नौकरशाही पद्धति की कड़ी आलोचना की है वैसे तो नौकरशाही शब्द का प्रयोग ही बहुधा घृणा अथवा तिरस्कार के साथ किया जाता है नौकरशाही के आलोचकों में रैम्जेम्योर तथा लॉर्ड हेवार्ट के नाम से विशेष उल्लेखनीय है लॉर्ड हेवार्ट ने 1929 में प्रकाशित अपनी 'नवीन निरंकुशता' (New Despotism) नामक पुस्तक में सिविल सेवकों की कठोर आलोचना करते हुए कहा है कि वे ऐसी शक्तियाँ अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो यथार्थ में व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के क्षेत्र में आती है माना जाता है। कि नौकरशाही लोकप्रिय माँगों के प्रति अनुत्तरदायी होती है नौकरशाही में शक्ति की भूख होती है और धीरे-धीरे नीति निर्माण के कार्य पर हावी होती जा रही है. नौकरशाही की मुख्य आलोचनाएं निम्नवत् हैं—

1% tu&l/kkj.k dh ekxk dh mi{k& नौकरशाही यह मानकर चलती है कि वह लोकहित की संरक्षक है और उसी के द्वारा जनहित की सही व्याख्या की जा सकती है यदि लोकमत जनहित के विरुद्ध है, तो नौकरशाही उसकी उपेक्षा करने में आगे-पीछा नहीं देखती है। नौकरशाहों के लिए नियम कानून विभागीय आदेश और प्रक्रियाएं ही सब कुछ होती हैं अनेक बार ऐसा होता है कि जनहित को ध्यान में

रखकर सम्बन्धित विभाग का मन्त्री कोई घोषणा कर देता है, लेकिन ये नौकरशाह नियमों, प्रक्रियाओं और वित्तीय आँकड़ों का हवाला देकर घोषित योजना को खटाई में डाल देता है, वस्तुतः यह नौकरशाही राजनीतिक कार्यपाल और जन-साधारण के मध्य अवरोध पैदा कर देते हैं।

2% yky Qhrk'kgh& नौकरशाही के अन्तर्गत औपचारिकता पर इतना अधिक बल दिया जाता है कि कोई भी निर्णय लेने में काफी लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है और निर्णय काफी विलम्ब से होता है नौकरशाह नियमों और विनियमों का पालन करने में इतने दृढ़ प्रतिज्ञ होते हैं कि कार्य के संचालन बाधा पहुँचती है लाल फीते में बँधी फाइले एक टेबल से दूसरी टेबल तक पहुँचने में महीनों लग जाते हैं। फाइल को आगे बढ़ाने के लिए जनता को अच्छी-खासी रकम अधिकारियों की मेज तक पहुँचानी पड़ती है। लाल फीताशाही अनावश्यक विलम्ब, नागरिकों की परेशानी और प्रशासनिक आकार्यकुशलता को जन्म देता है।

3% 'kfä iie & इसमें कोई संदेह नहीं कि नौकरशाह शक्ति के भूखे होते हैं विभिन्न विभागों के नौकरशाह शक्ति के संघर्ष में रत होने के कारण लोकहित को भुला देते हैं स्थायी सिविल सेवा सदस्य लोकतन्त्र के नाम पर विभागों की शक्ति में निरन्तर वृद्धि करते जा रहे हैं और मन्त्रियों के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के नाम पर उन्होंने सारी शक्तियाँ स्वयं के हाथों में केन्द्रित कर ली हैं।

4% foHkxhdj.k ;k lkekT; jpu& नौकरशाही के कारण सरकार के कार्य पृथक्-पृथक् खण्डों में विभाजित हो जाते हैं। ये पृथक् खण्ड बिना किसी समुचित पारस्परिक सम्बन्धों के अपने-अपने उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं। इन इकाइयों में अपने-आपको स्वतन्त्र तथा पृथक् इकाइयाँ मानने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। वे यह भूल जाते हैं कि वे किसी बड़े समग्र के केवल अंग मात्र हैं। वे अपने ही छोटे अधिकार क्षेत्र को अपनी अन्तिम सीमा मानने लगते हैं।

5% uohu fujd'krk& इंग्लैण्ड में लॉर्ड चीफ जस्टिस हेवार्ट ने सिविल सेवकों की बढ़ी हुई शक्ति को 'नवीन निरंकुशता' छमू क्मेचवजपेउद्ध की संज्ञा दी है। लॉर्ड हेवार्ट का विश्वास था कि व्यक्तिगत स्वाधीनता खतरे में है, क्योंकि आज अक्खड़ नौकरशाह इतने ताकतवर होते जा रहे हैं कि वे विधायिका और न्यायपालिका तक को प्रभावित करने लगते हैं। उनके जुल्म से कराहती जनता उफ तक नहीं कर पाती और वे पदक और ईमानदारी का पुरस्कार पाकर दैत्य की भाँति मुस्कराते रहते हैं।

प्रत्याशित विधान (Delegated Legislation) ने तो जैसे उनकी झोली में मनचाही मुराद डाल दी हो। विधायिका द्वारा भेजे गए कानूनी ढाँचे, स्महंसँ जतनबजनतमद्ध में वे उन तमाम नियमों को भर देना चाहते हैं जिससे भविष्य में उन्हें अपनी मनमानी करने में सुविधा हो सके।

6% J'Brk dh Hkhouk & नौकरशाह अपने को जनता से बहुत ऊपर और श्रेष्ठ समझते हैं। जनता के साथ सम्पर्क करने या उनसे बातचीत करने में वे अपनी मानहानि समझते हैं। उन्हें इस बात का आभास रहता है कि हमारे पास शक्ति और सत्ता है इसलिए अपनी आवश्यकता के लिए जनता हमारे इर्द-गिर्द आरजू-मिन्नत के लिए आएगी ही, क्योंकि ये प्रशासनिक मामलों के विशेषज्ञ होते हैं। इसलिए मन्त्रियों को भी ये 'उल्लू' ही समझते हैं और उन्हें इस बात का पूरा-पूरा विश्वास रहता है कि ये राजनीतिज्ञ मन्त्री हमारे द्वारा लिए गए महत्वपूर्ण निर्णयों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाएंगे ही।

7% Ykdhj d i:Qdhj & प्रसिद्ध हास्य कवि सुरेन्द्र शर्मा ने नौकरशाही की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि "एक बार मैं सेना के जवानों को हास्य और व्यंग्य की कविताएं सुना रहा था, समस्त कविताएं पढ़ डालने के बाद भी कोई जवान नहीं हँसा, मैंने जब इसका कारण जानना चाहा तो कप्तान ने कहा कि "यह हमारे अनुशासन का मामला है। जब तक हम आदेश नहीं देंगे वे नहीं हँसेंगे। अन्त में जब कप्तान ने आदेश दिया तो सभी जवान दाँत निपोरते रह गए, क्योंकि असली हँसी तो उस समय आ ही नहीं सकती थी।" नौकरशाही व्यवस्था में नौकरशाह नियमों, आदेशों और प्रक्रियाओं से इतने चिपके रहते हैं कि वह निर्धारित सीमा तक 'लक्ष्यमण रेखा' समझते हैं। चाहे परिस्थिति और कार्य की अनिवार्यता कुछ भी क्यों न हो, वे तो बस 'लकीर के फकीर' होते हैं। काम की गम्भीरता और आवश्यकता उनकी नजर में कोई महत्व नहीं रखती है।

नौकरशाही की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने आकार को और अपने सदस्यों की संख्या को निरन्तर बढ़ाती हुई चलती है। संख्या में वृद्धि होने पर भी कुशलता का स्तर नीचे गिरता चला जाता है। 'पार्किंसन' की मान्यता है कि "आकार के बढ़ने में काम की मात्रा कम होती है।" इससे तात्पर्य है काम में वृद्धि न होने पर भी कर्मचारी वर्ग की संख्या बढ़तर चली जाती है। इसके कई कारण हैं— (1) प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत करने की नौकरशाही की इच्छा, (2) नौकरशाही की संख्या में वृद्धि करके काम के भार को हल्का कर लेना, (3) अधिकारी यह चाहता है कि अधीनस्थों को एक-दूसरे की पदोन्नति का भय दिखाकर अनुशासन में रखना

UnHk %

1. मुकर्जी, डॉ रवीन्द्र नाथ. (1961) सामाजिक विचारधारा, विवेक प्रकाशन, दिल्ली-7
2. डॉ. बाजपेयी, अरुणोदय, त्रिपाठी, अंजली; प्रतियोगिता दर्पण, जून 2009, पृ. 1962
3. गुप्ता, एम.एल. और डी.डी.शर्मा, 2002; सामाजिक विचारक, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
4. दोषी, एस.एल.2002; सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन, जयपुर



HUMAN RIGHT IN ANCIENT INDIA

Raksha Singh*

Abstract : *The basis of Human Rights is Dharma which is vitally concerned with humanity. The Law of Dharma in ancient India made an attempt at building an organized social life wherein each individual realized his goals within the parameters of social norms of morality . Human rights, are the rights that belong to an individual or group of individuals simply for being human, or as a consequence of inherent human vulnerability, or because they are requisite to the possibility of a just society. Whatever their theoretical justification, human rights refer to a wide continuum of values or capabilities thought to enhance human agency or protect human interests and declared to be universal in character, in some sense equally claimed for all human beings, present and future.*

Keywords :- Vashudhaivakutumbakam , . Rig-Veda, Tana, Skridhi, Jibhasi, Brihad?ra?yaka Upanishad, happiness

The earliest traces of the idea of Human Rights date back to more than 4,000 years. Rig Veda is considered as one of the oldest sources of Human Rights in the world. In the words of Lukman Harees, "The earliest attempts of literate societies to write about the rights and responsibilities date back to more than 4,000 years to the Babylonian Code of Hammurabi. This Code, the Old and New Testaments of the Bible, the Analects of Confucius, the Quran and the Hindu Vedas are the five oldest written sources which address questions of people's duties, rights, and responsibilities¹. The root of the concern for Human Rights in the Vedic period may be traced to religion. Human beings were created in the image of god. They were endowed with intrinsic worth and dignity. The philosophers of the Vedic period believed that Human Rights were based on mankind's increasing demand for life in which the inherent dignity and worth of each human being deserved to receive respect and protection. The prime importance of Human Rights was in the rich Indian legacy of Vashudhaivakutumbakam or we are all human family. Rig-Veda refers three civil rights . Tana [body], Skridhi [dwelling place] and Jibhasi [life].

Scholars who have spent long time in lucubration on the Hindu "Dharmasastras" and the "Arthasastras" and other legal treatises of the past have discovered an amazing system, which, inter alia, regulates the duties of Kings, judges, subjects and judicial as well as legal procedures. The central concept is Dharma, the functional focus of which is social order. The message is "Dharma" as the supreme value, which binds kings and citizens, men and women. Human rights gain meaning only when there is an independent judiciary to enforce rights. Here, the Dharmasastras are clear and categorical². Human rights have always occupied a place of paramount importance in India's rich legacy because India believed in the principle, welfare of all³. According to Rajadharma, the king was given the power only to enforce the law. Dharmasastras did not confer on or recognize any legislative power in the King. This is the most important distinction between kingship in India and the concept of kingship in the West. But under the kingship as recognized and established under the Dharmasastras, the laws were those laid down by the Dharmasastras themselves. They did not authorize the king

*Research Scholar, Department of Political Science, B.H.U. Varanasi

to lay down new laws or amend provisions of the Dharmasastras. On the other hand, Dharmasastras also laid down the laws governing the conduct of the king himself (Rajadharma)⁴. The Buddhist doctrine of non-violence in deed and thought says Nagendra Singh, "is a humanitarian doctrine par excellence, dating back to the third century B.C.⁵. Jainism too contained similar doctrines. According to the Gita, "he who has no ill will to any being, who is friendly and compassionate, who is free from egoism and self sense and who is even-minded in pain and pleasure and patient" is dear to God. It also says that divinity in humans is represented by the virtues of non-violence, truth, freedom from anger, renunciation, aversion to fault-finding, compassion to living being;;, freedom from covetousness, gentleness, modesty and steadiness -the qualities that a good human being ought to have⁶. The historical account of ancient Bharat proves beyond doubt that human rights were as much manifest in the ancient Hindu and Islamic civilizations as in the European Christian civilizations. Ashoka, the prophet Mohammed and Akbar cannot be excluded from the geneology of human rights⁷.

The concept of happiness that was one of the fundamental rights sought for in the British Bill of Rights finds a special status in Hinduism. The right to happiness is considered to be the highest fundamental right. The holy prayer in Hinduism which is believed to be inspired from the Brihadaranyaka Upanishad is as follows: "Sarvepi Sukhinah Santu Sarve Santu Niramayah Sarve Bhadrani Pashyantu Ma Kaschid Dukhabhag Bhavet" Even the fundamental document of international acclaim on Human Rights, the Universal Declaration of Human Rights, is silent on right to happiness. Although, the right to live along with pursuit of happiness has been laid stress in the American Declaration of Independence. "We hold these truths to be self-evident, that all men are created equal, that they are endowed by their Creator with certain unalienable Rights that among these are Life, Liberty and the pursuit of Happiness⁸. Right to happiness is also emphasised in the Kautilya's Arthashastra- "Prajasukhe Sukham Rajnah Prajanam cha Hite Hitam Naatmapriyam Hitam Rajnah Prajanaam tu Priyam Hitam" ("In the happiness of the subjects lies the happiness of the King; in their welfare his welfare. The King shall not consider what pleases himself as good; whatever pleases his subjects is only good for him"). The concept of dharma or dhamma is a remarkable feature of Hinduism which is of unparalleled significance value. It is relatable to the idea of law, justice, duties and rights. Many other shlokas of ancient Hindu texts deliberate the concepts of equality, non-discrimination and right to happiness which are some basic human rights contained in almost all the international instruments on Human Rights. The ancient Hindu texts not only provide for traces of the ideas on the human rights but they do also lay special emphasis on the duties. The Indian concept perceives the individual, the society and the universe as an organic whole,. Everyone is a child of God and all fellow beings are related to one another and belong to a universal family. In this context, Mahatma Gandhi remarks, "I do not want to think in terms of the whole world. My patriotism includes the good of mankind in general. Therefore my service to India includes the services of humanity⁸.

The concept, theories and the evidences show that the ancient Indians were aware with the concepts and contents of human rights. To conclude that the Human Rights are enforceable rights in every civilized and welfare state. These are inherent in all individuals because of their being human, irrespective of their caste, creed, religion, sex language, ideology etc. These rights originate with the very birth of the individuals and are essential for the development of the human personality and for the human happiness and progress. India has played the most significant role in the promotion of the cause of Human Rights. It has made most sincere efforts for the protection and promotion of Human Rights the World over and is the greatest champion of the Human Rights in the Third World. India has not only incorporated an elaborate Bill of Rights in her Constitution, but also efforts have been made to translate these into reality

References :

1. Harees L. The Mirage of Dignity on the highways of Human 'Progress'- By the bystander's perspective, Author House, 2012, p.59.
2. V.R. Krishna Iyer, The Dialectics and Dynamics of Human Rights in India: Yesterday Today and Tomorrow, Tagore Law Lectures (New Delhi: Eastern Law House, 1999)p. 115
3. Z.A. Nizami and David Paul, ed. Human Rights in the Third World Countries (New Delhi: Kirs Publications, 1994)p. 107
4. Rama Jois, Legal and constitutional History of India, Part I (New Delhi: Universal Law Publishing Co. Ltd. J. 2001)p. 13
5. Nagendra Singh, Enforcement of Human Rights (Calcutta: Eastern Law House Pvt. Ltd, 1986)p. 7
6. S. Radhakrishnan (trans.) The Bhagavadgita (London: George Allen and Unwin, 1958)p. 276.
7. Yogesh K. Tyagi, "Third World Response to Human Rights," Indian Journal of International Law, Vol. 21, No.1 (January -March 1981)p. 120-121.
8. Declaration of Independence: A transcript,<https://www.archives.gov/founding-docs>



Impact of Leadership Style on Organizational Climate in the Indian Insurance Industry

Dr. Dheeraj Negi*
Mr. Deepak Birla**

Abstract : This paper investigates the impact leadership style on organizational climate in the Indian insurance industry. The empirical study was conducted via a multi-respondent survey of 15 insurance companies quoted on the floor of Indian stock exchange as at 31st December, 2013. Using the framework from Ojokuku., Odetayo and Sajuyigbe (2012), factors manifesting organizational climate were canonically correlated and regressed on the key factors manifesting leadership styles. While leadership style was measured using six dimensions (charismatic, transactional, transformational, autocratic, bureaucratic and democratic) proposed by Ojokuku., Odetayo and Sajuyigbe (2012), organizational climate was measured through a set of questionnaire that we developed based on the eight organizational climate dimension proposed by Litwin and stringer (1968). Findings based on the survey revealed that leadership style positively affected organizational climate in the Indian insurance industry.

1. Introduction : The increasing number of studies focusing on the relationship between leadership styles and organizational climate in the past few years were fuelled by the argument that access to capital and technology, are becoming less effective as they can be easily imitated by competing organizations (Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007; Koys and De Cotiis, 1991; Abdulkadir, 2012, 2009). Consequently, human resource is argued to represent an asset that can provide a source of competitive advantage because it's often difficult to duplicate by competitors and hard to substitute even within the same organization (Abdulkadir, 2012). Consequently, effective leadership implies a managerial orientation that ensures that human resources are employed in a manner conducive to the attainment of organizational goals and mission (Bennis, 2007). This is made possible with the adoption of appropriate leadership styles in the day-to-day activities of an organization. In other word, leadership style is hailed as one of the current drivers of competitive advantage within organizations, helping them to survive in the more competitive, customer-oriented commercial environment of today. Hence, leadership style is viewed as the combination of traits, characteristics, skills and behaviours that leaders use when interacting with their subordinates (Jeremy et al., 2012).

In addition, consolidation in the Indian insurance industry has seen the adoption of appropriate leadership styles as a strategic imperative by many firms. Many insurance firms in Indian have adopted several leadership styles as enablers to facilitate related shifts and become more adaptable so as to operate better in such dynamic business environments. Nevertheless the effectiveness of leadership styles in this context of performance related outcomes has hitherto not been investigated.

2.1. Theoretical Frameworks : This study was anchored on the transformational-transactional theory of leadership. This theory differentiate "ordinary" from "extraordinary" leadership (transactional and transformational leadership) ; where followers compliance is exchanged for

*Director, Principal, CBM College, Bedia, Distt.- Khargone MP

**Researcher, Faculty of Commerce Department, Aadish Shishu Mandir H.S. School Bedia

expected rewards, as well as increasing followers' consciousness levels about the importance and value of designated outcomes and ways of achieving them (Ojokuku et al., 2012; Bennis, 2007). In addition, most modern leadership theories identified five leadership styles (charismatic leadership, transactional leadership, transformational leadership, visionary leadership, and culture-based leadership); these leadership styles centered around McGregor's Theory 'X and Y' assumptions (Ojokuku et al., 2012; Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007). Other relevant theories were deduced from existing theories within organization, marketing, and economic theories. Under economic perspective, are market power theory, transaction cost economics, increasing returns theory and resource-based theory. The market power theory is concerned with the ways in which firms can improve their competitive success, which is the ultimate goal of a viable leadership style (Bennis, 2007).

In addition, transaction cost economics holds an assumption that leadership styles are implemented in order to lower the transaction costs, while resource-based view suggests that valuable firm resources (human) are usually scarce, imperfectly imitable, and lacking in direct substitutes; It is about producing the most value from one's existing capabilities and resources by combining these with others' sources of advantage (Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007).

2.2. Conceptual and Empirical Review A leader is person who influences, directs, and motivates others to perform specific tasks and also inspire his subordinates for efficient performance towards the accomplishment of the stated corporate objectives (Ojokuku et al., 2012; Bennis, 2007). Consequently, leadership style is the manner and approach of providing direction, implementing plans, and motivating people. According to Bennis (2007), the relationships between the leader and employee, as well as the quality of the organizational climate, are significantly influenced by the leadership style adopted by the leader (Hackman & Wageman, 2007). Effective leadership in organization, therefore, creates vision of the future and to develop a strategy for moving towards that vision and implementation of the strategy (Ojokuku et al., 2012; Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007).

According to Bennis (2007), leadership style refers to a kind of relationship whereby someone uses his ways and methods to make many people work together for a common task. When leadership styles are properly implemented, the incremental benefits accrued can be extremely relevant, leveraging most of the key strategic drivers in organizations (Crosby, 1979; Feigenbaum, 1951; Juran et al., 1974). Many prior studies have also revealed that successful leadership styles enable different ways to manage business products and services, inducing a positive impact on business performance. In this study, leadership style was measured using six dimensions (charismatic, transactional, transformational, autocratic, bureaucratic and democratic) proposed by Ojokuku et al. (2012).

Charismatic leaders have vision, as well as a personality that motivates followers to execute that vision; as a result, it provides fertile ground for creativity and innovation (Ojokuku et al., 2012; Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007). This leadership style is based upon strength of personality and the consequential legion of happy followers, but few future leaders (Ojokuku et al., 2012). A transactional leader is always willing to give you something (including a good performance review, a raise, a promotion, new responsibilities or a desired change in duties) in return for following them. It is operationalized in this study as the exchange of rewards and targets between employees and management (Juran et al., 1974).

2.3. Organizational Climate : The term organizational climate has been defined in numerous ways. Organizational climate is defined as a global impression of one's organization and personal impact of the work environment, which influences the individual's work behaviors and job-related attitudes; it describes the perception of employees towards their organizations which would link to work attitude formation (Michael, 2010). In this study, organizational climate is viewed as the average meanings that employees attach to a particular work setting and how

work environments are cognitively appraised and represented in terms of their meaning and significance for individual employees in organizations (Abdulkadir, 2012). However, in this study, organizational climate was defined and measured through a set of questionnaire that we developed based on the eight organizational climate dimension proposed by Litwin and stringer (1968). The eight typical dimensions of organizational climate, according to Litwin and stringer (1968), are as follows: Structures (feelings about constraint and freedom to act and the degree of formality or informality in the working atmosphere); Responsibility (the feeling of being trusted to carry out important work);

2.4. Relationship Between Leadership Styles and Organizational Climate Few studies has been conducted in the area of leadership styles and organizational climate (Abdulkadir, 2012; Ferris et al., 1990). Most research showed that leadership style has a significant relation with organizational climate, and different leadership styles may have a positive correlation or negative correlation with the organizational performance measures, depending on the variables used by researchers (Abdulkadir, 2012; Ferris et al., 1990; Fu-Jin et al., 2010). Fu-Jin et al. (2010) also opine that when executives use their leadership style to demonstrate concern, care and respect for employees, it would increase interest of employees in their work and enable them to put up better performance, thereby affecting their organizational climate (Fu-Jin et al, 2010). Many other studies also confirm a positive relationship between leadership style and organizational climate (Abdulkadir, 2012; Ferris et al., 1990). Consequently, based on these previous literatures concerning leadership styles and organizational climate, and in order to achieve the objectives designed for this study, the following research hypotheses are stated: Hypothesis One (H11): charismatic leadership styles have significant effect on organizational climate of Indian Insurance firms. Hypothesis Two (H12): Transactional leadership styles have significant effect on organizational climate of Indian .

3. Research Methodology : Survey research design was adopted in this study. This involved the use of questionnaire, as the primary source of data collection. This is to enable generalization from a sample to a population, allowing in this sense, to establish inferences over the entire population (Sanda and Awolusi, 2014; Awolusi, 2012; Khong, 2005). The population of this study is made up of all the insurance companies operating in the Nigeria. The study made use of a sampling frame consisting of 15 insurance companies listed on the Indian Stock Exchange (NSE) as at 10th December, 2013. The unit of analysis in this study is the firm. Since, the unit of analysis is the firm, the scores for each variable was aggregated and average over the all the respondents for each company. Consequently, a self designed questionnaire was administered to both junior, senior and management staff of the participating insurance firms. From a time dimension, this research adopts a one-time cross-sectional perspective. To get insights into the essential leadership styles and its effects on organizational climate, in the Indian context, all items representing the various constructs were validated and accepted individually by three professors and five experts in organizational management.

4. Results and Discussion of Findings : From the 502 total distributed questionnaires, 350 questionnaires were returned (giving a 69.7% response rate). Out of the returned 350 questionnaires, 20 were discarded due to incorrect fillings. Consequently, 330 questionnaires were analyzed to test the hypothesized relationships between leadership styles and organizational climate in the Indian insurance industry. Data collected were analyzed using canonical correlation and regression analysis (Hair et al., 1998, 1995; Fisher, 2005; Onikoyi, Awolusi, 2014).

4.1. Correlation Analysis : As shown in Table 1, both autocratic and bureaucratic leadership styles have negative and insignificant relationship with organizational climate with a correlation (r) of -0.11 and -0.13 respectively. The remaining constructs have a significant positive relationship with organizational climate. **4.3. Discussion of Findings** From the results in tables 1 and 2, there is a strong positive relationship between leadership styles and organizational

climate with a multiple correlation (R) of 0.5341. The adjusted R² of 0.4756 also implies that 47.56% of the variations in organizational climate are adequately explained by the leadership styles adopted by the individual firms. A positive and significant relationship obtained in this study agrees with previous studies (Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007; Koys and De Cotiis, 1991; Abdulkadir, 2012; Ojokuku et al., 2012). However, contrary to these studies (Bennis, 2007; Hackman & Wageman, 2007; Koys and De Cotiis, 1991; Abdulkadir, 2012; Ojokuku et al., 2012), both autocratic and bureaucratic leadership styles have an insignificant negative relationship with organizational climate. This may be due to inexperience of autocratic leaders, with leadership thrust upon them in the form of a new position or assignment that involves people management (Ojokuku et al., 2012). Autocratic leaders can also damage an organization climate as they force their 'followers' to execute strategies and services in a very narrow way, based upon a subjective idea of what success looks like. Lack of shared vision and little motivation beyond coercion may also impact negatively on organizational climate (Michael, 2010).

5.1. Conclusion : An empirical framework was created to assess specific relationships between leadership style and organizational climate in the Indian Insurance industry. The results obtained from this study indicate that leadership styles is moderately practiced by companies operating in the Indian insurance industry and that organizational climate is reasonably enhanced by four out of the six leadership styles tested. The paper also associated the effects of successful leadership styles to improved organizational climate. As a result, the measurement and structural equation contrived offered a mathematical interpretation of how leadership styles adopted by an organization can affect organizational climate.

5.2. Managerial and Theoretical Implications : Based on the findings in this study, managers should place less emphasis on both autocratic and bureaucratic leadership styles by becoming more involved in guiding their subordinates; public managers should formulate and implement effective reward and recognition systems. Furthermore, managers should strive to become role models to their subordinates, inspire subordinates by providing meaning and challenge to work, stimulate subordinate efforts to become more innovative and creative, as well as, pay greater attention to each individual's need for achievement and growth. The model in this study is expected to be used by insurance firms in composing strategies to optimize their leadership styles and the consequential impact on organization climate. This research provides incisive insights regarding the respective effect of leadership styles and organizational climate in the Indian insurance industry.

References :

1. Abdulkadir, D. S. (2012). "Strategic human resource management and organizational performance in the Indian insurance industry: the impact of organizational climate", *Business Intelligence Journal*. Vol. 5, No. 1, Pp 8 - 20.
2. Abdulkadir, D. S. (2009). Effects of Strategic Human Resource Management Practices on Perceived Financial Performance: Some Evidence from the Indian Financial Sector.
3. Agus, A. (2001), "A linear structural modeling of total quality management practices in manufacturing companies in Malaysia", *Total Quality Management*, 12(5), 561-73
4. Aggarwal, S. (1998), "Re-engineering: a breakthrough or little new?", *Journal of Socio-*



Client Outreach: Objective or Measurement

Prashant Kumar Maurya*

Introduction : Christen (1997), defines microfinance as 'the means of providing a variety of financial services to the poor based on market-driven and commercial approaches' (Christen R.P., 1997). This definition encompasses provision of other financial services like savings, money transfers, payments, remittances, and insurance, among others. However many microfinance practices today still focus on micro-credit: providing the poor with small credit with the hope of improving their labour productivity and thereby lead to increment in household incomes.

In the global arena there is already the impression that microfinance is successful in financial inclusion and as a means of reducing poverty. Still many policy makers are therefore engaged on how to make microfinance sustainable and available to many poor households in the future. The history of micro financing can be traced back as long to the middle of the 1800s when the Lysander Spooner was writing over the benefits from small credits to entrepreneurs and farmers as a way getting the people out of poverty. But it was at the end of World War II with the Marshall plan the concept had a big impact.

Current expression of micro financing has its roots in the 1970s when organizations, such as Grameen Bank of Bangladesh with the microfinance pioneer Mohammad Yunus, where starting and shaping the modern industry of micro financing. Another pioneer in this sector is Akhtar Hameed Khan. Shore bank was the first microfinance and community development bank founded 1974 in Chicago. In India, during early 1980's, the existing banking policies, procedures and systems were not suited to meet the requirements of poor. For borrowings poor people usually resort to unorganized sector. NABARD recommended that alternative policies, systems and procedures should be put in use to save the poor from the clutches of moneylenders. Thus microfinance was introduced in banking sector.

Microfinance is the provision of a broad range of financial services such as deposits, loans, payment services, money transfers and insurance to the poor and low income households and their micro-enterprises. Microfinance is defined as "Financial Services (savings, insurance, fund, credit etc.) provided to poor and low income clients so as to help them raise their income, thereby improving their standard of living". Micro-financing is regarded as a tool for socio-economic improvement in a developing country like India. It is expected to play a significant role in financial inclusion, poverty alleviation and development.

In India, NABARD has successfully spearheaded the microfinance programme through partnership with various stakeholders like non-governmental organizations (NGOs), banks, cooperatives etc., in the formal and informal sector, with support from both the government of India (GoI) and the Reserve Bank of India (RBI) since the early 1990s. The SHG-Bank linkage programme (BLP) was launched by NABARD as a pilot project in 1992 against the backdrop of a huge banking structure unable to adequately address the microcredit needs of the poor.

*Assistant Professor at Centre for Teacher Education, Central University of Tibetan Studies (CUTS), Sarnath, Varanasi

Modes of Delivery of Microfinance : Micro Finance Institutions (MFIs) around the world follow a variety of different methodologies. The focus of such service is women rather than men for the reason women *are more judicious and economical to men. The following are major methodologies employed by MFIs for delivery of financial services, to low income families like, Self Help Groups (SHGs), Individual Banking Programmes (IBPS), Grameen Model and Mixed Model.

This is all about the microfinance system but the import aspect of any scheme is its employability and how much scheme is able to achieve its objectives. In context of microfinance, client outreach, people are accessing the services of microfinance, is one of the indicators to judge the microfinance scheme. The objective of this paper is to evaluate the inter-state differential in outreach to clients of microfinance. As highlighted, one of the key roles microfinance has to play in development is in bringing access to financial services to the poor, to those who are neglected by the formal banking sector. This is their social mission. Mainstream banks target clients that have collateral. The poor do not have assets to act as collateral, therefore they are ignored by the formal financial sector. These banks tend to be found in urban centres while the majority of the poor in the developing world live in rural areas, where financial services are not provided. Therefore, if MFIs are to fill this void they must reach the rural poor. However, according to most studies, microfinance is only reaching a small fraction of the estimated demand of the poor for financial services (Littlefield and Rosenberg, 2004).

Table-1:
Number of MFIs in Indian States/UTs and Number of Districts with MFI Operation

Number of States/ UTs	Number of MFIs Operating in the State(including those having Head Quarters Outside)		Number of Districts of the State where MFIs Operate		Number of Branches	
	2015	2016	2015	2016	2015	2016
Andhra Pradesh	10*	9	23*	13	776*	213
Arunachal Pradesh	3	3	7	5	11	12
Assam	19	21	24	25	552	320
Andaman & Nicobar	1	2	1	1	1	2
Bihar	28	34	38	38	915	856
Chandigarh	1	2	1	1	2	6
Chhattisgarh	17	22	16	23	248	312
Delhi	13	12	7	7	70	49
Goa	4	3	2	1	7	7
Gujarat	22	22	23	33	386	458
Haryana	13	16	19	20	129	165
Himachal Pradesh	4	5	4	4	6	7
Jammu & Kashmir	1	1	1	1	1	1
Jharkhand	19	24	23	24	231	276
Karnataka	29	32	30	30	1185	1373
Kerala	13	16	14	13	220	301
Madhya Pradesh	37	37	48	48	870	948
Maharashtra	37	42	35	36	980	1029
Manipur	8	6	9	9	45	38
Meghalaya	7	7	6	6	26	20
Mizoram	4	5	8	8	34	31

Nagaland	2	3	4	2	2	3
Odisha	26	26	30	31	742	692
Puducherry	11	12	3	4	17	20
Punjab	7	9	17	21	93	132
Rajasthan	21	21	33	31	287	279
Sikkim	3	3	3	2	10	8
Tamil Nadu	34	33	32	34	1377	1519
Telangana	-	6	-	9	-	155
Tripura	6	9	6	8	99	28
Uttarakhand	13	16	10	9	95	92
Uttar Pradesh	23	25	70	71	1063	1291
West Bengal	35	45	20	20	1740	1001
Total	-	-	568	588	12221	11644

Source: Bharat Micro Finance Report-2015, 2016.

In the above table, except of some states like, Andhra Pradesh, Delhi, Goa, Manipur Tamilnadu, whereas, other states have same or increased number Of MFIs operating. In case of Andhra Pradesh, Telangana came in existence as a separate state so the reduction is due to the same. The picture will be more clear, when we see the number of districts in the state where MFIs operated and number of branches. In Arunachal Pradesh, Assam, Bihar, Delhi, Goa, Kerala, Manipur, Meghalaya, Mizoram, Nagaland, Odisha, Rajasthan, Sikkim, Tamilnadu, Tripura, Uttarakhand and West Bengal are showing complicated picture whereas, other states showing a clear picture of expansion.

Arunachal Pradesh is the state where number of MFIs are same as 2015 but number of districts, where MFIs operates, has decreased but number of branches has increased, in some districts MFIs are able to find out working condition but in other they did not. The states, Assam and Tripura, have an increase in number of MFIs along with the number of districts, where MFIs operates but number of branches has decreased from 552 to 320 and 99 to 28 in Assam and Tripura, respectively, which is not a good sign. Bihar, Mizoram and West Bengal are the states have an increase in number of MFIs with no change in number of districts but the worst part is decrease in number of branches from 915 to 856 in Bihar, 34 to 31 in Mizoram and 1740 to 1001 in West Bengal.

In the states, Delhi and Manipur, the number of MFIs and number of branches has decreased with no change in number of districts, where MFIs operates, it may be due to lack of profit to these MFIs. In Goa, the number of MFIs and number of districts, where MFIs operates, has decreased but the number of branches are same. In the States like, Kerala and Nagaland, number of MFIs has increased along with the number of branches, but number of districts, where MFIs operates has decreased, indicating concentration of MFIs in the districts where MFIs already established. In Meghalaya, there is no change in MFIs and number of districts where MFIs operates but there is reduction in the number of branches 26 to 20 from 2015 to 2016. In the state Odisha, number of MFIs are same but there is an increase in number of the districts, where MFIs operates but the number of branches has reduced. The situation of Tamilnadu, is totally different from above states, showing a positive sign and indicating an efficient market of MFIs because the number of MFIs has decreased but the number of districts, where MFIs operates has increased along with number of branches, indicating that those MFIs are efficient they are expanding but those were not able to compete, left the market. In case of Rajasthan, Uttarakhand and Sikkim the situations are same, showing increase in number of MFIs but here is reduction in number of districts, where MFIs operates along with number of branches.

The situation of these states are showing different pictures, may be due to different reasons but one thing is very alarming, that is the reduction in number of branches, especially in those states where number of MFIs are same or increased with the constant or increased number of districts, where MFIs operates, which shows the failure of MFIs in a certain extent. Another reason may be that the MFIS branches are not getting expected result.

Table-2: Number of Branches and Outreach of Borrowers: Yearly Trend

Year	Number of Branches	Number of Borrower (in Lakh)
2001	-	3
2005	-	35
2010	-	267
2011	13562	317
2012	11459	275
2013	10697	275
2014	12221	330
2015	12221	371
2016	11644	399

Source: Bharat Micro Finance Report-2016.

Table-2 shows yearly trend of number of branches and outreach of borrowers. If we see the number of branches and number of borrowers together, showing almost the same picture, with some good sign. As here is an increase in number of borrowers as well as number of branches but year 2016 is showing a different and mixed picture where the number of branches has decreased but the number of borrowers has increased, showing the efficiency of these branches.

Table-3 shows category-wise breakup of branches and borrowers as categorized in the following four categories. In the case of society trust number of branches and the number of borrowers has also showing positive. In case of cooperatives and Section and Com., number of branches has increased but the number of borrower are almost same whereas, in case of NBFC-MFIs are showing decrease in number of branches as well as the number of borrowers.

Table-3: Number of Branches and Outreach of Borrowers: Category-wise Breakup

Categories-wise Breakup	Number Of Branches		Number of Borrower (in Lakh)	
	2015	2016	2015	2016
Society & Trust	860	903	41	46
Cooperatives	39	50	1	1
Section & Com.	753	916	13	13
NBFC-MFIs	10569	9775	316	339

Source: Bharat Micro Finance Report -2015, 2016.

If we consider the branch-borrower ratio against these categories, here a huge differences in these categories. In case of Society and Trust, the ratio between branch and borrower is 4540 whereas 2000 in case of cooperative, which is almost half of former. In case of Section & Com. and NBFC-MFIs it is 1419 and 3468, respectively. It means that Society and Trust has highest branch-borrower ratio, indicating most popular method of micro financing and it may be due to organized and systematic structure of it.

Table-4 shows the inter-state differential in client outreach and its growth under MFIs. When we see the growth (%) from 2014 to 2015, all the states are showing positive growth except Andhra Pradesh, may be due to the issue of separation of Telengana. But when we see the change/growth from 2015 to 2016, the picture become crucial because the states like, West Bengal, Assam, Tripura, Meghalaya and Arunachal Pradesh, have negative growth, not a good sign and showing failure of MFIs and in north eastern states, only two states of North East, Manipur and Mizoram have positive growth rate 19% and 3%, which is very low in comparison to other states.

Table-4: Outreach (in Lakh) of MFIs across States/UTs-2014-2016

States	2014	2015 (Growth%)	2016 (Growth%)
Karnataka	52	62 (19%)	75(21%)
Tamil Nadu	38	46(22%)	57(24%)
Uttar Pradesh	21	29(38%)	39(36%)
Maharashtra	28	30(7%)	39(29%)
Madhya Pradesh	16	21(35%)	28(34%)
West Bengal	43	45(6%)	25(-45%)
Bihar	17	24(41%)	24(0%)
Odisha	17	17(3%)	24(38%)
Gujarat	7	11(64%)	13(15%)
Kerala	6	7(26%)	12(75%)
Chattisgarh	4	4(17%)	8(109%)
Rajasthan	6	7(12%)	8(17%)
Andhra Pradesh	46	29 (-37%)	7(-65%)
Assam	12	15(25%)	7(-54%)
Jharkhand	5	5(2%)	7(35%)
Punjab	2	3(76%)	6(109%)
Haryana	2	3(65%)	6(99%)
Uttarakhand	2	3(35%)	3(7%)
Telangana	-	-	3(-65%)
Delhi	2	2(15%)	3(26%)
Pondicherry	0.4	0.83(102%)	1(52%)
Tripura	3	3(15%)	1(-66%)
Manipur	0.6	0.74(14%)	0.88(19%)
Mizoram	0.6	0.63(5%)	0.65(3%)
Himanchal Pradesh	0.01	0.06(801%)	0.49(717%)
Sikkim	0.1	0.20(26%)	0.28(41%)
Meghalaya	0.3	0.37(20%)	0.19(-49%)
Arunachal Pradesh	0.1	0.18(27%)	0.17(-5%)
Goa	0.09	0.10(7%)	0.13(33%)
Chandigarh	0.05	0.06(19%)	0.13(111%)
Nagaland	0.02	0.03(50%)	0.04(36%)
Jammu & Kashmir	0.01**	0.01(-)	0.02(124%)
Andaman	0.01***	0.01(-)	0.01 (10%)
Dadra and Nagar Haveli	0.01	0.01(16%)	-
Total	330	371	399

Source: Bharat Micro Finance Report, 2014, 2015, 2016.

Note: * Telangana excluded. ** Only for Jammu. *** included Nicobar

According to table no.-1, States like, Assam, Bihar, Delhi, Manipur, Meghalaya, Mizoram, Odisha, Rajasthan, Sikkim, Tripura, Uttarakhand and West Bengal shown a decrease in number of branches in 2016 as compare to 2015 but if we see in context of number of borrower only four states, Assam, Meghalaya, Tripura and West Bengal has decreased whereas, in other states, number of borrowers has increased. Arunachal Pradesh is a state where number of branches has increased but the number of borrowers has reduced which is a very sad part of it.

The picture of above situation will be more clear from the following table, showing regional break-up of client outreach. Among all these regions the southern states have highest client outreach 395 in 2015 as well as in 2016, it may be due to high literacy which leads to

awareness and access of micro finance and it may be due to developed system of cooperatives and trust in this region

In the Central, West and North regions, the percentage distribution of client outreach has increased in 2016 in comparison of 2015, which is a good sign, it may be due to expansion of SHGs and NGOs in these regions. East and Northeast regions are showing negative growth of client outreach, which is same as indicated in earlier table, where most of them are northeastern states, proving the belief that less focus towards northeastern states. West Bengal also have negative growth rate, which lead negative growth of these two regions.

Table-5: Regional Breakup of Client Outreach

Region	Client	Outreach
	2015	2016
South	39	39
East	25	20
Central	15	20
West	11	13
North	4	6
Northeast	6	2

Source: Bharat Micro finance Report-2015, 2016.

Table-6 Trends in Rural-Urban Shares of MFI Borrowers

Years	(%) to Total Borrowers	
	Rural	Urban
2012	69%	31%
2013	67%	33%
2014	56%	44%
2015	33%	67%
2016	38%	62%

Source: Bharat Micro finance Report-2016.

Above table shows the trend of the share (%) rural and urban borrower. Here is a continuous decrease in share of rural borrowers from 69% in 2012 to 33% in 2015, reduced by almost half but it has increased in 2016 as 38%. The situation of urban borrower is vice versa. This is the one side of the coin because the reduction in the share of rural borrowers does not mean that the number of rural borrowers has reduced but it is due to high growth rate of urban borrowers in comparison of rural borrowers.

Findings : Microfinance organizations are effectively working in outreach, and have a sustainable level of operations and capable of rapid expansion. India, with a population of over 1.25 billion and estimates of the number of poor people ranging from 300 to 400 million, lead as one of the largest markets for micro financial services.

In case of numbers of MFIs operating, number of districts, where MFIs operated and number of branches few states are showing a clear picture of expansion whereas, others are showing complicated picture. Here is an increase in number of borrowers as well as number of branches but year 2016 is showing a different and mixed picture where the number of branches has decreased but the number of borrowers has increased, showing the efficiency of these branches. The inter-state differential in client outreach shows the states like, West Bengal, Assam, Tripura, Meghalaya and Arunachal Pradesh, have negative growth, not a good sign and showing failure of MFIs and in north eastern states, only two states of North East, Manipur and Mizoram have positive growth rate, whereas in other states, number of borrowers has increased. Arunachal Pradesh is a state where number of branches has increased but the number of borrowers has reduced which is a very sad part of it.

Among all these regions the southern states have highest client outreach, it may be due to high literacy which leads to awareness and access of micro finance and it may be due to developed system of cooperatives and trust in this region.

In the Central, West and North regions, the percentage distribution of client outreach has increased, it may be due to expansion of SHGs and NGOs in these regions. East and Northeast regions are showing negative growth of client outreach, which is same as indicated in earlier table, where most of them are the northeastern states.

Conclusions : Microfinance refers to small savings, credit and insurance services extended to socially and economically disadvantaged segments of society. It is emerging as a powerful tool for poverty alleviation in India. This paper tries to outline the prevailing condition of the Microfinance in India in context of number of MFIs working, number of their branches and client outreach. The prospect of Micro-Finance is dominated by SHGs Self Help Groups-Banks linkage Programme. Its main aim is to provide a cost effective mechanism for providing financial services to the poor. This paper discovers the prevailing gap in functioning of MFIs such as in context of no. of MFIs working, number of their branches and client outreach. There is huge difference in the outreach to client of microfinance because of different cause but here are clear syndromes, that the situation is moving in right direction with some jerk but microfinance has positive impact on socio-economic life of the Indian people.

Suggestions : I think micro finance is a really brilliant because with its help one can improve the living condition of the poorest and weaker section which was not reached by the other schemes. Though Microfinance has brought positive changes in so many lives but huge population are still lacking. So it's important to promote microfinance in all over India by making them aware of MFIs and its benefits to the people and by encouraging them through NGOs and SHGs, to participate in those activities which would eventually improve their living conditions.

References :

1. Puhazhendhi, V. et. al. (2000): Micro Finance for Rural People An impact evaluation, NABARD, Mumbai
2. Sinha, Sanjay (2001): The role of Central Banks in Microfinance in Asia and the Pacific. Manila: Asian Development Bank.
3. Sriram M.S. (2001): Case Study of SHARE Group in Datta, Samar and Sriram MS: Flow of Credit to Small and Marginal Farmers in India - Report submitted to the Ministry of Agriculture, Government of India. Ahmedabad: Indian Institute of Management (Mimeo).
4. M. S. Sriram et. al. (2002): "The Transformation of Microfinance in India: Experiences, Options and Future" working paper series of IIMA.
5. Puhazhendhi, V. et. al. (2002): SHG-Bank Linkage programme for rural poor in India An Impact assessment, NABARD, Mumbai.
6. Sinha S. (2003): "Financial services for low income families: An Appraisal" IIMB Management Review,15,2.
7. Chakrabarti, Rajesh (2004): " The Indian microfinance experience -Accomplishment and Challenges" . Ghose, Rajarshi(2010) "Microfinance in India :A critique".
8. Astha, A. (2009): "Advanced Technologies for Microfinance" Business Science Reference, Newyork.
9. Pal, Debdata (2009): "Efficiency of microfinance Institution in India" Indian Institute of Management, Ahmedabad.
10. Srinivasan, N. (2009): "Microfinance India -State of the sector Report 2009" SAGE publications India Pvt. Ltd.
11. NABARD (2011): "Status of microfinance in India 2010-2011" Retrieved April 20, 2012, Annual Report of National Bank for Agriculture and Rural Development.
12. Devaraja T.S. (2011): Microfinance in India - A Tool for Poverty Reduction, Working Paper Series.
13. The Bharat Microfinance Report, (2014, 2015, 2016): Sa-Dhan, National Bank for Agriculture and Rural Development (NABARD).



Sufism : Doctrine, Discipline, and Development in India

Rahul Maurya*

Abstract : *Sufism, which is known as Tasawwuf in Islam, has a direct connection with the Quran. The life of Prophet Muhammad (saw) shows mysticism and seclusion. He spent most of his time in meditation and practices. Sufism is the path of religious life in Islam, in which the emphasis is on conduct, there is nothing more about the performance of external rituals. In other words, this is a symbol of Islamic mysticism. After Prophet Muhammad (saw), the follower of Islam and who admires sunna, spread the knowledge of Sufism. Thus, it gradually became so famous that it influenced the people of every section of society. Sufism was a movement devoted to the prosperity and wellbeing of the people in the society, not like the readiness of ulemas who lived a rich and wealthy life. They were against formal worship, rigidity and fanaticism in religion. The Sufis turned to meditation in order to achieve religious satisfaction as well as socialize. This research paper is basically based on basic Sufism definition, their origin and early development in brief but widely. It deals with famous doctrines of Sufism and Sufi discipline and gives brief analysis of the development of Sufism in Hindustan with various Sufi orders or silsilahs*

Keywords : Sufi, Sufism, Doctrine, Discipline, Practices and Sufi Orders.

Introduction : The mystical traditions of Islam are known by the general term Sufism. At the end of the 19th century, the term Sufism was coined in India by British scholars, which refers to the conscience and personal religious experience, but it includes classification of external ideologies, practices, social organizations and literary works, which affects many centuries, regions and cultures. The Arabic term on which the word Sufism is based, tasawwuf and the individual who follows this ideology of Islam is called a Sufi. The word Sufi defines various etymologies. The primary obvious meaning of the term comes from suf, 'wool', the traditional ascetic garment of prophets and saints in the Near East. Another term refers to safa which means 'purity' or 'sincerity' while many scholars believe that etymology of Sufi comes from the Greek word sophia which means 'wisdom' or 'knowledge' and also defines spiritual guidance by god.

In the early days of Islam, Sufi and Sufism was described by various institutions or authority, as Dhun-nun Misri who says a Sufi is one whose speech accords with his behavior and whose silence indicates his state and who discards worldly connection. Junayid describes tasawwuf as an attribute in which the abd takes his stand, the substratum of which is an attribute of creature i.e. tasawwuf. Nuri defines it as renunciation of all pleasures of nafs thus, emphasizing on asceticism. A Sufi is one who neither owns nor is owned, i.e. one who is not in limitations. Khafif says as an observance of the existence of God at time of neglectness whatever the definition of the word is, but the determination is that the word Sufi is used for the saint or seeker. The Sufi, who is seeking God makes himself known as a 'traveller', he goes forward through slow 'stages' along a path to unite with truth. The Sufi's journey is not finished until he has passed through all stages, making himself perfect in every one of them before advancing to the next.

Origin of Sufism : Sufism was a melioristic movement inside Islam as well as a social movement for common people. In the early centuries of Islam, a number of religious minded people turned to asceticism and mysticism called Sufis. They protest against the growing materialism of the Caliphate as a religious and political institution. The roots of Sufism are already existed in the Quran and the teachings of Prophet Muhammad (saw) as it defined in

*Ph.D. Scholar, National Museum Institute of History of Art, Conservation and Museology, New Delhi.

Quran "the true servants of God who walk on the earth with polite and courteous bearing; and who when they address the ignorant people give reply to their salaam". Prophet Muhammad (saw) always has remained a sublime mystery of all mysteries. In such a state once, Prophet Mohammad asked his wife Ayesha, who art thou?, Ayesha replied, I am Ayesha. Again he asked who is Ayesha?, she replied daughter of Siddiq. Now Prophet asked who is Siddiq?, she replied the father-in-law of Mohammad. But when Prophet asked who Mohammad is?, she remained silent and understood that prophet was another state. Indeed, the philosophy and mystery of all that exists through divine radiance shall be absorbed by Prophet Mohammad (saw). Thus, Prophet Mohammad (saw) is believed to be the first Sufi of Islam. Sirdar Iqbal Ali Shah wrote that during the Prophet's ministry at Mecca, forty-five men entirely dedicated their lives to meditation and become fervent devotees of the Prophet's doctrine. These people of God called Ashabi-Suffa (Sitters in the shrine), were styled as Sufi.

Abu Bakr and Ali, the first and fourth Khalifa founded their own orders and after that three important order traces their origin to first i.e. Naqshbandiyyah, Baktashashiyyah and Bistamiyyah; the remaining orders were branches of the one founded by Hazrat Ali. Uways-i-Qarni founded his order Uwasiyyah, a Sufi who had no pir or spiritual guide. Uwasiyyah is known as Ashqi-Rasul (lover of Prophet). In early of Islam, three generations of best Muslim are Ashab, Tabiis and Tabitabiis, associated with early Sufis. The first generation connected was Ashabi-Suffa in which appears the name of Abu Bakr, Umar, Ali, Bilal, Ibni, Riyah, Abu Abdullah, Salmani-Farsi. Second generation appears the name of Uwasi-Qarni, Hiran Ibni Heya, Abu Ali al Hasan Basri and the third generation has the name of Habibi-Ajmi (Disciple of Hasan), Malik-Ibni Dinar, Abu Hanifa, Dawud-i-Tai, Bishri Hafi, Dhunnun-Misri, Ibrahimi-Adham, Abu Yazid Bistami, Sari Saqti, Abu Hafa, Marufi Karki, Abdul Qasim Junayid and others.

After that, the establishment of Sufi silsilah or orders began, which expanded on the basis of Islamic theology and spiritual knowledge. The word silsilah literally meant, 'chain', which produces a continuous supernatural relationship between the master (pir) and his disciple (murid), and displays a spiritual genealogy to Prophet Muhammad (saw). The silsilahs were parted mainly into two classes; ba-shara and be-shara. Ba-Shara, were those orders who followed Islamic laws or shari'a, and its directives such as namaz and roza. Major amongst these were the Chishti, Suhrawardi, Qadiri and Naqshbandi etc. The be-shara silsilahs were not bound by the Islamic laws or Shari'a. The Qalandars belonged to be-shara.

Sufi Discipline and Practices : Mysticism in Islam had already existed during Prophet Mohammad's (saw) lifetime but over time, Sufis came under the influence of Sufism and interpreted the doctrine based on their own practices and experiences. Abdullah Harith Muhasibi of Basra has distinguished hal (state of ecstasy) from muqam, according to him knowledge is superior to action. Bistami consisted of sukr and sahw, which was also preferred by Junayid of Baghdad. Junayid's tasawwuf was based on sawh and love, and his practice was on contemplation (muraqada). Dhun-nun Misri's doctrine was based on self sacrifices while Khafif's doctrine was based on ghibat and huzur, he describes "when you disappear from yourself (ghayab) then you appear before the God (huzur)". Mansur gave the theory of 'anal huq' (I am the truth) but he was annihilated. The doctrine of jama (assimilation) and tariqa (differentiation) were the thoughts of Abi Abbas. Similarly, Rabiya, a woman from Basra, changed the asceticism with the element of love to mysticism. The doctrine of wahdat-ul-wujud (unity of being) denotes that one should not differentiate between the Creator and the creation, for both the creation and the Creator are one entity.

Sufi practices have their foundation in purity of life, based on devotion, asceticism which provides the way to reach God. They believed in one God and everything belongs to God which strictly follows the Islamic laws and imitation of the Prophet Mohammad (saw). Sufism is a philosophy, a spiritual discipline, a relationship between master and disciple, a spiritual path. Faith is the most important article of Sufism. Sufism or Tasawwuf consists of

two duties: one is action which consists in conforming to the line of Shari'at or canons of Islam and the other is thinking and feeling (tariqat). The tasawwuf has eight different qualities as example: Junayid viz. submission, liberality, patience, silence, separation (from the world), woolen dress, travelling, and poverty as illustrated in prophets of Islam. Early institutions or saints described that there are four stages for Sufis, through which the initiate must pass before they attain the perfection which gains for him reunion with perfection, which is God. First stage is humanity called *hast*, second is *tariqut* or obtaining the potentiality, third is *araff*, signifies a condition of knowledge akin to inspiration and the last is *haqiqut* that is truth. Sufism is marked by an individual practice of piety, ascetic worship and moral discipline. Mystical experience of the divine is also the centre of Sufism and the way of Sufi life is called a *tariqah*, or path. The path begins with repentance and submission to a master (sheikh or *pir*). Nicholson wrote "the path expounded by the author of the *Kitab al-Luma*, perhaps the oldest comprehensive treatise on Sufism that we now possess, consists of the following seven 'stages', each of which (except the first member of the series) is the result of the 'stages' immediately preceding it, (1) Repentance, (2) abstinence, (3) renunciation, (4) poverty, (5) patience, (6) trust in God, (7) satisfaction". Sufi describes psychological and spiritual accompaniment in two terms such as 'intoxication' (*sukr*) and 'sobriety' (*'a?w*), and next, 'annihilation' (*fana*) and 'subsistence' (*baqa*). Another principle of Sufism likes to attain the god through your spiritual master and your master is God. Sufi may use devotional music called *Sama*, to help strengthen your devotion. God lies within you and you must kill your animal spirit ("nafs" or ego). Sufi poets frequently allude, that music awakens in the soul a memory of celestial harmonies heard in a state of pre-existence, before the soul was separated from God. Sufism seeks the completeness of wisdom; it is a quest for a living knowledge of the Supreme Being. The whole understanding of Sufism rests on the belief that when the individual self is lost, the collective self is found. In religious language, that ecstasy affords the only means by which the soul can directly communicate and become united with God. The objective of Sufism is to reach a personal insight about the creator till the knower and known becomes one. Sufis never believed in the concept of incarnation, they do not have faith in a concept that God can become man. Man must strive for attaining to such a high state of consciousness of the almighty that his personality possibly will no longer be distinguished from the divine. The ultimate goal is mystical union with God. Human beings cannot have this understanding naturally; in fact each potential Sufi ought to take up a course to go through various stages and experiences to complete his spiritual journey.

Sufism in India : It is believed that the Sufis must have entered into India, through routes which were used by the Arab traders and military commanders. In the Indian subcontinent, Sufism appears with the rise of Isma'ili Fatimid Khalifa in the 10th century, when Multan had become a dependency of Fatimid of Egypt between 977 C.E to 985 C.E. and by the middle of eleventh century, Sufism had penetrated into the surrounding Multan. The first Sufi settle in the region was Sheikh Safi-ud-din Kaziruni who was native of Kazirun near Shiraz. After annexation of Punjab by Mahmud of Gajana in his empire, many Sufis in this area were motivated to settle down. One of the early famous Sufi saints was Abu'l Hasan Ali bin Usman bin Ali al-Ghaznawi al-Jullabi al-Hujwari popularly known as 'Data Ganj Baksh' (Distributor of Unlimited Treasure) probably reached Lahore in 1035 C.E. and settled there and died in 1072-73 C.E. as recorded to the tablet on his tomb. He was a disciple of Muhammad-al-Hasan al Khuttali who belonged to Junayid of Baghdad. He wrote a book named *Kashf al-Mahjub*, which is the first known manual of Sufism (mysticism) written in the Persian. The province of Punjab was the beginning centre of the Sufis but later on, Sufism had spread to other parts of India like Kashmir, Bengal, Bihar, and south India. The Sufis emphasized upon simple and sacred life, devotional love and service to humanity which made them popular and provides honorable status in Indian society. Abul Fazl describes fourteen orders or silsilahs of the Sufis in the *Ain-i-Akbari* in which Chishtiyya, Surhaadiyya, Qadiriyya and Naqshbandiyya were very famous. Scholars believe that Chisti silsilah was the oldest order in India. It was founded

by Khwaja Muin-ud-din Chisti who came to Delhi in 1192 C.E. with the army of Shihab-ud-din Muhammad Gauri. He was a disciple of Khwaja Usman Haruni. He stayed for a short time in Delhi and then went to Ajmer where he resided until his death in 1235 C.E. His tomb is situated at Ajmer, famous as dargah of Khwaja Garib Nawaz or Khawaja Sahib. The major Sufi orders or silsilahs in India are following here:

The Chishtiyya : This order was named after Muin-ud-din Chishti and after his death, Qutub-ud-din Bakhtiyar Kaki became his disciple. There were many famous Sufis under this order, in which Hamid-ud-din Nagari who established it in Nagaur at Rajasthan, Farid-ud-din Gunj-i-shakar known as Baba Farid, Nizam-ud-din Auliya and Nasir-ud-din entitled as Chirag-i-dehlavi, Sheikh Siraj-ud-din Usmani, Sheikh Burhan-ud-din Garib, Khwaja Sayyad Muhammad Gesudraj, Sheikh Salim Chishti, Abdul Qaddus Gangohi and Sheikh Nizam-u-din Farukhi were very famous.

The Suhrawardiyya : This order was founded by Sheikh Jiya-ud-din who was contemporary of Ghazali. Sheikh Baha-ud-din entitled as Sheikh-ul-Islam by Iltutamish and Jalal-ud-din Jahaniyan Jahagasht were very famous Sufis of Surhawadi.

The Firdausiyya : This order was a branch of Surhawadi which was founded by Sheikh Badar-ud-din Samarqandi and another famous saint of this order was Sarf-ud-din Yahya Maneri.

The Qadiriyya : It was founded by Abdul Qadir al-Jilani who was a disciple of Abu Sai'd Mubarak and in India, this order became very famous under Saint Shah Niyamat Ullah. Sultan Sikander Lodi was the student of Jilani.

The Naqshabandiyya : It was founded by Khwaja Baha-ud-din Naqshbandi and Khwaja Aladin in the 14th century. Baki Billah was a famous saint of this order who made the necessary publicity so that it was recognized in various parts of India. Naqshbandi opposed to music in their practices.

The Sattariyya : It was famous as Ishqiyya in central Asia and Persia, and as Bistamiyya in Turkey. In India, it was promoted by Sheikh Abdul Sattar.

Conclusion : To sum up, this article discussed definition, origin and development of Sufism in various contexts of Islamic sources and also explores the doctrine and discipline of Sufism. Their impact on various countries, cultures and religions of the world is so deeply entrenched, due to which the brotherhood encouraged the society. It describes a valuable contribution of Sufism, from which people were attracted by the simple living, ethics of life and sense of brotherhood. Sufism is ideal for a society which provides social equality to all people whether king or commoner.

References :

1. Juan E. Campo, Encyclopedia of Islam (New York: Fact on File, Inc., 2009). 639
2. Richard C Martin et al., Encyclopedia of Islam and Muslim world, vol. 2. (New York: Macmillan Reference USA, 2004). 684
3. Sirdar Iqbal Ali Shah, Islamic Sufism (London: Riders & Co. Paternoster House, 1933). 15-28, 31-32.
4. Reynold A Nicholson, The Mystics of Islam (London: G. Bell & Sons Ltd., 1914). 28-29, 59-60, 64-65.
5. Harishchandra Verma, Madhyakalin Bharat, vol. 1. (1993: reprint, Delhi, Hindi Madhyam Karyanvayan Nideshalaya, Delhi University, 2015). 449-452, 454.
6. Saiyad Athar Abbas Rizvi, A History of Sufism in India Vol. 1 (New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 1978). 110-113.
7. Sufism. Accessed September 18, 2017. <https://en.wikipedia.org/wiki/Sufism>
8. Sufism. Accessed September 22, 2017. <http://www.oxfordislamicstudies.com/print/opr/t236/e0759>
9. Sufism. Accessed September 22, 2017. https://en.wikipedia.org/wiki/Sufism_in_India



Timur: A Brief Analysis of History and Achievements

Mahar Salim*

Abstract : Timur, better known as Timur the Lame, in Indian context, was the great great grandfather of Babur who founded the magnificent Mughal Dynasty in Hindustan in the year 1526 C.E. He founded a vast Empire from a small clan not fortunately but on the basis of a relentless campaign. He formed Samarqand, the most renowned former centre and royal capital of the house of Chagtai. On 10th April 1370 C.E. when he was twenty four years of age he ascended the throne, placed the crown of gold upon his head and girded himself with the imperial belt in the presence of princes and the Amir. He became a great conqueror of Central Asia after Genghis Khan. His Empire was also known for its cultural achievements through the architectural marvels of Samarkand, his capital in modern Uzbekistan. Timur took various kinds of craftsmen and architects with him to Central Asia. He united Persia and Turkistan under one umbrella and added the areas of river Indus, Iran, Afghanistan and Punjab to his empire. Timur was inspired by the tradition of his ancestors to make plundering expeditions into Hindustan. His conquests over India and Russia were known in History for his barbaric actions. This paper is basically based on the history of Timur from central Asia to India. It deals with early history and the political achievements of Timur. Brief description about his political career is being explained here.

Keywords : Timur, Transoxiana, Chagtai, Samarqand, Delhi

Introduction : A man of great courage, personality and fair complexion, wonderful in nature rose to power in Transoxiana and became the ruler of the world. Timur was the name of this person which means 'Iron' in Chagtai language (Timur's Mother-tongue), in Persian known as Timur-i-Lang and in English Tamerlane. His father and his uncle Hajji Berlas both were the joint rulers of the Berlas tribe. His father Amir Taraghai was the chief of the tribe of Berlas and ruled over the city of Kesh where Timur was born on 8th April 1336 C.E. in Transoxiana, now this is modern Shahr-e-Sabz (Uzbekistan) situated to the south of Samarqand. Timur, his mother and brothers were carried as prisoners to Samarkand during the invasion of Mongol army when he was eight or nine years old. Timurid historians have tried to trace Timur as a descendant of Chagatai Khan, but actually he was not Mongol but he was a Turk who belonged to a great Transoxiana family of Barlas tribe, with estates round Kesh, which it governed.

Achievements : As a military leader of Turkic troops in Chagatai, Timur gained experience and became a more adept soldier when he trained with the armies of the khans. He was the successful commander of 1000 man during his father's time when he was still a young man, leading an invasion of Khorasan, which he ultimately conquered. After the death of his father, this ambitious young man became the leader of his tribe. The struggle between his uncle and Khan of Chagatai confederation gave him the opportunity to invade their hands and the Chagatai Khans, recognized his leadership. He was illiterate but highly intelligent and loves arguing with scholars. It is sure that his memoirs of account were not written by him but his firmans (orders) were signed with the imprint of his hand in red ink and all of them might have been signed in blood as written by Holden.

*Ph.D. Scholar, National Museum Institute of History of Art, Conservation and Museology, New Delhi

Transoxiana was the lay of the western section of Chagtai Khanate, which also included the region, spread from Balkh to Ghazan and Qandhar. After the rule of Tarmashirin Khan (1331-40 C.E.), the Chagtai Khanate .heir power had fallen and the part of Khanate had begun to separate into eastern and western sections. At the time of Timur eastern region was known as the Ulus Chagtai and the people were of Turko-Mongolian population. The eastern region was called eastern Chagtai or the Moghulistan and the people of the region were Moghuls. Timur and his brother-in-law Hussain had effectively liberated Transoxiana, they ruled together for some time even though both were strong and did not like sharing power. In 1368 C.E., when Amir Hussain proclaimed for sovereignty over the Chagtai confederation and fortified the city of Balkh as his capital, this action turned the fortune of Timur because most of the Chagtai chiefs were favourable to Timur's side. Timur besieged Balkh and captured Hussain, whom he killed and took the command of Hussain's troop. Now he became as the head of Chagtai confederation. This classic tragedy was the reflection of his fate. He was very clever and set about strengthening and legitimizing his position. He began to form Samarqand, the most renowned former centre and royal capital of the house of Chagtai. On 10th April 1370 C.E. when he was twenty four years of age he "ascended the throne, placed the crown of gold upon his head and girded himself with the imperial belt in the presence of princes and the Amir, who fell upon their knees". He had not adopted the title of khan like Chingiz khan while he kept the modest title of Amir which means 'General'. After his accession, he campaigned against the Amir Qamar-al-Din, who was of the tribe of Dughlat and rebelled against the Chagtai Khans. Timur sent Prince Jahangir with advance army Kamruddin climbed in the remote hills with his armies, but Jahangir managed to achieve the success. In 1373 C.E., Timur got his first success against the rulers of Khwarizm. Now his reign has progressed. He appointed his eldest son 'Umar Sheikh' as the proclaimed governor of Andijan and the Farghana valley. He enhanced his prestige in 1376 C.E. while Timur helped Toqtamish, a pretender to the throne of the White Horde and related to the House of Jochi of Chengiz Khan. In 1379-1380 C.E., he took the responsibility to successfully campaign against Kwarizm and this time he exterminated the city of Urgench and divided up its population. Saving Artisans, Scholars and poets obligate for his new Capital. In 1384 C.E., he captured Mazandaran province and bestowed it to Luqman. Tughay Timur, son of an earlier pretender of the IL-Khanid throne. Timur began his relentless campaign against Persia from 1383 C.E., and shortly he captured Herat. All eastern Persia including Khurasan was conquered by him from 1383-85 C.E., and Fars, Iraq, Azerbaijan, Armenia, Mesopotamia, and Georgia all fell between 1386 C.E. and 1394 C.E. In 1399 C.E., he set his expedition against Mamluk he marched on Syria and Aleppo both were seized and sacked, the Mamluk army defeated badly. In 1382 C.E., Toqtamish had proclaimed over the Golden Horde and formed an alliance with Mamluk sultans against Timur. Timur set out their campaign in Iran and defeated the Turko-Mongolian leader Ahmad Jalayir in Azarbaijan. In 1387 C.E., Toqtamish attacked Transoxiana with the help of Qamar-al-Din and confronted Timur. According to Timurid sources, Toqtamish was defeated by Timur. The new eastern Chagtai Khan Khizr Khwaja had welcomed Toqtamish in 1389 C.E. Timur operated two campaigns against Toqtamish upto Zayzan and Chalish. After that he chased Toqtamish upto Volga, and finally Timur defeated Tokhtamish in the Battle of the River Terek in 1395 C.E. During this campaigns Timur's army destroyed Sarai, the capital of the Golden Horde, and Astrakhan, subsequently disrupting the Golden Horde's Silk Road.

Now he wanted to create a provincial government over settled territories so he appointed his grandson Pir Mohammad as the governor of Kabul in 1391-92 C.E. In 1392 C.E., he started his five campaigns against Iran and destroyed the Muzzafarid Dynasty and handed them over to his eldest son Umar Sheikh. Timur united Persia and Turkistan under one umbrella and he added the areas of river Indus, Iran, Afghanistan and Punjab to his empire.

Timur was inspired by the tradition of his ancestors to make plundering expeditions into Hindustan. At the beginning of 1398 C.E., he set out his expedition against Hindustan and sent an advance command under his grandson Pir Mohammad. On 24 September 1398 C.E., he crossed the Indus with his main army. He defeated Jasrat, the chief of Khokhars and reached Delhi from Multan. On his route, he captured the fort of Loni and in December 1398 C.E., he took Delhi under control. At this time Delhi was ruled by Tughluq ruler Sultan Nasir-ud-din Mahmud and under the charge of Mallu Khan Iqbal. After hearing the news of Timur's invasion, Mallu Khan Iqbal attacked Timur's army on 12th December 1398 C.E. but Mallu Khan's attack was easily subdued by Timur. The expedition to Hindustan was very desperate. Timur killed fifty thousand local people during his plundering. He massacred and destroyed all the towns, cities over the route from where he passed. After sacking Delhi, Meerut and Hardwar, Timur left for Samarqand in 1399 C.E. He took various kinds of craftsmen and architects with him to Central Asia. After reaching there, he ordered the building of a mosque named Majid-i-Jami which should be an example of his, and also ordered the building of a tomb for him. His next movement was to the west where he invaded Anatolia in 1401 C.E. In 1402 C.E., he defeated Sultan Bayazid I near Ankora. He destroyed the great cities Samarra, Aleppo, Baghdad and Damascus on his invasion. Timur died on 18th February 1405 C.E., just before his campaign against China and was buried in his tomb which is known as Gur-i-Amir at Samarqand. Timur had four sons; Jahangir, Umar Sheikh Mirza, Miran Shah and Shah Rukh Mirza. After the death of Timur, his grandson Khalil sultan the son of Miran Shah seized Samarqand and took Timur's treasure under his control but in 1409 C.E, Shah Rukh, the son of Timur captured Samarqand and enthroned the seat of government in May 1409 C.E. Shah Rukh Mirza, fourth son of Timur took the charge and consolidated his power. He was fond of various kinds of Art and lover of poetry. His wife Gauhar Shad and out of his five sons, Ulugh Beg (1st son) and Baysunghur (2nd son), contributed much to the development of arts during his regime. During this period, Herat, a principality of Afghanistan, was made the capital of the Empire. Later on, it was annexed with the Timurid Empire by Abu S'aid. Because of heavy drink, Baysunghur died and his brother, Ulugh Beg took the charge of Samarqand as its ruler in 1410 C.E. He was a great astronomer, scientist and mathematician. He built a masonry observatory containing all equipment for observing the position of the stars.

For better control of the empire, Sultan Abu S'aid Mirza distributed the areas of his empire amongst his five sons:

- i) Sultan Ahmed Mirza - Samarqand
- ii) Sultan Mahud Mirza - Asterabad
- iii) Ulugh beg Mirza - Kabul and Ghazni
- iv) Umar Sheikh Mirza - Ferghana (father of Babur)
- v) Sultan Murad Mirza - Gurmna rain Qandhar

Because of this division, two new groups came up in the front; one was Mongol tribe, who were known as Uzbeks later on and second one was Saffavid dynasty in the west (Persia). Hence the Uzbeks were Sunnis and Safavids were Shias. During the period, some of the cities were prominent and rich as far as art and architecture were concerned. These cities were; Samarqand, Bukhara, Ferghana, Kabul. The empire of Timur in Central Asian region continued till the death of Umer Sheikh Mirza in 1494 C.E., who was the father of Zahir-ud-din Muhammad Babur.

Conclusion : In the end, this paper concluded that Timur was an ambitious young man and after proclaiming himself King of Samarqand his wishes to win the states became stronger. He was observant and a great soldier and through his conquests he united Persia and Turkistan under one umbrella and added the areas of the river Indus, Iran, Afghanistan and Punjab to his empire. Although he was illiterate but highly intelligent and fostered artists and intellectuals

with whom it was his pleasure and joy to enter into conversation. During his reign he built monuments as a testament to his inspiration. All in all though he was ambitious and perhaps a good ruler, but to my mind he was a cruel man annihilating ruthlessly the persons whose lands he conquered.

References :

1. Holden, Edward S. The Mogul Emperors of Hindustan. New York: Charles Scribner's Sons, 1895. 01-55.
2. Grousset, Rene. The Empire of the steppes (A history of central Asia). New Jersey: Rutgers University Press, 1790. 409-453
3. Lane-Poole, Stanley. The Mohammadan Dynasties (Chronological and Genealogical tables with historical Evidence). Westminster (London): Archibald Constable and Company, 1893. 265-269.
4. Timur, accessed January 12, 2016, <https://en.wikipedia.org/wiki/Timur>.



Non-Performing Assets in Microfinance

Pradeep Kumar*

Abstract : The trend of Self Help Group Formation has shifted from rural sector to urban sector. Commercial banks are dominating in SHG formation and Loan disbursement, but commercial banks keep worst condition in NPA. PAR data gave a fearful scenario for Non-performing assets in all institutional banks.

Introduction : Cash crunch due to demonetization created problem in loan repayment performance of micro-finance. Fear of economic condition forced Microfinance institutions to rethink about loan recovery. Microfinance companies said with RBI for excuse norms for loan recovery showing the economic conditions. Loan repayment performance in that period were in poor condition so microfinance companies asked the Reserve Bank of India (RBI) to let them extend the tenure of loans in which interest payments were due between 1 November and 31 December. A lobby group of micro lenders has written to RBI in this respect. Microfinance institutions Network (MFIN), a lobby group of micro lenders, has written to RBI in this respect (Ratna Vishwanathan). Failure to pay on time will depress the credit rating of borrowers as well as microfinance institutions (MFI).

Loan of Microfinance is given for approximately one to two years. So microfinance institutions were demanding for the tenure should be extended by three months extra, loan of restructuring were much concern. "Borrowers have not been able to pay installments on time due to the disruption caused by discontinuation of high-value notes," Vishwanathan.

High value currency in market was deteriorating the loan repayment performance. High value currency pushed them into the defaulter list in credit bureaus that could not be controlled. This picture was covering to help both the borrower in terms of their credit history on the credit bureau, as well as NBFC (non-banking financial company) MFIs to ensure their rating is not adversely affected. In Microfinance Institution any loan is classified as non performing assets if principal and interest are remain for 90 days or more. Due to cash crunch with demonetization, RBI permitted Microfinance Institutions an extra 90 days to isolate loans as Non Performing Assets, that will be valid only if payments were due between 1 November and December last. However, this matter got politicize, as some politicians in U. P and Maharashtra explain this as a loan waiving schemes, and make rumor in loan beneficiaries not to return Microfinance institutions' loans.

In spite of extra 90 days rebate in Loan repayment, microfinance institutions have been facing an increasing level of stress. Bharat Financial Inclusion Pvt. Ltd that is financial institution point out to their share holders that approximately 4.5% of its total outstanding loans due those are of greater than sixty days, could fell in non performing assets. In the December quarter, the comparable ratio was 0.2%, according to a note from Religare Institutional Equities. Ujjivan financial institution was also keeping precaution for it's risky assets.

PAR gave a fearful scenario that repay of loan before one month is a foresight matter as economic scenario is presenting. The chance of outstanding loan recovery in less

*Research scholar, Department of Economics, BHU, Varanasi

than 60 days is approximately 10 to 20 percentages. So it can be assumed that Non Performing assets could increase in future further also.

Indian economy has two part, one is rural economy and second is urban economy that got affected through any economic fluctuations. Any economic fluctuation affects rural or urban economy on different degrees. Urban economy is much linked with global economy, so when any economic fluctuation will occur in the world then urban economy will get much affected. Whereas rural economy especially Indian context are not so much linked with economic fluctuations. It was assumption in day before that microfinance will work in poor infrastructure region, but now scenario is changing. Such institutions work in the surrounding where commercial banks were unable to prove its existence. The scene has changed. Microfinance institutions are changing its focus from rural sector to urban sector in India. The government has also supported MFIs to a great extent so that poor and rural people who are not able to receive funds from formal financial institutions can receive it from the Microfinance Institutions channel (Shanu Singh¹, Dr. Chandrama Singh²) For the first time in its 25-year history, Indian MFIs have more urban clients than rural ones. The latest data, issued by Sa-Dhan an industry self-regulatory organization, shows 67% of the 37 million Microfinance beneficiary belong to urban India. If we concern about the beneficiaries status in 2012 and 2013, then we will get that the share of rural customers were 69% in 2012 that has slipped down to 67% in 2013. Now rural customer has slipped to 56% of total microfinance beneficiary.

Objectives of the study : The main objective of this paper is to evaluate the trends and changes of Non-Performing Assets in Microfinance Institutions (MFIs).

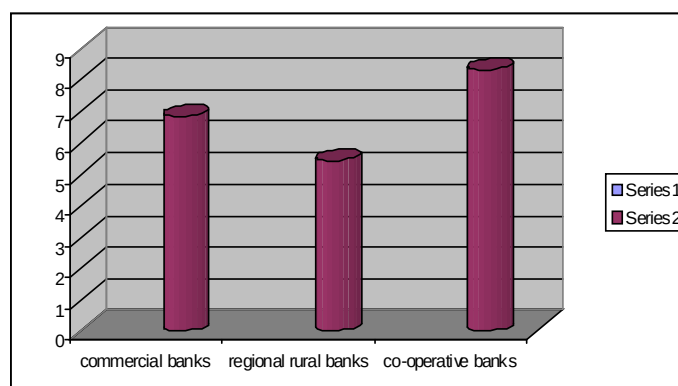
AGENCY-WISE DISTRIBUTION OF SHG BANK LINKAGE PROGRAMME:

the network of commercial banks is greater than regional rural bank and co-operative banks, so commercial banks is leading in SHGs formation. In total bank linkage programs, there are more than 52% of total bank linkage program SHGs are maintaining their saving accounts with commercial banks. The share of commercial banks has increased in 2016-17 by 7.4%. The performance of commercial banks also is good in saving outstanding of SHGs, whereas Cooperatives on the other hand remained low with 18% SHGs share and 14% of savings outstanding. When we concern on the basis of sector wise loan disbursement then we got that Commercial Banks disbursed R24,297 crore to 11.16 lakh SHGs with an average of R2,17,629 against national average of R2,04,314. Commercial banks accounted for 63% of bank loans disbursed to 59% SHGs during the year. But when we compare the loan disbursement of commercial banks from one year before then we got that the loan disbursement are less in current year.

Category of agency	Total Savings of SHGs with Banks as on 31 March 2017		Loans disbursed to SHGs by Banks during the year		Total Outstanding Bank Loans against SHGs		NPAs	
	No. of SHGs	Savings Amount	No. of SHGs	Loans disbursed	No. of SHGs	Loans outstanding	Amount of Gross NPA	NPA (%)
Commercial Banks % Share	444428 51.8	1017002 63.1	1116442 58.8	2429702 62.7	267030 55.1	3866847 62.8	264112 66.0	6.83
Regional Rural Banks % Share	2586318 30.2	363176 2.5	557540 29.4	1151300 29.9	161184 33.2	1911991 31.0	104500 26.1	5.47
Cooperative Banks % Share	1546129 18.0	231244 14.4	224138 11.8	287113 7.4	566141 11.7	379292.2 6.2	31607 7.9	8.33
Total	576875	1611423	1898120	3878116	484828	6158130	400219	6.5

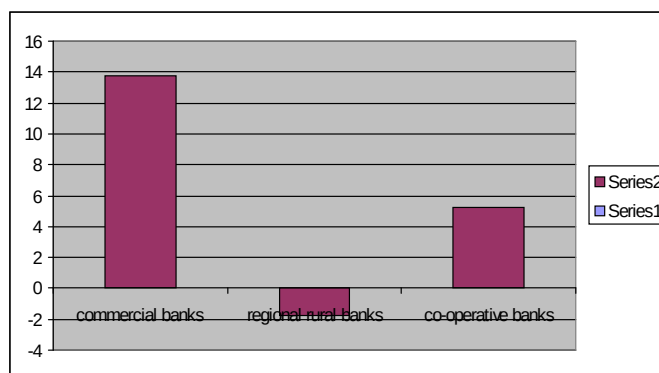
But when we concern about the share of loan disbursement by Regional rural banks, then we got that RRBs have performed 27% better than previous year, and the number of SHGs also increased in that period. The number of SHGs provided credit support also increased by 18.5%. The loan disbursement by RRBs during the year was average R2,08,290, that was better result than previous period. On the other hand share of Cooperative Banks in both number of Self Help Groups disbursed bank loan during the year as well as the quantum of loan disbursed declined in 2016- 17 as compared to previous year. The average loan per SHG provided by Cooperatives was R1,28,097, marginally increasing from R1,27,894 in the previous year. Bank-wise details of loans disbursed during the year under SHG-BLP are given in Statement I-B. The number of SHGs having loan outstanding as on 31 March 2017 increased in case of RRBs and Commercial Banks, however, but RRBs are dominating in respect to others that is 18.7%.

Figure 1



Commercial Banks kept approximately two thirds of the bank loan outstanding under Self Help Group bank linkage Model. The loan outstanding was approximately average of commercial banks, and loan outstanding in case of regional rural banks was R1,18,622, and on other hand co-operative banks loan outstandingly was R66966. The overall Non performing assets of total banks loan to Self help Groups was 6.5% in 2016-17, that is approximately to previous year. The Commercial Banks as well Cooperative Banks have witnessed a rise in NPAs over the previous year while there was a fall by 114 basis points for RRBs (NABARD). AGENCY-WISE % CHANGES of NPA IN 2016-17 OVER 2015-16

(figure2)



Above data explain that commercial banks are doing better than in SHGs formation and loan disbursements than regional rural and co-operative banks, but in Decreasing NPA commercial banks are worst performer as explained in figure 2. Whereas in size of Non

performing Assets, regional rural banks are not in so poor condition as commercial banks and co-operative banks.

Status of Banks loan to MFIs : The status of bank loan to microfinance institutions of three years is shown Table 2. Within three years in bank linked MFIs model, banks disbursed loan 47.73% greter than previous year. But in 2016-17, banks disburstment of loan was negative than 2015-16.

Status of Banks loan to MFIs:

Table2

Particulars	2014-15		2015-16		2016-17	
	No. of accounts	Amount	No. of accounts	Amount	No. of accounts	Amount
Loans disbursed by banks/FIs to MFIs	589	15190.13 (47.73%)	647	20795.57 (35.90%)	2314	19304.38 (-7.17%)
Loans outstanding against MFIs as on 31st March	4662	22500.46 (36.22%)	2020	25580.84 (13.69%)	5357	29225.45 (14.25%)
Loan outstanding as % of fresh loans		148.13		123.00		151.39

Source: NABARD

When we concern about loan disbursement in in MFIs loan account then we got that commercial bank there also doing better than regional rural banks and NABARD. After 2014-15 the disbursement rate of loan to microfinance institution were in increasing rate, but regional rural banks performance in loan disbursement was poor as in 2014-15, regional rural banks disburse loan to 25 accounts but the number of loan account slipped to 13 in 2016-17 as given in table3.

LOANS TO MFIs BY BANKS/FINANCIAL INSTITUTIONS:

Table3

Financing agency		Loans disbursed to MFIs during the year		Loans outstanding against MFIs as on 31 March	
		No. of loan accounts	Amount (r Crore)	No. of loan accounts	Amount (r Crore)
Commercial Banks	2014-2015	541	13858.64	4443	18720.61
	2015-2016	564	19324.14	1561	22682.85
	2016-2017	1430	17091.33	3328	25089.18
Regional Rural Banks	2014-2015	15	47.69	131	1186.62
	2015-2016	31	52.42	344	210.23
	2016-2017	13	37.83	250	78.75
Cooperative Banks	2014-2015	0	0	0	0
	2015-2016	3	6.00	17	11.76
	2016-2017	834	207.33	1682	261.54
SIDBI	2014-2015	33	1283.80	86	2593.23
	2015-2016	49	1413.01	98	2676.00
	2016-2017	37	1967.90	97	3795.98
Total by all agencies	2014-2015	589	15190.13	4662	22500.46
	2015-2016	647	20795.57	2020	25580.84
	2016-2017	2314	19304.38	5357	29225.45

Source: NABARD

All above data explain that the commercial banks keep dominant position in loan disbursement and in SHGs formation in both dimensions. But when we concern on NPA , then we got that a major share of nonperforming assets covered by commercial banks. Regional

rural banks are improving its Nonperforming assets in performing assets but co-operative and commercial banks are not in good condition.

Conclusion : It was belief that microfinance program is much active in poor infrastructure region, where banking institution could not reach, but out data proof that urban area is much covering of microfinance benefit. NBARD data also explain that commercial banks are doing better than in SHGs formation and loan disbursements than regional rural and co-operative banks, but in Decreasing NPA commercial banks is worst performer as explained in figure 2. The overall Nonperforming assets of total banks loan to Self help Groups was 6.5% in 2016-17, that is approximately to previous year. The Commercial Banks as well Cooperative Banks have witnessed a rise in NPAs over the previous year while there was a fall by 114 basis points for RRBs.

References:

1. Pavanch, P.K. (2009). Performance of Banking Industry in India. Retrieved from <http://www.termpaperwarehouse.com/>
2. Sa-Dhan (2009-10), "Bharat Microfinance Report - Strenthening the Provision of Microfinance Services in India - 2010?", the Association of Community Development Finance Institutions?, New Delhi.
3. Sa-Dhan (2010-11), "Bharat Microfinance Report - Strenthening the Provision of Microfinance Services in India - 2011?", the Association of Community Development Finance Institutions?, New Delhi.
4. Sa-Dhan (2011-12), "Bharat Microfinance Report - Moving the sector towards Self- Regulation- 2012?", the Association of Community Development Finance Institutions?, New Delhi
5. Sa-Dhan (2012-13). "Bharat Microfinance Report - Deepening the engagement of Microfinance in Inclusive growth?, the Association of Community Development Finance Institutions?, New Delhi
6. Sa-Dhan (2013-14), "Bharat Microfinance Report - Strenthening Financial Inclusion - 2015?, Sa-Dhan, the Association of Community Development Finance Institutions?, New Delhi.
7. <http://economictimes.indiatimes.com/industry/banking/finance/microfinance-industry-is-out-of-an-unprecedented-crisis-thanks-to-regulations-diligent-borrowers/articleshow/51886097.cms>
8. NABARD Report
9. Micro finance institutions to maintain growth momentum, Aparna Ramalingam ,Jul 7, 2015
10. NABARD report "status of Microfinance in INDIA 2016-17"



A Study of the Genderwise Influence of Adjustment on Teacher's Job Performance at Senior Secondary Level in Meerut District

Sarita Sharma*

Abstract : Education is a most important source to brought social change. A teacher has crucial role in imparting education. The quality of good professionally perfect teacher depends on some factor where the degree of level of adjustment present in the school environment.

The paper is intended to assess the level of Adjustment of senior secondary level teacher's job performance. For the purpose of conducting study, sample comprising 320 senior secondary college teachers was selected randomly from the intermediate college of Meerut District recognized/aided by U.P. Board. The teacher adjustment inventory (MTAI) constructed by Dr. S.K. Mangal was used to collect the data. The teacher job performance scale (TJPS) self constructed by the investigator was used for data collection. Statistical analysis of data was done by using mean, SD and 't' test. It was found that male there is no significant difference between moderate adjusted and low adjusted male teacher's job performance. But significant difference was found between, high and moderate, high and low, male teacher's job performance. Female teachers among high adjusted, moderate adjusted and low adjusted have significant difference on job performance. In this study it was also found that male and female teachers on low level of adjustment have not significant difference on teachers' job performance. On the moderate level of adjustment it was found that there is significant difference between male and female teachers on their performance. But on the high level of adjustment it was found that there is no significant difference between male and female teachers on their job performance.

Introduction : The teachers play a dynamic role in the teaching learning process upon whose competency and efficiency, the quality of education depends. Teacher behavior is conditioned by his psychological as well as sociological environments and hence certain qualities which are essential for good teacher are better developed in certain environments. The present position and the status of teachers mainly results due to the lack of moral influence, professional freedom, academic scholarship and economic security which in turn, affects their professional adjustment, the teacher needs better professional adjustment in his professional life.

A teacher is considered to be well adjusted if he accepts himself and the ways of life he has to follow without getting into trouble. A well adjusted teacher is one whose needs and satisfaction in life are integrated with a sense of social feelings and acceptance of social responsibility. A well adjusted teacher works with dedication if they works in a free mind their sense of responsibility will increase.

Review:

Pandey (1973) conducted a study of teacher's adjustment in relation to professional efficiency, which revealed that : (i) The correlation studies of male and female teachers indicated positive relationship between all the five elements of adjustment, (ii) The predictive value of the regression equation of male teachers; (iii) The cross validity indices of 0.65 and 0.76 of male and female teachers respectively indicated that the regression equations with their assigned weights withstood the test of cross validation.

Mangal (1979) conducted a study on analysis of common factors in teacher adjustment and revealed that : (I) Teacher's adjustment consisted of five factors' adjustment with academic and general environment of the institution, socio-psycho-physical adjustment, professional

*(Research Scholar) C.C.SINGH UNIVRSITY, MEERUT, U.P

relationship adjustment, personal life adjustment and financial adjustment and job satisfaction; (ii) The test re-test reliability and split-half reliability for each factor ranged between 0.97 and 0.99 and between 0.94 and 0.99 respectively; and (iii) The criterion related validity against the Bell's adjustment inventory and the ratings of the teachers by the headmasters came out to be 0.967 and 0.986, respectively.

Atasi Mohanty and Modhusmita Mishra, (2001) "The Professional attitudes and adjustment of traditional and progressive student teachers"

- * The traditional female teachers were found to be better adjusted than male.
- * Adjustment of Progressive female teachers so far as the academic and general environment of instruction is concerned was found to be better adjusted.

Maureen (2011)

- * Maureen et. Al-(2011) made a study on school adjustment in relation to academic achievement and gender which revealed that there were no significant differences between girls and boys in school adjustment.

Objectives:

- * To study the influence of adjustment on male senior secondary school teachers job performance.
- * To study the influence of adjustment on female senior secondary school teacher's job performance.
- * To compare the level of Adjustment of male and female senior secondary school teacher's job performance.

Hypotheses:

- There is no significant difference in the teacher's job performance of the male teachers differing in their level of adjustment.
- There is no significant difference in the teacher job performance of the Female teachers differing in their level of adjustment.
- There is no significant difference in teachers job performance between the male and female teachers having low level of adjustment .
- There is no significant difference in teachers job performance between the male and female teachers having moderate level of adjustment.
- There is no significant difference in teacher's job performance between the male and female teacher's having higher level of adjustment.

Variables : Independent variable-Adjustment
Dependent variable-Teacher job performance.

Methodology: In the present study, Descriptive survey method was used to serve the purpose and focus of the study.

Sample : In the present study the researcher adopted simple random sampling technique. The population consist senior secondary Teachers. The sample selected were 320 senior secondary school teachers of U.P. Board from Meerut district.

Tools :

- * Teacher adjustment inventory (MTAI) by Dr. S.K. Mangal
- * Teacher job performance scale (TJPS) self constructed by investigator with the help of experts.

Procedure : These tests were administered to the sample subjects and the responses made by the prospective teachers on each questionnaire were scored, tabulated and analyzed by using appropriate statistical techniques.

Data Analysis and Interpretation.

Hypothesis -1 : Showing significance of mean difference between high adjusted male and moderate adjusted male teachers on their job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
High adjusted male teachers	45	183.67	22.86	4.21	4.93
Moderate adjusted male teachers	39	162.91	17.07		

The standard value of t and 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96. The calculated value of t is 4.93 which is more than these two standard values, and hence significant. Hence there is significant difference between the high adjusted male and moderate adjusted male teachers teaching in secondary school. The hypothesis is false.

Hypothesis 2 - Showing significance of mean difference between moderate adjusted male and low adjusted male teachers on job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
Moderate adjusted male teachers	48	162.91	17.07	3.69	1.17
Low adjusted male teachers	39	158.59	17.17		

The standard value of 't' and 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level it is 1.96. The standard value of t is 1.17 which is less than these two standard values, and hence not significant. Hence there is no significant difference between the adjustment of the teacher teaching in secondary schools of U.P. Board. It means moderate adjusted male and low adjusted male teachers have the same level of adjustment. The hypothesis is true.

Hypothesis :3 Showing significance of Mean difference between high adjusted male and low adjusted male teachers on job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
High adjusted male teachers	45	183.67	22.86	4.38	5.73
Low adjusted male teacher	39	158.59	17.17		

The standard value of t at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96, The calculated value of t is 5.73 which is more than these two standard values and hence significant. Hence there is significant difference between the high adjusted male and low adjusted male teachers teaching in senior secondary schools of U.P. Board. The hypothesis is false.

Hypothesis : 4 Showing significance of mean difference of high adjusted female and moderate adjusted female teacher on. Job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
High adjusted female teachers	72	188.75	21.94	3.57	12.48
Moderate adjusted female teachers	68	172.50	16.12		

The standard value of t at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.5 level of significance it is 1.96. The calculated value of 't' is 12.48, which is more than these two standard values, and hence significant. Hence there is significant difference between the high adjusted female and moderate adjusted female teacher teaching in senior secondary schools of U.P. Board. The hypothesis is false.

Hypothesis -5 : Showing significance of mean difference of moderate adjusted female teachers and low adjusted. Female teachers on job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
Moderate adjusted female teachers	68	172.50	16.12	3.20	5.38
Low adjusted female teacher	48	155.20	17.62		

The standard value of t at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96. The calculated value of t is 5.38 which is more than these two standard values, and hence significant. Hence there is significance difference between the moderate adjusted female and low adjusted female teachers teaching in secondary school of U.P. Board. The hypothesis is false.

Hypothesis : 6 Showing significance of mean difference between high adjusted female teachers and low adjusted female teachers on job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
High adjusted female teachers	72	184.44	24.14	3.82	8.96
Low adjusted female teacher	48	155.20	17.62		

The standard value of ' t ' at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96. The calculated value of t is 8.96, which is more than these two standard values, and hence significant. Hence there is significant difference between the high adjusted female and low adjusted female teachers teaching in senior secondary schools of U.P. Board. The hypothesis is false.

Hypothesis : 7 Showing significance of mean difference between low adjusted male and low adjusted female teachers on job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
Low adjusted male teachers	39	158.59	17.17	3.74	0.91
Low adjusted female teachers	48	155.20	17.62		

The standard value of t at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96. The Calculated value of ' t ' is 0.91, is less than these two standard values, and hence not significant. Hence there is no significant difference between the low adjusted male and low adjusted female teachers teaching in senior secondary schools of U.P. Board. The hypothesis is true.

Hypothesis : 8 Showing significance of mean difference between moderate adjusted male teacher and moderate adjusted female teachers on their job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
Moderate adjusted male teachers	48	162.91	17.07	3.14	3.05
Moderate adjusted female teachers	68	172.50	16.12		

The Standard value of t at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96. The calculated value of t is 3.05 which is more than these two standard values, and hence significant. Hence there is significant difference between the moderate adjusted male and moderate adjusted female teachers teaching in senior secondary schools of U.P. Board. The hypothesis is false.

Hypothesis : 9 showing significance of mean difference between High adjusted male and high adjusted female teachers on their job performance.

Groups	N	Mean	S.D.	SEM	't' ratio
High adjusted male teachers	45	183.67	22.86	4.27	1.19
High adjusted female teachers	72	188.75	21.94		

The standard value of t at 0.01 level of significance is 2.58 and at 0.05 level of significance it is 1.96. The calculated value of t is 1.19 is less than these two standard values, and hence not significant. Hence there is no significant difference between the high adjusted male and high adjusted female teacher teaching in secondary school of U.P. Board. The hypothesis is true.

Findings :

- Teacher's job performance of male teachers having moderate level of adjustment as compared to teachers job performance of low level of adjustment don't show any difference in their level of adjustment. They have the same level of adjustment.
 - Teacher's job performance of male teacher having high level of adjustment is superior as compared to teachers job performance of male teacher having moderate level of adjustment.
 - Teacher job performance of male teachers having high level of adjustment is superior as compared to teacher performance of male teachers having low level of adjustment.
 - Teachers job performance of female teachers having moderate level of adjustment as compared to teacher's job performance of low level of adjustment have significant difference in their level of adjustment.
 - Teacher job performance of female teachers having high level of adjustment is superior as compared to teacher's performance of female teachers having moderate level of adjustment.
 - Teacher job performance of female teachers having high level of adjustment superior as compared to teachers performance of female teachers having low level of adjustment.
 - Male and Female teacher having low level of adjustment are not significantly differ on teacher's job performance. It means that male and female teachers have the same level of adjustment on low level of adjustment.
 - Male and female teacher having moderate level of adjustment are significantly differ on their job performance. It means that female teacher are superior as compared to male teacher's job performance.
- Male and female teachers having high level of adjustment are not significantly differ. Male and female both have the same level of adjustment on their job performance.

Conclusion : The present study, it is found that there is no significant difference between low adjusted male and moderate adjusted male teachers on their job performance. But, there is significant difference was found between moderate and high, low and high male teacher's job performance. Female teacher among low moderate and high adjusted have significant difference on job performance. In this study it was also found, that male and female teachers on lower level of adjustment have not significant difference on their job performance. On the moderate level of adjustment it was found that there is significant difference between male and female teachers on teacher's job performance. But on the high level of adjustment it was found that there is no significant difference between male and female teacher on their job performance.

Educational implication:

The findings of present study are beneficial to the whole educational system , students , teachers, parents, school managers , educational authorities, research scholars. This study is also beneficial for selection board and for self financed institutes management.

References:

1. "Measuring Adjustment of Teachers" (1984), Journal of Education and Psychology, Vol. 42, No. 3.
2. Manpreet, (2002) "A study of Burnout and adjustment Pattern of Primary school Teachers in Haryana," M.Ed. Dissertation, Department of Education, K. U. Kurukshetra.
3. Mangal, S.K. (1979), "Analysis of common factors in Teacher adjustment", Ph.D. thesis , Department of Education, K.U. Kurukshetra.
4. Mangal, S.K. (1978) Manual for teacher Adjustment Inventory. Arga : National Psychological corporation.
5. Malik, K.K. (1995), "A comparative study of the achievement of B.Ed. Male and Female pupil teacher in relation to their Adjustment and Reading Interests", M.Phil. Dissertation, Department of Education, M.D.U. Rohtak.



Effect of Cooperative Learning and Metacognitive Strategies in Mathematics Class: An Experimental Study of Class VIII Students

Bhuvaneshwari*, Meenakshi Singh**

ABSTRACT : The purpose of this study was to determine the differential effects of cooperative learning and metacognitive strategies on mathematics achievement of class viii students belonging to higher intelligence and lower intelligence groups. The study was conducted with 97 students at Adarsh Nav Jyoti Balika inter college, varanasi (India). The pre-test equivalent groups design was used for this study .Only six chapters of mathematics class viii U.P. Board syllabus were taught to three groups under this study the. The control group was taught through Conventional method and the experimental groups were taught through Jigsaw cum Discussion Method of Cooperative Learning and Metacognitive Strategies. The results indicated that - Use of Jigsaw cum Discussion Method of Cooperative Learning and Metacognitive Strategies improves achievement significantly in both higher and lower intelligence groups.

Introduction : Mathematics is considered as a difficult subject to master by the students at practically all levels from primary school to university. Students who have low aptitude for mathematics, typically as a result of their own perception on the difficulty of mathematics or students who have been discouraged by the lectures of teachers who are unable to deliver the subject matter due to lack of teaching skills in an eloquent manner, will eventually lose interest in mastering mathematics. Now a days schools are under great pressure to create safe, orderly learning environments that encourage social as well as academic skills that allow students to succeed in attainments of the required competencies in school and in their future endeavours. If we expect students to learn appropriate social and evaluative skills, we must structure the learning environment so that these skills can be addressed and practiced (Dollman et al., 2007). For this, appropriate pedagogic practices and episodes of teaching and learning need to be evolved besides keeping track of child's interests and needs (Rao, 2004). Since we are considering that mathematics is a difficult subject so we have to make it easy to learn, make it enjoyable in classroom so that we can improve the attitude of students towards mathematics. In the Cooperative Learning Strategy Students have the opportunity to discuss their answers with fellow students. The students could write -down their answers to a question, turn to their neighbor and talk about their answers and share the same with the entire class. It forces students to discuss their thinking, analyze their position, and explain their point of view to their classmates. By sharing their information with the entire class, students would be able to evaluate themselves while gathering information from other classmates. The teacher would also have the opportunity to evaluate the students' understanding based on the content of the discussions. Metacognitive Strategies are designed to monitor cognitive process. Metacognitive Strategies are ordered processes used to control one's own cognitive activities and to ensure that a

*Research Scholar, Faculty of Education, B.H.U., Kamachha, Varanasi-221010, U.P., India

**Professor, Faculty of Education, B.H.U., Kamachha, Varanasi-221010, U.P., India.

cognitive goal has been met. A student with good metacognitive awareness oversees his/her own learning process, plans and monitors ongoing cognitive activities. The use of metacognitive strategies ignites one's thinking and can lead to better learning and higher performance, especially among learners who strive. Teaching by Metacognitive Strategies about the topic at hand would be more challenging for the teacher. The teacher would have to change his/her mindset and pose questions that truly require the teacher to analyze the existing links to other common experiences and material, determine which processes the student may possibly use, and formulate questions accordingly. Some of the questions that are posed during the discussion can be meaningful and multifaceted. Hartman (2001) states that teaching with metacognitive strategies means that teacher will think about how their instruction will activate and develop students' metacognition.

This research paper presents the outcome of investigation about the effect of cooperative learning and metacognitive strategies as a teaching strategy to enhance meaningful learning and to improve achievement of students in mathematics.

Objective of the study : To determine whether the Cooperative Learning and Metacognitive Strategies are more effective than traditional methods of teaching with respect to academic achievements of students in mathematics.

Design and sample of the study : The study was experimental in nature where Pre-test Post-test Equivalent Groups Design was used. A total of 97 students of three sections of class VIII from Adarsh Nav Jyoti Balika Inter College, Varanasi (India) were randomly divided into three groups and considered as experimental groups(E1= 30, E2= 35) and control group (C=32) for the study.

Tools used in the study : Test of General Mental Ability (or Intelligence) by Prof. Mohan Chandra Joshi was used to divide the students into three groups; and also used to divide the students into two levels of intelligence based on median split.

An achievement test based on six chapters of mathematics syllabus prescribed by U.P.Board for class VIII students was developed by the investigator to measure the students achievement in mathematics.

Procedural details of the study : In the present study the investigator introduced the six chapters of selected units of mathematics namely Square, Cube and their roots, Linear equation in one variable, Linear equation in two variable, Quadratic Equation and Mensuration. Three different methods namely Jigsaw cum Discussion Method of Cooperative Learning, Metacognitive Strategies and Conventional Method of teaching. The achievement test was standardised using the following steps: (1) Expert review (2) Pre try out (3) Try out (4) Item analysis on 100 students belonging to the same board and class.

Before starting the experiment, a general test of mental ability or Intelligence was administered on 97 students of three sections of class VIII. Then 97 students were divided randomly into three groups and one was treated as control group and the other two as experimental groups. Students of all the groups were divided into two categories according to their levels of intelligence based on median split. Students with scores above the median score were considered as higher intelligence group and those with scores lower than the median score were taken as lower intelligence group. After this the standardized achievement test was administered as pre test on both experimental and control group.

After the pretest, the control group was taught through conventional method, and the experimental groups were taught through Jigsaw cum Discussion Method of Cooperative Learning and Metacognitive Strategies. In order to avoid the impact of teacher effectiveness, all the groups were taught by the investigator. After teaching all the six chapters, post test was once again administered on all the three groups. The data obtained was analysed by calculating mean Gain, S.D., and 't' values.

Analysis of the study : The major objective of the study was to know the effect of Jigsaw cum Discussion Method of Cooperative Learning and Metacognitive Strategies on Mathematics Achievement of class VIII students by analyzing the performance of the three groups on the criterion referenced test. Hence it was essential to equate all the groups at statistical level with respect to pretest scores and intelligence, so that the experiment was basically one of comparing the posttest scores of all the three groups having equal general intelligence.

Following the above assumptions, it was decided to employ analysis of variance (ANOVA) on pre-test scores of Achievement in mathematics. F-ratios were computed for the pre-test. Gain scores as measures of outcome of the treatment have been analyzed to study relative effectiveness and 't'-test has also been applied on pairs of control group and experimental groups to assess their relative effectiveness (Jigsaw cum discussion method of cooperative learning; Metacognitive strategies methods of teaching and conventional method of teaching). Table.1 showing the analysis of variance for Pre-Test Scores.

Table.1 ANOVA for Pre-Test Scores on Academic Achievement between Experimental Groups and Control Group.

Source of Variation	Degree of Freedom (df)	Sum of Squares	Mean Square Variance	F-ratio	Significance
Between	2	39.0	19.5	3.43	Not Significant at 0.01 level
Within	94	534.0	5.68		
Total	96	573.0			

Table.1 shows that the F-ratio 5.60 for degree of freedom 2/94 for the Experimental Groups and Control Group was found to be not significant at pre-test stage, indicating that all the three groups were similar on Achievement scores at the pre-test stage.

H01: There is no significant difference between the scores of achievement in mathematics of class VIII students through Cooperative learning and students taught through Conventional Method at the 0.01 level of significance.

Table.2 Means, Standard Deviations and 't' value of Post-Test Scores on Achievement in

Groups	N	$M_{(gain)}$	$SD_{(combined)}$	't'-value	Significance
Experimental group E ₁	30	6.57	3.309	5.006	Significant at 0.01 level
Control group C	32	1.59			

H02: There is no significant difference between the scores of achievement in mathematics of class VIII students through Metacognitive Strategies and students taught through Conventional method at the 0.05 level of significance.

Table.3 Means, Standard Deviations and 't' value of Post-Test Scores on Achievement in Mathematics for Jigsaw cum discussion method and Metacognitive Strategies method

Groups	N	$M_{(gain)}$	$SD_{(combined)}$	't'-value	Significance
Experimental group E ₂	35	8.89	4.22	5.84	Significant at 0.01 level
Control group C	32	1.59			

Table.4 Means, Standard Deviations and 't' value of Post-Test Scores on Achievement in Mathematics for Metacognitive Strategies method

Groups	N	M _(gain)	SD _(combined)	't'-value	Significance
Experimental group E ₁	30	6.57	2.92	0.0012	Not Significant at 0.01 level
Experimental group E ₂	35	8.89			

Major findings of the study :

The analysis of data revealed that-

- (i) There is no significant difference between the pre test scores of achievement of students belonging to both experimental groups and control group. It shows that all the three groups were equivalent before the experiment.
- (ii) There is significant difference between the mean gain scores of achievement of students belonging to experimental group1 (Jigsaw cum discussion method of cooperative learning) and control group. It shows that the achievement belonging to experimental group1 taught through Jigsaw cum discussion method of cooperative learning is more than the group taught through conventional method.
- (iii) There is significant difference between the mean gain scores of achievement of students belonging to experimental group2 (metacognitive strategies) and control group. It shows that the achievement belonging to experimental group1 taught through metacognitive strategies is more than the group taught through conventional method.
- (iv) There is no significant difference between the mean gain scores of achievement of students belonging to experimental group1 (Jigsaw cum discussion method of cooperative learning) and experimental group2 (metacognitive strategies). It shows that the achievement of students belonging to both experimental groups are equal.

Discussion :

(1) The significant difference between mean gain scores of achievement of students belonging to experimental group1(Jigsaw cum discussion method of cooperative learning) and control group indicates that the Jigsaw cum discussion method of cooperative learning is effective in improving the achievement of students. It is visible from the table that students are benefited by the use of Jigsaw cum discussion method.

Leikin and Zaslavsky (1997) found in their study on low- level ninth grade classes of learning mathematics in a cooperative small group setting indicates an increase in students' activity, a shift toward on-task verbal interaction, various opportunities for students to receive help and positive attitudes towards the cooperative experimental method.

Similar result have been reported by Whicker et al. (1997) in an experiment on secondary students and found that students in the cooperative learning groups had increasingly higher test scores than students in the comparison group.

(2) The significant difference between mean gain scores of achievement of students belonging to experimental group2 (metacognitive strategies) and control group indicates that the metacognitive strategies are effective in improving the achievement of students. The result is indicating that students are benefited by the use of metacognitive strategy.

This finding is supported by the study of Ozsoy& Ataman, A. (2009) who studied on 47 fifth grade students and reported that that students in the metacognitive treatment group significantly improved in both mathematical problem solving achievement and metacognitive skills.

References :

1. Dollman, L., Morgan, C., Pegler, J. Russel, W., and Watts, J. (2007). Improving social skills through use of co-operative learning. An Action research Project submitted to St. Xavier University, Chicago.
2. Hartman, H.J. (2001). Metacognition in learning and instruction, theory, research and practice. Hillsdale, NJ: Lawrence Erlbaum Associates, Inc.
3. Leikin, R. & Zaslavsky, O. (1997). Facilitating student interactions in mathematics in a cooperative learning setting. *Journal for Research in Mathematics Education*, 28(3), 331-354.
4. Ozsoy, G., & Ataman, A. (2009). The Effect of Metacognitive Strategy Training on Mathematical Problem Solving Achievement. *Online Submission*, 1(2), 68-83.
5. Rao, P.M. (2004). Promoting child centred education. *Edutracks*, 3 (6), 26-28.
6. Whicker, K. M., Bol, L., & Nunnery, J. A. (1997). Cooperative learning in the secondary mathematics classroom. *The Journal of Educational Research*, 91(1), 42-48.



The Influence of College Principals' Administrative Style on Morale and Organizational Commitment of Teachers

Sweta Agarwal Nee Sweta Sehgal*

Dr. Meenakshi Singh**

Abstract : A number of studies have conducted to demonstrate the effect of leadership styles on educational outcomes. In the present study the influence of Mouton and Blake's Task and people oriented style of leadership on morale and organizational commitment of teacher was analysed. This study aimed at determining the influence of administrative style of principals of KAVAL towns of Uttar Pradesh on morale and organizational commitment of teachers. It was conducted on 440 teachers and 50 Principals of Degree Colleges The findings of the study revealed that the Principals' Administrative Style did not influence the morale and organizational commitment of teachers.

Key Words: Principals' Administrative Style, Morale, Organizational Commitment

Introduction : From Aristotle, to St. Paul, to Machiavelli, writers and thinkers have analysed the behaviour of leaders, and this interest has prompted extensive studies about topics such as importance of leadership, the ingredients of a good leader, typologies of leaders and methods of cultivating effective leadership skills. (Short and Geer, 1997). The term leadership is 200 years old, although the term leader appeared as early as A.D 1300 (Stogdill, 1974). The study of leadership is an ancient art. Scientists such as Aflaton, Cesar and Plotark in his writings have discussed this issue (Rezaeian, 2000). Leadership has been defined as per individual perspective and interest. A comprehensive review by (Stogdill 1974) concluded that "there are almost as many definitions of leadership as there are persons who have attempted to define the concept".

There are different theories of leadership namely trait theories, behavioural theories, contingency theories and integrative theories. The particular style of leadership under study in this research is behavioural theory of leadership. According to the behavioural theory of leadership, the behaviours of leaders matter rather than the traits that which a leader is expected to possess.

The Ohio State Group (Stogdill, 1950) defined two distinct behavioural roles of leaders to categorize the array of leadership behaviours. The categories according to (Nystrom, 1978) were considerations and initiating structures. This categorization was followed by studies at university of Michigan. The researchers at Michigan categorized the behaviours of supervisors as effective and ineffective (Likert, 1967). Between 1958 and 1960 Robert Blake and Jane Mouton developed the "Grid". This Grid was built on the work of Ohio State and Michigan Studies (Blake and Mouton, 1985). Blake and Mouton categorized two attitudinal dimensions. They were Concern for People and Concern for Production.

These two prominent styles of leadership were Task Oriented leadership and People Oriented leadership. The Task Oriented Leadership Style is also called Initiating Structures. The Task Oriented leader's main focus is on goal achievement and has a very clear line of communication. The People Oriented Style of leadership is also called considerations. This leader has concern and respect for his subordinates, their welfare is prime for him and is supportive and appreciative. For the present study, People Oriented and Task Oriented style of

*Research Scholar, Faculty of Education, (k) Banaras Hindu University, Varanasi

**Professor, Faculty of Education, (k) Banaras Hindu University, Varanasi

leadership has been taken. This study aims to find the influence of principals' administrative style on morale and organizational commitment of teachers.

Principals' Administrative Style : Principals' Styles of Administration refers to those stable patterns of behaviour which are inherent in his interactions with teachers while acting in various areas of college administration. Using Blake and Mouton (1964) terminology these are of two types (a) task oriented and (b) people oriented as used in the present study.

For the purpose of this study they are defined and understood in the same way as described by Blake and Mouton as follows.

- i) Task Oriented: High task, low relationship
- ii) People Oriented: Low Task, High relationship

In the present study Principals' Styles of Administration was assessed by Blake and Mouton's Questionnaire translated in Hindi by the researcher.

Morale : Morale as a term is used in areas as diverse in education. (Charters, 1965, Kerlin and Dunlop, 1993) business organization (Connel, 2001; Guba 1958) and social policy (Gardner, 1978; Rambottom, 2003). Morale as a concept has importance in the field of education and management. It is a mental state that contributes to productivity, communication and work. It is influenced by stimuli and affects performance. It impacts the quantity and quality of work. Researches have shown that morale affects work performance. (Armstrong -Stassen et al., 2004 ; Baynes, 1967; Johnsrud et al, 2000) and it is a significant factor which impacts performance of individuals in an organization. Studies by Johnsrud and Rosser, 2002 describe association of unpleasant sensation with low morale and pleasant ones with high morale.

Organizational Commitment : It refers to how teachers perceive various aspects of organizational functioning, i.e. how positive is their perception about various aspects of college education. These aspects or functional activities may be in the area of teaching standards, students' performance, community perceptions about the institution, togetherness or social inter-relationships. In the present study organizational commitment of teachers was assessed by Allen and Mayer's Organizational Commitment Scale translated in Hindi by the researcher.

Objectives of the Study :

1. To find out the influence of Principals' Administrative Style on morale of teachers.
2. To find out the influence of Principals' Administrative Style on Organizational

Commitment of teachers.

Hypotheses :

1. There is no significant difference in the Morale of teachers working with Task Oriented and People Oriented Principals.
2. There is no significant difference in the Organizational Commitment of teachers working with Task Oriented and People Oriented Principals.

Methodology :

1. Method: Descriptive survey method of research was used for the present study.

2. Population: In this study all the principals and teachers of degree colleges of KAVAL towns of Uttar Pradesh constituted the population.

3. Sample/Sampling Technique: The total population was constituted by a large number college principals and teachers. From the total population of college teachers and principals of KAVAL Towns of Uttar Pradesh , 500 teacher and 50 principals were selected by stratified random sampling technique for the purpose of data collection.

4. Tools for Data Collection: The following tools were used for collecting data for this study. Since the population constituted of Hindi speaking people, the tools had to be in Hindi.

1. Blake and Mouton's Questionnaire translated in Hindi by the researcher was used to measure principals' administrative style.

2. Allen and Meyer's Organizational Commitment Scale translated in Hindi by the researcher was used to measure the organizational commitment of teachers.

3. A seven point rating scale College Teachers' Organisational Behaviour Assessment Scale (CTOBAS) was constructed and standardised by the researcher for measuring the morale of teachers.

Reliability and validity: The reliability of CTOBAS, by split half method, was found to be 0.76. The content validity of CTOBAS was established with the help of subject experts.

4. Data Analysis and Statistical Technique: Descriptive statistics such as mean, and inferential statistics such as t-test and chi-square were applied on the scores of the collected data. The level of significance was decided to be 0.05 for the statistical inference of the study.

Analysis of the Study : In order to find the influence of Principals Administrative Style on morale of teachers, t-test was applied and the t value was found to be 0.899. No significant difference was found in the morale of teachers working with task oriented and people oriented principals. Hence the null hypothesis is not accepted as there no significant difference in the morale of teachers working with task and people oriented principal

Table No. 1:

Table Showing Significance of difference in morale of teachers working with people and task oriented principals.

	Morale	
	People Oriented	Task Oriented
N	250	190
Mean	84.97	83.54
S.D	16.85	15.91
df	438	
t-value	0.899	
P	1.96	

Findings related to objective No.2

In order to find the influence of Principals Administrative Style on Organizational Commitment of teachers, t-test was applied and the t value was found to be 0.977. No significant difference was found in the Organizational Commitment of teachers working with task oriented and people oriented principals. Hence the null hypothesis is not accepted as there no significant difference in the Organizational Commitment of teachers working with task and people oriented principal

Table No. 2:

Table Showing Significance of difference in Organizational Commitment of teachers working with people and task oriented principals.

	Organizational Commitment	
	People Oriented	Task Oriented
N	250	190
Mean	70.63	68.97
S.D	17.97	16.68
df	438	
t-value	0.977	
p	1.96	

Conclusion: This study was conducted on the teachers of degree colleges of KAVAL Towns of Uttar Pradesh namely Kanpur, Agra, Varanasi, Allahabad and Lucknow. The purpose of this study was to explore the influence of Principals' Administrative style on morale and organizational commitment of teachers. The tools used by the investigator to explore the influence of Principals' Administrative style on morale and organizational commitment of teachers were

Allen and Meyer's Organizational Commitment Scale translated in Hindi by the investigator and College Teachers' Organisational Behaviour Assessment Scale (CTOBAS) constructed and standardised by the investigator. This study brought an understanding of the kind of principals working in the degree colleges of KAVAL Towns of Uttar Pradesh and how their working influences the behavioural characteristics of teacher. The study revealed that there is no significant difference in the Morale and Organizational Commitment of teachers working with task oriented and people oriented principals. The findings of this study can be used by educational planners and policy makers in developing professional development programmes for teachers and principals of degree colleges.

References :

1. Armstrong-Stassen, M., Wagar, T. H., & Cattaneo, R. J. (2004). Work-Group Membership (In)Stability and Survivors' Reactions to Organizational Downsizing. *Journal of Applied Social Psychology*, 34(10): 2023-2044.
2. Baynes, J. C. M.(1967). *Morale: a study of men and courage; the Second Scottish Rifles at the Battle of Neuve Chapelle, 1915*. London: Cassell.
3. Blake, R.; Mouton, J. (1985). *The Managerial Grid III: The Key to Leadership Excellence*. Houston: Gulf Publishing Co.
4. Connell, J. (2001). Influence of Firm Size on Organizational Culture and Employee Morale. *Journal of Management Research*, 1(4): 220.
5. Charters, W. W., Jr.(1965). The Relation of Morale to Turnover among Teachers. *American Educational Research Journal*, 2(3): 163-173.
6. Gardner, J. W. (1978). *Morale* (1st ed.). New York: Nork
7. Guba, E. G. (1958). Morale and Satisfaction: A Study in Past-Future Time Perspective. *Administrative Science Quarterly*, 3(2): 195
8. Johnsrud, L. K., Heck, R. H., & Rosser, V. J.(2000). Morale Matters: Midlevel Administrators and Their Intent to Leave. *Journal of Higher Education*, 71(1): 34-59.
9. Johnsrud, L. K. (2002). Measuring the Quality of Faculty and Administrative Worklife: Implications for College and University Campuses. *Research in Higher Education*, 43(3): 379-395
10. Kerlin, S. P. & Dunlap, D. M. (1993). For Richer, for Poorer: Faculty Morale in Periods of Austerity and Retrenchment. *The Journal of Higher Education*, 64(3): 348-377.
11. Likert, R. (1967). *The human organization: its management and value*. New York: McGraw-Hill
12. Nystrom, Paul C. (1978), "Managers and the Hi-Hi Leader Myth," *Academy of Management Journal*, 21 (2), 325-31.
13. Ramsbotham, D. (2003). *Prisongate: the shocking state of Britain's prisons and the need for visionary change*. London: Free Press.
14. Rezaeian A, (2002). *Management principles*. Publishing Center for Public Management, Tehran.
15. Stogdill, R. M. (1950). Leadership, membership and organization. *Psychological Bulletin*, 47, 1-14. Short, P. M., and J. T. Greer.(1997). *School leadership in empowered schools: Themes from innovative efforts*. Upper Saddle River, N.J.: Simon & Schuster.
16. Stogdill, R.M. (1974). *Handbook of Leadership: A survey of theory and research*. New York: Free Press.
17. Stogdill, R. M. (1950). Leadership, membership and organization. *Psychological Bulletin*, 47, 1-14.



Bengali Refugees' Rehabilitation at Dandakaranya Project under Chairmanship of Sukumar Sen: His Views and Suggestions

Dr. Sutapa Das*

Abstract: *The present papers attempts to present the observations made by the First Chairman of Dandakaranka Project. The Paper through shows how grievous the challenges were in the during the genesis of the Dandakaranya Development Project. The challenges were both external and internal. Though Sukumar Sen as a visionary could give rightful directives, it could not always be implemented as desired. Till his time the settlement of Bengali Hindu refugees at Dandakaranya was still at a chaotic stage.*

Key words: Sukumar Sen, Dandakaranya, Dandakaranya Development Project, Bengali Refugees.

Partition in 1947 had lead to mass migration and exchange of population on both the Eastern and Western borders of India. By 1957, over 40 lakhs of Bengali Hindu Refugees (BHRs from now onwards), according to a conservative government estimate, had already come from East Pakistan of which a little over 30 lakhs were concentrated in West Bengal. Since the majority were agriculturists, the most pressing demand was for sufficient and suitable land for their resettlement.¹ By then, it was widely accepted in the government circles that "West Bengal is over-saturated, while there is no scope for further absorption in Assam or Tripura".² The Government of India thus tried to locate suitable land elsewhere in India. At the Conference of Ministers of Rehabilitation (of different States) in 1956, it was decided that only those refugees who were willing to settle down outside West Bengal would be provided with support. Orissa and Madhya Pradesh were willing to rehabilitate the BHRs. The Dandakaranya plan was thus conceived in early 1956.

My paper through Sukumar Sen's, the first Chairman of Dandakaranya Development Authority (DDA) critical observation wants to make an understand of many challenges of rehabilitating of BHRs at the initial stage of the project.

Mr. S.V. Ramamurthy had played a great role in suggesting the areas for rehabilitation and conceptualizing the project.³ The vast forested region of Dandakaranya came to his notice during his air travel from Madras to Delhi.⁴ He passed his idea on to the Central Government.⁵ Aerial survey was conducted to assess the potentialities of the region that stretched between Koraput and Kalahandi districts in Orissa, Bastar district of Madhya Pradesh and parts of Andhra Pradesh. This attempt to resettle the BHR who were used to a riverine land and a wet climate, on a land of a self sufficient tribal population, unapproachable hilly tracts and irregular rainfall, was a problematic decision. It was alleged the area's low population density was the only determining factor for selection as a site for refugee rehabilitation.⁶

The proposal to develop the Dandakaranya area was approved by the Union Government at the end of 1957. It was decided that a committee would be constituted with

*Assistant Professor, Department of History, Bharati College, University of Delhi

representatives from three states; Andhra Pradesh, Madhya Pradesh and Orissa. This would be called the AMPO with the Principal Finance Secretary as Chairman, and representatives of the Ministries of Finance, Rehabilitation, Agriculture and Home Affairs and of the Planning Commission.⁷ Looking at the vastness and the so called backwardness of the area, the AMPO Committee felt it could provide sufficient living space and scope for planned development. When developed, it could absorb sufficient BHR population, "without adversely affecting the interests of the locals".⁸ Since the local population of Dandakaranya was predominantly tribal, it was felt essential to incorporate their welfare in the agenda for any meaningful rehabilitation-cum development exercise. In May 1957, the AMPO thus recommended the integrated development of the area—"which is rich in forest and mineral wealth and which offers wide scope for reclamation and resettlement of displaced persons from East Pakistan not only to facilitate the resettlement of the displaced Bengalis but also to ensure the prosperity and welfare of the indigenous population which consisted mostly of tribals".⁹

The Committee had proposed that a Chief Executive Officer should be immediately selected to head a team of officers. He would undertake a detailed survey of the selected areas in Dandakaranya and would submit a report on the steps to be taken for the development of these areas with regard to the health conditions, forestry, social conservation, irrigation, communications and tribal welfare.¹⁰ His team would also examine the industrial possibilities of the areas and accord the highest priority to the eradication of malaria and the improvement of communications in the development programme.¹¹

The Committee further proposed that a Chief Executive Officer should be immediately selected to head a team of officers who would undertake a detailed survey of the selected areas in Dandakaranya and would submit a report on the steps to be taken for the development of these areas with regard to the health conditions, forestry, social conservation, irrigation, communications and tribal welfare.¹² His team would also examine the industrial possibilities of the areas and accord the highest priority to the eradication of malaria and the improvement of communications in the development programme.¹³

The proposals put forward by the AMPO Committee were approved by the National Development Council in June 1957 and by the Rehabilitation Committee of the Cabinet in August, 1957.¹⁴ The creation of the Dandakaranya Development Authority (DDA) was approved by the Cabinet on 14-4-1958.¹⁵ The Dandakaranya Development Authority was eventually set up by a Resolution of the government on September 12, 1958.¹⁶ The Project was divided into four administrative and resettlement zones, viz, Umakote and Malkangiri in the then Koraput District (Orissa) and Kondagaon and Paralkote in Bastar District (Madhya Pradesh). The headquarter of the Dandakaranya Development Authority was located at Koraput while the offices of the Financial Adviser, Superintending Engineers and Head of Departments were at Jagdalpur, Kondagaon and Ambaguda.¹⁷

Dr. Sukumar Sen was the first Chairman of the DDA. Enormous challenges were there before him to make the Project successful like the poor communication facilities in the area, absence of land records and surveys and other important data, necessary for proper planning.¹⁸ Another major difficulty was the reluctance on the part of the staff, both technical and administrative, to serve in the inhospitable region of Dandakaranya.¹⁹ There were also intricacies with regard to the release of land for reclamation and settlement. Various conflicting interests of the local inhabitants, revenue and forest wealth had to be reconciled before land could be released.²⁰ Fresh surveys of areas had to be undertaken as there were no existing survey records.²¹ Apart from internal challenges there were several external issues that had to be addressed. One of the factors on which, the successful execution of the Dandakaranya scheme was largely dependent, was the movement of the BHR from West Bengal and

other Eastern states like Assam and Tripura where the bulk of the refugees migrating from East Pakistan since Partition, were trying to get settled.²² The groups of refugees who were targeted for settlement in Dandakaranya were those who came to India in the mid-50s and the early 1960s. In spite of tall assurances by the Rehabilitation Minister of West Bengal, the total number of families moving to Dandakaranya from West Bengal till the end of March, 1962 was only 4,084 comprising of 18,534 persons.²³

However the DDA did not lose hope. Sukumar Sen made a keen assessment of the situation. He highlighted in his note that it was the nervousness among BHRs that actually deterred the movement.²⁴ He felt, it was extremely important to settle BHRs who had already reached Dandakaranya, comfortably. He felt that this might encourage other reluctant BHRs to voluntarily agree to settle in the region.

The DDA under him was also well aware of the fact that mere motivational speeches and mobilization were not sufficient to make the scheme work. The movement of BHR families needed to be synchronized with the reclamation programme and that of the construction and opening of new villages so that they did not face any hardship when they come to Dandakaranya.²⁵ Overt criticism could have created fear among the refugees. So Sukumar Sen, appealed to critics to try and understand the problem. He urged them to not to forget the fact that it was difficult to complete work on the roads and carry out other developmental activities overnight. He did not think that within two or three years Dandakaranya would see the desired levels of development since the region had been neglected for thousands of years.²⁶ Regarding his own expectation from the BHR, he commented:-²⁷

I will eagerly witness the gradual development of your newly established villages. If you establish your village as an ideal one, I will be the happiest person. The tribal villages will also get motivation by looking at your village. Only then can we (DDA) claim that we had work successfully among the tribals. Thus, he made refugees realise that the success of the scheme was as much their responsibility as DDA's.

The Dandakaranya Project was agriculture-oriented. After reclamation, plots for cultivation were to be demarcated and village sites and plots for homestead to be laid out. But reclamation of land and settling of villages was time-consuming. To keep the BHR engaged during this period, a decision was taken that every able-bodied person was to be given work and the opportunity to make a living till he was rehabilitated in the area.²⁸

Though rich in mineral resources, forest wealth and industrial potential, one of the serious causes for its neglect was Malaria. Not only the BHR but all outsiders were hesitant to enter the region. Prior to the launch of the National Malaria Eradication Programme (N.M.E.P) in 1958, conditions remained the same.²⁹ In fact, here the transmission of malaria was not restricted to a particular season. The DDA's first task was to set up a Malaria Organization. In addition, the DDA regularly undertook intensive anti-malaria measures in settler and tribal villages within the Project range thereby offering protection to a population of about 2,00,000.³⁰ Regular anti-larval measures were carried out to prevent breeding of mosquitoes.³¹ Sukumar Sen had a keen interest in the activities of the Project Malaria Organization. In his public meetings at the Ambaguda region of the Project area in November, 1960, he declared "if not anything else, we have been able to almost eradicate malaria from this part of the country".³²

There were several constraining factor in the process of agricultural rehabilitation. The Project treated all refugees equally. The land given to all was equal in size. All were to grow crops and make a living. But in Dandakaranya, it was not only the quantity but also the quality of land that was critical to commence agrarian rehabilitation. There was very little quality land that could be cultivated.³³ Seven acres of lands were distributed to each family.

It might not be an inconsiderable area for an agricultural holding by East Bengal standards, but as Sukumar Sen rightly said, a farmer at Dandakaranya could never maintain his family

.....³⁴ If the crop could feed the farmer and his family for six months, there had to be some income avenues for the other six months.³⁵ The DDA thought that an alternative way of bringing the rural BHR into the main stream of economic life would be to give them a background of profitable economic living in their cottages and villages. Cottage industries as a supplementary tool for income generation were thus introduced. The authorities thought this would reduce dole dependency (which had direct bearings on the government exchequer) of the agrarian BHRs. Cottage industries directly controlled by the Zonal Administrators were opened in four areas of Dandakaranya Project.³⁶

Apart from cultivators there were many small businessmen, shopkeepers, skilled workers and traders or the technical category of refugees. They were mostly referred to as Small traders (ST). Even non camp refugees from West Bengal who had come willingly were considered for rehabilitation as ST families in Dandakaranya. Such families were offered land and business loans to get settle in cities and town regions. Many of them had some education. There were also provisions for professional loans to doctors and lawyers. Compared to Pharasgaon, the BHR at Umarmarkote had more alternatives in terms of supplementary income options. However the capacity for intake of casual labour was in most cases limited and only a fraction of the people could be absorbed in these alternative employment arenas. Where such casual labour was available, people whose yield was poor somehow survived with a sub-standard living; where it was not, they simply starved. Paralkote also initiated an Industrial Work Centre in 1963, but it could continue only till May 1964 when most of the workers had to be disbanded in order to attend to cultivation.³⁷ However, the settler families who had received milch cows by 1964 had another source of supplementary food in Paralkote. Again, Malkangiri, which was the last zone to be developed, faced difficulties in the establishment of villages as tube wells could not be sunk quickly enough on account of the underlying rocky strata and the withdrawal of drilling rigs to Mana after the new influx of 1964.³⁸ Overall, rehabilitation of agriculturists BHRs during Sukumar Sen's tenure was still at its nascent stage.

DDA provided the agriculturists refugees the agricultural land, homestead land, cattle, plough and agricultural loans for seed buying etc., and with non farmers by providing home building and business loans. But tabs were kept to see whether such support could be effectively used by BHRs. The generalized perception was that the refugees by nature were lazy and ever ready to revolt. Therefore, one should not pay much heed to their 'false demands'.³⁹ But Sukumar Sen felt that if one delved deep into their grievances, it was quite clear that their sole demand was proper rehabilitation.⁴⁰ What was actually needed was a careful analysis of the causes of poor yield in different areas and failure of business and a determined effort to remove these causes.⁴¹ But such efforts were nowhere in sight even in the early '60s at Dandakaranya Project.

Non-agrarian families fared no better than agrarian BHRs. The loan amount that was fixed for small traders could not make them viable businessman. Moreover it was not disbursed at one go.⁴² A maximum of three months' dole was offered. Sukumar Sen felt the village business men apart from business loans should be provided with some agricultural land on which they could fall back in case their business failed.⁴³

Sukumar Sen predicted the possible failure of even those who were successfully rehabilitated. He realized that with the increase of the family members, the land and loan ceiling would soon be insufficient.⁴⁴ He felt the need to provide technical training to the younger members of the refugee families. On February, 1959 a batch of 92 non-refugee families of drivers, cleaner and motor mechanics were transported to Dandakaranya from

West Bengal for the purpose of rehabilitation. With a capital investment of five lakhs by Rehabilitation Industries Corporation (RIC), the Nabajevan Co-operative Transport Society (NCTS) was formed in January in the month of 1962.⁴⁵ A soap making factory named as Nabajevan Saban Samabay Samiti (NSSS) was also opened with Rs. 13,245 as the earnest money.⁴⁶ It was thought if BHRs were able to conduct business successfully in the NCTS, even the RIC would provide more loans. This would lead to the development of an Industrial Township.⁴⁷ However, in the later periods, environment of bickering among the officials of the DDA and favouritism towards private contractors over the NCTS dealt a death blow to the promising venture.⁴⁸

Sukumar Sen also came up with an urban-semi-urban scheme. He had also emphasized the creation of long term industrial establishments rather than short term immediate small profits ventures. A Slipper factory under the direct supervision of the RIC came to be launched during the tenure of Sukumar Sen at Boregaon and Jugani. The factory was ideally located at the crossroads of Raipur and Vizianagram and just beside the National Highway. There were numerous small towns on both sides of the National Highway. Goods carrying trucks were plying daily on this highway. Moreover, a railway line was about to be constructed in this area. So it was an ideal place to develop as the industrial centre. Through such schemes, Sen envisioned the development of industrial pockets in Boregaon, Kondagaon, Umarkote, Ambaguda and Raygarh regions⁴⁹ He hoped that young energetic BHR men would repay the loan to the RIC and would gradually convert it to a profit making unit and in future take over the charge with joint ownership rights.⁵⁰ The capital money would be provided entirely by the corporation. The fund would be used to establish the factory and buy machinery. Such factories, Sen presumed, would have the capacity to provide employment to about 250 to 400 refugee youth. In the wood work centre at Umarkote, more than 40 young residents were working by 1962. Sukumar Sen hoped that they would also be joint owners of this factory one day.⁵¹ But his untimely death in 1961 left the project in the lurch. In conclusion it can be said, Sukumar Sen with his prolific personality contributed immensely towards resettlement of Bengali Refugees at Dandakaranya. He not only motivated the incoming refugees with his passionate speeches but was pragmatic in understanding steps that should be taken to make rehabilitation scheme successful at Dandakaranya, one of the most densely concentrated tribal and forested zones of India. He laid foundations of many new schemes. However many of them were either unsuccessful or incomplete during his tenure.

References :

1. See, Ministry of Rehabilitation, *Report on the Working of the Ministry of Rehabilitation 1957-58*, Department of Rehabilitation (New Delhi: Government of India, 1958), p.24.
2. See, Ministry of Rehabilitation *Report on the Working of the Ministry of Rehabilitation Report 1956-57*, (New Delhi: 1957), p. 2.
3. S.V Ramamurthy was the Chief Secretary of the Madras (Now Chennai) Government. After retirement, he was recruited as Planning Commissioner of the Government of India, See, *Barishal Theke Dandakaranya:Purbobonger Krishijibi Udbastur Punarbashan Itihaas* (Barishal To Dandakaranya: History of East Bengal's Agricultural Refugees Rehabilitation) (Kolkata:Granthamitra,2010)p. 110.{Translated from the Bengali}.
4. Ibid.
5. Ibid.
6. *The Statesman*, 15, August, 1957.

7. See, Government of India, Estimates Committee, 6th Lokh Sabha, *Dandakaranya Project- Exodus of Settlers* (1978), Ministry of Supply and Rehabilitation (Department of Rehabilitation) 30th Report, 1978-79 (New Delhi: Parliament Estimates Committee, 1979), p.3.
8. See, *Report, 1957-58*, op. cit, p.24.
9. Ibid.
10. Ibid.
11. Ibid.
12. Ibid.
13. Ibid.
14. See, *Parliament Estimate Committee, 6th LokSabha, 1978-79*, op cit.
15. Ibid, p.4.
16. Ibid
17. See, Ministry of Labour, Employment and Rehabilitation *Report, 1969-70*, (New Delhi: 1970), p.17.
18. See, Ministry of Rehabilitation, *Report, 1959-60* (New Delhi: 1960), p. 47.
19. Ibid.
20. Ibid.
21. Ibid.
22. See, *Sukumar Ray Private Papers*, Subject File No. 23, NMML, New Delhi.
23. Ibid.
24. Ibid.
25. Ibid.
26. See, *Dandakaranyer Katha*, September and October, 1961, op cit, p.37.
(Translated from the Bengali)
27. Ibid, p.39. (Translated from the Bengali)
28. See, *Report, 1958-59*, op. cit, p.35.
29. "What Malaria Costs" in Sukumar Smriti Sankhya, See, *Dandakaranyer Katha*, Department of Rehabilitation (Government of India, Manager of Publications, July, 1963), p.13.
30. Ibid.
31. Ibid.
32. See, *Dandakaranyer Katha*, July, 1963, p.13.
33. See, Ashoka Gupta, *In the Path of Service: Memories of a Changing Century*, Translated from the Bengali by Sipra Bhattacharya with Ranjana Dasgupta (Kolkata: Stree, 2005), p.201.
34. See, Sukumar Sen's view in Benoy Sengupta, "Jemon Takey Dekhechi" (As I have seen him), *Dandakaranyer Katha*, Department of Rehabilitation (Government of India, Manager of Publications, 1963), p.47.
35. Ibid.
36. See, Saibal Kumar Gupta, edited by Alok Kumar Ghosh, *Dandakaranya: A Survey of Rehabilitation* (Calcutta Bibhasa, 1999), op. cit, p. 39.
37. Ibid, p.51.
38. Ibid, p.30.
39. See, Sukumar Sen's article "Aovhan" (invitation) in Binoy Sengupta, , "Jemon Takey Dekhechi" (As I have Seen Him), in *Dandakaranyer Katha*, July, 1963, p.45.
40. Saibal Kumar Gupta, op. cit, p.46.
41. Ibid.

42. The dole card of the ST families shows how Business loan was disbursed in installments.
43. See, *Sukumar Ray Private Papers*, op.cit.
44. Sukumar Sen's "Aovan", op.cit, also see, *Kinchit Sambad*(Small news), *Dandakaranyer Katha*, September-October, 1962, p31.
45. See, *Kinchit Sambad*(Small news), *Dandakaranyer Katha*, 1962 op. cit, p.30
46. Ibid.
47. See, Sukumar Sen, *Apnader Kachey Amar Gutu koyek Kotha*(Few Things to Share with You), *Dandakaranyer Katha*, July, 1963, p.25.
48. Ibid.
49. Ibid.
50. Ibid.
51. Ibid.



Freudian views about Defense Mechanism

Alka Tripathi*

Introduction : Sigmund Freud (6 May 1856 - 23 September 1939) is considered to be the founder of the psychodynamic approach to psychology which looks closely at the unconscious drives that motivate people to act in certain ways.

The role of the mind is something that Freud repeatedly talked about because he believed that the mind is responsible for both conscious and unconscious decisions based on drives and forces. Unconscious desires motivate people to act accordingly. The id, ego, and super ego are three aspects of the mind, Freud believed to make up a person's personality. Freud believed people are "simply actors in the drama of [their] own minds, pushed by desire, pulled by coincidence. Underneath the surface, our personalities represent the power struggle going on deep within us".

Psychoanalytic Theory : Id -The id according to Freud is the part of the unconscious that seeks pleasure. His idea of the id explains why people act out in certain ways, when it is not in line with the ego or superego. The id is the part of the mind, which holds all of human's most basic and primal instincts. It is the impulsive, unconscious part of the mind that is based on desire to seek immediate satisfaction. The id does not have a grasp on any form of reality or consequence. Freud understood that some people are controlled by the id because it makes people engage in need-satisfying behavior without any accordance to what is right or wrong. Freud compared the id and the ego to a horse and a rider. The id is compared to the horse, is directed and controlled, by the ego or the rider. This example goes to show that although the id is supposed to be controlled by the ego, they often interact with one another according to the drives of the id.

Ego -In order for people to maintain a realistic sense here on earth, the ego is responsible for creating balance between pleasure and pain. It is impossible for all desires of the id to be met and the ego realizes this but continues to seek pleasure and satisfaction. Although the ego does not know the difference between right and wrong, it is aware that not all drives can be met at a given time. The reality principle is what the ego operates by in order to help satisfy the id's demands as well as compromising according to reality. The ego is a person's "self" composed of unconscious desires. The ego takes into account ethical and cultural ideals in order to balance out the desires originating in the id. Although both the id and the ego are unconscious, the ego has close contact with the perceptual system. The ego has the function of self-preservation, which is why it has the ability to control the instinctual demands from the id.

Superego -The superego, which develops around age four or five, incorporates the morals of society. Freud believed that the superego is what allows the mind to control its impulses that are looked down upon morally. The superego can be considered to be the conscience of the mind because it has the ability to distinguish between reality as well as what is right or wrong.

*Research Scholar, Faculty of Education, B.H.U.

Without the superego Freud believed people would act out with aggression and other immoral behaviors because the mind would have no way of understanding the difference between right and wrong. The superego is considered to be the "consciousness" of a person's personality and can override the drives from the id. Freud separates the superego into two separate categories; the ideal self and the conscious. The conscious contains ideals and morals that exist within society that prevent people from acting out based on their internal desires. The ideal self contains images of how people ought to behave according to societies ideals.

The ego's use of Defense Mechanisms : When anxiety becomes overwhelming, it is the ego's place to protect the person by employing defence mechanisms. Guilt, embarrassment, and shame often accompany anxiety. In the first definitive book on defence mechanisms, *The Ego and the Mechanisms of Defence* (1936), Anna Freud introduced the concept of signal anxiety; she stated that it was "not directly a conflicted instinctual tension but a signal occurring in the ego of an anticipated instinctual tension".

The signalling function of anxiety is thus seen as crucial, and biologically adapted to warn the organism of danger or a threat to its equilibrium. The anxiety is felt as an increase in bodily or mental tension, and the signal that the organism receives in this way allows for the possibility of taking defensive action regarding the perceived danger. Defence mechanisms work by distorting the id impulses into acceptable forms, or by unconscious or conscious blockage of these impulses.

The ego has a difficult time satisfying both the id and the superego, but it doesn't have to do so without help. The ego has some tools it can use in its job as the mediator, tools that help defend the ego. These are called Ego Defense Mechanisms or Defenses.

Defense Mechanism according to Freud, anxiety is an unpleasant inner state that people seek to avoid. Anxiety acts as a signal to the ego that things are not going right. Freud identified three types of anxiety-

- * Neurotic Anxiety- It is the unconscious worry that we will lose control of the id's urges, resulting in punishment for inappropriate behavior.
- * Reality Anxiety - It is fear of real-world events. The cause of this anxiety is usually easily identified. For example, a person might fear receiving a dog bite when they are near a menacing dog. The most common way of reducing this anxiety is to avoid the threatening object.
- * Moral Anxiety-It involves a fear of violating our own moral principles. In order to deal with this anxiety, Freud believed that Defense mechanism helped shield the ego from the conflicts created by the id, superego and reality.

A Defense Mechanism is an unconscious psychological mechanism that reduces anxiety arising from unacceptable or potentially harmful stimuli.

Defense mechanisms may result in healthy or unhealthy consequences depending on the circumstances and frequency with which the mechanism is used. In psychoanalytic theory, defense mechanisms (German: Abwehrmechanismen) are psychological strategies brought into play by the unconscious mind to manipulate, deny, or distort reality in order to defend against feelings of anxiety and unacceptable impulses and to maintain one's self-schema. These processes that manipulate, deny, or distort reality.

Sigmund Freud: The 12 Ego Defense Mechanisms & Self-Esteem : Sigmund Freud made some useful contributions to psychology, one of which is his list of common defense mechanisms. Freud never directly applied his defense mechanisms to self-esteem or ego; therefore, what follows is not to be considered to be endorsed by psychodynamic theories.

Freud's defense mechanisms will now be applied to pride, ego, and self-esteem. That is, they will each be explained by how they serve to protect the ego from shame and ego pain. The 12 defense mechanisms are organized alphabetically.

1. Compensation : Compensation is the process of masking perceived negative self-concepts by developing positive self-concepts to make up for and to cover perceived negative self-concepts.

For example, if you think you are an idiot, then you may work at becoming physically more fit than others to make up for this shortcoming by compensating for it in another area of human activity. The reasoning is that by having a good self-concept about being physically fit, you can then ignore, cover, or even negate your negative self-concept about your reasoning capability.

2. Denial : Denial is the subconscious or conscious process of blinding yourself to negative self-concepts that you believe exist in you, but that you do not want to deal with or face. It is "closing your eyes" to your negative self-concepts about people, places, or things that you find too severe to deal with.

For example, a family may pretend and act as if their father is only sick or having a hard time when it is obvious to everyone that he is an abusive alcoholic. The negative self-concept for each family member comes from identifying with the father, because he is a part of the family; the father cannot be viewed as a negative image, or everyone else in the family, too, will be viewed as a negative image.

3. Displacement : Displacement is when you express feelings to a substitute target, because you are unwilling to express them to the real target. The feelings expressed to the substitute target are based on your negative self-concepts about the real target and yourself in relation to the real target. That is, you think poorly of someone and of yourself in relation to them. "Crooked anger" or "dumping" on another are examples of displacement. In such examples, you let out your anger and frustration about the negative self-concepts you are feeling about someone else and yourself in relation to them onto a safer target. The safer target can be someone below you in rank or position, someone dependent upon you for financial support, or someone under your power and control. Generally, alternate targets are targets that cannot object or fight back as opposed to actual targets that might object and fight back. For example, the father comes home from work angry at his boss, so he verbally abuses his wife and children.

4. Identification : Identification as a defense mechanism is the identification of yourself with causes, groups, heroes, leaders, movie stars, organizations, religions, sports stars, or whatever you perceive as being good self-concepts or self-images. This is a way to think of yourself as good self-concepts or images. For example, you may identify with a crusade to help starving children so that you can incorporate into your ego some of the good self-images associated with that crusade. Worldwide sports prey upon this defense mechanism to make money. Countries also prey upon this defense mechanism to make war by using identification with the government to enlist cannon fodder, a.k.a. soldiers.

5. Introjection : Introjection is the acceptance of the standards of others to avoid being rated as negative self-concepts by their standards. For example, you may uncritically accept the standards of your government or religion in order to be accepted as good self-concepts by them. Introjection can be considered as the extreme case of conformity, because introjection involves conforming your beliefs as well as your behaviors. So-called educational systems prey upon this defense mechanism to produce parrots to spread their dogmas as if they were factual and superior.

6. Projection : Projection is the attribution to others of your own negative self-concepts. This occurs when you want to avoid facing negative self-concepts about your behaviors or intentions, and you do so by seeing them, in other people, instead. For example, you are mad at your spouse and subconsciously damning them, but, you instead think or claim that they are mad at you and damning you in their mind. Or you may believe that you are inferior and therefore attack another race, ethnicity, or belief system, claiming it is inferior.

7. Rationalization : Rationalization is the process of explaining why, this time, you do not have to be judged as negative self-concepts because of your behaviors or intentions. That is, you justify and excuse your misdeeds or mistakes with reasons that are circumstantial at best and unfounded at worst.

Rationalization is sometimes referred to as the "sour grapes" response when, for example, you rationalize that you do not want something that you did not get because "It was lousy, anyway." Rationalization can also take the opposite tack or what is sometimes referred to as the "sweet lemon" response. In this case, you justify, for example, an error in purchasing by extolling some of the insignificant good points of the product. People commonly excuse their own poor behavior as being due to poor circumstances, but hold other people accountable for their poor behavior as being due to their poor character.

8. Reaction Formation : Reaction formation is the process of developing conscious positive self-concepts in order to cover and hide opposite, negative self-concepts. It is the making up for negative self-concepts by showing off their reverse. For example, you may hate your parents; but, instead of showing that, you go out of your way to show care and concern for them so that you can be judged to be a loving child. Another common example is someone with a speech impediment going to school to become a public announcer in order to have themselves believe through others that they are a good speaker.

9. Regression : Regression is the returning to an earlier time in your life when you were not so threatened with becoming negative self-concepts. You return to thoughts, feelings, and behaviors of an earlier developmental stage in order to identify yourself as you used to back then. For example, you may be being criticized as an adult and feeling horrible about it. To escape this, you revert back to acting like a little child, because you did not then own criticism as defining you as negative self-concepts, because others mostly thought of you as good images back then.

10. Repression : Repression is the unconscious and seemingly involuntary removal from awareness of the negative self-concepts that your ego finds too painful to tolerate. For example, you may completely block out thoughts that you have of wanting to kill one of your parents.

This is not the same as suppression, which is the conscious removal from consciousness of intolerable negative self-concepts. Unconsciousness was Freud's renaming of the spiritual concept of internal darkness. Repression is a choice, but a choice that we choose to remain unaware of as part of the defense of repression.

11. Ritual and undoing : Ritual and undoing as a defense mechanism is the process of trying to undo negative self-concept ratings of yourself by performing rituals or behaviors designed to offset the behaviors that the negative ratings of you were based on. For example, a millionaire might give to charities for the poor to make up for profiting from the poor. Or, a parent may buy his or her children a lot of gifts to make up for not spending time with them. Classically, a person may wash his or her hands many times in order not to think of themselves as "dirty" like their mother used to call them.

12. Sublimation : Sublimation is the process of diverting your feelings about the negative self-concepts that you have of yourself or others into more socially acceptable activities. For example, if you generally hate people, then you might be an aggressive environmental activist, an aggressive political activist, or join a fighting army. This way you can get some approval for the feelings that you disapprove of. As another example, the criminally minded often become police as a way to think well of their meanness and feelings of being entitled to take advantage of others.

In 1936, Anna Freud enumerated the ten defence mechanisms that appear in the works of Sigmund Freud: 1. Repression, 2. Regression, 3. Reaction formation, 4. Isolation,

5. Undoing, 6. Projection, 7. Introjection, 8. Turning against one's own person, 9. Reversal into the opposite, 10. Sublimation or displacement.

Healthy persons normally use different defences throughout life. An ego defence mechanism becomes pathological only when its persistent use leads to maladaptive behaviour such that the physical or mental health of the individual is adversely affected. Among the purposes of ego defence mechanisms is to protect the mind/self/ego from anxiety or social sanctions or to provide a refuge from a situation with which one cannot currently cope.

References :

1. Vaillant, George E. (1977). *Adaptation to life*. Boston: Little, Brown. ISBN 0-316-89520-2.
2. "Defence mechanisms -- Britannica Online Encyclopedia". www.britannica.com.
3. Cramer, P. (1991). *The Development of Defense Mechanisms: Theory, Research, and Assessment*. New York, Springer-Verlag.
4. Special issue [on defense mechanisms], *Journal of Personality* (1998), 66 (6): 879-1157
5. Freud, A. (1937). *The Ego and the Mechanisms of Defence*, London: Hogarth Press and Institute of Psycho-Analysis. (Revised edition: 1966 (US), 1968 (UK))
6. Hovanesian S, Isakov I, Cervellione KL (2009). "Defense mechanisms and suicide risk in major depression". *Arch Suicide Res*. 13 (1): 74-86.
7. McWilliams, Nancy (2011). *Psychoanalytic Diagnosis: Understanding Personality Structure in the Clinical Process*, Second Edition. New York, NY: The Guilford Press. pp. 60,63,103. ISBN 978-1609184940.
8. Chalquist, Craig. "A Glossary of Freudian Terms" 2001. Retrieved on 05 October 2013.
9. Garrett, F. (2002). *Addiction and its Mechanisms of Defense*.
10. https://en.wikipedia.org/wiki/Defence_mechanisms
11. <https://kevinfitzmaurice.com/self-esteem/self-esteem-issues/sigmund-freud-the-12-defense-mechanisms/>



Curriculum: A Vital Instrument for Reduction of Mental haze

Poonam Tiwari*
Suryakant Kushwaha**

Abstract : *What goes on in the minds of criminals? This question raises perennial philosophical issues about human behavior in general and criminal conduct in particular. Do criminals act the way they do because of how and what they think and feel? And, are these "internal" forces of thought and feeling caused by the states of their brains, which in turn are predetermined by biology, chemistry, and genetics? Is the problem, in short, what used to be called "bad blood"? Or, are the thoughts, feelings, and actions of criminals caused by "external" factors such as parents, education, and other influences in the environment that mold and shape malleable brains, which, in turn, give rise to the criminal personality? In other words, is the real culprit for criminal behavior what used to be called "society"?*

Whatever is the cause of criminality but it is clear from our current state of knowledge that every human act originates from the seed of the idea in his mind. The environment around the person plays a deciding role in generating his ideas. The polluted environment creates a layer in the mind of human beings and results into wrong practices indicating the mental haze. Today, India is facing a large number of social issues such as child labour, illiteracy, gender inequality, superstitions, religious conflicts, terrorism and many more. It is high time to get relief of these undesirable social evils. If we want to control these, then removal of mental haze is necessary, after that our mind will be refined and all problems will get resolved.

One of the major ways of dealing with mental haze prevailing in the minds of the students and people of the society is introduction of value based curriculum in the schools. The present paper discusses the mental haze and throws light on the role of curriculum in reduction of the mental haze.

Introduction : "Intelligence plus Character - that is the goal of true education"- Martin Luther King Jr.

Crisis is not so much intellectual but rather moral and spiritual. There is lack of development of sound moral vision among human being along with the scientific and technological development. As a result human being can produce such powerful means of destruction like hydrogen and nuclear bombs and destroy the whole world in no time. Wealth is worshipped as god, pride has become a creed, selfishness is entrenched in the intellect, ego is flaunted and desires become an adornment, righteousness has become merely a figurehead in the world, compassion has dried up, gratitude has waned. Today the entire mankind is living in the shade of fear. Man's very expense is at stake as he is indulging in wicked activities. Prostitution, illegal marriages, broken home structure, divorce, etc., are also factors responsible for decline of values. Lack of mutual concern between parents at home, disaffection and lack of securities in families are other factors responsible for erosion of values. The role of home, school and society cannot be neglected in the degradation of values. Even in this dynamic society, values and standard do not change quickly and some of them, at any rate, have an abiding significance. Cultural values, the gracious fruit of centuries of cooperative efforts and moral values, which is distinguished, which distinguish men from animals, have been totally changed in these years. The modern youth receiving education are losing their idealism and living in spiritual vacuum. Moral values are not respected now. Man fails to distinguish between right and wrong, good and evil. Highest respect is being

*Research Scholar, Faculty of Education, BHU, Varanasi

**Junior Research Fellow, Faculty of Education, BHU, Varanasi

placed on wealth and power. Human relations are becoming impersonal and secondary. The older generations have lost their sense of morality. Therefore the younger generation completely ignores the traditional or even any idea of value system. Loss of leadership among the teachers is another manifestation of the deterioration of values in the modern society. A teacher has to perform three important activities. People in an industrial society develop a growing sense of insecurity in social relations because of the emphasis on individuals.

Mental haze is a health condition that is often characterized by a lack of mental clarity and mild memory loss. Mental haze is not recognized as a clinical diagnosis. It is quite common among adults and children today. Mental haze can cause intense frustration, low self-esteem, discouragement, depression, impaired work or school performance, relationship difficulties, and crime and delinquency. Those who suffer from mental haze know that they just do not function well, and may not even be able to hold a job. Yet it is not the same as dementia, retardation, anxiety, clinical depression or other common mental symptoms.

Evils as violence, crimes, & other are a common occurrence among our society which is increasing day by day attracting our youth towards it. These causes decrease in the ethical values among our youth resulting in a situation of fog in their mind so there is a lack of mental clarity. They feel like a haze or fog that has clouded the mental ability, so they get mentally confused they cannot concentrate and make decisions about right and wrong. It is a situation of mental haze.

Education is necessarily a process to improve mental haze by inculcating values to equip the learner lead a conflict free life - a kind of life that is satisfying to the individual in accordance with the cherished values and ideals of the society. School intervention via Curricular and Co-curricular activities can offer youth a solid foundation of Basic values to counteract Mental haze.

Imbibing Values through Curricular Activities : The task of the teacher is to contribute towards this process of fostering genuine values. Teachers often face the temptation to limit themselves to imparting information rather than preparing their pupils for life. The pressures of academic requirements often stifle the efforts of well meaning educators who struggle hard to fire their students with enthusiasm for higher ideals. Hence teachers in this challenging process of transmitting values are most warmly welcomed. Every subject can be means of building good character and values. Some examples are given below:

a. Language: In language through conversation and discussion the teacher educator can enable students to embody higher and noble ideas.

b. Social Sciences: Through social science in general we can develop values like secularism, socialism, hard work and democracy etc.

c. History: It provides the knowledge about the life history of famous kings, queens, great men who sacrifice their life for the sake of their country. It develops feeling of bravery, brotherhood, patriotism among students.

d. Geography: Through geography we can develop values of conservation, preservation, adventure.

e. Economics: Through economics a teacher can lay emphasis on the value of thrift and saving, which lead to the prosperity of a person.

f. Civics: Through civics we can develop values of cooperation, sense of mutual welfare, obedience of law, and concern for citizenship.

g. Science: Everything in nature has a lesson to teach. For example, we can say while blowing up a balloon, if person blows too much air into it, it will burst. Similarly if we are too greedy and acquire more material wealth sooner or later, we will have problems.

h. Mathematics: In mathematics there is a wide scope of imparting values like neatness, accuracy, proper planning etc. Thus we can say that education and values go hand in hand and values are inherent in every module of learning; even co-curricular activities can serve as a sound base for the inculcation of values among students.

i. Music: Various moral and social values as national integration, kindness and honour for other religions can be developed through Music.

Imbibing Values through Co-curricular Activities :

As the students spend a lot of their time at school, it demands that we should set fresh goals for attainment in the personal, emotional, social, moral and spiritual fields of human development. Dr. Radha Krishnan said, "We must realize the talents of the children and help them to become what they are to the full potential. It is the machine that constructs; it is the living spirit that creates. Song, dance and literature are creative activities". The co-curricular activities naturally help in the smooth running of the school and make the children strong, steady, healthy and creative. Active participation in co-curricular activities arouses curiosity, creates interest and inculcates values.

Art and Painting Competitions: On the spot, art and painting competitions may be held on themes related to different types of values.

Celebration of Birthdays: Educational institutions should celebrate the birthdays of great men and women of various nations like Guru Nanak, Buddha, Christ, lord Krishna and other national leaders. It will inculcate moral, religious, social, cultural spiritual values among the students and the teachers.

Celebration of International Days: In all institutions International days like U.N.O. Days, World Health Day, World Peace Day and Human Rights day should be celebrated. Celebration of these days will be helpful in inculcating noble values. Use of Mass Media Media such as educational films, theatres, news papers, radio and Television should be used to inculcate values.

Book Exhibitions: Every school should make arrangement for book exhibitions on literature related to moral, social, cultural, aesthetic and spiritual values by extending invitations to publishers and booksellers of this area of knowledge.

Art and Paint Exhibitions: In the educational institutions art and painting exhibitions on themes related to moral, social, cultural, aesthetic and spiritual values, should be held.

Value-oriented Projects: Value-oriented projects can be further undertaken to implement the following projects for value education in the school under the guidance of efficient teachers.

Co-operative Stores: The students may start a co-operative store which may sell books and stationery at concessional rate. It would make the students hard working.

Co-operative Canteen: Some students may take initiative to start their school canteen on no-profit, no-loss basis.

Co-operative Bank: Post-Office Student's co-operative bank and student's co-operative post-office might be set up.

Annual function: Moral and social values such as truthfulness, cooperation, appreciation can be developed when students participate in annual function.

Prayer Assembly: Values like discipline, determination, obedience, unity can be developed through prayer assembly.

Conclusion : Education is necessarily a process of inculcating values to equip the learner leads a life - a kind of life that is satisfying to the individual in accordance with the cherished values and ideals of the society School intervention via programs can offer youth a solid foundation of basic values to counteract these increasing social problems.

Curricular & extracurricular activities can be considered as strong value gaining tools for school students to comprehend, internalize and perform values. The different subjects at school stage seek to provide knowledge, and values intrinsic to the particular discipline. In the very act or process of acquiring knowledge, however, which is not the same as memorization and reproduction of information, certain attitudes, values, habits of thinking that are concomitant to the pursuit of that particular knowledge get transmitted. Every subject, considered from the stand point of value education is thus considered to be a repository of values. Good teaching of a subject implies teaching the subject in such a way that the students gain insight into the nature of the subject, its logical structure, and its methods and also imbibe the attitudes and values associated with that particular subject.

So role of curricular & extracurricular activities provides effective solutions to ethical and academic issues that are of growing in our youth now-a-days.

References :

1. Agrawal J.C (2005) "Education for Values, Environment and Human Rights" Shipra Publication, New Delhi.
2. Dr. Haseen Taj "Current Challenges In Education" (2005), Hyderabad: Neelkamal Publications Pvt. Ltd.
3. Dr. N. Ramnath Kishan "Global Trends in Teacher Education" (2007), APH Publishing Corporation, New Delhi.
4. Mani Jacob (2002) "Can Values Be Taught". New Frontiers in Education, Vol. 32(2), pp-81-82.
5. Kadison, R., & Digeronimo, T. F. (2004). College of the overwhelmed: The campus mental health crisis and what to do about it. San Francisco: Jossey-Bass.
6. American College Health Association (ACHA) (2004). Health minds.org: Healthy minds. Healthy lives. Retrieved March 23, 2007 from <http://www.healthyminds.org/cmhdepression.cfm>
7. Sharma, R.K.(2006)," Teaching of Value Education", Radha Prakashan Mandir Agra, pp-154-158
8. National Institute of Mental Health (NIHM) (2007). NIMH: Statistics. Retrieved March 22, 2007 from <http://www.nimh.nih.gov/healthinformation/statisticsmenu.cfm>
9. Yudofsky and Hales(2008). The American Psychiatric Publishing textbook of neuropsychiatry and behavioral neuraciencese(5thed.).American Psychiatric Pub.449.ISBN 158562237
10. Deak MC,Stickgold R(2010) Sleep and Cognition.WIREs Cognitive Sci 1:491-500 Bou-HolaigahI,Rowe PC,KanJ,Calkins H(1995)The relationship between neutrally mediated hypotension and the chronic fatigue syndrome.JAMA 274:961-967



Entrepreneurship Development Amongst the Minority Community (with special reference to Chhattisgarh state)

Dr. R. Shridhar* & Abhinav Mishra**

Abstract: *In consonance with the spirit of the Constitution of India, the Govt has made several provisions to promote the interest of Minority community. Creation of NMDFC to promote entrepreneurship and to safeguard the economic interest of Minority is one the step taken by the Government. This paper focuses on the motivational factors relating to the entrepreneurs of Minority community of Chhattisgarh State. The present study is based on the primary data collected from a random sampling of 50 respondents of Minority community of CG.*

Keywords: Minority, Constitution, Mainstream, and Entrepreneurship Development.

Introduction- The Ministry of Minority Affairs (Govt of India) includes Muslims, Sikhs, Christians, Buddhists, Parsis and Jains as “Minority Community”¹. India is a secular country. The Indian constitution enshrines various provisions (like Article 29 & 30) for the protection of the rights and promotion of the interest of the Minorities. Govt of India and all state governments are committed to ameliorate the economic conditions of the Minority community. The National Minorities Development & Finance Corporation (NMDFC) is doing a commendable job in promoting entrepreneurship and self-employment generation amongst the Minority community. This paper focuses on the motivational factors relating to the entrepreneurs of Minority community of Chhattisgarh State in India. The present study is based on the primary data collected from a random sampling of 50 respondents.

Objectives of the Study: [1] To identify existing enterprises owned and managed by Minorities of CG. [2] To examine and analyze various facilitators and inhibitors for entrepreneurship development amongst the members of Minority community in CG. [3] To study the motivational factors of the Minority community for starting Business venture.

Research Design & Methodology: Area of study: The study was conducted amongst the entrepreneurs of Minority community of Chhattisgarh State. Sample Size: Data were analyzed on the basis of responses provided by 50 respondents, selected by random sampling technique. Research Instrument and Method: Study was conducted on respondents through the well-structured questionnaire, which was designed to obtain the information relating to the factors that motivates them for starting a business venture. Further, only simple averages and percentage have been used in this study. Analysis of the Data: The data collected through questionnaire was coded.

Results & Discussion: Entrepreneurship development amongst the Minority Community in CG under the scheme of CG Antyavasai Corporation funded by NMDFC: 586 members of the Minority Community were the beneficiaries of the Scheme of CG Antyavasai Corporation, funded by NMDFC- National Minorities Finance & Development Corporation. The scheme contributed immensely in the economic advancement of the minority community of CG. Table 1 & 2 shows the year-wise & district wise status of how many beneficiaries of minority community of CG got the benefit of the scheme. 519 Muslims, 35 Sikhs, 29 Christians and 3 Jains were the beneficiaries of the scheme from 2010-11 to 2014-15. Thus 586 members of Minority community of CG started their enterprises under the scheme.

*Faculty of Management, Kalinga University, Naya Raipur, Chhattisgarh

**Research Scholar, Department of Management, Kalinga University, Naya Raipur, Chhattisgarh

Table: 1

Minority Community	2010-11	2011-12	2012-13	2013-14	2014-15
Muslim	119	138	15	77	170
Sikh	6	14	1	5	9
Christian	20	2	2	3	2
Jain	1	Nil	Nil	Nil	2

Source: Office of CG Antyavasai Corporation, Raipur& Official Website of Corporation

Table : 2

Year-wise & District wise number of Beneficiaries of Minority community under the Scheme of “CG Antyavasai Corporation”, funded by NMDFC

District	2010-11	2011-12	2012-13	2013-14	2014-15
Bilaspur	29	34	1	25	37
Bijapur	Nil	1	Nil	4	Nil
Dantewada	Nil	Nil	Nil	Nil	1
Dhamtari	26	20	Nil	4	Nil
Durg	Nil	Nil	Nil	1	6
Janjgir	13	12	Nil	9	Nil
Jashpur	Nil	10	Nil	2	7
Kanker	6	9	1	1	2
Kabirdham	3	Nil	Nil	4	7
Korba	15	18	Nil	Nil	18
Korea	5	Nil	Nil	10	24
Mahasamund	12	16	5	9	9
Raigarh	Nil	5	2	Nil	1
Raipur	3	8	1	3	43
Rajnandgaon	12	6	3	3	7
Sarguja	4	13	Nil	Nil	Nil
Jagdalpur	17	2	4	Nil	Nil
Narayanpur	Nil	Nil	Nil	Nil	1
Balod	Nil	Nil	Nil	6	10
Balauabazar	Nil	Nil	Nil	1	Nil
Bemetara	Nil	Nil	Nil	Nil	Nil
Gariyaband	Nil	Nil	Nil	1	5
Kondagaon	Nil	Nil	Nil	Nil	Nil
Mungeli	Nil	Nil	Nil	Nil	Nil
Surajpur	Nil	Nil	Nil	4	5
Sukma	Nil	Nil	Nil	Nil	Nil

Source: Office of CG Antyavasai Corporation, Raipur& Official Website of the Corporation.

As per the information of Department of Commerce & Industries(Govt of CG), Sikh Minority community of CG is entrepreneur mainly in Hospitality & Tourism Industry and Transportation business. As far as Jain community of CG is concerned, their members are entrepreneurs in Education sector. While Muslim community is mainly involved mainly in Iron &Steel fabrication & welding business. The presence of Parsi, Christians and Buddhist in entrepreneurship in CG is almost negligible. Christians community as entrepreneurs can be seen mainly in Jashpur region of CG. Other business in which minority community is associated are- Sponge Iron Plant, Rice Mills, Stone Crushing units, Poha mill, Fly ash Bricks unit, Packaged-water manufacturing plant, Plastic-bottle making unit, Power Generation unit, TMT *sariya* manufacturing unit, owner of petrol pumps etc. Traditionally also, Jain and Sikh community are business community.

Table : 3
Motivational factors for starting Business Venture

Motivating Factors	Figures	
	% Respondents	Ranks*
I. Eagerness to do somethingIndependently	91%	2nd
II. To be busy and occupied	9%	9th
III. To enhance and supplement Family income	63%	6th
IV. To gain Business Knowledge	40%	8th
V. To acquire Technical Knowledge	41%	7th
VI. To earn money	81%	4th
VII. To continue Family Business	96%	1st
VIII. Desire to become Employer and to provide employment to others	76%	5th
IX. To gain social prestige and status	89%	3rd
X. Getting Career Security	2%	10th

*Note: Ranked according to the Percentage. (Source: Our Field Study) (N=50)

Table 3 reveals the motivational determinants and factor, which inspired the members of minority community to start their enterprises. Almost all respondents were motivated to start their business by following factors: They wanted to continue their family business (96%). They were eager to do something independently (91%) and they wanted to excel as an entrepreneur so that they could achieve social prestige (89%). To earn money and desire to become employer by choosing entrepreneurship as their career, was also found to be significant motivation. On the other hand, desire to be busy and occupied (9%) and getting career security (2%) proved to be least important motivational factors for the respondents to start their enterprise. Table 4 shows that the most of the respondents (82%) were self-motivated to start the enterprise. The motivation by family and friends was almost negligible.

Table 4
Motivation by whom for starting business enterprise(N=50)

Particular	Number of Respondent	Percentage
Family	2	4
Friends	7	14
Self	41	82

Examples of Successful entrepreneurs of the minority community in CG who has excelled in the field of entrepreneurship and has made an invaluable contribution in entrepreneurship development:

Successful entrepreneurs of Minority Muslim community in CG: Shri Sultan Ali: He is the Chairman of **Indian Broiler Group (IB Group)**, whose headquarter is at District Rajnandgaon (CG). Within a relatively short span of 25 years, IB Group has diversified itself into a well-integrated business unit that produces poultry, dairy, oil, animal feed and specialized pet food. A strong and dedicated workforce of more than 8000 individuals that includes employees, partners, consultants and interns backs IB Group. The IB Group commenced its journey with mere 100 birds in early 1985. But nowthe Group is one the largest corporate house in central India. Shri Sultan Ali with his effective business acumen and entrepreneurial orientation has taken the IB Group to new heights of success and glory. In 2013, IB Group got Asian Livestock Industry Award³.

Successful entrepreneurs of Minority Sikh community in CG: [1] Babylon Group of Hotels is a very famous name in the Hospitality Industry of CG, whose headquarter is at District Raipur (CG). The Board of Directors is Shri Hari Singh Khanuja, Jagjeet Singh Khanuja, Harjeet Kaur⁴. They have carved the niche of their own in the Hospitality Industry

of CG. Two of the most famous Hotels of this group are- Hotel Babylon International & Hotel Babylon Inn, located at Raipur. [2] **Shri Gurumukh Singh Hora** is a known face in CG in Tourism & Hospitality Industry and Transportation Business. [3] **Shri Baldev Singh Bhatia (also known as Shri Pappu Bhatia)** is a very successful entrepreneur. He is a big name in the liquor industry of CG. He is called as liquor baron of CG. He is associated with Sona Wines and Sona Beverages. Moreover, he is one of the office bearer of Delhi Public School, Raipur, which one of the top schools of CG.

Successful entrepreneurs of Minority Jain community in CG: [1] **Rungta Group of Institutions (Bhilai & Raipur)**, whose chairman is **Shri Santosh Rungta**⁸. He is one of the most successful entrepreneur in education sector of CG. GD Rungta Educational Society was established in 1997. The group is a multi-faculty educational cluster running nearly all types of courses viz. Management, Pharmaceutical, Science, Information & Technology, Education, Dentistry etc. [2] **Disha Education society**, whose chairman is **Shri S.K.Jain**⁵. He is one of the biggest entrepreneur to be reckoned with in the education sector of CG. The group runs school, and has colleges which offers courses in Management, Engineering, Law, nursing, Health care & hospital management. [3] **Shri Swaroop Chand Jain** is the chairman of **Mahanadi Education Society**⁶. He is an institution in himself in the education sector of CG. Raipur Institute of Technology (RITEE) and Kanger Valley Academy School at Raipur are the famous educational institutes of CG. [4] **Mr. N.C. Parakh** is the chairman of Youth Foundation of India, which runs **Chhattisgarh Dental College & Research Institute (CDCRI), Rajnandgaon**⁷. By his business acumen, he has proved to a milestone in education sector of CG. [5] **Shri Vinod Jain of Jashpur** District of CG is a very successful entrepreneur. He has a large-scale stone crushing unit and Hot mixing plant, involved in construction of roads and bridges.

Summary & Conclusion: This paper emphasizes on entrepreneurship development amongst minority community of Chhattisgarh State based on the primary data collected. Traditionally it has been seen that Minority community especially Jain and Sikh community are entrepreneurs. Their main motivation to start the business and enter into the field of entrepreneurship, was to continue their family business and to improve it more qualitatively and quantitatively. In other words, by continuing their traditional and family business, they wanted to excel in the field of entrepreneurship. By becoming an entrepreneur, they wanted to have an independence existence and to gain social prestige. Most of the respondents of minority community were self-motivated to start the enterprise. The motivation by family and friends was almost negligible. It means that they had entrepreneurial tendency right from the beginning of their career. They did not need the motivation from external sources that inclined them to start an enterprise. They had entrepreneurial orientation since their young age. Their mind set was already there to start any enterprise. There was no need to alter their mind set towards entrepreneurship. It can also be concluded that they were not inclined towards doing Govt. or Private jobs. They wanted to be an employer not an employee.

References :

1. Official website of Ministry of Minority Affairs (<http://www.minorityaffairs.gov.in/>)
2. Official website of CG State *Antyavasai* Cooperative Finance & Development Corporation Limited. [<http://www.cgscantyasai.com/>]
3. Official web site of IB group (<http://www.ibgroup.co.in/index.php>)
4. <https://www.zaubacorp.com/company/HOTEL-BABYLON-INTERNATIONAL-PRIVATE-LIMITED/U55101CT1998PTC012591>
5. Official web site of Disha Education Society (<http://www.desindia.in/>)
6. <http://www.kva.edu.in/About-Management.php>
7. <http://www.cdcricri.org/>
8. <http://www.rungta.ac.in/leadership.php>



Reg. No. : N-1316/2014-15
Journal No. : 48796
UGC Approved

ISSN 2394-2207
May-October 2017
Vol. III, No. II, Part-III
IJJ Impact Factor : 2.011



सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

Reg. No. : N-1316/2014-15
Approved by UGC

ISSN : 2394-2207
IJJ Impact Factor : 2.011



An International Half Yearly Refereed Research Journal (Art & Humanities)

Vol. : III

No. II, Part-III May, 2017-October, 2017

सम्पादकद्वय
डॉ० राधेश्याम मौर्य
शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक
डॉ० मनोहर लाल

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

Ij{k&eMYk

M,0 pEik dekjh flg] प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
Mk0 ch0,u0 flg] पूर्व निदेशक, उ०प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०
M,0 gjh'kpUæ tk; lokYk] पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इविंग क्रिश्चियन महाविद्यालय, इलाहाबाद वि०वि०, उ०प्र०

IEiknd

M,0 jk/k';ke ek;] प्रवक्ता, जी०वी०आई०सी०, देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ०प्र०
f'koUn dekj ek;] शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Ig&IEiknd

Mk0 eukgj yky] असि० प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

{k=h; IEiknd

f'kojke ek;] हिन्दी विभाग, डॉ० हरि सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

vuokn Igk;d

Ieu yrk dekjh] शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ÁCU/k&IEiknd

Mk0 lhrk jke flg] एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
गणपत सहाय पी०जी० कॉलेज, सुलतानपुर, उ०प्र०
M,0 fot ;] प्रवक्ता, जी०वी०आई०सी० देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ०प्र०

IEiknd&e.MYk

Mk0 d".k dekj dkf'kd % प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
Mk0 fgjk'kh l lkdh % एसो० प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ सोशल एजुकेशन, हिरोशिमा विश्वविद्यालय, जापान
M,0 Öj.YkkYk % एसो०प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०
Mk0 lehj dekj ikBd % असि० प्रोफेसर, डी०ए०वी० पी०जी० कॉलेज, वाराणसी, उ०प्र०
M,0 ih;f'kdUr 'kek % एसो० प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, एम०डी०पी०जी० कॉलेज, प्रतापगढ़, उ०प्र०
Mk0 vfuy dekj ek;] % असि० प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ०प्र०
M,0 vjfoUn dekj % असि० प्रोफेसर, डॉ० हरी सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश
lUr""k dekj % विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जखिखनी, वाराणसी, उ०प्र०

i jke'k&e.My

डॉ० प्रकाश चन्द्र तिवारी, तोशिको ईदाका, डॉ० प्रचेतस, अशोक कुमार, अमित कुमार सिंह कुशवाहा, अंकिता चौधरी, सुशील कुमार

fof/k&i jke'k

Kku Ádk'k e0;] : पूर्व राज्य सूचनायुक्त, उ०प्र०
Mk0 vkn:k dekj : असि० प्रोफेसर, विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
IEikndh; IEidl : जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, सी-23, आवास विकास कालोनी
प्रतापगढ़-230001 (उ०प्र०) भारत
मो०- 08004802456, 09415627372
वेब साईट: www.unmeshjournal.com
ई-मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrkr.maurya@gmail.com

idk'kd % tu lok ,o: 'kk/k f'k{kk lLFkk] प्रतापगढ़, उ०प्र०

eæd % jkt xkfQDI] बी०एच०यू० रोड, लंका, वाराणसी
ek0 % 09415842611@08081711954

u"V % सम्पादन, संचालन-पूर्णतः अवैतनिक/अव्यवसायिक/अनियतकालीन। उन्मेष में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं।
लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद के लिए लेखक की जिम्मेदारी स्वयं की होगी। सम्पादक, प्रकाशक एवं उन्मेष
परिवार के किसी भी सदस्य की जिम्मेदारी नहीं होगी। किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र प्रतापगढ़ होगा।



^M l rx# dh efgek vur**

छलछद्म और कपटपूर्ण समय में सतगुरु व पथ प्रदर्शक की पहचान बहुत मुश्किल है। इसमें गुरुजन का दोष नहीं है। यदि यह माना जाय कि सतगुरु के पहचान का संकट शिष्यों द्वारा पैदा किया हुआ है, तो ऐसे वे शिष्य कौन हैं? उनकी कोटियाँ क्या हैं? उनके शिष्यत्व की पात्रता क्या है? इसका बोध आवश्यक है। असल में इन प्रश्नों का उत्तर हमें अपनी परंपरा में ढूँढ़ना चाहिए, जहाँ गुरु और शिष्य के आदर्शात्मक रूप की उच्च मनोभूमि निर्मित है। हो सकता है गुरु व शिष्य के बीच पनप रही कड़वाहट और टकराहट का समाधान हमें वहाँ मिल सके। आज जो शिष्य अपने गुरु का अनादर कर रहे हैं क्या वे अपनी परम्परा को भूल गए हैं या कि वे अपनी परम्परा के अभागे शिष्य हैं। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिर्फ पठन-पाठन तक ही नहीं होता। हर शिष्य के लिए गुरु का ज्ञान उसकी संचित पूँजी होती है। जीवन भर खर्च करने के बाद भी वह समाप्त नहीं होती। गुरु की इस महत्ता से भली-भाँति अवगत होते हुए भी शिष्य अपने गुरु से कैसे बगावत कर जाते हैं? यह सोचने का विषय है।

गुरु आकाशधर्मा होता है। वह अपने शिष्यों पर समान दृष्टि रखता है, किंतु क्या प्राचीन काल से लेकर अब तक गुरुओं की यह तटस्थता बरकरार रही है। शायद इसका उत्तर नकार में ही मिले। आरम्भ से ही गुरु अपने शिष्यों के प्रति पक्षपाती रहे हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि इसके प्रमाण हैं, जो समय के साथ आज उठ खड़े हुए हैं। गुरुजनों के आदर्श और नियमों की चक्की में बहुत से शिष्य पिस चुके हैं। हमारी मानसिक चित्तवृत्तियों ने उन्हें अझेल भले बना दिया हो, किंतु समय और समाज की विसंगतियों को वे न झेल सके। यह सत्य है कि गुरु-शिष्य के आदर्श रूप द्रोणाचार्य और अर्जुन की आँच में एकलव्य और कर्ण जैसे शिष्यों को जलना ही पड़ा है। किंतु एक बात और है जिस सत्य से हम मुख नहीं मोड़ सकते, वह यह कि आज कितने विश्वामित्र गुरुओं ने राम जैसे शिष्य पैदा किए? बुद्ध, रैदास, कबीर और अम्बेडकर जैसे अध्येता इसी समाज की उपज हैं जिसे पचाने में बहुतों को बदहजमी हो रही है। शिक्षा जगत पर एकाधिपत्य जमाए एक विशेष वर्ग के गुरुओं का जब उन्मूलन होने लगा तब गुरु-शिष्य के सम्बन्ध स्वतः ही बदल गए। अधिकांशतः अब ये सम्बन्ध जातिवाद, वर्गवाद और क्षेत्रवाद की गिरत में आ चुके हैं। इसमें न तो शिष्य का दोष है और न ही गुरु का, पर उन सतगुरु महाराज का क्या दोष जिनकी पहचान को लोग धूमिल करने में लगे हुए हैं। कबीर ने जिसे कभी बड़ी शिद्दत से याद किया है—

l rx# dh efgek vur] vur fd;k mixkjA

ykpu vur m?kkfM; k] vur fn[kko.kgkjAA

इस बार का संपादकीय एक ऐसे आकाशधर्मा सतगुरु पर केन्द्रित है जिसने बिना किसी पक्षपात के अपने शिष्यों पर समान ज्ञान की वृष्टि की है। संयोग और सद्भाग्य है कि वे स्वयं इस उन्मेष (पत्रिका) के सम्पादक भी हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० राधेश्याम मौर्य इस समय जी०वी०आई०सी०, देल्हूपुर, प्रतापगढ़ में प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हैं। आपने अपने जीवन में सदैव संघर्षों का ही वरण किया है। यही सीख आप सदैव अपने शिष्यों को भी देते आये हैं। पठन-पाठन से आपका अटूट रिश्ता रहा है। पेशे से शिक्षक तथा सामाजिक कार्यकर्ता व पर्यावरणविद् के रूप में आपकी विशेष पहचान है। 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' आपके सम्पूर्ण जीवन में देखा जा सकता है। शिक्षा को समाज का महत्वपूर्ण अंग मानने व उसके प्रचार-प्रसार में आप सदैव रत रहे हैं जिसके कारण इस वर्ष आपको मानव संसाधन विकास मंत्रालय के 'स्कूल शिक्षा और साक्षरता विभाग' द्वारा egkefge jk"Vifr के हाथों ^jk"Vh; f'k{k d iijLdkj&2016* से नवाजा गया। राष्ट्रपति सम्मान के लिए आप जैसे सतगुरु का चयन हम सब के लिए केवल संतोषप्रद ही नहीं है, बल्कि नई ऊर्जा के संचार में काफी मददगार है। हम आपकी इस उपलब्धि पर 'उन्मेष' परिवार व अपनी ओर से हार्दिक बधाई व शुभकामनाएँ प्रेषित करते हैं। आपका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

uke % Mk0 jk/k';ke ek;!
 ekrk&firk % श्रीमती शिवपती मौर्य एवं श्री झुरई राम मौर्य
 f'k{k % एम0ए0—अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, हिन्दी
 एम0एस0सी0—रसायन विज्ञान
 पीएच0डी0— रसायन विज्ञान



i:dkf'kr iLrd: %

पर्यावरण रहस्य, जल और वायु प्रदूषण, प्रदूषण नियंत्रण और पर्यावरण योजना एवं प्रबंधन, जलवायु परिवर्तन तथा विलुप्तीकरण की चपेट में पृथ्वी, रासायनिक गणनाएं एवं प्रयोगिक रसायन, पर्यावरण एवं जैव संरक्षण, पर्यावरण अध्ययन, जल जीवन का वरदान, वृक्ष, आधुनिक रासायनिक गणनाएँ एवं प्रायोगिक रसायन जैसी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित।

IEiknu %

- ◆ उन्मेष (अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका)
- ◆ आलोक—पथ स्मारिका
- ◆ दामिनी स्मारिका

ijLdkj %

- ◆ महामहिम राष्ट्रपति द्वारा 'राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार-2016' से पुरस्कृत
- ◆ केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा कई बार पुरस्कृत
- ◆ आदर्श शिक्षक पुरस्कार (2004) जिलाधारी प्रतापगढ़ द्वारा पुरस्कृत
- ◆ भारतीय वाङ्मय पीठ साहित्य संस्कृति एवं कला को समर्पित साहित्यिक संस्था कोलकाता द्वारा 'कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर सारस्वत साहित्य सम्मान-2014'
- ◆ आई0एम0ए0, प्रतापगढ़ द्वारा उपजिलाधिकारी श्री जे0पी0 मिश्र के हाथों सम्मानित
- ◆ पर्यावरण मित्र सम्मान-2015
- ◆ शोहरतगढ़ इनवायरमेण्ट सोसाइटी सिद्धार्थनगर तथा 'बेल्हा लोक महोत्सव-2011' द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ अम्मा साहेब ट्रस्ट व देश शिल्पी विकास परिषद द्वारा सम्मानित
- ◆ सृजना साहित्य संस्था द्वारा 'प्रतापगढ़ गौरव सम्मान-2015'
- ◆ शिक्षाविद् सम्मान
- ◆ अवध साहित्यिक अकादमी करछना, इलाहाबाद द्वारा 'साहित्य गौरव सम्मान-2016'
- ◆ लखनऊ शिक्षक खण्ड के शिक्षक विधायक मा0 उमेश द्विवेदी द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ राज्य सूचना आयुक्त मा0 ज्ञान प्रकाश मौर्य द्वारा जनसूचना अधिकार के प्रचार-प्रसार के लिए प्रशस्ति-पत्र प्राप्त
- ◆ मा0 डॉ0आर0के0वर्मा (विधायक), मा0 रामसिंह (विधायक), मा0 नागेन्द्र सिंह यादव (विधायक), मा0 हरिप्रताप सिंह (नगर पालिका अध्यक्ष), मा0 प्रमोद कुमार मौर्य (जिला पंचायत अध्यक्ष), डॉ0 रेहाना सिद्दीकी (सदस्य राज्य महिला आयोग), मा0 मनभावती (ग्राम प्रधान देल्हूपुर) आदि द्वारा प्रशस्ति-पत्र
- ◆ आकाशवाणी केन्द्र इलाहाबाद से विशेष जुड़ाव व कई बार वार्ता प्रसारित।
- ◆ स्वच्छ भारत अभियान, वृक्षारोपण कार्यक्रम, उ0प्र0 साक्षरता कार्यक्रम, पल्स पोलियो अभियान, पर्यावरण संरक्षण के लिए नेशनल साइकिलिंग अभियान, मतदान जागरूकता अभियान, आदि कार्यक्रमों में सक्रिय सहभागिता।
- ◆ राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों व कार्यशाला में प्रतिभागिता तथा शोध-पत्र प्रस्तुतीकरण।
- ◆ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शोध-आलेख प्रकाशित।

यह संक्षिप्त परिचय डॉ0 राधेश्याम मौर्य के बहुमुखी प्रतिभा को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। इस अंक के साथ ही 'उन्मेष' पत्रिका का तीन वर्ष भी पूर्ण हो रहा है। अपने तीन वर्षों के सफर में इस पत्रिका ने देश-विदेश के कई नामी विश्वविद्यालयों तक अपनी पकड़ व पहचान बनाई है। पत्रिका की गुणवत्ता के लिए सुधी पाठकों के सुझाव आमंत्रित हैं। आपके सुझावों से इसे और मजबूती मिलेगी। इस महनीय कार्य के लिए उन्मेष परिवार आपका सदा आभारी रहेगा। इसे सुव्यवस्थित प्रकाशित करने के लिए श्री राहुल मौर्य व श्री राजबाबू मौर्य का विशेष आभार।

f'koUn: dekj ek;!

vuøef.kdk

- i^oykn jke'kj.k % Ekkfj'k l fgUnh l kfgR; d e/kU; l kfgR; dkj 1&4
अरुण कुमार मौर्य
- 'kkD; x.kjkT; dh ie[k iijkrkfRod ljpuk, 5&9
डॉ० अरविन्द कुशवाहा
- dk'ky fodkl ,o cjk t xkj h rFkk lkekft d leko'k 10&13
संजय भारती
- Lkkeft d fo"kerk vkj dchj dk dk0; 14&18
डॉ० बिपिन कुमार
- l/kk vke <hxjk dh dgkfu; k e o') k dh ihMk 19&21
अलका
- xlr dkyhu ukfj; k e vkfFkd {kerk 22&25
द्रुपद कुमार
- Hkkjr e çkjFEHkd f'k{k vkj uhfrxr çko/kku % , d fo'y" k.k 26&30
धनन्जय सिंह यादव
- f'k{k d cnyr ifreku vkj f'k{k.k uhfr; k 31&34
अवधेश कुमार
- ^gfjr vij/k ,o LoPN okrkoj.k* vkj xk/khoknh fopkj/kkj 35&39
रूपेश कुमार उपाध्याय
- vkfnok l h foe'k % , d opkfj d nf"V 40&43
साई शरण चौब
- lkekft d eY; k d fodkl e l kfgR;] foKku vkj v/; kRe 44&46
गिरजेश कुमार
- vkfnok l h vfLerk d dFkdkj ihVj iky ,Ddk 47&49
अभिषेक पाण्डेय
- jkenj'k feJ d dFkk l kfgR; e thou eY; k dh miyf0/k ,o lhek, 50&52
श्रीमती सीमा सिंह
- fue'y oek dh vkLFkk vkj vkReck/k 53&57
सर्वेश पाण्डेय
- nfyr gku dk n'k vkj tBu 58&60
यशवन्त कुमार
- gchc ruohj % ukVddkj ; k funi'kd 61&64
सुधांशु शर्मा
- l h x/kkj h % ykddFkk dk ekfyd l tiukRed i; kx 65&67
ईशा वर्मा
- ^ck.khk l dh vkRedFkk^ ,o ^vukenk l dk ikFkk^ dN lekurk, 68&69
जितेन्द्र सिंह
- xk/kh dk efgykvk d i fr nf"Vdk.k 70&73
डॉ० रमेश कुमार कुशवाहा
- oreku of'od ifjo'k e fo'o'kkfr e c) dh f'k{k vkj dh ik l fxd rk 74&76
मेवालाल चैतन्य

■	>kj [k.M dh vkfnoklh Hkk"kk, j dy] vkt vkj dy प्रेमी मोनिका तोपनो	77&79
■	ni'k ei [kfrgj etnjki di jkt xkj dh fLFkfr % ,d v/; ;u डॉ ललित कुमार	80&83
■	jke dh 'kfDRk iitk ei ekuoh; eY; डॉ त्रिभुवन कुमार साही	84&87
■	OkjrUn; ;x % vk/kfudrk v@j vrhr dh vkRexLrrk डॉ समीर कुमार पाठक	88&90
■	jk"V' fuekirk di : lk ei MkO Hkhejko vEcMdj डॉ रामकृष्ण	91&94
■	fgUnh uotkxj.k dh food ijEijk dk egUo अस्मिता तिवारी	95&97
■	fgUn thou lLdkj dk Ác/ku ,o: 'kf) dj.k चांदनी सिन्हा	98&102
■	foodh jk; di miU; k lka dh HkkoHkfe प्रियंका गुप्ता	103&106
■	gekjh f'k{kk& gekjk l ek t डॉ योगेश कुमार मिश्र	107&109
■	/ke] foKku o oKkfud /kei dh vo/kkj.kk गौरव श्रीवास्तव	110&112
■	cUkh l egki#"k y{k.k स्वतंत्र कुमार मौर्य	113&115
■	lYrurdkyhu bfrgk l y:[ku dk eY; kdu डॉ. विनीत कुमार गुरु	116&119
■	Ok l l kLÑfrd fookg di ifr l ekft d nf"Vdk.k %[kt jkgk i ; Vu {k= di fo'k"l l nHki e% शशिकान्त अवस्थी, डॉ दिवाकर शर्मा	120&124
■	U; k; n'ku dk fl) kUr rUo शैलेश कुमार द्विवेदी	125&126
■	LoPNrk dk l ek t oKkfud fo'y:"k.k डॉ नीरज कुमार राय	127&130
■	orieku ei ehfM; k dh n'kk vkj vkokt dk fuyke % ,d fo'y:"k.k नरेश कुमार	131&132
■	HkeMyhdj.k vkj L=h वन्दना शर्मा	133&134
■	'k[kj tk'kh di l kfgR; ei of.kir Hk"Vkpki डॉ मृदुल जोशी, तनुजा राणा	135&138
■	;kxrUo mifu"kn ei fofok ;kx&ekxi %prjix ;kx di fo'k"l l nHki e% डॉ पुनीत कुमार मिश्र	139&144

-
- foi.ku di {k= e: eY; dh leL;k,; 145&148
अभय कुमार यादव
 - MkO y{ehukjk; .k yky % ij.kk vkj iHkko 149&152
राज कुमार पाण्डेय
 - ledkyhu lekt % dchj dh dFkuh vkj djuh 153&157
सरिता निर्मल
 - fue'y oekI dh dFkkvki e: ie 158&160
डॉ० नीलम कुमारी
 - xcj f?kpkj % fHk[kkj Bkdij dh çxfr'khy lkp dk mnkgj.k 161&163
गौरव कुमार त्रिपाठी
 - foKku rFkk i.k|kfxdh dk lekt ij iHkko 164&167
अपर्णा श्रीवास्तव
 - fu%*kDr tu % 'kkjhfd iuokl o lLFkkxr i;kl 168&171
दीपिका चौहान
 - e/;dkyhu lekt vkj jkepfjrekuI 172&175
नीतिका सिंह
 - ikphu dky e: Ñf" ,o Ñ"kd lekt dk voykdu 176&178
निलय कुमार
 - Lkekt dk;l vH;k l e: ikfjokfd okrkoj.k dk egUo 179&181
प्रीति सिंह
 - Hkkjrh; l kfgR;] lLdfr vkj lekt 182&184
डॉ० अभय प्रताप सिंह
 - Hkkjr e: cky fookg % dkj.k vkj leL;k 185&189
अशोक कुमार
 - dchj dh dfork dk le&lkef;d lkekftd l inHk 190&196
विश्वदीपक
 - f'k'kikyoke egdko; e: dko;L=h; rURo dh vo/kkj.kk 197&202
अनुप्रिया सिंह
 - fujyk dh dforkvki e: o;fDr di LoUo dh igpku 203&205
शिव कुमार यादव
 - ^Nlij* miU;k l dk vkfFkd] lkekftd ,o lLdfrd ifjn'; 206&210
मनोज कुमार
 - L=hRo dh o;Fkk dFkk cuke jktfd'kkj dk miU;k l ^rEgkj l[k* 211&213
सुशील कुमार
 - **Tourist Motivations for World Heritage Sites: A Case Study of Nanda Devi and Valley of Flowers National Parks, Uttarakhand** 214-222
Santosh Kumar Dwivedi, Abhishek Kumar Maurya
 - **Role of agricultural biodiversity for food security in India** 223-227
Yogesh Chandra Patel
 - **Physiological Changes Due to Modern Exercise and Specific Training** 228-230
Jai Bhagwan Singh

-
■	Status of Self-Help Groups Bank Linkage Programme and its impact on female members in Allahabad District	231-234
	<i>Dr. MuktaTripathi, Dr. SaritaVerma</i>	
■	Swarnajayanti Gram Swarozgar Yojna (Sgsy) : A Study Of Marketing Of Products In Mirzapur District	235-237
	<i>Dr.Apurba Mukherjee, Dr.Rajay KumarSingh</i>	
■	The New Technique of Articulation in the Work of Earnest Hemingway	238-241
	<i>Dr. Rakesh Kumar Singh</i>	
■	Commodifying Health: The Linkages between Market, Media and Mouth	242-245
	<i>Mayank Tomar, Prof. Diwakar Sharma</i>	
■	Implication of Street Play in Social Sector	246-248
	<i>Bittu Mishra</i>	
■	Critical Review of Working of Sidbi For Development of Smaall Scale Industry	249-254
	<i>Dr. Shiv Shankar</i>	
■	The contribution of general employability skills in employability of graduates of faculty social sciences, BHU	255-260
	<i>Pradeep Kumar Singh</i>	

i:°ykn jke'kj.k % Ekkfj 'k l fgUnh l kfgR; d
e/kU; l kfgR; dkj

v : .k d|ekj ek;!*

मॉरिशस हिन्दी आन्दोलन के शलाका पुरुष, बहुप्रतिभा सम्पन्न लेखक, शिक्षक, साहित्यकार एवं इतिहासकार भारतवंशी प्रह्लाद रामशरण जिन्होंने अपनी लेखन कला से मॉरिशस के हिन्दी साहित्य को एक नयी ऊँचाई प्रदान किया। साहित्य की विविध विधाओं को अपनी कलम की शक्ति प्रदान कर समृद्ध बनाया।

प्रहलाद रामशरण का जन्म मॉरिशस में अमारी नामक छोटे से गाँव में शर्तबन्द मजदूर किसान के घर 04 अक्टूबर 1937 को हुआ। इनके पिता का नाम खिरोधन रामशरण तथा माता सुन्दरी पारबतिया थी। आपके माता-पिता सम्पन्न न थे अतः बचपन अभावग्रस्त वातावरण में बीता। परन्तु आपने विषम परिस्थितियों में हार नहीं मानी, शिक्षा प्राप्ति के लिए जूझते रहे। अपनी कर्तव्य परायणता से 1964 ई0 में हिन्दी के सरकारी अध्यापक बने। इसके बाद भी वे अपना अध्ययन जारी रखा और 1969 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से एस0सी0 परीक्षा उत्तीर्ण किया। इसी के एक वर्ष बाद दिल्ली विश्वविद्यालय में स्नातक की कक्षा में प्रवेश लिया। स्नातक की परीक्षा पास कर वे स्वदेश लौटे और मॉरिशस के विख्यात महाविद्यालय रायल कालेज क्यूपीर्य में प्राच्य भाषा विभाग के अध्यक्ष रहे।

प्रह्लाद रामशरण अपने दिल्ली प्रवास के दौरान 1970—1973 ई० में अध्ययन से समय निकाल कर लेखन कार्य में संलग्न रहा करते थे। आपके लेख तात्कालिक पत्रिका, आर्य मित्र, गांडीव सार्वदेशिक, निरंजना, दैनिक हिन्दुस्तान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, वीर अर्जुन, पाँचजन्य आदि में मॉरिशस का इतिहास, आर्य समाज की गतिविधियाँ, महापुरुषों की जीवन—झलकियाँ तथा लोक साहित्य आदि विषयों पर एक के बाद एक लेख प्रकाशित होते रहे। समय के साथ प्रह्लाद रामशरण जी का कार्यकलाप बढ़ता ही गया। हालांकि वे महात्मा आनन्द भिक्षु से दीक्षा प्राप्त किया था परन्तु आप स्वामी दयानन्द जी के विचारों से बहुत प्रभावित थे। फलस्वरूप वे आर्य समाज के आन्दोलनों में रूचि रखते थे। मॉरिशस के आर्य समाज पर लिखी गयी पुस्तक ‘मॉरिशस आर्य समाज का इतिहास’ मॉरिशस के आर्य समाज की पहली पुस्तक मानी जाती है।

आर्य सभा का बारहवाँ महासम्मेलन मॉरिशस में होना सुनिश्चित हुआ, आर्य सभा मॉरिशस के आग्रह पर इन्हें दिल्ली से स्वदेश लौटना पड़ा। प्रह्लाद रामशरण के अथक मेहनत के फलस्वरूप महासम्मेलन पूर्ण हुआ। इसलिए सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन में आर्य समाज के अधिकारियों और नेताओं के साथ इनका भी चित्र प्रकाशित हुआ था।

मॉरिशस का हिन्दी साहित्य का इतिहास 100 वर्षों के लगभग का है। क्योंकि 1834 में यहाँ भारतीयों का प्रवास प्रारम्भ हुआ, इसके पूर्णरूप से बसने में 50-60 वर्ष तो लग ही गये होंगे इसलिए ये कहा जा सकता है कि मॉरिशस का हिन्दी साहित्य शैशवावस्था में है। यहाँ तमिल, तेलगू, मराठी आदि भाषाओं में साहित्य सृजन हो रहे थे, पर मात्रा में कम थे हिन्दी साहित्य की अपेक्षा। मॉरिशस का हिन्दी साहित्य अन्य भाषाओं के साहित्य से समृद्ध है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, यात्रा तथा अनुवाद हर प्रकार का साहित्य यहाँ उपलब्ध है। मॉरिशस के शीर्ष साहित्यकारों की सूची प्रह्लाद रामशरण के नाम के बिना अधूरी रह जाती है। प्रह्लाद रामशरण ने कुल 70 से अधिक पुस्तकों की रचना की।

मॉरिशस का हिन्दी साहित्य शैशवावस्था में था और छात्रों के मनोरंजन के लिए कोई पुस्तक नहीं थी, आपके शिक्षक होने के नाते छात्रों के मनोरंजन पर उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने 1988 में मॉरिशस की लोक

कथाएँ— दो भाग में तथा इसी वर्ष 'मॉरिशस की रोचक कथाएँ—दो भाग में प्रकाशित कराके हिन्दी बाल साहित्य को नयी दिशा प्रदान की। इन चार पुस्तकों में संकलित कहानियाँ पूर्व प्रकाशित कहानियों से भिन्न थी। ये बच्चों के भाषा स्तर को ध्यान में रखकर लिखा गया था। समुचित स्थान पर चित्रों का प्रस्तुतीकरण कहानियों की रोचकता बढ़ाती है। भाषा सरल वाक्य छोटे-छोटे तथा प्रवाहपूर्ण हैं। इन कहानियों में लोक भाषा का यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है।

मॉरिशस में लोक कथाओं का अभाव सर्वविदित है। मॉरिशस में प्रचलित लोक कथाओं का प्रकाशन बहुत कम हुआ था इस दिशा में आपका प्रयास प्रशंसनीय है। उनकी पुस्तक 'मॉरिशस की लोक कथाएँ' जिसने पाठकों में लोक कथा के प्रति प्यास जगाने का काम किया। इसमें पन्द्रह कथाएँ संकलित हैं। जिसमें आधे से अधिक मॉरिशस की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। इसमें एक कथा 'सूरज, चाँद और तारे' सौर मण्डल पर आधारित एक प्रतीकात्मक तथा लेखक की मौलिक कथा है। हमारे पूर्वज बिहार एवं उत्तर प्रदेश से वहाँ शर्तबन्द मजदूर के रूप में गये वे अपने साथ लोक साहित्य की अक्षय निधि ले गये। इसलिये वहाँ भी लोक कथाएँ अपने परिवर्तित रूप में मौखिक तौर पर आज भी विद्यमान हैं। यदि हम भारत एवं मॉरिशस की लोक कथाओं में समानता पाते हैं तो यह स्वाभाविक है। उन्होंने मॉरिशस की लोक कथाएँ, 'बौने का वरदान' तथा 'मॉरिशस की शकुन्तला' के अलावा 'एशिया की श्रेष्ठ लोक कथाएँ' पुस्तकों का प्रकाशन किया। एशिया की लोक कथाएँ संग्रह में एशिया महाद्वीप में प्रचलित असंख्य कथाओं में 15 कथाओं का चयन किया है। यह गौरव की बात है कि 'मॉरिशस की लोक कथाएँ' पुस्तक की चर्चा विदेशों में खूब हुई विशेषकर भारत एवं जर्मनी में भारत में श्री यशपाल जैन एवं श्री गिरिराज किशोर जैसे विद्वानों ने रामशरण जी के लोक साहित्य में योगदान के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की। वही उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कार प्रदान किया। निःसंदेह लोक कथाएँ मनोरंजन करने के साथ-साथ बालकों और किशोरों पर शाश्वत प्रभाव डालती है। लेखक ने भाषा को सरल एवं प्रभावी बनाने का भरसक प्रयास किया है।

प्रहलाद रामशरण की पत्रकारिता की दृष्टि पैनी थी। उन्होंने 'इन्द्रधनुष' पत्रिका का प्रबन्धन एवं सम्पादन किया। यह मॉरिशस की पहली त्रिभाषी पत्रिका है जो हिन्दी, अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा में छपती है। 'इन्द्रधनुष' अपने प्रकार की एक अनूठी पत्रिका है। यह प्रहलाद रामशरण जी की त्रैमासिक पत्रिका है। 'इन्द्रधनुष' अपने प्रारम्भिक काल में हिन्दी में 40 पृष्ठों की पत्रिका थी परन्तु इसमें प्रकाशित लेखों की विशेषता और विचारों को गैर हिन्दी भाषियों तक पहुँचाने के उद्देश्य से इसे त्रैमासिक पत्रिका का रूप दे दिया गया। अब यह विशेषांक के रूप में लगभग 200 पृष्ठों में छपता है।

उन्होंने मॉरिशस के कई ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन एवं कार्यों पर ऐतिहासिक विशेषांक निकाले हैं। इन्द्र धनुष के पिछले कुछ अंकों में भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के हितैषी 'अदोल्फ दे 'लेवित्त' तथा प्रसिद्ध फ्रेंच भाषी साहित्यकार 'मालकोम दे शाजाल' के जीवन एवं कृत्यों पर आधारित होने के कारण इसकी लोकप्रियता गैर-हिन्दी भाषियों में होने लगी। 'इन्द्रधनुष' के माध्यम से गैर-हिन्दी भाषी हिन्दुओं की विचारधारा, साहित्य एवं संस्कृति से बखूबी परिचित होने लगे। इस तरह के विशेषांक देश-विदेश के बुद्धिजीवियों के लिए संदर्भ के रूप में काम आता है। 'इन्द्रधनुष' आज अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका बन गयी है। आज इसकी माँग इंग्लैण्ड कनाडा, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, अमेरिका भारत आदि देशों में हो रही है।

प्रहलाद रामशरण की आलोचना मॉरिशस हिन्दी साहित्य की आलोचना विधा में मील का पत्थर साबित हुआ। आपसे पूर्व मॉरिशस हिन्दी आलोचना शैशवावस्था में थी। मॉरिशस के कुछ विद्वानों 'मॉरिशस के हिन्दी भाषा साहित्य का इतिहास' लिखा यथा जयनारायण राय ने 'मॉरिशस के हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' लिखा इनके अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा संक्षिप्त निबन्ध' मुनीश्वर लाल चिन्तामणि ने लिखा तथा 'हिन्दी भाषा में मॉरिशस का योगदान' लेखक वीर सिंह जागा। इन पुस्तकों में इतिहास तो मिलता है लेकिन समीक्षा दृष्टि का अभाव है। वास्तव में मॉरिशस हिन्दी आलोचना के प्रवर्तन का श्रेय प्रहलाद रामशरण जी को जाता है। आपका विचार है कि आम पाठक सिर्फ पढ़ने के लिए नहीं पढ़ता बल्कि मनोरंजन के लिए पढ़ता है ज्ञानवर्धन के लिए पढ़ता है, उनकी पिपासा जब तिप्त न हो तो वे क्यों अपना दिमाग किसी रचना में खपाये।

प्रहलाद रामशरण अपने लेखों में स्पष्ट करते हैं कि मॉरिशस के लेखक लिखते तो मॉरिशस की पृष्ठभूमि के आधार पर है परन्तु भारतीय परिवेश का जामा पहना देते हैं। जो एक मॉरिशसी लेखक के लिए

उचित नहीं है। भारती परिवेश की कथा कहानियाँ पढ़कर भारतीय परिवेश को अपने मस्तिष्क में बैठा लेते हैं और लिखते समय वे इन्हीं प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाते हैं। यही कारण है कि वे अपनी कहानी उपन्यासों में अनजाने में भारतीय परिवेश का परिधान पहना देते हैं। मॉरिशस के लेखकों को चाहिए कि भारतीय परिवेश की धारा में न बहें मॉरिशस की पृष्ठभूमि पर सजी अपनी सृजन को यहाँ के परिवेश का परिधान पहनाएँ। यही नहीं उन्हें चाहिए कि यहाँ की प्रचलित भाषा शैली, कहावतें, मुहावरों आदि का प्रयोग करें। पाठक जब मॉरिशस की कृति पढ़ें तो उनके मानस पटल पर मॉरिशस का मानचित्र एवं छायाचित्र अंकित हो।

प्रह्लाद रामशरण ने मॉरिशस के मूर्धन्य कथाकार अभिमन्यु अनत के दो उपन्यासों— 'लहरों की बेटी' एवं 'गाँधी जी बोले थे' पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी। इन दोनों आलोचनात्मक कृति के पूर्व हम प्रह्लाद जी के कुछ निबन्धों का उल्लेख करेंगे जिसमें उनका समीक्षक व्यक्तित्व उभर कर आया। प्रह्लाद रामशरण जी ने प्रेमचंद की कहानी 'कफन' पर एक समीक्षात्मक निबन्ध 'सर्वहारा वर्ग के प्रति प्रेमचंद की सहानुभूति' लिखा। इसमें उन्होंने 'कफन' कहानी के परिवेश और पात्रों के मनोविज्ञान की विवेचना किया। रामशरण जी के अनुसार 'कफन' कहानी में माधव एवं घीसू अपने जीवन में भोजन से सन्तुष्ट नहीं थे। ये दोनों अच्छे भोजन का सपना ही देखते हैं। रामशरण जी मानते हैं माधव में मनुष्यता की चिनगाही है यदि माधव को अनुकूल अवसर मिलता तो वो आवरा अकर्मण्य न बनता वही घीसू के व्यक्तित्व निर्माण में भारतीय समाज की दोष पूर्ण व्यवस्था उत्तरदायी है। इसी क्रम में प्रह्लाद रामशरण एक और निबन्ध 'तत्सम' में जैनेन्द्र कुमार की दार्शनिक अभिव्यक्ति लिखा। इस निबन्ध में रामशरण लिखते हैं— जैनेन्द्र की 'तत्सम' कहानी में ऊँचे ज्ञान की बात कही गयी है तथा इसमें उदात्त भावना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई। इसका कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है। बनचरों आदि को व्यक्ति का प्रतीक बनाकर कहानी का प्रतिपादन किया है। तत्सम का उद्देश्य पेचीदा है। रामशरण 'तत्सम' को एक प्रायोगिक कहानी मानते हैं। इस कहानी में पेड़, घास, पक्षी, अहम, प्रश्न पर विचार विमर्शरत है। कहानीकार ने अपने पात्रों विशेष गुणों का भी उल्लेख किया है।

प्रह्लाद रामशरण मॉरिशस के मूर्धन्य साहित्यकार अनत के उपन्यास 'लहरों की बेटी' की समीक्षा 'लहरों की बेटी : एक अनुशीलन' 1999 लिख कर किया। यह पुस्तक मॉरिशस हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक है। इस पुस्तक में —'लहरों की बेटी' की मौलिकता पर प्रश्न उठाया गया है। यह लेख सर्वप्रथम 'इन्द्रधनुष' पत्रिका में छपा। प्रह्लाद रामशरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'लहरों की बेटी' मौलिक कृति नहीं है। इसका कथानक उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' से मिलता है। आपका कहना है देश विदेश के पाठकों की दृष्टि में यह मौलिक हो सकता पर साहित्यकारों की दृष्टि में नहीं। आपने लिखा है कि मॉरिशस की औरतें समुद्रों में मछलियाँ पकड़ने नहीं जाती क्योंकि मॉरिशस का समुद्र प्रवाल रेखा से घिरा होता है। इसी तरह रामशरण जी ने उपन्यास की मौलिकता, आंचलिकता, भारतीय सन्दर्भ, सीमित फलक का परिणाम, ऐतिहासिक विसंगतियाँ, सामाजिक विसंगतियाँ, आदि कई पहलू पर पैनी दृष्टि डाली है।

इसी तरह प्रह्लाद रामशरण जी ने अनत के एक चर्चित उपन्यास 'गाँधी जी बोले थे' की समीक्षा की। अपने समीक्षकीय दृष्टि से इसमें सैकड़ों ऐसे संदर्भों को खोज निकाला जिसमें मॉरिशस के सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश का मेल नहीं है। जैसे— डाकुओं का उल्लेख, लोटा लिए शौच को जाना, ग्राम पंचायत का उल्लेख ये सभी परिवेश भारतीय हैं मॉरिशस के नहीं। इस प्रकार प्रह्लाद रामशरण उपर्युक्त उपन्यासों की समीक्षा पुस्तक लिख मॉरिशस में हिन्दी आलोचना का वास्तविक सूत्र पात किया।

प्रह्लाद रामशरण जी न केवल साहित्यकार थे, बल्कि निर्विवाद रूप से इतिहास के एक बड़े अनुसंधाता भी थे। इनके द्वारा लिखी गयी पुस्तकें 'मॉरिशस का इतिहास' एवं 'मॉरिशस का सुबोध इतिहास' इस बात का प्रमाण है। इतिहास एक शोध परक विधा है जिसमें इतिहास के अप्राप्य तथ्यों को इकट्ठा करना बड़ा जटिल कार्य है। इतिहास को सप्रमाणिक होना आवश्यक है। देश काल, वातावरण घटना, तिथि आदि तथ्यों को सटीक होना चाहिए। ऐतिहासिक पुरुषों का व्यक्तित्व उनके कार्यों का आधार मूलक होना चाहिए। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी भाषा के इतिहासकार मुनीन्द्रनाथ वर्मा ने कहा था "मॉरिशस में श्री प्रह्लाद रामशरण जी ऐसी हस्ती हैं जिन्होंने अपनी अनुसंधान यात्रा के दौरान इतिहास के धूल-धूसित पन्नों से अनेक रत्न निकाले हैं।"

सचमुच प्रह्लाद रामशरण मॉरिशस की सामाजिक गतिविधियों का सही मूल्यांकन करते हुए इस देश की बहुजातीय जनजीवन को स्वस्थ दिशा देते हुए उसे सवारने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे हैं।

प्रह्लाद रामशरण जी को विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से विभूषित किया गया है उत्तर प्रदेश सरकार की तरफ से इन्हें विविधा साहित्य पुरस्कार 1993 में चतुर्थ विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर इन्हें समस्त रचनाओं के लिए सम्मानित किया गया था। 2000 ई0 मे इन्हे बो-वासे रोजहिल नगर पालिका की ओर से 'मान्य नागरिकता' का सम्मान तथा 2007 से इन्हें मॉरिशस विश्वविद्यालय से इतिहास पर फेलोशिप की उपाधि से सम्मानित किया गया 2005 से 2011 में सरकार की ओर से पी0एस0 एस0एम0 तथा एम0एस0के0 की उपाधि से सम्मानित किया गया। 2014 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की तरफ से आपको अन्तर्राष्ट्रीय उपाधि "प्रवासी भारतीय हिन्दी भूषण सम्मान" से विभूषित किया गया। इस सम्मान से मॉरिशस का हिन्दी जगत सम्मानित हुआ।

साहित्य सेवी प्रह्लाद रामशरण जो कुछ लिखते हिन्दी में, जो कुछ सोचते हिन्दी में जो कुछ करते हैं हिन्दी के लिए करते हैं। यही कारण है कि प्रह्लाद जी की दस पुस्तकों का एक साथ विमोचन हुआ था मॉरिशस के किसी साहित्यकार के लिए यह कीर्तिमान है। यह कीर्तिमान प्रह्लाद जी के हिन्दी के प्रति पूरी तरह से समर्पित होने का प्रमाण है। यह कीर्तिमान मॉरिशस के हिन्दी साहित्य में लम्बे समय तक याद रखा जायेगा। रामशरण जी के जीवन का अध्ययन करने से यह पता चलता है वे शोधक साहित्यकार के रूप में पैदा हुए हैं। क्योंकि रामशरण जी ने बहुत सारे भ्रम या गलत धारणाओं को सुधार कर अपने साहित्य में उचित स्थान दिया है। हिन्दी के प्रति, भारतीय संस्कृति के प्रति जब तक प्रह्लाद रामशरण जैसे व्यक्ति समर्पित रहेंगे तब तक मॉरिशस में हिन्दी जीवित ही नहीं बल्कि अपनी साहित्य समृद्धि के कारण दुनिया के हर साहित्यकार को अपनी तरफ आकर्षित करती रहेगी।

I UnHk §

1. 'मॉरिशस भारतीय संस्कृति का हरावल दस्ता', प्रह्लाद रामशरण, प्रकाशक दिल्ली, आत्मा राम एण्ड सन्स, 1993
2. 'लहरों की बेटा का अनुशीलन', प्रह्लाद रामशरण, प्रकाशक दिल्ली, आत्मा राम एण्ड सन्स, 1998 ई0
3. 'मॉरिशस की लोक साहित्य एवं संस्कृति', प्रह्लाद रामशरण, प्रकाशक कृष्ण नगर नई दिल्ली, 1988 ई0
4. 'गाँधी जी बोले थे' प्रह्लाद रामशरण, प्रकाशक आत्मा राम एण्ड संस 1999 ई0
5. अनुसंधान यात्रा (शोध पत्रिका) बृजेश युवशी, प्रकाशक आदर्श आफसेट शाप नं0 193-94 करपात्री स्टेट काम्पलेक्स दुर्गा कुण्ड वाराणसी, (अंक 2015)।



'kkD; x.kjkT; dh iē[k ijkrkfRod Ijpuk, MkO vjfoUn d'kokgk*

शाक्य गणराज्य की पश्चिमी सीमा श्रावस्ती को स्पर्श करती थी, जबकि पूर्वी सीमा कपिलवस्तु और कोलिय जनपद को विभक्त करने वाली रोहिणी नदी को स्पर्श करती थी। उत्तर में हिमालय और दक्षिण-पूर्व में मल्ल गणतन्त्र से घिरा हुआ था। इस बीच में अवस्थित राज्य ही कपिलवस्तु के नाम से जाना गया क्योंकि यह शाक्यों की राजधानी थी।¹ शाक्य गणराज्य के अन्तर्गत बहुत सी पुरातात्विक संरचनाएँ विभिन्न पुरास्थलों पर अवस्थित हैं। जिनमें से कुछ प्रमुख हैं—

fi ijgok ॥ छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शाक्य, कोसल नरेश प्रसेनजित के अधीन थे तथा भगवान बुद्ध के ही जीवन काल में प्रसेनजित का पुत्र राजा विडूडभ ने शाक्यों से बदला लेने के लिए कपिलवस्तु का विनाश कर दिया था। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि इस घटना के पश्चात भी शाक्यों का इस स्थल पर अधिकार था क्योंकि बौद्ध साहित्य महापरिनिब्बान सुत्त तथा दीघनिकाय में इस बात का उल्लेख मिलता है कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके देहावशेषों के आठ भाग हुए थे, जिसमें से एक भाग शाक्यों को मिला था जिस पर उन्होंने स्तूप का निर्माण करवाया था। चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि जब वह यहाँ पर आया उस समय यह स्थल उजाड़ हो चुका था तथा कुछ भिक्षु व लगभग दस साधारण परिवारों के लोग यहाँ पर रह रहे थे।

पिपरहवा से प्राप्त प्राचीनतम धातु-मंजूषा पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लिपि के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस स्थल पर शाक्यमुनि (बुद्ध) के देहावशेषों के ऊपर स्तूप का निर्माण कराया गया था। इस स्तूप के चारों ओर उत्खनन के परिणाम स्वरूप अनेक बौद्ध महाविहारों, स्तूपों एवं अन्य संरचनाओं के अवशेष प्रकाश में आए हैं।

इस स्थल पर सन् 1897 ई० में डब्लू०सी० पेपे के द्वारा पुरातात्विक कार्य प्रारम्भ किया गया था। जिसमें उन्हें इस स्तूप में पत्थर से निर्मित एक धातु-मंजूषा प्राप्त हुई थी। अगले वर्ष जनवरी 1898 ई० में इस उत्खनन कार्य को श्री पी०सी० मुखर्जी द्वारा पुनः प्रारम्भ किया गया। इस उत्खनन के परिणाम स्वरूप उन्हें चार स्फटिक तथा एक सेलखड़ी से निर्मित लघु पात्र प्राप्त हुए थे।

कालान्तर में पिपरहवा का उत्खनन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा श्री के०एम० श्रीवास्तव के कुशल नेतृत्व में सन् 1971 से 1974 तक क्रमबद्ध ढंग से किया गया। इस उत्खनन के परिणामस्वरूप इस पुरास्थल से इस विशाल स्तूप के चारों ओर अनेक बौद्ध महाविहार, छोटे स्तूप तथा अन्य संरचनाओं के अवशेष प्रकाश में आये। इस स्तूप के दक्षिणी भाग में स्थित बौद्ध विहार के समीप दो छोटे मनौती स्तूप, तथा बड़ी संख्या में मिट्टी की मुद्रा छापे तथा एक पात्र का ढक्कन प्राप्त हुआ था जिस पर 'कपिलवस्तु' लेख उत्कीर्ण था। इन मिट्टी की मुद्रा छापों पर ब्राह्मी लिपि में 'ओम, देवपुत्र विहारे, कपिलवस्तु भिक्षु संघस' अथवा "महाकपिलवस्तु भिक्षु संघस" लेख उत्कीर्ण थे। इन लेखों से पिपरहवा की पहचान निश्चित रूप से प्राचीन कपिलवस्तु से प्रमाणित की जा सकती है²।

xuofj ;k : इस पुरास्थल पर उत्खनन के फल स्वरूप कुछ भवनों के अवशेष प्रकाश में आये हैं इसमें एक मुख्य भवन है जो काफी बड़ा है इसमें चारों तरफ से कमरे बने हैं तथा बीच में आँगन है³। वृहद् आवासीय स्थापत्य के चारों तरफ बारह अन्य आवास भी हैं, जिनके आकार मिश्रित हैं⁴। चतुर्थ चरण में

*अतिथि प्रवक्ता, इतिहास विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

निर्मित एक कुआँ भी प्रकाश में आया है, जिसका व्यास 90 सेंमी० है^९। आवासीय भवनों के अतिरिक्त चार पूजास्थल भी प्रकाश में आये हैं, जिनका निर्माण चौथे एवं पाँचवें चरण में हुआ था। एक अन्य वृहद् भवन भी उत्खनन में पाया गया था, परन्तु यह भवन किस उपयोग में आता था, यह स्पष्ट नहीं है।^{१०}

lkykx< ॥ इस पुरास्थल पर उत्खनन के फलस्वरूप एक कुषाणकालीन विहार प्रकाश में आया है तथा इसके उत्तर दिशा में एक छोटे से स्तूप का अवशेष भी विद्यमान है। सालारगढ़ में प्राप्त विहार का अभिन्यास पिपरहवा में प्राप्त विहार से अलग है।^{११}

frykjdkv ॥ यह पुरास्थल उत्तर-दक्षिण में 1600 फीट लम्बा तथा पूर्व-पश्चिम में 1000 फीट चौड़ा है। यह पुरास्थल चारों तरफ से सुरक्षा प्राचीर से घिरा हुआ है इसकी दीवारें लगभग 10-17 फीट चौड़ी हैं तथा पश्चिमोत्तर दीवार नदी के पटाव के कारण 500 फीट तक गिर गयी है। दक्षिण के तरफ की दीवाल अभी ढका हुआ है। ऐसा विद्वानों का मानना है कि इस किले में चारों दिशाओं में प्रवेश द्वार हैं लेकिन वर्तमान समय में अभी केवल दो ही प्रवेश द्वार उत्खनन के फलस्वरूप प्रकाश में आये हैं। पहला पश्चिमी द्वार तथा दूसरा पूर्वी द्वार और अभी उत्तरी तथा दक्षिणी द्वार का उत्खनन नहीं हुआ है। वर्तमान समय में पश्चिमी द्वार से होकर ही इस किले के अन्दर प्रवेश किया जाता है तथा दूसरा पूर्वी द्वार जिसे महाभिनिष्क्रमण द्वार भी कहते हैं^{१२}। इस द्वार के बारे में ऐसा मानना है कि सिद्धार्थ (भगवान बुद्ध) 29 वर्ष की अवस्था में अपनी पत्नी यशोधरा और बेटा राहुल तथा राजमहल को छोड़कर पूर्वी द्वार से ही ज्ञान प्राप्ति के लिए गये थे। इसीलिए इस द्वार को महाभिनिष्क्रमण द्वार भी कहते हैं। उस पुरास्थल पर पक्के मकानों के साक्ष्य के रूप में ईंटों की दीवारें विद्यमान हैं। तिलौराकोट पुरास्थल को देखने से भी एक किले की भाँति प्रतीत होता है^{१३}।

le; ekrk %ekb% efnj ॥ तिलौराकोट पुरास्थल के मध्य में एक समय माता/माई का मन्दिर है। इसके बारे में ऐसा मानना है कि यह मन्दिर प्राचीन काल से ही विद्यमान है तथा चीनी यात्रियों ने भी अपने यात्रा विवरण में यह लिखा है कि वे जब यहाँ आये थे तो मन्दिर को देखा था। वर्तमान समय में वहाँ मन्दिर के अन्दर पत्थर की बनी हुई कुछ मूर्तियाँ रखी हुई हैं जिससे आस-पास के गावों की महिलायें तथा पुरुष पूजा-पाठ करने आते हैं^{१४}। वहाँ महिलायें भूत-पिशाच खेलती हैं तथा तान्त्रिकों द्वारा झाड़ू-फूक करके भूत-पिशाच से मुक्ति दिलाई जाती है। वहाँ लोग अपना मन्त्र पूरा होने के बाद प्रसाद चढ़ाते हैं तथा वहीं खाना पकाते हैं और उनका पूरा परिवार प्रसाद के रूप में खाना ग्रहण करता है। वहाँ के दृश्य को देखने से डर भी लगता है। स्थानीय लोग समय माता को जंगली देवी का रूप भी मानते हैं।

tMok @/kefugok Lri ॥ ये स्तूप तिलौराकोट से 200 मी० की दूरी पर उत्तर दिशा में धमनिहवाँ गाँव के समीप स्थित है। इसे जुड़वा स्तूप इसलिये कहा जाता है क्योंकि वहाँ दो स्तूप हैं। वहाँ के स्थानीय लोगों तथा बौद्ध भिक्षुओं के अनुसार ऐसी मान्यता है कि बड़ा स्तूप जिसका व्यास 52 फीट है वह राजा शुद्धोधन के मरने के बाद उन्हीं की अस्थियों पर बनवाया गया है तथा दूसरा स्तूप जिसका व्यास 26 फीट है, वह महामाया देवी के मरने के बाद उनकी अस्थियों पर बनवाया गया है। वहाँ के स्थानीय लोग उसे बुआ (पिता) तथा माता का स्तूप बोलते हैं। वर्तमान समय में उन स्तूपों का आधारशिला शेष बचा हुआ है^{१५}।

dinku ॥ इस पुरास्थल को न्योग्रोधाराम के नाम से भी जानते हैं क्योंकि राजा शुद्धोधन ने यहाँ एक संस्थागार बनवाया था जिसका नाम न्योग्रोधाराम था^{१६}। साहित्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के बाद यहाँ आये तथा यहाँ पर राजा शुद्धोधन भी बौद्ध धर्म में प्रव्रजित हो गये। भगवान् बुद्ध इस संस्थागार में ठहरे थे तथा यहाँ उन्होंने उपदेश भी दिया था। वर्तमान समय में यहाँ बगीचों के बीच में स्तूप के साथ बिहार, मन्दिर और कुएँ के अवशेष विद्यमान हैं^{१७} तथा उसके पास ही एक तालाब है जिसे स्थानीय लोग उसे कमल पोखरी बोलते हैं। यह तालाब उस समय बौद्ध भिक्षुओं के लिए जल स्रोत के रूप में था। वहीं एक स्तूप के पुरावशेष पर बाद में एक शिव मन्दिर बना है जो अष्टकोणीय है तथा मध्य काल में निर्मित हुआ है। मन्दिर में शिवलिंग तथा नन्दी एवं गणेश की प्रतिमा हैं^{१८}। वर्तमान समय में यह पुरास्थल नेपाल सरकार द्वारा संरक्षित है।

xkfVgok ॥ इस पुरास्थल के बारे में ऐसा माना जाता है कि भगवान बुद्ध के प्रथम अवतार क्रकुच्छन्द बुद्ध का जन्म तथा महापरिनिर्वाण दोनों यहीं पर हुआ था। इसलिए इस पुरास्थल का विशेष महत्व है। मौर्य शासक अशोक ने भी यहाँ की यात्रा की थी तथा एक स्तम्भ का निर्माण करवाया था जो नष्ट हो गया है। वर्तमान समय में केवल छोटा सा भाग वहाँ संरक्षित है तथा यहाँ स्तूप और बिहार के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं¹⁵।

fuxfygok ॥ इस पुरास्थल को स्थानीय लोग निगाली के नाम से पुकारते हैं। यहाँ पर अशोक ने एक स्तम्भ का निर्माण करवाया था तथा उस पर ब्राह्मी में लेख लिखवाया था। वर्तमान समय में यह स्तम्भ दो टुकड़ों में विभक्त हो गया है तथा वहीं जमीन पर पड़ा है, जिसे नेपाल सरकार ने उसे संरक्षित कराया है¹⁶। स्तम्भ के ऊपरी भाग पर देवनागरी लिपि में 1312 ई० में रिपु मल्ल की यात्रा के बारे में अंकन किया गया है। मठ और स्तूपों के खण्डहर यहाँ मौजूद हैं तथा इस पुरास्थल को कनकमुनि के जन्म स्थान के रूप में पहचाना जाता है¹⁷। कनक मुनि बुद्ध को भगवान बुद्ध का दूसरा अवतार माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ अशोक के यात्रा के पहले से ही एक स्तूप था, जिसको बाद में अशोक ने उसका आकार दोगुना करवाया था।

I xjgok ॥ इस पुरास्थल के बारे में बौद्ध साहित्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि कोशल नरेश प्रसेनजित शाक्यों के कुल में अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था लेकिन शाक्य अपनी रक्त शुद्धता के लिए जाने जाते थे। उन लोगों ने अपने संस्थागार में बैठकर एक सभा किया तथा निर्णय लिया कि दासी पुत्री से प्रसेनजीत का विवाह कर दिया जाय तथा प्रसेनजीत को धोखा दिया गया कि वह एक शाक्य पुत्री है। इस प्रकार प्रसेनजीत ने उस दासी पुत्री से विवाह कर लिया। उसके बाद उससे विडूडभ नामक पुत्र पैदा हुआ। जब वह बचपन में अपने ननिहाल गया तो वह जिस स्थान पर बैठा था उसके आने के बाद उस स्थान को यह कह कर धुला गया कि वह दासी पुत्र है जिससे यह स्थान अच्छूत हो गया है। बाद में यह बात विडूडभ को पता चल गया कि शाक्यों ने उसके साथ धोखा किया है तथा दासी पुत्र कह कर उसका अपमान किया है। उसके बाद जब वह राजा बना तो वह उस अपमान का बदला लेने के लिए शाक्यों पर आक्रमण कर दिया तथा लाखों शाक्यों को मौत के घाट उतार दिया तथा हजारों को बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार जहाँ हजारों-लाखों शाक्यों की हत्या हुई उसी स्थान को सगरहवा या लम्बूसागर कहते हैं। इन्ही लोगों की स्मृति में सैकड़ों स्तूपों का निर्माण हुआ है, ऐसा माना जाता है। डॉ० ए० फुहरर ने 1897-1898 ई० में उत्खनन के फलस्वरूप इन स्तूपों का पता लगाया था¹⁸।

yffcu ॥ लुम्बिनी की खोज संयुक्त रूप से जनरल खडग शमशेर सिंह एवं डॉ० फुहरर के द्वारा सन् 1896 ई० को की गई थी। डॉ० फुहरर ने अभिलेख युक्त अशोक स्तम्भ की खोज कर इन्होंने बुद्ध के जन्म स्थान से सम्बन्धित विवाद पर पूर्णतः विराम लगा दिया। जब ये लोग लुम्बिनी पहुँचें थे तो इस समय उस पुरास्थल पर लगभग 6 साल पहले से अर्थात् 1890 से हिन्दू सन्यासी मंदिर बना कर रह रहे थे¹⁹। लुम्बिनी की पक्की पहचान हो जाने से कपिलवस्तु के खोज कार्यों में बहुत सहायता मिली है।

सन् 1898 ई० में पी०सी० मुखर्जी ने ईट से निर्मित मन्दिर तथा उसके चारों तरफ कुछ छोटे चैत्यों का उत्खनन कराया। पी०सी० मुखर्जी के विवरण के अनुसार ईंटों से निर्मित मन्दिर सप्तरथ शैली में निर्मित था तथा पूर्व की दिशा में मुखमण्डप उससे जुड़ा हुआ था। बुद्ध जन्म के दृश्य से सम्बन्धित मायादेवी की प्रतिमा तथा कुछ स्तूपों को भी मुखर्जी के द्वारा ही खोजा गया था²⁰। मुखर्जी के पश्चात नेपाल के कैसर शमशेर जंग बहादुर राणा ने सन् 1933-1939 ई० के बीच लुम्बिनी में उत्खनन कराया तथा उसके फलस्वरूप अनेकों स्तूप एवं विहार प्रकाश में लाया।

दिसम्बर 1896 में नेपाल की तराई में अशोक के धम्म-स्तम्भ के प्रकाश में आ जाने के बाद लुम्बिनी के इतिहास का पुनर्जन्म हुआ। इसके बाद ही यहाँ के भग्नावशेषों की खुदाई की गयी। हालाँकि नेपाली पुराविद् जनरल केशर शमशेर राणा की देख-रेख में अवैज्ञानिक तरीके से उत्खनन कार्य हुआ था, फिर भी 1939 ई० में अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ-साथ एक टीले के अन्दर खुदाई करने से लुम्बिनी के पवित्र सरोवर को खोज निकाला गया। सरोवर की सफाई करवायी गयी और उसकी मरम्मत

भी की गयी। यह सरोवर माया देवी मंदिर के दक्षिण में स्थित है और बौद्ध साहित्य और चीनी यात्रियों के विवरण से पूरी तरह मेल खाता है। प्रारम्भ में यह सरोवर कितना बड़ा रहा होगा, इसका विवरण किसी भी प्राचीन स्रोत-सामग्री में उपलब्ध नहीं होता है किन्तु मरम्मत के बाद अब यह 24 90 मीटर की चौड़ाई में वर्गाकार आकृति में बना हुआ है। सरोवर का तल 12-20 मीटर है तथा सरोवर में नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। लुम्बिनी परियोजना के अंतर्गत 1993 ई0 में इसकी साफ-सफाई की गयी थी। जब इसका गंदा पानी निकाला गया और तल पर लगभग एक मीटर जमी गाद को भी हटाया गया, तब सरोवर के तल में बने दो कुएँ भी बने मिले। इनमें से एक कुआँ सरोवर के तल के उत्तर-पूरब की ओर और तथा दूसरा दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। पहला कुआँ दूसरे कुएँ से आकार में बड़ा है। अभी फिलहाल ये दोनों कुएँ बन्द हैं। ऐसा लगता है कि ये कुएँ ही इस सरोवर के जल के प्रमुख स्रोत रहे होंगे। लुम्बिनी आने वाले उपासकों के लिए यह पवित्र सरोवर आज भी अपार श्रद्धा का प्रतीक बना हुआ है²¹।

उन्होंने अशोक स्तम्भ के निचले सतह का भी उत्खनन कराया तथा जिस मकान से जन्म से सम्बन्धित मूर्ति प्राप्त हुई थी, उसका आधुनिक मन्दिर के रूप में पुनर्निर्माण कराया था।

काफी समयान्तराल के बाद फरवरी 1962 ई0 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की तरफ से प्रशिक्षित पुराविद् श्रीमती देवला मित्रा ने लुम्बिनी में उत्खनन कराया। तथा यहाँ से प्राप्त धूसर रंग के मृद्भाण्ड, अशोक स्तम्भ, मायादेवी की प्रतिमा, सरोवर तथा 6 मनौती स्तूपों का उल्लेख किया है²²।

बी0के0 रिजाल ने भी पुरातात्विक उत्खनन एवं प्रारम्भिक चरण में उजागर किय गये स्मारकों का संरक्षण सन् 1947 से 1983 तक किया। इसी काल में बुद्ध से सम्बन्धित मन्दिर के पश्चिम, उत्तर और पूरब में कई छोटे बड़े चैत्यों का उत्खनन किया गया। उसके बाद उनको संरक्षित किया गया। मायादेवी मन्दिर के पूरब में बने ऊँचे चबूतरे पर पंचरत्न संकल्पना से निर्मित मंदिर को भी संरक्षित किया गया। लेकिन बी0 के0 रिजाल ने इसे स्तूप कहा है।

सबसे महत्वपूर्ण संरचना की खोज सन् 1975 ई0 में अशोक स्तम्भ के उत्तर में 30 फीट की दूरी पर की गई। वर्तमान सतह से 2 फीट की गहराई पर पके हुए ईंटों से निर्मित 7.6 मी0 उत्तर से दक्षिण तथा 3.8 मी0 पूरब से पश्चिम के आकार का संरचना प्रकाश में आया। इस संरचना में 17 इंच x 8 इंच x 5 इंच आकार के पक्की ईंटों के 6 रदे लगे हुए थे। इस संरचना के ऊपर मौर्य काल में निर्मित वर्गाकार चैत्य भी प्रकाश में आया। इस पुरास्थल पर प्रारम्भिक एवं प्राक मौर्य काल से सम्बन्धित संरचनायें होने की अधिक सम्भावनायें हैं²³।

तारानन्द मिश्रा ने 1984-1988 ई0 के मध्य, नेपाल पुरातत्व विभाग की तरफ से भगवान् बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित पुरास्थल लुम्बिनी में उत्खनन कराया। इसी समय तीन बिहारों का उत्खनन कराया गया और तेरह छोटे-बड़े स्तूपों का आंशिक रूप से उत्खनन कराया गया तथा अन्य संरचनाओं को मरम्मत एवं संरक्षित किया गया। सप्तरथ सांचे से निर्मित ईंटों का मन्दिर भी प्रकाश में लाया गया।

अशोक स्तम्भ के सपाट निचले सतह का उत्खनन किया गया। यह 30 फीट 10 इंच लम्बा चुनार के बलुए पत्थर से निर्मित था। अशोक के समय में ही इस स्तम्भ के चारों ओर वर्गाकार आकार में ईंटों से निर्मित वेदिका का निर्माण किया गया था। इस स्तम्भ के शीर्ष पर निर्मित घोड़े की आकृति ह्वेनसांग के यात्रा से पहले ही नष्ट हो गया था। इसकी सूचना ह्वेनसांग स्वयं देता है। यह स्तम्भ दो भागों में टूट गया था। इसको पुनः नये ईंटों से निर्मित चबूतरे पर स्थापित किया गया तथा इसको लोहे की चहारदीवारी से घेरा गया। इस स्तम्भ के मध्य भाग में दरार पड़ गया था, जिसको चुनार के बलुए पत्थर की चूर्ण और चूने को मिला कर एक पेस्ट तैयार किया गया तथा उसको संरक्षित किया गया²⁴।

इस प्रकार शाक्य गणराज्य के अन्तर्गत विभिन्न पुरास्थलों पर मौर्य काल से लेकर मध्यकाल तक की पुरातात्विक संरचनायें विद्यमान हैं। आधुनिक समय में भी विभिन्न देशों द्वारा विभिन्न पुरास्थलों पर चैत्य एवं विहार का निर्माण किया जा रहा है। केवल लुम्बिनी में ही लगभग 22 देशों के चैत्य एवं विहार निर्मित हैं।

I UnHk %

1. दिव्यावदान, पृ० 67
2. श्रीवास्तव, के०, एम०, एक्सीवेशन्स एट पिपरहवा एण्ड गनवरिया, पृ० 30-46
3. श्रीवास्तव, के०, एम०, एक्सीवेशन्स एट पिपरहवा एण्ड गनवरिया, पृ० 60-62
4. श्रीवास्तव, के०, एम०, एक्सीवेशन्स एट पिपरहवा एण्ड गनवरिया, पृ० 67-68
5. श्रीवास्तव, के०, एम०, एक्सीवेशन्स एट पिपरहवा एण्ड गनवरिया, पृ० 70
6. श्रीवास्तव, के०, एम०, एक्सीवेशन्स एट पिपरहवा एण्ड गनवरिया, पृ० 69
7. श्रीवास्तव, के०, एम०, एक्सीवेशन्स एट पिपरहवा एण्ड गनवरिया, पृ० 52
8. बिदारी, बसन्त, कपिलवस्तु: द वर्ल्ड ऑफ सिद्धार्थ, पृ० 66-67
9. ऑफ नेपाल, पृ० 19-20
10. बिदारी, बसन्त, कपिलवस्तु: द वर्ल्ड ऑफ सिद्धार्थ, पृ० 204
11. मिश्रा, टी० एन०, तिलौराकोट एक्सीवेशन (2023-2029 वी० एस०), पृ० 18
12. बिदारी, बसन्त, कपिलवस्तु: द वर्ल्ड ऑफ सिद्धार्थ, पृष्ठ 6
13. मित्रा, देवला, एक्सवेसन एट तिलौराकोट एण्ड कुदान एण्ड एक्सप्लोरेशन इन द नेपालीज तराई, पृ० 163-64
14. मित्रा, देवला, उपरोक्त, पृ० 172
15. बिदारी, बसन्त, कपिलवस्तु: द वर्ल्ड ऑफ सिद्धार्थ, पृ० 70-71
16. फुहरर, ए०, एन्टीकुटीज ऑफ बुद्धा शाक्यमुनि एण्ड बर्थप्लेस इन द नेपालीज तराई, पृ० 22-25
17. मित्रा, देवला, पूर्वोक्त, पृ० 5-6
18. बिदारी, बसन्त, कपिलवस्तु: द वर्ल्ड ऑफ सिद्धार्थ, पृ० 127-28
19. फुहरर, ए०, पूर्वोक्त, पृ० 27
20. मुखर्जी, पी०, सी०, पूर्वोक्त, पृ० 34-35
21. पिपलायन, मधुकर, भगवान बुद्ध की जन्मस्थली-लुम्बिनी, पृ० 85
22. मित्रा, देवला, पूर्वोक्त, पृ० 197-98
23. मिश्रा, टी०, एन०, इवोलुशन ऑफ बुद्धिज्म एण्ड आर्कियोलॉजिकल एक्सवेसन्स इन लुम्बिनी, पृ० 13
24. वही, पृ० 13



dk'ky fodkl ,o cjktxkj rFkk lkekftd leko'k

lit ; Hkkjrh*

lkjk'k % कौशल विकास एक ऐसा अभियान है जिसके द्वारा कोई भी देश अकुशल श्रम का कौशल विकास कर उसे औद्योगिक मांग के अनुरूप नियोजित करता है। लेकिन भारत में श्रमिकों की संख्या मांग से अधिक होने के कारण माँग और आपूर्ति में असंतुलन होना स्वभाविक है। भारत में कौशल विकास की एक ऐसी योजना के रूप में उभर रहा है जो किसी भी देश के भविष्य के लिए गौरव की बात होगी। भारत में कौशल विकास कार्यक्रम उद्यमशीलता अभियान का महत्वपूर्ण कदम है जिसके द्वारा हम अकुशल व्यक्ति को कुशल और किसी कार्य में प्रशिक्षित करके दक्ष बना सकते हैं जिनके सहयोग से उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ ही साथ रोजगार का सृजन कर लोगों की आमदनी तथा स्वनिर्भरता को बढ़ा सकते हैं लेकिन रोजगार सृजन के लिए सरकार को आवश्यक परिस्थितियों को भी उत्पन्न करना पड़ता है कुछ मामले में तो सरकार का इस पर किसी प्रकार का सीधा नियंत्रण नहीं होता है जिसमें आर्थिक विकास अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन माँग और आपूर्ति के साथ नीतिगत और बुनियादी कारक भी जिम्मेदार होते हैं। इन समस्याओं को अगर सरकार हल नहीं कर पाती तो बेरोजगारी और असंतोष बढ़ने लगता है। देश में एक बड़ी आबादी को रोजगार देना एक कठिन कार्य जरूर है लेकिन हम उचित शिक्षा, स्वरोजगार, प्रशिक्षण जागरूकता एवं उद्यमशीलता की भावना बढ़ाकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाकर बेरोजगारी अवश्य कम कर सकते हैं।

कौशल विकास योजना में युवाओं को सार्थक उद्योग जगत के अनुकूल और कौशल आधारित प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे प्रशिक्षण से युवा तकनीकी कार्य कुशलता को बढ़ाकर राष्ट्रीय विकास में योगदान दे और इससे प्राप्त आमदनी से अपना एक खुशहाल तनाव मुक्त जीवन की नींव रखे इसी नीति को ध्यान में रखकर सरकार ने कौशल विकास और उद्यमिता 2015 की राष्ट्रीय नीति की घोषणा की और नारा दिया “कौशल भारत, कुशल भारत। भारत में विश्व युवा कुशलता दिवस के मौके पर एक विशेष कार्यक्रम ‘स्किल इण्डिया’ का शुभारम्भ किया जिससे समाज का अब तक वंचित वर्ग निश्चित रूप से इस कार्यक्रमों से प्रभावित होगा और नये-नये प्रकार के प्रशिक्षणों को प्राप्त कर रोजगार के लिए तैयार होगा।

भारत में अगर हम देखें तो कुशल श्रमिकों की संख्या कुल जनसंख्या का लगभग 5% है। दूसरे देशों से अगर तुलना करें तो चीन में यह संख्या 47%, जापान में 80%, ब्रिटेन में 68%, अमेरिका में 52% और दक्षिण कोरिया में 96% है। अमेरिका के ‘मैनपावर ग्रुप ने नियोक्ताओं का एक सर्वे करने के बाद जारी रिपोर्ट में कहा जर्मनी, अमेरिका और फ्रांस में 40%, 57% और 20% नियोक्ताओं को अपनी जरूरतों के मुताबिक कर्मचारी ढूँढने में मुश्किल आती है।¹ जब विश्व के विकसित देशों की यह स्थिति है तो भारत में स्थिति इससे भी गम्भीर है। यह स्थिति 67% है देश में 54% जनसंख्या 25 वर्ष से कम आयु की है।² जो की इस तरफ हमारा ध्यान केन्द्रित करती हैं कि अगर इन युवाओं को प्रशिक्षण न दिया जाये और रोजगार नहीं दिया गया तो आने वाले समय में बेरोजगारों की संख्या बढ़कर एक विकराल रूप ग्रहण कर लेंगे। आज हमें श्रम के साथ-साथ कुशल श्रमिकों को बढ़ाने की आवश्यकता है।

भारत सरकार ने कौशल विकास जैसी योजनाओं और कार्यक्रमों को प्रारम्भ करके ग्रामीण युवाओं को ज्यादा से ज्यादा लाभ पहुँचाने का एक प्रयास प्रारम्भ कर दिया है जिसमें एक नई राष्ट्रीय नीति की बनायी जा चुकी है। देश के लिए राष्ट्रीय कौशल विकास की शुरुआत भी की जा चुकी है। कौशल विकास

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय जखिखनी, वाराणसी

और रोजगार आज एक दूसरे के लिए पूरक के रूप में उभर रहे हैं जिसके लिए सरकार भी स्वयं पहल कर रही है। आज के समय में कौशल विकास कार्यक्रम का महत्व जहाँ बढ़ता जा रहा है वहीं दूसरी तरफ इसके प्रतिफल को लेकर हमारी चिंता भी बढ़ती जा रही है। समय के साथ बढ़ती आबादी और रोजगार के बीच काफी अन्तर आने की संभावना बनी हुई है इसके लिए यद्यपि कौशल विकास जैसे माध्यम उपयोगी और सार्थक साबित हो सकते हैं।

आज भूण्डलीकरण के इस आधुनिक युग में रोजगार एक महत्वपूर्ण और चुनौतीपूर्ण विषय बन गया है। लगातार बढ़ती आबादी के लिए रोजगार को उत्पन्न करना सरकारों के लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। भारत में यह चुनौती एक गम्भीर समस्या है यद्यपि सरकार का ध्यान रोजगार सृजन के साथ कौशल विकास की तरफ जाना सकारात्मक संकेत प्रदान करता है। सरकार ने ग्रामीण युवाओं के रोजगार और उनके कौशल के लिए 'दीन दयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल विकास योजना'³ को प्रारम्भ कर रखा है। इस कार्यक्रम में ग्रामीण युवाओं को प्रशिक्षित कर रोजगार के लायक बनाया जाता है जो देश के साथ-साथ विदेश में भी रोजगार सरल ढंग से प्राप्त कर सकते हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए रोजगार और कौशल विकास के लिए कई प्रकार की योजनाओं एवं कार्यक्रम तो बनाये गये हैं जिससे लोग लाभान्वित भी हुए हैं लेकिन इसका प्रतिफल कम से कम ही प्राप्त हुआ है। आज ऐसे कार्यक्रमों की आवश्यकता है जो वैश्विक स्तर की विशेषज्ञता और दक्षता पर आधारित हो। आज भी सम्पूर्ण विश्व में दक्ष लोगों की कमी करोड़ों में है जिसमें नर्स, इलेक्ट्रीशियन, प्लम्बर जैसे कार्य शामिल है। भारत में करोड़ों ऐसे लोग बेरोजगार हैं जो दक्ष होने के बाद भी किसी प्रकार का काम प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में तो स्थिति और भी खराब है कई लोग तकनीकी रूप से दक्ष होने के बाद भी रोजगार जब नहीं मिलता तो अन्य प्रकार के कार्य में अपने को लगा लेते हैं जिससे धीरे-धीरे उनकी दक्षता भी समय के साथ प्रभावित होने लगती है।

भारत में आज भी आबादी के अनुपात में दक्ष लोगों की समस्या बनी हुई है। विश्व स्तर पर देखें तो भारत की कार्यशील आबादी का अनुपात काफी अधिक है किन्तु इसमें दक्षता का अभाव है। 'राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण के 68वें चक्र 2012 के अनुसार भारत में कुल श्रमबल करीब 472.9 मिलियन है'⁴ जिसमें 15 वर्ष से 59 उम्र के कार्यबल आबादी का हिस्सा सम्पूर्ण जनसंख्या का 60: है, जिसका की हम सही ढंग से लाभ नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं। आज भी देश में आधी जनसंख्या (कार्यशील) कृषि क्षेत्र में लगी हुई। 'परम्परागत रूप से कृषि रोजगार का सबसे बड़ा क्षेत्र है लेकिन उसकी खराब स्थिति किसी से छिपी नहीं है।'⁵ कृषि क्षेत्र में यह माना जाता है कि इसमें किसी प्रकार की दक्षता की आवश्यकता नहीं है। जबकि आज के समय में कृषि में ही अधिक दक्षता की आवश्यकता है। दक्षता की कमी के कारण ही आज हम विश्व में वह स्थान प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं जो कि हमको प्राप्त करना चाहिए। आज भी हम भुखमरी, कुपोषण की समस्या से जूझ रहे हैं। 'ग्लोबल हंगर इंडेक्स की ताजा रैंकिंग के अनुसार 118 देशों की सूची में भारत 97वें स्थान पर है।'⁶ आज भी अस्पतालों में डाक्टर, टेक्नीशियन, नर्सिंग स्टाफ और विशेषज्ञों की कमी है। प्रतिष्ठित संस्थान एम्स की नई शाखाओं में लगभग 80 फीसदी पद खाली हैं।

भारतीय संविधान के 'अनुच्छेद 21'⁷ में मनुष्य के जीवन को अधिक सार्थक योग्य बनाने की बात कही गई है जिसमें जीविका का अधिकार, अच्छे पर्यावरण का अधिकार, स्वास्थ्य, चिकित्सा का अधिकार को सम्मिलित किया गया है। जो कि भारत में बेहतर जीवन जीने की ओर संकेत करता है। लेकिन आज देश में बहुसंख्यक आबादी को बेहतर जीवन स्तर के लिए समस्याओं एवं चुनौतियों से सामना करना पड़ रहा है। यदि हम रोजगार की मांग और आपूर्ति के बीच खाई को कम करके लोगों के जीवन स्तर में बेहतर सुधार ला सकते हैं तथा देश के गरीब, बच्चे, विकलांग, महिला एवं अक्षम लोगों को भी समावेशित बना सकते, जिससे देश की वर्तमान एवं भावी पीढ़ी खुशहाल बन सके और देश में कार्यशील जनसंख्या बढ़ सके।

भारत सरकार ने ग्रामीण बेरोजगारी एवं गरीबी को दूर करने के लिए तथा लोगों को गरिमापूर्ण जीवन देने के लिए अनेक नीतियों एवं योजनाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया है जिसमें मनरेगा, स्किल

इण्डिया कार्यक्रम, इन्दिरा गाँधी आवास योजना, काशीराम शहरी आवास योजना, विकलांग पेंशन योजना, ऋण योजना, महिलाओं एवं अनुसूचित जाति, जनजाति से सम्बन्धित विभिन्न योजनाएं प्रारम्भ की गयी हैं। जिससे इन सभी का कौशल विकास कार्यक्रम के माध्यम से समाज में समावेश तो हो साथ ही साथ लोगों में हुनर के साथ आत्मनिर्भरता भी बढ़े। लेकिन आँकड़े हमें जरूर बताते हैं कि हमने आर्थिक सामाजिक विकास के क्षेत्र में अद्वितीय उपलब्धि हासिल की है। लेकिन बेरोजगारी जैसी समस्या का प्रभावी निदान निकालने में सफल नहीं हो सके हैं। मनरेगा जैसी योजना ने लोगों का सशक्तीकरण एवं समावेश जरूर किया इस कार्यक्रम ने सामाजिक समावेशन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया जिससे आँकड़ों के अनुसार '51% कार्यों में अनुसूचित जाति व जनजाति, 47% महिलाओं को शामिल माना जाता है।'⁹ लेकिन भ्रष्टाचार के कारण अधिकारियों एवं ग्राम प्रधानों ने इसको पूर्ण रूप से सफल होने नहीं दिया। जनता की जागरूकता की कमी ने बेरोजगारी की दर को बनाये रखा। यद्यपि वर्तमान सरकार के प्रयास सराहनीय रहे कि भ्रष्टाचार को मनरेगा से खत्म करने के लिए प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (डी0बी0टी0)¹⁰ के द्वारा लूट की छूट पर शिकंजा कसा जरूर लेकिन इसका भी असर अप्रभावी ही हो रहा है।

सरकार ने कई महत्वपूर्ण योजनाओं के द्वारा बेरोजगारी दूर करने का प्रयास किया जिसमें मनरेगा के अतिरिक्त प्रधानमंत्री ग्रामीण सड़क योजना जो केन्द्र सरकार की महत्वपूर्ण योजना है जिसमें ग्रामीण सड़कों का निर्माण किया जाता है तो करीब 163 लोग गरीबी के चक्र से बाहर निकलते हैं। इसी तरह की राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन रोजगार की दिशा में सरकार का एक बढ़िया कदम था। स्वयं सहायता समूह के द्वारा एक छोटे समूह का निर्माण किया जाता है जिसके द्वारा समूह के सदस्य एक दूसरे की समस्या के निदान के लिए सहयोग करते हैं तथा स्वरोजगार मिलजुलकर कर सकते हैं। जम्मू कश्मीर सरकार के द्वारा चलाई जा रही कौशल विकास रोजगार योजना 'हिमायत की तर्ज पर देश के सर्वाधिक नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में रोशनी परियोजना'¹⁰ के द्वारा समाज के मुख्य धारा से हट चुके लोगों को जोड़ने एवं रोजगार देने की एक योजना चल रही है। कौशल विकास योजना 2013 के द्वारा भी 50% युवाओं जिसमें आधी महिलाएं होंगी जिनको विभिन्न प्रकार के कौशलपरक प्रशिक्षण प्रदान कर रोजगार दिलाया जाएगा जो खुदरा, स्वास्थ्य, टेक्सटाइल्स निर्माण, वित्तीय बीमा क्षेत्रों से जुड़े रोजगार होंगे।

मनरेगा जैसे विश्व की सबसे बड़ी योजना इस उम्मीद से शुरू की गयी कि इसके द्वारा लोगों का सामाजिक समावेश होगा, रोजगार मिलेगा, लोगों की खुशहाली बढ़ेगी, शहरी पलायन कम होगा, ग्राम स्तर पर लोगों की समझ बढ़ने के साथ-साथ उचित विकास होगा जिसके सकारात्मक परिणाम भी आये, लेकिन हम उनके नकारात्मक पहलुओं को भी छिपा नहीं सकते हैं जिसमें अकुशल श्रमिक को हम हमेशा अकुशल बनाये रखते हैं, सरकार की नीति की निष्क्रियता, अनुकूल माहौल की कमी, भ्रष्टाचार के कारण हम आज भी बेरोजगारी के उसी स्तर पर बने हुए हैं। सरकार के द्वारा 7 जून 2016 के आँकड़ों के मुताबिक अब तक पीएमकेवीवाई के तहत 19.7 लाख लोगों का पंजीकरण किया गया जो 11 महीनों में 82% है जो योजना की सफलता की ओर संकेत करती है। लेकिन इस साल 25 अप्रैल तक के लिए जारी आँकड़ों में जब प्रशिक्षण के लिए पंजीकरण कर चुके लोगों की संख्या 17.58 लाख पहुँच चुकी थी। उस समय रोजगार पाने वाले प्रशिक्षुओं की संख्या महज 81978 थी जो 5% से भी कम है।'¹¹ जो इस बात का संकेत करते हैं कि हम बेरोजगारी से निपटने में असफल रहे।

कौशल विकास कार्यक्रम, मनरेगा, स्किल विकास एवं अन्य प्रकार के कार्यक्रमों को हम तभी सफल बना सकते हैं और बेरोजगारी से लड़ सकते हैं जबकि हम निम्नलिखित उपाय करें :-

1. पूरे भारत में शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के साथ समान शिक्षा एवं व्यवसायिक शिक्षा को ज्यादा से ज्यादा बढ़ावा दिया जाये।
2. गरीबी के आँकड़ों को सही ढंग से इकट्ठा कर इस समस्या से युद्ध स्तर पर निपटा जाये।
3. लोगों के जीवन स्तर में सुधार करने का सफल प्रयास किया जाये।
4. भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए लोगों को आय-व्यय, क्रय-विक्रय को आनलाइन किया जाये। इसके सम्बन्ध में कठोर और व्यवहारिक कानून बनाया जाये।

5. जनता में भी इस प्रकार विश्वास जगाना होगा कि लोग तनाव मुक्त, बिना भय के, खुशहाल जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हों।
6. कानून और नौकरशाही को इतना व्यवहारिक बनाया जाये की प्रत्येक व्यक्ति सुगम और सरल तरीके से उसका लाभ प्राप्त कर सके।
7. जातिवाद जैसी समस्या को जड़ से समाप्त करनी होगी।

संदर्भ सूची

1. कुरुक्षेत्र, अगस्त 2016, पेज 12
2. कुरुक्षेत्र, अगस्त 2016, पेज 12
3. कुरुक्षेत्र, अगस्त 2016, पेज 34
4. कुरुक्षेत्र, अगस्त 2016, पेज 35
5. दैनिक जागरण, 16 अक्टूबर 2016, पेज 12
6. दैनिक जागरण, 14 अक्टूबर 2016, पेज 12
7. भारत का संविधान, डॉ० डी०डी० बसु, 2011, पेज 113
8. कुरुक्षेत्र, सितम्बर 2016, पेज 13
9. कुरुक्षेत्र, सितम्बर 2016, पेज 13
10. कुरुक्षेत्र, अगस्त 2016, पेज 35
11. कुरुक्षेत्र, अगस्त 2016, पेज 13



Lkkekft d fo"kerk vkj dchj dk dk0; M,0 fcfiu dekj*

कबीर कालीन समाज में अनेक सामाजिक व धार्मिक अव्यवस्था विद्यमान थी। समाज में उच्च कही जाने वाली जातियाँ ऐसी संस्थाओं को गलत रूप से समाज के सामने प्रस्तुत कर रही थीं जो आदि काल से कर्म के अनुसार समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए बनाई गयी थीं, उनमें एक वर्णाश्रम व्यवस्था थी, ब्राह्मण वर्ग अपने हित के लिए इस व्यवस्था का प्रयोग गलत ढंग से कर रहा था, जो व्यवस्था कर्म के अनुसार लागू थी उसे जन्म के अनुसार बना दिया और वर्णाश्रम व्यवस्था की ओट में नीच कही जाने वाली जातियों पर कहर बरसाना शुरू किया। ये नीच जातियाँ, उच्च जातियों के हाथ की कठपुतली के समान थीं, उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। उन्हें ये विश्वास दिला दिया गया था कि वे उच्च कुल की सेवा के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, उनका उनके जीवन पर कोई अधिकार नहीं है। कबीर इसी नीच जाति में उत्पन्न हुए थे तो स्वाभाविक है कि इस अव्यवस्था, इस भेदभाव को अपनी आँखों से देखा तथा स्वयं के ऊपर इस अनाचार की बुराईयों और अत्याचारों को अनुभूत किया।

वर्ण व्यवस्था के नाम पर व्यर्थ की छूआछूत की भावना समाज में घर करती जा रही थी। इन झूठी व बेमतलब के विचारों के पीछे साधारण मनुष्य का समय व शक्ति दोनों ही नष्ट हो रहा था और जो सबसे ज्यादा निराशाजन्य पहलू था, वह यह कि इस्लाम धर्म का प्रवेश हो चुका था और इस्लाम में छूआ-छूत, जाति-पांति, ऊँच-नीच जैसी व्यवस्था का कोई प्रावधान न था। जिसके कारण नीची जातियों की दशा विचित्र थी क्योंकि हिन्दुओं की वर्णाश्रम व्यवस्था अत्यन्त कठोर व अनुदार थी। इसमें एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति को नहीं अपना सकता था जबकि इस्लाम धर्म इस मुद्दे पर अत्यन्त उदार था इसलिए नीची (शूद्र) जातियाँ जातिवाद के पाखण्ड से ऊबकर इस्लाम धर्म को अपनाने लगी। जिसका परिणाम यह हुआ कि नीची जातियों का एक बड़ा वर्ग धर्म परिवर्तन कर लेता था।

यह हिन्दू समाज के लिए कितनी चिन्ताजन्य और विचित्र स्थिति थी कि जो वर्णाश्रम व्यवस्था इसलिए बनाया था कि समाज का हर क्षेत्र सुचारु व सुनियोजित ढंग से कार्य कर सके तथा समाज व समाज में रहने वाले व्यक्तियों का चहुँ ओर से विकास हो सके उसने इतना विकृत रूप धारण कर लिया।

तात्कालीन समाज में वर्णव्यवस्था का प्रसार तो था ही ब्राह्मण अपने को ऊँचा व शूद्रों को नीचा समझते थे। कबीर ने इसका तीखे स्वर से विरोध करते हुए ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि उनमें शूद्रों से कौन सी श्रेष्ठता है? —

dkg dk dhtl ikMl Nkfr fopkjka
Nkrfg r mi tk lllkj %Vd%AA
gekj dill ykg rEgkj dill n/kA
rEg dill ckã.k gei dill lnAA¹

कबीर ने वर्ण व्यवस्था की ईश्वरवादी धारणा का जोरदार खण्डन किया कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा होते हैं और शूद्र पैर से। दोनों एक ही रास्ते से पैदा होते हैं, एक ही ज्योति से सबकी उत्पत्ति होती है, एक बूँद, मल, मूत्र, चाम और गुदा सभी में समान है—

,d cn ,d eyerj] ,d pke ,d xnkA
,d tkfr Fkl lc mriuk] dku ckã.k dku lnkAA²

तो फिर तुम इतने श्रेष्ठ कैसे हो यह ऊँच—नीच का भेद कहाँ से आया, समस्त जीव समान है क्योंकि शरीर एक ही साँचे में ढला है—

ugh| dk Åpk ugh| dk uh|pk] t kdk l;M rkgh dk l h|pkA
t| r| ckHku cHkuh t k; k] r k| vku ckV go| dkg| u vk; kAA³

इस प्रकार कबीर वर्ण—व्यवस्था का विरोध बड़े ही खुले व तार्किक रूप से करते हैं, उनके अनुसार कोई नीच नहीं हैं, केवल वह नीच हैं जिसके मुख से राम—राम का उच्चारण नहीं होता है—

dg| dchj ef/ke ukgh| l k ef/ke t k ef[k jkx u gkbA⁴

सरनाम सिंह ने लिखा है कि— कबीर ने वर्णाश्रम धर्म की धज्जियाँ उड़ते देखी तथा उनके संघर्ष को देखा। इस सब के पीछे उन्होंने मूर्खता और अज्ञान का आलम्बन देखा। इन्होंने ठीक समझा कि भ्रम—बीथियों में भटकने वाले लोगों को पंथान्वेषक नहीं कहा जा सकता। जो अज्ञान से लिपटे हुए हैं, उन्हें सत्पथ दिखाई नहीं पड़ता।⁵

कबीर आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत किए जाने वाले गायत्री—जप, संध्या, तर्पण और षट्कर्मों के विधि विधान पर भी व्यंग्य कसा और कहा—

if.Mr Hky: if< xUFk onk] vki u iko| ^ukuk^ HknkA
l /; k rjiu vÅ "kVdjek ykfx jg| bud| v'kjekA
xk;=h tix pkfj i<kb] iNk| tkb defr fdfu ikbA⁶

जाति अभिमान के गर्व में चूर मनुष्य से नीचा और कौन हो सकता है? वेद—शास्त्रों का पाठ पण्डित तो करते हैं किन्तु उन्हें सच्चे धर्म का आभास ही नहीं है। इन्हीं षट्कर्मों में फंसे रह जाते हैं। इसी तरह क्षत्रिय भी पथच्युत है वह अपना क्षत्रियत्व जताने में अपने धर्म को भूला हुआ है, कबीर क्षत्रिय को कहते हैं—

[k=h dj| [kf=; k /kjek] frud| gk; l ok; k djekA
thofg ekfj tho ifrikj] n[ku tue vkiuk gkjAA
[k=h l k| t| d|VEc l| l>| ip| efV ,d d| c>A
t k vko/k xj X; ku y[kkok] xfg djoky /ki /kfj /kkokA
gyk dj| ful kul ?kkÅ] t> i j| rgk eueFk jkÅAA⁷

सच्चा क्षत्रिय वही है जो मानव मात्र की सहायता के लिए स्वयं की बलि दे दे। कबीर जो कि सभी मानव को एक ही ज्योति से उत्पन्न मानते थे इस वर्णाश्रम व्यवस्था की ओट में भेद—भाव को सहन नहीं करते और जहाँ भी ऊँच—नीच का भाव देखते हैं एक तरह डंडा लेकर उनके पीछे पड़ जाते हैं और हजारों प्रश्नों की बौछार कर देते हैं, जिसका जवाब दे पाना कतई सम्भव न था उच्च वर्गों के लिए। उन्हें फटकार तो लगाते ही चलते हैं साथ में यह भी बताते हैं कि उन्हें किस प्रकार से धर्म का पालन करना चाहिए।

कबीर के अनुसार यह सारा व्यक्त जगत् एक ही तत्त्व से उत्पन्न है। इसलिए सभी प्रकार की भेद दृष्टि मिथ्या है। मानव—मानव में भेद तो परम अज्ञान का द्योतक है। इसी तत्त्व दृष्टि से प्रेरित कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त निम्नलिखित बुराइयों का विरोध किया।

tkfr&ikfr % कबीर ने प्रेम और भाई चारा को सर्वोपरि माना। उन्होंने जाति—पाँति को तत्त्वतः मिथ्या कहा और इसका विरोध किया। वे कहते हैं कि एक ही ज्योति सब में व्याप्त है, दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं— ,dfg tkfr l dy ?kV 0;kid ntk rÜk u dkbA

dg| dchj l uk| j| lirk| HkVfd ej| tfu dkbAA⁸

Åp&uhp % कबीर के अनुसार लौकिक अर्थ में निर्गुण ब्रह्म प्रेम का आलम्बन नहीं हो सकता है, केवल चिन्तन का ही विषय हो सकता है, परन्तु उस निराकार की इस विश्व विस्तृत सृष्टि में उस मूल तत्त्व की सत्ता का जो आभास मिल जाता है उसके कारण निर्गुण संसार के समस्त प्राणियों को अपने प्रेम और दया का पात्र बना लेता है, जबकि सगुण भक्ति की बहुत कुछ भावुकता ठाकुर जी की मूर्ति के बनाव शृंगार

और उनके भोगराग के आडम्बर ही में व्यय हो जाती है। इसी प्रेम ने कबीर को ऊँच-नीच का भेद-भाव दूर कर सबकी एकता प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी थी—

β, d cn , d ey erj , d pke , d xnkA
 , d tkfr Fk lc mit k dk ckHku dk lInkAAb⁹

/ku l p; ॥ कबीर ने ऊँच-नीच के व्यवहार का जमकर खण्डन किया। वह उच्चता और नीचता को व्यवसाय और धर्म से नहीं जोड़ते हैं।

पूँजीपतियों से कबीर ने कहा—

^dchj i|th 'kkg dh] r| tfu dj| [kokjA
 [kjh fcxju gk; :xh] y| [kk n|rh okjAA¹⁰

इन पूँजीपतियों की विलासिता पर कटाक्ष करते हुए कबीर ने कहा—

^l|jou dyh nykor:] djr| gkMegkMA
 r| efnj [kkyh iM:] x; : iyd e| NkMAA
 eyey efg ik<:r] ifjey vix yxk; A
 r| leu nh| : ugh] n| [kr x; : foyk; AA¹¹

कबीर ने कहा कि अपनी आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करना उचित नहीं है—

tk ty ck< : uko e| ?kj e| ck< : nkeA
 nkuk| gkFk myhfp,] ; gh l ; kuk dkeA
 gfj tu xkB u ck/kfg] mnj lekrr y; A
 vxk : ihN| gfj [kM:] tc ekx : rc n; AA¹²

कोई भी व्यक्ति जन्म से ऊँच और नीच नहीं होता है। कोई भी व्यवसाय निम्न नहीं होता। वह जुलाहा परिवार से सम्बद्ध होने के बावजूद भी अपने को जुलाहा कहने में नहीं हिचकते। वे ज्ञान और कर्म को महत्व देते हैं। वे धन संचय का विरोध करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति को उतने ही धन का संचय करना चाहिए जितने से उसका भरण पोषण हो सके। कबीर स्वयं जो कुछ दिन भर में कमाते थे, उसका कुछ अंश अवश्य साधु संतों की सेवा में लगाते थे और कभी-कभी सब कुछ उनकी सेवा में अर्पित कर डालते और आप निराहार रह जाते। उन्होंने कहा भी है—

‘काहे कूं भीत बनाऊं टाटी, का जाणूं कहं परिहैं माटी।

काहे कूं मंदिर महल चिनाऊं, मूवां पीछे घड़ी एक रहन न पाइं।’

‘काहे कूं छाऊं ऊंच उचेरा, साढ़ैं तीन हाथ घर मेरा।

कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेतीं भुइं लीजै।’¹³

कबीर भौतिक वैभव को महत्व नहीं देते थे। सांसारिक वैभव को तुच्छ समझते थे। उनकी दृष्टि में भौतिक वैभव के प्रतीक हाथी-घोड़े और शक्ति के सूचक छत्र-ध्वजा सब व्यर्थ हैं। वे भौतिक वैभव की अपेक्षा भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन यापन को अधिक महत्व देते थे।

‘कबीर हय गय गैबर सघन घन, छत्र धजा फरराइ।

ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाई।।’¹⁴

N|vkN| ॥ कबीर कालीन समाज में छुआछूत का जहर पूरे समाज में व्याप्त था। यह समाज में वर्ण और जाति की उच्चता को स्थापित करने के लिए फैला। इसका आधार जन्म और व्यवसाय दोनों था। वैदिक काल में जाति-पाँति और छुआछूत का प्रचार नहीं था लेकिन परवर्ती कालों में इसका प्रचार काफी तेज हो गया। कबीर के समय में छुआछूत की भावना बहुत बढ़ गयी थी। समाज में ब्राह्मण वर्ग का स्थान सर्वोच्च समझा जाता था। इस व्यवस्था का जनक उसे ही समझा जा सकता है। समाज का निम्नवर्ग का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ग के व्यक्ति तथा समान को यदि छू लेता था तो उच्च वर्ग का व्यक्ति अपने को तथा अपने सामान को अपवित्र मानकर उसे फिर से हवन-यज्ञ आदि द्वारा शुद्ध करता था। समाज के निम्न वर्ग के लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। मोची, नाई, जुलाहा, चमार आदि को

समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। इनके व्यवसाय को निकृष्ट समझा जाता था। समाज में उस समय यह भावना घर कर गयी थी कि यदि समाज के निम्न वर्ग के किसी व्यक्ति को हवा स्पर्श करके उच्च वर्ग को स्पर्श देती है तो वह अपवित्र हो जाता है। इसलिए समाज का उच्च वर्ग का अपने वर्चस्व के कारण निम्नवर्ग के लोगों को अपने गाँव व शहर के दक्षिण दिशा में रहने पर मजबूर किया। इसका कारण था कि दक्षिण दिशा से हवायें बहुत कम चलती हैं। कबीर ने छुआछूत की इन भावनाओं तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर जोरदार प्रहार किया। वे कहते हैं कि पण्डित तुम कहते हो कि पवित्र स्थान पर भोजन करना चाहिए। बताओ कौन स्थान पवित्र है? विचार करने पर तो माता—पिता भी जूठे हैं और वृक्ष में लगने वाले सारे फल भी जूठे हैं। अग्नि और जल भी जूठे हैं। गोबर और चौका भी जूठा है। जूठी कलही से ही अन्न परोसा जाता है। वस्तुतः पवित्र और शुद्ध तो वे लोग हैं जिन्होंने हरि की भक्ति करके अपने मन के विकारों को दूर कर लिया है।—

^dg i kM l f/k dcu BkAA
ftfg ?kj Hkk tu cfB [kkmAA
ekrk tBh firk ifu tBk] tB Qy fpr ykx:A
tBk vkou tB t k u k] prg D; u vHkx:AA
vu tBk ikuh ifu tBk] tBh cfB idk; kA
tBh dM Nh ¼v u ½ i j k L; k] tB tBk [k k; kAA
pkdk tBk xkcj tBk] tBh dk<h dkjAA
dg dchj rfg tu l p] t gfj Hkft r tfg fcdkjAA¹⁵

छुआछूत का कबीर ने इन शब्दों में भी खण्डन किया है—

^dkg dk dht i kM Nkfr fopkjA
Nkrfg r mi t k l l k j kAA
gekj d l l ykg rEgkj d l l n/kA
rEg d l l ckã.k i kM ge d l l l nAA
Nkfr&Nkfr d j r k rEg gh t k, A
rk x; ok l dkg dk vk; AA
tuer Nkfr ejr gh NkfrA
dg dchj gfj dh fuey tkfrAA¹⁶

ckg; kMEcj ॥ कबीर ने हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म में व्याप्त बाह्याडम्बर का खण्डन किया है। यद्यपि ब्राह्मणों के बाह्याडम्बर का खण्डन छठी शताब्दी ई० पू० में बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रवर्तकों द्वारा किया गया। बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रवर्तक निरीश्वरवादी थे। कबीर ने ईश्वर में विश्वास जताया। कबीर ने ब्राह्मणों तथा मुसलमानों के बाह्याडम्बर का खण्डन निम्न पदों में किया है—

^ikFkh if<& if< tx evk] ifMr Hk; k u dk; A
<kb vk[kj i e dk i<] l k if. Mr gk; AA¹⁷
^rhjFk or fc[k cyMh l c tx eYgk NkbA
dchj ey fudfn; k] dku gykgy [kkbAA¹⁸
>g l c >Bh cnxh] fofjFk i p fuok t A
l k p ekj >fB if<] dkth d j l vdk tAA¹⁹
^ty d l etu t k xfr gkb] ehuk fur gh UgkoA
t l l k ehuk r l l k u j k] fQj&fQj t kuh vkoAA
eu e l eyk rhjFk Ugko] frfu cd. B u t k u kAA²⁰

कबीर ने अपने समय में व्याप्त अन्ध विश्वासों का भी खण्डन किया। तत्कालीन जनता का बौद्धिक स्तर बहुत सामान्य था। उनमें अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित थे। वह टोना—टोटका,

शुकन-अपशकुन, भूत-प्रेत, झाड़ू-फूँक, तंत्र-मंत्र और जादू-मन्त्र के चक्कर में पड़ी रहती थी। कबीर ने इस सबका खण्डन किया। कबीर के समय में यह कहा जाता था कि काशी में मृत्यु के होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और मगहर में मृत्यु होने से नरक गमन होता है। कबीर इसी के विरोध में काशी को मृत्यु के समय छोड़ दिया और मगहर में शरण ली। वे अपनी भक्ति के कारण ही अपने आप को मुक्ति का अधिकारी समझते थे। उन्होंने कहा भी है—

^t k dk'kh ru r t k dchjk]

r k jkefg dgk fugkjk jA²¹

कबीर के निम्न पद्यों में भी अंधविश्वास का खण्डन देखा जा सकता है—

^fgjnl dBkj ej; k cukj lh ujd u c/; k t kbA

gfj dk nkl ej; t k exgj lU/; k l dy frjkbAA²²

^t l dk'kh r l exgj Å l j ân; l e l fr gkbA²³

अंततः कह सकते हैं कि कबीर समाज के निम्न वर्ग से आये। वे फक्कड़ स्वभाव के थे। उन्होंने अपने समय के समाज के प्रति तीव्र असन्तोष व्यक्त किया और उन्होंने सामाजिक संस्कृति पर बल देते हुए, मध्यकाल के लिए एक नये मानववादी विकल्प का संकेत दिया। कबीर का आग्रह सीधे-सीधे सरलजीवन पर है, सारे आडम्बर, ताम-झाम से युक्त, सामंती पुरोहितवादी अलंकरण का निषेध। उन्होंने उन छोटी जातियों को विशेष रूप से सम्बोधित किया जिनकी कोई सामाजिक-आर्थिक हैसियत न थी और जो हर दृष्टि से शोषित-पीड़ित थी। एक ही पद में कुम्हार, धोबी, चमार, तेली, नाई, बनजारा आदि का उल्लेख हुआ है और कबीर को जुलाहा जाति की सामान्य स्थिति का बोध तो है ही। उन्होंने सामान्य विषय लिए जो मध्यकाल में उनके सामने मौजूद थे, पर वे थे मूलभूत प्रश्न जैसे— जातिवाद, छुआछूत, पुरोहितवाद, आडम्बर, हर प्रकार का भ्रष्टाचार, छद्म, अंधविश्वास आदि। इस प्रकार कबीर का यथार्थ ऊपर नहीं तैरता। वे प्रश्नों की गहराई में उतरते हैं और विचारक कवि के रूप में समाधान भी पाना चाहते हैं।

I UnHk %

1. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्याम सुन्दरदास, राम गौड़ी, पद-40, पृ० 79
2. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्याम सुन्दरदास, राम गौड़ी, पद-57, पृ० 82
3. वही, पद-41, पृ० 79
4. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्याम सुन्दरदास, राम गौड़ी, पद-41, पृ० 79
5. कबीर एक विवेचन, सरनाम सिंह, पृ० 218
6. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्याम सुन्दरदास, अष्टपदी रमैनी, पृ० 182
7. वही, पृ० 182
8. कबीर मीमांसा, ले०-डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० 135
9. कबीर ग्रन्थावली, सं०-डॉ० श्याम सुन्दरदास, पृ० 30
10. कबीर के दर्शन का अवधारणात्मक अवलोकन, डॉ० ललिता देवी यादव, पृ० 132
11. कबीर के दर्शन का अवधारणात्मक अवलोकन, डॉ० ललिता देवी यादव, पृ० 132
12. वही, पृ० 132
13. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० 35
14. कबीर मीमांसा, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० 139
15. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, पृ०-295
16. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्याम सुन्दर दास, पृ०-34
17. कबीर पुनर्पाठ/पुनर्मूल्यांकन, परमानन्द श्रीवास्तव, पृ०-72
18. कबीर मीमांसा, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ०-137
19. कबीर वाणी: कथ्य और शिल्प, डॉ० रामकिशोर शर्मा, पृ०-71
20. वही, पृ०-72
21. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्याम सुन्दर दास, पृ०-22
22. कबीर, विजयेन्द्र स्नातक, पृ०-17
23. वही, पृ०-17



वृद्ध वर्ग के प्रति समाज का दायित्व

vydk*

वृद्ध वर्ग हमारे समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण हिस्सा हमेशा से रहा है। जिसने सारा जीवन, सारी ऊर्जा लगा कर अपने परिवार को व्यवस्थित किया, सभी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक जिम्मेदारियों को निभाते हुए सभी दायित्वों का पालन किया। वृद्ध स्त्री या पुरुष दोनों ही परिवार के आधार हैं फिर भी न जाने क्यों अधिकतम वृद्ध अपने अंतिम दिनों को बहुत ही मार्मिक स्थिति में व्यतीत करते हैं। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में उन्हें वो संतुष्टि और सुख नहीं मिल पाते जिनके लिए उन्होंने अपना सारा जीवन होम कर दिया। भारतीय व प्रवासी साहित्यकारों ने वृद्धों की इस पीड़ा को अपने साहित्य के माध्यम से अक्सर दिखाने का प्रयास किया है। कहानियों में वृद्ध लोगों की मार्मिक अवस्था की बात करते हुए हमें सबसे पहले प्रेमचन्द की कहानी 'बूढ़ी काकी' याद आती है और उसके बाद भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' ये दोनों ही कहानियाँ वृद्धावस्था में परिवार द्वारा अपने वृद्धों की दुर्गति का महा आख्यान हैं। भारतीय लेखकों के साथ-साथ प्रवासी लेखकों ने भी वृद्धावस्था के मार्मिक आख्यानों को अपने साहित्य में स्थान दिया इसमें प्रमुख रूप से सुषम बेदी की कहानी 'गुनहगार', भूदेव शर्मा की 'प्रवासी की माँ', दिव्या माथुर की 'तुल्ला किलब', उषा प्रियंवदा की 'वापसी' प्रमुख हैं। इन्हीं नामों के बीच से ही एक नाम उभर कर आता है सुधा ओम ढींगरा का। अमेरिका में बसी ये लेखिका वैसे तो किसी एक विमर्श में बन्ध कर रचना नहीं करती पर वृद्धावस्था की स्थिति को बारीकी से परखते हुए इन्होंने अपनी कलम इस विषय पर चलायी है और ये अपना कथ्य स्पष्ट रूप से पाठक तक संप्रेषित करने में भी सफल है।

सुधा ओम ढींगरा अपनी कहानियों में भारतीय व अमेरिकी परिवेश दोनों का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया है वे भारतीय परिवारों की दकियानूसी सोच को उभारती हैं जिसके कारण परिवार में एक वृद्ध व्यक्ति अकेलापन व अवसाद की स्थिति में घिर जाता है वहीं पश्चिमी संस्कृति में जहाँ पहले से ही एकाकीपन है पर वहाँ पर अपने बड़े बुजुर्गों को अकेले इसीलिए नहीं किया जाता कि वे उनका बोझ उठाना नहीं चाहते बल्कि उन्हें इसलिए वृद्धाश्रम भेजा जाता है जहाँ पर वे अपनी आजादी के दिन अपने साथ के लोगों में बिता सकें ये उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होता है, वे किसी दबाव में घर से अलग नहीं होते। भारतीय परिवारों की स्थिति इससे अलग है इन परिवारों में जैसे ही वृद्ध माता पिता अपने सारे अधिकार अपने बहू बेटे को सौंपते हैं वहीं से उनके लिए दुखद समय की शुरुआत हो जाती है, भारतीयों के लिए यह परिवेश न भारत में बदलता है न अमेरिका में। अमेरिका में रहने वाले भारतीय दम्पति अपने माता-पिता को अक्सर इसीलिए बुलाते हैं कि उनका बच्चा पालने का खर्चा कम हो जाए और उन्हें कोई आया नहीं रखनी पड़े।

सुधा ओम ढींगरा ने अपनी कहानी 'कमरा न.103', 'काश ! ऐसा होता....', 'बिखरते रिश्ते' में वृद्धों की इसी वेदना को अपने कथ्य का विषय बनाया है। कमरा न.103 कहानी में मिसेज वर्मा कहानी की मुख्य पात्र है जो पूरी कहानी का केंद्र है और अपने बेटे के बुरे बर्तताव के कारण कोमा में पहुँच गई। मिसेज वर्मा को उनके बेटे ने भारत से बुलाया था ताकि वह उनके होने वाले बच्चे की देखभाल कर सके, पर दुर्भाग्यवश वह बच्चा पैदा होने से पहले ही चल बसा जिसके कारण मिसेज वर्मा अब उनके घर में फालतू सामान हो गई "ज्योंही उन्हें आईसीयू से कमरा न. 103 में स्थानांतर किया गया, उस दिन से आज तक उनके बेटे बहू की किसी ने सूरत नहीं देखी। वे उन्हें घर के किसी फालतू सामान की तरह अस्पताल

छोड़ गये।¹ अस्पताल में कोमा की अवस्था में पड़े हुए मिसेज वर्मा की सेवा में लगी दो नर्सें भारतीय लोगों के दोगले चरित्र को उजागर करती हैं, जिसमें वे कहती हैं कि साऊथ एशियंस लोग अपने बच्चों की देखभाल के लिए अपने माँ-बाप को बुलाते हैं ताकि उनका डे केयर व बेबी सिटर का खर्चा बच सकें। माँ-बाप का हेल्थ इंश्योरेंस तक का पैसा वे बचा जाते हैं। लेखिका अपनी इस कहानी में नर्स टेरी और एमी के माध्यम से भारतीयों की छोटी सोच पर बार-बार प्रहार करती हैं, जिसके कारण से भारतीय बुजुर्ग अमेरिका में आकर दुःख पाते हैं। अमेरिकी लोग भारतीयों से ज्यादा संवेदनशील हैं। ऐसे ही एक जगह एमी कहती है, "साऊथ एशियंस अपने बुजुर्गों को बुढ़ापे में अपने देश क्यों नहीं भेज देते यह देश उन्हें कभी अपना नहीं लग सकता।"² इस पर एमी कहती है, "लगेगा कैसे? वे यहाँ पैदा नहीं हुए। पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी यहाँ कोई पहचान नहीं। जड़ें उनकी अपने देश में हैं। अंधेड़ उम्र में वे बच्चों के पास रहने आते हैं। धड़ यहाँ रहता है और आत्मा वहीं उनके अपने देश में"³

प्रवास वृद्धावस्था की पीड़ा को और बढ़ा देता है अपने देश की संस्कृति व जड़ों से दूर होना वृद्धों के लिए अधिक पीड़ादायी होता है न तो वे यहाँ की भाषा को सही से समझते हैं और न ही संस्कृति को। अमेरिकी संस्कृति जहाँ आजादी से अपना जीवन जीने के लिए है वहीं भारतीय वृद्ध अपने परिवार को सब कुछ समझते हैं, वे अपने नाती-पोतों के बीच रहकर ही अपने जीवन को बिताना चाहते हैं। इसी द्वंद्व में फंसी मिसेज वर्मा भी अपने बेटे के बच्चे का मुँह देखने के मोह में अमेरिका आती है और बेटे के द्वारा किय गये अभद्र व्यवहार से त्रस्त होकर कोमा में पहुँच जाती है। वह खुद भी इस बात को कहती है कि "उनका बेटा अपना फर्ज नहीं निभा पाया क्योंकि बहू तो अमेरिकन कल्चर में पली हुई अमेरिकन्स से भी चार कदम आगे की सोच रखती है वह अपने माँ बाप का ख्याल अच्छे से रखती है बस अँकुर ही अपना फर्ज नहीं निभा पाया।"⁴

भारतीय संस्कृति में हमने यही सीखा है कि कोई भी वस्तु जो परिवार में एक की होती है उस पर पूरे परिवार का अधिकार होता है और इसी आधार पर भारतीय परिवार संयुक्त रहते हैं, पर यह आधार आज की आधुनिकता में खोता जा रहा है। इसी तरह की कहानी 'बिखरते रिश्ते' हैं आधुनिक सोच में डूबा परिवार अपने पिता को वृद्धाश्रम भेजने में जरा सी झिझक नहीं दिखाता और बहन के शिकायत करने पर उसे भी तपाक से जवाब दे दिया जाता है, "बाबू जी तुम्हारे भी तो हैं, इतनी पीड़ा है तो उन्हें अपने साथ क्यों नहीं ले जाती हम कब मना करते हैं।"⁵ बुढ़ापा, जब परिवार की सबसे ज्यादा जरूरत होती है तभी पूरा परिवार वृद्ध को घर से अलग करना चाहता है। कोई भी उसके साथ समय नहीं बिताना चाहता, ऐसे में पति या पत्नी का इस अवस्था में अकेले रह जाना और अधिक कष्टकारी हो जाता है। रिमझिम सोचती है, "अकेले माँ ने पूरा घर संभाला हुआ था और भाई भाभियाँ मिलकर एक बाबूजी को नहीं संभाल सके।"⁶ बिखरते रिश्ते आपसी प्रेम के खत्म होने की कहानी है, बेटे अपने बूढ़े होते पिता से छुटकारा पाना चाहते हैं और समय समय पर चेक साईन करवा कर उनकी सारी जमापूँजी अपने नाम करा लेते हैं, उन्हें मानसिक रूप से विक्षिप्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। बाबूजी के सहायक के इस कथन से उनका दर्द पाठकों के सामने उजागर होता है, "साहब लोग अंकल से चेकों पर हस्ताक्षर करवा कर चले जाते हैं, जब से अंकल वृद्धाश्रम आये हैं किसी से बात नहीं करते और जब कोई बुलाता है तो हाथ आगे बढ़ा देते हैं कि कहाँ साइन करने हैं।"⁷ इस कहानी में भारतीय संस्कृति से तुलना करते हुए अमेरिकी कल्चर को उच्च दिखाया गया है जहाँ नैसी के माध्यम से लेखिका यह दिखाती है कि अमेरिकी लोग भले ही एकाकी जीवन जीने में विश्वास रखते हों पर वृद्धावस्था में भी आजादी से जीने की उनकी इच्छा का स्वीकार हर जगह है नैसी अपने पिता की सम्पत्ति से कुछ नहीं लेती जबकि वह दिन में तीन नौकरियाँ करती है, वहीं डॉ. प्रसिल्ला अपने बूढ़े सास ससुर के लिए पूरा घर तैयार करवाती है ताकि वे अपने अंतिम दिन आजादी और आराम से बिता सकें।

सुधा ओम ढींगरा की 'काश! ऐसा होता...' कहानी भी भारतीय व पाश्चात्य समाज के विभेद को दर्शाती है, ऐसा नहीं है कि विदेश में वृद्ध अकेले जीवन व्यतीत नहीं करते, वे मिसेज हाईडी के माध्यम से बताती है कि वे एकाकी जीवन जी रही हैं बच्चे भी साथ नहीं हैं और न ही वे मिसेज हाईडी

से मिलने आते हैं। पारुल कथा वाचक के रूप में मिसेज हाईडी की तुलना अपनी माँ से करती है क्योंकि भारत में उसकी माँ भी मिसेज हाईडी की तरह अकेले जीवन जी रहीं हैं। मिसेज हाईडी के पास कम से कम अपना घर तो है पारुल की माँ के पास तो वह भी नहीं है, वह साल के 6 माह एक बेटे के पास और 6 माह दूसरे बेटे के पास बिताती हैं और घर के किसी भी मामले में उनका बोलना भाई भाभी के लिए असहनीय होता है। इस कहानी में पाश्चात्य संस्कृति के खुलेपन को दिखाते हुए मिसेज हाईडी की शादी जोर्ज से होते हुए दिखाई जाती है, परन्तु इस तरह की स्थिति आज भी भारतीय समाज में स्वीकार्य नहीं है। भारतीय समाज में पुरुष पत्नी के मरने पर दूसरी शादी कर सकता है पर स्त्री के लिए यह संभव नहीं है। पारुल अपनी माँ की वेदना प्रकट करते हुए कहती है, “माँ, बाबूजी को जिस तरह से याद करती है, महसूस किया जा सकता है कि माँ अपनी वेदना बाबूजी के साथ बाँटना चाहती हैं। माँ को कोई साथी चाहिए। बुढ़ापे का सहारा चाहिए। माँ सिर्फ माँ नहीं औरत है, इंसान है। उसे भी जीने का हक है।”⁸ पर भारतीय संस्कृति में इस तरह के तर्क को कुतर्क कहा जाता है, यहाँ ऐसे कोई सोचना नहीं चाहता कि बुढ़ापे में अकेलापन सबसे ज्यादा दुरुखी करता है जीवन के इस पहर में उनके दुःख व अकेलापन को साझा करने का साथी मिले तो जीवन सरल हो जाता है, पर भारतीय परिवारों में वृद्ध यही सोच कर जीवन बिता देते हैं कि उनके परिवार हैं, बेटे बहू, पोते-पोती सब हैं उन्हें साथी की क्या जरूरत है और परिवार के लोग वृद्धों के अकेलेपन पर ध्यान नहीं देते।

इन सभी कहानियों में हमारे समाज के वृद्धों की स्थिति को दिखाया गया है, ‘बिखरते रिश्ते’ के बाबूजी, ‘काश! ऐसा होता ...’ की पारुल की माँ, और ‘कमरा न.103’ की मिसेज वर्मा हर कहीं देखने को मिल जाती हैं। आज के दौर में कई बार लगता कि हम अपने वृद्धों को लेकर असंवेदनशील होते जा रहे हैं सब तो नहीं पर समाज का बहुत बड़ा वर्ग इस तरह की असंवेदनशीलता का शिकार है। लेखिका अपनी कहानियों के द्वारा समाज के इस वर्ग की संवेदनाओं को व्यक्त करने में सफल हुई हैं और वृद्धों की पीड़ा हमारे मन को स्पर्श करते हुए हमें यह चेताने में सफल हुई हैं कि यह वर्ग हमारे समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा ही नहीं है बल्कि इस वर्ग के कारण ही हमारा अस्तित्व है।

I Unħk §

1. कमरा न. 103, सुधा ओम ढींगरा, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, पृष्ठ —36
2. वही, पृष्ठ—37
3. वही, पृष्ठ —37
4. वही, पृष्ठ—39
5. कौन सी जमीन अपनी, सुधा ओम ढींगरा, भावना प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ —74
6. वही, पृष्ठ—72
7. वही, पृष्ठ—79
8. सच कुछ और था, सुधा ओम ढींगरा, शिवना प्रकाशन, पृष्ठ —91



स्त्री समाज का स्थान

नम्र देव*

प्राचीन काल से समाज में स्त्री का सम्मान और आदर होता चला आ रहा है। स्त्री समाज का आधार स्तम्भ है। वे अपना मनोनुकूल आत्मविकास और उत्थान कर सकती थी। गुप्त युग के समाज में भी स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं थी। लेकिन इनकी स्थिति बहुत दयनीय भी नहीं थी। सामान्यतः स्त्रियों का स्थान समाज में सम्मानजनक था। माँ के रूप में वह परिवार की एक आदर्श महिला थी और उच्च सम्मान प्राप्त करती थी। पत्नी के रूप में वह गृहणी थी और पति के बाद परिवार में उसका स्थान द्वितीय होता था। सामाजिक व धार्मिक कार्यों में वह अपने पति के साथ भाग लेती थी। कन्या के रूप में वह यद्यपि पुत्र के समकक्ष तो नहीं थी, पर वह परिवार में हेय की दृष्टि से भी नहीं देखी जाती थी। बाल विवाह से स्त्री शिक्षा के द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया था, फिर भी स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। समृद्धिशाली परिवारों में कन्याओं को पर्याप्त शिक्षा दी जाती थी, तो वहीं गरीब परिवारों की कन्याओं को शिक्षा पाना आसान नहीं था, लेकिन वह अपने पिता-माता के कार्यों में हाथ बटाती, गृहकार्यों में सहयोग प्रदान करती थी। प्रबुद्ध महिलाएँ साहित्यिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी कार्य करती थी। कतिपय महिलाएँ लेखकों और कवि स्त्रियों के रूप में भी प्रख्यात थीं, कुछ महिलाएँ प्रान्तीय व स्थानीय शासन में भाग लेती थीं। वाकाटक रानी प्रभावती गुप्त ने अपने पुत्र के संरक्षक के रूप में शासन किया था। समाज में 'स्त्रीधन' रूप में सम्पत्ति का अधिकार भी प्राप्त था। सती प्रथा यत्र-तत्र राजवंशों में ही प्रचलित थी। पर्दा प्रथा प्रायः नहीं के बराबर था। सामान्यता स्त्रियाँ स्वतंत्र भ्रमण करती थी। समाज में स्त्रियों की दशा इस युग में प्रायः अच्छी थी।

नारी और पुरुषों की सहनिर्भरता मात्र पारिवारिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी विद्यमान था। गुप्तकाल में आर्थिक क्रिया-कलाप के विविध क्षेत्रों में कुछ क्षेत्र ऐसे थे जो बाह्य गमन से जुड़े थे तो कुछ घर के भीतर ही सम्भव थे। कृषि जो अधिकांशतः घर के बाहर गावों के इर्दगिर्द होता था जहाँ महिलाओं को श्रम करते हुए देखा जा सकता है। परन्तु व्यवसाय का अधिकांश कार्य घरों पर ही सम्पन्न होता, जिसमें उनकी भागीदारी देखी जाती है, परन्तु बाह्य व्यवसाय के सम्बंध में इतनी दृढ़ता से नहीं कहा जा सकता। यद्यपि समाज के सभी स्त्रियों में आर्थिक चेतना तो थी परन्तु सहभागिता मात्र कुछ वर्ग की स्त्रियों में ही देखा जाता है। उच्च वर्ग की महिलायें कृषि एवं व्यवसाय में समायोजित नहीं होती थी जबकि यह अर्थ-उत्पादन का मुख्य आधार रहा था। निम्न वर्ग की महिलाएँ ही कृषि कार्यों में पति का हाथ बंटाते हुए दिखाई देती हैं। सामान्य जन की स्त्रियाँ तो सभी व्यावसायिक कार्यों में तो नहीं बल्कि घरेलू कार्यों में अवश्य ही अपना सहयोग देती रही होगी।

कृषि क्षेत्र में पुरुषों के साथ ही कुछ वर्ग की महिलायें शामिल होती थी। जिन्हें मजदूरी या उत्पादन का हिस्सा एवं भोजन प्राप्त होता था। बृहस्पति ने लिखा है कि मजदूरों को मजदूरी के रूप में उत्पादन का तीसरा अथवा पाँचवा हिस्सा मिलना चाहिए।¹ यद्यपि कुछ महिलायें स्वतंत्र रूप से अपने ही खेतों में श्रम करके उत्पादन का लाभ प्राप्त करती थी, और अपने को नियोजित करके बचत करती थी तथा लाभ प्राप्त करती थीं। कुछ महिलायें पति के साथ ही श्रमिक के रूप में कार्य करके मजदूरी प्राप्त करती रही। नारद ने कहा है कि जहाँ पारिश्रमिक निश्चित नहीं है, वहाँ सम्पूर्ण उत्पादन का दसवाँ भाग पारिश्रमिक के रूप में दिया जाना चाहिए।² बृहस्पति ने सामूहिक कृषि का भी उल्लेख किया जिसमें समान

*शोधछात्र, प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ०प्र०

स्तर के कृषक स्त्री—पुरुष आपसी समझौते से हल साझा करके अपने खेतों को जोतते थे।³ निश्चित तौर पर महिला श्रमिक खेती की सम्पूर्ण प्रक्रिया में अपना योगदान देती थी।

महिला की आर्थिक उपार्जन में योगदान सर्वत्र देखा जाता है। क्षेत्रीय आधार पर अयोध्या से गंगा तक सुरम्य शिविर और कूप आदि के निर्माण में नारियों को नियोजित किया जाता। भूमि खोदने, सुरंग बनाने, जल के प्रवाह को रोकने के लिए मार्ग रक्षक आदि वेतन भोगी श्रमिक थे। सैनिक व्यवसाय में महिलायें शामिल थी, जो अन्तःपुर में द्वारपाल का काम करने के अलावा, उच्च स्तर में प्रेरणा घोष का भी कार्य करती थी।⁴ वे गुप्तचर का भी काम करतीं और वेतन पाती। शिक्षित एवं बैद्धिक महिलाएँ अध्ययन—अध्यापन में सक्रिय देखी गयी। वे प्रसिद्ध नर्तकी, गायिकाओं, अभिनेत्री के रूप में देखी गयी। वे पुरुष के साथ ही नियमित बाजारों में वस्तुओं के क्रय—विक्रय करती हुई अपने व्यक्तिगत कौशल को सामने लायीं।

बौद्ध, जैन व ब्राह्मण साहित्य आदि में सैकड़ों नारियों के नामों का उल्लेख है जो वेद, दर्शन, तर्क, मीमांसा, वार्ता साहित्य ललित कलाओं (नृत्य, संगीत, चित्रकला) तथा व्यावहारिक शिक्षा आदि विषयों की प्रकांड विद्वान थी। कन्याओं को इन शिक्षाओं के अतिरिक्त गृहकार्य, पशुओं तथा ललित कला आदि की व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी। अपाला नामक स्त्री कृषि कार्य में दक्ष थी। वे वस्त्र सिलना, बुनना, सूत काटना, गाय दुहना भी जानती थीं। वेदों की ऋचाओं का ज्ञान कर कुशलता पूर्वक नृत्य करती थी। चित्रलेखा एक अत्यंत कुशल चित्रकार थी जिसने अनेकों देव, गांधर्व व मनुष्यों को चित्रांकित किया था।⁵

शूद्र कन्याओं को अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं थी और उनके अध्ययन करने का प्रमाण गुप्तकाल में नहीं मिलते। साधारणतः प्राचीनकाल से ही उनके उपनयन, अध्ययन आदि वर्जित थे, जबकि ब्राह्मण व अभिजात कुलीन की कन्याओं को पिता और पति दोनों के घरों में अध्ययन की व्यवस्था थी। वात्स्यायन⁶ का कहना है कि नारियों को 64 आविधाओं का अध्ययन करना चाहिए। गुप्तकालीन “अमरकोष में नारी, उपाध्या और वैदिक मंत्रों की शिक्षिका ‘आचार्य’ का उल्लेख मिलता है।”⁷

महिलायें अधिकांश घरेलू व्यवसाय से जुड़ी रहीं। जिसमें इत्र, फुलेल तैयार करना, फूल गूथने, फूलों का जेवर बनाने, माला आदि बनाने, बिन्दी बनाने, आभूषण बनाने, जंगली जड़ी बूटियों से दवा बनाने, चन्दन उद्योग, फूल आदि मिलाकर विभिन्न प्रकार के लेप बनाने के उद्योग, होठ और पैरों को रंगने के लिये रंग उद्योग, संगीत वाद्ययंत्र निर्माण, मिट्टी से बर्तन आदि बनाने वाले उद्योग में कार्यरत थीं।⁸ महावस्तु में 11 प्रकार के शिल्पियों, छत्तीस प्रकार के कामगारों तथा मिलिंदपन्नों में 75 प्रकार के व्यवसाय का वर्णन मिलता है।⁹ बौद्ध व जैन ग्रन्थों में 18 प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख मिलता है।¹⁰ यद्यपि स्वतन्त्र महिला श्रेणी का उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उन संगठनों में महिलायें प्रमुख या सहायक के रूप में भाग लेती होंगी। बृहद कल्पसूत्र भाष्य¹¹ में रूई कातने का वर्णन मिलता है जहाँ महिलायें घर में ही सूत कातने का कार्य करती थी। ये बड़ी मात्रा में वस्त्र उद्योग में लगी थी। वस्त्र उद्योग की श्रमिक महिलाओं को तत्काल भुगतान की व्यवस्था थी।¹² वस्त्र उद्योग से सम्बंधित अन्य व्यवसायों में संलग्न थी। कपास की धुनाई, वस्त्रों की रंगाई, धुलाई और सिलाई करती थी। इसके साथ ही विधवा, अगंहीन स्त्रियाँ, कन्यायें, सन्यासिनी, राजदण्ड चुकाने से असमर्थ स्त्रियाँ, वृद्ध वेश्यायें, वृद्ध राजदासियाँ, तथा मंदिर में न जाने वाली देवदासियाँ, ऊन, वल्कल, कपास, तुल, सन और क्षौम कातती थी।¹³

इस समय में उत्कृष्ट प्रकार के वस्त्र निर्मित किए जाते थे। कुछ वस्त्र तो इतने महीन होते थे कि फूंक से ही उड़ जाते थे।¹⁴ बुनकरों व महिलाओं ने अपने अद्भुत कौशल से इस व्यवसाय को समृद्ध किया था। अजंता¹⁵ के चित्रों के आधार पर वस्त्र बनने की कई विधियाँ बतालाई गई हैं अमरकोश¹⁶ में रेशम के वस्त्रों की बुनाई की विधि के विभिन्न चरणों के लिए शब्दावली दी गई है। ऊन, खाल और वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों को बनाने में सहयोग प्रदान करती थी।

वात्स्यायन के अनुसार महिलायें घी निकाल, सूत कातने मसालों और धान की कुटाई करने, पिसाई करने, पशु—पक्षियों की देख—भाल करने, वाटिका लगाने और सब्जी आदि पैदा करने के कार्य में संलग्न

थी।¹⁷ कामसूत्र के ही अनुसार स्त्रियाँ पौधों के बीज संग्रह करने उन्हें कलात्मक ढंग से बोन तथल सलंचाई सम्बर्धन करती थी।

गुप्तकल में अधलकल श्त्रलयाँ दासी के रूप में बडे घरों में नलयाऑलत थी, परन्तु यह उनके आर्थलक नलयाऑन कल द्योतक ही नहीं बल्कल शोषण कल लक्षण देखने को मललतल थल। फलर भी पेट पालने की दृषुत से कुछ महललयेँ यह भी स्वीकार कर लेती थी। सामान्यतः दासी कल ऑलवन अपने माललक के व्यवहार पर नलर्भर थल। मृच्छकटलक में स्थावर एवं मंदलमलकल नलमक दासलयाँ में जहाँ मंदलकलन को वलदुषी स्वामलनी उसे अपने मलत्रवत रखती थी, जबकल स्थावर कल स्वामी उसे नलर्दयतलपूर्वक पीटतल थल।¹⁸ महलल श्रमलकों को अनाज, दूध व अन्य उत्पादन जैसे भी कार्य दलया जलतल थल बृहस्पतल के अनुसार इनकल वेतन उनके ऑलवन नलर्वाह योग्य होता थल। चन्द्रगुप्त दुवलतीय के गढ़वल अभललेख से ऑलवन नलर्वाह हेतु वेतन दलये जाने कल उल्लेख है।¹⁹

गुप्तकल में गणलकलओं कल समाज में सर्वोपरल स्थान प्राप्त थल, गायन, वलदन और संगीत के प्रेमी उनसे आकृषुत रहते थे। इनके प्रति लोनों कल सामान्य दृषुतिकोण थल वे नगर के उल्लास एवं वलकलस में गणलकलओं कल स्थान महत्त्वपूर्ण बना रहा। वैशलली की गणलकल अम्बा, आम्रपालल परमसुंदरी, रमणीया, सुन्दरवर्णा आदल गायन-वलदन, नृत्य-वलशारदल में बहुमुखी प्रतिभा थी।²⁰ मृच्छकटलक की नलयाकल बसंतसेनल वेश्या पुत्री थी कलन्तु उसकल चरलत्र पूर्णतः उज्ज्वल थल। पुराणों में वेश्याओं को खरीदकर मंदलर में देवदासी बनाने कल उल्लेख मललतल है।²¹ कामसूत्र व 'मुद्राराक्षस' में गणलकलओं कल उल्लेख पाते हैं। मेघदूत तथल पुराणों में गणलकलओं कल वर्णन मललतल है।²² गणलकलओं को उच्च एवं सम्मानलत दृषुत से देखा जलतल थल। इनकल महत्त्व वललसलतल की दृषुत से तो थल ही साथ ही धलर्मलक एवं सामाजलक, गुप्तचरों के रूप में देखा जल सकतल है।

वलत्स्यायन के अनुसार ग्रामीण श्त्रलयाँ को श्रमलक बनकर वलभलन्न प्रकार की नलःशुल्क सेवा करनी पडती थी। गुप्त कललीन दानपत्रों से ज्ञलत होता है। कल वलशेष रूप से महलल श्रमलकों के शोषण के प्रति चेतावनी दी गयी थी।

गुप्तकल में कन्याओं को दलयभाग कल उत्तराधलकलरी मानल गया। परन्तु यह अधलकार पुत्री को उसी रूप में थल, जब पुत्र न हो। महाभारत में इनके महत्त्व को स्वीकार कलया गया है यलज्ञवलवक्य ने पतल की सम्पत्तल में पत्नी कल पूर्ण अधलकलरी मानल है। कौटलल्य²³ ने भी ऐसी लड़की जलसके भाई न हो, को उत्तराधलकलरी घोषलत कलया है। यलज्ञवलवक्य²⁴ ने दृढतल पूर्वक स्त्री के हलत में अपना वलचार व्यक्त कलया। इस प्रकार इनके महत्त्व रेखांकलत करते हैं। स्त्री-धन कल उल्लेख मललतल है। श्त्रलयाँ की अपनी स्वयं की सम्पत्तल, जलस पर उसकल पूर्ण अधलकार होता है, वही स्त्री धन कहा जलतल है। वलवाह में उपहार स्वरूप जो भी उसे मललतल है, उस पर उसकल अधलकार होता है। गुप्तकल में राज्य की ओर से श्त्रलयाँ को कुछ वलशेष सुवलधा दी गयी जैसे गर्भवती स्त्री यलत्रल करने से मुक्त थी, सैनलक वलधवल की देखभाल राज्य द्वारा की जलती थी। राज्य की ओर से महलल स्वतंत्र ऑलवलकल की अधलकलरी थी। असुर वलवाह से अपने वलवाह कल मूल्य पल सकती थी। धर्मसूत्रों एवं स्मृतलयाँ में महललओं को पूर्ण सुरक्षा देने की बात मललती है जलसके वजह से वे अपने आपको ज्यलदल सुरक्षलत महसूस करती थी, और आर्थलक गतलवलधलयाँ से संलग्न हो कर अपनी क्षमतल कल वलस्तलर कर सामाजलक पक्ष एवं पारलवलरलक दलयत्व के नलर्वहन में योगदान देती थी।

I UnHk §

1. बृहस्पतल स्मृतल 15, पृ0-14-17
2. मारद स्मृतल, पृ0-6.3
3. बृहस्पतल स्मृतल 15, पृ0-13-27
4. उपाध्याय, भागवत शरण, इणुडलया इन कलललदास, पृ0 164
5. वलष्णु पुराण 5, 32.22
6. कामसूत्र 1.3.12.16,4, 1.32
7. कामसूत्र 2.6.14

8. महावस्तु—प् पृ० 633—78, महावस्तु—प्प, पृ० 442—43
9. मिलिन्दपन्हो, पृ० 33
10. पन्नवण 1.61
11. बृहद कल्पसूत्र भाष्य 3, 2996
12. विद्याल अच्युतानन्द “प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक” पृ. 265
13. रघुवंश, 16.43
14. गौतम पी०एल०, प्राचीन भारत पृ० 742
15. गौतम पी०एल०, प्राचीन भारत पृ० 742
16. उपाध्याय राम जी, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिका भूमिका पृ० 731
17. कामसूत्र 4, 1.33 और 4, 1.6—7
18. मृच्छकटिकम् 8.10
19. प्लीट—का०इ०इं० भाग—3, पृ०—36
20. महावग्गा 8.1.2
21. पदमपुराण, सृष्टि खंड 52.97
22. गौतम, पी०एल० प्राचीन भारत पृ० 737
23. अर्थशास्त्र 3.5.1
24. याज्ञवल्क्य, 2.135



हकीमरी ऐ चक्रीहकद फ'क'क वकी उहफरर चको/ककु ,d fo'y'k.k

/kuUt ; flig ;kno*

pf'k'k lcl rkdroy gfFk;kj g] ft ldk bLreky vki nfu;k cnyui di fy, dj
l d r g l A —नेल्सन मंडेला

शिक्षा की स्वीकारोक्ति मानव विकास के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में रही है। शिक्षा को मानव विकास के साधन के साथ ही साथ समाज का उपांग भी माना गया है क्योंकि शिक्षा के स्वरूप तथा सामाजिक संरचनाओं का एक-दूसरे पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ता है। शिक्षा सुसंस्कृत बनाने का माध्यम है। यह हमारी संवेदनशीलता और दृष्टि को प्रखर करती है, जिससे राष्ट्रीय एकता पनपती है, वैज्ञानिक तरीके से अमल करने की सम्भावना बढ़ती है और समझ तथा चिंतन में स्वतंत्रता आती है। साथ ही शिक्षा हमारे संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के लक्ष्यों के प्राप्ति की ओर अग्रसर होने में हमारी सहायता करती है। शिक्षा की इसी महत्ता को रेखांकित करते हुए कोठारी आयोग (1964.66) ने अपने प्रतिवेदन 'शिक्षा और राष्ट्रीय प्रगति' में कहा है कि शिक्षा राष्ट्रीय विकास का मूल आधार है। शिक्षा की महत्ता कोठारी आयोग के इस कथन से परिलक्षित होती है कि— 'देश का भविष्य उसकी कक्षाओं में निर्मित हो रहा है।' किसी भी सामाजिक संरचना के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने का मौलिक अधिकार है, तथा राज्य की ये जिम्मेदारी है कि वह अपने नागरिकों को समानता पर आधारित गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया कराये। शिक्षा के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण चरण प्रारम्भिक शिक्षा (6.14 तक) का है, क्योंकि यह वह अवस्था होती है जब बच्चा घर की चहारदीवार के बाहर एक नए सामाजिक समूह के सदस्य के रूप में विद्यालय में प्रवेश करता है इसके साथ ही साथ प्रारम्भिक शिक्षा को इसलिए सबसे महत्वपूर्ण पहलू माना जाता है क्योंकि यही वो आधार होता है जिस पर भावी निर्माण की जिम्मेदारी होती है। प्रारम्भिक शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण इसके विकास के लिए समय-समय पर अनेक प्रयास समाज के बुद्धिजीवियों, संगठनों, संस्थाओं तथा सरकार द्वारा बनाये गये कानूनों के द्वारा किया गया।

भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के विकास का क्रम— भारत में शिक्षा का स्वरूप विभिन्न समयावधियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा है। प्रारम्भिक शिक्षा का विकास कई चरणों में हुआ। शिक्षा के विकास को समझने के लिए हमें इसके ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना होगा। वैदिक काल में शिक्षा प्राप्त करने का आधार जाति थी, जाति के आधार पर लोगों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। शिक्षा पर ब्राह्मणों का एकाधिकार स्थापित था, तथा यह माना जाता था कि शिक्षा देने का कार्य केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं। लेकिन समय एवं संघर्षों के परिणामस्वरूप परिस्थितियों में परिवर्तन आया और वैदिक से बौद्ध फिर मुगल एवं ब्रिटिशकालीन शिक्षा व्यवस्था से होते हुए भारतीय शिक्षा की यात्रा वर्तमान में संवैधानिक अधिकारों तक पहुँची। आज शिक्षा संवैधानिक मौलिक अधिकार बन चुकी है अर्थात् शिक्षा प्राप्त करने में सहायता करना कानून की जिम्मेदारी है। सर्वप्रथम भारत में मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा देने का कार्य बड़ोदा के महाराज सियाजीराव गायकवाड ने 1906 में किया, उन्होंने अपने राज्य में 6.14 साल तक के बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा देने का एलान किया तथा माना कि शिक्षा सभी के लिए

अनिवार्य है तथा यह जन्मजात अधिकार भी है। यूनेस्को ने अपनी वार्षिक प्रतिवेदन (1986) में कहा कि शिक्षा का अधिकार बच्चों का एक मौलिक अधिकार है। जिससे किसी भी स्थिति में उन्हें वंचित नहीं किया जा सकता है (Unesco-1986)।

इसी प्रकार गोपाल कृष्ण गोखले ने भी भारत में प्रारम्भिक शिक्षा हेतु ब्रिटिश सरकार से मांग इस आधार पर प्रारम्भ किया कि बड़ौदा के महाराज ने अपने राज्य में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा लागू की है। अतः ब्रिटिश सरकार को इस व्यवस्था को पूरे देश में लागू करना चाहिए। 19 मार्च 1910 को इम्पीरियल विधायी परिषद में अपने संबोधन में गोखले ने निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की मांग की तथा 16 मार्च 1911 को उन्होंने निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा हेतु परिषद् के समक्ष एक बिल पेश किया जिसका आधार इंग्लैंड का अनिवार्य शिक्षा अधिनियम 1870 और 1876 तथा आयरिश एजुकेशन एक्ट 1892 था जिसके आधार पर ब्रिटेन में निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान की जा रही थी।

भारतीय संविधान में शिक्षा— जहाँ तक भारतीय संविधान में शिक्षा की बात है तो संविधान की प्रस्तावनाधुदेशिका में इस बात को उल्लेखित किया गया है कि संविधान की नजर में सभी व्यक्ति सामान हैं तथा सभी के लिए न्याय, स्वतंत्रता एवं समानता की बात की गयी है। इस लिहाज से देश के सभी बच्चों को समान शिक्षा देने की बात की गयी है। तथा भारतीय संविधान के भाग 4 के अनु. 45 में कहा गया है कि राज्य संविधान के लागू होने के 10 वर्ष के भीतर देश में रहने वाले 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को गुणवत्तापूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा। अर्थात् 14 वर्ष तक के आयु वर्ग के बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराना राज्य की नैतिक जिम्मेदारी थी लेकिन 86 वें संविधान संशोधन अधिनियम— 2002 के द्वारा शिक्षा को मूल अधिकार बना दिया गया (अनुच्छेद 21क) अर्थात् 14 वर्ष तक के बच्चों को शिक्षा देना राज्य की कानूनी जिम्मेदारी है तथा राज्य से शिक्षा की मांग करना बच्चों तथा अभिभावकों का कानूनी अधिकार भी बन गया है।

शिक्षा एक कानूनी हक — आज शिक्षा पर बच्चों का मौलिक हक है अर्थात् ऐसा हक जिसे दिलाना कानून की जिम्मेदारी है। इस प्रकार बच्चों को शिक्षा दिलाना न सिर्फ राज्य का कर्तव्य है बल्कि कानूनी जिम्मेदारी भी है। इस कारण से अब भारतीय शासन तन्त्र की जिम्मेदारी है कि वह प्रत्येक बच्चे की शिक्षा के उचित प्रबंधन हेतु विद्यालयों की स्थापना, मूलभूत सुविधाओं का विकास एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रियाओं को बेहतर तथा रुचिकर बनाने हेतु कार्य करे। लेकिन शिक्षा के सार्वभौमिकरण की दिशा में अभी भी पर्याप्त कदम नहीं उठाया गया है जिसके परिणामस्वरूप शिक्षण अधिगम प्रक्रियाओं पर बहुत व्यापक रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है जिससे बच्चों में निम्न उपलब्धि स्तर, विषय वस्तु के पठन, विश्लेषण इत्यादि के सम्बन्ध में उपलब्धि निम्न स्तर की रही है, जो शैक्षिक विकास के समक्ष समस्या उत्पन्न करती है।

शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लक्ष्यों में परिवर्तन— भारतीय संविधान के 86वें संविधान संशोधन—2002 द्वारा संविधान की धारा 21 के अंतर्गत शिक्षा को बच्चों का मौलिक अधिकार घोषित किया गया है(काश्यप)। तथा यह माना गया है कि शिक्षा बच्चों का एक ऐसा अधिकार है जिससे उन्हें किसी भी स्थिति में वंचित नहीं किया जा सकता है, तथा देश के 6.14 साल तक के सभी बच्चों को विद्यालयों तक पहुँच सुनिश्चित करना सरकार की जिम्मेदारी है, अतः इसके लिए रणनीतियों, कानूनी प्रावधानों तथा कार्यक्रमों का आयोजन सरकार द्वारा किया गया है।

26 जनवरी 1950 को भारत गणतंत्र के रूप में स्थापित हुआ तथा हमने अपने संविधान को इसी दिन राष्ट्र को समर्पित किया तथा यह निर्धारित किया कि संविधान में वर्णित निर्देशों एवं कर्तव्यों का पालन प्रत्येक नागरिक की जिम्मेदारी है तथा सरकारों द्वारा क्रियान्वयन किया जाना उनका नैतिक एवं कानूनी जिम्मेदारी है। इसी सन्दर्भ में शिक्षा की अगर बात करें तो संविधान में कहा गया है कि राज्य कि यह नैतिक जिम्मेदारी है कि वह संविधान के लागू होने के 10 वर्ष के भीतर 14 वर्ष की आयु तक के देश के सभी बच्चों (चाहे वे किसी भी आयु के हों) को गुणवत्तापूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा उपलब्ध करने का प्रयास करेगा। हमारे संविधान निर्माताओं ने जो सपना देखा था भारत की शिक्षा व्यवस्था के सन्दर्भ में वो आज भी पूरा होता नजर नहीं आता है, वह भी तब जब हमने 14 आयु वर्ग की जगह 6.14 वर्ष आयु

वर्ग निर्धारित कर दिया हो। भारतीय राजव्यवस्था शिक्षा के व्यवस्थापन की दृष्टिकोण से अब तक असफल ही साबित हुई है, तथा शिक्षा व्यवस्था को लेकर सरकार की उदासीनता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि संविधान के लागू होते समय जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए 10 वर्ष की समयावधि निर्धारित की गयी थी, आज लगभग 6 दशक होने के बाद भी हम उस लक्ष्य के बहुत दूर खड़े हैं। इसके अतिरिक्त संविधान में जिस आयु 2 वर्ष की पूर्व प्राथमिक एवं 8 वर्ष की प्रारंभिक शिक्षा का लक्ष्य रखा गया था, लेकिन राजनीतिक व्यवस्थाओं ने इस आयु-समूह को और कम करके 6.14 वर्ष कर दिया वह भी कानूनी प्रावधानों के द्वारा जो कि संविधान की मूल भावना के बिल्कुल खिलाफ है अर्थात् दूसरे शब्दों में कहें तो 0.6 आयु वर्ग के बच्चे जिन्हें सबसे ज्यादा जरूरत है प्रारंभिक देखभाल एवं नर्सरी शिक्षा की, उनके अधिकारों का हनन कानूनी संशोधनों के द्वारा किया गया है। परिणामस्वरूप बालवाड़ी या आंगनवाड़ी के संचालन के बावजूद भी 03 वर्ष आयु वर्ग के 38.3% बच्चे, 04 वर्ष आयु वर्ग के 25.3% बच्चे तथा 05 वर्ष आयु वर्ग के 10.6% बच्चे ऐसे हैं जो बालवाड़ी, आंगनवाड़ी या पूर्व प्राथमिक विद्यालयों से बाहर हैं (ASER 2016)। इसके अतिरिक्त भारतीय राजव्यवस्था द्वारा शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए निर्धारित लक्ष्यों में लगातार परिवर्तन किया जाना भी शिक्षा के सर्वसुलभीकरण में बाधा उत्पन्न करती है। अगर हम संविधान के लागू होने से लेकर वर्तमान समय तक के विकास क्रम को देखें तो हम पाते हैं कि राजसत्ता द्वारा शिक्षा के सार्वभौमिकरण की समयावधि को एक काल खंड के बाद दूसरे काल खंड के लिए बढ़ाया जाता रहा है, वह भी बिना किसी ठोस कारण या बिना किसी प्रयास के।

शिक्षा के सर्व-सुलभीकरण के लक्ष्यों में किये गये बदलाव को विभिन्न समयावधियों में निम्नलिखित आधार पर समझ सकते हैं।

भारतीय संविधान— भारतीय संविधान के लागू होते समय यह लक्ष्य रखा गया था कि संविधान के क्रियान्वयन के 10 वर्ष के भीतर राज्य के अन्दर निवासित 14 वर्ष आयु वर्ग तक के सभी बच्चों को शिक्षा उपलब्ध करा दी जाएगी। लेकिन 10 वर्ष बीत जाने के बाद भी सरकार द्वारा संवैधानिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया। दूसरे शब्दों में कहें तो निर्धारित समय अवधि के बाद भी एक लम्बे समय बीत जाने तक प्रारंभिक शिक्षा की तरफ कोई विशेष ध्यान सरकार द्वारा नहीं दिया गया।

भारतीय शिक्षा आयोग 1964 — शिक्षा में व्यापक सुधार हेतु सरकार द्वारा 1964 में एक आयोग का गठन किया गया। जिसे कोठारी आयोग या भारतीय शिक्षा आयोग कहते हैं, इस आयोग ने शिक्षा के अनेक पहलुओं पर बहुत ही गहनता से प्रकाश डाला जिसमें प्रारंभिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा भी सम्मिलित थी। आयोग ने प्रारंभिक शिक्षा की प्रगति को निराशाजनक बताया तथा देश के सभी बच्चों तक शिक्षा को पहुंचाने हेतु अनेक सुझाव दिये। कोठारी आयोग ने अपने प्रतिवेदन में बताया कि शिक्षा के क्षेत्र में व्यय की जाने वाली राशि को तुरन्त बढ़ाया जाय। आयोग ने शिक्षा पर सम्पूर्ण जीडीपी का 6 प्रतिशत व्यय करने का सुझाव दिया, लेकिन भारत सरकार ने आज तक किसी भी वित्तीय वर्ष या पंचवर्षीय योजना में जी.डी.पी. का 6 प्रतिशत राशि खर्च नहीं की। परिणामस्वरूप आज भी विद्यालयों में मूलभूत सुविधाओं की अनुपलब्धता बनी हुई है। जिससे शैक्षिक गुणवत्ता प्रभावित हुई है तथा विद्यालयों का वातावरण आज भी अरुचिकर बना हुआ है जो ड्रॉप-आउट का बहुत ही प्रमुख कारण है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968—1968 में गठित शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य समाज की प्रगति एवं समाज में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने के साथ-साथ सांस्कृतिक उत्थान के लिए देश के नागरिकों का विकास करना था और उसका माध्यम शिक्षा थी। इस शिक्षा नीति में नैतिक मूल्यों के विकास पर भी विशेष ध्यान दिया गया था, जिससे कि नैतिक मूल्यों के विकास के माध्यम से शिक्षा का जुड़ाव सामाजिक जीवन से किया जा सके। (NPE-1986) शिक्षा व्यवस्था को लेकर किये जा रहे सुधारों की संदिग्धता इसी बात से बढ़ जाती है। राष्ट्रीय शिक्षा के लिए गठित 1968 की शिक्षा नीति शिक्षा के सार्वभौमिकरण के उद्देश्यों के सम्बन्ध में मौन प्रतीत होती है। अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में प्रारंभिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के सम्बन्ध में यह नहीं बताया गया है कि कब तक इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया जायेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986— राष्ट्रीय शिक्षा नीति का गठन 1986 में किया गया था। जिसका मुख्य जोर शिक्षा में तकनीकी का विस्तार करना तथा तकनीकी सुविधाएँ उपलब्ध कराना था। बावजूद इसके राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में शिक्षा के सार्वभौमिकरण के सम्बन्ध में कोई विशेष लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में सार्वभौमिकरण हेतु लक्ष्य निर्धारण न करना भी शिक्षा व्यवस्था को लेकर किये जाने वाले सुधार की प्रक्रिया पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है।

सर्व शिक्षा अभियान 2001 भारत सरकार द्वारा 2001 में प्रारम्भ किया गया सर्व शिक्षा अभियान एक ऐसा कार्यक्रम था जिसका उद्देश्य सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करना था। इस कार्यक्रम को शिक्षा के व्यापक परिदृश्य में प्रस्तुत किया गया तथा शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने, सामाजिक विभेद को कम करने, लैंगिक आधार पर होने वाले शैक्षिक भेदभाव को मिटाने को सर्व शिक्षा अभियान के अंतर्गत प्रमुखता से रेखांकित किया गया। शिक्षा के व्यवस्थापन एवं प्रबंधन तथा सार्वभौमिक प्रारम्भिक शिक्षा उपलब्ध कराने एवं उसमें गुणात्मक वृद्धि को ध्यान में रखते हुए सरकार ने यह निर्धारित किया कि 2010 तक सभी बच्चों के लिए सार्वभौमिक प्रारम्भिक शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त कर लिया जायेगा। बावजूद इसके सर्व शिक्षा अभियान अपने लक्ष्यों की पूर्णतः प्राप्ति न कर सका। 01 अप्रैल 2010 की समयावधि के पश्चात् सरकार द्वारा पुनः एक नया कार्यक्रम निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा अधिकार अधिनियम 2009 लागू किया गया। इस अधिनियम का लक्ष्य भी अन्य समितियों या आयोगों की तरह शिक्षा का सार्वभौमिकरण करना था लेकिन इस कानूनी की प्रभाविता पर इस बात से ही प्रश्न उठाना शुरू हो गया कि यह कानून लक्ष्यों के प्राप्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताता है कि कब तक लक्ष्यों को प्राप्त कर लेगा।

अगर हम संविधान में वर्णित प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के उद्देश्यों को देखें तो पाते हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के सन्दर्भ में राजव्यवस्थाओं द्वारा अनेक प्रकार की समितियों एवं नीतिगत प्रावधानों के बावजूद भी लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सका है, या फिर यह कहें कि इस दिशा में सरकारों द्वारा सकारात्मक रूप से विशेष प्रयास नहीं किया गया है। यदि वास्तव में प्रयास किया गया होता तो आज प्रारम्भिक शिक्षा के लक्ष्यों को हम आसानी से प्राप्त कर चुके होते। सरकार द्वारा गठित अनेक आयोगों एवं समितियों ने शिक्षा के लक्ष्यों की तरफ बढ़ने की जगह उसका स्थानांतरण करते रहे। एक तरफ जहाँ संविधान में 10 वर्ष का लक्ष्य रखा गया था वहीं दूसरी तरफ शिक्षा के लिए गठित आयोगों एवं शिक्षा समितियों ने शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लक्ष्यों को प्राप्त करने को पूरी तरह नजरंदाज करते रहे। आजादी के बाद गठित विभिन्न आयोगों समितियों में प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए एक निश्चित समयावधि निर्धारित की किन्तु कई आयोगों ने कोई समय सीमा तय नहीं किया। इसके अतिरिक्त सरकारें अपनी नाकामियों को छुपाने हेतु एक के बाद एक आयोगों समितियों के गठन के माध्यम से लक्ष्यों की समयावधि को बढ़ाते रही। परिणाम आज सामने है— 60 साल बाद भी हम संवैधानिक लक्ष्यों को नहीं प्राप्त कर सके हैं जिसके लिए शिक्षा नीतियों के साथ-साथ अनेक कारण उत्तरदायी हैं जिनमें से मूलभूत संसाधनों की अनुपलब्धता, शिक्षण अधिगम प्रक्रियाओं का अरुचिकर होना, अध्यापकों की कमी, प्रशिक्षित अध्यापकों की अनुपलब्धता इत्यादि प्रमुख कारण हैं। हाल ही में जारी किये गये अपने रिपोर्ट में प्रथम की एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट में जो तथ्य सामने आये हैं उससे स्वाभाविक रूप से शिक्षा नीतियों एवं सरकारी प्रयासों पर प्रश्न खड़ा होता है। असर ने अपनी 2016 की वार्षिक रिपोर्ट में बताया है कि 31.3 प्रतिशत विद्यालय ऐसे हैं जहाँ शौचालय की सुविधा या तो उपलब्ध नहीं है या उपलब्ध है तो प्रयोग लायक नहीं है। इसी प्रकार लगभग 26 प्रतिशत विद्यालयों में या तो पेयजल की सुविधा नहीं है या सुविधा होने के बावजूद प्रयोग करने लायक स्थिति में नहीं है। इसी प्रकार लगभग 13 प्रतिशत विद्यालय ऐसे हैं जिनमें सर्वेक्षण के दौरान 'प्रथम' के सदस्यों ने पाया कि उस दिन मध्याह्न भोजन नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त बहुत से विद्यालयों में लड़कियों के लिए अलग से शौचालय का न होना, शौचालयों में ताले लगा होना इत्यादि समस्याएँ हैं जो बच्चों (खासकर बालिकाओं) को विद्यालयों से बहार धकेलती हैं। इन सब समस्याओं का हल किये बिना शिक्षा में गुणात्मक सुधार एवं शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लक्ष्यों को प्राप्त करना अत्यंत कठिन कार्य है।

सुधार हेतु प्रयास— अध्यापकों का अप्रशिक्षित होना एक प्रमुख समस्या है शिक्षा में गुणवत्ता को बढ़ाने में। क्योंकि प्रशिक्षण के आभाव में शिक्षक शिक्षण सिद्धांतों से पूर्णतः अनभिज्ञ हो जाता है जिससे

कक्षा शिक्षण के दौरान वह शिक्षण कौशलों का प्रयोग नहीं कर पाता है, परिणामस्वरूप शिक्षण प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। दूसरी तरफ संसाधनों की कमी भी शिक्षण प्रक्रिया को प्रभावित करती है वर्तमान में अगर देखें तो बहु-कक्षीय शिक्षण देश के अधिकतर विद्यालयों में हो रहा है जिसका एक मात्र कारण अध्यापकों एवं कक्षाओं की कमी का होना है। अतः प्रारम्भिक शिक्षा की उपलब्धता सभी तक सुनिश्चित करने हेतु व्यापक स्तर पर प्रयास करने होंगे, जिसमें संसाधनों में बढ़ोतरी, अध्यापन की गुणवत्ता सुनिश्चित करना, शिक्षायी बजट में की जाने वाली कटौती को रोकना, अध्यापकों का नियमितीकरण करना तथा बेहतर शिक्षण सामग्री तैयार करना शामिल है। उक्त संसाधनों के अभाव में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि यही वो साधन हैं जो शिक्षा, शिक्षण एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को आधार प्रदान करते हैं। अतः शिक्षा के सार्वभौमिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उक्त सभी क्रियाओं के बीच समग्रता एवं समन्वय अत्यंत आवश्यक है तभी शैक्षिक लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

UnHk §

1. योजना, सम्पादकीय, जनवरी 2016, पृष्ठ संख्या 07।
2. सदगोपाल, अनिल (2009). संसद में शिक्षा का अधिकार छीनने वाला बिल किशोर भारती पब्लिकेशन, भोपाल।
3. शिक्षा और राष्ट्रीय विकास (1966 29 जून) शिक्षा आयोग प्रतिवेदन 1964-66 शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली।
4. नागर, मुरारी लाल. (1992), श्री सियाजिराव गायकवाड़ इंटरनेशनल लाइब्रेरी सेंटर कोलंबिया। <http://wiki.phalkefactory.net/images/3/39/Syjraro.pdf> retrieved 11/10/2017 A
5. रिपोर्ट ऑन प्रोग्राम एंड एक्सटर्नल रिलेशन्स कमीशन, यूनेस्को, पेरिस 18 जून 1986 <http://www.unesco.org/new/en/unesco/resources/online-materials/publications/unesdoc-database/Retrieved on 10/10/2017A>
6. नरुल्ला, सैय्यद, नायक, जे. पी. (1962) ए स्टूडेंट्स हिस्ट्री ऑफ इंडियन एजुकेशन, मैकमिलन एंड कम्पनी लिमिटेड, बॉम्बे, कलकत्ता, मद्रास, लन्दन।
7. काश्यप, सुभाष (2013). हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली।
8. वहीं।
9. एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (2016). प्रथम, स्कूल रिपोर्ट कार्ड ग्रामीण भारत। <http://img.asercentre.org/docs/Publications/ASER%20Reports/ASER%202016/4%20pages/enrollmentandlearningreportcardhindi.pdf>.
10. काश्यप, सुभाष (2013). हमारा संविधान नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया नई दिल्ली।
11. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार (शिक्षा विभाग), नई दिल्ली मई, 1986
12. सर्व शिक्षा अभियान (2016) मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली।
13. निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009). मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली।
14. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार (शिक्षा विभाग), नई दिल्ली, मई, 1986 पृष्ठ संख्या 2।
15. लाल, रमन बिहारी (2012). भारतीय शिक्षा का विकास एवं उसकी समस्याएं रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ पृष्ठ संख्या— 270.273।
16. जोशी, एस. के. जर्नी ऑफ राइट टू एजुकेशन : ए हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव स्कालरली रिसर्च जर्नल फार इन्टरडिसिप्लिनरी।
17. काश्यप, सुभाष (2013). हमारा संविधान नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली।
18. वहीं, पृष्ठ 126.127।
19. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार (शिक्षा विभाग), नई दिल्ली, मई, 1986 भाग 01, पृष्ठ संख्या. 01।
20. एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (2016) प्रथम, स्कूल रिपोर्ट कार्ड ग्रामीण भारत। http://img.asercentre.org/docs/Publications/ASER%20Reports/ASER%202016/aser_2016.pdf.



f'k{kk d| cnyr| ifreku vkj f'k{k.k uhfr ;k vo/k'k dekj*

शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जो हमारे जीवन को एक नयी विचारधारा, नया सवेरा देती है। ये हमें एक सभ्य समाज बनाने में मदद करती है। यदि शिक्षा के उद्देश्य सही दिशा में हों तो ये इन्सान को नये-नये प्रयोग करने के लिये उत्साहित भी करती हैं। शिक्षा और संस्कार साथ-साथ चलते हैं और ये एक दूसरे के पूरक भी हैं। शिक्षा हमें संस्कारों को समझने और बदलती सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप उनका अनुसरण करने की समझ देती है। आज शिक्षा जिस मुकाम पर पहुँच चुकी है वहाँ उसमें आमूल परिवर्तन की गुंजाइश है। आज हमें मिल आपस में सोचना चाहिए कि यदि शिक्षा हमारे उद्देश्यों को पूरा नहीं करती तो ऐसी शिक्षा का कोई मतलब नहीं है। शिक्षा का प्रथम उद्देश्य बच्चों को एक परिपक्व इन्सान बनाना होता है ताकि वो कल्पनाशील, वैचारिक रूप से स्वतंत्र और देश का भावी कर्णधार बन सकें। सच में “सभी नागरिकों को बुद्ध के शान्ति संदेश, कबीर के जातिगत समभाव, नानक के प्रेमभाव, गाँधी की अहिंसा व सत्याग्रह एवं मदर टेरेसा की सेवाभावना को मन, वचन व कर्म से अपने-अपने आचरण में उतारने की जरूरत है।”¹

‘शिक्षा’ शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के ‘शिक्ष’ धातु से हुई है। इसका अर्थ ‘ज्ञान प्राप्ति’ से है। इससे व्यक्ति के ज्ञानेन्द्रियों में विकास होता है। अंग्रेजी भाषा में शिक्षा अर्थात (Education) का विकास लैटिन भाषा से माना जाता है। वास्तव में जीवन की नींव ही शिक्षा है। यदि देश को बदलना है तो पहले शिक्षा के स्वरूप को बदलना होगा। जब तक देश में शिक्षा नहीं बदलेगी, तब तक देश में परिवर्तन नहीं हो सकता है। शिक्षा ही किसी राष्ट्र की आधारशिला है। शिक्षा ही एकमात्र साधन है जो मानव को सभी प्रकार के उचित निर्णय लेने में मदद करती है। शिक्षा ही मानव के जीवन को सफल बनाने का एकमात्र अस्त्र है इसके बिना जीवन की कल्पना संभव नहीं। शिक्षा के बारे में विभिन्न विचार विशेष तौर पर एक ही बात की ओर इंगित करते हैं कि मानव का सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं गुणात्मक विकास जो मानव को समाज के हित के लिए सोचने हेतु बाध्य कर दे एवं उनकी सामाजिक आवश्यकता को समाज एवं देश के हित में उपयोग कर सके।

जब हम शिक्षा के उद्देश्य की बात करते हैं तो इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि ‘व्यक्तित्व विकास और चरित्र निर्माण शिक्षा का मूल उद्देश्य है।..... मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।’ रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार— ‘सर्वोत्तम शिक्षा वह है, जो व्यक्ति को सूचना व ज्ञान ही प्रदान नहीं करती अपितु हमारे जीवन का विश्व के समस्त जीवों के साथ मेल उत्पन्न करती है।’² इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी प्रामाणिक एवं प्रासंगिक प्रतीत होते हैं कि “शिक्षा से मेरा तात्पर्य है— बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चहुँमुखी विकास।”³

हिन्दी साहित्य के कवि निराला ने कहा है कि ‘संसार में जितनी प्रकार की प्राप्तियाँ हैं, शिक्षा उनमें सबसे बढ़कर है।’ उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने भी शिक्षा के सम्बन्ध में कहा है कि ‘कभी-कभी उन लोगों से भी शिक्षा मिलती है, जिन्हें हम अभिमानवश अज्ञानी समझते हैं।’ आज हमारे व्यक्तित्व के विकास की कल्पना ही दूसरी हो गई है। शिक्षा क्या है ? यह एक अहम् सवाल है। लेकिन एक सामान्य अर्थ में शिक्षा का अर्थ है शिक्षित करना, ऊपर उठाना, पालन-पोषण करना, प्रशिक्षण देना, संवर्द्धन, नैतिक

*शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)

उत्थान, जीवन मूल्यों का विकास, चारित्रिक गठन तथा पथ-प्रदर्शन करना। वर्तमान समाज में जहाँ भ्रष्टाचार, आतंकवाद, बेरोजगारी जैसी कई बुराइयाँ फैली हुई हैं, वहाँ शिक्षा क्या इन समस्याओं के समाधान में अपनी भूमिका निभा रही है या निभाने में सक्षम है? जो शिक्षा समय के साथ-साथ परिवर्तित न हो, वह बोझिल, बेकार और अनुपयुक्त हो जाती है। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य युवा पीढ़ी का शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास करना है तथा उनके भीतर विद्यमान गुणों को विकसित कर उसे पूर्णता प्रदान करना होता है। शिक्षा माध्यम से भौतिक जीवन व आध्यात्मिक जीवन के बीच के अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

शिक्षा सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न वैचारिक आधार प्रस्तुत किये गये हैं, जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूबी ने कहा है कि 'शिक्षा एक प्रक्रिया है।' रूसो के अनुसार—'शिक्षा ऐसी केन्द्रीय धुरी है जो बालक के प्रकृति के अनुरूप उसका शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान करती है।'⁴ हरबर्ट स्पेंसर ने कहा कि 'शिक्षा का ध्येय चरित्र निर्माण है।' इसी क्रम में शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी के अनुसार—'शिक्षा की प्रक्रिया व्यक्ति में अनुभवों का पुनर्निर्माण करती है। शिक्षा एक ऐसी रचनात्मक क्रिया है जो कि मनुष्य की क्षमताओं का उजागर बनाकर उसे अनुभवी बनाती है और उसे सामाजिक महत्व प्रदान करती है।'⁵ अरस्तु के अनुसार—'शिक्षा व्यक्ति में सम्यक्-कार्य करने का गुण विकसित करती है। सम्यक् कार्य गुण से व्यक्ति की विभिन्न शक्तियों में सामन्जस विकसित होता है जो उसे ठीक से कार्य करने की आदत सिखाता है।'⁶

शिक्षा का कार्य विद्यार्थियों को उसके संकीर्ण दायरे से ऊपर उठाकर सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास करना है। विद्यार्थी अपनी समस्या के लिए देश को जिम्मेदार न ठहराकर यह सोचें कि देश की समस्याओं को समाप्त करने में उनका क्या योगदान हो सकता है। उन्हें शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक दृष्टि से इतना सुदृढ़ बनाया जाए कि वे हर परिस्थिति का डटकर मुकाबला कर सकें। देश-प्रेम की भावना का विकास आज शिक्षा का परम उत्तरदायित्व है। इसकी आवश्यकता मनुष्य को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, सम्मान के लिए एवं आध्यात्मिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है।

मानव के जीवन का लक्ष्य क्या है ? क्या वह सुख सुविधा को जीवन का लक्ष्य मानता है और प्रत्येक सुख को ही जीवन का पर्याय समझता है या फिर वह भौतिक संसार से परे दूर आध्यात्म की खोज की ओर अग्रसर होना चाहता है। भारतीय संस्कृति की ओर हम रुख करें तो पाते हैं कि मानव मुख्यतः चार धर्मों को अपने जीवन का लक्ष्य मानता है वे हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चारों धर्म मानव के मानव बनाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं और उन्हें सुसंस्कृत जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। यही शिक्षा के प्राचीन प्रतिमान के रूप में जाने जाते हैं। शिक्षा एवं धर्म को एक दूसरे का पूरक कह सकते हैं अर्थात् शिक्षा का आधार धर्म और धर्म का आधार शिक्षा।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जिस भौतिक एवं बाजारवादी शैक्षिक नीतियाँ को आधार मानकर युवा पीढ़ी को शिक्षित करने का एक नया दौर जन्म ले चुका है और यही आज की वर्तमान शिक्षा पद्धति का सबसे भयानक रूप है जो आर्थिक रूप से सक्षम व्यक्तियों तक ही पहुँच कायम किए हुए है। जो आर्थिक रूप से सक्षम नहीं हैं उनसे वर्तमान शिक्षा कोसों दूर है। आज इस बात पर जोर नहीं कि मानव को मानव के रूप में तैयार किया जाए बल्कि मानव को मशीन बनाने का प्रयास जोरों पर है। यह एक प्रकार से देश की सांस्कृतिक धरोहर को दमन करने का एक ऐसा प्रयास है जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति व संस्कारों के विनाश का ऐसा चक्र चलेगा जो मानव को केवल भौतिक संसाधनों में ही चरम सुख की अनुभूति करने को बाध्य करेगा।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जो दोष आज विद्यमान है उसका प्रमुख कारण भारत में पूर्व में हो चुके शिक्षाविदों, विचारकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, शिक्षा के विद्वानों एवं राष्ट्राध्यक्षों के विचारों को सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक तौर पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली का हिस्सा न बना पाना एक प्रमुख कारण है जो आज की व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली में पूर्णतः दिखायी देता है। मानव के भौतिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिए जाने के कारन आज सभ्यता, समाज, धर्म से जुड़े विचारों को आज की शिक्षा प्रणाली में स्थान न मिल

पाना व इसकी उपेक्षा ही आज की दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली का मुख्य दोष है। “वर्तमान में शिक्षण प्रक्रिया को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से कला व विज्ञान दोनों ही रूपों में मान्यता प्राप्त है। आज बालकेन्द्रित शिक्षा प्रणाली में बालक की अभिरुचि, मनोवृत्ति, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के अनुरूप ही शिक्षण कार्य सम्पादित करना होता है।”

स्वतंत्रता पश्चात शिक्षा प्रणाली एवं इसके विस्तार को भारत में विशेष प्राथमिकता न दिए जाने का आज परिणाम हमारे सामने है। यह हमारी आवश्यकता एवं मजबूरी बनकर हमारे सामने उभरा है। इस शिक्षा प्रणाली ने भय, असुरक्षा, हिंसा, अपराध और अशांति के हमारे समाज में एक बुराई के रूप में प्रस्फुटित किया है। भारी शिक्षा निवेश ने इसे व्यावसायिकता का दर्जा देकर एक भयावह स्थिति पैदा कर दी है। इन्टरनेट की उपयोगिता ने जहाँ सूचना सम्प्रेषण की दुनिया में क्रांति की है। सूचना की प्राप्ति व पुनःप्राप्ति को काफी आसान बना दिया है, वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसी आपत्तिजनक सामग्री भी बच्चों के सामने पेश कर रखी है, जो उन्हें वास्तविक उम्र से पहले ही बड़े होने के अनुभव का अहसास कराती है। सामाजिकता अपने पतन की ओर अग्रसर है इसका मुख्य कारण दिन-प्रतिदिन नैतिक मूल्यों का पराभव है। ये सब भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव का परिणाम है।

देखा जाय तो भारत की कुल जनसँख्या के लगभग 6 करोड़ बच्चे स्कूल भी नहीं जा पाते हैं और दूसरी ओर 15 करोड़ प्राथमिक शिक्षा ले रहे बच्चे समय पूर्व ही अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर बाल श्रमिक वाले कार्यों में लग जाते हैं। आज करीब 12 करोड़ बाल श्रमिक भारत में अलग-अलग तरीकों से काम कर रहे हैं। पढ़ाई के लिए आवश्यक बिजली की रौशनी करीब 50% गावों में उपलब्ध नहीं है ऐसी स्थिति में सुन्दर सपनों की कल्पना नहीं कर सकते। सामान्य विषय आधारित शिक्षा के अतिरिक्त शिक्षा प्रणाली में मनोवैज्ञानिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, यौन शिक्षा, स्वास्थ्य सम्बन्धी, शिक्षा खेलकूद सम्बन्धी शिक्षा एवं आध्यात्मिक शिक्षा आदि विषयों को भी शामिल किया जाना चाहिए। “अंग्रेजी शासन काल में ही प्राथमिक शिक्षा का उत्तदायित्व एक बड़ी मात्रा में प्रान्तीय सरकारों से लेकर स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया गया था। सन् 1946 में प्राथमिक विद्यालयों का संचालन 1.9 प्रतिशत प्रान्तीय सरकार के द्वारा, 54.5 प्रतिशत स्थानीय संस्थाओं के द्वारा, 43.6 प्रतिशत निजि संस्थाओं के द्वारा होता था। अब लगभग 44.6 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों का संचालन राज्य सरकार द्वारा, 47.4 प्रतिशत का स्थानीय संस्थाएँ और 8 प्रतिशत का निजि संस्थाएँ करती हैं।”⁸

आज वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिए प्रयास किये जाने अतिआवश्यक हैं इनके माध्यम से शिक्षा प्रणाली के अच्छे परिणाम मिल सकते हैं इन्हीं प्रयासों के अंतर्गत हम कुछ सुझावों को इसमें शामिल कर सकते हैं—

- नैतिक शिक्षा एवं देश प्रेम की भावना को जगाने वाले विचारों को वर्तमान शिक्षा प्रणाली का हिस्सा बनाया जाए।
- बच्चों के समग्र विकास के प्रयास किये जायें।
- शिक्षा के क्षेत्र में अधिक से अधिक पुरस्कारों की घोषणा की जाए।
- पाठ्यक्रम के अंतर्गत बस्ते के बोझ को कम करने के प्रयास किये जायें।
- बच्चों में विषयों के चुनाव की स्वतंत्रता के प्रयास किये जायें।
- परंपरागत शिक्षण पद्धति को छोड़ व्यावसायिक शिक्षा पद्धति को अपनाने पर बल दिया जाए।
- शिक्षा के क्षेत्र में सूचना संचार साधनों के अधिक से अधिक प्रयोग पर बल दिया जाए।
- राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा पाठ्यक्रम को एक सा एकीकृत रूप में विकसित किया जाए।
- सभी शिक्षण संस्थाओं में वर्ष भर के लिए समयानुसार पाठ्यक्रम चक्र बनाया जाए जिससे एक जगह से दूसरी जगह जाने पर बच्चों को समस्याओं का सामना न करना पड़े।
- परियोजना आधारित एवं असाइनमेंट पर आधारित शिक्षा प्रणाली विकसित की जाए।
- सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्य संपन्न किये जायें जिसके दूरगामी अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकें।

इस तरह हम देख सकते हैं कि इन सुझावों पर यदि गौर किया जाए तो हम शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी हो सकते हैं। तकनीकी शिक्षा एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी प्रयास किये जायें। शिक्षा के विकास के लिए अनेक आयोगों का गठन किया गया और नई-नई नीतियाँ बनायी गयी। शिक्षा के क्षेत्र में मुदालियर आयोग, राधाकृष्णन आयोग, कोठारी आयोग एवं शिक्षा नीति-1986 आदि ने शिक्षा के प्रतिमान में बदलाव के आयाम प्रस्तुत किये थे। इसी प्रकार आज भी नवीन शिक्षण नीतियों को जारी कर, शैक्षणिक स्तर में दिनों-दिन सरकार द्वारा सुधारात्मक प्रयास किया जा रहा है। राधाकृष्णन आयोग ने कहा था कि “यदि विश्वविद्यालयी शिक्षा में किसी एक सुधार को प्रस्तावित करना है तो वह परीक्षा प्रणाली में ही सम्भव होगा।”⁹

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सुधार की अभी भी गुंजाइश है। शिक्षा वही जो मानव के विकास की ओर विशेष ध्यान दे साथ ही उसके आध्यात्मिक विकास पर पूरा-पूरा जोर दे जिसका यह परिणाम हो की हम अपनी युवा पीढ़ी का देश एवं समाज के हित में उपयोग कर सकें। शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में कुछ बदलाव कर हम शिक्षा को समय के अनुसार उसी रूप में ढाल सकते हैं जहाँ इसकी उपयोगिता और बढ़ जाए साथ ही शिक्षा के उद्देश्य को हम पूरा कर सकें। शिक्षा के उस स्वरूप को हम मान्यता दे सकते हैं जब वह हमारे समाज को एक नयी दिशा दिखाए एवं युवा पीढ़ी को देश की धरोहर के रूप में तैयार करे एवं एक संसाधन के रूप में विकसित करे। शिक्षा वही जो दार्शनिकों, विचारकों, शिक्षाविदों के विचारों के सम्मान दे सके साथ ही उनके विचारों को वर्तमान शिक्षा पद्धति का हिस्सा बना सके। शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य को पाना ही शिक्षा प्रणाली का हिस्सा होना चाहिए जो कि युवा पीढ़ी में संस्कारों एवं सांस्कृतिक विचारों की गंगा बहा सके उन्हें अच्छे एवं बुरे का ज्ञान करा सके। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है कि ‘ज्ञानेन तृतीयं मनुजस्य नेत्रम्’ यह कथन आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रासंगिक है और रहेगा भी।

I UnHk §

1. शिक्षा के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, डॉ. एस.पी. गुप्ता, शारदा पुस्तक भवन, पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-2111002, प्रथम संस्करण 2016, पृ. 55
2. भारत में शिक्षा के सामाजिक आधार, डॉ. एल.एन. वर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्लेट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर-302004, प्रथम संस्करण 2010, पृ. 5
3. वही, पृ. 6
4. वही, पृ. 5
5. वही, पृ. 5
6. वही, पृ. 5
7. नवाचारी शिक्षण पद्धतियाँ, डॉ. राधारानी सक्सेना, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्लेट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर-302004, तृतीय संस्करण 2013, पृ. 1
8. आधुनिक भारतीय शिक्षा : समस्याएँ और समाधान, रवीन्द्र अग्निहोत्री, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्लेट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर-302004, सातवाँ संस्करण 2013, पृ. 52
9. शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन, डॉ. शिरीष बालिया, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्लेट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर-302004, तृतीय संस्करण 2013, पृ. 219



^g f j r v i j k / k , o L o P N o k r k o j . k * v k j x k / k h o k n h f o p k j / k k j k : i i ' k d e k j m i k / ; k ; *

l k j k ' k % ' शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' (कुमारसम्भवम् 5/33, कालिदास)। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी की विचारधारा थी कि भोग की बढ़ती प्रवृत्ति ही प्रकृति का शोषण करवाती है इसलिए हमें इससे बचना चाहिए तथा जल, जमीन और भोजन जैसी अनिवार्य सुविधाओं के लिए हमें प्रकृति का शोषण नहीं बल्कि उसका दोहन करना चाहिए। समस्त जागरूकता एवं संवेदनशीलता के होते हुए भी पर्यावरण अभी भी इस देश में विशेष मुद्दा इसलिए नहीं है क्योंकि पर्यावरण के प्रति हमारी आर्थिक नीति एवं उद्योग नीति पर्यावरण को अन्ततः क्षति पहुँचाती है। अनुशासनपूर्ण कर्तव्यों का मुख्य आधार, महात्मा गाँधी जी का पर्यावरणीय एवं स्वास्थ्य दर्शन है, जिनके अनुसार स्वच्छता, राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण है। भारतीय संविधान हमें एक सुरक्षित पर्यावरण का अधिकार देता है परन्तु पर्यावरण संरक्षण के प्रति असंवेदनशीलता का अनुमान 'भोपाल गैस त्रासदी' से लगाया जा सकता है, जिसमें न केवल पर्यावरण बल्कि मानवाधिकारों का भी हनन हुआ। स्वास्थ्य की स्वस्थता का आधार स्वच्छ पर्यावरण ही है, जिसका उल्लंघन अपराध की श्रेणी में आता है, जो 'हरित अपराधशास्त्र' (Green Criminology) के अन्तर्गत वर्णनीय है। पर्यावरण के प्रति सजगता एवं स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता केवल संबंधित राष्ट्र की ही नहीं अपितु मानव जाति एवं समाज का भी महत्वपूर्ण दायित्व है। स्वच्छ वातावरण के लिए यज्ञ और हवन की ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

d i t h ' k C n % & **Keyword** & महात्मा गाँधी, पर्यावरण, डॉ. अम्बेडकर, संविधान, हरित-अपराध, हवन, यज्ञ।
v u l / k k u l k e x h & प्रस्तुत शोध पत्र में मुख्यतः द्वितीयक एवं तृतीयक प्रकार के अनुसंधान सामग्री स्रोतों का प्रयोग किया गया है।

m i ' ; &

1. पर्यावरण और स्वच्छता
2. महात्मा गाँधी के पर्यावरणीय दृष्टिकोण
3. हरित अपराध और पर्यावरण
4. पर्यावरण की शुचिता के लिए यज्ञ और हवन विधि
5. अपराध नियंत्रण के लिए पर्यावरण संरक्षण

^ ' k j h j i f g l U o e u f o / k h ; r i l U o p ' k j h j i **

& p j d ' k k L =] 4 @ 3 6] v k ; o i n

अर्थात् जैसा मन होगा वैसा शरीर तथा जैसा शरीर होगा वैसा मन और इसी वाक्य को सरल शब्दों में कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। दोनों प्रकार की स्वच्छता चाहे वह शारीरिक स्वच्छता या मानसिक स्वच्छता, उसके पोषक तत्व स्वच्छ पर्यावरण से ही प्राप्त होते हैं। भारतीय दर्शन में भी यह कहा गया है कि स्वच्छता में ईश्वर का वास होता है। वो सभी प्राकृतिक वस्तुएँ जो पृथ्वी पर जीवन संभव बनाती हैं पर्यावरण के अंतर्गत आती हैं जैसे कि जल, वायु, सूर्य, प्रकाश, भूमि, अग्नि, वन, पशु इत्यादि। श्रीरामचरित मानस के किष्किन्धाकाण्ड 11/2 में भी कहा गया है कि "क्षिति जल पावक गनन समीरा, पंच रचित अति अधम सरीरा" अर्थात् यह शरीर जिन पाँच तत्वों के मिश्रण से निर्मित है वो तत्व पर्यावरण में विद्यमान हैं और जब वह तत्व विशुद्ध मात्रा में विद्यमान रहेंगे तभी हमारा

शरीर स्वच्छ रहेगा। गाँधी जी ने बचपन से ही भारतीयों में स्वच्छता के प्रति उदासीनता की कमी को महसूस कर लिया था। उन्होंने किसी भी सभ्य और विकसित मानव समाज के लिए स्वच्छता के मानदण्ड को सर्वोपरि समझा। सन् 1850 में जब ब्रिटिश सरकार ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों और एशियाई व्यापारियों से उनके स्थानों को गंदा रखने के आधार पर भेदभाव किया था तभी से गाँधी जी स्वच्छता के प्रति जागरूकता को लेकर भारत में विशेष सक्रिय एवं चिंतित थे। लोक सेवक संघ के संविधान परिचर्चा पर गाँधी जी लिखते हैं— “कार्यकर्ता को गांव की स्वच्छता और सफाई के बारे में जागरूक करना चाहिए और गांव में फैलने वाली बीमारियों को रोकने के लिए सभी जरूरी कदम उठाने चाहिए।” (गाँधी वाङ्मय, भाग 90, पृ.528)

गाँधी जी मानते थे कि उचित स्थान, मूलभूत सुविधाएँ और स्वच्छ वातावरण उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी नगर पालिका की है। दक्षिण अफ्रीका में गुटन्ग प्रान्त की राजधानी जोहान्सबर्ग में चिकित्सा अधिकारी को एक पत्र लिखते हुये कहते हैं— “मैं आपको भारतीयों के रहने वाले इलाकों की स्तब्ध कर देने वाली स्थिति के बारे में लिख रहा हूँ। एक कमरे में कई लोग एक साथ इस तरह ठूसकर रहते हैं कि उनके बारे में बताना भी मुश्किल है। इन इलाकों में सफाई सेवाएँ अनियमित हैं और सफाई न रखने के संबंध में बहुत से निवासियों ने मेरे कार्यालय में शिकायत करके बताया है कि अब स्थिति पहले से भी बदतर हो गयी है। (गाँधी वाङ्मय, भाग 4, पृ.129)

भारत देश में गाँधी जी ने गांव की स्वच्छता के संदर्भ में सार्वजनिक रूप से पहला भाषण 14 फरवरी 1916 में कहा था— “.....गांव की स्वच्छता के सवाल को बहुत पहले हल कर लिया जाना चाहिए था।” (गाँधी वाङ्मय, भाग 13, पृ.222)

भारतीय रेल के स्वच्छता का जो परिदृश्य आज हमारे सादृश्य है वह संकट गाँधी जी ने बहुत पहले भी भांप लिया था। गाँधी जी ने रेलवे की तीसरी श्रेणी के डिब्बों में बैठकर देशभर का दौरा किया था। 25 सितम्बर 1917 को अपने हस्तलिखित पत्र में कहते हैं— “इस तरह की संकट की स्थिति में तो यात्री परिवहन को बंद कर दिया जाना चाहिए लेकिन जिस तरह की गंदगी और स्थिति इन डिब्बों में है उसे जारी नहीं रहने दिया जा सकता क्योंकि वह हमारे स्वास्थ्य और नैतिकता को प्रभावित करती है।” (गाँधी वाङ्मय, भाग 13, पृ.264)

भारतीय रेलवे के डिब्बों को और शौचालय साफ रखने के लिए कर्मचारियों को तो रखा जाता है पर जहाँ तक स्वच्छता और सफाई का प्रश्न है तो हम भारतीयों को गन्दगी करने में बिल्कुल भी शर्म नहीं होती है। संभवतः गाँधी जी के इन्हीं विचारों का परिणाम है कि वर्तमान भारत सरकार के कार्यकाल में भारतीय रेल के डिब्बों में 'Bio Toilet' की स्थापना की गयी। 19 नवम्बर 1925 को गाँधी जी ने 'Young India' के एक अंक में अपने विचारों को लिखा कि देश के अपने भ्रमण के दौरान मुझे सबसे ज्यादा तकलीफ गंदगी को देखकर हुयी।

विश्व स्टील के Pacific Institute के आंकड़ों के अनुसार 1970 में केवल 19 प्रतिशत घरों (85 प्रतिशत शहर और 57 प्रतिशत गांव) में साफ—सफाई थी। 2008 में स्वच्छता 30 प्रतिशत जनसंख्या तक पहुंच सकी जिसमें 52 प्रतिशत शहर और 20 प्रतिशत ग्रामीण इलाके थे। 2012 में भारत देश के करीब 62.6 करोड़ लोग जो कि जनसंख्या का लगभग 50 प्रतिशत है, वह खुले में शौच करते हैं। (यूनिसेफ और विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार)

भारतवर्ष में एक बहुत बड़ी समस्या है, यत्र—तत्र—सर्वत्र मूत्रविसर्जन। मूत्रविसर्जन की व्यवस्था होने के बावजूद हम भारतीयों की यह एक सार्वभौमिक विशेषता है जिसका निराकरण अतिआवश्यक है। गाँधी जी ने नवजीवना में 13.09.1925 'On Dirty Wajs' शीर्षक के अन्तर्गत कहा था कि— "To Pass Urine anywhere in a street, at any place not ment for the purpose should be regarded on offence". वहीं दूसरी ओर गाँधी जी ने कर्मचारियों के क्वार्टरों के विषय में कितना सुन्दर विचार रखा जो वर्तमान परिपेक्ष्य में अत्यधिक दर्शनीय है। प्रार्थना सभा (03.09.1946) के अभिभाषण के दौरान गाँधी जी कहते हैं— "... I shall be satisfied only when the lodging Banglows of the minister's staff are as neat and tidy as their own."

महात्मा गाँधी जी के विचारों का ही परिणाम है कि उनकी जयन्ती 2 अक्टूबर 2014 को तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी ने 'स्वच्छता अभियान' की शुरुआत की जिसके अन्तर्गत पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए भारतवासियों से अपील की गयी। 8 नवम्बर 2016 को माननीय प्रधानमंत्री जी के द्वारा 'नोटबंदी' का ऐतिहासिक निर्णय लेने के बाद 500 और 2000 रुपये के नये नोट जारी किये जिस पर गाँधी जी के विचार 'स्वच्छ भारत, एक कदम स्वच्छता की ओर' अंकित है।
LoPN i ;koj.k dk lo/kkfud vf/kdkj ॥ मानव का वैयक्तिक अधिकार 'मानवाधिकार' की श्रेणी में आता है यद्यपि मानवाधिकार तो उस गर्भस्थ शिशु का भी है जो अभी माँ के गर्भ में भ्रूण के रूप में आ चुका है।

भारतीय संविधान (1976 में 42वें संशोधन के अंतर्गत) में 'अध्याय 18' के अंतर्गत अनुच्छेद 48(1) और अनुच्छेद 51(A)(g) में भारत के गणमान्य नागरिकों को सुरक्षित पर्यावरण का अधिकार दिया गया है।

"Article 48(A) requires the state to take steps to protect and improve the environment and to safeguard the forest and wild life of the country"

Case - (1) (i) M.C. Mehta V/s Union of India (1988)

(Pollution of Water)

(ii) Association for Environmental Protection V/s State of Kerala (2013)

International Covenant of Economic, Social and Cultural Rights (ICESCR) requires India and all other state party to the covenant to look after in Article 12(2)(b)

"The improvement of all aspects of environmental and industrial hygiene."

भोपाल गैस त्रासदी में मानवाधिकारों का उल्लंघन किस प्रकार हुआ है उपर्युक्त मानवाधिकार कानून से लगाया जा सकता है। यह घटना न केवल पर्यावरणीय त्रासदी थी बल्कि मानव अधिकारों की त्रासदी भी थी।

औद्योगिकीकरण का भी पर्यावरण पर हानिकारक रूप से प्रभाव पड़ा है। उत्तरप्रदेश राज्य के कानपुर, शहर में चर्म उद्योग कारखाना आदि का कचरा पवित्र नदी गंगा जी में गिर रहा है जिस पर कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा रहा है। वर्तमान में नदियों के संरक्षण से संबंधित केन्द्र सरकार की पवित्र गंगा नदी की स्वच्छता बनाये रखने के लिए 07 जुलाई 2016 में 'नमामि गंगे' योजना और मध्यप्रदेश सरकार के द्वारा 'नमामि देवी नर्मदे' नर्मदा सेवा यात्रा 11 सितम्बर 2016 से 11 मई 2017 अत्यधिक सहायनीय है। परन्तु क्या ये केवल सरकार की जिम्मेदारी है कि योजना बनाकर वे हमसे आग्रह करें की कचरा मत फैलाएँ, क्या हमें इसका चिंतन नहीं करना चाहिए?

द्विमासिक पत्रिका 'रचना' के जुलाई-अगस्त 2016 अंक में मध्यप्रदेश सरकार की स्वच्छता का प्रतिवेदन दृष्टव्य है—

1. मध्यप्रदेश में 54 लाख से ज्यादा ग्रामीण घरों में शौचालय बने।
2. 2400 से ज्यादा ग्राम पंचायतें खुले में शौच से मुक्त।
3. सभी स्कूलों एवं आँगनवाड़ी में शौचालय निर्माण प्रगति पर।
4. 2 अक्टूबर 2019 तक सभी घर में शौचालय होंगे।

i ;koj.k fof/k e i ;koj.k l j{k.k ॥ पर्यावरण विधि के भी पर्यावरण के संरक्षण की बात की गयी है। आध्यात्मिक रूप से पर्यावरण की समानता प्रकृति से की जाती है, जिसमें जल, आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी आते हैं। भारतीय आध्यात्म में संपूर्ण प्रकृति जगत को विष्णुमय कहा गया है—

^t y fo".k Lfky fo'.kfo".k ioir eLrdA

Tokyekykdy fo".k lo fo".ke t x rAA**

पर्यावरणीय संरक्षण के लिये कानून भी पारित किया गया जो 'पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1986' से जाना जाता है और पर्यावरण को बचाने के लिए U.N. General Assembly में 1972 में पर्यावरण संरक्षण का विषय रखा गया और 05 जून 1974 को इसे विश्व पर्यावरण दिवस के रूप में पारित

किया गया। प्रकृति ईश्वरमय है अतः प्रकृति के संपूर्ण संघटकों (पौधे, वृक्ष, पक्षी, पशु आदि) की पूजा की जाती है जिसका अर्थ उनके संरक्षण से है। धर्म का पर्यावरण के संरक्षण पर प्रभाव है।

‘हरित अपराध’ का उद्भव सन् 1990 में Michael J. Lynch के द्वारा हुआ और इसका विस्तार Nancy Frank और Michael J. Lynch की किताब Corporate Crime, Corporate Violence 1992" मार्क में किया गया। 1998 में एक Journal 'Theoretical Criminology (Vol.2, Number 2) में ‘हरित अपराध’ शब्द की विस्तृत व्याख्या की गयी जिसके सम्पादक Piers Beirne और University of U.K. के Nigel South थे। और अंततः Michael Lynch को 'Green Criminology' का Founding Father माना गया है।

Hkkxkfyd vkj ifjLFkfrdh; dkj.k d }kjk vij/k % भौगोलिक परिस्थिति को वातावरण या पर्यावरण कहा जाता है। भौगोलिक परिस्थितिकीय समाज को सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं।

फ्रांस के निवासी Lambert Adolphe Jacques Quetelat (1796-1874) Belgium & Andre Michel Guerry (Dec. 24, 1802 - April 19, 1866) France भौगोलिक सम्प्रदाय के प्रमुख थे। भौगोलिक परिस्थितियों और अपराध में साम्यता स्थापित करने के लिए उन्होंने 'Thermic Law' का सिद्धांत दिया जिसमें कहा कि अपराध पर्यावरण से संबंधित हैं। कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों में अपराध निश्चित रूप से होंगे—

- गर्मियों में व्यक्ति के विरुद्ध अपराध होंगे
- सर्दियों में सम्पत्ति के विरुद्ध
- जहाँ भूमि उपजाऊ होगी वहाँ अपराध कम होंगे।
- वर्षा का अपराध से सीधा संबंध है। जहाँ अनुकूल वर्षा होगी वहाँ अपराध नहीं होंगे।

फ्रांस के राजनीतिक एवं सामाजिक, दार्शनिक Anonymus Portrait Montesquieu (18 Jan. 1689- 10 Feb. 1755) ने ‘कानून की आत्मा’ (The Spirit of Law, 1748) का सिद्धांत दिया जिसके अनुसार, भूमध्य रेखा के पास अधिक अपराध होते हैं। जैसे जैसे भूमध्यरेखा से कर्क और मकर रेखा की ओर बढ़ते हैं अपराधियों की संख्या में कमी होती जाती है। ध्रुव प्रदेशों में अपराध बहुत कम होते हैं।

फ्रांस के अपराधशास्त्री Jean Gabriel Trade (March 12, 1843 - May 13, 1904) ने अपने अनुकरण के सिद्धांत (Law of Imitation) में कहते हैं कि उन राष्ट्रों में जहाँ अधिक कुशलता और प्रशिक्षण होता है, अपराध अधिक मात्रा में होते हैं क्योंकि यह सीखा हुआ व्यवहार है।

उपर्युक्त सिद्धांतों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि पर्यावरण और स्वच्छता का प्रभाव मनुष्य के शारीरिक स्तर के साथ-साथ मानसिक स्तर पर भी पड़ता है। फलस्वरूप व्यक्ति बहुत अच्छा व्यक्ति भी बन सकता है और समाज के लिए हानिकारक व्यक्ति भी बन सकता है। अतः हमें अपने स्वच्छ पर्यावरण की ओर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए।

ok;| in" k.k dk _Xofnd lek/kku & ;K vkj gou dk oKkfud nf"Vdk.k % जीवन के लिए पर्यावरण से प्राप्त ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है जिसे वेदों में प्राणवायु कहा गया है। “अयं यज्ञोः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः” प्रस्तुत पंक्ति के द्वारा यजुर्वेद में यज्ञ की महत्ता को स्वीकार करते हुए यह उद्धृत किया गया है कि यज्ञ समस्त संसार की नाभि है। जिस प्रकार शरीर के नाभि का महत्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार संसार में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। यज्ञ से चार प्रकार के पदार्थों का मिश्रण होता है—सुगंधित, मिष्ठ, रोगनाशक (सोमलता, गिलोय आदि औषधि) पुष्टिकारक।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हवन में अग्नि, अगरबत्ती आदि के प्रज्ज्वलन के कारण कार्बनडाइ आक्साइड गैस उत्पन्न होती है जो हानिकारक गैस है परन्तु यदि यह गैस इस विधि में हानिकारक अवस्था में उत्सर्जित होती तो वहाँ कोई कैसे घंटों बैठा रह सकता? लोगों का दम घुटने लगता। यज्ञों की महत्ता के विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिकों के निष्कर्ष—

1. फ्रांस के विज्ञानवेत्ता ‘ट्रिलवर्ट’ का कथन है कि जलती हुयी शक्कर में वायु शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति है। इससे क्षय, चेचक, हैजा, आदि बीमारियाँ तुरंत कम हो जाती हैं।
2. डॉ. एम. ट्रेल्ट ने मुनक्का, किसमिस आदि फलों को जलाकर देखा और पाया कि धुंये से टाइफाइड रोग कीट 30 मिनट में नष्ट हो जाते हैं।

3. अमेरिकी मनोवैज्ञानिक श्री बेरी रैथनर जो पुणे विश्वविद्यालय में 'अग्निहोत्र' पर शोध किये हैं, कहते हैं "अग्निहोत्र वायुमण्डल में एक विशिष्ट ढंग का प्रभाव उत्पन्न करता है और उसका मानव पर चिकित्सकीय प्रभाव पड़ता है।
4. 7 मई 1999 के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' अखबार में प्रकाशित समाचार में कहा गया कि लखनऊ के राहुल कर्मकर ने सिद्ध किया कि भारतीय यज्ञ परम्परा कुछ यौगिक पदार्थों का जलाना मात्र नहीं है ये हवा में घुले सल्फर डाइऑक्साइड और नाइट्रस ऑक्साइड को नष्ट करते हैं और उनके विषाणुओं को भी नष्ट करते हैं।

Praveen Bansal अपने शोध पत्र में कहते हैं कि "Small amount of Co2 inhaled by the person performing Yagna acts as a stimulants and more and more aromatic fumes are inhaled which help in curing mental disorders".

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ऋषि मुनियों के द्वारा यज्ञ और हवन की परम्परा न केवल आध्यात्मिक बल्कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी अतिउत्तम एवं पर्यावरण शुद्धता के साथ-साथ व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं को भी सकारात्मक से प्रभावित करता है। अतः हमें पर्यावरण की स्वच्छता और व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति के मानसिक उपचार के लिए हवन और यज्ञ की ओर ध्यान देना चाहिए।

fu"dk : उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण, सिद्धांतों, मनुष्य के पर्यावरण और स्वच्छता ही नहीं अपितु स्वच्छ पर्यावरण की ओर इंगित करते हैं। दूरदर्शी महात्मा गाँधी जी ने भी स्वच्छता के बारे में गंभीर नकारात्मक परिणामों का पहले ही अनुमान कर लिया था तथा स्वच्छता का न केवल उपदेश दिया अपितु अपने जीवन में धारण करके वर्तमान एवं भविष्य के जनमानस के समक्ष स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। अतः हमें स्वच्छ पर्यावरण की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि यह प्रत्येक मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी है न केवल प्रशासनिक अधिकारियों की या सरकार की। कहा भी गया है कि स्वच्छता में ईश्वर का वास होता है। स्वच्छ वातावरण के लिए वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित यज्ञ और हवन के अनुष्ठान पर भी विचार करना चाहिए और आपराधिक मानसिकता को सुधारने के लिए इसे 'भारतीय सुधारालयों' (कारागृह) में भी कम से कम महीने में एक बार अवश्य प्रयोग लाना चाहिए। भारत सरकार या राज्य सरकार के पर्यावरणीय संबंधी जो भी उपक्रम हैं उनमें हम सबको अपनी सक्रिय भागीदारी करना चाहिए क्योंकि पर्यावरण केवल सरकार का नहीं अपितु प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक और मौलिक संवैधानिक कर्तव्य है।

I UnHk %

1. कुमारसम्भवम् कालिदास 5/33
2. चरक शास्त्र, आयुर्वेद, 4/36, शरीर और मन
3. www.hindi.indiawaterportal.org
4. Bestquotes.wondpress.com.2007/03/24/hello.world
5. Constitutional law of India. By Dr. J.N. Pandey, 52 edition, p. 455, 466
6. पर्यावरण विधि, डॉ. जय जय राम उपाध्याय, पंचम संस्करण, पृ. 16-17
7. घेरण्ड संहिता, उपदेश 7/18
8. 'Changing Dimensions of Indian Environment law' In P leelakrishnan, Law and Environment, C.M. Jairiwal, 1-25 at 2 (1992)
9. Basic Human Right for Bhopal Survivors, www.bhopalnet/march
10. Green Criminology. wikipedia.org.
11. www.crimejusticejournal.com_IJCJ&SD2014 Vol.3 No.2, 5-20 ISSN 2202_8005 (Nigel South)
12. 'Routledge International Handbook of Green Criminology' Edited By- Nigel South and Avi Brisman, Chapter-4
13. अपराधशास्त्र, डॉ. डी.एस. बघेल (संस्करण 2010), पृ. 26, 38-41
14. अपराधशास्त्र, दण्डशास्त्र एवं प्रपीड़नशास्त्र, डॉ. ना.वि. परांजपे (अष्टम संस्करण), पृ. 79
15. www.dainiktime.com
16. Review, Journal Epilepsy Research P-ISSN 2233-6249/E-ISSN-2233-6257
17. 'रचना', द्विमासिक अंक 121, जुलाई-अगस्त, 2016 ISSN 2249-5061



वृत्तान्तः पराधीनता, दलितवादः

डॉ. कृष्ण कुमार

जब बात आदिवासी विमर्श की आती है तो मन में एक प्रश्न उठता है कि आदिवासी कौन? अर्थात् एक इंसान। वे लोग कौन हैं, जो आदिवासियों पर विचार विमर्श कर रहे हैं! अर्थात् वो भी इंसान ही हैं। फिर दोनों में भेद कैसा? तो यहाँ भेद का जो कारण दिखाई पड़ता है, वह है 'सभ्यता'। तब प्रश्न उठता है कि, हम सभ्य कैसे बने और आदिवासी इस सभ्यता की मुख्य धारा से कैसे वंचित रह गये। यह विचार करने योग्य है। आदिवासी शब्द का जो अर्थ हम लगाते हैं वो है आदिमानव। हमारे पूर्वज भी आदिमानव थे, तब तो इन आदिवासियों को अपने पूर्वजों के रूप में देखते हुए अपनी पुरानी संस्कृति, सभ्यता, परम्परा के प्रमाण स्वरूप एक धरोहर रूप में इनकी सुरक्षा करनी चाहिए, ताकि इनके रूप में हमारी पुरानी परम्परा जीवन्त रह सके। "अपने लोक साहित्य की समृद्ध परंपरा को स्रोत बनाते हुए आदिवासियों ने समकालीन साहित्य की शुरुआत की। पाँच हजार वर्षों का विशद इतिहास है उनके पास। लोकगीतों, लोककथाओं, लिजिन्द्रियों, वीर गाथाओं, पर्वों, त्योहारों के गीतों और अनुष्ठानों की महान परंपरा है, जिसमें उनकी ही नहीं बल्कि पृथ्वी का इतिहास भी छिपा है।"¹

अगर मनुष्य जाति इसी प्रकार अपनी प्रतिस्पर्धा की दौड़ में केवल अपने स्वार्थ-पूर्ति के लिए इन्हें अपने से दूर भगाती रहीं तो शायद अपनी विस्मृतियों को खो देगी। परन्तु इनके द्वारा अपनी अस्मिता के लिए किये जाने वाले संघर्ष पर विचार करें, तो इनका शोषण न करते हुये बल्कि इनको आधुनिकता की मुख्य धारा से जोड़ने में हमें इनकी मदद करनी चाहिए। जिससे इनके मन के अंदर व्याप्त आम लोगों के प्रति प्रतिरोध की भावना समाप्त हो और इनके अंदर अपने प्रति स्थित हीन भावना भी पूरी तरह समाप्त हो सके।

इस प्रकार बार-बार चल रहे आदिवासियों पर विचार-विमर्श को केवल विचारों तक सीमित न रखकर बल्कि उसको चरितार्थ करने के लिए व्यवहारिक रूप में लागू करना चाहिए। इसलिए इस विमर्श को गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है, और एक निश्चित निष्कर्ष के प्राप्त होने के बाद उसे उनके साथ व्यावहारिक रूप में जोड़ना चाहिए। जैसे- उनकी एक निश्चित भाषा हो, धर्म हो, जिससे उनकी एक निश्चित पहचान बन सके और अपनी भाषा और धर्म के सहारे वे अपनी संस्कृति को बचाकर रख सकें। वास्तव में देखा जाय तो "आदिवासी समाज मूलतः मातृसत्तात्मक समाज रहा है लेकिन समय के साथ पुरुषवादी समाज की विकृतियाँ इस समाज को भी छूने लगी हैं क्योंकि अच्छाई की तुलना में बुराई के प्रसार की गति तीव्र होती है।"²

आदिवासी समाज की एक जो सबसे बड़ी समस्या है, वह यह है कि, स्वयं एक आदिवासी शिक्षित होने के बाद भी अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति हीन-भावना रखता है, क्योंकि ये आधुनिक व्यवहारिक जीवन तथा प्रभारी समाज से दूर प्रायः वन, पर्वतों, निर्जन स्थानों पर अलग-अलग बस्ती बनाकर निवास करते हैं और एक सुसम्बद्ध समुदाय में जीते हैं तथा उनकी संस्कृति, रीति-रिवाज, विश्वास तथा भाषाएँ; विशिष्ट एवं विभेदक है। इसके लिए आवश्यक है कि हमें उनको उनके अधिकारों का ज्ञान कराते हुए उनके साथ आम लोगों की भाँति व्यवहार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आदिवासियों के हृदय की संवेदना डॉ. रमणिका गुप्ता ने इस प्रकार व्यक्त की है कि "हम एक ऐसे समाज हैं, जिनके मूल्यों का न तो ह्रास हुआ है, ना ही उनमें विकृति आयी है। हम सामूहिक जीवन प्रणाली में जीते रहे हैं-समाज और समूह में

*शोध-छात्र, आ.भा.भा.वि. विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

रहे हैं—तुम्हारे द्वारा दी गयी कठिन जिन्दगी को अपने गीतों, अपने नृत्य से भूलाते रहे हैं। तुमने हमें सभ्यता से दूर ठेला—विस्थापित किया—हमने बांसुरी और नगाड़े के माध्यम से आपसी संवाद जारी रखा। अब यह संवाद नाद बनकर फूट पड़ा है।¹³

ऐतिहासिक रूप से यह प्रमाणित है कि, औपनिवेशिक युग के पूर्व आदिवासियों की स्वतंत्र सत्ता थी। प्रकृति के सभी उपयोगी संसाधनों पर उनका अधिकार था। परन्तु साम्राज्यवादी शक्तियों ने उनके जीवन यापन के उपयोगी संसाधनों पर कब्जा कर उनका शोषण शुरू कर दिया। तब यह भी देखने को मिला कि जिस तरह इन आदिवासियों ने अपने स्वायत्ता और अस्मिता के लिए विद्रोह किया, शायद इस देश में किसी अन्य वर्ग ने नहीं किया था।

नक्सलियों और माओवादियों द्वारा प्रेरित आदिवासी विद्रोह आधिकारिक तौर पर भारतीय राज्य की सुरक्षा के लिए बड़ा और गंभीर आंतरिक खतरे का कारण बन सकता है। बागियों ने राजसत्ता के खिलाफ अपना युद्ध घोषित कर दिया है। आखिर, वे मौजूदा राजसत्ता की जगह क्या लेकर आएँगे, उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अवस्थिति कैसी होगी! यह सब कुछ गोपनीय है और मोटे तौर पर लोगों को नहीं पता है। एक सशस्त्र अभियान जो सिर्फ नकारात्मकता की जमीन पर खड़ा हो और अपने सकारात्मक पहलुओं के प्रति चुप हो, उसकी सार्वजनिक विश्वसनीयता नहीं होती। हो सकता है कि सत्ता बंदूक की नली से निकलती हो, लेकिन एक बार गोलियों की कमी पड़ जाये, तो वह हाथ से चली भी जा सकती है। मनुष्य का अस्तित्व सिर्फ राजनीतिक नहीं है। नक्सलियों को काबू में करने के लिए सरकार और विशेषज्ञ दोनों ही दोतरफा रणनीति की बात कर रहे हैं। जंगलमहल में पंचायत राज और विकास। “आज आदिवासी समाज एक नितान्त भिन्न और अत्यन्त शक्तिशाली व्यवस्था के आमने-सामने है, जिसकी प्रकृति और रीति-नीति के बारे में वह बिल्कुल ही अनभिज्ञ है। हमारी व्यवस्था और प्रशासन संक्रमण के गुजरने वाले आदिवासी समाजों में प्रतिकूल प्रतिक्रिया को या तो छोड़ देते हैं अथवा असंगत करार कर देते हैं।”¹⁴

पंचायत कानून जैसे ऐतिहासिक क्रांतिकारी आदिवासी समर्थक कानून का उद्देश्य लोकतंत्र की ताजा बयार को लाना था, ताकि आदिवासियों की भागीदारी सक्रिय और उत्साहजनक हो। इसके विपरीत सत्ता व सभ्यता के केन्द्रों से दूर जंगलों में मूलवासियों के झोपड़े अब भी बस टिम-टिमा रहे हैं। लेकिन नेटिव अमेरिकियों का रिकॉर्ड ऐसा नहीं है। उन्हें तो आत्म-निर्णय का अधिकार भी दे दिया था तथा वे सारे अधिकार भी जो न्यूयॉर्क और केलिफोर्निया जैसे संघीय राज्यों के पास हैं। भारी राजनीतिक जनादेश के बावजूद आदिवासी समुदाय सुदूर अलग-थलग और बंद रिहाइशों में रह रहे हैं और उनके पास बाजार, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय और सबसे बढ़कर सार्वभौमिक सभ्यता का हिस्सा होने की गुंजाईश की कमी है।

इस संदर्भ में विकास का क्या अर्थ बनता है? सरकारी परियोजना की फेहरिस्त में विकास को सड़कों के निर्माण, ट्यूबवेल, स्कूल, अस्पताल आदि बनवाने से मापा जाता है और यह सारी चीजें दरअसल, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से निकलकर आती हैं। ऐसी व्याख्या जो मनुष्य को एक व्यक्ति नहीं मानती, चूंकि वह सम्पूर्ण इतिहास की संरचना में तीसरा तत्व होता है।

स्वतंत्र भारत के संविधान में आदिवासियों के लिए तमाम योजनाएँ बनाई गई, उनकी कला को सराहा गया लेकिन उनकी संस्कृति को समझने का प्रयास नहीं किया गया। उनके अधिकारों के बारे में कोई ध्यान न देकर बल्कि ढेरों योजनाएँ चला देना, उनके उन्नति का कारण नहीं बन सका। “वन केवल आदिवासियों के लिए महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु पारिस्थितिक संतुलन बनाये रखने के लिए भी महत्वपूर्ण है। पिछले पचास वर्षों में दण्डकारण्य के आदिवासियों में गंभीर प्रतिघात आये हैं। विगत अनेक वर्षों में बाँध बनाने, विकास-योजनओं, धूर्त ठेकेदारों या कोल-व्यावसायियों ने इन वनों के अपूरणीय क्षति की है।”¹⁵ इस प्रकार आदिवासियों के अधिकारों पर विचार करते हुये उनके उत्थान के लिए कोई कदम उठाना चाहिए और उनके लिए उठे हर कदम उन तक व्यवहारिक रूप में पहुंचने चाहिए न कि सिर्फ विचारों के पन्नों पर रह जाने चाहिए।

आदिवासी शब्द का प्रयोग किसी भौगोलिक क्षेत्र के उन निवासियों के लिए किया जाता है; जिनका उस भौगोलिक क्षेत्र से संबंधित इतिहास में सबसे पुराना संबंध रहा हो। परन्तु विश्व के भिन्न-भिन्न भूभागों में अलग-अलग क्षेत्रों से अलग-अलग धाराओं के लोग आकर बसे हैं। उस विशिष्ट भाग में प्राचीन निवासियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन साहित्य में दस्यु, निषाद आदि के रूप में जिन भिन्न-भिन्न प्रजातियों, समूहों का उल्लेख किया गया है; उनके वंशज सम-सामयिक भारत में आदिवासी माने जाते हैं। आदिवासी के समानार्थी शब्द में ऐबोरिजिनल, इंडिजिनस, देशज, मूलनिवासी, जनजाति, वनवासी, जंगली, गिरिजन, बर्बर आदि प्रचलित हैं, इनमें से हरेक शब्द के पीछे सामाजिक व राजनीतिक संदर्भ छिपा है।

आज भी आदिवासी संस्कृति के लोग प्राथमिक धरातल पर ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसा देखा जाता है कि वे सामान्यतः एक क्षेत्रीय समूह बनाकर रहते हैं। उनकी संस्कृति अधिकांश दृष्टियों से स्वयं में पूर्ण रहती है। इनकी संस्कृतियों में ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव रहता है और ये अपने ऊपर की थोड़ी ही पीढ़ियों का जो यथार्थ इतिहास में क्रमशः वर्णित है, या जो किंवदंतियाँ हैं या इनकी जो पौराणिक कथाएँ हैं; उनमें घुल-मिल जाते हैं। सीमित क्षेत्र तथा कम जनसंख्या के कारण इनकी संस्कृति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। किसी एक काल में होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तन अपने प्रभाव एवं व्यापकता में अपेक्षाकृत सीमित होते हैं। अपनी पुरानी परम्परा पर ही केन्द्रित आदिवासी संस्कृतियाँ इसी कारण अपने अनेक पक्षों में रूढ़िवादी सी जान पड़ती हैं। उत्तर व दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, एशिया तथा अनेक द्वीपों और द्वीपसमूहों में आज भी आदिवासी संस्कृतियों के अनेक रूप देखे जा सकते हैं।

उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के अंतर्गत हिमालय अंचल के अतिरिक्त तिस्ता, उपत्यका और ब्रह्मपुत्र की यमुना-पद्म शाखा के पूर्वी भाग का पहाड़ी प्रदेश आता है। इस भाग के आदिवासी समूहों में गुरुंग, लिंबू, लेपचा, अका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपी, मिकिर, राम, कवारी, गारो, खासी, नाग, कुकी, लुशाई, चकमा आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्यप्रदेश का विस्तार उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी और राजमहल पर्वतमाला के पश्चिमी भाग से लेकर दक्षिण की गोस्वामी नदी तक है। संधाल, मुंडा, उरांव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, जुआंग, खोंड, सवरा, गोंड, भील, बैगा, कोरकू, कमार आदि इस भाग के प्रमुख आदिवासी हैं। पश्चिमी क्षेत्र में भील, मीणा, ठाकुर, कटकरी आदि आदिवासी निवास करते हैं। मध्य-पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण में सह्याद्री तक का पश्चिमी प्रदेश इस क्षेत्र में आता है। गोदावरी के दक्षिण में कन्याकुमारी तक दक्षिणी क्षेत्र का विस्तार है। इस भाग में जो आदिवासी समूह रहते हैं; उनमें चेंचू, कोंडा, रेडडी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरुंबा, बडागा, टोड़ा, काडर, मलायन, मुशुवन, उराली, कनिक्कर आदि उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि प्राचीन काल में आदिवासियों ने भारतीय परंपरा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था और उनके कतिपय रीति-रिवाज और विश्वास आज भी थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में आधुनिक हिंदू समाज में देखे जा सकते हैं; तथापि यह निश्चित है कि वे बहुत पहले ही भारतीय समाज और संस्कृति के विकास की प्रमुख धारा से पृथक हो गए थे। आदिवासी समूह हिन्दू समाज में न केवल अपने महत्वपूर्ण पक्षों में भिन्न हैं, वरन् उनके इन समूहों में भी कई महत्वपूर्ण अंतर हैं। समसामयिक आर्थिक शक्तियों तथा सामाजिक प्रभावों के कारण भारतीय समाज के इन विभिन्न अंगों की दूरी अब क्रमशः कम हो रही है।

आदिवासियों की सांस्कृतिक भिन्नता को बनाए रखने में कई कारणों का योग रहा है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर उनमें से अनेक में प्रबल 'जनजाति-भावना' है। सामाजिक-सांस्कृतिक-धरातल पर उनकी संस्कृतियों के गठन में केंद्रीय महत्व है। "अगर आदिवासियों को उनकी पारस्परिक जीवन-शैली बिताने के लिए जंगलों में सीमित कर दिया गया तो, वे अपनी जीवन शैली को कभी इस ढंग से विकसित नहीं कर सकेंगे कि आजादी के फलस्वरूप होने वाले लाभों का फल उन्हें भी मिले। उनके जीवन को बेहतर बनाने के लिए यह भी जरूरी है कि उन्हें शिक्षा, चिकित्सा और जीवन की बुनियादी सुविधाएँ मुहैया करायी

जाए। अगर ऐसा न किया, तो आदिवासी भाई जंगलों में संग्रहालय की एक वस्तु बन जायेंगे। दूसरी ओर अगर आदिवासी क्षेत्रों में उसी तरह विकास किया गया, तो आदिवासी जीवन चक्र असंतुलित हो जायेगा और वह अपनी मौलिक जीवंतता को खो देगा।⁶

असम के नागा आदिवासियों की नरमुंड प्राप्ति—प्रथा बस्तर के मुरियों की घोटुल संस्था, टोडा समूह में बहुपतित्व, कोया समूह में गोबलि की प्रथा आदि का उन समूहों की संस्कृति में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु ये संस्थाएँ एवं प्रथाएँ भारतीय समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं हैं। आदिवासियों की संकलन—आखेटक—अर्थव्यवस्था तथा उससे कुछ अधिक विकसित, अस्थिर और स्थिर कृषि की अर्थव्यवस्थाएँ अभी भी परंपरास्वीकृत प्रणाली द्वारा लाई जाती है। परंपरा का प्रभाव उन पर उनके आर्थिक मूल्यों के प्रभाव की अपेक्षा अधिक है। धर्म के क्षेत्र में जीववाद, जीविवाद, पितृपूजा आदि हिंदू धर्म के समीप लाकर भी उन्हें भिन्न रखते हैं।

आज के आदिवासी भारत में पर—संस्कृति—प्रभावों की दृष्टि से आदिवासियों के चार प्रमुख वर्ग दिखाई पड़ते हैं। प्रथम वर्ग में पर—संस्कृति—प्रभावहीन समूह है, दूसरे में पर—संस्कृतियों द्वारा अल्पप्रभावित समूह, तीसरे में पर—संस्कृतियों द्वारा प्राभावित, किन्तु स्वतंत्र सांस्कृतिक अस्तित्व वाले समूह और चौथे वर्ग में ऐसे आदिवासी समूह आते हैं; जिन्होंने पर—संस्कृतियों को इस मात्रा में स्वीकार किया है कि अब वे केवल नाम मात्र के लिए आदिवासी रह गये हैं। “आदिवासी क्षेत्र और आदिवासी जनजातियों के विकास की योजनाओं को बनाने और लागू करने में राज्य सरकारें आदिवासी विकास परिषदों को भागीदार नहीं बना रही हैं। इसका परिणाम है कि संविधान द्वारा परिषदों को सौंपे गये कार्यों की उपलब्धि वांछित स्तर तक नहीं हुई है। आजादी के बाद भारत में आदिवासियों के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण, सरकार की घोषित नीतियों और वर्चस्व रखने वाली जनसंख्या के हितों में निहित टकराव है।”⁷ आज भी झारखंड इस वर्ग—संघर्ष और टकराव का साक्षी है।

अतः इनके अधिकारों को ध्यान में रखते हुये इनके चहुँमुखी विकास के लिए निरन्तर प्रयास जारी रहे तो निश्चित ही हमारे प्रयास सार्थक होंगे और ये विशिष्ट प्राणी से आम आदमी बन सकेंगे। इस प्रकार आदिवासी विमर्श करने के लिए आदिवासियों के बारे में जानना बहुत जरूरी है तथा आदिवासियों के बारे में जानने के लिए उनके बीच जाना बहुत जरूरी है।

I UnHk §

1. आदिवासी साहित्य यात्रा, संपादक—डॉ. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110001, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 7
2. वाङ्मय (त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका), अंक—जुलाई—सितम्बर 2015, संपादक—डॉ. एम. फीरोज अहमद, 205—फेज—1, ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाईन अलीगढ़—202002, पृ. 28
3. आदिवासी साहित्य यात्रा, संपादक— डॉ. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110001, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 6
4. आदिवासी विकास : एक सैद्धान्तिक विवेचन, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, तृतीय आवृत्ति 1986, पृ. 49
5. आदिवासी विकास : एक सैद्धान्तिक विवेचन, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, तृतीय आवृत्ति 1986, पृ. 134
6. भारत का जनजातिय जीवन (मानवशास्त्र भाग—2), प्रदीप श्रीवास्तव एवं भवानी एम मुखर्जी, प्रियंका पब्लिकेशन्स, द्वारा—श्रीवास्तव स्टडी सर्कल, मित्र बिहार कालोनी, विलासपुर—495001 (छत्तीसगढ़), द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण—2001, पृ. 306
7. झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा, उर्मिलेश प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण—1999, पृष्ठ 29



lkekft d eY;k d fodkl e l kfgR;] foKku vkj v/;kRe fxj t!k dekj*

मूल्य किसी वस्तु या विषय का श्रेष्ठतम गुण है। यह किसी विषय या वस्तु की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यह संसार की वस्तुओं के आदान-प्रदान का माध्यम है। मूल्य के आधार पर ही महत्व प्रमाणित होता है। सभी भौतिक वस्तुओं का मूल्य सामान या धन के रूप में चुकाना होता है। भौतिक वस्तुओं का मूल्य उसके आवश्यकता के आधार पर निर्धारित होता है जैसे-भूख के समय भोजन का अधिक मूल्य भी दिया जाता है और भूख न होने पर मुफ्त में प्राप्त या स्वादिष्ट भोजन को भी खाने से इंकार कर दिया जाता है अर्थात् मूल्य आवश्यकता के कारण ही महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के अपने मूल्य होते हैं। जिस प्रकार भौतिक विषय के मूल्य अलग-अलग होते हैं उसी प्रकार इन्सान के मूल्यों के प्रकार भी हैं उनके अलग-अलग मूल्य हैं जैसे-सामाजिक मूल्य, पारिवारिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, राजनीतिक मूल्य इत्यादि। जो इन्सान परिवार की समस्याओं का समाधान करता है, सुख-सुविधाओं को उपलब्ध कराता है उसका परिवार में मूल्य होता है वह परिवार में मूल्यवान समझा जाता है, जो व्यक्ति पारिवारिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ सामाजिक मान-सम्मान में भी वृद्धि करता है वह व्यक्ति परिवार में अमूल्य समझा जाता है। जो इन्सान परिवार में कोई सहयोग प्रदान नहीं करते बेकार काहिल होते हैं उनको बेमोल समझा जाता है। जो इन्सान परिवार में समाज में बुरे व्यवहार करता है अपने कर्मों से परिवार को कलंकित करता है वह परिवार का कलंक समझा जाता है। यह इन्सान के पारिवारिक मूल्य की परिभाषा है। मनुष्य का सामाजिक मूल्य समाज में व्यवहार कर्म एवं आचरण के आधार पर सम्मान के अनुसार निर्धारित किया जाता है। जो मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों का आदर करते हैं अच्छे व्यवहारिक होते हैं समाज उनका सम्मान करता है वे सामाजिक रूप से साधारण मूल्यवान होते हैं। जो मनुष्य समाज की भलाई एवं समाज सेवा का कार्य करते हैं वे समाज के लिए विशिष्ट मूल्य वाले होते हैं।

जो मनुष्य संसार की भलाई के लिए नये-नये आविष्कार करते हैं, इंसानियत के भलाई के लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर देते हैं, जो अपना सम्पूर्ण जीवन मनुष्य के प्रेम, करुणा, सत्य, न्याय, अहिंसा, इत्यादि में लगा देते हैं वे समाज के लिए अमूल्य समझे जाते हैं ऐसे लोग समाज के द्वारा अति सम्मानित होते हैं। जो लोग समाज में भ्रष्टाचार करते हैं, अव्यावहारिक होते हैं वे लोग समाज में बेमोल होते हैं। जो लोग समाज में अहिंसा करते हैं आपराधिक प्रवृत्ति के होते हैं वे समाज के लिए कलंक होते हैं ऐसे लोगों से समाज नफरत करता है। किसी इन्सान का पारिवारिक मूल्य उस इन्सान की प्राथमिक सफलता है, जब वह व्यक्ति कभी किसी समस्या से घिरता है तो परिवार उसके साथ होता है, ऐसे ही जब कोई सामाजिक रूप से, आर्थिक रूप से कभी किसी समस्या में फंसाता है यदि वह सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित है तो समाज उसके साथ होता है, हजारों लाखों की तादात में लोग उसके साथ खड़े होते हैं एक तरीके से यह सामाजिक मूल्य का पैमाना होता है।

समाज मूल्यों का विकास करता है। वह त्याग को भोग से और श्रेय को प्रेय से अधिक मूल्यवान मानता है। भले ही कोई मनुष्य अहिंसक, सत्यवादी या ब्रह्मचारी न हो सके, फिर भी समाज अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को आदर्श मानता है और जो मनुष्य अपने जीवन में इन मूल्यों का थोड़ा भी पालन करते हैं, उनको वह सम्मान देते हैं। वे लोग समाज में सम्मानित और सहयोगी होते हैं, बौद्धों के संघ व्यभिचार के कारण नष्ट हो गए। प्राचीन यूनान के सोडम और गोमरा इन दो नगरों के समाज व्यभिचार के कारण नष्ट हो गए। इससे सिद्ध है कि वही समाज जीवित रहता है जिसमें ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग

आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा रहती है। मनुष्य मूल्यान्वेषी है, उसके मूल्य-बोध का निर्माता समाज है, जिसका स्वरूप मूल्यात्मक है। मूल्यों के निकाय को धर्म कहा गया है और जो धर्म से रहित है उसे पशु कहा गया है। इस प्रकार जो धर्म मनुष्य का लक्षण है, वही समाज का स्वरूप है। समाज की सत्ता धर्म और मूल्यों के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को अनुभवगम्य है। चाणक्य का कहना है कि कुल के हित के लिए उस व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिए जो कुलनाशक हो। ग्राम के हित के लिए उसके विरोधी कुल का त्याग कर देना चाहिए। पुनः यदि कोई ग्राम समाज के विरुद्ध हो तो उस ग्राम का भी परित्याग कर देना चाहिए। अंत में, आत्म कल्याण के लिए यदि समाज बाधक हो तो उस समाज का भी त्याग कर देना चाहिए। स्पष्ट है कि व्यक्ति, परिवार, ग्राम, समाज जनपद, और आत्मा लोकात्मा, इनमें से उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से अधिक मूल्यवान है।

साहित्य समाज का पोषक है संरक्षक है। साहित्य और समाज एक-दूसरे से जुड़े हैं, कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। जिस प्रकार आत्मा शरीर अलग होते हुए भी एक हैं उसी प्रकार साहित्य और समाज अलग दिखते भले ही हैं पर एक हैं। साहित्य समाज का सिर्फ मनोरंजन ही नहीं करता बल्कि समाज का मार्गदर्शन भी करता है। समाज में घट रही घटनाओं का अवलोकन करता है। साहित्य समाज के अनुभवों को अगले पीढ़ी को सौंपता है जिससे आने वाली पीढ़ी सीख लेती है। कहा जाता है कि समाज नष्ट हो सकता है, राष्ट्र नष्ट हो सकता है पर साहित्य नष्ट नहीं होता, वह दर्पण की भांति हर युग को प्रतिबिम्बित करता है, आने वाली पीढ़ी के लिए मनोरंजन के साथ-साथ मार्गदर्शक का काम करता है। इसी संदर्भ में राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

bdoy eukj t u dfo dk de gkuk pkfg,]

mle mfpr mini'k dk Hkh ee gkuk pkfg, β

इसी संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल ने भी कहा है "साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब है।" सामाजिक मूल्य समय के साथ-साथ बदलते रहते हैं जैसे श्रद्धा आस्था, करुणा आज मिथ्या लगने लगे हैं। कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं वे समय के साथ न बदलते हैं न ही नष्ट होते हैं जैसे प्रेम, सौन्दर्य, अहिंसा इत्यादि। किसी भी काल में जब सामाजिक मूल्य बदलते हैं तब साहित्य भी नये मूल्यों को प्रमाणित करता है समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उन मूल्यों को पहुंचाता है। साहित्य सामाजिक मूल्यों को व्यक्त करने के लिए समय-समय पर भाषा और संसाधनों में भी बदलाव करता है पहले पद्य में रचनाएँ हुआ करती थी फिर गद्य में रचनाएँ होने लगी। साहित्य में भाषा के लिए मौखिक चित्रित एवं लिखित रूप का प्रयोग होता है। संस्कृत, पालि, प्राकृति, अपभ्रंस, उर्दू, अरबी, फारसी, ब्रज, अवधी, अंग्रेजी अनेक भाषाओं का प्रयोग होता है। आज अनेक तकनीकी साधनों का प्रयोग होता है पहले लोग श्लेट, किताब-काँपी प्रयोग करते थे आज रेडियो, टेलीवीजन, इंटरनेट इत्यादि नये तकनीक आज साहित्य में फंख लगा दिए हैं। इस प्रकार नये साधनों-संसाधनों और भाषा के प्रयोग द्वारा साहित्य को और मजबूती मिली है उसके मूल्य वहन और संरक्षण में वृद्धि हुई है। सामाजिक मूल्यों का बीज है मनुष्य, बीज जैसा होगा फल वैसा होगा मनुष्य की मनुष्यता, इंसानियत उसके आत्म ज्ञान और शिक्षा पर निर्भर करती उसके समझदारी पर निर्भर करती है मनुष्य जितना पढ़ा-लिखा समझदार होगा सामाजिक मूल्य उतने ऊंचे होंगे उन मूल्यों को संरक्षित करने के लिए बहुत ही उच्च किशम के साहित्य लिखे जायेंगे अगली पीढ़ी के लिए संरक्षित होंगे, साहित्य ही वह प्लेटफार्म है, जहाँ साहित्यकार सामाजिक मूल्यों को गढ़ता है समाज के लिए नये मूल्यों का रोड-मैप तैयार करता है। समय समय पर विश्व में अलग-अलग राष्ट्रों के लिए अलग-अलग मूल्य रहे कभी राष्ट्र, कभी व्यक्ति, कभी धर्म, कभी जाति, कभी व्यक्ति के श्रेष्ठ उच्च आदर्श विचार जिससे मनुष्य सुखी आनन्दित प्रसन्नचित जीवन जी सके।

समाज का व्यक्ति से और व्यक्ति का समाज से बहुत गहरा संबंध है। समाज व्यक्ति के बाहरी जगत से सम्बंधित है वहीं अध्यात्म उसके आंतरिक जगत से सम्बंधित है। बाहरी जगत में विज्ञान प्रभावशाली है, भीतरी जगत में अध्यात्म। अगर किसी को कहीं जाना है कुछ पाना है तो वह वस्तुगत है, स्थानगत है, तो ऐसी चीजों की प्राप्ति में विज्ञान सहायक है, बिना विज्ञान के संसाधन के उसे नहीं पाया जा सकता इसीलिए पश्चिम समाज भौतिक रूप में सम्पन्न और सुखी है क्योंकि वहाँ के लोग विज्ञान को ज्यादा महत्व देते हैं परन्तु फिर भी मानसिक रूप से दुखी हैं क्योंकि धन, विज्ञान सुविधा दे सकता है उस सुविधा से सुख मिल

सकता परन्तु आनन्द नहीं मिल सकता है । आनन्द प्रकृति का स्वभाव है वही मनुष्य का स्वभाव है । जब हम अपने स्वभाव से दूर होंगे तब हमें दुःख होगा इसी लिए पश्चिम भी सम्पन्न होते हुए भी दुखी है । पूर्वी समाज विज्ञानवादी कम अध्यात्मवादी ज्यादा है, अध्यात्म से हम अपने स्वरूप स्वभाव से परिचित होते हैं जिससे हमारे अंदर जोश, उत्साह, आत्मबल, शांति विकसित होती है । जब हम अपने आत्मबल से से परिचित होते हैं, आत्मज्ञान से भर जाते हैं तब हमें जीवन की लीला स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है तब हम दर्शक नहीं दृष्टा हो जाते हैं, ऐसी परिस्थितियों में विज्ञान सहायक होता है न कि मजबूरी ।

मनुष्य का होना ही संसार का होना है, मनुष्य का जगना ही संसार का दिखना है । अध्यात्म हमें क्रूरता नहीं सिखाता बल्कि अध्यात्मिक व्यक्ति स्वभाव से करुणामय हो जाता, उसके अंदर राक्षसी प्रवृत्तियाँ मर जाती हैं, वह स्वभाव से प्रेममय हो जाता है । जैसे पुष्प में सुगंध लोगों को भाती है वैसे ही अध्यात्मिक व्यक्ति के प्रेम, दया, करुणा सुगंधिगत व्यवहार है । व्यक्ति कितना अध्यात्मिक है, धार्मिक है यह उसके व्यवहार से पता चलता है न कि उसके रूप रंग पहनावा से । विज्ञान और अध्यात्म के संयोग से जो जीवन निर्मित होगा वही जीवन आनन्द से भरा होगा इसके वगैरे मानव जीवन कुण्ठित और अधूरा होगा । मानव मूल्य अध्यात्मिक और वैज्ञानिक जीवन से ही निर्मित किये जा सकते हैं पैमानित किये जा सकते हैं, मानव मूल्य बदलते हैं समाज के अनुसार समय के अनुसार जैसे – भारत में धार्मिक मूल्य तेजी से गिरा है क्योंकि यहाँ धर्म के नाम पर व्यापार होने लगा, शोषण होने लगा धर्म आंतरिक चीज है तो उसे बाहरी बना कर धन दौलत का जरिया बना लिया गया ।

समय के अनुसार समाज शिक्षित होता गया । अब डर, भय से लोगों को नहीं बहकाया जा सकता, कर्मकाण्ड, पाखंड से लोगों नहीं लूटा जा सकता, इसका मुख्य कारण शिक्षा है, शिक्षा सिर्फ हमें ज्ञान ही नहीं देती, रोजगार ही नहीं देती बल्कि हमें आध्यात्मिक और धार्मिक भी बनाती है । आध्यात्मिक व्यक्ति निडर और निर्भय होता है इसीलिए गावों की अपेक्षा शहरों में कम अन्धविश्वासी हैं । आज शिक्षित व्यक्ति ही सच्चा सन्यासी है । 90 प्रतिशत साधु संत ढोंगी हैं, तिलक, माला, चोला के वेश में चोर, लुटेरे हैं । लोग प्रतीकों को अध्यात्म का आधार बनाते हैं इसीलिए प्रतीकों के आधार पर व्यक्ति को धार्मिक व्यक्ति मानते हैं इसी कारण बहुत से चोर, लुटेरे, गजेड़ी, शराबी, अनपढ़, आलसी प्रतीकों को अपना कर धार्मिक व्यक्ति बन जाते हैं, ऐसे व्यक्ति धर्म, प्रतीकों के आड़ में अपना धन्धा शुरू कर देते हैं, लोगों को गुमराह करते हैं । आज का उच्च शिक्षित व्यक्ति उन ढोंगी बाबाओं की अपेक्षा सच्चे अर्थों में सही रूप में अधिक वास्तविक सन्यासी हैं, शिक्षित व्यक्ति जीवन की, संसार की सच्ची संरचना से परिचित होता है वही मानव मूल्यों का निर्माण भी करता है पालन भी करता है । शिक्षित व्यक्ति की पहचान डिग्री से नहीं कि जा सकती क्योंकि डिग्री भी तो खरीदी जा सकती है जैसे कि प्रतीक को अपनाकर ढोंगी साधु अपने को सन्यासी घोषित करते हैं इसीलिए लिए सच्चे शिक्षित की पहचान भी उसके कर्म और व्यवहार से की जानी चाहिए ।

अध्यात्म को मानव मूल्य की आत्मा माना जाता है बीज की तरह, जैसे— किसी वृक्ष का स्वरूप उसके बीज में छिपा होता है वह दिखता नहीं है एक निश्चित अन्तराल में दिखता है उसी प्रकार मानव मूल्य भी अध्यात्म में छिपा होता है । विज्ञान तो मानव मूल्य को परिभाषित करता है उसके स्वरूप को दृश्यगत प्रकट करता है इसलिए विज्ञान मानव मूल्य का भौतिक शरीर है । साहित्य मानव मूल्य को मूल्यांकित करता है, मानव मूल्यों को स्थान देता है अतः साहित्य मानव मूल्य का घर है, निवास स्थान है । मनुष्य में जिस प्रकार आत्मा, शरीर और जिस स्थान पर मनुष्य है वह स्थान, उसके जीवन के लिए महत्वपूर्ण है उसी प्रकार मानव मूल्य भी समाज के लिए अध्यात्म मानव मूल्य की आत्मा है, विज्ञान मानव मूल्य का शरीर है, साहित्य मानव मूल्य का निवास स्थान है ।

UnHk %

1. मूल्य जीवन का सत्य : <https://www.jeevankasatya.com>
2. प्रोफेसर संगम लाल पाण्डेय : सामाजिक मूल्य, <https://www.facebook.com/>
3. अपर्णा सारस्वत, स्वान्त्र्योत्तर हिन्दी काव्यधारा की मूल्य चेतना, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ0 21
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोक भारतीय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 x
5. डॉ0 रजनीश भारद्वाज, हिन्दी उपन्यासों में मूल्यबोध, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, पृ0 29



वक्त्रोक्ति व लेखक की दृष्टिकोण से विविधता, दृष्टि विवेक की दृष्टि

मैं मूल रूप से झारखण्ड प्रांत के आदिवासी बहुल जिला गुमला का रहने वाला हूँ। मेरा जन्म व लालन-पालन आदिवासी समुदाय के बीच हुआ है जिससे मुझे उन्हें करीब से देखने एवं जानने का अवसर प्राप्त हुआ। कालांतर में आदिवासी समाज को बारीकी से समझने के क्रम में मैंने हिन्दी के कई लेखकों को पढ़ा। उस दौरान मैंने अनुभव किया कि आदिवासी समाज व संस्कृति के कई ऐसे अनछुए पहलू हैं जिनपर अभी तक रचनाकारों की पैनी साहित्यिक दृष्टि नहीं पहुँची है और यदि पहुँची भी है तो उसे उन्होंने गलत ढंग से प्रस्तुत किया है।

सौभाग्यवश फरवरी, 2016 में जे. एन. यू. में आयोजित दो दिवसीय आदिवासी विषयक संगोष्ठी में झारखण्ड के आदिवासी कथाकार पीटर पॉल एक्का को करीब से सुनने व मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्हें सुनकर मुझे ऐसा लगा कि आदिवासी समाज की जितनी सूक्ष्म व गहरी समझ इनके पास है मेरे जानते शायद किसी अन्य कथाकार के पास नहीं। उन्हीं की प्रेरणा से मैंने आदिवासी जीवन पर केंद्रित उनके उपन्यास 'पलाश के फूल' को पढ़ा, जिसे केंद्र में रखकर मैं अपना आलेख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

'पलाश के फूल' पीटर पॉल एक्का का चौथा उपन्यास है। इसका पुस्तकाकार प्रकाशन 2012 ई. में सत्य भारती, राँची द्वारा किया गया है। इस उपन्यास में आदिवासी समाज की सहजता व सरलता के साथ-साथ उनके शोषण, संघर्ष और विस्थापन को बखूबी दिखाया गया है। उपन्यास की शुरुआत ही उन समवेत स्वरों के साथ होती है जिससे श्रम की अभिव्यक्ति बयाँ होती है – "हई हो हई ! हई हो हई ! ईदा हो !" यह श्रम की लय है, आदिवासियों के जीवन की लय। इसे वही व्यक्त कर सकता है जिसने इस जीवन को जिया है। चूँकि लेखक स्वयं आदिवासी समाज से आते हैं, उन्होंने इस समाज को बेहद करीब से देखा है। शायद इसलिए इस समाज की इतनी गहरी समझ है इन्हें। दरअसल आदिवासियों का संपूर्ण जीवन ही एक लय है। जिस प्रकार लय में उतार-चढ़ाव होता है ठीक उसी प्रकार यह उतार-चढ़ाव आदिवासियों के जीवन में भी है। कभी गीत है तो कभी संघर्ष, कभी वसंत है तो कभी पतझड़। इन सबसे गुँथा हुआ है यह उपन्यास।

उपन्यास की कथावस्तु कुसुमपुर अंचल के उन आदिवासियों की है जो सड़क बनाने के काम में लगे हैं। लेकिन विडंबना यह है कि उन्हें इस श्रम कार्य का उचित मूल्य नहीं मिलता है। बुजुर्ग आदिवासी के शब्दों में – "आधा मजदूरी देता है, पूरे पगार पर ठप्पा लगवाता है। पूरा काम लेता है, ओभर टैम भी करवाता है। अपने लोगों को काम पर लगाता, हमको छोड़ देता है।"² बाहर से आये सरकारी कर्मचारी और अधिकारी भी न केवल उनके श्रम का शोषण करते हैं, बल्कि उन्हें मानसिक प्रताड़ना भी देते हैं और उन्हें अपशब्दों से संबोधित भी करते हैं। उन्हें बेगार की तरह काम करवाते हैं और उसका उचित मूल्य माँगने पर उल्टे उन्हें ही दोषी ठहराते हैं – "इस कलमुहीं लड़की को देखता है काम करना नहीं माँगता और मजदूरी माँगता है। आप कहो साहब कैसे मजदूरी देगा।"³

सड़क बनाने के नाम पर जंगल साफ होने लगे जिससे आदिवासियों के जीवन की आत्मनिर्भरता समाप्त होने लगी और शोषण का एक और साधन विकसित हुआ जिसका उल्लेख उपन्यास में मिलता है – "तब पाँच कोस दूर उस ओर का जंगल ठेके में उठ गया था। शहर से फॉरेस्ट गार्ड अपने आदमियों को लेकर आया था। जल्द ही उसका छोटा सा घर बन गया था। काम चलाऊ सड़क बना दी गयी थी।

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

महीने भर बाद पेड़ काटना शुरू हो गया था। आदिवासी दतवन, पत्तियाँ तक जंगल से लेने से मना कर दिए गए थे। फॉरेस्ट गार्ड का राज चल निकला था। दो तीन ट्रकें लकड़ी ढोने का काम करती। देर रात गये आदिवासियों के साथ फॉरेस्ट गार्ड जलसा मनाता। लोग खाते-पीते, आराम फरमाते थे। ताश की बाजियाँ बिछी रहती। तब तक गाँव की अल्हड़, मासूम, मांसल देह वाली श्यामवर्णा किशोरियाँ पैसों के बल पर चुन-छाँटकर रात में रोक ली जाती थी। जीतू ने अपनी बहन रतिया के साथ वह सलूक देखा तो एक दिन तीर-धनुष उठा ले आया था।¹⁴

इस शोषण के साथ ही लेखक ने आदिवासियों के सांस्कृतिक जीवन की झाँकी भी उपन्यास में प्रस्तुत की है। आदिवासी जब अपनी दुनिया में होते हैं तो वे उल्लास से भरे होते हैं। इनके बारे में कहा जाता है, 'आदिवासियों का बोलना ही गीत है और चलना ही नृत्य'। 'दिनभर की सख्त मेहनत के बाद उनकी बस्तियों से नाचने, हँसने-गाने की कैसी आह्लादकारी, मदमाती आवाज गूँजती है। जब तब थोड़ा हड़िया के दोने बँटते, वक्त-बेवक्त थोड़ा बहुत देशी भी चलता। लोग देर रात गये नाचते गाते रहते। एक-दूसरे की कमर में हाथ डाले लोग थिरकते रहेंगे; पहाड़ी बालाएँ किसी तिलस्मी लय में झूमती रहेंगी। मांदर, ढोल डिमडिमाते रहते।'¹⁵

आदिवासी समाज में हड़िया का विशेष महत्त्व है। अक्सर लोग हड़िया को आदिवासी समाज के पतन का एक मूल कारण मानते हैं। गौरतलब है कि यह आदिवासियों के धार्मिक और सांस्कृतिक अनुष्ठान के लिए सबसे पवित्र चीज है। इसके बिना आदिवासियों का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है। आदिवासी इसे सिंगबोंगा का प्रसाद मानते हैं। परंतु आज आदिवासी इसका अत्यधिक सेवन कर रहे हैं। इसपर चिंता व्यक्त करते हुए लेखक लिखते हैं – "यहाँ तो आदिवासियों के बीच बच्चा जन्म लेते ही दूध के बजाय हड़िया का नाम लेता है। हड़िया पर्व-त्योहारों में कभी-कभार दो-एक दोने पीते क्या बुराई है ? पर बोतल के बोतल दारु सुड़कने लगे या घड़े के घड़े हड़िया घट में उतरने लगे तो अंजाम क्या होगा। एक तो गरीबी, अशिक्षा ऊपर से साहूजी का शिकंजा, लाला की दारु का अलग जलवा। सब तो खून चूसने वाले ही हैं।'¹⁶

विकास परियोजनाओं की वजह से विस्थापन का दंश सबसे अधिक आदिवासियों को ही झेलना पड़ा है। आजादी के पहले से ही आदिवासी जमीनों की लूट सरकारों द्वारा की जाती रही है। आजादी के बाद और खासकर वैश्वीकरण की अर्थनीति को अंगीकार किए जाने के बाद विस्थापन की प्रक्रिया और ज्यादा तेज हुई है। मुख्यधारा का समाज जिसे विकास का आधारभूत ढाँचा (बाँध, सड़क, खदान, उद्योग, कारखाने) समझता है वास्तव में वह आदिवासियों के जीवन का प्राणहर है। ज्यों-ज्यों नदियाँ सूखती जा रही हैं, पहाड़ टूटते जा रहे हैं, जंगल समाप्त होते जा रहे हैं, आदिवासियों का अस्तित्व संकट में पड़ता जा रहा है। आदिवासियों के विस्थापन की समस्या और विकास योजनाओं के इस सच को उपन्यास में बखूबी उद्घाटित किया गया है। जिन विकास योजनाओं के कारण आदिवासियों को विस्थापित किया जाता है, उसका सच क्या है ? इसे इंजीनियर आनंद बाबू बतलाते हुए कहते हैं – "यह भी नियति का कैसा मजाक है जिनके लिए इतनी मेहनत से सड़कें, पुल बनवाता रहा, उसपर चलने वाले लोग ही गाँव-घर छोड़कर बहुत दूर अनदेखी दिशाओं में चले जा रहे हैं। इन आदिवासियों के भाग्य में क्या यही लिखा है। जो बाँध बनते हैं, नहरें खोदी जाती हैं, जो सड़कें बनती हैं, खानें खुलती हैं वह सब उनके लिए नहीं होता औरों के लिए होता है। उनके लिए तो हमेशा वही मजूरी है, बेगारी है, जंगल के जानवरों की सुबकती निरीह, बेरौनक-सी जिन्दगी है।'¹⁷ यह बात आनंद बाबू इसलिए कहते हैं क्योंकि जिस 'कुसुमपुर' अंचल में वे सड़क बनवाने आये थे, उसी अंचल के लोग सड़क बन जाने के बाद, रोजगार खत्म हो जाने के कारण, गरीबी से बेबस होकर रोजगार की तलाश में बाहर चले जाते हैं।

उपन्यास में आनंद बाबू (सड़क बनाने वाले इंजीनियर) एक गैर आदिवासी पात्र के रूप में उपस्थित हुए हैं। आदिवासियों के बारे में मुख्यधारा के समाज की जो आम अवधारणा है वही अवधारणा इनकी भी थी। परंतु जब वे 'कुसुमपुर' पहुँचकर आदिवासियों के दैनिक जीवन में प्रवेश करते हैं तो उनके सामने एक नई दुनिया खुलती है – "आदिवासियों की अलग रंगीन दुनिया है। उनका अंदरूनी जीवन

अपने में कितनी खूबसूरती लपेटे था, खुला उन्मुक्त सौंदर्य जब परत-दर-परत खुलने लगा था तो मन दिल अन्दर तक खोता चला गया था। आदिवासियों की काली बदसूरत अँधेरी दुनिया भी है पर यह नियति उनकी अपनी नहीं है औरों ने बना दी है।¹⁸

आनंद बाबू व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं। आदिवासियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यंत ही मानवीय है। वे आदिवासी मजदूरों को न केवल उचित मजदूरी देते हैं बल्कि उनके श्रम का सम्मान भी करते हैं। तभी तो आदिवासी समाज के बीच वे अत्यधिक लोकप्रिय हो जाते हैं। आनंद बाबू से पहले जो भी अधिकारी 'कुसुमपुर' में आए थे, उन्होंने आदिवासियों का सिर्फ और सिर्फ शोषण ही किया। इसी शोषण को बयॉ करते हुए सलोमी कहती है – “क्या करें आनंद बाबू, हम आदिवासियों का इतना ही भाग्य है। जमींदार, सेठ, साहूकार, शहरी बाबू सभी तो तंग करते हैं हमें। जीने कौन देता है ? आज हम यहाँ हैं, कल कहीं और होंगे। जंगल के जंगल पहाड़-घाटियाँ जाने कहाँ-कहाँ भटकना होता है। सब तो भटकते ही जा रहे हैं। यहाँ से हजारों मील दूर चाय के बगानों, ईट-भट्टों का स्वप्न कौन देखता है। वहाँ भी दबाये जाएँगे, निचोड़े जाएँगे तब शायद दो जून की रोटी जुट जायेगी। यही हमारा धर्म हो गया है, भाग्य बन गया है।”¹⁹

आनंद बाबू सलोमी की पीड़ा को बखूबी समझते हैं तभी तो इसके मूल कारण को बतलाते हुए कहते हैं – “अकेले हो भी तो क्या सकता है। सरकारी योजनायें तो ज्यादातर कागजों में ही सिमट कर रह जाती हैं। दिखावे के खर्च होते रहेंगे, आदिवासियों का भाग्य वहीं का वहीं रह जाएगा। बेहिसाब खदान, कोलियरी खुलेगी। नदियों में पुल बनेंगे, बाँध बनेंगे। बिजली तैयार होगी, नहरें खुलेंगी। वर्षों की मेहनत से बनी बनाई जमीन डूब जाएगी। मुआवजे के नाम दिखावे की रकम मिलेगी। घर-बार छोड़ना होगा। घर के आदमी विस्थापित कर दिए जायेंगे। दूर के इलाके से आये लोगों का राज हो जाएगा। स्थानीय आदिवासी चाय-बगानों, ईट-भट्टों की राह लेंगे।”²⁰

जब सड़क बनाने का काम पूरा हो जाता है तो गाँव वाले घर-बार छोड़कर रोजी-रोटी की तलाश में बाहर निकल जाते हैं। आनंद बाबू भी वापस जाने लगते हैं तो समूचे गाँव में एक मायूसी छा जाती है, पलाश के फूल भी मुरझाने लगते हैं। बाद में जब आनंद बाबू उसी गाँव की एक आदिवासी युवती पारो से विवाह कर वापस गाँव में आते हैं तो पलाश के फूल खिल उठते हैं।

इस प्रकार पीटर पॉल एक्का ने अपने इस उपन्यास में न केवल आदिवासी जीवन के यथार्थ की मार्मिक झाँकी ही प्रस्तुत की है बल्कि आदिवासी जीवन के सभी पहलुओं पर गंभीरता से चिंतन किया है। इस उपन्यास के संदर्भ में अनुज लुगुन लिखते हैं – “पलाश के फूल, झारखण्ड के आदिवासियों के जीवन पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक आदिवासी त्रासदी के लिए केवल बाहरी कारकों की ही पड़ताल नहीं करते बल्कि आदिवासी समाज के अंतर्विरोधों की भी छान-बीन करते हैं। आदिवासी समाज की गति, लय, परम्परा, रीति, रिवाज, त्योहार, श्रम, संघर्ष, शोषण सबका स्वच्छ चित्रण करते हैं।”²¹

I UnHk §

1. पीटर पॉल एक्का, पलाश के फूल, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, पृ. 1
2. उपरिवत्, पृ. 3
3. उपरिवत्, पृ. 3
4. उपरिवत्, पृ. 37
5. उपरिवत्, पृ. 71
6. उपरिवत्, पृ. 71
7. उपरिवत्, पृ. 59
8. उपरिवत्, पृ. 57
9. उपरिवत्, पृ. 58
10. उपरिवत्, पृ. 58
11. कुमार वीरेन्द्र, आदिवासी विमर्श और हिन्दी साहित्य, पैसिफिक पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 165



jkenj'k feJ d dFkk l kfgR; e; thou eY;k dh miyfc/k ,o lhek,

Jherh lhek flg*

यह अध्ययन विविध परिवर्तन को संकेत करता है। प्रस्तुत शोध पत्र अन्वेषणात्मक शोध प्रणाली पर आधारित है। इस शोध पत्र में विविध पक्षों को स्पर्श किया गया है।

विश्व के लिखित साहित्य का तीन चौथाई से अधिक भाग मानव मूल्य केन्द्रित है, और अधिकांश कथाओं के ताने-बाने मानव मूल्यों के इर्द-गिर्द ही चुने जाते रहे हैं। अतः हम देखते हैं कि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र और उसका साहित्य व्यक्ति के मूल्यों की महत्ता को आदिकाल से ही स्वीकार करता आया है। साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में मानव मूल्यों का चित्रण किसी न किसी रूप में मिलता है, किन्तु आनुपातिक दृष्टि से कथा साहित्य में व्यक्त मूल्यों की असीम सम्भावनायें निहित हैं। कथात्मकता को गति देने के लिए मानव मूल्यों के विरोधी व्यक्तियों को घटनाओं के घात प्रतिघात से आगे बढ़ाने में जितनी सुविधा कथा साहित्य में रहती है, उतनी साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं रहती। हिन्दी कथा साहित्य में व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसके मूल्यों को कथानक का केन्द्र बनाकर उसके विविध रूपों का उद्घाटन समय-समय पर किया जाता रहा है, किन्तु समकालीन कथा साहित्य में मानव मूल्य को अधिक बेलौस ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश हुई है। नारी जागरण स्त्री शिक्षा स्वातन्त्र्य कामना आर्थिक आत्मनिर्भरता पुराने मूल्यों का विघटन एवं नये मूल्यों की स्थापना के कारण व्यक्ति के मनोविज्ञान के कई नये आयाम हमारे सामने उभर रहे हैं।

मानव मूल्यों के विकास के साथ-साथ समय-समय पर मूल्यों के विघटन एवं नये मूल्यों की स्थापना से बीच-बीच में पात्रों के चरित्र में द्वन्द्व एवं टकराहट का भाव मिलता रहा है, किन्तु रामदरश मिश्र ने पूर्वाचल के परम्परागत मूल्यों में जीवन मूल्यों की वैज्ञानिक तलाश करके नये मूल्यों पर गहरी चोट की है।

साहित्य को जिस मात्रा में मानव मूल्यों ने प्रभावित किया है उस मात्रा में शायद ही कोई विद्वान चिन्तक मनीषी ने किया है। हिन्दी कथा साहित्य में रामदरश मिश्र ने इस भाव को बेबाक ढंग से व्यक्त किया है। वैसे तो व्यक्ति के मूल्यों का प्रथमतः आभास हमें प्रेमचन्द्र के कथा साहित्य में मिलता है, परन्तु समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में मानव मूल्यों का चरम विकास हुआ है।

मानव मूल्यों की स्थापना एवं विकास यात्रा को उदार दृष्टिकोण से परखने का प्रयत्न प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है। हिन्दी कथा साहित्य में मानव मूल्यों के मनोवैज्ञानिक अंकन में मनोविज्ञान के विविध आयाम आपस में जुड़ते चले गये हैं। यदि एक आयाम मानव मूल्य के चेतन पक्ष को उजागर करता है, तो दूसरा इसके अहम और उसके मूल वृत्तियों के रहस्यमय पदों को उठाता है। इसी तरह तीसरा आयाम व्यक्ति के विविध रूपों को उजागर करता है, तो दूसरे अन्य आयाम में आधुनिकता बोध स्वयं को समायोजित करने में व्यक्ति के एकाकीपन संत्रास अजनवीपन मृत्युबोध की मनोभूमि के विविध आयामों से जुड़ी है। मानव मूल्यों में मनोविज्ञान के विविध आयाम या धागे आपस में मिल बाँटकर एक हो जाते हैं हम धागों की एकता को ही विश्लेषित करने का प्रयास किया है।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, मड़ियाहू पी0जी0 कॉलेज, मड़ियाहू, जौनपुर, उत्तर प्रदेश

मिश्र जी की साहित्यिक प्रतिभा बहुआयामी है उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, और आलोचना, निबन्ध, जैसी प्रमुख विधाओं को लिखा है, साथ-साथ संस्मरण, आत्मकथा यात्रावृत्तान्त इत्यादि गद्य विधा की रचना करने के साथ-साथ उन्होंने काव्य में भी अपनी अनूठी पहचान बनाई जिसमें उनकी कई रचनाएं पुरस्कृत भी हुई। 'आम के पत्ते' नामक काव्य संग्रह पर साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला। इस प्रकार रामदरश मिश्र बहुआयामी प्रतिभा के धनी हैं ये एक ऐसे लेखक एवं कवि हैं जिन्होंने गद्य-पद्य दोनों ही विधाओं में हिन्दी साहित्य जगत को बहुमूल्य कृतियाँ दी हैं तथा साथ ही साथ ये शहर एवं गाँव की जिन्दगी के विशिष्ट और सघन यथार्थ की गहरी पहचान की है चाहे वे उपन्यास हो या कविता कहानी उन्होंने सम्पूर्ण काव्य एवं कथा साहित्य में यथार्थ की बात की है। जो आज हमारे सामाजिक परिवेश में व्याप्त है।

अपने उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में भी कथाकार ने अनेक स्थानों पर न्याय की प्रतिष्ठा की है। राम कुमार एक स्वार्थी व्यक्ति है जो सिर्फ अपना उल्लू सीधा करने में ही विश्वास रखता है। वैसे तो वह खुद का कामरेड कहलवाता है लेकिन स्वार्थवश ऊँचे रसूख वाले महीप सिंह से दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहता। वह सरपंच सतीश पर व्यंग्य करता हुआ कहता है – "आपको राजनीति जिंदगी भर नहीं आयेगी। सरपंच जी का सेहरा बाँध बैठे हैं जो लड़िए महीपसिंह से और भोगिये। इस पर सतीश एकाएक गुस्से में आ गया— "कामरेड अपनी जनखा राजनीति लिए चाटते रहो, मैं तो जीवन को देखता हूँ। सरपंची का मजाक उड़ा रहे हो, इसी के लिए तो मर रहे थे और न्याय के लिए महीप तो क्या ईश्वर से लड़ जाऊँगा।" इसी उपन्यास में खेतिहर मजदूर जगपतिया जबरन जमीन हड़पने के कारण जमींदार महीपसिंह पर मुकदमा दायर कर देता है।" महीपसिंह का मुंशी छैली बिहारी पड़े अंदाज में पंचायत में हाजिर हुआ और बोलते-बोलते चीखने लगा और जगपतिया को धमकी भरे- उपेक्षा भरे अपशब्द कहने लगा। सतीश जो कि सरपंच है उसका पारा गरम होता जा रहा था वह चीखकर बोला— छैलबिहारी जी, अपनी बकवास बंद कीजिए। आप अदालत का अपमान कर रहे हैं। आप में इतनी तमीज होनी चाहिए कि बाबू महीपसिंह के दरबार और अदालत में भेद कर सकें। अगर आपका चीखना जारी रहा तो आपको अदालत से निकलवा दूँगा।² यहाँ सतीश न्याय के पक्ष में खड़ा होकर पंचायत के अस्तित्व को स्थापित करता है।

न्याय के बाद दूसरे स्थान पर प्रेम, एकता और भाईचारा सम्बन्धी लेखक की कथादृष्टि परिलक्षित होती है। उनके प्रारम्भिक उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में स्थान-स्थान पर प्रेम, भाईचारा एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास दृष्टिगत होता है। उपन्यास में गाँव की उच्च जातियों व निम्न जातियों में झगड़ा हो जाता है और आपस में मारपीट होने लगती है। गाँव के हरिजन नेता गनपति सबको शान्ति रखने के लिए कहते हैं, "गान्धी जी का आडर है कि सुराज लेने के लिए हमें एक होना पड़ेगा। हमें आपस-आपस में भेद नहीं रखना चाहिए। पट्टीदारी, जाति-पाँति और मजहब को भूलकर एक हो जाओ। सभी लोग भारतमाता की ही सन्तान हैं। लड़ाई-झगड़ा बन्द करो। अहिंसा करो। अहिंसा करो।"³ जब इस झगड़े में गाँव का एक व्यक्ति रामधारी मारा जाता है तो गनपति कहते हैं, "रामधारी को बैजू ने नहीं, अँगरेजी सरकार ने मारा है। अँगरेजी सरकार ने ही भाई-भाई के बीच फूट डाल रखी है, यह जमींदार-आसानी का फर्क बना रखा है। अगर अँगरेजी सरकार हट जाये, कांग्रेसी सरकार हो जाये तो भाई-भाई आपस में लड़ें ही नहीं।"⁴ इससे आभास मिलता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन से जनता को कितनी आशाएँ भी जो दुर्भाग्य से आजादी के बाद पूरी न हो सकीं।

'पानी के प्राचीर' के अलावा मिश्र जी के अन्य उपन्यासों— 'अपने लोग', 'सूखता हुआ तालाब', 'आकाश की छत' आदि में भी प्रेम, एकता, भाई-चारा, संगठन-चेतना, सद्भाव और पारिवारिक समरसता की झलक मिलती है। न्याय, एकता और समता की पंक्ति में आता एक और मूल्य है— स्वतंत्रता। 'पानी के प्राचीर' में नेता गनपति पांडे और हरिजन नेता फेंकू तिरंगा उठाकर गाँधी जी और जवाहर लाल जी का जयनाद करते हुए जुलूस निकालते हैं। नेताजी झण्डा लेकर हरजिनों को समझाते हैं, "भाईयों, तुम भी करान्ती करो। सुराज अब मिल ही जायेगा। तब फिर क्या पूछना-तुम्हारे पास भी खेत होंगे, मकान होंगे, तुम्हारे भी लड़के इसकूल में पढ़ने जायेंगे। हाँ, गान्धीजी कहते हैं— सुराज मिलने पर कोई भूख-नंगा

न रहेगा।⁵ काश, आजादी के बाद ऐसा हो पता। वे सपने चकनाचूर हो गए।

मिश्रा जी ने अपनी कहानियों में बन्धुत्व, प्रेम, भाईचारा जैसे उच्च मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। कहानी 'रहमत मियाँ' के माध्यम से मानव मात्र से प्रेम करने का संदेश दिया गया है। रहमत मियाँ मुसलमान होते हुए भी एक असहाय हिन्दू लड़के का पालन-पोषण करते हैं। वे उसका नाम भी हिन्दू ही रखते हैं और कहते हैं, "भीतर बार-बार कोई कहता रहा कि यह हिन्दू सन्तान है रहमत। इसका नाम हिन्दू ही रखो। मन होगा तो अली लगाएगा। मन होगा तो निकाल देगा। तुम तो इसे पालने-पोसने का जिम्मा लो, उसे प्यार दो, उससे प्यार पाओ।"⁶ रहमत मियाँ मानव मात्र से प्रेम करते हैं। मानवता की रक्षा के लिए वे अपने प्राण भी न्यौछावर कर देते हैं। साम्प्रदायिक दंगा भड़कने पर वे अपनी दुकान में काम करने वाले नौकरों की जान बचाने के लिए स्वयं दंगाईयों के समाने सीना तानकर खड़े हो जाते हैं और उन्हें ललकार कहते हैं, "देखो मैं तुम्हारा सामने खड़ा हूँ। मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान। मैं इंसान हूँ और मेरी दुकान में भी न हिन्दू है न मुसलमान। सब मेरे भाई हैं। बेगुनाहों का खून बहाने निकले हो, कुछ तो शर्म करो।"⁷ दूसरी ओर 'चक्र' में भी उस शिक्षित मुसलमान परिवार का दर्द उकेरा गया है जो साम्प्रदायिक दंगों के कारण अपना घर-द्वार छोड़कर अन्यत्र विस्थापित होने के लिए विवश हो जाता है।

'पानी' में भी मानव धर्म को सर्वोपरि माना गया है। उच्च जाति के परमेश्वर बाबू धूप और गर्मी से बेहाल होकर बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। वहाँ से गुजर रहे मंगल हरिजन और उसका पुत्र रामहरख मानवता के नाते उन्हें पानी पिलाते हैं और उनकी जान बचाते हैं। परमेश्वर के पिता रामदेव इस उपकार के बदले उन्हें निरस्कृत ही करते हैं क्योंकि एक अछूत द्वारा एक ब्राह्मण को पानी पिलाकर उन्होंने उनका धर्म भ्रष्ट कर दिया है। इस पर रामेश्वर अपने पिता को डाँटता हुआ कहता है, "आप चाहते हैं कि मैं भले ही मर गया होता लेकिन आपका खोखला धर्म दम्भ सुरक्षित रहता। ठीक है तो मैं अछूत हो गया, इन्हीं के साथ रहूँगा। रामहरख मेरा भाई है।"⁸ नयी पीढ़ी में आ रहे बदलाव का यह संकेत है। कहानी के माध्यम से कथाकार ने सामाजिक विषमता तथा ऊँची जातियों की श्रेष्ठता के दम्भ को चित्रित किया है। संक्षेप में कथाकार ने न्यायपरक समाज की स्थापना के पक्ष में अपने विचारों का प्रस्तुत किया है।

I UnHk %

1. जल टूटता हुआ, पृ0 415
2. वही, पृ0 415
3. पानी के प्राचीन, पृ0 116
4. वही, पृ0 118
5. पानी के प्राचीर, पृ0 158
6. रहमत मियाँ, पृ0 5
7. वही, पृ010
8. पानी, पृ0 398



fuely oek dh vKLfkk vkj vkReck/k

l o'k ik.M;*

निर्मल वर्मा की आस्था किसी प्रभुता में प्रार्थनारत या किसी बादशाह की बंदिगी में लीन अकाट्य एक व्यक्ति-लेखक की आस्था नहीं है जिसके पीछे विश्वास करने का एक ही कारण होता है, अर्से से चली आ रही मान्यता। इससे अलग निर्मल वर्मा की आस्था है। जिसमें मान्यता नहीं अपितु संशय की जगह है। इसी संशय संपृक्त आस्था के जरिये किसी के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि "आस्था विश्वास करने की इच्छा है, किसी चीज में विश्वास करने की इच्छा करना कि उस चीज का अस्तित्व है और यह इच्छा मान्यता से नहीं, सन्देह से निकलती है।"¹ अपने इस विचार को और पुख्ता करने के लिए वे मिसाल देते हैं दोस्तोयेव्स्की का। वे बताते हैं कि दोस्तोयेव्स्की ने ईश्वर में स्वयं अपनी आस्था पुष्ट करने की कोशिश में, ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करने वाले पात्र किरिलोव की रचना की थी। यह ऐसा है जैसे किरिलोव के अनुभव के जरिये दोस्तोयेव्स्की अपनी संदेह में डूबी आस्था के उस पार जाकर ईश्वर में विश्वास करना चाह रहे थे। संदेह में डूबी आस्था को निर्मल वर्मा लेखक का प्रमुख औजार मानते हैं क्योंकि इसी संदेह में डूबी आस्था या विश्वास के घात-प्रतिघात में एक लेखक अपने अनुभव के अर्थ को मापने में समर्थ बनता है साथ ही जिंदगी के अन्तर्विरोधों और ठोस सचाइयों को अपनी कृति के माध्यम से व्यक्त करता हुआ 'सम्पूर्णता' की तलाश में लग जाता है। एक तरह से यह आस्था, 'धार्मिक विश्वास की अकाट्यता' से हटकर आस्था है जो तरल है, द्वैधपूर्ण है। एक का दूसरे में आना-जाना है। इसीलिए हर आस्था पर संशय की छाया पड़ती है और हर संशय किसी आस्था की तलाश में रहता है। इतना 'स्पेस' रहता है कि संशय और आस्था बराबर एक दूसरे को काटते रहे और फिर भी एक-दूसरे के साथ रह सकें। निर्मल वर्मा ने दोस्तोयेव्स्की के किरदार किरिलोव का उदाहरण दिया जो संशय और आस्था के घात-प्रतिघात में, द्वन्द्व में, तनाव में ईश्वर की सम्पूर्णता का साक्षात्कार करता है। ऐसा ही घात-प्रतिघात, परमद्वैधता, तनाव हम निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में पाते हैं। जहाँ राम की आस्था पर संशय की छाया पड़ती है और इसी संशय की छाया से होते हुए वह आस्था की तलाश में पूर्णता पर पहुँचकर 'पुरुषोत्तम नवीन' बन जाते हैं। निर्मल वर्मा के लिए 'सम्पूर्णता' की तलाश ज्यादा महत्वपूर्ण है इसीलिए वे कहते हैं कि "महत्वपूर्ण यह नहीं है कि हमारी कलादृष्टि को जाग्रत करने वाला संसार का वह खास अंश कैसा दीखता है। महत्वपूर्ण है सम्पूर्ण को देखना।"²

निर्मल वर्मा मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए 'आत्मबोध' आवश्यक मानते हैं लेकिन उनका यह आत्मबोध पश्चिमी सभ्यता के आधार पर नहीं अपितु अपनी परंपरा के आधार पर है। वैसा ही आत्मबोध जैसा महात्मा बुद्ध का 'अप्प दीपो भव' या महात्मा गाँधी का 'आत्म-साक्षात्कार'। जहाँ 'स्व' का बोध 'अन्य' को दबाकर, उससे स्वयं को अलगाकर या उसके बरक्स अनुभव करने में नहीं अपितु 'अन्य' के साथ संलग्न होने में, उससे पहचान बनाने में, उससे संवाद कायम करने में होता है। जहाँ स्वयं अपने से यह प्रश्न किया जाता है कि 'मैं कौन हूँ' और इसी के सहारे दूसरे को जानने की चेष्टा की जाती है। भारतीय और पाश्चात्य आत्मबोध के अंतर को बताते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं—"हेगल का कहना था कि एक यूरोपवासी की अस्मिता उसकी आत्मचेतना में वास करती है और यह आत्मचेतना हमेशा दूसरों के विरुद्ध होकर ही अपने को प्रतिष्ठित कर सकती है। किन्तु जिस आत्मचेतना के द्वारा एक भारतीय दुनिया से अपना रिश्ता जोड़ता है उसकी अभिव्यक्ति कभी ऐसे अहम् में नहीं होती जो दूसरे व्यक्तियों के अहम्

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

के विरुद्ध संघर्ष करने में ही अपना अर्थ पाता हो। इसके बिल्कुल विपरीत भारतीय चेतना दूसरों के विरुद्ध नहीं, दूसरों के साथ ऐसे अनुष्ठानों, मिथकों, प्रतीकों और विश्वासों के माध्यम से जुड़ी है जिसे वह समाज के अन्य लोगों के साथ एक स्मृति के द्वारा साझा करता है। समाज के लोगों की यह सामान्य स्मृति ही व्यक्ति के आत्मन् और (सेल्फ) की सीमाओं को बढ़ा देती है। इसलिए एक यूरोपियन का अहम् एक भारतीय के सेल्फ से बहुत अलग है, उसमें दूसरे के प्रति विरोध नहीं बल्कि दूसरे ही उसके अस्तित्व उसके 'मैं' में शामिल हैं।³ आगे वह यह भी बताते हैं चूँकि मनुष्य सृष्टि में जीने-बसने वाले 'अन्य' प्राणियों से अपनी तर्कबुद्धि, विवेकबुद्धि और स्वचेतना के कारण अधिक श्रेष्ठ है, स्वाधीन है इसलिए इस सृष्टि के केन्द्र में है। अतः अन्य को कुचलकर 'स्व' की सत्ता स्थापित की जा सकती है ये यूरोपीय सभ्यता की बुनियादी प्रवृत्ति रही है। इसके विपरीत भारतीय सभ्यता की मान्यता रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी जब मनुष्य के 'जय यात्रा' की बात करते हैं तो वह यूरोपीय मनुष्य के उस अहंयात्रा से एकदम भिन्न है जो प्रकृति के विरुद्ध अन्तहीन अभियान चलाने वाले, मनुष्य को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानने वाले, दूसरे व्यक्तियों, समुदायों की अस्मिता के विरुद्ध संघर्ष में ही अपनी अस्मिता का अर्थ तलाश करने वाले हैं। इसीलिए तो कहते हैं 'मनुष्य इस विराट ब्रह्माण्ड रूपी शतदल का एक मामूली दल है। कौन कह सकता है कि विकसित मानवता महाकाल-देवता की किसी विराट योजना का एक नगण्य अंग है।'⁴

निर्मल वर्मा की आस्था और आत्मबोध के जरिये सम्पूर्णता तक पहुँचने की प्रक्रिया को गाँधी जी से जुड़े एक प्रसंग द्वारा समझा जा सकता है। एक बार एक औरत अपने बच्चे को लेकर गाँधी जी के पास आती है और कहती है— बापू, ये मेरा बेटा बहुत ज्यादा गुड़ खाता है। मेरे मना करने पर भी नहीं मानता। आप मना करेंगे तो मान जायेगा। थोड़ी देर बाद गाँधी जी बोलते हैं कि ठीक है, एक महीने बाद आना। एक महीने बाद फिर वह औरत अपने बेटे को लेकर गाँधीजी के पास जाती है। गाँधी जी उस बच्चे को अपनी गोद में बिठाते हैं फिर दुलार करके कहते हैं कि बेटा, ज्यादा गुड़ खाना बुरी आदत है इसे छोड़ दो। छोड़ दोगे न.....। लड़का उत्तर देता है—हाँ। फिर औरत अपने लड़के को लेकर चली जाती है। कुछ दिन बीतने के बाद फिर आती है और कृतज्ञता के भाव से कहती है कि बापू मेरे लड़के ने गुड़ खाना सचमुच छोड़ दिया। लेकिन एक बात समझ में नहीं आयी। बस इतनी सी ही बात कहने के लिए आप ने एक महीने का समय लगाया। तब बापू कहते हैं कि जब तुम अपने लड़के के साथ पहले पहल मेरे पास आयी थी उस समय मैं खुद गुड़ खाता था। और मैं जब खुद खाता था तो फिर मना कैसे कर सकता था। मैंने जब तुम्हें एक महीने बाद आने को कहा तब यह प्रण ले चुका था कि इस एक महीने में मैं गुड़ खाना छोड़ दूँगा।

गाँधी जी से जुड़ी यह एक छोटी सी घटना है, लेकिन गाँधी जी के विराट व्यक्तित्व को समझने में मदद मिलती है जिससे वे दूसरे से संलग्न होकर ही 'पूर्णता' को प्राप्त हो सके। क्या वे उन एक महीने में आत्ममंथन की पीड़ित अंतःप्रक्रियाओं से अपने आप को नहीं गुजारा होगा जहाँ एक बच्चे की मासूमियत, निश्छलता पर बिना आँच आये उसे एक बुरी आदत या फिर पाप से दूर किया जाय? क्या अपने ऊपर व्यक्त की गयी आस्था को लेकर उनके अंदर संशय के बीज नहीं उमड़े होंगे? क्या संशय और आस्था के इस घात-प्रतिघात में गाँधी जी निर्मम आत्मालोचक नहीं बने होंगे जहाँ कि आत्मबल या सत्याग्रह प्राप्त कर सकें और 'पूर्णता' की ओर अग्रसर हो सकें। क्या 'पूर्णता' की अग्रसर होने के क्रम में उनका साक्षात्कार हमारी परम्परा के उन अदृश्य 'आंतरिक लय' से नहीं हुआ होगा जो हमारे जीवन के बहाव को, उसकी धारा को, उसकी गति को प्रभावित करते हैं? साही ने गाँधी जी के इस पूर्णता की ओर संकेत करते हुए कहा है—“गाँधी जी हिन्दुस्तान के इसीलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों और आदर्श के प्रवक्ता थे। उनका जोड़ इतिहास के साथ कहीं और गहरा था, वे हिन्दुस्तान की जिंदगी की 'रिदम' की अभिव्यक्ति थे—इतनी पूर्णता के साथ, जो उस युग में किसी और को प्राप्त नहीं थी; और आगे भी किसी को हो सकेगी, यह कहना कठिन है।”⁵

निर्मल वर्मा की मुख्य चिंता यह है कि 'संलग्नता के सर्वव्यापी बोध' जो हमारी परंपरा की खूबी थी, औपनिवेशिक शासन के कारण उसमें दरार आ गयी। वे कहते हैं “मुझे लगता है कि जैसे मेरी चेतना

के बीचों-बीच एक फाँक खिंच गई है, एक तरफ आधुनिक अनुभव हैं, जो मेरे वास्तविक यथार्थ को प्रतिध्वनित करता है—दूसरी तरफ अखण्डित सम्पूर्णता का अनुभव है, जिसमें मेरी संस्कृति का स्वप्न छिपा है—और बीच में कोई ऐसा धागा नहीं है जो मेरे वस्तु-अनुभव को मेरे स्वप्न-अनुभव से जोड़ सके— हालाँकि दोनों ही मेरी समकालीन चेतना के सच्चे और प्रमाणित पहलू हैं।⁶ यह उद्धरण आधुनिक भारतीय चिंत के द्विभाजक को तो व्यक्त करता है साथ ही अपनी परंपरा की व्याख्या करते हुए उसके वर्तमान द्वन्द्व को भी परिभाषित करता है। निर्मल वर्मा के लिए परंपरा कोई अतीत की वस्तु नहीं है, यह सदैव एक जीवंत धड़कन की तरह हमारे भीतर रहती है, इसलिए वह निरन्तर वर्तमान है, वह अपनी 'तात्कालिकता में शाश्वत है।' उनके लिए परंपरा कोई एक अवधारणा नहीं अपितु अनुभूति है— 'संलग्नता के सर्वव्यापी बोध' की अनुभूति। कुछ इसी तरह के विचार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व्यक्त करते हुए कहते हैं "मुनष्य ने एकतत्त्व की अनुभूति की ओर दृढ़ता से कदम उठाया है, लेकिन यह अनुभूति अद्वैत की अनुभूति की कोटि की नहीं है। आज केवल आवश्यकता की चोट खाकर मनुष्य ने बच निकलने के लिए एक रास्ता भर खोज निकाला है। विचारशील लोग अब भी चिन्तित हैं कि इस मोड़ के अंतिम किनारे पर पहुँचने के बाद क्या होगा। व्यवहारवादी लोग कहते हैं अभी का अभी देख लेते हैं, बाद का बाद में देखेंगे। परन्तु यह उत्तर बहुत अच्छा नहीं है। अंतिम विश्लेषण के बाद यह आत्म-वंचना की कोटि में ही आता है।"⁷

आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार आत्म-वंचना अर्थात् आत्मबोध के अभाव में अद्वैतकोटि की अनुभूति असंभव है। यह 'अद्वैत अनुभूति की कोटि की अनुभूति' वही है जिसे निर्मल वर्मा ने 'संलग्नता का सर्वव्यापी बोध' कहा है।

निर्मल वर्मा अपने चिंतन में 'स्मृति' को प्रमुख तत्त्व के रूप में लाते हैं। वस्तुतः वे स्मृति के जरिये ऐतिहासिक समय की एकरेखीय गति को तोड़ते हुए, लगभग उसका प्रत्याख्यान करते हुए अपने आत्म बोध तक पहुँचते हैं। उनके लिए यह स्मृति कोई रोमानी स्मृति नहीं है बल्कि वह है 'जिसकी सामूहिकता के घेरे में हर कलाकार दूसरे से जुड़ा है।' इसलिए निर्मल वर्मा कहते हैं कि "लेखक चाहे अपने अनुभव में अकेला हो, अपनी स्मृति में नहीं, जो अनुभव को 'बुलाती' है, उसे रचना में बदलती है—जिसकी सामूहिकता के घेरे में ही कलाकार दूसरे से जुड़ा है।"⁸

आज के स्मृतिहीनता के इस युग में स्मृति का प्रश्न जरूरी है इसीलिए कवि चन्द्रकांत देवताले भी कहते हैं—

, d fnu {kek ekxuh gkrh g
rEgkj thou dli xti:k ;g nhxj ckr gkxh
;knnk' r ij fuHkj gkxk cgr dIn⁹

निर्मल वर्मा पश्चिम के 'इतिहास' को मानने से इंकार करते हैं— "जिस विशिष्ट अर्थ में हम यूरोपीय सन्दर्भ के इतिहास का उल्लेख करते हैं, जहाँ वह जीवन के विभिन्न मोड़ों को इंगित करता है, उस अर्थ में भारत का कोई इतिहास नहीं है।"¹⁰ महात्मा गाँधी भी इस पश्चिमी इतिहास से इंकार करते हैं "इतिहास जिस अंग्रेजी शब्द का तरजुमा है और जिस शब्द का अर्थ बादशाहों या राजाओं की तवारीख होता है।..... 'हिस्टरी' में दुनिया के कोलाहल की कहानी मिलेगी। इसलिए गोरे लोगों में कहावत है कि जिस राष्ट्र की 'हिस्टरी' (कोलाहल) नहीं है वह राष्ट्र सुखी है। राजा लोग कैसे खेलते थे, कैसे खून करते थे, कैसे बैर रखते थे, यह सब 'हिस्टरी' में मिलता है।"¹¹ गाँधी जी संकेत करते हैं कि उनके यहाँ इतिहास केवल तथ्यों का समूह है, घटनाओं का क्रम—विवरण है जबकि हमारे यहाँ इतिहास के प्रति नज़रीया भिन्न है। जैसा कि अज्ञेय कहते हैं "घटना—क्रम के संदर्भ में मानव की अनवरत आत्म—प्रत्य—भिज्ञा ही इतिहास है।..... इतिहास—ऐसा होता आया है— इतिहास की यह परिकल्पना घटना—क्रम को केवल मानवीय सन्दर्भ नहीं देती, मानव को केन्द्र में रखकर उसके अपने परिवेश के साथ सर्जनात्मक रूप में जोड़ने के उद्यमों का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है।"¹² हमारे यहाँ इतिहास बोध प्रकृति के नैसर्गिक लय से प्राप्त किया गया है। निर्मल वर्मा के यहाँ भी इतिहास बोध की यही लय है और इसी लौ में काल को उस अखण्ड धारा के रूप में देखते हैं जहाँ शाश्वत और सांसारिक समय अन्तर्गुम्फित है। जहाँ इतिहास और मिथक

एक हो जाते हैं। जहाँ इतिहास कभी-कभी प्रकृति में बदल जाता है, उसी तरह प्रकृति भी इतिहास में बदल जाती है। जहाँ गंगा में इतिहास है और इतिहास में गंगा बह रही है इसीलिए निर्मल वर्मा कहते हैं "खँडहरों के बीच घूमते हुए मुझे कभी-कभी लगता है कि वैसा अनुभव आज भी असम्भव नहीं है। हमारे बीच दो चीजें ऐसी हैं जिनके सामने, जिन्हें छूकर हम अपने साधारण क्षणों में भी इतिहास की चिरन्तनता और प्रकृति-जो शाश्वत है-उसकी ऐतिहासिकता दोनों को एक समय में एक साथ अनुभव कर सकते हैं। अजीब बात यह है, ये दोनों चीजें अपने स्वभाव में एक-दूसरे से बिल्कुल उलटी हैं- एक ठोस और स्थायी दूसरा सतत् प्रवाहमान, हमेशा बहनेवाली-पत्थर और पानी। किन्तु दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं- दोनों के सामने हम सहसा अपने से परे चले जाते हैं, एक ऐसे काल-खण्ड में पहुँच जाते हैं, जब हम नहीं थे (खँडहरों के सामने), जहाँ हम खत्म हो जाएँगे (बहते पानी को छूते हुए)। पत्थर और पानी दोनों के सम्मुख यह अनुभव होता है कि हम उनके गवाह नहीं हैं- वे हमारे गवाह हैं। हम उनके अस्तित्व को नहीं देख रहे हैं, वे हमारे बीतने को देख रहे हैं। यह अनुभव हमारे उस आधुनिक बोध को कितना धक्का देता है, जहाँ हम संसार के साक्षी होने का दम्भ भरते हैं, जबकि हम स्वयं इतिहास से त्रस्त हैं! एक त्रस्त गवाह की गवाही कैसी? वह न इतिहास रच सकता है, न इतिहास का अतिक्रमण कर सकता है-जिससे कविता जन्म लेती है।"¹³ जब इतिहास और प्रकृति दोनों अलग-अलग नहीं हैं, दोनों का एक-दूसरे में आना-जाना रहता है तब फिर मृत्यु और जीवन में भेद कैसा! निर्मल वर्मा लिखते हैं- "पुराने स्मारक और खँडहर हमें उस मृत्यु का बोध दिलाते हैं जो हम अपने भीतर लेकर चलते हैं। बहता पानी उस जीवन का बोध कराता है, जो मृत्यु के बावजूद वर्तमान है, गतिशील है, अन्तहीन है।"¹⁴ वस्तुतः निर्मल वर्मा मृत्यु में ही जीवन के अर्थ की तलाश करते हैं। मृत्यु की सहज स्वीकारता ही जीवन को जी भर जीने के लिए प्रेरित करती है और यही जीवन का उत्सव है, उल्लास है। निर्मल वर्मा अपनी डायरी में लिखते हैं- 'हर रोज कोई मेरे भीतर कहता है, तुम मृत हो। यही एक आवाज़ है, जो मुझे विश्वास दिलाती है, कि मैं अब भी जीवित हूँ।"¹⁵ मृत्युबोध की सहज अनुभूति के कारण ही जीवन के प्रति ऐसा उल्लास भाव कवि केदारनाथ सिंह के यहाँ भी मिलता है-

jir ij
 ,d yk'k j[kh Fkh
 ,d id[kjct dh [k'kc
 Qiyh Fkh jir ij-----
 Åij dk, eMjk jg Fk
 vkj uhp&
 dkir g, ty ei
 vejrk dh NikNi gkM eph Fkh-----
 yk'k Vdij&Vdij n[k jgh Fkh
 thou dk
 ,d vnHkr mR lo
 euk;k tk jgk Fkk
 jir ij¹⁶

भाव-चिंतन के इस आलोक में हमारा मिथकीय किरदार भी खुल जाता है, जहाँ शिव की जटा में गंगा का निवास वस्तुतः मृत्यु के देवता की जटा में जीवन की प्रतीक गंगा का निवास है। महाभारत का यक्ष-युधिष्ठिर संवाद जहाँ यक्ष सवाल करता है-संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर जबाब देते हैं- आदमी रोज़ अनेकों को मरते देखता है फिर भी सोचता है कि हम अमर रहेंगे। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। यह अमरता पर आश्चर्य वास्तव में जीवन के उत्सव, उल्लास की ओर संकेत करता है क्योंकि यहाँ मृत्यु को सहज स्वीकारता है। हमारे यहाँ मृत्यु को जीवन का सौन्दर्य माना जाता है। यह दृष्टिकोण पाश्चात्य से एकदम भिन्न है जहाँ मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कोशिश में करोड़ों डालर महज इस

खोज में खर्च किए जाते हैं कि कैसे कोई 'कैप्सूल' बनाया जाए जिसके द्वारा आदमी हमेशा जिन्दा रह सके। उनके यहाँ मृत्यु के प्रति वह स्वाभाविक स्वीकार्यता नहीं मिलती है जो हमारी परंपरा का अभिन्न हिस्सा है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि जीवन में कुछ भी अनिवार्य नहीं है—सिवाय मृत्यु के। ऐसा जीवन जिसमें मृत्यु नहीं है, जीवन की वीभत्स बना देती है।

आज के समकालीन समाज में जहाँ सत्ता एवं व्यावसायिक संस्थाएं अराजकता को जन्म दे रही हैं, जहाँ मनुष्य व्यस्त होते पर भी एक 'क्लिक' पर पूरी दुनिया से साक्षात्कार कर लेता है सिवाय अपने, जहाँ युद्ध भी कुशल प्रबंधन का विषय बनता जा रहा हो, जहाँ झूठ को सच का लिबास पहनाकर चारों-ओर पेश किया जा रहा हो, जहाँ बाजार एवं विज्ञापन के 'महावशीकरण मंत्र' ने मनुष्य को एक पिजड़े में कैद कर लिया है गोया उसे खुद ही नहीं मालूम कि वह कहाँ है, गालिब के शब्दों में—'हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी/कुछ हमारी खबर नहीं आती', और तो और इस पिजड़े से उड़ना एक बीमारी सा लगने लगा है। ऐसे परिदृश्य में निर्मल वर्मा एक दृष्टि देते हैं जो मनुष्य को हर कीमत पर 'स्वतंत्र' देखना चाहती है और यह स्वतंत्रता 'आत्मबोध' के जरिये ही संभव है।

I UnHk §

1. शब्द और स्मृति — निर्मल वर्मा, पृ. 28
2. वही, पृ. 30
3. ढलान से उतरते हुए — निर्मल वर्मा, पृ. 108
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली — 9, पृ. 364
5. छठवाँ दशक — साही, पृ. 271
6. ढलान से उतरते हुए — निर्मल वर्मा, पृ. 112
7. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली — 9, पृ. 265
8. शब्द और स्मृति — निर्मल वर्मा, पृ. 22
9. आग हर चीज में बतायी गयी थी— चंद्रकांत देवताले, पृ. 19
10. शताब्दी के ढलते वर्षों में — निर्मल वर्मा, पृ. 131
11. हिन्द स्वराज — महात्मा गाँधी, पृ. 59
12. केन्द्र और परिधि — अज्ञेय, पृ. 49
13. शब्द और स्मृति — निर्मल वर्मा, पृ. 128
14. वही, पृ. 130
15. धुंध से उठती धुन — निर्मल वर्मा, पृ. 186
16. अकाल में सारस — केदारनाथ सिंह, पृ. 40



nfyr gku dk n'k vkj tBu

; 'kour dekj*

दलित शब्द सुनते ही वे तमाम सारी यातनाएँ मस्तिष्क में हिलोर लेने लगती हैं जिनका कटु अनुभव दलित समाज के लोगों ने भोगा है। दलित समाज हजारों साल के इतिहास में अनेक यातनाओं और तकलीफों से गुजरा है। इन अमानवीय स्थितियों का निर्माण करने में हमारे भारतीय संस्कृत साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है। स्मृतियों, पुराणों, धर्मसूत्रों, महाकाव्यों ने उसे अधम स्थिति में पहुँचाने की भूमि तैयार की है। भारतीय समाज में जो भेदभाव, विषमता, जातीय वैमनस्य, अस्पृश्यता, घृणा, भाव, गैर-बराबरी का व्यवहार व्याप्त है, यह सब हमारी भारतीय सामाजिक-व्यवस्था का परिणाम है।¹ इस भारतीय समाज व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए ओम प्रकाश वाल्मीकी जी ने लिखा है—

“भारतीय समाज व्यवस्था चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त पर टिकी है— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में 12वें मन्त्र में कहा गया है—

^ckã.kk.L; e[kek lhn ckg jktU;§ dr%A
Å# rL; ;n o';§ inH;k 'knk v tk; rAA**2

“ऋग्वेद के इस सूत्र के आधार पर भारतीय समाज चार वर्गों में विभाजित हो गया साथ ही समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व और अधिकार पूर्णतः कायम हो गया। ब्राह्मणों ने खुद को अतिश्रेष्ठ की श्रेणी में स्थान दिया और शूद्रों को निम्न अथवा अंत्यज (अछूत) की श्रेणी में रखा।” जिसका अर्थ है— ब्राह्मण उसके (पुरुष) मुख से, राजन्य उसकी भुजा से, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए हैं।” इस प्रकार चातुर्वर्ण्य स्थापित हो जाने के बाद दो परिवर्तन और हुए। एक शूद्रों से नीचे एक और वर्ण बनाया गया जिसे अस्पृश्य या अंत्यज के नाम से पुकारा गया। दो-शूद्र अन्य तीन वर्णों से अलग हो गया इन परिवर्तनों से कुछ नये शब्द का जन्म हुआ, अवर्ण, सवर्ण। अवर्ण का अर्थ— अस्पृश्य, अछूत, अंत्यज, अतिशूद्र अर्थात् जिसका कोई वर्ण नहीं। “चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में शूद्र को वर्गीकरण में न केवल निम्नतम स्थान पर रखा गया है, ताकि वह निर्धारित नियमों के ऊपर सिर न उठा सके। वास्तविकता में जब तक अस्पृश्यों का पंचम वर्ण अस्तित्व में नहीं आया था, हिन्दुओं की दृष्टि में शूद्र निम्न से निम्नतर थे।”³

शूद्र (दलित) होने से उसे समाज से बहिष्कृत किया गया उसके सारे सामाजिक और व्यक्तिगत अधिकार छीन लिए गये, उसे समाज में पशु से निम्न समझा गया और उससे भी घृणित और निम्न जीवन जीने पर मजबूर किया गया। वास्तव में दलित की पीड़ा या उसका दर्द, जो उसने भोगा है उन्हीं भावनाओं की अभिव्यक्ति करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है। ईश्वर ने सबको समान रूप से एक ही प्रकार की योनि से उत्पन्न किया है पर यह अमानुषिक अन्तर क्यों? क्या जीवन जीने के लिए मनुष्य होना काफी नहीं है? मनुष्य को किसी वर्ण या जाति में जन्म ले लेने से वह सामान्य या विशेष अथवा निम्न की श्रेणी में आ जाता है और उसके साथ दोहरेपन का बर्ताव किया जाता है। जिस समाज में एक मनुष्य के साथ इस तरह का व्यवहार किया जाता है क्या वह त्याज्य देने के योग्य नहीं है। ऐसे समाज में उन मनुष्यों का क्या काम, जो मनुष्य की महत्ता व उसकी गरिमा को ठेस पहुँचाए, उसके निजी जीवन में हस्तक्षेप करे, उसे जाति विशेष शब्द सूचक से आहत करे।

वर्तमान दलित साहित्य, दलित समाज के उन अनगिनत पहलुओं और समस्याओं को हमारे सामने उद्घाटित करती है जिनसे हमारा समाज अब तक अछूता रहा है। हम इनकी सामाजिक जिन्दगी और

मनोवैज्ञानिक स्थिति से बिल्कुल अपरिचित थे। इन्हीं अपरिचित पहलुओं को एक दलित विचारक अपने साहित्य के माध्यम से हमारे सामने एक सजग प्रहरी के रूप में लेकर आता है। वह उन बिन्दुओं को बिल्कुल नग्न रूप में उपस्थित करता है, लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहा है जिससे सवर्णवादी विचारक तिलमिला उठता है और दलित साहित्य पर आरोप-प्रत्यारोप लगता है कि दलित साहित्य आत्ममुग्धता पर जीता है और सिर्फ अपने समाज की उत्कृष्टता पर वकालत करता है। जाति की इन्हीं ऊँच-नीच भावनाओं पर भारतेन्दु जी का एक कथन देखने योग्य है— “जाति में कोई चाहे ऊँचा हो, चाहे नीचा सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो वैसा मानिए, छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।”⁴

इस प्रकार भारतेन्दु जी का यह कथन केवल सहानुभूति स्थापित करता है कोई कड़ा तेवर नहीं अपनाता है। क्योंकि गैर-दलित केवल सहानुभूति की पीठ थपथपा सकता है। दलित लेखकों और विचारकों की तरह सत्य को सामने नहीं ला सकता है। चोट की पीड़ा वही महसूस कर सकता है, जिसने चोट खायी है वह दर्द कोई अन्य महसूस नहीं कर सकता है। वह केवल सहानुभूति ही दिखा सकता है।

ऐसे ही समाज के भुक्तभोगी, शोषण के शिकार, प्रताड़ना के दग्ध अनुभवों को ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने आत्मकथा ‘जूठन’ के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। ‘जूठन’ ओमप्रकाश वाल्मीकी और हिन्दी की सर्वाधिक चर्चित आत्मकथात्मक कृति है, जिसमें उन्होंने भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास में पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जाने वाले तीन प्रतीकों— क्रमशः ‘शिक्षण संस्थान, गुरु एवं प्रेम पर कड़ा प्रहार किया है तथा यह दिखलाने की कोशिश की है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्व निर्माण और सामाजिक निर्माण को प्रक्रिया में इन तीनों प्रतीकों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है— जूठन में वाल्मीकि जी ईश्वर से श्रेष्ठ गुरु की महिमा का चित्र उकेरते हैं।

जो कक्षा में दलित को छात्र न मानकर एक निम्न दर्जे का मानता है और पशुवत व्यवहार करता है— “चूहड़े के, तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे है..... ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूंगा..... उसने मेरी पीठ पर सटाक—सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया। वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है। भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामंती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर ही नहीं, मेरे मस्तिष्क के रेशे-रेशे पर अंकित है।”⁵ इस तरह वाल्मीकी जी ने नरकीय जीवन अपने विद्यालयी दिनों में गुरु के सानिध्य में भोगा है। जहाँ एक बालक के मन में उठी जिज्ञासा का समाधान उसकी छड़ी से पिटाई कर उसकी पीठ पर महाकाव्य लिखने से होता है। जूठन में ओमप्रकाश वाल्मीकि समझौते की स्थिति में होने के बावजूद समझौता नहीं करते बल्कि इससे आगे बढ़कर वह अपनी तथा अपने समाज की अस्मिता बनाये रखने के लिए बार-बार उन मिथकों एवं प्रतीकों से टकराते हुए उन पर आक्रमण करने की कोशिश करते हैं जो हमारे समाज में मान्य और महत्वपूर्ण हैं।

जाति आधारित शोषण और भेदभाव पिछले 3000वर्षों से जातिवाद पर टिका हुआ है। लेकिन हमारे विद्वान साहित्यकार ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ सूत्र वाक्य का हमेशा गलत अर्थों में इस्तेमाल करते हैं। जब सम्पूर्ण पृथ्वी एक घर के समान है, सभी मनुष्य एक ही प्रकार से धरती पर जन्म लेते हैं तो फिर क्यों उन्हें जातिगत शब्दों से सूचित किया जाता है। मनुष्य, मनुष्य न रहकर एक वर्ण व्यवस्था अथवा जातिगत व्यवस्था का धिनौना आवरण क्यों ओढ़ लेता है और दूसरे या निम्न वर्ग के लोगों को अछूत और तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। सदियों से दलितों का हक खाकर उसे प्रताड़ित और अपमानित कर उनके अवसरों को छीनकर वर्ण-व्यवस्था ने इन्हें आगे बढ़ने से रोका ओर गुलाम बनाए रखा।

दलितों की स्थिति इतनी भयावह न होती अगर इन्हें भी समान अवसर, समान अधिकार व सम्मान प्राप्त होता। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने ‘जूठन’ में ऐसी ही मानसिकता से घिरे हुए गुरु के दुर्व्यवहार की स्थितियों को दर्शाया है— “तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सूनायी पड़ी ‘अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहा घुस गया। अपनी माँ.... हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींच कर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। खींचकर बोले, जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू..... नही तो गोंड में मिर्ची डाल के स्कूल के बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।”⁶

यह एक गुरु का अपने (दलित) शिष्य से किया गया अमानवीय और घृणित व्यवहार है जो दलित समाज से आने वाले छात्रों के लिए अत्यन्त घातक है। इस व्यवहार से हम शिक्षण संस्थाओं और उनमें नियुक्त आचार्यों की गुणवत्ता का अनुमान लगा सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण के माध्यम से लेखक ने 'जूठन' में दलित समाज की इस चुप्पी को तोड़ने का प्रयास किया है। इस तरीके के प्रसंग जूठन में भरे पड़े हैं जो वाल्मीकि जी के जीवनानुभवों में शामिल हैं पर कहीं भी वाल्मीकि जी इन सभी व्यवहारों से हताश नहीं हुए बल्कि उनका सामना किया।

इस तरह युगों-युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्यिक और संस्कृति से वंचित मानस जब स्वयं को साहित्य से जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। 'जूठन' उसी पीड़ा की अभिव्यक्ति है जो सदियों से दबा आक्रोश शब्द की आन बनकर उनकी आत्मकथा में उभरता है। इसी प्रकार का आक्रोश हमें डॉ०सी०बी० भारती की कविता में दिखायी पड़ता है जो उनके अन्तर्मन की वेदना तड़प कर कहती है—

^gekjh Hkxhnhkj d: fy,
;kX; rk dh 'kr!
dc rd Qdkx: re
viuk edMtky ge ij\
?kcjkvk ugh
le; vk jgk g
tc ge Hkh cnix: re! nkMu: dh 'kr!
thrx: ckth] rkMx: rEgjk niA
luk! ifjoriu dh lxcxkgV
gok dk : [k
igpkuk! igpkuk! igpkuk!!!⁷

पूरी कविता अपने उस वेदना को अभिव्यक्त करती है जिसमें उसे (दलित) अन्य जातियों की अपेक्षा समान अवसर नहीं मिला जिससे उनके सामाजिक, आर्थिक व मानसिक चेतना का विकास हो सके। हर जगह वह उपेक्षित हुआ, नकार दिया गया, भागीदारी के लिए अयोग्य घोषित किया गया। इस प्रकार दलित शिक्षा से वंचित होकर मात्र दासता का जीवन जीता रहा। कुछ इसी तरह की वेदना हमें 'जूठन' में दिखायी देती है। जहाँ शिक्षा और शिक्षण व्यवस्था में जातिगत रुढ़ियाँ हस्तक्षेप करती हैं और उसे समाज से, शिक्षा से बहिष्कृत करने का प्रयास करती हैं।

I UnHk: %

1. सफाई देवता, ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्णन प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ० 17
2. वहीं, पृ० 8-17
3. वहीं, पृ० 18
4. मुख्य धारा और दलित साहित्य, ओम प्रकाश वाल्मीकि, सामाजिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2014, पृ० 48
5. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्णन प्रकाशन, प्रा०लि०, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1999, पृ० 34
6. आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श— देवेन्द्र चैबे, ओरिएंट ब्लैक स्वॉन, हैदराबाद, आन्ध्रप्रदेश, पृ० 79
7. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्णन प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ० 83, संस्करण-2014



gchc ruohj % ukVddkj ;k funi'kd

I /kk'k 'kek*

नाटक के सृजन से ही नाटककार का जन्म हुआ। नाटककार नाटक का आकार गढ़ता है, उसे रूप देता है। निर्देशक वैसे भी अभी हाल में स्थापित हुआ या यूँ कहें कि केन्द्र में आया। इस लिहाज से नाटककार का रूप बड़ा जान पड़ता है बनिस्बत निर्देशक। यह चर्चा रंगजगत में बड़े जोर-शोर से चलता है कि कौन बड़ा? लेकिन अगर नाटककार ही निर्देशक हो तब यह चर्चा नहीं होती लेकिन कभी-कभी इस परिप्रेक्ष्य में कोई एक रूप दब सा जाता है।

दरअसल हबीब तनवीर ने नाटक भी लिखे और निर्देशित भी किया। इस क्रम में लोगों ने उनके निर्देशक रूप को अधिक महत्व दिया नाटककार को कम। आधुनिक पश्चिमी रंगमंच ने निर्देशक की महत्ता अत्यधिक बढ़ा दिया। जो काम पारसी थियेटर और लोक रंगमंच में प्रमुख अभिनेता या नाटक का लेखक ही किया करता था वह सारे काम अब निर्देशक करने लगा। वह नाट्य प्रदर्शनों के विभिन्न काम अब निर्देशक करने लगा। वह नाट्य प्रदर्शनों के विभिन्न तत्वों को एक करता है। बिखरे सूत्रों को समेटता है और दर्शकों के हिसाब से माहौल भी तैयार करता है। वकौल नेमिचन्द्र जैन—

“निर्देशक ही रंग शिल्प के अन्य तत्वों को भी अभिनेताओं की मुखसज्जा, वेशभूषा, दृश्यबंध, प्रकाश योजना और ध्वनि तथा संगीत योजना को अपनी पूर्व कल्पित और नाटक के स्वीकृत अर्थ निर्णय से जुड़ी हुई समन्विति में बाँधता है और इस प्रकार का एक समग्र समन्वित प्रभाव दर्शकों तक संप्रेषित करता है।”¹

इस प्रकार देखा जाए तो निर्देशक नाटककार, अभिनेता दृश्यांकनकार, वेशभूषाकार, प्रकाश संयोजक और संगीत तथा ध्वनि— संयोजक का संगठन कर उन्हें एक दिशा में समायोजित कर सर्वथा एक नई सृष्टि की रचना करता है। यही कारण है कि निर्देशक की महत्ता अधिक स्थापित होती है।

नाटक किसी की मौलिक कृति होती है, उसे अपना बनाकर उसमें ऐसे बदलाव करना जो नाटक में थी नहीं साथ ही जो अप्रासंगिक हो गैर न्यायोचित प्रतीत होता है। ऐसी ही एक घटना हुई थी जब मोहन राकेश की रचना ‘आषाढ़ का एक दिन’ इलाहाबाद में खेला गया था। जिसमें अम्बिका की भूमिका हटाकर उसकी जगह बाबा की भूमिका रख दी गई थी। जिसकी सूचना भी मोहन राकेश को दो माह बाद दी गई थी।²

ऐसी घटनाएँ रंग जगत को तो प्रभावित करती ही हैं, इस रंग संसार के कलात्मक संबंध को भी प्रभावित करती हैं। निर्देशक का हस्तक्षेप उतना ही ठीक प्रतीत होता है जहाँ तक नाटक की मौलिकता पर आघात न पहुँचे। क्योंकि इस परिस्थिति में नाटककार से टकराव की स्थिति उत्पन्न होने की भूमिका तय हो जाती है।

नाटक अपनी प्रकृति से ही एक जटिल साहित्यिक कृति होता है। जिसका संबंध प्रदर्शन के विभिन्न पक्षों से जुड़ा होता है। इसे दर्शकों के लिए आसान निर्देशक करता है। वही इसकी व्याख्या करता है, उसे स्थापित करता है। नाटककार नाटक को एक बार लिख कर छोड़ देता है। लेकिन उसे जनमानस में जीवन्त रखने का काम निर्देशक ही करता है। यही सब कारण है कि हबीब तनवीर निर्देशक के रूप में अधिक स्थापित हुए।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची, झारखण्ड

इस बात से आज भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि नाटक मूलतः काव्य का ही एक प्रकार है जिसमें सार्थक और महत्वपूर्ण अनुभूति की सूक्ष्म संवेदनशील और गहन अनुभूति की आवश्यकता होती है। निरी रोचक अथवा सनसनीपूर्ण, स्थूल और तथाकथित 'नाटकीय' घटनाओं के समाचारपत्रीय रिपोर्टाज जैसे चित्रण की जगह नहीं होती। नाटक को प्रायः हम जीवन के ऐसे दैनन्दिन, लगभग महत्वहीन, कार्य-व्यापार तथा घटनाओं से सम्बन्धित मानते हैं जिनमें बाह्य क्रिया की बहुलता हो। नाटक को हम कविता से यथासम्भव दूर रखना उचित समझते हैं, क्योंकि शायद हमारे लिए वह निरा मनोरंजन का साधन मात्र है, कोई कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं।⁹

दरअसल इन सब कारणों से हम भूल जाते हैं कि नाटक एक ऐसा साधन है जो तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति प्रदान करता है। इस विधा में संवेदनाओं, भावों और विचारों का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। यह प्रभाव सीधा दर्शकों तक पहुँचता है। उल्लेखनीय है कि नाटक और दर्शक में सीधा संबंध होने के कारण इसका प्रभाव भी अधिक होता है। चूँकि इसके माध्यम भी अनेक होते हैं जिसके कारण भावों का साधारणीकरण की प्रक्रिया सरलीकृत हो जाती है।

यह भी देखना आवश्यक है कि नाटक की सार्थकता स्पष्ट हो और उसे भी वैसी ही प्रतिक्रिया मिले जैसी अन्य विधाओं को मिलती है यही कारण है कि नाटक जब लिखा जाता है तब इसका वास्तविक स्थिति प्राप्त नहीं होती उसके लिए जरूरी है कि रंगमंच तक पहुँचे तभी जाकर वह मुक्कम्मल हो पाती है। यह सारी बातें आवश्यक हो जाती हैं जब नाटककार स्वयं निर्देशक हो। हबीब स्वयं स्वीकार करते हैं कि कमजोर नाटक को कोई भी निर्देशक सफलता के शिखर तक नहीं पहुँचा सकता।⁴

हबीब तनवीर विदेश से प्रशिक्षण प्राप्त कर आए थे। वहाँ संपूर्ण प्रशिक्षण उन्होंने अंग्रेजी भाषा में लिया। अंग्रेजी के प्रति आकर्षण उस समय कोई नयी बात नहीं थी। लेकिन हबीब ने चुना छत्तीसगढ़ी भाषा को, उन्होंने कलाकार भी लिए छत्तीसगढ़ी। अपनी भाषा के प्रति ऐसा लगाव, ऐसी संवेदना कहीं और देखने को नहीं मिलता। हबीब लगाव, ऐसी संवेदना कहीं और देखने को नहीं मिलता। हबीब तनवीर ने तत्कालीन सभी आग्रहों को दूर कर दिया। प्रशिक्षण की नयी परंपरा विकसित की जिसमें अभिनेता को उसी की भाषा में प्रशिक्षित किया जाता था। यही वह बात थी जिसने हबीब तनवीर को लोकरंगमंच का सबसे बड़ा प्रहरी बनाया। उनमें भाषा को लेकर किसी भी प्रकार की कोई कुंठा नहीं थी।

छत्तीसगढ़ी लोकसंस्कृति को लेकर उनमें बड़ा ही सहज और अपनत्व का भाव देखा जा सकता है। महावीर प्रसाद अग्रवाल को दिए जवाब में हबीब ने लोक को लेकर अपनी अवधारणा बखूबी बया की।

“छत्तीसगढ़ के गाँव-गाँव में लोक संस्कृति का खजाना है। नया थियेटर के ये कलाकार उसके गवाए हैं। छत्तीसगढ़ी बोली की ताकत वही समझ सकता है जो इसके भीतरी अर्थों को भी अच्छी तरह समझे। ग्रामीण कलाकारों के साथ जुड़कर हम लोक परम्पराओं को आगे बढ़ा सकते हैं। मगर परम्परा की निरन्तरता तालाब की तरह नहीं, नदी की तरह होनी चाहिए।”⁵

दरअसल भाषा के प्रति ऐसा आग्रह उनको लोक से जुड़ता है हबीब तनवीर लोक और शास्त्र के बीच खड़े थे। उन्होंने नाटक की भाषा और रंगभाषा का ध्यान बखूबी रखा। अभिनेता को पहली बार नाट्य पाठ ही मिलता है। जिससे उसका आत्मीय संबंध होना आवश्यक है। यह आत्मीय संबंध ही उसके उच्चरित भाषा का सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का निर्धारण करती है। “लिखित शब्दों में, संवादों में और इस प्रकार अलग-अलग पात्रों की भाषा में, परिस्थितियों के टकराव की भाषा में जो अन्तर आता जाता है— अभिनेता को उसकी अनोखी पहचान नाट्य पाठ से होने लगती है।”⁶

रंगभाषा को लेकर हबीब जैसा निर्देशक मिलना दूर हो जाता है। संप्रेषण सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवयव है किसी नाटक का। नाटक की भाषा कोई समझे या न समझे संप्रेषण सबसे महत्वपूर्ण मसला है। रंगभाषा ही है जो अभिनेता दर्शक और निर्देशक को एक कड़ी में जोड़ता है। जिससे बहुत सारे सर्जक तत्त्व संश्लिष्ट होकर एक आकर्षण और खिंचाव पैदा करती है जिससे संप्रेषण हो पाता है और नाटक सफल होता है।

“इस संप्रेषण के लिए निर्देशक कभी अभिनेता के ‘शरीर की भाषा’ का, उसकी मूर्त-अमूर्त क्रियाओं और अभिव्यंजनाओं का प्रयोग करता है कभी बिंब, प्रतीक, रंगोपरणक अपनी भूमिका निभाते हैं और रचनात्मक योगदान देते हैं। प्रयोग की मौलिकता से वे ‘पदार्थ’, ‘वस्तु’, उद्देश्य भर नहीं जाते ‘सृजन’ हो जाते हैं, अर्थवान हो जाते हैं। रंगकला के विभिन्न तत्व हैं— दृश्यबंध, वेश-भूषा, रूप-सज्जा, प्रकाश, ध्वनी-प्रभाव।”⁷

ये तो कुछ ऐसे उपाय हैं जो मूर्त रूप में देखे जाते हैं इसके कुछ अमूर्त रूप भी देखने को मिलता है जिसमें लय, गति, रंग-संगीत आदि मिलकर नाटक को सार्थकता प्रदान करते हैं। आगरा बाज़ार की प्रस्तुति जिस मैदान में होती थी वहाँ से बकरी चराने वाले निकलते थे। एक बार सभी चरवाहों को बकरियों के साथ आगरा बाज़ार में शामिल कर लिया था।⁸ हबीब के नाटकों की यही निर्देशकीय कौशल उन्हें वक्त से आगे ले जाता है। ‘जन रंजन सज्जन प्रिय एहा’ हबीब के रचनाकर्म का आधार है। उनके नाटकों में लोक नाट्य परंपरा के तत्वों का सार्थक और संतुलित प्रयोग देखा जा सकता है। इसी समन्वय से हबीब रंगमंच का नया मुहावरा गढ़ते हैं।

सृजन क्षमता बहुत हद तक परिवेश बोध से निर्धारित होता है। सृजनात्मकता और नवीनता का समन्वय आपकी क्षमता से नियंत्रित हो सकता है, किन्तु सृजन होकर जो सामने आती है वह कोई क्षण का परिणाम नहीं होता। हबीब तनवीर ने भले ही आगरा बाज़ार से पहले कोई सैद्धांतिक अध्ययन नहीं किया था लेकिन यह रचना उस क्षण का परिणाम नहीं है। बल्कि इसके पीछे उनके जीवन के विभिन्न अनुभव रहे हैं। यहाँ अनुभव वह भी है जब वह बाल्यावस्था में नाटक में भाग लेते थे, जीवन के अनुभव वह थी जो उन्होंने साक्षात् देखा था। नाना प्रकार के अनुभवों के साथ भाषा और संवेदना का ऐसा समन्वय बहुत कम ही देखने को मिलता है।

यह महज़ संयोग नहीं कि भारतेन्दु भी ‘अंधेर-नगरी’ को रात में ही रचते हैं। “कहने को ‘अंधेर-नगरी’ उनका एक रात में लिखा गया प्रहसन है, लेकिन यह नाट्य-सृजन भारतेन्दु की कलम से भले ही कुछ घंटों में रचा गया हो, उसके पीछे जो राजनीतिक और सांस्कृतिक अनुभवों का जखीरा देखने को मिलता है वह इस तथ्य को सिद्ध करता है कि अनुभवपरक उनकी दृष्टि कितनी साफ थी। उन्होंने अपने समय-सच को कबीर के साक्षी भाव से देखा, सहा और भोगा था। जिसकी वजह से एक साधारण-सा दिखने वाला एक लोकवार्ता पर आधारित नाट्य-रूपक ‘अंधेर नगरी’ लोक चिंतन का आधारभूत मूल्य बनकर ढेर सारे सामाजिक-सांस्कृतिक सवालों का प्रवक्ता बन गया।”⁹

‘चना’ और ‘चूरन’ की अभिव्यक्ति ‘ककड़ीवाले’ तथा ‘खीरावाले’ के जेहन में आदमी ही है। उसी चेतना से भारतेन्दु ‘अंधेर नगरी’ रचते हैं और हबीब तनवीर ‘आगरा-बाज़ार’। हबीब तनवीर ने संपूर्ण बाज़ार को ही नाटक में बसा दिया। यह बाज़ार नज़ीर के नज्मों से चलता है। इस बाज़ार में मीर, ग़ालिब की बात होती है। इस बाज़ार में कोई नायक नहीं है, यह बाज़ार स्वयं नायक है।

नाटक लिखना आसान काम नहीं होता। उसके लिए अध्ययन की आवश्यकता होती है। अध्ययन और चिंतन से दृष्टिकोण निर्धारित होता है। भाषा की गहरी समझ होनी चाहिए। संवाद लिखने में कुशलता के नाटक की सफलता को निर्धारित करने में बड़ी भूमिका रखती है। अगर छोटा हो तो कलाकारों का काम आसान हो जाता है। यह दर्शकों के लिए भी रुचिकर होता है।

हबीब स्वयं कहते हैं— “अनुभव के बिना जीवन का संस्पर्श और ताप नाटक में नजर नहीं आता। चुनांचे नाटक लिखने वाले को लगातार नाटक देखने की कोशिश करनी चाहिए। नाटक देखने, नाटक पढ़ने और नाटक समझने का अनुभव, नाटक लिखते समय नाटक में नई बात पैदा कर सकती है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मुझे संतुष्टि उन्हीं नाटकों से मिली जो जनजीवन के काफी नजदीक हैं। मैंने उन्हीं नाटकों में अभिनय किया, जिनका निर्देशन भी मैंने किया।”¹⁰

यहाँ हम पाते हैं कि स्वयं हबीब तनवीर ने नाटककार के काम को अधिक महत्व दिया है। यह काम उन्होंने स्वयं किया है। ‘आगरा बाज़ार’ और ‘चरणदास चोर’ ने सफलता के झंडे गाड़ दिए। प्रसिद्धि

को अगर किसी नाटक की सफलता का पैमाना बनाया जाए तो इनके आगे बड़े-बड़े नाटक नहीं टिकते। इन सबके बावजूद हिन्दी जगत और तथाकथित सभ्रात आलोचकों ने हबीब तनवीर के नाटककार रूप को दरकिनार कर दिया। इस परिप्रेक्ष्य में यह भी उल्लेखनीय है कि देवेन्द्र राज अंकुर जैसे आलोचकों ने तो 'आगरा बाजार' को नाटक की श्रेणी से ही बाहर कर दिया।

साहित्य कोई बनी-बनाई फार्मूले से रची जाने वाली विधाओं को नहीं सम्भालता प्रत्युत यह तो समाज की संवेदनाओं को पनाह देता है। वह हाशिए में पड़े लोगों की बात करता है, वह उन भावों की तलाश करता है जो किसी कारणवश दब गया है।

हबीब तनवीर जैसे रचनाकार वैसे प्रतिबद्ध रचनाकार हैं जिनका संबंध लोकजीवन से है। वह लोकजीवन जिसे समाज का बड़ा वर्ग भूलते, दरकिनार करते जा रहा है। वे उन मूल्यों की बात करते हैं जिसे आज त्याज्य समझा जा रहा है। इन सब कारणों से हबीब तनवीर सदा प्रासंगिक बने रहेंगे। उनके नाटक जिसने रंगमंच को जनमंच में बदल दिया आने वाले समय में नए लेखकों को निर्देशित करते रहेंगे।

I UnHk %

1. रंग प्रसंग, अंक 42, 2014, पृष्ठ 69
2. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, (सं.) डॉ. नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ 23
3. नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन, पृष्ठ 35
4. हबीब तनवीर का रंग संसार, महावीर प्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ 194
5. हबीब तनवीर का रंग संसार, महावीर प्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ 115
6. रंगभाषा, गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ 137
7. रंगभाषा, गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ 141
8. हबीब तनवीर का रंग संसार, महावीर अग्रवाल, पृष्ठ 146
9. हिन्दी नाटक : नई परख : (सं.) रमेश गौतम, पृष्ठ 74
10. हबीब तनवीर का रंग संसार महावीर प्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ 100



लखनऊ में युद्ध के एक दिन की तस्वीरें

b.'kk oek*

समकालीन साहित्यकारों में नरेन्द्र मोहन कवि, नाटककार, आलोचक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। कवि के तौर पर स्थापित होने के उपरान्त वे नाटक की ओर उन्मुख हुए। बावजूद इसके काव्य सर्जन भी समानान्तर गति से करते रहे। उनके काव्य से नाट्य विधा में आने का कारण उनकी वह सर्जनात्मक प्रवृत्ति है जिसने उन्हें कविता के अलावा अन्य विधाओं, विन्यासों, रूपों, माध्यमों को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

रचनाकाल की दृष्टि से लखनऊ उनका पहला जबकि प्रकाशन की दृष्टि से दूसरा नाटक है। आरम्भ में यह नाटक एक नुक्कड़ नाटक के रूप में लिखा गया है जो 'संचेतना' पत्रिका में 'ऐन वक्त पर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। उसी रूप में यह चंडीगढ़ और रोहतक में विभिन्न नाट्य मंडलियों द्वारा खेला भी गया। नुक्कड़ नाटक की फॉर्मूलाबद्ध और निष्कर्ष की प्रवृत्ति के कारण उसके सिमटते हुए कथ्य को देखते हुए नरेन्द्र मोहन इसे रंगमंचीय फॉर्म देने की तैयारी शुरू की। अतः कुछ परिवर्तनों के साथ यह रंगमंचीय नाटक के रूप में 'सींगधारी' नाम से 'दृश्यांतर' पत्रिका में प्रकाशित किया गया। इस नाटक के मूल में पंजाब का आतंकवाद है जिसमें व्यापक पैमाने पर पूरे देश की तत्कालीन स्थितियों के संकेत हैं। 1988 में जब यह नाटक लिखा गया उस समय पंजाब में आतंकवाद का वर्चस्व था। पूरा देश इस आतंक से अछूता न रहा। देश भर में व्यापार की स्थिति, मार-काट, कत्लेआम, लूट, सड़कों पर कर्फ्यू जैसी घटनाओं को नाटक में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

वर्तमान समय की राजनीति पर कुठाराघात करने के लिए इस नाटक में लोककथा को आधार रूप में लिया गया है। लोककथा में चतुरंगिनी सेना वाले एक शक्तिशाली राजा की कथा है। उसके पास एक निजी नाई है, जो उसके सब भेद जानता है। एक दिन राजा के बाल काटते समय उस नाई को राजा के सिर सींग दिखाई देते हैं। वह घबरा जाता है और डर के मारे कांपने लगता है। राजा द्वारा उसे धमकाने पर वह चुप रहने का वचन तो दे देता है परन्तु यह बात वह ज्यादा दिन तक हज़म नहीं कर पाता। डर के कारण ये बात वह किसी को बता भी नहीं सकता था, इसलिए दौड़ते-भागते वह एक पेड़ से लिपट कर रोते हुए कहने लगता है — 'राजा के सिर सींग, राजा के सिर सींग'। पेड़ की पत्तियों से यह बात वहाँ से गुज़रते हुए बांसुरीवादक की बांसुरी पकड़ लेती है और यही धुन बजने लगती है। उसके द्वारा यह बात गांव, गली-कूचों तक होते हुए राजा के महल तक पहुँच जाती है। राजा क्रोध में नाई और बांसुरीवादक को फाँसी का हुक्म दे देता है। नाई और बांसुरीवादक का दोष यह था कि उन्होंने 'राजा के सिर सींग' अर्थात् आतंक, अत्याचार और इसी प्रकार की आततायी शक्तियों की पहचान कर ली थी। तत्कालीन राजा के सिर सींग वर्तमान नेता के सिर पर भी है और आज भी यदि कोई 'नेता के सिर सींग' के सत्य को पहचान जाए तो उसका भी वही अंजाम होगा जो नाई और बांसुरीवादक का हुआ है।

सींगधारी प्रतीक रूप में नाटक में उपस्थित है। 'सींगधारी यानी आतंक, अत्याचार, क्रूरता और हिंसक पशुता का प्रतीक मनुष्य।' वर्तमान समय में नेता सींगधारी है। वह वोटों और गोलियों की राजनीति करता है। वोटों के लिए वह किसी भी हद तक जा सकता है। अपने स्वार्थ के लिए किसी को डराना, धमकाना, अपने अनुसार चलाना और विद्रोहियों को इच्छानुसार दण्ड देना इसके बाएँ हाथ का खेल है। वह लाशों को वोटों में बदलता है। इसके लिए 'एक हज़ार वोटें-बराबर हैं-दस लाशें-दस'।² आम जनता

इनकी कठपुतली मात्र बन कर रह गई है। नेता स्वयं ही आतंक फैलाते हैं, स्वयं गोलियां चलवाते हैं और फिर मुखौटा पहनकर सहानुभूति के लिए स्वयं ही शान्ति मार्च भी करवाते हैं। शान्ति मार्च के समय मची भगदड़ से नेताओं के मुखौटे के पीछे का चेहरा साफ दिखता है। यहाँ भी उसकी स्वार्थी मानसिकता हावी हो जाती है। नाटक में यह स्पष्ट है :-

“विमल – शान्ति मार्च और भगदड़ मच गयी ?

शिव – मची नहीं, मचाई गयी ?”³

नेता द्वारा पत्रकार शिव को खरीदने की कोशिश भी एक अलग राजनीति है। “कोई तकलीफ हो तो बताओ। मैं किसलिए हूँ ?”⁴ ये शब्द इस ओर संकेत करते हैं कि नेता अपने स्वार्थ के लिए मीडिया तक को कब्जे में करने के इच्छुक हैं और यदि शिव जैसा कोई पत्रकार सबूत इकट्ठे करके सच को सामने लाने का साहस करता है तो ये धमकियाँ देने से भी बाज़ नहीं आते। नाटक में नेता द्वारा विमल को दी गई चेतावनी इस ओर संकेत करती है – “अपने पत्रकार दोस्त को समझाओ। लगता है, खबती है, कहीं फंस-फंसा जाएगा।”⁵ स्पष्ट है कि उनका पर्दाफाश करने वाले व्यक्ति को वे रास्ते के पत्थर की तरह ठोकर मारकर फेंक देते हैं या ज़मीन में दफन कर देते हैं।

इतिहास अपने आप को दोहराता है। पहले राजा निरीह जनता को डराकर रखता था और अब उसका स्थान नेता ने ले लिया है। वह अपने हर बुरे काम को बिना किसी डर के अंजाम देता है और विदेशी ताकतों का हाथ बताता है परन्तु पत्रकार शिव के शब्दों में “इस हाथ को मैंने भिवंडी में देखा था, असम में देखा था और अब पंजाब में....।”⁶

इस प्रकार सींगधारियों का चरित्र केवल ढोंगी ही नहीं, आतंकी भी है और जो व्यक्ति इनके दोगले चरित्र को पहचान जाता है उसकी जान पर बन आती है। नाटक में शिव पर कभी गोली चलती है तो कभी उसे झूठे केस में फंसाने की धमकी मिलती है ताकि वह नेता के सिर सींग वाली बात किसी को भी न बताए। नेता उससे अपना साथ देने को कहता है अन्यथा “मैं यह साबित कर दूँगा कि तुम देशद्रोही हो, गद्दार हो, विदेशी ताकतों के एजेंट हो।” जो भी नेता का साथ देता है, उसे नेता लाभ पहुँचाता है। जमींदार, साहूकार, जज, कोतवाल, पटवारी, हवलदार आदि सब सींगधारी के सहायक हैं जो उसके सींगों को पैना करने में उसकी मदद करते हैं। आम जनता इनके सींगों से जकड़ी हुई है, जिसने उसे लहलुहान कर रखा है।

“सींगधारी में भ्रष्ट राजनीति अपना अधिकार बनाए रखने के लिए क्रूरता की सीमा लांघ गयी है। कथनी के रूप में जिन नैतिक मूल्यों और आदर्शों की बात की जाती है उसका पालन न वैयक्तिक स्तर पर कोई करता है और न सामाजिक स्तर पर।”⁸ भ्रष्ट नेता समाजवादी दिखने के लिए महात्मा गाँधी और उनके आदर्शों पर चलने का ढोंग करते हैं परन्तु उनकी सच्चाई ज़्यादा देर तक छिप नहीं पाती। जिस प्रकार राजतंत्र में क्रूर राजा के भेद को बांसुरीवादक जनता के समक्ष लाता है उसी तरह लोकतंत्र में भी सत्य और अहिंसा के मूल मंत्र को अपनाने का ढोंग करने वाले इन नेताओं की सींगधारी छवि का पर्दाफाश सच की पैरवी और पहचान करने वाला करता है। नाटक में लोगों की मौत, लूट-खसोट, बच्चे की चीख, लड़की के ज़ख्मी होने और शीशों के टूटने के पीछे इन्हीं का हाथ है।

आम आदमी की असहाय स्थिति को नाटक में एक व्यक्ति के माध्यम से रेखांकित किया है – “रोज़ ही यह होता है। दिन दहाड़े कत्लेआम.... बन्दूकधारियों ने पूरी बस घेर ली और मुसाफिरों को एक लाइन में खड़ा करके भून दिया।”⁹ देश का नागरिक अपनी बेहतर स्थिति के लिए नेताओं की ओर देखता है परन्तु उनके लिए दो-चार लोगों की मृत्यु कोई अर्थ नहीं रखती। उनके लिए यह वोटों और लाशों का खेल है। सींगधारी तो लाशों में भी अपने वोट गिन रहा होता है और तख्तापलट के प्रयत्न में रहता है। उसने तो इतिहास का अर्थ ही बदल दिया है। उसके लिए इतिहास एक आसन से दूसरे आसन में पहुँचने की तरकीब मात्र है। उसकी सच्चाई को सामने लाने की कीमत शिव जैसे पत्रकार को चुकानी पड़ती है। जज द्वारा ‘लॉ एण्ड ऑर्डर’ के नाम पर हर उत्पीड़न को सही करार दिया जाता है। शिव को फाँसी का हुकुम सुनाते हुए नेता के सिर के सींग जज के सिर पर भी दिखने लगते हैं। प्यारेलाल, विमल और भोला

के रूप में बुद्धिजीवी वर्ग की हँसी प्रतीक रूप में इसी सत्य को उजागर करती है कि आमतौर पर इन सींगधारियों के असली चेहरे की पहचान हो तो जाती है लेकिन सत्य की पहचान होते हुए भी बुद्धिजीवी केवल पुस्तकें लिखने, गोष्ठियाँ करने, हस्ताक्षर अभियान चलाने के सिवाय कुछ नहीं कर पाता। इससे आतंकवाद तो नहीं रुकता, परन्तु बुद्धिजीवी वर्ग कटघरे में आ जाता है। राजनीति का पर्दाफाश करने के लिए विमल द्वारा लिखी पुस्तक 'वर्तमान राजनीति का संकट' छप नहीं पाती और उसे इसके स्थान पर सींगधारियों द्वारा धार्मिक पुस्तकें लिखने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार राजनेता सर्जनात्मक और यथार्थ साहित्य की बजाय सस्ते और प्रचारित साहित्य तक यथार्थवादी लेखक को सीमित रहने का सुझाव देता है।

नाटककार ने प्यारेलाल के माध्यम से भ्रष्ट राजनेताओं के प्रति विद्रोही तेवर दिखाया है। लोककथा में जहाँ बांसुरीवादक अपनी स्थिति से अनजान होकर भी फांसी पर चढ़ा दिया जाता है वहीं आज का प्यारेलाल अपना अंजाम जानते हुए भी बांसुरी बजाने का इच्छुक है। वह नेता के सिर सींग वाली बात हर घर, हर गली-कूचे तक पहुँचाना चाहता है। इसी बिंदु पर नाटककार ने लोककथा का मौलिक और सर्जनात्मक प्रयोग किया है। वह निडरता से बांसुरी बजाता है और सब को साथ लेकर नेता और उसके साथियों पर धावा बोलता है। स्पष्ट है कि "अकेला विद्रोह मूल्यवान होते हुए भी तब तक सार्थक और सफल नहीं होता, जब तक वह सामूहिक संघर्ष या जन संघर्ष की शक्ल नहीं लेता।"¹⁰ संगठित शक्ति समाज के इन सींगधारियों के मुखौटे उतारने में समर्थ है।

अन्ततः राजनीतिक विसंगतियों और विडम्बनाओं को उजागर करता सींगधारी नाटक एक ओर जहाँ अत्याचार और शोषण को बेनकाब करते हुए शोषकों के असली चेहरे सामने लाता है वहीं विद्रोह की ललक भी पैदा करता है। नाटक के पात्रों की तरह आज का आम-आदमी भी इन सींगधारियों को बर्दाश्त करने की शक्ति खो चुका है। वह उनका सामना करता है और उनकी सही जगह उन्हें दिखाता है।

l UnHk %

1. सिंह, गुरचरण (सं). नया परिदृश्य नरेन्द्र मोहन के नाटक, नई दिल्ली : संजय प्रकाशन, 2009, पृ० 07
2. मोहन, नरेन्द्र. सींगधारी, कानपुर : अभय प्रकाशन, 2017, पृ० 34
3. वही, पृ० 44
4. वही, पृ० 37
5. वही, पृ० 42
6. वही, पृ० 60
7. वही, पृ० 61
8. डॉ. सिंह, गुरचरण (सं). नाटकीय शब्द और नरेन्द्र मोहन, नई दिल्ली : सार्थक प्रकाशन, 2000, पृ० 98
9. मोहन, नरेन्द्र. सींगधारी, कानपुर : अभय प्रकाशन, 2017, पृ० 31
10. डॉ. सिंह, गुरचरण (सं). नरेन्द्र मोहन का नाट्य कर्म. नई दिल्ली : संजय प्रकाशन, 2009, पृ० 114



^ck.kHkÍ dh vkRedFkk^ ,o ^vukenkI dk ikFkk^ dN lekur,|

ft rUn: flg*

नामवर सिंह जी ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के माध्यम से भारतीय संस्कृति और साहित्य की लोकोन्मुखी क्रांतिकारी परम्परा को खोजते हुए आचार्य द्विवेदी के बारे में एक बात कही है कि— “आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी—साहित्य का निरूपण किया। परंपरा के इतने विराट परिदृश्य में हिंदी साहित्य के सहज विकास के रूप में हिंदी साहित्य की परस्पर संबद्धता, क्रमबद्धता तथा गतिशीलता ऐसे सजीव और आंगांगिभाव से निभाई गई कि अतीत वर्तमान की चेतना बन गया।” निश्चित तौर पर विश्व के किसी भी साहित्य में परंपरा का महती योगदान है। हिंदी साहित्य में परम्परा की प्रगति की खोज होती रही है और आवश्यकता पड़ने पर दूसरी परंपरा का निरूपण भी होता रहा है। समय की मांग इस दूसरी परम्परा के निर्माण में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की महत्वपूर्ण भूमिका है। अनेक कवि—लेखकों के उद्योग से हिंदी साहित्य की वर्तमान समावेशी परम्परा विकसित हुई है। इन लेखकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा लिखित निबंध और उपन्यासों ने अपनी रूप गढ़ती हिंदी साहित्य को सौंदर्य और मजबूती दोनों प्रदान किया है। उन्होंने परंपरा से सार संग्रह कर उसकी समकालीन ख्याख्या करने की कोशिश की है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सभी उपन्यास हिंदी साहित्य परंपरा के प्रतिनिधि ग्रंथ है। इनमें ‘बाणभट्ट की बाणभट्ट की आत्मकथा’ और ‘अनामदास का पोथा वा अथ रैक्व आख्यान’ का महत्वपूर्ण स्थान है। व्याख्येय इन दोनों उपन्यासों के बीच बहुत कुछ आंतरिक साम्यता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा के कथानायक बाण और अनामदास का पोथा का नायक रैक्व दोनों खास व्यक्तित्व के मालिक होने के बावजूद भोलेराम हैं। दोनों के व्यक्तित्व में एक गजब का फक्कड़पन है। समय और समस्या की धारा दोनों को जिधर मोड़ देती है वे उधर ही बह जाते हैं। उन्होंने कभी भी अपनी जिंदगी की बहुत ज्यादा परवाह नहीं की। बाण और रैक्व दोनों के पास समर्पण की अद्भुत शक्ति है। निःशेष भाव से सेवा उनके व्यक्तित्व के प्रमुख गुण हैं। समस्या चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसकी चिंता किये बगैर उसके समाधान के दोनों लिए प्रस्तुत रहते हैं।

बाण और रैक्व दोनों बचपन से ही मातृ—पितृ स्नेह से वंचित हैं। किंतु आगे चलकर उन्हें मां—बाप के जैसा सहारा मिला। बाणभट्ट को महामाया—अघोरभैरव का मिलना और रैक्व को ऋतम्भरा—औषस्तिपाद का मिलना एक समान संयोग है। जीवन संघर्ष में इस ममता का लाभ बाण और रैक्व से जुड़े स्त्री पात्रों को भी मिला।

हालांकि रैक्व की अपेक्षा बाण ने ज्यादा दुनिया देखी है। किंतु उसे भी पदार्थ का ज्ञान नहीं है बाण बहुत दिनों तक अपने में उलझा रहा। दोनों के सामने यह समस्या है कि रैक्व शुभे के रिश्ते को और बाण निउनिया के रिश्ते को क्या नाम दे ? जिस तरह से रैक्व हृदय के स्तर पर जाबाला को पाकर भी व्यवहार में नहीं पाता है। ठीक वैसे ही बाण हृदय में निपुणिका की अनुभूति के बावजूद बेखबर रहता है।

निपुणिका बाणभट्ट से प्रेम करती है और जाबाला रैक्व के प्रति प्रेमाभिसिक्त है। दोनों प्रेम के पीर से आहत हैं। किंतु कोई उद्धत नहीं है। एक के पास राजमर्यादा है तो दूसरे के पास लोक मर्यादा है।

दोनों सेवाव्रती हैं। बाणभट्ट के सम्पूर्ण जीवन संग्राम में निपुणिका सहायक रही। उधर जाबाला भी रैक्व के साथ मिलकर अकाल पीड़ितों की सेवा के लिए प्रस्तुत है।

उभय उपन्यासों में अकर्मण्य राजसत्ता और पुरुषसत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर है। बाण कहता है— “कि जब तक पौरुष दर्प का प्राचुर्य रहेगा स्त्रियां मर्दित होती रहेंगी।”² रैक्व आख्यान के जटिल मुनि का भी यही मानना है। पुरातन पुरुष सत्ता वाले बंद समाज में श्रमिक स्त्रियां अनुकरण के पात्र हैं। आचार्य द्विवेदी ने स्त्री श्रमपरायणता पर विशेष बल दिया है। निपुणिका भिक्षा या किसी के कृपा पर जिंदा नहीं रहना चाहती है। वह श्रमशील है। वह खुले बाजार में पान बेचकर अपनी जीविका चलाती है। निश्चित तौर पर तत्कालीन परिवेश में यह एक बोल्ल किरदार है। उधर रैक्व आख्यान की ऋजुका रैक्व से पहले ही साफ-साफ कह देती है कि —“ मैं किसान की स्त्री हूँ भीख नहीं मांग सकती। कुछ काम-काज करके मजदूरी कर सकती हूँ ”।³

दोनों उपन्यासों में स्वेच्छाचारी राजसत्ता के विरुद्ध रोष है एक ओर बाणभट्ट की आत्मकथा का छोटा राजकुल व्यभिचार में आकंठ डूबा हुआ है। उपर के सतासीन भी इस कुकृत्य पर चुप्प हैं। वहीं अनामदास का पोथा का राजा जानश्रुति का अपना गाड़ीवान प्रकृति आपदा में अशरीर हो जाता है उसकी विधवा व्याकुल घूम रही है, चारों ओर अकाल पड़ा है, लोग भूख से त्रस्त हैं और राजा बेसुध है। इस संदर्भ में सबसे बड़ी बात है कि विपत्ति से लड़ने के लिए जनता खुद तैयार है। बाणभट्ट की आत्मकथा की महामाया एवं रैक्व आख्यान के मामा जनता के जागृत अंश हैं। विषम परिस्थितियों में दोनों ने जीवन प्रत्याशा को बचाये रखा।

संदर्भ उपन्यासों में बहुमूल्य जीवन दर्शन है। सर्वत्र प्रेम का विस्तार और पाखंडों का भंडाफोड़ है। उपन्यास के जागृत पात्र हमेशा समाज को संवारने के लिए प्रयासरत हैं। माता जाबाला रैक्व के एकनिष्ठ तपस्या भाव को तोड़ती है — “अकेले में आत्माराम या प्राणाराम होना भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है।”⁴ ठीक ऐसा ही बाणभट्ट की आत्मकथा में विरतिवज्र की मां कहती है—“ भंड है वह धर्माचार जो अपनी माता को भी पहचानने में लज्जा अनुभव कराता है। इस दुखमय संसार को और भी दुखमय बनाकर ही क्या तेरा सुख का राजमार्ग तैयार होगा।”⁵ मनुष्य के जीवन की सार्थकता उसकी विरक्ति में नहीं अपितु उसके प्रवृत्तिगामी होने में है। आचार्य द्विवेदी ने गृहस्थ आश्रम का उपयुक्त समर्थन किया है।

एक विचार है जो दोनों उपन्यासों में समान रूप से मौजूद है। यह आचार्य द्विवेदी का स्वयं की जिज्ञासा भी हो सकता है निपुणिका कहती है —“क्या छोटा सत्य बड़े सत्य का विरोधी होता है?”⁶ ठीक ऐसा ही रैक्व आख्यान की नायिका जाबाला का कथन है— “आंशिक सत्य क्या पूर्ण सत्य का विरोधी होता है?”

विवेच्य उपन्यासों में कई बातों की समानता के बावजूद प्रत्येक उपन्यास का स्वतंत्र सत्ता है सबकी अलग-अलग मर्यादाएं हैं सबका अपना जीवन मूल्य है। दोनों उपन्यासों में कुछ समान स्थितियों बातों का आना परम्परा का प्रवाह के ही अंग हैं जहां कई सारी कहानियां चल रही होती हैं और समय सबको प्रभावित करता है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखनी में पुनरावृत्ति है।

I UnHk %

1. नामवर सिंह— दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, सं.— 2003, पृ-13
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी— बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, सं.— 2009, पृ-24
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी— अनामदास का पोथा, राजकमल प्रकाशन सं. —2010, पृ-16
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी— अनामदास का पोथा, राजकमल प्रकाशन, सं.—2010, पृ-86
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी— बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, सं.—2009, पृ-177
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी— बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, सं.—2009, पृ-196
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी— अनामदास का पोथा, राजकमल प्रकाशन, सं.—2010, पृ-35



xk/kh dk efgykvk d i fr n'Vdk.k

MkO je'k dekj d'kokgk*

गाँधी एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसकी नींव न्याय, समानता और शान्ति पर आधारित हो। इस महती उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक था कि समाज के दो आधार भूत अंगों—पुरुष व स्त्री के बीच समानता के सभी तत्व सुनिश्चित व सुनिर्धारित हो। गाँधी ने उत्कृष्ट शब्दों में नारी को गौरवान्वित करते हुये dgk [^]ukjh bi'oj dh lokRd"V dfr g] o vfgl k dh vorkj g] rFkk /kkfed vkxgk d i fji{; e: og i|: "k tkfr l| vkx: g**A'

गाँधी का कहना है नारी को अबला कहना उसकी निंदा कराना है, यह पुरुष का नारी के प्रति अन्याय है। यदि शक्ति का अर्थ पार्श्विक शक्ति है तो स्त्री निश्चित रूप से पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। क्या उसमें पुरुष की अपेक्षा अधिक अंतः प्रज्ञा, अधिक आत्मत्याग, अधिक सहिष्णुता और अधिक साहस नहीं है? उसके बिना पुरुष का कोई अस्तित्व नहीं है। यदि अहिंसा मानव जाति का नियम है तो भविष्य नारी जाति के हाथ में है..... हृदय को आकर्षित करने का गुण स्त्री से ज्यादा और किसमें हो सकता है? ²

यदि पुरुष ने अपने अविवेकपूर्ण स्वार्थ के वशीभूत होकर स्त्री की आत्मा को इस तरह कुचला न होता और स्त्री 'आनंदोपभोग' की शिकार न बन गयी होती तो उसने संसार को अपनी अंतर्हित अनंत शक्ति का परिचय दे दिया होता। जब स्त्री को पुरुष के बराबर अवसर प्राप्त हो जायेंगे और वह परस्पर सहयोग और संबंध की शक्तियों का पूरा-पूरा विकास कर लेगी तो संसार स्त्री शक्ति का उसकी सम्पूर्ण विलक्षणता और गौरव के साथ परिचय पा सकेगा।

मेरा मानना है कि स्त्री आत्मत्याग की मूर्ति है, लेकिन दुर्भाग्य से आज वह यह नहीं समझ पा रही है कि वह पुरुष से कितनी श्रेष्ठ है। जैसा कि टाल्सटॉय ने कहा है, [^]o i|: "k d i EEkkgd i Hkko l| vkØkr g]A ;fn o vfgl k dh 'kfDRk igpku y: rk viu: dk vcyk dg tku d fy; i gjfx t jk th ugh: gkxhA**³

बारबरा साउथर्ड के अनुसार गाँधी की नारीवादी सोच में दो तत्वों की सर्वाधिक भूमिका है—पहला, हर स्तर पर तथा हर मायने में स्त्री—पुरुष समानता तथा दूसरा, दोनों के विशिष्ट लैंगिक भिन्नता के मद्देनजर उनके सामाजिक दायित्वों में भिन्नता।⁴ xk/kh जी ने एक बार कहा था “पुरुषों को पारिवारिक देखभाल की जिम्मेदारी निभानी चाहिए तथा स्त्रियों को घरेलू प्रबन्धन में अपनी भूमिका तय करनी चाहिये और इस तरह दोनों को एक-दूसरे के पूरक की भूमिका अदा करनी चाहिये। गाँधीवाद के लैंगिक सम्बन्धित दर्शन में इस बात को रेखांकित किया गया है कि चूँकि पुरुष व स्त्री की सामाजिक अपेक्षाओं में विशिष्टगत भिन्नता परिलक्षित होती है तो उनकी सार्वजनिक व निजी भूमिकाओं में भी भिन्नता की मौजूदगी एक सहज स्वाभाविक चीज है। उन्होंने हिन्दू शास्त्रों का उद्धरण देते हुये इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक चीज की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है तो फिर पुरुष व स्त्री के बीच भिन्नता कहाँ है। उन्होंने इस बात को रेखांकित किया कि लिंग के बजाय वैयक्तिक आत्मा की भूमिका अधिक प्रबल होती है। धर्मग्रन्थों पर टिप्पणी करते हुए गाँधी ने कहा कि स्मृतियों में लिखी सारी चीजें दैव वाणी नहीं है तथा उनमें भटकाव व त्रुटियों का होना सम्भव है। धर्म व धर्मशास्त्र अनैतिक चीजों को हमारे सामने परोसते या थोपने की कोशिश करते हैं तो हमें उसे अस्वीकार कर देना चाहिये। गाँधी का विचार था कि स्त्रियों

*प्राध्यापक, सम्पौशी ग्रामीण विकास, समाजकार्य विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

की सोचनीय दशा ऐतिहासिक परिस्थितियों के वजह से हुई है अन्यथा दोनों में एक ही आत्मा का वास है और दोनों मूलतः एक हैं। प्रत्येक की भूमिका एक-दूसरे के पूरक के रूप में होती है, लेकिन परिस्थितिजन्य दुर्घटनावश पुरुषों ने हजारों वर्ष पूर्व से ही स्त्रियों पर आधिपत्य करना शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप स्त्रियों की मनोदशा हीन भावना से ग्रस्त हो गयी और वह पुरुषों के श्रेष्ठता को ही सत्य मानने लगी तथा अपने आप को उसके रहमोकरम पर छोड़ दिया।

1921 में ¹;x bf.M;k* में गाँधी ने लिखा ²i: "kk }kjk Lofufe: IEi.k cjkbi; k e lcl ?kf.kr] ohHkR l o foNr cjkbi: g m l d i }kjk ekuork d i vk/k cgrj fgL l t k fd ej fy; L=h tkfr g u dh detkj fiNMh tkfr dk m l d i U;k; l x r vf/kdkj l ofpr djuk**। महिलाओं के प्रति असमानता व अन्याय का बोध करते हुये करते हुये गाँधी ने इस बात को दृढ़ता से कहा³;fn e L=h d i : l k e i ink gkrk rk e i i: "kk }kjk Fkki x; fd l h Hkh vU;k; dk tedj fojk/k djrk rFkk m l d i f[kykQ fonkg dk >Mk cyUn djrk**A⁵

जहाँ तक पुरुष व स्त्री के कार्यगत क्षेत्रों का सवाल है तो गाँधी कार्यगत विशिष्टता में विश्वास करते थे। एक ओर पुरुष का कार्य है कि परिवार के लिये रोटी का अर्जन करे वहीं स्त्रियों का दायित्व है कि वे घर व बच्चों का पालन-पोषण में अपनी श्रेष्ठतम भूमिका अदा करें। गाँधी के दृष्टिकोण में स्त्रियों की भूमिका एक पालनकर्ता की थी तथा उनका मानना था "महिलायें मुख्य रूप से घर की गृहणी होती हैं..... नौनिहालों की उत्तम परवरिश महिलाओं की मुख्य व एकाधिकारपूर्ण जिम्मेदारी होती है, बिना उसके लालन-पालन के मानवता का अस्तित्व कदापि सम्भव नहीं है"।⁴ उन्होंने विवाह को महिलाओं के लिये अवश्यम्भावी चीज मानने से इनकार कर दिया।

यद्यपि गांधी सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं के सक्रिय भूमिका के प्रबल पैराकार नहीं थे फिर भी जब 1921 में महिला मताधिकार का मुद्दा उठा तो उन्होंने इसका पुरजोर समर्थन किया तथा इस बात को रेखांकित किया कि सत्याग्रह आन्दोलन व दाण्डीमार्च की सफलता में महिलाओं की उत्साहपूर्ण सक्रिय भागीदारी की निर्णायक भूमिका थी। 1939 तक आते-आते गाँधी को इस बात का पक्का विश्वास हो गया था कि यदि राष्ट्रीय आन्दोलन की धार को तीव्र कर उसे जन-आन्दोलन में बदलना है तो उसमें महिलाओं की सक्रिय भागीदारी अनिवार्य है। उन्होंने कहा, "मैं इस बात से खुश होऊँगा तथा इस बात को चाहूँगा कि मैं ऐसे किसी भी संघर्ष का अधिक साहस व जोश से मुकाबला कर सकूँगा जिसमें पुरुषों की भूमिका कमतर व महिलाओं की अधिक भूमिका हो। मुझे पुरुष प्रधान संघर्ष में हिंसा के तांडव की गंध आती है और मैं उससे भयभीत अहिंसक संघर्षों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी की अपनी वकालत को गाँधी घर के पालक व पोषक में महिलाओं की भूमिका की अपनी मूल अवधारणा के विपरीत नहीं मानते थे। वरन् इसके उलट उनका ख्याल था सत्याग्रह में अपनी भागीदारी को सुनिश्चित कर महिलायें सम्पूर्ण मानवता के पालन पोषण की अपनी जिम्मेदारी को और अधिक सुविस्तृत व सुव्यापक करती है।"⁵

गाँधी ने इस बात का बार-बार उल्लेख किया कि धर्म की मूल भावना की सुरक्षा एक मात्र महिलायें ही कर सकती हैं, पुरुष या धार्मिक ब्राह्मण नहीं। कैथल में महिलाओं की एक सभा को सम्बोधित करते हुये उन्होंने कहा "समाज की बुनियाद घर के अस्तित्व पर टिकी होती है तथा धर्म के विकास का श्रेष्ठतम स्थान घर होता है। घर के अन्दर से विकसित व सुवासित होकर धर्म की खुशबू सम्पूर्ण समाज को अपने आगोश में ले लेती है"।⁶ उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि महिलाओं के वास्तविक आभूषण उनके उत्कृष्ट गुण हैं, उनकी हुनर हैं, उनकी शुचिता है तथा उनकी सतीत्व है, जो आत्मा की पवित्रता अधिक महत्वपूर्ण है न कि बाह्य सौंदर्य जो कि क्षणभंगुर व मात्र चमड़ी की सुंदरता होती है।

आज जब सच्चे प्यार, पारिवारिक मूल्यों तथा पति-पत्नी के बीच वफादारी भरी सौहार्द व प्रेमपूर्ण सम्बन्धों की बात होती है तो उसमें गाँधी के परिवार सम्बन्धी विचारों की प्रतिध्वनि होती है। वह सुदृढ़ पारिवारिक मूल्यों को बेहतर व स्वस्थ समाज के निर्माण का अनिवार्य तत्व मानते थे। गाँधी ने कहा कि देश के लिये स्वस्थ, बुद्धिमान व सुविकसित बच्चों का लालन-पालन ही अपने आप में स्त्रियों का उत्कृष्टतम योगदान है। उनका विचार था कि "उत्तराधिकार सम्बन्धी हिन्दू कानून में परिवर्तन व सुधार

की जरूरत है। महिलाओं को भी पारिवारिक सम्पत्ति में समान हिस्सा मिलना चाहिये क्योंकि पारिवारिक सम्पत्ति में महिलाओं के अनाधिकार से ही पुरुष आधिपत्य व स्त्री दमन का श्रीगणेश होता है।⁹ गाँधी का मत था कि महिलाओं को किसी भी तरह वैधानिक अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिये। उन्होंने कहा कि मुझे बेटियों व बेटों दोनों को पूर्ण समानता के भाव के साथ समान रूप से अपनाना चाहिये।¹⁰

गाँधी ने पर्दा प्रथा नामक बुराई जिसकी उपस्थिति अभी भी समाज के कुछ हिस्सों में दृष्टिगोचर होती है, की भी गाँधी ने ऐतिहासिक उदाहरणों व तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में निंदा की। प्राचीन भारतीय इतिहास का संदर्भ देते हुये उन्होंने लिखा है कि प्राचीन काल में महिलाओं की स्थिति अधिक न्यायपूर्ण तथा भागीदारी वाली थी। वे सार्वजनिक बहसों व सभाओं में खुलकर भाग लेती थी तथा निःसंकोच अपने विचारों को प्रकट करती थी। उनका जीवन अधिक पूर्ण व बंधनरहित था और उस समय पर्दे का अस्तित्व नहीं था। उन्होंने यह न्यायोचित सवाल उठाया, “क्यों हमारी महिलायें पुरुषों के समान अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकती हैं? क्यों वह खुले माहौल में स्वतंत्र रूप से विचरण नहीं कर सकती? मृणालिनी सेन ने यहाँ तक कहा कि आधुनिक भारत की महिलायें उस स्वतंत्रता की मांग करती हैं जो उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। गाँधी ने पर्दा को बर्बरतापूर्ण प्रथा तथा समाज का अपूरणीय क्षति करने वाला बताकर उसे सिर से खारिज कर दिया।¹⁰

गाँधी की स्वराज के सबसे महत्वपूर्ण व्याख्याओं में से एक का सम्बन्ध महिला व महिला मुक्ति से है। वेश्यावृत्ति महिलाओं की बदतर स्थिति का ज्वलंत उदाहरण और गाँधी के शब्दों में एक सामाजिक बीमारी पर टिप्पणी करते हुये उन्होंने कहा कि महिलाएं यौन व आर्थिक शोषण के कारण अपने शरीर को बेचने के लिये बाध्य होती हैं तथा पुरुषों के कारण यह समस्या अनवरत बनी रहेगी। उन्होंने जोर देते हुये कहा कि यदि कोई इन महिलाओं की सहायता के लिये आगे नहीं आता तो उन्हें खुद परिवर्तन का वाहक बनना चाहिये तथा पुरुषों के हाथों अपने शासन के खिलाफ संघर्ष करना चाहिये। इसी प्रकार देवदासी प्रथा के खिलाफ अपना रोष प्रकट करते हुये गाँधी ने इसे ‘नैतिक कोढ़’ तथा ‘ईश्वर की अवमानना’ के रूप में चिन्हित करते हुये गांधी ने उन सड़ी-गली सामाजिक, सांस्कृतिक प्रथाओं को तोड़ने का अह्वाहन किया जिन्होंने सदियों से महिलाओं को दोयम दर्जे को नागरिक व उपभोग की वस्तु बना रखा है।¹¹

दहेज प्रथा भी इसी तरह एक अन्य सामाजिक बुराई है, जिसने भारतीय महिलाओं के जीवन को विकृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। गाँधी इसे घृणित व्यापार मानते थे तथा दहेज आधारित विवाह को खरीद बिक्री का कारोबार मानते थे। उन्होंने लिखा कि जिन विवाहों में बहुओं को खरीदा जाता है वहाँ सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की अपेक्षा कभी नहीं की जा सकती है। 1929 में गांधी ने अपने समकालीन समाज को अचम्भित करते हुये कहा कि “*fn ej ikl n[k&j:[k e dkb yMdh gkrh rk el ml t hou Hkj d iokjh j[kuk iln djrk ctk; bldi fd ml fd lh ,l 0;fDr dk l kirk tk ml viuh iRuh cuku di ,ot e ,d i kb iku dh vi{kk j[krk***”¹² गाँधी ने लोगों से दहेज लोभी युवाओं के बहिष्कार की अपील की। वह अन्तर्जातीय व अन्तर्सामुदायिक विवाह को इस सामाजिक बीमारी की एक कारगर औषधि मानते थे। गाँधी विधवा पुनर्विवाह के कट्टर समर्थक थे” उन्होंने इस बात को बार-बार कहा कि “*i ufookg dk ft ruk vf/kdkj fo/kjk dk g mruk gh fo/kokvk dk Hkh gA mUgku LofPnd o/kC; dk vfHk'k ki rd dgk g**A*”¹³

निष्कर्ष रूप में गाँधी ने एक ओर महिलाओं को सामाजिक व सांस्कृतिक शोषण का शिकार पाया वहीं दूसरी ओर उसे निचले स्तर से सामाजिक परिवर्तन का निर्णायक वाहक व उत्प्रेरक भी माना। वह परिवार व समाज में महिलाओं की प्रभावी सामाजिक भूमिका के प्रबल पैरोकार थे। वह उनमें समाज व राष्ट्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की महती जिम्मेदारी निहित करना चाहते थे।

I UnHk %

1. जौली, सुरजीत कौर, “गांधी: एक अध्ययन”, पृष्ठ-271।
2. प्रभु आर.के., व राव, यू.आर., “महात्मा गांधी के विचार”, पृष्ठ-280।

3. वही, पृष्ठ, 280।
4. बारबरा, साउथर्ड, "फेमिनिज्म ऑफ महात्मा गांधी", गांधी मार्ग, वाल्यूम 13 नं0 71, अक्टूबर 1981, पृष्ठ-403।
5. यंग इण्डिया, 9 दिसम्बर 1927।
6. हरिजन, 24 फरवरी 1910।
7. बारबरा साउथर्ड, "फेमिनिज्म ऑफ महात्मा गांधी, गांधी मार्ग, वाल्यूम 13 नं0 17 अक्टूबर, 1981 पृष्ठ-485।
8. नवजीवन, 8 मई 1921, सी.डब्ल्यू. एम. जी. वाल्यूम XX पृष्ठ- 63।
9. "पोजिशन ऑफ वूमेन" यंग इण्डिया, 14 अक्टूबर 1929।
10. "हेल्पलेस विडोज", हरिजन, 22 अगस्त 1935।
11. यंग इण्डिया, फरवरी, 14, 1929।
12. वही।
13. "हेल्पलेस विडोज", हरिजन, 22 अगस्त 1935।



or'eku of'od ifjo'k e fo'o'kkfr e c) dh f'k{kkvk dh iklfxdrk

eokyky pirU;*

iLrkouk § शांति, मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। प्राचीनकाल से लेकर अद्यतन मनुष्य शांति की खोज के लिए निरन्त प्रयत्नशील रहा है, क्योंकि मानव कल्याण शांति में ही निहित है। शांति कोई एक ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे मनुष्य चाहे या न चाहे, जाने या अनजाने में पा ले या उसे अपना ले इसका अनुभव मनुष्य को तब होता है, जब उसकी चेतना अज्ञानता की सीमाओं को लांघकर तथा अंधविश्वास की बेड़ियों को तोड़कर अपने ज्ञान रूपी दीये के प्रकाश में स्वयं प्रकाशमान होता है अर्थात् जब उसे बुद्धत्व (ज्ञान) की प्राप्ति होती है। इस तरह संक्षिप्त में बुद्धत्व की प्राप्ति ही शांति की प्राप्ति है।

c) dkyhu ,o or'eku lkekft d okrkoi.k § आज मनुष्य अपनी बुद्धि व विवेक ही नहीं खोया है अपितु उसे स्वयं पर भी विश्वास नहीं रह गया है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं को अस्तित्वहीन मान चुका है इसीलिए जन्म से लेकर मृत्यु तक ऐसे भाग्य-भगवान के आतंक तथा देवी-देवताओं के अत्याचार से पीड़ित होकर उनके सामने नतमस्तक होकर भिखारी सा बनकर बैठा हुआ है और उसका दास (गुलाम) बनना स्वीकार कर लिया है कि वह अपने वर्तमान को यह समझ बैठा कि यह सब उसके पूर्वजन्मों के प्रतिफल के साथ ही उन देवी-देवताओं द्वारा दिया गया फल है जिसे वह दुःख व कष्ट को भोग या झेल रहा है। जब मनुष्य को देवी-देवताओं के पूजने के बाद भी शांति नहीं मिलती, तब उसे शांति को खोजने का आभास होता है और उसे इसका कारण पता चलता है कि उसके जीवन में दुःख है तो इसका कोई न कोई कारण अवश्य होगा न कि भाग्य-भगवान, आत्मा-परमात्मा या भूत-प्रेत आदि। अतएव यदि यह जीवन अंधकारमय हो गया है तो उसे अपने जीवन को प्रकाशमान व ज्ञानवान बनाना ही पड़ेगा और इसके लिए उसे चेतनावादी एवं बुद्धिवादी शिक्षण पद्धति अपनाना ही पड़ेगा।

सम्पूर्ण विश्व में शांति के सबसे बड़े शिल्पी महामानव गौतम बुद्ध ने आज से लगभग 2550 वर्ष पहले राजसुख व सभी प्रकार के वैभव-सम्पन्नता का त्याग करके अपने कठोर तप के बल तप अमूल्य ज्ञान (सम्बोधि) प्राप्त किया था और उस ज्ञान पर आधारित दी गयी उनकी देसनाएं (उपदेश व संदेश) आज सम्पूर्ण विश्व को अज्ञानता रूपी अन्धकार को प्रशस्ति का मार्ग दिखा रहा है। बोधि (ज्ञान) प्राप्ति के पहले उन्होंने अपने तात्कालीन सामाजिक जीवन के परिवेश में यह अनुभव किया कि कुछ चालाक प्रकृति के लोगों द्वारा धर्म और पाखण्ड की आड़ में मानव समुदाय को विभिन्न जातियों एवं वर्गों आदि में बाँटकर उन्हें भाग्य-भगवान, रुढ़िवादी, भाग्यवादी एवं अंधविश्वासी बनाकर अंधकार के घोर सागर में जीने को मजबूर कर दिया है जिसके फलस्वरूप आपस में ही जातीय व वर्ग संघर्ष की भावना से ग्रसित होकर लोग वैमनस्यता के शिकार हो गये हैं और सामाजिक विघटन पैदा हो गया है जिससे समाज में अशांति का वातावरण व्याप्त है।

आधुनिक युग में भी मानव अनेक प्रकार के दुःखों, कष्टों, विपत्तियों तथा समस्याओं से घिरा हुआ है। वह इन सभी दुःखों आदि से मुक्ति पाने के लिए प्रयास कर रहा है, किन्तु वर्तमान में तो सम्पूर्ण विश्व ही एटमबमों के ढेर पर टिका हुआ है। नित्यप्रति, नये-नये विध्वंसकारी रासायनिक हथियारों की खोज

और उन्हें जमा करने की होड़ सी मची हुई है। यही प्रवृत्ति आज सम्पूर्ण मानवता के विनाश के कगार पर ला करके खड़ा कर दिया है। ऐसी विषम व विकट परिस्थिति में महामानव बुद्ध के सिद्धांतों पर चलकर ही विश्व को विनाश से बचाया जा सकता है।

c) dh n'kuk, f'k'kk, o'mnn'; तथागत बुद्ध ने कहा था— “विश्व में जब भी कोई मनुष्य जन्म लेता है तो वह खाली हाथ आता है और जब वह मरता है, तब भी खाली हाथ चला जाता है।” अतएव यदि हम विश्व की इस धरोहर (शांतिमय मानवता) का निर्माण नहीं कर सकते, हमें इस शांतिमय व्यवस्था (वातावरण) को अशांत करने का कोई अधिकार भी नहीं है। मानव के हर कार्य की परिणति स्वयं उसके विवेक से होती है और स्वयं को पहचानना ही मानव होने का परिचायक है। इसके विपरीत स्व-विवेक के अस्तित्व को अस्वीकार करना तथा अलौकिकता के अस्तित्व को स्वीकार करना बेहद अज्ञानता और बेवकूफी है। साथ ही दुःखों को आमंत्रण देने के समान है। अतएव स्वयं को पहचानना ही शांति का मूलमंत्र है। अशांति के संबंध में तथागत बुद्ध ने बताया कि विश्व में दुःख ही दुःख है। दुःख का कारण और निवारण भी है। उन्होंने ने आगे कहा कि— विश्व में दुःख है, जरा (बुढ़ापा) भी दुःख है, रोग भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, किसी से संयोग या वियोग भी दुःख है यानि सम्पूर्ण विश्व ही दुःख है। वह केवल ‘दुःख ही दुःख’ कहकर शांत नहीं रहे, बल्कि दुःख का कारण अविद्या, अज्ञानता, अशिक्षा, अंधविश्वास, पाखण्ड तथा अभाव आदि को भी दूर करने के उपाय के साथ-साथ उनके निवारण की भी शिक्षा दी, जिसमें त्रिसरण और पंचशील मुख्य हैं।

त्रिसरण अर्थात् अपने जीवन को प्रशस्त्र करने के लिए तीन सन्मार्गों की शरण में जाना। पहला शरण गमन है— बुद्धं सरणं गच्छामि यानि बुद्धि, विवेक, ज्ञान व प्रज्ञा की चेतना में जाना। दूसरा शरण गमन है— धम्मं सरणं गच्छामि यानी धम्म की शरण में जाना, सदूधम्म का आचरण एवं व्यवहार करना तथा तीसरा शरण गमन है— संघं सरणं गच्छामि अर्थात् संघ की शरण में जाना यानि वैसा समूह, जो बुद्धि-विवेक का अनुगामी है। इसी प्रकार उन्होंने पंचशील की शिक्षा दी। पहला शील है— पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि यानि मैं प्राणी हिंसा से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ अर्थात् मैं अकारण किसी भी निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करूँगा। दूसरा शील है— अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि यानि मैं चोरी-चांडाली आदि से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। तीसरा शील है, कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि— मैं पर-स्त्री के साथ गमन या दुराचार से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। चौथा शील है, मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि— मैं झूठ बोलने या मिथ्या भाषण से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ तथा पाँचवा शील है, सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि— मैं सुरा यानि कच्ची-पक्की शराब व अन्य किसी भी प्रकार की नशीली वस्तुओं के सेवन से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

इसके अलावा बुद्ध ने अपने खोज के प्रमुख आयाम मध्यममार्ग में बतलाया है अप्पदीपो भव— अपना दीपक स्वयं बनो। अत्त नाथो भव— अपना स्वामी स्वयं बनो। अकानो नाथे— मनुष्य अपना स्वामी स्वयं है। अत्त दीपो विहरथ— अपना दीप स्वयं बनो। अन्त सरणा— अपनी शरण में जाओ। अत्ता नुरक्खी भव— अपनी रक्षा स्वयं करो।

युग महापुरुष तथागत बुद्ध का प्रारम्भिक जीवन ऐसे विषम सामाजिक वातावरण में बीता, जिसमें मानव और मानवता अत्यंत कष्टकारी पीड़ा से तड़प रही थी। ऐसे में उस युगपुरुष ने मानवीय समस्याओं के कारण एवं उनके निदान के उपायों का सही मार्ग प्रस्तुत करके मानव को शांति का संदेश दिया और मानव को भाग्यवादी बनने के बजाय चेतनाववादी, बुद्धिवादी बनने हेतु प्रेरित किया। उन्होंने विश्वास के स्थान पर तर्क को प्राथमिकता दिया जिसके फलस्वरूप उनका संदेश एवं देसनाएं सम्पूर्ण विश्व में फैलीं और मानव चेतना का एक नई तरह से साक्षात्कार किया तथा बिना एक बूँद रक्तपात के विश्वशांति की स्थापना की। इस तरह बुद्ध ने विश्व में ‘बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय’ का उद्घोष करके बहुजन नायक (उद्धारक) के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनके उपदेशों व संदेशों से मानव जीवन सुखद व सम्मानित होता है। अतएव बुद्ध का धम्म सम्मान, प्रेम व शांति का मार्ग है।

mi lgkj॥ मनुष्य की चेतना तथा बुद्धि के विकास में असीम क्षमता होती है, किन्तु अज्ञानता, अशिक्षा, अविद्या, अंधविश्वास एवं पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण आज भी मानव काल्पनिक एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को महिमा-मंडित करके अपने ज्ञान को इतना कुंठित कर दिया है कि वह अपना मालिक स्वयं होते हुए भी अपने को निर्बल, दीन-हीन व असहाय समझ बैठा है। ऐसी स्थिति में मानव बिल्कुल निष्क्रिय सा हो गया है। आज मानव की स्थिति ऐसे मृग के समान हो गया है जो अपनी ही नाभि में स्थित कस्तूरी गंध को जंगल की घास में इधर-उधर ढूँढ़ता फिर रहा है। इसी तरह मानव भी विश्वशांति का शिल्पकार होते हुए भी विश्वशांति की बात को दूर, घातक तथा विध्वंसकारी रासायनिक हथियारों, विस्फोटकों व अस्त्र-शस्त्रों आदि का निर्माण करने के साथ-साथ उन्हें जमा भी कर रहा है और अन्य दूसरे देशों को उसकी पूर्ति भी कर रहा है। ये निर्माण, जैसे भी हो रहे हों और जिसके लिए भी हो रहे हो वे सभी निरर्थक, बेबुनियादी एवं अनावश्यक हैं तथा विश्वशांति के लिए घातक भी है। ये सब उन तथाकथित विकसित एवं अहंकारी राष्ट्र के अहंकार का परिणाम है जो विश्वशांति का ढिंढोरा पीटते हुए विश्व के अन्य देशों को अत्याधुनिक शस्त्रों की आपूर्ति करते हुए विश्व में शांति स्थापित करना चाहते हैं, लेकिन इस तरह से मानवता एवं विश्वशांति कदापि स्थापित नहीं हो सकती है क्योंकि अंधकार तो केवल प्रकाश से ही दूर किया जा सकता है अर्थात् घृणा को केवल प्रेम, सद्भाव, शील व सदाचार से और असत्य को सत्य से ही जीता जा सकता है।

अतएव हिंसा का अंत अहिंसा से ही संभव है क्योंकि वैर से वैर (दुश्मनी) कभी शांत नहीं हो सकती। इस प्रकार मन की शांति अर्थात् विवेकपूर्ण संयम द्वारा चिरस्थायी विश्वशांति की स्थापना के लिए बुद्ध के उपदेशों एवं शिक्षाओं के प्रासंगिकता आज भी सजीव है।

I UnHk ॥

1. अहिंसा और शांति, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पी.वी. बापट, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रकाशन मंत्रालय (भारत सरकार), नई दिल्ली।
3. दलित समाज, बौद्ध धर्म एवं डॉ. अम्बेडकर, डॉ. राम इकबाल राम, बुद्ध मिशन आफ इंडिया, पटना, बिहार।
4. भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन, एस.एस. गौतम, गौतम बुद्ध सेंटर, नई दिल्ली।
5. धम्म-चक्र 2011, बुद्ध मिशन ऑफ इण्डिया, पटना, बिहार।
6. बुद्ध की 101 उपदेशक कथाएं, सुरेंद्र सिंह नेगी, पुस्तक महल, दिल्ली।
7. बुद्ध चरित्र, सन पब्लिकेशन्स, लखनऊ।
8. बुद्ध धम्म का सार, अनुवादक- सत्य प्रकाश, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. तथागत बुद्ध (जीवन एवं देशनाएँ), बौद्धाचार्य शांति स्वरूप बौद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।



>kj [k.M dh vkfnoklh Hkk"kk, dy] vkt vkj dy
çeh ekfudk rkiuk*

झारखण्ड एक आदिवासी बाहुल्य राज्य है। यहाँ आदिवासी समाज सांस्कृतिक रूप से काफी समृद्ध है। इस समृद्धता को बचाये रखने के लिए भाषा का सुरक्षित होना आवश्यक है। भाषा सुरक्षित रहेगी तभी संस्कृति भी सुरक्षित रहेगी। झारखण्ड को विभिन्न भाषाओं, सांस्कृतियों एवं धर्मों का संगम क्षेत्र कहा जाता है क्योंकि यहां द्रविड़, आर्य एवं आस्ट्रो-एशियाई तत्वों का सम्मिश्रण है। विशिष्ट सभ्यता, संस्कृति के नाम पर संघर्ष करने के बाद झारखण्ड अस्तित्व में आया लेकिन इन विशिष्टताओं को पहचान देने वाली जनजातीय भाषाएँ विकास की अंधी दौड़ में कहीं गुम हो रही हैं। आज झारखण्ड की छः आदिवासी भाषाएँ विलुप्त होने की कगार पर खड़ी हैं। कृषि, आखेट और जंगल के जीवन पद्धति की हर भाव-भंगिमा को दर्शाने वाले सूबे के सभी 32 जनजातीय समुदायों की 32 भाषाओं में से 27 भाषाएँ विलुप्त हो चुकी हैं और असुर, बिरहोर जैसी आदिम जनजातीय समुदाय की मातृभाषाएँ विलुप्ति के कगार पर आ चुकी हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि झारखण्ड की आदिवासी भाषाओं की स्थिति कल क्या थी ? और आज क्या है और आने वाले कल में क्या होगी ? झारखण्ड में 32 आदिवासी समूह अथवा अनुसूचित जनजातियाँ रहती हैं जो इस प्रकार हैं – मुण्डा, संताल, उराँव, खड़िया, गोण्ड, कोल, कनबोर, सावर, असुर, बैगा, बंजारा, बथूड़ी, बेदिया, बिझिया, बिरहोर, बिरजिया, चैरो, चिक बड़ाईक, गोराइत, हो, करमाली, खरवार, खोंड, किसान, कोरा, कोरबा, लोहरा, महली, माल-पहाड़िया, पहाड़िया, सौरिया-पहाड़िया, भूमिज आदि। भाषाओं की विलुप्तता का संबंध जनजातियों की विलुप्ति से है। भाषा अपने में एक संस्कृति को समेटे रहती है इसलिए भाषा का मिटना सांस्कृतिक द्रव्य का कारण भी है। आज आधुनिकता एवं अन्यान्य संक्रांति से सबसे ज्यादा आदिवासी समाज ही प्रभावित हो रहा है विस्थापन, गरीबी, अशिक्षा आदि के कारण एक समरूप भाषा समूह का विकास नहीं हो पा रहा है। आदिवासी भाषाओं के द्रव्य का सबसे बड़ा कारण आदिवासी का अपनी भाषा के प्रति हीनता बोध है। वे अपनी भाषा नहीं बोलना चाहते हैं जो आज की स्थिति है इससे निश्चित तौर पर भाषा प्रभावित होगी ही। जंजित कंकरकेट्टा की कविता स्पष्ट कहती है कि –

उसने शहर में अब जुगाड़ की है / किशतों में खरीदी गई / उधार की कई नई चीजें / नई भाषा,
पहनावा, बोल-चाल / नई चाल-ढाल और जीवन शैली / और एक भ्रामक विश्वास / जो धीरे-धीरे
खोखला करता है / उसके अस्तित्व की जड़ों को।”¹

दूसरा कारण आदिवासियों का बड़ा भाषा समूह अपने से छोटा भाषा समूह पर हावी हो जाता है जैसे किसी उराँव बस्ती में कुछ मुण्डा परिवार हैं तो वे लगभग मुण्डारी भूल चुके होते हैं वह परिवार उराँव बोलता है। आज वर्तमान समय की तेज सामाजिक गतिशीलता के कारण भाषाएँ निरन्तर बदल रही हैं। कल (बीता हुआ कल) से ज्यादा आज ये भाषाएँ नाटकीय प्रभाव के साथ बदल रही हैं। जिसका एक प्रमुख कारण सामाजिक विकास में तकनीक का आत्मसात है। कोई भी भाषा चाहे वो आदिवासी भाषा ही क्यों न हो सभी का भविष्य तकनीकी प्रदर्शन पर भी निर्भर करता है और यही तकनीकी विकास उसके सामाजिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का हथियार बन जाती है। भाषा विशेषज्ञों का मानना है कि आदिवासी भाषाएँ ज्ञान के भण्डार को अपने में समेटे हुए हैं लेकिन दुर्भाग्य की बात है आदिवासी बाहुल्य राज्य झारखण्ड में सिर्फ नौ आदिवासी और क्षेत्रीय भाषाओं की औपचारिक शिक्षा दी जा रही है। झारखण्ड

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

की कला, संस्कृति और भाषाओं के संरक्षण संवर्धन के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए जा रहे हैं। ऐसे में आने वाले कल के लिए कला, संस्कृति और भाषा जो हमारी विरासत की देन है कैसे सुरक्षित रहेगी। आदिवासी भाषाओं का संरक्षण और संवर्धन अति आवश्यक है। जनजातीय भाषाओं का मौखिक साहित्य लिखित साहित्य से काफी समृद्ध है लेकिन भाषाओं को जीवित रखने के लिए वर्तमान समयानुसार अब उन्हें लिखित साहित्य का रूप देना होगा। राज्य का दायित्व होना चाहिए कि छात्रों को उनकी मातृभाषा में ही प्रारंभिक शिक्षा दी जाए। लेकिन फिर भी यह सवाल आदिवासी जनों के जेहन में उठना लाजमी है कि आखिर कब उन्हें उनका मान-सम्मान मिलेगा, क्या आदिवासी भाषाएँ विलुप्त हो जाएंगी तब या झारखण्ड के आदिवासी और आने वाले पीढ़ी अपनी भाषा से दूर हो जाएँगे? आदिवासी भाषाओं का संकट स्वाभाविक रूप से आदिवासी अस्मिता के संघर्ष का जनक है। भाषा से ही व्यक्ति और समाज की एक अलग पहचान होती है जो भाषा मजबूत न हो उसकी कोई पहचान नहीं होती वह भाषा धीरे-धीरे विलुप्त होते जाता है। आदिवासी भाषा आज दुनिया में अपनी विशिष्ट पहचान बना रही है किन्तु कई भाषाएँ ऐसी भी हैं जो मरने के कगार पर हैं क्योंकि मुख्यधारा के अनुसार आदिवासी भाषा लाभकारी नहीं है मुनाफे की इस प्रवृत्ति ने भाषाओं के बीच दूरी पैदा की है—

“वे घृणा करते हैं हमसे/ हमारे कालेपन से/ मजाक उड़ाते हैं हमारी भाषा का/ हमारे चाल-चलन रीति-रिवाज/ जंगली, असभ्य, पिछड़ा कह/ हिकारत से देखते हैं हमें।”²

भाषा किसी भी समाज का जीवंत पृष्ठ है जिसमें समूचे समाज के नैतिक मूल्य, रीति-रिवाज, रहन-सहन, सोचने समझने की विधि से लेकर उसमें निहित सम्पूर्ण सांस्कृतिक धरोहर समाहित है। जिस समाज की भाषा जितनी समृद्ध होगी वह समाज उतना ही प्रगतिशील व विकासमान होगा, भाषा से ही व्यक्ति और समाज की अपनी एक अलग पहचान होती है। आदिवासियों की भाषा बहुत ही सारगर्भित व समृद्ध है—

“हमारी भाषाओं की अपनी/ अर्थ-ध्वनियाँ हैं/ जिन्हें वे आज तक/ अनुवाद के जरिए भी/ नहीं सके हैं समझ।”³

आदिवासी भाषा, संस्कृति का लगातार अवमूल्यन आदिवासी साहित्य के लिए चिंता का विषय है। आदिवासी समाज किसी भी हाल में इसे बचाये रखने की मुश्किलफत करता है। आदिवासियों की अस्मिता बची है तो सिर्फ और सिर्फ अपनी संस्कृति से जैसे ही संस्कृति नष्ट हो जाएगी स्वयं आदिवासी भाषाएँ भी नष्ट हो जाएँगे। महादेव टोप्पो की कविता ‘सबसे बड़ा खतरा’ में भाषा और संस्कृति के लुप्त होने का दर्द है—

सिर्फ अपने खेत, खलिहान, मकान/ ही नहीं खोये हैं हमने/ खोयी है सैकड़ों वर्षों से अर्जित/ पुरखों के गाढ़े पसीने की कमाई/ अपनी भाषा, संस्कृति और इतिहास।”⁴

आदिवासी समाज को सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के गठजोड़ का दबाव, पलायन, विस्थापन, भुखमरी, उजड़ते जंगली परिवेश, ह्यूमन – ट्रेफिकिंग, लुप्त होती आदिवासी भाषा, संस्कृति, नक्सल समस्या आदि पर संघर्ष करना पड़ रहा है। आदिवासी समाज कभी स्थिर नहीं रहा, कभी स्थिर होना चाहा भी तो उसे पुनः पुनः उजाड़ने की कोशिश की गयी। विस्थापन जो आदिवासियों की प्रमुख समस्याओं में से एक है के कारण उनकी भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है जिससे संस्कृति विस्मृत होते चली जाती है जो चिंता का विषय है आदिवासी समाज की कई संघर्ष बिन्दु हैं जो उनके अस्तित्व और पहचान के लिए खतरनाक हैं। आज बड़े ही सूक्ष्म तरीके से इनकी पहचान मिटाने की राजनीति साजिश भी चल रही है। एक ओर आदिवासियों की अनभिज्ञता का फायदा उठाकर उनकी वाचिक परम्परा का श्रेय खुद ही लेते हैं –

“वे दबे-पाँव/ आते हैं तुम्हारी संस्कृति में/ वे तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं/ वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे/ पढ़ते हैं/ वे कौन हैं ?”⁵

वहीं दूसरी ओर आदिवासी भाषा से तथाकथित मुख्यधारा के लोगों को कोई मुनाफा नहीं होता इस कारण बोलना-बतियाना भी नहीं सीखना चाहते और हाँ उनका मानना है कि यदि सभ्य बनना है तो उनकी भाषा सीखनी होगी यह आदिवासियों के लिए चिंता का विषय है –

“वे नहीं चाहते सीखना/ हमारे बीच रहते, हमारी भाषा/ चाहते हैं उनकी भाषा सीखें हम/ और उन्हीं की भाषा में बात करें उनसे/ उनका तर्क है कि/ सम्य होने के लिए जरूरी है/ उनकी तरह बोलना – बतियाना।

विकास के नाम पर भाषाई और सांस्कृतिक पहचान सब छीने जा रहे हैं। जैसे-जैसे साम्राज्यवादी ताकतें बढ़ी वैसे-वैसे भाषाई और सांस्कृतिक संघर्ष चेतना भी बढ़ते गये। आज झारखण्ड में जिस रफ्तार से आदिवासी भाषाएँ विलुप्त हो रही हैं इससे तय है कि संस्कृति भी अपने आप एक दिन समाप्त हो जाएगी इसलिए सबसे अहम सवाल शिक्षा के क्षेत्र का है। अधिकांश आदिवासी इलाकों में मिशनरीज और कॉनवेंट सिस्टम में ही शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। ऐसे में आदिवासी भाषा का विलुप्त होना स्वाभाविक है। भाषाओं का आधुनिक समाज में बने रहना जरूरी है जिससे अपने मूल जड़ों को मजबूती मिल सके लेकिन आदिवासी भाषाओं को ध्यान में रखकर। आदिवासी भाषाओं के विकास के लिए अखिल भारतीय स्तर वाली संस्थाओं की ओर हाथ जोड़ने के बजाय अपने राज्य के अन्दर और जिला स्तर वाले संगठनों तथा संस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित करना होगा साथ ही आदिवासी भाषाओं के लेखक, बुद्धिजीवी मिलकर काम करें जिससे छोटी सी छोटी आदिवासी भाषा के विकास का रास्ता भी खुलेगा। किसी भी भाषा के विकास की सबसे जरूरी शर्त यह है कि जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों में जैसे सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक में उसका अधिक से अधिक प्रयोग किया जाए तभी भाषा का विकास स्वाभाविक रूप से व सुनियोजित ढंग से होगा।

आदिवासी भाषाओं के विकास की एक बड़ी समस्या आस-पास की सम्य समाज की भाषाओं का जर्बदस्त प्रभाव भी है कोई भी भाषा दूसरी भाषाओं से प्रभावित होकर आदान-प्रदान करें यह स्वाभाविक है लेकिन इनके प्रभाव से भी भाषाओं के स्वरूप में काफी फेर-बदल दिखता है। आदिवासी भाषाओं के विकास की राह में एक और बड़ी समस्या भाषाओं की लिपि की है झारखण्ड की जनजातीय भाषा की लिपि को मजबूत करने के साथ ही साथ ट्राइबल मूवमेंट को भी लिपिबद्ध करने की जरूरत है। यदि हम आदिवासी भाषाओं का सरकारी कामकाज या उच्च-शिक्षा प्रणाली में प्रयोग न करें तो इससे भाषा का विकास नहीं होगा, भाषा का हर जगह प्रयोग में आना बहुत जरूरी है संथाली, मुण्डारी, कुडुख, हो, खड़िया आदि प्रमुख भाषाओं को अगर हम स्कूल शिक्षा का माध्यम न बनाएँ और सार्वजनिक स्थलों पर इसमें न बोलें, विभिन्न विषयों पर किताबें न लिखें, हर जगह यदि हिन्दी या अंग्रेजी का ही इस्तेमाल करें तो फिर इन आदिवासी भाषाओं का विकास कैसे होगा ? आज भी आदिवासी समाज के अनेक समुदाय विशिष्ट पहचान, विशिष्ट संस्कृति और विशिष्ट भाषा के कारण अपना अलग अस्तित्व रखते हैं जिसे नकारा नहीं जा सकता है परन्तु विडम्बनापूर्ण बात है आज के समाज में भी आदिवासी समुदाय उपनिवेशवादी तथा परायेपन की शोषणकारी जिन्दगी जीने को मजबूर हैं जो न केवल उनकी संस्कृति, पहचान, भाषा के लिए खतरा है बल्कि उनके अस्तित्व के लिए भी संकटमय है। इन संघर्षों की जड़ में आदिवासी भाषा का मूल प्रश्न है जो संस्कृति से जुड़ा है। अतः भाषा को सुरक्षित रखने की जरूरत है तभी संस्कृति सुरक्षित रहेगी और आदिवासी का अस्तित्व भी बना रहेगा। आदिवासियों की घटती जनसंख्या और विलुप्त होती नस्लें और विस्मृत होती भाषा और संस्कृति चिंता का विषय है और आदिवासी समाज के लिए सबसे बड़ी चुनौती भी।

UnHk %

1. 'अंगोर', जसिन्ता केरकेट्टा, पृ.सं.-108-109
2. 'अपने घर की तलाश में', निर्मला पुतुल, पृ.सं.-55
3. 'कलम को तीर होने दो', सं. रमणिका गुप्ता, पृ.सं.-73
4. 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी', सं. रमणिका गुप्ता, पृ.सं.-50
5. 'अपने घर की तलाश में', निर्मला पुतुल, पृ.सं.-11
6. वहीं, पृ.सं.-56
7. प्रगतिशील वसुधा-85, मार्च-2015, पृ.सं.-184



न'क ए [kfrgj etnj k d jk t xkj dh fLFkfr % , d v/ ; ; u

Mk yfyr dekj*

देश की अर्थव्यवस्था में खेतिहर मजदूरों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। देश में खेतिहर मजदूरों के बिना कृषि का विकास सम्भव नहीं है। देश की अधिकांश श्रम शक्ति कृषि क्षेत्र में खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य कर रही है। गाँव की अधिकांश जनसंख्या जिनके पास खेतिहर भूमि नहीं है और रोजगार के अन्य विकल्प भी नहीं हैं वे खेतों पर खेतिहर मजदूर के रूप अपना जीविकोपार्जन कर रहे हैं। खेतों पर कार्य करने वाले इन खेतिहर मजदूरों में अधिकांशतया अनुसूचित जाति व अनुसूचित जन जाति के लोग सम्मिलित हैं। इन खेतिहर मजदूरों के सहारे देश में कृषि क्षेत्र का विकास निर्भर करता है। लेकिन गत कुछ वर्षों के दौरान कृषि क्षेत्र का खराब प्रदर्शन खेतिहर मजदूरों के रोजगार के लिए चिन्ता का विषय है। खेतिहर मजदूरों की संख्या में लगातार वृद्धि और कृषि क्षेत्र के खराब प्रदर्शन से खेतिहर मजदूरों को रोजगार मिलना कठिन हो रहा है। इस समस्या के समाधान हेतु सरकार द्वारा जो भी प्रयास किये गये हैं वे पूरी तरह कारगर सिद्ध नहीं हुए हैं। आज भी यह श्रमिक वर्ग कृषि क्षेत्र में कम मजदूरी पर और स्थायी रोजगार के अभाव में भी जीविकोपार्जन करने को विवश है। दूसरी तरफ खेतों में पूरे वर्ष काम न मिलने के कारण अधिकांश खेतिहर मजदूर रोजगार की तलाश में शहरों की तरफ पलायन होते देखे जा सकते हैं। जहाँ पर इन्हें अकुशल होने के कारण कम मजदूरी पर काम करना पड़ रहा है। इसलिए प्रस्तुत शोध पत्र में “देश में खेतिहर मजदूरों के रोजगार की स्थिति : एक अध्ययन” करना समीचीन होगा।

v/ ; ; u i) fr& प्रस्तुत पेपर के अध्ययन हेतु मुख्यतः द्वितीय समंको का प्रयोग किया गया है। समंक मुख्यतः विभिन्न पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, व दैनिक समाचार पत्रों आदि के माध्यम से एकत्र किये गये हैं। v/ ; ; u dk mnn' ; & प्रस्तुत अध्ययन निम्नलिखित उद्देश्यों पर आधारित है।

1. देश में खेतिहर मजदूरों के रोजगार की स्थिति।
2. खेतिहर मजदूरों के लिए रोजगार की समस्याएं।
3. रोजगार की समस्याएं हेतु समाधान।

n'k e [kfrgj etnj k d jk t xkj dh fLFkfr& भारतीय अर्थव्यवस्था ग्रामीण कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। देश के ग्रामीणों के लिए रोजगार का साधन कृषि क्षेत्र रहा है लेकिन कृषि क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि देश की कुल जी०डी०पी० में आजादी के बाद भले ही इस क्षेत्र का योगदान घटा हो लेकिन देश की सर्वाधिक जनसंख्या को रोजगार प्रदान करने वाला यही क्षेत्र रहा है। आज भी कुल श्रमशक्ति का आधे से अधिक भाग कृषि क्षेत्र से अपनी जीविकोपार्जन कर रहा है। इनमें से कुछ किसान के रूप में कार्य कर रहे हैं और कुछ मजदूर के रूप में कार्य कर रहे हैं। कृषि क्षेत्र पर आधारित काम करने वाले इन खेतिहर मजदूरों की स्थिति का अध्ययन करते हैं तो आकड़ों से पता चलता है कि आजादी से पूर्व और आजादी के बाद इनकी संख्या में काफी परिवर्तन हुआ है। जिसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी रहे हैं जिनमें प्रमुख हैं :-

1. जनसंख्या में वृद्धि होना।
2. ग्रामीण कुटीर व लघु उद्योगों का पतन।

*अर्थशास्त्र विभाग, राजकीय रजा पी० जी० कॉलेज रामपुर

3. कौशल विकास की कमी ।
4. अनार्थिक जोतें ।
5. ऋणग्रस्तता ।
6. बेरोजगारी आदि प्रमुख है।

देश में कृषि क्षेत्र का खराब प्रदर्शन, मशीनों का प्रयोग, बड़ती महगाई कृषि में पूरे वर्ष रोजगार न मिलना, कम मजदूरी आदि समस्या से खेतिहर मजदूरों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वभाविक है लेकिन फिर भी यदि हम देश में कृषि क्षेत्र में कामगार लोगों जिनमें विशेष तौर से खेतिहर मजदूरों की स्थिति को देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि इनकी संख्या में लगातार वृद्धि हुयी है जिसे निम्न सारणी द्वारा दर्शाया जा सकता है।

I kj.kh²& 1
[kfrgj etnj] d: jktxkj dh fLFkfr

Øe	Ok"K	Nf"K Jfed
1.	1921	2.1 करोड़
2.	1951	2.8 करोड़
3.	1991	7.46 करोड़
4.	2001	14.43 करोड़

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है देश में खेतिहर मजदूरों अर्थात कृषि श्रमिकों की संख्या आजादी से पूर्व वर्ष 1921 में जहाँ 2.1 करोड़ थी वही यह बड़कर वर्ष 1951 में 2.8 करोड़ हो गयी। इसी प्रकार यह संख्या 1991 व 2011 में क्रमशः बढ़कर 7.46 करोड़ व 14.43 करोड़ तक पहुँच गयी है। कृषि श्रमिकों की संख्या में 1951 से 1991 तक लगभग तीन गुना वृद्धि हुयी है देश की 50 फीसदी किसान खेति के खराब प्रदर्शन के कारण कृषि छोड़ने को मजबूर है देश में वर्ष 1951 में किसानों की संख्या 7 करोड़ थी वही वर्ष 2011 में 11 करोड़ 90 लाख हो गयी है।⁹ जबकि कुल कामगारों किसानों की संख्या वर्ष 2001 में 44.54 प्रतिशत थी जो घटकर वर्ष 2015 में 32.88 फीसदी रह गयी है ऐसी स्थिति में खेतिहर मजदूरों को रोजगार पाना कठिन हो रहा है। और रोजगार के लिए शहरों की तरफ पलायन करने को मजबूर है।

यद्यपि देश में वर्तमान में कुल श्रमशक्ति किस-किस क्षेत्रों में कार्यरत है और उसका अर्थव्यवस्था में कितना-कितना योगदान है, तो अध्ययन से स्पष्ट है कि वर्तमान में देश के प्राथमिक क्षेत्र (कृषि क्षेत्र में) का जी०डी०पी में योगदान 16.1 फीसदी है और इस क्षेत्र से 51.3 फीसदी श्रम बल को रोजगार प्राप्त हो रहा है। वही उद्योग क्षेत्र का योगदान जीडीपी में 29.5 फीसदी है और इस क्षेत्र से 22.02 फीसदी श्रम बल को रोजगार प्राप्त हो रहा है तथा सेवा क्षेत्र का योगदान कुल घरेलू उत्पाद में 54.4 फीसदी है लेकिन इस से 26.67 फीसदी श्रम बल को रोजगार प्राप्त हो रहा है।¹⁰ इस प्रकार से रोजगार की दृष्टि से तीनों क्षेत्रों में कृषि क्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन कृषि क्षेत्र में लगे खेतिहर मजदूर अकुशल व असंठित है और कम मजदूरी पर कार्य करने का विवश है। इस क्षेत्र में कम मजदूरी व स्थायी रोजगार के अभाव में वह सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से पिछड़ हुए हैं। परिणामस्वरूप यह वर्ग गरीबी जैसी समस्याएं झेलने को विवश है।

[kfrgj etnj] d: fy, jktxkj dh l eL; k, % & रोजगार की समस्या देश में हमेशा से विद्यमान रही है। चाहे वो कृषि क्षेत्र हो, उद्योग या सेवा क्षेत्र हो। इन तीनों क्षेत्रों के अच्छे प्रदर्शन का रोजगार पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। यदि हम कृषि क्षेत्र की बात करें तो अध्ययन से स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र से देश की सर्वाधिक जनसंख्या को रोजगार प्राप्त होता रहा है। इनमें किसान तथा खेतिहर मजदूर दोनों सम्मिलित है। कृषि क्षेत्र के खराब प्रदर्शन से किसानों का लगातार कृषि व्यवसाय से मोह भंग होना, खेतिहर मजदूरों के सामने रोजगार की महत्वपूर्ण समस्या है। यह एक ऐसा असंगठित वर्ग रहा है। जो अकुशल होने के कारण कम मजदूरी पर खेतों में काम करने के लिए विवश है। कृषि क्षेत्र में स्थायी रोजगार न होते हुए भी कम आय में काम चलाता रहा है। लेकिन वर्तमान में खेतिहर मजदूरों को इस महँगाई के युग में खेती

के सहारे गुजर-बसर करना अत्यन्त कठिन होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में खेतिहर मजदूरों को रोजगार की तलाश में शहरों की तरफ लगातार पलायन करते देखा जा रहा है। शहरों में भी इन्हें अकुशल होने के कारण कम मजदूरी पर काम करना पड़ता है। यह वर्ग कृषि क्षेत्र में स्थायी रोजगार न होते हुए भी कम आय में काम चलाता रहा है। लेकिन वर्तमान में खेतिहर मजदूरों का इस महंगाई के युग में खेती के सहारे गुजर बसर करना कठिन होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में खेतिहर मजदूरों को रोजगार की तलाश में शहरों की तरफ लगातार पलायन करते देखा जा सकता है। शहरों में भी इन्हें अकुशल होने के कारण कम मजदूरी पर काम करना पड़ता है। इसके अलावा ये वर्ग निम्नलिखित प्रमुख समस्याओं का सामना करने को विवश है।¹⁵

1. साल में ज्यादा से ज्यादा समय बेरोजगार रहना।
2. न्यूनतम मजदूरी पर कार्य करना।
3. ठेके पर काम करना।
4. खाली समय में रोजगार के वैकल्पिक स्रोतों का अभाव होना।
5. परिवार का आय का कम होना।
6. इनकी गतिविधियों मानसून की तीव्रता पर निर्भर करना।

[kfrgj etnj k dh l eL; kv k gr l ek/kku %& यद्यपि देश का खेतिहर मजदूर अर्थात् कृषि श्रमिक अनेक समस्याओं से ग्रस्त रहा है। लेकिन उसके लिए सबसे प्रमुख समस्या कृषि में स्थायी रोजगार के न रहने की रही है। इनकी इस समस्या के समाधान हेतु सरकार द्वारा समय-समय पर प्रयास किये गये हैं। लेकिन शत-प्रतिशत लाभ इनको प्राप्त नहीं हो पाया है। पराणामस्वरूप आज देश का खेतिहर मजदूर कृषि क्षेत्र में पूरे वर्ष कार्य न मिने के कारण बेरोजगार रहता है। इसलिए अब कृषि क्षेत्र के सहारे इन्हें अपने परिवार का पालन-पोषण कराना दुर्लभ हो रहा है। जबकि आजादी के बाद देश में इनकी संख्या में लगातार वृद्धि हुई है। खेतिहर मजदूरों की समस्याओं का समाधान हेतु सरकार द्वारा जो भी प्रयास किये गये हैं, वे निम्नवत् हैं—

1. न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 पास किया गया जिसके तहत कृषि श्रमिक को न्यूनतम मजदूरी देने का प्रावधान किया गया।
2. सरकार द्वारा कृषि मजदूर को रोजगार देने के उद्देश्य से रोजगार गारन्टी स्कीम वर्ष 1977 लागू की गयी है।
3. सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्र की कमजोर तथा भूमिहीन श्रमिक वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु जुलाई 1975 में 20 प्वाइन्ट प्रोग्राम लागू किया।
4. इसके अलावा गत कुछ वर्षों में सरकार द्वारा विभिन्न योजनाएँ जैसे—
 - (1). अटल खेतिहर मजदूर बीमा योजना
 - (2). वर्ष 1970-71 में लघु कृषक विकास ऐजेन्सी (एस०एफ०डी०ए०) तथा सीमान्त किसान व कृषि श्रमिक विकास ऐजेन्सी (एम०एफ०ए०एल०) का गठन किया गया।
 - (3). श्रम मन्त्रालय द्वारा अकुशल कृषि श्रमिकों के लिए 350रु० न्यूनतम मजदूरी तय करने का निर्णय लिया है
 - (4). महात्मा गाँधी रोजगार गारन्टी योजना (मनरेगा) को लागू करना।

fu"d" k , o l |>k o %& उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि देश की अधिकांश जनसंख्या कृषि क्षेत्र खेतिहर मजदूरों के रूप में कार्य कर रही है आजादी के बाद इनकी संख्या में वृद्धि हुई है। खेतों पर मजदूरी के रूप में कार्य करने वाले इन खेतिहर मजदूरों में अधिकांशतया अर्थिक व सामाजिक दृष्टि से कमजोर कहे जाने वाले अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लोग सम्मिलित हैं। कुल कृषि श्रमिकों में इस वर्ग की संख्या लगभग 70-80 फीसदी है। कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाला खेतिहर मजदूर, कम मजदूरी व स्थायी रोजगार जैसी समस्याओं का सामना करता रहा है। तथा अपने परिवार का पालन-पोषण करता है और वर्तमान में भी यह वर्ग रोजगार जैसी समस्याओं से ग्रस्त है। गत कुछ वर्षों से रोजगार देने वाला

कृषि क्षेत्र घाटे का सौदा साबित हो रहा है ऐसी स्थिति खेतिहर मजदूर इस क्षेत्र में रोजगार सुरक्षित रहना उचित नहीं समझ रहा है। इसलिए यह वर्ग रोजगार की तलाश में गैर कृषि क्षेत्रों की तरफ पलायन करने को मजबूर है। हालाँकि सरकार द्वारा खेतिहर मजदूरों की समस्या के समाधान हेतु उपाय किये जाते रहे हैं।

अतः जरूरी है कि खेतिहर मजदूरों की समस्या के समाधान हेतु सरकार द्वारा ऐसे प्रयास किये जायें जो कृषि क्षेत्र में ही खेतिहर मजदूरों को पूरे वर्ष रोजगार देने में सार्थक सिद्ध हो सकें। इसके लिए जरूरी है कि ग्रामीण स्तर पर ऐसे उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए। जो उद्योग कृषि आधारित हो। कृषि क्षेत्र में भी ऐसी तकनीकी विकसित की जाए जो पूरे वर्ष ऐसी फसल पैदा करने में समर्थ हो जो इन उद्योगों के लिए माल की पूर्ति कर सकें। ऐसा करने से खेतिहर मजदूरों को काम के अवसरों में वृद्धि होगी।

I UnHk %

1. V.K.Puri & S.K. Mishra, Himalaya Publishing house Delhi (2015) P-340-341
2. योजना, अप्रैल 2017, P-41-42
3. योजना, अप्रैल 2017, P-41-42
4. योजना, मार्च 2016, P-57
5. डॉ० मामोरिया एवं जैन, भारत की आर्थिक समस्याएँ, P : 234 – 239
6. Dutt , Sundhram, Indian Economy, Published By- S. Chand & Company Pvt. Ltd. New Delhi, P - 658-659



jke dh 'kfDRk i tk e ekuoh; eY;

MkO f=Hkou diekj l kgh*

राम की शक्ति पूजा मानवीय चेतना को आख्यानपरक ढांचे में प्रस्तुत करती है। यहां प्रश्न संवेदना का है जो व्याख्यापरक है न कि वस्तुनिष्ठ प्रतीकात्मक रचनाओं में प्रतीकों की सहायता से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कविता क्या कहना चाहती है। राम की शक्ति पूजा कई संदर्भों में व्यक्त होती है, अतः सभी संवेदनाओं पर नजर न डालकर हम मानवीय मूल्य से स्पंदित भावों को ध्यान में रखेंगे।

विभिन्न विद्वानों ने राम की शक्ति पूजा की मूल संवेदना के बारे में अपने-अपने, अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं। विश्व भर मानव का मानना है कि राम की शक्ति पूजा 'कृतिवासी रामायण' का हिंदी अनुवाद है। कुछ और विद्वान मानते हैं कि राम-रावण का संघर्ष छायावादी विरोधियों का संघर्ष है। लेकिन यह दोनों ही समीक्षाएं संवेदना के संदर्भ में सतही दृष्टि रखती है।

छायावादी काव्य में मानवीय मूल्यों को बहुत ही महत्व दिया गया है। राम की शक्ति पूजा के राम इन्हीं मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करते हैं। राम और रावण के बीच का संघर्ष मात्र सीता की आजादी से जुड़ा हुआ प्रश्न नहीं है अपितु उसके माध्यम से समाज में न्याय-अन्याय धर्म-अधर्म के बीच भी विभेदीकरण कर मूल्यों की स्थापना की जाती है। राम रावण के संदर्भ में यदि हम भारत की आजादी के संघर्षों से जोड़कर देखें तो ज्ञात होगा कि भारतीय जनता जो अंग्रेजों की गुलाम थी जिनका शासन रावण के अत्याचार से कहीं कम नहीं था। यहां पर राम का यह कहना कि 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' यह केवल राम के मन में भी यह भाव था क्योंकि अंग्रेजों के पास संसाधन, हथियार, शिक्षा, धन किसी चीज की कमी नहीं थी। ऐसे निराशावादी दौर में जब भारतीय युवा शोषण का शिकार हो रहे थे तब निराला ने भारतीय हिन्दू संस्कृति के सबसे उच्च आदर्श भगवान राम के माध्यम से युवाओं के सामने यह प्रस्तुत किया कि लक्ष्य की प्राप्ति हेतु, विजय हेतु शक्ति के अर्जन की आवश्यकता होती है। राम की शक्तिपूजा कविता में राम रावण पर विजय पाने के लिए शक्ति की मौलिक कल्पना करते हैं और शक्ति से सीता को रावण की कैद से आजाद करना चाहते हैं।

यदि हम मानवीय मूल्यों की दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत भारत का हर क्रांतिकारी सीता की आजादी की तरह ही भारत माता की आजादी के लिए दिन रात साधना करता है। वे राम के समान ही अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं। कहीं-कहीं अगर राम का धैर्य चुकने लगता है तो उसी समान क्रान्तिकारियों का धैर्य भी जवाब देने को ही आता है। परंतु दोनों निराशावादी न होकर आशावादी हैं इसलिए उनके मन में भी कठिनाइयों को झेलते हुए युद्ध में विजय प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा बनी रहती है।

रावण जैसी महाशक्ति का विनाश भगवान श्रीराम ने साधारण रूप से नहीं किया, उसके लिए उन्हें भी बलिदान और त्याग की उच्च पराकाष्ठा तक पहुंचना पड़ा। इस राह में स्वयं शक्ति उनकी परीक्षा लेती है कि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध है। वे अकेले अपने स्वार्थ के लिए संघर्षरत नहीं हैं, बल्कि उनके द्वारा आदर्श एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की जानी है उन्हीं भावों से साम्य रखती हुई राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की निम्न पंक्तियां हैं –

lp g foifr tc vkrh g
dk; j dk gh ngykrh g

*हिन्दी विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची

l jek ugh fopfy r gkr
 {k.k ,d ugh /khj t [kkr
 fo?uk dk xy yxkr g
 dkVk ei jkg cukr g
 g dku fo?u ,lk tx ei
 fVd l d vkneh d ex ei
 ekuo tc tkj yxrk gA
 iRFkj ikuh cu tkrk gA

वस्तुतः राम की शक्ति पूजा कविता के राम मर्यादा पुरुषोत्तम राम न होकर मानवीय रूप में है। सम्पूर्ण मानव जीवन के प्रत्येक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। जो मानवीय मूल्य मृत प्राय हो रहे थे, समाज से उपेक्षित हो रहे थे उनकी प्रतिस्थापना करते हैं, यही इस कविता का मूल भाव है, जो तद्युगीन कविताओं से गहरा साम्य रखते हुए भी विशिष्ट है।

‘राम की शक्ति पूजा’ कविता में ऐसे कई बिन्दु हैं जिनसे मानवीय मूल्यों को संरक्षित किया जा सकता है। कविता के निम्न स्थल पर मानवीय मूल्य की गहरी संवेदना अभिव्यक्त हुई है—

‘है अमानिशा, उगलता गनन धन अन्धकार/ खो रहा दिशा का ज्ञान : स्तब्ध है पवन चार/
 अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल/ भूचर ज्यों ध्यान—मग्न केवल जलती मशाल।’

ऐसा लगता है जैसे कोई महादैत्य अन्धकार का वमन कर रहा है। इस सघन अन्धकार से आकाश, वायु, जल, पृथ्वी और अग्नि पांचों तत्व प्रभावित है, दिशाओं का ज्ञान नष्ट हो गया है अर्थात् संभावनाएं क्षीण हो गई हैं। पवन चार से अर्धचारों दिशाओं से चलने वाली वायु से है। राम अपनी दिग्मूढ़ता के कारण स्तब्ध है। उन्हें राह नहीं सूझ रही है, यहां सागर की गर्जना का उल्लेख है जो राम के अन्तर्द्वन्द्व और क्षोभ से ग्रस्त होने का प्रतीक है। यहां पांचों तत्व मौजूद हैं, किन्तु सघन अन्धकार में भी यहां एक मशाल का जलना आशा की सूचक है। यही मशाल सघन अन्धकार को भेदकर मंगलकामना का प्रतीक बनता है।

राम की शक्ति पूजा कविता में ऐसे निराशा एवं अन्धकार से ग्रस्त राम के मन में सीता का स्मरण आता है जो उनको कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। यहां पर नारी के त्याग के स्वरूप को दिखलाया गया है जो पुरुष के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है तथा कर्म करने की दिशा की ओर प्रेरित करता है—

^, l {k.k vU/kdkj ?ku ei t l fo | r
 t kxh iFoh&ru; k&diekfj dk&Nfo**2

इस कविता में मानव जीवन के संघर्षों को विविध प्रकार से चित्रित किया गया है। छायावाद युगीन नारी के प्रति जो दृष्टिकोण है वह सभी युगों से अलग है। सीता का स्मरण आते ही राम के मन में युद्ध से जो विमुख होने का भाव था। वह हट जाता है एवं युद्ध करने तथा युद्ध में विजयी होने का भाव उनके मन में आ जाता है।

^QVh fLefr l hrk&/; ku&yhu jke d v/kj
 fQj fo'o&fo t ;&Hkkouk ân; ei vk; h Hkj**3

इससे पहले हिन्दी जगत में प्रायः स्त्री को भोग की वस्तु माना जाता था, इस पर कविताएं रच कर कवि मनोविनोद किया करते थे। हिन्दी साहित्य में पहली बार नारी के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण का उदय हुआ। नारी के प्रति दृष्टिकोण द्विवेदी युग से ही बदलने लगा था और यह दृष्टिकोण बदलता ही गया।

पूरे मानव—समाज के दुःख को वे अपना दुःख मानकर रहते थे। इसी कारण मानवीय करुणा और सहानुभूति के प्रखर प्रवक्ता के रूप में वे लोकप्रिय हुए। यही उनकी सामाजिक चेतना का मूलाधार है। अभावों और संकटों से घिरे हुए निराला निर्धनता के कारण अपनी एकमात्र पुत्री का उपचार भी नहीं करा पाते और उसे वो खो बैठते हैं। वे भीख मांगने वाले को दाने—दाने को हाथ पसारने और तरसते हुए देखते

हैं। दूसरी ओर ये समस्याएं उन्हें विचलित करती है तो दूसरी ओर आलोचकों के आक्रमण तीव्र से तीव्रतर होते जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नारी के योग्य स्वरूप को नकारा गया तथा समाज के लिए उसके त्याग, ममता बलिदान आदि गुणों को प्रकाश में लाया गया। इस बारे में स्वयं प्रसाद जी लिखते हैं—

^ukjhA re doy J)k gk] fo'okl&j tr&ux iery eA ih;!"k&L=k r l h cgk
djk] thou di lUnj lery eA**4

यहां प्रसाद का केवल नारी विषयक दृष्टिकोण ही नहीं प्रत्युत संपूर्ण मानवीय भावों का बीच भी उल्लेखनीय है :—

रूढ़ि की साधना, परंपरा के प्रति जागरूकता, कैसे प्राप्त हो सकती है और किस प्रकार साहित्यकार के मानस को, उसके कार्य के मूल्य को प्रभावित करती है। इस जागरूकता का मुख्य उपकरण है एक ऐतिहासिक चेतना—अर्थात् जो कलानुक्रम में बीत गया है, अनीति है, उसके बीतेपन की ही नहीं, उसकी वर्तमानता की भी तीखी और चिर—जाग्रत अनुभूति।

कामायनी में वर्णित सारस्वत प्रदेश इस शताब्दी की पूंजीवादी सभ्यता की आखेटस्थली है और उसका नियामक और प्रतिनायक के बीच कहीं स्थित है। वह पूरी तरह अमानुस नहीं है, शायद दुःखी भी इसी कारण है।

काम उसे स्मरण कराता है—

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था। समझतुल्य जो क्षण बीते सुखसाधन में उसको ही वास्तव लिया मान वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी यह उल्टी गति का व्यर्थ ज्ञान तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की। समरसत्ता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी भी।

प्रसाद जिस समरसता के प्रेरक और प्रचारक हैं, उसका ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सामंजस्य से तो संबंध है ही, वर्ग विभाजित समाज में शासक—शासित सम्बन्ध से भी उसका सीधा सरोकार है। अधिकार और कर्तव्य से जुड़े सवाल का द्वि—द्वात्मक समाधान, प्रसाद साहित्य में दूर तक करने का प्रयास किया गया है। प्रसाद जिस समय में कामायनी की रचना कर रहे थे, वह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के उत्कर्ष का समय है। यह संग्राम अनेक स्तरों पर साधन भेद से लड़ा जा रहा था। विशेषतः गांधी जी के असहयोग आंदोलन में कुछ ऐसे स्वार्थी तत्व भी सक्रिय थे, जो नवीन परिस्थिति में भी अपने लिए सुविधापूर्ण जगत की तलाश कर रहे थे। उनकी आंखों में प्रसाद जी ने कर्तव्य—पालन से अधिक सत्ता की भूख की चमक देखी होगी।

नारी के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए पन्त जी लिखते हैं— ^rEgkj: Nu eI Fkk i.k.k
l i x eI ikou xixk Luku rEgkj: ok.kh eI dY;kf.k f=ol.kh dh ygjk dk xkuA**5

पन्त जी यहां पर नारी के मूल्यांकन को साहित्य जगत में उस पराकाष्ठा तक पहुंचाते हैं कि जहां प्रेम शारीरिक न होकर उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित होता है। पन्त कहते हैं “देवी मां सहचरी प्राण” अर्थात् स्त्री के प्रति छायावादी कवियों का जो मूल्य रहा है वह केवल भोग्य ही नहीं बल्कि पूज्य मां तथा जीवन संगिनी जैसे उदात्त रिश्तों से रहा है।

लेकिन जिस नारी को “अबला जीवन की हाथ तेरी कहानी, आंचल में है दूध आंखों में है पानी” के रूप में अंकन हो रहा था। उसका स्वरूप अब बदल रहा था। नारी की लाज काव्य के केंद्र में आ रहे थे।

नारी की लज्जा का चित्रण मध्ययुगीन कवियों ने भी किया था, किन्तु कनक—किरण के अंतराल में लुक—छिपकर थकने वाले लाज—भरे सौन्दर्य को तो प्रसाद ने ही देखा है। इसके अतिरिक्त कामायनी में नारी को लज्जा का जो भव्य चित्रण हुआ है, वह सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। प्रसाद जी का नारी—सौन्दर्य चित्रण पंत जी की तरह भाव—प्रधान होते हुए भी कहीं अधिक मांसल है, लेकिन प्रसाद जी से भी इस विषय में आगे निराला हैं।

इस विषय पर देखा जाए तो निराला अलग स्थान रखते हैं। निराला ने नारी को केन्द्र में रखकर नहीं लिखा और न ही उनकी काव्य नारी की विषयनिष्ठ व्याख्या करती है बल्कि यह वस्तुपरक हो जाती है। क्योंकि उन्होंने केन्द्र में अपनी पुत्री को ही रखा है :—

सामान्य नारी के सौन्दर्य का चित्रण तो सभी करते हैं, लेकिन वह नारी नहीं यदि स्वयं अपनी पुत्री हो तो कवि की परीक्षा हो जाएगी। स्वस्थमन और समर्थ कवि निराला के लिए ही यह संभव न हो सका कि उन्होंने अपनी पुत्री 'सरोज' की स्मृति में शोक—गीत लिखते हुए एक स्थल पर उसके सौन्दर्य का भी स्मरण किया है।

'सरोज' ही नहीं, बल्कि उसका रूप भी कवि की सृष्टि है — कवि के निराकार भाव ही जैसे रूप धारण करके 'सरोज' बन गये। भावात्मक दृष्टि से मूर्त रूप—चित्रण का यह उत्कृष्ट उदाहरण है — दृष्टिकोण अमूर्त है किन्तु दृश्य मूर्त है।

I UnHk §

1. अज्ञेय—साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, पृष्ठ सं—96
2. निराला, राम की शक्ति पूजा, अनामिका, भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद 1936, पृष्ठ सं—150
3. निराला, राम की शक्ति पूजा, अनामिका भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद 1936, पृष्ठ सं—151
4. निराला, राम की शक्ति पूजा, अनामिका भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद 1936, पृष्ठ सं 151
5. नामवर सिंह— आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृष्ठ सं— 20—21
6. परमानन्द श्रीवास्तव, कामायनी का पुनर्पाठ, पृष्ठ सं—100
7. नामवर सिंह— आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृष्ठ सं— 20—21
8. जयशंकर प्रसाद, लज्जा सर्ग, कामायनी, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1935, पृष्ठ सं— 47
9. पंत—पल्लव, पृष्ठ सं 27



Ökj rUnl ; x % vk/kfudrk v@j vrhr dh vkRexLrrk MkO lehj dekj ikBd*

नवजागरण काल में 'आधुनिकता' का अभिप्राय पश्चिम की संस्कृति, भाषा, सभ्यता, शिल्प और शिक्षा को आत्मसात् करने के साथ 'राष्ट्रीय भाव' का उन्नयन करना भी था। 'रेनेसां काल' में 'राष्ट्रीय-चेतना' को नव जागरण के उन्नायकों ने मुख्य जीवनदायिनी प्राणशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया था। तत्कालीन हिन्दी पत्रकारिता में 'आधुनिकता', 'राष्ट्रीयता', और 'भारतीयता' के भाव परस्पर विरोधी नहीं माने जाते थे, पत्रों में उनका अपूर्व संगम दृष्टिगोचर होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "तत्कालीन लेखकों तथा सम्पादकों के हृदय का मार्मिक सम्बन्ध भारतीय जीवन में विविध रूपों के साथ पूरा-पूरा बना था..... आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झाँकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन संधि-स्थल पर खड़े होकर दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलना चाहते कि नवीन-प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।"¹ इसके विपरीत आज के आधुनिक भारत में 'आधुनिकता' का अर्थ है- पश्चिमीकरण। पश्चिम के संदर्भ, भाषा, तकनीक आदि के बिना हम भारतीय न हूँ-रो सकते हैं, न अपनी संस्कृति पर मुग्ध हो सकते हैं, न चिढ़ सकते हैं। जबकि भारतेन्दु तथा अन्य पत्रकारों ने आधुनिकता और भारतीयता को भिन्न नहीं माना था। वे सच्चे अर्थों में आधुनिक होते हुए भी सच्चे भारतीय थे।

तत्कालीन पत्रकारिता आधुनिकता की विसंगति से अछूती रहकर भी अपनी प्रगतिशीलता, यथार्थपरक दृष्टिकोण, मानवतावादी प्रतिबद्धता तथा राष्ट्रीय बोध में नितान्त आधुनिक थी। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने अपनी समस्त सामग्री में यही बोध कराया था कि आधुनिकता न कोरी विलायत की नकल या विदेशी शिल्प में है, न सच्ची भारतीयता कूप-मंडूकता और परंपरा के अंधानुकरण में है। "नूतन सभ्यता के अनुयायी तो यही पुकार मचा रहे हैं कि उस महत्त्व को पुनः प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है- इंगलिसाइज्ड हो जाना। जब तक हमारी किसी एक बात में लेशमात्र भी हिन्दुस्तानीपन बचा रह जायेगा तब तक हम तरक्की नहीं कर सकेंगे।.....जब तक हम अपने को हिन्दुस्तानी मानते रहेंगे तब तक गुलामी का खयाल हमसे दूर न होगा.....किन्तु पहले के महत्त्व को पाने के लिए जातीयता का आना बड़ा आवश्यक है।"²

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में अतीत की ज्ञान-संपदा और गौरवमयी सांस्कृतिक विरासत के प्रति गहरा लगाव देखने को मिलता है। उनमें संस्कृत के श्रेष्ठ ज्ञान-वैभव को पाठकों के समक्ष उपस्थित करने की ललक है। इनकी आधुनिकता अतीत को नहीं नकारती, उसके प्रति श्रद्धा भाव है क्योंकि उसने देश में आत्मविश्वास और गौरव की भावना पुष्ट की है।

जागरणकालीन पत्रकारिता की आधुनिकता उनके इहलौकिक दृष्टिकोण और चिन्तन में है। उनका 'आधुनिकता बोध' समय की तीव्र धारा के साथ कदम मिलाकर चलने का अहसास देता है, जो अतीत के संदर्भों का पुनर्निर्माण कर भारत में युगानुकूल नवीनता और परिवर्तन चाहता है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ भारत की भौतिक प्रगति के लिए आधुनिक आविष्कृत मशीनों के प्रयोग, विदेशी-यात्रा और

विस्तृत ज्ञानात्मक साहित्य तथा यांत्रिक प्रगति का महत्त्व निरूपित करती हैं। “कैसा अच्छा हो यदि हमारे देश के श्रीमंत, राजा बाबू, सेठ—साहूकार महाजन एकाकार होकर कंपनी खड़ी करें और विलायत से कपड़े आदि की कल मँगाकर जो वस्तु विलायत से बनकर आती है, जिनके वे चौगुन—पचगुने दाम ले लेते हैं, उन सबों का कारखाना यहाँ जारी हो.....जो कलों का प्रचार इस देश में हो जाय तो गरीब बिचारे जिनके लिए कुछ उद्यम नहीं है उनका भी काम चले और इस देश का रुपया जो नित्य—नित्य खींचा जाता है उसका संचालन देश में हो।”³

‘कविवचन सुधा’ ने इससे भी पहले निजी औद्योगीकरण के बिना राष्ट्रोन्नति को असंभव बताते हुए आधुनिक मशीनों के आयात पर जोर देकर आधुनिक भारत—निर्माण में भौतिक प्रगति की महत्ता प्रतिपादित की थी।⁴

अतः इस कल की पत्रकारिता में आधुनिकता और परंपरा का स्वस्थ समन्वय और द्वन्द्व दृष्टिगोचर होता है। उसने भारतीय समाज में व्याप्त स्वस्थ मूल्यों और श्रेष्ठ मान्यताओं को नकारकर पश्चिमीकरण की आधुनिकता का कभी अंधानुकरण नहीं किया। केवल पश्चिम से वही तत्त्व ग्रहण किये जिनसे भारत को आधुनिक रूप देने और उसकी प्रगति की दौड़ में सहायता मिल सकती थी। ऐतिहासिक—सांस्कृतिक गत्यात्मकता को महत्त्व देते हुए कहा गया कि “परिवर्तन जिसके हमारे पुराने बुद्धे अत्यन्त विरुद्ध हैं इस अस्थिर जगत् का एक मुख्य धर्म है.....यह हमारी परिवर्तन—विमुखता ही का कारण है। हजार वर्ष से विदेशियों का पदाघात सहकर भी एक क्षण भर के लिए जीवन—नाड़ी में रक्त— संचालन न हुआ।”⁵ उपर्युक्त धारणाएँ नवजागरण से प्रभावित बदलती आधुनिक मानसिकता को ही द्योतित करती हैं।

स्वदेशी चिन्तन को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए ‘कविवचन सुधा’ में संपादक भारतेन्दु ने सोते हुए देशवासियों को उठाकर आगाह किया था, “हे देशवासियों! इस निद्रा से चौको। इनके (अंग्रेजों के) भरोसे मत फूले रहो.....ये विद्या (अंग्रेजी—शिक्षा) कुछ काम न आवेगी। यदि तुम हाथ व्यापार सीखोगे तो तुम्हें कभी दैन्य न होगा, नहीं तो अंत में यहाँ का सब धन विलायत चला जायेगा और तुम मुँह बाये रह जाओगे।”⁶ तत्कालीन पत्रों ने राष्ट्रीय उन्नति के लिए स्वदेशी व्यवसाय, शिल्प, उद्योग, शिक्षा पर बल दिया। ‘समय विनोद’ पत्रिका में आजीविका के लिए केवल सरकारी नौकरी पर, निर्भर न रहकर निज शिल्प— विद्या—वाणिज्य आदि के लिए शिल्प शिक्षा को प्रोत्साहित किया था। उसने अंग्रेजी राज में राष्ट्रीय चिन्तन के अभाव तथा आजीविका—दुष्प्राप्य होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा था—

1. प्रथम यह कि इस समय में भारतवर्षीय लोग सर्वथा विद्या, ऐक्य, उत्साह, पराक्रमादि सद्गुणों से हीन हैं।
2. यहाँ के लोगों का इस भ्रमजाल में फँसना कि आजीविका केवल अंग्रेजी सीखने से आती है और उसके उपार्जन करने की इच्छा से अपने कुल कर्मों का त्याग करना।
3. स्वकुल कर्मों (आव्युपेक्षण) में उन्नति न करना।
4. इस राज्य में सिफारिश देवी का प्रबल होना।
5. इस देश के मनुष्यों में दासत्व का भाव होना।
6. यहाँ के धनियों का सत्कर्म की अपेक्षा व्यभिचारादि कुव्यसनो में अपव्यय करना।
7. गवर्नमेंट की विवेक—हीनता।

.....यद्यपि यह गति इस देश की है तथापि सरकार की केवल कोरी अंग्रेजी पढ़ाने के अतिरिक्त और किसी ओर दृष्टि नहीं जाती है।.....तिस पर उससे यह नहीं हो सकता कि यत्र—तत्र शिल्प—विद्या की शालाओं की स्थापना करे—तो उनसे कितना—कितना उपकार प्रजा का हो।”⁷

जागरणकालीन हिन्दी पत्रकारिता में स्वदेशी भाषा हिन्दी के लिए कितना ममत्व, दायित्व और टीस थी वह आज के स्वतन्त्र भारत में भी हैरानी वाली बात लग सकती है क्योंकि आधुनिक शिक्षाशास्त्री, राजनीतिज्ञ, प्रशासक सभी आँखों पर अंग्रेजी के मोह की पट्टी बाँधे यह माने बैठे हैं कि भारत की समृद्धि, भविष्य और मुक्ति केवल अंग्रेजी पर आधारित है। उन्नीसवीं सदी के पत्रकारों के मन में भी ये ही प्रश्न बार—बार घुमड़े थे कि क्या अंग्रेजों के बिना उनमें एकता, आर्थिक समृद्धि, वैज्ञानिक प्रगति आदि सम्भव

नहीं है? किन्तु अंग्रेजी भाषा की आधुनिक अवधारणा के विपरीत उनका निश्चित मत था कि देशोन्नति देशी भाषा में ही सम्भव है। “देशोन्नति और देशभाषा की दृष्टि में वह सम्बन्ध है जो शरीर और छाया व अग्नि और धुएं में होता है।.....हमारी सरकार का देशोन्नति के लिए प्रयत्न न करना.....और साथ ही देश भाषा का ऐसा कठिन अपमान करना और दुर्दशा में रखना जैसी हिन्दी की हो रही है, ऐसा है जैसे कोई योद्धा एक बालक के छाती पर लात रखकर बल पूर्वक दबाये हो और दूर से देखने वालों के सुनाने के अर्थ पुकार कर कहता हो कि हे बालक! उठकर खेल कूद आओ। यह क्या अनर्थ है? क्या यह हिन्दी प्रजा पर घोर अनर्थ नहीं?.....पोलिश भाषा और अक्षरों को दबाने से रूस का केवल यही अभिप्राय था कि वह देश उत्साह, गौरव और सत्त्वहीन हो जाए जिससे फिर कभी सामना करने के योग्य न न रहे। क्या यह.....हमें और अधिक निःसत्त्व और निर्मूल करने के लिए प्रयत्न किया जाता है?”⁸

‘हिन्दी आन्दोलन’ का जन्म जागरणकालीन नव-चेतना के फलस्वरूप ‘स्वभाषा’ स्वशासन, स्वदेशी के उत्थान के परिप्रेक्ष्य में हुआ था, उसकी प्रकृति सांप्रदायिक नहीं थी। उसका मुख्यतः विरोध अंग्रेजी सरकार की हिन्दी के प्रति तिरस्कारपूर्ण नीति और अंग्रेजी भाषा से था। “बड़े से बड़ा इम्तिहान, पास कर पूर्णप्रज्ञ अथवा पूर्ण विद्वान, फजीलत की पगड़ी बाँधे, इल्म के जोर में भरे हुए दाहिने-बायें, ऊपर-नीचे, चारों दिशा में उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते सब समय अंग्रेजी ही अंग्रेजी पुकार रहे हैं। उनका परम पुरुषार्थ, उनकी योग्यता का सर्वस्व अथवा उनकी सभ्यता, उनके उद्योग और चेष्टा का अंतिम छोर इसी में है कि हिन्दुस्तानीपन की बू हमसे किसी प्रकार दूर हो। उनका दृढ़ सिद्धान्त यही है कि हमारी मातृभाषा अंग्रेजी हो.....कचहरियों में हिन्दी का प्रवेश होकर यह राज भाषा हो जाए, कभी मुमकिन नहीं, आप हजारों वर्ष तक सिर पटकते रहिए तब इस मृत हिन्दी के पुनरुज्जीवन की कौन आशा है।”⁹

वैज्ञानिक दृष्टिकोण में प्रयोग तर्क और उदाहरणों से पुष्ट प्रामाणिक निष्कर्षों तथा ठोस तथ्यों में ही आस्था व्यक्त की जाती है। जागरण युग (रेनेसाँ) में पहली बार कल्पना या अनुमानजन्य विश्वासों को नकार कर साहित्य, धर्म, दर्शन और सामाजिक परम्पराओं को वैज्ञानिक दृष्टि से परखने का प्रयास किया गया। हिन्दी पत्रकारिता की अधिकांश सामग्री में निष्पक्ष- संतुलित दृष्टि से सोचने-विश्लेषित करने की प्रक्रिया विद्यमान है।

पत्र-पत्रिकाओं ने प्राचीनशास्त्रों के ‘प्रामाण्यवाद’ के विरुद्ध अभियान छेड़ते हुए तर्क और प्रामाणिकता पर जोर दिया। उन्होंने शास्त्रों की पूर्व स्थापित मान्यताओं और विश्वासों को पुनर्मूल्यांकित करने के लिए वैज्ञानिक प्रगतिशील दृष्टिकोण को अपनाया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अधिकांश रचनाओं में तर्क-सम्मत प्रामाणिक दृष्टिकोण का आग्रह देखने को मिलता है। ‘प्रथमतः कर्म मार्ग में फंस कर लोग अनेक देवी-देवताओं को पूजते हैं.....थोड़ी बुद्धि बढ़ने ही से यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि इतने देवी-देव इस अनंत सृष्टि के नियामक नहीं हो सकते, इसका कर्ता स्वतंत्र कोई विशेष शक्ति सम्पन्न ईश्वर है।”¹⁰

भारतेन्दु की पत्रकारिता प्रगतिशीलता की दृष्टि से भी बहुत आगे बढ़ी हुई है। “अब बिना ऐसा उपाय किए काम न चलेगा कि रुपया भी बढ़े और वह रुपया बिना बुद्धि के न बढ़ेगा। भाइयो, राजा-महाराजाओं का मुँह मत देखो, मत यह आशा रखो की पंडित जी कथा में ऐसा उपाय बतलावेंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बुढ़े, तुम आप ही कमर कसो।”

I UnHk %

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान; दिल्ली 2005; पृ0 415.
2. हिन्दी प्रदीप, जून 1906, पृ0 3.
3. समय विनोद; सुदर्शन समाचार, 15 जुलाई, 1876, पृ0 4.
4. कविवचन सुधा, 9 मार्च, 1874, पृ0 06
5. बालकृष्ण भट्ट रचनावली; अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली 2014; पृ0 206.
6. कविवचन सुधा, 16 फरवरी 1874; पृ0 05
7. समयविनोद; सुदर्शन समाचार, 1 मई 1876, पृ0 4.
8. भारत जीवन, 24 मार्च, 1884; पृ0 11.
9. संपादक धनंजय भट्ट सरल, हिन्दी की दशा और पत्रकारिता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1972; पृ049.
10. भारतेन्दु समग्र (पहला भाग), पृ0 794-95.



jk"V fuek'rk d : lk e MkO Hkhejko vEcMdj

MkO jkeÑ".k*

‘आजादी का अर्थ है, उस मौके को खो देना, जब हर गलत चीज की जिम्मेदारी ब्रिटिश शासकों पर थोपी जा सकती थी, अगर कुछ गलत होता है तो उसके लिए कोई और नहीं, हम खुद जिम्मेदार होंगे, अब गलत हो जाने का खतरा बहुत बड़ा है’— संविधान सभा के समापन अवसर पर संविधान निर्माता डॉ० अम्बेडकर की पंक्तियाँ उनकी दूरदर्शिता को स्वयं प्रमाणित करती हैं। डॉ० अम्बेडकर का जीवन राष्ट्र और समाज में दबे कुचले पीड़ित अधिकार वंचित समाज की सेवा के लिए समर्पित था। उनके सामने जहाँ एक तरफ करोड़ों दुःखी पीड़ित लोगों के अधिकार संरक्षण का प्रश्न था, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र हित का सतत् संवर्द्धन भी। डॉ० अम्बेडकर का जीवन सिर्फ दलितों तक ही सीमित नहीं था, अपितु एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण था, जो प्रजातांत्रिक मूल्यों के साथ नई तकनीकी का प्रयोग कर अपनी आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुता को कायम करे।

भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर भारतीय सामाजिक राजनीतिक आन्दोलन के ऐसे पुरोधा थे, जिन्होंने जीवनपर्यन्त समाज के आखिरी पायदान पर संघर्षरत व्यक्तियों की बेहतरी के लिए संघर्ष किया। डॉ० अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, सभी प्रकार के सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों से वंचित एक अछूत परिवार में पैदा होकर भी दुनिया के सबसे अधिक शिक्षित व्यक्तियों में अग्रगण्य रहे। अमेरिका, इंग्लैण्ड और जर्मनी की उच्च उपाधियों के बावजूद भी समाज में घोर अपमान का सामना करना पड़ा, जब वे महाराजा बड़ोदरा के दरबार में सैनिक सलाहकार के उच्च पद पर नियुक्त हुए तो उन्हें इतना अपमानित किया गया कि उन्हें यह नौकरी छोड़नी पड़ी। जातीय अपमान से तंग आकर उन्होंने फिर कभी नौकरी न करने का निर्णय लिया और इंग्लैण्ड से बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त कर स्वतन्त्र रूप से वकालत शुरू की।

डॉ० अम्बेडकर इस्त्राईल की जनता के मुक्तिदाता मोजिज की भाँति भारत में वंचित समाज को जाग्रत कर, उन्हें उनकी शक्तियों का आभास कराने तथा अपने अधिकारों का ससम्मान प्रयोग करने हेतु प्रेरित किया, उन्होंने दलितों को ‘शिक्षित हो, संघर्ष करो और संगठित हो’ का नारा देकर सामाजिक मुक्ति का मार्ग दिखाया। बाबा साहब का सम्पूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत् क्रांति की शौर्य गाथा है। वे एक ऐसे समाज की संरचना चाहते थे, जिसमें वर्ण और जाति नहीं बल्कि समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबा साहब का चिन्तन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था, जिसके तहत मानव मानव में भेद किया जाता था, से डॉ० अम्बेडकर कई बार टकराये, इस टकराव से डॉ० अम्बेडकर में ऐसा जज्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन कामिशन बना लिया। समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ० अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक—धार्मिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन व चिन्तन मनन किया। उन्होंने कहा था : ‘भारत एक अनूठा देश है, इसके राष्ट्रवादी और देशभक्त भी अनूठे हैं। ‘भारत में एक देशभक्त और राष्ट्रभक्त वह व्यक्ति है जो अपने समान अन्य लोगों के साथ मनुष्य से कमतर व्यवहार होते हुए अपनी खुली आँखों से देखता है, लेकिन उसकी मानवता

*एसोसिएट प्रोफेसर—हिन्दी, शहीद स्मारक राजकीय महाविद्यालय, यूसुफपुर, मुहम्मदाबाद, गाज़ीपुर

विरोध नहीं करती। उसे मालूम है कि उन लोगों के अधिकार अकारण छीने जा रहे हैं, लेकिन उनकी मदद करने की सभ्य संवेदना नहीं जगती। उसे पता है कि लोगों के एक समूह को सार्वजनिक जीवन से बाहर कर दिया गया है, लेकिन उसके भीतर न्याय और समानता का बोध नहीं होता। मनुष्य और समाज को चोटिल करने वाले सैकड़ों निन्दनीय रिवाजों के प्रचलन की उसे जानकारी है, लेकिन वे उसके भीतर घृणा का भाव पैदा नहीं करते हैं, देशभक्त सिर्फ अपने और अपने वर्ग के लिए सत्ता का आकांक्षी होता है। मुझे प्रसन्नता है कि मैं देशभक्तों के उस वर्ग में शामिल नहीं हूँ। मैं उस वर्ग में हूँ, जो लोकतंत्र के पक्ष में खड़ा होता है और जो हर तरह के एकाधिकार को ध्वस्त करने का आकांक्षी है। हमारा लक्ष्य जीवन के हर क्षेत्र—राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक—में एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धान्त को व्यवहार में उतारना है।'

एक व्यक्ति एक वोट की राजनीतिक बराबरी होने के बावजूद भी सामाजिक और आर्थिक विषमता लोकतंत्र की प्रक्रिया को दूषित करती है, इसलिए आर्थिक समानता एवं सामाजिक भेदभावविहीन जनतांत्रिक के प्रति वे प्रतिबद्धता का आग्रह करते हैं। डॉ० अम्बेडकर की लोकतांत्रिक मूल्यों अटूट आस्था थी, वे कहते थे— 'जिस शासन प्रणाली से रक्तपात किये बिना लोगों के आर्थिक व सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाता है, वह लोकतंत्र है।' वे मनुष्य के दुःखों की समाप्ति सिर्फ भौतिक व आर्थिक शक्तियों के आधिपत्य से नहीं स्वीकारते थे, उन्होंने मार्क्सवादियों से कहा कि 'मनुष्य केवल रोटी के सहारे जिन्दा नहीं रहता, उसके पास मन है, उस मन को विचारों की खाद चाहिए। धर्म मनुष्य के मन में आशा का निर्माण करता है, उसे काम करने के लिए प्रवृत्त करता है।' उनके अनुसार धर्म सिर्फ पुस्तकों का वाचन या पराप्राकृतिक में विश्वास नहीं है, यह धम्म है, नीति है, जो सभी के लिए ज्ञान का द्वार खोलता है, जिसमें कोई भेदभाव व संकुचितता नहीं है। डॉ० अम्बेडकर महात्मा बुद्ध के जिस धम्म पथ को स्वीकारते हैं, उसमें प्रज्ञा या विचार—धम्म महत्वपूर्ण है, परन्तु केवल ज्ञान खतरनाक है, यह शील के बिना अधूरा है, इसलिए शील या आचरण—धम्म भी महत्वपूर्ण माना है, प्रज्ञा, शील, करुणा और मैत्री भावों से संचालित समाज ही समता का समाज हो सकता है, जो सामाजिक क्रांति का नैतिक आदर्श है।

भारत के भावी संविधान के निर्माण के सम्बन्ध में 1930 और 1932 में इंग्लैण्ड में गोलमेज कान्फ्रेंस बुलाई गई, जिसमें डॉ० अम्बेडकर को डिप्रेस्ड क्लासेज के प्रतिनिधि के रूप में आमंत्रित किया गया था, जिसका एम के गॉंधी ने पुरजोर विरोध किया था, डॉ० अम्बेडकर ने अपना पक्ष रखते हुए कहा था— 'सभापति महोदय, मैं इस सभा में संवैधानिक सुधारों के प्रश्न पर उन दलित वर्गों का पक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ, यह ब्रिटिश भारत की 430 लाख जनता अथवा 1/5 जनसंख्या का पक्ष है। दलित वर्ग स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है, जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग है। यद्यपि उन्हें हिन्दू कहा जाता है, किन्तु वे हिन्दू का किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं। वे न केवल उससे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, वह भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से बिलकुल भिन्न है। भारत में अनेक जातियाँ अत्यन्त दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं, किन्तु दलित वर्गों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अन्तर केवल इतना है कि कृषि कर्मियों और नौकरों के साथ अस्पृश्यता का बर्ताव नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग अस्पृश्यता के अभिशाप का शिकार है। उससे भी खराब बात यह है कि अस्पृश्यता के कारण उन पर लादी गई गुलामी से न केवल सार्वजनिक जीवन में भेदभाव बरता जाता है, बल्कि उन्हें समान अवसरों और मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है। मुझे विश्वास है कि इतने बड़े वर्ग, जिसकी जनसंख्या इंग्लैण्ड अथवा फ्रांस की जनसंख्या के बराबर है और जो अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने के लिए भी सक्षम नहीं है। दलित वर्गों ने अंग्रेजों का रूढ़िवादी हिन्दुओं के सदियों पुराने जुल्मों और अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वालों के रूप में स्वागत किया था। उन्होंने हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों के विरुद्ध युद्ध में लड़कर अंग्रेजों को भारत का यह विशाल साम्राज्य जीतकर दिया था, जिसके लिए उन्होंने दलित वर्गों के संरक्षण की भूमिका ग्रहण की थी। किन्तु जब हमने अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वर्तमान सरकार का मूल्यांकन किया है और देखा है कि इसमें एक अच्छी सरकार के आवश्यक आधारभूत तत्वों का भी अभाव है।' ब्रिटिश सत्ता की तीखी आलोचना करते हुए डॉ०

अम्बेडकर आगे कहते हैं—‘ब्रिटिश सरकार ने सामाजिक व्यवस्थाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया और विश्वासपूर्वक उन्हें उस चीनी दर्जी की भाँति सुरक्षित रखा, जिसे पुराने कोट के नमूने पर जब नया कोट सिलने को दिया गया, तो उसमें गर्व से पैबन्द, खोंच आदि सभी लगा दिए गए। अंग्रेजी शासन के 150 वर्ष बीत जाने के बाद भी हमारी तकलीफें उन खुले घावों की तरह हैं, जिसपर मरहम लगाने का कोई प्रयास नहीं किया गया।’ मैं चाहता हूँ कि उस दृष्टिकोण से यह अधिवेशन प्रारंभ से ही अवगत हो जाए। मैं यह भी चाहता हूँ कि भारत में नौकरशाह शासन प्रणाली को बदलकर एक ऐसी सरकार स्थापित की जाए, जो जनता की हो, जनता द्वारा चलाई जाए और जनता के लिए हो।

डॉ० अम्बेडकर अंग्रेजी शिक्षा के पोषक थे, जब महात्मा गाँधी, सी राजगोपालाचारी, रविन्द्र नाथ टैगोर, डॉ जाकिर हुसैन तथा अन्य लोग मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा की आलोचना में लगे थे तो बाबा साहब ने इसके विपरीत अपने बच्चों को स्कूल और कालेज भेजकर पढ़ाने की प्रेरणा दी। उनका शिक्षा प्रचार का कार्यक्रम केवल दलितों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने सभी वर्गों के लिए उच्च शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रयास किया। डॉ० अम्बेडकर ने इस कार्य हेतु पीपल्स एजुकेशन सोसायटी के माध्यम से बम्बई में कालेज स्थापित किए, जिसमें बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी वर्गों को शिक्षा उपलब्ध कराई और जनसाधारण की समस्याओं को सामने रखकर उसमें प्रातः तथा सायंकालीन पढ़ाई की व्यवस्था प्रदान की। बाबा साहब का यह प्रयास भविष्य में मील का पत्थर साबित हुआ।

डॉ० अम्बेडकर का मन्तव्य था कि आधी आबादी की स्वतन्त्रता और उसको अधिकारसम्पन्न बनाये बिना मजबूत राष्ट्र की परिकल्पना बेमानी है, वे दलित पिछड़ों की स्वतन्त्रता और उनके अधिकारों के संरक्षण के संघर्ष के साथ महिला हितों के लिए भी आजीवन संघर्षरत रहे। 28 जुलाई 1928 के दिन, उन्होंने बम्बई विधान परिषद में स्त्रियों के लिए प्रसूति से जुड़े पहलुओं से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण विधेयक पेश किया था। उसका जोरदार समर्थन करते हुए उन्होंने कहा था कि यह देश के हित में है कि माँ को बच्चे के जन्म के दौरान आराम मिले। सरकारी और निजी दोनों क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाले तमाम कारखाने, खदान या ऐसे सभी उपक्रम, जहाँ भारी संख्या में स्त्रियाँ मजदूरी करती हैं और जो खतरनाक हैं और जिनमें काम करना उनके लिए जानलेवा भी सिद्ध हो सकता है, यह उनकी जिम्मेदारी है कि वे इस खर्च का वहन करें, क्योंकि वे स्त्री श्रमिकों को तभी काम पर रखते हैं, जब उन्हें इससे ज्यादा फायदा होता है। इस विधेयक का मुख्य आधार अन्य सुविधाओं के साथ ही महिला श्रमिकों के लिए वेतन समेत छुट्टियों का प्रावधान था।

इसके बाद, डॉ० अम्बेडकर ने बम्बई विधान परिषद में पी० जे० रोहम द्वारा नवम्बर 1938 में जनसंख्या नियंत्रण विधेयक के रूप में एक ऐतिहासिक विधेयक पारित करवाया, उस विधेयक ने मनु के सदियों से चले आ रहे उस दर्शन को ध्वस्त कर दिया, जिसमें स्त्री को एक ऐसे गुलाम के रूप में जीने को कहा गया था, जिसका अपनी ही देह और कोख पर अधिकार न हो। उस दर्शन के मुताबिक उसका जन्म स्त्री के रूप में इसलिए हुआ है कि वह पुरुष की सेवा करे, उसे तृप्त करे और बच्चा पैदा करने का साधन बनी रहे। भारत के इतिहास में पहली बार इस विधेयक ने स्त्रियों को यह अधिकार दिया कि अनचाहे गर्भ से मुक्ति उनका अपना निर्णय होगा और अपनी देह और कोख पर अपना अधिकार।

राष्ट्र निर्माण हेतु उन्होंने समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व एवं मानवता पर आधारित भारतीय संविधान द्वारा देश के समस्त नागरिकों को राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करने, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने हेतु उनका दृढ़ प्रतिज्ञ होना ही उनके सच्चे राष्ट्रवाद का द्योतक है।

I UnHk §

1. प्रो. एस.के.नाथन, बी. के. अहलूवालिया व शशि अहलूवालिया/द रेवोल्यूशनरी बी.आर. अम्बेडकर एण्ड ह्यूमन राइट्स

2. ए.एम. राजशेखरैया/द कॉन्स्टीट्यूशन मेकर, बी. आर. अम्बेडकर
3. डब्ल्यू एन कुबेर/आम्बेडकर –क्रिटिकल स्टडी, 1977
4. सं. /डी कीर/अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, 1961
5. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : संवैधानिक सुधार एवं आर्थिक समस्याएँ/सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड, 2/7
वाँ संस्करण/जुलाई 2013
6. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : बम्बई विधान सभा में/सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड, 32/7 वाँ संस्करण/
जुलाई 2013
7. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : गोलमेज सम्मेलन में/सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड, 52/7 वाँ संस्करण/जुलाई
2013
8. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रशासन और वित्त प्रबन्ध सम्पूर्ण वाङ्मय,
खण्ड, 11/7 वाँ संस्करण/जुलाई 2013
9. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : रुपये की समस्या—इसका उद्भव और समाधान/ सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड,
12/7 वाँ संस्करण/जुलाई 2013
10. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : कांग्रेस एवं गाँधी ने अस्पष्टियों के लिए क्या किया /सम्पूर्ण वाङ्मय,
खण्ड, 16/7 वाँ संस्करण/जुलाई 2013
11. सं./बसन्त मून / डॉ. अम्बेडकर : लेजिस्लेटिव कौंसिल में/सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड, 18/7 वाँ
संस्करण/ जुलाई 2013
12. सं./बसन्त मून / डॉ. अम्बेडकर : केन्द्रीय विधानसभा में (1)/सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड ,20/7 वाँ
संस्करण/जुलाई 2013
13. सं./बसन्त मून/डॉ. अम्बेडकर : केन्द्रीय विधानसभा में (2)/सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड, 21/7 वाँ
संस्करण/जुलाई 2013
14. डॉ. डी. डी. बसु/ भारत का संविधान: एक परिचय/11वाँ संस्करण/2015



fgUnh uo t kxj.k dh food ijEijk dk egUo

vfLerk frokjh*

नवजागरण के चिन्तन ने अंग्रेजी साम्राज्यवादी शोषण पद्धति और रंगभेद के आधार सिद्धान्तों के प्रति विरोध प्रकट किया था, “चाहे जिस तरह देखिए, प्रजा की अपेक्षा राजा भारत की दुर्दशा के विषय में कहीं ज्यादा दोषी बनाये हुए है और इसी विभिन्नता ने भारत का रुधिर शोषण प्रारम्भ कर दिया है, इसी से तो आइन शास्त्र सम्बन्धी आइन इम्पीरियल आदि लहू पीने वाले टैक्स और समस्त दुःखदायी कर्मों की उत्पत्ति है। अतः जब तक राजा-प्रजा सब कामों में एक न होयेंगे, जब तक राजा को प्रजा का विश्वास न होयेगा और श्वेत कृष्ण का अन्तर तिरोहित न होयेगा तब तक भारत के सुख-समृद्धि और धन की वृद्धि होना सम्पूर्ण असंभव है।”¹

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि नवजागरण के महान उद्देश्यों की पूर्ति और प्रेरणा से तर्कशील चिंतन का पोषण हुआ था। राष्ट्रीय चिंतन तथा ज्ञान-विज्ञान के बढ़ते प्रभाव से इसका पल्लवन हुआ तथा नया प्रगतिशील वैज्ञानिक रूप निखरा।

उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिम वैज्ञानिक प्रगति, आधुनिक ज्ञान के संस्पर्श तथा बौद्धिक जागरण ने साहित्य को काल्पनिक उड़ानों से उतार कर ठोस यथार्थ धरती पर चलना सिखाया। जागृत पत्रकारिता के माध्यम से साहित्य युगीन जीवन के यथार्थ से संबद्ध हुआ। उसमें बौद्धिकता, तर्कशीलता एवं स्वतन्त्र विचार मंथन के लिए जागरुकता आयी।

पत्र-साहित्य में जागरुक आधुनिक मानसिकता, टूटते सामाजिक दायरे और बदलते मानवीय सम्बन्ध यथार्थ रूप में मुखर हो उठे थे।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में छपी विविध विधाओं नाटक, कविता, उपन्यास, लेखों आदि के माध्यम से संक्रमणकालीन यथार्थ समस्याओं-बेकारी, भुखमरी, नारी जीव की नारकीय दशा, नवीन-पुरातन संस्कारों के लिए आकर्षण-विकर्षण, पाश्चात्य-प्राच्य संस्कृति के दुहरे मापदण्डों के बीच झूलते शिक्षित युवाओं की उलझन और अन्तर्द्वन्द्व, नये आर्थिक सामाजिक समीकरण आदि को वास्तविक रूप में उकेरा गया है। ‘हिन्दी प्रदीप’ में प्रकाशित शिवराम पांड्या की कविता ‘नौकरी’ में सरकारी नौकरी के पीछे पागल शिक्षित युवा वर्ग की बेरोजगारी का यथार्थ अंकन हुआ है।²

dgrk g gj c'kj ;gk vc gk; u0djhA
 << I vc dgE ugE feYkrh g u0djhAA
 d0Mh d rhu&rhu g bxfYk'k d i<u gkjA
 bl u0djh d fYk, << g vkfQl I kjAA
 nI nI vflYkd'ku cB jg cpkjA
 dgr g vc r" lc <" ;x V'djhAA
 iVd g I j ufVo] gk gk epkr gA
 fur mB lYkke] dju d" cxY" i tkr glAA
 #i ;k [kjp dj viuh MkYkh p<kr glAA

उपर्युक्त कविता अपनी भाषा, अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति और सामयिक विषय बोध में आज की सी सार्थक पहचान देती है।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

‘कविवचन सुधा’ में प्रकाशित ‘लेवी प्राण लेवी’ में तत्कालीन दरबारी परिवेश और उपस्थित विवश भारतीयों की यथार्थ दशा का सजीव रेखांकन हुआ है— इतने में कोलाहल हुआ लाट ‘साहब आते हैं।’ राय नारायण दास ने फिर अपने मुख को खोला ‘स्टैंड अप’ खड़ हो जाव। सबके सब एक साथ खड़े हो गए.....इतने में फिर कुछ आने में देर हुई और फिर सब लोग बैठ गये। वाह! वाह! दर्बार क्या था ‘कठपुतली का तमाशा’ या बल्लमटेरों की ‘कवायद’ या “बंदरों का नाच था या किसी पाप फल भुगतना था या फौजदारी की सजा थी बैठते देर न हुई थी कि युत् लार्ड साहिब आये फिर सबके सब उठ खड़े हुए।”³

‘ब्राह्मण’ ने ‘बेगारी विलाप’ में तत्कालीन सामाजिक-शोषण की सच्चाई को प्रस्तुत किया था—

^dfg u tk; d!l dg! d@u l@ ee gkYk
nf[kru gh d" nr n@k gk; n@ p.MkYk
lckd! feYkh LorU=rk vxj!tu d! jktA
ge! xYkkeh gh cuh ij! Òkx ij xkt**AA⁴

तत्काल जागरण ने पत्र-साहित्य को हवाई रचना जाल से हटाकर बौद्धिक आधार पर प्रतिष्ठित किया। यह कार्य पत्रकारों ने साहित्य के तत्वों की युगानुरूप पुनर्व्याख्या और पुनः संस्कार करके किया। बदलते जागृत परिवेश के अनुकूल साहित्य में तर्कयुक्त विश्लेषण बौद्धिक विचारणा तथा सामयिक यथार्थ की अभिव्यंजना का प्रबल आग्रह अधिकांश पत्रों में मिलता है। ‘हिन्दी प्रदीप’ में प्रकाशित ‘वेद’ (अप्रैल, 1878) ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ (जुलाई, 1881), ‘सार सुधा निधि’ का ‘साहित्य’ (13 जनवरी, 1879) आदि सैकड़ों हजारों निबन्धों का विवेचन बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही किया गया है। साहित्य के समस्त अंगों-उपांगों रस, अलंकार, छन्द, काव्य के गुण-दोष, साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों में भी यथार्थवादी बौद्धिक भंगिमा को स्पष्टतः देखा जा सकता है। ‘अभेद्य दुर्ग सदश पाणिनी के व्याकरण के आगे हिन्दी का व्याकरण छोटी सी फूस की झोपड़ी है। यह तो प्रकट है कि अब हमें उतने बड़े व्याकरण की आवश्यकता न रह गई.....सच पूछिए तो दो गाड़ी के बोझ की पुस्तकें ‘शेखर मंजूषा’, ‘कैयट’ आदि बड़े-बड़े जगवाल रचे गये। उनमें और क्या? सिवा इसके कि कीचड़ में पॉव बोर फिर धोओ। ऐसी सरल भाषा हिन्दी में इस सब खटपट का अब कुछ काम ही न रह गया।’⁵

संपादक एवं पत्रकार अपनी कलात्मक शब्द शक्ति से पूर्णतया परिचित होते हैं। इसी के बल पर वे सत्ता को हिलाने तक की शक्ति रखते हैं। ‘अज्ञेय’ ने ‘नदी के दीप’ उन्हास में अपने एक पात्र से इसी भाषा-सामर्थ्य के विषय कहलवाया है। “शब्दों का अधिकार.....वह अधिकार तो पत्रकार का है, वही असली रचयिता है, स्रष्टा है, कला वह जो न कुछ को लेकर बतंगड़ खड़ा कर दे, सनसनी फैला दे, दंगे-बलवे-इंकलाब करवा दे, कभी किसी कवि ने, कलाकार ने इंकलाब नहीं करवाया। जर्नलिस्ट ही अपनी मुट्ठी में इंकलाब लिये फिरता है।”⁶

तत्कालीन हिन्दी पत्रकार क्रांतिकारी साहित्यकार भी था, उसमें भाषा-सामर्थ्य के साथ कलात्मक साहस भी अद्भुत रूप से मिश्रित हो गया था। आधुनिक साहित्यिक विधाओं का अंकुरण और पल्लवन उनके कलात्मक साहस की ही परिणति है :

Òhrj Òhrj lc j! p!A
gfl gfl d! ru eu /ku e!AA
tkfgj ckru e! vfr r!tA
D; ;! lf[k lTtu ufg vxj!tAA

इनकी अनगढ़, अटपटी लगने वाली रचनाओं में भी एक जीवन्त शिल्प, सशक्त जन भाषा और साहित्यिक चेतना है। ‘कला’ की कीमत पर इन पत्र-पत्रिकाओं को कुछ कहना अभीष्ट नहीं था। फिर भी ‘यह युग भारतीय साहित्य का सबसे सचेत युग है।.....‘यमलोक की यात्रा’ (सार सुधानिधि, 14 जून, 1880) में संपादक-साहित्यकार राधाचरण गोस्वामी का कलात्मक दुस्साहस देखिए— “साहब, प्रथम प्रश्न सुन लीजिए—गोदान का कारण क्या है? यदि गौ की पूँछ पकड़ कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से

नहीं उतर सकते। जब बैल से उतर सकते हैं, तो कुत्ते ने क्या चोरी की।¹⁷ कुत्ते से वैतरणी पार करने की कल्पना क्या रीतिकाल में की जा सकती थी? अतः नवजागरण ने पत्र-साहित्य को साहसिक रूप प्रदान कर उसे युग के ज्वलंत प्रश्नों, सांस्कृतिक विडम्बनाओं और विकराल समस्याओं से जोड़ा। युगीन समस्याओं से हट कर वे कभी कलात्मकता के चक्कर में नहीं पड़ी क्योंकि उनका उद्देश्य कलात्मक विलास नहीं था। उन्होंने तो अपनी समस्त कलात्मकता और भाषा-वैभव को राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में समर्पित कर दिया था।

हिन्दी के भाषा-सामर्थ्य के विषय में डॉ० धर्मवीर भारती का यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि “भारत की धरती के अभागे लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई देशी भाषा के शब्दों के सहारे लड़ी। ...माध्यम बहुत सीमित थे लेकिन शब्द की गरिमा जागृत थी इसीलिए जन-संपर्क अद्वितीय था.....हिन्दी शब्द-प्राणवान था, वह अर्थ देने में समर्थ था। बस इतना मालूम था कि इस शब्द का अर्थ है- क्रांति, स्वतन्त्रता, प्राणदान।”¹⁸

यद्यपि तब गोरे शासकों की गोरी भाषा के शब्द ही चलते थे, हिन्दी को सब अधिकारों से वंचित कर दिया गया था किन्तु कलात्मक साहस और भाषा-सामर्थ्य के बल पर ही भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के पत्रकार जनता को प्रभावित और सत्ता को आतंकित करने में सफल हुए थे।

युगीन व्यापक जन चेतना के कारण ही तत्कालीन पत्रकारों ने विशुद्ध हिन्दी भाषा को महत्व न देकर अन्य सभी भाषाओं के लोकप्रिय देशज शब्दों को अपना कर भाषा को अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाने पर जोर दिया था ‘अच्छे लेखकों का काम है कि बाहरी भाषाओं के शब्दों का अपना-सा कर डालना जिससे भाषा दिन-प्रतिदिन अमीर होती जाय।’ हिन्दी भाषी आन्दोलन भी नव जागरण से ही उपजा था।

कलात्मक साहस और भाषा-सशक्तता के लिए पूर्ववर्ती अध्यायों का अवलोकन किया जाना चाहिए। यहाँ पिष्टपेषण से अनावश्यक विस्तार करना उचित न होगा।

I UnHk %

1. उचित वक्ता; अंक 15, 1880, पृ० 03
2. हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1879, पृ० 10.
3. कविवचन सुधा; 15 अक्टूबर, 1880, पृ० 09
4. ब्राह्मण; 15 अप्रैल, 1883; पृ० 21.
5. हिन्दी प्रदीप, जून 1885, पृ० 2-3.
6. अज्ञेय, नदी के द्वीप, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1978, पृ० 41.
7. सारसुधानिधि; 14 जून 1880; पृ० 07.
8. उद्धृत : भारतीय पत्रकारिता का महत्व, वेद प्रताप वैदिक, राजहंस प्रकाशन, दिल्ली, 2000; पृ० 144.



fgUn t hou lLdkj dk Ác/ku ,o 'kf) dj.k

pknuh f lUgk*

ljk'k ॥ संस्कार यानि मन, वचन, कर्म और शरीर के शुद्धिकरण की प्रक्रिया। महर्षि वेद व्यास के अनुसार मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक पवित्र सोलह संस्कारों से जुड़ा होता है। संस्कार व्यक्ति के सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन को परिष्कृत कर उसे सभ्य कहलाने के मार्ग पर अग्रसित करता है। संस्कार ने सिर्फ हिन्दू धर्म बल्कि संसार के किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण अंग है। जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है। बहुत प्राचीन काल से ही विभिन्न संस्कारों को यहाँ के जीवन-दर्शन और नैतिक मूल्यों के आधार के रूप में देखा जाता रहा है। भारतीय समाज में धर्म को सिर्फ अलौकिक विश्वास से नहीं जोड़ा जाता बल्कि इसे एक जीवन-विधि माना गया है। संस्कार व्यक्ति को न सिर्फ आध्यात्मिक का बोध कराती है बल्कि सामाजिकता एवं संसारिकता के उत्तरदायित्वों के प्रति भी सजग करती है। इसलिए राजबलि पाण्डेय ने सही लिखा है “संस्कारों का उदय सुदूर अतीत में हुआ था और कालक्रम में अनेक परिवर्तनों के साथ वे आज भी जीवित हैं”¹ यदि जिन्दगी को संस्कृति, धर्म और संस्कारों से वंचित कर दिया जाय तो संभवतः व्यक्ति के जीने की चाहत ही समाप्त हो जायेगी और वह जिन्दगी के बजाय मौत की कामना करने लगेगा। हिन्दु धर्म के अनुसार संस्कारों को मुख्यतः पाँच भागों में बाँटा गया है— 1. जन्म से पूर्व के संस्कार, 2. बाह्यावस्था के संस्कार, 3. शैक्षणिक संस्कार, 4. विवाह संस्कार, 5. अन्त्येष्टि।

जन्म के पूर्व से लेकर जन्म लेने के बाद भी मृत्यु-पर्यन्त उपर्युक्त पाँचों संस्कारों की महत्ता एवं सहभागिता किसी-न-किसी रूप में अपना महत्त्व कायम रखती है। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि व्यक्ति के जीवन-प्रबन्धन में आज भी संस्कार की प्रासंगिकता साबित होती है।

हिन्दु धर्म अपनी विशालता एवं प्राचीनता के कारण सनातन धर्म भी माना गया है। महर्षि वेदव्यास के अनुसार मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक पवित्र सोलह संस्कारों से जुड़ा होता है। संस्कार यानि मन, वचन, कर्म और शरीर के शुद्धिकरण की प्रक्रिया। संस्कार शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा से हुई है, जिसका अर्थ होता है— व्यक्ति के सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन को परिष्कृत कर उसे सभ्य कहलाने के मार्ग पर अग्रसित करना। अतः संस्कारहीन व्यक्ति असभ्यों में श्रेणीबद्ध हो जाता है। डॉ० राजबलि पाण्डेय का मानना है कि “संस्कार हिन्दू धर्म अथवा संसार के किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण अंग है।”² वास्तविकता भी यही है कि धर्म चाहे कोई भी हो सबका उद्देश्य एक ही होता है और वह है धार्मिक-सामाजिक एकता एवं सामंजस्य और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी धर्मों द्वारा कुछ-न-कुछ संस्कार निर्धारित किये जाते हैं। जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है, बहुत प्राचीन काल से ही विभिन्न संस्कारों को यहाँ के जीवन-दर्शन और नैतिक मूल्यों के आधार के रूप में देखा जाता रहा है। भारतीय समाज में धर्म को सिर्फ अलौकिक विश्वास से नहीं जोड़ा जाता इसे एक ‘जीवन-विधि’³, माना गया है। धर्म व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में अपने कर्तव्य का भी बोध करती है और इसी कर्तव्य बोध को ज्ञान के लिए व्यक्ति विभिन्न संस्कारों से गुजरता है और ये संस्कार व्यक्ति को न सिर्फ आध्यात्मिकता का बोध कराती है बल्कि सामाजिकता एवं संसारिकता के उत्तरदायित्वों के प्रति भी सजग करती है। इस दृष्टिकोण से डॉ० राजबलि पाण्डेय ने ठीक ही कहा है — “संस्कारों का उदय सुदूर अतीत में हुआ था और कालक्रम में अनेक परिवर्तनों के साथ वे आज भी जीवित हैं।”⁴

*समाजशास्त्र विभाग, पटना विमेंस कॉलेज, (पटना विश्वविद्यालय); पटना

यह सच है कि जीवन को सुचारु रूप से चलने के लिए संस्कार को अपने जीवन में उतारना आज भी आवश्यक है। संस्कृत साहित्य में संस्कार शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, शुद्धि, परिष्कार, स्वभाव, धार्मिक विधि-विधान तथा इसी मिलते-जुलते अनेक अर्थों में किया जाता रहा है। जिसकी प्रासंगिकता आज भी देखी जाती है। अगर जिन्दगी को संस्कृति, धर्म और संस्कारों से वंचित कर दिया जाय तो संभवतः व्यक्ति के जीने की चाहत ही समाप्त हो जाये और वह जिन्दगी के बजाय मौत की कामना करने लगे। डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने लिखा है “साधारणतया संस्कार का अभिप्राय कुछ बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुष्ठानों, व्यर्थ के आडम्बरों, कोटे कर्मकाण्डों तथा अनुशासनपूर्ण व्यवहारों से समाज लिया जाता है यद्यपि इनमें से कोई भी क्रिया अथवा चलन संस्कारों के अर्थ को स्पष्ट नहीं करता। तो फिर संस्कार है क्या? साधारण या विकृत वस्तु को विशेष क्रियाओं द्वारा उत्तम बना देना, तथा किसी साधारण मनुष्य को विशेष प्रकार की धार्मिक क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा श्रेष्ठ बना देना ही संस्कार है। हिंदु जीवन के सफर में संस्कार का महत्त्व ऐसा माना जाता है कि संस्कार तो प्रायः सभी धर्मों की परम्परा में शामिल है लेकिन विभिन्न धर्म ग्रंथों में संस्कारों की संख्या में भिन्नता पायी जाती है जैसे गौतम धर्म सूद में चालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है, जबकि पारस्कार गृहन सूत्र तथा बौद्धायण गृह सूत्र में इन संस्कारों की संख्या 13 है।”⁵ मनुस्मृति में भी 13 संस्कारों का ही उल्लेख मिलता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की पुस्तक ‘संस्कार-विधि’⁶ तथा कुछ विद्वानों द्वारा बताये गये संस्कारों में इनकी संख्या 16 मानी गयी है। डॉ० राजबलि पाण्डेय ने भी 16 संस्कारों की संख्या को ही उचित माना है।

1- tUe l i o d lLdkj ᳚ हिंदू धर्म में बच्चे के जन्म लेने से पूर्व ही कुछ संस्कारों का विधान है जिनका उद्देश्य बच्चे के जन्म एवं भविष्य के लिए मंगल-कामना माना है जिसमें तीन प्रकार के संस्कार आते हैं।

d- xOk/kku & पूर्व मीमांसा में कहा गया है ‘जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते हैं। गृह सूत्र में संस्कारों की प्रक्रिया गर्भाधान से ही मानी गयी है। इस संस्कार द्वारा लोगों में यह सन्देश पहुँचाया जाता है कि गर्भ धारण करना कोई साधारण प्रक्रिया नहीं है क्योंकि संतान को जन्म देना एक धार्मिक कर्तव्य है, इसलिए इसमें किसी तरह कि अपवित्रता का प्रश्न नहीं उठता। इस संस्कार में गर्भ की पवित्रता का उल्लेख किया गया है। धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में यह उल्लेख है कि यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ होते हुए भी ऋतुकाल में यदि पत्नी से सम्बन्ध नहीं बनाता है तो भ्रूण हत्या का दोषी माना जाता है क्योंकि हिंदू धर्म में पुत्र जन्म का विशेष महत्त्व है।

[k- ilou & जब स्त्री गर्भ धारण कर लेती है तो उसके बाद गर्भ में पल रहे बच्चे को पुंसवन नामक संस्कार से पवित्र किया जाता है और इस संस्कार के द्वारा पुत्र की कामना की जाती है। ऋषि शौनक का मानना है कि पुंसवन संस्कार को गर्भ के चौथे या पाँचवे माह में करना उत्तम होता है। पुंसवन संस्कार में स्त्री की गोद में जल से भरा एक कलश रखा जाता है जो भावी शिशु के जीवन में मंगल-कामना का प्रतीक है।

x- lhekUr"Uu;u & यह वह संस्कार है जिसके द्वारा गर्भवती महिला को बुरी शक्तियों से बचाना होता है। दूसरा उद्देश्य गर्भवती महिला को खुश रखना होता है, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि माँ का प्रसन्नता ही बच्चे को स्वस्थ और सबल बनती है। यह संस्कार गर्भ के चौथे एवं पाँचवे माह में किया जाता है। इसमें गर्भवती महिला द्वारा उपवास रखा जाता है, साथ ही मातृ पूजा एवं ब्रह्मा पूजा की जाती है। अगर इसकी वैज्ञानिकता देखी जाय तो वह है गर्भवती को किसी भी संभावित दुर्घटना से बचाना।

2- ckákoLFkk d lLdkj : बाह्यावस्था के संस्कार ही बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास का आधार होता है। यही कारण है कि हिंदु शास्त्रकारों ने बाह्यावस्था से जुड़े सभी संस्कारों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चुड़ाकरण तथा कर्णवेध आदि कुछ प्रमुख संस्कार हैं जो बाह्यावस्था में ही संपन्न किये जाते हैं।

d- tkrde & जातकर्म बच्चे के जन्म से जुड़ा संस्कार है। बच्चे के जन्म पर मंगल गीत गाये जाते हैं और परिवार में खुशी की लहर दौड़ जाती है। जातकर्म संस्कार में बच्चे के जन्म के तुरन्त बाद पिता

द्वारा चौथी ऊँगली से नवजात शिशु को शहद और भी चटाया जाता है और तत्पश्चात बच्चे की नाभि की नाल काटकर उसे स्नान कराया जाता है और तब स्तनपान के लिये माँ की गोद में दे दिया जाता है। [k- ukedj.k & यह संस्कार जन्म के दसवें या बारहवें दिन किया जाता है और यदि इन दिनों कोई शुभ दिन न हो तो बत्तीसवें दिन तक भी किया जा सकता था। इस संस्कार में माँ बच्चे को स्नान कराकर उसे शुद्ध कपड़ों में लपेटकर पिता के गोद में दे देती है। पिता शिशु के दाहिने कान में उसके नाम का उच्चारण करके उसके दीर्घायु होने की कामना करते हैं। प्राचीनकाल से ही इसे धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया गया है। डॉ० राजबलि पाण्डेय का कहना है “हिन्दुओं ने अति प्राचीनकाल में ही व्यक्तिगत नामों के महत्त्व का अनुभव किया तथा नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया।”

x- fu"Øe.k & निष्क्रमण यानि ‘बाहर की ओर जाना’ इस संस्कार को सम्पन्न हुये बिना जच्चा और बच्चा दोनों में से किसी के भी बाहर जाने की अनुमति नहीं होती। इस संस्कार को सम्पन्न होने के बाद ही माँ और बच्चे घर से बाहर जा सकते हैं। संस्कार के समय पहले उस स्थान को मिट्टी और गोबर से शुद्ध किया जाता है जहाँ से सूर्य का दर्शन किया जा सके। उस स्थान पर स्वास्तिक बनाकर उस पर धान बिखेर दिये जाते हैं। पिता बच्चे को गोद में लेकर उस शुद्ध स्थान पर आता है और बच्चे को सूर्य के दर्शन कराते हुए मन्दिर ले जाता है और इस संस्कार के सम्पन्न होने के बाद ही बच्चे को बाहर ले जाने की अनुमति दी जाती है।

?k- véÁk'ku – गृहसूत्रों एवं स्मृतियों में शिशु के जन्म के छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार का विधान किया जाता है क्योंकि छः मास में बच्चे को आहार (अनाज) न दिया जाय तो उसका विकास रुक जा सकता है। यही कारण है कि अन्नप्राशन का संस्कार आज भी सभी बच्चों को कराया जाता है जिसमें पहली बार उसे दही, शहद और खीर आदि खिलाया जाता है।

3- pMkdj.k & इस संस्कार में बच्चे के जन्म के बाल को काट दिया जाता है और बालक के दीर्घायु, सौन्दर्य एवं कल्याण की कामना की जाती है। यह प्रथम वर्ष से लेकर तृतीय वर्ष तक सम्पन्न किया जाना चाहिये। पहले यह संस्कार घर में ही किये जाते थे लेकिन बाद में इसे किसी मन्दिर, गंगा तट पर या फिर धार्मिक स्थल पर भी किये जाते हैं।

p- d.ko/k & प्राचीन काल से ही शरीर के विभिन्न अंगों को छेदकर आभूषण पनने का प्रचलन रहा है। डॉ० राजबलि पाण्डेय ने लिखा है— “जहाँ तक कानों को छेदने का प्रश्न है, निःसन्देह आरम्भ में इसका प्रचलन अलंकरण के लिए हुआ होगा किन्तु आगे चलकर यह उपयोगी सिद्ध हुआ है। सुश्रुत ने कर्णवेध की उपयोगिता इन शब्दों में स्पष्ट की है रोग आदि से रक्षा तथा आभूषा या अलंकरण के लिए बालक के कानों का छेन करना चाहिए। आरम्भ में यह संस्कार पिता द्वारा सम्पन्न कराया जाता था लेकिन बाद में इसे सुनार के द्वारा कराया जाने लगा।”⁸

3- 'Ø{kf.kd lLdkj : बच्चे के कुछ और बड़े होने के बाद शैक्षणिक संस्कारों का वर्णन मिलता है जिसमें विद्यारम्भ, उपनयन, केशन्त तथा समावर्तन संस्कार प्रमुख हैं।

d- fo|kjEØ lLdkj & इसका तात्पर्य विद्या का आरम्भ करने से माना जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है जिसकी प्रासंगिकता आज भी देखी जाती है। यह संस्कार पाँचवें से सातवें वर्ष में सम्पन्न कराया जाता है। इस सम्बन्ध में धारणा यह है कि विद्यारम्भ संस्कार आषाढ़ से कार्तिक तक का समय वर्जित है। शेष महीनों में शुभ नक्षत्र में गणेश, सरस्वती, बृहस्पति और गण देवता की पूजा के साथ बालक को गुरु के द्वारा अक्षर ज्ञान देना आरम्भ किया जाता है।

[k- miu;u & उपनयन संस्कार आज भी परिवारों में देखा जाता है। वीरमित्रोदय के अनुसार, ‘वह कृत्य जिसके द्वारा व्यक्ति को गुरु, वेद, यम, नियम और देवता से समीपता स्थापित करने के लिए दीक्षित किया जाय’ वही उपनयन है। धानी, मेधा आदि देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। उपनयन के एक दिन पहले से बालक को मौन व्रत रखना आवश्यक होता है जो संभवतः उसके दुसरे जन्म का प्रतीक होता है। उपनयन के समय पवित्र स्थान के बाद बालक को हलके पीले रंग का वस्त्र शरीर को ढकने के लिए

दिया जाता है। उसकी कमर में ऊन या सूत की एक डोरी बाँध दी जाती है जो संयम और दुष्प्रभावों से रक्षा करने का प्रतीक है। इसके बाद ब्रह्मचारी के वेश में बालक को उपवीत सूत्र (जनेऊ) दिया जाता है। x- onkjĒ & उपनयन संस्कार के बाद वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। इसमें ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्तव्यों से परिचित कराया जाता है लेकिन यह बुद्धि के समुचित विकास के बाद ही संभव हो पाता है ताकि वेदों का अध्ययन किया जा सके लेकिन आज यह संस्कार पूर्णरूपेण समाप्त हो चुका है क्योंकि संस्कृत भाषा का प्रचलन कम हो गया।

?k- d! 'kkUr vFkok x' nku & यह संस्कार सोलह वर्षों की आयु में सम्पन्न कराया जाता है जिसमें पहली बार दाढ़ी और मूँछ के बाल साफ किये जाते हैं। यह संस्कार बालक के युवावस्था में प्रवेश करने का सूचक माना गया है। केशान्त के अवसर पर ब्रह्मचारी अपने आचार्य को एक गाय दान में देता है। इसलिए इसे गोदान भी कहा गया है। ऐसी प्रतीत होता है कि हमारे समाज में जब बाल-विवाहों का प्रचलन बढ़ गया तब ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि को कम करने के लिए इसे संस्कार का प्रचलन हुआ।

3- l ekoŪku & ब्रह्मचर्य आश्रम का अंतिम संस्कार समावर्तन संस्कार ही है। इस संस्कार को तब पूरा किया जाता है जब एक विद्यार्थी गुरुकुल में अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद पुनः घर की ओर वापस लौटता है, जो गुरुकुल द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है और इसे गृहस्थ जीवन के आरम्भ का प्रतीक माना गया है। पर आज इस संस्कार के संस्कार नष्ट हो चुके हैं।

4- fookg lLdkj ॥ हिंदू धर्म में सभी संस्कारों में विवाह संस्कार को एक विशेष श्रेणी में रखा गया है। सभी धर्मशास्त्रों में विवाह को एक ऐसे संस्कारों का दर्जा दिया गया है जो पति-पत्नी को न सिर्फ धार्मिक बंधन में बाँधते हैं बल्कि उनके बीच सात जन्मों या फिर जनम-जनम का नाता बताया गया है। विवाह संस्कार आज भी इन्हीं अवस्थाओं और इन्हीं परम्पराओं का प्रतीक हैं। बहुत सारे धार्मिक अनुष्ठान वैवाहिक दंपतियों द्वारा ही सम्पन्न कराये जाते हैं। परम्परागत रूप से विवाह संस्कार एक लम्बी प्रक्रिया है, जिसमें अनेक अनुष्ठान समाहित हैं। पारस्कर गृहसूत्र में इन अनुष्ठानों की संख्या 30 बतायी गई है जबकि बोधायन गृहसूत्र के अनुसार इन अनुष्ठानों की संख्या 25 है। सभी अनुष्ठान व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों, पारस्परिक कर्तव्यों तथा स्वधर्म के पालन का बोध कराते हैं। अतः आज भी विवाह को एक धार्मिक संस्कार ही माना जाता है।

5- vR ; f'V ॥ अन्त्येष्टि संस्कार के साथ ही हिंदू जीवन-यात्रा समाप्त हो जाती है। वास्तव में मृत्यु एक शाश्वत सत्य समाप्त हो जाता है। अन्त्येष्टि संस्कार में भी अनेक क्रियाओं का समावेश है। ये क्रियाएँ मृत्यु के दिन से लेकर दसवें तथा सत्रहवें दिन तक पूरी की जाती हैं। शव-यात्रा तीन भागों में विभाजित रहती है। पहले शव-यात्रा के साथ मन्त्रोच्चारण का विधान था लेकिन आज इसे 'हरि' और 'राम' के नाम के साथ स्थानापन्न कर दिया जाता है। मृतक की समस्त वस्तुएँ महाब्राह्मण को दान दे दी जाती हैं। इसका उद्देश्य इस तथ्य को सार्वजनिक करना है कि मृतक का अब इस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्त्येष्टि से सम्बंधित अनेक क्रियाएँ परिवार में उत्पन्न शोक को दूर करने तथा दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए की जाती है। इस तरह यह अन्त्येष्टि हिंदू जीवन-यात्रा की समाप्ति का सूचक माना जाता है।

संस्कारों के द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, वह किताबी या धार्मिक न होकर, उसकी प्रकृति सामाजिक, पारिवारिक तथा नैतिक होती है। शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास एवं कर्तव्य-बोध होता है। शिक्षा से सम्बंधित संस्कार ने एक माता-पिता, पुत्र, विद्यार्थी, गृहस्थ आदि के रूप में प्रत्येक को अनुशासित जीवन की शिक्षा दी।

संस्कार के द्वारा लोगों को समाजीकृत करने में भी सफलता मिली। आरम्भिक जीवन के कुछ संस्कार माता-पिता और बच्चे के बीच मधुर-सम्बन्ध को विकसित करते हैं। संस्कार ही उसे यह बताते हैं कि किस समय में किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती है। उपनयन से विवाह तक के सभी संस्कार व्यक्ति को उसके शैक्षणिक एवं सामाजिक कर्तव्यों से परिचित कराते हैं। इस तरह योग एक लम्बे समय तक सामाजिकरण का कार्य करते हैं।

संस्कार नैतिक एवं सांस्कृतिक विकास का भी आधार माना गया है जिसका व्यक्ति के जीवन-प्रबंधन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कार के द्वारा ही व्यक्ति दया, क्षमा, निर्लोभ, समर्पण, पवित्रता आदि नैतिक गुणों का विकास सम्भव हो पाता है। संस्कारों के द्वारा ही सांस्कृतिक विशेषताएँ एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक नैतिकता का भण्डार है।

प्रत्येक संस्कार एक अदृश्य शक्ति की ओर इशारा करते हैं जो सृष्टि का संचालन करता है। इसलिए आवश्यक है कि इन अदृश्य शक्तियों को संतुष्ट करने के लिए एक अनुशासित धार्मिक जीवन जीना जरूरी है। डॉ० पाण्डेय के शब्दों में "संस्कार एक प्रकार के आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते थे। उनके द्वारा व्यक्ति यह अनुभव करता था कि उनका सम्पूर्ण जीवन संस्कारमय है और सभी सांसारिक क्रियाएँ किसी आध्यात्मिक उद्देश्य से ही सम्बंधित है। यही वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का आध्यात्मिक तथ्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता था।"⁹

संस्कार की प्रासंगिकता आज भी जीवन प्रबंधन में देखी जाती है लेकिन संस्कारों की व्यवहारिकता पर सबसे बड़ा आघात तब पहुंचा जब मंत्रों और विधि-विधानों में प्रयुक्त होने वाली भाषा सामान्य व्यक्तियों की समझ से बाहर हो गयी और यहीं से संस्कारों में रूढ़ियों में समावेश होने लगा। आज अधिकांश संस्कारों को हम एक निष्क्रिय एवं अनुपयोगी संस्था के रूप में पाकर उन्हें अपने व्यवहार का अनिवार्य आधार नहीं मानते।

I UnHk §

1. हिन्दू संस्कार विधि; राजबली पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1961; पृ० 101.
2. वही; पृ० 166.
3. संस्कृतिकरण; गवेषणा; अंक 8 जनवरी 2006; पृ० 14.
4. हिन्दू संस्कार विधि; पृ० 182.
5. भारतीय संस्कृति; गोविन्द चन्द्र पाण्डेय; हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद ; 1982; पृ० 134.
6. सत्यार्थ प्रकाश; दयानन्द सरस्वती; आर्यभाषा प्रकाशन, दिल्ली; 1966; पृ० 24.
7. भारतीय समाज एवं संस्कृति; राजबली पाण्डेय; साहित्य भवन, इलाहाबाद; 1997; पृ० 50.
8. वही; पृ० 102.
9. वही; पृ० 114.



foodh jk; d; miU;klk dh HkkoHkfe

fi;dk xlrk*

ग्रामभित्तिक साहित्य की परम्परा में विवेकी राय एक नदी की तरह अवतरित होते हैं, जिसके रचनात्मक—बहाव और ग्रामगन्धी स्वभाव में सभी रचनायें परस्पर गूँथकर एक मजबूत आधारस्तम्भ का निर्माण करती हैं। विवेकी राय की औपन्यासिक यात्रा का प्रारम्भ बबूल (1967 ई0) के प्रकाशन के साथ होता है। इनका समस्त औपन्यासिक संसार उत्तर प्रदेश के भोजपुरी क्षेत्र से जुड़ा है। खासकर गाजीपुर, बलिया, जो आधुनिक सभ्यता के दौर में नितान्त पिछड़ा हुआ कृषिप्रधान ग्रामीण क्षेत्र है। इस अंचल के गांव, खेत—खलिहान, पोखरा—सीवान, सरेहि, बंसवारि, नदी—नाले, फौजदारी पंचायत, पुस्तकालय—विद्यालय, ग्रामीणों का जीवन—संघर्ष, सामाजिक—राजनैतिक विसंगतियाँ साथ ही स्मृति के घने कोहरे में लुप्त होती लोक—परम्परायें, आंचलिक लोकोक्तियाँ, कहावतें, लोरिया, लोकगीत और आस्थाएँ ही विवेकी राय के समस्त उपन्यासों की रसवती प्राणधारा है, जिसे उन्होंने गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है।

विवेकी राय का पहला उपन्यास 'बबूल' है जिसमें उन्होंने समाज के सबसे असहाय, हीन—दीन हरिजन जाति के सर्वहारा मजदूर वर्ग का कारुणिक और सजीव चित्रण किया है। डायरी शैली में रचित इस उपन्यास में कुल 26 पन्ने हैं जो किसी फिल्म की रील जैसी पूर्वाचल की मजदूरों की विपन्नता और यातनाओं की सच्ची तस्वीरें पाठक के समक्ष प्रस्तुत करती है और उन्हें सोचने पर विवश कर देती हैं। लेखक ने इस उपन्यास में स्वयं को प्रबुद्धशीलरूपी नैरेटर के रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास का प्रारम्भ 'घुरबिन' से होता है जो महेशराम उर्फ 'महेसवा' का पिता है। आर्थिक विपन्नता और अभावों के बीच भी घुरबिन पूर्ण सन्तुष्ट है। उसका विश्वास है कि आदमी बड़ा या छोटा परमात्मा के यहां से ही बनकर आता है। वह स्वयं को आदमी नहीं पैर की जूती कहता है— "आदमी नहीं", उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "मालिक, हम तो आपके पैर की जूती हैं। जाति के अछूत और करम के हीन हैं। आपके चरन की धूर बुहारते पीढ़ियाँ गल गईं।"¹

जहाँ कृष्ण जन्मोत्सव के जलसे में मानसिंह जैसे रईस लोग नर्तक पर पैसे लुटा रहे हैं वहीं दूसरी ओर क्षुधा से व्याकुल और प्रसव पीड़ा में पड़ी पत्नी की भूख मिटाने लिए प्रसाद के बहाने कुछ अन्न की आशा में आये घुरबिन की मौत दिखाकर लेखक ने बिना कुछ कहे सामाजिक असमानता, विपन्नता का भयावह स्वरूप पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है। स्वयं लेखक के शब्दों में— "महंत जी की मटिया में वह भूखा इंसान भक्तिवश भगवान् का प्रसाद लेने आया था या नृत्य—गायन के मजे लूटने आया था या अपनी नव—प्रसूता स्त्री की भूख मिटाने के लिए अन्न के कुछ कणों के लिए आया था; उत्तर साफ हो गया।"²

अपने दूसरे उपन्यास 'पुरुष पुराण' (1975) में विवेकी राय ने एक मेहनतकश कुम्हार के जीवन को अपना वर्ण्य—विषय बनाया है। निम्नवर्गीय 'दूखन' के जीवन के विविध स्तरों को लेखक ने रेखाचित्रात्मक शैली में बखूबी पेश किया है। गाँव—गिरह की लोकभाषा से सजी इस कृति में लेखक की विराट ग्रामगन्धी शब्द—सम्पन्न और गँवई समाज के तमाम दुर्लभ चित्र पाठक के मानस—लोक को आवृत्त कर लेता है।

*शोधछात्रा, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

रामदरश मिश्र के अनुसार— “पुरुष पुराण में एक—चरित्र विशेष पर केन्द्रित होने से ग्राम—जीवन का व्यापक चित्र नहीं बन सका है और न कोई नवीन दृष्टि ही उभरी है। डॉ० विवेकी राय की गांव सम्बन्धी विराट अनुभव—संपदा की बानगी खूब मिली है।”³

लोक मानस को उद्घाटित करने वाला और पौराणिक मिथकों को गढ़ता ‘पुरुष—पुराण’ अपनेदंग का अकेला उपन्यास है। दूखन की हर बात निराली है। वह ‘प्रेम सागर’ की कहानियाँ बांचता और उसे ‘रामायण’ की संज्ञा देता है। पोथियों पर उसे आगाध विश्वास है और इसे अपनी विशिष्ट भाषा में पौराणिक कथाओं को मनमाना रूप देता है। शारीरिक आकार—प्रकार की दृष्टि से वह गांधी जी जैसा प्रतीत होता है। स्वयं लेखक के शब्दों में— “एकहरी हड्डियों का झुका—झुका धुनषाकार लंगोटिया शरीर, पेट सटकर पीठ की ओर खींचा, चश्मा और चप्पल अपनी ओर से जोड़ दें तो एक और इस गाँव का गांधी। हाँ ठीक वैसा ही लचीला, मगर कुछ हठीला। बहुत पवित्र है काया। रोयें—रोयें में न जाने कितनी बारहखण्डी, अर्जुनगीता, हनुमान चालीसा और भजनमाला आदि की पंक्तियाँ गुंथी हुई है।”⁴

डॉ० कैलाश मिश्र का कथन ‘पुरुष—पुराण’ के संदर्भ में उल्लेखनीय है—“कुल मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास गँवई जिन्दगी की एक लम्बी यात्रा है। सन् 1881 से चलकर 1953 तक आते—आते गांव की बदली हुई मानसिकता का इसमें भरपूर चित्रण मिलता है। जीवन की आदिम पौराणिकता किस तरह टूटकर धरती की पदार्थगत कमजोरियों में (मैटरियलिस्टिक वीकनेस) बदल गई है और आध्यात्मिक संवेदना मानवीय भौतिकवादी मजबूरियों के सामने घुटने टेक चुकी है— यह कोई दूखन की जिन्दगी में देख सकता है।”⁵

तीसरा उपन्यास ‘लोकऋण’ (1977) सामाजिक ताने—बाने में रचित उपन्यास है। इसका दूसरा संस्करण सन् 2010 में नये शीर्षक ‘बनबंगी मुक्त है’ के रूप में प्रकाशित है। लेखक ने इस विशाल कृति में संक्रमणशील यथार्थ के बीच जूझते गांवों की स्थिति का चित्रण किया है। किसान—जीवन और कृषि क्रान्ति के आयामों के बीच विडम्बनापूर्ण सामाजिक स्थितियों का सजीव चित्रण कथाकार की पैनी दृष्टि का परिचायक है। ‘लोकऋण’ तक आते—आते विवेकी राय की भारतीय ग्राम—संस्कृति के प्रति जो अटूट आस्था थी वह टूटती नज़र आती है। लोकऋण संवेदनात्मक धरातल पर प्रभावशाली होने के बावजूद वैचारिक स्तर पर कमजोर उपन्यास है। लेखक का पुराने गांवों के प्रति अतिशय मोह ही इसका कारण है। कहानी रामपुर गांव के एक प्रतिष्ठित कृषक परिवार की है जिसमें तीन सगे भाईयों— धर्मराज, त्रिभुवननाथ तथा गिरिश के माध्यम से विवेकी राय ने कथा को विस्तार दिया है। मझला भाई त्रिभुवननाथ ग्रामसभापति है और उसने अवैध रूप से चकबन्दी में गांव का सार्वजनिक पोखरा बनगंगी और वहां स्थित धर्मशाला को हड़प लिया है। पूरे उपन्यास में संघर्ष का मूल मुद्दा यही है। बाईस अध्यायों में विभक्त इस उपन्यास में गँवई जिन्दगी की नग्न सच्चाई, पंचायतों और सभापतियों के द्वारा ग्रामीणों के शोषण, चकबन्दी के नाम पर किसान के खेतों पर अवैध कब्जा आदि प्रसंगदर प्रसंग आते हैं। सिरताज बाबा भी महत्वपूर्ण पात्र है जो अनोखी भविष्य वाणियाँ करता है। ग्राम सभापति त्रिलोकीनाथ के अत्याचार, आतंक और शोषण से गांव का वातावरण विषाक्त और दमघोंटू हो गया है।

चौथा उपन्यास ‘श्वेतपत्र’ (1979) में सन् 1942 के राष्ट्रीय आन्दोलन और जनक्रान्ति का प्रमाणिक दस्तावेज है। इस ऐतिहासिक आत्मकाव्य शैली में रचित उपन्यास में पूर्वांचल के भोजपुरी क्षेत्रों के तत्कालीन गुप्त आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलनों के समान्तर चित्रित किया गया है। साथ ही बीच—बीच में देशभक्ति गीतों के माध्यम से लेखन उपन्यास को और भी सजीव बनाया है।

डॉ० विवेकी राय का पाँचवाँ उपन्यास ‘सोनामाटी’ (1983) को किसान एवं ग्राम—संस्कृति का महाकाव्य माना जाता है। इसमें लेखक ने प्राकृतिक सुषमा, लहलहाते फसल ऋतु—पर्व, तीज, भोज—भात, लोकगीतों की बहुरंगी छटा, लोक परम्पराओं और आस्थाओं की अनमोल सम्पदा को गहन संवेदना के साथ उकेरा है। यह वह पूर्वांचल का पिछड़ा क्षेत्र है जहाँ भूमिपतियों द्वारा किसान—मजदूरों को शोषण होता है, जहाँ सरकारी विकास योजनायें सिर्फ कागज पर होते हैं और साधन, धनलोलुप ठेकेदारों, सरकारी अफसरों, इंजीनियरों और राजनैतिक पार्टियों की जेब भरने में ही चुक जाते हैं, जहाँ शिक्षण संस्थाएं

राजनैतिक पार्टियों और भ्रष्टाचार का अड़डा बन चुकी हैं। विस्तृत कैनवास में रचित 'सोनामाटी' में ग्राम जीवन के सभी महत्वपूर्ण संदर्भ सिमट आये हैं। गाँव को मरने या नरक होते जाने के पीछे सरकारी तन्त्र द्वारा ग्राम विकास की उपेक्षा तो मुख्य कारण है ही साथ में हनुमान प्रसाद जैसे 'भूमिखोर भेड़ियों' के आतंक से त्रस्त भोजपुरी क्षेत्र की ग्रामीण जनता, किसान-मजदूर विषाद के गर्त में धँसते जा रहे हैं। साथ ही गांव की खुशहाली का कागजी घोड़ा दौड़ाने वालों पर करारा तमाचा भी है।

ग्रामभित्तिक उपन्यासों की परम्परा में 'सोनामाटी' एक महत्वपूर्ण कृति है। डॉ० गोपाल राय के शब्दों में— 'विवेकी राय के सोनामाटी का प्रकाशन— यह बात मैं पूरे उत्तरदायित्व और प्रमाण के साथ कह रहा हूँ— 'गोदान' के बाद ग्राम जीवन पर आधारित उपन्यासों की परम्परा में एक 'घटना' या 'मील का पत्थर' है। 'गोदान' के बाद ग्राम जीवन पर आधारित जिन उपन्यासों की विशेष चर्चा हिन्दी में हुई, उनमें 'बलचनमा', 'मैला आंचल' और 'रागदरबारी' प्रमुख हैं। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि सोनामाटी संवेदना, अनुभूति, विज्ञान, शिल्प और भाषा की दृष्टि से इन उपन्यासों के समकक्ष है।'⁶

ग्राम-जीवन और सन्दर्भों से विन्यस्त 'सोनामाटी' का कैनवास काफी बृहद है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों के प्रायः सभी पहलू इसमें सिमट आये हैं। अशिक्षा और बेरोजगारी, नैतिक अवमूल्यन, दहेज और तिलक की विडम्बना, विवाह का व्यवसायीकरण, भ्रष्ट पंचायतें और सरकारी तन्त्र में केवल करइल की भूमि को बंजर-बेजान नहीं बना दिया बल्कि भारत के सभी गांवों की यही दशा है। मुख्य कथा रामरूप, हनुमानप्रसाद व भुवनेश्वर के इर्द-गिर्द घूमती है। रामरूप का मानसिक द्वन्द्व व ऊहापोह, भुवनेश्वर और हनुमान प्रसाद जैसे भ्रष्ट राजनैतिक पार्टियों द्वारा बाहुबल और छल-छंद से भोले ग्रामीणों व किसान-मजदूरों को ठगना ही करइल अंचल की नियति बन गई है। रामरूप के ससुर हनुमानप्रसाद को उपन्यासकार ने कृषकासुर और करइल का दैत्य के रूप में चित्रित किया है—

“ऐसा वह कृषकासुर, रामरूप का ससुर, करइल का दैत्य, सचमुच साक्षात् कर एकदम ठीक सटीक नाम, हनुमान प्रसाद, मगर उसके साथ लगा करइल..... कहते हैं कि करइल की माटी तो बड़ी भयानक होती है। ओद करइला..... मगर यह जिंदा करइल? कहाँ है रंचमात्र भी इसके भीतर दया-मया? वहाँ तो बस लोभ का अपार कीचड़-कांदो जमा है, बारहमासी।”⁷

छठवीं महाकाव्यात्मक औपन्यासिक कृति 'समरशेष है' (1989) प्रतीकात्मक शैली में रचित राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह उपन्यास अपने आप में तत्कालीन ग्राम जीवन का सच्चा दर्पण है। 'सोनामाटी' की तरह इस उपन्यास में भी समूचे सरकारी तंत्र द्वारा पूर्वांचल की अपेक्षा और शोषणकारी सामाजिक, राजनीतिक नीतियों का भयावह दस्तावेज है। विकास का ये हाल है तीस वर्षों में तीन किलोमीटर की सड़क भी न बन पाई। विवेच्य उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं— संतोषी पण्डित जो चिन्तनशील बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, सुराज, रामराज, जयंती और जानकीनाथ। सुराज आम आदमी के क्षोभ और असन्तोष का नेतृत्व करता है और जयंती जो जनता के रूप में सामने आती है, जनशक्ति और नारी शक्ति का द्योतक है। उपन्यास में 'उझंखा' सड़क की मांग सुराज के विवाह की अनिवार्य शर्त बन जाती है जो बाद में, लक्ष्य विस्तार द्वारा देशव्यापी सड़क और सरकारी तन्त्रों की दुर्दशा से जुड़ जाती है। सुराज, रामराज, जनता और संतोषी पण्डित बनाम भ्रष्ट सरकारी व्यवस्था की यह एक महान संघर्ष-गाथा है।

मूल्यों की इस कदर गिरावट और अपसंस्कृति और बाढ़ विभीषिका ही 'समर शेष है' की कथाभूमि है। जनता के नाम पर चलाये जाने वाले संस्थानों और आश्रमों में जनता कहीं नहीं हैं बल्कि ये आश्रम धर्म के नाम पर व्यापार करने वाले गगनानन्द और शून्यानन्द सरीखे ढोंगी, पाखण्डी धर्मगुरुओं के बिहार-स्थल हैं तस्करी, शराब, अफीम और गुनाहों के गढ़ हैं। 'समर शेष है' की सबसे खास विशेषता यह है कि उसके विज्ञान में गांव की एक कच्ची सड़क है जो प्रतीकात्मक अर्थ में उपन्यास की नायिका भी है। यह सड़क पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी अंचल के पिछड़ेपन का प्रतीक है। स्वयं लेखक के शब्दों में—“सुराज इसी तरह की मुश्किलों को साहस के साथ झेल रहा है। वह उन बाधाओं को हटाना चाहता है जो उसे अपनी जनता से नहीं मिलने देती है। वह हुमाच बांध-बांधकर अपनी संगिनी के गांव जाता

है लेकिन स्टेशन से जाकर कहीं ठहर पाता है? निराश होकर लौट आता है। कुछ दिन बाद फिर आशा जागती है, अब सड़क बन गयी होगी और वह सुगमता से जाकर चिरसंचित सपनों को साकार करेगा तथा जनता रानी को गले लगायेगा। मगर अफसोस, सपना सपना रह जाता है। कितना मजबूर है सुराज। बिना सड़क के जनता तक अब जाने का सवाल ही नहीं।⁸

अपने अगले उपन्यास 'मंगलभवन' (1994) में भारत पर चीनी आक्रमण (1962) और उसमें अपनी राष्ट्रीय प्रेम, त्याग, बलिदान, क्रोध, क्षोभ का अनुभूतिपूर्ण अंकन विवेकी राय ने किया है। 'मंगलभवन' कोई एकघर नहीं है अपितु पूरे भारतवर्ष का प्रतीक है। इस उपन्यास के केन्द्र बिन्दु विक्रम मास्टर और मेजर जगदीश तो हैं साथ ही भारतीय सेना के वीर योद्धाओं— शैतान सिंह, अब्दुल हमीद, नैन सिंह, गणेश राम, सौदागर सिंह, को भी समर्पित हैं। 'मंगलभवन' के सम्बन्ध में डॉ० कमल किशोर गोयनका के विचार उल्लेखनीय हैं— "मंगलभवन देश की मंगल—महागाथा है, जिसे सैनिक और लेखक रचते हैं, जिसमें देश जीवित है, गांव जीवित है, स्वतंत्र भारत की विषमताएँ हैं, राजनीति का प्रकोप और भ्रष्टाचार है, आपसी शत्रुता है और सबके बीच आशा का केन्द्र है— मंगलभवन।"⁹

अमंगलहारी (2001) उपन्यास मंगलभवन का ही विस्तार है जो मूलतः भोजपुरी में लिखा गया है। 'नमामिग्रामम्' (1997) शीर्षक से ही लेखक के गंवई स्नेह और ममत्व को महसूस किया जा सकता है। ये लगाव उनकी ग्रामगंधी भोजपुरी भाषा और अभिव्यंजना में झलकती है। 'नमामिग्रामम्' गांव की आन्तरिक अकुलाहट की लम्बी कहानी है जो अट्टाईस अध्यायों में विभक्त है। 'मैं गाँव हूँ' शीर्षक से शुरू हुई व्यथा—कथा 'अंतपुर बीमार है' पर आकर पाठक के समक्ष कई सवाल खड़े कर देती है।

'देहरी के पार' (2002) ई० पुत्र—शोक से संतप्त एक पिता की व्यथित मनोदशा का जीवन्त दस्तावेज है। बड़े पुत्र ज्ञानेश्वर की रेल—दुर्घटना में असमय मृत्यु ने विवेकी राय को अंदर से तोड़ दिया। इसी ताप—त्रास और क्लेशकारक अनुभूतियों को लेखक ने 'देहरी के पार' में उपन्यस्त किया है। डॉ० शिवकुमार मिश्र के अनुसार— "देहरी के पार" बयान है एक शोकाकुल पिता का जो अपने बेटे का जन्मदाता ही नहीं उसका सहचर और मित्र भी था।"¹⁰

इस प्रकार विवेकी राय के उपन्यासों से गुजरने का आशय है पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों से गुजरना। उन गांवों के सुख—दुख उत्साह—विषाद अभावग्रस्त जिन्दगियों से रूबरू होना।

I UnHk §

1. डॉ० विवेकी राय, बबूल, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2001, पृ० 8
2. वही, पृ० 17
3. वेदप्रकाश अमिताभ, अक्षरबीज की हरियाली, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2002, पृ० 5
4. डॉ० विवेकी राय, पुरुष—पुराण, अनुराग प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 2007, पृ० 1
5. सं० अनिल कुमार आंजनेय, सृजन यज्ञ जारी है, अखिल भारतीय अन्तरजनपदीय परिषद् बलिया (उ०प्र०) प्रथम संस्करण 2000, पृ० 33
6. डॉ० अनिल कुमार आंजनेय, अर्द्धशती सृजन—यात्रा, अखिल भारतीय जनपदीय परिषद् बलिया (उ०प्र०) संस्करण 19 नवम्बर 1999, पृ० 22
7. डॉ० विवेकी राय, सोनामाटी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010, पृ० 11
8. डॉ० विवेकी राय, समर शेष है, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2011, पृ० 318
9. डॉ० अनिल कुमार आंजनेय, अर्द्धशती सृजन—यात्रा, अखिल भारतीय जनपदीय परिषद् बलिया (उ०प्र०) संस्करण 19 नवम्बर 1999, पृ० 24
10. सं० डॉ० हितेन्द्र कुमार मिश्र, निवेदिता, स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय गाजीपुर द्वारा प्रकाशित, वर्ष 2005, पृ० 165



gekjh f'k{kk& gekjk lek t

Mk0 ; kxi'k dekj feJ*

सदियों से अपने ज्ञान और आध्यात्म का प्रकाश फैला रहे भारतवर्ष को विश्व के “जगतगुरु” की उपाधि से विभूषित किया गया था। यहाँ के तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला और बल्लभी जैसे महान्तम् विश्वविद्यालयों ने सम्पूर्ण विश्व में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया था जिसका प्रमाण यह था कि इन विश्वविद्यालयों में अफ्रीका, जापान, कोरिया, चीन, ताइवान, मंगोलिया, कम्बोडिया, म्यामार, श्रीलंका के छात्र अध्ययन के लिए प्रतिवर्ष आते थे। जिनका एक परिणाम यह भी सामने आया कि तमाम सभ्यताएं पठन-पाठन के हमारे ही बताए रास्ते पर चलती दिखी। सदियों तक हम अपने विश्व गुरु के रुतबे पर न केवल गौरवान्वित होते रहे बल्कि उसे बरकरार रखने की हर सभ्यता कोशिश करते रहे। शनैः शनैः हमारी यह कोशिश क्षीण होती गयी। हम ज्ञान के सृजन एवं भण्डारण की जगह बाजारोन्मुखी और व्यावसायिक शिक्षा के जाल में ऐसे उलझे कि हमारी सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था ही चिन्तनीय हो गयी। हालिया जारी “अकेडमिक रैंकिंग ऑफ वर्ल्ड यूनिवर्सिटीज” में दुनियाँ के 500 विश्वविद्यालयों में भारत से केवल एक – इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स बंगलोर ही शामिल हो सका देश में करीब 700 से अधिक विश्वविद्यालय होने के पश्चात् भी किसी भी विश्वविद्यालय से जुड़े व्यक्ति के पास नोबेल पुरस्कार नहीं है। जबकि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से जुड़े हुए कोई 68 लोगों के पास नोबेल पुरस्कार है। प्रोग्राम फॉर इण्टरनेशनल स्टूडेंट असेसमेंट (पी आई एस ए) और एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (एएसईआर) के अनुसार देश में पाँचवी कक्षा के 53.2 प्रतिशत बच्चे दूसरी कक्षा की किताबें भी ठीक से नहीं पढ़ पाते हैं। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के विकास हेतु राष्ट्रीय बजट का मात्र 1.8 और 1.05 प्रतिशत हिस्सा ही उपयोग में आ पाता है। ये आँकड़े हमारे देश की शिक्षा के विकास के लिए ठीक नहीं हैं। फिर भी हमें इस बात कोई पछतावा नहीं है तभी तो शिक्षा व्यवस्था कभी किसी राजनीतिक दल के प्रमुख एजेण्डे में जगह नहीं बना पायी। हम आज भी जी० डी० पी० का 6% शिक्षा के लिए सुनिश्चित नहीं कर पाये। रोजमर्रा की मुश्किलों से संघर्ष करता हुआ आम इन्सान यहाँ तक सोच ही नहीं पाता है कि शिक्षा भविष्य के लिए कितनी जरूरी है। ऐसे में आम अतीत के गौरवशाली पन्नों में रहने के अभ्यस्त लोगों को इस बात का सुख होता है कि उन्हें बदलाव का लेकर चिंतित नहीं होना पड़ता। पुराने दौर के साथ कदमताल करने में उनका स्वार्थ सधता है लेकिन जब वक्त का निर्मम पहिया घूमता है तो सबसे पहले इन अतीत जीवी लोगों को ही कुचलता है। इसलिए जो लोग आज से ही आने वाले कल की तैयारी में विश्वास करते हैं शिक्षा उनके भविष्य का पासपोर्ट है और इस शिक्षा को एक ऐसे जनमानस का निर्माण भी करना है जो संस्कृति के सनातनी, आधुनिक व वैश्वक अर्थों को आत्मसात कर सके। जो स्वतंत्रता समता, समावेशी विकास की वैश्विक विरासत को अपने जीवन में उतार सके।

वर्तमान भौतिकवादी सम्बन्धों एवं शक्तियों पर आधारित विश्व समाज व्यवस्था एवं नियामक ईकाइयों की आधार संरचना मूलभूत अभिकरणों से समन्वित है उसमें शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा का लक्ष्य ज्ञान के प्रति समर्पण की भावना और निरन्तर सीखते रहने की प्रवृत्ति है। यह एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति को ज्ञान और कौशल दोनों प्रदान करती है और इनका जीवन में उपयोग करने का मार्ग प्रशस्त करती है। सरल समाज की आवश्यकताएं सरल थीं फलतः शिक्षा का दायित्व व्याक्तित्व के विकास एवं चारित्रिक नैतिक मूल्यों के विकास तक सीमित था। लेकिन वर्तमान युग में शिक्षा का

* एस० प्र०, बी० एड० विभाग, मडियाहूँ पी० जी० कालेज, मडियाहूँ, जौनपुर, उ०प्र०

दायित्व आर्थिक विकास के साथ-साथ सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन प्रगति एवं विकास के साथ जुड़ गया है। शिक्षा अब सामाजिक परिवर्तन एवं प्रगति का एक सशक्त साधन मान ली गई है। इसीलिए लोगों को शिक्षा की महत्ता के प्रति जागरूक करने और नीति नियंताओं से भारत को फिर से 'विश्व गुरु' बनाने की अपेक्षा है। किसी भी समाज में शिक्षा की प्रमुख उपलब्धि व्यवस्था विशेष को बनाये रखने तथा उसकी आधार संरचना पर सम्पूर्ण समाज का निर्माण करने और उसे उर्ध्व स्थिति की ओर ले जाने में निहित है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था जो उपनिवेशवादी शैक्षिक संरचना का प्रत्युत्पाद है, साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप है जो आज की मिश्रित अर्थव्यवस्था की चुनौतियों को झेलने में असमर्थ हो गयी है। सोच व ज्ञान के प्रचार-प्रसार से राष्ट्रीय सीमाओं से परे जो प्रतिस्पर्द्धा विकसित हुयी है। यह प्रतिस्पर्द्धा मात्र व्यापार या व्यवसाय तक सीमित नहीं है बल्कि पठन-पाठन शोध एवं अनुसंधान के विविध क्षेत्रों में तीव्रतर होती चली जा रही है। आज के दौर में नये ज्ञान के सृजन के लिए शिक्षा की गुणवत्ता, आधारभूत सुविधाएँ, पाठ्यक्रम का समय के अनुरूप उच्चीकरण, अनुसंधान एवं उद्योगों में समन्वय, देश के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक तकनीकी शोध केन्द्रों से समन्वय, प्रयोगशालाओं का आधुनिकीकरण, उच्च तकनीकीयुक्त उपकरणों का प्रयोग, पुस्तकालय में उत्कृष्ट पुस्तकों एवं शोधपत्रों की उपलब्धता के साथ सूचना एवं संचार तकनीकी के सफल प्रयोग को अपनाना होगा। मेडिकल, प्रबंधन, इंजीनियरिंग, कृषि आधारित पाठ्यक्रमों में विद्यार्थियों के पंजीकरण की दर को बढ़ाना होगा जिससे कि देश में कौशलयुक्त श्रमबल की पूर्ति हो सके।

राष्ट्रीय ज्ञान आयोग-2006 ने "शिक्षा के लिए भावी रूपरेखा" जो सरकार को सौंपी थी। उसमें 21 वीं शताब्दी में भारतवर्ष को विश्व के सबसे युवा और उर्जावान राष्ट्र के रूप में तैयार करने के लिए ज्ञान, विज्ञान और तकनीकी के साथ धर्म, दर्शन और आध्यात्म के सामंजस्य से नये राष्ट्र के निर्माण की दिशा में अग्रसर देखना चाहता है। आयोग के अनुसार प्रतिवर्ष करीब 5 लाख भारतीय छात्र उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, जर्मनी, सिंगापुर, रूस जैसे देशों में चले जाते हैं जहाँ ये छात्र करीब 63 हजार करोड़ रुपये प्रतिवर्ष खर्च करते हैं अगर उच्च स्तर के ऐसे संस्थान बच्चों के देश में ही उपलब्ध करवा दिए जाय तो इन धनराशि से 20 विश्वस्तर के अभियांत्रिकी व प्रबन्ध संस्थान खोले जा सकते हैं। आज हमारा राष्ट्र जब अपनी दीर्घ विकास यात्रा में विश्व के विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में समुपस्थित होने को आतुर है तो हमें ऐसे ही विश्वस्तरीय संस्थाओं की आवश्यकता होगी। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम राष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप बने रहे इस पर सम्पूर्ण शिक्षक व समाज को पहल करनी होगी। तकनीकी अनुसंधान के लिए प्रयोगशालाओं के उपकरणों को लगातार आधुनिक उपकरणों में प्रतिस्थापित करना होगा, शोध के विषयों को, विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को सामाजिक आवश्यकताओं व सम्वेदना से जोड़ना होगा। यहाँ प्रश्न सिर्फ बदलाव का ही नहीं बल्कि इस बात का भी होगा कि इस बदलाव से हमारी शिक्षा व्यवस्था हमें क्या बनायेगी। मात्र एक उपभोक्ता समाज या एक सम्पूर्ण मनुष्य। क्या हम स्वयं को स्वयं के हित के लिए सार्थक रूप से एक बदला हुआ मानव बनने की आवश्यकता समझते हैं या हम व्यक्ति और समाज दोनों ही रूप में अर्थव्यवस्था और राजनीति के मोहरे बन कर रह जायेंगे— जो अपने धर्म, संस्कृति, शिक्षा और इतिहास के मृत तत्वों पर बड़ा गौरवान्वित महसूस करता तो है पर उसके जीवन्त और प्राणदायी तत्वों को वह बहुत ही पहले खो चुका है। इस खोने का उसे इसलिए कोई जान तक नहीं है, क्योंकि ढोने के लिए उसके पास अभी भी मृत विचारों परंपराओं और रुढ़ियों के शव हैं।

आज खेद का विश्व के सबसे अधिक बाल श्रमिक व व्यस्क बेरोजगार हमारे देश में ही है जिनकी कुल संख्या करीब दो करोड़ से ऊपर है जो कि हमारी शिक्षा व्यवस्था पर ही प्रश्न चिन्ह लगाती है। इस प्रकार हमारी एक पीढ़ी शिक्षा व धन के अभाव में कुपोषण का शिकार हो रही है। इनके अलावा जिन परिस्थितियों में बाल श्रमिक काम करते हैं वहाँ उनका आपराधिक कृत्यों में होना आम बात है ऐसे हालात से निपटने के लिए कौशलयुक्त शिक्षा बेहद जरूरी है। इसलिए गाँव हो या शहर परिवार के हर बच्चे के लिए समान शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य हो। समान शिक्षा से हमारा आशय उस शिक्षा से है जो शिक्षा शहरों की हो वही शिक्षा गाँव के बच्चों को भी उपलब्ध करायी जाय नहीं तो आज की शिक्षा भी समाज

में एक नवीन विषमता की श्रेणी तैयार करेगी जहाँ एक तरफ निजी, बोर्डिंग, कान्वेन्ट स्कूलों के अंग्रेजी माध्यम के छात्र हैं तो दूसरी तरफ सुविधविहीन सरकारी विद्यालयों के छात्र, जहाँ भौतिक व मानवीय संसाधनों का संकट है। विचार करना होगा की जब नौकरी के लिए सभी छात्रों के सामने समान प्रश्नपत्र होते हैं, समान सवाल होते हैं तो फिर छात्रों की पढ़ाई में हम असमानता को क्यों जगह देते हैं, तरह-तरह के शिक्षा बोर्ड क्यों बनाते हैं, भाषाई माध्यम के आधार पर, पाठ्यक्रम के आधार पर असमानता क्यों करते हैं? ये शैक्षिक जगत के ज्वलंत प्रश्न हैं।

नई शिक्षा नीति पर एक चर्चा के दौरान सितम्बर 2015 में केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री के सामने जो शैक्षिक समस्याएँ रखी गयी उसका समाधान करना निःसन्देह इस राष्ट्र की एक अनिवार्य आवश्यकता कही जा सकती है क्योंकि मौजूदा शिक्षा व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी देश में एक समान पाठ्यक्रम लागू न होना और न ही सबको एक समान शिक्षा का हासिल होना है। सबके लिए विकास की भाँति सबको एक समान पढ़ने और आगे बढ़ने का मौका मिलना चाहिए तभी शिक्षा के अधिकार कानून की सार्थकता सिद्ध होगी। नई शिक्षा नीति को सभी वर्गों के लिए ज्ञान कौशल व रोजगार के समान अवसर देने के लिए प्रतिबद्ध होना होगा। नई शिक्षा नीति में समान पाठ्यक्रम के सन्दर्भ में 80 प्रतिशत पाठ्यक्रम की सामग्री राष्ट्रीय स्तर की तथा 20 प्रतिशत पाठ्यक्रम राज्यों द्वारा स्थानीय महत्व व विरासत को ध्यान में रखते हुए शामिल करने की बात कही गयी है। उसी तरह अनिवार्य व ऐच्छिक पाठ्यचर्याओं के बीच 70:30 के अनुपात की बात कही गयी है। इसके अलावा स्वच्छता अभियान, पर्यावरण संरक्षण, देश के महापुरुषों की जीवनी व कृतित्व, सामाजिक वानिकी, अधिकार, कर्तव्य, सामाजिक जागरूकता कार्यक्रम जैसी कुछ क्रेडिट रहित पाठ्यचर्याओं को भी शामिल करने का विचार निःसन्देह स्वागत योग्य है। इसमें अन्य चीजों के अलावा सरकार, राजनेताओं और नौकरशाही के हस्तक्षेप से शिक्षा को मुक्त करना होगा ताकि शिक्षण संस्थाओं को राजनीति व लालफीताशाही से दूर रखते हुए उन्हें अकादमिक स्वतंत्रता व स्वायत्तता मिल सके तभी हमारी शिक्षा व्यवस्था समाज व संविधान की भावनाओं के अनुरूप अपना आकार ग्रहण कर सकेगी।

I UnHk §

1. अखण्ड ज्योति: जनवरी 2017, पृष्ठ 8
2. राष्ट्रीय ज्ञान आयोग, 2006 की रिपोर्ट, पृष्ठ 176
3. अहा जिन्दगी, पत्रिका, जनवरी 2017
4. कृष्णमूर्ति जे0 2005, शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इण्डिया, राजघाट, वाराणसी, उ0प्र0



/ke] foKku o oKkfud /ke: dh vo/kkj.kk

xkjo JhokLro*

दर्शनशास्त्र की सर्वाधिक गम्भीर व प्रारम्भिक समस्याओं में से एक है— धर्म की परिभाषा व उसका स्वरूप निर्धारित करना। दर्शन का कार्य है कि वह “ज्ञान, सत्ता व नीति से सम्बंधित अवधारणाओं का तटस्थतापूर्वक अध्ययन करे।”¹

धर्म मनुष्य की व्यापक अभिवृत्ति है, इसमें ज्ञानात्मक, भावात्मक व क्रियात्मक तीनों पक्ष सम्मिलित होते हैं, इसलिए धर्म, दर्शन से अभिन्न रूप से जुड़ा है; यह सतत् परिवर्तनशील है तथा विभिन्न धर्मों में परस्पर इतने मतभेद हैं, जिसके कारण धर्म की कोई सर्वमान्य, सार्वभौमिक परिभाषा अत्यन्त दुष्कर है। जेम्स एच. ल्यूबा ने अपनी पुस्तक “धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन” में धर्म की 50 से अधिक परिभाषाएँ दी हैं। जॉन मिल ने धर्म की 10000 से अधिक परिभाषाएँ बतायी हैं, जिससे पता चलता है कि धर्म को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है, इसलिए ‘जॉन हिक’ के अनुसार “धर्म को परिभाषित करने के स्थान पर हमें मात्र उसके लक्षणों की सूची बनानी चाहिए।”²

अर्थात्, धर्म एक व्यापक अभिवृत्ति है जिसमें ज्ञानात्मक, भावात्मक व क्रियात्मक पक्ष निहित होते हैं, धर्म व्यक्ति के जीवन को गहराई से प्रभावित करता है धर्म के ज्ञानात्मक पक्ष के अनुसार प्रत्येक धर्म किसी न किसी अलौकिक सत्ता में आस्था रखता है, यह अलौकिक सत्ता ईश्वर, स्वर्ग, आत्मा या मोक्ष कुछ भी हो सकती है। भावात्मक पक्ष में प्रत्येक धर्म दुःखमुक्ति व सुख प्राप्ति का आश्वासन देता है। क्रियात्मक पक्ष के अनुसार प्रत्येक धर्म स्वयं को प्रार्थनाओं व कर्मकाण्डों के रूप में अभिव्यक्त करता है। पाश्चात्य मान्यता में ‘धर्म’ के लिए ‘Religion’ शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है “पुनः बाँधना”³, अर्थात् ईश्वर व आत्मा से पुनः सम्बन्धित होना, आत्मा, से होना, प्रारम्भ में आत्मा, ईश्वर से सम्बन्धित थी, परन्तु आदिम पाप (Original sin) के कारण अब ईश्वर से दूर है, अतः Religion के माध्यम से आत्मा को पुनः ईश्वर से जोड़ना है। यह Religion मनुष्य को मनुष्य से तथा मनुष्य को समाज से भी जोड़ता है।

प्राच्य ‘धर्म’ शब्द पाश्चात्य ‘Religion’ शब्द से अधिक व्यापक तथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता तथा भारतीय दर्शनों में धर्म की सविस्तार व्याख्या की गई है। वेदों में धर्म को “विश्व की व्यवस्था व उसके मूल नियम के अर्थ में ग्रहण किया गया है”⁴

उपनिषदों में धर्म को नैतिकता के अर्थ में ग्रहण किया गया है। ‘वृहदारण्यक’ उपनिषद के अनुसार “सत्य व धर्म मूलतः एक है।”⁵

कौटिल्य, ने ‘अर्थशास्त्र’ तथा मनु ने अपनी ‘मनुस्मृति’ में धर्म को स्वकर्तव्यपालन के अर्थ में स्वीकार किया है।

गीता में भी श्रीकृष्ण ने धर्म को स्वकर्तव्यपालन व सदाचार के अर्थ में प्रयुक्त किया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में स्पष्ट कथन है कि “धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः”⁶

/ke'kkL= o /ken'ku e: vUrj&धर्मशास्त्र के लिए अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द ‘Theology’ है, जो दो मूल शब्दों से बना है ‘Theos’ व ‘logos’ का अर्थ है ‘शास्त्र’। अतः Theology का अर्थ है ‘ईश्वरशास्त्र’ या ‘ईश्वरमीमांसा’।

ईश्वरशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनों Theology के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होते हैं किंतु इनकी अवधारणा में सूक्ष्म अंतर है। 'सामी धर्म' के समर्थक दोनों में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। क्योंकि उनके अनुसार कोई भी धर्म ईश्वर रहित नहीं हो सकता तथा कुरान व बाइबिल ईश्वरीय उपदेशों का ही संकलन है। परन्तु विश्व के कई ऐसे धर्म हैं जो ईश्वर की अवधारणा या उसकी सत्ता में विश्वास नहीं करते जैसे—बौद्ध, जैन व कन्फ्यूशियस धर्म।

ये धर्म भी कुछ ग्रन्थों को पवित्र मानते हैं जैसे बौद्ध धर्म 'त्रिपिटक' को जैन 'आगमों' तथा कन्फ्यूशियस धर्म 'The Book of changes' को, परन्तु ये निरिश्वरवादी हैं।

अतः धर्मशास्त्र को ईश्वरशास्त्र या ईश्वरमीमांसा के रूप में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। धर्मशास्त्र के दो प्रकार हैं:-

1- $\text{çdkf'kr} / \text{ke:'kkL} =$

2- $\text{çkÑfrd} / \text{ke:'kkL} =$

$\text{çdkf'kr} / \text{ke:'kkL} = \text{\%Revealed Theogoly\%}$ ‖ इनका सम्बन्ध दैवीय प्रकाशना या इल्हाम से है, इसके अनुसार इन शास्त्रों में उल्लिखित वचन स्वयं ईश्वर के हैं जिसे ईश्वर ने अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से लोगों तक पहुँचाया है। प्रकाशित धर्मशास्त्रों को हठवादी, या मताग्रही (Dogmatic Theology) धर्मशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि ये ईश्वरीय वाणी या ग्रंथ को अंसंशोधनीय मानते हैं, ये तर्कबुद्धि भी कम तथा निर्बौद्धिक आस्था पर अधिक आश्रित हैं।

$\text{çkÑfrd} / \text{ke:'kkL} = \text{\%Natural Theology\%}$ ‖ इन धर्मशास्त्रों में आधुनिक व वैज्ञानिक मनोवृत्ति विद्यमान है, ये भी ईश्वर व धर्म में आस्था रखते हैं परन्तु समय तथा स्थिति के अनुसार धर्मशास्त्रों में संशोधन की संभावना भी स्वीकार करते हैं।

इसके अनुसार ईश्वर ने मनुष्य व प्रकृति को निश्चित नियमों के अनुसार बनाया है, उसने मनुष्य को बुद्धि इसलिए दी है कि वह स्वयं उन नियमों को समझ सके, अतः ईश्वर तथा उसके द्वारा निर्मित जगत के संबंध में कोई भी व्याख्या तर्कबुद्धि पर आधारित होनी चाहिए।

धर्मशास्त्र विभिन्न धर्मों की मूल मान्यताओं पर आधारित होता है तथा धर्म दर्शन विभिन्न धर्मों की मूल मान्यताओं की निष्पक्ष व सुव्यवस्थित मूल्यांकन करता है।

धर्मदर्शन का क्षेत्र धर्मशास्त्र के क्षेत्र से व्यापक होता है, धर्मशास्त्र जहाँ आस्था पर आधारित होता है वहीं धर्म दर्शन अनुभव व तर्कबुद्धि पर आधारित होता है।

$\text{foKku o oKkfud} / \text{ke: dh} \text{ I Hkkouk} \text{ \%}$ विज्ञान से अर्थ ज्ञान की उस पद्धति से है जो पदार्थ में छिपी अंतर शक्ति को खोजती है, विज्ञान किसी विषय का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ज्ञान है जो अनुभव, निरीक्षण व परीक्षण पर आधारित होता है, विज्ञान के अपने कुछ नियम हैं यह तथ्यात्मक होता है तथा जो विषय इन नियमों पर खरे उतरते हैं विज्ञान उन्हें मान्यता देता है तथा जो उसके मान्य सिद्धांतों से परे हैं उन्हें वह नकार देता है, धर्म में मान्य अलौकिक सत्ताओं को वह इन्हीं आधारों पर खारिज करता है, सामान्यतः धर्म व विज्ञान में हमें विरोध दिखाई पड़ता है परन्तु यह विरोध सतही है, वस्तुतः विज्ञान एवं धर्म परस्पर विरोधी नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। धर्म व विज्ञान दोनों की मानव जाति को अपने—अपने स्तर पर आवश्यकता है, दोनों के कार्यक्षेत्र भिन्न है परन्तु दोनों ही मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। शरीर भौतिक है अतः इसकी आवश्यकता विज्ञान पूरी कर सकता है, परन्तु आत्मा चेतन है और उसकी आवश्यकता को धर्म पूरी कर सकता है। चिन्तकों को यह सोचना होगा कि किस प्रकार दोनों में सामन्जस्य स्थापित किया जाये, प्र० महावीर सरन जैन के अनुसार "यदि दोनों अपने—अपने मताग्रह त्याग दें तो दोनों में समरसता सम्भव है"।⁷

हमें परम्परागत धर्म की इस मान्यता को त्यागना होगा कि यह संसार ईश्वर की इच्छा का ही मात्र परिणाम है तथा ईश्वर ने सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिए प्रत्येक जीव को जोड़े के रूप में निर्मित करके भेजा, हमें सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में प्रकृति के नियमों को स्वीकार करना होगा कि सृष्टि विकास का परिणाम है, जीवों का उत्तरोत्तर विकास होता आता है। ये मान्यताएँ हमारे पौराणिक ग्रन्थों में भी विद्यमान

हैं, जिनमें ये कहा गया है कि "84 लाख योनियों में भटकने के बाद मनुष्य योनि को जीव प्राप्त करता है।" विष्णु के 10 अवतार की मान्यता की भी इसी विकासवादी परिप्रेक्ष्य में पुनर्मीमांसा की जा सकती है।

विज्ञान को भी अपनी भौतिकवादी सीमाओं का अतिक्रमण करना होगा, विज्ञान विशुद्ध रूप से भौतिकवादी रहा है, विज्ञान विश्व के मूल में पदार्थ व ऊर्जा को ही अधिष्ठित मानता है। विज्ञान डार्विन के विकासवाद के आलोक में ये तो मानता है कि अवन्त कोटि के जीवों से उन्नत कोटि के जीवों का परस्पर विकास हुआ है, परन्तु उसे अपनी इस मान्यता को त्यागना होगा कि अजीव से जीव की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि अजीव से जीव दोनों इतने भिन्न हैं कि अजीव से जीव की उत्पत्ति न तो तर्कसंगत है न ही अनुभवसिद्ध है, इसीलिए विज्ञान को भी अपनी सीमाओं का विस्तार करना आवश्यक है। जो युग मात्र वैज्ञानिक होगा उसके पास सुविधा तो बढ़ जाएगी परन्तु शान्ति नहीं होगी तथा जो युग मात्र धार्मिक होगा वह बहुसंख्यक को सुविधा नहीं प्रदान कर सकेगा। ओशो के अनुसार अभी तक मनुष्य द्वारा निर्मित सभी सभ्यताएँ अपूर्ण व खंडित रही हैं⁸, पूर्व की सभ्यता में धर्म प्रमुख था तथा पश्चिम ने धर्म के मोह को छोड़कर विज्ञान को अपनाया, विज्ञान से उसने धन, समृद्धि, सुविधा तो प्राप्त कर ली परन्तु उसने मनुष्य की अन्तरात्मा को खो दिया तथा पूर्णरूप से भौतिकवाद पर निर्भर हो गया। भविष्य में एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करने की आवश्यकता है जिसमें विज्ञान व धर्म दोनों संयुक्त हो परस्पर आश्रित हो तथा एक दूसरे के लिए उपयोगी हों, विज्ञान जहाँ धर्म को अंधविश्वास, पाखंड व निर्बौद्धिकता से दूर करेगा तथा धर्म विज्ञान को संतुलन प्रदान करेगा तथा उसके लिए नए आयाम प्रस्तुत करेगा।

I UnHk §

1. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ, वेद प्रकाश वर्मा, पृष्ठ-15
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ, वेद प्रकाश वर्मा, पृष्ठ-17
3. तुलनात्मक धर्म-या0, मसीह-12
4. हृदय नारायण मिश्र-धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ-38
5. बृहदारण्यक उपनिषद् 1,4,14
6. महाभारत, अनुशासन पर्व
7. धर्म और विज्ञान – महावीर सरन जैन
8. ओशो



कृष्ण की शक्ति का वर्णन

Lor= dekj ek;!*

भारतीय कला में बुद्ध की जितनी प्रतिमाएँ अभी तक उपलब्ध हुई हैं, उनमें अनेक ऐसे चिन्ह (लक्षण) हैं जो साधारण पुरुष में नहीं देखे जाते। इसलिए उन्हें महापुरुष-लक्षण कहा जाता है। मज्झिम-निकाय के ब्रह्मायु-सुत्त में बुद्ध के 32 लक्षणों का वर्णन मिलता है। जिनमें से कुछ ही प्रतिमाओं में दिखाई पड़ते हैं। उन बत्तीस लक्षणों के सम्बन्ध में एक कथा कही गई है जिनमें मिथिला निवासी ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण तथा उसके शिष्य माणवक की वार्तालाप इस प्रकार है। उस समय ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण मिथिला में रहता था। उसने सुना-शाक्यकुल में प्रबर्जित शाक्यपुत्र श्रमण गौतम पाँच सौ भिक्षुओं के महान भिक्षु संघ के साथ विदेह में चारिका कर रहे हैं। उन गौतम बुद्ध का ऐसा मंगल कीर्ति-शब्द फैला हुआ है कि वह भगवान अर्हत है वे ब्रह्मलोक सहित ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करते हैं। ऐसे अर्हत्तों का दर्शन अच्छा होता है।

उस समय ब्रह्मायु ब्राह्मण का उत्तर नामक माणवक शिष्य था जिसे सम्बोधित करते हुए कहा कि शाक्य कुल से प्रबर्जित शाक्य पुत्र श्रमण गौतम विदेह में चारिका कर रहे हैं। उन गौतम की मंगल कीर्ति शब्द फैला हुआ है। ऐसे अर्हत्तों का दर्शन अच्छा होता है। जहाँ श्रमण है, वहाँ जाओ जाकर श्रमण गौतम को जानो कि उनकी ख्याति सचमुच सही है या गलत। ब्रह्मायु ने कहा हमारे मंत्रों में बत्तीस महापुरुष लक्षण आये हैं, जिनसे युक्त पुरुष की दो ही गतियाँ होती हैं। यदि वह घर में रहता है तो चक्रवर्ती राजा होता है। यदि वह घर से बेघर हो प्रबर्जित होता है तो सम्यक्-सम्बुद्ध होता है।

ब्रह्मायु ब्राह्मण को-‘हाँ भो! कह, माणवक आसन से उठ अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर विदेह में जिधर भगवान थे, उधर चारिका पर चल पड़ा। क्रमशः चारिका करते हुए जहाँ भगवान थे, वहाँ गया। जाकर भगवान को सम्बोधन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए माणवक भगवान के शरीर में बत्तीस महापुरुष-लक्षणों की ढूँढ़ रहा था। माणवक ने महापुरुष लक्षणों में से अधिकांश को देख लिया। भगवान को माणवक पर संदेह हुआ की माणवक मेरे शरीर में महापुरुष लक्षण को खोज रहा है तो भगवान ने ऋद्धि-प्रभाव से दो और लक्षणों को दिखाकर माणवक के शंका को दूर किया।

माणवक छः मास तक न छोड़ने वाली छाया की भाँति भगवान के पीछे-पीछे फिरता रहा तब सात मास के बाद माणवक विदेह में जहाँ मिथिला है, वहाँ ब्रह्मायु के पास गया और जाकर कहा भगवान की प्रशंसा कीर्ति सत्य है। वे गौतम बुद्ध बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से युक्त हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है।

1. सुप्रतिष्ठितपाद – जिसका पैर जमीन पर बराबर बैठता हो।
2. सर्वाकार – परिपूर्ण चक्र – पैर के निचले भाग में सहस्रत्र-अरों वाले चक्र हों।
3. आयात-पाणि – चौड़ी घुट्टी हो।
4. दीर्घ अंगुल – लम्बी अंगुलियाँ।
5. मृदु-तरुण-हस्त-पाद – हाथ-पैर मृदुल हो।
6. जाल-हस्त-पाद – अंगुलियों के बीच बत्तख के पंजे की भाँति चमड़ा।
7. उस्संखपाद – गुल्फ ऊपर अवस्थित हों।

8. एणीजंघ – मृग-जैसा पेडुली भाग।
9. आजानुबाहु – हाथों से बिना झुके जंघों को छू लेने वाला।
10. कोषाच्छादित वस्तिगुह्य – पुरुष इन्द्रिय।
11. सुवर्ण वर्ण – कंचन समान त्वचा वाले।
12. सूक्ष्मछवि – जिसके काया पर (छवित्र ऊपरी चमड़ा) मैल धूल ना जमे।
13. एकैकलोम – एक-एक रोमकूप में एक ही रोम हो।
14. ऊर्ध्वाग्र-लोम – नीचे बायें से दाहिनी ओर कुंडलित लोम ऊपर उठे हो।
15. ब्राह्म-ऋजु-गात्र – लम्बे अकुटिल शरीर।
16. सप्त-उत्सद – सातों अंगों में पूर्ण आकार।
17. सिंह-पूर्वार्द्ध-कार्य – सिंह की छाती जैसा शरीर वाला।
18. चितान्त-रांस – दोनों कन्धों का बिचला भाग पूर्ण हो।
19. न्यग्रोध-परिमंडल – जितना शरीर उतनी ही चौड़ाई हो।
20. समवर्त-स्कन्ध – समान परिमाण वाले कन्धे।
21. रसग्ग-सग्गी – सुन्दर शिराओं वाला।
22. सिंह-हनु – सिंह के समान ठोढ़ी वाला।
23. चव्वालिस दन्त – 44 दाँत।
24. समदन्त – बराबर दाँत हो।
25. अ-विवर दन्त – बिना दरार वाले दाँत।
26. सु-शुक्ल-दाढ – खूब सफेद दाढ़ वाला (चौड़े सफेद दाँत)।
27. प्रभूत-जिह्वा – लम्बी जीभ।
28. ब्रह्मस्वर – पक्षी के-से स्वर वाला।
29. अभिनील – नेत्र – नीली आँखें।
30. गो-पक्ष्मा – गाय-जैसी पलक।
31. रोमराजी – भौंहों के बीच सफेद उष्णा।
32. उष्णीस शीर्ष – पगड़ी जैसी चारों ओर सम आकार के शिर वाला।

बुद्ध प्रतिमाओं के जितने नमूने उपलब्ध हैं उनमें प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों का समावेश किया गया है। प्रतिमाओं के सूक्ष्म अवलोकन से पता चलता है कि बत्तीस महापुरुष लक्षणों से युक्त बुद्ध की मूर्तियाँ तैयार की जाती थी। दाँत तथा जीभ (लक्षण संख्या 23-27) सम्बन्धी लक्षण अदृश्य होते हैं।

दीर्घ निकाय², मिलिन्द प्रश्न³ में राजा मिलिन्द के पूछे जाने पर भिक्षु नागसेन ने बुद्ध में महापुरुष लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा कि बुद्ध महापुरुषों के 32 लक्षणों से युक्त 80 अनुव्यंजनों से शोभित और सुवर्ण के वर्ण वाले थे तथा एक व्योम भर चारों ओर प्रकाश फैलता रहता था।

बुद्ध महापुरुष थे, जिनमें बत्तीस लक्षण होते हैं। अतः महापुरुष के लक्षण के आधार पर प्रतिमा लक्षण का आदर्श स्वीकार किया गया। महापुरुष का पहला लक्षण यह स्वीकार कर लिया गया कि भौंहों के बीच ऊर्णा (रोम गुच्छ) का चिन्ह होना चाहिये। अन्य लक्षणों में प्रलम्बकर्णपाश (लम्बे कान का निचला हिस्सा लम्बा) अजानबाहु (घुटने तक लम्बे हाथ) विशाल वक्ष चक्रांकित हस्त-पाद, जालाँगुलिकर⁴ आदि स्वीकृत कर लिये गये और उनका निदर्शन प्रतिमाओं में किया जाने लगा। ये सब लक्षण बुद्ध मूर्ति में हैं और उनकी पूर्व परम्परा भारतीय धर्म में मिलती है।⁵

कुछ लक्षण योगी की आदर्श प्रतिमा से लिये गये हैं, जैसे नासाग्र दृष्टि जिसके कारण आँखे अधमुँदी बनाई गई, पद्यासन, ध्यान मुद्रा में दोनों हाथ उत्सगड में रखे हुए, जिनकी उपमा खिलते हुए कमल से दी गई, कभी दाहिना हाथ अभय मुद्रा में था। आदि लक्षण स्वीकृत हुए और चक्रवर्ती सम्राट के आदर्श से पार्श्ववर्ती चँवरग्राही एवं सिर के ऊपर छत्र को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार इन सारे तत्वों का

तालमेल बैठाकर बुद्ध प्रतिमा लक्षण का निर्धारण कर प्रतिमाएँ निर्मित की गईं। कला के जितने केन्द्र ज्ञात हैं उनमें सारनाथ तथा मगध कला की प्रतिमाओं में लक्षणों की संख्या अधिक प्रतीत होती है।

I UnHk §

1. मज्झिम-निकाय, अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, द्वितीय संस्करण 1964 प्रकाशक महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी) ब्रह्मायु-सुत्त 2.5.1, पृष्ठ-376।
2. दीर्घ-निकाय, अनुवादक राहुल सांकृत्यायन, द्वितीय संस्करण 2000, प्रकाशक भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद बुद्ध बिहार लखनऊ, अम्बड्ड-सुत्त 1.3, पृष्ठ -34।
3. मिलिन्द प्रश्न, अनुवादक भिक्षु जगदीश काश्यप, द्वितीय संस्करण 2012, प्रकाशक क्षितिज पब्लिकेशन नागपुर, पृष्ठ-80।
4. बुद्ध चरितम्, सप्तम संस्करण 1995, प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1.60 पृष्ठ-11। श्रीवास्तव, डॉ. बृजभूषण प्राचीन भारतीय प्रतिमा-विज्ञान एवं मूर्ति-कला, छठा संस्करण 2015 विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृष्ठ-185।
5. अग्रवाल वासुदेवशरण, भारतीय कला, 2015 पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ-247।



I Yrurdkyhu bfrgk l y[ku dk eY;kdu

Mk- fouhr dek j x: *

ljk'k % प्रस्तुत शोधपत्र में सल्तनतकालीन प्रतिनिधि इतिहास लेखन का मूल्यांकन किया गया है। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि इस काल में प्रचुर मात्रा में इतिहासपरक साहित्य की रचना की गई किंतु समकालीन इतिहास लेखन के अपने पूर्वाग्रह, दृष्टिकोण, लगाव या झुकाव होते हैं। अतः इनके विवरण यथावत स्वीकार नहीं किए जा सकते तथा उनकी पुष्टि अन्य स्रोतों से करना आवश्यक है तभी उनका यथार्थ ऐतिहासिक महत्त्व समझा जा सकता है।

सल्तनतकालीन इतिहास लेखन की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस काल से संबंधित समसामयिक ऐतिहासिक साहित्य बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। किंतु बने बनाए इतिहासों की मौजूदगी के अपने कुछ दोष होते हैं। इनके लेखन अक्सर समसामयिक रुझानों से प्रेरित और प्रभावित होते हैं अतः समसामयिक लेखन पर विचार करने से पहले उनकी मानसिकता एवं मनोभावनाओं को समझने की आवश्यकता होती है। इस परिपेक्ष्य में प्रस्तुत शोधपत्र में सल्तनतकालीन इतिहास लेखन का मूल्यांकन किया जा रहा है।

1% vyc:uh & तारीख उल हिन्द (किताबुल हिन्द) का लेखक अलबरूनी इतिहासकार ही नहीं दार्शनिक और वैज्ञानिक भी था। उसका पूरा नाम अबू रिहान मुहम्मद बिन अहमद अल बरूनी अल ख्वारिज्मी था। उसका जन्म लगभग 970-71 ईस्वी में हुआ था।¹ जब महमूद ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय अलबरूनी भी उसके साथ भारत आया। उसने भारतीय प्रवास के दौरान भारत के जन जीवन का गहन अध्ययन किया। उसने बहुत से भारतीय विद्वानों से धर्म, विज्ञान और संस्कृति पर वाद-विवाद किया।

उसकी सबसे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय रचना उसके द्वारा किया गया भारतीय जीवन का सर्वेक्षण है। उसकी यह रचना 1017 ई.से 1030 ई. के बीच भारतीय जीवन के अध्ययन और निरीक्षण पर आधारित है। भारत के राजनीतिक विवरण में उत्तरी भारत, गुजरात, मालवा, कन्नौज और पाटलीपुत्र का उल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने भारत की जलवायु, प्राकृतिक स्थिति, सामाजिक धार्मिक परम्पराएँ, भाषा, रीति रिवाज, भोजन, वेशभूषा तथा मनोरंजन के साधनों की जानकारी प्रदान की है। उन्होंने अपने लेखन में अनेक संस्कृत रचनाओं का उपयोग किया जिसमें ब्रह्मगुप्त, बलभद्र और वराहमिहिर की रचनाएँ भी शामिल हैं। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया है कि उनके समसामयिक भारतीयों ने अपने पूर्वजों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को त्याग दिया है। इस प्रकार से किताबुल हिन्द में अलबरूनी के द्वारा भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें भारतीय समाज का एक संतुलित अध्ययन तो है लेकिन बहुत से ऐसे पक्षों को वह छोड़ गया है जो उस समय भारतीय समाज और राजनीति के अभिन्न अंग रहे थे। अलबरूनी ने भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों का तो जिक्र किया है लेकिन शंकराचार्य के द्वैतवादी दर्शन और उनके आन्दोलन की चर्चा बिल्कुल नहीं की है।² वस्तुतः किसी भी सभ्यता की तरह इस्लामी सभ्यता में भी एक द्वैत था, क्षुद्रता के साथ महानता, महमूद गजनवी की बगल में एक अलबरूनी। लेकिन भारत में एक सभ्यता के आगमन के परिणामों का मूल्यांकन करते समय उसके एक पहलू को भुला देना और दूसरे को याद रखना पूरी तरह अनैतिहासिक होगा।³

¼2½ glu futkeh & 'ताजुल मआसिर' दिल्ली सल्तनत का प्रथम राजकीय इतिहास है। इसके लेखक हसन निजामी का जन्म खुरासान के प्रमुख नगर निशापुर में 1155–1160 के मध्य में हुआ था। उनके पिता निजामी सारूजी समरकन्दी 12वीं शताब्दी के प्रसिद्ध छंद शास्त्री तथा "चहार मकाला" नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के रचियता थे। उन्होंने गोरी वंश के शासकों की सेवा में लगभग 45 वर्ष का समय व्यतीत किया था। इस तरह हसन निजामी को अपने पिता से साहित्यिक अभिरूचि तथा गौरी वंश के प्रति निष्ठा की भावना प्राप्त हुई थी।⁴ निजामी ने अपने ग्रंथ "ताजुल मआसिर" को सन् 1205 ई. में लिखना आरंभ किया था। यह ग्रंथ मुख्यतया कुतुबुद्दीन ऐबक के काल की घटनाओं का वर्णन करता है। यह इतिहास सन् 1179 ई. से आरंभ होता है। जिस समय मुहम्मद गौरी ने भारत विजय के लिए प्रस्थान किया था और यह कुतुबुद्दीन की मृत्यु के 7 वर्ष बाद तक यानी सन् 1217 ई. तक का वर्णन करता है। इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की हिन्दी समिति के अध्यक्ष सैयद अतहर अब्बास रिजवी ने किया है। वास्तव में हसन निजामी फारसी गद्य में पारंगत था किंतु कविता लिखने के लिए जिन भावनाओं की आवश्यकता होती है वह उसमें नहीं थी।⁵

¼3½ felgkt my fljkt & यह एक प्रसिद्ध इतिहासकार था जिसने प्राचीन काल से लेकर सन् 1358 तक का सामान्य इतिहास लिखा था। यह लेखक एक अच्छा कवि, कुशल राजनीतिज्ञ, दूरदर्शी व्यक्तित्व वाला एवं एक वीर सिपाही था।⁶ उसकी पुस्तक "तबकात ए नासिरी" बहुत प्रसिद्ध है। इसे लिखने की प्रेरणा मिन्हाज को "तारीखे मजदूल" नामक पुस्तक पढ़ने से मिली। तबकात ए नासिरी तेईस तबकों (अध्यायों) में विभाजित है। तबकों के शीर्षक वंशों के नाम पर दिए गए हैं। उसने शासकों के प्रारंभिक जीवन तथा उनके राज्यारोहण से प्रारंभ कर उनके राज्य के अंत तक की घटनाओं का वर्णन किया है। दिल्ली सुल्तानों का वर्णन करते हुए उसने तिथियां भी दी हैं। मिन्हाज अपनी रचना में बराबर धार्मिक शब्दावलि का प्रयोग करते हैं। मिन्हाज की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वे राजाओं और अमीरों के मामलों में जरूरत से ज्यादा उलझे रहे और आम आदमी की हालत पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। गहराई से देखा जाए तो मिन्हाज की दिलचस्पी केवल राजनैतिक सत्ता को कायम रखने में थी और इसलिए जो विवरण इससे ताल्लुक नहीं रखते थे उनको वे अपने इतिहास में लिपिबद्ध नहीं करते थे।⁷

¼4½ vehj [k l jk ¼1253&1325 b:½ & अमीर खुसरो मध्य युग के महान विद्वान थे। उनका जन्म 1253 ई. में उत्तरप्रदेश के एटा जिले में हुआ था। उनके पिता का नाम अमीर सैफुद्दीन मुहम्मद था। उन्होंने बलबन के शासन काल में अलाउद्दीन किश्लू खॉ के दरबार में नौकरी की। उन्होंने बलबन के पुत्रों – मुहम्मद खॉ और बुगरा खॉ के यहाँ भी नौकरी की। उन्होंने लगातार कई सुल्तानों का कार्यकाल अपनी आँखों से देखा था। अतः उनके लिखे ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। अमीर खुसरो एक महान कवि, साहित्यकार और इतिहासकार थे। उन्होंने गद्य और पद्य में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनकी ऐतिहासिक रचनाएँ इस प्रकार हैं –

fdjkuL l knu ¼ nk u{k=k dk feyu ¼ & इस ग्रंथ में बंगाल के गवर्नर बुगरा खॉ तथा उसके पुत्र दिल्ली के सुल्तान कैकूबाद के मिलन का वर्णन है। अमीर खुसरो उस समय स्वयं वहाँ उपस्थित थे।⁸ ferk my Qrg & इस ग्रंथ की रचना 1291 ई. में की गई थी। इसमें जलालुद्दीन खिलजी की प्रथम वर्ष में प्राप्त की गई विजयों का वर्णन किया गया है।

noyjkuh f[kt: [kk & इस ग्रंथ की रचना 1316 ई. में की गई थी। इस ग्रंथ में मुबारक शाह द्वारा खिज्र खॉ का वध, अलाउद्दीन की बीमारी तथा मलिक काफूर के अत्याचारों का वर्णन किया गया है।

rxyd ukek & यह अमीर खुसरो का अंतिम ऐतिहासिक ग्रंथ है। इसमें गयासुद्दीन तुगलक द्वारा खुसरो खॉ के वध का वर्णन किया गया है।

[ktkbu my Qrg & यह एक गद्य ग्रंथ है। इसमें अलाउद्दीन की 1311 ई. तक की विजयों का वर्णन किया गया है। वे राजनीतिक के साथ ही साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मामलों पर भी यथेष्ट जानकारी प्रदान करती हैं।

5% ft ; kmihu cjuh & जियाउद्दीन बरनी को भारतीय मूल का पहला इतिहासकार माना जाता है। उनका जन्म बरन (आधुनिक बुलन्द शहर) में 1285-86 ई. में हुआ था। बरनी ने दो ग्रंथों की रचना की थी। तारीख ए फीरोजशाही और फतवा ए जहाँदारी। जियाउद्दीन बरनी ने “ तारीख ए फीरोजशाही ” में दिल्ली सल्तनत का इतिहास वहाँ से शुरू किया है, जहाँ से “ तबकात ए नासिरी ” ने इसको छोड़ा है। इस प्रकार तारीख ए फीरोजशाही का प्रारंभ सुल्तान गयासुद्दीन बलबन से होता है।⁹ उनकी यह रचना मध्यकालीन भारतीय इतिहास लेखन के विकास को दर्शाती है। यहां वे मिन्हाज की तरह मुसलमानों के विश्व संबंधी इतिहास की रचना करने की कोशिश नहीं करते। वे केवल एक क्षेत्र की राजनीतिक घटनाओं पर विचार करते हैं। उसके विभिन्न अध्याय अलग अलग शासन काल पर आधारित हैं और वे एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करते।¹⁰

बरनी द्वारा रचित “फतवा ए जहाँदारी” दिल्ली सल्तनत में इस्लामिक सिद्धांतों पर आधारित राज्य सिद्धांतों पर लिखी गई एकमात्र पुस्तक है। उसने इस ग्रंथ में बादशाह के गुण, राजकोष, सेना, बाजार नियंत्रण आदि का उल्लेख किया है। इसमें सुझाई गई अधिकतर बातें उसके अपने विश्वास पर आधारित हैं।¹¹ जियाउद्दीन बरनी दिल्ली सल्तनत का सबसे श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण इतिहासकार है। उसके विचारों एवं लेखन में पूर्वाग्रह, पक्षपात एवं परंपरागत कट्टर इस्लामी दृष्टिकोण है किंतु उसके इतिहास में बहुत सी बातें हैं जिससे वह अपने काल का महत्त्वपूर्ण इतिहासकार स्वीकार किया जाता है।¹² बरनी दिल्ली सल्तनत का अकेला इतिहासकार है जो इतिहास से लाभ, इतिहासकार के कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व विषयवस्तु, किसे इतिहास पढ़ना चाहिए – इत्यादि की वृहद व्याख्या करता है। हम उसके विचारों एवं मान्यताओं को भले स्वीकार न करें किंतु उसके इस प्रयास के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।¹³ इसके अतिरिक्त बरनी के इतिहास लेखन में पूर्वाग्रह, धार्मिक कट्टरता, तिथियों के प्रति रुचि न होना, संतुलन न होना, उच्च वंश एवं नस्लवाद का समर्थक होना आदि दोष परिलक्षित होते हैं। वह एक अच्छे मुस्लिम शासक के सदगुणों को बयान करता है। उसकी राय में एक आदर्श मुस्लिम शासक वह है जो मूर्ति पूजा और काफिरों के निशान तक मिटा दे।¹⁴ फिर भी उसे सल्तनतकालीन इतिहासकारों में महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

6% 'kEl , fljkt vQhQ & इनका जन्म 1350 ई. में पंजाब के अबोहर नामक स्थान पर हुआ था। सल्तनतकालीन इतिहास की दृष्टि से उनकी कृति “तारीख ए फीरोज शाही” महत्त्वपूर्ण है। अफीफ ने यह दावा किया है कि उसकी रचना बरनी के (और इसलिए मिन्हाज के भी) कृतित्व की पूरक है। किंतु इसका स्वरूप एकदम भिन्न है। क्योंकि जिन हालातों में इसकी रचना की गई वे एकदम भिन्न थे। मिन्हाज ने उत्तर भारत में तुर्कों के राज्य स्थापित होने की कहानी क्रमबद्ध की थी। बरनी ने उसके संगठन तथा विस्तार के साथ साथ उसके पतन की शुरुआत का वर्णन किया है और अफीफ ने सल्तनतकाल के अंतिम कुछ वर्षों का वर्णन किया है।¹⁵ यह ग्रंथ सुल्तान फीरोज तुगलक के काल के इतिहास पर प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ में उस काल की राजनीतिक स्थिति, सुल्तान फीरोज शाह के नैतिक आदर्शों तथा प्रजाहित के कार्यों तथा उसकी धार्मिक नीति आदि पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः तारीख ए फीरोज शाही इस्लाम धर्म की दृष्टि से लिखा गया है। पूर्वाग्रह, फीरोज के प्रति प्रशंसात्मक दृष्टिकोण तथा समसामयिक इतिहास लेखन से प्रभावित होने के कारण वह कहीं कहीं निष्पक्षता भूल जाता है। किंतु कमियों के होते हुए भी फीरोज कालीन इतिहास के लिए उसका विवरण महत्त्वपूर्ण है।¹⁶

सल्तनतकालीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथों में उक्त ग्रंथों के अलावा इब्ने बतूता द्वारा रचित किताबुल रेहला, सुल्तान फीरोज शाह की आत्मकथा फतूहात ए फीरोजशाही, ख्वाजा अब्द मलिक एसामी की कृति फतूह उस सलातीन, आइन उल मल्क सुल्तानी की कृति “इन्शा ए माहरु”, याहिया बिन अहमद सरहिन्दी की कृति “तारीख ए मुबारकशाही” शेख रिजकुल्लाह मुश्ताकी की कृति “तारीख ए मुश्ताकी”, अहमद यादगार की कृति “तारीख ए सलातीन ए अफगाना”, मुहम्मद कासिम हिन्दू शाह फरिश्ता की कृति “ तारीख ए फरिश्ता” आदि महत्त्वपूर्ण हैं जो सल्तनत युगीन इतिहास के विभिन्न पक्षों पर विवरण प्रदान करती हैं। सल्तनतकालीन इतिहास लेखन के मूल्यांकन के उपरांत निष्कर्ष के रूप में कहा जा

सकता है कि यद्यपि इस काल के बहुत से समकालीन ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होते हैं किंतु इन विवरणों में कई कमजोरियाँ रहीं। जैसे कि अधिकतर राजदरबार की घटनाओं का वर्णन करना, इस्लामी सिद्धांतों के आधार पर घटनाओं का निरूपण करना, सुल्तानों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना, आमजन की स्थितियों का वर्णन नहीं करना, गैरतुर्की मुस्लिमों एवं हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण रखना, तिथिक्रम पर ध्यान न देना आदि। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि यद्यपि इस काल से संबंधित ऐतिहासिक साहित्य तो प्राप्त होता है किंतु आधुनिक इतिहासकारों और विद्यार्थियों को इन विवरणों का अध्ययन सावधानी से करना चाहिए।

IUnHk §

1. राधेशरण, इतिहास और इतिहास लेखन, भोपाल, 2010, पृ. 293
2. सिंह, रहीस, मध्यकालीन भारत (दिल्ली सल्तनत) चंडीगढ़, 2012, पृ. 8-9
3. अली, अतहर, "समागम और प्रस्फुटन" मध्यकालीन सभ्यता का उदभव ", (सं.) हबीब, इरफान, मध्यकालीन भारत, भाग 7, दिल्ली, 2012, पृ.14
4. श्रीवास्तव, हरिशंकर, मध्यकालीन भारतीय इतिहास लेखन, वाराणसी, 1997, पृ. 1
5. निजामी, के.ए., आन हिस्ट्री एण्ड हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इंडिया, दिल्ली, 1983, पृ. 62
6. गर्ग, दामोदर लाल, मुस्लिम कालीन इतिहासकार और उनका लेखन, जयपुर, 2009, पृ. 86
7. वर्मा, हरिश्चन्द्र, मध्यकालीन भारत भाग 1, दिल्ली, 1997, पृ. 506
8. श्रीवास्तव, हरिशंकर, पूर्वोल्लिखित, पृ. 48
9. राधेशरण, पूर्वोल्लिखित, पृ. 312
10. वर्मा, हरिश्चन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ. 509
11. श्रीवास्तव, हरिशंकर, पूर्वोल्लिखित, पृ. 97
12. वही, पृ. 105
13. वही, पृ. 106
14. अली, मुबारक, इतिहासकार का मतान्तर, दिल्ली, 2010, पृ. 94
15. वर्मा, हरिश्चन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ. 513
16. श्रीवास्तव, हरिशंकर, पूर्वोल्लिखित, पृ. 126



ØkI l kLÑfrd fookg d ifr lkekft d nfVdk.k

¼[k tijkkgk i ;Vu {k= d fo'k'k l nHk e½

'kf'kdKur voLFkh*

Mk0 fnokdj 'kek**

i"BHkfe § क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह में समाज के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। इसमें सांस्कृतिक परम्परा अलग होने से वैवाहिक सम्बन्धों पर प्रभाव भी पड़ता है साथ ही इस पत्र में क्रॉस-सांस्कृतिक सम्बन्धों के प्रति समाज की प्रतिक्रिया समझने का प्रयास किया गया है। भारतीय समाज में यदि देखें तो भारतीय समाज अन्तर्विवाही सम्बन्धों को प्राथमिकता देता है। अतः उसमें जब वाह्य संस्कृति से विवाह करता है तो समाज क्या प्रतिक्रिया देता है इस शोध पत्र में जानने का प्रयास किया गया है। यह शोध पत्र व्यक्ति के प्रति समाज के व्यवहार को देखने का प्रयास किया गया है। अतः यह गुणात्मक शोध संरचना पर आधारित है इसमें तथ्यों का संकलन करने के लिए व्यक्तिक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया गया है। साथ ही समूह से तथ्यों को संकलित करने के लिए सामूहिक साक्षात्कार पद्धति का उपयोग किया गया है। समाज के दृष्टिकोण को समझने के लिए दो समूहों में बांटा गया है। 10 केस स्टडीज ली गयी है। जिन्होंने क्रॉस सांस्कृतिक विवाह किया है। इन्हीं से साक्षात्कार एवं अवलोकन द्वारा तथ्यों को संकलित किया गया है।

'kCnd:t h&Øk l&l kLdfrd fookg § इस शोध पत्र में क्रॉस सांस्कृतिक विवाह के बाहर समाज के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया गया है। क्योंकि सामाजिक दृष्टिकोण ही विवाहों की सामाजिक मान्यता का निर्धारण करता है। यदि विवाह में स्त्री और पुरुष मात्र की सहमति पर्याप्त नहीं होती, यदि कानूनी आधार पर देखें तो वैधानिक सहमति में भी सामाजिक पक्ष से गवाहों की आवश्यकता होती है। साथ ही यदि सामाजिक संस्था होने के नाते विवाह को सामाजिक मान्यता की भी सबसे अधिक जरूरत होती है। विवाह में समाज का महत्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि समाज ही विवाह की स्थिति को तय करता है। पश्चिमी देशों से यदि हम भारतीय समाज की तुलना करें तो उनकी अपेक्षा भारतीय में विवाह का स्वरूप अधिक व्यवस्थित है। क्योंकि भारतीय समाज में भावनात्मक घनत्व अधिक होने के साथ ही समाज का दबाव व्यक्ति पर ज्यादा (दुर्खीम, 1938) है और व्यक्ति समाज की आधारभूत संस्थाओं में आसानी से परिवर्तन करने का साहस नहीं कर पाता और वह समाज के नियम अनुसार ही अपने कार्यों को पूरा करने का प्रयास करता है। परन्तु वर्तमान समय में व्यक्ति की आवश्यकता में वृद्धि हो रही है इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति के लगातार दिखावे की संस्कृति का विकास हो रहा (गिडिंग्स) है जिस कारण से वह अपनी परिस्थिति को ऊपर उठाने के लिए प्रतियोगिता करता रहता है। जो कि लगातार समाज में दिखायी दे रहा है और इसी कारण से वर्तमान समाज के व्यक्ति के ऊपर से समाज की पकड़ लगातार कमजोर हो रही (दुर्खीम, 1956) है, किन्तु आज भी समाज की ओर प्रशंसा और आलोचना के द्वारा व्यक्ति के ऊपर नियंत्रण रखने का प्रयास किया जाता है।

भारतीय समाज में कम ही क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह प्रकार के विवाह होते हैं जिनमें कुछ सामाजिक संरचना से हट कर स्त्री और पुरुष विवाह करते हैं। क्योंकि भारतीय सामाजिक परम्पराओं का

*शोध छात्र, समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, म०प्र०

**प्रोफेसर, समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, म०प्र०

स्थान आज भी समाज अपनी विशिष्टता लिए हुए है। किसी स्थान विशेष में सांस्कृतिक सम्पर्क के द्वारा विवाह के नवीन स्वरूप दिखायी देते हैं इसका एक बड़ा उदाहरण खजुराहो पर्यटन स्थल में दिखायी देता है, यह शोध पत्र मुख्य रूप से खजुराहो में हो रहे क्रॉस सांस्कृतिक विवाहों पर प्रकाश डालते हुये समाज के दृष्टिकोण को समझा गया है। हम यहाँ सबसे पहले क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह को समझने का प्रयास करते हैं।

Øk| I kLÑfrd fookg& खजुराहो में एक अन्तर्राष्ट्रीय चन्देल शासकों के समय (950-1050) के बीच 85 मन्दिरों का निर्माण करवाया गया है यह बहुत ही अद्भुत है किन्तु कालान्तर में उनकी संख्या कम हो गयी और वर्तमान में 25 मन्दिर यहाँ स्थित है चन्देल राजाओं ने हिन्दू और जैन धर्म से सम्बंधित मन्दिरों का निर्माण करवाया है साथ ही इन मन्दिरों की दीवारों में काम क्रीड़ा (Sexual Representation) करती हुई मुर्ति कलाओं का प्रदर्शन है। यही अद्भुत चित्रण खजुराहो का विश्व में ख्याति प्रदान करती है और यह स्थल लगातार आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। जिसे देखने के लिए देश-विदेश के हजारों पर्यटक (सैलानी) आते हैं। और इन्हीं सैलानी से सांस्कृतिक विवाह सम्बन्धों की स्थापना हो रही है। किन्तु यहाँ इन विवाहों के स्वाभावों को समझने की आवश्यकता है। यह विवाह भारतीय सांस्कृतिक विभिन्नता वाले क्षेत्रों में न हाकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हो रहे है और यह विवाह एक लिंग विशेष में हो रहे हैं। इसमें स्थानीय खजुराहो के आस पास या खजुराहो का लड़का विदेशी लड़की से विवाह करता है। इस प्रकार के विवाह को क्रॉस सांस्कृतिक विवाह इसी लिये कहा जा रहा है। क्योंकि भारतीय संस्कृति की विश्व में अपनी एक अलग पहचान है और जब यह किसी अन्य संस्कृति (विदेशी संस्कृति) में अपने जीवन साथी चयन करता है तो इससे सांस्कृतिक विभिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है साथ ही इसे क्रॉस वार्डर विवाह नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें किसी एक देश-विदेश के विवाह नहीं हुये न ही भारतीय देश की सीमा से लगे हुए देश में न ही इसे पश्चिमी विवाह सम्बन्धों के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि यह विवाह पूर्व में भी हुए हैं।

जब जो भिन्न सांस्कृतिक परिस्थिति में समाजीकृत हुए व्यक्तियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता जिसमें कि विवाह के नियम से लेकर परिवार के समाजीकरण के आधार भी विभिन्न होते है साथ ही नातेदारी की प्रक्रिया भी अलग होती है इस सभी तत्वों के अन्तर के बावजूद जब दो अलग सांस्कृतिक जीवन को जीने वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध स्थापित होता है तो इस प्रकार के विवाह को क्रॉस सांस्कृतिक विवाह की संज्ञा दी जाती (अवस्थी, 2017) है। इस प्रकार के विवाह का प्रभाव उन सदस्यों पर पड़ता ही है जो कि विवाह बन्धन से जुड़ते हैं साथ ही इसका प्रभाव दोनों ही समाजों पर भी दिखाई देता है। साथ ही समाज की इनके प्रति अपनी प्रक्रिया प्रगट करते हैं।

Hkkj rh; I ekt e: fookg & भारतीय समाज में विवाह का स्वरूप वैयक्तिक न होकर सामाजिक है। विवाह को एक संस्था में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषम लिंगियों की यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक, आर्थिक संबंधों सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करता है। इसमें साथ ही भारतीय समाज अन्तर्विवाही समाज है इसका अर्थ यह कि विवाह के लिए जीवन साथी का चयन करने के लिए समाज के द्वारा कुछ संकेत दिये गये है जो कि यह निर्धारित करते है कि आप किस समाज संस्कृति, जाति, धर्म, समूह, गोत्र एवं नातेदारी में से जीवन साथी का चयन कर सकते हैं। साथ ही समान व्यक्तियों पर जीवन साथी के चुनाव के लिए दबाव भी बनाता है यह दबाव विवाह में शामिल होने से लेकर भोजन खाने तक होता है जिस कारण से विवाह को सम्पन्न करने वाला परिवार एवं नातेदार इन नियमों का भली-भाँति ख्याल रखते हैं। मैं इस शोध पत्र में खजुराहो पर्यटन क्षेत्र का लेकर क्षेत्र कार्य कर रहा हूँ। देखा जाये तो खजुराहो एक अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक स्थल है, किन्तु यह घनिष्ट रूपों से ग्रामीण समाज से भी जुड़ा हुआ है यह गांव की संस्कृति की मानसिकता भली-भाँति दिखायी देती है। जो कि महानगरों के समान व्यक्ति को स्वतंत्र नहीं छोड़ती अतः समाज के नियमों से हट कर काम करने पर आलोचनाएं भी होती है।

में अध्ययन क्षेत्र को यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ क्योंकि खजुराहो की सामाजिक सांस्कृतिक संरचना एवं व्यवस्था को समझना इस अध्ययन के लिए बहुत ही आवश्यक है खजुराहो पर्यटन क्षेत्र को यदि देखा जाये तो यह दो समूह में बंटा हुआ है, और इन दोनों समूह की भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए खजुराहो पर्यटन क्षेत्र में जीवन यापन के उत्पन्न स्रोत है साथ ही व्यक्ति को जीवन के लक्ष्य को प्राप्त स्रोतों का लाभ लेकर अवसर एवं परिस्थिति के अनुसार बदलाव करना पड़ता है। मैं यहां समझाने के लिए (आर्गवन,1922) की संस्कृति विलम्बना के सिद्धान्त को लेकर देखने का प्रयास करता हूँ। किन्तु इसमें अभौतिक संस्कृति के स्थान पर पर्यटन से दूर स्थित व्यक्तियों की संस्कृति है जो तेजी से नहीं बदलती वही भौतिक संस्कृति में पर्यटन से जुड़े हुए लोगों की संस्कृति है किन्तु यहाँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए जिससे कि परिवर्तित समूह पर अपरिवर्तित समूह का दबाव भी बना रहता है।

v/ ; ; u fof/k %& यह शोधपत्र गुणात्मक प्रकृति है, क्योंकि समाज की प्रतिक्रिया को हम संख्यात्मक स्वरूप में नहीं देख सकते अतः यह एक भाव , प्रतिक्रिया एवं सम्बन्धों का अध्ययन है जिसको गुणात्मक स्वरूप में ही देख सकते हैं साथ ही शोध प्ररचना के लिए अन्वेषणात्मक शोध प्ररचना को किया गया है यह अध्ययन हम उस विषय के स्वरूप के लिए करते हैं जिसकी हम स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है।व्यक्तिक अध्ययन पद्धति की सहायता से दस केस लिए गये तथा इन केस के आधार पर समाज के दृष्टिकोण को समझने के लिए साक्षात्कार तथा अवलोकन का प्रयोग किया गया है। इस अध्ययन के लिए समाज के उस समूह को किया गया जो पर्यटन से साथ रहते हुए अपनी दूरी बनाए हुये है। इसके दो आयु समूह के व्यक्ति को किया गया है। इस शोध पत्र में समाज का क्रॉस सांस्कृतिक विवाह के प्रति दृष्टिकोण को समझने के लिए इन आधारों को किया गया है।

Øk l kLÑfrd fookg ,o /kkfed lLdkj %& विवाह एक धार्मिक संस्कार है (कपाड़िया,1966) इस तथ्य की पुष्टि करने के लिए किए गये अध्ययन में क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह को देखा गया कि यह किस प्रकार का धार्मिक संस्कारों का पालन करता है किन्तु खजुराहो में हो रहे क्रॉस सांस्कृतिक विवाह धार्मिक संस्कारों से जुड़े हुए हैं किन्तु वह पूर्ण रूप से संस्कारों को नहीं मानते (अवस्थी,2017)। इसका प्रमुख कारण यह है कि विदेशी युवती किसी अन्य संस्कारों से पली-बढ़ी है, अतः वह भारतीय संस्कारों को उतनी गहराई से नहीं समझ सकती ऐसा स्थानीय व्यक्तियों का मानना है, साथ ही हिन्दू विवाह एक दिन का नहीं होती उसमें परिवार नातेदारी एवं समाज की सहभागिता बहुत ही पहले से होती है साथ ही जातियों की भी सेवा देने की वजह से इस विवाह में बराबर से स्थान प्राप्त होता है अतः यह समाज से जुड़ा हुआ संस्कार होता है यही क्रॉस सांस्कृतिक विवाह में स्त्री-पुरुष की सोच एवं पसन्द से विवाह होता है जिसमें विवाह मात्र 2 लोगों में सामाजिक सहमति के लिए किया जाता है और इस प्रकार के विवाह को विदेशों में मान्यता प्राप्त नहीं है इस कारण से बीजा प्राप्त करने के लिए यहाँ लोग दिल्ली से मैरीज सार्टिफिकेट प्राप्त करने के लिए कोर्ट में जाते हैं। इसमें विवाह के पूर्व ही यौन सम्बन्ध स्थापित होना एक आम बात है। अतः इसे विवाह मात्र कह सकते हैं किन्तु संस्कारों का स्थान इस प्रकार के विवाह में स्थान कम ही होता है।

2- ukrinkjh 0 ; oLFkk ,o Øk l kLÑfrd fookg %& क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह यदि सबसे अधिक प्रभाव किसी व्यवस्था पर डाल रहे हैं तो वह विवाह है नातेदारी व्यवस्था है,नातेदारी किसी भी समाज की संरचना की को तय करती (स्ट्रास ,1969) है; क्योंकि नातेदारी व्यवस्था में महिला का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान होता है, किन्तु इसमें दूसरी संस्कृति से आयी स्त्री भारतीय नातेदारी व्यवस्था को ठीक से समझ नहीं पाती अतः माता-पिता के ज्यादातर सम्बन्ध अपने पुत्र तक ही सीमित होते हैं। महिला पक्ष से उसके सम्पर्क स्थापित करने में वह सहज महसूस नहीं करते।

3- Øk l kLÑfrd fookg ,o lkekftd ekU ; rk %& सामाजिक मान्यता सामाजिक वैधता का निर्धारण करती है यह प्रश्न यह है कि भारतीय समाज अन्तर्विवाही है जब अपनी जाति, धर्म और संस्कृति के बाह्य विवाह की मनाही होती है। यह सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है कि जब भारतीय सामाजिक संरचना में इन निषेध के बाद भी क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह क्यों हो रहे हैं। इसका विश्लेषण करना एक गुणात्मक

प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना था हम सामान्य तरीके से देखते हैं, तो यह भारत में प्रेम विवाह का एक नया तरीका है विवाह में इसे इसलिए मानता हूँ क्योंकि आज भी यदि प्रेम विवाह होता है तो वह समाज में चर्चा या वाद का विषय बना हुआ रहता है, यह गन्दर्भ विवाह के रूप में भारती दर्शन में व्याप्त रहा है। प्रेम विवाह यदि जाति के बाहर होता है तो हरियाणा जैसे राज्य में आनरकिलिंग जैसी घटनाएँ आम हैं क्योंकि एक सामाजिक दबाव व्यक्ति महसूस करता है इस तथ्य को यहाँ विस्तार से समझना आवश्यक है मैं इस तथ्य को पब्लिक स्फेयर (हेवरमॉस, 1991) के माध्यम से ठीक तरीके से समझा सकता हूँ। पब्लिक स्फेयर की अवधारणा ने मीडिया के क्षेत्र में समझने के लिए की थी। खजुराहो में इस तथ्य के लिए व्यक्ति की समझ से समझना वहाँ बड़ा ही आवश्यक है इस अवधारणा को समझने के लिए। खजुराहो में क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह की अवधारणा आज से 25 वर्ष पहले हुयी थी जब खजुराहो के एक रिक्शा चालक जापान की एक लड़की से विवाह किया था वह उसका दूसरा विवाह था वहाँ खजुराहो में एक विवाह पहले से कर चुका था। इस घटना का समाज पर ज्यादा असर पड़ा और विवाह करने वाले व्यक्ति का जाति से वहिष्कार कर दिया गया। कुछ समय बाद एक उच्च और प्रतिष्ठित परिवार के एक सदस्य ने ऑस्ट्रेलिया में विवाह किया और अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत कर खजुराहो में बिजनेसमैन परिवार के रूप में अपनी प्रतिष्ठा को और मजबूत कर जमाया इस उदाहरण ने खजुराहो में लपका (पर्यटन से जुड़ा युवा समूह) को नया अवसर प्रदान किया समाज में आलोचना के बीच भी बाहर निकालकर युवाओं ने क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह अपनाया। धीरे-धीरे खजुराहो के लगातार अन्तर्राष्ट्रीय क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह सम्पन्न होते रहे साथ ही बहु संख्या में विवाह होने के कारण समाज का एक वर्ग इन विवाहों के समर्थन में भी खड़ा दिखायी देता है। अतः क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह एक समय पश्चात् बहिष्कृत श्रेणी से बाहर हो गये। इसका प्रमुख कारण यही था कि अधिक संख्या के विवाह हुए यदि बहिष्कृत समाज अपनाती तो वही समर्थन भी समाज से आगे होगा। धीरे-धीरे यह खजुराहो की संस्कृति में आम हो गया। खजुराहो में प्रेम विवाह, अंतर जाति विवाह की मनाही है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विवाह समाज का हिस्सा बन गया।

अन्तर्राष्ट्रीय विवाह से विवाह युगल विदेश में रहने लगता है और आर्थिक सम्पन्न होकर स्थानीय समाज में एक वर्ग विशेष में शामिल हो जाता है खजुराहो में अन्तर्राष्ट्रीय क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह एक अवसर की भांति है जो बेरोजगार युवाओं की एक सुपर फिशियल जिन्दगी देती है। जिसमें नौकरी एवं छोकरी दोनों ही मिल जाती है जिस कारण से समाज और परिवार के नियम सरल हो जाते हैं, अतः (मैलिनास्की) यह कथन की सांस्कृतिक व्यक्ति की आवश्यकता को पूरा करने के लिए बनायी गयी है। उसी प्रकार खजुराहो में आवश्यकता को लेकर ही संस्कृति में परिवर्तन हो रहा है।

अतः स्पष्ट है क्रॉस-सांस्कृतिक विवाह में जाति के समाज पवित्रता और अपवित्रता की अवधारणा नहीं है साथ ही कुछ अन्तराल से बार-बार न विवाहों को होने के कारण यह खजुराहो की सामाजिक संरचना का हिस्सा बन गये हैं, और लगातार होने के कारण यह चर्चा के बाहर का विषय भी हो गया है क्योंकि यह समाज के लिए विशिष्ट न होकर सामान्य हो गये हैं और सामान्यतः संख्या के साथ संस्कृति से जुड़ जाती है। अतः क्रॉस सांस्कृतिक विवाहों के प्रति समाज की एक सामान्य प्रतिक्रिया है, न की विशिष्ट और धीरे-धीरे, विवाह समाज का हिस्सा बन गया है। यह सांस्कृतिक कारणों के साथ-साथ आर्थिक कारण भी महत्वपूर्ण दिखायी देता है।

l UnHk %

1. Appadurai, Arjun, *Modernity at large : cultural dimensions of globalization*, Minneapolis, Minn. : University of Minnesota Press, 1996.
2. Aron, Raymond, *Main Currents in Sociological Thought - Vol.-I*, Penguin Books, London, 1976.
3. Atkinson, D.R., Morten, G. & Sue, D.W. *Counseling America Minorities: a cross-cultural perspective*. Dubuque: William C. Brown. 1983
4. Awasthi, S., *Samajik Sanskratik Sambandho ke Nirman Me Murtikala Ka Prabhao*, Naman Journal, July 2017
5. Brown, R., *Structure and Function in Primitive Society*, The Free Press, London, 1956.

6. Bourdieu , P., Cultural Reproduction and Social Reproduction , Sage Publication , New Delhi , 1973.
7. Cope, B. & Kalantzis, M. Multiliteracies: literacy learning and the design of social futures, pp. 69-91. London: Routledge,2000
8. Dumont,L.,Homo Hierarchicus.University of Chicago press,1970
9. Durkheim , E., The Rules of Sociological Method , The Free Press , New York , 1938 .
10. Durkheim , E., Division of Labour in Society , The Free Press , New York , 1956 .
11. Geertz , Clifford.,The Interpretation of Culture , Basic Books ,Inc. Publishers , New York ,1973 .
12. Ghurye, G.S., Caste and Race in India , Popular Book Depot , Bombay ,1948
13. Habermas,Jürgen (1991). The Structural Transformation of the Public Sphere: An Inquiry into a category of Bourgeois Society. Cambridge, Mass.: MIT Press, 1991. p. 175-177
14. Huntington,E. Climate and Civilization, HardPress, 2013
15. Kane, P.V., History of Dharmasaatra, Vol-II , Bhandarkar Oriental Research Institute , Poona , 1941
16. Kapadia, K.M., Marriage and family in India , Oxford University Press London, 1966.
17. Karve, Irawati. , Kinship Orgnaization in India ,Munshi Ram Manohar Lal Publishers, Pvt.Ltd , New Delhi , 1990 .
18. Malinowski , B., A Scientific Theory of Culture , Oxford University Press, London , 1960.
19. Marx , Karl and Engels ,Friedrich., The German Ideology , International Publisher , New York , 1930.
20. Merton , R.K.,Social Theory and Social Structure , The Free Press , New York , 1968.
21. Mukharji D.P. Sociology of indian culture Rawat Publications, Jaipur 1979.
22. Murdock, George P., The Cross_Cultural Survey . American Sociological Review ,1940(5)
23. Nadel, S.F., The Theory of Social Structure, Chen and West , London ,1969.
24. Parsons, Tolcott. The Structure of Social Action, The Free Press , New York ,1937.
25. Parsons,Tolcott. , The Social System , The Free Press , New York ,1951.
26. Singh,Y. Culture Change in India: Identity and Globalization , Rawat Publications, 2000
27. Strauss, Claude Lévi ,The Elementary Structures of Kinship, Beacon Press; Revised ed. edition (1969)
28. Weber, Max., The Protestant Ethic and The Spirit of Capitalism, Charles Scrubbier's Sons, New York, 1958.
29. Westermarck, E., The History of Human Marriage, Vol.-3, Macmillan and Co. Limited, London, 1891.
30. Yon, D. (2000) Elusive Culture: schooling, race, and identity in global times. New York: State University of New York Press



U;k; n'ku dk fl)kur rUo

'kyi'k dekj f}oni*

महर्षि गौतम प्रणीत न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में षोडश पदार्थ विवेचन है। न्यायसूत्रकार के अनुसार (1) प्रमाण (2) प्रमेय (3) संशय (4) प्रयोजन (5) दृष्टान्त (6) सिद्धान्त (7) अवयव (8) तर्क (9) निर्णय (10) वाद (11) जल्प (12) वितण्डा (13) हेत्वाभास (14) छल (15) जाति और (16) निग्रहस्थान के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।¹ षोडश पदार्थों में क्रम प्राप्त छठा सिद्धान्त तत्त्व है।

न्यायसूत्रकार के अनुसार 'तन्त्र के अर्थ की संस्थिति किये गये अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं।'² 'परस्पर सम्बन्ध सहित अर्थों के समूह के उपदेश को तन्त्र या शास्त्र कहते हैं।'³ अर्थात् 'यह ऐसा हुआ और माना गया' को सिद्ध कहते हैं और सिद्ध के संस्थिति का नाम सिद्धान्त है। इस प्रकार तन्त्र में अधिकरण की इत्थम्भाव व्यवस्था ही सिद्धान्त है। अतः 'प्रमाणिक रूप में माना गया अर्थ ही सिद्धान्त है।'⁴

सिद्धान्त चार प्रकार का होता है—

- (1) सर्वतन्त्र सिद्धान्त।
- (2) प्रतितन्त्र सिद्धान्त।
- (3) अधिकरण सिद्धान्त।
- (4) अभ्युपगम सिद्धान्त।⁵

सर्वतन्त्र सिद्धान्त को वर्णित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि 'जो अर्थ सब शास्त्रों में अवरुद्धता से माना गया है उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं।'⁶ या जिसको सब स्वीकार करते हैं वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। उदाहरण के तौर पर प्रमाण द्वारा प्रमेय पदार्थों का ग्रहण करना, पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा पंचमहाभूतों की अवधारणा को सभी शास्त्रकार स्वीकार करते हैं अतः ये सभी 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' हैं।

'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' सिद्धान्त का दूसरा भेद है। न्यायसूत्रकार के अनुसार 'जो सिद्धान्त एक शास्त्र में तो सिद्ध हो किन्तु दूसरे में असिद्ध हो उसे 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' कहते हैं।'⁷ उदाहरण के तौर पर मीमांसा शब्द को नित्य मानता है और न्याय अनित्य। अतः यहाँ मीमांसा में शब्द को नित्य मानना तथा न्याय में अनित्य मानना ही 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' का एक उदाहरण है। इसी प्रकार न्यायशास्त्र में मन की इन्द्रियों में गणना नहीं की गई, वेदान्त आदि भी मन को इन्द्रिय नहीं मानते (परतन्त्रासिद्ध) तथापि वैशेषिक शास्त्र जो न्याय का समानतन्त्र है, उसमें मन को इन्द्रिय कहा गया है। अतः न्यायसूत्र में मन का इन्द्रियत्व प्रतिपादन प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।⁸

सिद्धान्त का तीसरा भेद है 'अधिकरण सिद्धान्त'। 'जिस एक के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी नियम से सिद्ध हो सके उसे 'अधिकरण सिद्धान्त' कहते हैं।'⁹ जैसे 'देह और इन्द्रियों से भिन्न जानने वाला ज्ञाता (जीवात्मा) है जिसे आत्मा कहते हैं, देखने और छूने पर एक अर्थ के ज्ञान होने से' अर्थात् जिसे मैंने पूर्वकाल में देखा था वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ, इस प्रकार देखना तथा स्पर्श करना दोनों का कोई एक कर्ता है। यहाँ (1) इन्द्रियों का अनेक होना, (2) उसके विषयों का नियत होना, (3) इन्द्रियाँ ज्ञाता के ज्ञान की साधक होती हैं आदि इस सभी विषयों की स्वयं सिद्धि हो जाती है, क्योंकि उसे माने बिना उक्त अर्थ सम्भव नहीं होता है। यही 'अधिकरण सिद्धान्त' है।

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अभ्युपगमसिद्धान्त, सिद्धान्त का अन्तिम भेद है। 'बिना परीक्षा किये किसी पदार्थ को मानकर उस पदार्थ की विशेष परीक्षा करने को 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहते हैं।¹⁰ अभ्युपगम सिद्धान्त वह है जो परीक्षा करने के लिये किसी अप्रामाणिक या अपरीक्षित सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरण के तौर पर यह स्वीकार किया गया कि शब्द द्रव्य है किन्तु उसकी नित्यता या अनित्यता का परीक्षण उसकी विशेष परीक्षा हुई। यही 'अभ्युपगम सिद्धान्त' है। लोक में भी प्रायः वाद-विवाद के प्रसंग में व्यक्ति अपने वादी से कहता है कि मान लो कि यह वस्तु ऐसी ही है जैसा कि तुम कहते हो, किन्तु मैं इसका अमुक तर्क के आधार पर खण्डन करता हूँ जिससे कि तुम्हारे पक्ष का खण्डन हो जाता है और दूसरा पक्ष स्थापित हो जाता है। यही 'अभ्युपगम सिद्धान्त' है।

इस प्रकार सिद्धान्त के चारों भेदों का एकैकशः विवेचन समाप्त हुआ। सिद्धान्त 'सिद्धि का अन्त' है। यह वह धारणा है जिसे सिद्ध करने के लिये हमें जो करना था वह हो चुका है और अब स्थिर मत अपनाने का समय आ चुका है। शिक्षा के सभी क्षेत्रों के कुछ अपने मूलभूत सिद्धान्त होते हैं तथा वे सभी सर्वमान्य सिद्धान्तों की अपेक्षा भी रखते हैं।

I UnHk §

1. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयववर्तकनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्तिःश्रेयसाधिगमः।- न्यायसूत्र (1.1.1)।
2. तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः। न्यायसूत्र (1.1.26)।
3. न्यायभाष्य-सूत्र, (1.1.26)।
4. तर्कभाषा-केशवमिश्र, पृ० 265।
5. न्यायसूत्र (1.1.27)।
6. सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।-न्यायसूत्र (1.1.28)।
7. समानतन्त्रसिद्ध परतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।-न्यायसूत्र (1.1.29)।
8. तर्कभाषा-श्री निवास शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या, पृ० 266।
9. यत्सिद्धान्त्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः।-न्यायसूत्र (1.1.30)।
10. अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।-न्यायसूत्र (1.1.31)।



LoPNrk dk lEkt oKkfud fo'y"K.k

Mk0 uhj t dekj jk;*

हड़प्पा और मोहन जोदड़ो नगर के निवासियों ने स्वच्छता के सन्दर्भ में जिस जागृति का परिचय दिया कदाचित् ही किसी अन्य संस्कृति में ऐसी जागृति का उदारहण प्राप्त हो। इस संस्कृति में शौचालय व स्वच्छता सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी रहे हैं। सुनियोजित व पूर्ण विचार विमर्श की फलश्रुति का अनुभव इस संस्कृति में होता है। घर में स्नानागार, शौचालय का विशेष प्रबन्ध देखा गया है। स्वच्छता संदर्भित कई अवशेष इस संस्कृति में पुरातत्व विभाग को प्राप्त हुए हैं। प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के साथ गुंफित हमारी स्वच्छतापरक समझ को एक नई दिशा देने के लिए स्वच्छता के समाजशास्त्र की संकल्पना सुलभ इंटरनेशनल नामक गैर-सरकारी संस्थान के स्थापक डॉ० बिन्देश्वर पाठक ने शिक्षा के द्वारा आम जन तक पहुँचाने की अभीष्ट प्रयास किया। हेतुकर झा, बी०के० नागला, रिचार्ड पयास, आशीष सक्सेना, मोहम्मद अकरम, अनिल वाघेला जैसे समाज वैज्ञानिकों ने स्वच्छता के समाजशास्त्र विषयों की पुस्तकों की रचना की है। इन विचारकों ने समाजशास्त्र व समाज के विभिन्न पहलुओं को स्वच्छता का समाजशास्त्र की परिधि में समाविष्ट किया है। समाजशास्त्र की ही एक शाखा होने की बदौलत विज्ञान की विशेषताओं से यह शास्त्र महत्वपूर्ण हो जाता है। परिणामस्वरूप इस शास्त्र का महत्व अधिक बढ़ गया है। स्वच्छता को अन्य कई विषयों के द्वारा अपने अभिन्न व विशेष अंग के रूप में भी अंगीकार किया गया है। सामाजिक विज्ञान का भी इनके साथ सम्बन्ध रहा है। स्वच्छता के समाजशास्त्र को एक नए उद्घाटित होने वाले विज्ञान की पहचान प्राप्त है। उसकी संकल्पनात्मक प्रयुक्तियाँ वैचारिक प्रवृत्तियाँ व अभ्यास प्रयुक्तियों के परिणामस्वरूप इसे विज्ञान माना जाता है। अपनी नवाचारी प्रयुक्तियों व प्रविधियों के द्वारा यह शास्त्र क्रियाशील है। स्वच्छता समाज विशिष्ट गतिविधि है। फलतः सार्वजनिक स्थान, घर-समुदायों के कचरे का निष्कासन, स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, सफाईकर्मियों की भूमिका, परिवेश-पर्यावरण सम्बन्धी चर्चा व वैचारिकी इनका कार्य क्षेत्र है। इन पहलुओं के महत्व की समीक्षा, इस शास्त्र का अहम कार्य है। स्वच्छता का समाजशास्त्र स्वच्छता के पारस्परिक सम्बन्धों का सामाजिक विज्ञान है। अर्थात् स्वच्छता का समाजशास्त्र स्वच्छता व समाज के बीच के आन्तरिक सम्बन्धों का अभ्यास करने वाला शास्त्र है, जिसमें मनुष्य और समाज के पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। स्वच्छता समाज और संस्कृति से सम्बन्धित आयाम है, जहाँ स्वच्छता होगी, वहाँ के लोग समाज के प्रति मान और सांस्कृतिक मूल्यों का पालन करने वाले होंगे, लोगों के जीवन में स्वच्छता के मानों का सन्तुलन रहेगा। (नागला : 2017, झा : 2016, पाठक : 2013, 2015)

आज हमारे देश में स्वच्छता सार्वजनिक रूप से एक महत्वपूर्ण विषय है। स्वच्छ भारत अभियान के तहत देश में एक साल में सम्भवतः एक करोड़ से भी अधिक शौचालयों का निर्माण हुआ है। पर इनमें से आधे शौचालयों का भी इस्तेमाल नहीं होता। नेशनल सेम्पल सर्वे आर्गेनाइजेशन के मुताबिक ग्रामीण भारत में निर्मित 95 लाख शौचालयों का सिर्फ 46 फीसदी ही इस्तेमाल होता है। शहरी भारत में लोग शौचालयों में अनाज रखते हैं या भण्डार घर के रूप में इसका इस्तेमाल करते हैं और पुरानी आदत के अनुरूप तड़के खेतों में ही जाते हैं। देश की पिछली सरकारों ने भी शौचालय निर्माण पर जोर दिया था। पर शौचालय निर्माण भर से इसका प्रयोग बढ़ने की गारन्टी नहीं है। उदाहरण के लिए, नागला के अनुसार,

*सहायक प्रोफेसर-समाजशास्त्र, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिन्दकी, फतेहपुर।

खुले में शौच की प्रवृत्ति एक सांस्कृतिक समस्या है जो हमारी आदत बन चुकी है। स्वच्छ भारत अभियान आंशिक रूप से ही सफल है क्योंकि अभी तक साफ-सफाई और शौचालयों के इस्तेमाल के प्रति लोगों की मानसिकता में उस तेजी से बदलाव नहीं आया है, जो इस अभियान की सफलता के लिए जरूरी है। (नागला : 2017)

हाल के वर्षों में, भारत में पर्यावरण दुर्दशा के स्वरूपों के प्रति जनचेतना में एक असाधारण वृद्धि हुई है। यह एक आश्चर्यजनक एवं स्वागतयोग्य परिवर्तन है जो एक ओर पर्यावरण के प्रति लोक-जागरूकता को प्रभावशाली मीडिया कवरेज द्वारा प्रदर्शित कर रहा है तथा दूसरी ओर नये सरकारी-तंत्रों के गठन एवं पर्यावरणीय प्रबन्धन के विभिन्न आयामों के प्रति जन-चेतना जागृत कर रहा है। विश्व में यह जगह, स्थानीय स्तर से लेकर वैश्विक संसाधनों का यह अवक्षय लघु-कालिक विकासात्मक क्रियायें राज्य-प्रणाली का एक आधुनिक स्वरूप है। राज्य द्वारा शुरू किये गये विकास से प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक शोषण हो रहा है तथा उसके विरोध में आवाज उठाने के लिये स्थानीय स्तर से लेकर वैश्विक स्तर तक लोगों ने स्वयं को संगठित किया। यद्यपि प्रारम्भिक समय में इन आवाजों को उतना महत्त्व नहीं मिला, लेकिन हाल में बाहरी एजेन्सीज जैसे कि मीडिया, नागरिक समाज और सामाजिक कार्यकर्ता वर्ग ने इस मुद्दे का बहुत गम्भीरता से सार्वजनिक चर्चा में शामिल किया जिससे इन मुद्दों को संवेदनशीलता प्राप्त हुई। ये जो आवाजें उठी इनके द्वारा प्राकृतिक संसाधनों को पुनः स्थापित करने के लिये प्रयास एवं विकास तथा आधुनिकीकरण के वैकल्पिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक आन्दोलन के संस्थाकरण का जन्म हुआ। प्रजातीय, वर्ग, लिंग-विभेद पर आधारित सामाजिक आन्दोलन की परम्परागत श्रेणियों से हटकर पर्यावरण को नव-सामाजिक आन्दोलन द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में एक नयी परिचर्चा के रूप में स्थान मिला जिसके द्वारा वर्ग, वर्ण तथा लिंग से हटकर एक समान मुद्दा—‘हमारे पर्यावरण की रक्षा’ के आधार पर विश्व के विभिन्न हिस्सों से लोग आकर्षित हुये। पारिस्थितिकी आधुनिकीकरण सिद्धान्त ने एक क्रांतिकारी एवं परिवर्तनकारी कदम आगे रखा है, एक ऐसे मार्ग के रूप में जिसमें आधुनिक समाज मुख्यतः पर्यावरणीय समस्याओं के साथ द्वन्द्व की स्थिति में रहता है। ऐसा करने में, आधुनिक समाज की संस्थायें, जैसे कि बाजार, राज्य, विज्ञान और तकनीकी आदि को पर्यावरणीय संरक्षण को अनुरूप तब्दील किये जाने की आवश्यकता है। (सक्सेना : 2015 सक्सेना एवम् सक्सेना : 2017)

दुर्खीमवादी रूपरेखा में, ‘स्वच्छता के समाजशास्त्र’ को—अपवित्र से पवित्र की ओर स्थानान्तरण के रूप में देखा जाता है स्वच्छता के सन्दर्भ में लुईस ड्यूमा उचित रूप से कहते हैं कि भारतीय समाज एक स्तरित समाज है, जो जाति व्यवस्था के साथ धर्म पर आधारित है, जिसमें पवित्र व अपवित्र तत्त्व जुड़ा है। एम.एन.श्रीनिवास भी शुद्धता व अशुद्धता की बात करते हैं जिसे जाति सम्बन्धित अन्तःक्रिया में देख सकते हैं। उनकी संस्कृतिकरण की अवधारणा में, निम्न जाति सदस्यों के लिये स्वच्छता की धारणा अन्तर्निहित है। यदि दार्शनिक रूप से, स्वच्छता के मुद्दे पर बात करें तो, यह प्राप्त होता है कि धर्म निरपेक्षीकरण एवं स्वस्थ समाज में अन्य धर्मों के प्रति धार्मिक असहिष्णुता में ह्रास और समायोजन मिश्रित व्यवहारों को देख सकते हैं। हिन्दू धर्म के सिद्धान्त के अन्तर्गत भी स्वच्छता के मद्दे पर व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण जीवन में किये जा रहे, पाप के शुद्धीकरण के सन्दर्भ में भी स्वच्छता की बात की जाती है। इसी प्रकार, मृत्यु के पहले और पुनः जन्म लेने के लिये मोक्ष प्राप्त करना अनिवार्य है एवं उसे करने के सन्दर्भ में शरीर और आत्मा की स्वच्छता एक पूर्वस्थिति मानी गयी है। टालबोट (1986) के अनुसार, जैसे-जैसे समय बीता, स्वच्छता के अन्तर्गत व्यापक कर्तव्यों को स्वीकार किया गया और यह सिद्ध हुआ कि सैनिटरी सुधार केवल मानव के भौतिक जीवन तक प्रतिबन्धित नहीं है, बल्कि एक मानव जीव-होने के नाते उसकी समस्त क्रियाओं को प्रभावित करता है। अब यह माना जाता है कि स्वच्छता सम्बन्धी रुझान में असुविधा, दर्द, अस्वस्था मृत्यु, दोष अथवा अपराध जैसे कारकों को टालने, नष्ट करने अथवा कम करने की प्रवृत्ति निहित है। हमें यह बताया जाता है कि ये रक्षा बुराईयाँ—जैसे कि जीवन की हानि, स्वास्थ्य की हानि, और भौतिक अक्षमता जो लोगों पर आरोपित की जाती है, वह असंख्यात्मक है और, उनसे बचा जाना चाहिये।

व्यवहारिक स्वच्छता के अपने कार्य के परिचय में ई. ए. पार्क्स कहते हैं कि स्वच्छता शब्द को इसके सन्दर्भ में लेने पर, यह मस्तिष्क और शरीर की अति उत्तम संस्कृति के सन्दर्भ में नियम सूचित करता है। इन दोनों को अलग करना असम्भव है। शरीर, प्रत्येक मानसिक व नैतिक क्रिया से प्रभावित होता है, मस्तिष्क भी शारीरिक परिस्थितियों से गम्भीरतापूर्वक प्रभावित होता है। स्वच्छता की उत्तम व्यवस्था के लिये हमें शरीर, बुद्धि और नैतिक संकायों में एक उचित और सन्तुलित क्रम में, प्रशिक्षित करना चाहिये, न कि केवल चिकित्सकों द्वारा सुझायी गयी हाइजीन के भाग को देखना है। सर जॉन साइमन के शब्दों में, "जब स्वच्छता सुधारक आधुनिक सभ्यता के अन्तःकरण से अनुरोध करते हैं तो मानव जीवन के परिणामात्मक अपशिष्ट के विरोध में वहीं, बल्कि एक व्यक्ति होने के उन उच्च और सुन्दर सम्भावनाओं के बेपरवाही से विलुप्त होने के विरोध में तथा खुशहाली के लिये ऐसी क्षमताओं का निर्दयता से गला दबाने के विरोध में है। भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों के मध्य के सम्बन्ध को गिडिंग्स के निम्नलिखित कथन में दिखाया गया है— सामाजिक समुच्चय सर्वप्रथम बाहरी परिस्थितियों जैसे—खाद्य आपूर्ति, तापमान आदि से निर्मित होता है.... कि भौतिक पर्यावरण की अन्य परिस्थितियों व ससाधनों को सामाजिक समुच्चय के वास्तविक कारक के रूप में माना जाये, स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। समाज को भी एक व्यक्ति की भाँति स्वयं को भौतिक पर्यावरण के साथ समायोजित करना चाहिये। प्रगति के सन्दर्भ में तथ्य क्या है? यह किससे मिलकर बनता है। समाजशास्त्र का उत्तर होगा कि प्रगति के अन्तर्गत भौतिक कल्याण की भावना सामाहित होगी। तब तक स्वच्छता और समाजशास्त्र के बीच सबन्ध इस प्रकार है। व्यक्ति समाज का एक आवश्यक तत्व है। उसके सामाजिक मूल्य व्यापक रूप से उसके स्वास्थ्य पर निर्भर करते हैं जबकि, बदले में उसका स्वास्थ्य आंशिक रूप से उन पर परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित होता है जो कि समाज उस पर आरोपित करता है। आज मानव जाति की बेहद निराशाजनक प्रस्थिति निःसंदेह पिछले युगों और पुरानी पीढ़ियों की स्वच्छता और सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, लेकिन वे प्रभाव जिनके अन्तर्गत आज की पीढ़ी का मानव स्वयं न्यूनाधिक रूप से उनके नियंत्रण के अन्तर्गत है और हो सकता है, ये प्रभाव वर्तमान और भविष्य की अच्छाई के लिए बने हों। (सक्सेना एवम् सक्सेना : 2017)

लाइव मिंट एंड वॉल स्ट्रीट जर्नल की 1 जनवरी 2014 को जारी रिपोर्ट के अनुसार भारतीय स्वच्छता संकट में हैं। भारतीय राज्य ने सुरक्षात्मक सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने के लिए कुछ खास नहीं किया है। नेशनल सैम्पल सर्वे ऑगनाइजेशन (एनएसएसओ) द्वारा जारी नए आंकड़ों ने एक बार फिर देश में स्वच्छता की खराब स्थिति को रेखांकित किया है, विशेष रूप से ग्रामीण भारत में जहाँ देश की दो-तिहाई जनता निवास करती है। एनएसएसओ द्वारा 2012 में बड़े पैमाने पर कराए गए सर्वेक्षण के हाल ही में जारी परिणामों के अनुसार केवल 32 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों में स्वयं के शौचालय हैं। इसके अतिरिक्त 9 प्रतिशत परिवारों ने शौचालय का उपभोग किया है हालांकि यह आंकड़ा वास्तविकता से अधिक हो सकता है। पिछली जनगणना के आंकड़ों से पता चला है कि भारत के लगभग आधे से भी कम परिवारों में शौचालय की उपलब्धता थी। अधिकांश घरों में मोबाइल फोन तो थे पर शौचालय नहीं थे। स्वच्छता के क्षेत्र में खेदजनक एवं अपर्याप्त प्रगति ने भारत को विकासशील देशों के संस्तरण क्रम में भी नीचे ला दिया है। अनुमानत एक अरब लोग हैं, जो खुले में शौच करते हैं, इनमें से आधे से अधिक भारत में रहते हैं। स्वच्छता की निम्न स्थिति भारतीयों के स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचाती है, कुपोषण की उच्च दर में वृद्धि करती है और उत्पादकता में कमी उत्पन्न करती है। (अकरम : 2015) विश्व बैंक के अनुमान के अनुसार, भारत में स्वच्छता के अभाव में देश में बीमारियों का बोझ बढ़ने से भारत को सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का लगभग 6 प्रतिशत के बराबर नुकसान होता है। यह भी तथ्य है कि व्यस्कों की तुलना में बच्चे अधिक प्रभावित होते हैं। बीमारियों का तीव्र प्रसार बड़े पैमाने पर बच्चों के पोशाक तत्वों को अवशोषित करने की क्षमता को बाधित करता है, उनके विकास को रोकता है। यह सब जानते हैं कि भारत के (और दक्षिण एशिया के अधिकांश) बच्चों में कुपोषण की दर उप-सहारा अफ्रीका के बच्चों से भी अधिक है। दक्षिण एशिया में लैंगिक असमानता की उच्च दर, महिलाओं का निम्न स्वास्थ्य स्तर, वे कारक हैं जो जन्म के समय कम वजन के शिशुओं की बड़ी संख्या के लिए जिम्मेदार हैं। उपर्युक्त कारक

भारत की स्वच्छता में कमी के अन्य प्रमुख आधार हैं। 4 जुलाई 2013 को स्वास्थ्य अर्थशास्त्री डीन स्पीयर्स ने तर्क प्रस्तुत किया कि भारत में कुपोषण का एक बड़ा हिस्सा अस्वस्थ वातावरण का परिणाम है। भारत में 73 करोड़ से अधिक लोग बुनियादी स्वच्छता के बिना रह रहे हैं। यह संख्या दुनिया में सबसे ज्यादा है। जनसंख्या के हिसाब से भारत दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश है। स्वच्छ भारत अभियान के जरिये अत्यधिक प्रगति होने के बावजूद 73-20 करोड़ से अधिक लोग अब भी खुले, असुरक्षित अथवा गंदे शौचालयों का उपयोग करने को मजबूर हैं। महिलाओं या लड़कियों के लिये बहुत बड़ी समस्या है। वाटरऐंड्स स्टेट आफ द वर्ल्ड्स टायलेट्स 2017 की रिपोर्ट कहती है कि भारत में 35.5 करोड़ महिलाओं और लड़कियों को अब भी शौचालय नसीब नहीं हैं।

वैश्वीकरण एवं प्रौद्योगिकीय विकास की तीव्र गति ने स्वच्छता के सवालों को बहुआयामी बना दिया है। विकसित देशों ने विकासशील एवं अल्पविकसित देशों को तथा महानगरों/नगरों ने गांवों को या गांव के आसपास की भूमि को अपने औद्योगिक/नाभिकीय/इलैक्ट्रॉनिक/प्रौद्योगिकीय कचरे का 'डंपिंग ग्राउन्ड' बना दिया है नदियों, समुद्र, वन्य क्षेत्र इत्यादि में इस कचरे का निस्तारण के प्रयासों ने प्राकृतिक एवं जैव विविधताओं के सम्मुख संकट की स्थितियां उत्पन्न की हैं। इन सबके विरुद्ध जन चेतना के विस्तार के प्रयास भी जारी हैं और इस जनचेतना को तीव्र बनाये जाने की जरूरत है। (गुप्ता एवं चौहान: 2017) निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि स्वच्छता एक बुनियादी समस्या है तथा सामाजिक विकास और प्रगति को बनाये रखने के लिये स्वच्छता तथा स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दों को तेजी से चिन्तन और क्रियान्वयन की परिधि में लाना होगा। सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका (राय : 2011) जनचेतना और सामाजिक जागरूकता हेतु काफी प्रभावकारी हो सकती है।

I UnHk %

1. नगला, भूपेन्द्र कुमार (2017) : स्वच्छता का समाजशास्त्र : एक परिचयात्मक विमर्श, भारतीय समाजशास्त्र समीक्षा 3(2) जुलाई-दिसम्बर 2016 4 जन0-जून2017 (पृ0 1-6), भारतीय समाजशास्त्र परिषद
2. झा, हेतुकर (2016) : सैनिटेशन इन इंडिया : ए हिस्टोरीको सोशियोलॉजीकल सर्वे, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. पाठक, बिदेश्वर (2015) : सोशियोलॉजी आफ सैनिटेशन : इनवायरमेंटल सैनिटेशन, पब्लिक हेल्थ एंड सोशल डिपरिवेशन, कल्पास पब्लिकेशन नई दिल्ली।
4. सक्सेना, आशीष एवम् सक्सेना विजय लक्ष्मी (2017) : आधुनिक भारत में धार्मिकता एवं स्वच्छता एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य : भारतीय समाजशास्त्र समीक्षा 3(2) जुलाई-दिस0 2016 4(1) जन0-जून 2017।
5. पाठक, बिन्देश्वर (2013) : स्वच्छता का समाजशास्त्र (पर्यावरणीय स्वच्छता, जनस्वास्थ्य और सामाजिक उपेक्षा) सुलभ इंटरनेशनल, सोशल सर्विस आर्गेनाइजेशन, नई दिल्ली।
6. गुप्ता, राजीव एवं चौहान एस.सी (2017) स्वच्छता एवं समाज : एक आलोचनात्मक दृष्टि, भारतीय समाजशास्त्र समीक्षा 3(2) जुलाई-दिसम्बर 2016 4(1) जनवरी-जून (2017) (पृ0सं0 126-129)
7. सक्सेना आशीष (2015) : सोशियोलॉजी आफ सैनिटेशन : थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, कल्पाज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
8. अकरम, मोहम्मद (2015) : सोशियोलॉजी आफ सैनिटेशन, सोशियोलॉजी आफ टेक्स्ट बुक सिरीज, कल्पाज पब्लिकेशन, दिल्ली।
9. राय, नीरज कुमार (2011) : सूचना प्रौद्योगिकी और सामाजिक और सामाजिक संरचना, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली।



orieku e ehM;k dh n'kk vkj vkok t dk fuyke , d fo'y'k.k uj'k dekj*

‘आवाज का निलाम’ एकांकी की रचना प्रयोगवाद के प्रसिद्ध कवि धर्मवीर भारती ने की है। अपने समय की चर्चित पत्रिका ‘धर्मयुग’ के प्रधान संपादक रहे धर्मवीर भारती का हिंदी गद्य और पद्य दोनों में विशेष स्थान है। कवि, कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार, और संपादक के रूप में डॉ. धर्मवीर भारती की गहरी छवि रही है। अंधायुग, ठंडा लोहा, गुनाहों का देवता, सूरज का सतवां घोड़ा, बंदगली का आखरी मकान, गुलकी बन्नो और नदी प्यासी थी आदि रचनाएँ धर्मवीर भारती की कलम की अद्भुत देन हैं। ‘नदी प्यासी थी’ उनका एकांकी संग्रह है। जिसका प्रकाशन सन् 1954 में हुआ। ‘आवाज का निलाम’ को जोड़कर इसमें कुल पांच एकांकियों का संकलन किया गया। हमारे अध्ययन का मूल आधार ‘गद्यफुलवारी’ में संकलित एकांकी ‘आवाज का निलाम’ है। इसमें लेखक ने मीडिया पर पूंजीपतियों के बढ़ते वर्चस्व, प्रेस से लोक की आवाज के गायब होने की चिंता और एक ईमानदार पत्रकार की संघर्ष भरी कहानी को दर्शाया है। कहा जाता है कि एक रचनाकार युगद्रष्टा और भविष्य द्रष्टा होता है। युग की नब्ज धरे बिना कोई भी रचनाकार कालजीय कृति को जन्म नहीं दे सकता है। ‘अभ्युदय’, संगम और निकष से अपने पत्रकारिता के जीवन की शुरुआत करने वाले धर्मवीर भारती ने एक संपादकीय प्रतिभा के रूप में धर्मयुग के साथ पहचान पाई। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि धर्मयुग ने उनकी संपादकीय प्रतिभा से अपनी पहचान बनाई। आज मीडिया पूंजी के जिस दलदल में फंस कर अपनी भूमिका भूल चुका है उसकी इस दिशा की ओर बढ़ते कदमों को धर्मवीर भारती ने तभी भांप लिया था। आज तमाम मीडिया पूंजीपतियों का पूंजी लूट और जनता लूट हथियार बन गया है। बाजारवाद के इस दौर में मीडिया की भूमिका शक के दायरे में चल रही है। जिसको कुछ लोग अब दलाल भी कहने लगे हैं। मीडिया जो कि लोकतंत्र का चौथा स्तंभ है और उसे अपने महत्व और भूमिका को भूलना नहीं चाहिए। अगर लोक के तंत्र को बचाये रखना है तो मीडिया को लोक की आवाज होना पड़ेगा, तंत्र की आवाज की नहीं।

आज लोक की आवाज पूरी तरह निलाम हो चुकी है और इसके लक्षणों को धर्मवीर भारती जी ने आज़ादी के पांच-सात सालों में ही जान लिया था। प्रस्तुत एकांकी को आवाज का निलाम शीर्षक देने के पीछे यही वजह है। ‘आवाज का निलाम’ शीर्षक अपने अंदर एक गहरी व्यंजना लिये है जिसका अर्थ मीडिया की निलामी तक जाता है। सेठ बाजोरिया जैसे लोग किस प्रकार अपने षड्यंत्रों से मीडिया को निलामी की स्थिति तक ले आते हैं और दिवाकर जैसे ईमानदार पत्रकार जीवन भर संघर्ष करके भी जन की आवाज को बचा नहीं सकते। एक सच्चे पत्रकार को किन – किन परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है एकांकी के नायक दिवाकर के शब्दों में देखें, “आज दस साल से जब मैंने अपनी एक-एक हड्डी जलाकर अखबार निकाला, सरकारों से लड़ा, सेठों से लड़ा, जमानते दीं, घर बिक गया, बीवी सूख कर कंकाल हो गई तब किसी ने दया नहीं दिखाई।”¹ इन तमाम हालातों से गुजरते हुए भी वह अपनी सप्ताहिक अखबार को बिकने से नहीं बचा सका तो भावुक होकर अखबार के दस्तावेजों की फाइल अपनी बांहों में लेकर उससे ही अपने मन की वेदना को खोलने लगता है। वह कहता है, “मैं तुम्हारे लिए सब कुछ भूल गया था, अपने को, अपनी फूलों जैसी बच्ची को, अपनी शीला को, महज इसलिए कि तुम मेरी आत्मा की आवाज बन सको, मेरी भूखी- नंगी जनता की आवाज बन सको, सत्य की आवाज बन सको। लेकिन नहीं अब तुम बाजोरिया की आवाज बनोगे।”²

*अस्थाई प्रवक्ता, राजकीय मॉडल महाविद्यालय, महानपुर

अंतरराष्ट्रीय संस्था रिपोर्टर्स बिदाउट बॉर्डर के 2012 की रिपोर्ट के अनुसार मीडिया स्वतंत्रता सूचकांक में भारत की स्थिति बड़ी दयनीय है। जहां भारत को विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश कहा जाता है वहीं भारत दुनिया भर में प्रेस की आजादी में 131वें स्थान पर है यह एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए ठीक संकेत नहीं हैं। पत्रकारों पर जान लेवा हमले बढ़े हैं, धमकियां दी जा रही हैं। पत्रकारों को मार दिया जा रहा है। मीडिया घराने संपादकों पर अपना राज चलाते हैं। एकांकीकार ने इन तमाम चुनौतियों को पकड़ लिया था। दिवाकर के शब्द देखें, “अब साधना और तपस्या के दिन भी तो नहीं रह गए। अब कलम की शान और विचारक की आजादी का भी तो कोई अर्थ नहीं रहा। अब तो अगर मैं अपाके पत्र में हूँ तो आपका ढोल बजाऊँ और उसके पत्र में हूँ तो.....”³

मीडिया घरानों का राजनेताओं से गठजोड़ आज के समय की मुख्य समस्या बनती जा रही है और यह समस्या आज ही पैदा नहीं हो गई। इसके पैदा होने की प्रक्रिया आजादी के पहले और बाद से निरंतर चलती आ रही है। इसका स्वरूप आजादी के बाद स्पष्ट होता देख ही लेखक ने इस समस्या को उजागर किया था मीडिया मालिक अपने अखबारों के संपादकों और पत्रकारों पर अंकुश लगाते हैं। उन पर डिक्टेटर शिप करते हैं। सेठ बाजोरिया की अखबार में काम करने वाले संपादक चैटर्जी ने जब गृह मंत्री पर संपादकीय लिखा था तो बाजोरिया ने उसको डांट लगाई थी क्योंकि बाजोरिया और मंत्री की मित्रता हो चली थी। दिवाकर सेठ से सवाल करता है कि, “आज गृह मंत्री आपके मित्र हैं लेकिन सन् 42 में गृह मंत्री आपके मित्र नहीं थे, जब पुलिस उन्हें हथकड़ियां पहनाकर आपके दरवाजे से ले गई थी। उस दिन आप उनसे दौड़कर गले नहीं मिले थे। उस दिन तो आप मिलीटरी के लिए ठेके ले रहे थे और आपके अखबार अंग्रेजी सरकार का विज्ञापन छाप रहे थे कि कांग्रेस वाले गुंडे हैं। कम से कम चैटर्जी ने गृहमंत्री को गुंडा तो नहीं बोला था।”⁴ “उर्पयुक्त पंक्तियों का विवेचन करने पर पता चलता है कि मीडिया कैसे उसी की भाषा बोलने लगता है जो उसके लिए पूंजी का साधन बनता जाता है। जिस मीडिया के लिए लोक के सरोकार, जनता के सवाल, जनता के अधिकारों को उठाना प्राथमिकता में होना चाहिए कैसे उस के लिए पूंजी ही साध्य बन जाती है। वह अपने स्वार्थ साधने लगता है और पूरी संवेदनहीनता पर उतारू होकर जनता के साथ दगा और लोकतंत्र को खोखला करने लगता है। जब अंग्रेज सत्ता में थे तब कांग्रेस वाले गुंडे थे और जब वह सत्ता में आए तो मित्र हो गये। यह आज के मीडिया की कड़वी सच्चाई है जो सत्ता के साथ गलवहियां करके हमाम में नंगा नहाने लगा है। धर्मवीर भारती ने भारतीय जनता के असली चरित्र पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है। दिवाकर का यह संवाद हमारी वर्ग बोध से रहित जनता की वास्तविकता को समाने रख देता है वह अपने लिये लड़ने वाली आवाजों को भी नहीं पहचान सकती है। उनके हक के लिए लड़ते – लड़ते एक आवाज कैसे अकेली पड़ जाती है, निलामी तक पहुंच जाती है और उसको कोई फर्क तक नहीं पड़ता। वह नेताओं और पूंजीपतियों के बिछाये जाल में अपने विवेक को इतना खो देती है कि अपना भला बुरा तक सोचने का विमर्श उसके पास नहीं बचता। जनता भी सच से किनारा करना चाहती है उसे भी सच से कुछ नहीं लेना देना। दिवाकर को बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि, “लेकिन जनता इस नए इंसान की आवाज कहां सुनना चाहती है। उसे सच्चाई की आवाज नहीं चाहिए। उसे चाहिए शौख कवर, भड़कीले चित्र, रंग-बिरंगे विशेषांक। वह सब जो उसे सेठ बाजोरिया के अखबार में मिलता है।”⁵

अंततः हम कह सकते हैं कि आलोच्य एकांकी तत्कालीन मीडिया की स्थिति को ही सामने नहीं लाती है, मीडिया ने जो दशा आज बना ली है उसका भी सटीकांकन इस एकांकी में हुआ है। यह कहना भी ग़लत नहीं होगा कि धर्मवीर भारती ने जो ट्रेलर हमारे समाने 1954 में प्रस्तुत किया था आज का मीडिया उसकी वास्तविक फिल्म है। आवाज की निलामी सबसे खतरनाक निलामी है। जहां हमने घरों, ज़मीन ज़ायदाद की निलामी सुनी थी वहीं आवाज की निलामी भी शुरू हो चुकी थी वो भी आजादी के समय ही। निलामी किसी भी चीज की अच्छी नहीं पर जब बात आवाज तक आ चुकी हो तो बोलना और भी ज़रूरी हो जाता है।

I UnHk %

1. सं. शहाबुद्दीन शेख, गद्यफुलवारी, पृ. 128
2. वही, पृ. 129
3. वही, पृ. 131

4. वही, पृ. 133
5. वही, पृ. 130



भूमंडलीकरण की सदी

oUnuk 'kek*

इक्कीसवीं सदी भूमंडलीकरण की सदी है। 'भूमंडलीकरण' शब्द मूल रूप से 'भूमंडल' शब्द से बना है। 'भू' का अर्थ है भूमि, पृथ्वी, ज़मीन व मण्डल का अर्थ है परिधि, चक्कर। इस प्रकार भूमंडलीकरण का अर्थ हुआ पृथ्वी की परिधि करना। 'भूमंडलीकरण' शब्द के विभिन्न पर्याय हैं, जैसे वैश्वीकरण, विश्वीकरण, ग्लोबलाइजेशन, पृथ्वीकरण, उदारीकरण, पश्चिमीकरण, विश्ववाद, अंतरराष्ट्रीयवाद, बंधनमुक्त व्यापार आदि।

भूमंडलीकरण विभिन्न देशों को लांघता हुआ अबाधित पूंजी प्रवाह है जो आदान-प्रदान द्वारा देशों की अर्थ-व्यवस्था को गतिशील करता है। भूमंडलीकरण एकरूपता एवं समरूपता की वह प्रक्रिया है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व सिमटकर एक हो गया है। "भारतीय संस्कृति में भूमंडलीकरण की अवधारणा पुरानी है जिसे ऋषि-मुनियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'माताभूमि पुत्रोऽहम् पृथ्व्याः' आदि मंत्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, जो समस्त मानव जाति को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँधता है। इसके विपरीत साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शक्तियों द्वारा गढ़ा गया भूमंडलीकरण का मुहावरा उत्तर आधुनिक मोहपाश है और यह शक्तियाँ सूचना प्राद्योगिकी एवं बाज़ार के माध्यम से नये उपनिवेश स्थापित करने की ओर अग्रसर है।"¹

भूमंडलीकरण ने सामाजिक और वैचारिक चेतना पर प्रहार किया है। इतिहास का अंत, साहित्य और समाज का अंत की घोषणा करता यह साहित्य, संस्कृति और समाज की अवधारणा को नकारते हुए बाज़ारवाद और उपभोक्ता संस्कृति को स्थापित कर रहा है। भारतीय समाज और संस्कृति पर भूमंडलीकरण का प्रभाव पड़ा है। भूमंडलीकरण का प्रभाव स्त्री-पुरुष दोनों पर विभिन्न प्रकार से पड़ा। वर्तमान सदी की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में जो परिवर्तन आये हैं उसने स्त्री की सोच को बहुत परवर्तित किया। प्राचीन काल से ही नारी सभ्यता, संस्कृति और समाज के निर्माण में सहभागी रही है और उसे सम्मान प्राप्त था। कहा जाता है कि— *;= uk;Lr iT;Ur jeUr r= nork*A²

अतः उपर्युक्त पंक्ति से स्पष्ट है कि किसी भी समाज की सुख-समृद्धि का आधार उस समाज की स्त्रियों के जीवन और प्राप्त सम्मान से आँका जाता है। आज जहाँ एक तरफ स्त्री आसमान को छू रही है, वहीं दूसरी ओर शोषण का शिकार भी हो रही है। भूमंडलीकरण के चलते स्त्री की छवि प्रदर्शित वस्तु की तरह बनकर रह गई है। वह अपने अस्तित्व को बचाने हेतु संघर्षरत है।

यह प्रभाव साहित्य में भी परिलक्षित होता है। साहित्य हमें भूमंडलीकरण की सच्चाइयों के पास ले जाता है तथा हमारी सोच में नई हलचल पैदा करता है। साहित्य अपने समसामयिक परिवेश को उद्घाटित करता है। हिन्दी साहित्य में भी साहित्यकारों ने भूमंडलीकरण के प्रभाव तथा उनसे उपजे संकटों को अपनी लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। समाज में स्त्री की स्थिति व उसके संघर्ष को साहित्य ने वाणी प्रदान की है। उनके प्रति हो रहे अन्याय से उन्हें सचेत किया है। नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, राजू शर्मा, अलका सरावगी, रवींद्र वर्मा, काशी नाथ सिंह, मृदुला गर्ग, क्षमा शर्मा, प्रभा खेतान आदि लेखक-लेखिकाओं ने स्त्री पर भूमंडलीकरण के सकारात्मक व नकारात्मक प्रभावों को उद्घाटित किया है।

साहित्यकार बाज़ार ताकतों द्वारा स्त्री पतन की कहानी को कहते हैं। वैश्वीकरण और उत्तर-आधुनिकता ने स्त्री-शोषण के नये-नये आयाम खोल दिये हैं, मुनाफे का बाज़ार पुरानी रूढ़ियों को फिर

*शोधार्थी, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

से ज़मीन देने लगा है। स्त्री सबसे बड़ा उपभोगता वर्ग तथा सामान बेचने का माध्यम बन गई है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने अपने लेख 'रमैया की दुलहिन ने लूटा बाज़ार' में इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि – **vkt mRikn gj miHkkDrk gj oLrj, gj vkj oLrvk ei cnyrk vkneh gj vkj mldh vknfe; r g-----Vh-oh- puyk ij pkch l ?kVl Nk; jgu oky foKkiuk ij ,d fuxkg Mkfy, & nfgd Hkkfrd l [kHkkxokn d l k/kuk dk ipkj djr cPp&c<] fd 'kkj& toku] L=h&i: "k dh ,d HkhM] mud: gko&Hkko] mldh Hkk"kk] mudk gj <x vkj og tk mudk ugh] mu ykxk }kjk r; fd;k x;k g tk budk bLreky dj jgk gA**³

हिन्दी के लेखक-लेखिकाओं के साहित्य में बाज़ारवाद के स्पष्ट उदाहरण हैं। जैसे 'प्रभा खेतान' 'आओ पेपे घर चले' तथा 'अन्या से अनन्या' में उन्होंने 1970 में खोले हेल्थ क्लब 'फिगरेट' का उल्लेख किया है। जिसमें प्रभा खेतान ने वहां आने वाली औरतों को अपनी देह से, रंग-रूप से, अपने आप से असंतुष्ट पाया और इसकी वजह है मीडिया। – **vkjr bl gn rd oLrj gk tkrh gj fd viuh gh ng dh ,d&,d ijr dk n l jk dh ut j l rkyrh jgrh gj vkj ukiu] tk[ku] rkyu: di ckn Hkh vrflr] il.krk gkfly u dj iku dh gkj vkj Fkdku vkjr dk rkMdj j[k nrh gA ehfM; k L=h ng dh ,d [kcljr exj v l Hko& l h rLohj dk vkjr d l keu vkn'k : i ei iLrj djrk gj rFkk L=h bl Nfo dk ,d ije vkn'k ,o l [kdkjh : i ei Lohdkj yrh gA**⁴

मीडिया स्त्री की सोच को नियन्त्रित कर अपने उद्देश्य को पूर्ति कर रहा है। इतना ही नहीं स्त्री का घर-परिवार, दफ्तरों, समाज में शोषण अधिक बढ़े हैं। हालांकि भूमंडलीकरण ने महिलाओं को सबल बनाने एवं प्रगति पथ अरुढ़ करने में अहम् भूमिका का निर्वाहन किया है। अनेक बाधाओं को पार कर आज स्त्री शिक्षित, कामकाजी, अधिकार संपन्न, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियों ने समाज के विविध क्षेत्रों में ऊँचे मुकाम हासिल किये हैं। इस सब के विपरीत दिन-प्रतिदिन स्त्री-उत्पीड़न, बलात्कार की संख्या बढ़ी है। स्त्री अस्मिता के प्रश्न निरन्तर बने हुए हैं।

अतः भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री को अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए उपभोग की वस्तु बनने से बचना होगा। अपने अधिकार पाने के साथ-साथ परिवार व समाज को भी एक सूत्र में बांधना होगा। अपनी बात को खुलकर कहने के अधिकार आज स्त्रियों को प्राप्त हैं। इसलिए स्त्री को सही का समर्थन व गलत का विरोध करना होगा तभी सही अर्थों में स्त्री स्वतंत्रता को महसूस कर पायेगी।

I UnHk %

1. भूमंडलीकरण : साहित्य, समाज और संस्कृति, सं. डॉ. शशि भूषण शशि, पृ0संख्या- 71
2. प्रतियोगिता दर्पण, वर्ष-35, षष्ठम् अंक, फरवरी 2013, पृ0 संख्या- 1072
3. उद्धृत लेख 'रमैया की दुलहिन ने लूटा बाज़ार', डॉ. शिवकुमार मिश्र, सम्प्रेषण, अंक 133, वर्ष-39, 2004, पृ0संख्या 59-60
4. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान, पृ0संख्या- 170



'k[kj t k'kh d l kfgR; e of.kr Hk"Vkp kj

MkE eny t k'kh*

ru tk jk.kk*

l k j k' k & भ्रष्टाचार ने हमारे समाज को तो प्रभावित किया ही है साथ ही मनुष्यों के आदर्शों, नैतिकता एवं ईमान को भी खण्डित किया है। आज के समय में हर कोई इस समस्या को लेकर चिंतित है, फिर हमारे साहित्यकार इस समस्या को लेकर चिंतित क्यों न हों? जिसके परिणामस्वरूप हमारे साहित्यकारों ने भी इस समस्या का अपने लेखन का केन्द्र बनाया। इन साहित्यकारों में से एक शेखर जोशी भी हैं, जिन्होंने समाज में हो रहे भ्रष्टाचार को देखा और सरकारी व निजी क्षेत्रों में हो रहे भ्रष्टाचार को अपने साहित्य लेखन के माध्यम से जन-सामान्य के समक्ष रखा।

हम सभी भ्रष्टाचार से अच्छी तरह परिचित हैं। भ्रष्टाचार ने मनुष्य को नैतिक मूल्यों से गिरा दिया है। उसकी अदम्य भोग-लिप्सा व लालच ने नैतिकता की सभी सीमाएँ लाँघ दी हैं। इसके साथ ही भ्रष्टाचार लोगों के दिलों में इंसानियत, सदाचार, उदारता एवं स्वाभाविकता को नष्ट कर रहा है।

भ्रष्टाचार दो शब्दों से मिलकर बना है— 'भ्रष्ट' और 'आचार'। भ्रष्ट का अर्थ है— मार्ग से विचलित, ध्वस्त एवं बुरे आचरण वाला तथा 'आचरण' का अर्थ है— चरित्र, व्यवहार, चाल-चलन। इस तरह भ्रष्टाचार का अर्थ हुआ अनुचित व्यवहार या वह आचरण जो किसी भी प्रकार से अनैतिक और अनुचित हो तथा अनैतिक तरीकों का इस्तेमाल कर स्वार्थ सिद्धि करना भ्रष्टाचार कहलाता है। जब कोई व्यक्ति न्याय व्यवस्था के मान्य नियमों के विरुद्ध जाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए गलत आचरण करता है तो वह व्यक्ति भ्रष्टाचारी कहलाता है।

"आमतौर पर सरकारी सत्ता और संसाधनों के निजी फायदे के लिए किये जाने वाले अनुचित इस्तेमाल को भ्रष्टाचार की संज्ञा दी जाती है।"

व्यक्ति की धन के प्रति बढ़ती इच्छा, रुचि इसका प्रमुख कारण है। पैसे के लिए आज का व्यक्ति अनुचित मार्ग अपनाने में भी संकोच नहीं करता। भ्रष्टाचार के कारणों में गरीबी, बेरोजगारी, सरकारी कार्यों का विस्तृत क्षेत्र, अत्यधिक प्रतिस्पर्धा, प्रशासनिक उदासीनता, वरिष्ठ अधिकारियों का कनिष्ठ अधिकारियों पर दबाव, अल्प वेतन, महत्वकांक्षा, अशिक्षा, महंगाई, नौकरशाही का विस्तार, भ्रष्टाचारियों को सजा देने में देरी इत्यादि मुख्य हैं। तेज़ी से बढ़ते औद्योगीकरण और आबादी की आवाजाही के कारण जन सामान्य स्थापित मानकों और मूल्यों को छोड़ते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार हो रहा है।

भ्रष्टाचार समाज के लिए एक जहर है। भ्रष्टाचार का सामान्य रूप पैसा और उपहार लेकर या देकर काम करना दिखाई देता है। आज कल हर व्यक्ति बस खुद का काम निकालना चाहता है, चाहे वह किसी से पैसे लेता है या फिर काम करवाने के लिए पैसे देता है सरकारी और निजी कार्यालयों में काम करने वाले भ्रष्टाचार के गहरे दलदल इतने धँस चुके हैं, कि वे सरकारी नियम-कानूनों की धज्जियाँ उड़ाने में भी संकोच नहीं करते।

आज पूरी दुनिया में भारत भ्रष्टाचार के मामले में 94वें स्थान पर है। धर्म, शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, खेलकूद, कला, मनोरंजन इत्यादि क्षेत्रों में भ्रष्टाचार फैला हुआ है। व्यक्ति सार्वजनिक सम्पत्ति, शक्ति और सत्ता का गलत इस्तेमाल अपनी आत्म संतुष्टि और निजी स्वार्थ के लिये करता है।

*शोध निर्देशिका, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

**शोधार्थी, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

भ्रष्टाचार समाज और समुदायों के बीच असमानता का बड़ा कारण है एवं इसका प्रभाव व्यक्ति के विकास के साथ-साथ राष्ट्र के विकास पर भी पड़ रहा है। साथ ही ये राजनतिक, सामाजिक, आर्थिक रूप से राष्ट्र के विकास और प्रगति में बाधक तत्त्व बनकर उभरा है।

भ्रष्टाचार का मुद्दा एक ऐसा राजनीतिक प्रश्न है जिसके कारण कई बार सत्ता व सरकारें ही नहीं बदलती, बल्कि इसके कारण बहुत बड़े-बड़े ऐतिहासिक परिवर्तन भी हो जाते हैं।

आज के समय में सबसे ज्यादा भ्रष्ट हमारा राजनीति तंत्र हो चुका है जहाँ एक ओर भारत के महान नेता 'बल्लभ भाई पटेल' और 'लाल बहादुर शास्त्री' जी ने अपना पूरा जीवन भ्रष्टाचार और सामाजिक बुराईयों को मिटाने में लगा दिया, वहीं आज के नेता अपने स्वार्थ के लिए भ्रष्टाचार का सहारा ले रहे हैं और इसके चलते सरकारी पदों पर आसीन व्यक्ति भी सरकार द्वारा गरीबों की स्थिति के सुधार के लिए जो योजनाएँ एवं पैसे आते हैं वह सब आपस में बाँट कर हजम कर जाते हैं। योजनाएँ गरीबों तक न पहुँच कर सरकारी फाइलों में शुरू व बंद हो जाती हैं। सरकारी पदों पर आसीन भ्रष्ट व्यक्ति एक के बाद एक घोटाला करता जाता है और लोग इसके खिलाफ आवाज उठाने के बजाए सिर्फ कुछ पैसों के लिए लोगों के साथ हो जाते हैं।

'शेखर जोशी' नई कहानी आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इनका जन्म सन् 1930 में 'अल्मोड़ा' जनपद में 'ओलिया गाँव' के एक किसान परिवार में हुआ है। इनकी पहली कहानी 'दाज्यू' है। इनकी चर्चित कहानी 'कोसी का घटवार' ने इन्हें साहित्य जगत में अनुपम स्थान दिलाया।

शेखर जोशी के साहित्य में वस्तुतः अनेक समस्याओं का वर्णन है, जिनमें से एक समस्या भ्रष्टाचार को भी बखूबी देखा जा सकता है। ग्रामीण तथा नगरीय जीवन के करीब होने के कारण ये गाँव तथा शहरों में व्याप्त भ्रष्टाचार से परिचित हैं। इन्होंने अपनी कहानियों और कविताओं में दर्शाया है कि किस प्रकार जमींदार किसानों का, कारखानों में मजदूरों का तथा उच्च वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों का शोषण किया जाता है। शेखर जोशी भ्रष्ट व्यक्तियों के बारे में लिखा है—

β[ky&[ky e @ lkgk u cuk; k pkj m l @ck/k nh ifVV; k vk[kk e@vki fNi x, vkV eAp²

व्यक्ति अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए भ्रष्टाचार में लिप्त होने से संकोच नहीं करते और वहीं शरीफ व ईमानदार व्यक्ति को अपनी मंजिल या लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार शेखर जोशी आगे कहते हैं—

βvk[kk ij ifVV; k ck/k@<<rk g vi u y{; dk@Vdjkrk g [kEHkk] nhokjk l @ygygku gkrk g t xrkj @eUn&eUn eLdkr: g lkg ykx@ [kyh vk[kk y jg g [ky dk vkuUnAp³

शेखर जोशी ने अपनी कविता "मुजफ्फरनगर-94" में राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार व कुचक्र को उजागर किया है कि किस प्रकार राजनेता आन्दोलनों व अपने खिलाफ उठने वाली आवाज का दमन करते हैं। जब उत्तराखण्ड को अलग राज्य बनाने के लिए उत्तराखण्ड के लोगों ने आन्दोलन किया और अपनी माँगों को मनवाने के लिए रैली निकाली तो किस प्रकार रैली में शामिल लोगों के साथ हिंसात्मक व्यवहार किया गया। आदमियों और बच्चों को अपनी जान गँवानी पड़ी तथा महिलाओं के साथ अभद्र व्यवहार किया गया। इस घटना को शेखर जोशी ने कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—

βty:l l ykVdj vkb og vkjr@ekfp l ekxu xb g iMkl u d iklA@u tku D; k dN dg jg g@pgj: d nkx@QMdr: uFku@ l [k vk l vk d fu'kku@vkgr ee@ vkj jkinh gb ngAp⁴

शेखर जोशी जी ने कारखानों में कई पदों पर कार्य किया है जिस वजह से शेखर जोशी कारखानों में फैले भ्रष्टाचार से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं कि किस प्रकार कारखानों में मजदूर वर्ग का शोषण होता है और श्रमिकों के श्रम का सही मूल्य भी उन्हें नहीं दिया जाता। 'कारखाना' कविता में शेखर जोशी ने दर्शाया है कि किस प्रकार श्रमिक वर्ग पूरी मेहनत करता है और उसके साथ कितना

भ्रष्ट व्यवहार होता है। कारखानों में काम करने वाले किस प्रकार समय से पहले भूखे-प्यासे पहुँचते हैं और एक मिनट की देरी या गेट से 2-4 कदमों की दूरी होने पर भी फोरमैन उन्हें अन्दर नहीं जाने देता सिर्फ इसलिए कि उनके देरी से आने पर आधे दिन की पगार उन्हें मिलती है परन्तु काम वो पूरा दिन करते हैं और कारखानों के मैनेजर आदि उन्हें अपने आगे पीछे घुमाते रहते हैं—

βvHkh vkB dh ?k.Vh ct rj]@Hk[kk f'k'k&lk ph[k mBk Fkk]@fey dk lk;juA@vkj
lMd ij ml: euku@ ul: ljh[kh nkM: iMh Fkh@Jfed&tuk dh ikr@;=or];=ox
lA@ogh xV ij cM: jkc l@?ke jgk g] Qkjeu Hkh]@dYy dh l[kh dk;k@'kh'k
uokrh ml: ;=orAp⁵

इसके अतिरिक्त 'नौरंगी बीमार है' कहानी भी सरकारी दतारों तथा कारखानों में चल रहे भ्रष्टाचार का खुला दस्तावेज है। इस कहानी का मुख्य पात्र नौरंगी है जिस पर निर्दोष होते हुए भी भ्रष्टाचार का आरोप लगाया जाता है। इस कहानी में सरकारी दतारों में फैले भ्रष्टाचार को उजागर करते हुए शेखर जोशी जी ने लिखा है— βbu nyky fcpky; k u rk jM: ekj j[kh gA dy di v[kckj ei ugh i<k\ vdiy; ,d vkneh u ljdkjh [kjh ei fdru djkM gte dj fy,A vdiy: dkb: ugh [kkrk HkbbA lc feyh Hkxr gkrh gA viuk ipit vQl j lc ulp&Aij djrk g: yfdu eVfj; y vQl j] odi eut j] çkMD'ku eut j] phQ rd fgL lk igprk g] mudh ikt'h'k d: fg lkc lAp⁶

'मिल : नाइट शिट' कविता भी इसी तथ्य को उजागर करती है कि प्रकार उच्च वर्ग निम्न वर्ग पर अत्याचार करता है उनका शोषण करता है—

βvx&vx l: euekuh dj@f'kfky dj fn;k@j l dh vfure cn pl dj@xUu
dh l[kh BBjh lk@fu'kk 'k"e ei eDr dj fn;kAp⁷

'बच्चे का सपना' कहानी के द्वारा विकृत न्याय-व्यवस्था को पाठकों के समक्ष लाया गया है भ्रष्टाचार के कारण व्यवस्था चंद लोगों के हाथ की कठपुतली बन गई है और पुलिस अपराधीकरण का पर्याय बन गई है। शेखर जोशी ने इस कहानी में कानून व्यवस्था या न्याय व्यवस्था की पोल खोली है। इस कहानी में 'बाबू साहब' जब अपनी फरियाद दर्ज करवाने जाते हैं तो पुलिस का रवैया कैसा होता है। इसका चित्रण किया है— βckc lkgc] ;g LV'ku g] gtkj rjg di ykx vkr&tkr: g] lkeku ei vkidk uke rk fy[kk ugh gA lk/kkj.k lkeku g] dkb: Hkh viui Fky: ei Mkydj y: x;k gkxkA lyVQke: ij [kkepi oky: Nkdjk&vkdkj l: iN yhft ,A fd l h u n:[kk gk rk --- -----Ap⁸

'गलत लोहा' कहानी में भ्रष्ट समाज व मनुष्य की भ्रष्ट नीयत का वर्णन है कि किस प्रकार अपने फायदे या स्वार्थ के लिए व्यक्ति किसी के भी जीवन और भविष्य के साथ खिलवाड़ कर सकता है। यह कहानी गाँव के एक मेधावी बालक 'मोहन' पर आधारित है। गाँव में उच्च शिक्षा के लिए स्कूल के अभाव में मोहन के पिता उसे अपने एक शहरी परिचित 'रमेश' के साथ उसके घर शहर पढ़ाई पूरी करने के लिए भेज देते हैं। परन्तु शहर जाकर वह बालक उनके घर में एक नौकर बनकर रह जाता है। अपने फायदे या सुविधा के लिए रमेश मोहन का उपयोग ही नहीं करता है बल्कि उसके भविष्य को भी अन्धकार में धकेल देता है। जहाँ वह बालक पढ़ने की इच्छा लेकर आया था वहाँ वहीं बालक नौकरों की भाँति काम करता है। लेखक इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

"घर की दोनों महिलाओं, जिन्हें वह चाची-भाभी कहकर पुकारता था, का हाथ बंटाने के अलावा धीरे-धीरे वह मुहल्ले की सभी चाचियों और भाभियों के लिए काम-काज में हाथ बाँटने का साधन बन गया।

βekgu! FkkMk ngh rk yk n cktkj lAp@βekgu! ; diM: /kkch dk n rk vkAp@βekgu! ,d fdyk vky: yk nAp⁹

इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि शेखर जोशी जी ने समाज में फैले भ्रष्ट व्यक्तियों और भ्रष्टाचार को अपने साहित्य के माध्यम से समाज को रूबरू करवाया है।

आज भ्रष्टाचार ने हमारे समाज को तो प्रभावित किया ही है साथ ही मनुष्यों के आदर्शों व ईमान को भी खण्डित किया है। भ्रष्टाचार एक चिंता का विषय है जिससे हमारे साहित्यकार भी चिंतित हैं, जिसके चलते साहित्यकारों ने भ्रष्टाचार को अपने लेखन में यथास्थान उजागर किया है।

LkUnHk §

1. <http://hi.m.wikipedia.org>
2. 'अखबार की सुर्खियों में चला गया जगतार', न रोको उन्हें शुभा, शेखर जोशी, पृष्ठ 41
3. वही
4. 'मुजफ्फरनगर-94' न रोको उन्हें शुभा, शेखर जोशी, पृष्ठ 42
5. 'कारखाना-2', न रोको उन्हें शुभा, शेखर जोशी, पृष्ठ 19
6. 'नौरंगी बीमार है', डांगरी वाले, शेखर जोशी, पृष्ठ 94
7. 'मिल : नाइट शिट', न रोको उन्हें शुभा, शेखर जोशी, पृष्ठ 17
8. 'बच्चे का सपना', शेखर जोशी : संकलित कहानियाँ, शेखर जोशी, पृष्ठ 4
9. 'गलता लोहा', मेरा पहाड़, शेखर जोशी, पृष्ठ 85



;kxrUo mifu"kn e fofok ;kx&ekx

¼prijx ;kx d fo'k"l UnHk e½

MkO iuhr dekj feJ*

योग तत्त्वोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें योग विषयक गुह्य और विविध उपादानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। भगवान् विष्णु के द्वारा पितामह ब्रह्मा के लिये योग विषयक गूढ़ तत्त्वों के निरूपण के साथ उपनिषद् का शुभारंभ हुआ है। इसमें कैवल्य रूपी परमपद की प्राप्ति के लिये योगमार्ग ही श्रेष्ठ साधन बताया गया है। मंत्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग के क्रम में इसकी चार अवस्थाओं (आरंभ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति) का वर्णन है।

पूर्ण मनोयोग से की गई योगसाधना निःसन्देह सफल होती है, जो योगी साधक को सभी सिद्धियों (अणिमा, महिमा, गरिमा) से सम्पन्न कर देती है। साधक ईश्वरीय शक्तियों का अधिकारी बन जाता है। अन्ततः वह आत्म तत्त्व का निर्वात् दीपशिखा की तरह अन्तःकरण में साक्षात्कार करके आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसी फल श्रुति के साथ योग तत्त्व उपनिषद् का समापन हुआ है।

;kx rUo io{;kfe ;kfxuk fgr dE; ;kA

;PNRok p ifBRok p loiki½ ieP; r²AA

अर्थात्— योगियों की हित कामना की दृष्टि से मैं योगतत्त्व का वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवण—अध्ययन तथा आचरण में धारण करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

fo".kuke egk; kxh] egkHkrk egkr i k½A

rUoekxi ; Fkknhi k n' ; r i # "kkUke½³AA

अर्थात्— विष्णु नामक महायोगी ही समस्त (भूत) प्राणियों के आदिभूत एवं तपस्वी हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग में दीपक के सदृश प्रकाशमान हैं।

rekjk/; t xUukFk if.kiR; firkeg½A

i iPN ;kx rUo e c fgp k "V k x l ; ;re⁴AA

अर्थात्— पितामह ब्रह्मा जी ने उन जगत् के स्वामी (भगवान् विष्णु) की आराधना एवं प्रणाम करके कहा— हे जगन्नाथ! आप अष्टांग योग का उपदेश मुझे प्रदान करें।

reokp â'khd'kk o{;kfe J'.krUor½ अर्थात्— यह सुनकर उन हृषीकेश भगवान् ने कहा—

कि मैं उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, तुम ध्यानयुक्त होकर श्रवण करो।

Kkr ;u fut : i doY; i je ineA

fu"dy fueiy l k{kkR l fPpnkuUn : ide⁵AA

mRifUk fLFkfr l gkj LQfr Kku foof t ireA

, rTKkufefr ikDreFk ;kxi cchfer⁶AA

अर्थात्— जिसके द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्यपद, परमपद, निष्कल (कलारहित), निर्मल, सच्चिदानन्द स्वरूप, उत्पत्ति, स्थिति, संहार एवं स्फुरण का ज्ञान हो, वही वास्तविक ज्ञान है। अब योग के संदर्भ में वर्णन करते हैं—

;kxk fg cg/kk cãfUHK l r i 0; ogkj r½A

eU=; kxky; 'po gBk l k jk t ;kxr½⁷AA

अर्थात्— हे ब्रह्मन्! व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेकानेक भेद बताये गये हैं— जैसे मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग। हठ रत्नावली में चारों योगों को egk; kx बताया गया है। आगे वर्णन करते हैं—vkjEHk'p ?kV'p'o rFkk ifjp; LerAA

fu"ifÜk'pR; oLFkk p lo= ifjdHfrir⁸AA

अर्थात्— योग की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। ये अवस्थायें क्रमशः आरंभ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति हैं।

okjkgkifu"kn di vu l kj&

vkjEHk'p ?kV'p'o rFkk ifjp; k·fi pA

fu"ifÜk' lo; kx"kl; knoLFkk pr"V; e⁹AA

अर्थात्— आरम्भ अवस्था, घट अवस्था, परिचय अवस्था और निष्पत्ति अवस्था— ये चार अवस्थाएँ चित्त वृत्तियों के निरोध रूप में सब योगों में हुआ करती हैं।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार—

vkjEHk'p ?kV'p'o rFkk ifjp; k·fi pA

fu"ifÜk' lo; kx"kl; knoLFkk pr"V; e¹⁰AA

अर्थात्— यहाँ पर आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति इन चारों अवस्थाओं को नाद की चार अवस्थाओं के रूप में वर्णित किया है। ये सभी चारों अवस्थाएँ संपूर्ण चित्तवृत्ति निरोध के उपाय रूप में हैं। , r"kk y{k.k cãUo{k; J.k lek l r¹¹ अर्थात्— इन चारों अवस्थाओं के लक्षण संक्षेप में वर्णित किये जाते हैं।

1-eU=; kx& ekr'dkfn; r eU= }kn'kkCn: r; k t i r¹²AA

Øe.k yHkr: Kkuef.kekfn x.kkfUoreA

vYicf)fje; kx: lor: lk/kdk/ke¹³AA

अर्थात्— मन्त्रयोग जो मातृका आदि से युक्त मन्त्र को 12 वर्ष तक जप करता है, वह क्रमशः अणिमाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, परन्तु इस तरह का योग अल्प बुद्धि वाले लोग करते हैं तथा वे अधम कोटि के साधक होते हैं। मन्त्र योग का अभिप्राय है— eU= t i kUeuky; keU=; kx¹⁴ अर्थात्— मन्त्र योग साधना के द्वारा मन का इष्टदेव में लय हो जाना—मन्त्रयोग कहलाता है। euukr rkj; r; Lr l eU= ijdHfrir¹⁵ अर्थात्— जिस इष्टदेव के मन्त्र का जप करते हुये मन से उसका स्मरण, चिन्तन तथा ध्यान किया जाता है और वह दर्शन देकर हमें भवसागर से पार कर दे, वही मन्त्र योग है। मन्त्र शब्द में ^eu* तथा ^=* ये दो शब्द हैं। मन शब्द का अर्थ मन्त्र के संदर्भ में मनस्तत्त्व को किसी इष्ट देव में पूर्णतया स्थिर तथा तन्मय कर देना और ^=* का अभिप्राय त्राण करना अर्थात् मन्त्र जप के साथ-साथ मन को एकाग्र करना और उसे अपने इष्टदेव में समर्पित कर देना और उसी की अनुकम्पा से संसार रूपी सागर से तर जाना यानी मुक्ति प्राप्त कर लेना ही मन्त्र योग है¹⁶।

t ikr flf) tlikrflf) tlikrflf) U l l'k; ¹⁷ अर्थात्— जप से सिद्धि, जप से सिद्धि, जप से सिद्धि अवश्य है। उसमें कोई संशय नहीं है।

gdkj.k cfg; kfr l dkj.k fo'kRi uAA

glfr ije eU= thokifr lonkAA

"kV'krkfu fnok] jk=k l gL=k. ; id fo'kfrA

v t i k uke xk; =h; kfxuk ek{knkf; uhAA

x#okD; kR l "kEuk; k foifj rk HkoR t i kA

l k·g l kgfegr ikDrk eU=; kx l mP; rAA

i r hfr eU= ; kxL; tk; r i f'peifk¹⁸AA

अर्थात्— यह प्राण श्वास—प्रश्वास रूप से ^g* कार शब्द से बाहर आता है और पुनः 'स' कार से अन्दर जाता है। इस प्रकार हंस; हंस: इस परममन्त्र को जीव सर्वदा जपा करता है इसका नाम अजपा

जप है जिसे दिन रात में जीव 21600 बार जपता है। यह अजपा नाम की गायत्री है, जो योगियों के लिये मोक्षदायिनी है। इसको गुरुवाक्य से सुषुम्ना में विपरीत जपा जाता है। तब इसका जप सोहं-सोहं होता है। इसको मंत्र योग कहते हैं। मंत्र योग से प्राण वायु पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में चढ़ने लगता है। उस समय ^lkg* में से ^l* निकाल देने से ^vkg* रह जाता है और ^ge* में से ^g* निकाल देने से ^e* शेष रह जाता है अर्थात्— ^vke* शेष रहता है, यह ऊँ प्रणव ही सब मंत्रों का मूल है¹⁹, मुनि पतंजलि कहते हैं— rL; okpd% i:ko²⁰ अर्थात्— उस ईश्वरका नाम प्रणव (ऊँ) है।

2- y; ;kx& y; ;kxf'pÜky; % dkfV'k% ijdHfrir%A
xPNfLr"BULOiUHkTU/;k;fUu'dyeh'oje²¹AA

अर्थात्— चित्त का लय ही लय योग है, वह करोड़ों तरह का कहा गया है। चलते, बैठते, रुकते, शयन करते, भोजन करते, कलारहित परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता रहे।
हठयोग प्रदीपिका में—

Jh vkfn ukFku l i kn dkfVY; i idkj k% dfFkrk t ifrA
Ukknku l /kkuedeo eU; keg; e[; rey; kuke²²AA

अर्थात्— श्री आदिनाथ जी ने सवा करोड़ चित्त के लय के प्रकार कहे हैं, जिनमें एक नादानुसंधान को ही अत्यन्त मुख्य साधनों में मानते हैं। लययोग की साधनात्मक प्रक्रिया में— नादानुसंधान और शांभवी मुद्रा है, जिसका सतत् अभ्यास करने पर चित्त का लय सहज भाव में ही हो जाता है। नाद में मन का लय हो जाने से निःशब्द निर्विकल्प समाधि होती है, निःशब्द वह परब्रह्म ही परमात्मा शब्द को कहा जाता है, जो कुछ नाद रूप से सुना जाता है, नाद वह शक्ति ही है जिसमें तत्त्वों का लय होता है, वह निराकार स्वरूप परमेश्वर ही है²³। लय योग में समाधि के लिये नाद ही श्रेष्ठतम साधन है।

v'kD; rUo ck/kkuk e<kukefi l iereA
ikDr i xkj{kukFku uknkik l u eP; r²⁴AA

अर्थात्— गुरु गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि जो लोग अज्ञानी हैं, मूढ़ हैं, तत्त्व को नहीं जान सकते हैं, उनके लिये यह नादानुसंधान उपासना सर्वोत्तम है, नाद से मन सहज में ही लय हो जाता है। l , o y; ;kx% L; k) B; kx er% J'.²⁵ अर्थात्— इस प्रकार यह लय योग हुआ, अब हठयोग का श्रवण करो।

3-gB; kx& ;e'p fu; e'po vk l u i k. k l i; e%AA
i R; kgjk /kkj .kk p /; ku i Hke/; i gfjeA
l ekf/k% l erkoLFkk l k'V kxk; kx mP; r²⁶AA

अर्थात्— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भष्कुटी के मध्य में श्री हरि का ध्यान तथा समाधि साम्यावस्था को अष्टांग योग कहते हैं।

egkenk egkcU/kk egko/k'p [kpjhA
t ky/kjkfMM; k.k'p eyCU/kLrFko p²⁷AA
nh?k i:ko l /kku fl) kUr Jo. k i jeA
ot kyh pkejkyh p lgt kyh f=/kkerk²⁸AA

अर्थात्— महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध और खेचरीमुद्रा, जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, दीर्घप्रणव संधान, परम सिद्धान्त का सुनना तथा वज्रौली, अमरौली एवं सहजौली ये तीन मुद्रायें हैं।

1- ;e& y?okgjk; e'odk e[; k Hko fr ur j²⁹ अर्थात्— यम में एक मात्र सूक्ष्म आहार की मुख्य है। मुनि पतंजलि के अनुसार— vfg l k l R; kLr; cāp; k i f j x g k; e k³⁰। अर्थात्— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।

2- fu; e& vfg l k fu; e'odk e[; k oi prijkuu³¹ अर्थात्— नियमों के अन्तर्गत अहिंसा प्रधान है। मुनि पतंजलि के अनुसार— 'kkp l r k' k r i Lok/; k; i' o j i f. k/ k k u k f u; e³² अर्थात्— शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर शरणागति ये पाँच नियम हैं।

3- v k l u & f l) i i ù r f k f l g h k n p f r p r " V ; e³³ अर्थात्— सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन तथा भद्रासन ये चार आसन योग तत्त्व उपनिषद् में बताये गये हैं—

मुनि पतंजलि के अनुसार— f l f k j i i [k e k l u e³⁴ अर्थात्— निश्चल और सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। हठयोग के विविध ग्रन्थों में अलग-अलग प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है।

4- i k . k k ; k e & i k . k k ; k e r r % d i ; k R l i i ù k l u x r % L o ; e³⁵ अर्थात्— उस श्रेष्ठ साधक को पद्मासन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

b M ; k o k ; i e k j k l ; " k u % " k k M ' k e k = ; k A
d E H k ; R i f j r i i p k P p r % " k " V ; k r i e k = ; k³⁶ A A
j p ; f R i x y k u k M ; k } k f = ' k U e k = ; k i u % A
i u % f i x y ; k i ; i i o o R l i l e k f g r k³⁷ A A

अर्थात्— सर्वप्रथम 'इड़ा' में सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, तत्पश्चात् चौंसठ मात्रा तक कुंभक करे और तब इसके बाद बत्तीस मात्रा तक 'पिंगला' नाड़ी से रेचक करे। इसके बाद, दूसरी बार 'पिंगला' से वायु खींचकर पहले की भाँति ही सभी क्रिया सम्पन्न करे।

i k r e / ; f n u l k ; e / k j k = p d E H k d k u A
" k u j ' k h f r i ; U r i p r o k j i l e h ; l i r³⁸ A A

अर्थात्— प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल एवं अर्द्धरात्रि के समय चार बार धीरे धीरे क्रमशः अस्सी कुंभक तक का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

; F k " V / k k j . k k } k ; k % f l / ; R d o y d E H k d % A
d o y d E H k d f l) j p i i j f o o f t i r³⁹ A A

अर्थात्— यथेष्ट वायु धारण कर सकने के उपरान्त ^ d o y d i H k d * सिद्ध हो जाता है, तब रेचक और पूरक का परित्याग कर देना चाहिये।

मुनि पतंजलि के अनुसार— r f l e u l f r " o k l i i ' o k l ; k x i f r f o P N n % i k . k k ; k e⁴⁰ अर्थात्— उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है। मुनि पतंजलि केवल कुंभक की बात कहते हैं— c k á k H ; U r j f o " k ; k { k i h p r F k⁴¹ अर्थात्— बाहर और अन्दर के सभी विषयों का चिन्तन त्याग कर देने पर अपने आप होने वाला सहज प्राणायाम ^ d o y d i H k d * ही है।

r r k H k o) V k o L F k k i o u k H ; k l r R i j k A
i k . k k . i k u k i e u k c f) t i o k R e k i j e k R e u k⁴² A A
v U ; k U ; L ; k f o j k / k u , d r k ? k V r i ; n k A
? k V k o L F k f r l k i k D r k⁴³ A A

अर्थात्— इसके पश्चात् वायु-धारण का अभ्यास करना चाहिये। इस क्रिया से घटावस्था ही प्राप्ति सहज रूप से होने लगती है। जिस अभ्यास में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में जो पारस्परिक निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे घटावस्था कहा गया है।

5- i R ; k g k j & , d o k j i i f r f n u d i ; k R d o y d E H k d e A
b f U n ; k . k h f U n ; k F k H ; k ; R i R ; k g j . k L Q V e⁴⁴ A A
; k x h d E H k d e k L F k k ; i R ; k g k j % l m P ; r⁴⁵ A

अर्थात्— दिन में एक बार ही 'केवल-कुंभक' को एवं कुंभक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाये, यही प्रत्याहार होता है अर्थात्— इन्द्रियों से सम्बन्धित क्रियाओं/व्यापार को आत्मवत् समझना चाहिये। तभी प्रत्याहार सिद्ध होना मानना चाहिये।

मुनि पतंजलि के अनुसार— L o f o " k ; k l E i i ; k x i f p U k L o : i k u l k j b o f U n ; k . k k i R ; k g k j⁴⁶ अर्थात्— अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार—सा हो जाना है, प्रत्याहार कहलाता है। , o H k o) V k o L F k k l i r r k H ; k l ; k x r⁴⁷ अर्थात्— इस प्रकार लगातार योग के अभ्यास से उसे घटावस्था की प्राप्ति हो जाती है।

rLekR loii; Ruu ;kxeo l nkH; l rA
 r r% ifjp; koLFkk tk; r: H; k l ;kxr%⁴⁸AA
 ok; % ifjfp rk ; Rukfnfxuuk l g di. MyheA
 Hkkof; Rok l "kEuk; k ifo'ko fujk/kr%⁴⁹AA

अर्थात्— अतः उस योगी को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिए। तदन्तर अभ्यास योग से 'परिचय—अवस्था' का शुभारंभ होता है। उस अवस्था के लिये प्रयत्नपूर्वक वायु से प्रदीप्त अग्नि सहित कुण्डलिनी को साधना के द्वारा जाग्रत करके भावना पूर्वक सुषुम्ना में अवरोध रहित प्रवेश कराना चाहिए। ok; uk l g fpUk l ifo'kPp egki Fke⁵⁰ अर्थात्— तत्पश्चात् वायु के सहित चित्त को महापथ में अग्रसर करना चाहिए।

6- /kkj. kk& ; L; fpUk Loiou l "kEuk ifo'kfng⁵¹AA
 Hkfejkiki. uyk ok; ijkdk'k'pfr ipd%AA
 ; "k ipk l nokuk /kkj. kk ip /kkP; r⁵²AA

अर्थात्— जिस योगी का चित्त वायु के सहित 'सुषुम्ना नाड़ी' में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश इन पंच महाभूत रूपी देवों की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है। मुनि पतंजलि के अनुसार— n'k cu/kf'pUkL; /kkj. kk⁵³ अर्थात्— किसी एक देश में चित्त को ठहराना, धारणा है। महर्षि घेरण्ड ने भी आकाशीय, वायवीय, आग्नेयी, आम्भसी, पार्थिवी धारणा का वर्णन किया है। , O p /kkj. kk& ip di; k | kxh fop{k. kk⁵⁴ अर्थात्— योगी को पांच तरह की धारणा अवश्य करनी चाहिये। 7- /; ku& l xi. k /; kuerRL; k. f. kekfnx. k ine⁵⁵AA

अर्थात्— सगुण ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मुनि पतंजलि के अनुसार— ^r= iR; |drkurk /; kue⁵⁶ अर्थात्— जहाँ पर चित्त को लगाया जाये, उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। fuxi. k /; ku; DrL; lekf/k'p rrrkHkor⁵⁷ अर्थात्— निर्गुणरूप में चिन्तन करने से समाधि की स्थिति प्राप्त होती है।

8- lekf/k& lekf/k lerkolFkk thokReijekReuk%⁵⁸ अर्थात्— समाधि में जीवात्मा एवं परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है। fnu}kn'kdiuo lekf/k leoklu; kr⁵⁹ अर्थात्— योग में निष्णात साधक मात्र बारह दिन में ही समाधि की सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है।

doyi jkt ; kxk; gBfo | kifn' ; r⁶⁰ अर्थात्— केवल राजयोग के लिए हठविद्या का उपदेश है। हठयोग, राजयोग प्राप्ति का आधारभूत साधन है। घेरण्ड संहिता के अनुसार—

vknh'oik; il. kekfe rLej ; ukifn"Vk gB; kx fo | kA
 fojkt r i kUur jkt ; kekjk<fePNkjf/kjkfg. kho⁶¹AA

अर्थात्— मैं उस आदि ईश्वर को प्रणाम करता हूँ, जिसके द्वारा उस हठयोग विषय का उपदेश दिया गया है, जो विकसित होकर राजयोग के रूप में, शोभायमान हो जाती है। उस स्थिति में पहुँचने के इच्छुक व्यक्तियों के लिये हठयोग विद्या सीढ़ी का कार्य करती है।

4- jkt ; kx& r r k Hkonkt ; kxk ukUrk Hko fr /koeA
 ; nk r jkt ; kxiu fu"iUuk ; kxfxHk fØ ; k⁶²AA

अर्थात्— इसके पश्चात् वह राजयोग सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। राजयोग के सिद्ध हो जाने से योगी को हठयोग की शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की जरूरत नहीं पड़ती है। rnk food ojkX; i tk; r ; kfxuk /koe⁶³ अर्थात्— उसे निश्चय ही वैराग्य एवं विवेक की प्राप्ति सहजतया हो जाती है।

bnkuh dFkf; L; kfe jkt ; kxL; y{k. keA
 jkt ; kx —r i fEHk flf) fpUg Hkofnfr⁶⁴AA
 ifji. k HkofPpr t xRLFkk. fi t xncfg% A
 u {kkHk t UeeR; i'p u l [k u n [k rFk⁶⁵AA

vf.kekfn in ikl; jkt r jkt ;kxr%A
ik.kkiku lek;kxk K; ; ;kx pr"V;e⁶⁶AA

अर्थात्— श्री महेश्वर अब राजयोग को कहते हैं कि राजयोग की प्राप्ति होने से पुरुष सिद्धि सम्पन्न हो जाता है और उसका चित्त परिपूर्ण हो जाता है। बाहर और अन्तर ज्ञान से परिपूर्ण पुरुष कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता, न उसका जन्म होता है, न मृत्यु होती है, न उसको जगत् के सुख—दुःख होते हैं। वह तो सर्वदा अपने आत्म स्वरूप में निमग्न रहता है। उसको योग के यावतीय ऐश्वर्य अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति सहज में हो जाती है। फलस्वरूप वह कृतार्थ होकर जीवनमुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह योग के विषय में जो कुछ कहा गया है— वह चारों योग में प्राण—अपान की एकता को ही योग जानना, क्योंकि प्राण—अपान की एकता से ही चारों योग (मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग) जो योग साधना के विविध मार्ग हैं, सिद्ध होते हैं। इसलिये प्रत्येक योग में प्राण का जय करना आवश्यक है।

I UnHk %

1. 108 उपनिषद्, ब्रह्मविद्या खण्ड, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ. 259	34. योगसूत्र, 2/46
2. योगतत्त्व उपनिषद्, 1	35. योगतत्त्व उपनिषद्, 32
3. योगतत्त्व उपनिषद्, 2	36. योगतत्त्व उपनिषद्, 41
4. योगतत्त्व उपनिषद्, 3	37. योगतत्त्व उपनिषद्, 42
5. योगतत्त्व उपनिषद्, 17	38. योगतत्त्व उपनिषद्, 43
6. योगतत्त्व उपनिषद्, 18	39. योगतत्त्व उपनिषद्, 50
7. योगतत्त्व उपनिषद्, 19	40. योगसूत्र, 2/49
8. योगतत्त्व उपनिषद्, 20	41. योगसूत्र, 2/57
9. वाराहोपनिषद्, 5/71	42. योगतत्त्व उपनिषद्, 65
10. हठयोग प्रदीपिका, 4/69	43. योगतत्त्व उपनिषद्, 66
11. योगतत्त्व उपनिषद्, 21	44. योगतत्त्व उपनिषद्, 68
12. योगतत्त्व उपनिषद्, 21	45. योगतत्त्व उपनिषद्, 69
13. योगतत्त्व उपनिषद्, 22	46. योगसूत्र, 2/54
14. योगविज्ञान, स्वामी विज्ञानानन्द, सरस्वती, पृ. 95	47. योगतत्त्व उपनिषद्, 80
15. योगविज्ञान, स्वामी विज्ञानानन्द, सरस्वती, पृ. 95	48. योगतत्त्व उपनिषद्, 81
16. योगविज्ञान, स्वामी विज्ञानानन्द, सरस्वती, पृ. 96	49. योगतत्त्व उपनिषद्, 82
17. योगविज्ञान, स्वामी विज्ञानानन्द, सरस्वती, पृ. 101	50. योगतत्त्व उपनिषद्, 83
18. योगशिखोपनिषद्, 1/30, 31, 32	51. योगतत्त्व उपनिषद्, 83
19. महायोगविज्ञान, पृ. 221	52. योगतत्त्व उपनिषद्, 84
20. योगसूत्र, 1/27	53. योगसूत्र, 3/1
21. योगतत्त्व उपनिषद्, 23	54. योगतत्त्व उपनिषद्, 103
22. हठयोग प्रदीपिका, स्वामी स्वात्माराम, 4/66	55. योगतत्त्व उपनिषद्, 105
23. महायोगविज्ञान, पृ. 223	56. योगसूत्र, 3/2
24. हठयोग प्रदीपिका, स्वामी स्वात्माराम, 4/65	57. योगतत्त्व उपनिषद्, पृ. 105
25. योगतत्त्व उपनिषद्, 24	58. योगतत्त्व उपनिषद्, 107
26. योगतत्त्व उपनिषद्, 24, 25	59. योगतत्त्व उपनिषद्, 106
27. योगतत्त्व उपनिषद्, 26	60. हठयोग प्रदीपिका, स्वामी स्वात्माराम, 1/2
28. योगतत्त्व उपनिषद्, 27	61. घेरण्ड संहिता, प्रार्थना
29. योगतत्त्व उपनिषद्, 28	62. योगतत्त्व उपनिषद्, 129
30. योगसूत्र, 2/30	63. योगतत्त्व उपनिषद्, 130
31. योगतत्त्व उपनिषद्, 29	64. योग स्वरोदय, 1
32. योगसूत्र, 2/32	65. योग स्वरोदय, 2
33. योगतत्त्व उपनिषद्, 29	66. योगशिखोपनिषद्, 138



foi.ku d {k= e eY; dh leL;k, vHk; diek j ;kno*

विपणन व्यवसाय के उस क्षेत्र से सम्बन्धित है जो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं व उनकी सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर कार्य करता है। विपणन विक्रय से भिन्न है, क्योंकि विक्रय उन विधियों एवं तकनीकों से सम्बन्धित होता है कि विक्रेता द्वारा उत्पाद, वस्तु को क्रेता निश्चित किए गए विक्रय मूल्य देकर प्राप्त कर लें वही विपणन (मार्केटिंग) इस बात से कम सम्बन्धित है कि उपभोक्ता उत्पाद प्राप्त करने के लिए निर्धारित मूल्य चुकाएं, बल्कि वह माँग उत्पन्न करने और उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रक्रम है।

foi.ku ;k ekdifVx e 4ih egRoil.k gl&

1. Product अर्थात् उत्पाद, उत्पाद की पहचान, चयन और विकास।
2. Price अर्थात् मूल्य निर्धारित करना।
3. Promotional Strategy – प्रचारित करने की रणनीति का विकास।
4. Place स्थान, अर्थात् वितरण मार्गों (चैनल) का चुनाव करके उपभोक्ता के स्थान तक पहुंच बनाना।

1990 से विपणन नीतिशास्त्र ने गति पकड़ी जब अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने इस विषय से सम्बन्धित सैद्धान्तिक आधारों का परीक्षण और इनसे सम्बन्धित व्यावहारिक परिणामों पर अपनी समीक्षात्मक दृष्टि डाली। नीतिशास्त्र में इन बातों का सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाता है कि नैतिक मानकों को कैसे विपणन निर्णयों, व्यवहारों और तत्सम्बन्धी संस्थाओं पर लागू किया जा सकता है, इसमें उन नैतिक समस्याओं, जिनका कि प्रायः विपणन प्रबन्धक और संस्थान सामना करते हैं का परीक्षण किया जाता है, सुरक्षित उत्पाद, ईमानदारी, जवाबदेही, तथ्यों की सत्यता उचित दाम, विपणन के विभिन्न चैनलों (मार्गों) में समर्थता बेचने में ईमानदारी, संचार क्षेत्रों में निजता इत्यादि इसके प्रमुख विषय हैं।

विपणन से सम्बन्धित कुछ विषय अनेक स्तरों पर व्यापक प्रयास की मांग करते हैं चूंकि ये मुद्दे गम्भीर हैं जैसे रिश्वत व भ्रष्टाचार। विपणन का कार्यकारित्व बहुधा येन-केन-प्रकारेण सफलता पर आंका जाता है इस कारण रिश्वत दी जाती है। राष्ट्रों की सरकारों व बड़े व्यावसायिक संगठनों जैसे EU, OECD, WTO इत्यादि को भी इसके लिए कदम उठाना पड़ता है। नैतिक दृष्टि से इन विषयों की समीक्षा अपेक्षित है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनैतिक विपणन क्रियाएं थोड़े समय के लिए कम्पनी को संभवतः आर्थिक लाभ करा दें परन्तु दीर्घ कालीन प्रतिस्पर्द्धा के लिए, बाजार में बने रहने के लिए विपणन-व्यवहारों का नैतिक होना उचित ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। जैसा कि GlaxoSmith Kline (GSK) फार्मास्युटिकल्स* के मामले में देखने को मिलता है जहां अनैतिक विपणन व्यवहारों की वजह से GSK फार्मास्युटिकल्स की साख व छवि धूमिल हो गयी। अपनी छवि सुधारने के लिए कम्पनी को नया हेल्थकेयर विपणन कोड (संहिता) स्वीकार करना पड़ा जिसमें चिकित्सक और कंपनी के क्षेत्रीय कर्मचारियों दोनों को शामिल किया गया।

संगठनात्मक स्तर पर विपणन में लिए गए निर्णयों पर नीतिशास्त्र एक सुस्पष्ट प्रभाव रखता है। निगम व विपणन के स्तर पर मूल्य आधारित नेतृत्व, संस्था के लिए नैतिक वातावरण स्थापित करता है। Leigh and Murphy² ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि नैतिक निर्णय लेने में अनौपचारिक नीतियों

*शोध छात्र, दर्शन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

का संबंध अप्रत्यक्ष और व्यापक होता है। नैतिक संहिताएं व नैतिक स्पष्टता का विपणन— व्यवहार पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। परन्तु यदि विपणन के लिए वैश्विक स्तर पर नैतिक संहिता प्रस्तावित की जाए तो नैतिक तर्कणा, संगठनात्मक नैतिक वातावरण, आर्थिक विकास का स्तर और सांस्कृतिक पक्ष ऐसे कारक हैं जो इस तरह की संहिताओं को ग्रहण करने में बाधा डाल सकते हैं। संगठनात्मक कारक जैसे आकार, संस्कृति, वातावरण और नैतिक वक्तव्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति का विपणन पर कितना प्रभाव पड़ता है यह व्यवस्थित पड़ताल का विषय है।

सामाजिक उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए नीतिशास्त्र उन मुद्दों को उठाता है जोकि संगठन एवं इसके पणधारकों के दिन-प्रतिदिन के व्यावसायिक लेन देने से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार का उत्तरदायित्व निश्चय ही निगम के लिए एक अवस्था Posture को सन्दर्भित करता है। जो समुदाय से संबंधित हों चाहे संकीर्ण रूप में या व्यापक रूप में पुनः नीतिशास्त्र का आन्तरिक झुकाव अनुस्थापन अर्थात् होता है। जबकि सामाजिक उत्तरदायित्व तुलनात्मक रूप से बाह्य होता है। किन्तु यह अनुस्थापन या अभिमुखता नीतिनिष्ठता का अन्तिम पर्याय नहीं है। सामान्यतः नीतिशास्त्र व्यक्तिगत प्रबंधकीय स्तर पर व्यवहार करता है, जबकि सामाजिक उत्तरदायित्व निगम या संगठनात्मकता से संबद्ध है। कुछ लोग विपणन में नीतिशास्त्र को सामाजिक उत्तरदायित्व के पर्याय के रूप में देखते हैं। अनेक कंपनियां जो कि नैतिक होने का दावा करती हैं व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व (Corporate Social Responsibility) का उच्च स्तरीय प्रदर्शन करते हैं इन दिनों “कार्पोरेट सिटिजनशिप या ‘ निगम की नागरिकता जैसी अवधारणाएं अनेक ऐसी गतिविधियों को इंगित करती हैं जोकि (CSR) रूपी व्यापक छत्र के अन्दर ही आती है।

विपणन के संदर्भ में सामाजिक विपणन (Corporate Societal Marketing) पद का प्रयोग ऐसी गतिविधियों का वर्णन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो आर्थिक व गैर-आर्थिक दोनों लक्ष्य रखते हैं और सामाजिक कल्याण का एक नवीन रूप प्रस्तुत करता है। विपणन-नीतिशास्त्र में संचार को महत्व देना स्वाभाविक है। जब भी विपणन में अनैतिक व्यवहार कम करने की बात आती है संचार के विषय पर ध्यान दिया जाता है। इस संदर्भ के बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के विपणन-संचार की चर्चा होती है। इस संदर्भ में प्रायः देखा जाता है कि नैतिक संहिताएं मात्र निगम के गोपनीय कागजात बनकर रह जाते हैं, प्रभावी नहीं।

अनेक बिक्रीकर्ताओं (salespeople) के ऊपर किए गए प्रयोगसिद्ध अध्ययन के निष्कर्ष में Ross & Robertson ने अभ्यास कर्ताओं के लिए अनेक प्रभावकारी तत्वों को रेखांकित किया है और कहा है कि— “The most important of these is the communication of ethical clarity”³ अर्थात् इन सबसे जो सबसे महत्वपूर्ण वह है नैतिक स्पष्टता का संचार। चूंकि विपणन किसी व्यावसायिक संस्था के बाह्य संचार का सर्वाधिक प्रकट भाग है, इस विषय पर नैतिक चर्चा की अनदेखी की ही नहीं जा सकती। नैतिक समस्याओं के निदान के लिए नीति का स्पष्ट संचार अति आवश्यक है। वैश्विक सन्दर्भ में विपणन के लिए नैतिक दिशा-निर्देशों हेतु ईमानदार संचार (Communication) के अभ्यास पर बल देना चाहिए। यह एक ऐसी परम्परा बन सकती है जो विभिन्न समाजों में लागू की जा सकती है। इस प्रकार के निर्णय लेने और संचार में अधिक खुलेपन रखने को हम ‘विपणनीय पारदर्शिता’ कहते हैं। वर्तमान समय में अनेक विपणन-संगठनों का उद्देश्य जिम्मेदार या नैतिक विपणन व्यवहार है। इस तरह के व्यावसायिक निगम यद्यपि नैतिक रूप से पूर्ण नहीं हैं तथापि किसी व्यावहारिक नैतिक समस्या के लिए जो जिम्मेदार उपाय होना चाहिए उसका चित्रण करता है। उदाहरणः कम्प्यूटर पर प्रचार करते समय प्रचारक वेबसाइट्स को कंपनियों के निजता संबंधी दावों और शर्तों की जानकारी अवश्य ईमानदारी से देना चाहिए अन्यथा उसके दुरुप्रयोग की संभावना रहती है। निजता संबंधी शर्तों को स्पष्ट न करने पर उसका नैतिक विरोध करना चाहिए या उनसे प्रचार कराने से बचना चाहिए। कम्पनियों को आनलाइन (Online) कार्य करते समय ग्राहकों की निजता की पूर्ण सुरक्षा का वादा भी करना चाहिए। निगमों को एक स्पष्ट नैतिक नीति नियम का विकास करना चाहिए जिनकी झलक इनके उत्पादों प्रचार और संचार में प्रकट हो। इन नीति नियमों

में कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दे निर्देशित होने चाहिए जैसे— मानव अधिकार, पशुओं पर प्रयोग, हथियार प्रयोग, नशा—व्यापार, आयात—निर्यात, विधि इत्यादि। जिम्मेदार विपणन व्यवहार को समझने के लिए हम e-Bay कम्पनी का उदाहरण ले सकते हैं, जो जिम्मेदार विपणन का कार्य कर रही है। अपनी ऑनलाइन नीलामी में इसने अनेक उत्पादों को न लेने का निर्णय लिया है जैसे, आग्नेय हथियार तथा शराब और तंबाकू इत्यादि की श्रेणी से जुड़े उत्पाद। इसके पीछे इनका तर्क है कि इंटरनेट, आग्नेयास्त्र, आयुध इत्यादि बेचने के लिए उचित स्थान नहीं है क्योंकि इसमें यह पूर्णतया नहीं पता होता कि कौन इन आयुधों का क्रेता है। यद्यपि निगम का यह निर्णय अस्त्र—शस्त्र व आयुधों के हजारों विक्रेताओं को अच्छा नहीं लगता फिर भी निगम सम्पूर्ण समुदाय की हित के लिए यह निर्णय लेता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस तरह के खतरनाक हथियारों की बिक्री खुलेआम आनलाइन होने लगे तो मानवता के लिए बड़ा खतरा पैदा हो जाएगा। कुछ संवेदनशील विषयों से संबन्धित निगमों को भी जिम्मेदार विपणन के लिए कदम उठाना चाहिए जैसे किशोरों व अवयस्कों को ध्यान में रखते हुए नशे या जुए जैसी चीजों के विपणन ताकि वे इनसे दूर रहे। फिल्म—उद्योगों को इस बात की जिम्मेदारी लेनी चाहिए कि उनकी फिल्मों का बच्चों या समाज पर बुरा असर न पड़े। वयस्क फिल्मों के अधिक प्रचार प्रसार से बचना चाहिए।

निगमों में उपहार देने पर भी स्पष्ट दिशा—निर्देश होने चाहिए। उत्पाद की सुरक्षा और प्रचार को लेकर सबसे कम ध्यान दिया जाता है। यह चिन्ता का विषय है कि सामानों को बेचने और अन्य क्रय—विक्रय करने वाली कम्पनियां उपभोक्ताओं को ध्यान में रखते हुए लाखों खर्च करती हैं फिर भी अपने कंपनी कोड (संहिता) में विज्ञापन का कोई उल्लेख नहीं करती। इस प्रकार निगमों के विपणन जगत को स्वीकार्य आचरण के सम्बन्ध में और अधिक निर्देशों की आवश्यकता है। प्रायः विपणन नैतिकता को विपणन के उपक्षेत्र के रूप में देखा जाता है। जिसका कारण सम्भवतः यह है कि नैतिक मुद्दे प्रायः विधिक मुद्दों के साथ चर्चित होते हैं। और लोक—नीति का आह्वान तभी होता है जब विपणन अनैतिक से अवैधानिक व्यवहार की ओर संक्रमण कर जाता है। इसलिए उस बिन्दु पर ध्यान देना आवश्यक है जहाँ नैतिक, सामाजिक और लोकनीति के प्रश्न सम्बन्धित हो जाते हैं।

कुछ समस्याएं जैसे, विपणन तन्त्र के मूल्य, उपभोक्ता अधिकार, उत्पादन सुरक्षा व दायित्व, उच्च तनाव की स्थिति में बिक्री, उचित कीमत निर्धारण, रिश्वत इत्यादि ऐसे मुद्दे हैं जो व्यवसाय व समाज के क्षेत्र में अंशछादन व विशिष्टता का चित्रण करने के लिए विपणकों द्वारा विचारित किया जाना उचित है। एक विषय जो विपणन के सन्दर्भ में प्रायः चर्चित होता है वह है उपभोक्ताओं और छोटे संगठनों की तुलना में बड़े निगमों का वर्चस्व है। वर्चस्व—शक्ति उत्तरदायित्व के साथ साम्यावस्था की मांग करता है। यदि शक्तिशाली संगठन उनके अपेक्षित सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करते तो उन्हें कथित शक्ति छोड़ना चाहिए। इसके लिए प्रायः विनियामक गतिविधियों का उपयोग होता है। सुपर मार्केट उद्योग में प्रचलित शुल्क निर्धारण करने का विषय प्रत्यक्षतः खुदरा व्यावसायिक संस्था की शक्ति से और शक्तितम के सामाजिक उत्तरदायित्व से सम्बन्धित है। वर्तमान समय में “कंपनियों के विलय की बाढ़ का मतलब है” कि क्रास मार्केटिंग के बहुत सारे अवसर हैं और ये कम्पनियां उपभोक्ताओं से असंख्य तरीकों से जुड़ सकती हैं। इस बात की जांच करनी चाहिए कि इन प्रयासों से उत्पन्न प्रभावों की क्या व्याप्ति है और उपभोक्ताओं को कैसे ये प्रभावित करते हैं।

विपणन के क्षेत्र में उपभोक्ता की निजता व सुरक्षा एक महत्वपूर्ण नैतिक समस्या है। उपभोक्ताओं के बारे में व्यक्तिगत सूचनाएं इकट्ठा करने, उनमें हेर—फेर व प्रसार करने की समस्या बढ़ती जा रही है। झूठी सूचनाओं द्वारा व्यापक नुकसान की संभावनाओं पर प्रकाश पड़ रहा है। अनेक अवसरों पर उपभोक्ताओं से छलपूर्वक उनके आवश्यकता व पसन्दों की जानकारी लेकर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है। वर्तमान समय में मोबाइल और कम्प्यूटर पर इस तरह के छलपूर्ण एवं धोखा देने की नीयत से किए गए सूचना—संग्रहण की बाढ़ सी आ गयी है।

विपणन के क्षेत्र में व्यक्ति के निजता या गोपनीयता के अधिकार और अन्य लोगों की वैध जरूरतों के बीच संतुलन बनाने की आवश्यकता है, जैसे किसी वित्तीय संस्था या निजी बैंक द्वारा उपभोक्ता को ऋण दिया जाना। उन्हें जरूरतमन्द के बारे में, उसकी साख, पुराने ऋणों को चुकाने में उसकी नियमितता इत्यादि तथ्य जानने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बीमा कम्पनियों द्वारा यह जानने की आवश्यकता रहती है कि कहीं व्यक्ति को लाइलाज या दुःसाध्य बीमारी तो नहीं है। व्यक्ति के चिकित्सीय सूचनाओं की आवश्यकता होती है। यह भी सत्य है कि इस तरह के मामलों में उपभोक्ता भी बहुधा लाभ उठाता है। परन्तु उपभोक्ताओं के निजता के अधिकार व सुरक्षा और व्यवसायों की इन मांगों (आवश्यकताओं) के मध्य सन्तुलन बनाने के लिए कुछ सावधानियां रखनी होगी—

1- *mn*’ ;&॥ उपभोक्ता विशेष के बारे में जो सूचनाएं एकत्रित की गयी हैं उनका उद्देश्य वैध या उचित होना चाहिए। इस सन्दर्भ में उद्देश्य वैध तब होगा जब सामान्यतः जिस व्यक्ति के बारे में सूचनाएं एकत्र की गयी हैं उसे लाभ मिले। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति को लाभ अवश्य मिलेगा। एक सुव्यवस्था के तहत वांछित वस्तु की उपलब्धता और अन्य कसौटियों की दृष्टि से व्यक्ति को लाभ देने पर सामान्य रूप से विचार किया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को ऋण देना है तो बैंक उसके क्रेडिट रिकार्ड और अन्य कसौटियों की दृष्टि से लाभ पहुँचाने के लिए विचार करें, यह वांछित है।

2- *iklfxdrk*&॥ किसी ग्राहक के बारे में जो सूचनाएं एकत्र की जा रही हैं वे केवल वही होनी चाहिए जिनकी प्रत्यक्षतः उन उद्देश्यों के साथ प्रासंगिकता हो जिनके लिए सूचनाएं एकत्रित की जा रही हैं।

3- *LohÑfr*&॥ व्यावसायिक संगठनों को किसी व्यक्ति के बारे में केवल तभी सूचनाएं एकत्रित करना चाहिए जब वह व्यक्ति व्यक्त या अव्यक्त रूप से उसे सूचनाएं उपलब्ध कराने के लिए राजी हो गया हो और केवल तब जबकि उस सूचना का उसी उद्देश्य के लिए प्रयोग किया जाए जिसके लिए स्वीकृति दी गयी है। इन सूचनाओं का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

4- *Lkfpr djuk*&॥ जिन संस्थाओं द्वारा उपभोक्ताओं के बारे में सूचनाएं एकत्र की जा रही हैं उन्हें यह सूचित करना चाहिए कि सूचनाएं एकत्र की जा रही हैं। साथ ही इस बात की भी जानकारी दें कि किस उद्देश्य के लिए कौन सी सूचना मांगी जा रही है। ताकि ग्राहक इस बात के लिए सक्षम हो कि स्वेच्छापूर्वक ऐसी गतिविधियां ना करें जो उसके बारे में ऐसी सूचनाएं प्रदान करें जिन्हें वह स्वयं नहीं चाहता कि जाहिर हो।

5- *'k) rk*&॥ जो एजेंसियां किसी व्यक्ति के बारे में सूचनाएं एकत्र कर रही हैं उन्हें अवश्य ही इस बात को सुनिश्चित करने के लिए तार्किक कदम उठाना चाहिए कि जो सूचनाएं उन्होंने एकत्र की हैं वे शुद्ध हैं और यदि कोई अशुद्धि उनकी नजर में आती है तो उन्हें सुधारा जाएगा। इसके लिए एजेंसियों को इस बात की अनुमति देनी चाहिए कि लाभुक यह देख सके कि उनके बारे में क्या सूचनाएं एकत्र की गई हैं और यदि उनमें कोई अशुद्धि हो तो एजेंसी का ध्यान उस तरफ ले जाएं।

6- *iklrdrk ,o Ij{kk*&॥ जो एजेंसियां या संगठन किसी व्यक्ति के बारे में सूचनाएं एकत्र कर रही हैं यह अवश्य सुनिश्चित करें कि सूचनाएं सुरक्षित हैं। और ऐसे किसी को उपलब्ध नहीं होगी जिनके बारे में व्यक्ति ने व्यक्त या अव्यक्त रूप से स्वीकृति नहीं दी है। यदि कोई व्यक्ति किसी संस्थान को सूचना देता है तो इसलिए कि वह उसे बेहतर सेवा दे सके। बिना उसकी अनुमति के ऐसी सूचनाओं को दूसरों को बेच देना या हस्तान्तरित करना अनुचित है।

I UnHk ॥

1. Mukherjee, Rupali “GSK roll out code for ethical marketing” *THE ECONOMIC TIMES* 06 Jul 2016 pharma/gsk-rolls-out-code-for-ethical-marketing/amp_articles/show/53075482.cms
2. Leigh, J.H. and Murphy, P.E., “The role of formal policies and informal culture on ethical decision making by marketing managers.” In J.N. Sheth and A. Parvatiyar (eds). *Research in Marketing*. Stanford, CT: Jai Press Inc, 1999, p.p. 69-100.
3. Ross, W.T. and Robertson, D.C., ‘Lying: The impact of decision context, *Business Ethics Quarterly*, 10,2000,p-436.



MkO y{ehukjk;.k yky % i:j.kk vkj iHkko jkt dekj ik.M;*

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का लेखन कार्य उनके एकांकी नाटकों से प्रारम्भ होता है। अपनी इस एकांकी-लेखन यात्रा के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं- “प्रयाग विश्वविद्यालय में जब एम०ए० हिन्दी का छात्र था और उन दिनों रंगमंच पर खेले जाने के लिए एकांकियों की बेहद मांग थी, तभी इस यात्रा का श्रीगणेश हुआ। उन दिनों हिन्दी के लोकप्रिय एकांकीकारों में डॉ० रामकुमार वर्मा का नाम सबसे ऊपर था। इन्हीं के एकांकी प्रायः खेले जाते थे। भुवनेश्वर के एकांकी में नये रंग-शिल्प और जीवन-यथार्थ का एक अजीब-सा आकर्षण था, पर इनके एकांकी मंच पर नहीं खेले जाते थे। कारण स्पष्ट था- इनके एकांकी उस समय के शौकिया मंच के साधनों से थोड़े दूर पड़ते थे।”¹ डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने स्कूल के पुस्तकालय में डॉ० रामकुमार वर्मा की ‘रेशमी टाई’ पढ़ी थी। इस पुस्तक के एक पृष्ठ पर डॉ० अमरनाथ झा की फोटो छपी थी। उनकी ओर डॉ० लाल आकर्षित हुए। डॉ० रामकुमार वर्मा की ‘रेशमी टाई’ और उसमें छपी डॉ० झा की तस्वीर ने उन्हें इलाहाबाद जाने के लिए प्रेरित किया। इस घटना के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने लिखा है- “बाबूजी ने स्कूल लाइब्रेरी में डॉ० रामकुमार वर्मा कृत “रेशमी टाई” नाटक पुस्तिका देखी थी, जिसमें डॉ० अमरनाथ झा की पूरे पृष्ठ पर फोटो छपी थी। बाबू जी के हृदय में वह फोटो गहरे बैठ गई और उन्होंने निर्णय लिया कि वे आगे की पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ही करेंगे।”² डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० अमरनाथ झा से प्रभावित होकर ही डॉ० लाल ने इलाहाबाद जाने का निर्णय लिया था।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के ऊपर रामलीला का बहुत प्रभाव था। इससे उनका गहरा जुड़ाव था। उनके गाँव में रामलीला पार्टियाँ रामलीला करने के लिए आया करती थीं। रामलीला की समाप्ति के बाद जब वे लोग गाँव से विदा होते थे, तो लक्ष्मीनारायण लाल बहुत दुःखी हो जाते। रामलीला से अपने जुड़ाव के बारे में वे कहते हैं- “जब भी कोई रामलीला पार्टी गाँव से वापस जाने को होती थी तो मन बहुत उदास हो जाता था। अक्सर मैं उनके पीछे-पीछे दूर तक चला जाता परन्तु अन्ततः घर लौटना पड़ता था।”³ बचपन में डॉ० लाल का रामलीला के प्रति लगाव आगे चलकर उनको नाटक के प्रति आकर्षित होने में सहायक हुआ। उन्होंने गाँव में रामलीला देखी थी, इसलिए उनको यह लगता था कि नाटक को बस खेलना होता है। वे जब इलाहाबाद आये और नाटकों का अध्ययन शुरू किया तो उनको बड़ी निराशा हुई। इस विषय पर उनका कहना है- “..... इलाहाबाद आया। नाटक पढ़ना शुरू किया। उन दिनों डॉ० रामकुमार वर्मा और उपेन्द्रनाथ अशक के नाटकों की धूम थी। मैंने जब ये नाटक पढ़े तो सिर पीट लिया। सोचा- इनमें ‘नाटक’ कहाँ है? इनमें तो सिर्फ बोलना ही बोलना है, करना क्या है? बड़ी निराशा होती थी उन दिनों वे सब नाटक पढ़कर।”⁴

रामलीला और रासलीला के प्रभाव के कारण ही डॉ० लक्ष्मीनारायण रंगमंच से जुड़े। उनका उद्देश्य था अपने नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करना। वे अपने नाटकों को रंगमंच से जोड़कर उनमें प्राण फूँकना चाहते थे। रामलीला और रासलीला सजीव नाटक थे, जो डॉ० लाल को प्रभावित किये। इनका प्रभाव तत्कालीन न होकर दूरगामी हुआ और उनका रंगमंच के प्रति लगाव अटूट हो गया। नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, आदि हर रूप में अपने को प्रस्तुत करने में वे समर्थ हो सके।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, शिबली नेशनल पी०जी० कालेज, आजमगढ़ (उ०प्र०)

गाँव की रामलीला का प्रभाव तो डॉ० लाल पर था ही, मिडिल की पढ़ाई के बाद उन्होंने आगे की पढ़ाई करने के लिए बस्ती के एंग्लो संस्कृत हाईस्कूल, बस्ती में प्रवेश लिया। उस समय वहाँ उनका परिचय प्रधानाचार्य श्री बी०एन० चक्रवर्ती से हुआ। चक्रवर्ती के मार्गदर्शन से उनको बंगला नाटकों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई। अपने स्कूल में डॉ० लाल ने कुछ नाटकों में भाग लिया।

इलाहाबाद में ही डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल रंगमंच से सक्रिय रूप से जुड़े। उस समय इलाहाबाद में 'परिमल गोष्ठी' बहुत सक्रिय थी। 'परिमल' के द्वारा नाटकों का मंचन होता था। इस संस्था में कई युवा साहित्यकार सक्रिय थे, जिनमें प्रमुख हैं— धर्मवीर भारती, रघुवंश, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही, केशवचंद्र वर्मा, गोपीकृष्ण गोपेश आदि। इस प्रकार डॉ० लाल को एक अनुकूल वातावरण प्राप्त हुआ, जिससे उनकी रचनाएँ प्रभावित हुईं।

कहानी के क्षेत्र में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल 'नई कहानी' आन्दोलन में सक्रिय रहे। इस आन्दोलन से वे स्वयं भी प्रभावित थे। वे एक भावुक कहानीकार हैं। इसी कारण वे जयशंकर प्रसाद की कहानी 'आकाशदीप' से प्रभावित हैं। इस कहानी से डॉ० लाल के प्रभावित होने के कारण को स्पष्ट करते हुए गौतम सचदेव ने लिखा है— "लाल में 'आकाशदीप' की यह प्रतिक्रिया कथ्य के कारण भी हुई है और शिल्प के कारण भी। चंपा का प्यार और घृणा, पूरी तीव्रता के साथ समस्तरीय थे और चरित्र स्वाभिमान। इस तनाव और अंतर्द्वंद्व वाले चरित्र शिल्प तथा लेखक की रागात्मक संपृक्ति के बावजूद संयत तटस्थता ने प्रस्तुत कहानी को अमर बना दिया है— डॉ० लाल ही क्या, कोई भी यह मानेगा, लेकिन लाल साहब इसे अपने भावात्मक स्तर से भावात्मक उपलब्धि मानकर आसंगित हैं।"⁵ जयशंकर प्रसाद के अतिरिक्त डॉ० लाल जैनेन्द्र की कहानियों से भी बहुत प्रभावित हैं। जब डॉ० लाल ने कहानी लिखना प्रारम्भ किया था, उस समय जैनेन्द्र कहानी लेखन के क्षेत्र में चर्चित व्यक्ति थे। जैनेन्द्र की एक कहानी 'राजीव और भाभी' का उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा, जैसा कि गौतम सचदेव ने लिखा है— "'संगम' में लिखने की शुरुआत के समय जब उनकी अवस्था बीस-बाईस वर्ष की और 'आकांक्षाएं स्वप्निल थीं' तो जैनेन्द्र की कहानी 'राजीव और भाभी' ने उनके हृदय को बरबस मथ दिया था।"⁶

महात्मा गाँधी के विचारों का डॉ० लक्ष्मीनारायण के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव उनकी रचनाओं में भी दिखाई पड़ता है। गाँधी जी का व्यक्तित्व ही ऐसा था, जिसने डॉ० लाल को आकर्षित किया। डॉ० सुभाष भाटिया ने उनके गाँधी जी से प्रभावित होने के कारणों का उल्लेख किया है— "डॉ० लाल पर यदि सबसे अधिक किसी का प्रभाव झलकता है तो वह है गाँधी की कर्मठता, भक्ति और राष्ट्रीयता का। वे अक्सर कहते थे कि इस राष्ट्र की नस को, इस राष्ट्र की राष्ट्रीयता को यदि किसी ने पकड़ा है तो वह गाँधी ही थे। उनमें निहित अपने धर्म और ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास, राष्ट्र की मिट्टी से लगाव, आडम्बरहीन जीवन, औपचारिकताओं से दूर, देहातीपन, सत्यबात मुँह पर कह देने की क्षमता, किसी भी कार्य को अर्थात् पैखाना तक धो देने का संकोच नहीं, भूल को स्वीकार कर लेने की क्षमता आदि कार्यों में गाँधी के विचारों का प्रभाव उनके जीवन में, चिन्तन में एवं सृजन में दिखाई देता है।"⁷

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल किसी राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित नहीं हैं। उनके अनुसार— "..... जीवन के अतिरिक्त मैं कहीं भी प्रतिबद्धता महसूस नहीं करता। किसी राजनैतिक विचारधारा के प्रति तो कतई नहीं।"⁸ पर ऐसा नहीं है कि डॉ० लाल अपने आस-पास हो रही राजनैतिक हलचल से अप्रभावित थे। जे०पी० आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भागीदारी की थी। इस आन्दोलन में डॉ० लाल की भूमिका का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है— "..... देश व समाज से जुड़ने की प्रवृत्ति के कारण बाबू जी सातवें दशक में देश में उत्पन्न राजनीतिक स्थिति से स्वयं को अलग नहीं रख पाये। इस काल में बाबू जी ने देश भर में सुदूर यात्राएँ कीं। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से मिले। इस काल में जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके द्वारा चलाये जा रहे जे०पी० आन्दोलन में सक्रिय रहे।"⁹ जे०पी० आन्दोलन में सक्रियता के कारण डॉ० लाल को कुछ कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। इमरजेन्सी के समय उनकी रचनाओं के प्रकाशन पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबन्ध लगा रहा। पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध डॉ० लाल को उनके पथ से विचलित न कर सके।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ग्रामीण जीवन से बहुत प्रभावित हैं। उनका शरीर भले ही इलाहाबाद से दिल्ली तक की यात्रा करता रहा हो पर वे अपने गाँव जलालपुर को सदैव मन में बैठाये रहे। उनके ग्रामीण परिवेश के प्रति इस आकर्षण को गौतम सचदेव ने शहरी परिवेश से मानसिक पलायन माना है। उनके अनुसार— “अंचल के भाव—विश्वास, पर्व—त्योहार, लोकगीत और अभिव्यंजना—प्रतीक जहाँ डॉ० लाल की कहानियों की प्राणशक्ति हैं, वहीं वैचारिक धरातल पर एक प्रकार से कतराने और शहरी परिवेश से मानसिक पलायन करने की प्रवृत्ति भी उनमें पाई जाती है।”¹⁰ गौतम सचदेव का विचार सत्य नहीं है। उनके ग्रामीण—परिवेश के प्रेम को शहरी परिवेश से मानसिक पलायन कहना उचित नहीं है। डॉ० लाल ने अपने ग्रामीण विषयक व्यावहारिक ज्ञान को अपनी रचनाओं में मूर्त रूप प्रदान किया है। उनकी रचनाओं में ग्रामीण यथार्थ को सहजता से देखा जा सकता है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल में ग्रामीण संस्कार का प्रभाव बहुत व्यापक है। वह व्यक्तिगत जीवन में प्रदर्शन प्रिय नहीं हैं। वह स्वयं को सम्य शहरी प्रदर्शित करने का कोई प्रयत्न नहीं करते। वह अपनी वास्तविकता छिपाने के लिए किसी नकाब का सहारा नहीं लेते हैं। नेमिशरण मित्तल के अनुसार, “लक्ष्मीनारायण लाल शुद्ध देहाती आदमी हैं, शहर में रहते—रहते उम्र मँझधार में आ लगी है लेकिन यह आदमी है कि अपनी आदतों, सलीकों और तौर—तरीकों में निहायत तथा निरा देहाती है। कहने का अभिप्राय यह कि लाल में सम्यता का वह मुलम्मा गायब है, जिसके नीचे शहरी आदमी का भेड़िया तसल्ली के साथ तिजोरी भरता रहता है। यह आदमी मुखौटे नहीं पहनता, इसका चेहरा नंगा है, ...।”¹¹ डॉ० लाल को स्वयं को देहाती कह देने में संकोच नहीं है। अज्ञेय उनसे अपनी तुलना करते हुए कहते हैं— “डॉ० लाल देहाती थे और अभी मूलतः देहाती हैं, चाहे शहरी जीवन से थोड़ा बौखलाए हुए देहाती, पर मैं जब यह कहता हूँ तो जानता हूँ कि मैं तो देहाती से भी उन्नीस हूँ एक निरा वनचारी हूँ, जिसे सही अर्थ में जंगली ही कहना चाहिए (चाहे मैं भी लंबे शहर प्रवास से बौखलाया हुआ जंगली हूँ)।”¹²

बचपन से डॉ० लाल मनमौजी स्वभाव के व्यक्ति थे। कुश्ती लड़ना, तैराकी करना, मछली पकड़ना आदि उनके शौक थे। उनके शौक के सम्बन्ध में सरोजनी लाल ने लिखा है— “आपको बता दूँ बचपन से ही ये एक अच्छे कुश्तीबाज, तैराक और गायक रहे हैं। काफी गहरे पानी में जाते, कोई देखता, शिकायत होती, मार पड़ती। बचपन से ही आपको मछली पकड़ने, मारने, खाने का बहुत शौक था। जब और लड़के कुछ खेलते रहते तो आप साहब मछली पकड़ते और डॉट के डर से पिछले दरवाजे से जाते और बहनों के ये दुलारे थे, वे इनका पूरा साथ देतीं।”¹³ डॉ० लाल को अपने आस—पास की प्रकृति से जीवन में संघर्ष की प्रेरणा मिली। ‘मनवर’ (मनोरमा) नदी में विपरीत दिशा में तैर कर उन्होंने संघर्ष करने की शक्ति प्राप्त की। इस सम्बन्ध में डॉ० सुभाष भाटिया का कथन है— “प्रकृति इनकी सहचरी बनी, गाँव के खेतों में परिश्रम करने वाला किसान और मजदूर का पसीना कठोर परिश्रम के पाठ सिखाने लगा, तो ‘मनोरमा’ की लहरों में विरुद्ध दिशा में तैरने की क्रिया ने सारे समाज के विरुद्ध अकेले खड़े रहने का साहस दिया।”¹⁴

डॉ० लाल के समकालीन रचनाकार जहाँ पाश्चात्य तकनीक और विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हैं, वहीं डॉ० लाल कुछ ही अंश तक। वे अपने को भारतीय होने के नाते गौरवान्वित समझते हैं। पाश्चात्य लेखकों के अनुकरण का वे विरोध करते हैं। उनकी रचनाओं को वे भारतीय परिवेश के लिए अनुपयोगी बताते हुए कहते हैं— “उनकी नाट्य महिमा के संस्पर्श से हम आनन्द विभोर हो सकते हैं, उनकी रंगकला को अनुभूत कर हम उस नशे में झूम सकते हैं, पर हम कितना भी क्यों न चाहें, उन्हें कभी अपने घर, अपने मन्दिर में नहीं स्थापित कर सकते। जो देवता जहाँ का है, जिस भूमि और युग का है, उसकी पूजा, शोभा और महिमा वहीं है। वहाँ से उसे अन्यत्र खिसकते ही वह किसी संग्रहालय की निर्जीव वस्तु भले ही हो सकती है, पर वह ‘वह’ नहीं रह सकता।”¹⁵

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल पश्चिम के महान नाटककार शेक्सपीयर से थोड़ा भी प्रभावित नहीं हैं। उसके विषय में डॉ० लाल कहते हैं— “शेक्सपीयर—बड़ा हरामी नाटककार था। ये किसी को प्रभावित नहीं करता, बल्कि अपने पास से दूर भगाता है। कहता है— यहाँ मैं हूँ, मेरा देश है— तुम मेरी नकल नहीं कर सकते— अपने पास जाओ— अपनी को जानो और लिखो।”¹⁶ पर ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि डॉ०

लाल पश्चिम के सभी नाटककारों की अवहेलना कर देते हैं। जो उनको पसन्द है, उसकी प्रशंसा भी करते हैं। टैनीसी विलियम्स के विषय में उनके विचार उल्लेखनीय हैं— “टैनीसी विलियम्स वगैरह बड़े चालाक नाटककार हैं।”¹⁷ डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल आस्कर वाइल्ड, चेखव, सार्त्र आदि पाश्चात्य नाटककारों से प्रभावित हैं और उन्हीं की भाँति नाटक लिखना चाहते हैं। उनके अनुसार, “आपने शायद ‘आस्कर वाइल्ड’ के ‘सेलामी’ ‘चेखव’ के ‘सीगल’ और ‘वियर’ सार्त्र के ‘क्राइम पेशोनेट’ और ‘मेन विदाउट शैडोज’ आदि नाटकों को पढ़ा होगा। अगर नहीं, तो कम से कम हिन्दी में डॉ० रामकुमार वर्मा और ‘अश्क’ जी के ‘कैद’ ‘आदिमार्ग’ और भँवर आदि नाटकों को ही पढ़ा—सुना होगा। कितने तीखे और तेज नाटक हैं ये।”¹⁸

हिन्दी के अतिरिक्त डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल अन्य भारतीय भाषाओं के नाटककारों से भी प्रभावित हैं। बंगला नाटककार रविन्द्रनाथ टैगोर उनको सर्वाधिक प्रिय हैं। मराठी भाषा के विजय तेंदुलकर को भी वे बहुत पसन्द करते हैं। भारतीय नाटककारों में अपनी पसन्द बताते हुए वे कहते हैं— “भारतीय में टैगोर और तेंदुलकर।”¹⁹ भारतीय भाषा में टैगोर और तेंदुलकर के अतिरिक्त वे कुछ हद तक बादल सरकार को पसन्द करते हैं। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल उन्हीं नाटककारों या रचनाकारों से प्रभावित हुए हैं, जिनका लेखन मौलिक है। जिन लोगों ने एक बँधे—बँधाये फार्मूले पर अपनी रचना की है, ऐसे लोगों से वे जरा भी प्रभावित नहीं होते हैं।

I UnHk §

1. लाल, डॉ० लक्ष्मीनारायण, ‘मेरे श्रेष्ठ रंग—एकांकी’, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1972 ई०, निवेदन पृ०सं० 1
2. झुनझुनवाला, शीला ‘लक्ष्मीनारायण लाल व्यक्ति एवं साहित्यकार’, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1987 ई०, पृ०सं० 13
3. तनेजा, जयदेव, ‘समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच’, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1978 ई०, पृ०सं० 156
4. वही, पृ०सं० 156
5. सं० डॉ० रघुवंश, ‘कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल’, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1979 ई०, पृ०सं० 162
6. वही, पृ०सं० 162
7. भाटिया, डॉ० सुभाष, ‘लक्ष्मीनारायण लाल’ का रंग—दर्शन’, शान्ति प्रकाशन, रोहतक, संस्करण सन् 1990 ई०, पृ०सं० 23
8. तनेजा, जयदेव, ‘समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच’, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1978 ई०, रंग—साक्षात्कार, पृ०सं० 161
9. झुनझुनवाला, शीला ‘लक्ष्मीनारायण लाल व्यक्ति एवं साहित्यकार’, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1987 ई०, पृ०सं० 19
10. सं० डॉ० रघुवंश, ‘कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल’, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1979 ई०, पृ०सं० 164
11. वही, पृ०सं० 36
12. वही, पृ०सं० 16
13. वही, पृ०सं० 42
14. भाटिया, डॉ० सुभाष, ‘लक्ष्मीनारायण लाल’ का रंग—दर्शन’, शान्ति प्रकाशन, रोहतक, संस्करण सन् 1990 ई०, पृ०सं० 18
15. लाल, डॉ० लक्ष्मीनारायण, ‘तीन आँखों वाली मछली’, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1960 ई०, ‘पूर्वरंग’, पृ०सं०—x
16. तनेजा, जयदेव, ‘समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच’, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1978 ई०, रंग—साक्षात्कार, पृ०सं० 157
17. वही, पृ०सं० 157
18. लाल, डॉ० लक्ष्मीनारायण, ‘पर्वत के पीछे’, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1952 ई०, ‘एक खत की याद’ पृ०सं० 2
19. तनेजा, जयदेव, ‘समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच’, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1978 ई०, रंग—साक्षात्कार, पृ०सं० 157



ledkyhu lek t % dchj dh dFkuh vkj djuh lfjrk fuey*

कबीर ने अपने समय-समाज पर तीखे आक्रमण किए। उनकी वाणी निर्भय है। सामाजिक चेतना कबीर के सजग व्यक्तित्व के असंतोष की उपज है, जहाँ मध्यकालीन व्यवस्था को नकारा गया है। उनका अनुभवजन्य ज्ञान ही उन्हें विश्वास एवं सत्य कहने का साहस दिलाता है। वे "मैं कहता आखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।" की उद्घोषणा करते हैं। जितना अनुभूतिगत सत्यता कबीर में पायी जाती है, उतना शायद किसी अन्य में नहीं। इसीलिए तो कबीर का ब्रह्म भी अनुभव या अनुभूति से ही जाना जाता है।

समकालीन समाज की एक बड़ी विडम्बना यह है कि लोगों की कथनी और करनी में सदैव ही बड़ा अन्तर रहा है। यहाँ कहा कुछ जाता है, किया कुछ जाता है। आदर्श जीवन के बड़े-बड़े उपदेश देना और व्यावहारिक जीवन में अपने आचार को उपदेशों से बहुत दूर रखना, जीवन को रेत के घर की भाँति उतारना है। कथनी और करनी में अन्तर रखने वाले व्यक्ति का ज्ञान कच्ची मिट्टी के घर की भाँति थोड़ी सी चोट लगने पर ही गिर जाता है। किन्तु कबीर की वाणियों में सामाजिक न्याय से संचालित समाज में कथनी और करनी में अधिक एकरूपता व समानता पायी जाती है। वह भी उनका अनुभवजन्य ज्ञान ही है। उनका कहना है कि—

^dFkuh dFkh rk D;k Hk;k] t k djuh uk Bgjkba
dkycir di dkV T;k] n[kr gh <fg t kbAA*

कवि, परिस्थिति-विशेष में उत्पन्न होता, बढ़ता, संस्कार ग्रहण करता, प्रेरणा प्राप्त करता, बनता और उस परिस्थिति को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित करता है साथ ही वह अपनी समसामयिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप बहुत कुछ उन्हें परिष्कृत करने और बनाने का भी कार्य करता है। तुलसी का काव्य मध्यकालीन उत्तर भारत का सबसे प्रामाणिक संदर्भ कोश है। उसमें तुलसी द्वारा देखा और समझा भारत मौजूद है। इसमें उसकी विषमताएँ, अच्छाइयाँ, बुराइयाँ, सुख-दुख भी है और उसकी आशा-आकांक्षा भी मौजूद है। तुलसी का जीवन आद्यन्त संघर्षमय रहा। उन्होंने पेट और मन की आग की बहुत पीड़ा सही। भौतिक और दैहिक कष्ट भी बहुत झेले। इसी संघर्ष की प्रक्रिया से उनकी कविता का रूप निखरा।

कबीर की सामाजिक चेतना का आविर्भाव एक विशेष कालखंड में होता है। वह युग भारतीय इतिहास और संस्कृति में व्यापक उथल-पुथल वाला युग था। कबीर एक ओर परम्परागत भारतीय समाज की मध्यकालीन अवस्था की उपज थे तो दूसरी ओर परम्परा और मध्यकालीनता की सीमाओं को तोड़ने की कोशिश कर अपने अनुकूल एक समाज की कल्पना कर रहे थे। वे कल्पना ही नहीं, बल्कि अपनी कल्पना को साकार करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। कबीर का संघर्ष मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का अभिन्न अंग था। इन्हीं बातों ने कबीर को इतिहास पुरुष बना दिया। महपंडित राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार "इतिहास पुरुष वह होता है, जो इतिहास के विभिन्न युगों के अनुभवों को आत्मसात करते हैं और उसका निर्माण करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं, इसलिए कबीर की समाज भी दो तरह का है। एक समाज वह है, जिसे कबीर ने विरासत में ग्रहण किया, जिसके सदस्य बनकर वे पैदा हुए और जिये-मरे। दूसरा समाज वह है, जिसका वे निर्माण करना चाहते थे।"

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कबीर ने जो समाज देखा था उसमें नाना प्रकार की विषमतायें थी। वर्णाश्रम व्यवस्था का विकृत रूप सामने था। व्यक्ति की उच्चता और नीचता का मापदंड उसका जन्म कुल ही रह गया था। ब्राह्मण चाहे जितना दुराचारी हो वह सामान्य था शूद्र चाहे जितना सदाचारी हो वह नीच समझा जाता था। कबीर ने इस आधार को अस्वीकृत किया क्योंकि कबीर सच्चे संत थे उन्हें मानवता प्रिय थी। उस समय मानवता के नाम पर जो पाखंड चलता था, उससे उन्हें घृणा थी, इसीलिए उन्होंने अपने समय में सभी आडंबरों का खंडन किया। उन्होंने व्यक्ति की उच्चता का आधार सदाचार एवं साधना को माना न कि उसके जन्म-कुल को।

^Åp: diy dk tufe; k] djuh u Åph gk; *A

कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था का खंडन किया, उन्होंने समाज में फैली जाति प्रथा, ऊँच, नीच का भेदभाव एवं अंधविश्वासों का डटकर खंडन किया। कबीर का मत था कि मनुष्य मात्र समान है। उच्च कुलाभिमानी ब्राह्मणों को तर्क देते हुए उन्होंने कहा जिस तरह लोग इस जगत में आते हैं उसी तरह तुम भी आत हो। अन्यो से तुम श्रेष्ठ होते तो किसी अन्य विधि से उत्पन्न होते—

Tk ckEgu re cEguh dk tk; kA vkj jkg ri dkg u vk; kA

vj: bu nkmu jkg u ikbA fgUnou di fgUnvkb n[kh] rijdu di rijdkbAA

कबीर ने हिन्दू मुस्लिम एकता पर विशेष बल दिया। उन्होंने देखा कि हिन्दू और मुसलमान परस्पर संघर्ष कर रहे थे, साथ ही वे अपने सम्प्रदाय में छोटे-बड़े नाम पर आपस में लड़ रहे हैं। मुसलमान काबा मस्जिद एवं पीर के नाम पर एक दूसरे को छोटा बड़ा समझते थे। मनुष्य में सत्य का क्रियात्मक और रहस्यमय अंश छिपा है और वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए सुन्दरतम साधनों की खोज करता है। कविता में सत्य, शिव और सुन्दर वस्तुतः 'अनुभूति-सत्य' के सौन्दर्य में अभिव्यक्ति देता है— "काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं; उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सब को अपने स्पर्श-मात्र से सोना कर दे।" हिन्दू भी जाति-पांति, ऊँच-नीच की भावना पर आधारित अज्ञानता के कारण हिन्दू समाज की एकता का खंडन कर रहे थे—

^tkfr ikfr iN u dkb] gfj dk Hkt l k gfj dk gkbA*

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेदभाव की तीव्र निन्दा की, उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दू और मुसलमानों की उपासना पद्धतियों ने दोनों को अलग कर रखा है, इसीलिए एक ओर तो हिन्दू की आलोचना की तो दूसरी ओर मुसलमानों को भी फटकार लगायी। कबीरदास वाह्याडम्बर, मिथ्याचार एवं कर्मकाण्ड के विरोधी थे।

ikgu iit gfj feYk] rk ei iit igkjA

rkr; g pkdh Hky] ih l [kk; l l kjA

dkdj ikFkj tkfj d] efltn ybi cuk; A

rk pf< eYyk ckx n] D; k cgjk gvk [knk; AA

कबीर ने भक्ति या हृदय साधना को परमवरेण्य माना है। इसके चलते कबीर मानवतावादी ही नहीं सर्वात्मवादी हो उठते हैं। भक्ति धर्म को लोक-हृदय से संयुक्त कर देती है इसीलिए कबीरदास शोषण, अत्याचार और पीड़ा के प्रत्येक क्षेत्र में अपना विरोधी स्वर मुखर करते हैं। कबीरदास पर अद्वैत, हठयोग आदि का गहरा प्रभाव था। वे माया की भर्त्सना करते हैं। कबीर का कहना है कि माया से कोई नहीं बचता। बड़े-बड़े पंडित ज्ञानी, ध्यानी भी माया के वशीभूत हैं। माया को कबीरदास प्रायः 'कनक' और 'कामिनी' के रूप में प्रस्तुत करते हैं, 'कनक' स्वर्ण अर्थात् धन-दौलत और कामिनी नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण है। कबीरदास धन जोड़ने के माया के विरोधी हैं। वे उतना ही धन चाहते हैं जितना कि कुटुम्ब चलाने के लिए पर्याप्त हो। स्वयं भी पेट भर जाय और अभ्यागत साधु अतिथि भी भूखा न रहे—

l kb bruk nhft, tke dVe lek; A

ei Hkh Hk [kk u jg l k/k u Hk [kk tk; AA

कबीरदास धन की माया का प्रतीक इसलिए मानते हैं क्योंकि धन झूठ, फरेब या शोषण से ही इकट्ठा किया जा सकता है। परिश्रम से अर्जित धन को बुरा नहीं मानते हैं, किन्तु ईमानदारी से उतना ही धन आ सकता है, जितने से अपना, अपने कुटुम्ब का पेट भर सके। इससे अधिक धन ईमानदारी से नहीं आ सकता। कबीरदास जिस युग में उत्पन्न हुए थे। वह भारतीय सामन्तवाद का उत्कर्ष काल था। सामन्तवाद का आधार छोटे-छोटे हस्त उद्योग होते हैं। कबीरदास जिस जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे इसी प्रकार हस्त शिल्पी या श्रमजीवी जाति थी लेकिन सामन्तवाद में सम्पत्ति के साधनों पर अधिकार सामन्तों का होता है और सबसे अधिक शोषण वे ही करते हैं। इस व्यवस्था में भूमिहीन, खेतिहर मजदूरों की बहुत दुर्गति होती है। कबीर अपने को राम का गुलाम कहते हैं और कहते हैं कि राम मुझे चाहे तो बेच दें। मेरा तन-मन-धन सब राम का है। उन्होंने उसे बाजार में उतारा है और वे ही ग्राहक हैं—

e| x|yke ekfg cfp x| lkb|

कबीर का भावुक हृदय हमेशा ही सामन्तवाद एवं धर्म की चक्की में अनवरत पिस रही भारतीय जनता के दुःख-तकलीफों से द्रवित हो उठता है उसके भौतिक सुखों के प्रति संवेदना व्यक्त करते हुए कबीर धर्म की समीक्षा करते हैं और उसके अन्यायी स्वरूप को जगजाहिर करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, कबीर के साहित्य सृजन का बुनियादी सरोकार लोक चिन्ता है, यह लोक चिन्ता ही उन्हें एक तरफ जनसाधारण से बांधती है तो दूसरी तरफ उन्हें भी पुराणों और शास्त्रों के साथ जोड़ने से बचाती है।

ikFkh&if< if< tx evk| ifMr Hk;k u dk;A

<kb| v{kj i|e dk i< l|k ifMr gk;AA

यद्यपि कबीर की सामाजिक चिन्ता कहीं भी राजनीतिक परिदृश्य से सीधे नहीं टकराती है, जबकि उस समय सामाजिक विषमता पूरी सामाजिक व्यवस्था पर हावी थी। यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि उनकी अध्यात्म दृष्टि में राजनीति का महत्व, समाज से बढ़कर नहीं हो सकता है। उनकी वाणियों में ऐसे स्थल देखने को मिलते जहाँ परोक्ष रूपेण तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार करते हैं। जब वे समूची सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करते हैं। जड़ व्यवस्था पर प्रहार करते हैं, तब यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रहार कर रहे हैं—

pyrh pkdh n[k d| fn;k dchjk jk;A

nk ikVu d| chp e| l|kr cpk u dk;AA

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि कबीर जैसा आध्यात्मिक व्यक्ति जो कि रहस्यवादी पदों को गाते नहीं थकता है, वह भाग्यवादी के आधार पर कोई बात नहीं करता है, बिना उसे अनुभव की कसौटी पर कसे। कबीर को सामाजिक सोच में विवेकवाद स्पष्टतः परिलक्षित होता है। वह समूची व्यवस्था से अपना अलगाव करते हुए समाज के रुढ़िवादी वर्ग को ललकारते हुए कहते हैं—

r| dgrk dkxn dh y|khA

e| dgrk vk|ku dh n|khAA

कबीरदास ने 'कनक' के साथ-साथ 'कामिनी' को भी माया का प्रतीक माना है। प्रायः सभी मध्यकालीन संतों ने 'नारी' को माया का ही रूप माना है क्योंकि आकर्षण के पाश में बांधकर साधक को अपने पथ पर चढ़ने नहीं देता है। कबीर के यहाँ नारी 'सांसारिकता' का प्रतीक है।

tk#&tBfu txr dh Hky| cji dk chpA

इस प्रकार की एक नहीं अनेक पंक्तियाँ कबीरदास की रचनाओं में ढूँढ़ी जा सकती हैं। कबीर जैसा सदाचारी और साहृदय कवि नारी को सर्वथा निन्दनीय समझे यह उचित नहीं जंचता। कबीर के लिए नारी केवल साधना में बाधक होने के लिए निन्दनीय नहीं थी। तत्कालीन सामन्तों के विलास-वृत्ति के प्रति घृणा का भाव भी कबीर के यहाँ नारी निन्दा के रूप में प्रकट हुआ है। यह बात कबीर ही नहीं सभी संत कवियों के विषय में समझना चाहिए। जायसी आदि सूफी कवि एक ओर नारी को सांसारिक का प्रतीक मानते हैं, तो दूसरी ओर परमार्थ का। 'पदमावत' में नागमती यदि सांसारिकता का प्रतीक है तो पदमावती

तो परमार्थ का। यह बात कबीर के यहाँ भी मिलती है, पर उसका स्वरूप माया के रूप में। कबीर नारी-निंदा इतनी तीव्रता से संभवतः परम्परा-पालन के लिए करते हैं, दूसरी ओर वे अनेक ऐसे रूपक प्रस्तुत करते हैं, जिसमें वे अपने को 'नववधू' कहते हैं 'राम को बहुरियों' कहते हैं, राम को पति कहते हैं, उनके आगमन पर मंगलाचार गाने की बात करते हैं—

[^]nyfgu xkog exypkj
gfj ekjk fim el gfj dh cgfj ;kA*

कबीर की सामाजिक चेतना पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि उन्हें मध्ययुगीन कवि कहना समीचीन नहीं है। कबीर मध्य युग में कविता करते हुए आधुनिक बोध और आधुनिक चेतना से लैस हैं। आधुनिक युग के महात्मा गाँधी पर भी उनका प्रभाव पड़ा। गाँधी जी ने चरखा, अहिंसा और सभी के लिए धर्मान्धकार की बात कबीर से ग्रहण की है। कबीर ने मध्ययुगीन रुढ़ियों को तोड़ा ही नहीं बल्कि नये जीवन मूल्यों का निर्माण भी किया है। आधुनिक युग के प्रारम्भिक समय नवजागरण में भारतेन्दु ने भी देश-दशा से विक्षुब्ध हुए, सोए भारतवासियों को जगाने का प्रयास किया था। अपने साथ रोने का न्योता दिया था—

[^]vkog lc fefy dl jkog Hkkjr HkkbA
gk! gk! Hkkjr nni.'kk u n[kh tkbAA

कबीर की कविता समकालीन वास्तविकता की पहचान है, एक प्रकार की निष्क्रियता के खिलाफ सक्रियता है और उस पूरी व्यवस्था पर आक्रमण करती है, जो लोकपक्षीय नहीं है। इसलिए कबीर आज के अंतर्विरोधी समाज में ज्यादा प्रासंगिक है और उनकी कविता आज विचारोत्तेजना के लिए व्यवस्था पर चलने के लिए, तेज धारदार औजार है। इसलिए विश्वनाथ त्रिपाठी उन्हें हिन्दी का प्रथम आधुनिक कवि स्वीकारते हैं।

कबीर ने अपने समय के हर प्रकार के पाखंड, जिसका विचार तंत्र या संस्कृति तंत्र से संबंध था, को तीखे आक्रोश से नंगा किया। जनता का ध्यान उन पाखंडों की नग्नता की ओर आकर्षित किया और इस प्रकार के पाखंड को त्यागने की सलाह दी। लेकिन जाहिर है कि उपदेश से समाज नहीं बदलता है, इसलिए कबीर जैसा समाज बनाना चाहते थे, वैसा समाज नहीं बन पाया। जाति प्रथा नहीं मिटी। आज 21वीं सदी में वोट बैंक बनाने का सरल माध्यम बन गयी है और जनतंत्र की बखिया उधेड़ रही है। धन-वैभव का नग्न प्रदर्शन आज के पूंजीवाद में भयानक रूप में हो रही है। कबीर ने अपने सामंतवादी समय में धन और व्यापार की जो भूमिका रखी थी, वह तो आज के पूंजीवादी युग में और भी वीभत्स रूप मौजूद है।

xyh&xyh xkj l fQj efjnk cfB fcdk;A

सामान्यतया यह माना जाता है कि खड़ी बोली हिन्दी यानी जो आज की हिन्दी है, साहित्य में इसका सबसे पहले प्रयोग अमीर खुसरो ने किया। बाद में कबीर ने इस भाषा का प्रयोग किया। वह समाज के सबसे निचले हिस्से के प्रतिनिधि थे। इसीलिए कबीर की भाषा जीवन संघर्षों का जो ताप अखड़पन मिलता है, वह अन्य कवियों में नहीं। अभाव, अपमान और गैर बराबरी की पीड़ा जिस प्रकार सीधे-सीधे कबीर में व्यक्त होती है, वैसी अन्य कवियों में नहीं होती है। कबीर में धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सत्ता तथा प्रतिष्ठान के प्रति बहुत आक्रोश है। भाषा के मामले में भी कबीर अभूतपूर्व क्रांतिकारी थे। दरअसल कबीर जो कुछ कह रहे थे, वह वहीं नहीं था, जो उनसे पहले कविगण था, चिंतक कह रहे थे। वह चूंकि धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं तथा समाज में प्रचलित और स्वीकृति मानदंडों पर प्रश्न चिह्न लगा रहे थे, इसलिए उन्हें कोई नई भाषा एवं और शिल्प चाहिए ही चाहिए। इसलिए उन्होंने खड़ी बोली, राजस्थानी, भोजपुरी, अवधी, सधुक्कड़ी एवं फारसी तक को अपनाया। उन पर इस्लाम के सूफी मत का प्रभाव पड़ा था, पर आश्चर्य की बात यह है कि जिस खड़ी बोली कबीर ने अपनाया फिर चार सौ बरसों बाद भारतेन्दु ने प्रयोग किया। वह भी केवल गद्य में। कविता ब्रजभाषा में ही करते थे। खड़ी बोली का उपयोग, हिंदी में वास्तव में फिर छायावादियों ने ही किया। इस तरह भाषा की दृष्टि से कबीर महान दृष्टा एवं क्रांतिकारी है। इसीलिए द्विवेदी जी कहते हैं कि, “भाषा पर कबीर का जबरदस्त

अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है, बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।”

कबीर ने धर्म, मनुष्य के कुत्सित भाव, वस्तुवाद, भौतिकता, आत्मदर्शन सम्प्रदायिक झगड़े पर जो कूट कटाक्ष किये। वे आज भी प्रासंगिक हैं। आज अखिल भारतीय ही नहीं उन विकृतियों ने अपना अन्तर्राष्ट्रीयवादी स्वरूप ग्रहण कर लिया इसलिए कबीर 21वीं सदी में भी ज्यादा प्रासंगिक हैं। कबीर का मूल आशय मानव-मानव में एकता स्थापित करना था एवं वैषम्य से पीड़ित समाज का मार्गदर्शन करना था न कि इस मत के प्रवर्तक या पैगम्बर की पदवी हासिल करना। राष्ट्रवाद के युग में सच्ची मानवीयता के लिए कबीर निरंतर प्रासंगिक बने रहते हैं अब जबकि भाषण और आश्वासन ही प्रमुख हो गये हैं, कबीर का यह कथन और भी सारगर्भित हो गया है—

^ckyyuk dk dfg, j: HkkbA ckyr&ckyr rr ulkbAA

वर्तमान समय में भी हम प्रायः नारी और दलितों को समाज से कटा हुआ पाते हैं, इसका कारण यह है कि हम चाहे जितनी बौद्धिक बातें कर लें, पर आज भी हमारे अन्दर जातिवादी ब्रह्म राक्षस बैठा हुआ है। जो हमें, एक-दूसरे से परस्पर एक होने में अड़चन पैदा करता है।

I UnHk §

1. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर— राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 16वाँ संस्करण 2010 ई०, पृ० 144
2. हरीशचन्द्र अग्रवाल, कबीर का महत्व, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2001 ई०, पृ० 50
3. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद, परिवर्द्धित संस्करण 2005 ई०, पृ० 82
4. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, भक्ति काव्य यात्रा, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली, 2002 ई० प्रथम संस्करण, पृ० 35
5. मध्यकालीन काव्य, हिन्दी परिषद प्रकाशन इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण—2008, पृ० 21
6. प्रभाकर माचवे, कबीर साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984 ई०, पृ० 13
7. पुरुषोत्तम अग्रवाल, अकथ कहानी प्रेम की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010 ई०, पृ० 399
8. विजयेन्द्र स्नातक, कबीर, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008, पृ० 15
9. डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट लॉन्गमैन प्राईवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण 2007 ई०, पृ० 20
10. डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर वाणी सुधा, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, दसवाँ संस्करण 2011, पृ० 162



फुल्ये ओक दह दफकवक ऐ ऐ

MkO uhye dekjh*

किसी के लिए प्रेम एक विश्वास है, तो किसी के लिए प्रेम त्याग का एक नाम है। किसी के लिए प्रेम बंधन है, तो किसी के लिए मुक्ति है। कोई कहता है कि प्रेम अंधा होता है अर्थात् प्रेम में पड़ा व्यक्ति अंधा हो जाता है तो कोई कहता है कि प्रेम में पड़कर व्यक्ति की आँखें खुल जाती हैं। वही किसी के लिए प्रेम एक सुखद एहसास है तो किसी के लिए दुःखद। इस प्रकार प्रेम की न जाने कितनी ही अलग-अलग परिभाषाएँ दी गई हैं। क्योंकि प्रेम की कोई परिभाषा नहीं है। प्रेम के जो मायने एक व्यक्ति के लिए है वही दूसरे के लिए हो जरूरी नहीं है। प्रेम के इन्हीं रूपों को निर्मल वर्मा ने अनेक तरह से अपने कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

यह एक ऐसा विषय है जिससे कभी भी, कोई भी साहित्यकार अपने आपको दूर नहीं रख सका है। हर युग में प्रेम अपने नए रूप के साथ चित्रित होता है। विषय तो यही होता है, लेकिन हर बार संदर्भ, परिस्थितियाँ और चरित्रों के बदलने से बहुत ही परिवर्तन आ जाता है। काल्पनिक प्रेम को खत्म हुए जमाना गुज़र गया है, आज के नायक-नायिका न कल्पना में जीते हैं न काल्पनिक उड़ाने भरते हैं, वरन हकीकत की ठोस जमीन पर खड़े होते हैं। आज हमें पहले की अपेक्षा बिल्कुल विपरीत स्थिति दिखाई देती है। आज की नायिका अपने पति को आँखों में आँसू भरकर नहीं बल्कि होठों पे मुस्कान लिए विदा करती है, जिसे पुराने लेखक कतई स्वीकार नहीं कर पाते हैं— “स्टेशन पर खड़ी नायिका, अपने जाते हुए पति को विदा देती हुई आधुनिका हमारे पुराने लेखकों के लिए ‘एक झूठा पात्र’ बनी हुई थी, क्योंकि वे यह स्वीकार नहीं कर पा रहे थे कि लिपस्टिक लगाए और मेकअप किए हुए औरत की भी एक बहुत सच्ची भावात्मक दुनिया है, वह भी अपने पति के प्रति समर्पित हो सकती है, जितनी कि वह औरत जो दरवाजों की ओट से-सर पर आँचल डाले, और माथे पर बिंदी लगाए अपने परदेश जाते पति को रो-रोकर बिदाई दे रही होगी।” आज के नायक और नायिका दोनों ही पुराने रूढ़ नायक-नायिकाओं से बहुत अलग हैं, अतः उनकी समस्याएँ भी अलग हैं और अभिव्यक्ति का ढंग भी अलग है।

अब प्रेमी-प्रेमिका दोनों ही स्वतन्त्र हैं, आज की प्रेमिका न मीरा की तरह जहर पीने वाली है, न सीता की तरह अग्निपरीक्षा में से गुज़रने वाली। क्योंकि हर एक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है, संवेदना है, जहाँ एक दूसरे के लिए भी सबकुछ सामान्य नहीं है। दोनों एक दूसरे से पूर्णतः परिचित ही हों यह आवश्यक भी नहीं, वरन् कहीं कहीं तो शिष्टाचार के खिलाफ भी है, क्योंकि प्रेम में बंधन दोनों को ही स्वीकार्य नहीं है। आज शिष्टाचार में बंधा प्रेम ऐसा हो गया है जैसे बुद्धि से भावनाओं को कस दिया गया हो। ऐसी बात नहीं कि भावनात्मक, संबंध रह ही नहीं गए— फिर भी बुद्धिजीवी कितना भावुक हो सकता है— आखिर उसकी भावुकता की भी एक सीमा है।

आज प्रेम में प्रगाढ़ परिचय के स्थान पर अजनबीपन और अकेलापन है, बंधन की नहीं मुक्ति की कामना है।

निर्मल वर्मा की प्रेमसंबंधी अपनी विशिष्ट मान्यता है— एक जगह वे अपने एक पात्र से कहलवाते हैं— “मैं समझता हूँ कि प्रेम अगर ऐसी कोई चीज है, तो बहुत महत्वहीन और आकस्मिक परिस्थितियों में आरंभ होता है, और उसका अन्त भी शायद बहुत ही छोटे और अर्थहीन कारणों से हो जाता है” और

यही बात हमें उनमें कई जगह देखने को मिलती है कि प्रेम ऐसे ही आकस्मिक शुरू भी हो जाता है और खत्म भी हो जाता है जैसे 'तीसरा गवाह' में माँ की बिमारी की वजह से नीरजा और रोहतगी में प्रेम होता है, वे दोनों कोर्ट-मैरिज करने को तैयार होते हैं और सिर्फ एक गवाह के देर से आने से खत्म भी हो जाता है।

निर्मल वर्मा के पात्र अधिकतर अतीत में जीते हैं और अधिकांशतः प्रेम का चित्रण स्मृति के ही रूप में हुआ है। इसलिए प्रेम का चित्रण होने पर भी हमें बहुत भावुकता देखने को नहीं मिलती, और वैसे भी निर्मल वर्मा उसी स्मृति से जो अतीत हो चुकी है, लिपटे रहने में शायद नहीं मानते। 'परिन्दे' कहानी की लतिका अपने प्रेमी गिरीश नेगी की ही स्मृतियों में जी रही है, जो फ्रन्ट पर मारा जा चुका है, वह कभी भी अपने मस्तिष्क में से उसकी स्मृति निकाल नहीं पाती तब एक अन्य पात्र डॉक्टर मुकर्जी कहते हैं— 'कभी-कभी मैं सोचता हूँ, मिस लतिका किसी चीज़ को न जानना यदि गलत है, तो जान-बूझकर न भूल पाया, हमेशा जोक की तरह चिपटे रहना यह भी गलत है।' ² 'परिन्दे' में हमें दो विपरीत दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। एक तरफ डॉक्टर जैसा जिन्दादिल इन्सान है, जो किसी भी ज़िद से चिपके रहने में नहीं मानता, और एक ओर लतिका जो अतीत में जी रही है लेकिन फिर भी समय एक ऐसा मरहम है जिसकी वजह से कोई भी घाव लंबे समय तक हरा नहीं रह सकता है, लतिका महसूस करती है— 'अब वैसा दर्द नहीं होता, सिर्फ उसको याद करती है जो पहले कभी होता था, तब उसे अपने पर ग्लानि होती है, वह फिर उस घाव को जानबूझकर कुरेदती है जो मरता जा रहा है।' ³ यानी प्रेमिका अपने उन क्षणों को, यादों को कभी खोना नहीं चाहती लतिका उस घाव के भरते जाने से घबराती है, जैसे उसका कुछ छिनता सा जा रहा है, वह स्मृतियाँ ही उसकी ज़िंदगी है और वह उन्हीं में जीना चाहती है।

प्रेम बहुत मुखर रूप में कम जगह आया है, अधिकतर वह एक मौन के रूप में आता है। प्रेम का यही मौन रूप 'अंधेरे में' नामक कहानी में भी बहुत सुन्दर रूप में आया है जहाँ बीरू चाचा के प्रति अपनी माँ के प्रेम को बच्ची भाँप जाता है, जब वह माँ की इस अवस्था को देखता है— "माँ सड़क के मोड़ पर खड़ी थी, किनारे पर लगी तार पर झुकी हुई, उनकी साड़ी का आँचल हवा से उड़कर कंधे पर आ गिरा था। अपने में खोई सी वह अपलक नीचे देख रही थी..... उतराई के नीचे थी—वीरेन चाचा की कोटेज।" ⁴

प्रेम में असर ऐसा होता है कि सब कुछ अपनी गति से होता चलता है। निर्मल वर्मा के प्रेम चित्रण में यह चीज़ बहुत आती है कि व्यक्ति खुद ही नहीं समझ पाता है कि क्या हो रहा है, बस सारी डोर किसी अदृश्य शक्ति के हाथ में है और कुछ हो रहा है— ऐसा ही लगता है। 'परिन्दे' में लतिका डॉक्टर से पूछती है— 'सब कुछ होने के बावजूद वह क्या चीज़ है, जो हमें चलाये चलती है, हम रुकते हैं तो हमें अपने रेलों में घसीट ले जाती है।' ⁵

प्रेम का एक अलग पक्ष 'पिक्चर-पोस्टकार्ड' में आता है। परेश, नीलू से प्रेम करता है। हर बार बोलना-चाहता है, पर उसे लगता है कि शब्द बहुत हैं— और वह गलत शब्द चुन लेगा। यह एक सामान्य युवक की त्रासदी है जो प्रेम तो करता है पर अपने प्रेम का इजहार करने से डरता है।

उनकी एक कहानी 'छुट्टियों के बाद' में हमें यह देखने को मिलता है कि प्रेम बहुत हल्के-फुल्के ढंग से भी किया जा सकता है। छुट्टियों के खत्म होने पर नायिका का प्रेमी एक भावुक विदाई के साथ उसे स्टेशन से विदा करता है। अपने अगले स्टेशन उतरने से पहले नायिका अपने पर्स में से अपनी सगाई की अंगूठी निकालकर पहन लेती है जो छुट्टियों के दौरान उसने उतार दी थी। इस स्टेशन पर उसे लेने एक व्यक्ति आया है जो उसका मंगेतर है। इस प्रकार छुट्टियों के खत्म होने के बाद भी प्रेम नए सिरे से शुरू की जा सकती है। छुट्टियों का प्रेम अलग और बाद में वही पहले वाला पुनः जारी हो सकता है।

'वीक एण्ड' की नायिका अपने विवाहित प्रेमी से प्रेम तो चाहती ही है पर वह बंधना नहीं चाहती— मुक्त ही रहना चाहती है—, उसे अपने प्रेम पर या कहा जाय अपनी देह पर इतना भरोसा है कि वह अपने प्रेमी को कहीं से भी बुलाकर ला सकती है— "इस दुनिया में मुझे किसी पर उतना भरोसा नहीं, जितना देह की चाहना में। उसके सहारे वह जहाँ भी हो वहाँ से मैं उसे खींचकर ला सकती हूँ। उसमें जादू है, वह खुद अपने में जादू है।" ⁶

अतीत की स्मृति के रूप में प्रेम का चित्रण, और प्रेम जिनमें अतीत की नहीं वर्तमान की चीज़ है वहाँ उसका चित्रण कुछ अलग ढंग से हुआ है। 'अन्तर' कहानी में निर्मल वर्मा ने वर्तमान प्रेम के बहुत ही यथार्थ रूप का चित्रण किया है। नायिका न चाहते हुए भी गर्भपात कराने के लिए अस्पताल में भर्ती होती है, नायक वहाँ उसके मना करने के बाद भी, उसके लिए ढेर सारी चीज़ें लेकर उससे मिलने जाता है। वह उससे कहता है— "अब तुम सुखी हो न? वह कहती है वह पहले भी सुखी ही थी, वह बाहों में उसका सिर थामकर उसे चूमती भी है— पर उसके जाते ही उसकी लाई हुई सारी चीज़े खिड़की से नीचे फेंक देती है।"⁷

प्रेम में एक बात और भी है और वह यह है कि अगर तुम किसी व्यक्ति को किसी समय में प्यार करते थे और अब नहीं करते तो तुम उसका सामना भी नहीं कर सकते। 'पिछले गर्मियों में' का नायक पहले यहाँ किसी और से प्रेम करता था, अब नहीं करता, वापस आने पर भी वह उससे नहीं मिलता और सोचता है— "उसे हल्का सा विस्मय हुआ कि उसे उन दिनों के बारे में पछतावा नहीं है। उसे खुशी हुई कि वह अरुणा से नहीं मिला। तुम उससे नहीं मिल सकते, जिससे तुम कभी बहुत प्यार करते थे और अब नहीं करते।"⁸

अन्य संबंधों के साथ ही प्रेम साथ में भी गहराई घटती गई, और संबंधों में अलगाव और अजनबीपन भी उभरकर आने लगा, सिर्फ यही एक सम्बन्ध ऐसा था जिसे हम अन्य संबंधों से कुछ अलग होने के कारण विशिष्ट मानते थे, लेकिन समय के प्रभाव ने इसे भी प्रभावित कर दिया है।

निर्मल वर्मा के प्रेम प्रसंगों में हमें यही चीज़ काफी देखने को मिलती है कि प्रेमी जो कुछ समय पहले बहुत ज्यादा अन्तरंग क्षण गुजार रहे थे, दूसरे ही पल वे सम्बन्धों के छोर पर खड़े दिखाई पड़ते हैं। 'वे दिन' का नायक जब रायना चली जाती है, तब सिर्फ कहीं बाहर जाना चाहत है जिससे वह पिछले तीन दिनों में उसके साथ बिताये गये क्षणों को भुला सके। इसके अलावा उनके तीन दिन के सम्बन्धों के बीच-बीच में भी कई बार अजनबीपन झाँक जाता है, क्योंकि रायना का अपना अलग अतीत था, सिर्फ वर्तमान में प्रेम होने से इस दूरी को ढंका नहीं जा सकता था, नायक कहता है— पहली बार मुझे अपने और उसके बीच अलंघ्य सी दूरी लगी थी। जिसे ढंका नहीं जा सकता था। वह उसके अपने अतीत से जुड़ा था, जिसे मैं देख नहीं सकता था। कुछ घर ऐसे होते हैं, जिनके भीतर आकर भी लगता है कि हम बाहर खड़े हैं।

किसी भी और संबंध में ऐसा अन्तराल आ जाए तो शायद उतना ज्यादा नहीं अखरता है, लेकिन प्रेम सम्बन्धों में जब इस तरह का अलगाव आ जाता है तो बहुत खलता है। कथाकार के नैतिक-अनैतिक सम्बन्धी अपने अलग मापदण्ड हैं, उनके पात्र उन्हीं पुरानी मान्यताओं से बंधे नहीं हैं जहाँ हर बात के पहले उन्हें नीति अनीति के बारे में सोचना पड़े। रायना लगातार पुरुष बदलती है लेकिन सोचती सिर्फ इतना ही है दूसरों को बाद में पछताना न पड़े। वह कहती है, यह शायद अनैतिक है। लेकिन फिर भी उसी हल्के ढंग से इस संबंध को भी जीती है।

अन्ततः हम देख सकते हैं कि निर्मल वर्मा की दृष्टि ने किसी भी पक्ष को एक कोण से नहीं, कई कोणों से देखा है। प्रेम को उन्होंने बिल्कुल नए दृष्टिकोण से देखा है और उनकी कथाओं में भी उनके इन्हीं दृष्टिकोणों का परिचय मिलता है।

UnHk %

1. निर्मल वर्मा, पिछली गर्मियों में, दिल्ली; राजकमल प्रकाशन, संस्करण, 1968, पृ0-38
2. निर्मल वर्मा, मेरी प्रिय कहानियाँ, दिल्ली; राजपाल एण्ड सन्स, संस्करण 2004, पृ0-59
3. वही, पृ0-51
4. वही, पृ0-73
5. वही, पृ0-59
6. निर्मल वर्मा, बीच बहस में, नयी दिल्ली ; भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन वर्ष 2013, पृ0-46
7. वही, पृ0-110
8. निर्मल वर्मा, वे दिन, दिल्ली; राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 2004, पृ0-129



xcj f?kpkj % fHk[kkjh Bkdij dh çxfr 'khy lkp dk mnkgj.k xkjo dekj f=i kBh*



%xcjf?kpkj ukVd di ipk; r dk n'; %

रंगमंच की दृष्टि से गबर घिंचोर भिखारी ठाकुर का सबसे प्रौढ़ नाटक है जिसमें सम्पूर्ण नाटकीयता और समाधान प्रस्तुत है। गीत कम और संवाद अधिक है। कसी हुई कथावस्तु और उतना कसा हुआ नाटक। इस नाटक के माध्यम से भिखारी ठाकुर ने कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं से रूबरू कराया और अपने समयानुसार उसका जो समाधान प्रस्तुत किया वह तात्कालिक समय और समाज में किया गया एक क्रांतिकारी कदम था।

भिखारी ठाकुर ने समय और समाज को देखते हुए जो प्रश्न उठाये और उसका समाधान प्रस्तुत किया वह स्वाभाविक है। पति के लम्बे प्रवास के समय उसकी पत्नी का भरण-पोषण शरीर की इच्छा (काम-वासना) के लिए गैर मर्द से अवैध संबंध से उत्पन्न पुत्र को सामाजिक स्वीकृति और माता का स्थान।

आर्थिक सम्पन्नता की तलाश में महानगरों को प्रस्थान करते विदेशी जैसे युवक पीछे छोड़ जाते हैं नवविवाहिता जवान पत्नी। वर्षों तक कोई खोजखबर नहीं लेते, स्वयं तो उलझ गए दीन दुनिया और आर्थिक विपन्नता को सहेजने में, इधर व्याकुल पत्नी बहुत दिनों तक स्वयं को रोक नहीं पाती क्योंकि 'बिदेसिया के देवर' की तरह कई ऐसे देवर (?) इस फिराक में लगे रहते थे कि कब मौका मिले और दूसरे की स्त्री का फायदा उठाए। 'बिदेसिया' नाटक में नाटककार यह मौका नहीं देता किंतु गबर घिंचोर में वह अवश्यमेव देता है। बदलते समय ने संबंधों के मायने बदल दिए हैं उसका क्या ठिकाना जो सुध तक नहीं लेता। ऐसे में बैठे-बिठाए सोचने से काम नहीं चलेगा इसलिए गबर घिंचोर नाटक की स्त्री एक नया कदम बढ़ाती है और अपने रोजमर्रा के जीवन में गैर मर्द की बाँह थामती है। पति परदेश में है, लंबे समय से कोई खोज खबर नहीं, जैसे तैसे जिंदगी जीते हुए नाच-तमाशा, बतकही में मन को भुलाए हुए और जब देह की माँग बढ़ने लगी, चढ़ती जवानी बरसाती नदी की तरह उफान मारने लगी तो गैर मर्द की बाँहों में समा जाने की छटपटाहट स्वाभाविक ही होगी। इस संबंध से जो पुत्र पैदा होता है वह इस कथानक का केन्द्रीय स्वर है पुत्र। पिता को पन्द्रह वर्षों बाद घर की सुध आती है तो पता चलता है उसका एक पुत्र है, जो तेरह वर्ष का है। वह खुशी-खुशी घर आता है और पत्नी से कहता है कि वह गबर घिंचोर को अपने साथ ले जाना चाहता है। क्योंकि उसे कमाने में हाथ बटौने वाला चाहिए यहाँ बरबस याद आती

*पूर्व शोध-छात्र, हिंदी भवन, विश्वभारती शान्तिनिकेतन, प० बंगाल

है इस्मत चुगताई की कहानी 'दो हाथ' जिसमें ऐसी ही कथा है। 'दो हाथ' कहानी में मोहन दुखी नहीं होता है। पत्नी के इस कृत्य पर ना ही गलीज दुखी होता है। अपितु वे खुश है कि चलो काम में हाथ बँटाने के लिए दो हाथ और हुए। "हालाँकि ऐसी ही कहानी ब्रेख्त के नाटक 'खड़िया का घेरा' (हिंदी अनुवाद) की भी है और एक जातक कथा के रूप में भी यह बुद्ध से पंचायत कराती मिलती है। वास्तव में यह एक लोककथा है, जिसे अपने नाटक का विषय ब्रेख्त ने भी बनाया और भिखारी ने भी भिखारी ठाकुर का 'तर्क-वितर्क', 'वाद-विवाद' और उपमा-उपमेय उनके अपने परिवेश के उदाहरण से मौलिकता की प्रतीत कराता है।"¹

गलीज, गलीज बहू और गड़बड़ी नाम के अनुसार ही चरित्र भी है। गलीज-गंदगी का नाम है उसमें मिल गया गड़बड़ करने वाला गड़बड़ी, स्वभाविक है इनके द्वारा जो कुछ होगा वह एक खींचातानी का विषय होगा जिसे भोजपुरी में 'गबर-घिंचोर' ही कहा जाएगा। गबरघिंचोर की उत्पत्ति में इन तीनों की सहभागिता है। पति के लंबे प्रवास के दौरान स्त्री विचलन को स्वाभाविक मानते हुए भिखारी चेतना के स्तर पर अपने नाटकों की नायिकाओं को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करते हैं भिखारी 'बिदेसिया' की प्यारी-सुंदरी की भावना से भी आगे गबर घिंचोर के गलीज बो की यथार्थवादिता में विश्राम लेते हैं। नाटक में पति के लंबे प्रवास के समय घर पर अकेली स्त्री बैठी सिर नहीं धुनती न कौए, तोते बादल अथवा बटोही से उसकी खोज कराती है, बल्कि वह बड़े स्वाभाविक ढंग से पराए मर्द का सहारा लेकर अपनी वासनात्मक और आर्थिक कमी दूर करती है। परिणाम स्वरूप जो फल प्राप्त होता है उसे कुंती की तरह बहती धारा में फेंक नहीं आती, न कूड़े में डालती है, वह शर्म से मस्तक भी नहीं झुकाती बल्कि सामाजिक मान्यता और अपने अधिकार के लिए लोक कचहरी (पंचायत) में तार्किक होकर संघर्ष करती है और सफल भी होती है।

माँ, माँ का प्रेमी, और माँ के पति के बीच गबर घिंचोर को भविष्य त्रिशंकु की भाँति हवा से हिलोरे ले रहा है, तो पंच भी रिश्वत के आधार पर कभी गड़बड़ी तो कभी गलीज और कभी गलीज बहू के पक्ष में फैसला देते हैं। नाटक के उक्त तीनों पात्र अपने-अपने हक के लिए जोरदार तर्क देते हैं और पंचायत उसमें रिश्वत के आधार पर अपना फैसला देती है। कहीं गड़बड़ी अपना अधिकार गबर पर जमाता है तो कहीं गलीज अपना आधिपत्य और माता का जो स्वत्व गबर पर है सो अलग। पंचायत में सभी संधे हुए पंच बैठते हैं और प्रतिपक्षी लोग अपनी-अपनी दलील बयान सुनाते हैं—

गड़बड़ी —² jkg e: ibyh [kkyh tkyhA [kktr vkby ,d dpyh
jki ;k /kbyh yyh fudkyhA y: tkl vkiu [kfygk tkyh²

अपने तर्क में गड़बड़ी कहता है — जीवन के यात्रा में एक खाली जाली (बटुआ) मिल जाता है जिसमें वह अपने रूप रख देता है— वीर्य सुजीवनम। जब उससे जाली (बटुआ) लौटाने की बात की जाती है तो वह तैयार हो जाता है किंतु रूप के साथ नहीं। गड़बड़ी के तर्क पर पंचायत उसे ही गबर घिंचोर का अभिभावकत्व सौंपती है तभी गलीज जो गबर घिंचोर की माँ का पति है विरोध करता है और अपनी बात तर्क सहित कुछ यूँ कहता है—

गलीज—

xkN yxoyh dkgMk d] yUkj xby igvkj
Qjy ijkfI ;k d: Nli j ij] l: g eky gekj³

गलीज ने कहा मैंने एक कोहड़े का बीज अपने आँगन में लगाया। उसकी लता फैल कर पड़ोसी के छप्पर पर चली गई। वहाँ पर कोहड़ा फल गया तो वो मेरा ही हुआ न। पंच को गलीज की बात भी तार्किक लगती है और वह गबर घिंचोर को गलीज के हवाले करने का फैसला सुनाता है। कुहड़े का विरवा जिसका फल भी उसी का चाहे वह जहाँ भी फले। अंत में माता अपना तर्क देती है—

?kj e: n/k ikp l: j] dg tkju fngy ,d /kkjA
dk i: pkbr gk[kr ck] ?khm l: kQ: Hkby gekjAA⁴

अबकी बार गलीज बहू का तर्क पंचायत को ज्यादा तार्किक लगता है और वह फैसला गलीज बहू के पक्ष में सुनाती है। पंचायत से 'कौवा-रोर' उठती है। सबके तर्क जोरदार हैं किसीका भी खंडन

आसान नहीं है बात रिश्वत तक आ पहुँचती है गबर धिंचोर के दोनों पिता अपना-अपना आधिपत्य जमाने के लिए पंच को रिश्वत की पेशकश करते हैं तो गलीज बहू अपने मातृत्व की दुहाई देते हुए विलख पड़ती है—

vknj d| gmvu cVk gekj] vknj l|
 lkp ckr l| vkp ykxr c] iN h ckyk d| ukÅ pekj
 i= Hkby t hHk Lokn xby le] rfudk u [kbyh cdkj
 vc vkxk ij nkxk gk[kr ck] ?kjy l Bx cVekj
 dgr fhk[kkjh rb;kjh Hkby tc fivyk l| n/k d| /kkjA⁵

माता प्रकृति स्वरूपा है क्योंकि सृष्टि तो वही करती है पिता तो निमित्त मात्र होता है। माता की नव महीने के असाध्य कष्ट और तपस्या का फल है उसका पुत्र। उसके सामने कोई दलील और तर्क नहीं है। बल्कि प्रत्यक्ष प्रमाण है — नाऊ और चमार। पुत्र के लिए माता को अपनी जिह्वा का स्वाद तक त्यागना पड़ता है वही पुत्र अब ठग और बटमार के पल्ले चढ़ गया है। गलीज बहू अपने मातृत्व की गरिमा को कातर वाणी में पंचों के सामने पेश करती है—

flolfr x.kifr gjg| cdkj efr(pju d| pjh d| b;knj[kk ccvk
 iVok Hkhr ekgh xe dN jg| ukfg(rcgh l| vk ljk yxoyh gk ccvk
 l f/kdj Hkbyk d| xger dgyk d(ekb| efr tku ge /kkb| tku ccvk
 dgr fhk[kkjh ukb] dou djh mikb(egok d| rkgj| nv[kk gk ccvk⁶

मातृत्व की गरिमा के अन्तर्गत है उसके नौ माह का गर्भ वहन, नव मास तक अनेकों परहेज। प्रसव की अपार व्यथा—प्रसव अति दारुण दुख उपजे। गलीज बहू की भी स्थिति कमतर नहीं दिन—रात हूल आवे। चल फिर नहीं पाती थी क्योंकि गोड़ भहरात रहे, प्रसव के चार दिन पहले ही सउरी में दाँत लग जाता था उस पर भी अनेको बातें फैली हुई थी कोई भूत कहता था तो कोई मरा हुआ बताता था। पुत्र पैदा होने पर उसकी माता ने तेलवा लगा के अबरली गुह मूत कइला के कीमत कितने पुत्र दे सकते हैं। जन्म के समय 'चमइनि' हाथ ला के कठलसि ऐसी माता का कही जोड़ नहीं कोई मुकाबला नहीं। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि—कुमाता न भवति या माता न कुमाता पुत्र कुपुत्र भले ही। पंचायत में पुत्र का हिस्सा लगाने के लिए पंच गबर धिंचोर को तीन टुकड़ों में बाँटने की बात करता है और जल्लाद को प्रति टुकड़ा कराई चव्वनी फीस देने की बात पर यही माता बिलख उठती है और पंच से कहती है कि “ना ए बाबूजी जिउते दूनो जना में केहू के दे दी।” तब पंचायत का फैसला होता है, मारने वाले से बचाने वाला बड़ा, जिस बेटे के लिए पिता के मन में कोई भावना न उत्पन्न हो उसका पुत्र पर अधिकार कैसा। अधिकार तो उस माता का है जो किसी भी हालत में पुत्र को जीवित देखना चाहती है इसलिए पंचायत गबर धिंचोर को उसके माता को सौंपती है।

एक लोक कथा को आधार बनाकर भिखारी अपने समय में जो समाधान करते हैं वह एक क्रांतिकारी कथन था। पति, प्रेमी और माँ के बीच गबरधिंचोर पर अधिकार किसका हो? रिश्वत की ओर लुढ़कते देखे जाने वाले किंतु तार्किक और ईमानदार पंच से पति के लंबे प्रवास में पत्नी का गैर मर्द की ओर झुकाव स्वाभाविक मनवाते हैं और उससे जन्मे बच्चे को सामाजिक मान्यता देने तथा उस पर माता का सर्वाधिकार सुरक्षित रखने की माँग करवाते हुए सफल दिखाई देते हैं।

l UnHk %

1. हुसैन, डॉ० तैयब 'पीड़ित', भिखारी ठाकुर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ० 84
2. यादव, वीरेन्द्र नारायण, (प्रधान सम्पादक), सिंह, नगेन्द्र (सं०), भिखारी ठाकुर रचनावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण 2005, पृ० 165
3. तदेव, पृ० 166
4. तदेव, पृ० 167
5. तदेव, पृ० 168
6. तदेव, पृ० 169



foKku rFkk ik|kfxdh dk lekt ij iHkko

vi.kk JhokLro*

çLrkouk ॥ आज के युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारक है। यदि यह कहा जाये कि पिछले करीब पांच सौ वर्षों में जितने परिवर्तन हुए हैं, उनके पीछे सबसे प्रमुख कारक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी है तो इसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह वास्तविकता है। विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति ने अनेक आविष्कारों को जन्म दिया है। आविष्कारों से यन्त्रीकरण बढ़ा है और यन्त्रीकरण के फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। जैसे ही उत्पादन की प्रणाली बदलती है, उसके साथ-ही-साथ सामाजिक सम्बन्धों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना में बदलाव आता है। यही तो सामाजिक परिवर्तन है। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, यातायात और संचार के नवीन साधनों तथा बिजली, पहिये, अणुशक्ति, आदि के आविष्कार ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में योग दिया है। ये साधन जहाँ जीवन की सुख-सुविधाओं को बढ़ाने में योग दिये हैं, वहीं कुछ समस्याओं को भी उत्पन्न किये हैं। विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी के कारण जहाँ औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है, वहीं अनेक श्रम-समस्याएँ और नगरीय जीवन से सम्बन्धित कई समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी ने न केवल पाश्चात्य देशों को बल्कि एशियाई देशों और भारत को काफी सीमा तक प्रभावित किया है। इस देश में संयुक्त परिवार, विवाह, जाति और ग्रामीण समुदाय विज्ञान और नवीन प्रौद्योगिकी के कारण काफी प्रभावित हुए हैं। लोगों की मनोवृत्तियों, विश्वासों और मूल्यों में परिवर्तन आया है। अब लोग धर्म और जाति के बन्धनों से धीरे-धीरे मुक्त होते जा रहे हैं। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने जाति-पाति के भेदभाव और अस्पृश्यता को कम करने में योग दिया है। वर्तमान में विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी के कारण स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता में वृद्धि हुई और उनके अधिकार बढ़े हैं। समाज में युवा पीढ़ी के अधिकारों और शक्ति में वृद्धि हुई है। यदि हम विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का समाज पर किस प्रकार से प्रभाव पड़ता है इस बात पर दृष्टि डालें तो मुख्यतः दो रूप में इस प्रभाव को देखा जा सकता है पहला प्रत्यक्ष प्रभाव जबकि दूसरा अप्रत्यक्ष प्रभाव।

lekt ij çR;{k iHkko ॥ श्रम विभाजन एवं कार्यों का विशेषीकरण – विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप अब उत्पादन बड़े पैमाने पर विशालकाय कारखानों में होने लगा। इन कारखानों में अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार के कार्य बांटे गये क्योंकि विभिन्न कार्यों के ठीक प्रकार से सम्पादन के लिए भिन्न-भिन्न योग्यता और प्रशिक्षण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक ही प्रकार का कार्य लम्बे समय तक करते रहने के कारण व्यक्तियों को उस कार्य से सम्बन्धित विशेष ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिली। इस प्रकार श्रम-विभाजन के साथ-साथ विशेषीकरण भी बढ़ा। अब विभिन्न कार्यों को ठीक से पूरा करने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गयी।

Jfed lxBuk dk fuek.k & उत्पादन के क्षेत्र में नवीन प्राविधियों के काम में लिये जाने के पहले तक सामान्यतः किसी प्रकार की कोई श्रम-समस्याएँ नहीं थीं। लोग अपने घरों पर हाथ से काम करते और वस्तुओं का निर्माण करते थे। अब कारखानों में मशीनों की सहायता से काम किया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप कारीगर मजूदरों के रूप में बदल गये। अब कार्य के घंटे, तनखाह, कार्य की दशाएँ, आदि

निश्चित किये गये। मिल मालिक अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए मजदूरों से अधिक काम लेने और कम से कम वेतन देने का प्रयत्न करने लगे। परिणामस्वरूप शोषण के विरुद्ध मजदूर संगठित होने लगे और अनेक श्रमिक-संघों के माध्यम से मजदूरों ने मिल मालिकों और सरकार के सम्मुख समय-समय पर अनेक मांगें रखीं जिनके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता गया। इनमें वर्ग चेतना का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप समाज व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन तक हुए।

uxjhdj.k & जब उत्पादन फैक्ट्री प्रणाली द्वारा होने लगा तो ग्रामों से बहुत से लोग कार्य की तलाश में नगरों में आने लगे। अनेक कारणों से कारखानों के नगरीय क्षेत्रों में स्थापित होने से अनेक ग्रामवासी इन कारखानों में काम करने के लिए नगरों में आकर बसने लगे। परिणामस्वरूप नगरों की जनसंख्या तेजी के साथ बढ़ती गयी। जनसंख्या के तीव्र गति से बढ़ने के कारण अनेक नगरीय समस्याएँ उत्पन्न हुईं, जैसे-गन्दी बस्तियों की समस्या। नगरों के भीड़-भीड़युक्त वातावरण में व्यक्ति अकेलापन महसूस करने लगा। यहाँ यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई और इन दोनों ने सामाजिक जीवन को अगणित रूपों में प्रभावित कर सामाजिक परिवर्तन लाने में योग दिया है। xfr'khyrk dk c<uk & वर्तमान में विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी के कारण आवागमन और संचार के साधनों का बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ है। लोग विभिन्न स्थानों, समूहों, वर्गों, व्यवसायों, आदि के सम्बन्ध में जानने लगे हैं। वे विभिन्न लोगों और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से परिचित होने लगे हैं। परिणामस्वरूप अपने समूह और संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति कम हुई है। अब अपनी योग्यता और साधनों को बढ़ाकर अपनी वर्गीय स्थिति को बदलने के अवसर भी लोगों को मिले हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने गतिशीलता को बढ़ाने में योग दिया है।

lkekftd lEcU/kk e: ifjor'u & विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों का रूप काफी कुछ बदल गया है। अब पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों की दृष्टि से कुछ परिवर्तन आये हैं और सम्बन्धों में जटिलता बढ़ी है। पहले व्यक्ति प्रमुखतः अपने परिवार के वयस्कों, कुछ रिश्तेदारों और ग्रामीण समुदाय के कुछ अन्य लोगों से ही सम्बन्धित था, परन्तु अब व्यक्ति के सम्बन्धों का काफी विस्तार हुआ है। अब उसे शिक्षा के लिए स्कूल पर, आजीविका के लिए किसी कारखाने, दतर या व्यापारिक संस्थान पर निर्भर रहना पड़ता है। अपने मनोरंजन के लिए भी वह किसी क्लब, सोसायटी या मण्डल का सदस्य बनता है। आज के विशेषीकरण के इस युग में सभी समितियों या वैकल्पिक समूहों की संख्या काफी बढ़ गयी है और व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनमें से कुछ का सदस्य बन जाता है। परिणामस्वरूप उसके सम्बन्धों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। वर्तमान में घनिष्ठ, आमने-सामने के और अनौपचारिक सम्बन्धों के बजाय कार्यात्मक, अप्रत्यक्ष तथा औपचारिक सम्बन्ध अधिक बनते जा रहे हैं।

xkeh.k {k=k e: uxjh; fo'k"krkvk dk Q'yko & आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के कारण नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र है। इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों के जीवन पर भी पड़ता है। वर्तमान में बहुत से मजदूर काम करने ग्रामों से नगरों में आते हैं जहाँ नवीन पर्यावरण से अनुकूलन करने के प्रयत्न स्वरूप उनके विश्वासों, मूल्यों, आदतों एवं आचरणों में काफी परिवर्तन आता है। वे इन नवीनताओं को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचाते हैं। यातायात और संचार के साधनों के बढ़ने से नगरीय विशेषताओं का ग्रामों में प्रचार-प्रसार होता जा रहा है। अब ग्रामों के लोग भी उन भौतिक उपकरणों का प्रयोग करने लगे हैं जो जीवन की सुख-सुविधाओं को बढ़ाने में योग देते हैं जैसे- बिजली, पंखा, हीटर, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेपरेकार्डर, टेलीविजन आदि का। स्पष्ट है कि ग्रामीण और नगरीय जीवन का अन्तर धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

lekt ij viR;{k iHkko ॥

ifrLi)k dk c<uk & विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी ने जहाँ श्रम-विभाजन और विशेषीकरण बढ़ाया है वहीं साथ ही प्रतिस्पर्धा में भी अभूतपूर्व वृद्धि की है। आज के औद्योगीकरण के इस युग में प्रतिस्पर्धा का महत्व सर्वत्र बढ़ा है। आज शिक्षा, नौकरियों और व्यापार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा दिखाई पड़ती

है। प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने से जहाँ अनेक लाभ हैं, वहीं इसके कुछ दुष्परिणाम भी हैं। इसके परिणामस्वरूप कई बार उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाता है, व्यापार में बाधा पड़ती है और लोग आर्थिक अपराध तक करने लगते हैं। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने आर्थिक सम्बन्धों के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया है। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने सामूहिक महत्त्व को कम करने और व्यक्तिवादिता को बढ़ाने में योग दिया है।

fofhkUu oxk d k mn; & विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने नवीन आर्थिक वर्गों के निर्माण द्वारा सामाजिक संरचना को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। नवीन प्रौद्योगिकी ने कुछ साधन सम्पन्न लोगों को बड़े-बड़े कारखानों का मालिक बनाकर अधिक धन कमाने और पूँजीपति बनने के अवसर प्रदान किये हैं। दूसरी ओर इसी प्रौद्योगिकी ने लाखों-करोड़ों लोगों को इन्हीं कारखानों में मजदूरों के रूप में कार्य करने को बाध्य किया है। परिणामस्वरूप पूँजीपति और मजदूर वर्गों का निर्माण हुआ। साथ ही इन दोनों के मध्य एक अन्य वर्ग का उदय हुआ है जिसे मध्यम वर्ग कहा जाता है जिसकी आय के स्रोत श्रमिक वर्ग से कुछ अधिक हैं, जो व्यापार, व्यवसाय, पेशों और विभिन्न नौकरियों में लगे हुए हैं। इस वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा श्रमिक वर्ग से कुछ ऊँची होती है। विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के प्रभाव को कम करने और वर्गों के महत्त्व को बढ़ाने में योग दिया है।

cdkj h dk c<uk & नवीन प्रौद्योगिकी ने कुटीर उद्योग-धन्धों को चौपट कर बेकारी को बढ़ाने में योग दिया है, बेकारी अपने आप में एक ऐसी आर्थिक और सामाजिक समस्या है जो व्यक्ति और परिवार के जीवन को विघटित कर देती है। जब समाज में विघटित व्यक्तियों और परिवारों की संख्या बढ़ती है तो इसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है और समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, लेकिन इसमें यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना है कि नवीन प्राद्योगिकी सदैव ही बेकारी को बढ़ाने में योग नहीं देती।

ikfjokfjd thou e: ifjor'u & विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी ने व्यक्तिवादिता को बढ़ाया है और सामूहिकता के महत्त्व को कम किया है। अब व्यक्ति स्वयं के स्वार्थों के दृष्टिकोण से अधिक सोचने लगा है। साथ ही लोग ग्रामों में अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर नगरों में आकर बसने लगे हैं। विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी ने स्त्रियों के कार्यों को हल्का किया है। अब वे प्रेशर-कुकर, गैस, बिजली और अनेक श्रम-बचत उपकरणों को काम में लेकर अपने समय को बचाने लगी हैं। स्त्री-शिक्षा और रोजगार के अवसर भी बढ़े हैं। अब वे फैक्टरियों, दतारों, स्कूलों और विभिन्न व्यवसायों में पुरुषों के समान काम करने और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने लगी हैं। वे अब अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। इस सारी स्थिति ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने में योग दिया है। प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का प्रभाव विवाह संस्था पर भी पड़ा है। अब प्रेम-विवाह, विलम्ब-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं। इसके अलावा, नवीन प्रौद्योगिकी ने पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाकर तनाव और विवाह-विच्छेदों की संख्या बढ़ाने में योग दिया है।

lkekft d thou e: ifjor'u & विज्ञान और नवीन प्रौद्योगिकी ने व्यक्ति के मूल्यों, आदर्शों, आदि को परिवर्तित कर उसे जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य किया है। अब व्यक्ति सामुदायिक के बजाय व्यक्तिवादी जीवन में अधिक रुचि लेने लगा है। नगरों में बसने वाले बहुत से व्यक्तियों को अपने स्त्री-बच्चों को गाँव में ही छोड़कर नगरों में गन्दी बस्तियों में अकेले रहने को विवश होना पड़ता है। यह स्थिति कई बार यौन-अनैतिकता पनपने में योग देती है। ऐसे लोगों में मद्यपान, वेश्यावृत्ति और जुआखोरी की आदत भी पनप जाती है। विज्ञान और नवीन प्रौद्योगिकी ने जाति व्यवस्था पर आधारित परम्परागत स्थिर भारतीय समाज को आधुनिकीकरण की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। अब लोग जाति-पाँति की अधिक चिन्ता नहीं करते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने स्थिर समाज को गतिशील समाज और परम्परागत समाज को आधुनिक समाज में बदलने में योग दिया है।

/kkfed thou e: ifjor'u & विज्ञान और नवीन प्रौद्योगिकी ने ज्ञान-विज्ञान, तर्क और विवेक के महत्त्व को बढ़ाकर धर्म के रूढ़िवादी पक्ष को कमजोर करने में योग दिया है। आज धर्म के उदारतावादी और

मानवतावादी पक्ष पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी ने विभिन्न धर्मों के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर दिया है। परिणामस्वरूप लोगों की विभिन्न धर्मों में रुचि बढ़ी है। आज धर्म के क्षेत्र में संकीर्णताएँ कुछ कम हुई हैं और सहिष्णुता बढ़ी है।

mi lgkj § विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में विभिन्न प्रकार के अविष्कारों के द्वारा व्यक्तियों की भौतिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाने की दृष्टि से अपने दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है, परन्तु बेकारी, निर्धनता और समाज-व्यवस्था में व्याप्त अन्य बुराइयों के कारण समाज में बहुत बड़े हिस्से को इन सुख-सुविधाओं का लाभ सही अर्थों में नहीं मिल पा रहा है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने मानव जाति के प्रति अपने दायित्वों का भली-भाँति निर्वाह किया है, परन्तु यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह विज्ञान व प्रौद्योगिकी का प्रयोग अपनी सुख-सुविधाओं को बढ़ाने के लिए करता है या मानव जाति के विनाश के लिए।

सामाजिक परिवर्तन को लाने वाले कारक के सन्दर्भ में प्रौद्योगिकी वैज्ञानिक सिद्धान्तों से जनसाधारण के जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यावहारिक उपयोग होती है। प्रौद्योगिकीय विकास के निमित्त नये-नये औद्योगिक नगर निर्मित होते हैं, नये-नये कल-कारखाने लगाये जाते हैं, नये-नये सुविधाजनक यन्त्र विकसित किये जाते हैं जिससे लोगों की आर्थिक स्थिति में वृद्धि होती है। यह भी सच है कि इससे वर्ग संघर्ष भी बढ़ता है। इन सभी कारकों के परिणामस्वरूप सामाजिक मूल्यों, सामाजिक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने निश्चित रूप से जन साधारण के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में एवं उन्हें विकास के अवसर सुलभ कराने में सहायता की है।

I UnHk §

1. गुप्ता एवं शर्मा, एम.एल., डी.डी. : “समाजशास्त्र” 2002, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. पाण्डेय, रामशकल : “उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक”, 2007 विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
3. सक्सेना, एन.आर. स्वरूप : “शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत”, 2008, आर.लाल. बुक डिपो, मेरठ।
4. त्यागी, गुरसरनदास : “भारतीय शिक्षा का परिदृश्य”, 2007, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
5. अग्रवाल, जे.सी. : “शैक्षिक तकनीकी एवं प्रबन्ध”, 2007-08, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
6. कुलश्रेष्ठ, एस.पी. : “शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार”, 2012, श्री विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
7. रुहेला, सत्यपाल : “शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय आधार”, 2014-15, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
8. दुबे, श्यामाचरण, “समय और संस्कृति”, 2000, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
9. पाठक, पी.डी. : “भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ”, 2014, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।
10. किरण, चाँद : “शिक्षा सामाजिक परिप्रेक्ष्य”, 2013, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली।



fu'kDr t u % 'kkjhfd iuokl o lLFkxr i;k l nhfidk pkgku*

भारत का संविधान अपने सभी नागरिकों के लिए समानता, स्वतंत्रता, न्याय व गरिमा सुनिश्चित करता है और स्पष्ट रूप से यह निःशक्त व्यक्तियों समेत एक संयुक्त समाज बनाने पर जोर डालता है। हाल के वर्षों में निःशक्तों के प्रति समाज का नजरिया तेजी से बदला है। यह माना जाता है कि यदि निःशक्त व्यक्तियों को समान अवसर तथा प्रभावी पुनर्वास की सुविधा मिले तो वे बेहतर गुणवत्तापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

fu'kDr 0;fDr;k di dY;k.k gr ljdkh i;k l ,o ;ktuk, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निःशक्त लोगों की समस्याओं को दूर करने के लिए सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों द्वारा कई कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं जिनके माध्यम से निःशक्तों को समाज में स्थान प्राप्त करने सामाजिक सामंजस्य तथा उनके पुनर्वास में सहायता मिलती है। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य इन्हें समाज की मुख्यधारा में जोड़ना है।

1975 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित विकलांग अधिकार घोषणा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विकलांग व्यक्ति सामाजिक एवं आर्थिक नियोजन में सभी स्तरों पर ध्यान दिये जाने के अधिकारी है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1981 का वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय विकलांग वर्ष घोषित किया गया तथा प्रत्येक वर्ष मार्च के तीसरे रविवार को विश्व विकलांग दिवस मनाया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों के अतिरिक्त भारत में भी सरकार द्वारा निःशक्तों के कल्याणार्थ कई कदम उठाये गये हैं। अनु0 11 में कहा गया है, “अपनी आर्थिक क्षमता एवं विकास की सीमाओं के अधीन राज्य कार्य, शिक्षा एवं बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी एवं असमर्थता की स्थितियों में तथा अवांछनीय आवश्यकता की अन्य स्थितियों में जन सहायता अधिकार को प्राप्त कराने हेतु प्रभावपूर्ण प्रावधान करेगा।”

संयुक्त राष्ट्र सभा ने दिसम्बर 2006 में निःशक्तजनों के अधिकारों को अपनाया तथा निःशक्तजनों के अधिकार को सुनिश्चित करने हेतु नये आयाम विकसित किये। जिसे भारत ने मई 2008 में अपनाया।

सहस्राब्दि विकास लक्ष्य का बिन्दु 7 “वातावरणीय सम्पोषणीयता को सुनिश्चित करना है” बिना समाज के सभी सदस्यों की भागीदारी के प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जिनमें निःशक्तजनों की उपस्थिति भी अत्यन्त आवश्यक है।

सरकार द्वारा समय-समय पर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भी निःशक्तजनों हेतु प्रावधान किये जा रहे हैं।

वर्तमान समय में निःशक्तजनों के कल्याण हेतु सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय के अधीन निःशक्त कार्य विभाग का गठन 14 मई 2012 को किया गया जिसका उद्देश्य निःशक्तजनों के कल्याण एवं पुनर्वास हेतु कार्य करना।

इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा कई अधिनियम तथा कार्यक्रम भी बनाये गये जिसके द्वारा निःशक्तजनों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके।

इस संदर्भ में 1987 में भारत सरकार द्वारा मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम बनाया गया तथा 1986 में पुनर्वास परिषद की स्थापना भारत सरकार द्वारा एक पंजीकृत सोसायटी के रूप में की गई। सितम्बर 1992 में संसद द्वारा “भारतीय पुनर्वास परिषद अधिनियम पारित किया गया और उस अधिनियम के द्वारा

*शोध छात्रा, समाजकार्य विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भारतीय पुनर्वास परिषद एक सांविधिक निकाय के रूप में 22 जून 1993 को अस्तित्व में आई। अधिनियम को संसद द्वारा वर्ष 2000 में और अधिक व्यापक बनाने के लिए संशोधन किया गया इस जनादेश के द्वारा भारतीय पुनर्वास परिषद के नीतियों व कार्यक्रमों को विनियमित करने, निःशक्तता वाले व्यक्तियों के पुनर्वास एवं शिक्षा का दायित्व दिया गया।

वर्तमान समय में भारतीय पुनर्वास परिषद राज्य तथा क्षेत्रीय स्तर निःशक्तजनों के पुनर्वास में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

पुनर्वास सेवाओं के अतिरिक्त केन्द्र सरकार ने निःशक्तजनो हेतु सरकारी नौकरियों में 3 प्रतिशत आरक्षण व्यवस्था, रेलगाड़ियों में यात्रा की विशेष छूट, राज्य परिवहन निगमों की बसों में मुक्त यात्रा की सुविधा उनके लिए शिक्षा और प्रशिक्षण की विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराने हेतु विशेष पुनर्वास सेवाओं की सुविधा निःशक्तजनों के कल्याण में लगी स्वयं सेवी संस्थाओं की आर्थिक सहायता तथा विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के संचालन के माध्यम से निःशक्तजनों के सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक उत्थान सुनिश्चित करने के प्रयास किये गये हैं। निःशक्त व्यक्तियों को कानूनी रूप से समान अवसर, अधिकारों की सुरक्षा और संपूर्ण भागीदारी सुनिश्चित करने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार द्वारा वर्ष 1995 में एक व्यापक कानून का निर्माण किया गया जिसे निःशक्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम 1995 कहा गया। इस अधिनियम को संसद द्वारा 12 सितम्बर 1995 को पारित किया गया है तथा 7 फरवरी 1996 को अधिसूचित किया गया परन्तु 14 दिसम्बर 2016 को राज्यसभा एवं 16 दिसम्बर 2016 को "Rights of person with disabilities Bill-2016" पारित किया गया है। जो कि 1995में पारित P.W.D. एक्ट का स्थान लेगा इस कानून के पारित हो जाने के साथ ही निःशक्तता की श्रेणी 7 से बढ़कर 21 हो गयी है एवं नौकरियों में 3% की जगह 4% आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। तथा 6 से 18 वर्ष की आयु के निःशक्त बच्चों की मुफ्त शिक्षा का प्रावधान किया गया है। अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्य स्तर पर निःशक्तों के पुनर्वास को बढ़ावा देने वाले कार्यक्रमों जैसे—शिक्षा, रोजगार और व्यावसायिक प्रशिक्षण, बाधामुक्त परिवेश का निर्माण, निःशक्तों के लिए पुनर्वास सेवाओं का प्रावधान, जैसे मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया गया है।'

निःशक्त जन अधिनियम के अतिरिक्त सरकार द्वारा निःशक्तजनों के कल्याण तथा विकास हेतु कई कार्यक्रम चलाये गये हैं—निःशक्त व्यक्तियों के कल्याणार्थ सभी प्रदेशों के विकलांग कल्याण विभाग द्वारा योजनाएं बनायी एवं संचालित की जाती है जो कि प्रत्येक जिले के विकलांग कल्याण कार्यालय द्वारा संचालित की जाती है जिससे जिलों में प्रत्येक निःशक्त व्यक्ति जो योजना के लाभ हेतु पात्रता रखता हो, लाभान्वित हो सके। उत्तर प्रदेश के विकलांग कल्याण विभाग द्वारा संचालित की जा रही कुछ योजनाओं का वर्णन इस प्रकार है²

1. निराश्रित निःशक्त व्यक्तियों का भरण—पोषण अनुदान (विकलांग पेशन)
2. निःशक्त छात्रों तथा निःशक्त व्यक्तियों के बच्चों के छात्रवृत्ति
3. कृत्रिम अंग/श्रवण यंत्र क्रय करने हेतु उदान
4. विशिष्ट पुरस्कार योजना
5. विवाह प्रोत्साहन योजना
6. निःशुल्क यात्रा सुविधा
7. दुकान निर्माण योजना
8. स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान
9. सरकारी सेवा में आरक्षण की व्यवस्था
10. विशेष रोजगार कार्यालय

fu'kDr 0;fDr ;k gr l fo/kk, i

1. आयकर सुविधा
2. कस्टम ड्यूटी की सुविधा

3. परिवहन हेतु सुविधा
4. रेल यात्रा में सुविधा
5. हवाई सेवा सुविधा

jk"Vh; fodykx foUk ,o fodkI fuxr %NHFDC%

राष्ट्रीय विकलांग वित्तीय और विकास निगम की स्थापना सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा 24 जनवरी 1997 को कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 25 के अन्तर्गत लाभ रहित निगम के रूप में की गयी। यह निगम पूरी तरह से भारत सरकार द्वारा नियंत्रित किया जाता है। इस निगम की स्थापना 400 करोड़ रुपये की लागत से की गयी है, जिसका प्रयोग निःशक्त व्यक्तियों के कल्याणार्थ किया जाना है।³

इसके अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा इन निःशक्त बच्चों के शिक्षण तथा प्रशिक्षण में समुदाय की सहभागिता सुनिश्चित करने हेतु भारत सरकार ने 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया। समुदाय आधारित पुनर्वास के द्वारा व्यक्ति की समस्या की पहचान करके उसके पुनर्वास के लिए समुदाय के स्त्रोतों पर आधारित सहायता प्रदान की जाती है।⁴

भारत सरकार द्वारा सर्वशिक्षा अभियान के अन्तर्गत निःशक्त बच्चों को भी सम्मिलित किया गया है तथा Intergrated Education for Disabled Children (IEDC) योजना के अन्तर्गत 15 से 18 वर्ष के निःशक्त बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है।

सर्वशिक्षा अभियान के अन्तर्गत समावेशित शिक्षा को सम्मिलित किया गया है जिसके अन्तर्गत सामान्य बच्चों के साथ आंशिक रूप से निःशक्त तथा गति सम्बन्धी निःशक्तता वाले बच्चों की शिक्षण तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था सामान्य विद्यालयों में की गई है।⁵

इन सभी अधिनियमों तथा कार्यक्रमों के साथ-साथ सन् 1999 में नेशनल ट्रस्ट एक्ट का निर्माण किया गया जो विकासात्मक विकलांगता जैसे— ऑटिज्म, मस्तिष्क पक्षाघात, मानसिक विकासहीनता और बहुविकलांगता से पीड़ित लोगों के कल्याण के लिए 'शताब्दी के उपहार' के रूप में लागू किया गया।⁶ जिसके प्रमुख लक्ष्य है —

1. आटिज्म, सेरेब्रल पॉलिसी, मानसिक मंदता तथा बहुविकलांगता के शिकार निःशक्त बच्चों को आत्मनिर्भर हो के जीने के योग्य बनाना तथा उनका पुनर्वास करना।
2. निःशक्त व्यक्तियों को उनके परिवार में सामंजस्य स्थापित करने योग्य बनाना
3. समान अवसर तथा अधिकार दिलाना
4. अवरोध मुक्त वातावरण तैयार करना
5. इन व्यक्तियों का समाज में समावेशन करना
6. स्वयं सेवी संस्थाओं का विकास करना तथा उनके कर्मियों को प्रशिक्षण प्रदान करना। सन् 2009 में शिक्षा नीति में नये सुधार के साथ The Right of children to free and Compulsory Education Act 2009 का निर्माण किया जो 1 अप्रैल 2010 को पूरे देश में लागू हुआ जिसमें सरकारी तथा गैर सरकारी विद्यालयों में निःशक्त बच्चों तथा अन्य निम्न वर्गों के बच्चों के लिए 25 प्रतिशत सीटें आरक्षित की गई है।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि सरकार द्वारा निःशक्तजनों के विकास के लिए विभिन्न योजनाएँ तथा कार्यक्रम चलाये गये हैं परन्तु सरकार द्वारा चलाये गये कार्यक्रम अभी सफल हो सकते हैं जब इसमें सामान्य जनता की सहयोगपूर्ण भूमिका भी सुनिश्चित की जाए।

fu%kDr 0;fDr; k di dY; k.k gr lLFkxr i; kI & निःशक्तजनों के कल्याण हेतु सरकार द्वारा योजनाएँ तथा कार्यक्रम बनाये गये परन्तु फिर भी मात्र सरकारी प्रयास ही निःशक्तजनों की स्थिति सुधारने में कारगर नहीं है, बल्कि इसके लिए विभिन्न संस्थाओं की भी सहभागिता आवश्यक है जो सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों स्तरों पर हो सकती है ये संस्थाएँ इनके उपचार, प्रशिक्षण तथा पुनर्वास की व्यवस्था के साथ मानव संसाधन का विकास भी करती है। साथ ही ये संस्थाएँ निःशक्त व्यक्तियों

को समाज की मुख्य धारा में भी जोड़ने का कार्य करती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारत सरकार द्वारा सामाजिक न्याय तथा अधिकारिता मंत्रालय के अन्तर्गत 7 सरकारी संस्थाओं की स्थापना की गयी।⁷

जिनमें मानसिक निःशक्त व्यक्तियों के लिए राष्ट्रीय मानसिक विकलांग संस्थान, सिकन्दराबाद दृष्टिबाधित व्यक्तियों के लिए राष्ट्रीय दृष्टि बाधितार्थ संस्थान, देहरादून श्रवण अक्षमों के लिए अलीयावर जंग राष्ट्रीय श्रवण विकलांग संस्थान, मुम्बई अस्थि विकलांग व्यक्तियों के लिए श्यामा प्रसाद मुखर्जी राष्ट्रीय अस्थि विकलांग संस्थान, कोलकाता चलन सम्बन्धी निःशक्त व्यक्तियों के लिए पंडित दीन दयाल उपाध्याय विकलांग जन संस्थान, नई दिल्ली तथा राष्ट्रीय पुनर्वास प्रशिक्षण और अनुसंधान संस्थान, कटक मुख्य रूप से कार्यरत है। इसके अतिरिक्त वर्ष 2005 में बहुनिशक्तता से ग्रसित व्यक्तियों के लिए मंत्रालय द्वारा चेन्नई में बहु-निःशक्तजनों के सशक्तिकरण हेतु राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना की गयी। ये सभी राष्ट्रीय संस्थान निःशक्त व्यक्तियों के शिक्षण प्रशिक्षण शोध, कृत्रिम उपकरण प्रदान करने के साथ-साथ व्यवसायिक प्रशिक्षण एवं रोजगार के लिए कार्यरत हैं। इनके अन्य क्रिया-कलाप प्रकाशन, जागरूकता गोष्ठियाँ एवं कार्यशालाओं का आयोजन इत्यादि है।

इन महत्वपूर्ण संस्थाओं के अतिरिक्त सामाजिक न्याय तथा अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार के अधीन दो निजी संस्थायें कार्यरत हैं—Artificial Limbs Manufacturing Corporation of India (CALMICO) जो निशक्तों हेतु सहायता उपकरणों का निर्माण तथा वितरण का कार्य करती है तथा National handicapped finance and Development corporation (NHFDCI) faridabad, जिसका उद्देश्य निःशक्त व्यक्तियों के लाभार्थ आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को बढ़ावा देना है।⁸

सरकारी प्रयासों के साथ-साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष में हजारों स्वयं सेवी संस्थाएँ भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर रही हैं। यह संस्थाएँ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में फैली हैं तथा इनका प्रमुख उद्देश्य निःशक्तजनों के कल्याण तथा पुनर्वास की व्यवस्था करने के साथ-साथ उन्हें इस योग्य बनाना है कि वह समाज में अपनी पहचान बना सकें।

I UnHk %

1. पटेल, सुरेश कुमार, "बहुविकलांगता : कारण तथा निवारण" Article written in Annual Report 2008-2009 of Jeevan Jyoti, Institute for the Disabled.
2. अग्रवाल, उमेश चन्द्र, "विकलांगों के कल्याण हेतु सरकारी प्रयास एवं संचालित योजनाएँ, योजना, अंक (9) दिसम्बर 2003, पृष्ठ 55-60"
3. जोसेफ, आर० ए०, "निःशक्त व्यक्तियों हेतु छूट एवं सुविधाएँ, पुनर्वास 2013 पेज 398 आयाम, सकाकलन पब्लिशर्स, करौदी, बी० एच० यू० वाराणसी"
4. Gokhale, S.D Rehabilitation Policies and Programmers, samaiya publication Pvt Ltd. 1984, Preface.
5. Klasing, Insa, "Disability and Social Exclusion" New Delhi, Rawat Publication, 2007, P. 110
6. नटराजन पूनम, "विकासात्मक विकलांगता", योजना अंक (4) अप्रैल 2013 पृष्ठ सं० 13
7. <http://www.socioljustice.nic.in>



e/;dkyhu l ekt vkj jkepfj reku l

uhfrdk flg*

इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के काल-विभाजन में मध्यकाल का समय दिल्ली सल्तनत काल से माना है। दिल्ली सल्तनत की स्थापना 1206 ई० में हो जाती है। सल्तनत काल से लेकर कम्पनी शासन के आगमन तक के समयावधि को मध्यकाल माना जाता है। इसी मध्य काल के मध्य हिन्दी साहित्येतिहास के लगभग तीन काल खण्ड समाहित हो जाते हैं। प्रथम काल खण्ड 'आदिकाल' के साहित्य सामान्यतः वीर रस से ओत-प्रोत तत्कालीन युद्धों के वर्णन के लिए जाने जाते हैं। वहीं तृतीय काल खण्ड 'रीतिकाल' भी दरबार आश्रित कवियों की शृंगार परक रचनाओं के कारण जाना जाता है। जबकि इन दोनों काल खण्डों से इतर 'मध्यकाल' की अवधि में ही द्वितीय काल खण्ड 'भक्तिकाल' का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें दरबार आश्रित कवि नहीं बल्कि भक्त वत्सल कवि प्रधान रहें हैं। जहाँ समाज का प्रत्येक तबका अपनी प्रस्तुति के लिए साहित्य को माध्यम बनाता है। अपनी समस्याओं को भगवान के समक्ष रख अपनी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन करता है। 'रामानन्द' जैसे आकाश धर्मा गुरु भक्ति के माध्यम से सामाजिक संरचना के बिखराव को रोकने का प्रयास करते हैं, इसीलिए इनके शिष्यों-प्रशिष्यों की अटूट परम्परा किसी एक वर्ग-विशेष से नहीं बल्कि समाज के हर वर्ग से आते हैं। सूफी काव्य परम्परा सर्वधर्म समभाव के रूप में सामने आता है। सगुण और निर्गुण शाखाएँ तथा इनकी उपशाखाएँ दोनों ही तत्कालीन मध्यकाल को प्रस्तुत करने में समर्थ सिद्ध हुई हैं, दोनों ही सामाजिक संतुलन स्थापित करने का अथक प्रयास करती हैं। भक्त कवियों में 'गोस्वामी तुलसीदास' ने अपनी रचनाओं में अपने समय की परिस्थितियों का यथातथ्य वर्णन किया है विशेष रूप से रामचरितमानस में। इस संदर्भ में हिन्दी के प्रख्यात आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "तुलसीदास की लोकप्रियता का कारण यह है कि उन्होंने अपनी कविता में अपने देखे हुए जीवन का बहुत गहरा और व्यापक चित्रण किया है। उन्होंने राम के परम्परा प्राप्त रूप को अपने युग के अनुरूप बनाया है। उन्होंने राम की संघर्ष-कथा को अपने समकालीन समाज और अपने जीवन की संघर्ष-कथा के आलोक में देखा है। उन्होंने वाल्मीकि और भवभूति के राम को पुनः स्थापित नहीं किया है, अपने युग के नायक राम को चित्रित किया है। उनके दर्शन और चिन्तन के राम ब्रह्म हैं लेकिन उनकी कविता के राम लोकनायक हैं।"¹

तुलसी ने जहाँ कलियुग का वर्णन किया है, वह वस्तुतः तत्कालीन युगबोध ही है। उस समय समाज की जो दुरावस्था की उसका निरूपण तुलसी ने कवितावली, गीतावली, दोहावली में भी किया है किन्तु रामचरितमानस में कलिकाल का वर्णन इतिहास बोध की तरह जान पड़ता है। यह 'कलि' तुलसीदास के समय का यथार्थ है। तुलसीदास ने अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे आम जनजीवन को बहुत महत्वपूर्ण तरीके से व्यक्त किया है। उस काल में राजव्यवस्था भ्रष्ट थी, राजा धर्म परायण नहीं थे और वे प्रजा को अकारण ही दण्डित करते थे। यथा-

^ui iki ijk;u /ke! ughA dfj n.M foMEC iitk fur ghAA**2

रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने घटित समय और समाज को जीवन की धुरी माना है। तुलसी का मानना है कि अपनी जिम्मेदारियों से पीछा छोड़कर जंगलों में जाकर तपस्या करना व्यर्थ है। यह जीवन जीने का तरिका नहीं बल्कि गृहस्थाश्रम में रहकर संतुलित और दायित्वपूर्ण समाज में रहना चाहिए।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तुलसी देश या समाज के शासक के भीतर निर्णय करने की क्षमता और साथ ही गलत सही का परख अनिवार्य मानते हैं। रामजी तिवारी कहते हैं— “किसी भी शासक या नेता को विवेक का विग्रह होना चाहिए। विवेक द्वारा ही करणीय और अकरणीय का उचित विभाजन संभव होता है।”

उस समय समाज में ऊँच—नीच का भेद व्याप्त था। सभी वर्ण अपने—अपने धर्म का पालन नहीं कर पा रहे थे। ब्राह्मण वेद—विरोधी हो चला था। लोग ज्ञानियों को नहीं थोथी बकवास करने वालों को मानते थे तथा मिथ्याडम्बर रचने वाले सन्त कहलाते थे—

[^]f}t lfr opd Hki i:tkluA
dkm ufg eku fuxe vu'kk luAA
ekjx lkb tk dNl tkb HkkokA
if.Mr lkb tk xky ctkokAA

तुलसीदास ने अपने समय की धार्मिक स्थिति की जो आलोचना की है उसमें एक तो वे सामाजिक अनुशासन को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। इस सामाजिक अनुशासन को सुव्यवस्थित दिशा देने के लिए संगठन और आपसी समन्वय को महत्वपूर्ण बताया गया है। इस विषय में रामजी तिवारी का निम्न कथन प्रासंगिक जान पड़ता है— “गोस्वामी जी सामाजिक अथवा राष्ट्रीय जीवन में संगठन के महत्व को भली प्रकार पहचानते थे। निर्बैर भाव की भावनात्मक एकता जहाँ परस्पर प्रेम, सहयोग, सद्भाव और सहानुभूति की वृत्ति को विकसित करती है वहीं संगठित शक्ति की भी वृद्धि करती है। संगठन के विरोधी तत्वों को निर्मूल करके सम्यक् समन्वय की आवश्यकता होती है।”³ समन्वय की इसी विराट चेष्टा के बल पर तुलसी समाज में व्याप्त बैर भावना को समाप्त करना चाहते हैं। दूसरे उस समय प्रचलित भयानक साधनाओं से तुलसी दुखी है। हमारे समाज व्यवस्था में धर्म की अनेक भूमिकाएँ होती हैं। समाज को अनुशासित रूप प्रदान करने में भी धर्म का महत्वपूर्ण योग है। परन्तु उस समय धर्म के नाम पर जो निम्न कोटि की साधनाएँ होती थी वो सिर्फ दिखावा और छल मात्र होता था। तुलसी इस प्रकार की धर्म साधनाओं को ‘तामस धर्म’ बताते हैं—

[^]rkel /ke: djfg uj ti ri or e[k nku]
no u cj"kf g/kjrh c, u tkefg/kkuA**

जैसा कि हम जानते हैं कि तुलसी अकबर के समकालीन थे। अकबर के शासन के दौरान कहा जाता है कि पाँच बार भीषण अकाल पड़ा था। उस अकाल से आम—जन भूखे मर रहे थे। उनकी पीड़ा का मर्मन्तक वर्णन तुलसी ने अपने मानस में किया है। जिससे साबित होता है कि उस समय शासन व्यवस्था क्षीण थी जिसके कारण आमजन दुखी थे तथा भूखे मर रहे थे—

dfy ckjfg ckj vdky ij]
fcu vlu n[kh lc ykx ejIAA

तुलसी के नायक राम ऐसे लोकनायक हैं जो उस समय समाज में व्याप्त विभिन्न कुरूपताओं का अन्त करने व समस्याओं के समाधानकर्ता थे। विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं— “तुलसी के राम में जो दीनबन्धुता, शील और संकोच है वह भक्ति के आलम्बन राम में ही सम्भव था। सामान्य लोक—जीवन के जितने निकट तुलसी के राम हैं, वाल्मीकि और भवभूति के नहीं। तुलसी के राम की पर दुःख कातरता की मात्रा भी वहाँ इतनी अधिक नहीं। वाल्मीकि और भवभूति के राम भी लोकवादी थे, किन्तु राम की लोकवादिता का तुलसी में अपूर्व विकास हुआ है।”⁴

मध्यकालीन समाज में व्याप्त कुरीतियाँ समाज को प्रभावित कर रही थी उसी समय तुलसी ने रामचरितमानस और अन्य ग्रन्थों के माध्यम से सीता जी का 16 वर्ष की आयु में विवाह तथा भगवान श्रीराम की न्याय व्यवस्था आदि विभिन्न घटनाओं का उल्लेख कर समाज को नई दिशा देने का प्रयास किया। तुलसी के रामचरितमानस का उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का वर्णन करना मात्र नहीं था बल्कि राम के माध्यम से सामाजिक चेतना को प्रत्येक जन के अन्दर प्रस्फुटित करना था। तुलसीदास समाज में प्रचलित पन्थ व सम्प्रदाय के विरोधी थे। उनका मानना था इससे समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं

अन्धविश्वासों का खात्मा नहीं हो सकता बल्कि जनता के बीच पार्थक्य पैदा होता है। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अग्रलिखित कथन प्रासंगिक है— “लोकमर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्यादम्भ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद शास्त्र की निन्दा, ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामी जी की अन्तरात्मा बहुत व्यथित हुई।”⁵ इसलिए तुलसी ने रामराज्य का आदर्श और स्वराज्य के सिद्धान्त को समाज में स्थापित करने का प्रयास किया। रामराज्य की स्थापना का मेरुदण्ड वर्णाश्रम व्यवस्था थी। अतः छासोन्मुख वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया, क्योंकि उनकी धारणा यह थी कि यह व्यवस्था मानव समाज और जीवन को उन्नत एवं विकसित करती है। इस व्यवस्था में न तो शोषण है न ही अन्याय। लल्लन राय का सारगर्भित कथन इस संदर्भ में महत्वपूर्ण जान पड़ता है— “तुलसीदास के लिए मानव मात्र के लिए प्रेम, ईमानदारी, सच्चाई, सहानुभूति आदि से भी अधिक महत्वपूर्ण थी सामाजिक मर्यादा की रक्षा। इस सामाजिक मर्यादा का मूलाधार थी वर्णाश्रम व्यवस्था।..... इसकी सीमा में रहकर ही राम मानवी सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह करते हैं। तत्कालीन मानव सम्बन्धों की नैतिकता और उसके आचार-विचार का कहीं से भी उल्लंघन न करते हुए भी राम कोल-किरात, केवट, निषाद, गुह, शबरी आदि असभ्य और अछूत कहे जाने वाले लोगों को गले लगाते हैं। उनकी इस मनुष्यता से तत्कालीन मानव सम्बन्ध अत्यन्त घनीभूत होते हैं।”⁶ रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य के प्रसंग में उन्होंने इसी वर्णाश्रम धर्म में निरत समाज का उल्लेख हुआ है—

cjukJe fut&fut /kje] fujr on iFk ykxA
pyfg l nk ikofg l [kfg ufg Hk; lkd u jkxA

तुलसी ने राम से अनुराग और उनकी भक्ति के साथ-साथ शैव और वैष्णवों के बीच मध्यकालीन समाज में बढ़ी हुई दूरी को भी कम करने का प्रयास किया जो आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण कदम रहा। मध्ययुग में स्त्रियों की दशा दयनीय थी। शासकों की रूपलिप्सा बढ़ गयी थी और वे नारी को भोग का साधन मात्र मानते थे। पुरुषों में वासना वृत्ति प्रधान थी, वे कुलवन्ती नारियों को तो घर से निकाल देते थे जबकि दासियों को घर ले जाते थे। कोई भी व्यक्ति बहिन बेटी का विचार नहीं कर रहा था—

dyofr fudkjfg ukfj l rhA
xg vkufg pfj fuofj xrhAA
dfydky fogky fd, eutkA
ufg ekur dkm vu tk ru tkAA

रामचरितमानस का आम जन-जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं— “रामचरित के सौन्दर्य द्वारा तुलसीदास जी ने जनता को लोक धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नहीं हुआ। वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष रूप से साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संस्कार हुआ।”⁷

रामचरितमानस ग्रन्थ की सबसे उत्तम विशेषता यह है कि उसमें तत्कालीन समस्या के वर्णन के साथ-साथ उसके उचित समाधान को भी प्रस्तुत किया गया है। ‘कलि काल वर्णन’ के माध्यम से मध्यकालीन समाज की समस्या को, तो वहीं ‘रामराज्य प्रसंग’ में समाधान को भी प्रस्तुत किया गया है।

गोस्वामी जी ने अपनी काव्य रचना का मूल उद्देश्य ‘लोकमंगल’ स्वीकार किया है। लोक मंगल का विधान तभी हो सकता है जब समाज एवं परिवार में नैतिक मूल्यों की स्थापना हो तथा उदात्त जीवन मूल्यों पर सबका ध्यान केन्द्रित हो। रामचरितमानस में तुलसी की दृष्टि रामकथा के माध्यम से आदर्श जीवन मूल्यों की स्थापना करने की ओर केन्द्रित रही है। यही कारण है कि उसमें जीवन के विविध प्रसंगों का उल्लेख है और जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा नहीं हो सकी है। संक्षेप में कह सकते हैं कि भक्त कवियों में जितना तुलसीदास ने रामचरितमानस में मध्यकालीन भारतीय समाज का विशद वर्णन किया है। उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। वस्तुतः रामचरितमानस मध्यकालीन भारतीय समाज के वास्तविक रूप को जानने के लिए उत्तमस्रोत के रूप में उपलब्ध है।

l UnHk %

- 1 . लोकवादी तुलसीदास— विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : 2007, पहला आवृत्ति : 2011, भूमिका पृ0सं0 9
2. तुलसीदास— सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण—2009, पृ0सं0 38
3. तुलसीदास— सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण—2009, पृ0सं0 41
4. लोकवादी तुलसीदास— विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण : 2007, पहला आवृत्ति : 2011, पृ0सं0 23
5. गोस्वामी तुलसीदास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण—2015, पृ0सं0 28
6. तुलसी की साहित्य—साधना— लल्लन राय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण—2002, पृ0सं0 61
7. गोस्वामी तुलसीदास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण—2015, पृ0सं0 33



ikphu dky e Ćf"k ,o Ć"kd lek t dk voykdu fuy; dekj*

प्रत्येक प्राचीन समाज में कृषि एवं कृषक समाज की महत्वपूर्ण भूमिका दिखायी पड़ती है, विशेष रूप से भारत में। विश्व संदर्भ में जब कृषि के प्रारम्भ की चर्चा उठी तो यह समझा गया कि नवपाषाण काल में पहली बार मनुष्य कृषक एवं पशुपालक बना तो संस्कृति के पांच महत्वपूर्ण लक्षण बता गये – 1. कृषि, 2. पशुपालन, 3. किसी स्थल पर मनुष्य का स्थायी निवास, 4. मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग तथा 5. नोकदार कुल्हाड़ियों का प्रचलन, किन्तु अध्ययन के परवर्ती चरण में विशेषकर यूनान, तुर्की, पश्चिमी एशिया, ईरान, अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर भारत में जो साक्ष्य उपलब्ध हुए उनसे यह पता चला कि मिट्टी और बर्तनों का प्रयोग नवपाषाणिक संस्कृति के प्रारम्भ में विशिष्ट लक्षण नहीं था। ऐसे भी पाषाणिक स्थल प्रकाश में आए जहाँ में पर मिट्टी के बर्तन नहीं मिले। इसी तरह ओपदार कुल्हाड़ियों का प्रचलन भी इस संस्कृति के अपरिहार्य अंश के रूप में नहीं माना गया। भारतीय उपमहाद्वीप में किले-गुल-मुहम्मद, मेहरगढ़, बुर्जहोम आदि ऐसे स्थल हैं जहाँ पर नवपाषाणिक संस्कृति के साक्ष्य तो मिलते हैं लेकिन उसके साथ मिट्टी के बर्तन नहीं मिलते।

भारत में नवपाषाणिक संस्कृति के सम्बन्ध में क्षेत्रीय विविधता दिखायी पड़ती है। प्राप्त साक्ष्यों के आलोक में भारत में नवपाषाणिक संस्कृति का विभाजन क्षेत्रीयता के आधार पर 6 क्षेत्रों में किया गया है – 1. उत्तरी मध्य भारत, 2. कश्मीर, 3. मध्य गंगाघाटी, 4. उत्तरपूर्वी भारत 5. बिहार और उड़ीसा का पठारी क्षेपेत्र, 6. दक्षिण भारत, 7. उत्तर मध्य भारत तथा मध्य गंगा घाटी के क्षेत्र में इस संस्कृति से जुड़े कुछ स्थलों से प्राप्त होने वाली तिथियों से इस संस्कृति की प्राचीनता सातवीं-आठवीं सहस्राब्दी ई०पू० स्थापित करती है। उत्तर मध्य भारत के महत्वपूर्ण स्थलों में तिथिक्रम की दृष्टि से कोलिडहवा तथा टोकवा और मध्य गंगाघाटी के प्रमुख स्थानों में झूंसी और लहुरादेव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चोपनी माण्डो के उत्खनन से संस्कृति की जड़े मध्य पाषाण काल के परवर्ती चरण में देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए रहने के लिए झोपड़ियों का निर्माण, हाथ के बने मिट्टी के बर्तन, खाने में वन्य धान का प्रयोग आदि ऐसे तत्व हैं जो हमें कालान्तर में नवपाषाणिक संस्कृति में भी दिखायी पड़ते हैं। इसी तरह राजस्थान में बगोर जैसे स्थलों से प्राप्त साक्ष्यों से इस बात की पुष्टि होती है कि पशुपालन की प्रक्रिया भी मध्य पाषाण काल में प्रारम्भ हो चुकी थी। भारत में कश्मीर घाटी को छोड़कर समस्त नवपाषाणिक धरातल से मिट्टी के बर्तन प्राप्त होते हैं।

भारत में प्रारम्भिक नवपाषाणिक संस्कृति से धान की खेती के प्रमाण मिलते हैं। इसके साथ ही साथ संदर्भित क्षेत्रों में पाए जाने वाले अन्य धान्यों से भी कालान्तर में जब मध्यगंगाघाटी के लोगों का परिचय पश्चिमोत्तर भारत से हुआ तो जौ और गेहूँ की खेती का प्रारम्भ हो गया। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कृषि एवं पशुपालन का प्रारम्भ जिन क्षेत्रों से पहले हुआ वहाँ से प्राप्त होने वाले धान्यों एवं पशुओं के प्रति भी मनुष्य ने प्रारम्भिक प्रयोग किया।

उत्तरी मध्य विन्ध्य क्षेत्र और मध्यगंगाघाटी में चावल, वन्य धान्य के रूप में उपलब्ध था। स्वाभाविक था कि मनुष्य ने कालान्तर में इसी से कृषि का प्रारम्भ किया। इसी तरह भेड़, बकरी, सुअर और गाय जैसे पशुओं को पालतू बनाने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई क्योंकि ये भी इस क्षेत्र में उपलब्ध थे उत्तर मध्य भारत और मध्य गंगाघाटी के लोगों का परिचय जब पश्चिमोत्तर भारत के लोगों को धान की

*शोध छात्र, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

स्वाभाविक था कि ज्ञान के उस आयाम में उत्तर मध्य भारत और मध्यगंगाघाटी में चावल के साथ गेहूँ और जौ की भी खेती होने लगी तो पश्चिमोत्तर भारत में धान की।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तरह-तरह के वन्य धान्य उपलब्ध थे। स्वाभाविक था कि समय के प्रवाह के साथ उनकी कृषि प्रारम्भ हुई। इस तरह तरह-तरह के दलहन, तिलहन और मोटे अनाज भी मनुष्य की कृषि परिधि के अन्तर्गत आए। समय प्रवाह के साथ कृषकों को इस बात की जानकारी हुई कि अधिक उत्पादन के लिए कैसे नये प्रयोग कर सकते थे। बढ़ती हुई जनसंख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन अपरिहार्य हो गया।

भारतीय साहित्य के अवलोकन से यह पता चलता है कि भारतीयों के जीवन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं था जो कृषि से प्रभावित न रहा हो। उसके धार्मिक चिन्तन में कृषि की केन्द्रीय स्थिति दिखायी पड़ती है। ऐसे अनेक देवी देवता की परिकल्पना की गयी जो कृषि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान करते दिखाई पड़े। आज भी वर्षा के अभाव से कृषि कृषकों की स्थिति दयनीय हो जाती है। प्राचीनकाल में यह स्थिति और भी भयावह हो जाती रही होगी तभी हमें प्राचीन ग्रन्थों और अभिलेखों में अकालों की चर्चा परिचर्चा सुनाई पड़ती है। यह कहा जाता है कि ऐसे ही एक लम्बे अकाल की स्थिति में मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्माचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चला गया जहाँ पर आज के कर्नाटक में स्थित श्रवणबेल गोला नामक स्थल का जैन परम्परा के अनुसार तपस्या करते हुए उसने अन्तिम सांस ली। सोहगौरा और महास्थान के अभिलेखों से हमें इस बात की सूचना मिलती है कि किस तरह अकाल की स्थिति का सामना करने के लिए लोगों का अनाज के संग्रहण की व्यवस्था करनी चाहिए। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि तत्कालीन समाज वर्षा न होने के कारण दैवी आपदा से तो परिचित था ही लेकिन उसके साथ ही साथ ऐसी परिस्थिति से निपटने के लिए क्या कदम उठाने चाहिए, इससे भी वह परिचित था।

प्राचीन भारत से जुड़े साहित्य एवं तमाम अभिलेखों से इस बात की जानकारी मिलती है कि राजा कृषि की समुन्नति में पर्याप्त ध्यान देते थे। सिंचाई की समुचित व्यवस्था के लिए भी संवेदनशील थे। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से इस बात की जानकारी मिलती है कि उसने कलिंग में एक नहर का जीर्णोद्धार कराया था। इस संदर्भ में वह यह भी सूचना देता है कि उस नहर का निर्माण उसके समय से 300 वर्ष पूर्व इसे किसी नन्दराज ने कराया था। इस नन्दराज का समीकरण सामान्यताया महापद्मनन्द से किया जाता है, तो दूसरी तरह महाक्षत्र रुद्र दामन के गिरिनार क्षेत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के समय में सुदर्शन झील पर बांध बनाने की सूचना मिलती है। उद्देश्य स्पष्ट था कि इस झील के पानी में सिंचाई की व्यवस्था हो सके। रुद्रदामन के अभिलेख से यह पता चलता है कि झील के छतिग्रस्त हो जाने पर उसने राजकीय कोष से स्वयं उसका निर्माण कराया। जनता पर कर का बोझ नहीं डाला। गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के समय में इस सुदर्शन झील के सन्दर्भ में सूचना मिलती है। इससे यह पता चलता है कि चतुर्थ शताब्दी ई०पू० से लेकर पांचवी शताब्दी ई० तक विभिन्न राजवंश गुजरात के गिरिनार क्षेत्र में एक सरोवर के निर्माण में सक्रिय दिखायी पड़ते हैं। इससे अनुमान लगा सकते हैं कि कृषि से जुड़े लोगों के लिए उनके मन में किस तरह की भावना रहीं होंगी।

कृषि को नुकसान पहुँचाने वालों के प्रति कड़े दण्ड विधान की सूचना विभिन्न ग्रन्थों से मिलती है। शासक सजग और प्रयत्नशील थे कि कृषि कार्य से जुड़े लोगों को कोई नुकसान न पहुँचाएँ और वे निर्वाध रूप से अपने व्यवसाय में लगे रहें। कारण स्पष्ट था कि भोजन सबकी अपरिहार्य आवश्यकता थी और उत्पादन का यह कार्य कृषक ही कर सकता था।

भारत में समय-समय पर तरह-तरह के धार्मिक आन्दोलनों के बारे में सूचना मिलती है। इन आन्दोलनों के पीछे भी कृषक समाज की प्रस्तुत भूमिका दिखायी पड़ती है। नानक द्वारा प्रवर्तित सिख धर्म यदि अपने समय का एक प्रमुख आन्दोलन बन सका तो इसके पीछे पंजाब के कृषकों का उसके साथ सहयोग की बात थी। इतना ही नहीं भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भी कृषकों की महत्वपूर्ण भूमिका दिखायी देती है। गाँधी जी की स्पष्ट धारणा थी कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम को सफल बनाने के लिए

देश के बहुसंख्यक वर्ग जो कि निश्चित रूप से कृषक वर्ग था, को जोड़ना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने सामान्य लोगों की तरह न केवल परिधान धारण किए, अपितु जनभाषा में अपनी बातें कही। स्वाभाविक था कि उनके इस नए प्रयोगों को दूरगामी परिणाम हुआ।

Unmesh

1. सिंह, भगवान — हड़प्प सभ्यता और वैदिक सभ्यता।
2. पाण्डेय, कुमार अनिल— प्राचीन भारत में कृषि ज्ञान, दुबे वी०के०—पाण्डेय नीलम
3. सिंह, परमानन्द— बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज
4. जातक भाग—1, 39/327
5. आवदानशतक —1/293/9: सत्तनिता पृष्ठ 171
6. मिश्रा, वी०डी० 1988: इलाहाबाद जनपद में प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि पृ०—19
7. शर्मा, जी०आर० 1973 : मेसोलिथिक, लेक कल्चर्स इन दि गंगा वैली, प्रोसिडिंग ऑफ दि प्रीहिस्टारिक सोसायटी, वाल्यूम—39, पृष्ठ—129,130.
8. आलूर, के०आर० 1980 फाइनल रिमेन्स फ्राम दी विंध्याज एण्ड दि गंगा वैली, जी०आर०शर्मा, वी०डी० मिश्र, डी०मण्डल बी०बी०मिश्र और जे०एन०पाल कृत विगनिग्स ऑफ एग्रीकल्चर में, इलाहाबाद।
9. इण्डियन आर्कियोलॉजी ए रिव्यू 1977—78, भा०पु०सर्वेक्षण विभाग, नई दिल्ली।



Lkek t dk;| vH;k l e ikfjokfjd okrkoj.k dk egÙo ihfr flg*

काफी लम्बे समय से समाजकार्य और सामाजिक कार्यकर्ता परिवार से सम्बन्धित रहे हैं। परिवार मुख्य रूप से सामाजिक सेवाओं के अभिकरण के रूप में वर्णित हैं, जो सदस्यों की सामाजिक, शैक्षणिक व स्वास्थ्य सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। खुद को व्यवस्थित करने में तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में परिवारों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। कई परिवार गरीबी-आवासविहीनता, अपराध तथा मादक द्रव्य व्यसन से परेशान हैं। परिवार एक ऐसी व्यवस्था है, जहाँ एक सदस्य का अनुभव दूसरे को प्रभावित करता है। परिवार जीवन चक्र के रूप में चलता रहता है। विवाह होना बच्चों का जन्म लेना, बच्चों का स्कूल कार्यस्थल पर जाना, फिर पहले बच्चे का विवाह तथा माता पिता का वृद्ध होना व उनकी मृत्यु होना इत्यादि। परिवार में हुये इतने परिवर्तनों के कारण तथा बदलती भूमिकाओं के कारण काफी तनाव बढ़ जाता है तथा ऐसे में परिवार को व्यावसायिक व्यक्ति के मदद की आवश्यकता महसूस होती है तथा समाजकार्य हस्तक्षेप की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः पारिवारिक वातावरण में समाजकार्य अभ्यास का महत्व भी बढ़ जाता है।

समाज के सदस्यों के व्यक्तित्व के विकास में परिवार महत्वपूर्ण कार्य करता है। सामाजिक विकास में परिवार का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण योगदान रहता है। परिवार का यह योगदान व्यक्ति जीवन में परिवार की अनुपमीयता के कारण ही महत्वपूर्ण है। परिवार तभी अच्छा कार्य करता है, जब उनके सदस्य परिवार के प्रति अच्छा अनुभव करते हैं और उनके सम्बन्धों में मधुरता रहती है। तब वे पूरे परिवार की जिम्मेदारी एक इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः मजबूत परिवार के कुछ लक्षण हैं जो पारिवारिक वातावरण को सकारात्मक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जैसे – परिवार में सराहना, एक दूसरे के साथ समय बिताना, अच्छी संवाद शैली, वचनबद्धता तथा जिम्मेदारी, धार्मिक अनुकूलता का उच्च स्तर तथा संकट के समय सकारात्मक रूप से हस्तक्षेप करने की योग्यता इत्यादि।

समाजकार्य भी व्यक्ति, परिवार तथा समुदाय के साथ कार्य करता है और परिवार के माहौल को सकारात्मक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाजकार्य अभ्यास में पारिवारिक वातावरण इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि पारिवारिक वातावरण समाजकार्य की प्रयोगशाला है।

ikfjokfjd okrkoj.k ‖ व्यक्ति सामाजिक वातावरण के बहुत ही जटिल जैविक संरचना में जन्म लेता है। सामाजिक वातावरण में रहते हुये वह व्यक्ति स्वयं के रूप में खुद को विकसित करता है। बच्चा एक जटिल संरचना के बीच विकसित होता है जो कई स्तरों पर उनके आस-पास के घिरे हुए वातावरण से प्रभावित होता है।

पारिवारिक वातावरण इन तत्वों से मिलकर बना है और समाजकार्य इन्हीं तत्वों के बीच कार्य करता है। अतः पारिवारिक वातावरण का समाजकार्य अभ्यास में महत्वपूर्ण योगदान है।

l ek t dk;| ‖ Farley and Smith (2006-07) ने बताया कि “समाजकार्य एक कला है, एक विज्ञान और एक व्यवसाय है जो व्यक्तियों की व्यक्तिगत रूप से, समूह में (विशेषतः परिवार) और सामुदायिक समस्याओं के निवारण के द्वारा व्यक्तिगत, सामूहिक और सामुदायिक सम्बन्धों में संतोषप्रद अनुभूति करता है।” समाजकार्य एक व्यवसाय है जो सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देता है। मानवीय सम्बन्धों की

समस्याओं को हल करता है तथा व्यक्तियों की कुशलता को बढ़ाने के लिए उनको सशक्त और उदार बनाता है। मानव व्यवहार एवं सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्तों के प्रयोग में समाजकार्य हस्तक्षेप करता है। मानव अधिकारों का सिद्धान्त और सामाजिक न्याय समाजकार्य के मूल आधार है। (International Association of School of Social Work 2001) समाजकार्य व्यक्ति, समूह तथा समुदाय के व्यक्तिगत और सामाजिक संतुष्टि को सुरक्षित करने की एक व्यवस्था व संगठित प्रयास है। इसका तरीका स्वेच्छिक, सरकारी या दोनों का संयोजन हो सकता है। अपने विभिन्न रूपों में समाजकार्य लोगों और उनके वातावरण के बीच कई जटिल समस्याओं का समाधान करता है इसका मुख्य उद्देश्य लोगों को सक्षम बनाना है। ताकि उनकी पूरी क्षमता का विकास हो सके उनके जीवन को समृद्ध और रोगमुक्त बनाया जा सके। परम्परागत ढंग से समाजकार्य तीन प्रमुख श्रेणियों में कार्य करता है।

1. *Individual* परम्परागत रूप से यह उपागम व्यक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करता है जो जीवन में सामान्य रूप से समायोजित नहीं हो पाते हैं। व्यक्ति पारिवारिक वातावरण का भी केन्द्र बिन्दु होता है। समाजकार्य व्यवसाय का दो मुख्य लक्ष्य है एक उन व्यक्तियों की मदद करना जो बहुत मुश्किल में है। इसे माइक्रो (सूक्ष्म अभ्यास) या नैदानिक समाजकार्य के रूप में जाना जाता है। इसका दूसरा लक्ष्य सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित है। इसे मैक्रो अभ्यास के रूप में जाना जाता है। यानि समाजकार्य पारिवारिक वातावरण के दो स्तरों माइक्रो और मैक्रो स्तर पर कार्य करता है। जैसे— (1) व्यक्ति व परिवार की क्षमता और आवश्यकता की पहचान करना। (2) उनको समुचित सम्बल व सुविधा देने का कार्यक्रम विकसित करना (3) विकसित कार्यक्रम को प्रभावी बनाने के लिए सामुदायिक संसाधनों का प्रयोग करना। (4) सेवाओं के प्रावधान पर नजर रखना और समन्वय स्थापित करना। (5) सेवार्थी की प्रगति का मूल्यांकन करना और सेवाओं की आवश्यकता को निर्धारित करने का कार्यक्रम बनाना।

2. *Group* समूह कार्य का उद्देश्य परिपक्व सम्बन्धों, आत्म जागरूकता और अपनेपन की भावना के माध्यम से समूह सदस्यों की प्रकार्यात्मकता को बढ़ाना है। पारिवारिक वातावरण में मेसो सिस्टम में विभिन्न समूह स्थित है। सामाजिक समूह कार्य में छोटे समूह अन्तःक्रिया का इस्तेमाल एक तंत्र के रूप में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है। यह शिक्षा, संवर्द्धन, सामाजिक सुधार पर केन्द्रित है। यह सिखने, संयुक्त कार्यवाही का निर्माण, सशक्तिकरण और बदलाव के लिए अवसर प्रदान करता है।

3. *Community* यह केवल व्यक्ति और उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित नहीं करती है और न ही समूह के रूप में बल्कि पूरे समुदाय के लिए कल्याणकारी आवश्यकताओं पर ध्यान देती है। इसका मुख्य उद्देश्य समुदाय की आत्मनिर्भरता और इसके विकास को बनाये रखने के लिए अपनी क्षमता बढ़ाने की है। अपने स्वभाव से समुदायिक संगठन बड़े समूहों में और संगठनात्मक इकाइयों में परिवर्तन उत्पन्न करता है, जो वातावरण में व्यक्तिगत भलाई को प्रभावित करती है। समुदायिक संगठन लोगों के कौशल प्रभावकारिता, सक्षमता, मूल्य और उनकी भावनाओं को विकसित करने में मदद करता है। यह निरन्तर सामाजिक बदलाव के लिए क्षमता पैदा करता है।

समाजकार्य की द्वितीयक विधियाँ भी व्यक्ति, समूह व समुदाय के बीच कार्य करने के लिए सम्बल प्रदान करती है और सहयोगी व्यवस्था के रूप में कार्य करती है।

पल्लमैन ने समाजकार्य के जो चार तत्व—व्यक्ति, समस्या, स्थान व प्रक्रिया के बारे में बताया वो भी पारिवारिक वातावरण से सम्बन्धित है, क्योंकि व्यक्ति वातावरण का केन्द्र बिन्दु है और समस्या का सम्बन्ध भी व्यक्ति से ही है। स्थान के रूप में वातावरण ही प्रयोगशाला है तथा जो भी पारिवारिक प्रक्रिया है वो भी व्यक्ति, समूह तथा समुदाय से ही सम्बन्धित है और ये सब वातावरण का ही हिस्सा है। समाजकार्य अभ्यास का स्तर भी माइक्रो स्तर पर व्यक्तियों तथा परिवारों के साथ सीधे अभ्यास, मेजो स्तर पर समूह के साथ मेक्रो स्तर पर संगठन तथा समुदाय के साथ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है, पारिवारिक वातावरण समाजकार्य अभ्यास का एक क्षेत्र है ऐतिहासिक रूप से समाजकार्य का अधिकतर उपागम परिवार से सम्बन्धित रहे हैं तथा उनका केन्द्र बिन्दु

व्यक्ति और उसकी समस्याएँ रही हैं। अतः समाजकार्य अभ्यास में पारिवारिक वातावरण की भूमिका महत्वपूर्ण है।

I UnHk %

1. Theresa, J. Early and Linnea, Glen Maye (2000): "Valuing Families: Social work practice with families from a strengths perspective". National Association of Social Workers, Inc Social Work, Volume 45 PP.118-130.
2. Germain, C.B. (1968): "Social Study : Past and Future, Social Case Work". 49-403-409.
3. Werbach, G.B. (1996): "Family, strengths based in tense child case management Families in society". 77, 216-226.
4. Pardeck, Jonh T. (2015): "An Ecological Approach for Social Work practice". The journal of sociology & Social Welfare, Vol.15: ISS 2, Article – 2 p. 133-144.
5. Rwomire Apollo. (2015): "The Role of Social work in national Development". Report meant of Social work University of Bots wana, Vol 1.



हकीकत; विचार; विचारों की भाषा

मनो विचार; विचारों की भाषा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसे अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा की आवश्यकता पड़ती है और भाषा को संग्रहीत कर साहित्य का रूप दे दिया जाता है। भाषा के द्वारा मनुष्य को पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे बुद्धिमान प्राणी माना जाता है। भाषा के अभाव में मनुष्य भी पशु की श्रेणी में आ सकता है अर्थात् भाषा के अभाव में मनुष्य की रचना का कोई मतलब ही नहीं है। भाषा के द्वारा मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन और समाज को देख सकता है। भाषा की उत्पत्ति मानव के द्वारा ही हुई है यह उसकी अमूल्य निधि है।

व्यक्ति के मन में उत्पन्न भाव एवं विचार वर्ण एवं भाषा का रूप धारण कर समाज में आते हैं और साहित्य बन जाने हैं। भाषा सम्बन्ध में बाबू गुलाब राय के विचार हैं कि भाषा के कारण विचारों में अमरत्व मिलता है। उत्तम भाषा में प्रकट किये हुए मानव समाज के उत्तमोत्तम विचार संग्रहीत होकर साहित्य का रूप धारण करते हैं। विचारों के द्वारा व्यक्ति प्रगति के तरफ अग्रसित होता है। साहित्य को अक्षर वाङ्मय भी कहा जाता है। अगर साहित्य का निर्माण नहीं होता तो मनुष्य के सभी विचार एवं भाव पानी के बुलबुले की तरह होता है जो पल भर में समाप्त हो जाता है। विचारों को गति एवं ऊर्जा देने की योग्यता केवल साहित्य में होती है। साहित्य मानव जीवन के दुःख सुख का साथी होता है। साहित्य के बिना व्यक्ति का जीवन नीरस एवं कुण्ठित हो जायेगा। साहित्य पर ही राष्ट्र एवं समाज का उत्थान एवं पतन आश्रित होता है। साहित्य को मानव प्राणी तक पहुँचाना समाज के लिए अनिवार्य होता है और यह कार्य साहित्य के द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है। मानव और समाज दोनों साहित्य के लिए पूरक माने जाते हैं। इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। क्योंकि समाज की सभी गुण अवगुण रुपी चेहरा साहित्य रुपी दर्पण में सरलता से दिखाई देता है। सामाजिक समस्याएँ रुढ़ियाँ परम्पराएँ एवं सामाजिक मूल्य को संरक्षित एवं सुरक्षित रखने का दायित्व साहित्य का होता है। साहित्य के द्वारा ही भाषा में स्थायित्व आता है। विश्व में उसी भाषा का मान सम्मान किया जाता है जिस राष्ट्र के पास स्वयं का निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र साहित्य का भण्डार होता है। इसलिए भाषा के सम्बंध में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कहाँ है कि 'निज भाषा उन्नति अहे सब उन्नति के मूल।'

भाषा को साहित्य का रूप आकार देने वाले साहित्यकार सिर्फ साहित्य के प्रतिनिधि नहीं होते बल्कि वे समाज का मन और मस्तिष्क दोनों होते हैं। उनकी भाव और भाषा समाज के भाव और भाषा होते हैं। वे समाज के भावों एवं विचारों को व्यक्त कर सजीव और मजबूत आकार देते हैं। राष्ट्र एवं समाज के लिए साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। व्यक्तित्व का निर्माण विकास एवं उसका प्रचार-प्रसार करने के लिए साहित्य आवश्यक होता है। साहित्य व्यक्तित्व गुण उत्पन्न कर मानव को आदर्श मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है एवं हमारा मनोरंजन कर हमारे जीवन को आनन्दमय एवं सरल बनाता है। साहित्य समाज का दर्पण होता है इसलिए इसमें व्यक्ति के तीनों काल भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल के सामाजिक मूल्यों को सरलता से देख सकते हैं। भारत एक राष्ट्र है इसमें व्यक्ति के तीनों काल भूतकाल भविष्यकाल और वर्तमान काल के सामाजिक मूल्यों को सरलता से देख सकते हैं।

भारत एक राष्ट्र है इसमें अनेकों भाषा एवं बोलियाँ बोली जाती हैं। भारतीय संविधान में कुल 27 भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अनुच्छेद 345 और 346 के अंतर्गत स्थान दिया गया है। भारतीय

संस्कृति में प्राचीन से लेकर वर्तमान समय की स्थिति, परिस्थिति, भूमिका एवं पारम्परिक मान्यता एवं रुढ़ियों में परिवर्तन हुआ है। नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों में भी बदलाव आया है। यह आज के मानव समाज की आवश्यकता बन गया है। मानव एवं मानव समाज के विकास के लिए सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्तन होना और मानव को इसके अनुसार बदलना या चलना अनिवार्य होता है। अगर मानव सभ्यता एवं संस्कृति के साथ नहीं चलता या बदलता है तो वह समाज से पीछे छूट जाता है या उसका विकास रुक जाता है और पतन के तरफ अग्रसर हो जाता है।

वर्तमान समय में आधुनिकता से मानव के वेश-भूषा, रहन सहन, मनोरंजन रोजमर्रा के कार्य एवं शैक्षिक जगत में बदलाव दिन प्रतिदिन होता जा रहा है और इस बदलाव से स्त्री जीवन में भी विकास हुआ है पर उतना नहीं विकास हुआ है जितना होना चाहिए, केवल परिवर्तन का रूप बदला है। आज भी स्त्रियों के प्रति शोषण एवं अत्याचार हो रहे हैं। क्योंकि आज भी स्त्रियों का मनमस्तिष्क प्राचीन काल के रुढ़ियों और सामाजिक मूल्यों से जकड़ा हुआ है। आज भी भारतीय समाज में महिलाएँ अनेक अवरोधों से त्रस्त हैं। कभी वह देवी और शक्ति के रूप में परिभाषित हुई तो कभी अबला और मोहमाया के रूप में संबोधित हुई और इन धारणाओं के द्वारा स्त्री का उन्नति एवं उत्थान उलझ कर रह गया है। कभी उसे मानव रूप में देखने और समझने का प्रयास पुरुष प्रधान समाज ने नहीं किया। धार्मिक और आध्यात्मिक धारणा भी स्त्री जीवन के लिए एक कठिनाई ही है। भारतीय संस्कृति अति प्राचीन होने के कारण इसमें स्त्री के अनेक रूप रचे गये और उसके मूल व्यवहारिक एवं व्यक्तिगत रूप को सोचने समझने में अनेकों कठिनाईयाँ आयी और इस प्रकार स्त्री के व्यक्तित्व को समझना एक कठिन कार्य हो गया।

भारतीय इतिहास की शुरुआत स्त्री के मातृसत्तात्मक शासन व्यवस्था से प्रारम्भ होता है। सभ्यता और संस्कृति के मूल रूप में स्त्री है और धीरे-धीरे शासन व्यवस्था स्त्री के हाथ से पुरुष के हाथ में चली गयी और मातृसत्तात्मक से पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्थापित हो गया। अतः इस तरह से स्त्री का विकास एक हाशिए पर जाकर रुक गया। सिंधु घाटी सभ्यता एवं संस्कृति के समय स्त्री की स्थिति उच्च थी। आर्यों के आगमन और वैदिक काल के बाद से स्त्रियों के स्थिति में बदलाव हुआ। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा सभी लोगों से हटकर कुछ विशेष वर्ग एवं घरों तक सीमित हो गयी। जिसमें से कुछ विदुषी महिलाओं के नाम हैं जैसे गार्गी अपाला घोषा एवं लोपमुद्रा आदि जिन्होंने उस समय शिक्षा ग्रहण कर पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ की। महाभारत एवं रामायण के समय में स्त्री के अधिकार को कम कर या सीमित कर मनु के बनाये नियम कानून को लागू कर दिया गया। स्त्री को घर के चारदिवारी के अंदर कैद कर या घर तक सीमित कर शिक्षा से वंचित कर उसे केवल भोग एवं मनोरंजन की वस्तु बना दिया गया। पति धर्म सर्वश्रेष्ठ बता कर उनके इशारों पर चलने को कहा गया। किशोरियों बालिकाओं एवं नई उम्र की विधवाओं को मंदिरों में देवदासी बना कर उनके साथ वेश्यावृत्ति का धंधा शुरू हुआ। मनु नियम के तहत स्त्री पिता भाई पति और पुत्र पर आश्रित एवं अधीन हो गयी। वह पुरुष के साथ-साथ चलने वाली न होकर पीछे-पीछे चलने वाली बन गयी।

मध्य काल अथवा मुगल काल में स्त्री की स्थिति और ज्यादा दयनीय हो गयी। इस समय स्त्री को अनेकों सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक बंधनों में जकड़ दिया गया। जिससे स्त्री पुरुष के लिए मात्र परछाई बन कर रह गयी और उसका स्तीत्व धीरे-धीरे समाप्त होता गया। इस समय स्त्री शिक्षा को समाप्त कर पर्दा प्रथा बाल विवाह सती प्रथा और कन्या शिशु हत्या का प्रचलन शुरू हुआ। मध्य काल के इतिहास में भी कुछ ऐसी महिलाएँ हुई जो स्त्री होकर भी इतिहास के पन्नों पर अपना नाम स्वर्णिम अक्षरों में दर्ज करा चुकी है। जैसे रजिया सुल्ताना, चाँद बीबी, ताराबाई, अहिल्या बाई, लक्ष्मी बाई और वीरांगना झलकारी बाई। इन बहादुर स्त्रियों ने बहुत ही बहादुरी के साथ पुरुष वादी व्यवस्था में शासनसत्ता एवं युद्ध क्षेत्र को सम्भाला। फिर भी कुछ स्त्रियों के विकास से या प्रगति से सम्पूर्ण भारतीय समाज या राष्ट्र का विकास या उन्नति संभव नहीं है। इस सम्बंध में प्लेटो ने कहा था कि स्त्रियों की मानसिक शक्तियाँ चूल्हे-चौके में बरबाद होती हैं।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के भारत में आगमन के बाद एवं अंग्रेजों के शासन काल में भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए। यह भारतीय समाज का पुनर्जागरण काल का समय था। इस समय अशिक्षा अंधविश्वास पाखण्ड एवं छुआ-छूत को दूर कर समानता लाने का प्रयास किया जा रहा था। सती प्रथा बाल विवाह एवं विधवा विवाह का विरोध हुआ। राजा राममोहन राय ईश्वर चंद्र विद्यासागर महात्मा गांधी और स्वामी विवेकानंद के द्वारा इस पर प्रतिबंध लगाया गया जिसके कारण स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ।

भारतीय स्वतन्त्रता के बाद डॉ० भीम राव अम्बेडकर द्वारा लिखे भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार एवं मौलिक कर्तव्य को लागू किया जिसके वजह से भारतीय समाज में सबको समान अधिकार और समान स्वतन्त्रता की आजादी दी गयी चाहे ओ स्त्री हो या पुरुष। स्त्रियों की स्थिति को अधिक बेहतर मजबूत करने के लिए डॉ० भीम राव अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल लिख कर लागू करवाये। जिसकी वजह से आज स्त्रियों की स्थिति में अथवा उनके उन्नति एवं उत्थान में तीव्र गति से प्रगति हो रहा है। क्यों कि डॉ० अम्बेडकर ने स्त्रियों को राष्ट्र का निर्माता बताया है। जिसके वजह से आज स्त्रियाँ सागर से लेकर आकाश तक अपनी पहुँच बना रही हैं। अरस्तू ने कहा है कि नारी के उन्नति और अवनति पर ही राष्ट्र की उन्नति और अवनति निर्धारित है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में भी स्त्री की भूमिका को पुरुषों के समान लाने का प्रयास किया गया। शिक्षा के द्वारा अनेकों अंधविश्वास एवं कुरीतियों को दूर कर नए-नए सामंजस्य को अपनाया गया क्योंकि कोई भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन बिना विरोध एवं तनाव के नहीं हो सकता और नये समाज निर्माण के लिए इन अवरोधों से गुजरना निश्चित है। आज नारी जागरुकता से भारतीय समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ रहे हैं।

I UnHk %

1. बनसोडे, डॉ० सुनील बापू. 2015; साहित्य समाज और हिन्दी सिनेमा, शुभम पब्लिकेशन, कानपुर, पृ० 22-26
2. परमार, डॉ० तारा. 2002; महिला सृजन क विविध आयाम, भारतीय दलित साहित्य आकादमी, मध्य प्रदेश, पृ० 127-132



हकीर ऐक्य फोकस दृष्टि की लेख वर्कद देज*

iLrkouk : यह सचमुच चिंतित कर देने वाली बात है कि विकास की दुहाई देने वाले भारत जैसे देश में अब भी बड़ी संख्या में बाल विवाह हो रहे हैं। बाल विवाह एक ऐसा अपराध है, जो होने से पहले अवैध है लेकिन होते ही वैध मान लिया जाता है। बाल विवाह के कारण समाज को कई समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जैसे— बच्चों की शिक्षा में बाधा तथा ड्राप आउट का बढ़ना, प्रतिभाशाली बच्चों के उन्नति के रास्ते अवरुद्ध होना, कम उम्र में गर्भधारण के मामलों में वृद्धि होना, समय से पूर्व प्रसव की अधिक घटनाओं का बढ़ना, माताओं व शिशु मृत्यु दर व रुग्णता दर में वृद्धि होना, घरेलू हिंसा और लिंग आधारित हिंसा में वृद्धि होना, बाल मजदूरी और कामकाजी बच्चों का शोषण तथा बच्चों पर समय से पहले घरेलू कामकाज की जिम्मेदारी आदि।

बाल विवाह का शाब्दिक अर्थ है कम उम्र में शादी। बाल विवाह का तात्पर्य ऐसे विवाह से है जिसका कोई भी संविदाकारी पक्षकार बालक हो।¹ अर्थात् 21 वर्ष से कम आयु के लड़के और 18 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह होना, बाल विवाह माना जाता है। भारत में बाल विवाह की प्रथा अत्यधिक पुरानी है, लाख कोशिश के बाद भी अपने देश में यह कुप्रथा समाप्त नहीं हो पाई है। यह सभ्य समाज के मुँह पर एक तमाचा है।

बाल विवाह निषेध अनिनियम, 2006 में बाल विवाह को घोर दण्डात्मक माना गया है। इसके बावजूद एक रिपोर्ट बताती है कि दुनिया के 40 प्रतिशत बाल विवाह भारत में ही होते हैं। बालिका वधू जैसा धारावाहिकों में भी इसके दुष्परिणाम को दिखाया गया है। बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ कार्यक्रमों के प्रचलन के बाद भी देश में 18 प्रतिशत बालिकाओं की शादी 15 वर्ष से कम उम्र में कर दी जाती है और 47 प्रतिशत बालिकाओं की शादी 18 वर्ष से कम उम्र में कर दी जाती है।² चाइल्ड राइट एण्ड यू (क्राई) 2011 की जनगणना के अनुसार, प्रत्येक वर्ष 15 मिलियन विवाह वैध उम्र से पहले हो जाते हैं। भारत बाल विवाह के मामले में विश्व में दूसरे स्थान पर है।³ मार्च 2015 में जारी भारत की जनगणना— 2011 के कुछ खास आंकड़े बताते हैं कि इस समय देश में 1.21 करोड़ लोगों का बाल विवाह हुआ है।⁴ राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार, भारत में बाल विवाह का सर्वाधिक प्रचलन बिहार तथा सबसे कम प्रचलन गोवा में है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड के आंकड़े बताते हैं कि तमाम राज्यों को मिलाकर 2013 में 222 और 2014 में 280 बाल विवाह के प्रकरण दर्ज हुए हैं।

cky fookg dk ifjr dju oky dkjd भारत धर्मशास्त्रों में एक ओर कहा गया है कि कन्याओं के विवाह उनके राजस्वला होने के पूर्व कर देना चाहिए।⁵ दूसरी ओर पुरुष के लिए यह विधान बनाया गया है कि वह बिना ब्रम्हचर्य आश्रम पूर्ण किये विवाह नहीं कर सकता। इससे यह प्रतीत होता है कि आरंभिक काल में अल्पायु कन्याओं के विवाह यदा—कदा होते थे परन्तु आगे चलकर निम्नलिखित कारकों ने बाल विवाह को प्रेरित किया—

1- efgykvk dh f'k{kkij gku oky 0; ; I NVdkjk सामान्यता परिवार लड़के लड़कियों की शिक्षा पर होने वाले व्यय में विभेद करते हैं। लड़के भविष्य निधि व परिवार का आर्थिक आधार समझे जाते हैं, जबकि लड़कियाँ परिवार पर बोझ व शादी के बाद किसी और की सम्पत्ति मानी जाती हैं। लोग सोचते

*शोध छात्र, विधि संकाय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हैं कि लड़कियों की शिक्षा पर होने वाले व्यय से कैसे बचा जाये और जल्दी शादी को इसका आसान उपाय समझते हैं।

2- *ngt iFkk dī dkj.k* ‖ बात जब विवाह की हो ऐसा माना जाता है कि पति को पत्नी की अपेक्षा ज्यादा शिक्षित और सामर्थ्यवान होना चाहिए। यदि वधू ज्यादा पढ़ी-लिखी रहेगी तो वर ज्यादा पढ़ा-लिखा ढूँढ़ना होगा जिसका परिणाम स्वरूप ज्यादा दहेज देना आवश्यक हो जायेगा। लोगों का माना है कि लड़कियों को शिक्षित करने की अपेक्षा यौवनावस्था से कम उम्र में शादी कर देना दहेज देने से बचने का आसान उपाय है।

3- *ikfjokfjd xjhch* ‖ पारिवारिक गरीबी से मुख्यतया लड़कियाँ शोषित होती हैं। अतः लड़कियों के बोझ से बचने के लिए सामान्यतः परिवार बाल विवाह का सहारा लेता है। पश्चिम बंगाल के कुछ जिलों में लोग अपनी लड़कियों की शादी कम उम्र में सिर्फ इसलिए कर देते हैं कि उसके ससुराल चले जाने से दो जन की रोटी बचेगी।⁶

4- *ilrd līfŪk eī fgLi lī cpko* ‖ पैतृक संपत्ति में महिलाओं की हिस्सेदारी का अधिकार भी एक कारक है जो कुछ हद तक बाल विवाह को बढ़ावा देता है। यदि किसी लड़की की शादी जल्दी कर दी जाती है तो वह संपत्ति में अपना अधिकार नहीं माँगती है। पुरुष उत्तराधिकारियों को लाभ पहुँचाने के लिए व्यवहार में, संवैधानिक प्रावधान के बावजूद, बाल विवाह के द्वारा महिलाओं को संपत्ति में अधिकार नहीं दिया जाता।

5- *lkeft d v līj{kk}* ‖ सामाजिक असुरक्षा भी बाल विवाह प्रथा के लिए उत्तरदायी कारक है। ऐसी सामान्य धारणा है कि विवाहित महिलायें अविवाहित महिलाओं की अपेक्षा ज्यादा सुरक्षित होती हैं लोग अविवाहित महिलाओं को गलत नजरिये से देखते हैं।

6- *,dkfHkHkkod ifjokj* ‖ कुछ परिवार एक अभिभावक वाले होते हैं, जो कि उन्हें लड़कियों की शादी करने के लिए बाध्य करता है। यह केवल एक बहाना है।

7- *ik= dk n[ku dh pkg* ‖ बाल विवाह को प्रेरित करने वाले कारकों में एक कारक यह भी है कि बड़े बुजुर्गों को अपने पौत्रों को देखने की चाह होती है, इसलिए वे कम आयु में ही बच्चों की शादी कर देते हैं। जिससे की वे मरने से पहले अपने पौत्रों के साथ कुछ समय बिता सकें।

8- *dīFkk, lī* ‖ भारत में अक्षय तृतीय (बैशाख का तीसरा दिन) का दिन उन बच्चों के लिए काला दिवस है क्योंकि इस दिन कई समाजों में सामूहिक बाल विवाह का चलन है।

कई समुदायों में दहेज प्रथा के बदले वधू की कीमत जैसी मान्यताएं हैं जिसमें वर के परिवार के लोग वधू के परिवार को वधू के बदले में धन देना पड़ता है। लोग अपनी बेटियों की शादी जल्दी करना चाहते हैं ताकि उन्हें धन मिल सके।

बाल विवाह का समाज पर निम्नलिखित प्रभाव दिखाई देता है –

1. बाल विवाह से एक सबसे बड़ा नुकसान उनकी शिक्षा पर पड़ रहा है। जिन बच्चों या बच्चियों का विवाह होता है, वे अगर स्कूल भी जा रहे होते हैं तो सबसे पहले उनकी पढ़ाई छूट जाती है और वे गरिमामय जीवन से वंचित रह जाते हैं, शैक्षिक कौशल विकसित न होने कुशल मानव संसाधन नहीं बन पाते तथा वह जनसंख्या जो राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में योगदान दे सकती थी, अधः पतन में योगदान देने लगती है।

2. छोटी उम्र में विवाह से लड़कियों को लड़कों की अपेक्षा अधिक हानि उठानी पड़ती है। असुरक्षित यौनसंबंधों से उनके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप उन्हें अनेक गंभीर बीमारियों का सामना करना पड़ता है। बाल विवाह के कारण बार-बार गर्भधारण और असमय गर्भपात का सामना करना पड़ता है। नवजात शिशु के भी अकाल मृत्यु का शिकार होने का अंदेशा बना रहता है। कुपोषण और खून की कमी से माँ और बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. कम उम्र में विवाह से एक बड़ा नुकसान यह होता है कि तमाम प्रतिभाएं अविकसित रह जाती हैं कितनी ही प्रतिभाशाली लड़कियों के उन्नति के रास्त बंद हो जाते हैं।

4. एक बाद शादी होने के बाद, बेटी को अपना घर छोड़ने के लिए और दूसरों के साथ दूसरे स्थान पर रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जहां उसे उन सभी भूमिकाओं का निर्वहन करना होता है जिसके लिए वह मानसिक रूप से तैयार नहीं होती है। इस नाबालिक लड़की के लिए माँ और बहू की जिम्मेदारी निभाना बहुत बड़ी बात है। ये अंत में अलगाव और अवसाद की ओर ले जाता है। पुरुषों के लिए भी जिम्मेदारियों का निर्वहन करना कठिन हो जाता है, क्योंकि उसे पत्नी की सभी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।⁸

5. कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि कम उम्र में विवाह कर दिया जाता है और बाद में जा कर लड़का उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेता है और वह बड़ा होकर बचपन में किए गए विवाह को टुकरा देता है और अपनी पत्नी से तालाक ले लेता है क्योंकि विवाह के पश्चात् माँ बाप कन्या को शिक्षा से वंचित कर देते हैं और उस कन्या का जीवन नरक के सामान हो जाता है⁹।

भारत में विभिन्न कानूनों या अधिनियमों माध्यम से बाल विवाह को रोकने का प्रयास किया गया है। इसमें मील का पत्थर रहा बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 (शारदा एक्ट)। यह अधिनियम मुस्लिम सहित, भारत के सभी समुदायों पर समान रूप से लागू होता था। 1929 के अधिनियम के अंतर्गत विवाह की न्यूनतम आयु वर के लिए 18 वर्ष और वधू के लिए 15 वर्ष निर्धारित की गयी थी। किन्तु बाद में बाल विवाह निरोधक (संसोधन) अधिनियम 1978 के द्वारा बाल विवाह निवारण अधिनियम तथा हिन्दू विवाह अधिनियम में संसोधन किया गया। संशोधित कानून के तहत विवाह के समय वर की आयु 18 वर्ष से बढ़ाकर 21 वर्ष एवं वधू की आयु 15 वर्ष से बढ़ाकर 18 दिया गया।

बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 के अंतर्गत यदि 18 वर्ष से अधिक और 21 वर्ष से कम आयु का कोई पुरुष 15 वर्ष से कम आयु की कन्या से विवाह करता है तो उसे 15 दिन का सादा कारावास या 1000 रुपये तक के जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है।¹⁰ यदि 15 वर्ष की कम आयु की कन्या से विवाह करने वाले पुरुष की आयु 21 वर्ष से अधिक है तो उसे तीन महीने तक के सादा कारावास और जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है।¹¹

मुस्लिम विधि के अंतर्गत विवाह के लिए यौवनावस्था की आयु 15 वर्ष मानी गयी है। वस्तुतः यौवनावस्था की वय वह आयु है जिसमें कोई व्यक्ति सम्भोग करने की क्षमता पा जाता है। यहाँ हम देखते हैं कि मुस्लिम विधि और बाल विवाह निषेध अधिनियम में विवाह के लिए सक्षमता की आयु भिन्न-भिन्न है।¹²

एक दूसरा कानून अस्तित्व में है वो बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006 है। जिससे अधिनियम, 1929 खामियों को दूर करने तथा बाल विवाह को सख्ती से प्रतिबंधित करने का प्रयास किया गया है। इस अधिनियम के उल्लंघन में किए गये विवाह को दण्डनीय घोषित किया गया है। बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006 की धारा 9 एवं 10 के तहत बाल विवाह के आयोजन पर दो वर्ष तक का कठोर कारावास एवं एक लाख रुपये जुर्माना या दोनों से दण्डित करने का प्रावधान है। किन्तु यह अधिनियम मुस्लिमों पर लागू नहीं होता और इसके अंतर्गत किसी महिला को कारावास की सजा देने से वर्जित किया गया है जो इस अधिनियम की सबसे बड़ी कमी है।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 3. के अनुसार दो हिन्दुओं के बीच विवाह उस सूरत में अनुष्ठित किया जा सकता है, जब वर ने 21 वर्ष की आयु विवाह के समय इसका उल्लंघन किया जाता है तो इसी अधिनियम की धारा 18 (अ) के अंतर्गत दण्डित करने की व्यवस्था की गयी है। जो व्यक्ति धारा 5 (3) में उल्लिखित शर्तों का उल्लंघन करता है वह कठोर कारावास से जो दो वर्ष तक या जुर्माने से जो एक लाख रुपये तक या दोनों से दण्डित किया जा सकेगा।

उपरोक्त अधिनियमों के उल्लंघन में संपन्न किया गया विवाह वैध है परन्तु दण्डनीय है। अर्थात् अवैध नहीं बनाया गया है। सवाल यह उठता है कि जब विवाह अवैध नहीं हैं, तो सजा क्यों? इतना ही नहीं हिन्दू विवाह अधिनियम और बाल विवाह अवैध नहीं है, तो सजा क्यों? इतना ही नहीं हिन्दू विवाह अधिनियम की और भी विसंगतिया है। प्रावधान यह है कि यदि किसी लड़की का 15 वर्ष से पहले विवाह

कर दिया जाता है तो वह लड़की 15 वर्ष की होने के बाद मगर 18 वर्ष से पहले इस विवाह को अस्वीकृत कर सकती है। यानी कानून स्वयं मान रहा है कि 15 वर्ष से कम उम्र की लड़की की शादी उसके घर वाले कर सकते हैं।¹³

एक ओर विधि विवाह की न्यूनतम आयु का निर्धारण करती है किन्तु दूसरी ओर इसे लागू नहीं करती है। यह प्रतीत होता है कि इन विधियों द्वारा संसद ने बाल विवाह को रोकने मात्र का प्रयास किया है उन्हें वर्जित नहीं किया है। जबकि विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अंतर्गत विवाह की न्यूनतम आयु का उल्लंघन करके किया गया विवाह शून्य है, इस अंत का कारण यह दिखाई देता है कि विशेष विवाह अधिनियम के अंतर्गत अधिकतर पढ़े-लिखे और आधुनिक लोग ही करते हैं और इस खण्ड के उल्लंघन का क्या फल होगा वे समझते हैं। जबकि हिन्दू विधि के अंतर्गत विवाह करने वाले व्यक्ति पढ़े-लिखे और अनपढ़ दोनों होते हैं।¹⁴

बाल विवाह अवरोधक (संशोधन) अधिनियम, 1978 के द्वारा हिन्दू विवाह अधिनियम तथा बाल विवाह अधिनियम में तो संशोधन करके लड़की की शादी की उम्र 18 वर्ष कर दी गयी लेकिन भारतीय दंड संहिता, 1860 को संशोधित नहीं किया गया। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 375 एवं 376 के अंतर्गत प्रावधान किया गया है कि यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी के साथ शारीरिक संबंध बनाता है जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम आयु की है तो वह बलात्संग का अपराध करता है। जिसके लिए उसे कम से कम 7 वर्ष के किसी भी कारावास से या आजीवन कारावास तक और जुर्माने से दंडित किया जायेगा।

इस तरह विरोधी बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं, जो पाक्सो अधिनियम 2012 का उल्लंघन करता है। इस बाधा को दूर करते हुए उच्चतम न्यायलय ने इंडेपेंडेंट थाट बनाम भारत संघ और अन्य, 11 अक्टूबर 2017 के वाद में निर्णीत करते हुए कहा कि यदि कोई व्यक्ति अपनी 18 वर्ष से कम आयु की अपनी पत्नी के साथ मैथुन करता है तो वह बलात्संग करता है।

दरअसल बच्चों से जुड़ी नीतियों, कानूनों और कार्यक्रमों से कई तरह के भ्रम फैले हैं, किस उम्र का व्यक्ति बच्चा कहलायेगा? शिक्षा का अधिकार एक उम्र में निर्धारित है तो श्रम कानून एक अलग उम्र पर। शादी के लिए न्यूनतम आयु का निर्धारण भी भारत की विधियों में अलग-अलग है।

fu"d"k ॥ बाल विवाह को खत्म करने के लिए कई सारी योजनाएं और अभियान चलाये जा रहे हैं, जिसकी सूचना होर्डिंगों, चैनलों आदि के जरिए आम जनता तक पहुंचाई जाती है, मगर यह कितना कारगर है? क्योंकि स्थिति में कुछ खास सुधार होता नहीं दिखता। बाल विवाह अपने समकालीन सभी कुरीतियों में सबसे खतरनाक और सबसे शक्तिशाली निकला। जहाँ बलिका अशिक्षा, सती प्रथा, बेमेल विवाह परदा प्रथा, विधवाओं का घोर उत्पीड़न आदि कुरीतियों में से कुछ खत्म हुई है, वहीं बाल विवाह के सभी कानूनों, समाज सुधारक आन्दोलनों और जागरूकता, आधुनिकता और आर्थिक प्रगति को धता बताते हुए न सिर्फ अपना वर्चस्व कायम रखा है, बल्कि समाज को जैसे खुली चुनौती दी हो। हमारे देश में बाल विवाह रोकने के लिए कानून मौजूद है। लेकिन कानून के सहारे इसे रोका नहीं जा सकता क्योंकि समाज कानून का पालन नहीं करना चाहता। बाल विवाह एक सामाजिक समस्या है। अतः इसका निदान सामाजिक जागरूकता से ही सम्भव है। हाल ही में उच्चतम न्यायलय बाल विवाह के दुष्प्रभाव को रोकने के लिए नियमों को और सख्त किया है। नये नियमों के अनुसार 18 वर्ष से कम उम्र की पत्नी के साथ शारीरिक संबंध बनाने को बलात्संग श्रेणी में रखा जायेगा। न्यायालय के इस फैसले के बाद से नाबालिक लड़कियों के बचपन और उनके सपनों को टूटने से बचाया जा सकेगा।

अन्य कुरीतियों की तरह बाल विवाह को कम करने के लिए जन चेतना रूपी हथियार ही सबसे ज्यादा कारगर होगा। कॉलेज की छात्र-छात्राएँ, एनजीओ, जागरूक व्यक्ति व्यक्तिगत या सामूहिक प्रयास द्वारा इस चेतना को फैलाने में अपनी सार्थक भूमिका निभा सकते हैं कि बेटियाँ पराया धन बाद में है पहले अपना खून है। इसके लिए एक सशक्त कानून बनाना होगा जो सभी समुदाओं पर समान रूप से लागू हो सकें, सब को आगे आना होगा और शिक्षा को बढ़ावा देना होगा तथा अपने परिवार व समाज के लोगों को इस कुप्रथा को खत्म करने के लिए जागरूक करना होगा।

UnHk %

1. बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006 धारा 2
2. रिपोर्ट यूनीसेफ, मई 2016
3. रिपोर्ट यू एन ओ, दिसम्बर 2016
4. पियूष बबेले, "जाने देश में किस तरह जारी है बाल विवाह" इंडिया टूडे, अप्रैल, 2015
5. मनुस्मृति, 3
6. ब्रजेश हंजावलिया, "बाल विवाह एक अभिशाप" अखिल भारतीय रैगर समाज, मध्यप्रदेश
7. प्रेरणा मालवीय, "जनसत्ता" 11 सितम्बर, 2016
8. <http://www.hindikiduniya.com>
9. सुप्रा पेज 3
10. बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 धारा 3
11. बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 धारा 4
12. सिन्हा, आर0 के0, "मुस्लिम विधि " आठवां संस्करण, 2009, पेज नं0 43
13. दयानंद शास्त्री, "क्या और क्यों है बाल विवाह एक बड़ी समस्या" मई, 2013
14. दीवान पारस, "आधुनिक हिन्दू विधि" उन्नीसवाँ संस्करण, 2009 पेज नं0 78



dchj dh dfork dk le&lkef;d lkekt d lnHki
fo'onhi d*

आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी के दौर में मनुष्य सभी प्रकार की अवधारणाओं, निष्पत्तियों और वैश्विक घटनाओं का केन्द्र बिन्दु बन गया है। इक्कीसवीं सदी के इस प्रारंभिक काल—संदर्भ में वह तमाम मूल्यों, मान्यताओं, भविष्योन्मुख चिंतन—प्रक्रिया द्वारा जीवन सँवारने तथा उसे पूर्णतः सुरक्षित करने के लिए समस्त प्रयासों में तत्परता से जुटा है जिससे कि आनेवाली पीढ़ियाँ किसी भी दैवीय, भौतिक और मानवीय समस्याओं, दुर्घटनाओं और आपदाओं से सदैव सुरक्षित रहे। किंतु जिस गति से मानव की भौतिक उन्नति हो रही है उसी गति से उसका नैतिक पतन भी हो रहा है। समाज को एकजुट होने की सारी कल्पना केवल वैचारिक और कागजी कार्यवाहियों तक ही सिमट कर रह गई है। आलोचक शिवकुमार मिश्र ऐसी स्थितियों पर कहते हैं— “पतनशील तथा उभरती हुई संस्कृति की सीधी टक्कर विचारों के क्षेत्र में ही होती है, साहित्य तथा कलाओं पर दोनों का ही प्रभाव पड़ता है।”¹ शक्ति और सम्पन्नता के लिए शोषण, भ्रष्टाचार, अमानवीय कृत्यों को नित्यप्रति बढ़ावा दिया जा रहा है। आज वैश्वीकरण के दौर में पूरा विश्व एक—दूसरे से राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से जुड़ा हुआ है। तकनीकी कालखंड के इस दौर में एक—दूसरे के बारे में जानकारीयों सहजता से उपलब्ध हो जा रही है। सुधीश पचौरी के शब्दों में— “सच यह है कि एक समूची पीढ़ी साहित्य में जड़वत हो चली है और यह पीढ़ी स्वयं को प्रगतिशील भी कहती है। यह कैसी प्रगतिशीलता है जो कट्टर सनातनियों से चार कोस आगे जा रही है।”² भारतवर्ष के मद्देनजर यदि यही बात की जाय तो यहाँ राष्ट्र, समाज, धर्म और संस्कृति संबंधी विसंगतियों, भ्रामक तथ्यों, अमानवीय पूर्वग्रहों तथा दुराग्रहों से देश ग्रस्त पाया जाता है। भाषा, जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग, क्षेत्र, सम्प्रदाय, शिक्षा और संस्कृति के अनेक रूप यहाँ देखने को मिलते हैं। सम—सामयिक अनेक समस्याएँ— सम्प्रदायवाद, वर्ण— जातिव्यवस्था, क्षेत्रवाद, स्त्री और दलितों की स्थितियाँ, जटिल सामंती मूल्य, धार्मिक शोषण के नित्य नये रूपों और राजनीति का अपराधीकरण देश में गहराई से व्याप्त हो चुका है। आज की विसंगतिपूर्ण परिस्थितियों से कबीर की कविता पूरे सबल तर्कों, विश्वासों और मानवीय मूल्यों के साथ उनका प्रतिकार करते हुए उचित एवं सम—सामयिक मानदंड स्थापित करती हैं तथा सही मार्गदर्शन करती हैं।

कबीर आधुनिक संदर्भों में सर्वाधिक दूरदृष्टा, आधुनिक, प्रगतिशील, तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न कवि हैं। रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं— आधुनिक वह है, जो मनुष्य की ऊँचाई, उसकी गति या गोत्र से नहीं, बल्कि उसके कर्म से नापता है। आधुनिक वह है, जो मनुष्य—मुनष्य को समान समझता है। इस अर्थ में आधुनिकता का आरंभ भारत में बुद्ध के समय हुआ था और वह धारा तब से भारत में बराबर बहती आ रही है। सरहपा, कणहपा आदि सिद्ध साधुओं ने जिस धर्म का आख्यान किया वह पारंपरिक धर्म की अपेक्षा अधिक बुद्धिसंगत और नवीन है। कबीरदास तुलसी के पूर्व हुए थे किंतु वे तुलसी की अपेक्षा आज के चिंतन के अधिक समीप है।¹³ कबीर और उनकी कविता अपने समय में मूल्यवान तो थे ही वह आज के परिदृश्य में तो सर्वाधिक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण हो गये हैं। ऐसी परिस्थितियों में जब धर्म और राजनीति दोनों मिलकर देश और समाज के लिए नित्य नये नियम बना रहे हैं, उनकी नवीन व्याख्याएँ कर रहे हैं, परंपराओं और व्यवस्थाओं को अतिअमानवीय बनाते जा रहे हैं, परिवार, समाज और व्यक्ति को भयभीत, संशयग्रस्त और गुमराह करते हुए छिन्न—भिन्न करते जा रहे हैं, आर्थिक, सांस्कृतिक और

*वरिष्ठ शोध छात्र, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

जनतांत्रिक मूल्यों की स्थिति दयनीय तथा हीनतम हो चुकी है; इस सम्पृक्तपूर्ण असमंजस की स्थिति में कबीर की कविता और उसके माध्यम से व्यक्त होनेवाला उनका विचार आज सर्वाधिक जरूरत और आदर की वस्तु हो गयी है। इस नजरिये से वे इस सदी में महाकवि, महाविभूति तथा महानता के सर्वोच्च शिखर हैं— अपने तार्किक जीवन—मूल्यों, मानवीय—संवेदनाओं, धर्म की सही एवं सच्ची व्याख्याओं, देश एवं समाज की सर्वांगीण उन्नति और बहुविध विकास—संबंधी गहन चिंतन तथा सरल, सहज एवं आत्मीय जीवन—दृष्टि के बलबूते पर। इसीलिए डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते भी हैं— “उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोकनायक की हमदर्दी। इसीलिए वे एक नया युग उत्पन्न कर सके।”⁴ बात भी सही है कि असमानता, भेदभाव, शोषण, परतंत्रता, रूढ़िवादिता तथा सब प्रकार की जकड़बंदी हमारी सोच, दृष्टि, व्यक्तित्व और देश को हमेशा संकुचित, शिथिल, पिछड़ा और कमजोर करती है।

हमारे समाज में शिक्षा, धर्म, शास्त्र और परंपराओं के द्वारा सदैव आत्मश्लाघा की गई है जबकि यूरोप, अमेरिका, एशिया, आस्ट्रेलिया आदि के विकसित देशों की तुलना करने पर हम कहीं नहीं ठहरते। कहीं—न—कहीं हम कमतर ही साबित होते हैं। हम विज्ञान, तकनीक, साहित्य, संस्कृति और राजनीतिक क्षेत्र में इनके सामने दोयम दर्जे के साबित होते हैं। हमें गुरुर जिन—जिन मुद्दों पर होता है उनकी वस्तुस्थिति से सामना होने पर हम न सिर्फ बेइज्जत होते हैं अपितु मूर्ख ही ठहराये जाते हैं। किंतु हमारे यहाँ सम्मान, अधिकार और लाभ उन्हीं हो मिलता आया है जो शिखंडी—व्यक्तित्व का स्वामी हो, निहायत चाटुकार और लिजलिजी मानसिकता से युक्त हो। कबीर उपर्युक्त खूबियों में बेहद अलग स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। वे समाज को कर्मशील बनने का उपदेश देते हुए स्वयं भी कर्म करते हैं और समाज एवं व्यक्ति को कमजोर करने तथा तोड़नेवाली सभी मान्यताओं और शिक्षा को फटकारते हैं। उनके इस योगदान को पुरुषोत्तम अग्रवाल इन शब्दों में व्यक्त करते हैं— “कबीर सामाजिक व्यवस्था, परंपरा और मान्यताओं के रूपांतरण का प्रस्ताव करते हुए अपनी वैयक्तिक सत्ता को लगातार रेखांकित करते हैं— इसीलिए वे आधुनिक मनुष्य को अपने चित्त के अधिक निकट लगते हैं।”⁵

कबीर की रचनाओं में सम—सामयिक अनेक मुद्दे और उनका निराकरण पाया जाता है जैसे— वर्ण—व्यवस्था, जाति प्रथा, दलित और स्त्रियों की दयनीय स्थिति, छुआछूत, ऊँच—नीच, शिक्षा व्यवस्था, शोषण—शोषक के मध्य संबंध, सांप्रदायिकता, आतंकवाद, धार्मिक एवं आर्थिक परम्पराएँ आदि पाई जाती हैं। सृष्टि एक आशयविहीन रचना है जिसका नियंता कोई नहीं है। आदमी ही ईश्वर है और हर भले आदमी का रक्त उतना ही पवित्र है जितना पवित्र रक्त राम, कृष्ण या बुद्ध का था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि नैतिकता वह है जिसका आचरण मनुष्य करने को राजी हो सके, जिसका ध्यान कबीर ने आजीवन रखा। मनुष्यता ही उनका धर्म, कर्म, विश्वास और आराधना थी, इसीलिए वे आम—जीवन में संघर्षरत रहे। लोगों को मानव—मानव से प्रेम करते रहने के लिए कहते रहे। वे सही मायने में जनता के कवि थे। पुरुषोत्तम अग्रवाल कबीर की विशेषता बताते हुए कहते हैं— “वे मनुष्य पर अर्थसत्ता और धर्मसत्ता द्वारा आरोपित ‘सहजबोध’ (कामनसेंस) से टकराते हैं। वे श्रम, प्रेम और आध्यात्म की ‘कॉमनसेंसिकल’ असम्बद्धता को सिरे से नकारते हुए मनुष्य के वास्तविक सहज स्वभाव को फिर से पाने की साधना करते हैं। मनुष्य की आत्मा में श्रम, प्रेम और आध्यात्म को फिर से परस्पर सम्बद्ध करना, इन्हें एक—दूसरे से काट देने वाली धर्मसत्ता से जिरह करना— यही है कबीर की साधना।”⁶

मनुष्य प्राचीनकाल से ही सुख की कामना करता आया है। अपने को सुखी, सम्पन्न और सम्मान पाने की अदम्य जिजीविषा के साथ उसकी यह कामना रही है कि वह स्वतंत्र, अधिकारवादी तथा सामाजिक दृष्टि से आदरणीय और पूजनीय हो। इसके लिए उसने अपनी बौद्धिक कुशलता का सूक्ष्म परिचय देते हुए व्यावहारिक चतुराई से धर्म, राजनीति, समाज और संस्कृति सभी पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया और उसकी भूमिका एवं सिद्धांत अपने सुविधा की दृष्टि से विकसित कर लिये। कालांतर में शक्ति, वर्चस्व और समाज की वंचनात्मक जंग में अवसरानुकूल विभिन्न जातियों, वर्णों और संप्रदायों ने अपने से नीचे की जातियों, वर्णों और वर्गों के साथ ज्यादातियाँ किया, जिस कारण धर्म, नीति, मर्यादाएँ, भाग्यवाद और ईश्वरवाद की अवधारणा और सिद्धांत बदलते रहे। मनुष्य की भूमिका प्रमुख मानी गई और कर्म, तर्क तथा सचेत जीवन बोध का विकास हुआ। अंधा युग में धर्मवीर भारती कहते हैं—

कबीर का पूरा दर्शन ही कर्मवाद पर है। वे भाग्यवाद, ईश्वर के भरोसे जीवन—यापन को कायरता कहते हैं—

^t k dkl h ru r t l dchjk rk jkefg dku fugjkA
t l dkl h r l exgj Å l j fgjn l jke l fr gkbAA**7

कबीर स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व के मलिक थे। उनका समस्त चिंतन मानव और उसके परिवेश पर ही केन्द्रित था। इसलिए वे अत्यंत सजग भी रहते थे। एक सचेत कवि समाज के लिए निःस्वार्थ नेतृत्व और संतुलित दृष्टि देता है। ऐसे संदर्भ पर अशोक वाजपेयी कुछ इस प्रकार कहते हैं— “अपने देश और काल में गहरे जमी हुई कविता अंतः मनुष्य की मुक्ति की स्थायी राजनीति है। वह स्वतंत्रचेता व्यक्तियों द्वारा रची जाती है और वे सभी जो उससे प्रतिकृत होते हैं।”⁸ कबीर व्यक्ति—स्वातंत्र्य को प्रमुख मानते हैं क्योंकि स्वतंत्र व्यक्ति ही स्वाधीन, विकसित, आधुनिक और प्रगतिशील समाज और देश का निर्माण कर सकता है, क्योंकि उसमें शोषण, संघर्ष और सत्तालोलुपता कम रहेगी, भ्रष्टाचार, अंधविश्वास तथा सुषुप्तावस्था का बोलबाला कम रहेगा। परतंत्रता के प्रारंभिक रूप जाति—पाँति, ऊँच—नीच और वर्गभेद पर कबीर कहते हैं—

^, d Hkn , d ey erj , d pke , d xnkA
, d tkfr Fk l c mriuk dku ckEgu dku l inkAA
X X X X X
^ugh l dk Åpk ugh l dk uhp k] tkdk l ; Mrkgh dk l hpkA**9

सामाजिक स्तर पर समानता, अधिकार और स्वतंत्रता द्वारा व्यक्ति आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और आत्मविस्तार पाता है जिससे वह अपना तो कल्याण करता ही है, समाज के लिए भी हितकामी हो जाता है। वह दुर्व्यसनों—चोरी, डकैती, आतंकवाद, उग्रवाद तथा भ्रष्टाचार से दूर रहता है तथा समता, समानता और सहयोग की भावना बढ़ाता है। कबीर ने लोगों की बौद्धिक चेतना को प्रखर किया। उनमें पाखंड, धूर्तता, आडम्बर की भावना के प्रति तीव्र आक्रोश था। वे सामाजिक यथार्थ, सामाजिक संबंधों और समाज में सक्रिय भौतिक तथा वैचारिक शक्तियों की क्रियाशीलता का विरोध एवं प्रतिबिम्बन करते हैं तो साथ—ही—साथ अपने प्रभावी उपदेशों में सामाजिक परिवर्तन की प्रेरकशक्ति और चेतना के निर्माता भी साबित होते हैं। मैनेजर पाण्डेय कहते हैं— “सच्चा जनकवि उठते हुए जन को उठाने, उसको अपनी स्थिति के प्रति सजग—सचेत होने और शोषकों के खिलाफ विद्रोह की भावना जगाता है।”¹⁰ इस दृष्टि से कबीर अपनी सामाजिक उत्तरदायित्व का निष्पक्ष निर्वहन करते हैं।

गौरतलब है कि भारतीय समाज प्राचीनकाल से आडम्बर प्रधान समाज रहा है। यहाँ धार्मिक स्तर के आडम्बर, शोषण, भ्रष्टाचार, जकड़बंदी, भेदभाव और अमानवीय व्यवहार सर्वत्र पाया जाता है। देखा जाय तो धार्मिक स्थल सदियों से व्यभिचार और पाप के सबसे बड़े केन्द्र रहे हैं। यहीं से सत्ता, समाज और शोषण के विभिन्न ताने—बाने बुने जाते हैं। दलितों, स्त्रियों को मंदिरों में प्रवेश की मनाही, पुरोहित पद पर सिर्फ ब्राह्मणों का सनातनी—वर्चस्व, अतिरिक्त धन (काले धन) के सबसे बड़े सुरक्षा केन्द्र हमारे धार्मिक अड्डे प्राचीन काल से बने हुए हैं। कबीर इस प्रकार के सत्ता और धर्म की अंतरंग गठजोड़ की तरफ सभी का ध्यान आकर्षित कराते हैं। आज बड़े—बड़े साधु सबसे बड़े सरगना हैं। न्यायपालिका, विधायिका सब उनके चरणामृत लेने में सदैव सन्नद्ध और प्रतिस्पर्धी बने रहते हैं। जहाँ धर्म सत्ता को रक्षा का आश्वासन और जन सुविधा देता है वही सत्ता उन्हें तमाम भौतिक साधन मुहैया कराता है। कबीर आज के इन गठबंधनों को भाँप चुके थे तभी वे मंदिर, मस्जिद, पुरोहित, मौलवी सभी को फटकार लगाते हैं और उन्हें चुनौती देते हैं—

^dk t h dku fd r c c [kkuhA
i < r xur , l l c ek j fdug [kc : u t kuhAA**11
X X X X X

कबीर ऐसे ही पाखंडी, अपराधियों, दुराचारियों और व्यापारी के रूप में मौजूद धर्मात्माओं पर डाटते, धिक्कारते और तंज कसते हैं तथा जनता को उनसे सजग रहने की सलाह देते हैं। सावित्री चंद्र 'शोभा' कबीर की सामाजिक दृष्टि और उनके योगदान को निरूपित करते हुए कहती हैं— "उनका सबसे बड़ा योगदान मिथ्याचार और दिखावे का पर्दाफाश करना था। साथ ही अपने युग के लोगों, धनवान व निर्धनों तथा अनेक जाति व धर्मों के लोगों में स्थित गहरे भेद-भाव को और असहिष्णुता के भाव को उभारकर सामने लाना था। इस प्रकार उन्होंने आगे आनेवाली पीढ़ी के लोगों के लिए भाई-चारे और

12

धर्म हरेक देश की राजनीति, समाज और व्यक्ति का पथ प्रदर्शक, अगुवा और नीति निर्धारक सदियों से रहा है। धर्म में होने वाले कचरे से समाज, व्यक्ति और देश पतनशील होने लगते हैं। राजनीति धर्म का पालनकर्ता, पोषणकर्ता और सुरक्षात्मक आवरण होता है। दोनों एक-दूसरे से अंतरावलंबित होते हैं और एक-दूसरे की भरसक मदद और मजबूती प्रदान करते हैं। यहाँ पर होनेवाले कृत्यों से व्यक्ति और समाज दिशा-निर्देश पाता रक्षा है। लेकिन देखा जाता है कि धर्म और राजनीति के गठजोड़ ने समाज और व्यक्ति को सदैव तोड़ने, भ्रमित करने और भयभीत करने का कार्य किया है जिसके परिणामस्वरूप सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, उग्रवाद, नस्लवाद, जातिवाद, वर्णभेद, ऊँच-नीच और सभी प्रकार के भ्रष्टाचार के बढ़ावे के रूप में समाज को क्षय रूप में मिलता रहा है—वह गुमराह होता है तथा आपस में ही टकराकर उलझा रहता है जिस कारण सदैव वह जीवनोपयोगी बुनियादी सुविधाओं का भी मोहताज रहता है। आपसी फूट, भेदभाव और संशयग्रस्तता उसे कभी चैन से सोने नहीं देती, जिससे नैतिकता और जीवन-मूल्यों का क्षरण तेजी से होने लगता है तथा गलत धारणाएँ, शोषण तथा अमानवीय जीवन-मूल्यों को निरंतर प्रश्रय मिलता रहता है— वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, वर्णगत सर्वोच्चता इसी की पुरस्कार स्वरूप देन है। पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं— "कबीर बताते हैं कि इस राम को पाने के लिए हमें कर्मकांड हठयोग या धर्ममीमांसा की आवश्यकता नहीं। बस अपने दिलो-दिमाग खोलिए, राम आपके भीतर है।"¹³

आज के समय में दलित समस्या और स्त्री समस्या हमारे चिंतन का केन्द्र बन चुकी है। दलित और स्त्री दोनों समानता, स्वतंत्रता, अधिकार, सम्मान और हिस्सेदारी की माँग कर रहे हैं। इन्हें देश, समाज और समाज परिवार सदैव वंचना, दुत्कार, वितृष्णा तथा शोषण ही मिला है। मध्यकाल में इसकी स्थिति तो और अब तक ज्यादा दयनीय थी। लोग दलितों और स्त्रियों पर तरह-तरह के बंधन लगाकर उसका विविध स्तर पर शोषण करते थे। समाज का साधन-सम्पन्न उच्चवर्ग इस काम को पूरी बारीकी से करते हुए धर्म का आवरण चढ़ा देता था जिससे कि उस पर कोई आक्षेप न लगे तथा शोषण पर आधारित नियम और रूढ़ियाँ सदैव बनाते रहते थे। स्त्रियों एवं दलितों पर समाज ब्राह्मणों का शोषण और ज्यादाती किसी से छिपी नहीं है क्योंकि ब्राह्मण ही धर्मगुरु रहता था, वही समस्त नियम-कायदे बनाता-बिगाड़ता था और अपनी हितसाधना की पूर्ति करता था जिस पर उसे सत्ता पक्ष से भी पूरा सहयोग और सम्मान प्राप्त था। पुरुषोत्तम अग्रवाल के अनुसार— "ब्राह्मण सर्वोच्चता की शाश्वतता ऐतिहासिक सत्य नहीं, ब्राह्मणों की फँटेसी है जिस ऐतिहासिक सत्य का दर्जा औपनिवेशिक सत्ता के सहयोगी ब्राह्मणों ने दिया है।"¹⁴ कबीर ऐसी भेद-भाव युक्त समाज से परिचित थे। वे वर्णभेद और जातिभेद पर समाज के उच्चवर्ण को फटकारते हैं तथा कठोर शब्दों में कहते हैं—

^tk r| ckHku ckHkuh tk;k rk vku ckV °o| D;| ugh vk;kA**15

X X X X X

lk dN fopkjg ifMr ykb] tkd| : i u j:[k oj.k ugh dkbAA**16

कबीर इसी निम्न वर्ग की ऊपज थे। इसलिए इनकी पैरोकारी कबीर ने पूरी आत्मीयता से किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते भी हैं— "उपासना के वाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों का उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम-रहीम की एकता समझकर हृदय को शुद्ध प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती

रही।¹⁷ इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने मानवता की पवित्र भावना के द्वारा निम्न श्रेणी की जनता में आत्मसम्मान की भावना जगाकर उन्हें भक्ति के मार्ग में समानता और अधिकार पाने के लिए बढ़ावा दिया है।

संसार में वही समाज विकास करता है जहाँ सर्वत्र समानता और अधिकार की भावना व्यावहारिक स्तर की हो। हमारे यहाँ दोनों सम्प्रदायों की मूल भावना तो एक है किंतु उसके व्याख्याकार उसमें समय-समय पर कुछ नये तथ्य जोड़ते रहे हैं ठीक उसी तरह से जैसे आज हमारे संविधान में देश की सत्ताधारी पार्टियों अपनी सुविधा एवं बचाव के लिए परिवर्तन और नये-नये अनुच्छेद जोड़ती रहती है। परिणाम यह हुआ कि समाज में दोनों वर्ग आपस में टकराने लगे। दोनों संप्रदायों के धर्मगुरुओं ने अपने लाभ के लिए स्वयं की श्रेष्ठता तथा दूसरे की कमजोरियों का बखान करने शुरू कर दिया जिस कारण जन-सामान्य आपसी दंगों में उलझ गया। कबीर ऐसी संकटग्रस्त स्थितियों पर दोनों धर्मावलंबियों की एकता स्थापित करने की बात करते हैं और उनकी मदांध श्रेष्ठता को चुनौती भी देते हैं—

^vj; bu nkm jkg u ikb
fgn viuh dj; cMkb; xkxjh No; u nb;
o'; k d; ik; u rj lko; dgk jg; fgnvkbAA
e; lye ku d; ihj vkfy; k exk; exh; [kkb;
[kkyk d; ?kj cVh 0; kg; ?kj e; dj; l xkbAA**18

वस्तुतः यह स्पष्ट है कि कबीर राष्ट्रीय एकता, विश्वबंधुत्व और समरसता के कवि हैं। उनकी रचनाएँ तथा विचार देश और समाज को विकसित करने वाली हैं; प्रेम, मानवता और विश्वकल्याण की भावना उनका मूल लक्ष्य रहा है। इसीलिए डॉ. शिवमूर्ति शर्मा कहते हैं— “वे एक कर्मठ चिंतक थे। समाज की बुराईयों की ओर संकेतमात्र न कर वे उन्हें समूल विनष्ट कर देने का उपाय भी बताते हैं। आज के साम्प्रदायिकताग्रस्त भारत में कबीर जैसे यथार्थवादी चिंतक का महत्व बढ़ता जा रहा है। मध्यकाल की भाँति आज भी कबीर जैसे चिंतकों की आवश्यकता है।¹⁹”

वैश्विक कल्याण की भावना कबीर का जन्मजात गुण था जिसे कबीर ने समय-समय पर निखारने और परिष्कृत करने का प्रयास किया। इसी भावना के कारण कबीर कवि-समाज के शिरोमणि, धर्मगुरुओं में शिरोमणि, शिक्षा जगत तथा जनसामान्य में सर्वाधिक सम्मानित, आदरणीय और प्रासंगिक रहे हैं इसीलिए वे जन-सामान्य के सर्वप्रिय कवि थे। श्रीलाल शुक्ल के अनुसार—“वे सामाजिक वाह्याडम्बरों पर खीझनेवाले और लोगों की सामूहिक अंधता के खिलाफ आक्रामक मुद्रा अपनाने वाले, फक्कड़, बेलगाम साधु भर नहीं हैं; वे गहन साधना से सम्पन्न एक अत्यन्त अनुभूतिप्रवण कवि हैं जिनकी रचनाएँ सामान्य जन को उसकी दैनंदिन छुद्रताओं से उबारकर उच्चतम आध्यात्मिक और आत्यंतिक अनुभव दिलाने में समर्थ हैं।²⁰” जनसाधारण के दुख, दरिद्रता, असंतोष से अच्छे समाज की कल्पना करना सरासर मूर्खता है। कबीर सामाजिक जीवन की आंतरिक सुंदरता में रुचि रखते थे और विकृतियों की भर्त्सना करते थे। उनके इस प्रयत्न में धर्म को संशोधित करने, समाज के स्वस्थ निर्माण की सदिच्छा मौजूद थी। समताप्रेमी भक्त होने के कारण सामाजिक विषमताओं और रूढ़ियों को देखकर अति व्याकुल हो जाते थे तथा आक्रोशपूर्वक उक्तियाँ कहते थे। कँवल भारती के अनुसार— “क्या मजाल कि कोई हिंदू वेद-स्मृतियों के अनुशासन के खिलाफ चला जाय और क्या मजाल कि कोई मुसलमान कुरान-हदीस के खिलाफ चला जाय, लेकिन यह मजाल कबीर ने की। उन्होंने पुराने शास्त्रों की विधि और व्यवस्था को नहीं माना और अपना नया शास्त्र और नयी विधि स्थापित की।²¹”

कई देश धर्मयुद्ध की आग में झुलस रहे हैं। देखा जाय तो यह प्रवृत्ति सदियों से शोषण, पीड़ा और गुमराह किये गये लोगों की मानसिक विस्फोट का दुष्परिणाम है। विकसित वर्ग और समाज के द्वारा इन्हें पाला गया था तथा इनका इस्तेमाल अपना बाजार बढ़ाने तथा सम्मान बनाये रखने के लिए किया गया था। अमेरिका तथा चीन जहाँ यह कार्य बाजार और प्रतिस्पर्धा में आगे रहने की होड़ में करते आये हैं वहीं मुस्लिम देश, हिंदूस्तान और यहूदी देश इन समस्याओं के स्थल देश के रूप में हमारे सामने हैं।

धार्मिक उन्माद को बढ़ाने वाले गुरु और शिष्य दोनों समाज और देश को बरबाद करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं, कबीर स्पष्ट कहते हैं—

[^]t kdk x# Hkh v/kyk pyk [kjk fuj/kA
v/kk v/kk Bfy ;k] nU;| di iMrAA**22

इसीलिए वे सच्चे गुरु की शरण में जाने को कहते हैं। उनकी दृष्टि में गुरु का अर्थ— सच्चा ज्ञानी, मार्गदर्शक, निःस्वार्थ समाजसेवी, न कि आधुनिक आपराधिक धर्म—गुरु। वे कहते हैं कि गुरु ऐसा हो—

[^]l rxij l kpk lfjok rkr! ykfg ygk jA
d l.kk n dpu fd ;k rkb fy ;k rr l k jAA**23

सत्ता के सामने सच कहने का साहस रखने वाली कविता ही सामाजिक होती है। साहित्य, समाज, संस्कृति और धर्म की अपनी-अपनी सत्ताएँ हैं जिनके सामने सत्य कहने की हिम्मत जिस कवि में होती है वही मानव-स्वातंत्र्य के पक्ष में निर्भीकता से खड़ा होता है इसी बदौलत वह जनप्रिय और सामाजिक भी होता है और सामाजिक होने के कारण वह सम-सामयिक समस्याओं और घटनाओं पर वह सजग दृष्टि रखता है। मैनेजर पाण्डे के शब्दों में—“साहित्य मनुष्य की मनुष्यता की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। मनुष्य की मनुष्यता पूरी तरह प्रकट होती है उसकी स्वतंत्रता में—विचार, कल्पना और कर्म की स्वतंत्रता में। मनुष्य की स्वतंत्रता जब उसकी आलोचनात्मक चेतना के साथ विकसित होती है तब वह जानदार, असरदार, और सामाजिक भी होती है।”²⁴ इस दृष्टि से देखा जाय तो कबीर की कविता और उनके विचार सामाजिक सच्चाई की पैरोकार, जीवन के प्रति अटूट आस्था तथा उन्नत सामाजिक वातावरण के लिए कटिबद्ध मानवता का ही संदेश देती है। इसे लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे समाज को डाटते-फटकारते और समझाते हैं। रामविलास शर्मा कबीर की सामाजिकता पर कहते हैं— “उनकी सामाजिक आलोचना का रहस्य यही है कि उनके पाँव सामाजिक यथार्थ की धरती पर जमे हुए हैं।”²⁵ यह सार्वजनीन सत्य है कि आपसी संघर्ष से तो विनाश ही होता है इसलिए कबीर प्रेम, सामंजस्य और समानता को अपनाने की बात पूरी सृष्टि से करते हैं—

[^]ikFkh if< if< tx evk ifMr Hk ;k u d kA
<kbl vk[kj ie dk i< l k ifMr gk ;AA**26
[^]ftfg ?kfV ihfr u ie j l Qfu j luk ufg j k eA
r uj bl l l k j e mift x ;| cidkeAA**27
[^]vdFk dgkuh ie dh dN dgk u tkbA**28

कबीर ने जिस आदर्श समाज का सपना देखा था वह वर्णाश्रम, भेदभाव और जाति-पाँति से रहित था, उसमें साम्प्रदायिक खेमेबंदी नहीं थी; उसमें शुद्ध मानवतावाद की प्रतिष्ठा थी। सम-सामयिक सामाजिक संदर्भों में कबीर के विचार और उनकी कविता समाज को स्थायी शांति प्रदान करती है। गणपतिचंद्र गुप्त के अनुसार— “सुकरात ने एक बार कहा था कि जब परमेश्वर को धरती के जीवों से वार्तालाप करना होता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से बोलता है। वह अपना दिव्य संदेश कवि के दिव्य शब्दों में देता है। सुकरात का यह कथन विश्व के कुछ ही कवियों पर लागू होता है— इन कुछ कवियों में कबीर का स्थान सबसे ऊँचा है।”²⁹ कबीर की जीवन दृष्टि उनके ही शब्दों में इस प्रकार देखी जा सकती है—

[^], l h ok.kh ckfy ;| eu dk vkik [kkbA
viuk ru lhry dj vkju dk l [k gkbAA**30

समग्रतः कहा जा सकता है कि कबीर मध्यकालीन संदर्भों में समाज और देश के लिए जितने महत्वपूर्ण थे— हमारे साहित्य, समाज, धर्म और राजनीति के लिए; उससे कहीं ज्यादा आज प्रासंगिक और पूजनीय हैं—हमारी समसामयिक सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भों में। कबीर का कृतित्व और व्यक्तित्व आज जितना उपयोगी और प्रासंगिक है उससे भी ज्यादा उपयोगी और प्रासंगिक भविष्य में वह रहेगा।³¹ महीप सिंह के शब्दों में हम कह सकते हैं— “संत कबीर अपने युग के

महान भक्त थे, विचारक थे, समाज—सुधारक थे और क्रांतिद्रष्टा थे।³² सबसे बड़ी बात कि उन्होंने समतामूलक समाज और सामाजिक न्याय की उस अवधारणा को जन—जन में प्रचारित किया जिसके लिए आज का भारतीय समाज भी संघर्षरत है।³³

I UnHk %

1. साहित्य, इतिहास और संस्कृति, शिवकुमार मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2009, पृ० 187
2. उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, सुधीश पचौरी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2000, पृ० 208
3. साहित्य और समाज, रामधारी सिंह 'दिनकर', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2008, पृ० 24
4. हिंदी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2008, पृ० 93
5. अकथ कहानी प्रेम की, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2010, पृ० 453
6. निज ब्रह्म विचार, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2004, पृ० 42
7. अंधायुग, धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2006, पृ० 12
8. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 215
9. वही, पृ० 130
10. वही, पृ० 127
11. शब्द और कर्म, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 1997, पृ० 98
12. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 304
13. वही, पृ० 303
14. हिंदी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य व अवधारणाएँ, सावित्रीचंद 'शोभा', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2004, पृ० 6
15. निर्गुण संतों के स्वप्न, संपा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2010, पृ० 58
16. अकथ कहानी प्रेम की, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2010, पृ० 8
17. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 127
18. वही, पृ० 126
19. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2016, पृ० 65
20. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 217
21. कबीर और जायसी, शिवमूर्ति शर्मा, वीना प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 1972, पृ० 83
22. कुछ साहित्य चर्चा भी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2008, पृ० 92
23. आजीवक परंपरा और कबीर, कैवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2010, पृ० 102
24. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 50
25. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 69
26. आलोचना की सामाजिकता, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2012, पृ० 62
27. भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, रामविलास शर्मा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2009, पृ० 18
28. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 53
29. वही, पृ० 78
30. वही, पृ० 152
31. कबीर : जीवन और दर्शन, उर्वशी सुरती, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2004, पृ० 66
32. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदर दास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2015, पृ० 92
33. कबीर : एक पुनर्मूल्यांकन, संपा० बलदेव वंशी, लेख— कबीर और सामाजिक न्याय की अवधारणा, डॉ. महीप सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), सं० 2006, पृ० 126



f'k'k'ikyo/ke egkdK; e dK;L=h; rURo dh vo/kkj.kk
vufi;k flg*

आचार्य भामह ने काव्यालंकार में लिखा है—

^MvoykD; erkfu lRdohukexE; Lokf/k;k p dK; y{k.keA
l|t ukoxeku Hkkegu jfpr jfØyxkfe luuneAA¹

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि काव्यशास्त्रीय अपने काव्यत्वों के निरूपण में कवियों के मतों का भी अवलोकन करते रहे हैं। भामह, वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों के मतों को अपना आधार बनाया है। महाकवि माघ भामह के उत्तरवर्ती हैं, तथापि उनका कथन इस दिशा में अन्वेषण की प्रेरणा देता है कि काव्यों में भी यथास्थल काव्यशास्त्रीयतत्त्व खोजे जा सकते हैं। इस दृष्टि से यदि हम महाकाव्य का अवलोकन करें तो अनेक काव्यशास्त्रीयतत्त्व उसमें अनुस्यूत दिखाई देते हैं। यहाँ काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, रचनाप्रक्रिया, अलंकार, शब्द, अर्थ एवं शब्दशक्तियाँ और नाट्य शास्त्रीयतत्त्व आदि की दृष्टि से शिशुपाल बध में संकेतिक सन्दर्भों का संकलन किया गया है।

काव्यशास्त्रीय सन्दर्भों का निरूपण महाकवि माघ के शिशुपालवध के आधार पर अधोलिखित प्रकार से किया जा सकता है।

½1½ dK; i;ktu ½ कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नहीं किया जाता है। चाहे वह कार्य सोद्देश्य हो, अथवा निरुद्देश्य। क्योंकि प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। मनुष्य किसी भी कार्य को करने के लिये किसी विशेष प्रयोजन या उद्देश्य से प्रवृत्त हो किसी कार्य में संलग्न होता है। क्योंकि निष्प्रयोजन कार्यों में किसी की प्रवृत्ति नहीं होती है। निष्काम कार्य की प्रयोजन शून्य नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीता में “योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गत्यकवाऽत्मशुद्धये” अर्थात् योगीजन भी आत्मशुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

^Mfogk; dkeku ; loku iek'pjfr fuLigA
fueek fujgM-dkj l 'kkfUref/kxPNfrAA

इत्यादि उद्धरणों के द्वारा भी प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार काव्यरूपी कार्य का भी कोई न कोई प्रयोजन होता है। बिना प्रयोजन के कवि एवं पाठक दोनों की इसमें प्रवृत्ति नहीं होगी।

काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में आदि आचार्य भरतमुनि से लेकर वर्तमान समय तक के काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। आचार्यों ने अनेक प्रयोजनों का निर्वाचन किया है।

भामह ने काव्य प्रयोजन की अनेक करिकाएँ लिखी हैं, किन्तु उनकी सुप्रसिद्ध कारिका अधोलिखित है—

^M/kekFkdkeek{k"kp op{k. ; dyk l pA
djkr dhfr i hfr p l k/kdK; fucU/kue**AA

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को तथा समस्त कलाओं में निपुणता को और प्रीति तथा कीर्ति को उत्पन्न करती है।

इस कथन के आलोक से यदि हम मध्यकाव्य का अवलोकन करें तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ तथा कलावैचक्षण्य, कीर्ति और प्रीति (आनन्दानुभूति) ये सभी प्रयोजन अवान्तर रूप में प्राप्त होते हैं।

महाकवि माघ के काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में उनके महाकाव्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि उनमें महती यशोलिप्सा थी। कवि वंशवर्णन के अन्तिम पद्य से यह बात स्पष्ट है—

^Jh 'kCnjE; d'r l e: l ekflr y{eA
y{ehi r' pfjr dhr'u ek= pk : AA
rL; kRet % l | dfodhfrnj k'k; kn %A
dk0; ; 0; /kUr f'k'kiky0/kkfHk/kkue**AA

प्रस्तुत पद्य में महाकवि माघ की यशोलिप्सा का संदेश मिलता है। महाकवि कालिदास ने भी अपनी लघुता व्यक्त किया है।

^eUn % dfo; 'k % i kFkhi xfe"; kH; ; igkL; rkeA
i k'kyE; ; Qy: ykHkkn} kgfjo okeu %*AA

पद्य में प्रयुक्त श्री शब्द कल्याण सूचक है। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि महाकवि माघ ने काव्य की रचना कल्याण के लिये की है। अधोलिखित श्लोक से और भी स्पष्ट हो जाता है श्रेष्ठ वाणी का प्रयोजन कल्याण है—

^foykdu: uo rokeuk eu:
Ñr % ÑrkFkkl·fLe fuofgrkg l kA
rFkffi "kJiijg: xjh; l h&
fxjk·Fkok J; fl du r l; r**AA

‘श्रेयसि विषये—केन तृप्यते? अर्थात् मंगल के विषय में कौन सन्तुष्ट होता है? अर्थात् कोई नहीं। वस्तुतः वाणी ही तो काव्य है। यह निर्देश निर्विवादरूप से काव्य के एक हेतु कल्याण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

महाकवि माघ के प्रस्तुत पद्य में प्रीति शब्द आया है। यहाँ पर भी प्रीति का अर्थ प्रेम नहीं आनंद है—

fnn{kek.kk % ifrjF; eh; ;
ejkfjekjkn u/k t uk/%A
vud 'k % l Lrrel; uYik
uoi uoi ihfrjgk djkrAA

श्री कृष्ण भगवान् सेना के सहित युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये जब इन्द्रपुर के लिये प्रस्थान करते हैं, तब श्रीकृष्ण को देखने के इच्छुक जनसमूह गलियों के समीप आ जाता है। अत्यधिक प्रेम अनेक बार परिचित को नवीन बना देता है। अहो आश्चर्य है। काव्य में भी प्रायः यही स्थिति होती है।

इस प्रकार से उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि काव्यरचना अलौकिक होनी चाहिये। कवि में अलौकिक रचना के लिये उसके अन्तःकरण में स्थित प्रेरकतत्व का होना आवश्यक है। प्रेरकतत्व के बिना कविता में अलौकिकता आ ही नहीं सकती।

इस सन्दर्भ में चूँकि काव्य करने वाले के अन्तर्निहित भावों को उत्पन्न करने वाली प्रधान सत्ता के रूप में पूर्वस्थित, अणुता के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष न होने वाली, “ऐसा नहीं है, कि अपने अभाव अर्थात् न होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती है,” की पुष्टि आनन्दवर्धन की निम्नलिखित कारिका से की जाती सकती है—

i:rh; eku: iujU; no oLrLrrok.kh"ki egkdohukeA
; r r r r ifl)ko; okfrfjDr: foHkkyryko. ; %

उक्त कारिका में प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट रूप परिलक्षित हो रहा है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये आनन्दवर्धन की निम्नलिखित कारिका द्रष्टव्य है—

^I jLorhLoknirnfk oLr| fu%L;Unekuk egrk dohukeA
vykd lkekU;efhk0;ufDr ifjLQjUr ifrHkfo'k"keAA

जहाँ तक व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है, विभिन्न शास्त्रों और काव्यों के अध्ययन, अध्यापन तथा लोक व्यवहार द्वारा सहज प्रतिभा का परिपोष कहना अनुचित नहीं होगा।

'अभ्यासः इति मङ्गलः' राजशेखर ने काव्य मीमांसा में ऐसा उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि मङ्गल ने अभ्यास को काव्य हेतु माना है, पर न तो यह काव्य का अनिवार्य हेतु है, और न ही प्रमुख एवं आवश्यक हेतु, क्योंकि ऐसे भी कवि संसार में हो चुके हैं, जिनकी प्रथम रचना ही उनकी अमर कृति है यथा—

^ek fu"kn ifr"Bk Roexe% 'kkLorh% lek%A
;Rdk' p fepukndeo/kh% dke ekfgre**AA

यह श्लोक ही इस तथ्य का प्रमाण है। हाँ, अभ्यास द्वारा प्रतिभा में और उसके द्वारा तत्प्रणीत काव्य में परिष्कार, अवश्य आ जाता है। अतः प्रतिभा के परिष्कार के लिये इस तत्व की स्वीकृति अति आवश्यक है।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकवि माघ ने मुख्य प्रयोजन के रूप में कीर्ति को स्वीकार किये हैं, अन्य प्रयोजन के रूप में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ कलावैचक्षण्य, सद्यः परिनिवृत्ति, प्रीति व्यवहारज्ञान और में कान्तासम्मित उपदेश को अवान्तरूप में स्वीकार किये हैं।

¼2½ dk0;&gr| किसी भी कार्य को करने का कोई न कोई कारण या हेतु आवश्यक होता है, क्योंकि निरुद्देश्य या बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं किया जाता। इसलिये कार्य की उत्पत्ति के निमित्त कारण या हेतु का होना आवश्यक है। यह कारण विद्यमान होता है। जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। इसकी पुष्टि के लिये सांख्यकारिका की निम्नलिखित कारिका दृष्टव्य है—

v lndj.kkn|knkuknxg.kkr l o l EHkoHkkokrA
"kDrL; 'kD; dj.kkr dkj.kHkkokPp l Rdk;eAA

इस प्रकार से देखा जाय तो काव्य भी एक कार्य है।

अतः काव्य अथवा कविता करने के लिये भी कारण या हेतु का होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि बिना कारण या हेतु के काव्य बन ही नहीं सकता।

**ouLifrLdU/kfu"k..ckky
iokygLrk% ienk bok=A
i|' i{k.ky.fEHkrykpdok
e/korckroriorR;%**AA

भाव यह कि जिस प्रकार स्त्रियां पति के कन्धों पर नवपल्लव के समान हाथों को रखती हैं तथा भ्रमर युक्त पुष्पों के समान कज्जल शोभित नेत्रों को हर्ष से विकसित कर लेती हैं, उसी प्रकार वनस्पतियों के स्कन्धों पर हाथ के समान नवपल्लवों को रखी हुई तथा भ्रमर समूह से आच्छादित, अतएव लोचक युक्त पुष्परूपी नेत्रों वाली ये लताएं इस रैव तक पर्वत पर शोभा प्राप्त कर रही हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवचेन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि महाकवि माघ की कृति शिशुपालवध में भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ द्वारा निर्दिष्ट काव्य हेतुओं का उद्धरण दिया जा सकता है।

संक्षेप में महाकवि माघ काव्य हेतुओं में प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के समर्थक कहे जा सकते हैं, साथ ही अवान्तरूप में अभ्यास को भी स्वीकार करते हैं।

3½ dk0; y{k.k ॥ किसी भी पदार्थ का अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव दोषों से रहित निर्दिष्ट लक्षण प्रस्तुत करना, यद्यपि कठिन कार्य है, फिर तो काव्य जैसे दुर्बोध पदार्थ का लक्षण बतलाना तो और भी कठिन जान पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय ब्रह्मचिन्तक ब्रह्म का स्वरूप या लक्षण बताते-बताते अन्ततः भ्रान्त होकर 'नेति-नेति' प्रक्रिया का आश्रय ले बैठे।

महाकवि माघ भी इस तथ्य को रेखांकित करते हैं। अधोलिखित पद्य धर्म की दृष्टि से द्रष्टव्य है—

**lrrUref/kxUrfepNr%A
douxgeuK;k eeAA
eyrkeixr iHkkRofiAA
ikfi/kee;o{krk e;k**AA

अर्थात् हे भगवान मैं यज्ञ करना चाहता हूँ अतः उसके लिये आप अनुज्ञा प्रदान करें। मूल में आप ही को प्राप्त करके ही मैंने धर्ममय वृक्ष का पद प्राप्त किया है।

अर्थ की दृष्टि से निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

**ukuoklroluk.FkdE;rkA
ukfpfdRlrxnu jkfx.kkAA
bPNrkf'kr'euk'k"kk u pA
iR;xkfe rni;|"kk ln**AA
काम की दृष्टि से निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—
**ân;efjo/kkn;kn<n:
f<e n/kkr iu% ijUnjL;A
?kuiyd i yket kdpkx:
nir ifjJEhk fuih.u{keRoe**AA

प्रस्तुत पद्य में नारद जी श्रीकृष्ण के पास आकर शिशु के पूर्व जन्म और वर्तमान जीवन के अत्याचारों की चर्चा करते हैं और अन्त में कृष्ण से कहते हैं कि आप उसे मारें, जिससे इन्द्र अपनी पत्नी के साथ काम-सुख निर्वाध रूप से प्राप्त कर सके।

अधोलिखित पद्य में मोक्ष की पुष्टि हो जाती है—

**xkE;HkkoeigkrfePNokA
;kxekxofr ru pr l kAA
nxiede iufuoUr;A
;fokfUr ofku ee{ko**AA

अर्थात् मोह को त्यागने के इच्छुक अर्थात् मुमुक्षु लोग इस संसार में पुनः आगमन से छुटकारा पाने के लिए योग मार्ग में अपने चित्त को लगाकर इन्हीं अद्वितीय, दुष्प्राय एवं स्वतन्त्र भगवान् श्री कृष्ण का ध्यान करते हैं।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकवि माघ ने मुख्य प्रयोजन के रूप में कीर्ति को स्वीकार किये हैं, अन्य प्रयोजन के रूप में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ, कलावैचक्षण्य, सद्यः परिनिवृत्ति प्रीति व्यवहार ज्ञान को अवान्तर में स्वीकार किया है।

jpu&ifØ;k ॥ संस्कृत कविता का इस लौकिक जगत में आविर्भाव आदि कवि महर्षि बाल्मीकि से होता है। काव्योत्पत्ति की घटना का आधार क्रौञ्ची का करुणक्रन्दन है।

आचार्य आनन्दवर्धन का अधोलिखित कथन इसका प्रमाण है—

*dk0;L;kRek l ,okFkLrFkk pkfndo% ijkA
Øk¥p}U}fo;kxkRFk'kkd' ykdRoekxr%AA

उसी प्रकार महाकवि माघ की श्रीकृष्ण शक्ति ने उनके चारुचरितकीर्तन के लिये माघ को प्रेरित किया। माघ का कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है—

Jh 'kCnjE; d'r l x l ekflry{e
 y{ehi r i'pfj r dhr iuek=pk : A
 rL; kRet % l dfodhfrinj'k; kn%
 dō; i 0; /kUr f'k'kikyō/kfhk/kkueAA

आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि को स्वयं ब्रह्मा और काव्य संसार को उनकी सृष्टि कहा है।

निम्नलिखित पद्य इसका प्रमाण है—

**vikj dō; l l k j dfoj d i t kifr %A
 ; FkkLe jkpr fo' o r Fkn ifjor i r **AA

आचार्य मम्मट ने कवि को सृष्टि ब्रह्मा से भी उत्कृष्ट मानी है—

*fu; fr Ñrfu; ejfgr k vgyknide; heuU; i j r U=keA
 uo j l : fpj k fufefrekn/krh Hkkj rh do t l; fr *AA

इस प्रकार कवि वाणी सृष्टिकर्ता, विधाता के नियम से उन्मुक्त एक मात्र आह्लादकतत्त्व से परिपूर्ण, परमस्वतन्त्र, नवरसों से रूचिर, अलौकिक निर्माण करती हुई सर्वातिशायिनी रही है।

माघ ने काव्य रचना को विविध आयामों पर चिन्तन व मनन करने का समय ब्रह्मुर्त माना है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि माघ ब्रह्मुर्त में ही काव्य रचना करते थे। माघ का अधोलिखित पद्य इस तथ्य का प्रमाण है—

**{k.k'kf; rfoc) k dY; ; Ur % i; kxk
 Uknf/kegfr j k T; i dō; onnfo xkgA
 Xkgue i j j k= i k l r cf) i l knk %
 do; bo eghikf'pUr; UR; Fk t kre **AA

इस प्रकार उक्त उद्धरणों से माघ के काव्य रचना विषयक दृष्टिकोणों का अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः काव्यरचना का प्रधान लक्ष्य अपूर्व आनन्दनुभूति या रसास्वादन ही है। इस तथ्य की सिद्धि काव्य रचना के लिए उद्धृत उदाहरणों से ही हो जाती है।

**n"V k .fi "ky % l ege i k j
 j i o o f } Le; e k r r k u A
 {k . k & {k . k ; U u o r k e " k f r **
 Rkno : i i j e . k h ; r k ; k % **

vyidkj vkj vyidk; l % अलंकार की परिभाषा देते हुये आचार्य मम्मट ने कहा है, कि—

**mi do fUr r i lUr ; i M } k j . k t k r f p r A
 g k j k f n o n y M - d k j k L r : u i k l k i e k n ; % AA

महाकवि माघ अपने महाकाव्य में अलंकार और अलंकार्यों का यथास्थल उल्लेख करते हैं। कहीं—कहीं गुण और अलंकारों का कहीं—कहीं गुण और रसभावादि का एक साथ संकेत करते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

**en h; l h e f i ? k u k e u Y i x . k d f Y i r k e A
 i l k j ; fUr d i ' k y k f ' p = k o k p i V h f e o **AA

अधोलिखित पद्य में रसभावादि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—

**L F k f ; u k . F k i o r U r : H k k o k % l ¥ p k f j . k k ; F k k A
 j l L ; d L ; H k ; k l L r F k k u r e i g h H k ' r % AA

महाकवि माघ ने निम्नलिखित पद्य में अलंकार और अलंकार की स्थिति का स्पष्ट रूप से संकेत मिलाता है—

**i l k f / k r L ; k L ; e / k f n ' " k k . H k &
 n U ; o y { e h f j f r ; D r e r r A

o i'lk'k"kf[kyykd dkUrK
lkuU; dkUrK g;ij lhrjk r**AA

महाकवि माघ की ऐसी भाषा है, जो कि अलंकारों से अलङ्कृत होकर मधुर झंकार सी करती हुई प्रतीत होता है। जिसका सहृदय लोग अपने स्तर अनुकूल रसास्वादन करते हैं—

**uoiky'k iyk'kou iij] LQV ijki jkxriid teA
enyrkUr yrKureykd; rj l l jfhk l jfhk leukHkj**AA

यद्यपि अन्य काव्यशास्त्रीय सन्दर्भों की भाँति अलङ्कार और अलङ्कार्य के विभाजन के बारे में माघ के पद्यों से स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त होता, तथापि उक्त उद्धरणों से उनकी तद्विषयक अवधारणा की परिकल्पना की जा सकती है।

'kCn vFk vkj 'kCn&'kfDr; k %& महाकवि माघ के सत्कवि एवं विद्वान होने का संकेत अधोलिखित पद्य से हो जाता है—

*ukyEcr: nif"Vdrk u fu"khnr i k: "kA
'kCnkFkk l Rdfofjo }i; fo}ku i {kr**AA

यहां पर सत्कवि को शब्दार्थ की अपेक्षा है। सत्कवि विद्वान का समकक्ष होता है। अब प्रश्न यह उठता है, कि शब्द और अर्थ कैसे होने चाहिए?

इसके लिये सत्कवि अथवा विद्वान किन-किन बातों पर विचार करते हैं? इसके लिए प्रस्तुत पद्य अवलोकप्रिय है—

**{k.k'kf; rfoc) k dYi; Ur i; kxkA
unf/kegr jkT; dk0; cgfoXkgAA
do; bo eghikf'pUr; UR; Fk t kre**AA

काव्य भाषा में माधुर्य होना काव्य को अभीष्ट है, क्योंकि इससे श्रोता तत्क्षण आकृष्ट हो जाता है। महाकवि माघ शिशुपाल वध में अर्थ प्रकृतियों एवं अवस्थाओं का अवान्तर रूप में संकेत करते हैं। ये शृंगारी नायक और नायिकाओं का भी भेदोप-भेद करते हैं।

I UnHk %

1. का0अ0 ६/६४	15. ध्वन्यालोक १/५
2. का0अ0 १/२	16. शिशुपाल0 क0वं0पं0-५
3. शिशु0 क0वं0पृ0/५	17. ध्वन्या0पृ0 ४२२
4. र0बं0 ६/३	18. काव्य प्रकाश १/१६
5. शिशु0 ६/२६	19. शिशु0 ११/६
6. शिशु0 ३/३१	20. शिशु0 ४/१७
7. ध्वन्यालोक १/४	21. का0प्र0 ८/६७
8. ध्वन्या0 १/६	22. शिशुपाल0 २/७४
9. उत्तररामचरितम् २/५	23. शिशुपाल0 २/८७
10. सां0का0 ६	24. शिशुपाल0 १४/४६
11. शिशु0 ४/३५	25. शिशु0 ३/१२
12. शिशु0 १४/६	26. शिशु0 ६/२
13. शिशु0 १/७४	27. शिशु0 २/८६
14. शिशुपाल0 १५/६५	28. शिशु0 ११/६-



fujkyk dh dforkvk e 0; fDr d LoUo dh igpku

f'ko diekj ;kno*

निराला स्वाधीनता के लिए व्यक्ति के स्वत्व की पहचान को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में व्यक्ति के स्वत्व की गहरी पहचान की है। समाज के जिस भी क्षेत्र में व्यक्ति का स्वत्व आहत हुआ है निराला ने उसकी शिनाख्त कर अपनी कविताओं का विषय बनाया है। उनके काव्य के इस मर्म पर अपनी बात रखते हुए दूधनाथ सिंह कहते हैं— “निराला के सम्पूर्ण काव्य में उपेक्षित—दलित के उन्नयन और जन—साधारण की प्रतिष्ठा के प्रति गहरी आस्था के दर्शन होते हैं। उपेक्षित या जन—साधारण उनके लिए कोई अमूर्त विचार नहीं हैं। उनकी तेजस्वी मेधा ने भारतीय समाज में उस वर्ग को पहचानने और उसी दुःख—गाथा को अभिव्यक्ति देने में कभी कोई भूल नहीं की। ऐसा नहीं है कि निराला ने किसी समय—विशेष में अनुभव और रचना की किसी विशेष दिशा में ही जन—साधारण को पहचाना हो। जन—साधारण की यह गहरी और वास्तविक पहचान निराला के व्यक्तित्व की सांसारिक निष्ठा से उद्भूत हुई है। जनसामान्य की उपेक्षा, उसके शोषण, उसके अपमान, उसकी निराशा, सहनशीलता और घोर विपत्तियों में भी जीवन के प्रति उसकी भोली—भाली बेलाज निष्ठा तथा सहज विनम्रता—भरा आत्मविश्वास— भारतीय जन—साधारण के चरित्र की इस सच्चाई को निराला ने बड़ी गहराई से और सम्पूर्णतः पहचाना है।”¹ निराला समाज की हर कुरीतियों का प्रतिकार करते हैं जो मनुष्य के स्वत्व को गुलाम बनाने की साजिश करती हैं। वे मानव मुक्ति के चितरे कवि हैं इसलिए स्वाधीनता के मूल्य उनकी कविताओं की धमनियों में स्पंदित होता दिखाई देता है। व्यक्ति के स्वत्व की पहचान कर उनके भीतर उद्बोधन के बीज बोना उनकी कविताओं का प्रतिपाद्य है। ‘उद्बोधन’ शीर्षक कविता इसका प्रमाण है जिसमें वे कहते हैं—

छोड़, छोड़ दे शंकाएँ, रे निर्झर—गर्जित वीर! / उठा केवल निर्मल निर्घोष; / देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल धीर! / प्राप्त कर फिर नीरव संतोष! / भर उद्दाम वेग से बाधाहर! तू कर्कशा प्राण / दूर कर दे दुर्बल विश्वास, / किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव—गान, / एक कर दे पृथ्वी आकाश।”²

निराला स्वाधीनता के लिए समाज के दलित, किसान, मजदूर, शोषित और उपेक्षित समूह को मुख्य धारा में शामिल करने का आह्वान करते हैं। इस संबंध में 16 जून 1934 ई0 में ‘सुधा’ में की गयी टिप्पणी विचारणीय है जिसमें वे कहते हैं— “मजदूर और साधारण लोगों का पक्ष क्यों लिया जाय, जब हम यह विचार करेंगे, तब इसी से उच्चता साबित हो जाएगी। मजदूरों का पक्ष इसीलिए तो लिया जाएगा कि मजदूरों के साथ न्याय हो, उन्हें पेट—भर खाने को मिले, कष्ट के दिनों के लिए कुछ रखने को भी बच जाए, वे शिक्षित हों, समाज, देश, जाति तथा संसार के साथ मिलें, उससे सौहार्द करें। यहाँ इतने से ही देखिए, कला चढ़ती जा रही है— विकसित होती जा रही है, और बड़ी—से बड़ी विशालता में परिणत।”³ निराला का काव्य सामान्य की प्रतिष्ठा का काव्य है। उन्होंने पूँजीवादी, सामंतवादी, रूढ़िवादी, मनुवादी, शोषणकारी प्रवृत्तियों का गहरा प्रतिकार किया है जो व्यक्ति के स्वत्व का चीरहरण कर उसे गुलाम बनाने की कुटिल चाल चलता है। वे सत्ता के इस नापाक इरादे का प्रतिकार करते हुए ‘तोड़ती पत्थर’ शीर्षक कविता में कहते हैं—

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कोई न छायादार/पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;/श्याम तन, भर बँधा यौवन,/नत नयन प्रिय-कर्म-रत मन,/ गुरु हथौड़ा हाथ,/रती बार-बार प्रहार:-/सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।⁴

कहना न होगा कि इस कविता में निराला ने उन समस्त फ़ासीवादी ताकतों का प्रतिकार किया है जो व्यक्ति के स्वत्व को चूसकर अपना पेट भरते हैं। व्यक्ति के स्वत्व की पहचान करने वाली कविताओं पर नजर डालें तो 'परिमल' की 'विधवा', 'भिक्षुक', 'संध्या सुंदरी', 'दीन', 'अनामिका' की 'मित्र के प्रति', 'दान', 'प्रगल्भ प्रेम', 'तोड़ती पत्थर', 'वे किसान की नई बहू की आँखें', 'और और छवि' तथा 'कुकुरमुत्ता' कविता और 'अणिमा' की 'यह है बाजार', 'मेरे घर के पश्चिम', 'सड़क के किनारे', 'चूँकि यहाँ दाना है', 'बेला', के बहुत सारे 'गीत और ग़जलें, पूरे 'नये पलें' संग्रह की कविताएँ तथा 'आराधना' के 'ऊँट-बैल', 'मानव जहाँ बैल घोड़ा है', 'खेत जोत कर घर आये हैं', 'महकी साड़ी', 'धान कूटता है' और 'खिरनी के पेड़ तले' जैसे गीत; 'अर्चना' की 'आशा आशा मरे'; 'गीत गुंज' की कविता 'बापू तुम यदि मुर्गी खाते' तथा 'सांध्य काकली' की 'गहरी विभावरी शीत की' इत्यादि कविताएँ मानवीय गरिमा तथा अस्मिता की रक्षा करते हुए व्यक्ति के स्वत्व की पहचान करती हैं तथा स्वाधीन के लिए संघर्ष भी। कुरुरमुत्ता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

और अपने से उगा मैं/बिना दाने का चुगा मैं/कलम मेरा नहीं लगता/मेरा जीवन आप जगता/ तू है नकली, मैं हूँ मालिक/काम मुझ ही से सधा है/शेर भी मुझसे गधा है/चीन में मेरी नकल, छाता बना/छत्र भारत का वही, कैसा तना/सब जगह तू देख ले/आज का फिर रूप पैराशूट ले।⁵

व्यक्ति के स्वत्व की पहचान का जितना मार्मिक चित्रण निराला ने किया है, उतना अन्य किसी छायावादी कवि ने नहीं। भारतीय लोकहितवाद का जितना खुला चित्रण उन्होंने अपनी कविताओं में किया है वह अपूर्व है। निराला ने सामाजिक विसंगतियों को न केवल खुली आँख से देखा बल्कि उसे भोगा भी था इसलिए उनके काव्य में व्यक्ति के स्वत्व की अद्भुत छटा देखने को मिलती है। 'भिक्षुक' कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

“वह आता—/दो टूक कलेजे के करता पछताता/पथ पर आता/पेट-पीठ दोनों मिलकर है एक,/चल रहा लकुटिया टेक,/मुट्ठीभर दाने को-भूख मिटाने को/मुँह कटी पुरानी झोली का फैलाता—/दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।⁶

निराला ने स्त्रियों के प्रति गहरी आस्था प्रकट की है। उनका काव्य न केवल स्त्री शोषण का गहरा प्रतिकार करता है बल्कि उन्हें गरिमामयी स्थान देने की पक्षधरता भी करता है। भारतीय हिन्दू समाज ने विधवाओं के साथ जैसा अत्याचार किया है, वह गोपन का विषय नहीं है। ये भारतीय विधवाएँ ही हैं जो अपनी समस्त इच्छा-आकांक्षाओं की आहूति देकर अपने में ही सिसकी भरती हुई अपने फूल से कोमल बदन को अतृप्ति की अग्नि में झोंक देती हैं। निराला कहते हैं—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी/वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,/वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी/वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—/दलित भारत की ही विधवा है।⁷

निराला निरंतर जनसामान्य के स्वत्व को पहचानते रहे हैं। उन्हें अपनी अस्मिता तथा आत्मगौरव के प्रति जागरूक बनाना उनका प्रमुख लक्ष्य था। स्वाधीनता की पूर्ण प्रतिष्ठा ही उनका ध्येय था। स्वाभिमान की जो प्रवृत्ति निराला में कूट-कूटकर भरी थी, उसी प्रवृत्ति को वे जन-जन में देखना चाहते हैं—

“त्याग, तप, व्रत की शिक्षा ली, सँभले जनगण;/पीठ न दी अरि को, निःशरण किया मृत्यु-वरण;/ इसी भाव से आया जीवन का सिन्धु-तरण;/ निकले मानव गृह से फँस-फँस कर।⁸

इसी प्रकार 'बाहर मैं कर दिया गया हूँ.....' भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ। ऊपर से बर्फ गली है, नीचे यह नदी चली है; सख्त तने के ऊपर नर्म कली है; इसी तरह हर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।⁹

कहना न होगा कि निराला ने हजारों वर्षों से सताये गये शोषित जन-सामान्य की पक्षधरता बड़ी ईमानदारी से करते हैं। इसी मनःस्थिति के कारण उन्हें मध्यकालीन कवि सूर, तुलसी, जायसी और कबीर प्रिय न होकर सन्त रैदास प्रिय हैं। वे उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहते हैं—

‘हुआ पारस भी नहीं तुम ने, रहे/कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे/ज्ञान-गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार/चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।’¹⁰

व्यक्ति के स्वत्व की पहचान ही स्वाधीनता का प्रवेश द्वार है। स्त्री, दलित, किसान, मजदूर, सर्वहारा इत्यादि के स्वत्व की पहचान किये बिना स्वाधीनता मिलना कठिन है। इसीलिए निराला ने इन उपेक्षितों को मुख्यधारा में शामिल कर गरिमामयी स्थान प्रदान करने की पक्षधरता करते हैं। रामविलास शर्मा के शब्दों में कहें तो— ‘समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने के लिए अनेक आन्दोलन हुए और निराला ने उन सबका समर्थन किया किन्तु वह उनसे अलग और उन सबसे आगे भी थे, क्योंकि शिखासूत्र त्यागकर आचार और विचार दोनों दृष्टियों से— वह द्विज और शूद्र की समानता घोषित कर रहे थे, रूढ़िवादी द्विज-समाज की छाती पर पाँव रोपे हुए बार-बार ललकार रहे थे, ‘तुमसे कुछ न होगा, भारत का उद्धार शूद्र जातियाँ ही करेंगी।’¹¹

I UnHk: %

1. दूधनाथ सिंह, निराला आत्महन्ता आस्था, पृ0 154
2. सम्पा0— नंदकिशोर नवल, निराला रचनावली, भाग-1, पृ0 104
3. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, भाग-2, पृ0 130
4. नंदकिशोर नवल, निराला रचनावली, भाग-1, पृ0 343
5. उपरिवत्, भाग-2, पृ0 51
6. उपरिवत्, भाग-1, पृ0 76
7. उपरिवत्, भाग-1, पृ0 72
8. उपरिवत्, भाग-2, पृ0 176
9. उपरिवत्, भाग-2, पृ0 159
10. उपरिवत्, भाग-2, पृ0 83
11. रामविलास शर्मा— निराला की साहित्य साधना, भाग-2, पृ0 33



^Nliij* miU;kI dk vkfFkd] lkekftd ,o lkLdfrd ifjn';

euk t dekj*

छप्पर उपन्यास में दलित समस्या का गहन अध्ययन किया गया है इसमें सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, लोकतांत्रिक विश्लेषण द्वारा दलितों की हीन भावना का दूर कर उसमें ऊर्जा भरना है इसलिए इस उपन्यास के नायकों में आक्रोश और संघर्ष के साथ यथास्थितिवाद से जूझने की पूरी सामर्थ्य मौजूद है।

‘छप्पर’ जयप्रकाश कर्दम का बहुचर्चित उपन्यास है। यह उत्तरप्रदेश के एक छोटे से गाँव मातापुर के यथार्थ जीवन पर आधारित है। इसमें ग्रामीण एवं नगरीय जीवन का चित्रण है। इसे दलित उपन्यासों की परंपरा में हिन्दी का प्रथम दलित उपन्यास होने का दर्जा भी प्राप्त है। यह उपन्यास दलित जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इसमें दलित चेतना, दलित संघर्ष, दलित आन्दोलन, दलित साहित्य, इत्यादि पहलुओं को उजागर किया गया है। इसमें अधिकतर कामकाजी लोग शोषित, पीड़ित और अन्याय के शिकार हैं। अगर देखा जाए तो समानता, स्वाभिमान, भाईचारे आपसी प्रेम और करुणा को केन्द्रित कर लिया गया है। प्रेम, दया, करुणा और मानवता की स्थापना उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है। इसी उपन्यास की पृष्ठभूमि में जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि “छप्पर हिन्दी दलित साहित्य का प्रथम उपन्यास है। 1994 ई. में प्रकाशन के साथ इस उपन्यास ने हिन्दी दलित साहित्य में एक नई जमीन तोड़ी। छप्पर को इस बात का गौरव भी प्राप्त है कि हिन्दी दलित साहित्य की किसी एक कृति पर ही हुआ था, 1997 में विक्रमशिला विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.) से। देश के अन्य कई विश्वविद्यालयों में भी ‘छप्पर’ पर शोधकार्य हुए हैं और हो रहे हैं। इस उपन्यास ने साहित्य जगत पर अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा है। यह प्रभाव केवल इतना ही नहीं है कि यह दलित साहित्य की एक अनिवार्य कृति है तथा हिन्दी दलित साहित्य पर कोई भी सार्थक चर्चा ‘छप्पर’ के बिना अधूरी है। दलित साहित्य से अलग भी प्रेमचन्द और फणीश्वरनाथ रेणु की परम्परा के महत्वपूर्ण उपन्यासों में इसकी गिनती होती है तथा उतने ही सम्मान के साथ इसे पढ़ा और सराहा गया है।” मातापुर गाँव में दो तरह की बस्ती बसी हुई है। एक ओर सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण-पुरोहित, ठाकुर-जमींदार तथा लाला-साहूकार हैं तथा दूसरी ओर अवर्ण कहे जाने वाले दलित लोग गंगा के बहाव की तरफ निचान में बसे हैं। निचान की ओर गाँव के इस छोर का सबसे आखिरी घर है सुक्खा का। घर के नाम पर सुक्खा के पास भी सिर छिपाने के लिए सिर्फ एक छप्पर है। इसी छप्पर के नीचे वह अपनी पत्नी रमिया के साथ रहता है। उन्हीं का बेटा चन्दन है। चन्दन को पढ़ाना ही अपना जीवन सफल मानते हैं। उसको पढ़ाने के लिए जीवन भर संघर्ष से जूझता है तथा सुक्खा को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीति जागरूकता अस्मिता संबंधी कई परिदृश्य से संघर्ष करना पड़ता है। उसी संघर्ष से एक चेतना जागृत होती है।

छप्पर उपन्यास में आर्थिक समस्याओं का चित्रण अपेक्षाकृत सामाजिक समस्याओं से काफी कम हुआ है। इन समस्याओं के मूल में भी समाज का जातिगत ढांचा प्रमुख रूप से उत्तरदायी रहा है। छप्पर के सुक्खा और रमिया को अपने बेटे चंदन की शहर में पढ़ने भेजने की वजह से गाँव में मजदूरी से बहिष्कार झेलना पड़ता है, इनकी दयनीय स्थिति गले में अटकी उस हड़डी के तुल्य है जो न बाहर आती है और न अन्दर जाती है। एक तो दमा की बीमारी का शिकार है ऊपर से इलाज के पैसों का अभाव मिलकर

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

उसकी मजबूरी को बढ़ा देते हैं। वह असमय बूढ़ा और जर्जर हो जाता है। लगान न दे सकने के कारण खेतों के टुकड़े से बेदखली, भैंस का मरना और ऊपर से घर पर लाला दुर्गादास द्वारा कर्ज के कारण कब्जा करना। इस पर पंचायत का निर्णय उसके विरुद्ध/जमीन से बेदखली का दृश्य मौजूद है। सुक्खा अपनी पत्नी से कहता है कि— “सुनी नहीं तुमने मनादी की आवाज? कहते हुए उसने रमिया की ओर देखा। ‘नहीं, मैंने कुछ नहीं सुना। मैं तो रोटी सेंकने में लगी थी। बताओ न किस बात की मनादी थी।’ ... अमीन आया है लगान वसूल करने। नहीं दिया तो बेदखली हो जाएगी।”¹¹ और कहकर चुप हो गया सुक्खा।

“बेदखली का नाम सुनते ही चेहरा फक पड़ गया रमिया का भी। एक बारगी पैरों के नीचे से जमीन खिसकती सी लगी उसे।”¹² अब पति-पत्नी के सामने अन्धेरा छा गया। अब सोच-विचार करने लगते हैं कि अब किसके पास जाए। सेठ दुर्गादास के हाथों खुद घर गिरवी रखी है। वक्त की मार ने सुक्खा को चौपट कर दिया। इन सारी आर्थिक विवशताओं के कारण उन्हें खानाबदोश जीवन जीना पड़ता है। वह अपने पुत्र चंदन की चिट्ठी के बारे में सोचने लगता है। “चंदन को दो सौ रुपये चाहिए इम्तहान की फीस के लिए, फीस जमा नहीं हुई तो इम्तहान नहीं दे सकेगा वह, सारे करे-धरे पर पानी फिर जाएगा। भविष्य बेकार हो जाएगा।”¹³

वास्तव में चिंतित हो उठता है, “क्या उसकी पढ़ाई अधूरी छूट जाएगी क्या उसकी इच्छाओं का जिन्दे ही गला घुट जाएगा? क्या होदे तक पहुंचने का उसकी उम्मीदों का महल रेत के ढेर की तरह बिखर जाएगा। क्या मेरे जीते जी मेरे इकलौते बेटे को अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर मेरी तरह शोषण और बर्बरता की चक्की में पिसना पड़ेगा? क्या उसे भी गुजर-बसर के लिए लाला-साहूकारों के तलवे सहलाने पड़ेंगे? क्या उसे भी ठाकुर जमींदारों के सांटे और दुधमुहें बच्चों तक की गालियां सहनी पड़ेंगी? क्या उसे भी गुड की डरी या प्याज की गंठी के साथ रुखी-सूखी रोटी हलक के नीचे उतारकर दिन गुजारने पड़ेंगे? क्या उसे भी मेरी तरह जानवरों का सा जीवन जीना पड़ेगा।”¹⁴

लेखक ने यहाँ पर बहुत ही यथार्थ परक मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। सुक्खा को जब लगता है कि उसके पुत्र को भी उसके जैसा जीवन जीना पड़ेगा तो वह भविष्य की भयावह आशंका से कांप उठता है। अगर देखा जाए तो हरिया की पत्नी की मौत भी आर्थिक तंगी से हुई है। क्योंकि वह गर्भवती होने के बावजूद वह भट्टा पर काम करना नहीं छोड़ती है। एक दिन पैर फिसलने के वजह से अन्दरूनी चोट के वजह जच्चा एवं बच्चा की मौत हो जाती है। हरिया को जीवन भर अफसोस रहता है कि ठीक से दवा-दारू होती तो शायद वह बच जाती। यहां सुक्खा और रमिया का चरित्र और उनकी स्थितियाँ विषयवस्तु की दृष्टि से पूरे भारत के दलितों के प्रतिनिधि पात्रों के रूप में प्रस्तुत हैं। बहुसंख्या दलित आज भी ऐसा ही जीवन जीते हैं। “यहाँ प्रेमचंद के गोदान का होरी याद आता है। सुक्खा भी होरी की तरह भूमिहीन मजदूर है। दोनों की आर्थिक परिस्थितियाँ एक समान हैं। परन्तु दोनों के उद्देश्य से स्पष्ट भिन्नता है। होरी सहनशील यथास्थिति में अपने को बनाए रखता है। जबकि सुक्खा शांति, विनम्र और संघर्षशील पात्र है। विपरीत परिस्थितियों में भी विवेक नहीं खोता और अपने उद्देश्य से नहीं भटकता है। वह सफल भी होता है।”¹⁵

अगर देखा जाए तो दलितों की आर्थिक स्थिति गाँव तथा शहरों में एक जैसी होती है, शहरों में थोड़ा बहुत कमवेसी होती है। संत नगर शहर के जे.जे. कालोनी के सभी दलित अपने जीविकोपार्जन के लिए खिलौने बनाना, लिफाफा बनाना, जूते की मरम्मत करना, साग, सब्जी इत्यादि कार्य करना तथा ईंट गारे, सीमेंट आदि दिहाड़ी पर काम करते थे। क्योंकि इस कालोनी के हरिया के परिवार का विनाश भट्टा मजदूर के रूप में होती है। उसकी बेटा कमली के साथ सामूहिक बलात्कार किया जाता है। इसका प्रतिरोध करने पर हरिया पर बेहताशा मार पड़ती है। पुलिस मौन धारण किए यह भेदभाव देखती है। वास्तव में दलितों के साथ बहुत अन्याय होता है, न तो पुलिस प्रशासन भी साथ नहीं देती है। दलित अपने अस्मिता की आवाज भी नहीं उठा सकते हैं। क्योंकि उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति ठीक नहीं होती है। इनकी बेगारी और विवशता का दृश्य चंदन के संवादों से इस प्रकार चित्रित हुआ है— “कमर तोड़ मेहनत करके भी आदमी को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं हो पाती ठीक से। बीस-तीस रुपये का काम

करा कर मालिक छः सात रूपए देता है— दिहाड़ी के। भूखा पेट क्या करे, जो मिल जाए उसी से संतोष करना पड़ता है। ज्यादा की बात करें भी कैसे, क्या पता कल को उससे भी हाथ धोना पड़ जाए। ऊपर से मालिक की गालियाँ और साले चले आते हैं नखरा दिखाने, लीडर बनते हैं हरामजादे। काम—धाम कुछ करेंगे नहीं और चाहेगे कि फैक्ट्री इनके नाम हो जाए।¹⁶ अगर देखा जाए तो ग्रामीण और नगरों—महानगरों के दलितों की आर्थिक स्थितियाँ किसी सी छिपती नहीं है। छप्पर उपन्यास में महत्वपूर्ण बात यह है कि ग्रामीण और शहरी परिवेशों में दलितों के आर्थिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य का तुलनात्मक चित्रण किया गया है।

छप्पर उपन्यास में सामाजिक समस्याएँ ही मुख्य रही हैं। क्योंकि दलित समाज की सबसे बड़ी समस्या समाज में अस्मिता की है। दलितों को ऊँच—नीच, छुआछूत जैसी समस्याओं से सामना करना पड़ता है। इसमें समाज की वास्तविक समस्याओं की पहचान और उनके समाधान के लिए किए जा रहे सही प्रयास एक अभाव और उत्पीड़न हमारे समाज का यथार्थ रहा है। सदियों से अपने इस यथार्थ को जिया और भोगा है। छप्पर का सुक्खा भी इसी भारतीय समाज व्यवस्था अर्थात् जमींदारी प्रथा और हिन्दू धर्म के रक्षक ब्राह्मण के प्रपंच का शिकार होता है। सुक्खा अपने पुत्र चंदन को शिक्षित कराके उसके भविष्य को सुनिश्चित करना चाहता है। इसके लिए वह चंदन को शहर पढ़ने भेजता है, तो इतनी सी बात के लिए वह मातापुर गांव के जमींदार और ब्राह्मण, साहूकारों इत्यादि लोगों ने इसका विरोध करते हैं। जैसे भूचाल आ गया था सारे गांव में।

“ब्राह्मण—ठाकुर सबके कान खड़े हो गए थे। एक अनहोनी सी हो गयी, अनहोनी ही नहीं जैसे बड़ा भयंकर अनर्थ हो गया। ब्राह्मण और ठाकुरों से लेकर लाला—साहूकार तक सब हैं इस गाँव में और बड़े—बड़े पैसे और हैसियत वाले, पर आज तक किसी का बेटा शहर पढ़ने नहीं गया। लेकिन सुक्खा चमार का बेटा पढ़ने शहर चला गया। नाक कट गई सबकी। सबके सिर पर मूत दिया एक चमार ने।” यह बात पूरे गाँव में हवा जैसे फैल जाती है। जमींदार हरनाम सिंह और काड़े पंडित सुक्खा के लिए बहुत बड़ी समस्या बनते हैं। उसी दिन ठाकुर हरनाम सिंह के चौपाल पर गाँव के सारे सवर्णों की पंचायत होती है। पंचायत में सुक्खा चमार के विरुद्ध फैसला होता है न तो सुक्खा को किसी खेत क्यार में घुसने दिया जाए और न उसे किसी डौले—चमरोड पर घास खोदनी दी जाए और न लाई—पताई या मजदूरी के लिए बुलाया जाए।¹⁷ सुक्खा के लिए यह आर्थिक समस्या तो कम है लेकिन यहां सामाजिक समस्या यानि अस्मिता का सवाल है। वह तो तार—तार हो जाता है। अन्तोगत्वा वह गांव छोड़कर चले जाते हैं। उधर हरिया भी समाज का सामना न कर पाने के कारण से घर छोड़ देता है। क्योंकि उसके बेटे कमला के साथ सामूहिक दुष्कर्म के बाद हरिया और कमला पिछड़ जाते हैं। वह संतनगर में रहने लगता। बहुत दूढ़ा अपनी बेटे को लेकिन मिलती नहीं है। छप्पर उपन्यास के मुख्य पात्र चन्दन भी अपने दोस्तों से जब आपस में अपने समाज के उत्थान के लिए कार्य करने के लिए सोचते हैं तो चंदन अपने मित्र रामहित से कहता है कि “केवल सामाजिक रूप से ही हमारी परिस्थिति निम्न नहीं है बल्कि आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक प्रत्येक क्षेत्र में हम पिछड़े हुए हैं। हमें प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर आने की जरूरत है, लेकिन सबसे पहली जरूरत है सामाजिक सम्मान की। यदि तुम्हारी सामाजिक हैसियत तो तुम्हारे लिए हर कहीं गुंजाइश हो सकती है। यदि तुम्हारी कोई सामाजिक हैसियत नहीं है तो चाहे तुम कोई भी काम कर लो धन कमा लो उस सबका कोई महत्व नहीं है, पैसा भी जीवन का फैक्टर है, मैं इससे इंकार नहीं करता लेकिन इससे पहले जरूरी है समाज में तुम्हारी हैसियत का होना।”¹⁸ छप्पर उपन्यास में गाँव से लेकर शहर तक दलितों की सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रित करने का प्रयास किया गया। गांव में सामंतों का वर्चस्व है तो शहरो में पूंजीपति, मिल—मालिक और भट्टा मालिक इत्यादि का। उनको वे सब हिकारत की दृष्टि से देखते हैं, जिस हिकारत से गांव की कथित सवर्ण जातियां देखती हैं।

छप्पर उपन्यास में आर्थिक रूप से विपन्न, सामाजिक रूप से उपेक्षित शिक्षा और प्रतिनिधित्व से वंचित समाज में तथाकथित ईश्वर व देवताओं के नाम पर जारी कई कर्मकाण्डों, धार्मिक अंधविश्वासों, आडम्बरों जात—बरात के चक्कर में पड़कर झोले जा रहे दुःख दर्दों को उजागर करता है। इस उपन्यास में धार्मिक मान्ताएं, अंधविश्वास पाखण्डों का केन्द्र बनती देखी जाती है। जब बरसात नहीं होती है तो संत

नगर जे.जे. कालोनी के लोगों ने भी एक यज्ञ का आयोजन करने का विचार बनाया। चंदा इकट्ठा करना शुरू किया— चन्दन इसका विरोध करते हुए कहा कि— “यह मान्यता गलत है कि यज्ञ करने से भगवान इन्द्र प्रसन्न होंगे और तब वर्षा होगी। वर्षा होगी मानसून के आने से अभी मानसून नहीं आया है इसलिए वर्षा नहीं हो रही है। यज्ञ—वज्ञ सब बेकार की चीजें हैं। यह पाखण्ड है, इससे कुछ होने वाला नहीं है। दुनिया में ऐसा कोई देवता या भगवान नहीं है और इसलिए उनके द्वारा वर्षा कराए जाने की कोई संभावना नहीं है।”⁹

चन्दन आत्मा परमात्मा को नकारता है। वह कहता है कि “मनुष्य सबसे बड़ी सत्ता है, दुनिया में मनुष्य से बड़ी कोई चीज नहीं है। आत्मा, परमात्मा, ईश्वर ब्रह्म और भगवान, इसमें से कोई भी वास्तविक नहीं है। ये सब मिथक हैं, काल्पनिक हैं तथा भोले-भाले लोगों को वेवकूफ बनाकर अपने स्वार्थ करने के उद्देश्य से चालाक लोगों द्वारा ईजाद किए गए हैं।”¹⁰ नायक सुक्खा गांव मातापुर के सामंतों की जड़ संस्कृति से जूझता है और अपने बेटे चंदन को गांव की रीति-नीति से दूर रखता है। वह उसे शिक्षित करना चाहता है। चंदन शहर में जे.जे. कालोनी के दलितों में धार्मिक अंधविश्वास, भाग्यवाद के विरुद्ध तर्क व कर्मवाद का बीज बोता है। वह शिक्षा का महत्व बताता है और स्कूल खोलकर उन्हें शिक्षित करके हिन्दू संस्कृति के विरुद्ध संघर्षरत है। इस तरह छप्पर में हिन्दू धर्म—संस्कृति से विद्रोह के अनेक प्रसंग आए हैं यह अलग बात है कि उनको और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता था। किन्तु वे जिस रूप में हैं उन्हें स्वीकारना होगा। उपन्यास का नायक चन्दन ईश्वर के अस्तित्व पर भी सवालिया निशान लगाते हुए कहता है “यदि आपकी बात ही सच मान ली जाए कि ईश्वर है तो आप ही देखिए कि वह कितना अन्यायी और निर्दयी है। तुम लोग जिस ईश्वर को मानते हो, उसकी पूजा करते हो, उसको प्रसन्न रखने के लिए भेंट चढ़ाते हो, तब भी उसे तुम पर दया नहीं आती और वह तुमको पशुवत और नारकीय जीवन जीने को बाध्य करता है। तब तुम ही सोचों कि यदि है भी तो ऐसे ईश्वर को क्यों माना जाए।”¹¹

छप्पर उपन्यास को पढ़कर कहा जा सकता है कि कथाकार के मानस पर अम्बेडकर का धार्मिक प्रभाव है। विशेषकर धर्म परिवर्तन को जैसा कि हम जानते हैं डॉ. अम्बेडकर द्वारा हिन्दू धर्म ग्रन्थों की अपौरुषेयता को चुनौती दी गई थी। कथा रूप में उनके विचार का विस्तार किया गया है— “समाज धर्म द्वारा प्रेरित और संचालित है। हमारी सामाजिक स्थिति धार्मिक आदेशों का ही परिणाम है। धर्मग्रन्थ ही हमारे शोषण और अत्याचार की जड़े हैं। इन जड़ों को उखाड़ फेंकने की जरूरत है और इसके लिए जरूरी है कि लोग अधिक से अधिक पढ़ें, ताकि इन धर्मग्रन्थों में निहित अन्याय और असमानता के दर्शन को समझ सकें तथा इसके विरुद्ध संपर्क करने के लिए स्वयं को तैयार कर सकें।”¹²

वास्तव में देखा जाए तो चंदन का विचार यथार्थपरक एवं सटीक है। इसको झुठलाया नहीं जा सकता कि कमजोर दलितों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति इन हिन्दू धर्म ग्रन्थों की दलित विरोध व्यवस्थाओं के कारण हुई है। इसलिए दलित चिंतकों, विचारकों में इन धर्म ग्रन्थों की धार्मिक आस्थाओं के प्रति अविश्वास पैदा हो रहा है। छप्पर की स्त्री पात्र रजनी के मुंह से गाँव में हो रही सांस्कृतिक परिवर्तन को दर्शाया गया है, जो एक तरफ संतोषजनक भी है तो दूसरी ओर अवास्तविक भी लगता है क्योंकि रजनी चंदन से प्रभावित होकर अपने पिता को सामंतों की शोषक संस्कृति के उलट न्याय, समता और भाईचारे की संस्कृति का माहौल उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती है और पिता हरनाम सिंह अपनी पुत्री से प्रभावित होकर स्वयं को व्यावहारिक रूप में बदलते हैं। अपनी संपत्ति दलितों में बांट देते हैं। ऐसा अपवाद भी नहीं होता है। रजनी दलितों के प्रति मुख्यतः चंदन के माता-पिता के प्रति सहानुभूति रखती है। वह सुक्खा से कहती है कि आप चलकर तो देखिए बाबा पहले जैसे नहीं रहा गया मातापुर अब। लोग सम्मान और स्वाभिमान से जीने लगे हैं। एक नई जागृति सी आ गई लोगों में। पुरानी परंपराएँ दम तोड़ चुकी तथा अन्याय और शोषण की संस्कृति की जगह न्याय और समता की संस्कृति का अभ्युदय हो रहा है मातापुर में।” कर्दम जी के उपन्यास छप्पर का चंदन एक समाज सुधारक युवक है। वह दलितों के श्रम का सम्मान चाहता है। वह पूजा अर्चना के पीछे—छिपे निहितार्थों पर शंका व्यक्त करता है। काल्पनिक दैवीय शक्तियों से भयाक्रान्त कर मनुष्य की वास्तविक शक्ति की उपेक्षा की जाती है। उपन्यासकार अपने पात्रों के माध

यम से कहता है कि देवी—देवताओं की पूजा अर्चना तथा उनके लिए यज्ञ और हवन आदि अनुष्ठानों की परंपरा से भयभीत रखकर धर्म विशेष को जीवित रखना। चंदन के माध्यम से लेखक समाज में बदलाव लाना चाहता है। धार्मिक अंधविश्वासों और अंध श्रद्धा के बजाए तर्क, बुद्धि और विवेक से स्थापित समानता स्वाभिमान और भाई चारे की संस्कृति स्थापित करना चाहता है।

इस प्रकार उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता, दलित समाज की वास्तविकता समस्याओं की पहचान और उनके समाधान के लिए किए जा रहे सही प्रयास एक अभाव और उत्पीड़न हमारे समाज का यथार्थ रहा है। ग्रामीण शहरी परिवेश में लिखे गए उपन्यास में उपन्यासकार ने सुखा—रमिया के पुत्र उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति, उनके जीवन की त्रासदी उनके पास जमीन जायदाद न होना, मजदूरी पर निर्भर होना, सवर्णों द्वारा दलितों की शिक्षा आदि बाधक बनना, शहर में चंदन का शिक्षा प्राप्त करना, संत नगर आदि के लोगों में चेतना जगाना। दलित आंदोलन के तहत शिक्षा की व्यापकता बढ़ाना समस्त समाज की स्थापना करना इत्यादि प्रमुख केन्द्रबिन्दु की अभिव्यक्ति हुई है। अतः यह कहा जा सकता है कि दलित उपन्यासों में मानवीय चेतना के सरोकारों के साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, नेतृत्व और अस्मिता संबंधी मुक्ति प्रश्नों पर गंभीरता से विचार किया गया है। जिससे शोषण के विरुद्ध समाज निर्माण की संघर्ष चेतना का प्रस्फुटित हुई है।

I UnHk %

1. कर्दम, जयप्रकाश, 2012, छप्पर, राहुल प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, पृ. 27
2. वही, पृ. 27
3. वही, पृ. 28
4. वही, पृ. 28
5. माता प्रसाद, 2004, दलित साहित्य में प्रमुख विधाएं, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21
6. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, 2010, हिंदी दलित कथा साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 164—165
7. कर्दम, जयप्रकाश, 2012, छप्पर, राहुल प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, पृ. 31
8. वही, पृ. 37
9. वही, पृ. 17
10. वही, पृ. 17
11. वही, पृ. 19
12. 'मीनू', डॉ. रजत रानी, 2010, हिंदी दलित कथा साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 234



L=hRo dh 0;Fkk dFkk cuke jk tfd'kkj dk miU;kI
^rEgkjk I[k*

I'khy dekj*

‘तुम्हारा सुख’ राजकिशोर द्वारा लिखा गया उनका पहला उपन्यास है जो सन् 1995 में प्रकाशित हुआ है। यह स्त्रीत्व की व्यथा को दर्शाने वाला ऐसा उपन्यास है जिसमें लेखक ने स्त्री द्वारा अपनी पहचान की खोज में किये जा रहे संघर्ष की रोमांचक गाथा को कहा है। यह गाथा उपन्यास की नायिका मालविका की है जो पुरुषवादी सत्ता द्वारा बनाए सामाजिक संस्थानों, शैक्षिक संस्थानों, अपने रोजमर्रा के जीवन में, प्रत्येक क्षण और हर मोड़ पर संघर्ष करती हुई दिखाई देती है।

स्त्रीत्व की व्यथा उपन्यास में यह है कि सर्वप्रथम उसे इस बात का एहसास कराया जाता है कि वह स्त्री है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री पुरुष के लिए एक अलग प्रकार का प्राणी है जिसमें न कोई इच्छाएँ हैं, न कोई अपना व्यक्तित्व। पहले अपने पिता के, फिर पति और फिर अपनी संतान से उसका व्यक्तित्व निर्माण होता है यही इस समाज की मान्यता रही है। समाज की नज़र में उसका शरीर महत्व रखता है। लड़की को लड़की होने का एहसास बार-बार कराया जाता है यह भी स्त्रीत्व की व्यथा को दर्शाता है जैसा कि इस उपन्यास में मालविका के माध्यम से स्पष्ट दिखाई देता है। मालविका को पहली बार यह एहसास कराया गया कि वह लड़की है। तब वह इसे समझने में असमर्थ थी। बच्ची थी। लेकिन जैसे – जैसे उसके शरीर एवं मन का विकास हुआ उसे इस बात का एहसास हुआ कि स्त्री को मनुष्य से अधिक उसे कुछ और समझा जाता है और वह है हाड़ – मांस का पुतला यानी शरीर उपयोग की सामग्री। इसी व्यथा को मालविका पूरे उपन्यास में ढोती हुई नज़र आती है।

मालविका को जीवन में इस व्यथा से हर पल जूझना पड़ता है। पुरुष द्वारा उसका शोषण मानसिक एवं शारीरिक दोनों स्तरों पर किया जाता है। उसकी व्यथा का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है जिसे उपन्यास में दर्शाया गया है। शैक्षिक संस्थान में प्रो. मुकुट बिहारी लाल द्वारा उसका शारीरिक शोषण किया जाता है जबकि कमल मिश्र द्वारा उसका मानसिक रूप से शोषण किया जाता है। प्रो. लाल उसके शोध निदेशक थे, “ जो उसके साथ सोये बगैर उसके थीसिस की दिशा में उसे एक कदम भी आगे ले जाने को तैयार नहीं थे।”¹ वर्तमान समय का सबसे बड़ा सच यही है कोई भी किसी का काम तभी करता है जब उसका स्वयं का स्वार्थ भी सिद्ध हो जाये। वर्तमान कर इस सबसे बड़े सच को दर्शाने में यह उपन्यास सफल हुआ है। आज के औद्योगिकरण और बाज़ारवाद के इस दौर मर न जाने कितने शैक्षिक संस्थानों में प्रो. मुकुटबिहारी जैसे शोध निदेशक व प्रोफेसर मौजूद हैं जो मालविका जैसी कई शोध छात्राओं का शोषण करते हुए देखे जा सकते हैं।

स्त्रीत्व की व्यथा का तीसरा पहलू जो इस उपन्यास में रेखांकित हुआ, वह है स्त्री का रंग। मालविका का रंग काला था, जिस कारण कमल मिश्र उससे शादी नहीं करता है। कमल मिश्र एवं मालविका दोनों आपस प्रेम करते हैं। “प्रो. लाल ने मालविका के शारीरिक कौमार्य का छलपूर्वक अपहरण किया था, किन्तु उसका मानसिक कौमार्य बचा हुआ था।”² जिसका शोषण कमल मिश्र ने किया उसे शादी के लिए मना कर किसी और से शादी करके। काले रंग के कारण कमल मिश्र उससे शादी नहीं करता क्योंकि उसे सामाजिक स्थलों पर अपने साथ काले रंग की लड़की को ले जाने में शर्म महसूस होती है। वह कहता है, “मान लो हमने विवाह कर लिया और हमारी संतान हुई। कहीं वह भी तुम्हारी तरह काली हुई तो ?”³

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

रंग के कारण मालविका को यही नहीं कुछ अन्य स्थलों पर यातना सहनी पड़ती है जो उसकी व्यथा को ज्यादा तीव्र करते हैं और वह सोचती है कि शारीरिक उपभोग के लिए काला रंग तो चलेगा लेकिन जीवन भर यदि उन्हें उसके साथ रहना तो गवारा नहीं।

उसकी पूरी व्यथा अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष के रूप में नज़र आती है। हर रात स्वयं से प्रश्न करती और स्वयं से ही उसका उत्तर खोजने की कोशिश करती है। वह जान जाती है कि “स्त्री और पुरुष के बीच आत्मा की निकटता तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक शरीर दीवार की तरह बीच में मौजूद रहता है। मन से शरीर की ओर जाना जितना आसान होता है, शरीर से मन की ओर जाना उतना ही कठिन।”⁴ यही मालविका का अंतर्द्वन्द्व है और यही व्यथा है जो एक स्थान पर कुछ तो अन्य स्थान पर कुछ और नज़र आती है। इस उपन्यास में मालविका के माध्यम से लेखक ने स्त्रीत्व के विभिन्न पहलुओं पर भी विचार किया है। स्त्री चाहे जहाँ भी चली जाए वह सुरक्षित नहीं है। पुरुषवादी समाज किसी न किसी तरीके से आखेट द्वारा उसका शिकार करने के लिए, पग-पग पर उसे नोचने को तैयार बैठा है, चाहे वे किसी शकल में क्यों न हों।

‘तुम्हारा सुख’ उपन्यास में भी मालविका के माध्यम से यही दर्शाया गया है। वह कई जगहों पर शोषण का शिकार होती है। जो स्त्रीत्व के महत्वपूर्ण पहलू हैं, वह जो स्त्री है, क्या उसका जादू उसकी देह में ही होता है? नहीं होता तो स्त्री की उपस्थिति पुरुष की उपस्थिति से हमेशा भिन्न क्यों होती? पुरुष सुंदर होते हैं। उनकी ओर भी ललक से देख जाता है। लेकिन निर्वस्त्र देखने की इच्छा तो इस बेकरारी से व्यक्त नहीं की जाती। फिर स्त्री को इस आग्रह का सामना क्यों करना पड़ता है?”⁵

उपर्युक्त कथन एवं प्रश्नावली स्पष्ट रूप से स्त्रीत्व की व्यथा, संघर्ष छटपटाहट, अंतर्द्वन्द्व सब कुछ इसी कथन से साफ होता हुआ नज़र आता है। उपन्यास में मालविका केवल एक स्त्री के रूप में देखा जाती है और वो भी उसके शरीर के कारण अगर भूलवश उसे किसी ने मन से देखा तो उसका काला रंग बीच में आ गया। इस प्रकार स्त्रीत्व की व्यथा को इन दो पहलुओं में इस उपन्यास में पाते हैं। इस आधार पर यह कथा मालविका की ही नहीं है।

युवा होने पर मालविका की मुलाकात जब कमल मिश्र से एक पत्रकारिता कार्यालय में हुई थी वहीं पर आनंद सक्सेना उस पत्रिका का संपादक था। कमल मिश्र से बिछड़ने के बाद मालविका उस कार्यालय को छोड़ देना चाहती है ताकि वह अपनी व्यथा से छूट सके उसे नहीं पता था कि वह जहाँ भी चली जाए उसकी व्यथा समाप्त नहीं हो सकती है। मालविका पत्रिका की एक उत्साही एवं कॉमरेड कार्यकर्ता बन चुकी थी जिसे वे खोना नहीं चाहती थे। दूसरी ओर कमल मिश्र के पिता पार्टी की मदद करते थे। अब आनंद सक्सेना न तो मालविका को जाने देना चाहते न ही कमल मिश्र को कुछ बोल सकते थे। यहां भी स्त्रीत्व की व्यथा का एक अन्य पहलू खुल कर सामने आता है। कि इस अवसरवादी एवं उपभेक्तावादी समाज में स्त्री को किस प्रकार इस्तेमाल करता है, इसका भी आखेट रचाया जाता है। उसे विभिन्न प्रकार की मीठी बातों से अपने वश में करने का यत्न किया जाता है, “मैं आप लोगों के साथ काम करने को तैयार हूँ लेकिन एक छोटी सी शर्त है। शर्त यह है कि सम्मेलन समाप्त होने के बाद पार्टी अपने सदस्यों के आचरण की जाँच करेगी और जिसका आचरण घोर अनैतिक होगा उसे पार्टी से निकाल दिया जाएगा।”⁶ इशारा कमल मिश्र की ओर था आनंद सक्सेना कहता है, “आपकी बात से मैं शत प्रतिशत सहमत हूँ लेकिन मैं पार्टी का अदना सा कार्यकर्ता हूँ। इतनी बड़ी बात कैसे मनवा सकूँगा।” स्पष्ट है कि आनंद सक्सेना नहीं चाहता था कमल मिश्र के पिता से मिल रही मद से पार्टी वंचित रहे। मालविका को बहुत मनाने पर भी जब वह नहीं मानती तो वह चला जाता है।

शोध और साहित्य दोनों छोड़कर मालविका का जीवन रुक सा जाता है, जो उसकी व्यथा के अंतर्द्वन्द्व को और अधिक तीव्र करता है। उसके माता-पिता को उसकी शादी की चिंता थी जो होना मुश्किल दिखाई दे रहा था क्योंकि उनके समुदाय में हमेशा सुंदर लड़कियों की खोज की जाती थी स्त्रीत्व की व्यथा का एक अन्य पहलू इस उपन्यास में नज़र आता है कि काला रंग समाज में इतना हीन समझा जाता है कि आज के वर्तमान समय में भी यदि किसी सुन्दर लड़के से एक पढ़ी-लिखी या नौकरी करने वाली लड़की से शादी करने के कहा जाए जो काले रंग की हो तो मुझे लगता है कि अधिकतर पुरुष इस बात के लिए नहीं मानेंगे और कहेंगे कि इस काली लड़की से शादी कौन करेगा?

स्त्रीत्व की व्यथा की कथा यहीं नहीं रुकती मालविका अपने माता-पिता के घर से मामा के पास दिल्ली जाती है जहाँ एक धार्मिक समुदाय के प्रमुख आचार्य परमानंद से उसकी मुलाकात होती है। कहने को वे बहुत बड़ी – बड़ी डींगें हाँकते हैं कि स्त्री को समान अधिकार मिलना चाहिए, स्त्री पुरुष की आपसी मुलाकात के पक्ष में वे भी नहीं थे क्योंकि उनका मानना था कि इससे कई प्रकार की विकृतियाँ पैदा होती हैं। लेकिन जब परमानंद खुद मालविका को अकेले में अपने पास बुलाता है तो उसके धार्मिक संस्थान का सारा रहस्य मालविका के सामने खुल जाता है। उसकी व्यथा यहाँ भी ठहरने का नाम नहीं लेती। स्त्रीत्व की व्यथा यहाँ भी शरीर पर आकर ठहर जाती है। आचार्य परमानंद के इस संवाद से स्पष्ट होता है, “पहले ही दिन जब मेरी नज़र तुम पर पड़ी थी, मैं समझ गया था कि तुम्हारे भीतर कुछ खास है।”⁸ और वह खास चीज थी शरीर जिसका शिकार आचार्य परमानंद करना चाहता था। मालविका अपनी इस व्यथा के भंवरजाल में पूरी तरह जकड़ी हुई नज़र आती है। प्रत्येक क्षण, हर जगह जहाँ भी जाती है उसे संघर्ष से समाना करना पड़ता है, उसका अंतर्द्वन्द्व लगातार चलता रहता है। वर्तमान समय की यदि बात करें तो राम रहीम, आसाराम आदि जैसे न जाने कितने धार्मिक पाखंडी हैं जो कभी परमानंद बन कभी आसाराम या राम रहीम बन कर न जाने कितनी कितनी मालविका जैसी स्त्रियों का शोषण करते हुए आज भी देखे जा सकते हैं। धर्म की आड़ लेकर परमानंद जैसे कई धर्म के ठेकेदारों ने न जाने कितने अपने गोरखधंधे खोल रखे हैं जिनमें कई कई मालविका जैसी स्त्रियाँ पीस रही हैं। राजकिशोर का उपन्यास वर्तमान समय की इस विसंगति से जुड़ा एक सशक्त उपन्यास दस्तावेज है जो इस पहलू को बखूबी उठाता है।

अंततः कहा जा सकता है कि राजकिशोर का यह उपन्यास स्त्रीत्व की व्यथा को दर्शाता एक सशक्त दस्तावेज है, जो केवल मालविका मित्र की ही व्यथा न होकर पूरे स्त्रीत्व की व्यथा गाथा है।

I UnHk %

1. राजकिशोर, तुम्हारा सुख, पृष्ठ संख्या –11
2. वही, पृष्ठ संख्या – 34
3. वही, पृष्ठ संख्या – 35
4. वही, पृष्ठ संख्या – 9
5. वही, पृष्ठ संख्या – 16
6. वही, पृष्ठ संख्या – 76
7. वही, पृष्ठ संख्या – 48
8. वही, पृष्ठ संख्या – 74



Tourist Motivations for World Heritage Sites: A Case Study of Nanda Devi and Valley of Flowers National Parks, Uttarakhand

Abhishek Kumar Maurya*
Santosh Kumar Dwivedi**

Abstract: *Heritage tourism has been pointed out as one of the most ancient forms of tourism (Timothy, 2011). Nowadays, motivations to visit a destination are very diverse and can range from the desire to get an educational experience from a cultural destination to just use some free time. Nevertheless, there is still some controversy around the concepts of natural heritage and cultural tourism in terms of separating one from the other. In this article, it makes use of both concepts; as the conceived it, the natural heritage tourism is a segment of eco-cultural based tourism. The understanding of tourists' perceptions of a heritage destination and the motivation behind choosing to visit such a site are essential keys to developing successful marketing strategies to promote and position the destination. The motivations of tourists towards visiting natural tourism heritage Nanda Devi and Valley of flower National Park to be examine in the area.*

Nanda Devi is situated in lap of Western Himalayas, physically and metaphysically. The Nanda Devi is considered as a mountain peak of physical manifestation of the Goddess Nanda Devi. The Valley of Flowers National Park in India is popular for its meadows of alpine flowers and natural beauty. This richly diverse area is home of rare and endangered animals like the Asiatic black bear, brown bear, snow leopard, blue sheep etc. Valley of Flowers National Park with the gentle landscape complements the rugged mountain wilderness of Nanda Devi National Park. They encompassed a unique transition zone between the Zaskar and Great Himalaya, praised by mountaineers and botanists for over a century.

Key words: Heritage, Eco-tourism, Himalaya, National Park, Motivation, Segmentation

Introduction: *Nanda Devi is situated in lap of Western Himalayas, physically and metaphysically. The Nanda Devi is considered as a mountain peak of physical manifestation of the Goddess Nanda Devi. The Valley of Flowers National Park in India is popular for its meadows of alpine flowers and natural beauty. This richly diverse area is home of rare and endangered animals like the Asiatic black bear, brown bear, snow leopard, blue sheep etc. Valley of Flowers National Park with the gentle landscape complements the rugged mountain wilderness of Nanda Devi National Park. They encompassed a unique transition zone between the Zaskar and Great Himalaya, praised by mountaineers and botanists for over a century.*

It is exceptionally beautiful high-altitude landscapes of western Himalaya with outstanding biodiversity. Among one of the most spectacular wilderness areas Nanda Devi National Park is dominated by the 7,817 m peak of Nanda Devi, India's second highest mountain. It is approached through the Rishi Ganga gorge, that the deepest in the world. This is apart

*Research Scholar, CMTHS, HNB Garhwal University

**Research scholar Utkal University, Odisha.

from some community-based ecotourism to small portions of these parks; there has been no anthropogenic pressure in this area since 1983. These two parks contain high diversity and density of flora and fauna with significant populations of globally threatened species including the snow leopard, Himalayan musk deer and other plant species. It is spread over on land of 71,210 ha, these two parks are surrounded by a large buffer zone of 514,857 ha that are encompassed a wide range of elevation and habitats. The Endemic Bird Area (EBA) of Western Himalaya supports significant populations of mountain ungulates and galliformes that are prey to carnivores such as the snow leopard.

The Nanda Devi and Valley of Flowers National Parks two renowned parks in Himalayan region that are naturally well protected due to their remoteness and limited access. It was unexplored until the 1930s. Both the parks contain relatively undisturbed that now act as control sites for the continuance of natural processes. It is further enhanced by both the parks form the core zones of the Nanda Devi Biosphere Reserve and are encircled by a large buffer zone of 514,857 ha. The Kedarnath Wildlife Sanctuary and the Reserved Forest Divisions located west, south and east of the Biosphere Reserve.

The State Forest Department is responsible for regular monitoring of the limited routes that provide access to these parks. Very low numbers of human are using these two parks with some community-based ecotourism that is regulated and facilitated by the park management. It is fact that there has been no livestock grazing since 1983. Mountaineering and adventure-based activities has been banned from year 1983. It is because garbage accumulation and environmental degradation by such activities. The status of flora, fauna are monitored through scientific expeditions that carried out once in every ten years since 1993. Similarly, various studies and surveys in park indicate the maintenance as well as protection status of the flora, fauna and also the habitats. National Parks and also the Reserved Forests are in the buffer zone area of the Nanda Devi Biosphere Reserve are well protected. Nanda Devi and Valley of Flowers National Parks long-term protection is dependent on the maintenance protection measures and current low levels of anthropogenic pressures within the parks. Tourist as well as pilgrim management and development activities such as hydro power projects and infrastructure inside the buffer zone of the Nanda Devi Biosphere Reserve are the existing, its potential threats that need to be addressed.

Uttarakhand as a Hub for Nature Based Tourism: In fact the land of the Uttarakhand is bestowed with various rivers, rich forest resources, tourists' places, many pilgrimages as well as good climatic conditions that supports growing various fruits, vegetables, food grains, livestock rearing and tea garden. The economic development, could not take place properly due to lack of modern technology with innovation in agricultural system and also unwillingness of the people towards using it. Due to such climatic conditions and terrain development taken place very poorly. This hill region is lagged behind due to its hard accessibility the approach of the development limited. The natural geographical and agrarian conditions helped evenly for the developmental processes of this region. In fact the whole region is very fragile. The various socio-economic activities, effects traditional beliefs and people potentials of hard working changed the entire scenario. It is necessary to frame and implementation of the rational policies and planning for sustainable development for the state. In pertaining to the economic development, needs radical changes in policies, planning and beliefs.

Aims and Objectives of the Study:

- 1- To understand the concept of tourist motivations for nature based tourism
- 2- To understand the surrounding area from Valley of flowers in term of climate, environmental conditions and flora and fauna of the national park.
- 3- To identify the norms, regulations and various policies and programs those are being practiced to protect the national park.

4- To identify various tourist attraction surrounding the national park.

Research Methodology: The present study based on available secondary data collected from various books, magazines, journals, and published articles and from relevant websites from World Wide Web have been extensively referred. Most recent data obtain from different ministries web sites like ministry of tourism, the ministry of environment, Forest and Climate Change (MOEFCC), UNESCO website etc.

Tourist Attractions of Uttarakhand:

1- Dams in Uttarakhand:- Asan Barrage, Bhimgoda Barrage, Dakpathar Barrage, Dhauliganga Dam, Ichari Dam, Kishau Dam, Koteswar Dam, Lakhwar Dam, Loharinag Pala Hydro Power Project, Maneri Dam, Pashulok Barrage, Ramganga Dam, Tapovan Vishnugad Hydropower Plant, Tehri Dam

2- Renowned Festivals of Uttarakhand: Harela, Kandali Festival, Kumauni Holi, Nanda Devi Raj Jat Yatra, Ramman Festival Etc.

3-Glaciers Of Uttarakhand: Athasi- Balati Glacier, Chorabari Glacier, Gangotri Glacier, Gomukh, Kafni Glacier, Kalabaland Glacier Kedarnath Glacier, Meola Glacier, Milam Glacier, Namik Glacier, Panchchuli Glacier, Pindari Glacier Ralam Glacier, Satopanth Glacier, Sona Glacier,

4- Lakes Of Uttarakhand: Bhimtal lake, Bhullatal Lake, Deoria lake, Dodital, Homkund, Kedartal, Lakes of Kumaon Hills, Nainital Lake, Naukuchiatal, Panna tal, Roopkund Lake, Satopanth Tal, Sattal.

4- Pilgrim sites of Uttarakhand: Churches in Uttarakhand famaous one is St. Paul's Church, Landour, Shikh religion Gurdwaras in Uttarakhand some famous places are Gurdwara Nanak Mata Sahib, Gurdwara Reetha Sahib. Hindu Religion temples are Badrinath, Bagnath, Baleswar, Chandi Devi Temple, Haridwar, Chandrabadani Devi, Jyotir Math, Chota Char Dham, Daksheswara Mahadev Temple, Dhari Devi, Gangotri, Garjia Devi temple, Ghorakhal, Golu devata Gopinath Mandir, Guptakashi, Hariyali Devi Temple, Jagesswar, Kalinka, Kalpeshwar, Kamanda Mahadev, Kasar Devi, Kedarnath, Koteswar Mahadev, Lakhamandal, Maa Bala Sundari Madir, Madhyamaheshwar, Mahasu Devta, Mansa Devi, Mathiyana Devi, Mayadevi temple Haridwar, Moteshwar Mahadev, Neelkanth Mahadev, Panch Kedar, Panch Prayag, Raghunathji, Rudranath, Rudreshwar Mahadev, Sapta Badri, Surkanda Devi, Tapkeshwar, Triyuginarayan, Tungnath, Ukhimath, Umra Narayan, Yamunotri.

5- Protected Area of Uttarakhand: National Parks and various Wildlife sanctuaries are main attraction of Uttarakhand tourism. Some of the National parks are Chilla (Rajaji National Park), Gangotri national Park, Govind Pashu Vihar, Jim Corbett national Park, Nanda Devi Natonal Park, Rajaji National Park and Valley of Flowers National Park. Other natural attraction in the state of Uttarakhand is wildlife sanctuaries some of are Askot Musk Deer Sanctuary, Binsar Wildlife Sanctuary, Govind Pashu Vihar, Kedarnath Wildlife Sanctuary, Naina Devi Himalayan Bird Conservation Reserve, Nandhaur Wildlife Sanctuary etc.

6- Water falls of Uttarakhand: Water fall is a tourist attraction for the tourist who's interest in natural experiance. Some of the waterfall in Uttarakhand are very attractive like Tiger falls, Kempty Falls, Vasudhara Falls

Tourist Motivations for Natural based site: Heritage tourism (Timothy, 2011) has been pointed out as one of the most ancient forms of tourism. Visit to a destination motivations are very diverse and also can range from the desire to get an educational experiance from a cultural destination to use of some free time of their usual lifestyle. There is some evitable controversy around the concepts of natural heritage and cultural tourism in separating one from other. Tourist's perceptions understanding of a natural heritage destination and various reasons for the motivation behind choosing to a particular visit such a site are essential keys to developing successful marketing strategies to promote and position the destination.

Since many centuries nature based heritage tourism has been practicing; but there has not yet a complete consensus on nature based tourism definition. Separate nature based heritage tourism from cultural based tourism is very difficult. As stated by Timothy (2011) it is overlapping phenomena of these two terms have been used as two separate ones even if related.

Valentine's (1992) has defines the nature-based tourism as the direct enjoyment of some relatively undisturbed phenomenon of nature. The extent to which tourists enjoy natural attractions will also depend on the degree to which their travel experiences are dependent on nature. Nature-based tourism is an overarching construct that reflects various elements of several alternative forms of tourism including ecotourism, adventure tourism, sustainable tourism and even cultural tourism (Weaver, 2001). There are three types of activities that fall under his definition: experiences that are dependent on nature, activities that are enhanced by nature, and activities for which a natural setting is incidental. Based on this definition it can be asserted that nature-based tourism today represents a significant economic activity which in recent decades has been growing even more quickly than tourism in general (Wight, 1996; Nyaupane et al., 2004).

Many scholars define natural tourism as leisure activities taking place in nature areas, it involved two components: the visitor (imparting a factor of being away from home) and experiences - play the key role (Fredman & Tyrväinen 2011, 8). Experiences, in turn, as it was asserted by Valentine (1992), fall within one of three categories of relationship: experiences dependent on nature, experiences enhanced by nature and experiences in which nature has a subsidiary significance. In this approach a factor of nature serves different purposes, which determines the structure of tourism and requires different attention towards an aspect of nature from consumers.

The segmentation of nature-based tourism can also be done by classifying tourists. Except for noted above two types of tourists differentiated by the role of nature in formatting their motivations, a segmentation offered by Strasdas (2006) distinguishes six categories of nature tourists. The first is committed nature tourists: it is relatively small segment of customers, who are not only admired by nature, but also attempt to do certain actions to conserve it. The second is interested nature tourists: concerned and interested about nature tourists, who are not deeply committed to it. Third refers to casual nature tourists, who are usually combining classic vocation with a visit to nature areas. Fourth is Nature tourists with specific cultural interests: often imply similar types of tourists as the first two, but with a propensity to the cultural constituent (e.g. indigenous culture). The fifth corresponds to sports or adventure tourists and sixth involves hunting and fishing tourists - both consider nature as a ground for enjoyment certain activities. (Arnegger, Woltering & Job 2010.)

Demand for Nature based Tourism : After elucidating a question of determination of nature-based tourism, few properties of it can be mentioned. Nature-based tourism in its broad meaning occupies a considerable proportion of the overall tourism industry that still continues to grow (Pickering & Weaver 2003, 7). One of the reasons for that lies in the rise of the tourist demand and the growth of interest towards new and uncommon activities (Machnik 2013, 75). What is more, in past decades the humanity has expanded the knowledge and consideration for environmental and ecological degradation as well as the role of people in it (Bell 2004). In this connection consumers started to show the propensity for more sustainable products, including tourism products (Wolf-Watz 2014, 5-7). Such changes in tourist demand approach gradually, however, it is clear that the factor of nature is becoming more and more significant for tourists. Besides, tourists often seek for new and unusual experiences that also influence the demand. Thus it is appropriate to mention here the term alternative tourism, which refers to tourists trying to avoid popular mass touristic destinations (Christou 2012). This term can also reveal

the tendency of tourists' preference towards: Small-scale tourism and conducting activities in small groups. Avoiding big touristic centres and places to accumulation of tourists as well as frequent criticism of such area. The objection is in participating the mass organized trips and events. Authenticity of activities and interaction with local community, nature and culture (Machnik 2013, 80.), Nature-based tourism satisfies the conditions of alternative tourists in many respects. Tourists inclined to natural tourism often deliberately or unconsciously desire to keep away from overcrowded touristic places and perceive more authentic experiences with a focus to the uniqueness of the environment. The paradox is that the best resources for that can be found in rural areas, which in turn are often less developed in terms of tourism (Fredman & Tyrväinen 2011, 8-9). The phenomenon of nature-based tourism, more precisely difficulties of its determination, it is a huge international industry with environmental, economic and social significance at both local and global levels (Buckley 2003, 1). The whole question resolves itself into what to include in it and how to confine it. In the light of this research, nature-based tourism corresponds to the tourist activities and experiences in or of nature that occur during their visit to nature areas.

It is essential to understand the phenomenon of culture and cultural tourism. Firstly, a universal definition to cultural tourism is presented, given by Melanie Smith (2009, 17) as passive, active and interactive engagement with culture(s) and communities, whereby the visitor gains new experiences of an educational, creative and/or entertaining nature". To corroborate this position, the contemplation of Raymond Williams (1958, 2-3) is presented, stating that culture is both traditional and creative and it has both ordinary common meanings (way of life) and unique individual meanings (art and learning). According to Lew (1987), tourist attractions are to be considered as the key elements on which tourism is developed. Tourist attractions, from a certain perspective, in turn can be determined into one of two primary categories: nature-based attractions and cultural attractions. However, the majority of attractions, in accordance with this classification, may fall within either of these categories and often refers to recreational (Arrowsmith 2003, 169.)

Conservation of the Site : The NDBR represents materially, the convergence of global conservation ideology as well discourse. While this discourse appears superficially to be steady with the Bhotiya views of a reciprocal relationship with nature that people need to be included within, policy actions have sought to separate the Bhotiya from the core zone betraying a much more Western assumption about the relationship between people and nature.

The NDBR is a World Heritage Site. It was considered a unique biodiversity, and the UNESCO policy dictates that a core and buffer zone be delineated, with the core zone being off limits to humans. The core and buffer model is commonly found in the UNESCO administered biosphere reserves. This model represents an attempt at reconciliation between conservation (core zone) and development (buffer zone) that is a mainstay of sustainable development discourse. At the federal level, the Government of India closed what was then the Nanda Devi National Park to all humans in 1982. This area later became the core zone of the reserve. In 1996, the Supreme Court of India placed restrictions on the collection of medicinal herbs in Protected Areas.

Various documents interpreted in this section are very small sample of the vast amount of text produced by UNESCO (1972), UNCED (1992) and the World Bank (1999) that is referred to the environment and development. UNESCO and the World Bank's documents are as they represented to integration, at the global scale, of conservation and development. The key documents pertaining to the creation of the World Heritage Centre (WHC) and the MAB programmes, documents from the Worldwide Fund for Nature in India and documents from the Forest Department of Uttarakhand were also interpreted.

Approach to Sustainable Development : The governing policies of NDBR reflect the concepts of modern and Western. Escobar (1999) explains concept of nature has changed in past history and that the modern epoch that we inhabit has given its own meaning to nature. Escobar (1999) noted that nature is a 'specifically modern category.' The concept of nature as we understand it is lacking in many non modern societies. That nature came to be thought of as separate from people and increasingly produced through labor, for instance is related to the view of man brought about by capitalism and modernity' (Escobar 1999). The capitalist concept of nature has its roots in post-renaissance Europe and has been fully realised through today's global capitalism as explained by Escobar. Foucault (1991) described as governmental, a process where increasing portions of everyday life are appropriated and controlled by apparatuses of the state. Escobar (1999) noted that his process has reached the natural order from scientific forestry and plantation agriculture to the managerialism of sustainable development.'

In conservation efforts of UNESCO it has adopted a sustainable development perspective, hoping to balance conservation with development. In a conference on Organising Knowledge for Environmentally and Socially Sustainable Development in 1998, a senior advisor at the World Bank Tariq Hussein, referenced 'A warning to mankind' in which 1600 scientists declared.

Human beings and the natural world are on a collision course. Human activities inflict harsh and often irreversible damage on the environment and on critical resources. If not checked, several of our current practices put at risk the future that we wish for human society and the plant and animal kingdoms, and may so alter the living that it will be unable to sustain life in the manner that we know (Serageldin et al. 1998: 1).

The policy set forth by UNESCO with regards to the NDBR and also creates its own policy regarding forest management along with the Uttarakhand Forest Department administrators. In policies keeping local residents out of the core zone by UNESCO policy as reflection of the modern view that human activities are necessarily harmful to the environment and some areas must be left completely out of the reach of resource use. A.K. Banerjee the District Forestry Officer in charge of Nanda Devi opinions the area's people and the effort is that the community here will be taken into account while drawing up schemes and when they become better off, the environment here will automatically flourish" (Rego 2003).

Periodic Report of Nanda Devi National Park, Uttarakhand (U.K.), and Chief Wildlife Warden, Uttarakhand Forest Department (UFD 2002) also clears the ideas of local involvement in wildlife protection and ecotourism in an attempt to show the success of the management plan of the NDBR that has been funded through UNESCO and the World Bank.

Fauna in the National Parks : Nanda Devi National Park, has snow leopard (*Uncia uncia*). It reigns supreme in the high mountains of Central Asia and is found up to the height ranging from 2000m (winters) to 5,550m (summers). Snow leopard, is by far the most exotic and rarest wild animal to live in this part of the earth. At many places the forest rangers have installed trap cameras to get the prized glimpse of the snow leopard. The snow leopard is smaller than the leopard of the plains (*Panthera pardus*). The destruction of its natural habitat, ill effects of pollution and global warming, have also contributed in a major way in the reduction of their numbers. The Nanda Devi National Park, as a home for the wild snow leopard, is paramount.

Many species of animals that populated the high reaches of the Western Himalayas are by nature timid and shy. Sambar (census unicolor) is a large deer which lives in big numbers in the region up to the height of 3000 metres. Its numbers today are much reduced. 'Jarau' the hill sambar called by the locals and is even larger. Bharal (*Pseudois nayaur*), the blue mountain sheep is somewhat like a mix of sheep and a goat in its structure and habits. The Himalayan Tahr (*Hemitragus jemlahicus*) is a mountain goat that is even more of an expert in negotiating

difficult terrains. Musk Deer (*Moschus Moschiferous*) one of the most endangered and famous residents of these highlands is found at the height between 2750m to 3,700 m. The 1983 survey party to the Nanda Devi Park sighted musk deer on 28 occasions. Asiatic black bear, brown bear, red fox, marten and weasel are some other mammals present and spotted in the park. These animals have been spotted in the Lata Kharak, Dharansi, Dibrugeta, Deodi and Betartoli regions of the park. In addition 27 species of butterflies are also found in the Nanda Devi National Park.

Himalayan Monal pheasant with its variegated rainbow colours, Monal, a species of pheasant family, holds prime position in the avian presence in the two parks and the region. Monal enjoys the status of being the state bird of the State of Uttarakhand and national bird of Nepal. The 1993 government sponsored survey team and the following 2003 survey team declared good numbers of Monal in the Nanda Devi.

Nanda Devi are considered important bird areas by Birdlife International and the Bombay Natural History Society. A total of 112 bird species have been recorded from NDBR. Almost all these species of birds in the Himalayas show altitudinal migration, ascending to alpine and sub-alpine areas in summers to breed and descending to temperate and tropical areas in winters. Within the Nanda Devi National Park, three species of pheasants have been reported, that is, cheer pheasant, Himalayan monal and the Koklasspheasant. The cheer pheasant is globally threatened according to Birdlife International but is reported from the slopes near Reni village at the mouth of the Nanda Devi National Park. Other Galliforms, present in the park include snow partridge and Himalayan snow cock.

According to a data the biodiversity monitoring expedition of 2003, a total of 568 plant species have been identified in the National Park. A total of 57 plant communities have been delineated in Nanda Devi out of which 2 are forest communities, 6 alpine scrub and 49 herbaceous communities. It includes 314 genera and 110 families of Angiosperms (480 species, 274 genera and 85 families), Gymnosperms (10 species, 7 genera and 4 families) and Pteridophytes (78 species, 33 genera and 21 families) have been recorded in Nanda Devi National Park. Seven species of plants listed in Red Data Book of Indian plants have been recorded in Nanda Devi NP. Going by the IUCN criteria, 37 species have been categorized as 'critically endangered', 14 as 'vulnerable' and 2 as 'near threatened'. The National Park and its vicinity is the home of trees such as Deodar, which is also known as the great Himalayan Cedar. Chandi Prasad Bhatt is name that became famous for working to save trees. Bhatt got the Magsaysay award for his efforts in 1982.

Valley of Flowers : It is more than 500 species of flowers and plants out of which 31 are rare and endangered, including 13 medicinal plants. Temperate, sub-alpine and alpine are the three main vegetation zones in the park. The alpine zone starts at 3500m and has an abundance of herbaceous vegetation with some small scrubs. About 82 birds have been identified in the Valley of Flowers. Black throated tit, grey hooded warbler and black faced fly catcher warbler, some of the representative of the biome, are seen here. Pipits, rose finch and spotted bush warbler are known to breed here. All the mammals seen at the Nanda Devi National Park, except for the snow leopard, are commonly visible species.

The blooms of Brahmkamal at the Valley of Flower National Park are famous for the spectacular sight they make. Brahmakamal is the favorite offering to the Goddess Nanda Devi by the locals communities who highly respect her.

The Nanda Devi Raj Jat Yatra, is one of the most high profile and important religious and social festivals in the region. It is a living evidence of the significance of Nanda Devi Peak, which is the physical manifestation of the Goddess Nanda Devi that is ingrained in the religious and cultural make up of the local community. The Nanda Devi Raj Jat Yatra takes place every 12 years, starting from Nauti Village, with Lata Village located at the edge of the Nanda Devi National Park, being its second spot.

Degradation of habitats and its loss as well as poaching are a major threat for the wildlife and forests especially in this region. The Nanda Devi and Valley of Flowers, protected zones are free from all of human activities. The State government decisions to open a part of the Nanda Devi, up to Dibrugeta for community based eco tourism, needs more careful planning. According to State government records, during a 2001 survey conducted by the state government, evidence of poaching of musk deer has been collected from Dibrugeta.

Conclusion: Nature-based tourism is an overarching construct that reflects various elements of several alternative forms of tourism including ecotourism, adventure tourism, sustainable tourism and even cultural tourism. Nature based heritage tourism has been done over many centuries; in fact there has not yet a complete consensus on its definition. It is difficult to separate nature based heritage tourism from cultural based tourism. These two terms have been used as two separate ones even if related, but somehow they represent.

The case of the NDBR is one example of many people conflicts occurring across the globe. Programmes such as the MAB and the WHC, that sought to reconcile conservation with development, fashioned policies at the global level that were articulated downward affecting local populations in the NDBR. The villagers perceive the closure of the core zone to have affected their material wealth as well as caused unwanted changes in livelihood strategies. As a result, many Bhotiya oppose policies of the NDBR and have actively resisted and contested such policies. This research illuminates one factor in this conflict -competing conceptions of nature that manifest through discourse and material practices. The struggle for control of the resources in the reserve is waged in part, through discourses of nature. The dominant global discourse attempts to reconcile conservation with development and recognize indigenous knowledge. However, this discourse breaks down when policy prescriptions and material outcomes such as the closure of the core zone reflect a modern view of nature that presents humans and their livelihood activities as detrimental to biodiversity, reproducing the Cartesian dualism. At the same time, local people assert their rights to manage the resources of the Nanda Devi Biosphere Reserve according to their dialectic view highlighting the exchange between humans and nature. Both sides have assigned a cultural significance to the NDBR. For resource managers and policy makers, the reserve is significant for its unique biodiversity and must be conserved. For the Bhotiya, the area is significant as a sacred landscape and source of their livelihoods and culture. Local conceptions of nature such as those of the Bhotiya can be difficult to understand from a Western perspective as the Bhotiya conceptualise nature dialectically.

References :

1. Adger, N., T. Benjaminsen, K. Brown and H. Svarstad. 2001. Advancing a political ecology of global environmental discourses. *Development and Change* 32: 681-732.
2. Bansal, Sunita Pant (2008). *Hindu Pilgrimage. Badrinath (Panch Prayag)*. Pustak Mahal. pp. 34-35. ISBN 9788122309973. ISBN 81-223-0997-6.
3. Batisse, M. 1997. Biosphere reserves: A challenge for biodiversity conservation and regional development. *Environment* 6(14): 6- 21.
4. Baloglu, S. & McCleary, K.W. (1999). Model of destination image formation. *Annals of Tourism Research*, 26(4): 868-897.
5. Besculides, A., Lee, M. & McCormick, P. (2002). Residents' perceptions of the cultural benefits of tourism. *Annals of Tourism Research*, 29(2): 303-319.
6. Bigné, J., Sanchez, M.I. & Sanchez, J. (2001). Tourist image, evaluation variables and after purchase behaviour: interrelationship. *Tourism Management*, 22(6): 607-616.
7. Chi, C.G-Q. & Qu, H. (2008). Examining the structural relationship of destination image, tourist satisfaction and destination loyalty: an integrated approach. *Tourism Management*, 29(4): 624-636.
8. Comissão Nacional da UNESCO (2014). 30 anos de boas práticas. Portugal e o património mundial, Lisbon.
9. Crompton, J.L. (1979). Motivations for pleasure vacations. *Annals of Tourism Research*, 6(4): 408-424.

10. Dias, F. (2009). Visão de síntese sobre a problemática da motivação turística. *Revista científica do ISCET*, 1, 177-143.
11. Drost, A. (1996). Developing sustainable tourism for World Heritage Sites. *Annals of Tourism Research*, 23(2): 479-492.
12. Goh, E. (2010). Understanding the heritage tourist market segment. *International Journal of Leisure and Tourism Marketing*, 1(3): 257-270.
13. Harshwanti Bisht (1994). *Tourism in Garhwal Himalaya*. Panch Kedar. Indus Publishing. pp. 84-86. ISBN 9788173870064. Retrieved 2009-07-05.
14. Keith Bosak. *Nature, Conflict and Biodiversity Conservation in the Nanda Devi Biosphere Reserve*. pp. 211-224
15. Lavkumar, K. 1977. Report on the preliminary survey of the Nanda Devi Basin. Worldwide Fund for Nature-India, Bombay, India. Unpublished.
16. Lavkumar, K. 1979. Nanda Devi Sanctuary-A naturalist's report. *The Himalayan Journal* 35: 191-209.
17. Lanford, C. (2009). Managing for sustainable tourism: a review of six cultural World Heritage Sites. *Journal of Sustainable Tourism*, 17(1): 53-70.
18. Li, M., Wu, B. & Cai, L. (2008). Tourism development of World Heritage Sites in China: A geographic perspective. *Tourism Management*, 29: 308-319.
19. Li, M., Zhang, H., Xiao, H. & Chen, Y. (2015). A grid-group analysis of tourism motivation. *International Journal of Tourism Research*, 17: 35-44.
20. Mendes, R. & Vareiro, L. (2013). The effects of place of residence on tourist motivations: a revised case of the Urban Quadrangle of Minho. *Tourism and Hospitality International Journal*, 1: 157-180.
21. Nigam, Devesh (2002). *Tourism, environment, and development of Garhwal Himalaya*. Prayag. Mittal Publications. pp. 123-124. ISBN 9788170998709. ISBN 81-7099-870-0.
22. Nand, N. and K. Kumar. 1989. *The holy Himalaya: A geographical interpretation of the Garhwal*. New Delhi: Daya Publishing House.
23. Pandey, D. 1995. Introduction: Parks protection people. *Seminar* 426: 12-14
24. Poria, Y., Reichel, A. & Biran, A. (2006). Heritage site management: motivations and expectations. *Annals of Tourism Research*, 33(1): 162-178.
25. Pedersen, A. (2002). *Managing Tourism at World Heritage Sites: a Practical Manual for World Heritage Site Managers*, Paris, UNESCO World Heritage Centre.
26. Rawat, Ajay.S. *Garhwal Himalaya. River Systems*. Indus Publishing\year= 2002. pp. 12-13. ISBN 9788173871368. ISBN 81-7387-136-1.
27. Rawat, A.S. 1989. *History of the Garhwal, 1358 -1947: An erstwhile kingdom in the Himalayas*. New Delhi: Indus Publishing.
28. Rego, C. 2003. *Invocations to the Mountain Goddess: A UNESCO Documentary*. UNESCO, New Delhi, India.
29. Secondi, L., Meseguer-Santamaría, M.L., Mondéjar-Jiménez, J. & Vargas-Vargas, M. (2011). Influence of tourist sector structure on motivations of heritage tourists. *The Service Industries Journal*, 31(10): 1659-1668.
30. Silberberg, T. (1995). Cultural tourism and business opportunities for museums and heritage sites. *Tourism Management*, 16(5): 361-365.
31. Secondi, L., Meseguer-Santamaría, M.L. Mondéjar-Jiménez, J. & Vargas-Vargas, M. (2011). Influence of tourist sector structure on motivations of heritage tourists. *The Service Industries Journal*, 31(10): 1659-1668.
32. Timothy, D.J. (2011). *Cultural heritage and tourism: An introduction*, Aspects of Tourism Texts, 4, Bristol, Channel View Publications. UNESCO (1972). *Convention concerning the protection of World Cultural and Natural Heritage*, Paris, UNESCO.
33. UFD (Uttarakhand Forest Department). 2002. Periodic report of Nanda Devi National Park, Uttarakhand, India, December, 2002. Periodic Reporting Exercise on the Application of the World Heritage Convention, UNESCO, New Delhi, India.
34. UFD (Uttarakhand Forest Department). 2003. *Nanda Devi Biosphere Reserve*, Uttarakhand. Uttaranchal Forest Department, Dehradun, India.
35. Vishambhar Prasad Sati (2005). Tourism practice and approaches for its development in the Uttarakhand Himalaya India, *Journals of Mountain Science* pp.336-350
36. Yankholmes, A.K.B. & Akyeampong, O.A. (2010). Tourists' perceptions of heritage tourism development in Danish-Osu, Ghana. *International Journal of Tourism Research*, 12: 603-616. Wang, N. (2000). *Tourism and Modernity: A Sociological Analysis*, Oxford, Pergamon.
37. Yoon, Y. & Uysal, M. (2005). An examination of the effects of motivation and satisfaction on destination loyalty: a structural model, *Tourism Management*, 26(1): 45-56.
38. UNESCO - <http://whc.unesco.org/en/list/> (retrieved 22.01.2016)



Role of agricultural biodiversity for food security in India

Yogesh Chandra Patel*

Abstract : *Agriculture is the prime job providing sector in India. Over sixty percent of total people of India have been involved in doing agricultural works by directly or indirectly. Nowadays, 75 percent of the world's food is generated from only 12 plants and five animal species due to the exploitation of very limited high yielding varieties and breeds for agricultural produces. Biodiversity is core basis for agricultural practices in long term, but unreasonably utilization of genetic resources in agriculture is also a major factor to reduce the biodiversity in agriculture. Therefore, agricultural biodiversity is very essential to sustain the agricultural practice in a long way without damaging or little affecting abiotic and biotic natural resources. Agricultural biodiversity has four major dimensions, genetic resources, components of biodiversity, abiotic factors and socio economic that give clear understanding about this. Several recommendations have been given by national and international governing bodies for sustainable practices in agriculture at time-to-time. With prospect of India, the recommendations are very relevance and useful to fulfill the need of food without much disturbing the remaining genetic diversity existed in the country.*

Introduction : Biodiversity includes all the living things present on the earth and the variations existed at the species level. It has different facets to determine the genetic variability occurring at species, biome, ecosystem, geographical area, or planet level. It is considered to evolve ever since domestication of agriculture event was first happened around 10000 years ago in the world. Agricultural biodiversity is a broad term, but it is a sub-set of biodiversity, that comprises all systems of biological diversity of relevance to food and agriculture, and all components of biological diversity that constitute the agricultural ecosystems, also named agro-ecosystems (FAO, 1999a). Agricultural biodiversity also known as agrobiodiversity or the genetic resources for food and agriculture. It is the result of natural selection processes and the careful selection and inventive developments of farmers, herders and fishers over millennia. The availability of food and livelihood security to peoples rely on the sustained way utilization of various biological resources that are crucial for food and agriculture. Agrobiodiversity involves various activities linked with harvested crop varieties, livestock breeds, fish species and non-domesticated (wild) resources within field, forest and rangeland, including tree products, wild animals hunted for food and in aquatic ecosystems. It also contains non-harvested species in the wider environment that support food production ecosystems combining all ecosystems of agricultural, pastoral, forest and aquatic. Moreover, the non-harvested species in production ecosystems that support food provision, including pollinators, soil micro-biota and other insects such as butterflies, bees, wasps, greenflies and earthworms. The farmers of such areas where high yielding crop varieties and livestock breeds do not flourish due to environmental check, depend on a broad choice of crop and livestock types. This wider range of choice helps them to manage their livelihood in the situations of pest attack, indeterminate rainfall and instability in the price of crop produce, socio-political interruption and the unpredictable availability of agro-chemicals and seed materials.

*Assistant Professor (Horticulture), Department of Horticulture, Government Degree College, Jakkhini, Varanasi- 221305

The underutilized minor crops are not well adapted and grown along with the main crops. They often grow at marginal level and their significance is often underestimated. But it is not like that in ancient time-period, there was no mono-cropping prevailed in that time. In several cases, with source of income, they are not underutilized minor or marginal crops because they can play as an equally important role as main crop in food production systems at the areas prone to various abiotic and biotic disasters. Such minor plants that will grow in saline, infertile, drought or submerged soils, and livestock that will manage to eat degraded vegetation, are often critical to farmers and local folks to manage their food needs. Now with advance of our understanding about nutrition values, the minor crops are considered as a good source of several nutrients that makes them priced things in the urban markets. The production of traditional land races and wild crop plants in the remote areas are now under threat, including the production practices and knowledge, their cultures and skills associated with the crops.

With this continuing decaying processes of diversity, agrobiodiversity is declining; the level of the damage is widespread. With the disappearance of harvested species, varieties and breeds, a wide range of non-harvested species also disappear. These problems are directly or indirectly associated with food security and agriculture. Here, it is very essential to protect the biodiversity in agriculture, to save the world's population those are engaged in agriculture, and to check global warming and pollution by applying sustainable way of doing agriculture and related activities. Thus no one would die by hunger in the world. Therefore, food security plays an important role to tackle the problems, mainly caused by the loss of agrobiodiversity related to complete loss of agricultural produce by pests, drought, flood, so on. According to the World Food Summit, Rome (1996), food security is defined as "it exists, when all people, at all times, have physical and economic access to sufficient, safe and nutritious food to meet their dietary needs and food preference for an active and healthy life". India ranked 10th largest economy of the world on nominal GDP basis and 3rd largest on economy on PPP (purchasing power parity) basis. But, this country has 29% of the 872.9 million undernourished people, 49% of the world's underweight children, 34% of the world's stunted children, over 46% undernourished children (FAO, 1999b). Previous last three decades, approximately 75% of crop genetic diversity has been lost by mono-cropping of high yielding varieties as farmers have worldwide avoided their cultivation practices of multiple local varieties and landraces (FAO, 1999b). These varieties require more water, high input of chemical fertilizers and pesticides which deteriorate the environment via creating increased salinity in soil, increased waterlogged areas and depletion of nutrients from soil. About 30 percent of livestock breeds are at risk of extinction and six breeds of them are lost each month (FAO, 1999b). Nowadays, 75 percent of the world's food is produced from only 12 plant and 5 animal species. Of the 4 percent of the 250000 to 300 000 known edible plant species, only 150 to 200 are used by humans for various purposes like food, medicine or other utilities. Only three major staple food crops, rice, wheat and maize contribute approximately 60 percent of calories and proteins obtained by humans from plant origins. Whereas, around 30 percent of human requirements related to food and agriculture are fulfilled by animals. Moreover, nearly 12 percent of the world's population survive almost entirely on products from ruminants. In this article, the constraints associated with agrobiodiversity and food security, especially in India and some key points to resolve the issues related to agrobiodiversity are discussed.

Dimensions of agrobiodiversity : Four major dimensions, namely genetic resources for food and agriculture, components of biodiversity that support ecosystem services, abiotic factors and socio-economic and cultural dimensions, are included in agrobiodiversity (www.fao.org/sd/links).

Genetic resources for food and agriculture : Plant genetic bio-resources, including crops, landraces, and wild plants harvested and managed for food, shelter, trees on farms, pasture and rangeland species, while animal genetic resources, including domesticated animals, wild animals

hunted for food, cloths, wild and farmed fish and other edible aquatic organisms. Likewise, microbial and fungal genetic resources contain microorganism that are related to agricultural practices for food and other uses.

Components of biodiversity that support ecosystem : Biodiversity components have a diverse and vast range of organisms that share, at various scales to, pest and disease regulation, pollination, pollution and sediment regulation, nutrient cycling, erosion control, maintenance of the hydrological cycle and climate regulation in a particular ecosystem.

Abiotic factors : Various abiotic factors such as soil fertility, water availability, drainage facility or local climatic conditions and chemical factors like soil pH, soil nutrient availability and the physical structure and functioning of ecosystems, which have a determining effect on agricultural biodiversity.

Socio-economic and cultural dimensions : Agrobiodiversity is largely depend upon human activities and management practices referring to genetic resources in a particular region. The human population mainly rely on agrobiodiversity for sustainable livelihoods in that region. These dimensions include gained traditional and local knowledge by generation-to-generation for agrobiodiversity, their cultural activities associated with the dimensions and their participatory processes, as well as tourism associated with agricultural landscapes (www.fao.org/sd/links).

Food security and agrobiodiversity : Without biodiversity, we cannot be assumed to manage required food security at national or international levels. Over last three decades, the Food and Agriculture Organization of the United Nations (FAO) has been actively working to promote the conservation and sustainable agriculture for food and other needs of human. It is an intergovernmental organization to support countries, mainly developing ones for alleviating hunger and poverty by spreading the knowledge and awareness to people regarding sustainable agricultural development, enhanced food security, improved food quality, and accessibility the food to all human beings at all time for their basic, active and healthy life. This organization also deals with complex biodiversity issues linked with agriculture, forestry, horticulture, dairy, animal husbandry, fisheries and so on at the international level (www.fao.org/biodiversity/index.asp?lang=en). It has authorization to make sure the implantation of code and conduct passed by the international convention like International Plant Protection Convention that are responsible maintaining agrobiodiversity and food security in the world. It also looks into matters of the international treaty on plant genetic resources and the global plan of action for animal genetic resources.

Challenges to maintain biodiversity in agriculture : Depletion of biodiversity in agriculture has many reasons like mono-cropping, fixed cropping pattern, human population pressure, greater exploitation of natural resources, etc. The main factors that cause reduction in agrobiodiversity are mentioned here.

More industrialization and Green Revolution in agriculture : Extension of industrialization leads major threat to biodiversity by cutting of trees, cleaning of natural habitats, cementing soil surfaces, making charcoal roads, etc. Green revolution in agriculture provides enhanced food grains to meet the requirements of the world's population, especially developing country like India, but it has also brought mono-cropping of high yielding varieties that are mostly vulnerable to various abiotic and biotic stresses (Thrupp, 1997). This kind of revolution also happened in animal and fish sectors and have negative impact on overall biodiversity existed in the sectors.

Globalization of the food items and their marketing : Patenting, intellectual property rights, other several ownership rights on living organisms, crop plants, animals has major hindrance in agrobiodiversity by promoting the rearing and cultivation of fewer breeds and varieties, respectively. These hindrances create a more uniform, less diverse, but greater competitive global market. A consequence of these factors change farmers' and consumers'

perceptions, living conditions and preferences that indirectly affect biodiversity and worsen the agrobiodiversity declining problem (IK Notes, 2000).

Sustainable agricultural practices to maintain biodiversity : Agrobiodiversity is mainly related to farmers, herders and fishers and they are primarily responsible for development and maintenance of diversity in agriculture. The local knowledge and culture are an integral parts of agrobiodiversity management in any particular area, region or ecosystem or country. Although, many components of agrobiodiversity would not exist longer without human interference. Several economically important agricultural commodities are based on introduction of exotic or foreign crop plant or livestock species in India or any country (FAO, 1999b). Results of the introduction generate a high level of interdependence between countries for the exchange of genetic materials by which our food items are produced. This interdependency may be restricted by growing and rearing of local varieties and breeds that are well-suited to a particular region or within a country. Multi-cropping and mix cropping should be promoted to conserve the agrobiodiversity. Integrated approaches should be followed to control the pest and maintain the soil fertility (FAO, 1999b). Combining of forestry, pasturing and crop production can also be beneficial for farmers and by which agrobiodiversity would be maintained. Six different approaches are shown in figure 1 for the management of agrobiodiversity. The approaches mentioned in this figure are self-explanatory, thus no need to explain them.

Recommendations for biodiversity and sustainability in agriculture : Recognition of the distinctive nature of agrobiodiversity and all genetic resources for food and agriculture provide some key recommendations to secure food availability through sustainable agriculture practices. The recommendations adopted from FAO (1996) are following: give importance to farmers' knowledge in genetic resource development and conservation, identify and encourage farmers' contribution to agrobiodiversity, recognize farmers' help to maintain and conserve ecosystems and landscape, make awareness about farmers' rights and community rights and implementation of the rights, support local indigenous knowledge systems and practices in agriculture system, provide information related to biosafety legislation and agricultural biodiversity regulation, encourage integration management approaches in agriculture used for controlling abiotic and biotic stresses, teach agricultural producers about the intellectual property, make understanding of the significance of biodiversity in agriculture, mitigate threats caused by globalization of cultures, tastes and market policies to agrobiodiversity, and educate people about erosion of diversity in agricultural systems.

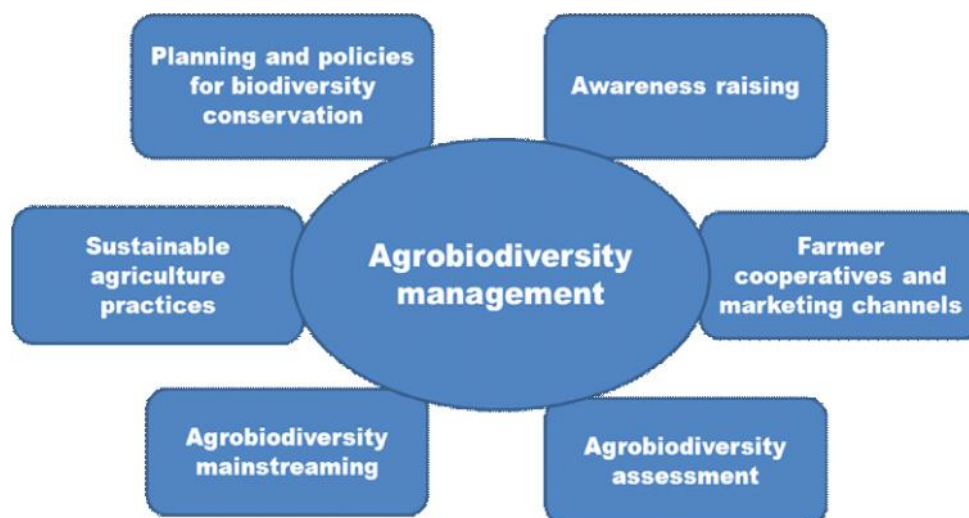


Figure 1. Approaches for agrobiodiversity management

Conclusions : Biodiversity is the core of agricultural system. Its maintenance and conservation is very crucial for the production of food items and other agricultural commodities. It provides various benefits to humanity, including food security, food quality, nutritional improvement and livelihoods. Agrobiodiversity and landscaping maintain ecosystems that are essential to agriculture. Use of sustainable agricultural practice are major driver for biodiversity in agriculture. Generation-to-generation knowledge gained by farmers have been applied in agriculture and farming to meet their necessary requirements of foods, shelters and cloths without much disturbing the natural genetic resources and habitats. Thus, farmers and agricultural producers may become true protectors of agrobiodiversity to apply such knowledge along with modern technologies in to agriculture. Since they are actual people who deal with agricultural practices. It is required if biodiversity keeps maintaining in agriculture for a long way. Several recommendations given by national and international organizations are provided to conserve the agrobiodiversity, but awareness about agrobiodiversity is needed to make sure that agricultural producers will adapt the recommendations and maintain agrobiodiversity.

References :

1. FAO. 1996. Global plan of action for the conservation and sustainable utilization of plant genetic resources for food and agriculture. Leipzig, Germany, June 1996.
2. FAO. 1999a. Agricultural biodiversity, multifunctional character of agriculture and land conference, background paper 1. Maastricht, Netherlands. September 1999.
3. FAO. 1999b. Women: users, preservers and managers of agrobiodiversity (available at www.fao.org/FOCUS/E/Women/Biodiv-e.htm).
4. IK Notes, number 23. August 2000. Seeds of life: Women and agricultural biodiversity in Africa.
5. Thrupp, L.A. 1997. Linking biodiversity and agriculture: Challenges and opportunities for sustainable food security. World Resources Institute, USA.
6. FAO Web site for Agrobiodiversity: www.fao.org/biodiversity/index.asp?lang=en
7. FAO Web site for Gender, Agrobiodiversity and Local Knowledge: www.fao.org/sd/links



Physiological Changes Due to Modern Exercise and Specific Training

Jai Bhagwan Singh*

ABSTRACT : Exercise physiology present the material essential for understanding relevant changes in various mechanism of body physiological change describe the immediate and Long term effect of modern exercise and specific training on the function of muscle, Organs, systems of the body and the relationship of activity and fitness to health. Physiological changes due to modern exercise and specific training are there stages are as Biomechanical changes, Systematic changes and other changes.

In Biomechanical changes; The regular physical exercise as in sportsman is reflected in a slight elevated basal metabolic rate Bio mechanical changes increase in the size and number of mitochondria, myoglobin and hemoglobin content and thereby increased oxidative capacity. The increased oxidative capacity of the trained muscle has greater ability to use non carbohydrates for energy. Increased metabolic rate cause burning of fat and content of muscle protein increases.

Systematic changes increase in the size of fibers and connective tissue. Modern exercise during and after competition and training also influences the rate of breathing. Vital capacity breathing capacity and total lung capacity increases due to exercise. The amount of air ventilated at the maximum efforts, increasing with training the heart size increase due to the aerobic training and the Strength training course increase in the thickness of ventricle walls thereby increase the efficiency of heart, cardiac output and stroke volume. Blood pressure increasing during exercise as the requirement of blood by muscle is increase. The pressure exerted on the walls of the blood vessels increases as the heart pumps more and more blood to meet the requirement of muscle. New capillaries are formed with in the more muscle fibers. The additional capillaries increase the supply of oxygen to tissues.

In other changes includes Decreased body fat, decreased blood levels of cholesterol and triglycerides. Increased heat acclimatization and increased breaking strength of bone, Ligaments and Tendon.

The prevalent aim of this theoretical as well as scientific based paper is to highlighting the information about physiological changes due to modern exercise and specific training. Physiological changes due to modern exercise and specific training is an aspect of exercise physiology as well as sports medicine. It studies the functional changes that occur in the human body when exposed to physical activity. Physiological changes due to Modern exercise and specific training are three stages are as under Biomechanical, Systematic and other changes. In Biomechanical change are following way.

i. The regular physical exercise as in athletes is reflected in a Slightly elevated based Metabolic rate Training of Muscles causes increase in the size and number of mitochondria, Myoglobin and hemoglobin content and thereby by increase oxidative capacity. The increased oxidative Capacity of the training muscle has greater ability to use non carbohydrates of energy increased metabolic rate cause burning of fat and content of muscles protein increases.

*ASTT.PROF.-PHYSICAL EDUCATION, GOVT. DEGREE COLLEGE, INDUPUR, GAURI BAZAR, DEORIA (U.P.)

Brief periods of exercise as in sprinting, swimming activity etc causes transitory. Accumulation of lactic acid in muscle which result in fatigue. A trained and practicing sportsman can tolerate 200mg of lactic acid per 100 ml of blood thus recovery after a strenuous activity is fast. We know very well ATP is immediate sources of energy and break down of ATP release energy for muscular contraction and can be used by the muscle cell to perform its work. But there is limiting quantity of ATP in a muscle cell and the APT can give 5.7 to 6.9 kilo calories of energy only. Regeneration of ATP is required for energy. Regular aerobic training may improve muscular effect of APT and PC. Specific training and modern exercise also increased the oxidation of fat and carbohydrates. (fat is the form of triglycerides are broken down into 2 carbon compound (A) groups of by a series of reactions called beta oxidation (B) before entering into crab cycle.

In systematic changes are as under:-

ii. Endocrine changes under this heading the endocrine glands improve is its size and Level of hormonal secretions, which primarily maintain the chemical balances of the body. These changes are attributed to good health through exercises. Due to specific training the higher level of secretions of androgens takes place and improve the athletic performance by increasing maximal muscular strength.

Muscular Changes:-

It well known fact that excellent sports performance directly depend on muscle potential and function which is turn to wholly dependent on whole body system.

Through the number and types of fiber is genetically determined, the aerobic training may change their proportion by increasing inter medially type of red muscle fiber. If the slow twitch fiber type are experimentally stimulated at the steady as in long distance running, the fiber because predominately slow twitch types on the Contrary as might be expected quick bursts of muscle activity promote development of fast twitch type.

Many fiber are not able to contract and they are know as dormant/inactive fibers. Modern exercise improves transmission of nerve impulses and thereby cause dormant fiber to become active the individual muscle fibers increase in thickness as a result of strength training. Growth of total muscle is due mainly to the increase in fiber size as muscle fibers are not created through exercise but they are emerged or connective issue. Modern exercise improved cardiovascular functioning cause the more and more blood being supplied with specific training and the muscle fiber becomes more active and efficient.

Respiratory Changes:-

As a result of modern exercise, the demand for oxygen increases in response to this demand for more, the rate and that breathing are emotional and environment factors before exercise and competition also inflame infancies the rate of breathing, vital capacity, breathing capacity and total lung capacity increases.

The trained athlete Significantly lower values of breathing equivalent, which is the amount of air ventilated through the lungs for one liter of oxygen consumption. The efficiency in increased mainly because of the trained respiratory Musculature.

The amount of air ventilated at the maximum efforts, increase with training Normally, the maximum minute ventilation is about 70-100 liters per minute. In case of a trained athletes minutes ventilation increases to 120 liters per minute. In highly training endurances athletes, the ventilation has been found even up to 180 liters/minute.

Increase in Pulmonary ventilation with training is caused partially by increase in the maximal oxygen uptake. Which leads to an increased production of carbon dioxide and due to a higher level of located Tidal volume with modern exercise, Breathing frequency is reduced with training this leads to interaction of more oxygen from the inspired air Diffusion of oxygen through the alveoli membrane is increase. The increase the mainly due increases in the number of pulmonary capillaries and increased area alveoli.

Second wind may fail to appear in case of trained athletes.

Circulatory Changes:-

Circulatory system consist of Heart, Blood, Veins, Arteries and capillaries. Heart is the chief organ of circulatory system modern exercise increase cardiac output by 40-60% of maximal capacity. During rest it is around 5 liters/min. Whereas while exercising, it increase up to 40 liters/minutes in other case Stroke volume increases progressively from rest to moderate work and then it levels of at about 30 to 40% of the maximum aerobic power.

As result of Modern exercise, the size of the Heart changes, Heart size increases due to endurance training and the strength training causes increase in the strength training causes increase in the thickness of ventricle walls thereby increased the efficiency of heart.

Blood pressure also increase during modern exercise as the requirement of blood by the muscles is increased. The pressure it extended on the walls of the blood vassals increases as the pumps more and more blood to more the requirement of muscles.

Pulse become normal in the shorter duration after the cassation of activity in case of trained athletes. Modern exercise resulting as new capillaries are formed with in the muscle fibers. The additional capillaries increase the supply of oxygen to tissues and the Latent Capillaries become active and start. The quantity of R.B.C.S. Increases with regular training. Changes of cardio-respiratory system:-

The cardio-respiratory system is the basic life support system of the body. The improvement in the cardio-respiratory system through modern exercise occurs because of increased efficiency of co-ordinative function. The heart becomes capable of adapting to the increased demand through several mechanism. Heart rate slows a gradual adaptation to an increased work load by increasing proportionally to the modern exercise and will plateau at a given level for about 2 to 3 minute. The resting heart decreases with modern exercise. The rate of oxygen by taking the heart rate. The amount of blood flowing to the various organs increases due to modern exercises. In skeletal muscled capillarisation. Modern exercise and specify training by increases the total blood volume, with a corresponding increases in the amount of hemoglobin.

As the result of specific training some changes occur in lung volumes and capacities. The volume of air that can be inspired in a single maximal ventilation is increased pulmonary resistance air flow is also decreed.

Other Change:-

Modern exercise and specific training cause additional stress or connective tissue of muscle and makes them thicker and tougher as exercise multiplies tendons and ligament modern exercise and specific training tones up muscles improve the body shape by increasing the physical, physiological and biochemical potential of muscle. Trained muscle are less more to injury during strenuous and Vigorous exercises like stretching, jumping, Perching etc.

Other changes also resulting decreased body fat.

References :

1. Ajamer Singh et.al."Essential of physical education", Kalayani Publication, Delhi, 2010.
2. Jai Bhagwan Singh. "Health education and environmental studies" KhelShahitya, Kendra, Delhi, 2016.
3. Kumar.P." Development and Standardization of Mental Health Check list (MHC)", Physiological Studies, 1991.
4. Sharma.P.A."Fundamentals of Educational Psychology." Surya Publishing house, Meerut. 2005
5. Corbin, C.Lindsey, R. &welk, G. "Concepts of fitness and wellness" (3rd Ed) 2000.
6. Dr. Devinder K. Kansal."Test and measurement in sports and physical education., New Delhi, DVS Publication, 1996.
7. Dr. Lalita Ishwarn, Punnya." Physical fitness and wellness.", Khel Shahitya Kendra, delhi, 2017.
8. Dr, Shaikh Afsar Sk.RAheed," Sports Injuries", Khel Shahitya Kendra, delhi, 2016.



Status of Self-Help Groups Bank Linkage Programme and its impact on female members in Allahabad District

Dr. MuktaTripathi*

Dr. SaritaVerma**

Abstract : The Mechanism of Microfinance lending through Self-Help Groups (SHGs) has gained wide popularity during last few decades. It has been adopted by Banks an important strategy for lending to the poor. This study was conducted in Allahabad District of Uttar Pradesh to measure the impact of group based microfinance intervention of the participating households. The study found out that the microfinance intervention had developed saving habits among the members and improved economic status of the members.

Introduction : The SHG-Bank Linkage programme is based on corporate strategy in 1992. It aims improving access of the weaker and other sections of the society. It has been built around a simple but basic aspect of human nature- 'the feeling of self-worth'. Over the last 15 years, the microfinance initiative of NABARD has passed through various stage like pilot testing (1992-95), mainstreaming (1996-98) and expansion (1998 onwards) and has assumed the shape of a microfinance movement in the country by linking around 30 lakh SHGs with the formal banking system by march 2007. Further, the programme has enabled an estimated 394 lakh poor households to gain access to funds from the formal banking system. Studies conducted by various experts show that the programme has indeed helped in the social and economic empowerment of rural poor. Today it is expanded as the largest microfinance programme in the world. This approach is working as a development scheme for Allahabad District.

The main points are:-

1. This approach is implemented in all commercial Banks, Regional Rural Bank, and Co-operative Banks.
2. Members of groups should be 5 to 20.
3. Groups are can be registered or non-registered.
4. Objective of loan decided by SHG's Members.
5. A saving account should be open in a bank by SHGs.
6. Formation of SHGs is done by Voluntary institutions/NGOs/Bank Branch Managers.
7. SHGs should be working before six months.
8. Savings and profit distribution should be done in successful manner between the groups.
9. All legal document safely kept by SHGs.
10. All members should have quality of Unity.
11. Financial assistance provide direct or NGOs to members.
12. Initially self-help groups get loan four times to their savings.
13. Interest rate is decided by RBI.

The basic principles on which the SHGs function are:

*Guest Faculty, Department of Economics, JagatTaran Girls Degree College, A.U., Allahabad.

** Lecturer, Govt. Girls Inter College Delhupur, Pratapgarh.

1. The members of the groups should be residents of the same area and must have an affinity. Homogeneity of relationship could be in terms of caste/occupation/gender or economic status (which is critical).
2. Savings first, credit thereafter
3. SHGs should hold regular meetings
4. SHGs should maintain record of financial and other transactions
5. They should have norms regarding membership, meetings etc.
6. Group leaders should be elected by members and rotated periodically
7. Transparency in operations of the group and participatory decision making
8. Rates of interest on loans should be decided by the group
9. Group liability and peer pressure to act as substitutes for traditional collateral.

Literature Review:

Studies on SHGs by Prem Kumar and Rahul¹ (1992) reviewed the success of development projects is based on how far the beneficiaries are benefited. They found that all the beneficiaries had crossed poverty line by participating in SHGs and improved their socio-economic status. These groups have succeeded in improving the saving habits and self-confidence of its members. Dr. Dinkar Rao²(1994) in their study on SHGs in Thirupathy in Andhra Pradesh concluded that women are very active in co-operating with group and are much satisfied about being members of SHGs. SHGs helped the members to use the loan productively and repayment was 100 percent. Case studies on SHGs conducted by Dr. K.P. Kumaran³ (1997) showed that the group approach through SHGs is one of the best approach for the socio-economic development of the rural poor. They feel improvement in income level and employment level. Objectives: The main objective of the study is to evaluate the working of Self-Help Groups in Allahabad District. The specific objectives are:

- To examine into the performance of Self-Help Groups.
- To measure the socio-economic impact of members.

Methodology:

The study is based on empirical and analytical. For the purpose of study, SHGs linked with banks were taken. The largest number of SHGs in Allahabad is concentrated in Phulpur Block. There are 35groups were active. Out of this only 7 groups were received loan during the survey period. Thus 7 Groups and all its beneficiaries' ie.100 members had been taken for conducting the study. All members were women. Both Primary and secondary data were used for the study. The primary data were collected by pre-tested interview and schedule. Secondary data were collected from various published and unpublished sources. The collected data were statistically processed, classified, and tabulated by using appropriate methods.

The progress of SHGs in Allahabad District:

The Progress of Self-Help Groups is given below-

Table-1: Progress of SHGs in Allahabad District

Block Name (In Lakh)	No. of Self Help Group	Loan amount
1.DHANUPUR	10	542
2.PRATAPPUR	20	1062
3.HANDIA	10	550
4. SAIDABAD	0	0
5. BAHADURPUR	20	1110
6. BAHARIYA	25	1275
7. PHULPUR	35	2000
8. KAURIHAR	25	1210
9. HOLAGARH	10	540

10. MAU AIMA	10	530
11. SORAON	15	760
12. CHAKA	5	260
13. KARCHHANA	10	540
14. KAUNDHIYARA	20	1110
15. JASRA	0	0
16. SHANKARGARH	25	1270
17. KORAON	20	1050
18. MANDA	30	1570
19. MEJA	30	1550
20. URUVA	5	260
Total	325	17,699

Source: Lead Bank Office, BOB Allahabad District, January, 2016.

Table - 1 shows the Block wise cumulative progress of Self-Help Group formation and loan disbursement in Allahabad District. 325 groups are working in Allahabad District and 17,699 thousands loan amount is provided for Groups.

Finding of the study:

1. Impact on employment : The linkage between poverty and unemployment is as good as the two sides of the same coin. Our observation on the basis of sample is presented below:

Table 2: Impact on employment

Sr. No.	Employment Level	Before SHGs	Percentage	After SHGs	Percentage
1.	Unemployed	79	79%	17	17%
2.	Employed	21	21%	83	83%
3.	Total	100	100%	100	100%

Source: Primary survey, (Figure in parenthesis indicate Respondents wise detail with its percentage)

The percentage of females spending their time in house work is reduced from 79 % to 17 % indicating that they are finding gainful employment after joining Self-Help Group under Bank Linkage Programme of NABARD.

The proportion of employment with multiple activities is also significant. It shows that the females are adopting the job which suits their needs. The activities where the employment has increased are different kind of shop especially cosmetic shop and animal husbandry (Dairy) and vegetable production.

All members were feeling that their employment level is increased.

2. Impact on level of Income of the respondents : The more positive impact of SHG is observed in the form of increase in level of income after joining the SHGs. Our observation on the basis of sample is presented below:

Table-3: Impact on Income status of the members

Monthly Income of SHGs members	Before SHGs	Percent.	After SHGs	Percentage
No Income	63	63%	9	9%
Less than 1000	15	15%	11	11%
1000-2000	9	9%	31	31%
2000-3000	6	6%	18	18%
3000-4000	4	4%	13	13%
4000-5000	3	3%	8	8%
5000-6000	0	0%	7	7%
Above 6000	0	0%	3	3%
Total	100	100 %	100	100 %

Source: Primary survey, (Figure in parenthesis indicate Respondents wise detail with its percentage)

We observe that the members of SHGs were benefitted positively in terms of finding better opportunities of income. Table shows that before becoming a member of the group 15 % had an income less than Rs. 1,000 and 9 % had income between Rs. 1,000 to Rs. 2,000. 4 % had an income from Rs. 3,000 to Rs. 4,000. No family had income above Rs. 5,000. After becoming a member of the group, the percentage of families having income less than Rs. 1,000 is decreased from 15 % to 11%. 31 % have income between Rs. 1,000 to Rs. 2,000, 18 % have between Rs. 2,000 to Rs. 3,000 and 13 % have Rs. 3,000-4,000. 8 % have income between Rs. 4,000 to Rs. 5,000, 7 % have above Rs. 5,000- 6000, and only 3 % have above Rs. 6,000.

This implies that there is significant improvement in the monthly income of the members after becoming a member of the group.

Conclusion: After analyzing, we have seen that the participation in SHG made a significant impact on their economic empowerment. Most of the members are able to increase their income and savings practices. Members were saving Rs. 100 on monthly basis. Saving habits is a best practice of the group. Sometimes savings help to any member for emergency needs. This improves a social bonding between the members. Members go to the bank. Almost members have bank account after joining the group. This is also fulfilling the objective of government that is financial inclusion. This mechanism has increased employment status and living standard. However, this type of positive impact will go a long way in improving the standard of living of the members.

References:

Books:

1. Karmakar. K.G., "Rural Credit and SHGs," Sage Publication, Delhi.
2. Chatterjee S. "Development of Rural poor through Self-Help Groups," RBSA Publication Jaipur.

Article:

1. Pravin, Prem Kumar, et.al "Self-Employments and women population", Gujrat Institute of Development Research, Ahmedabad, kurukshetra, May, 1992.
2. Dinkar Rao. "Self Help Group and credit", Artha Vijnana, Vol. 36 (3), September, 1994.
3. Kumaran K.P. "Role of SHGs in development of poor women through community development," Journal of Rural Development, Vol. 21 (2), 1997.

Web Links:

1. <http://rural.nic.in/sgsy.htm>
2. <http://www.nabard.org/departments/pdf/status%20of%20microfinance%202007-08%20full%20book2.pdf>



Swarnajayanti Gram Swarozgar Yojna (Sgsy) : A Study Of Marketing Of Products In Mirzapur District

Dr.Apurba Mukherjee*

Dr.Rajay KumarSingh**

ABSTRACT : The research paper is an attempt to study the Swarnajayanti Gram Swarozgar Yojna (Sgsy) and its implementation in Mirzapur district. Swarnajayanti Gram Swarozgar Yojna (Sgsy) was the prime project of Ministry of Rural Development, Government of India. Formulated and effective from 1st April 1999 eighteen years has elapsed since its inception. With an investment of 14,403 crore it has benefited around 7 million beneficiaries. The paper is based both on secondary & primary data. For primary data a questionnaire including important variables and sub-variables as mentioned in the paper, have been prepared for the study. This paper is an attempt to measure the output of the scheme on the variable of market potential assessment of products manufactured by economic units of beneficiaries. The products here refers to the output of economic activities undertaken by the beneficiaries of the scheme.

INTRODUCTION :

CONCEPT OF DEVELOPMENT : Development depended primarily on economic growth and would occur if economic growth took place. This view ignores the distribution of the wealth from growth and how the growth has been achieved and at what costs. An increase in production in a country does not mean that there has been distribution of what has been produced. Though the production of food-grains has grown almost four-fold since Independence, every Indian gets enough to eat. Distributive justice is of greater importance.

LITERATURE REVIEW :

- T. R. Gurumoorthy, 'Self-Help Groups Empower Rural Women', Kurukshetra, February 2000, Vol. 48, No. 5, p. 36. pointed out that along with economic development, the SHG concept would also help in social development in the form of providing non-credit service such as literacy, health and environmental issues.
- R. J. Kamath, 'Rural Development Activities', Southern Economist, November, 2000, Vol. 39, No. 14, p. 19. have emphasized self employment as a cure to the malady of unemployment of rural youth.
- Sunman Krishna Kant, 'Women's Empowerment and Mutual Cooperation in the Family', Social Welfare, April 2001, Vol. 48, No. 12, p. 3. has emphasized on the role of women empowerment in view of the contribution to the labour force in the informal sector.
- A. R. Patel, 'Rural Credit System', Kurukshetra, January 2001, Vol. 49, No. 4, p. 17. stressed on the need to give attention to rural credit system along with integrated development in the areas of agricultural research, extension and education system, building rural infrastructure and making government official responsible in order to have sustainable rural development.

*Dr Apurba Mukherjee, Assistant Professor ,MBA AB, RGSC,Barkaccha,BANARAS HINDU UNIVERSITY.

**Dr.Rajay KumarSingh, Assistant Professor ,B.Com, RGSC,Barkaccha,BANARAS HINDU UNIVERSITY.

SWARNAJAYANTI GRAM SWAROZGAR YOJNA (SGSY) SCHEME : A RESEARCH PERSPECTIVE : Thus SGSY scheme has been introduced in order to eliminate the many problems faced by IRDP with a belief that rural poor have competencies of producing valuable goods and services, if they are given the right support and assistance through government. SGSY was a paradigm shift in its approach from the individual beneficiaries approach to a group based approach. SGSY emphasized the identification of activity clusters in specific areas and strong training with marketing linkages.

MIRZAPUR DISTRICT : A RESEARCH PERSPECTIVE : The Mirzapur District lies between the latitudinally of 23.52 & 25.32 North latitude & 82.7 & 83.33. East longitude. On the South it is bounded by district Sonbhadra and on the North & North East it is bounded by the Varanasi district and on the South West it is bounded by the Allahabad district. The shape is somewhat irregular on the north and west it is in no direction except for about 13 Km. where the Ganga separates the tehsil of Chunar it is in the north east from the district of Varanasi, has Mirzapur a natural frontier.

RESEARCH METHODOLOGY

RESEARCH DESIGN: EVALUATIVE RESEARCH

BEFORE - AFTER DESIGN WITHOUT CONTROL GROUP

Research Objectives :

1. To measure the output of SGSY scheme in terms of market potential assessment in Mirzapur District .

Population of interest: The population has been defined in terms of element, extent and time. (Tull & Hawkins :Marketing Research, PHI)

All the Beneficiaries under SGSY scheme who have taken up economic activity in the year 2010 in Mirzapur District (11TH Five year plan.). (6336 beneficiaries)

SAMPLING PLAN : Sampling frame: List of beneficiaries.

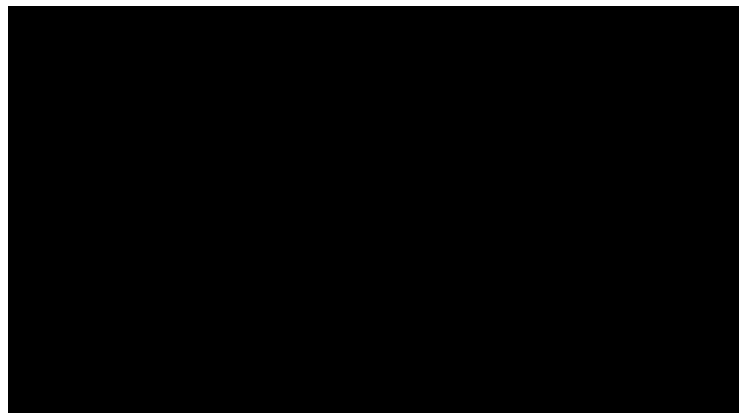
Sampling element : Beneficiaries of SGSY scheme.

Sampling method: Simple random sampling.

Sample size: 376

Tool : Schedule

DATA ANALYSIS



Series 1: involved

Series 2 : not involved

Data Analysis : The collected data was analyzed and hypothesis tested by using z test.

H₀=There is no significant difference between number of beneficiaries satisfied and not satisfied with market potential assessment.

H1= There is significant difference between number of beneficiaries satisfied and not satisfied with market potential assessment.

Data Analysis : Since the calculated z statistic is 6.6 is greater than the critical value of 1.64 at 95% level of confidence. Henceforth ,the null hypothesis is rejected and the alternate hypothesis is accepted.

CONCLUSION : The swarozgaries stated that they were satisfied with the market potential assessment of the product they manufactured. This resulted in product not being sold at the destined market and subsequently led to loss in terms of profitability and sustainability of the economic ventures undertaken through SGSY scheme. It is therefore recommended that before launching of any economic venture proper market potential assessment be conducted through specialized marketing agencies, so that there remains a high probability of the success of the ventures.

References :

1. B. Barik and P. P. Vannan, 'Promoting Self Help Groups as Sub-System of Credit Co-operatives', The Cooperator, January 2001, Vol. 38.
2. Chakravarty, Sukhamoy, 1977: Development Planning: The Indian Experience, Oxford University Press, Oxford.
3. Apurba Mukherjee, Rural Development Through Swarnajayanti Gram Swarozgar Yojna(SGSY):A Case Study Of Mirzapur District, Copyright(clause XIII2(b)(v), Banaras Hindu University, Varanasi .
4. Eyferth, H.O.P. and Vermeer, J.E.B. (ed.), 2004: Rural Development in Transitional China; The New Agriculture, Frank Cass, London.
5. Khanna, B.S., 1991: Rural Development in South Asia, Deep and Deep Publications, New Delhi.



The New Technique of Articulation in the Work of Earnest Hemingway

Dr. Rakesh Kumar Singh*

Ernest Hemingway, we all know, was rather a prolific writer; in fact he had so shaped himself as to lose no opportunity to render his impression and experiences into an articulate form. His first book entitled, Three Stories and ten Poems was published in 1923. and it was immediately followed by a collection of his stories called, In Our Time in 1924. Two years later, in 1926 Hemingway brought out two of his novels the satirical short novel, Torrents of Spring and The Sun Also Rises. At this point we cannot do without recalling that The Sun Also Rises achieved immediate success and was indeed acclaimed as a great work of fiction. His second volume of short stories, Men without Women was published 1927, and it was followed two, years later by his second novel entitled A Farewell to Arms. In 1932, Hemingway brought out a book about bull fighting named Death in the Afternoon. While Ule third volume of his short stories entitled Winner Take Nothing came out in 1933.

He wrote a travelogue called Green Hills of Africa in 1935 while shortly thereafter he wrote two of his powerful short stories, The Short Happy Life of Frances Macomber and The Snows of Kilimanjaro, that emerged out of his experiences of prolonged hunting Africa. The year 1936 saw the publication of his next novel, To Have and Have Not. Hemingway's play, relaUrlg to the

Spanish Civil war, captioned, The Fifth Column came out in 1937, From 1940 to 1952 Hemingway wrote three novels named For Whom the Bell Tolls (1940). Across the River and Into the Trees (1950) and The Old Man the Sea (1952). It did not come to the world as a surprise that he received the Nobel Prize for literature in 1954. And equally so, there was nothing unusual about his shooting himself to death in 1961. A Moveable Feast, brought out, posthumously in 1964, contains essays concerning Hemingway's years in Paris from 1921 to 1926. Two of Hemingway's novels, Island in the Stream and The Garden of Eden were published posthumously in 1970 and 1986 respectively.

It is generally said that Ernest Hemingway was not merely a rebellious and aggressive individual but also a manly writer, tough and virile and that he may be looked upon as perhaps the manliest among twentieth century writers. Somehow or other, Ernest Hemingway, the man forced his way into growing as Ernest Hemingway, the legend, a legend in his very life time. However, in order to be able to understand and appreciate the real nature of his character, we have to examine the very course of his life in all its fullness and diversity: Although, he had been born in a well to do middle class family at Oak Park in [Wnots, right from his childhood he was a victim of emotional tension arising out of the conflict between "the sartan demands of his physician father" (Fenlon, 13) and "The rich artistic aura which his mother attempted to cast over her family". (Ibid 13) All the same, there were the grains of precarious wisdom in Hemingway. During his stay at the Oak Park School, it is true, he was interested as much in sports and outdoor activities as in acquiring learning; nevertheless, even as a boy his zeal (or

*Assistant Professor, Department of English, Hindu P.G. College, Jamania, Ghazipur, U.P.

writing was stimulated both by the nature of the school curriculum, with its emphasis on classical myths, narrative poems and novels, and by the particular gifts of two of his teachers, Miss Bliggs and Miss Dixon. Hemingway's first available stories, "Judgment of Manitou", "A Matter of Colour" and "Sepf Jingan", written as a school student in 1916, deal with spying and revenge and bring out his interest in nature and violence. At Oak Park he was actively associated with the school Magazine, *Tabula* and the school newspaper, *Trapeze*, and what is important about his school. Journalism is the fact that in this respect his model was Ring Lardner, an eminent columnist of the *Chicago Tribune*. Hemingway's 'high school fiction', says Fenton "demonstrates that he was blessed with an acute interest in all new experience, a ready narrative style and a sound training in clear self expression" (Ibid 17), and goes on to state that the "rest would come only after a series of increasingly more sophisticated tutors and a vast amount of personal growth and application." (Ibid 17)

After his schooling in his restlessness to move out of Oak Park Hemingway decided to go in for journalism and became a reporter with the *Kansas City Star* which was a famous paper at that time in mid west America. Hemingway was not just happy with his profession as a journalist; in fact, in the course of his day to day reporting he learned a good deal about the art of writing, particularly under the guidance of C.G. Wellington, Assistant city Editor of the paper, and Lionel Calhoun Moise who was closely associated with it. And though he worked as one of the *Kansas City Star* reporters for barely seven months, he regarded his stay there as a means to an end, and wrote several stories, the more important among them being "A Pursuit Race" and "God Rest you, Merry Gentlemen" that are marked by the writer's flair for action, his understanding and appreciation of experiences, and his purposeful avoidance of sentimentality. In this connection Hemingway himself says.

Those were the best rules I ever learned for the business of writing. I've never forgotten them. No man with my talent, who feels and writes truly about the thing he is trying to say, can fail to write well if he abides by them" (*Kansas City Times*. 1).

And Charles A. Fenton states the very same thing in a different way :

"Literary critics have sometimes patronized Hemingway as the victim of an abbreviated and inadequate education. On the contrary in addition to the admirable instruction given at Oak Park High he was the recipient of an extremely literate and concentrated training, General as well as vocational on the *Star*. It was an education to which, like any young man, he would be more attentive than he would have been to similar instruction at say, the university of Illinois: (Fenton 37-38)

It is true that Hemingway felt interested in journalism, but he felt more interested in serving the cause of war victims, first because of his humanistic and altruistic ideals and secondly because he viewed war as one of the reservoirs of experiences, and that is 'why he enlisted himself as a volunteer in the Red Cross Ambulance Corps for Italy. Hemingway says:

I thought. ... about what a great advantage an experience of war was to a writer. It was one of the major subjects and certainly one of the hardest to write truly of and those writers who had not seen it were always very jealous and tried to make it seem important or abnormal or a disease as a subject while really, it was just something quite irreplaceable that they had missed. (Hemingway, *Green Hills ...* 70)

Hemingway joined his assignment in Italy in early 1918 but got seriously injured in French warfare a few months later: all the same even in the bewildering in and confusion of war, he kept on writing articles and short stories. Hemingway informs us :

When you go to war as a boy you have a great illusion of immortality other people get killed not you ... The when, you are badly wounded the first time you lose that illusion and you know it can happen to you. After being severely wounded ... I had a bad time until I figured it out that nothing could happen to me that had not happened to all men before me. Whatever I had to do men had always done. (Hemingway, *Men At War* XVI)

It is pretty evident that by 1918 itself, when Hemingway was only a nineteen year old boy, he had acquired a personality and a role to perform in life.

Hemingway came back to America in 1919 and after nearly a year's stay at Oak Park and Michigan proceeded to Canada to join the Star weekly there at Toronto as a member of its editorial staff. Although crime and violence had a special fascination for him, it was a humorist... That Hemingway presented himself in much of his Star Weekly material in 1920 (Fenton, 81) and his style and attitudes matured as he ranged experimentally through the various levels of burlesque, mimicry, satire and irony. (Ibid 81). It is important to note that even at the age of twenty one Hemingway could legitimately think of himself as a writer, and could also feel that, given time, he would earn a living through his works. He returned to Chicago in the autumn of 1920, and eventually became the associate editor of Co-operative Commonwealth there.

Hemingway and his wife left for Europe at the beginning of 1922. "A friend of mine and a very delightful man, Ernest Hemingway, and his wife", writes Shelwood Anderson to Lewis Gelan Uere on November 28, 1921, are leaving for Paris." (Jones, 82-83) During his trip to Europe Hemingway visited Spain, Switzerland, Italy, Germany, Greece and France and besides attending his journalistic duties, could acquire a host of impressions and experiences that helped him immensely as a creative writer. In Paris his encounters with Gertrude Stein, Ezra Pound and James Joyce were productive in their own ways; for while Ezra Pound encouraged him to take up his vacation as a writer with due seriousness, in her turn Gertrude Stein, the presiding deity of the literary association there, explained to him her conception of writing as concentration, as heavy, aching effort which was indeed something new for Hemingway and advised him to give up his job as journalist. It was really fortunate that Hemingway had constantly resisted being merely a journalistic hack and had always aspired to become a creative writer. And though journalism did create many problems for him, it nevertheless, gave him over the years, a finished maturity of prose and an interest in human situations, a penchant for authenticity of details, a determination to throw himself responsibly into whatever atmosphere he was exploring, and a sardonic recognition of the tenuousness of established truths. Gertrude Stein's advice to him to give up journalism did ignite his growing impatience with newspaper work, and though he had been associated with journalism since 1916 right from the school days at Oak Park. On his return from Europe to Toronto in the second half of 1923, he brought his journalism career to an abrupt end at the beginning of 1924: Talking to Harvey Breit in 1950, Hemingway did very meaningfully observe: "[In writing I have moved through arithmetic, through plane geometry and algebra, and now am in Calculus." (Breit: NTBR, 14).

Hemingway returned to Paris early in 1924 : kept on writing short stories and novels as intense personal commitment, and it was nearly nine years later that he left Paris on a trip to Africa. From his very boyhood days, Africa held a peculiar fascination for Hemingway and this interest was further roused by the novel, *Batoula*.

written by a Negro, Rene Maran. Although *Batoula* was basically a socio-political novel, Hemingway had considered it in 1922 only as a remarkably realistic description of life in an African village. Next to Africa, Spain too had its own fascination for him; he travelled to Spain four times during the Civil war, and advocated the cause of Spanish freedom fighters. In this connection LEO Lania says:

Spain is Hemingway's great love Africa represents temptation and adventure. Paris is an infatuation. Italy is Venice a feast for the senses. Spain, though is the Spanish people. Hemingway has felt deeply involved with this people ever since he set foot in their country... Hemingway felt the tragedy of the Spanish freedom fighters far more deeply than the suffering and sacrifice of any other people under the Yoke of fascism. (Lania 101-102)

Hemingway was not a communist; he was not a socialist either; in fact he had no political ideology so such, nevertheless, he was outstandingly an anti Fascist. Almost throughout this part of his life he kept on moving to and fro between Europe and America, and it was towards the end of the fourth decade of the present century that he got settled in a coastal village near Havana in Cuba. The leftist revolution that took place in Cuba a few years later unnerved him; he came back to America, in the process losing much of his property and literary material in Cuba itself.

Ernest Hemingway was a literary pilgrim in the real sense of the term. He was profoundly conscious as much of the brutalities and horrors of war as of the various other phenomena afflicting human predicament that prompted Hemingway to adopt and develop a code of values that conditioned the course of his own life as also the conduct and response of his important characters.

References :

1. Breit, Harvey, "Talk with Mr. Hemingway", New York . Times Book Review, N September 17, 1950.
2. Charles A. Fenton. The Apprenticeship of Ernest Hemingway, New York. 1954.
3. Hemingway, Ernest. Green Hills of Africa. New York, 1935.
4. _____ "Introduction" : Men At War, New York, 1942.
5. Jones. H.M. and Walter B. Rideout ed. Letters of Sherwood Anderson New York. 1953.
6. Kansas City Times. November 26. 1940.
7. Lania. L. Hemingway : A pictorial Biography, New York, 1916.



Commodifying Health: The Linkages between Market, Media and Mouth

Mayank Tomar*
Prof. Diwakar Sharma**

Abstract : In the present worldview of wellbeing structure specialists are suppliers of human services and patients are shoppers just, and the administration which as far as anyone knows star open in nature is swinging to an undertaking which just work on the benefit intention and the consequence of this is de demonstrable skill of specialists and de customize from the patients. The connection between the specialists (merchant) and patient (purchaser) and they are exchanging wellbeing (commodity). Today India faces the twofold weight of ailments i.e. from one viewpoint there exists constant malnourishment and on alternate shaky corpulence. In such a domain the part of administration is essential, pivotal and down to earth. The present research paper will try to explore the condition of market, how it's exploiting the body for their capitalistic benefits and also tries to find the ways in which market labeling the body as unhealthy. The paper also indicates towards the changing patterns of diseases which are basically not disease in reality and it's created by the market and physicians. This contemplation also suggests some solutions for this big unhealthy history, present and future.

Key Words: Well being, Malnourishment, Exploiting.

Introduction : In the contemporary time, health is a major issue for the bureaucracy, market, and media and for the mass at large. For the perceptive understanding of health WHO definition of health is very important which says "Health is a state of complete physical, mental and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity" (Shimkin, Michael B, 1946). This definition didn't revise since 1948 but in the Ottawa charter for health promotion which was held in 1986, WHO changed its definition and conceptualize health is "a resource for everyday life, not the objective of living. Health is a positive concept emphasizing social and personal resources, as well as physical capacities." (<http://www.who.int/healthpromotion/conferences/7gchp/en/>). From these two definitions, we are able to perceive that health could be a resource for the way of life, a state of physical, social and mental well being. With the understanding of health, we can observe that how this resource for everyday life which should be in the hands of common mass or with the patients is shifting in the hands of physicians.

In the present paradigm of health structure doctors are providers of health care and patients are consumers only, and the service which supposedly pro-public in nature is turning to an enterprise which only work on the profit motive and the result of this is de professionalism of doctors and de personalize from the patients. The link between the doctors (seller) and patient (buyer) and they are trading in health (commodity). In India according to National Family Health Survey-4, the private medical sector remains the key source of health care for 69.5% of households in urban areas and 62% of households in rural areas (NFHS-4, 2014-15). Since colonial times in India where health issues were not dealt properly and colonial medicine mostly confined to the urban cosmopolitan areas catering to their army and their armies mainly

*Research Scholar, Department of Sociology and Social Work, Dr.H.S.Gour University, Sagar

**Prof. in Department of Sociology and Social Work, Dr.H.S.Gour University, Sagar

included the males, and the present day reality does not differ; so can we afford the commodification of health in such a diseased environment where our human resources are on the mercy of market? This pictures the basic flaw of the society which is driven by the market and consumerist ideology.

The double burden of Diseases : Today India faces the double burden of diseases i.e. on the one hand there exists chronic malnourishment and on the other precarious obesity. In such an environment the role of bureaucracy is very important, crucial and pragmatic. In the structure of health care higher-level officials plan and local officials execute; but because of centralized approach and no participation of local officials in planning, the customized approach in health is not visible which is very important in the present context of Indian health and that's also one of the reasons for failure of health policies in India. According to economic survey, In the Budget of 2016-17 India spends around 1.4% of GDP on healths which is lowest in the BRICS group and which also shows the lack of interest of bureaucracy in improving health and maintaining the state of well being (Ministry of Finance Government of India, 2017). This picture could be worse had it not been for the private sector's health spending in India. Various schemes for the health sector overlap for the targeted population like Indira Gandhi Matritva Sahyog Yojna (IGMSY), Janani Shishu Suraksha Karyakram (JSSK), and Janani Suraksha Yojna (JSY) concluded up on the same beneficiaries—women. The present situation is best explained and elaborated by the Foucauldian analysis of power, knowledge and disciplines what he adds up to say 'governmentality' (Foucault, 1982). Governmentality explains that how in the discourse of health the art of government and how government act with the calculating means and how we behave in response to that. It also explains about techniques and strategies by which government can govern society. Here power is the equipment for controlling the population and that is power assumed by the medical practitioners. This power is related with the knowledge in the form of technology and sciences which reproduces this power and how government uses this power and knowledge to maintain a discipline to govern the society.

Medicalization and Commodification of Health : The war on health is not restricted to commodification of health but come one step forward to medicalization of society where new problems are rooting up which earlier had nothing to do with medicine like baldness, labial surgery, hymenoplasty, facial surgeries related with beauty. Nonmedical problems are being treated medically. In the present context in this system healers are on the periphery and in the core market created by pharmaceutical companies which control actions related with health. In this arena of medicalization and commodification of health a pill popper culture is generated in the urban areas and most of the pharmaceutical manufacturers are making medicines only for the up market section that can really pay and buy their health in the market. Thousands of manufacturers are fighting for only the people who can pay. So in a way in this market culture, rural people would remain malnourished and diseased.

Malnourishment is not only related with socio-cultural dimensions and practices like the ideology of patriarchy in the family or kind of unawareness but also because of the very important fact of increasing marginalization of poor caused by the global market system and cultivation of cash crops in the place of food crop. A small example of this is MacDonald's, which uses huge areas in developing countries for the production of cash crops, cattle ranching and to grow grain for feeding animals. On the one hand media created a desire of burgers, pizzas and different types of fast food which is low in fiber and vitamins and high in fat, sugar and salt, at the same time on the other hand the same media advertise the medicines for the heart diseases, cancer, and diabetes, they not only sell the medicines but different products which give guarantee to overcome the effects of these diseases like cooking oil, exercise gadgets etc. If we will observe keenly we can see that these companies like MacDonald's creating malnourishment in the rural areas by tactically forcing farmers to grow cash crops

and in urban areas they are creating an obese environment which is targeted by the pharmaceutical companies and their market and by its partner media.

The present food habits and Health : George ritzer in his book "TheMcDonaldizationof Society" explains and discusses the term McDonaldization and says that it occurs when a culture acquire the characteristics of fast food restaurant. Ritzer believes that fast-food restaurant could be more representative of contemporary context and paradigm(Ritzer,2009). With the idea of McDonaldization he wants to explain the homogenization in the cultures of the world, which is quite clear in the present context. With the help of McDonaldization concept we can easily grasp the situation of worldwide presence of fast food restaurants and the diseased after effects of this culture. The story of McDonaldization is universal, in the west people are suffering from obesity and in Asia this culture is also haunting millions of people.

In all over the world where fast food restaurants like McDonalds are present, people consumption of fast food is higher and reasons being that in these places burger is cheaper than the fruits and vegetables. Now one question arises that in what kind of system we are living where government and bureaucracy both are supporting a system which is killing us slowly with their fast food. Several people lack adequate food supply which is the result of economic inequities, war,corruption, etc. Several are overweight and trapped in diet related diseases. As we all know overweight is caused due to less burning of calories as compared to over eating. The reason of this imbalance is very ironic because of advancement in prosperity, one consume more energy by eating more and be less active because of long working hours and use of car , television and computers etc.

The growth of fast food centers are increasing in urban areas because people who don't have enough money to eat green salads and fruits , they can eat cheap burgers and in contrast to thesesome people eat fast food because it's a kind of style statement and a trait of modernization. Other reason of increasing fast food centers in urban locality is increasing number of nuclear families and working women's and they don't have enough time and will to cook food in home and they depend on fast food corners for their food. In such kind of trap where media show the advertisements of burgers , pizzas, soda's, cold drinks, chocolates, etc which are full of calories and by doing this media created a favorable environment for the pharmaceutical companies in which masses can buy these medicines more or less affected by the above products. These two are growing and lobbyingand in front of these two powers government and bureaucracy is weakening and giving space to them and they are controlling the health and food policies, such health politics are taking place in most part of the world.

Health is a commodity in present scenario and most of the developed and developing countries are bearing the burden of such a blunt reality. The makers of these countries had seen a dream of theirdeveloped nations occupied by healthy citizens but we have strong, concretized, and gigantic buildings with obesity, high blood pressure, and diabetic persons who are sitting inside these huge and strong buildings. This is determined by the ideology of politics by which development issues have been determined.In the current era we give preference to the issues like expansion of market, building new dams, energy, industry, reservation policy etc, for gaining higher returns, profits, and leverages and by this they influence people for votes. Issues related with health most of the times neglected and having second preferences for the politics. Most of the developed and developing countries are talked about their growth and development but what's the value of such growth and development it's like a rich and developed island on the ocean of sewer. The real and balanced development always includes healthy citizens with favorable environment for the future generation.

Market is controlling health policies and health services, health is commodifying, pharmaceutical companies are capturing physicians mind by their marketing executives and consumers mind also with the help of media, our savior's government and bureaucracies are giving space to them then in such a tough condition thousands of mouths will swallow thousands

of pills but not by their will, choice and selection and unfortunately they remain diseased because you can't be healthy or maintain your well being only by curative method or by taking pill, your health is also determined by what you eat.

The health dynamics is getting worse day by day, it's not only confined in the urban areas but the effect is also reaching to rural areas. Every class is affected by the improper health and every place is affected by the effects of market. The health of tribes is not good; the health of main stream society is not good, the health of cosmopolitan is also not good. They are more prone to the risk of market and its cycle of commodification. Market is treating body as a commodity and by making body as a product, it is ready to sell and purchase. The mind is detached from the body, everybody is talking about the body and nobody is talking about the mind, which is in the great stress.

Self Surveillance and the Mind : Everybody is doing the self surveillance of the self. Market is giving a picture or an idea of a body and market is propagating this idea and image by the advertisements. In the mind of everybody there is an image of body and everybody wants to attain it. If somebody is able to attain that image created by market then he has to put his mind in continuous pressure and stress and if he is not able to attend this image then automatically he will be in pressure. He will also feel deprivation because some people is able to attain that image of market.

The image of facial beauty is in the frame of white complexion only and if anybody is not having it they are not beautiful. The market is segregating and making different sections according to the color of skin only. Now a day's market is treating blackness of skin as a disease. A disease generated recently by the market and for these clinics are ready to cash this disease.

The Common Unhealthy Future and the Solution : The day will come when everybody will be behind the hyper reality created by the market (Baudrillard,1988). We will all want something which is not real but created reality by the market. Market is dividing us and our health into different segments and the day will come everywhere we will find the unhealthy people. The whole world will be divided into two categories only the one that is healthy, which will be very few or handful and other is unhealthy which will be enormous. Healthy people will dominate and rule the unhealthy people.

The whole fault is in the paradigm of development, the whole development is going on buildings are present, infrastructure is present but the healthy man and women is missing. Everywhere concrete is present and the ideology of profit is present. The emotional sense and the healing by nature are missing. We are searching the solutions in the development strategies and plans but the solution lies in the Jean-Jacques Rousseau's idea of "back to the nature"(Masters & Kelly, 1990)

References:

1. Shimkin, Michael B. "The World Health Organization", American Association for the Advancement of Science, (27 September 1946).
2. <http://www.who.int/healthpromotion/conferences/7gchp/en/>
3. International Institute for Population Sciences and Macro International . "National Family Health Survey (NFHS-4), 2014-15" (PDF). Ministry of Health and Family Welfare, Government of India.
4. Economic Survey 2016-17,Ministry of Finance Government of India, 5 Mar 2017.
5. Foucault Michel, The Government of Self and Others: Lectures at the Collège de France 1982-1983, <http://rauli.cbs.dk/index.php/foucault-studies/article/view/3127/3298.pdf>
6. Ritzer, George (2009). The McDonaldization of Society, Los Angeles: Pine ForgePress, ISBN 0-7619-8812-2.
7. Baudrillard Jean, "Simulacra and Simulations," in Selected Writings, Mark Poster, ed. Stanford: Stanford University Press, 1988, pp. 166-184.
8. Collected Writings of Rousseau, ed. Roger Masters and Christopher Kelly,Dartmouth:University Press of New England, 1990-2010.



Implication of Street Play in Social Sector

Bittu Mishra*

HISTORY OF STREET THEATRE : Proscenium, in theater, the casing or curve isolating the phase from the assembly room, through which the activity of a play is seen. In the antiquated Greek theater, the proscenium initially alluded to a line of corridors, supporting a raised acting stage, and a while later to the whole acting territory. A proscenium in the advanced sense was first introduced in a changeless performance center in 1618- 19 at the Farnese Theater worked in Parma, Italy. It had been presented as a transitory structure at the Italian court around 50 years sooner. In spite of the fact that this curve contained a phase shade, its fundamental object was to give climate and a feeling of display, and scene changes were still done in perspective of the group of onlookers. It was not until the eighteenth century that the stage drape was normally utilized as a methods for concealing scene changes.

The proscenium's structure was first extended by Squire Bancroft and his better half, Marie Bancroft, to encase the lower side of the phase at London's Haymarket Theater in 1880, making a "photo outline" or a fanciful fourth divider through which the crowd encountered the deception of keeping an eye on characters carrying on precisely as though they were in secret. With the approach of power, the figment was additionally improved by controlled lighting, which made it conceivable to obscure the assembly hall where the group of onlookers was situated and make the figment for the observer that he was not in a theater.

The proscenium theater, however still well known in the twentieth century (particularly for expansive halls), was supplemented by different sorts of theaters intended for more full correspondence amongst performing artist and gathering of people. Subsequently the restoration of other, more close types of theater, for example, the open stage and the theater-in-the-round. (Reference book Britannica)

STREET THEATRE IN INDIA : There has been an impact of street theater activity in India in the nineties. One examination assesses the nearness of around 7,000 street theater clusters in different parts of the country with the greatest number in West Bengal, Andhra Pradesh, Tamil Nadu and Kerala. The essential get-together related with this sort of surely understood auditorium activities are 'social action get-together', prosperity and agrarian development workers, understudy activists, political get-together, religious reformers and women's affiliation. The formal origin of India Street Theater can be taken after to the radical political scene in the 'forties in Kolkata'. It created not from people or customary theater yet rather from the custom of Indian changes of Western Proscenium theater, celebrated at the time in urban core interests. Regardless, it was Marxist-roused. It was as they say went to the street since theaters would not stage such political plays which were portrayed by striking (Producing exceptional notions or strong, clear pictures in the mind: "unmistakable memories") delineation of honest to goodness events, standard lingo and immaterial props. It was the Bengal starvation that initially enacted such development. In 1944, Bijon Bhattacharya, a coordinator of Indian People's Theater Association (IPTA) organized the principal street play.

*Development Worker/Street Play Artist

It was called "Nibanna", and related the manhandle of workers by Bengali land proprietors. IPTA advanced the street corner play in the mid fifties in the midst of the BandimuktiAndolan. Other politically influenced groups in like manner took to the shape in the eighties to amass the disparaged get-together. The slaughtering of the IPTA fanatic, Safdar Hashmi, in the midst of a street execution in Delhi in mid 1989 incited the shape being given wide degree in the national press.

The most powerful promoter of the Indian Street Theater has been BadalSircar who has fought for a 'theater of obligation'. He has been along these lines, fundamentally influenced by Grotowski's 'poor theater' and Schechner. Sircar's work rises for his underscore on non-verbal correspondence, on trade facilitated straight in the social event of people and on the relationship of the gathering of spectators. It is seen that street plays are social specific and use close-by society theater shapes, neighborhood songs and moves and the area vernacular. For instance, 'Sahiar', a women's get-together in Baroda, uses Gujarati society shapes like bhavai and garba and the Jan NatyaMandali (of Andhra Pradesh) uses neighborhood outlines like 'ogerratha'.

Women's get-together in Delhi, Mumbai and in common Andhra, Kerala and Maharashtra have used street theater to raise social awareness on issues like settlement, sex partitions in preparing and business, exploitative advancing and out of line laws of heritage and division. In Kerala, the Kerala ShastraSahityaParishat (KSSP) has used street theater to propel science and ability. (Kumar, 2003)

IMPLICATIONS OF STREET THEATRE IN SOCIAL SECTOR : Using street theater to include social issues-On the acquaint that affecting people with consider a social issue or a severe dislike is more basic than finding or giving game plans, the street theater advancement is getting vitality among social masters and social work understudies. Schools, colleges and non-Governmental affiliations are changing street theater into a convincing instrument to associate with the grassroots and besides to the urban poor. While many are progressing ways to deal with shape the plays according to their abilities, there are some that are going the formal way by associating with specialists to set up their understudies. (The Hindu, 2012)

Political Theater and Social Work ever, there is long custom of displays tending to issues of current events and basic to society itself, engaging mindfulness and social change. The political satire performed by the comic essayists at the theaters had amazing impact on prominent appraisal.

Street Theater and Anti-Corruption improvements the piece of street theater in delivering open thoughtfulness regarding the overall public about degradation is especially verifiable. The basic part is to connect with the general population in abused gatherings to enthusiasm for their rights and to enthusiasm for duty from their pioneers. (Madada, 1999)

Street Theater as a Tool to bring Social Change-Street Theater as a sort of correspondence of late has been used to induce social messages and to influence a care among the greater part as for essential to issues. Street theater breaks

The formal limits and techniques the overall public direct. This is a techniques for Reaching people of all strata and making a recognition with events around them, calling them to change what they acknowledge are the social sufferings. (Mangattuthazhe, 2010) In a Street theater, the gathering will Act out a short play, in an open territory to train social occasions of individuals about the get-together's work, Drawing contemplations to a specific issue, to the Members of a specific get-together. With street theater the preliminary point isn't an undertaking to move the all-inclusive community towards something, yet to work towards a full observing and look of what is occurring and the inside social regards. (Allen)

Street Theater for Development-Methods like street theater, seen by people passing by seems like a veritable condition to the social affair of individuals, which generally fills in as

a charming inspiration to the overall public who watch the situation. Each kind of Theater for Development-program trusts in the nature of the casual trade through people who stand up to the condition, are a bit of a wander or watch a fundamental play. In the roads, it contacts people who wouldn't go to a workshop or watch a play, in this manner the extent of kept an eye on people can be fundamentally higher and social change is another piece closer. It incorporates a talked word show or parody, a music, singing or conceivably move age, a creation with advancement however no steady (imitate), participatory or improvisational techniques using any of these. (Mechanized Media, 2013).

Conclusion : Street theater is the most adequately accessible strategies for correspondence which acknowledges social change. It has a long ordinary and social establishment which is beginning from the grounds of Greece, spreading over the globe. It is a people driven sort of media which incorporates the overall public on the stage as on-screen characters and supporters and people off the stage as social event of individuals.

References :

1. Allen, K. (n.d.). THE CONNECTION BETWEEN STREET THEATRE/SOCIAL CHANGE. Retrieved June 14th, 2013, from <http://www.slideshare.net/tomtee/street-theater-social-change>
2. Digital Media. (2013, May). Theatre_for_development. Retrieved from http://en.wikipedia.org/wiki/Theatre_for_development
3. Encyclopaedia Britannica. (n.d.). proscenium. Retrieved June 13th, 2013, from <http://www.britannica.com/EBchecked/topic/479334/proscenium>
4. Flickety, T. S. (n.d.). Hold-Your-Own-Street-Theater. Retrieved June 14th, 2013, from <http://www.wikihow.com/Hold-Your-Own-Street-Theater>
5. IPTA. (n.d.). About Us. Retrieved June 13th, 2013, from <http://www.iptaindia.org/ipg.php?p=Kzg2KU89NzFVPFJZUDonYGAKYao=>
6. Kumar, K. J. (2003). Mass communication in India. Mumbai: Jaico Publishing House.
7. Lancashire, A. (2012, September). Literature, Literary Studies - 1500 to 1700, Literary Studies - Plays and Playwrights. Retrieved from <http://www.oxfordhandbooks.com/view/10.1093/oxfordhb/9780199697861.001.0001/oxfordhb-9780199697861-e-20>
8. Madada, S. (1999). Creative Arts workshop: To raise public awareness., (pp. 3-4). Durban.
9. Mangattuthazhe, T. (2010, April 20). Peace and Collaborative Development Network. Retrieved from http://www.internationalpeaceandconflict.org/profiles/blogs/street-theatre-a-tool-for?xg_source=activity
10. The Hindu. (2012, December 21). using-street-theatre-to-showcase-social-issues/article4224952.ece. Retrieved from <http://www.thehindu.com/news/cities/Coimbatore/using-street-theatre-to-showcase-social-issues/article4224952.ece>
11. Theatre Design. (n.d.). stage-types-proscenium-arch. Retrieved June 13th, 2013, from <http://theatredesigner.wordpress.com/theatre-design-101/stage-types-proscenium-arch/>



Critical Review of Working of Sidbi For Development of Smaall Scale Industry

Dr. Shiv Shankar*

ABSTRACT : The SIDBI banks being an important nerve of modern organized society can play an important role in the SSIs transformation. They provide the infrastructure on which agriculture; industries and trade of nation depend. They can allocate available resources by mobilizing deposits and advancing credit into the best possible uses according to national priorities. By opening branches in un-banked and under-banked areas, the banks can spread magnetization, thereby introducing a larger market economy in place of natural economy. By providing loans to agriculture and small-scale sector they can solve the acute problems of unemployment and under employment. Hence banks can rightly be called the nation's agents of economic development. But in developing countries like India the role of SIDBI is not confined to accepting deposits and advancing loans. They also accept, the accelerating flow of credit in accordance with the needs of SSI development. They have shifted from restricted old conservative policies to modern banking with lots of new techniques, which brings dynamism and innovation in their functioning.

The Government of India and the State government have been pursuing a policy of protecting and promoting small-scale industries for a long time. Small-scale industries have been accorded pride of place in the planned industrialisation process of the Indian economy, which is characterized by among other factors low productivity in the SSIs abundant labour and scarcity of capital. The comparatively easy dispersal of small-scale industries in the rural and economically backward areas has an added advantage of increasing incomes in these places. They can contribute to production and generate employment absorbing relatively a smaller amount of capital ensure a more equitable distribution of income and facilitate effective mobilization of capital and skills which would otherwise remain unutilized. The need of the hour is Technology upgradation.

INTRODUCTION : SIDBI play a role in the growth and development of a country as it provides required infrastructure for economic development of the country. In our country and our state a large population lives in villages and small city. The world has become a global market. The impact of globalization privatization and liberalization has totally changed the style of banking sector in India. In India banking sector is entering in several new activities SSIs. They do all the activities, which can assist their customers. The more highly development a country. Small industries Development Bank of Indian (SIDBI) Set up by an Act of parliament, is the principal financial institution for the promotion, financing and development of industry in small, tiny and cottage sectors and for co-ordinating the function of the institution engaged in similar activities. It commenced its operations on April 2, 1990 by taking over the outstanding portfolio and activities of SIDBI pertaining to the small scale sector. From a predominantly refinancing institution; SIDBI has emerged as a major purveyor of a wide variety of financial services to the small-scale sector.

* Asstt. Professor, B.Com (Hons.), Bareilly College, Bareilly

OBJECTIVES :

- To study the working of SIDBI for development of SSI.
- To review the assistance provided by the SIDBI.
- To make suggestion for working and policy development of SIDBI.

HYPOTHESIS FOR THE STUDY : The study is based on the following hypothesis:

- The SIDBI has not been successful in the development of small scale Industry.
- The SSI is not developed properly in the country due to the inadequate financial support.

PERIOD OF STUDY, DATA COLLECTION AND DATA ANALYSIS : The study is based on secondary data taken from published annual reports of SIDBI and other financial institutions. The published annual reports of institutions have been collected from the registered and corporate offices of respective institutions. The study is made for ten years from 1995-96 to 2005-06. Various publication of SSI, Government reports and financial institution publications have been used for this purpose. Other information related to the industries have been collected from. The Economics Times, Financial Express, R.B.I. Bulletin, other periodicals, Journals and from various Websites.

The collected data and information will duly edited, classified and analyzed using all type of relevant tools techniques.

OVER VIEW OF SIDBI : SIDBI was established on April 2, 1990. The Charter establishing it, The Small Industries Development Bank of India Act, 1989 envisaged SIDBI to be "the principal financial institution for the promotion, financing and development of industry in the small scale sector and to co-ordinate the functions of the institutions engaged in the promotion and financing or developing industry in the small scale sector and for matters connected therewith or incidental thereto.

The business domain of SIDBI consists of small-scale industrial units, which contribute significantly to the national economy in terms of production, employment and exports. Small-scale industries are the industrial units in which the investment in plant and machinery does not exceed Rs.10 million. About 3.1 million such units, employing 17.2 million persons account for a share of 36 per cent of India's exports and 40 per cent of industrial manufacture. In addition, SIDBI's assistance flows to the transport, health care and tourism sectors and also to the professional and self-employed persons setting up small-sized professional ventures.

SIDBI retained its position in the top 30 Development Banks of the World in the latest ranking of The Banker, London. As per the May 2001 issue of The Banker, London, SIDBI ranked 25th both in terms of Capital and Assets.

RESEARCH DESIGN : This chapter discusses the entire research design. It covers the problem of research. After the problem detailed review of literature provides the insight into the past research. On the basis of the study of literature the research objective has been developed. Later part of this chapter has focused on hypothesis of study, source of data, period of study, tools and techniques used in the study.

CRITICAL REVIEW OF WORKING OF SIDBI : The working of SIDBI for the extension support measures and financial incentives, small scale sector has been facing certain problems which have affected its competitiveness and financial health. Major among them are technological obsolescence, lack of adequate marketing and infrastructure, paucity of working funds, managerial inadequacies and delay in realisation of receivables. As a result, this sector is facing high incidence of sickness. SSI units which are predominantly organised as proprietary and partnership concerns have also no access to the capital market, nor is there any institutionalised arrangement for extension of equity support to them except to a limited extent under the seed capital scheme operated through state level corporations. There is a growing realisation now that special attention needs to be given to strengthen the managerial capabilities

of small scale units and to equip them to face the challenges in the changing environment effectively.

As a premier financial institution, the SIDBI is empowered under the Act to formulate suitable strategies for the extention of financial and support activities to small scale industries all over the country through strenghtening of its own branches and existing network of institution engaged in the financing and development of the small scale sector. Availability of timely and adequate finance is Sine qua non for the growth of any sector. For the SSI sector, there exist a fully developed institutional set up for credit dispensation in India. The quantum of assistance has been continuously increasing over the years both from banks and the financial institutions. The Indian financial system is distinctive in the sense that specialised institutions exist here that cater to the needs of different sectors of the economy. The Bank has achieved consistent growth in financial parameters since its inception.

Since its inception, the SIDBI has been shoudering a wide range of responsibilities entrusted to it, by assiting the entire spectrum of the SSI sector including the ting, village and cottage industries through the different assistance schemes. Due to some deviation between the projected policies and their implementation there are few disparities in the objectives and achievements.

However, during the year 1995-96, in the context of tight liquidity position of commercial banks and state level institutions, the off-take of refinance by Primary Lending Institutions (PLIs), especially by banks, showed significant improvement. Again during the year 1996-97 there is a decline in operations under refinance which was mainly due to lower off take of assistance by PLIs during the year. The percentage of declined during current year 2004-05 regarding sanctions and disbursements recorded was 6.1 percent and 8.6 percent respectively as compared to assistance in 2003-04. SIDBI also made suitable policy changes to meet the demands of Primary Lending Institutions. The refinance availment by banks went up steeply during the year 2004-05.

Though in the last three years the total sanctions and disbursements under the refinance scheme increase in a Zig-Zag Fashion, there is still a place for more improvement.

With deregulation of interest rates and increasing dependence on market borrowings, both domestic and external, financial institutions are exposed to market volatility and the consequent risks arising out of it. To address these risks in a structured manner, Reserve Bank of India (RBI) issued guidelines to financial institutions, including SIDBI, in December 1999, for implementing a comprehensive Asset Liability Management (ALM) system as an effective tool to measure, monitor and manage these risks. As per the guidelines of RBI. To sustain the steady growth in assitance to the small scale sector, as also to maintain a healthy bottom line in an environment of decreasing access to sources of cheap funds coupled with reducing interest rates on the lending side, SIDBI had taken necessary steps to implement ALM system has implements in last decade by constituting an In-house Asset Liability Management Committee. The ALM programme of SIDBI is proceding as per the schedule and would by fully operational shortly.

As mentioned earlier, SIDBI in its achieving the objective of removal of regional disparities has divided the overall network into 5 different regions viz. Eastern, North-Eastern, Northern, Southern and Western Region and had made suitable strategies and taken necessary steps for increasing the flow of assistance in respect of the states falling within their jurisdiction in consultation with the head office. On seeing the region-wise distribution of cumulative assistance of SIDBI since its inception it is found out that the maximum assistance has been sanctioned and disbursed to the Western Region which was Rs. 159928.4 million and Rs. 117630.1 million respectively. The assistance sanctioned and disbursed to the Western Region was the 33.92 percent and 30.37 percent of the total assistance sanctioned and disbursed,

whereas the minimum assistance has been sanctioned and disbursed Rs. 2480.9 million and Rs. 2112.8 million respectively to the North Eastern region.

SIDBI has been providing assistance to the needed SSI units in whole of the country, since its beginning. The amount of assistance sanctioned during the very first year was Rs. 2410.1 crore. The trend of assistance sanctioned was of increasing manner with spiral fashion up to the year 2004-05 from its beginning. The position of assistance disbursed was also like the assistance sanctioned. The tendency of assistance disbursed was of the increasing order except for the year 2000-01.

The venture capital fund established to encourage small ventures with innovative features in the small ventures with innovative features in the small scale sector become operational in the year 1993. SIDBI has constituted a five member expert team for screening/evaluation of venture capital proposals. Based on recommendations of the committee the amount of venture capital assistance sanctioned and disbursed in different periods are shown in table.

Table
TABLE SHOWING VENTURE CAPITAL ASSISTANCE

Year	Sanctioned	Disbursed [Rs. in million]
1993-94	16.0	-
1994-95	75.0	8.5
1995-96	162.9	39.8
1996-97	123.5	79.0
1997-98	591.5	98.3
1998-99	863.0	150.2
1999-00	390.6	78.3
2000-01	20.0	335.9
2001-02	130.5	21.5
2002-03	325.3	91.5
2003-04	175.0	105.6
2004-05	250.0	495.1
2005-06	500.0	332.2
Total	3623.3	1835.9

Source: Annual Reports of SIDBI

It is evident from Table that the venture capital assistance has been sanctioned Rs. 3623.3 million and disbursed Rs. 1835.9 million up to the year 2005-06 for the various proposals. The project which were provided venture capital support from SIDBI are in the high risk specialised and import substitutive areas, diagnostic kits for animal vital disease, quartz crystal resonators and oscillator devices, glass bulb shells, flat bed and post bed industrial stitching and suring machines for leather industry, food processing, metal products, autocomponents, educational and wooden toys, gelbone from fresh bones, car stereo amplifiers and for multimedia content development and production.

In view of the importance accorded by the Government of India to the information Technology (IT) sector, SIDBI took the initiative in setting up State Level dedicated venture capital funds for software and IT industry with participation from Central/State Governments. SIDBI has been successful in motivating various State Governments/State Government agencies to set up venture capital funds in which 50 percent of the corpus was contributed by SIDBI. By now SIDBI has contributed to the Corpus of 12 such funds in the states of Andhra Pradesh, Gujarat, Karnataka, Kerala, Maharastra, Orissa, Punjab, Rajasthan, Tamil Nadu and Uttar Pradesh.

WORKING WITH THE WORLD BANK AND OTHER INTERNATIONAL AGENCIES :Against the backdrop of a high risk perception of the SME Sector on one hand

and a need for supporting SME Financing and its development on the other. SIDBI is implementing a world Bank-led multi agency/multi activity project on financing and Development of SMEs. As part of the said project, SIDBI has contracted a World Bank Line of credit and a 'technical assistance' component from a multi-lateral consortium led by the International Bank for Reconstruction and Development (IBRD). While the Ministry of Finance, Banking Division, is the nodal agency for the project, SIDBI has been chosen as the implementing agency by the Government of India. IBRD, Germany and GTZ Germany are the international partners in the project which is aimed at making SME lending an attractive and viable Financing option as also facilitate increased turnover and employment in the sector. In order to achieve its aims, the project, besides upgrading direct flow of credit and streamlining access to qualitative financial and non financial enterprise oriented services. The objective of the project is to improve SME access to finance, thereby fastening SME growth, competitiveness and employment creation. As part of the said project, the Bank has deployed an amount of USD 100 million in the first year itself. The performance of the Bank in implementation of this flagship project has been commended by the world bank and the Government of India.

FUTURE'S WORKING OF SIDBI : With the opening up of the Indian economy, the landscape of Indian financial sector is undergoing a major change. The banking environment is becoming increasingly competitive. Keeping in view the dynamics of the sector and expectations of the stakeholders, the Bank is adopting a multifaceted approach to source and manage its business by bracing up its physical infrastructure, centralising several operational and non-operational process to increase efficiency, introducing hybrid channel arrangements, increasing the delivery network and many more similar steps. Efforts would continue to be made to augment the flow of credit of the sector align Bank's strategies in tune with the national and international systems.

Bringing service enterprise at par with manufacturing sector enterprise in SME sector for priority treatment is a landmark development for the sector as also for the Bank. The Micro, Small and Medium Enterprise Development Act, 2006 further opens new vistas of business opportunities for the Bank.

Realising the need to meet the growing demands of the sector, SIDBI has changed its business model, with thrust on direct credit to emerge as one stop shop for SMEs.

Towards improving flow of credit to SME sector and support Government of India and RBI in their endeavour to achieve this goal. SIDBI has felt a need to develop specialised officers within the banking system, who will have a comprehensive knowledge about the sector its problems, opportunities, etc.

Further, the Bank proposes to set up 'knowledge Hubs' to provide key inputs on industry wise information, outlook, prospects, issue and concerns etc. to act as catalysts for extension of assistance to units in the SME sector. These will be web-based knowledge hubs (industry specific), supported by academic institutions.

The SIDBI has continuously been moving on for fulfilling of the above mentioned agenda. We are sure that the Government of India, Reserve Bank of India and other stakeholders would continue with their guidance and support to the Bank to enable it to move forward with a brisk pace to achieve its goal of emerging as one stop shop for the SME sector. I am also sure that the initiatives being taken by the Bank would grow from strength to strength and serve the cause for which it has been created.

SUGGESTIONS :

- The total assistance amount sanctioned and disburse amount has shown a vast difference it should be minimize.
- During the study period sanctioned and disburse amount for various assistance under various heads has been decreased which should be increase.

- SIDBI should make the collaborative efforts with government to promote small-scale sector.
- SIDBI should make a good coordinate with various government agencies.
- Need to announce the developmental policies for the small-scale sectors of India.
- SIDBI should create coordination between small scale and medium scale industries of India.
- In the developmental banking the SIDBI has been not came up with its aggressive policy, which is the need of present.
- SIDBI policy should be developed with proper coordination of all regional office not at head quarts only.
- SIDBI should increase its branch with opening of new branches in the various parts of the country.
- SIDBI assistance to various regions has shown imbalance, which should minimize. SIDBI assistance to various states has also shown imbalance with should minimize.
- SIDBI assistance to industry wise has also shown a vast deviation, which should minimize.
- SIDBI should also provide a various marketing assistance to small-scale sector of India.
- Under the developmental and support assistance SISBI has allocated very less funds that should be increased
- SIDBI should provide a financial assistance to entrepreneur and small scale with a very low interest rates.

References :

1. <http://www.sidbi.com>
2. <http://www.idbi.com>
3. <http://www.rbi.orgin>
4. Report of Expert Committee on Small Enterprises by - Dr. Abid Hussain
5. Operation statistics -SIDBI (1995 - 2005)
6. The Indian Economic Journal, Mumbai,
7. Reserve Bank of India Bulletin, Mumbai,
8. Industrial Time - Mumbai,
9. The Banker -New Delhi,
10. SIDBI Annual Report 1993 to 2006



The contribution of general employability skills in employability of graduates of faculty social sciences, BHU

Pradeep Kumar Singh*

Abstract:

The various employability skills play important role to make individuals employable or unemployable. This paper analyses how a specific employability skills contribute to make social science graduate employable. Many research papers and articles on the employability of a graduate is surveyed and analysed to make a clear sense of what is employability and its determinants and proposes a suitable model for the study. And, the proposed model of employability is being applied on social science graduates. For this, a graduate survey of the pass-outs from the Faculty of Social Sciences, BHU, has been conducted and a qualitative response model is being estimated. This work evaluates that the social science graduates are lagging on some specific employability skills, viz. language skill, numeracy skill and computer skill. This study hints about the graduate employability that there will be some factors that are still un-opened.

Introduction

With the changing nature of the employment market and economy, the role of higher education system becomes important in the preparation of graduates for the contemporary workplace. To participate in the changing labor market and economy successfully, graduates ought to possess both the job-specific and the general employability skills. University programs in the humanities and social sciences typically do not prepare the university graduates directly for work or for specific occupations, unlike the professional/technical programs do. In non-professional programs, the attention has been put on the development of skills such as the ability to think critically or to reason logically in order to incubate socio-cultural behavior of the society. To equip the graduate with the general employability skills and to make them ready for the employment have become the crucial demand that employers need at the time of the job entry level. Labour force can be divided in two groups- skilled and unskilled. Our concern is skilled labour force. If we put the whole discussion in two aspects demand for and supply of labour force, we find that there is demand for and supply of labour with different skills and with different level of skills. There occurs unemployment due to- mismatch between required and possessed skill of labour and excess supply of labour with rigid wage rate.

General employability skills are foundational academic, personal and people skills that employers expect of workers and which they expect to be seeded by the education system. For an individual, these skills contribute to personal development through improved participation in the society; and professionally, the acquisition of these skills favors the labor market outcomes and earnings. Individual invests time and money to become more skilled; in the similar fashion, firm and society typically invest in the human capital development in hopes of future returns on these investments. There is evidence that the returns from higher education are less certain than in the past (Brown, 2003; Taylor, 2005) and different groups of graduates receive different levels of returns, depending for example on gender, ethnicity and social class.

* M.Phil. Centre for Study of Social Exclusion and Inclusive Policy, BHU

We select the Banaras Hindu University as educational centre for the study. This study attempts to have an insight into the whole problem with the help of a pioneering sample from BHU. We are concerned with the factors- skills through curricula, teaching methods, job ensuing facilities- placement cell etc. which determine the employability of graduates from faculty of social sciences.

Statement of problem: What is the contribution of numerical skill, subject skill, interpersonal communication, and language skill, computer skill, thinking skill and human skill in employability?

Objective of the study: To evaluate contribution of specific skills in employability.

Sample and Sampling

Social science research is generally about inferring patterns of behaviors within specific populations. We cannot study entire populations because of feasibility and cost constraints, and hence, we must select a representative sample from the population of interest for observation and analysis. It is extremely important to choose a sample that is truly representative of the population so that the inferences derived from the sample can be generalized back to the population of interest. In this study population is graduates from faculty of social sciences, BHU. Sample of the study is a number of these students.

Methods of Survey implied in the study:

1) Questionnaire survey- Offline and Online:

A questionnaire is a research instrument consisting of a set of questions (items) intended to capture responses from respondents in a standardized manner. Most questionnaire surveys tend to be self-administered mail surveys, where the same questionnaire is mailed to a large number of people, and willing respondents can complete the survey at their convenience and return it back to the surveyor.

2) Interview survey- Telephone mode:

In this technique, interviewers contact potential respondents over the phone, typically based on a random selection of people from a telephone directory, to ask a standard set of survey questions.

Econometrical tools:

Logistic Method of Estimation:

The study has focused on either the graduates are employed or not with other given attributes; and, what are the determinants that are bringing a graduate in an employment. Hence, being in an employment or not yet employed to a graduate is a binary variable. Therefore, the study has taken a binary dependent variable, viz. employability, while explanatory variables are both of quantitative and qualitative nature. The quantitative independent variables are general employability skills, i.e. 'subject skill', 'interpersonal skill', 'numerical aptitude', 'computer skill', 'thinking skill', 'human skill' and 'language skill'; and, the qualitative independent variable is the locality of the graduates, i.e. their vicinity.

Hence, the model adopted is of the following type-

$$EMP_i = F(SS_i, IS_i, NUM_i, COM_i, TS_i, HS_i, LS_i, LOCAL_i) \quad \text{----(I)}$$

Where, EMP_i indicates the dependent variable (Y_i) i.e. 'Employment of graduate',

SS_i refers to the subject skill of graduates (X_{1i}),

IS_i means the interpersonal skill that graduates possess (X_{2i}),

NUM_i indicates the numerical aptitude of the graduate (X_{3i}),

COM_i shows the possession of computer skill by the graduate for the work environment (X_{4i}),

TS_i is the thinking skills for the graduate (X_{5i}),

HSi is the people skills or human skills of the graduate (X6i),

LSi refers to the language skills that how many languages are used at its best (X7i); and

LOCALi indicates vicinity of the graduate (X8i).

Hence, algebraically Equation (I) may be rewritten as-

$$Y = \alpha + \beta_1 X_{1i} + \gamma_2 X_{2i} + \Delta_3 X_{3i} + \eta_4 X_{4i} + \theta_5 X_{5i} + \lambda_6 X_{6i} + \psi_7 X_{7i} + \varphi_8 X_{8i} + U \quad \text{---(II)}$$

Here, β_1 , γ_2 , Δ_3 , η_4 , θ_5 , λ_6 , ψ_7 and φ_8 are the coefficients of SSi, ISi, NUMi, COMi, TSi, HSi, LSi and LOCALi respectively; X_i = general employability skills (attributes) obtained by graduates and $Y_i = 1$ if graduates have an employment and 0 if they are not in employment.

Here the conditional expectation of Y_i given X_{ji} is the conditional probability that the event will occur given X_{ji} , that is, $\Pr(Y_i = 1 | X_{ji})$. Thus, $E(Y_i | X_{ji})$ gives the probability of a graduate to be in an employment and whose attributes are given.

To obtain a good estimator, we have $E(U_i) = 0$;

$$E(Y_i | X_{ji}) = \alpha + C_j X_{ji} \quad \text{--- (III)}$$

Now, if P_i = probability that $Y_i = 1$ i.e. the event occurs (graduates are having an employment), and $(1 - P_i)$ = probability that $Y_i = 0$ i.e. the event does not occur (graduates are not having an employment), the dependent variable Y_i has Bernoulli Probability Distribution.

Now by the definition of mathematical expectation, we have:

$$E(Y_i) = 0(1 - P_i) + 1(P_i) = P_i \quad \text{--- (IV)}$$

Comparing Eq. (III) with Eq. (IV), we obtain:

$$E(Y_i | X_{ji}) = \alpha + C_j X_{ji} = P_i \quad \text{--- (V)}$$

Eq. (V) shows the linear probability model. But in the logit model, the probability of having an employment is represented by the following expression:

$$P_i = 1 / (1 + e^{-(\alpha + C_j X_{ji})}) \quad \text{--- (VI)}$$

$$\text{or, } P_i = 1 / (1 + e^{-Z_i}) = e^{Z_i} / (1 + e^{Z_i}) \quad \text{---(VII)}$$

Where, $Z_i = \alpha + C_j X_{ji}$.

The above Eq. (VII) represents the cumulative logistic distribution function, as Z_i ranges from $-\infty$ to $+\infty$, P_i ranges between 0 and 1 and that P_i is nonlinearly related to Z_i (i.e., X_{ji}).

Now the probability of not having an employment is given by:

$$1 - P_i = 1 / (1 + e^{Z_i}) \quad \text{---(VIII)}$$

If we can write the above Eq. (VII) and Eq. (VIII) as-

$$P_i / (1 - P_i) = (1 + e^{Z_i}) / (1 + e^{-Z_i}) = e^{Z_i} \quad \text{--- (IX)}$$

Then $(P_i / 1 - P_i)$ is simply the odds ratio in favor of getting an employment – the ratio of the probability that a graduate will have an employment to the probability that he will not in the employment. Thus, if $P_i = 0.8$, it means that odds are 4 to 1 in favor of getting an employment.

Now, if we take the natural log of Eq. (IX), we obtain-

$$L_i = \ln[P_i / (1 - P_i)] = Z_i = \alpha + C_j X_{ji} \quad \text{--- (X)}$$

That is, L , the log of odds ratio, is linear in both the variables and the parameters. L is called logit and hence Eq. (X) is the Logit model.

Outcomes of the model:

From the table of result, four individually statistically significant predictors are identified, viz. **Numeracy, Computer Skill, Language Skill and Locality factor.**

p-value for these variables are calculated as following: **Numeracy**=0.045, **ComputerSkill**=0.025, **LanguageSkill**=0.007 and **LocalityFactor**=0.004 which are less than 0.05 at 95% confidence interval.

Coefficient of variables (**Numeracy, computer skill, language skill, locality**) in logistic form of model (Equation no. X)-

Numeracy = -0.03426	Computer skill = 0.03956
Language skill = 0.04924	Locality = -1.5955

- 1- For numeracy, one unit change in it will lead to 3.42 unit negative change in the predicted log odds for getting an employment while holding all other variables constant.
- 2- For computer skill, one unit change in it will lead to 3.95 unit change in the predicted log odds for getting an employment, keeping other important variables fixed.
- 3- For language skill, one unit change in it will lead to change 4.92 unit in the predicted log odds for get into an employment, keeping other variables constant.
- 4- For the locality factor in favor of graduates from rural background, the predicted log odds for getting an employment will be

By taking exponentiation of log OR, the odds of being in an employment for graduates is obtained.

Coefficient of variables in Odds Ratio form of model (Equation no. X)-

Numeracy = .9663	Computer skill = 1.0403
Language skill = 1.0504	Locality = .2027

1. For numeracy, 1 unit change in it will lead to 0.9663 unit change in odds ratio for graduates in favor of getting an employment.
2. For 1 unit change in computer skill will lead 1.0403 unit change in OR in favor of graduates to get in an employment.
3. For 1 unit change in language skill, OR for graduates employability will increase 1.0504 unit.
4. For locality factor, OR shows that it will adversely related to the graduate from rural background.

6.2. Discussion of the findings

Analyses of the data, facts and information have been performed with suitable modal. This study has three objectives and same number of research questions. It the place to discuss the results of analysis with consideration of the research question.

To answer this question in this study, Logistic regression method has been applied. In this method dependent variable is 'Employability' and independent variables are seven factors- 'numerical skill, subject skill, interpersonal communication, language skill, computer skill, thinking skill and human skill'.

From result of estimation, four individually statistically significant predictors are identified, viz. Numeracy, Computer Skill, Language Skill and Locality factor.

The result shows that graduates need to be trained in computer skill and language skill (English). For residence, rural background is obstacle in employment. This may be due to lack of job information, lack of opportunity, awareness etc. So far numerical skill is considered, there is no need to extra effort to improve this. Graduate students are already equipped with the skill of solving mathematical problems of competitive exams.

Conclusion:

This study starts with review of literature on the employability of graduates. The literature gap is found for the study on employability of graduates from faculty of social sciences, BHU. Then this study aimed at defining the employability and measurement of employability skills. Before this it is necessary to justify the importance of the study. As the structure of the economy is changing since reforms of 1992-93, the labour market is also changing from government sector to private sector, primary to tertiary, unskilled labour to skilled one and so on. Employability of labour force depends on skills required in the business firms or corporate. The labour force acquires these skills from educational institutions or universities. Skills determining employability are embedded in the curricula of the university. So employability is determined by skills embedded in candidates which in turn depend on quality of higher education and role of universities.

The result shows that graduates need to be trained in computer skill and language skill (English). For residence, rural background is obstacle in employment. This may be due to lack of job information, lack of opportunity, awareness etc. So far numerical skill is considered, there is no need to extra effort to improve this. Graduate students are already equipped with the skill of solving mathematical problems of competitive exams. Lack of- career guidance, career development program, and network of friends in job market, availability of campus placement, access to job market, corruption and rural residence are responsible for obstacles in getting job.

Reference:

1. Becker, G. S. (1964). Human Capital : A Theoretical and Empirical Analysis. *Columbia University Press*.
2. Becker, G. S. (1975). Human Capital (Rev. Ed.). *The University of Chicago Press*.
3. Bennett, J.C. (1999). Achieving professional excellence for a new century. *Information Management Journal*, vol. 33, no. 2, pp. 36-42.
4. Bennett, R. (2002). Employers' demand for personal transferable skills in graduates: A content analysis of 1000 job advertisements and an associated empirical study. *Journal of Vocational Education & Training*, vol. 54, no. 4, pp. 457-475.
5. Berntson, E. (2008). Employability perceptions: nature, determinants and implications for health and well-being. Department of psychology, Stockholm University.
6. Blackmore, P., Bulaitis, Z. H., Jackman, A. H., & Tan, E. (2016). *Employability in Higher Education: A review of practice and strategies around the world*. London: Pearson.
7. Boden, R., & Nedeva, M. (2010). Employing discourse: Universities and graduate 'employability'. *Journal of Education Policy*, 25(1), 37-54.
8. Brown, P., Hesketh, A., & Williams, S. (2003). Employability in a knowledge-driven economy. *Journal of education & work*.
9. Brown, P. and Hesketh, A. (2004). *The Mismanagement of Talent: Employability and Jobs in the Knowledge Economy*. Oxford University Press.
10. CBI (Confederation of British Industry) (1999). *Making Employability Work: An Agenda for Action*. London: CBI.
11. Cooper, c. and Wisdon, j. (2013). What do social science graduates do? *Campaign for social science*.
12. Dacre Pool, L. a. (2007). The Key to Employability: Developing a Practical Model of Graduate Employability. *Education + Training*, 277-289.
13. Employability Framework (2014), Sheffield Hallam University, UK.
14. European Commission (1999). The Bologna declaration. *Brussels: European Commission*.
15. FICCI & Ernst & Young (2014). Higher Education in India: moving towards global relevance and competitiveness. *FICCI & EY, India*.
16. FICCI & Ernst & Young (2013). Higher Education in India: Vision 2030. *FICCI & EY, India*. Harvey, L. (2001). Defining and Measuring Employability. *Quality in Higher Education*, 97-109.

17. Jeemol, U. (2014). Skill Gaps and Employability : Higher Education in India. *Vikalpa*, 1-19.
18. Knight, P. T. (2002). Employability through the Curriculum . *Tertiary Education and Management*, 261-271.
19. McQuaid, R. W., & Lindsay, C. (2005). The Concept of Employability. *Urban Studies*, 197-219.
20. Schultz, T.W. (1987). Education and population quality. In G. Psacharopoulos (Ed.) *Economics of education: Research and studies*, New York: Pergamon Press.
21. Sheila, M. and Brian, K. (2001). How to determine employability and wage earning capacity. *Management Research News*, vol. 24, no. 3, pp.118-122.
22. Simon, C. (2006). Developing employability skills: peer assessment in higher education. *Education & Training*, vol. 48, no. 7, pp. 508-517.
23. Stuart, R., Ronald, H. and Morote, E.S. (2012). Basic employability skills: a triangular design approach. *Education & Training*, vol. 54, no. 1, pp. 7-24.
24. Tomlinson, M. (2012). Graduate Employability: A Review of Conceptual and Empirical Themes. *Palgrave-Higher Education Policy*, 407-431.
25. Tran, T. T. (2016). Enhancing graduate employability and the need for university enterprise. *Journal of Teaching and Learning for Graduate Employability*, 58-71.
26. Tran, T. T. (2015). Is graduate employability the 'whole-of-higher-education-issue'? *Journal of Education and Work*, 28(3), 207-227.
27. UK Commission for Employment and Skills. (2009). Employee demand for skills: A review of evidence & policy - Executive summary. *London: WM Enterprise and Employment Research Institute, Edinburgh Napier University*.
28. World Bank (2011). Putting higher education to work: Skills and research for growth in East Asia. *Washington D. C: World Bank Publications*.
29. Yorke, M. and Knight, P., (2006). Embedding Employability in the Curriculum: Learning and Employability Series. *New York, United States, York: Higher Education Academy*.





महामहिम राष्ट्रपति द्वारा 'राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार-२०१६' से अलंकृत

डॉ० राधेश्याम मौर्य

सम्पादकीय सम्पर्क :

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान

सी-23, आवास विकास कालोनी,

प्रतापगढ़-230001 (उ०प्र०) भारत

मो०- 09415627372, 08004802456

वेब साइट : unmeshjournal.com

ई-मेल : unmesh0110@gmail.com

shivendrkr.maurya@gmail.com



ISSN 2394-2207

₹ 300/-

RAJ GRAPHICS # 09415842611